ॐ

कल्याण

प्रसीद देवेश जगन्निवास



आश्विन
१९८९
से

भाग ७
अङ्क ३

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण—२०५००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≈)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय अखिलात्मन् जगमय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

ईश्वराङ्कका मूल्य
परिशिष्टाङ्कस० ३)
विदेशमें ४)
साधारण प्रति ।)
विदेशमें ।≡)

Edited by Hanuman prasad poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas at the Gita Press, Gorakhpur.

श्रीहरिः

विषय-सूची

छप गयी # गीता-डायरी सन् १९३३ की छप गयी

मूल्य केवल ।) सजिल्द ।-)

आपको मालूम होगा, पिछली साल डायरी चूक गयी थी। कई प्रेमियोंके आग्रहसे दुबारा छापी गयी थी, वह भी तुरन्त बिक गयी। उसके बाद आर्डर देनेकी मनाही की गयी थी, फिर भी माँग अधिक होनेके कारण तीसरी बार छापी गयी, इतनेपर भी हमारा अनुमान है कि कई सज्जनोंको डायरी नहीं मिली होगी, इसीसे गीता-डायरीकी उपयोगिताका पता आपको लग गया होगा। अब इस साल केवल १२००० डायरियाँ छापी गयी हैं जिन सज्जनोंको मँगानेकी आवश्यकता हो, वे जल्दी आर्डर देनेकी कृपा करें। संस्करण चुक जानेसे दुबारा छपनेकी आशा कम है।

हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला तिथियोंके साथ-साथ संक्षेपसे त्योहार भी छापे गये हैं। साथमें सम्पूर्ण गीता १८ अध्याय है। डायरीके साथ-साथ ही गीता मुफ्तमें मिल जाती है। आरम्भके ३२ पेजोंमें कई अति उपयोगी विषय भी छापे गये हैं। अन्तमें बहुत-से याददाश्तके पन्ने सादे लगा दिये गये हैं। यह सबके लिये एक उपयोगी डायरी है। समय-समयपर अनेक विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओंने इसकी जीसे प्रशंसा की है।

कल्याणके ग्राहकोंको विशेष सुभीता

६ सजिल्द डायरियोंके दाम १॥।=) पै०)॥ डाकखर्च ॥≡) कुल रु० २॥-)॥ होते हैं जिसके बदले २=) लिया जायगा। ७ अजिल्द डायरियोंके दाम १।।।) पै० -) डाकखर्च ॥≡) कुल रु० २॥) होते हैं जिसके बदले २-) लिये जायँगे। यह रियायत मनीआर्डरसे पेशगी रुपये भेजनेवालोंके साथ ही होगी। रियायती मूल्यमें वी० पी० नहीं भेजी जायगी।

एक अजिल्द डायरीके लिये रजिस्ट्री और डाकखर्चसहित ॥-) और एक सजिल्द डायरीके लिये ॥=) तथा दो अजिल्दके लिये ॥।=) और दो सजिल्दके लिये १-) भेजना चाहिये।

बिना रजिस्ट्री, पैकेट खो जानेका डर रहता है। १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

बुकसेलरोंको सूचना

अजिल्द-सजिल्द कम-से-कम २५० डायरियाँ एक साथ लेनेवालोंका नाम, पता डायरीपर छाप दिया जायगा। इससे उनको डायरियाँ बिकनेमें मदद मिलेगी। बुकसेलर लोग कृपाकर आर्डर शीघ्र भेजें।

ईश्वर

महामना मालवीयजीने इस पुस्तकमें ईश्वरके स्वरूपका और धर्मका वेदशास्त्रसम्मत बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। इस पुस्तकको मन लगाकर पढ़नेसे मनुष्यको ईश्वरका ज्ञान और धर्मका तत्त्व उपलब्ध करनेमें बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है। मूल्य केवल -)।

पता-गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याणकी पुरानी फाइल और विशेषांक

१ तृतीय वर्षकी फाइल भक्तांकसहित मू० ४≡) सजिल्द ४)
२ चतुर्थ वर्षकी फाइल गीतांकसहित मू० ४≡) ,, ४।≠)
३ भगवन्नामाक पृष्ठ ११० रङ्ग-बिरङ्गे ४१ चित्र ॥।≡) ,, १≡)
४ गीतांक पृष्ठ ५०० से अधिक रङ्ग-बिरङ्गे १७० चित्र मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
५ रामायणांक पृष्ठ ५१२ तिरंगे-एकरंगे १६७ चित्र मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
६ कृष्णाङ्क पृष्ठ ५२३ रंग-बिरंगे १०७ चित्र, मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
७ ईश्वराङ्क सपरिशिष्टाङ्क पृष्ठ ६१८ मूल्य ३) सजिल्द ३॥-)

व्यवस्थापक-कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

2

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

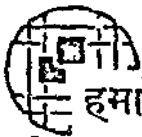


सूचना

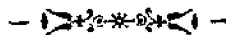
→ कोई-कोई ग्राहक लिखते हैं कि हमें भाद्रपदका "कल्याण" नहीं मिला । उनकी सेवामें सूचना दी जाती है कि भाद्रपदका अंक ईश्वरांकमें ही पेज नं० ५२० के बाद लगा दिया गया है। अलग नहीं निकला है और इस तरह सब ग्राहकोंको ईश्वरांकके साथ ही मिल गया है ।

व्यवस्थापक

निवेदन !


हमारे कृपालु प्रेमियोंकी सेवामें निवेदन है कि अब ईश्वरांककी केवल ५०० के लगभग प्रतियाँ बची हैं । अतः जो सज्जन ग्राहक बनना चाहें वे जरा जल्दी करेंगे तो उन्हें अभी ईश्वरांक मिल जायगा । नहीं तो दुबारा छपनेतक राह देखना पड़ेगा । हम आशा करते हैं कि लगभग १५–२० दिनमें ही यह ५०० अंक समाप्त हो जायँगे ।

व्यवस्थापक



कल्याणकी पुरानी फाइल और विशेषांक

१ तृतीय वर्षकी फाइल भक्ताङ्कसहित मू० ४≡) सजिल्द ५)
२ चतुर्थ वर्षकी फाइल गीताङ्कसहित मू० ४≡) ,, ५।≠)
३ भगवन्नामाङ्क पृष्ठ ११० रङ्ग बिरङ्गे ४१ चित्र ॥≡) ,, १≡)
४ गीताङ्क पृष्ठ ५०० से अधिक रङ्ग बिरङ्गे १७० चित्र, मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
५ रामायणाङ्क पृष्ठ ५१२ तिरंगे एकरंगे १६७ चित्र, मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
६ कृष्णाङ्क पृष्ठ ५२३ रंग-बिरंगे १०७ चित्र, मूल्य २॥≡) सजिल्द ३।)
७ ईश्वराङ्क सपरिशिष्टाङ्क पृष्ठ ६१८ मूल्य ३) सजिल्द ३॥−)

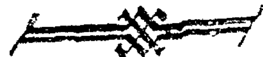
व्यवस्थापक-कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

श्रीहरिः

विषय-सूची



विषय-सूची



ॐ

आपकी ग्राहक-संख्या क्या है ?

आगामी श्रावणसे कल्याणका नया वर्ष प्रारम्भ होगा। आपकी ग्राहक-संख्या कल्याणके ऊपरके कागज-पर आपके पतेके पास लिखी रहती है। वह अवश्य कहीं लिख लें और रुपया भेजते समय या कोई भी पत्र-व्यवहार करते समय लिखना न भूलें। इसके बिना काममें असुविधा होती है।

—व्यवस्थापक

विषय-सूची

कल्याण

जबतक भोगोंमें वैराग्य नहीं होगा, तबतक यथार्थ निष्कामकर्म, भक्ति और ज्ञान इनमेंसे किसीकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी । वैराग्यके आधारपर ही ये साधन टिकते हैं और बढते हैं । इसीलिये अभ्यासके साथ वैराग्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है । बिना वैराग्यका अभ्यास प्राय. आडम्बर उत्पन्न करता है ।

जिनके मनमें वैराग्य नहीं है, जो भोगोंमें रचे-पचे हैं तथा भोग-वासनासे ही कर्म, भक्ति, ज्ञानका आचरण करते हैं, वे लोग, पापाचरण करनेवाले तथा कुछ भी न करनेवालोंसे हजारों दर्जे अच्छे अवश्य हैं, परन्तु वास्तविक निष्कामकर्म, भक्ति, ज्ञानका साधन उनसे नहीं हो रहा है । और वे जो कुछ करते हैं, उसके छूटनेकी भी आशङ्का बनी ही है ।

स्वार्थत्याग बिना निष्कामता नहीं आती, दूसरे सब पदार्थोंसे प्रीति हटाये बिना भगवान्से एकान्त प्रीति नहीं होती और जगत्के रागसे छूटे बिना अभेद-ज्ञान नहीं होता । आज निष्कामकर्म, भक्ति और ज्ञानके अधिकाश साधक स्वार्थ, विषय-प्रेम और आसक्तिका त्याग करनेकी चेष्टा बिना किये ही निष्कामकर्मी, भक्त और ज्ञानी बनना चाहते हैं । इसीसे वे सफल नहीं हो सकते ।

साधारणत वैराग्यके क्रमसे होनेवाले सात लक्षण हैं—(१) श्रीभगवान्को छोड़कर लोक-परलोकके सभी भोगोंमें फीकापन मालूम होना, (२) विषयोंमें महान् भय और सर्वथा दु.ख दिखायी देना, (३) भगवान्को छोड़कर विषयोंका बिल्कुल ही न सुहाना, (४) विषयोंके त्यागकी प्रबल इच्छा होना और विषय नाशमें सुखकी प्रतीति होना, (५) विषयोंका त्याग हो जाना, (६) विषयोंमें भगवद्भाव होना और (७) विषयोंकी सत्ता न भासना ।

सबसे पहले विषयोंमें बार-बार दु.ख देख देखकर इनसे मन हटाने और भगवान्में परम और पूर्ण सुख समझकर उनमें मन लगानेका प्रयत्न करना चाहिये । यही वैराग्य और अभ्यास है । ज्यों-ज्यों विषयोंसे मन हटेगा, त्यों-ही-त्यों श्रीभगवान्में आप ही लगता जायगा । जब भगवान्के ध्यानका कुछ असली आनन्द मिल जायगा, तब तो मन उस आनन्दको छोड़ना ही नहीं चाहेगा । फिर लोक-परलोकके सभी भोग फीके मालूम होने लगेंगे । क्रमश· वैराग्य बढ़ता जायगा और अन्तमें जगत्की भिन्न सत्ता ही नहीं रह जायगी । यही असली वैराग्य है । वैराग्यवान् महानुभाव ही कल्याणको प्राप्त करते हैं ।

वैराग्य और अभ्यास एक दूसरेके आश्रय और सहायक हैं । मनको विषयोंसे हटानेकी चेष्टा की, क्षणभरको हटा भी, परन्तु भगवान्में उसे न लगाया तो वह तुरन्त लौटकर विषयोंमें आ जायगा । इसी प्रकार विषयोंसे हटानेकी चेष्टा नहीं करनेसे विषयोंमें लगा हुआ मन उनसे हटकर भगवान्में अपने आप लगेगा ही क्यों ? अतएव दोनोंका साथ-साथ रहना ही आवश्यक है । इन दोनोंमें भी वैराग्यकी पहले जरूरत है, क्योंकि उसके बिना तो एक विषय-से मन हटे बिना दूसरी ओर लग ही नहीं सकता ।

"शिव"



श्रीहरिः

कल्याणके ग्राहक बनानेवाले सज्जनोंसे

'कल्याण' पर जो सबका इतना प्रेम है, 'कल्याण' को अपने ही ऊँचे और सुन्दर धार्मिक भावोंका प्रचारक—अपनी ही चीज—समझकर जो इसके प्रचारमें सहायता करते हैं, उनका हमपर परम अनुग्रह है। यह निस्स्वार्थ लोकसेवा सबको अति प्रिय है। इसका प्रमाण 'कल्याण' का प्रचार है। अनेक धर्म-प्राण सज्जन इसके अधिकाधिक प्रचारका विचार करते हैं जो उनकी शुभ प्रेरणासे होता ही जा रहा है और न जाने कहाँतक होगा! हाँ, स्थान अभी बहुत है। अतः प्रेमियोंसे उत्साहपूर्वक ग्राहक बनानेकी प्रार्थना है।

निवेदक—व्यवस्थापक

विषय-सूची

॥ श्रीहरि ॥

पुराने और नये ग्राहकोंको सूचना

(१) यह सातवें वर्षका ११ वाँ अंक है। आगामी आषाढके बारहवें अंकमें इस सालका मूल्य समाप्त हो जायगा। आठवें वर्षका पहला अंक श्रीशिवाङ्क होगा। विवरण अलग दूसरे सूचनापत्रमें पढ़िये।

(२) जो सज्जन वार्षिक मूल्य भेजकर सालभरके लिये ग्राहक बनेंगे, उन्हें २॥=) का 'श्रीशिवाङ्क' आठवें वर्षके पहले अंकके रूपमें यों ही मिल जायगा। बाकी १॥) में ही ११ महीनोंतक हर महीने ८० पृष्ठका सचित्र कल्याण मिलता रहेगा।

(३) स्थायी ग्राहकोंको और आगामी वर्षके नये ग्राहकोंको चन्देके रुपये ४=) (चार रुपये तीन आने) मनीआर्डरद्वारा बहुत जल्दी भेज देने चाहिये। मनीआर्डर भेजने और वी० पी० मँगानेमें खर्च तो बराबर ही लगेगा। परन्तु मनीआर्डर भेजनेवालोंको शिवाङ्क रजिष्ट्रीसे बहुत जल्दी मिल जायगा, लेकिन वी० पी० मँगानेवालोंको महीने-डेढ़ महीनेतक राह देखनी होगी। सब प्रतियाँ पहले बिक गयीं तो शायद निराश होना पड़े।

(४) जिन प्रेमी सज्जनोंने निस्वार्थभावसे कल्याणके ग्राहक बनाये और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ है, इस समय उन सबको विशेष चेष्टा करके पुराने ग्राहकोंके रुपये भिजवाने चाहिये। तथा नये ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बारका श्रीशिवाङ्क बहुत ही उपादेय, सर्वाङ्गसुन्दर, शिक्षाप्रद और संग्रहमें रखनेयोग्य होगा। अतः ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी रुपये भेजने चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये कि वे मनीआर्डरके कूपनमें अपने ग्राहक नम्बर अवश्य लिखें। नये ग्राहक हों तो नया ग्राहक शब्द लिखें। नहीं तो श्रीशिवाङ्क देरसे पहुँचना सम्भव है। ऐसी दशामें हम जिम्मेवार न होंगे।

(७) ध्यान रखना चाहिये कि कल्याणका नया वर्ष श्रावणसे आरम्भ होता है।

(८) जिन सज्जनोंको ग्राहक न रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे कार्ड लिखकर हमें सूचना दे दें ताकि हमें व्यर्थ वी० पी० भेजकर नुकसान न उठाना पड़े।

मैनेजर, 'कल्याण' गोरखपुर।

१०

॥ श्रीहरिः ॥

* कल्याण *

विषय-सूची

वर्ष ७—संख्या १२



श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन

(१) यह सातवें वर्षकी १२ वीं यानी अन्तिम संख्या है, इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो गया है।

(२) आठवें वर्षका पहला अंक शिवांक होगा। शिवांक परिशिष्टसहित एक प्रतिका मूल्य ३) होगा, परन्तु पुराने और नये ग्राहकोंको अधिक कीमत नहीं देनी पड़ेगी, उन्हें सहजमें न मिलनेवाली बड़ी सुन्दर चीज सालाना चन्दा ४≈) देनेपर यों ही मिल जायगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके रुपये ४≈) मनीआर्डरद्वारा जल्दी भेज देने चाहिये। नहीं तो वी० पी० जानेमें बहुत देर हो जायगी। मनीआर्डर-फार्म गत मास भेजा जा चुका है।

(४) जिन महानुभावोंने कल्याणके ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। कल्याणके प्रचारद्वारा भगवान्‌के कार्यमें सहायता देकर वे सज्जन बड़ा ही उपकार कर रहे हैं। इस बार उन सबको विशेष चेष्टा करके नये सालके लिये ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बार शिवांक बहुत ही शिक्षाप्रद, मनोहर, संग्रहणीय और दुर्लभ सामग्रियोंसे भरा हुआ होगा। ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये कि अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा नाम, पता, गाँव, डाकघर और जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहक-नम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें, नहीं तो कल्याण देरसे पहुँचेगा।

(७) कल्याणके साथ पुस्तकों और चित्रोंकी माँग न लिखें और न कल्याणके मूल्यके साथ पैसे ही भेजें। 'कल्याण' के साथ डाकके नियमानुसार और चीजें नहीं भेजी जा सकतीं। पुस्तक और चित्रोंके लिये मैनेजर गीताप्रेसको लिखें।

(८) सभी प्रेमी ग्राहक-अनुग्राहकोंसे प्रार्थना है कि प्रत्येक सज्जन और प्रत्येक बहिन कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी चेष्टा अवश्य करें।

(९) 'कल्याण' का नया वर्ष श्रावण कृष्ण ११ से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं। बीचसे ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(१०) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर हमें जरूर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर नुकसान नहीं उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कल्याण-कार्यालयके कम-से-कम छः आने पैसे बच जायँगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर



बाल-गोपाल



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य वलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, आश्विन १९८९ अक्टूबर १९३२ | संख्या ३ पूर्ण संख्या ७५

नन्दनन्दन

चाहे तू योग करि भ्रुकुटी मध्य ध्यान धरि,
चाहे नाम-रूप मिथ्या जानिकै निहारि ले ।
निर्गुन निर्भय निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मनमें तू धारि ले ॥
नारायन अपनेको आप ही बखान करि,
'मोतें वह भिन्न नहीं' या विधि पुकारि ले ।
जौ लौं तोहि नन्दको कुमार नाहिं दृष्टि पर्यो,
तब लौं तू बैठि भले ब्रह्मको बिचारि ले ॥

—नारायण स्वामी

पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके उपदेश

प्रश्न—'*असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा। ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्*' इस गीताके वचनमें जो असंग शस्त्र माना गया है वह क्या है और उसके पीछे जिस मार्गकी खोज करनेको कहा है वह क्या है ?

उत्तर—सदसद्विवेकवती बुद्धिसे आत्मा और अनात्माका विचार करना असंग शस्त्र है। जब अनात्मासे आत्माकी पूर्ण असंगताका अनुभव होने लगे तो उसे ही असंग शस्त्रद्वारा छेदन करना कहा जाता है। उसके पीछे साधकको यह प्रश्न होता है कि ईश्वर कहाँ है और कैसा है ? इसपर विचार करना ही 'उस मार्गकी' खोज करना है। उस समय गुरु महावाक्यका उपदेश करते हैं जिससे साधकको उस पदकी प्राप्ति होती है जहाँसे वह फिर इस संसार-चक्रमें नहीं लौटता।

× × ×

प्रश्न—पूर्ण ज्ञाननिष्ठा कब समझनी चाहिये ?

उत्तर—जब सम्पूर्ण प्रपञ्च गन्धर्वनगरवत् अथवा आकाशकुसुमवत् मालूम होने लगे और कोई भी चमकीला विषय अपनी ओर आकर्षित न कर सके।

× × ×

प्रश्न—निस्सन्देह ज्ञान (श्रवण-मननजन्य ज्ञान) हो जानेपर असंगताके अभ्यासकी आवश्यकता क्यों है ?

उत्तर—परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी दीर्घकालीन अभ्यासके कारण चित्तमें बैठी हुई विषयोंकी प्रीति दूर नहीं होती—विषयोंका आकर्षण बना ही रहता है। उसे दूर करनेके लिये असंगताके अभ्यासकी आवश्यकता है, क्योंकि बिना अभ्यासके आत्मानन्दकी दृढ़ता नहीं होती और बिना आत्मानन्दकी दृढ़ताके विषयोंमें सुख-बुद्धि बनी रहती है। अतः विषयोंसे उपराम होनेके लिये और आत्मानन्दकी प्राप्तिके लिये अभ्यास अवश्य करना चाहिये। अभ्याससे यह बात दृढ़ हो जायगी कि मैं चराचरका द्रष्टा हूँ और सम्पूर्ण दृश्य मरुभूमिका जल है।

दृढ़ ज्ञान हो जानेपर जो भाव जागृतिमें रहता है वही स्वप्नमें भी रहता है। जो मनुष्य मांस नहीं खाता, वह स्वप्नमें भी मांस-भक्षण नहीं करता। सच्चा ब्रह्मचारी स्वप्नमें भी स्त्री-सेवन नहीं करता। परन्तु ऊपरसे ही ज्ञानकी बातें बनानेवालोंपर जब थोड़ी-सी भी आपत्ति आती है तो वे सब ज्ञान भूल जाते हैं। सच्चा ज्ञानी तभी समझना चाहिये जब सिरपर दुःखोंका पहाड़ टूट पड़नेपर भी निष्ठासे विचलित न हो।

× × ×

प्रश्न—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(गीता ३। १८)

इस श्लोकमें आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मामें सन्तुष्ट इन तीन विशेषणोंका प्रयोग हुआ है। इनमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—आत्मानन्दमें डूब जाना आत्मरति है। आत्मरति हो जानेपर भी विषयोंमें प्रेम हो सकता है; जैसे ध्रुव-प्रह्लादादिने भगवत्प्राप्तिके पीछे भी राज्य-भोग किया। इसलिये आत्मतृप्त विशेषणका प्रयोग किया गया है अर्थात् जिस समय आत्माके सिवा और किसी वस्तुकी इच्छा न रहे तभी समझना चाहिये कि साधकको कुछ कर्तव्य नहीं है। आत्मतृप्त ही आत्मामें सन्तुष्ट कहा जाता है।

× × ×

प्रश्न—आत्मक्रीडा और आत्ममिथुन क्या है ?

उत्तर—आत्मा-सम्बन्धी कथनोपकथनका नाम आत्मक्रीडा है तथा आत्मचिन्तनको आत्ममिथुन कहते हैं।

× × ×

प्रश्न—जगत्से असंगताका अनुभव हो जानेपर यदि जगत्की सत्ता बनी भी रहे तो क्या हानि है ?

उत्तर—असंगताका निश्चय हो जानेपर भी यदि जगत्की सत्यता बनी रही तो उसमें आसक्ति हो जाना बहुत सम्भव है, क्योंकि बिना असत्यताके निश्चयके जगत्में रमणीय-बुद्धि दूर नहीं होती। इसलिये उसकी असत्यताका बोध भी परमावश्यक है।

अमूल्य शिक्षा

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्रोंसे संग्रहीत)

अपने आत्माके समान सब जगह सुख-दुःखको समान देखना तथा सब जगह आत्माको परमेश्वरमें एकीभावसे प्रत्यक्षकी भाँति देखना बहुत ऊँचा ज्ञान है।

चिन्तनमात्रका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्ति भी शान्त हो जाय, कोई भी स्फुरणा शेष न रहे तथा एक अर्थमात्र वस्तु ही शेष रह जाय, यह बहुत अच्छी उपरामताका लक्षण है।

श्रीनारायणदेवके प्रेममें ऐसी निमग्नता हो कि शरीर और संसारकी सुधि ही न रहे, यह बहुत ऊँची भक्ति है।

नेति-नेतिके अभ्याससे 'नेति-नेति' रूप निषेध करनेवाले संस्कारका भी शान्त आत्मामें या परमात्मामें शान्त हो जानेके समान ध्यानकी ऊँची स्थिति और क्या होगी ?

परमेश्वरका हर समय स्मरण न करना और उसका गुणानुवाद सुननेके लिये समय न मिलना बहुत बड़े शोकका विषय है।

मनुष्यमें दोष देखकर उससे घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिये। घृणा या द्वेष करना हो तो मनुष्यके अन्दर रहनेवाले दोषरूपी विकारोंसे करना चाहिये। जैसे किसी मनुष्यके प्लेग हो जानेपर उसके घरवाले लोग प्लेगके भयसे उसके पास जाना नहीं चाहते, परन्तु उसको प्लेगकी बीमारीसे बचाना अवश्य चाहते हैं, इसके लिये अपनेको बचाते हुए यथासाध्य चेष्टा भी पूरी तरहसे करते हैं, क्योंकि वह उनका प्यारा है। इसी प्रकार जिस मनुष्यमें चोरी, जारी आदि दोषरूपी रोग हों, उसको अपना प्यारा बन्धु समझकर उसके साथ घृणा या द्वेष न कर उसके रोगसे बचते हुए उसे रोगमुक्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवान् बड़े ही सुहृद् और दयालु हैं, वह बिना ही कारण हित करनेवाले और अपने प्रेमीको प्राणोंके समान प्रिय समझनेवाले हैं। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान जाता है, उसको भगवान्के दर्शन बिना एक पलके लिये भी कल नहीं पड़ती। भगवान् भी अपने भक्तके लिये सब कुछ छोड़ सकते हैं, पर उस प्रेमी भक्तको एक क्षणके लिये भी नहीं त्याग सकते।

मृत्युको हर समय याद रखना और समस्त संसारको तथा शरीरको क्षणभंगुर समझना चाहिये। साथ ही भगवान्के नामका जप और ध्यानका बहुत तेज अभ्यास करना चाहिये। जो ऐसा करता है, वह परिणाममें परम आनन्दको प्राप्त होता है।

मनुष्य-जन्म सिर्फ पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। कीट, पतङ्ग, कुत्ते, सूअर, गदहे और गौवें भी पेट भरनेके लिये उम्रभर चेष्टा करते ही रहते हैं। यदि उन्हींकी भाँति जन्म बिताया तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ है। जिनके लिये शरीर और संसारमें सत्ता नहीं है, वही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका मनुष्य-जन्म सफल हुआ है।

जो समय भगवद्भजनके बिना जाता है वह धूलिमें मिल जाता है। जो मनुष्य समयकी कीमत समझता होगा, वह एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खो सकता। भजनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, तब शरीर और संसारमें वासना और आसक्ति दूर होती है, इसके बाद संसारकी सत्ता ही मिट जाती है। एक परमात्म-सत्ता ही रह जाती है।

ससार स्वप्नवत् है। मृगतृष्णाके जलके समान है, इसप्रकार समझना ही वैराग्य है। वैराग्यके बिना संसारसे मन नहीं हटता और इससे मन हटे बिना उसका परमात्मामें लगना बहुत ही कठिन है, अतएव ससारकी स्थितिपर विचार कर इसके असली स्वरूपको समझना और वैराग्यको बढ़ाना चाहिये।

भगवान् हर जगह हाजिर हैं, परन्तु अपनी मायासे छिपे हुए हैं। बिना भजनके न तो कोई उनको जान सकता है और न विश्वास कर सकता है। भजनसे हृदयके स्वच्छ होनेपर ही भगवान्‌की पहचान होती है। भगवान् प्रत्यक्ष हैं, परन्तु लोग उन्हे मायाके पर्देके कारण देख नहीं पाते।

शरीरसे प्रेम हटाना चाहिये। एक दिन तो इस शरीरको छोड़ना ही पड़ेगा, फिर इसमें प्रेम करके मोहमें पड़ना कोई बुद्धिमानी नहीं है। समय बीत रहा है, बीता हुआ समय फिर नहीं मिलता, इससे एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाकर शरीर तथा शरीरके भोगोंसे प्रेम हटाकर परमेश्वरमें प्रेम करना चाहिये।

जब निरन्तर भजन होने लगेगा, तब आप ही निरन्तर ध्यान होगा। भजन ही ध्यानका आधार है। अतएव भजनको खूब बढ़ाना चाहिये। भजनके सिवा ससारमें उद्धारका और कोई उपाय नहीं है। भजनको बहुत ही कीमती चीज समझना चाहिये। जबतक मनुष्य भजनको बहुत दामी नहीं समझता, तबतक उससे निरन्तर भजन होना कठिन है। रुपये, भोग, शरीर जो कुछ भी हैं, भगवान्‌का भजन इन सभीसे अत्यन्त उत्तम है। यह दृढ धारणा होनेसे ही निरन्तर भजन हो सकता है।

मनकी मनहीमें रही

(लेखक—पं० श्रीगंगाविष्णु पाण्डेय, विद्याभूषण 'विष्णु')

हम यों करिहैं हम त्यों करिहै, यह बात हजारन बार कही।
नित लाख विचार किये मनमें कबहूँ न कहे कर राह गही॥
'कवि विष्णु' समैपर चूकि गये कुसमैपर होत न बात चही।
अब हाथ पसारि चले जगते सबरी मनकी मनहीमें रही॥

कल्याण



मनुष्य-जीवनका ध्येय है परम कल्याण अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति ! मुक्तिका मार्ग वही बतला सकते हैं जो मुक्त हो चुके हैं । भगवान्‌के परम धाम-का पथ उन्हींको ज्ञात है जो भगवत्कृपासे वहाँ पहुँच चुके हैं । इसीलिये मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके इच्छुक साधकजन तत्त्वज्ञानी, भगवत्प्राप्त महापुरुषोंकी खोजकर उनकी शरण लेते हैं और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलकर भगवान्‌के धामतक पहुँचनेका यत्न करते हैं ।

× × ×

ऐसे ही तत्त्वज्ञानी भगवत्प्राप्त महात्मागण 'सद्‌गुरु' कहलाते हैं। गुरु उसे कहते हैं, जिससे मनुष्य किसी ऐसी नयी वातको सीखे, जिसको वह नहीं जानता । इस नाते मनुष्य सभीको गुरु मान सकता है । अवधूतने इसी दृष्टिसे चौबीस गुरु बनाये थे। परन्तु सद्‌गुरु इन सारे गुरुओंसे विलक्षण होता है । वह सत्-परमात्माके पथको जानता है, इसीसे मनुष्य उस सद्‌गुरुको परम गुरु मानकर सब कुछ उसके चरणोंपर न्योछावर कर देता है क्योंकि वह उस सद्‌गुरुसे ऐसी चीज़ पाता है, जिसके सामने संसारकी सभी चीजें, सभी स्थितियाँ बहुत ही कम कीमतकी और अत्यन्त तुच्छ हैं ।

× × ×

सद्‌गुरु ही गोविन्दको मिलाता है, सद्‌गुरु ही शिष्यके दुःखोंको अशेष हरण करता है, इसीलिये शिष्यकी दृष्टिमें सद्‌गुरु ईश्वरसे बढ़कर सेव्य है । इसीसे शास्त्रों और सन्तोंने सद्‌गुरुकी अपार महिमा गायी है और गुरु-शरणागतिके बिना भगवान्‌की प्राप्तिको अति दुर्लभ—असम्भव कहा है । बात भी बिल्कुल ठीक है; अनुभवी मार्गप्रदर्शक गुरु ही शिष्यको मायाके दुर्गम पथसे पार कर लक्ष्य स्थानपर ले जानेमें समर्थ है । ऐसे समर्थ गुरुकी जितनी पूजा हो, जितना सम्मान हो, जितनी भक्ति की जाय, उतनी ही थोड़ी है; क्योंकि ऐसे गुरुका बदला तो कभी चुकाया ही नहीं जा सकता । ऐसे गुरुका द्रोही नरकगामी न हो तो दूसरा कौन होगा ? और ऐसे सद्‌गुरुकी शरण न लेनेवालेसे बढ़कर मूर्ख और मन्दभागी भी और कौन होगा ?

× × ×

तत्त्वज्ञानी गुरुके बिना परमात्माका तत्त्व कौन बतलावे ? इसीलिये गुरुकी आवश्यकता है और गुरु-सेवाका महत्त्व है । यही गुरु-भक्तिका रहस्य है । परन्तु ऐसे सद्‌गुरु सभी नहीं बन सकते । लोगोंके जीवनको लेकर खेलना साधारण बात नहीं है । यह बहुत ऊँचे अधिकारकी बात है । वस्तुतः परमात्माके रहस्यको सम्यक् प्रकार जाननेवाले महापुरुष ही सद्‌गुरु-पदपर प्रतिष्ठित हो सकते हैं, इसीसे श्रुतिने 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरुके समीप जाकर उनसे ज्ञान सीखनेकी आज्ञा दी है । जो स्वयं अन्धा है वह दूसरे अन्धेको मार्ग कैसे दिखला सकता है ? वह तो खुद गड्ढेमें गिरेगा और जिन्होंने अपनी लाठी उसे पकड़ा रक्खी है, उनको भी गिरावेगा । आज भारतवर्षमें यही हो रहा है। भोगविलासमें लगे हुए लोग, इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त मनुष्य परमार्थपथके प्रदर्शक गुरु बन गये हैं, इसका परिणाम घोर नरकाग्निमें आहुति पड़ने और उसके अधिकाधिक प्रज्वलित होनेके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

× × ×

निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये तीन ही

भगवत्प्राप्तिके प्रधान मार्ग हैं। योग तीनोंमें साथ है, इसीसे ये कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग कहलाते हैं। भक्तिको भगवद्-कर्ममें सम्मिलित करनेपर कर्मयोग और ज्ञानयोग ये दो ही निष्ठाएँ रह जाती हैं। इन मार्गोंसे चलकर परमात्माका साक्षात्कार किये हुए पुरुष यथार्थ कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी हैं, इसी प्रकारके तरे हुए महापुरुष संसार-सागरमें गोता खाते हुए जीवोंको तारनेमें समर्थ होते हैं। जबतक विषयोंमें राग रहता है, तबतक मनुष्य वस्तुतः न तो निष्काम कर्मका आचरण कर सकता है, न भक्त हो सकता है और न ज्ञान-मार्गपर ही चल सकता है। राग या आसक्तिसे ही कामना उत्पन्न होती है, कामनावाला मनुष्य निष्काम नहीं हो सकता। विषयोंका प्रेमी या विषयासक्त मनुष्य ईश्वरमें अनन्य प्रेम कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार विषयासक्त पुरुष अद्वैत परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार नहीं कर सकता। तीनों ही मार्गोंके लिये सबसे पहले विषय-वैराग्यकी अत्यन्त आवश्यकता है। वैराग्यकी भित्तिपर ही निष्काम कर्म, भक्ति और ज्ञानकी सुन्दर सुदृढ़ इमारत खड़ी हो सकती है। दिखलानेके लिये किये जानेवाले विषय-वैराग्यहीन कर्मयोग, भक्ति और ज्ञानसे तो प्रायः पतन ही होता है। वैराग्य ही परमार्थ-साधनका प्राण है।

× × ×

स्वरूपसे विषयोंको छोड़कर कठिन संयम और नियमोंका पालन करते हुए भी मनुष्य जब विषयोंके वशमें हो जाता है, बड़े-बड़े साधु-महात्माओंको भी जब कामिनी-काञ्चनसे और मान-बड़ाईसे सर्वथा पिण्ड छुड़ानेमें बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, तब उन लोगोंके पतन होनेमें क्या आश्चर्य है जो रात-दिन भोगोंमें रचे-पचे रहते हैं, धन कमाते हैं, सञ्चय करते हैं, भेंट लेते हैं, परिवारके झमेलोंमें बुरी तरह उलझे रहते हैं, राजाओंका-सा ठाट-बाट रखते हैं, माल-मलीदा खाते हैं, इत्र-फुलेल लगाते हैं, गहनों-कपड़ोंसे दिन-रात शरीर सजानेमें लगे रहते हैं, नाटक-सिनेमा देखते हैं, वेश्याओंके नाच-मुजरे सुनते हैं, शृंगारके ग्रन्थ और गन्दे उपन्यास पढ़ते हैं, राजसी-ठाटसे काश्मीर और नैनीतालकी सैर करते हैं, स्वयं भगवान् बनकर सेवक-सेविकाओंसे पैर पुजवाते हैं, खुशामदियोंसे घिरे रहते हैं और अभिमानके नशेमें चूर रहते हैं।

× × ×

परमात्माको प्राप्त करनेकी आशासे ऐसे मोह-जाल-समावृत, विलास-विभ्रम-रत, अनेकचित्तविभ्रान्त, स्वेच्छाचारी, काम-भोगपरायण लोगोंको गुरु मानना या गुरु बनाना और श्रीगोविन्दको छोड़कर गोविन्दकी प्राप्तिके लिये इनकी पूजा करना वस्तुतः मोह ही है। ऐसे लोगोंसे परमार्थकी आशा ही क्योंकर की जा सकती है? जो भगवान्‌के नामपर भोगोंकी सेवामें लगे हुए हैं, जिनके हृदयमें नन्दनन्दनकी जगह धन और पार्थिव रूप बसा हुआ है, वे माया-मोहित प्राणी लोगोंको मायासे मुक्त कैसे कर सकते हैं? ईश्वरके नाते तो प्राणीमात्रको ही प्रणाम करना धर्म है परन्तु सद्गुरु समझकर परमात्माको प्राप्त करनेकी आशासे ऐसे लोगोंके पैर पूजने और इनसे कानोंमें मन्त्र फुँकवानेमें सिवा हानिके तनिक भी लाभ नहीं है।

× × ×

कानमें मन्त्र फूँकनेसे ही उद्धार नहीं हो जाता। उद्धार होता है दो उपायोंसे—सद्गुरु-प्रदत्त मन्त्रके सम्यक् विधिवत् अनुष्ठानसे अथवा भगवत्कृपाप्राप्त शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी तपःशक्तिसे। सम्भवतः इन्हीं दोनों कारणोंसे ईश्वरस्वरूप, तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषोंसे मन्त्र ग्रहण करनेकी प्रथा चली होगी, जो इस

दृष्टिसे वस्तुतः बहुत ही लाभकारी थी; परन्तु आज ऐसे सद्गुरुओंका प्रायः अभाव है। आज गली-गलीमें डोलनेवाले लाखों गुरुओंमें बहुत ही थोड़े ऐसे सच्चे सद्गुरु होंगे। ऐसी स्थितिमें कान फुँकवाने और केवल जिस किसीको गुरु माननेसे ही उद्धार हो जायगा, ऐसी धारणा रखनेवाले मनुष्य बहुत अंशमें ठगे ही जाते हैं। क्योंकि न तो मन्त्रदान करनेवाले लोग स्वयं मन्त्रमें या मन्त्रके देवतामें श्रद्धा रखते हैं; (रखते होते तो वे उसीके परायण होकर रहते) न शिष्यगण साधन करनेका श्रम उठाना चाहते हैं और न मन्त्रदाताओंमें ही वह शक्ति है कि जिसके प्रभावसे मन्त्र देते ही अपने आप शिष्यका उद्धार हो जाय।

× × ×

एक बातसे तो बहुत ही सावधान रहना चाहिये। हिन्दू-स्त्रियोंके लिये पुरुष-जातिमें दो ही ऐसे गुरु हो सकते हैं जिनके चरण-स्पर्श करनेका उसे अधिकार है; एक विवाहित पति और दूसरे समस्त विश्वके पति ईश्वरोंके भी ईश्वर परमेश्वर। इन दोको छोड़कर, वे सन्मार्गकी शिक्षा तो किसी भी योग्यतम चरित्रवान् वैराग्यसम्पन्न पुरुषसे ले सकती हैं परन्तु किसीके चरण-स्पर्श करने या किसीसे कानमें मन्त्र फुँकवानेकी आवश्यकता नहीं है, चाहे कोई वास्तविक महात्मा या महापुरुष ही क्यों न हो। चरण-स्पर्श करने या मन्त्र-ग्रहण करनेसे बढ़कर लाभ सच्चे महापुरुषकी शास्त्र-सम्मत निर्दोष आज्ञापालनसे ही हो जायगा। इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं। सच्चे महापुरुषकी आज्ञा निर्दोष ही होगी और सच्चा महापुरुष भी उसीको समझना चाहिये जिसकी आज्ञा विषयोंमें फँसानेवाली और पापमयी न हो। मन्त्रदानका अर्थ मार्ग बतलाना ही है, कान फूँकना नहीं।

गुरु या मार्गदर्शककी जरूरत तो सबको रहती ही है, इससे अपने मनमें किसीको गुरु माननेमें आपत्ति नहीं परन्तु आजके बिगड़े जमानेमें किसीके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़नेके पहले, आत्मसमर्पण करनेके पूर्व कुछ समय-तक, परीक्षाके भावसे नहीं, किन्तु साधनाके भावसे उसके बताये हुए साधनको और उसके संगको करके देखे। यदि दैवीसम्पत्तिमें वृद्धि हो या कम-से-कम आसुरीसम्पत्तिके भाव न बढ़ें तो ठीक है, यदि उसके संगसे आसुरी-सम्पत्ति बढ़े, काम या लोभकी जागृति हो तो सावधान हो जाय। जो गुरु प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी रीतिसे धन या स्त्रीकी माँग करे, उससे तो ज़रूर ही सावधान हो जाय।

× × ×

भारतवर्षमें आज भी सच्चे साधुओंका और ईश्वर-प्राप्त महापुरुषोंका अभाव नहीं है। तीव्र उत्कण्ठाके साथ सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी भगवान्से ऐसे सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। यदि आपकी अभिलाषा सच्ची और तीव्र होगी तो सच्चे सन्त अवश्य ही मिलेंगे। अधिक क्या, स्वयं भगवान्को सन्त बनकर आपको उपदेश प्रदान करनेके लिये आना पड़ेगा।

× × ×

ईश्वरका सतत स्मरण, अपने अन्दर सद्गुणोंकी वृद्धि और भोगोंसे वैराग्य, इन तीन बातोंको बढ़ाते रहिये। ईश्वरके राज्यमें अन्याय नहीं होता। यदि आपकी सच्ची साधना होगी तो आपकी स्थितिके अनुसार आपको सद्गुरु अवश्य मिल जायँगे।

× × ×

गुरुमें भक्ति और श्रद्धा अवश्य करनी चाहिये। जो गुरुका भक्त नहीं होगा, वह भगवान्का भक्त कैसे होगा। परन्तु इस गुरु-भक्तिका आरम्भ गुरुजनोंकी—माता-पिताकी भक्तिसे करना चाहिये। जो माता-

पिताको नहीं मानता वह गुरु और भगवान्‌को सहजमें नहीं मानेगा। प्रह्लादका उदाहरण देकर माता-पिताकी आज्ञा न माननेका समर्थन करना सहज है परन्तु प्रह्लाद बनना बड़ा ही कठिन है। प्रह्लाद या भरतके लिये पिता-माताकी आज्ञाका उल्लंघन करना धर्म था, परन्तु विषयानुरागी, स्वार्थी, जिद्दी, लोभी और क्रोधी मनुष्यका वैसा करने जाना पतनके स्रोतमें ही बहना है।

× × ×

जो मनुष्य सदाचारी है, दैवी-सम्पदाको बढ़ानेमें सदा तत्पर है, माता-पिता-गुरुजनोंका आज्ञाकारी है, सदा सत्य बोलता है, क्रोध नहीं करता, ब्रह्मचर्यका पालन करता है, संयमी है, तपस्वी है, स्वधर्मपरायण है, दुखी-दीनप्राणियोंकी सेवामें तन, मन, धनसे लगा रहता है, दया और प्रेमसे जिसका हृदय छलकता है, जो दूसरोंकी भलाईके लिये स्वार्थका त्याग प्रसन्नतासे करता है, परार्थमें ही स्वार्थ समझता है, पराई स्त्रीको माता समझता है, भोग-विषयोंमें अनासक्त है और आठोंपहर यथासाध्य भगवान्‌का स्मरण करता है तथा प्राणीमात्रमें परमात्माको देखकर सबका सम्मान करता है। वही पुरुष यथार्थ आत्मोन्नति कर रहा है। ऐसे पुरुषका संग सदा ही मंगलकारक है, चाहे वह मुक्त न हो। ऐसे पुरुषको गुरु माननेमें या उससे सत्-शिक्षा और सत्परामर्श लेनेमें सदा ही लाभ है। वह मुक्त होगा तो मुक्तिधामतक पहुँचा देगा। अन्यथा, जहाँतक पहुँचा है वहाँतक तो आगे बढ़ाकर ले ही जायगा। "शिव"

भजनकी आवश्यकता



जो सबसे बढ़कर प्रियतम हो, जो प्राणोंका आधार हो, जो जीवनका एकमात्र अवलम्बन हो, जिसकी स्मृति और मिलनकी आशा ही जीवनमें प्रतिपल चेतना प्रदान करती हो, उसे क्षणभरके लिये भी कैसे भुलाया जा सकता है? कोई कहे कि दिन-रातमें दो घण्टे भले ही उसे स्मरण कर लिया करो, शेष बाईस घण्टे घरके दूसरे आवश्यक कामोंमें खर्च किया करो, तो ऐसा करना उस प्रेमीके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? उसे कितने ही घण्टे कुछ भी काम क्यों न करना पड़े, वह करेगा अपने प्रियतमका स्मरण करते हुए ही। उसे वह क्षणभरके लिये भी अपने हृदय-मन्दिरसे अलग नहीं कर सकता। हृदयमें उसकी झाँकी सदा खुली रहेगी, वह उसके दर्शन करता हुआ ही यन्त्रकी भाँति शरीरसे कार्य करता रहेगा। ऐसे अनन्यचेता सतत और नित्य चिन्तनमें लगे रहनेवाले प्रेमीको भगवान् नित्य प्राप्त ही रहते हैं, वे उसकी अन्तर्दृष्टिसे कभी ओझल हो ही नहीं सकते। इसी स्थितिको प्राप्त भक्त सूरदासने कहा था—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानिकै मोहिं।
हिरदै तें जब जाहुगे सबल बदौंगो तोहिं॥

इसी तन्मयतामें लीन गोपियाँ प्रतिक्षण प्रत्येक कार्य करते समय प्रियतम श्यामसुन्दरके गुणगान करती हुई आँसू बहाया करती थीं। भाग्यशालिनी व्रजाङ्गनाओंकी बड़ाई करते हुए भागवतकार भगवान् व्यास कहते हैं—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

उन श्रीकृष्णमें चित्तको अनुरक्त रखनेवाली व्रजवनिताओंको धन्य है जो गौ दुहने, दही मथन करने, घर लीपते, झूला झूलते, रोते हुए बालकोंको लोरी देते, झाड़ू देते, चौका लगाते तथा विश्राम करते सब समय सर्वदा पवित्र कीर्ति भगवान

श्रीकृष्णको अपने सामने देखकर नेत्रोंसे प्रेमके आँसू बहाती हुई गद्गद् स्वरसे उनका गुण गाया करती हैं।

भगवान्‌को याद रखनेका उपदेश, घण्टे-दो-घण्टे या अधिक नियमित कालके लिये नाम-जपकी आज्ञा, इतनी संख्या पूरी करनेपर सिद्धि हो जायगी, इस लोभसे संख्यायुक्त जप या संख्याकी गणनासे जप हो जाता है, यों भूल रह जाना सम्भव है इसलिये संख्याका अवधि बाँधकर जप करना चाहिये यह आदेश तो उन आरम्भिक साधकोंके लिये है जो भगवान्‌के प्रेमी नहीं हैं; न करनेकी अपेक्षा ऐसा करना बहुत उत्तम है। प्रेम प्राप्त होनेपर यह कहना नहीं पड़ता कि अमुक समयतक अमुक संख्यासे उन्हें याद किया करो। संख्या या समयका हिसाब कौन रक्खे ? जब एक क्षणभरके लिये स्मृति चित्तसे नहीं हटती, तब हिसाब-किताबकी बात ही कहाँ रह जाती है? श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीरामको सीताका सन्देश सुनाते हुए श्रीहनूमान्‌जी कहते हैं कि 'प्रभो! सीता प्राण-त्याग करना चाहती हैं, परन्तु प्राण निकल नहीं पाते' सीताजीने कहा है—

नाम पाहरू दिवसनिसि ध्यान तुम्हार कपाट।
× × × × प्राण जाहि केहि बाट॥

प्राण कैद हो गये। आठों पहर आपके ध्यानके किंवाड़ लगे रहते हैं। आपका ध्यान कभी छूटता नहीं, आपकी श्याम-तमाल माधुरी-मूर्ति कभी मनके नेत्रोंसे परे होती ही नहीं। यदि कभी किंवाड़ खोले भी जायँ तो बाहर रात-दिन पहरा लगता है। पहरेदार कौन है ? रामनाम, क्षणभरके लिये राम-नाम लेनेसे जिह्वा विराम नहीं लेती। प्राण कैसे निकलें? ऐसी स्थितिमें क्या सीताको इस उपदेशकी अपेक्षा थी कि तुम अशोकवाटिकामें अकेली रहती हो, समय बहुत मिलता है, इसके सिवा राक्षसियोंका डर रहता है, इसलिये कुछ देर रामको याद कर लिया करो। यह उपदेश या तो अभक्तोंके लिये है या प्रेमहीन रँगरूटोंके लिये।

प्रेमीजनोंको तो अपने प्रेमास्पदका नाम इतना प्यारा होता है कि स्वयं तो वे उसे कभी भूल ही नहीं सकते; दूसरेको कभी भूले-भटके उच्चारण करते सुन लेते हैं, तो उसकी चरण-धूलि लेने दौड़ते हैं। प्रियतमका नाम लेनेवाला, प्रियतमका गुण गानेवाला, प्रियतमका प्रेमी, हृदयसे आदरका पात्र, प्रेमका पात्र न हो तो कौन होगा ? प्रियतमका चिह्न ही हृदयमें हर्ष पैदा कर देता है। गोपियाँ श्याम मेघोंको देखकर श्रीकृष्णका स्मरण करती हुई मेघोंका दीर्घजीवन मनाती हैं।* भरतजी श्रीरामके पदचिह्न और कुशशय्याके तृणोंको देखकर वहाँकी धूलिको और तृणोंको सिर-माथेपर चढ़ाने लगते हैं,† श्रीराम सीताके वस्त्रको हृदयसे लगाते हैं,‡ महामुनि वशिष्ठ § और भरतजी× गुहको अपने रामका प्रिय सखा समझकर उसपर रामके सदृश स्नेह और प्रेम दिखलाते हैं। सीता-सन्देश सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीराम और श्रीरामका आगमन-संवाद सुनानेवाले हनूमान्‌के प्रति श्रीभरत ऐसी कृतज्ञता प्रकट करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। दोनों ही अपनेको हनूमान्‌का चिरऋणी घोषित करते हैं—

---

* श्यामघन जीवत रहौ सदाय।
तुम्ह देखत घनश्याम हमारे मनमन्दिर प्रगटाय॥

† कुस-साथरी निहारि सुहाई।
कीन्ह प्रणाम प्रदक्षिण जाई॥
चरन-रेख-रज आँखिन लाई।
बनै न कहत प्रीति अधिकाई॥

‡ पट उर लाइ सोच अति कीन्हा।

§ रामसखा ऋषि बरबस भेंटे।
जनु महि लुटत सनेह समेटे॥
यहि सम निपट नीच कोउ नाहीं।
बड़ बशिष्ठ सम को जगमाहीं॥

× भेंटे भरत ताहि अति प्रीती।
लोग सिहाहिं प्रेमकी रीती॥

श्रीरामके वचन—

सुनु कपि तोहिं समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सन्मुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहिं उऋण मैं नाहीं।
देखेउ कर विचार मनमाहीं॥

श्रीभरतके वचन—

नाहिन उऋण तात मैं तोहीं।
अब प्रभुचरित सुनावहु मोहीं॥
यह सन्देश सरिस जगमाहीं।
करि विचार देखा कछु नाहीं॥

भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर जब उद्धवजी व्रजको पधारे, तब श्रीकृष्णकेसे वेषमें देखकर गोपियोंने उन्हें घेर लिया और यह जानकर कि यह भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश लेकर आये हैं, गोपियोंके हर्षका पार न रहा—

तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं
सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशहरं रमापतेः॥

और उन्होंने विनयावनत होकर प्रेमभरी लज्जापूर्ण दृष्टिसे और मधुर वचनोंसे उनका सत्कार किया।

जबतक भगवान् हमारे परम प्रेमास्पद नहीं हैं, तभीतक उनके स्मरण-चिन्तनका अभ्यास करना है, जिस शुभ घड़ीमें हम अपने-आपको उनके चरणोंपर न्योछावर कर देंगे, मन उनके मनमें मिला देंगे, फिर तो हर घड़ी हमें उन्हींकी प्राणाधिक प्रिय छबि दिखलायी देगी; फिर गोपियोंकी भाँति कविवर 'देव' की भाषामें हम भी यह कह सकेंगे—

जौ न जीमें प्रेम तो कीजै व्रत नेम, जब
कंजमुख भूलै तब संजम बिसेखिये।
आस नहीं पीकी, तब आसन ही बाँधियत,
सासनके साँसन को मूँदि पति पेखिये॥
नखतें सिखालौं सब स्यामममयी बाम भई
बाहर औ भीतर न दूजो देव लेखिये।
योग करि मिलैं जो वियोग होइ ब्रजपतिकौ,
जो न हरि होय, तौ ध्यान धरि देखिये॥

योग कहते हैं *अप्राप्तकी प्राप्तिको*, प्राप्तिके अभावको कहते हैं वियोग। यहाँ प्राणप्यारे नन्दनन्दनका नित्य संयोग है, फिर योग किसलिये साधें? वियोग ही नहीं, तब योग कैसा?

परन्तु यह शुभ स्थिति हरएकको नसीब नहीं होती। भगवान्के प्रेमको प्राप्त करना सहज बात नहीं। प्रेम मुँहकी चीज़ नहीं; प्रेमकी बातें बनानेवाले बहुत मिल सकते हैं पर प्रेमके पथपर कोई वीर ही चल सकता है। जबतक जगत्के भोगोंमें आसक्ति है, शरीरके आरामकी चिन्ता है, यश-कीर्त्तिका मोह है, तबतक प्रेमके पन्थकी ओर निहारना भी मना है। प्रेमके मार्गपर वही वीर चल सकता है, जिसने वैराग्यके दावानलमें विषयासक्तिको सदाके लिये जला डाला हो। प्रेमिका मीरा कहती है—

चुनरीके किये टूक ओढ़ लई लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥

प्रेमके पथपर वही पग रख सकता है जो प्रेममार्गके काँटोंको फूलोंकी शय्या, प्रेमास्पदके किये हुए तिरस्कारको पुरस्कार, महान् विपत्तिको सुख-सम्पत्ति, *अपमानको सम्मान* और *अयशको यश* समझता है। उसका पथ ही उलटा होता है, वह कोई ऐसा घृणित कार्य नहीं करता, जिससे उसका अपमान, तिरस्कार हो या विपत्ति आवे, तथापि वह अपमान, तिरस्कार और विपत्तिको प्रेमास्पदके मिलनका मार्ग समझकर उनका स्वागत करता है, उनसे चिपट रहता है। प्रेमपन्थियोंको प्रेमियोंके निम्नलिखित शब्द याद रखने चाहिये—

नारायण घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
विकल मूर्छा सिसकिबो, ये मगके विश्राम॥
सीस काटिके भुइँ धरे, ऊपर राखे पाव।
इश्कचमनके बीचमें, ऐसा हो तो आव॥

सिर काटौ छेदौ हिया टूक-टूक करि देहु ।
पै याके बदले विहँसि वाह वाहकी लेहु ॥
पीया चाहै प्रेमरस राखा चाहै मान ।
एक म्यानमें दो खडग देखी सुनी न कान ॥
प्रेमपन्थ अति ही कठिन सबपै निबहत नाहिं ।
चढ़के मोम-तुरङ्ग पै चलिबो पावक माहिं ॥
नारायण प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार ।
गेंद बनावे सीसकी खेलै बीच बजार ॥
ब्रह्मादिकके भोग सब विषसम लागत ताहि ।
नारायण ब्रजचन्दकी लगन लगी है जाहि ॥

ऐसे प्रेमी भक्त सीस उतारकर मरते नहीं। सीस उतारे फिरते हैं परन्तु प्यारेके लिये जीवन रखते हैं। मर जाय तो प्यारेको दुःख हो। इसलिये जीते हुए ही मर जाते हैं अथवा मरकर भी जीते हैं। जिनकी ऐसी स्थिति हो गयी है, उनको धन्य है, उनके पिता-माताको धन्य है, उनके देशको धन्य है। उन्हींका जन्म सफल होता है। ऐसा करनेपर जब उन्हें प्रियतम मिल जाता है, जब प्रियतमके साथ घुल-मिलकर वे अपने आपको खो देते हैं, तब तो वे प्रियतमका स्वरूप ही बन जाते हैं—

'तू तू करते तू भयो मुझमें रही न हूँ'

× × × ×

जब 'मैं' था तब 'हरि' नहीं, अब 'हरि' है 'मैं' नाहिं ।
प्रेमगली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥

इसी स्थितिको प्राप्त करना मनुष्य-जीवनका ध्येय है। इसीके लिये भगवान्ने गीतामें आज्ञा दी है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

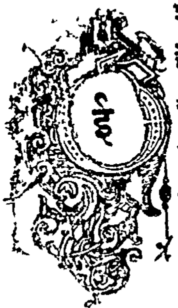
इस सुखरहित और अनित्य मनुष्य-शरीरको पाकर तू निरन्तर मेरा भजन कर। भजनसे ही उपर्युक्त स्थिति प्राप्त हो सकती है। जबतक प्रेम न हो तबतक श्रद्धाके साथ कुछ नियम बनाकर ही भगवान्का भजन अवश्य करना चाहिये। भजन करते-करते ज्यों-ज्यों अन्तःकरणका मल नष्ट होगा, त्यों-ही-त्यों अन्तःकरण शुद्ध होगा और भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ता रहेगा। परन्तु यह 'अटल सिद्धान्त' सदा स्मरण रखना चाहिये कि—

बारि मथे बरु होइ घृत, सिकताते बरु तेल ।
बिनु हरिभजन न भव तरहिं, यह सिद्धान्त अपेल ॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार

ईश्वर कहाँ नहीं है ?

(लेखक—पं० श्रीविद्याधरजी शास्त्री एम० ए०)



ईश्वरकी सत्ताका प्रश्न आधुनिक नहीं है, अनादिकालसे सत् और असत्का प्रश्न-विचार संसारमें नवीनता लाता रहा है। बात यह है कि इस निश्चय और अनिश्चयके मन्थनमें ही पुनीत दर्शन-नवनीतका आविर्भाव होता है।

ईश्वरके लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह केवल निर्गुण निराकार अथवा चेतनमात्र ही हो। उसको किसी एक नियमितरूपमें बद्ध करना उसकी परम शक्तिका सर्वथा तिरस्कार करना है। ईश्वर ही परमाणुरूप, ईश्वर ही प्रकृतिरूप और ईश्वर ही आनन्दरूप है। यदि कोई दर्शनकार सृष्टिकी उत्पत्ति परमाणु और प्रकृतिमें ही देखता है तो ईश्वरवादीको उसके विरुद्ध बोलनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'—सिद्धान्त जब अटल हो चुका तो फिर प्रकृति परमात्म-सत्तासे भिन्न कैसे हो सकती है ? वह भी परमात्माका ही एक रूप है। वह महान् शक्ति, जिसके द्वारा इस विश्वका सञ्चालन हो रहा है, चाहे अदृष्ट हो, चाहे कर्म हो और चाहे मैटर (matter) हो, चेतन और सर्वशक्तिमान् है और वही ईश्वर है। इसके साथ ही जो शंख, चक्र, गदाधारी आदि विभूतिमें ईश्वर नहीं मानते वे भी पूरी भूल करते हैं। ईश्वर इस रूपमें नहीं है—इसको सिद्ध करनेका साहस कोई कैसे कर सकता है ? मनुष्यकी तरह उसमें इच्छा आदि

प्रतीत होती है इसीसे ईश्वरका ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता। मनुष्य भी तो उसी व्यापक सत्ताका एक अंग है। इस व्यापक सत्तामें यदि कहींपर सांसारिक प्रवृत्ति-सी प्रतीत होती हो तो उसे अपनी संकुचित बुद्धिकी कसौटीपर कसकर दूषित बतानेका अल्पज्ञको अधिकार नहीं है। वर्तमान मस्तिष्ककी सबसे बुरी स्थिति यही है कि वह अपनी शक्ति और अपनी परिधिके आगेकी बातको माननेके लिये तैयार ही नहीं होता। आधुनिक शिक्षित समाज ईश्वरीय लीलाको अपने विकृत समाजकी दशामें ही नियमित मानकर उसका अन्यत्र अनुभव नहीं करता। उसकी दृष्टिमें सामाजिक तारतम्यसे उत्पन्न मानवीय दीनतामें ईश्वर-सत्ताका भान नहीं होता। वह सोचता है कि यदि ईश्वर होता तो समाजकी यह दशा नहीं होती। उसकी इस संकुचित बुद्धिका कारण यही है कि उसमें व्यापक-दृष्टिका अभाव है। उसने जीवनको केवल पचास-साठ वर्षोंमें ही सीमित मान रक्खा है। यदि वह सृष्टिकी अनन्तता पर ध्यान देकर और जीवनके अपरिमेय भविष्यपर विश्वास रखता हुआ क्षणिक सुख-दुःखकी आलोचना-करता तो अनन्त शक्तिको प्राप्त करनेवाले जीवकी [illegible] पर्शवाली बातोंपर विचलित नहीं होता।
[illegible] सदा दुखी नहीं रहता। दुःख [illegible] होता, यह एक सर्वसाधारण [illegible] ऋतुओंकी तरह यह भी [illegible] ती सभ्यताओंको नष्ट [illegible] अपनी विशेषतासे [illegible] विनाशकारी [illegible] हुआ [illegible] पदार्थोंमें [illegible]

तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने अन्तमें इस विषयपर—'नेति-नेति कहि वेद पुकारा' कहकर ही मौन धारण कर लिया।

यदि हमारी कुभावनाओंके साफल्यमें विघ्न होता है तो इससे हम ईश्वरको दोषी नहीं ठहरा सकते। वह सर्वज्ञानमय है, वह हमारी अपेक्षा हमारे सुख-दुःखकी आवश्यकताका अधिक ज्ञाता है।

'ईश्वरके भयके कारण मानव-हृदय दुर्बल हो रहा है और ईश्वरके नामपर पुरोहितोंने समाजमें भयङ्कर अनाचार फैला रक्खा है'—इस सिद्धान्तको माननेवाले नहीं जानते कि ईश्वरसत्तामें अविश्वास होनेसे ही सर्वाधिक सामाजिक ह्रास हुआ करता है। अहंकारकी मात्रासे उन्मत्त देश कुछ ही समयमें इन्द्रियोंके इतने दास हो जायँगे और अपनी-अपनी शक्तिपर इतना विश्वास करेंगे कि वे अपने सिद्धान्तसे अतिरिक्त सिद्धान्तको माननेवाले प्राणियोंको सर्वथा नष्टप्राय कर देंगे और कर रहे हैं। ईश्वर-भयसे ही यह प्रबल इन्द्रियग्राम कुछ-कुछ शिथिल रहता है, अन्यथा मनुष्य मनुष्य-से विशेष भयभीत नहीं होता। आजकल कुछ मनुष्य अपने बुद्धिबलसे एक दूसरेको धोका देकर मनुष्यकी शैतानी प्रवृत्तिका सबसे अधिक विस्तार कर रहे हैं। मनुष्यको ही अपने दुःखका मूल-कारण मानकर मनुष्य मनुष्यका परम शत्रु बन जाता है और इस तरह यहाँ राक्षसी सृष्टि उत्पन्न होती है। रही यह बात कि पुरोहितोंने अनाचार फैला रक्खा है, सो इसमें ईश्वरका कोई दोष नहीं, यह हमारी अशिक्षाका फल है और ईश्वरमें हमारा अविश्वास ही इस अधीनताका मूल-कारण है। यदि हमको यह विश्वास होता कि परमपिता सर्वव्यापक है और वह निरन्तर हमारे साथ है तो हम उसका स्मरण किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं करते। ईश्वरकी सत्तामें विश्वास रखना ईश्वर-सम्बन्धी गुणोंके विषयमें विश्वास रखना है। जो ईश्वरको नहीं मानते, उनके हृदयमें यह शंका लगी ही रहती है कि

शैतानी प्रवृत्तिकी ही अन्तमें विजय न हो जावे। दूसरी ओर ईश्वरके भक्तोंको इसका पूर्ण विश्वास है, वह जगन्नियन्ता सत्यका सदा उद्धार करेगा। इसलिये कष्ट सहकर भी सत्यका अवलम्बन करना उनके जीवनका ध्येय हो जाता है। अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम यह दृढ़ विश्वास रक्खें कि वह परमात्मा किसी-न-किसी रूपमें हमसे अवश्य आकर मिलेगा। हमारे माता-पिता, हमारे मित्र और प्रकृतिके अन्यान्य पदार्थ जब हमारी सहायता करते हैं उस समय परमात्मा ही हमारी सहायता करता है! यदि माता-पिताके हृदयमें हमारे लिये सद्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तो उन भावनाओंका उत्पन्न करनेवाला भी वही है। हम यदि अच्छे कार्य करते हैं तो हमारा प्रेरक भी वही है। 'ईश्वर नहीं है' इस प्रश्नको उठाकर आँखमिचौनीके खेलको खिलाकर अपनी खोज करानेवाला भी वही जगन्नियन्ता जगदाधार है। अतः प्रिय पाठक! सर्वत्र उसकी शक्ति और उसकी प्रत्यक्ष प्रेरणाको देखकर अब आप ही बतावें कि वह कहाँ नहीं है?

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव

(लेखक-श्रीगङ्गाचरणलालजी खन्ना)



कुछ लोग बौद्ध-धर्मको ईश्वर-विहीन धर्म मानते हैं। हम ईश्वरका जो अर्थ समझते हैं, उस हिसावसे यह कथन सच भी कहा जा सकता है और नहीं भी। हम यह मान लेते हैं कि बौद्ध-धर्ममें ऐसी दैवी शक्तिको नहीं माना गया है जो मनुष्योंसे पृथक् रहकर जैसे जी चाहे वैसे ही उनके कामोंमें दखल देती हो। लेकिन इस धर्मने एक सर्वमहान् तथाताको माना है जिसके व्यक्ति-स्वरूपकी कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि शान्त मनुष्यको अनन्तकी महिमाका ज्ञान असम्भव है।

सच बात यह है कि मनुष्यकी सत्ता बन्धन-युक्त है जिसके कारण वह दुःख और क्लेशसे व्याकुल होकर शान्तिकी ओर पुकारता है। वह अमर जीवनके लिये भटकता है। सिद्धार्थ गौतमको इसीकी खोज थी और हर एक व्यक्ति अपने आत्मिक विकासके अनुसार इसी परम शान्ति और महासुखके लिये भटकता है। जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे जन्मतक बार-बार इसी तरह दौड़ते हुए हम इस परम लक्ष्यकी ओर बढ़ते हैं। इसे सच या झूठ कहना हमारे वशकी बात नहीं है। मनुष्यमें बुद्धि और हृदय नामकी दो शक्तियाँ हैं। इन्हींके वशमें होकर हमारी यह यात्रा चलती रहती है। बुद्धि तर्कके हथियारसे इस रहस्यको पैरोंके नीचे दबाकर विजयनी बनना चाहती है। पर कुछ समय बाद यह दुर्ग अजेय मालूम होने लगता है और बुद्धि थककर रह जाती है। हम सोचते हैं कि कोरे तर्क-वितर्कसे इस रहस्यका भेद पाना अशक्य है। पर जब बुद्धि अपने घमण्डसे हृदयकी खोजको भी दबाना चाहती है तभी अशान्तिका ज्वालामुखी फूट पड़ता है। जो बात तर्कके हाथ नहीं आयी, वही क्या श्रद्धाके लिये भी अगम्य है?

राजकुमार सिद्धार्थको उपनिषदोंके रहस्यवादका ज्ञान था। ऋषियोंकी शुद्ध परम्पराको वे भूले नहीं थे। लोग उन्हें 'तथागत' कहते थे। अपनेसे पहले ऋषियोंकी तरह उन्होंने सूखे बुद्धिवादको त्यागकर ध्यान और समाधिसे तत्त्वको जाननेकी कोशिश की। भगवान्‌के समस्त जीवनमें यही भाव ओतप्रोत है। उन्हें सब जगह हम ध्यानमें डूबा हुआ पाते हैं। सम्भवतः क्रासमे ईसाइयोंको जो आनन्द मिलता है, भगवान्‌की लीलासे कृष्णके अनुयायी जिस सुखको पाते हैं, रामके पवित्र चरित्रसे जो आनन्द उनके भक्तोंको प्राप्त होता है, वही सुख, वही आनन्द बौद्धोंको भगवान्‌की ध्यान-समाधि-मुद्रासे प्राप्त होता है। जड़ बन्धनोंसे ऊपर

प्रतीत होती है इसीसे ईश्वरका ईश्वरत्व नष्ट नहीं होता। मनुष्य भी तो उसी व्यापक सत्ताका एक अंग है। इस व्यापक सत्तामें यदि कहींपर सांसारिक प्रवृत्ति-सी प्रतीत होती हो तो उसे अपनी संकुचित बुद्धिकी कसौटीपर कसकर दूषित बतानेका अल्पज्ञको अधिकार नहीं है। वर्तमान मस्तिष्ककी सबसे बुरी स्थिति यही है कि वह अपनी शक्ति और अपनी परिधिके आगेकी बातको माननेके लिये तैयार ही नहीं होता। आधुनिक शिक्षित समाज ईश्वरीय लीलाको अपने विकृत समाजकी दशामें *ही नियमित मानकर उसका अन्यत्र अनुभव नहीं* करता। उसकी दृष्टिमें सामाजिक तारतम्यसे उत्पन्न मानवीय दीनतामें ईश्वर-सत्ताका भान नहीं होता। वह सोचता है कि यदि ईश्वर होता तो समाजकी यह दशा नहीं होती। उसकी इस संकुचित बुद्धिका कारण यही है कि उसमें व्यापक-दृष्टिका अभाव है। उसने जीवनको केवल पचास-साठ वर्षोंमें ही सीमित मान रक्खा है। यदि वह सृष्टिकी अनन्तता पर ध्यान देकर और जीवनके अपरिमेय भविष्यपर विश्वास रखता हुआ क्षणिक सुख-दुःखकी आलोचना करता तो अनन्त शक्तिको प्राप्त करनेवाले जीवकी इन मात्रा-स्पर्शवाली बातोंपर विचलित नहीं होता। सृष्टिमें दुखी सदा दुखी नहीं रहता। दुःख व्यक्तिगत ही नहीं होता, वह एक सर्वसाधारण सत्ता है और अन्यान्य ऋतुओंकी तरह वह भी आकर चला जाता है। महती सभ्यताओंको नष्ट करनेवाली सृष्टिकी परिस्थिति भी अपनी विशेषतासे पूर्ण होती है। वह परिस्थिति केवल विनाशकारी ही नहीं होती, उसके द्वारा भविष्य जीवनके लिये परमोज्ज्वल अभ्युदयकारी उदाहरण स्थापित हुआ करते हैं। इस अनन्त ब्रह्माण्डके अनन्त पदार्थोंमें न जाने किस उद्देश्यसे वह क्या कर रहा है। इसपर किसी तरहके निर्णयपर पहुँचना हमारी शक्तिसे बहिर्भूत है और यही कारण है कि हमारे परम तत्त्ववेत्ता महर्षियोंने अन्तमें इस विषयपर—'नेति-नेति कहि वेद पुकारा' कहकर ही मौन धारण कर लिया।

यदि हमारी कुभावनाओंके साफल्यमें विघ्न होता है तो इससे हम ईश्वरको दोषी नहीं ठहरा सकते। वह सर्वज्ञानमय है, वह हमारी अपेक्षा हमारे सुख-दुःखकी आवश्यकताका अधिक ज्ञाता है।

'ईश्वरके भयके कारण मानव-हृदय दुर्बल हो रहा है और ईश्वरके नामपर पुरोहितोंने समाजमें भयङ्कर अनाचार फैला रक्खा है'—इस सिद्धान्तको माननेवाले नहीं जानते कि ईश्वरसत्तामें अविश्वास होनेसे ही सर्वाधिक सामाजिक ह्रास हुआ करता है। अहंकारकी मात्रासे उन्मत्त देश कुछ ही समयमें इन्द्रियोंके इतने दास हो जायँगे और अपनी-अपनी शक्तिपर इतना विश्वास करेंगे कि वे अपने सिद्धान्तसे अतिरिक्त सिद्धान्तको माननेवाले प्राणियोंको सर्वथा नष्टप्राय कर देंगे और कर रहे हैं। ईश्वर-भयसे ही यह प्रबल इन्द्रियग्राम कुछ-कुछ शिथिल रहता है, अन्यथा मनुष्य मनुष्यसे विशेष भयभीत नहीं होता। आजकल कुछ मनुष्य अपने बुद्धिबलसे एक दूसरेको धोका देकर मनुष्यकी शैतानी प्रवृत्तिका सबसे अधिक विस्तार कर रहे हैं। मनुष्यको ही अपने दुःखका मूल-कारण मानकर मनुष्य मनुष्यका परम शत्रु बन जाता है और इस तरह वहाँ राक्षसी सृष्टि उत्पन्न होती है। रही यह बात कि पुरोहितोंने अनाचार फैला रक्खा है, सो इसमें ईश्वरका कोई दोष नहीं, यह हमारी अशिक्षाका फल है और ईश्वरमें हमारा अविश्वास ही इस अधीनताका मूल-कारण है। यदि हमको यह विश्वास होता कि परमपिता सर्वव्यापक है और वह निरन्तर हमारे साथ है तो हम उसका स्मरण किसी दूसरेकी सहायतासे नहीं करते। ईश्वरकी सत्तामें विश्वास रखना ईश्वर-सम्बन्धी गुणोंके विजयमें विश्वास रखना है। जो ईश्वरको नहीं मानते, उनके हृदयमें यह शंका लगी ही रहती है कि

शैतानी प्रवृत्तिकी ही अन्तमें विजय न हो जावे। दूसरी ओर ईश्वरके भक्तोंको इसका पूर्ण विश्वास है, वह जगन्नियन्ता सत्यका सदा उद्धार करेगा। इसलिये कष्ट सहकर भी सत्यका अवलम्बन करना उनके जीवनका ध्येय हो जाता है। अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम यह दृढ़ विश्वास रक्खें कि वह परमात्मा किसी-न-किसी रूपमें हमसे अवश्य आकर मिलेगा। हमारे माता-पिता, हमारे मित्र और प्रकृतिके अन्यान्य पदार्थ जब हमारी सहायता करते हैं उस समय परमात्मा ही हमारी सहायता करता है! यदि माता-पिताके हृदयमें हमारे लिये सद्भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तो उन भावनाओंका उत्पन्न करनेवाला भी वही है। हम यदि अच्छे कार्य करते हैं तो हमारा प्रेरक भी वही है। 'ईश्वर नहीं है' इस प्रश्नको उठाकर आँखमिचौनीके खेलको खिलाकर अपनी खोज करानेवाला भी वही जगन्नियन्ता जगदाधार है। अतः प्रिय पाठक! सर्वत्र उसकी शक्ति और उसकी प्रत्यक्ष प्रेरणाको देखकर अब आप ही बतावें कि वह कहाँ नहीं है?

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव

(लेखक-श्रीगङ्गाचरणलालजी खन्ना)



कुछ लोग बौद्ध-धर्मको ईश्वर-विहीन धर्म मानते हैं। हम ईश्वरका जो अर्थ समझते हैं, उस हिसाबसे यह कथन सच भी कहा जा सकता है और नहीं भी। हम यह मान लेते हैं कि बौद्ध-धर्ममें ऐसी दैवी शक्तिको नहीं माना गया है जो मनुष्योंसे पृथक् रहकर जैसे जी चाहे वैसे ही उनके कामोंमें दखल देती हो। लेकिन इस धर्मने एक सर्वमहान् तथाताको माना है जिसके व्यक्ति-स्वरूपकी कल्पना करना व्यर्थ है क्योंकि शान्त मनुष्यको अनन्तकी महिमाका ज्ञान असम्भव है।

सच बात यह है कि मनुष्यकी सत्ता बन्धनयुक्त है जिसके कारण वह दुःख और क्लेशसे व्याकुल होकर शान्तिकी ओर पुकारता है। वह अमर जीवनके लिये भटकता है। सिद्धार्थ गौतमको इसीकी खोज थी और हर एक व्यक्ति अपने आत्मिक विकासके अनुसार इसी परम शान्ति और महासुखके लिये भटकता है। जन्मसे मृत्यु और मृत्युसे जन्मतक बार-बार इसी तरह दौड़ते हुए हम इस परम लक्ष्यकी ओर बढ़ते हैं। इसे सच या झूठ कहना हमारे वशकी बात नहीं है। मनुष्यमें बुद्धि और हृदय नामकी दो शक्तियाँ हैं। इन्हींके वशमें होकर हमारी यह यात्रा चलती रहती है। बुद्धि तर्कके हथियारसे इस रहस्यको पैरोंके नीचे दबाकर विजयनी बनना चाहती है। पर कुछ समय बाद यह दुर्ग अजेय मालूम होने लगता है और बुद्धि थककर रह जाती है। हम सोचते हैं कि कोरे तर्क-वितर्कसे इस रहस्यका भेद पाना अशक्य है। पर जब बुद्धि अपने घमण्डसे हृदयकी खोजको भी दबाना चाहती है तभी अशान्तिका ज्वालामुखी फूट पड़ता है। जो बात तर्कके हाथ नहीं आयी, वही क्या श्रद्धाके लिये भी अगम्य है?

राजकुमार सिद्धार्थको उपनिषदोंके रहस्यवादका ज्ञान था। ऋषियोंकी शुद्ध परम्पराको वे भूले नहीं थे। लोग उन्हें 'तथागत' कहते थे। अपनेसे पहले ऋषियोंकी तरह उन्होंने सूखे बुद्धिवादको त्यागकर ध्यान और समाधिसे तत्त्वको जाननेकी कोशिश की। भगवानके समस्त जीवनमें यही भाव ओतप्रोत है। उन्हें सब जगह हम ध्यानमें डूबा हुआ पाते हैं। सम्भवतः क्रासंसे ईसाइयोंको जो आनन्द मिलता है, भगवान्की लीलासे कृष्णके अनुयायी जिस सुखको पाते हैं, रामके पवित्र चरित्रसे जो आनन्द उनके भक्तोंको प्राप्त होता है, वही सुख, वही आनन्द बौद्धोंको भगवान्की ध्यान-समाधि-मुद्रासे प्राप्त होता है। जड़ बन्धनोंसे ऊपर

उठकर अपने आपको अनन्त निस्सीम सत्तामें विलीन करनेके लिये ध्यानके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है।

ध्यानके द्वारा साक्षात्कार करनेवाला सन्त उस आदमीसे बहुत ऊँचा दर्जा रखता है जिसने सिर्फ अक्ली दौड़ लगायी है। सन्तकी उड़ान ऊँची होती है, बहुधा वह बन्धनसे परे चला जाता है। वहाँ पहुँचकर जो कुछ उसके मुँहसे निकलता है, उसका अर्थ समझनेमें हमें होशियारी रखनेकी जरूरत है। उसका अनुभव शब्दोंकी कैदमें नहीं आना चाहता। जिसका सन्तको प्रत्यक्ष होता है, वह तत्त्व उसकी स्वयं समझमें आनेवाली चीजसे बहुत बड़ा है। उसकी समझ थोड़ी और दर्शन महान् होता है। उसके दर्शनका नमूना उसकी जिन्दगीमें कुछ-कुछ मिलता है लेकिन उसके शब्द उसे पूरी तरह अदा नहीं कर पाते। उसके शब्दोंमें सङ्गति नहीं होती, इसीलिये पीछे आनेवाले भीरु भक्त उसके शब्दोंका मनमाना अर्थ करके दुनियामें मिथ्या विश्वासोंका बोझ बढ़ाते हैं।

मैं इस बातको नहीं मान सकता कि बुद्ध भगवान्ने अपने गम्भीर ध्यानमें असली तत्त्वका जैसा दर्शन किया, वह पुराने ऋषि और सन्तोंके दर्शनसे कुछ अलग था। पर शाक्य मुनिमें एक बात औरोंसे भिन्न पायी जाती है। उन्होंने जान लिया था कि कोरी बुद्धिके बलपर तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और जो लोग लिखे वाक्योंसे या दलीलोंसे तत्त्वके बारेमें सन्तोष मानकर बैठ जाते हैं उनमें जिज्ञासुकी सचाई नहीं होती। इसलिये शब्दोंकी कैदमें असलियतको जकड़नेका उन्होंने विरोध किया। उन्होंने सदा यही कहा कि अपने जीवनके रास्तेसे उस झाँकीको देखनेका यत्न करो। उनके भक्त अनेक बार यह चाहते कि कुछ वाक्य या संकेत भगवान् बतावें जिससे हमारा कुतूहल कुछ शान्त हो, पर उनकी इस नासमझीपर भगवान्ने सदा ही एक मुस्कराहटके साथ हँस दिया और वे कह देते—'अगर सचाईको जानना चाहते हो, तो उसमें घुसकर खुद अपना रास्ता बनाओ। अगर दुनियाको समझनेकी तुममें सच्ची चाह है तो अपने भीतर ही तलाश करो।'

भगवान्के जीते-जी और उनके कुछ सदियों बादतक उनके भक्तलोग धैर्य और लगनसे उनके बताये रास्तेपर स्वयं चलते रहे। उस राहसे उन्होंने भी उस तत्त्वको देखा जिससे शंकाएँ मिट जाती हैं। लेकिन वक्त गुज़रनेसे असली ज्योति फीकी पड़ गयी, और बुद्ध-धर्ममें ही कुछ लोग हुए जिन्होंने भगवान्के मौनका अर्थ यह लगाया कि वे ईश्वर या परम तत्त्वकी हस्तीसे इन्कार करते थे। उन्होंने भुला दिया कि मौनकी भाषाका अर्थ 'हाँ-नहीं' कुछ नहीं है। मौनके माने हैं तत्त्वकी अनिर्वचनीयता। खुद देखो और अनुभव करो। पर इन लोगोंकी इन्कारीने बुद्ध-धर्मको सिर्फ नीति-धर्मका रूप दे दिया।

पहली शताब्दीमें अश्वघोषने इसके विरुद्ध आवाज़ उठायी। उसने बुद्धि और हृदयका मेल करके अनत्ता [अनात्मा] और निर्वाणका अर्थ समझाया। दुःखपूर्ण संसारसे तारनेको उन्होंने महायान पन्थ चलाया जिसपर चलकर सब निर्वाण प्राप्त कर सकें। महायानकी तीन मुख्य शिक्षाएँ हैं—

(१) भूततथाताका सिद्धान्त।

(२) धर्मकाय, सम्भोग और निर्माणकाय—इस त्रिकायका सिद्धान्त।

(३) बुद्ध अमिताभकी करुणासे निर्वाणकी प्राप्ति।

भूततथाता बौद्ध-धर्मका ईश्वर है। 'तथाता' ही परिवर्तनशील दृश्य संसार, नाना पदार्थ और व्यक्तियोंका तथात्व या सच्चा स्वरूप है जो सबमें व्याप्त रहकर [illegible] और सनातन [illegible]

त्रिकायका सिद्धान्त दृश्य पदार्थोंकी एकताका सिद्धान्त है। सांसारिक स्थितिका कारण निर्माण-काय है। संसारमें जन्म लेकर या निर्माणकायमें आकर सुख-दुःखका भोग करते ही बनता है। सम्भोगकायको निर्माणकायसे जुदा नहीं किया जा सकता। इन दोनोंका सञ्चालन धर्मकायसे होता है। इसीलिये धर्मकी शरणमें जानेसे सम्भोग और निर्माणसे छूटकर निर्वाण प्राप्त होता है। धर्म कोई पन्थ या मत नहीं है। धर्म ब्रह्माण्डकी मौलिक-शक्ति है जिसके अनुशासनसे कर्मका विधान चलता है। धर्मकायका शुद्ध रूप 'भूततथाता' है।

बहुतोंको इससे आश्चर्य हो सकता है कि बौद्ध-धर्ममें भी भगवान्की करुणासे निर्वाणकी प्राप्ति मानी गयी है। पर यह सच बात है। हाँ, महायान-धर्म सिखाता है कि भगवान्की करुणामें विश्वास रखकर निर्वाण पानेके लिये दान, धर्म, पुरुषार्थ, धैर्य, शान्ति आदि गुणोंमें श्रद्धा होना आवश्यक है।

मुझे जिस धर्मसे शान्ति मिलती है उसके कुछ सिद्धान्त ऊपर दिखाये हैं। जिन लोगोंका विश्वास दृढ़ है कि अन्तिम तत्त्व इस दृश्य नश्वर संसारसे परे ध्रुव सत्ता है उनको जब बुद्ध भगवान्के उपदेशोंसे शान्ति प्राप्त होती है तब यह इस बातमें प्रमाण है कि बुद्धधर्ममें परम तत्त्वके अस्तित्वको माना गया है। मेरे विचारसे इस तरहके किसी सबूतकी ज़रूरत नहीं है क्योंकि परम तत्त्व कहने-सुननेकी बात नहीं, वह स्वयं अनुभवमें लानेके लिये है। वहाँ भाषा मौन है और कर्म एक है—बुद्धं शरणं गच्छामि।

ईश्वर और उसकी उपासना

(लेखक—श्रीवृन्दावनदासजी बी० ए०, एल-एल० बी०)

एक धार्मिक पुरुष परब्रह्म परमात्मासे जाग्रत् सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। वह उस ईश्वरसे, उस परमात्मासे जिसका कि उसकी आत्मा एक सूक्ष्मतम भाग है, जहाँतक सम्भव हो सके एक सचेतन सम्बन्ध स्थिर करनेकी चिन्तामें रहता है। मनुष्यकी इस आवश्यकताकी पूर्ति उपासनाके द्वारा होती है। जब तत्त्वदर्शी महर्षि वेदव्यास लोक-कल्याणके लिये महाभारत और ब्रह्मसूत्रोंकी रचना कर चुके और उन्हें इसपर भी शान्ति-लाभ न हुआ तो देवर्षि नारदने उन्हें ईश्वरका गुणानुवाद गान करनेकी सम्मति दी। उनके परामर्शके अनुसार व्यासजीने श्रीमद्भागवतमें ईश्वरका गुणगान किया और ऐसा करनेसे उन्होंने वह मानसिक शान्ति प्राप्त की जिसके लिये कि वे लालायित थे और जिसको अद्यावधि प्राप्त नहीं कर सके थे।

परमेश्वरके प्रति प्रेमकी अभिव्यञ्जनाको, सम्मानके प्रदर्शनको, उससे सम्मिलनकी अभिलाषा प्रकट करनेको, परमात्मासे आत्माकी एकता अनुभव करनेको उपासना कहते हैं। उपासनाके अनेकों रूप हैं। ईश्वरकी पूर्णताके गुणानुवादको, उसकी विशाल शक्तियोंके स्मरणको, उसकी शक्तिशालिनी मायाके अनुभव करनेको, उसके दर्शनोंकी उत्कट लालसाको उपासना कह सकते हैं। उपासकोंकी मनोवृत्तियों अथवा उनकी बुद्धिके विकासके अनुसार विभिन्न प्रकारकी उपासनाएँ होती हैं। चाहे वह कृषक हो अथवा दर्शन-शास्त्र-विशारद, सबमें एक ही उत्कट इच्छा विद्यमान है और वह है ब्रह्मको प्राप्त करनेकी। विभिन्न-भावव्यञ्जनाओंका कारण है मनुष्योंके मानसिक विचारोंकी और बुद्धिकी विषमता। परन्तु लक्ष्य सबका एक ही है।

सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, अखिलेशकी पूजा नहीं की जा सकती। कारण उसका कोई रूप नहीं है अतः अचिन्त्य है। किसी पदार्थकी उपासनाके लिये उसके अस्तित्वकी आवश्यकता है जिससे कि उसपर चित्तकी वृत्तियाँ ठहर सकें और भाव-विकार

उत्पन्न हो सकें । ईश्वर सगुण ब्रह्मके रूपमें पूजाकी वस्तु है जिसतक हमारी प्रार्थना एवं आराधना पहुँच सकती है और जिसका मनन भी किया जा सकता है । एक ही ईश्वरके अनेकों नाम रखकर लोग उसकी पूजा करते हैं । मनुष्य उसीको शिव, विष्णु, महादेव, नारायण, दुर्गा, लक्ष्मी, गणेश, इन्द्र, अग्नि, सरस्वती तथा अनेकों अवतार राम, कृष्ण, बुद्ध आदिकी संज्ञा देकर उसकी आराधना करते हैं । किसी रूपमें अथवा आकारमें सही, पूजा होती है एक ईश्वरकी ही ।

इस विषयको भलीभाँति समझनेसे एक बहुत बड़ी गुत्थी सुलझ जाती है । लोग कहते हैं कहीं शिवको ईश्वर माना जाता है कहीं विष्णुको; कहीं इस पुराणको मान्य लिखा है कहीं उसको । परन्तु समझनेकी आवश्यकता है कि शिव और विष्णु एक ही ईश्वरके दो नाम हैं और भिन्न-भिन्न पुराण भिन्न-भिन्न देवताओंके नामसे केवल ईश्वरका ही गुणगान कर रहे हैं ।

उपासक अपनी इच्छाके अनुसार एक कल्पित वस्तुको ईश्वर मानकर उसकी उपासना कर रहा है और उसीका मनन कर रहा है । वह ईश्वरका आकार अपनी रुचिके अनुसार गढ़ता है । परन्तु वह इसप्रकार प्रतिमाकी पूजा कदापि नहीं कर रहा है वरं उस ईश्वरकी अर्चना कर रहा है जो उस प्रतिमाके भीतर है अथवा वह प्रतिमा जिसकी केवल प्रतिनिधिमात्र है । स्त्री अपने पतिसे प्रेम करती है न कि उसके वस्त्रोंसे । ठीक इसी प्रकार उपासकका आशय ईश्वरसे प्रेम करनेका है न कि प्रतिमासे । जिसप्रकार वस्त्र पहलनेवालेके कारण प्रिय हैं ठीक उसी प्रकार प्रतिमा भी ईश्वरके ही कारण सम्मानकी वस्तु है । एक उपासक ईश्वरको प्रेमकी मूर्ति समझकर, दूसरा उसको सौन्दर्यका समूह मानकर और तीसरा उसको शक्तिपुञ्ज जानकर उसकी उपासना करता है । हम तुच्छ जीव ईश्वरकी महत्ताको कहाँतक समझ सकते हैं ?

उपर्युक्त वर्णनको पढ़कर यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि मत मतान्तरोंके परस्पर कलह नितान्त हास्यास्पद हैं । सब एक ही ईश्वरकी उपासना कर रहे हैं । भेद है केवल भिन्न-भिन्न नामोंका जिनको उपासकोंकी भिन्न रुचिने उत्पन्न किया है । इस भेदका कारण है उपासकोंकी रुचि-विभिन्नता न कि उपास्यदेव ईश्वरकी । भगवान् कहते हैं—

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।'
.... ।
'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥'
(गीता १२ । ३, ४)

जो अप्रत्यक्ष रूप, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, (सबके मूलमें रहनेवाले) अचल और ध्रुव तथा अक्षर (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे सब प्राणियोंके हितमें प्रीति करनेवाले मुझ निर्गुण ब्रह्मको प्राप्त होते हैं—

'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥'
(गीता १२ । ५, ६, ७)

अव्यक्तमें आसक्त चित्तवालोंको अधिक क्लेश होते हैं क्योंकि देहधारी (व्यक्त) मनुष्योंको अव्यक्त उपासनाकी गति दुःखसे प्राप्त होती है अर्थात् निर्गुण-पदकी प्राप्ति देहाभिमानी पुरुषोंको कठिनतासे होती है । परन्तु जो मुझमें सब कर्मोंको समर्पण करके मुझको ही लयस्थान समझ अद्वैत बुद्धिसे मेरे ही ध्यानमें प्रवृत्त होकर मेरा ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, हे पार्थ ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन लोगोंका इस मृत्युरूपी संसारसागरसे मैं थोड़े ही कालमें उद्धार कर देता हूँ ।

भक्तकी वात

(लेखक—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी)

(१) संसार दुःखका भण्डार, निस्सार है,भगवद्-भजन ही सार है, जिसने ईश्वरकी शरण ली, उसका बेड़ा निश्चय होता पार है, जो ईश्वरसे विमुख हुआ, वह जन्मता-मरता बारम्बार है !

(२) भगवान्के अर्चनसे, भगवन्नामके जपसे, भगवन्मूर्तिके ध्यानसे, भगवद्गुण-कीर्तनसे, हरिके स्मरणसे, भगवत्की पुण्यकथाके श्रवणसे, भगवान्की वन्दना करनेसे, शिवके सेवनसे, भगवत्के चरणोदकका पान करनेसे, भगवान्को निवेदन किया हुआ भोजन करनेसे, भगवान्को सब कर्म अर्पण करनेसे, ईश्वरको आत्म-निवेदन करनेसे, भक्तोंके पुण्य संसर्गसे, पुण्यतीर्थके सेवन करनेसे मनुष्योंकी भगवान्में भक्ति उत्पन्न होती है ।

(३) जहाँ श्रीहरिका पूजन और शंकरका स्मरण नहीं होता, वहाँ नित्य ही मनुष्य अपना सिर पीटते रहते हैं, इसमें संशय नहीं है और जहाँ ये दोनों होते हैं, वहाँ सदा शान्ति निवास करती है ।

(४) तभीतक जन्म-मरणरूप संसार है, जबतक मुक्ति नहीं होती और विश्वनाथमें प्रीति हुए बिना करोड़ों जन्मोंमें भी मुक्ति होना सम्भव नहीं ।

(५) जिनके चित्त काम-क्रोधसे अन्धे हो रहे हैं, जो अज्ञानी और संशय-आत्मा हैं, उनमें ब्रह्माण्डको पवित्र करनेवाला प्रेम होना दुर्लभ है ।

(६) जो विषयोंमें दोष देखता है और जगन्नाथमें सुख, शान्ति और कल्याण देखता है, वह संसार-समुद्रसे शीघ्र ही पार हो जाता है ।

(७) उत्तम कुलमें जन्म, यज्ञ-सूत्र, विद्या और दीक्षा निष्फल ही हैं, यदि मनुष्यकी आदि अव्यय पुरुष विष्णुमें भक्ति न हो ।

(८) भक्तोंका हृदय-क्षेत्र मुकुन्द भगवान्का प्रिय मन्दिर है । भक्तोंके हृदयमें भगवान् लीला और विनोद करते हैं ।

(९) भगवत्की महिमा भागवतमें—भक्तमें दिन-रात भासती है । सत्शास्त्रका शुद्ध व्याख्यान भक्तका कर्म है ।

(१०) ईश्वर दुर्विज्ञेय है, भक्तके देहद्वारा प्रकाशित होता है, इसलिये सुभक्तोंका संग मुक्तिका देनेवाला है ।

(११) भक्तको अपना-पराया नहीं होता, समस्त वसुधा उसका कुटुम्ब है, क्योंकि सबमें वह एक अपने आत्मा महाविष्णुको ही देखता है ।

(१२) धनसे क्लेश, मद, हिंसा उत्पन्न होती है और धर्मकी भी हानि होती है, इसलिये भक्त भवेश्वरसे धन नहीं माँगता, केवल भक्ति ही माँगता है ।

(१३) देह दुःखमय, दीनतामय, अशुद्ध और विनश्वर है, ऐसा समझकर भक्त जनार्दनसे देहके सुखके लिये प्रार्थना नहीं करता, ईश्वरकी भक्तिके लिये ही प्रार्थना करता है ।

(१४) कामसे वीर्य, धर्म, बुद्धि और सत्य सभीका नाश होता है, इसलिये भक्त सर्व कामनाओंको त्यागकर भगवच्चरणोंमें ही प्रीति करता है ।

(१५) भोग-सुखकी तो बात ही क्या है, सच्चा भक्त दुर्लभ कैवल्य-पदकी भी वाञ्छा नहीं करता किन्तु भगवच्चरणाम्बुजकी दृढ़ भक्ति ही चाहता है ।

(१६) भक्त सर्वदा इसप्रकार भगवत्से प्रार्थना करता है—हे भगवन् ! मेरी वाणी सर्वदा आपके पवित्र नामका कीर्तन करे, मेरे हाथ निरन्तर आपके पाद-कमलोंका सेवन करें, मेरे श्रोत्र नित्य आपके कथामृतका पान करें, मेरा मन आपके शान्तिमय चरणोंका ही सदा स्मरण करे, मेरे हृदयाकाशमें कोटि सूर्यसम प्रभावाले आप निवास करें, हे जनार्दन ! जब मेरा चित्त आपके चरणोंसे विमुख हो तब हे दयासागर ! उसे अपने चरणोंमें ही लगा लीजिये। हे महेश्वर ! मैं सदा आपका ही ध्यान करूँ, आपको ही सर्वत्र देखूँ, आपको ही नमस्कार करूँ, ऐसा कीजिये। हे जगत्-बन्धो ! आपको नमस्कार है। हे परमात्मन् ! आपको नमस्कार है। हे विश्वेश्वर ! आपको नमस्कार है। हे देवादिदेव, हे परिपूर्णस्वरूप ! आपको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है।

(१७) ब्रह्म ही केवल सत्य है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म है, ऐसा ज्ञान मुक्तिका देनेवाला है।

(१८) ध्यानसे निर्मल अन्तःकरणमें वैराग्य और ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये नित्य शुद्ध और निर्मल मनकी अपेक्षा है। चाहे सगुण साकारका ध्यान करे, चाहे निर्गुण निराकारका ध्यान करे, अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न कभी न समझे।

(१९) मनको निर्विषय करके परम अद्वय महाशम्भु देवका निरन्तर ध्यान करे।

(२०) ऊपर पूर्ण है, नीचे पूर्ण है, मध्य पूर्ण है, सदात्मक है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है, पुरुष है, ब्रह्म है, विष्णु है, सर्वगत है, विभु है, अज है, सत्य है, ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, निराकार है, निराधार है, निरालम्ब है, निराश्रय है, अविभक्त है, अखण्ड है, निष्कल है, निरंशक है, एकरूप है, सदा शान्त है, निर्भेद है, सुस्थिर है, सम है, धूम-रहित अग्निके समान है, सर्वतेजोमय परम देव है, भा-रूप है, पूर्ण चैतन्य है, स्वप्रकाश है, चिदात्मक है, आनन्द है, परमानन्द है, पूर्णानन्द है, महाशिव है, भूमानन्द, सदानन्द, परानन्द, परात्पर है। ऐसे ध्यानसे सत्य-परावर ब्रह्मका साक्षात्कार होते ही सब कर्म छूट जाते हैं और समस्त बन्धन टूट जाते हैं।

(२१) सुख-दुःखमें जिसके मुखकी प्रभा नित्य एक-सी रहती है, जो आत्मामें ही तृप्त है, आत्मामें ही सन्तुष्ट है, आत्मामें ही क्रीडा करता है, आत्मामें ही रति करता है, निन्दा सुनकर जिसके मनमें क्षोभ नहीं आता और प्रशंसा सुनकर जो हर्षित नहीं होता, वही भक्त है, वही जीवन्मुक्त है, वही महात्मा है, वही सेवनीय और पूजनीय है।

(२२) जो जाग्रत्-अवस्थामें सुप्तके समान वर्तता है, सब दोषोंसे निर्मुक्त है, मरनेकी जिसको चिन्ता नहीं, जीनेकी इच्छा नहीं, जो जगत्में जड नहीं देखता किन्तु सर्व चिन्मय देखता है, सदा ही जिसको ब्रह्मभाव है, वह भक्त जीवन्मुक्त वसुधाको पवित्र करनेवाला है। ब्रह्मादि देवता भी उसको नमस्कार करते हैं।

(२३) जो सब तजता है, हरि भजता है, वह बिना इच्छा किये हुए भी मुक्त ही है, इसमें संशय नहीं है।

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

(लेखक—म० श्रीरघुवराचार्यजी वेदान्त-केसरी न्यायमीमांसोपाध्याय तर्कवेदान्ततीर्थ वेदान्त-शिरोमणि, दर्शननिधि)

(ईश्वरांकसे आगे)

इस विषयका स्पष्टीकरण प्रत्येक दर्शनसे उद्धृत किये गये निम्न प्रमाणोंसे पूर्णतया व्यक्त होता है।

दार्शनिक-मूर्धन्य कुमारिल भट्टने श्लोकवार्तिकमें लिखा है कि—

धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥

अर्थात् वेदसे धर्मका निर्णय करनेमें वास्तविक इति-कर्तव्यता-भागको मीमांसाशास्त्र पूर्ण करता है। यहाँपर धर्म शब्दसे यज्ञ और परमपुरुषार्थ (दुःखका अत्यन्ताभाव) साधक पुण्यातिशय यह दोनों लिये जाते हैं। कारण कि 'यज्ञेन यज्ञमजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस वेदवाक्यमें यज्ञको भी धर्म शब्दसे कहा गया है। और 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः,' (१।१) इस वैशेषिक-सूत्रके अनुसार परमपुरुषार्थ मोक्षकी सिद्धि जिससे हो वह धर्म है, यह स्पष्ट होता है। उस मोक्षकी सिद्धि परमात्मरूपके यथार्थ ज्ञानसे होती है। यही उत्तर-मीमांसाकार भगवान् द्वैपायनका सिद्धान्त है। अतः पूर्व-मीमांसाकार महर्षि जैमिनि अपने गुरु द्वैपायन-मुनिके सिद्धान्तके पोषक हैं, विघातक नहीं। उन्होंने ईश्वर-तत्त्वके वास्तविक ज्ञान होनेके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि होना परमावश्यक जानकर कर्मोंके स्वरूपका निर्णय करते हुए उसके अनुष्ठानसे चित्त निर्मल होता है इसका पूर्व-मीमांसामें उपदेश दिया है। ईश्वरास्तित्वके निषेधमें उनका तात्पर्य कदापि नहीं हो सकता। कारण कि, कर्म और उपासना ये दोनों ईश्वरप्रीतिके उत्पादक हैं। इन दोनोंको एककार्य-सम्पादकता है इसीलिये कर्म और उपासनाके प्रतिपादक पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा-शास्त्रकी एकवाक्यता भी पूर्वाचार्योंने स्पष्ट ही बतलायी है। अभिप्राय यह कि जैसे वेदान्तका तात्पर्य ईश्वररूपमें है वैसे ही पूर्वमीमांसाका तात्पर्य भी यज्ञादि कर्मद्वारा आराधित परमात्मामें ही है। ईश्वरका विशेष विवेचन तो पूर्वमीमांसामें इसलिये नहीं है कि वह ईश्वरोपासनाके पूर्व साधन-कर्मोंको उद्देश्य करके ही प्रवृत्त होता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पूर्वोत्तरमीमांसाका मुख्य तात्पर्य ईश्वरमें है। जिसप्रकार मीमांसा-द्वयका एक तात्पर्य है ठीक इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक इन दोनों दर्शनोंका भी एक ईश्वर-तत्त्वमें तात्पर्य है। अतएव दोनों दर्शनोंके सिद्धान्तोंको एकरूपसे समस्त विद्वान् जानते और मानते हैं। षोडशपदार्थवादी महर्षि गौतम और सप्तपदार्थवादी महर्षि कणादने जगत्का नियन्ता और धर्माधर्मका प्रेरक ईश्वरको माना है। इन दर्शनोंके प्रखर विद्वान् नैयायिक-शिरोमणि उदयनाचार्यने तो ईश्वरको उद्देश्य करके 'कुसुमाञ्जलि' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ ही बनाया है। जिसमें ईश्वर-तत्त्व-सम्बन्धी समस्त शंकाओंका समाधान बड़ी विद्वत्ताके साथ किया गया है। वे आरम्भमें ही लिखते हैं—

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारमामनन्ति मनीषिणः।
यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते॥

अर्थात् जिस ईश्वरकी उपासनाको विद्वान् स्वर्ग और मोक्षका मार्ग बतलाते हैं उस परमात्माका मैं इस ग्रन्थमें निरूपण करता हूँ। इससे ईश्वर-मनन ही एकमात्र मोक्षका हेतु है यह सिद्ध होता है। आगे चलकर आचार्य लिखते हैं—

'इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इत्यौपनिषदाः, आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः, क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माणकायमधिष्ठाय सम्प्रदायप्रवर्तकोऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जलाः, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेपः स्वतन्त्रश्चेति महापाशुपताः, शिव इति शैवाः, पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः, निरावरण इति दिगम्बराः, उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः, यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः, किम्बहुना कारवोऽपि यं विश्वकर्मेत्युपासते तस्मिन्नेवं जातिगोत्रप्रवर-चरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति सन्देह एव कुतः? किं निरूपणीयं तथापि,

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥

श्रुतो हि भगवान् बहुश: श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेष्विदानीं मन्तव्यो भवति श्रोतव्यो मन्तव्य इति श्रुतेः ।

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

इति स्मृतेश्च (न्या० कु० प्र० स्त०)

इस आवश्यकीय प्रबन्धसे आचार्यने न्यायशास्त्रका 'सर्वस्व' ईश्वरको माना है । 'यं कमपि' इस प्रतीकको लेकर विद्वद्वर श्रीवर्धमान लिखते हैं—

'यं कमपि मोक्षादिकं स्वाभिमतं पुरुषार्थमर्थयमाना यमीश्वरमुपासते मननविषयीकुर्वन्ति औपनिषदा इत्यादौ सर्वत्र सम्बन्धः ।'

अर्थात् अपने अभिलषित मोक्षादि किसी भी पुरुषार्थकी कामनावाले जिस ईश्वरका मनन करते हैं । 'भगवति सन्देह एव कुतः ?' इस वाक्यसे दर्शनशास्त्रका परमतत्त्व ईश्वरको सिद्ध किया है । पञ्चमस्तवकमें स्वग्रन्थ-प्रतिपाद्य ईश्वरसे इसप्रकार प्रार्थना की है—

इत्येवं श्रुतिनीतिसंप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ।

इसप्रकार श्रुति और न्यायरूप प्रभूत जलसे बारम्बार आक्षालित होनेपर भी जिनके हृदयमें ईश्वरके माननेके लिये स्थान नहीं है वे वस्तुतः पाषाणहृदय हैं, किन्तु हे कारुणिक ! इसप्रकार ईश्वरतत्त्वमें प्रतिकूल विचारवालोंको भी किसी समय आप कृपया पालन करें अर्थात् शंका-कलंकसे विमुक्त करें ।

इसी प्रकार—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।
(४ । १ । १९)

तथा—

तत्कारितत्वादहेतुः । (४ । १ । २१)

इन न्यायसूत्रोंके वात्स्यायन-भाष्यमें और उद्योतकराचार्य-विरचित न्याय-वार्तिकमें सर्वसत्ताधीश्वर ईश्वरको ही कर्म-फल-प्रदाता और जगत्-कारण माना है ।

इस द्वितीय सूत्रके वार्तिकमें केवलकर्मवादी मीमांसकैकदेशी और केवल प्रधानकारणतावादी सांख्यके मतोंका पूर्णतया समाधान करते हुए 'अथैकमितर अतिशेते ? योऽतिशेते स ईश्वरो नेतर इति' इत्यादि वाक्योंसे एक ईश्वरका ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट सिद्ध किया है । ईश्वर पुरुषके कर्मोंकी अपेक्षा करके जिस कर्मका जिस समय जैसा परिपाक-काल है उस समय वैसा ही उसका विनियोग करता है । जो कोई ईश्वरको कर्मानपेक्ष-कारण मानते हैं, उनके मतमें अनिर्मोक्षत्वादि दोष आ सकते हैं । कर्मसापेक्ष ईश्वरकी कारणता माननेपर एक भी दोष नहीं आता ।

तात्पर्य यह है कि कोई कालको और कोई प्रकृतिको जगत्का निमित्तकारण मानते हैं किन्तु ये दोनों मत ठीक नहीं हैं । कारण कि परमाणुओंके अचेतन होनेके कारण बुद्धिमान् चेतन ही उनका अधिष्ठाता हो सकता है । जैसे बढ़ईके अचेतन समस्त उपकरण अपनी प्रवृत्तिके लिये केवल बढ़ईकी ही अपेक्षा रखते हैं अन्यकी नहीं । अतः जगत्का उपादानकारण परमाणु और निमित्तकारण ईश्वर है ।

यहाँपर यह आशंका हो सकती है कि लोकमें जो कोई कार्यका कर्त्ता होता है वह हेयोपादेयरूप कुछ उद्देश्य रखता है किन्तु ईश्वरको दुःख न होनेके कारण हेय कुछ नहीं और पूर्णकाम होनेके कारण उपादेय भी कुछ नहीं; इस स्थितिमें जगत्-कर्त्ता ईश्वर कैसे हो सकता है ? क्रीडाके लिये जगत्की रचना करता है यह भी युक्त नहीं 'क्रीडा हि नाम रत्यर्थं भवति विना क्रीडया रतिमविन्दतां न च रत्यर्थी भगवान् दुःखाभावादिति' (न्याय-वार्तिक) 'किसी प्रीति-विशेषके लिये क्रीडा होती है, ईश्वरको दुःखके न होनेसे सार्वदिक प्रीति है । अतः क्रीडाके लिये भी जगत्कर्तृत्व ईश्वरमें युक्त नहीं है । अपना माहात्म्य प्रकाशित करना, यह भी प्रयोजन ठीक नहीं । ईश्वरको अपने महत्त्व प्रकाशित करनेकी आकांक्षा नहीं हो सकती । इससे भी ईश्वरमें कोई अतिशय नहीं प्राप्त होता । अतः ईश्वर जगत्-कर्त्ता नहीं है ।' इस लम्बी शंकाका समाधान न्यायवार्त्तिकमें केवल यही किया गया है । 'तत्स्वाभाव्यात्प्रवर्त्तत इत्यदुष्टम्' जैसे भूमि आदि तत्त्व अपने स्वभावसे धारणादि क्रिया करते हैं वैसे ही ईश्वर भी अपने स्वभावसे ही जगत्की रचनामें प्रवृत्त होता है । यह प्रवृत्ति-स्वभाववाला तत्त्व है ।

अब शंका यह होती है कि यदि ईश्वर प्रवृत्ति-स्वभाव है तो सर्वदा प्रवृत्ति ही करता रहेगा । तब सांख्य-दर्शनके प्रधानसे इसमें क्या विशिष्टता हुई । ' इसका

उत्तर यह है कि ईश्वर बुद्धिपूर्वक प्रवर्तक है, अतः जैसे-जैसे कारण उपलब्ध होते जायँगे, ईश्वर उसी प्रकार कार्य करता जायगा। प्रत्येक कार्यकी धर्माधर्मादिरूप कारण-सामग्रीका भी कार्यनिर्माणमें ईश्वर उपयोग लेता है। अतः उपर्युक्त दोष नहीं है।

इसी प्रकार बद्ध और मुक्त इन दो प्रकारके आत्माओंमेंसे ईश्वर एक भी नहीं है। क्योंकि दुःख-परतन्त्र ही बद्ध माना जाता है। वही उत्तरकालमें दुःखका अत्यन्ताभाव हो जानेपर मुक्त कहा जाता है। हमारे ईश्वरमें कदाचित् भी बद्धकी सम्भावना नहीं। अतएव उसको मुक्त भी नहीं कह सकते। वह तो इन दोनों प्रकारोंसे रहित है और जगत्का निमित्तकारण है।

इसी प्रकार आगे चलकर इसी सूत्रके अन्तिम वार्तिकमें—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरः प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥
यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥

अज्ञ जीवात्मा अपने सुख-दुःखके नियन्त्रणमें असमर्थ है, उसका नियामक ईश्वर है, उसकी प्रेरणासे वह स्वर्गमें या गड्ढेमें भी जा सकता है। जब वह परम पुरुष प्रवृत्तिपरायण होता है तब यह जगत् भी चेष्टित होता है और वह शान्त होता है तब जगत् भी स्वकारणमें लीन होकर चेष्टारहित हो जाता है।

इन दो श्रुतियोंका प्रमाण देते हुए ईश्वर-प्रेरणया सब कार्यकी सिद्धि बतलायी है। इसलिये न्यायदर्शन और वैशेषिकदर्शन इन दोनों दर्शनोंका भी प्रतिपाद्य ईश्वर ही है।

सांख्य और योग ये दोनों दर्शन प्रधानकारणवादी होनेके कारण एक ही माने जाते हैं। इन दोनों दर्शनोंका भी तात्पर्य ईश्वरके अस्तित्वमें पूर्णतया है। कारण कि योगदर्शनमें शीघ्र समाधि-सिद्धिके कारणोंका निर्देश करते हुए महर्षि पतञ्जलि यह सूत्र लिखते हैं 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।१।२३) इसका वेदव्यास-भाष्य इसप्रकार है—

'प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात् आवर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण। तदभिध्यानादपि योगिनः आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवति इति'

—भक्तिविशेषसे प्रसन्न ईश्वर अपने सत्सङ्कल्पसे उस योगीके ऊपर अनुग्रह करते हैं, इससे अति शीघ्रतासे उसको समाधिलाभ होता है। इसके पश्चात् महर्षि वेदव्यासजीने यह शंका उठायी कि—

'अथ प्रधानपुरुषव्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति'

—अर्थात् प्रधान और पुरुषसे भिन्न यह ईश्वर कौन है? इस भाष्यका अवतरण करते हुए विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिकमें कहा है कि प्रधान और पुरुषसे भिन्न ईश्वरका क्या लक्षण है? इस प्रश्नके उत्तरमें महर्षि पतञ्जलिने यह लिखा है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
(१।१।२४)

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और वासनासे असम्बद्ध (रहित) पुरुषविशेष ही ईश्वर हैं। 'पुरुषविशेष ही ईश्वर है' इस कथनसे ईश्वरका पुरुषमें अन्तर्भाव किया गया। क्लेशादिसे जो सर्वदा रहित है वह ईश्वर है। सिद्ध जीवको कदाचित् क्लेशसम्बन्ध हो सकता है। अतः उससे व्यावृत्ति हुई। यहाँपर यह शंका होती है कि 'यदि क्लेशादिरहित ही ईश्वर मान लिया जावे तो कैवल्यज्ञानप्राप्त हिरण्यगर्भादि भी ईश्वर कहे जा सकते हैं। क्योंकि पञ्चशिखाचार्यका एक वचन है—

आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रक्षयात्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

अर्थात् प्रथम मोक्ष ज्ञानसे, दूसरा रागके नाशसे और तीसरा दुःखके नाशसे माना गया है। पञ्चशिखाचार्यके कथनानुसार ज्ञान भी केवल और मोक्षपदसे कहा जाता है। इसका समाधान वेदव्यासजी इसप्रकार करते हैं—

ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ता ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य।

अर्थात् हिरण्यगर्भादि महात्मा पूर्वावस्थामें वर्तमान प्राकृतिक बन्धको नाश करके मुक्त हुए हैं। सार्वदिक क्लेशशून्य नहीं हैं और ईश्वर तो सर्वदा क्लेशादिरूप बन्धत्रयसे रहित हैं। इसमें श्रुति प्रमाण भी है—

तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।
कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते॥'

अतः प्रकृति और पुरुषसे ईश्वर भिन्न है। इसीका साधक महर्षि पराशरका विष्णुपुराणमें वचन है कि—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ॥

ईश्वरने अपनी इच्छासे उन तत्त्वोंमें प्रविष्ट होकर उनको क्षुभित किया। इस विषयमें प्रमाणभूत अनेक वेद-वाक्य हैं, वे सब वेदान्तप्रकरणमें लिखे जायँगे। इसी प्रकार—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।
(यो० द० १।१।२६)

इस सूत्रमें भी यह स्पष्ट किया गया है कि वह ईश्वर पूर्वकालीन ब्रह्मादि देवोंका भी पिता है, क्योंकि ब्रह्मादि देव द्विपरार्द्धादिकालसे परिच्छिन्न हैं और यह अनन्तकालसे भी अपरिच्छिन्न है।

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै'
(श्वेता०)

इसप्रकार योगदर्शन तो ईश्वरकी महिमासे ही पूर्ण है।

इसीके अनुसार सांख्यमें भी ईश्वरका कहीं खण्डन न होनेसे ईश्वरांशमें पूर्ण प्रामाण्य मानना चाहिये।

कुछ लोग 'ईश्वरासिद्धेः' (सां० द० १।९२) इस सूत्रको ईश्वरनिषेधमें प्रमाणभूत मानते हैं। किन्तु यह केवल उनका भ्रम है। इस सूत्रके ऊपर विज्ञानभिक्षुने अपने भाष्यमें इसप्रकार कहा है—

ननु तथापि ईश्वरप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः। तस्य नित्यत्वेन सन्निकर्षाजन्यत्वादिति—तत्राह ईश्वरासिद्धेः—ईश्वरे प्रमाणाभावान्न दोष इत्यनुवर्त्तते। अयञ्चेश्वरप्रतिषेधः एकदेशिनां प्रौढिवादेनैवेति प्रागेव प्रतिपादितम्। अन्यथा हीश्वराभावादित्येवोच्येत। ईश्वराभ्युपगमे तु सन्निकर्षजन्यजातीयत्वमेव प्रत्यक्षलक्षणं विवक्षितम्।

पूर्वमें प्रत्यक्ष-प्रमाणका लक्षण उपक्रान्त है। शंका हुई कि ईश्वर-प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षका लक्षण नहीं जायगा। क्योंकि ईश्वर-प्रत्यक्ष नित्य है, किसी सन्निकर्षसे उत्पन्न नहीं होता। इस आशंकापर सूत्रका उत्थान है। समाधान यह है कि ईश्वरमें प्रमाण न होनेसे प्रत्यक्ष लक्षणकी अव्याप्ति नहीं है। किन्तु यह ईश्वर-प्रतिषेध एकदेशी विद्वान्का प्रौढिवाद मात्र है, यह हमने आरम्भभाष्यमें स्पष्ट　　है। यदि, वास्तविक ईश्वरनिषेध ही इस सूत्रसे अभिलषित होता तो 'ईश्वराभावात्' ईश्वरका अभाव है ऐसी ही सूत्ररचना की जाती। तात्पर्य यह है कि ईश्वरका अभाव है यह न कहकर 'ईश्वरकी असिद्धि है' यह कथन वादीके प्रति प्रौढिवादमात्र है। इसके आगे जो सूत्र हैं वे सब इससे समाहित समझने चाहिये। कथञ्चित् इस सूत्रका ईश्वर-निषेधमें तात्पर्य मान भी लिया जावे तो भी सांख्यके सर्वोत्तम विद्वान् विज्ञानभिक्षु आरम्भभाष्यमें

'ब्रह्ममीमांसाया ईश्वर एव मुख्यो विषयः।'

—इत्यादि ग्रन्थसे यह सिद्ध करते हैं कि—'प्रबल प्रमाणसे समर्थित होनेपर दुर्बल प्रमाणका बाध समझा जाता है, ब्रह्ममीमांसाका तो ईश्वर ही मुख्य विषय उपक्रमादि षड्विध लिङ्ग-तात्पर्यसे सिद्ध हो चुका है। अतः ईश्वरांशमें उसका बाध किया जाय तो समग्र वेदान्तदर्शनका अप्रामाण्य निर्विवाद सिद्ध होगा। अतएव इसका ईश्वर-स्वरूप सिद्धिरूप मुख्यार्थमें किसी प्रकार बाध नहीं कहा जा सकता। किन्तु सांख्यशास्त्रका पुरुषार्थ और उसका साधन प्रकृति-पुरुषविवेक ही मुख्य विषय है, अन्य नहीं। इस अवस्थामें ईश्वर-प्रतिषेधांशका बाध किया जाय तो भी इस शास्त्रका अप्रामाण्य नहीं होता। क्योंकि—

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (शाबरभाष्य)

—'शब्दसे जिसका असकृत् बोध हुआ करता है वही उस शब्दका अर्थ माना जाता है और उसीमें उसका प्रामाण्य माना जाता है। तात्पर्य यह निकला कि 'सांख्य-दर्शनके ईश्वरासाधक होनेपर भी उस अंशमें वह दुर्बल माना जायगा। लेख बढ़ जानेके भयसे यहाँ अधिक विचार नहीं किया गया। अधिक जिज्ञासुओंको कुसुमाञ्जलि आदि ग्रन्थ पढ़ने चाहिये। इस उपर्युक्त कथनसे दर्शनका मुख्य विषय ईश्वर ही सिद्ध होता है। अब आगे वेदान्त-दर्शनमें ईश्वरका कौन-सा स्थान है यह लिखा जाता है।

वेदान्तदर्शनके विषयमें कुछ प्रस्तावके रूपमें प्रथम मीमांसाप्रकरणमें लिखा गया है। वह 'मीमांसा-शास्त्रप्रतिपाद्य भी ईश्वर ही है' इस अंशमें दृष्टान्तरूपसे दिग्दर्शनमात्र है। अब यहाँपर विशेष स्थल निर्देश किये जाते हैं।

वेदान्तका दूसरा नाम 'ब्रह्ममीमांसा' है। यह दर्शन वेदके उत्तरभाग उपनिषदोंके अर्थ निर्णय करनेके लिये

प्रवृत्त है। इस दर्शनका जो सिद्धान्त है वही वेदोंका भी सिद्धान्त माना जाता है। इस दर्शनमें ईश्वरके स्वरूप गुण और वैभवका उत्कर्ष ही प्रतिपादन किया है। इस दर्शनकी विशालता शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामानन्दाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य आदि साम्प्रदायिक आचार्योंके भाष्य और टीकाओंसे और भी बढ़ गयी है। इतना इस दर्शनका परिचय कराकर मैं अपने प्रकृत विषयपर आता हूँ।

ब्रह्ममीमांसा अर्थात् ईश्वर-मीमांसा यह इसका अन्वर्थ (अर्थानुगुण) ही नाम है।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१ । १ । १)

इस सूत्रमें ब्रह्मपदसे ईश्वर ही लिया गया है। यद्यपि 'अद्वैतवादमें माया-शबलित ब्रह्मको ईश्वर कहा गया है। और शुद्ध ब्रह्म उससे परे माना जाता है। वह न जगत्का कारण है न कार्य है। मायाप्रतिबिम्बित चैतन्य ही जगत्-कारण है, इत्यादि प्रतिपादित है। किन्तु हमारे इस लेखका नायक तो वही ईश्वर है जिससे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय होते हैं। जिसका स्वरूप और लक्षण वेदान्तके द्वितीय सूत्र (जन्माद्यस्य यतः) में वर्णित है। अर्थात् जो शुद्ध ब्रह्म है, वही ईश्वर शब्दसे यहाँ ग्रहण किया गया है। क्योंकि—

'ब्रह्म च वक्ष्यमाणलक्षणं जन्माद्यस्य यत इति'

इस शांकरभाष्यकी भामती टीकामें किस ब्रह्मकी जिज्ञासा प्रथम सूत्रसे की गयी, ब्रह्म शब्द विप्रत्वजातिका भी वाचक है जैसे ब्रह्महत्या, यहाँपर ब्रह्म शब्द वेदका भी वाचक है, जैसे ब्रह्मोज्झम्' और ब्रह्म शब्द परमात्माका भी वाचक है, जैसे ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस वाक्यमें है। इस शंकाका समाधान करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—

'यतो ब्रह्म जिज्ञासां प्रतिज्ञाय तज्ज्ञापनाय परमात्मलक्षणं प्रणयति ततोऽवगच्छामः परमात्मजिज्ञासैवेयं न विप्रत्वजात्यादिजिज्ञासेत्यर्थः।'

अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासाकी प्रतिज्ञा करके उसके व्यक्त करनेके लिये 'जन्माद्यस्य' इस सूत्रसे परमात्माका लक्षण करते हैं, इससे जाना जाता है कि प्रकृत सूत्रमें परमात्माकी ही जिज्ञासा की गयी है, ब्राह्मणादिकी नहीं। इस उपर्युक्त ग्रन्थसे परमात्मा पदसे बोधित 'ईश्वर' ही वेदान्तका प्रतिपाद्य है। माया-कल्पित ईश्वर नहीं, यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार श्रीरामानुजभाष्यमें—

'सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन हि ब्रह्मशब्दः बृहत्त्वश्च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थः। स च सर्वेश्वर एव'

अर्थात् बृहत्त्वगुणके सम्बन्धसे सब जगह ब्रह्म शब्दका प्रयोग ऋषियोंने किया है। वह बृहत्त्व स्वरूप और गुणसे लिया जाता है। स्वरूप और गुण ये दोनों जिस धर्मीमें निरतिशयता (पराकाष्ठा) को प्राप्त हुए हों वह ब्रह्म शब्दका मुख्य अर्थ है। ऐसा तत्त्व एकमात्र 'सर्वेश्वर भगवान् ही हैं' यह कहकर ईश्वरको ही निज मतका आधार माना है।

इसी अर्थमें अपना तात्पर्य व्यक्त करते हुए श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी भी आनन्दभाष्यमें लिखते हैं कि—

'ब्रह्मशब्दश्च महापुरुषादिपदवेदनीयनिरस्ताखिलदोषमनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणं भगवन्तं श्रीराममेवाह। सामान्यवाचकानां पदानां विशेषार्थे पर्यवसानात्'

अर्थात् ब्रह्म शब्द महापुरुष-पदसे कहे जानेवाले हेय दोषोंसे रहित और कल्याणगुणसागर भगवान् श्रीरामका ही वाचक है। क्योंकि सामान्य अर्थको कहनेवाले शब्दोंका विशेष अर्थमें ही पर्यवसान होता है। जैसे 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' यहाँपर पशु पदसे 'छागो वा मन्त्रवर्णात्। (पू० मी० ६। ८। ३०) इस न्यायसे छाग (बकरा) रूप पुरुष-पशुका ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिये। इतने लेखसे वेदान्त-दर्शनका उपक्रम बताया गया। इससे अग्रिम सूत्रोंसे श्रुतियोंका अर्थ निर्णय करते हुए 'प्रकृति तथा परमाणु जगत्का कारण नहीं हो सकते और ईश्वर ही जगत्का कारण हो सकता है' इसका पूर्णतया उपपादन किया है। 'फलमत उपपत्तेः' (ब्र० सू० ३) इस सूत्रसे कर्म जड है, क्षणप्रध्वंसी है, उससे फल-प्राप्ति नहीं हो सकती, यह कहते हुए ईश्वरसे ही सब फलोंकी सिद्धि बतलायी है। 'अन्नादो वसुदानः' (बृ० ४। ४। २४) यह श्रुति इस अर्थमें प्रमाण है। इसी प्रकार—

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च' (ब्र० सू० ४। १। ३)

इस सूत्रके आनन्दभाष्यकी समाप्तिमें भाष्यकार लिखते हैं कि—

'तस्मादुपासकात्मतया ब्रह्मोपासनीयम्'

अर्थात् उपासकको अपने अन्तर्यामी आत्मस्वरूपसे ही ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये ।

इसप्रकार समस्त वेदान्तदर्शनके आदि, मध्य और अन्तमें एक परमतत्त्व ईश्वरका ही निरूपण ज्ञात होता है। अतएव श्रुतिमें यह बात निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि—

तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

अर्थात् उसी एक ईश्वरकी उपासनाद्वारा ज्ञान प्राप्त करनेसे संसार बन्धनसे मुक्त हो सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्त होनेका नहीं है ।

अन्तमें मेरे इस लेखका संक्षिप्त सारांश यह है कि समस्त दर्शनशास्त्रोंका प्रतिपाद्य तत्त्व, ध्येय और ज्ञेय एक ईश्वर है । इसी ईश्वरकी सत्ता, गुण और विभूति वर्णन-कर दार्शनिक विचार कृतकृत्य होता है । यदि दार्शनिक विचारोंमेंसे एक ईश्वर-सम्बन्धी विचार निकाल लिया जाय तो दर्शनशास्त्र सर्वथा तुच्छ प्रतीत होने लगेंगे । अतः ईश्वरतत्त्वमें ही सबका पर्यवसान है । इसी प्रकार अन्य शास्त्र भी ईश्वरके स्वरूप, गुण और वैभवका प्रतिपादन कर स्वांशमें सफल होते हैं ।

तीर्थ-रेणु

(गंगातीरनिवासी एक परमहंस महात्माके उपदेश)



नुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य है शाश्वत शान्ति । मनुष्यकी सर्वोच्च आकांक्षा है निरन्तर सुख । मनुष्यकी उत्कट इच्छा है, सर्व प्राणियोंके प्रति प्रेम। मनुष्यकी वासना है सबसे बड़ा बनना । मनुष्यके भाव हैं, मैं ही सर्वमान्य हूँ ।

मूर्ख लोग इन भावोंके वशीभूत होकर इनकी प्राप्तिके लिये उल्टे उपाय करते हैं । शान्तिकी इच्छासे वे एक स्थानसे दूसरे स्थानमें भटकते फिरते हैं । यहाँसे वहाँ दौड़ते रहते हैं । इससे शान्तिलाभके स्थानमें वे और भी अशान्त बन जाते हैं ।

* * *

सुखकी इच्छासे वे भाँति-भाँतिके संसारी पदार्थोंको इकट्ठा करते हैं, अच्छी-अच्छी खाने-पहननेकी सामग्रियाँ जुटाते हैं, इससे सुखके स्थानमें और भी अधिक दुखी बनते हैं । प्रेम करनेकी इच्छासे मानी और धनी लोगोंकी खुशामद करते हैं, उनकी कृपाके इच्छुक रहते हैं। इससे वे प्रेमका यथार्थ रूप न समझकर खुशामदी बन जाते हैं और परमुखापेक्षी बनकर अच्छे लोगोंकी दृष्टिमें अपनेको नीचे गिरा देते हैं।

'सबसे बड़ा' बननेकी इच्छासे वे इशारेसे, वाक्यसे, चेष्टासे, आप ही अपनी प्रशंसा करते रहते हैं । अपने सद्विचारोंका ही ढिंढोरा पीटते फिरते हैं, फिर चाहे उन विचारोंके अनुसार काम एक भी न कर सकें । इससे उनकी आत्म-प्रशंसा सुननेकी आदत बन जाती है और स्वार्थी संसारी लोग उनके मुँहपर उनकी झूठी प्रशंसा करके उनकी सभी वस्तुएँ ठग लेते हैं एवं उन्हें पतित बना देते हैं। इससे बड़े बननेके स्थानमें वे बहुत ही क्षुद्र प्रकृतिके बन जाते हैं । सर्वमान्य बननेके भावमें दूसरे सभी उच्च पुरुषोंको हेय और तुच्छ समझने लगते हैं, इससे वे सर्वमान्य न बनकर निन्दनीय बन जाते हैं । अज्ञानके कारण वे पूर्वकी ओरके लक्ष्यको भूलकर उसकी प्राप्तिके निमित्त पश्चिमकी ओर जाते हैं ।

उक्त भाव प्रत्येक प्राणीके जन्मसिद्ध अधिकार हैं, किन्तु उनके यथार्थ उपाय ये हैं—

(१) शान्ति अपने अन्दर ही है, इसलिये वाहर न भटककर आत्मान्वेषणमें ही सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

(२) सुखका एकमात्र उपाय है त्याग। जो जितना भी अधिक त्यागमय जीवन वना सकेगा वह उतना ही अधिक सुखी वन सकेगा।

(३) प्रेम-प्राप्तिका उपाय है अपनेको प्राणिमात्रका दास समझना। जो अपनेको श्रेष्ठ मानता है वह प्रेमतत्त्वको समझ ही नहीं सकता।

(४) वड़े वननेका उपाय है-किसीको छोटा न समझना। धनी और गरीवमें भेदभाव न करना।

(५) सर्वमान्य एक आत्मा ही है। आत्मज्ञान होनेपर ही मनुष्य सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ और सर्वान्तर्यामी वन सकता है।

शान्तिकी इच्छा रखनेवालेको यही उपाय उपयोगी हो सकते हैं।

* * *

असलमें वैराग्य तो विषयोंमें दोष-दृष्टि देखनेसे होता है। वह धीरे-धीरे ही हुआ करता है। 'मुझे वैराग्य नहीं हो रहा है' ये विचार भी वैराग्यके ही चिह्न हैं। मनका तो काम ही है सदा ऊहापोह करते रहना। जैसे जठराग्नि सदा पचाती ही रहती है। यदि उसमें भोजन डालना वन्द कर दो तो वह भीतरके मलको ही पचावेगी, फिर रक्त, मांस आदि धातुओंको। जव कुछ भी नहीं मिलेगा तव शान्त हो जायगी। मन विना कुछ सोचे रह ही नहीं सकता। भगवान्की ओर जानेसे बहुत डरता है; क्योंकि वहाँ जाते ही इसकी मृत्यु हो जायगी। अपनी मृत्युको कौन चाहेगा ? जव इसे अमरत्वका ज्ञान हो जायगा और भगवत्-रसका यथार्थ चसका लग जायगा, तव यह मरनेसे न डरेगा। तव मृत्युको ही यथार्थ जीवन समझेगा। तुम एक यह 'दृढ़ निश्चय कर लो' कि मेरे सोचनेसे कुछ भी नहीं होता। आजतक कितनी वातें सोचीं; कितनी स्कीमें वनायीं, उनमेंसे कितनी पूरी हुईं। दिनभरके ही लिये जो सोचते हैं वही पूरी नहीं होने पाती तो आगेकी सोचना मूर्खता है। इसी भावको दृढ़ करो। मन तो विना सोचे रहेगा ही नहीं। उसे सोचने दो। जव कभी याद आ जाय उसके ऊपर खूव हँसो और कह दो—'तेरा सोचना सव व्यर्थ है।' उसी समय सोच लो मैंने यह स्वप्न देखा। इन विचारोंको जाग्रतके स्वप्न समझा करो। वास्तवमें ये हैं भी स्वप्न ही।

* * *

जवतक मनमें संसारी संकल्प उठ रहे हैं तवतक वैराग्य कहाँ ? वैराग्य तो इसका नाम है—

'एकाकी निस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्वरः।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्मनिर्मूलनक्षमः॥'

जवतक कर्म निर्मूल नहीं होते, तवतक वैराग्य कहाँ ?

यह कुछ कितावी विद्याकी वातें थोड़े ही हैं, कितनी भी पुस्तकें पढ़ लो, वैराग्य नहीं आता। यह तो अनुभवकी चीज़ है। जवतक पशु-पक्षियोंकी तरह विल्कुल नंगे होकर वीन-वीनकर दाना न चुगोगे तवतक वैराग्य नहीं आ सकता।

* * *

चैतन्यदेव जव वीमार हो गये तो पुरीमें उनके शिष्योंने वहुत आग्रह किया कि एक रूईका गद्दा और एक छोटा-सा तकिया वनवा दें। तव आपने नाराज होकर कहा—'फिर पैर दवानेको एक स्त्री

भी रखनी पड़ेगी।' अन्तमें बहुत आग्रह करनेपर आपने केलेके पत्तोंका गद्दा बिछाना स्वीकार किया।

* * *

ऐसा न होता तो बुद्धदेव राज-पाट क्यों छोड़ते। घरपर रहकर जैसी चाहते, साधना कर सकते थे। उन्होंने तो साधनाके अनन्तर भी यह नियम भिक्षुओंके लिये बनाया था कि कोई भी भिक्षु नया वस्त्र कभी न पहिने। पुराने चिथड़ोंसे ही अंग ढक ले। इससे जब बीमारी होने लगी और भिक्षुओंमें असन्तोष फैला, तब आपने एक वैद्यके बहुत आग्रहसे नये वस्त्रकी अनुमति प्रदान की।

* * *

चैतन्यदेवने भी छः बाते बतायी हैं—(१) सुस्वादु भोजन मत करो, (२) सुन्दर वस्त्र मत पहिनो, (३) सबको मान दो, (४) स्वयं अमानी बनो, (५) भिक्षापर निर्वाह करो, (६) स्त्री तथा विषयोंका भूलकर भी संसर्ग मत करो।

* * *

त्यागके लिये बड़ी ही तत्परता और धैर्यकी आवश्यकता है। ससारकी क्षुद्र-से-क्षुद्र वस्तु हमें बड़े जोरोंसे अपनी ओर खींच रही है। त्यागका ढोंग रचना आसान है; किन्तु उसे यथावत् निभा लेना अत्यन्त ही दुस्तर है। भगवत्कृपा हो तभी निभ सकता है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

* * *

पतंगा जानता नहीं कि ज्योतिके समीप जायँगे तो जल जायँगे। मछली बिना जाने ही गोलीको निगल ---ती है और उसमें फँस ---ती है। कबूतर जालको नहीं देखता है, केवल चारेके लिये जाता है और अकस्मात् फँस जाता है। मृग सुरीली तान सुनकर ही आता है, उसे क्या पता कि पकड़ा जाऊँगा।

किन्तु मनुष्य यह जानता हुआ भी कि इन विषयोंसे दुःख ही होगा, उन्हें नहीं छोड़ता। मोहकी महिमाको तो देखो। जैसे शूकरी विष्ठाके ऊपर जल्दीसे टूटती है, वैसे ही हम स्वादिष्ठ पदार्थको देखते ही उसके ऊपर टूट पड़ते हैं।

* * *

चाहे और कोई काम निःस्वार्थ भावके बिना हो भी जाय, किन्तु प्रेमकी प्राप्ति तो बिल्कुल निःस्वार्थ बने बिना हो ही नहीं सकती। असलमें हमलोगोंमें प्रेम है ही नहीं; कुछ-कुछ आँखोंका लिहाज है। एक-दूसरेसे संकोच-सा करते हैं। किसीसे भी सच्चा प्रेम हो जाय तो फिर कहना ही क्या?

प्रेम चाहे जिससे भी हो, हो सच्चा। आप देखते ही नहीं, जिन रुपयोंको लोग प्राणोंसे भी अधिक प्यार करते हैं, कंजूस लोग जिनके पीछे जानतक दे देते हैं, वेश्यागामी उन रुपयोंको तुच्छ समझकर बात-की-बातमें उड़ा देते हैं। इतना त्याग तो इन्द्रियजन्य विषयोंसे प्रेम करनेमें है। यदि सच्चा प्रेम किया जाय तब तो किसी भी चीजमें ममत्व रह ही नहीं सकता।

* * *

जो लोग हमें एक पैसा देनेमें भी हिचकते हैं वे ही किसी प्रेमीके लिये लाखों रुपये बात-की-बातमें उड़ा देते हैं, किन्तु जो स्वार्थ-बुद्धि रखकर काम करते हैं, उन्हें प्रेम प्राप्त नहीं होता। जिस स्वार्थके लिये वे करते हैं, उसी स्वार्थकी सिद्धि उन्हें हो जाया करती है। जो नामकी इच्छासे किसी संस्थाको

दान देते हैं, उनका नाम हो जाता है, दानका फल उन्हें इतना ही मिलता है। जो प्रतिष्ठाके लिये या भोगोंके भोगनेकी ही इच्छासे कीर्तन-भजन करते हैं, उन्हें भोग भी मिल जाते हैं। प्रेमका स्वांग रचकर जो अपना स्वार्थ गाँठना चाहते हैं, उनका वही स्वार्थ सिद्ध हो जाता है। भगवान् तो कल्पतरु हैं, जो जिस इच्छासे उन्हें भजेगा, उसकी वही इच्छा पूरी होगी—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी॥

(प्रेषक—श्रीइन्द्र ब्रह्मचारीजी)

तुलसीकृत रामायणमें करुणारस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम० ए०, एल-एल० बी०)

('कल्याण' वर्ष ५ संख्या ९ से आगे)

(२)

करुणारस-सम्बन्धी चरित्र तथा घटनाएँ



हम यह देख चुके हैं कि पाश्चात्य नाट्यकला-सम्बन्धी करुणारसका सिद्धान्त तुलसीदासजीके अयोध्या-काण्डसे कहाँतक लागू होता है, परन्तु हमारा वह अवलोकन यवन-पण्डित अरस्तू (aristotle) के सिद्धान्तपर निर्भर था, अतः बहुत साधारण था। अब प्रस्तुत लेखमें विस्तृत विवेचना की जा रही है। ब्रेडले (Bradley) महोदयका कथन है कि 'A tragedy is in story of exceptional calamity, leading to the death of a man in high estate.' [दुःखान्त-नाटक एक ऐसी असाधारण विपत्तिकी कहानी होती है जिसमें किसी उच्च पदवाले मनुष्यकी मृत्युका समावेश हुआ करता है] इस विचार-दृष्टिसे महाराज दशरथकी मृत्यु अयोध्या-राज्यमें एक ऐसी बड़ी हलचल पैदा कर देती है जिसे दुःखान्त-नाटककी पराकाष्ठा ही कहनी चाहिये। परन्तु तुलसीदासजीकी कल्पना इसके विरुद्ध है। प्रथम तो तुलसीदासजी हमारे ध्यानको केवल एक ही व्यक्तिमें केन्द्रित नहीं करते, द्वितीय वह केवल मृत्युको ही जीवनकी महत्तम करुणाजनक घटना नहीं खयाल करते। दुःखान्त-नाटकका रचयिता जिन भावोंको व्यक्त करता है वह विशेषतः (१) करुणा (२) भय एवं सशंकता (३) रहस्यपूर्णता और (४) मानवी विवशताके परिचायक होते हैं। परन्तु दुःखान्त-नाटकका कोई उत्तम रचयिता करुणाको घृणाकी अवस्थामें नहीं आने देता। वह सदैव इस बातका प्रयत्न करता है कि हम यह कभी भूलने न पावें कि संसारमें 'कर्मप्रधान' रूपी नीतिका राज्य है, जिसमें यद्यपि बुराई, रोगके कीटाणुके समान प्रविष्ट होकर भयानक उथल-पुथल पैदा करनेकी कोशिश करती है, फिर भी विश्वकी विराट् रोग-नाशक शक्ति इस बातका भरसक प्रयत्न करती है कि वह विषको दूरकर स्वास्थ्यकी पुनः स्थापना करे। तुलसीदासजीका विचार ठीक ऐसा ही है। उनकी धारणा नवीन चिकित्सा-सिद्धान्तके समान यह थी कि नैतिक क्षोभ प्रकृतिकी वह चेष्टा है जिसके द्वारा वह मानसिक अथवा सामाजिक शरीरको रोगोंसे मुक्त कर सर्वथा शुद्ध कर देती है। केवल उपर्युक्त सिद्धान्तोंको अपनी दृष्टिमें रखते हुए, तुलसीदासजी अपनी कलामें स्वतन्त्र हैं अर्थात् वह दुःखान्त-कविताके उन कृत्रिम सिद्धान्तोंको नहीं मानते जो पाश्चात्य जगत्में प्रचलित हैं। हमें अयोध्याकाण्डमें एक चरितनायकके स्थानमें अनेक चरितनायक दीखते हैं। प्रारम्भमें महाराज दशरथ हमें दुःखान्त-कविताके चरितनायकके रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं जिनके बाह्य एवं आन्तरिक परिस्थितियोंके चित्रणमें पाश्चात्य जगत्के दुःखान्त-कविता-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तोंका समावेश हो जाता है। वह एक साम्राज्यके सम्राट् हैं और उनकी मृत्युके सम्बन्धमें तुलसीदासजी ठीक ही लिखते हैं कि यदि दिनेश अपने समयसे पहले 'अथवैं' तो संसार क्लेश क्यों न पावे। उनके अपने उत्तराधिकारीको नियत किये बिना तथा कैकेयीको

दो वरदान देकर मर जानेमें अनेक भयानक सम्भावनाएँ बीजरूपसे विद्यमान थीं। अयोध्याके वायुमण्डलमें जिस अन्धकारपूर्ण भय एवं सशंकताकी विद्यमानता थी, उसको कविने इसप्रकार व्यक्त किया है—

घोर जन्तु सम सब नरनारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। ....यमदूता॥

दशरथजीकी मृत्यु दुःखान्त-कविताके बाह्य एवं आन्तरिक सिद्धान्तोंकी पूर्ति करती है।

उपर्युक्त बाह्य सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे दुःखान्त-कविताके चरितनायककी पीड़ाओंका कारण ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनपर उसका कोई अधिकार नहीं, फिर चाहे वे आधिदैविक हों, आधिभौतिक हों अथवा अन्य जनोंद्वारा उत्पन्न हुई हों। इससे हममें करुणाका सञ्चार होता है, इस विचार-दृष्टिसे दशरथजीकी मृत्युसे अधिक और कौन-सी करुणाजनक दुःखान्त-घटना हो सकती है जब कि उन-जैसे सम्राट्की मृत्युका कारण वह षड्यन्त्र हो जिसे कैकेयी और मन्थराने देवताओंद्वारा प्रेरित सरस्वतीकी प्रेरणासे रचा था? अब रही आधिभौतिक आकस्मिक घटनाओंकी बात, सो वैसी छोटी-छोटी-सी घटनाएँ भी बड़े-बड़े विघ्नोंका कारण बन जाती हैं। क्या हम इस बातको भूल सकते हैं कि केवल एक रूमालके अकस्मात् ही गिर जानेसे अथेलो (Othelo) नामी नाटकको घटनाओंपर कितना बड़ा प्रभाव पड़ा? रामायणमें भी महाराज दशरथका करुणाजनक अन्त कुछ ऐसी ही आकस्मिक घटनापर निर्भर है। आह, वह घटना भी कितनी साधारण है कि राजा 'सुभाय मुकर कर लीन्हा' के कथनानुसार एक दिन दर्पण उठा लेते हैं, जब अपने कानोंके समीप सफेद बाल देखकर उनके दिलमें रामको राज-पाट सौंपनेका खयाल पैदा होता है, वह धर्म एवं प्रेमके आवेशमें, जिसे वशिष्ठजीने और भी उत्तेजित कर दिया था, इतना बेसुध हो जाते हैं कि उन्हें महारानी कैकेयीसे सम्मति लेना अथवा भरतजीका बुला लेना विस्मृत हो जाता है। परन्तु राजाकी इन्हीं दो भूलोंपर मन्थराके कुटिल एवं ईर्ष्यापूर्ण मस्तिष्कने सारा बखेड़ा खड़ा कर दिया और कैकेयीको कौशल्याके षड्यन्त्रसे सूचितकर उपर्युक्त भूलोंका चित्रण ऐसे कालिमापूर्ण शब्दोंमें किया कि कैकेयी भी काँप उठी। परन्तु इस बहिरंग दुःखान्त-कविताके सिद्धान्त-निरूपणसे हमारे दिलमें भय, दुःख अथवा करुणा भले ही उत्पन्न हों, पर हमें कोई विशेष शिक्षा नहीं मिलती। हम महाकवि शेक्सपियरके कथनानुसार * यह अनुभव करते हैं कि मानो मानवी-जीवन एक करुणा और लाचारीका जीवन है अथवा महाकवि रवीन्द्रके शब्दोंमें † यह अनुभव करते हैं कि विश्वको रचना हमारे प्रतिकूल है और हम बिल्कुल लाचार हैं।

इसी कारण प्रायः सभी दुःखान्त-कविताओंके रचयिता उन कविताओंके आन्तरिक सिद्धान्तकी ओर हमारा ध्यान विशेषतया आकर्षित करते हैं और अपने चरितनायकके दुःखान्त-जीवनको उसीकी किसी-न-किसी चारित्रिक त्रुटिपर अवलम्बित करते हैं। उदाहरणार्थ महाकवि शेक्सपियरके चरितनायकोंमें मैकवेथ (Macveth) के दुःखान्त-जीवनका कारण उसके चरित्रमें राजैषणाका बीजरूपसे होना ही था और इसी प्रकार अथेलो (Othelo) के पतनका कारण उसकी ईर्ष्याका अविकसित रूप ही कहा जा सकता है। दशरथमें भी केवल यही त्रुटि थी कि वह हृदयके शासक होनेके बजाय हृदयके शासनमें रहते थे। वह कैकेयीपर आसक्त थे और रामको भी बहुत चाहते थे। रामको युवराज बनाकर अपनी हार्दिक इच्छाकी पूर्ति इतनी शीघ्रताके साथ करना चाहते थे कि वह आवेगवश कैकेयीसे सम्मति लेना अथवा भरतका बुलाना ही भूल गये। कौशल्याको भी लग्नके ठीक समयका पता न था जिससे विदित होता है कि उससे भी दशरथने कोई सलाह न ली थी। परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कुशल कवि दुःखान्त-कविताके इस अंगको इतना कटु नहीं बनाता कि हम चरितनायकसे ही घृणा करने लगें। एक करुणा ही दुःखान्त-कविताके सौन्दर्यकी मूल है और उसीको प्रत्येक दशामें स्थिर रहना चाहिये। कौन ऐसा होगा जो दशरथकी उस तनिक-सी त्रुटिको क्षमाकी दृष्टिसे न देखेगा? मैं तो यह कहूँगा कि यहाँ तुलसीदासजी शेक्सपियरसे बढ़ गये हैं, क्योंकि हमारे हृदयमें दशरथकी अपेक्षा मैकवेथ और अथेलोके प्रति घृणाका अंश अधिक उत्पन्न हो जाता है—केवल 'हैमलेट' (Hamlet) तुलसीदासजीके आदर्शके निकट पहुँचता, यदि वह अपनी कोमल एवं निरपराध प्रेमिकाके प्रति अकारण ही कटु व्यवहारका प्रदर्शन न करता। यद्यपि तुलसीदासजी दशरथकी उपर्युक्त त्रुटिकी ओर हमारा ध्यान उस

* 'The pity of it all, I ago.'

† 'In an alien arrangement of things '

सम्भाषणमें भी दिलानेसे नहीं चूकते जो भरतने कैकेयीसे किया था, फिर भी वह हमारे ध्यानको अधिकतर कैकेयी-की दुष्टतापर ही केन्द्रीभूत करते हैं। यदि चरितनायककी त्रुटियाँ, नाटककी घटनाओं और उसके दुःखान्तक परिणामों-का शृंखलाबद्ध एवं तार्किक वर्णन हो जाय तो दुःखान्त-कविताके अध्ययनसे जो 'न जानन जोग' रहस्यका भाव हमारे हृदयमें विश्वके प्रति उत्पन्न होता है वह सर्वथा विलुप्त ही हो जाय। अतः तुलसीदासजी हमें इस बातका अवकाश ही नहीं देते कि हम महाकवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के शब्दोंमें उस आक्षेप-के पात्र बनें जो उसने इसप्रकार प्रकट किये हैं कि वैज्ञानिक अपनी माताकी समाधिका भी अन्वेषण करनेसे नहीं चूकता।* हमें दुःखान्त-कविता पढ़नेके पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जगत् रहस्यमय है और उसमें कहीं तो दुष्टताके दूरीकरणके लिये दुष्टताकी ही आवश्यकता प्रतीत होती है और कहीं संसाररूपी चक्कीके दोनों पाटोंके बीच भले-बुरे दोनों ही पिसते दीखते हैं। इसी कारण जब दशरथजी अपने ही कर्मोंद्वारा रामको राज्यच्युत देखते हैं तो अनायास ही कह उठते हैं—

'और करे अपराध कोउ और पाव फलभोग।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानै जोग॥'

साधारण दुःखान्त नाटकके रचयिताके लिये तो इतना ही पर्याप्त है परन्तु तुलसीदासजी महाकाव्य (Epic) के रचयिता भी हैं और उन्होंने नाटक और महाकाव्यका एकीकरण करके साहित्य-संसारमें वह काम किया है जो किसी अन्य कविसे नहीं बन पड़ा। अब महाकाव्यका उद्देश्य ही यह है कि वह विश्वके रहस्यका उद्घाटन करे, और 'नहिं जानन जोग' बातोंको 'जानन जोग' बना दे। यह देखनेकी बात है कि तुलसीदासजी उपर्युक्त दोनों पारस्परिक विरोधी सिद्धान्तोंको किसप्रकार निभाते हैं। वह उस करुण दृश्यमें जो दशरथजीकी मृत्युके पूर्व अथवा उसके पश्चात् अयोध्यापुरीमें दृष्टिगोचर होता है, उस रहस्य-को ज्यों-का-त्यों बना रहने देते हैं। वह पहले-पहल उस रहस्यका किञ्चित् उद्घाटन उस समय प्रारम्भ करते हैं जब निषाद महाराज रामकी दशापर शोक प्रकट करता है और लक्ष्मणजी यों कहते हैं—

को काहू कर दुख सुख दाता। निज कृत कर्म भोग सुन भ्राता॥

परन्तु यह भी स्मरण रहे कि यह उत्तर भी ठीक नहीं है और एक नीतिज्ञका दिया हुआ है। वास्तविक उत्तर तो यह है कि महाकाव्यकी दृष्टिसे राम अलिप्त, जीवन्मुक्त, मर्यादापुरुषोत्तम एवं विष्णुके अवतार हैं और उनके काम 'लीलामय' हैं, कर्मवश नहीं। तुलसीदासजी स्वयं ही कहते हैं कि—

जस काछिय तस चाहिय नाचा।

जिससे उपर्युक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। परन्तु साथ ही वह एक कुशल कविके समान इस दार्शनिक सिद्धान्तपर आवश्यकतासे अधिक जोर नहीं देते कि कहीं हमारे हृदयसे करुणाका भाव ही न चला जाय।

सारांश यह है कि महाराज दशरथकी मृत्यु ऐसी परिस्थितियोंमें हुई जिनमें बहिरंग तथा अन्तरंग दोनों प्रकारकी दुःखान्त-कविताओंका व्यक्तिकरण होता है और विश्वकी रहस्यमयताका भाव भी स्थिर रहता है। शोककी बात यह है कि जब महाराज दशरथ, रामजीके विजयी होनेके पश्चात् दिव्य लोकसे उनके मिलनेके हेतु आते हैं तब भी उनके हृदयकी भावपूर्णता बनी ही रहती है, यद्यपि उनका स्थूल शरीर बहुत समय पूर्व विलुप्त हो चुका था। उस समय उनका पुत्र-स्नेह इतना अधिक जागृत हुआ था कि भगवान् रामको अपनी आवतारिक स्थितिसे काम लेना पड़ा और उन्हें एक कुशल मानसिक चिकित्सककी भाँति कुछ कड़ी ओषधिका प्रयोग कटु शब्दोंके रूपमें करना पड़ा।* केवल तभी दशरथजीकी आत्माको स्वस्थ होनेका अवसर प्राप्त हुआ। यही स्वास्थ्य-लाभ विश्वकी सम्पूर्ण रचनाका उद्देश्य है। दुःखका मानसिक चिकित्सामें वही स्थान है जो किसी काँटेका दूसरे काँटेके निकालनेमें होता है।

यद्यपि अधिक व्याख्या यथासमय की ही जायगी, फिर भी इस एक बातका उल्लेख यहाँ कर देना आवश्यक है। दुःखान्त-कविताके बाह्य एवं आन्तरिक रूपोंका विश्लेषण प्रायः दो प्रकारसे होता है। एक ओर तो नायकके हृदयमें ही बुरी और भली भावनाओंका संघर्षण होता है और दूसरी ओर उसी नायक तथा उसके किसी विरोधीके

*'Peep and botanize over mother's grave.'

* तुलसीदासजीने तो केवल कृपादृष्टिसे ही वहाँ भी ज्ञान उत्पन्न करा दिया है।

चरित्रोंमें भी रगड़ जारी रहती है। यहाँ बाह्य संघर्षणका रूप यह है कि एक ओर तो कैकेयीका दृढ़ दुराग्रह है और दूसरी ओर कोमल प्रेमी राजा अपने सत्यसे उस समयतक नहीं डिगता जबतक उसका मानसिक स्वास्थ्य निर्बल नहीं हो जाता। मेरी समझमें निम्नलिखित चौपाइयोंतक दशरथजीका मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहा है, उसके उपरान्त वह मानसिक सन्निपातकी दशामें पड़ गये हैं—

तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुयेहु मेटि नहिं जाइहि काऊ॥
अब तोहिं नीक लागि कर सोई। लोचन ओट बैठ मुख गोई॥

क्या इसमें एक राजाकी दृढ़ता नहीं है?

जौलौं जियों कहौं कर जोरी। तौलौं जनि कछु कहसि बहोरी॥
फिर पछतैहसि अन्त अभागी। मारेसि गाय नाहरू लागी॥

भविष्यका कितना सत्य एवं तार्किक निरूपण है! परन्तु अन्ततः सन्निपातकी ही विजय होती है, जिसका प्रारम्भ निम्नलिखित दोहेसे ही हो गया है—

परेउ राउ कहि कोटि बिधि काहे करसि निदान।
कपट चतुर नहिं कहति कछु जागत मनहुँ मसान॥

बहुधा अनुदार समालोचकगण इस बातपर तीव्र आक्षेप करते हैं कि तुलसीदासजीने महाराज दशरथके मुखसे उपर्युक्त दोहेके बाद ऐसे शब्द कहलाये हैं जिनसे दशरथजीपर प्रतिज्ञा-भंगका दोष लग सकता है और उस दोषसे तुलसीदासजी भी बच नहीं सकते। कौन उदार पुरुष ऐसा होगा जो किसी सन्निपातग्रसित रोगीको प्रलापोंकी कड़ी समालोचना करे? तुलसीदासजीके सामने महाराज दशरथकी मृत्युकी ऐतिहासिक घटना तलवार या खंजरद्वारा नहीं घटित हुई थी, प्रत्युत उनसे अधिक काट करनेवाले उस असीम दुःखके कारण हुई थी जो रामजीके वनवासवाले वरदानका परिणाम था। तुलसीदासकी दुःखान्त-काव्य रचनाका कमाल यह है कि उन्होंने नाटकीय कौशलके साथ महाराज दशरथके मानसिक सन्निपातका वर्णन अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें किया है जिसका प्रारम्भ निम्न चौपाईसे होता है—

राम राम रटि बिकल भुवालू। जनु बिनु पंख बिहंग बिहालू॥

दशरथके आन्तरिक भावोंके संघर्षणका वर्णन ऐसे करुणाजनक शब्दोंमें हुआ है कि आँसुओंको निछावर किये बिना रहा नहीं जा सकता। (क्रमशः)



महात्मा कनकदास

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)



भक्त-वत्सल भगवान्‌की जिसपर कृपा होती है, वही भक्त भक्तिसे अनुराग उत्पन्न करता है। संसारके नानाविध झंझटोंमें फँसकर मनुष्य कभी-कभी ऐसा क्षमताहीन हो जाता है कि उसे आगेका सुमार्ग नहीं सूझता और दुःखके झकझोरोंसे व्याकुल होकर वह अन्तमें ईश्वर-विश्वास खो बैठता है। यह भूल है, भारी भूल है और हद दर्जेकी अधीरता है।

प्रत्येक मनुष्यको यह बात हर्गिज नहीं भूलनी चाहिये कि भक्तिके मार्गमें नुकीले काँटे हैं और वह मार्ग बिना विश्वास और अन्तरकी दृढ़ताके तय नहीं किया जा सकता। कठिनाईको पार करना ही मनुष्यका लक्ष्य है—कर्त्तव्य है। स्वामी रामतीर्थका कहना है कि बाधाओं, कष्टों और द्वैत-भावोंको भी बल और शक्तिका उद्गम बनाओ। इसी तरह महात्मा स्परजियनका कहना है कि बहुत-से मनुष्योंके जीवन बड़ी-बड़ी कठिनाइयोंके ही कारण महान् हुए हैं।

ऊँचा पद पाकर क्या मनुष्य सुखी हो सकता है? राजगद्दी मिल जाय, अधिकार मिल जायँ, दासदासी मिल जायँ, धन मिल जाय और भोगनेकी सारी वस्तुएँ मिल जायँ, फिर मनुष्यको किस बातकी इच्छा रह सकती है? संसारमें जो सुखकी तलाश की जाती है, वह ऐसे ही सुखकी की जाती है। ऐसे सुखको पाकर तो मनुष्यको सुख मानना

चाहिये और शान्ति प्राप्त हुई समझनी चाहिये। पर हम रात-दिन संसारमें देखते हैं कि ऐसा नहीं होता। मनुष्य भोगैश्वर्यकी सारी वस्तुएँ पाकर भी एक ऐसी गुप्त वस्तुकी तलाशमें रहता है, जिससे उसको चिर सुखकी प्राप्ति होनेकी पूरी आशा रहती है। अगर उसके जिगरको चीरकर देखा जाय तो उसके अन्दर एक ऐसी लालसा छिपी हुई मिलेगी जो उसको भगवान्‌की शरणमें ले जानेका इशारा करती होगी। वास्तवमें वही शान्तिका स्थान है जिसमें मनुष्य-प्राणीको नित्य शान्ति प्राप्त होती है। इसीकी खोज सबका हृदय करता रहता है। आज हम इसी पथके पथिक महात्मा कनकदासका हाल आपको सुनायँगे।

धारवाड़-जिलेमें वाड़ नामका एक गाँव है, इसी गाँवमें सन्त कनकदास रहते थे। आपका असली नाम वीरनायक था। जैसा आपका नाम था वैसा ही काम भी आप करते थे। धर्मवीर, युद्धवीर, भक्तवीर, दानवीर आदि कई तरहके वीर होते हैं, पर इनमेंसे इस समय तो आप सिर्फ युद्धवीर थे और शिकारीका धन्धा करते थे, जिस धन्धेको मनुष्य श्रेष्ठ समझकर करने लगता है, उसकी पूरी कोशिश रहती है कि मैं किस तरह इसमें ज्यादा-से-ज्यादा उन्नति कर दिखाऊँ! इसी तरह वीरनायकने भी निशाना लगानेका इतना अच्छा अभ्यास कर लिया था कि उस समय उनकी जोड़का निशानेबाज़ वहाँ कोई नज़र नहीं आता था। आपका बाण अचूक जाता था और निशानेको वेध ही देता था। चित्रकल नामक राजाके यहाँ आप नौकर थे। नौकरी अच्छी बजाते थे, इससे राजा खुश था। यहाँतक खुश हुआ कि आपको सेनापतिके पदपर पहुँचा दिया। थोड़े दिनोंके बाद देखते-ही-देखते यह हुआ कि आप धन-दौलत और मान-मर्यादाके स्वामी बन गये। राजाके बाद दूसरा नम्बर आपहीका था। अब क्या चाहिये ? मनुष्य यही चाहता है कि मुझे ऊँचा पद मिले, अधिकार मिले, धन मिले, मान मिले और स्त्री-पुत्रादि प्राप्त हों। पर नहीं, इसके सिवा वह कुछ और भी चाहता है, पर क्या चाहता है, इस बातको वह जानता नहीं। हाँ, एक दिन ऐसा आता है जब उसकी वह इच्छा बलवती हो जाती है और वह संसारकी मोह-माया और धन-पुत्रादि सबको छोड़कर भगवान्‌की शरणमें चला जाता है, जहाँ उसे पूर्ण शान्ति मिलती है और सुखका अनुभव होता है। यही जीवनका लक्ष्य है। पर विरला ही भाग्यशाली इस लक्ष्यतक पहुँच सकता है, अधिकांश अभागे मनुष्य तो इस आशाको अपने अन्दर छिपाये हुए ही मौतके मुँहमें चले जाते हैं।

प्रभु-कृपापात्र कनकदासजीके जीवनमें भी ऐसा ही परिवर्तन हुआ। एक बार आप युद्ध कर रहे थे। युद्ध करते-करते आपको विचार आया कि 'क्या जीवनका यही उद्देश्य है कि मनुष्य एक दूसरेको मारकर अपने स्वार्थकी सिद्धि करे ?' यह तो मनुष्य-जीवनकी नीचता ही है। यह जीवन ही क्या, यह तो पशु-जीवन है, यह विचार आते ही युद्धके प्रति आपके चित्तमें तिरस्कार उत्पन्न हो गया। अन्तर्मुखी वृत्ति करते ही अन्दरसे आवाज़ आयी कि 'भैया ! ऐसी पापकी गठरी क्यों बाँधता है। इस तमाम दुनियाकी मायाको छोड़ दे और इकतारा तथा भिक्षापात्र हाथमें लेकर दास बन जा, तभी तेरा जीवन सफल होगा।'

सत्यवीरोंका लक्षण ही यह होता है कि वे जीवनमें एकदम परिवर्तन करके सत्य-मार्गपर अग्रसर होने लगते हैं। वीरनायक कनकदासने भी अन्तरकी आवाज़ सुनते ही घर-बार छोड़ दिया और यात्राके लिये निकल पड़े।

जब विजयनगरमें पहुँचे तो वहाँ आपको सद्‌गुरुजी मिल गये, जिनका नाम वादिराज स्वामी था। गुरुजीसे वहाँ आपने माध्व-सम्प्रदायकी दीक्षा ली और तभीसे आप भक्तके नामसे प्रसिद्ध हुए।

दक्षिणमें वादिराज स्वामी एक असाधारण

विद्वान् और धर्मशील साधु हो गये हैं। सन्त कनकदास इन्हींके शिष्य बने। यद्यपि कनकदास छोटी जातिके थे, तो भी वादिराजने इसकी कुछ भी परवा नहीं की और वे उनपर पूर्ण कृपा रखने लगे। कनकदास भी क्षमाशील, कष्टसहिष्णु और साधु-स्वभावके भक्त थे। उन्होंने गुरुकी तन,मनसे खूब सेवा की। वादिराज इनकी सेवासे बहुत प्रसन्न रहने लगे।

एक दिनका ज़िक्र है कि वादिराज स्वामीने ब्राह्मणोंको एक-एक केला दिया और कहा कि 'आज एकादशी है, ऐसे स्थानपर जाकर इस केलेको खाओ कि जहाँ कोई देख न सके।'

कनकदासजीके हिस्सेमें भी एक केला आया। सन्ध्या-समय सब ब्राह्मण वादिराजके पास एकत्र हुए। कनकदास मौजूद ही थे। वादिराजने सबसे पूछा कि किस-किसने कौन-कौन-सा एकान्त स्थान तलाश किया। सबने अपने-अपने एकान्त स्थान बतलाये, पर कनकदासकी तरफ जब गुरुजीने देखा तो उनके हाथमें केला ज्यों-का-त्यों मौजूद था। गुरुजीने इशारा किया कि 'यह क्यों?' कनकदास बोले—'महाराज ! मैं तो जहाँ जाता हूँ, वहीं वासुदेव भगवान् मौजूद मिलते हैं, कोई भी ऐसा स्थान नहीं,जहाँ उनका वास न हो। फिर एकान्त स्थान मिल ही कहाँ सकता है ? इसीलिये मैं केला हाथमें लिये ज्यों-का-त्यों बैठा हूँ।'

यह उत्तर सुनकर गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि अब शिष्य कनकदास सच्चा भक्त बन गया है; क्योंकि सर्वत्र ईश्वरका अस्तित्व इसके ध्यानमें पूरे तौरपर आ गया है। सन्त कनकदास भारतमें खूब प्रसिद्ध हुए।

ईश्वर

(लेखक–पं० श्रीदेवराजजी सिद्धान्तालङ्कार विद्यावाचस्पति)

ईश्वरीय सत्ताकी आवश्यकता



विश्वमें बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हैं जो मनुष्यकी कृतिसे बाहर हैं। उन रचनाओंमें मनुष्यका अधिकार नहीं है। मनुष्य उनको बना नहीं सकता। जिसको मनुष्य बना नहीं सकता उसको अपना कहनेका भी मनुष्यको अधिकार नहीं है। बनी हुई चीजोंको ही उलट-फेरकर घड़घड़ाकर नया रूप देना ही मनुष्य जानता है। परन्तु जिन चीजोंको वह नया रूप देता है उनकी मौलिक वस्तुको वह नहीं बना सकता।

मनुष्य रूपान्तर करता है, परन्तु विश्वमें जितना भी रूपान्तर हो रहा है वह सब रूपान्तर मनुष्य ही कर रहा हो ऐसा नहीं है। मनुष्य जितना रूपान्तर कर रहा है उसका क्षेत्र बहुत थोड़ा है। जो रूपान्तर मनुष्यके क्षेत्रसे बाहर है उसका क्षेत्र बहुत अधिक है। जिस रूपान्तरको मनुष्य नहीं करता और उस रूपान्तरके रूपान्तर होनेमें कोई सन्देह नहीं, तो प्रश्न उठता है कि वह रूपान्तर कौन करता है ? वह कैसे होता है ? उसका क्या कारण है ?

ईश्वरीय सत्ताका स्वरूप

रूपान्तर होनेके लिये शक्ति चाहिये। बिना शक्तिके रूपान्तर हो ही नहीं सकता। विश्वके ऐसे सूक्ष्म अवयवमें जो उच्चतम शक्ति-सम्पन्न सूक्ष्म-दर्शक यन्त्रसे दृश्य है अथवा उससे भी परे है, रूपान्तर हो रहा है। रूपान्तरकी क्रमिक धाराके आधारपर ही स्थूल पदार्थोंमें भी रूपान्तर दृष्टिगोचर हो रहा है। रूपान्तर विभिन्न अवयव संस्थानके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

रूपान्तर होनेके लिये केवल शक्तिकी ही आवश्यकता नहीं प्रत्युत वह शक्ति जिस द्रव्यपर कार्य कर सके उस द्रव्यकी भी आवश्यकता है। बिना शक्ति और द्रव्यके कोई भी रचना नहीं हो सकती। कोई भी रचना एक विशेष रूप है। जब उस रचनाके घटक अवयवोंमें अथवा

द्रव्यमें अवयव-संस्थान बदलता है तब रूपान्तर उपस्थित होता है। इसप्रकार कोई भी रूपान्तर शक्ति और द्रव्यके सम्बन्धका परिणाम है। विश्वरचनाका एक-एक रूप शक्ति और द्रव्यकी ओर तथा उनके सम्बन्धकी ओर प्रतिक्षण निर्देश कर रहा है। शक्ति और द्रव्यमेंसे यदि कोई एक क्षणके लिये भी न रहे वा इनका सम्बन्ध-विच्छेद एक क्षणको भी हो जाय तो उसी क्षण विश्वका लोप हो जाय। परन्तु विश्वके बाहर इनमेंसे कोई जाय भी कहाँ? कहीं नहीं जा सकता। इनका सम्बन्ध-विच्छेद ही नहीं हो सकता। इन दोनोंको मिलकर ही रहना है। इन दोनोंके मिलकर ही रहनेसे विश्वमें किसी-न-किसी रूपकी विद्यमानता हर समय बनी ही रहेगी। विश्वका प्रत्येक रूप शक्ति और द्रव्यके मेलके अतिरिक्त कुछ नहीं है। शक्ति और द्रव्यकी समष्टि ही ईश्वरीय सत्ताका स्वरूप है। इससे अतिरिक्त ईश्वरीय सत्ताका कुछ भी स्वरूप नहीं है। इसप्रकार सम्पूर्ण जगत् ईश्वरीय सत्ताके स्वरूपसे भिन्न कुछ नहीं है। यह सब ईश्वरीय सत्ता है।

ईश्वरीय सत्तामें चेतनता वा चेतन ईश्वरीय सत्ता

ईश्वरीय सत्ता चेतन है इसका यह अर्थ है कि विश्वकी प्रत्येक रचनाके साथ ज्ञानका सम्बन्ध है। प्रत्येक रचनाके पीछे एक ऐसा ज्ञान विद्यमान है जिस ज्ञानके आधारपर वह रचना अपना स्वरूप रखती है।

मनुष्य एक मकानकी रचना करता है। वह मकान स्थूलरूपमें आनेके पहले मनुष्यके मस्तिष्कमें ज्ञानरूपमें विद्यमान होता है। यदि मनुष्यके मस्तिष्कमें ज्ञानरूपमें मकान विद्यमान न हो तो मकानका स्थूल रूप कभी भी हमें दृष्टिगोचर न हो, इससे यह परिणाम निकलता है कि किसी स्थूल रचनासे पहले उस रचनाका ज्ञानरूपमें भाव विद्यमान होना चाहिये, जिसप्रकार स्थूल रचनासे पहले उस रचनाका ज्ञानरूपमें भाव विद्यमान होना आवश्यक है, उसी प्रकार सूक्ष्म रचनाके पहले भी उस रचनाका ज्ञानरूपमें विद्यमान होना आवश्यक है। स्थूल रचना और सूक्ष्म रचनामें केवल आपेक्षिक भाव विद्यमान है। कोई भी रचना किसी अन्य रचनाकी अपेक्षा स्थूल और सूक्ष्म कही जा सकती है। अतः साधारण नियम यह निकलता है कि किसी भी रचनाके पहले उस रचनाका ज्ञानरूपमें भाव विद्यमान होना आवश्यक है। विश्व-रचनामें क्रमिक धाराका नियम विद्यमान है। इस क्रमिक धाराके नियमसे रचना-क्रम प्रतीत होता है। रचना-क्रमके साथ पूर्ववर्ती ज्ञान-क्रम वा ज्ञानकी क्रमिक धारा होनी भी आवश्यक है। इस धारावाही ज्ञानात्मक रूपमें जैसे-जैसे शक्तिके कारण द्रव्य भरता जाता है वैसे-वैसे रचना-क्रम प्रकट होता जाता है। इसप्रकार किसी भी रचनाका रूप वही है जो उस रचनाके ज्ञानका रूप है। रचना और ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं हैं। मनुष्यकी बुद्धिमें किसी भी रचनाका जो रूप भासता है वह रूप ज्ञान ही है, जिसके आधारपर वह रचना विद्यमान है। बुद्धिमें मकानका रूप वा ज्ञान तो रहता है पर मकान नहीं। इससे स्पष्ट है कि रचनासे भिन्न ज्ञान इससे पूर्व भी स्वतन्त्ररूपसे विद्यमान है और पीछे भी विद्यमान है। रचना बीचमें वह क्षणिक और कल्पित रूप है जिस रूपमें द्रव्य और शक्तिकी धारा बह रही है। द्रव्य और शक्ति परस्पर साहचर्य-सम्बन्धसे रहते हैं। इनके साथ ही ज्ञान भी साहचर्य-सम्बन्धसे रहता है। द्रव्य और शक्तिको किसी-न-किसी रूपमें रहना है, परन्तु जिस रूपमें भी रहना है वह रूप ज्ञानमें विद्यमान है। ज्ञानको भी कहीं रहना है। वह द्रव्यके आश्रित शक्तिके साथ साहचर्य-सम्बन्धसे रहता है। ज्ञान, शक्ति और द्रव्य ये तीनों विविध रूपोंमें इस विश्वरूपमें विद्यमान हैं।

रूपान्तर होनेमें रूपकी वा उसी रूपमें विद्यमान द्रव्यकी अन्तर्हित शक्ति तो कारण है ही, इसमें कुछ सन्देह नहीं, परन्तु एक रूपकी अपनी शक्ति भी दूसरे रूपके रूपान्तर करनेमें प्रत्यक्ष ही कारण देखी जाती है। यहाँपर एक रूप रूपान्तर होनेके लिये दूसरे रूपके प्रभावको ग्रहण करता है। दूसरे रूपके प्रभावको ग्रहण करनेके लिये जो योग्यता किसी रूपमें होती है उस योग्यताको अनुभवशीलता कहते हैं। वह अनुभवशीलता ही चेतना वा जीवनका सूचक है। जहाँ अनुभवशीलता है वहाँ जीवन है, जहाँ जीवन है वहाँ अनुभवशीलता है। कोई भी रूप अपनी परिस्थितिके प्रभावको ग्रहण करनेके लिये योग्य होता है। भिन्न रूपोंके अन्दर इस प्रभावको ग्रहण करनेकी योग्यताकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। किसी रूपमें अपने रूपको कायम रखनेके लिये जितनी ही अधिक सामर्थ्य है वा अपने ऊपर दूसरोंके प्रभावको प्रतीकार करनेकी जितनी अधिक सामर्थ्य है उतना ही

अधिक उस रूपमें जीवन है। यह जीवन प्रत्येक रूपमें है। ऐसा कोई रूप नहीं जिसमें जीवन नहीं। यदि प्रत्येक रूपमें जीवन न हो तो उस रूपकी स्थिति न हो। प्रत्येक रूपकी स्थिति और विद्यमानता ही उसमें जीवनको बतला रही है। कोई भी रूप, शक्ति और द्रव्यके संघटनसे अतिरिक्त कुछ नहीं है इसलिये जीवन भी शक्ति और द्रव्यके विशेष संघटनमें विद्यमान होनेसे उनसे भिन्न कुछ नहीं। चूँकि शक्ति और द्रव्य भी किसी-न-किसी रूपमें ही रहते हैं अतः जीवन भी उनके साथ सदा वर्तमान है। शक्ति और द्रव्यके परस्पर घात-प्रतिघातसे रूपोंके अन्दर जीवनकी मात्रामें तरतमता आ जाती है। चाहे कोई रूप कितने ही दीर्घकालतक वा कितने ही अल्पकाल-तक अपनी सत्ता वा जीवन रखता हो परन्तु जीवन अवश्य रखता है अतः प्रत्येक रूप वा रचनाका मूल स्रोत वा ईश्वरीय सत्ता चेतन है वा जीवन रखती है। चेतनता ईश्वरीय सत्ताका धर्म है जो प्रत्येक रूपमें प्रकट होता है। नित्य ईश्वरीय सत्तामें उसकी चेतनता धर्म नित्य होनेसे ईश्वरीय सत्ता नित्य चेतन है।

जड-चेतन-भाव

विश्वमें ईश्वरीय सत्ताका प्रत्येक रूप अपना जीवन रखता है परन्तु बहुत कम ऐसे रूप हैं जो अपनेसे भिन्न दूसरे रूपके अस्तित्वको पहचानते हैं। जो रूप अपनेसे भिन्न दूसरे रूपके अस्तित्वको पहचानते हैं उनमें अनुभव-शीलता विकसित हुई होती है। उनमें चेतनता प्रसुप्तावस्थासे जागृतावस्थामें आयी होती है। ये रूप एक दूसरेके रूपके अस्तित्वको पहचानते हुए एक दूसरेसे अपने प्रयोजन सिद्ध करनेमें उद्यत होते हैं। अपने प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये आवश्यक है कि उनमें आकांक्षा हो और इच्छाशक्ति हो। आकांक्षा बताती है कि उनमें एक ऐसा धर्म उत्पन्न हो जाता है कि वे अपनी गरज़को पूरा करनेके लिये अशनको ग्रहण करनेके लिये उद्यत होते हैं। अशनको ग्रहण करनेके लिये जो उद्यम है उसीको अशिति कहते हैं। अशितिमें जो उद्यमका भाव है वह एक प्रकारके बलका भी निर्देश करता है जो बल इच्छाशक्ति वा प्राणका बल है। इसप्रकार अपने अशनको ग्रहण करनेका भाव उस रूपमें मनके विकासका बोध कराता है। और अशनको ग्रहण करनेका बल उस रूपमें प्राणके विकासको दिखाता है। मन और प्राणके विकास-के अनन्तर अपनेसे भिन्न रूपको अपने अन्दर मिला लेनेके लिये जो श्रम, चेष्टा वा प्रवृत्ति है वह उसमें स्वतन्त्र वाग्-व्यापारको सूचित करती है। इसप्रकार जब रूपमें मन, प्राण, वाक्‌का विकास हो चुकता है तब उस रूपकी स्वतन्त्र सत्ता बन जाती है। विश्वात्मक ईश्वरीय सत्तामें ही ये स्वतन्त्र रूप उसी प्रकार कार्य करते हैं जिसप्रकार इस विश्वमें ईश्वरीय सत्ता स्वतन्त्ररूपसे काम करती है।

मन, प्राण, वाक्‌का इसप्रकारका विकास जबतक रूपोंमें नहीं होता तबतक रूप स्वतन्त्र जीवन नहीं रखते। उनका जीवन विश्व-जीवनके साथ एक होता है। जबतक रूपोंका जीवन स्वतन्त्र जीवन नहीं होता, विश्व-जीवन-के साथ एक रहता है, तबतक रूप चेतन नहीं कहलाते, जड कहलाते हैं। जब काल-क्रमसे उनका जीवन स्वतन्त्र जीवन बन जाता है तब वे जड नहीं कहलाते, चेतन कहलाते हैं। चेतनको प्राणी वा जीव और जडको अप्राणी वा निर्जीव भी कह देते हैं। इसप्रकार जड-चेतन-भाव वा सजीव-निर्जीव-भाव विश्वचैतन्यका वा ईश्वरीय सत्ताका ही विकास होनेसे ईश्वरीय सत्तासे भिन्न नहीं है, प्रत्युत ईश्वरीय सत्ता ही है।

इन्द्रिय-विकास

रूपोंमें पारस्परिक प्रभावोंके कारण एक ही परि-स्थितिमें लगातार रहनेसे विशेष-विशेष प्रकारके प्रभावोंको ग्रहण करनेकी आदत हो जाती है और उस आदतको प्रकट करनेके लिये रूपोंमें भिन्न-भिन्न प्रभावके कारण प्रभावोंकी विभिन्न प्रकारकी धाराएँ एक-एक मार्गसे बहने लगती हैं। एक मार्गसे एक प्रकारकी धारा लगातार बहनेसे काल-क्रमसे उस प्रकारकी धाराके लिये वह मार्ग नियत हो जाता है। मार्ग नियत हो जानेसे कभी भी किसी भी रूपका उस प्रकारका प्रभाव, जिसप्रकारके प्रभावको लेकर वह मार्ग बना है, उसी मार्गसे गृहीत होता है। विशेष-विशेष प्रकारके प्रभावोंको ग्रहण करनेके लिये विशेष-विशेष मार्गोंका तैयार होना ही इन्द्रिय-विकास कहलाता है। दीर्घकालतक एक ही प्रकारके प्रभावमें रहनेसे रूपमें ऐन्द्रियिक भाव उत्पन्न होता है। ऐन्द्रियिक भावके उत्पन्न होनेसे जीवन ऐन्द्रियिक होता है और जबतक

ऐन्द्रियिक भाव उत्पन्न नहीं होता तबतक जीवन अनैन्द्रियिक रहता है।

अहंभावकी उत्पत्ति

सब-के-सब ऐन्द्रियिक-भाव समान बल नहीं रखते। परिस्थितिके भेदसे भिन्न-भिन्न प्रकारके ऐन्द्रियिक भावोंके लिये भिन्न-भिन्न मात्रामें समय लगते रहनेसे कुछ ऐन्द्रियिक-भाव प्रबल हो जाते हैं और कुछ निर्बल हो जाते हैं। प्रबल ऐन्द्रियिक भाव ही प्राणीमें विशेष-विशेष रुचिके द्योतक हैं। भिन्न-भिन्न प्रकारकी रुचिके कारण ही प्राणियोंमें विभिन्न प्रकारका जाति-विभाग हो गया है। रुचि-भेदसे होनेवाला जाति-भेद बतलाता है कि ऐन्द्रियिक भावोंमें चुनाव हो गया है। दीर्घकालतक एक परिस्थितिमें रहना इस चुनावका कारण है। इसी प्रकार धीरे-धीरे यह चुनाव ही व्यक्तियों और जातियोंके चुनावको सूचित करता है। व्यक्तियों और जातियोंके चुनावमें विशेष-विशेष ऐन्द्रियिक भावोंका क्रमशः प्रबल होते जाना कारण है।

प्रबल हुए ऐन्द्रियिक भाव जब एक ही परिस्थितिमें लगातार रहनेसे प्रबलतर हो जाते हैं तब उन प्रबल भावोंसे प्रबलतर भाव चुनावमें आ जाते हैं। प्रबल भावोंके कारण प्राणीमें चेतनताका स्वरूप ऐसा जागृत होता है कि वे प्रबल भाव ही उस प्राणीके पथ-दर्शक होते हैं। परन्तु इन प्रबल भावोंको प्रकट करनेके लिये प्राणीके प्राणमें जो गति होती है,जो धक्का लगता है उसके कारण एक प्रकारका स्वर प्रकट होता है। यह स्वर अस्पष्ट होता है अर्थात् इसमें व्यञ्जनके न होनेसे यह अव्यक्त और अस्पष्ट होता है। परन्तु जैसे-जैसे भावोंमें चुनाव होकर प्रबलतर भाव शेष रहने लगते हैं और कम प्रबल भाव लुप्त होने लगते हैं तो उन भावोंकी प्रबलता और स्पष्टताके कारण उनके प्रकाशके लिये जो ध्वनि निकलती है वह स्पष्ट हो जाती है। स्पष्ट ध्वनिमें व्यञ्जनोंका प्रकाश हो जाता है। व्यञ्जनोंके प्रकाशके कारण ही ध्वनिकी स्पष्टता और व्यक्तता है। ध्वनिको स्पष्टता और व्यक्तताकी तरतमता ही भावोंकी प्रबलतामें तरतमताका द्योतक है। जो प्राणी अपनी वाणीमें जितने अधिक व्यञ्जन बोलते हैं उन प्राणियोंकी वाणी उतनी अधिक प्रस्फुटित होती है। वाणीकी प्रस्फुटितता भावोंकी प्रस्फुटितता वा प्रबलताको सूचित करती है। इसप्रकार भावोंसे भाषाका विकास हो जाता है।

भाषाका विकास हो चुकनेके बाद प्राणियोंको भिन्न-भिन्न रूपोंके द्वारा साक्षात् ऐन्द्रियिक भाव ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। प्राणी जिन भावोंको भाषामें प्रकाशित करता है उन भावोंका स्वरूप भाषा बन जाती है। भाषामें ही उन भावोंका स्वरूप बन जानेसे भाषाद्वारा ही उन भावोंका अंकन वैसा होने लगता है जैसा पहले भावोंका अंकन भावोंद्वारा वा भिन्न रूपोंद्वारा हुआ करता था। भावोंद्वारा भावोंका अंकन वा भाषाद्वारा भावोंका अंकन इनमें कुछ अन्तर नहीं। क्योंकि भाषा भावोंका ही रूप है। जिस समय भावोंका अंकन भावोंद्वारा होता है उस समय वे भाव ही उन बाह्य रूपोंका काम देते हैं जिन बाह्य रूपोंका प्रभाव प्राणीके मनपर हुआ करता था। भाव प्राणीके मनका ही स्वरूप होनेसे अपना फिर प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये प्राणीके मनको उनकी पृथक् सत्ताका अनुभव होने लगता है। प्राणी यह समझता है कि मेरे ये भाव हैं वा मैं इन भावोंवाला व्यक्ति हूँ। इसप्रकार वह प्राणी अपने ही अन्दर अपनेसे भिन्न इन भावोंकी पृथक् सत्ताको अनुभव करता है। जिस समय अपने ही अन्दर अपनेसे भिन्न भावोंकी पृथक् सत्ताको प्राणी अनुभव करता है उस समय उसके मनको यह बोध होता है कि मैं इन भावोंवाला हूँ वा इनको जानता हूँ। इन भावोंवाला मैं हूँ वा इनको मैं जानता हूँ ऐसे बोधका उदय ही प्राणीके मनमें अहंभाव उदय करता है। मनोगत इस अहंभावके उदयसे ही प्राणी मनुष्य-श्रेणीमें गिना जाता है वा वह मनुष्य कहलाता है अथवा ईश्वरीय सत्ताका मनुष्यरूपमें विकास समझा जाता है।

अन्तर्दृष्टि और उसका फल

धीरे-धीरे काल-क्रमसे भावोंमेंसे प्रबलतम भावोंका चुनाव हो जाता है। शेष भाव हीनतम बल होकर लुप्तप्राय हो जाते हैं। लुप्त होना नष्ट हो जाना नहीं है किन्तु अन्तर्लीन होना है। ईश्वरीय सत्ता ज्ञानात्मक है, उसीमें उन भावोंका तिरोभाव हो जाता है। प्रबलतम भावोंके चुनावसे मनुष्यकी मानसिक वृत्तिका प्रवाह बहिर्मुख होना बन्द हो जाता है। मनोवर्ती प्रबलतम भाव ही विश्वके विभिन्न रूपोंकी भाँति मनमें प्रकाशित होते हैं। प्रत्येक प्रबलतम भाव अपने सहवर्ती अन्तर्लीन भावोंका उद्भावक होता है। अन्तर्लीन भावोंके उद्भावकोंद्वारा

निरन्तर दीर्घकालतक ईश्वरीय ज्ञानमय अन्तर्जगत्में विचरनेसे अन्तर्दृष्टि प्रबल और स्थिर हो जाती है। प्रबल और स्थिर अन्तर्दृष्टिके कारण मनुष्य ऋषि-कोटिको पहुँचता है। इस अन्तर्दृष्टिके कारण ही वह ऋषि ज्ञानमयी ईश्वरीय सत्ताका साक्षात् दर्शन करता है या ब्रह्मका प्रत्यक्ष करता है वा ब्रह्मको उपलब्ध करता है।

मोक्ष

इसी अन्तर्दृष्टिके द्वारा ब्रह्म वा वेद अथवा ज्ञानमयी ईश्वरीय सत्तामें निरन्तर रमण करता हुआ मनुष्य भौतिक सम्बन्धोंसे वा बन्धनोंसे छूट जाता है। उसका अहंभाव टूट जाता है और वह फिर शुद्ध ईश्वरीय सत्ताके रूपमें हो जाता है या ईश्वरीय सत्तामें उसका लय हो जाता है। जबतक ईश्वरीय सत्तामें उसका लय नहीं होता वा सर्व प्रकारके उन बन्धनोंका उच्छेद नहीं होता जो उसके स्वरूपको बनाये हुए हैं तबतक वह नाना प्रकारके विभिन्न रूपोंकी परिस्थितिमें रहता हुआ उनसे सम्बन्ध स्थिर करता हुआ काल-क्रमसे विभिन्न रूपोंको ग्रहण करता रहता है।

प्रत्येक रूप जो भी कुछ इस द्यावा-पृथिवीमें विद्यमान है और द्यावा-पृथिवी स्वयं भी सब अपना एक विशेष जीवन रखते हैं। उनकी सत्ता उस-उस रूपमें एक विशेष कालतक विद्यमान है। परिवर्तनशीलताके नियममें चक्कर काटते हुए सब-के-सब रूप उसी ईश्वरीय सत्तामेंसे उद्भूत होते और काल-क्रमसे उसीमें लीन होते रहते हैं। इसप्रकार इस विश्वमें केवल एक पूर्णज्ञानमयी सत्ता है, एक सत्य है और वह ईश्वर है, उससे भिन्न कुछ नहीं है। जो कुछ यह भेद प्रतीत होता है वह अवास्तविक है, असत्य है।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[भाग ६ सं० १२ पृष्ठ १३५६ से आगे]

६०१—भौतिक विज्ञानमें पूर्वाकर्षणशक्ति एक पारिभाषिक शब्द है। यद्यपि शक्तिराशि सञ्चित होती है, परन्तु उसमें प्रवाह नहीं होता। चुम्बकसे सम्बन्ध होनेके पश्चात् ही पूर्वाकर्षणशक्तिके द्वारा विद्युत्-प्रवाह होने लगता है। इसी प्रकारसे मानसिक शक्तिको जो अव्यवहित तथा विभिन्न अनावश्यक सांसारिक विषयोंमें विच्छिन्न होती है, आध्यात्मिक प्रयोजनमें उचित मार्गसे प्रवाहित करना चाहिये।

६०२—यदि दर्पण स्वच्छ न हो तो मुखाकृति उसमें स्पष्ट न दीख पड़ेगी। इसी प्रकार यदि मनरूपी दर्पण काम-क्रोधादि षड् विकारोंके मलसे मलिन है तो मनमें ब्रह्मका प्रतिबिम्ब नहीं दिखलायी देगा। जब यह पूर्ण स्वच्छ, पूर्ण सात्त्विक हो जाता है तभी इसमें ब्रह्मानुभवकी योग्यता आती है।

६०३—जिसप्रकार विशेष-विशेष प्रकारके विचारके लिये मस्तिष्कमें विभिन्न विभाग होते हैं उसी प्रकार मानसिक शरीरमें विभिन्न कटिबन्ध होते हैं।

६०४—मनको वशमें करनेके लिये तुम्हें सात प्रकारके प्रयत्न करने पड़ेंगे—

(१) कामना, वासना और तृष्णासे अलग होना होगा।

(२) भावनाओंको वशीभूत करना होगा तथा क्रोध और बेचैनीसे बचनेके लिये मनोरागको दबाना होगा।

(३) स्वयं मनका निरोध करना होगा, जिससे विचार शान्त और स्थिर रह सके।

(४) मनके द्वारा स्नायुओंपर अधिकार करना होगा जिससे वे यथासम्भव कम-से-कम उत्तेजित हों।

(५) अभिमान छोड़ना पड़ेगा। अभिमान मनको दृढ़ करता है, यह मनका बीज है। जब तुम निरभिमान हो जाओगे तो दूसरोंकी आलोचनाएँ, निन्दा और तिरस्कारका तुम्हारे ऊपर कुछ भी प्रभाव न पड़ेगा।

(६) निष्ठुरताके साथ अपनी समस्त आसक्तियोंको नष्ट कर देना पड़ेगा।

(७) समस्त अभिलाषाओंका त्याग करना पड़ेगा।

६०५—क्षमा, धैर्य, सन्तोष, दया, विश्वप्रेम, उदासीनता तथा निरभिमानताके अभ्यासके द्वारा तुम अशुभ भावनाओं-को पार कर सकते हो! अशुभ वासनाओंकी निवृत्तिके पश्चात् भी असन्तोषकी सूक्ष्म क्रिया बच रहती है। तुम्हें इस तुच्छ बाधाको दूर हटाना चाहिये, क्योंकि योगयुक्त होनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषके लिये यह बड़ा दोष है।

६०६—बुद्धि क्रोधरूपी बादलसे आच्छादित हो जाती है। जब तुम रुष्ट हो जानेके विचारको भी विस्मृत कर देते हो तब भी क्रोध तुम्हारे मनमें उतरकर मँडराया करता है। इसका प्रभाव कुछ ही समयतक रहता है। परन्तु यदि तुम डाह, ईर्ष्या, द्वेषके विचारोंको एक ही समय बारम्बार अनेकों बार लाते रहते हो तो उसका प्रभाव बहुत देरतक बना रहता है। रोषात्मक विचारोंका बार-बार चिन्तन करनेसे द्वेषकी मात्रा बढ़ जाती है। बार-बारके क्रोधसे केवल बुरे विचार भी बढ़कर दृढ़ द्वेषमें परिणत हो जाते हैं। जब मन अत्यन्त क्षुब्ध होता है तो तुम किसी पुस्तकके एक अवतरणको स्पष्टतः नहीं समझ सकते। तुम ठीक-ठीक और स्पष्ट रीतिसे विचार नहीं कर सकते, तुम शान्तचित्तसे पत्र नहीं लिख सकते। क्रोध मस्तिष्क, स्नायुजाल और रक्तको दूषित कर देता है।

६०७—पक्षपात मस्तिष्क और मनको निश्चेष्ट बना देता है, इससे मनमें ठीक-ठीक कम्पन नहीं होता। पक्ष-पाती मनुष्य वास्तविकरूपेण चिन्तन नहीं कर सकता। पक्षपात मनुष्यके भौतिक शरीरपर व्रणके समान है जिससे मनुष्यकी इच्छाशक्ति द्रवित हो घटती जाती है। अपने विचार उदार रक्खो। प्रत्येक दर्शन और प्रत्येक धर्मके प्रति अपने हृदयमें स्थान रक्खो। मनुष्यकी योग्यता, स्वभाव तथा विकासावस्थाके अनुसार विशेष राष्ट्रमें विशेष धर्म अनुकूल होता है। सभी सम्प्रदाय और समाज अपने-अपने उपयोगी उद्देश्यको लेकर काम करते हैं। पक्षपात केवल युक्तिरहित तुच्छता है। तुम्हें प्रयत्न और शुद्ध विचारके द्वारा इसे दूर करना चाहिये।

६०८—(१) अपने मानसक्षेत्रको शुद्ध करो, प्रियतमके आसीन होनेके लिये आसन तैयार करो। इहलौकिक विचारोंको हटा दो जिससे तुम्हारा मानसक्षेत्र प्रभुके सिंहासनके योग्य हो सके।

(२) हजारों कामनाओंने तुम्हारे हृदयको खाई बना रक्खी है, लाखों अभिलाषाएँ और उद्देश्य भरे पड़े हैं, जबतक प्रभुके राज्य (अपने हृदय) से इन्हें दूर नहीं करते, तबतक उसके बैठानेके लिये तुम स्थान कैसे तैयार कर सकते हो?

(३) तुम स्त्री, पुत्र धनका त्याग कर सकते हो। परन्तु अभिलाषा, नाम और यशका त्याग करना बहुत कठिन है। यशकी अभिलाषा योगमें महान् विघ्न है। यह मायाका अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र है जिसके द्वारा वह सांसारिक पुरुषोंका नाश करती है।

६०९—योगी आत्मसंयम और आत्मशासनके द्वारा एक ही समय दो स्थानोंमें काम करना सीखता है। अर्थात् उसी समय अपने शरीरसे निकलकर वह भौतिक क्षेत्रमें काम करता है। इसलिये वह लिखते या बातचीत करते समय अपने सूक्ष्म शरीरसे दूसरा ही काम करता रहता है। जब योगीकी ऐसी बात है तो फिर पूर्ण ज्ञानीकी बात क्या, जो अपने स्वरूपमें स्थित है। वह ब्रह्मदृष्टिमें रत हो अपने मन और शरीरको यन्त्रवत् व्यवहार करते समय काममें लगाता है। उसे द्विविध चेतना प्राप्त है। उसे (ब्रह्मभावना) परमार्थके साथ-साथ जगद्भावना (व्यवहार) का भी ज्ञान रहता है। जगत्को वह अपने भीतर ही स्वप्नके समान देखता है। ईश्वर या सगुण ब्रह्मको निर्गुण ब्रह्मकी पूर्ण भावना होती है। यही उसका स्वरूप-लक्षण है। उसी समय उसे पूर्ण विश्व-चेतना होती है। वह जानता है कि प्रत्येक मनमें क्या हो रहा है। ज्ञानी पुरुष सदा समाधिमें रहता है। राजयोगी-के समान ज्ञानीको समाधिस्थ और असमाधिस्थ-जैसी विभिन्न अवस्था नहीं होती।

६१०—सुप्त-दशामें मन सूक्ष्मावस्थामें रहता है, वृत्तियाँ भी सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त होती हैं; परन्तु अद्वैत (वेदान्त) निष्ठामें मन नहीं रहता, जगत् नहीं रहता। जगत् ब्रह्ममें निमग्न हो जाता है। (माण्डूक्योपनिषद् २।१)

६११—यौगिक-समाधिमें ध्येय रह जाता है। ध्येय ध्यानके विषयको कहते हैं। वेदान्तिक-समाधिमें 'केवल अस्ति' रह जाता है।

६१२–भाषाएँ विभिन्न होती हैं, पर विचार एक होता है। सब मनुष्योंमें मानसिक आकृति एक-ही सी होती है। वाणी (ध्वनि) के चार रूप या भाव होते हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। वैखरी साधारण बातचीत (भाषा) को कहते हैं। यह विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारकी होती है, परन्तु परा, पश्यन्ती और मध्यमा (सर्वत्र) एक और समानरूपसे रहती हैं। परा अभेदवाणी (ध्वनि) है जो ब्रह्ममें सुप्त रहती है। देवताओंकी भाषा, मानसिक भूमिकी भाषा एक होती है, उसे ही मध्यमा कहते हैं। कारण-शरीरका चक्राकार कम्पन पश्यन्ती कहलाती है, वही तुम्हारा यथार्थ नाम है। जब तुम अपने कारण शरीरके द्वारा क्रियाशील होते हो, जब तुम अन्तर्दृष्टया कारण-शरीरके नेत्रोंसे अथवा दिव्य-दृष्टिसे देखते हो तब तुम पश्यन्ती ध्वनि (वाणी) को, जो तुम्हारा वास्तविक नाम है, सुन सकते हो।

६१३–ऐन्द्रिय विषयों तथा सांसारिक वासनाओंसे असन्तोष होनेसे आत्मज्ञानकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है, उस उत्कट इच्छासे अमूर्त भावना आती है और अमूर्त भावनासे मन एकाग्र होता है, चित्तकी एकाग्रतासे ध्यान होता है और ध्यानसे समाधि (अर्थात् आत्मानुभव) की प्राप्ति होती है। बिना असन्तोष (वैराग्य) के कुछ भी सम्भव नहीं है।

६१४–राजयोगी त्रिकुटि (अग्निचक्रमें–दोनों भौंओंके बीच) में मनको जमाता है जो जाग्रदवस्थामें मनके रहनेका स्थान है। यदि तुम मनको इस देशमें एकाग्र करो तो तुम मनको आसानीसे वशमें कर सकते हो। अभ्यास करते समय बहुत ही शीघ्र यहाँतक कि एक दिनके अभ्यासमें ही कुछ मनुष्योंको इस देशमें प्रकाश दीख पड़ता है। जो विराट्का ध्यान करना चाहते हैं तथा जो संसारकी सहायता करना चाहते हैं उन्हें मनकी एकाग्रताके लिये इस देशको चुनना चाहिये। भक्त या साधककी भावना तथा अनुभवके आधारभूत स्थान हृदयमें मनको जमाना चाहिये। जो हृदयमें मनको केन्द्रीभूत करता है उसे अपार आनन्द प्राप्त होता है। जो स्वयमेव कुछ प्राप्त करनेकी अभिलाषा करते हैं उन्हें हृदयमें ही मनको एकाग्र करना चाहिये।

निर्गुण ध्यानमें, या तो त्रिकुटिमें अथवा सहस्र पद्ममें तुम्हें मनको केन्द्रीभूत करना चाहिये। वेदान्ती भी हृदयमें ही मनको एकाग्र करते हैं।

६१५–जिसप्रकार भौतिक शरीर ठोस, द्रव तथा वायवीय पदार्थोंसे बना है वैसे ही मन भी विभिन्न कम्पन-चक्रोंके द्वारा घनीभूत हुए नाना प्रकारके सूक्ष्म द्रव्योंसे बना है। राजयोगी गम्भीर साधनाके द्वारा मनके विभिन्न स्तरोंके बीच होकर निकलता है।

६१६–वृत्तियाँ अर्थात् मनके आकार अविद्याके कार्य होते हैं, जब ज्ञानके द्वारा अविद्याका नाश होता है तो वृत्तियोंका ब्रह्ममें लय हो जाता है। जिसप्रकार कि जल जलती हुई कड़ाहीमें डालनेसे उस कड़ाहीमें ही सूख जाता है।

६१७–सिद्धियोंके निदर्शनके एक ही आघातसे सारा बाह्य अनुभवात्मक जगत् एक साथ ही अवसानको प्राप्त हो जाता है और इस जगत् जैसी वस्तुकी स्मृति या भावना अथवा जगत्में संकुचित आत्मव्यक्तित्वकी भावना पुरुषको पूर्णरूपसे छोड़ देती है।

६१८–अविद्याका स्थान मनुष्यके मनमें रहता है। प्रत्यय शक्तिके स्वभावके अनुसार ही आनुभविक ज्ञानकी व्याख्या हो सकती है। श्रोशकर अविद्याको इसप्रकार समझाते हैं–यह नैसर्गिक होती है, यह हमारे मानसिक क्रियाओंमें अन्तर्हित होती है। यह मिथ्या ज्ञानपर अवलम्बित होती है। ज्ञान एक मानसिक परिणाम होता है। यह नित्य प्रत्ययरूप होता है और मिथ्याज्ञानके रूपमें रहता है।

'सारे जीव-मानव अस्तित्व—जो वस्तुतः अभावरूप हैं वे (जीवन और मृत्युके सारे समवायके साथ) केवल मनकी विषयाकार प्रवृत्तिके परिणामरूप होते हैं और कुछ भी नहीं।' सारे अनुभव द्वैतरूप होते हैं जो प्रमाता और प्रमेयसे बनी केवल कल्पनाएँ हैं। मनसे अलग अविद्या कोई वस्तु नहीं, मनोनाशके साथ सब कुछ नष्ट हो जाता है। मनकी क्रियाओंसे ही सारे दृश्य उपस्थित होते हैं।

६१९–अविद्या उपाधियों (गुणों, सीमित संयोगों) के द्वारा काम करती है। अविद्याके द्वारा चाही हुई सारी प्रधान सामग्रियोंसे आत्माकी उपाधिकी रचना होती है। मन एक उपाधि है, बुद्धि एक उपाधि है और अहङ्कार भी एक उपाधि है। (क्रमशः)

विपत्तिमें सहायता

(लेखक—गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी वाणीभूषण)

[सच्ची घटना]

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई।
तदपि कहे बिन रहा न कोई॥
(गो० तुलसीदासजी)



सं० १९५० की घटना है। वैशाखका महीना था, कुछ यात्री माहिष्मती-से श्रीजगदीशजी जा रहे थे। मैं पहलेसे ही प्रवासमें था। चोली महेश्वरसे मैं भी इस दलके साथ हो गया, विद्यार्थी ब्रजलाल मेरे साथ था। हमलोग नर्मदाके तटपर घूमते हुए दक्षिणकी ओर मध्यप्रदेशके सघन वनमें चले गये। हमारे साथी बड़े सज्जन थे। पं० रामनारायणजी मुख्य पथ-प्रदर्शक थे। सबका सामान ढोनेके लिये एक मजदूर था। धोती, पुस्तक वगैरह आवश्यकीय वस्तुएँ हम-लोगोंके पास थीं। सायंकालतक हम एक ऊँचे पर्वतकी तलेटीमें पहुँचे। वहाँ जंगल-विभागकी एक चौकी थी, उसमें दो मनुष्य रहते थे। सुहावना जंगल था, पास ही फलोंसे भरी सुन्दर हरित वृक्ष-श्रेणियाँ थीं और एक स्वच्छ जलाशय था। आज यहीं ठहर गये। स्नान, सन्ध्या और भोजनादिसे निपटकर सोनेके लिये वृक्षोंके नीचे बिस्तर लगा लिये। वृक्षोंकी हरियाली थी, ठण्डी वायु बह रही थी, ब्रजवासी पं० सरयूशरणजीने ब्रजभाषाके दो एक मनोहर पद्य सुनाये और फिर बड़े प्रेमसे जगन्नाथाष्टक गाने लगे। मुझे भी उमंग आ गयी, मैं और ब्रजलाल भी उनके साथ गानेमें तन्मय हो गये। कुछ समय भगवत्-चर्चामें बीत गया।

चौकीदार बड़े भले आदमी थे। उन्होंने कहा कि 'कल आपलोगोंको इस पहाड़पर बीस माइल चलना पड़ेगा। रास्तेमें दूकान या गाँव नहीं है, न कहीं पानी ही मिलेगा, फिर गर्मीका मौसम है, अतः आपलोग सबेरे पाँच बजे नित्यकर्म, जलपान आदि करके अपने साथ जल लेकर यहाँसे रवाना हो जाइयेगा। भयङ्कर जंगल है, सावधानीसे जाना पड़ेगा।' यह सुनकर सब चुपचाप हो सो गये। प्रातःकाल सबने स्नानादि करके जलके लोटे भर लिये और 'जय जगदीश' कहकर यात्रा आरम्भ कर दी।

पर्वतपर पगडंडी गयी थी, दोनों ओर ढालू जगह थी। हमलोग दो-चार मील तो हँसी-मजाकमें ही चढ़ गये। पर अब आठ बज चुके थे, कड़ी धूप नहीं थी, पर दोपहरकी आनेवाली धूपको सोचकर बलवान् साथी चुपचाप आगे बढ़ने लगे। साथियोंकी किसको खबर? सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे पर्वतके पत्थर तपने लगे थे, वृक्षोंके भी पत्ते गिर रहे थे, कहीं शीतल छाया नहीं थी। गरम लू चल रही थी। सब पसीनेसे तर हो रहे थे। सबको अपनी लगी थी। मैं और ब्रजलाल सबसे पीछे रह गये। साथी मीलों आगे निकल गये, इस समय हमलोग शायद दस मील चढ़े थे।

पैर आगे नहीं बढ़े, भारी हो गये। दोपहरका समय था। ब्रजलाल घबड़ाकर एक पलास-गाछके नीचे बैठ गया, वह मुझसे भी कोमल था। अब पुस्तक वगैरहको एक तरफ रख मैं भी वहीं बैठ गया। जल प्रायः आधा पी चुके थे। एक कदम आगे बढ़ना कठिन ही नहीं, दुष्कर-सा था। ब्रजलाल थकावटसे वहीं सो

गया । उस विशाल वनमें मैं अकेला जग रहा था । पर्वतपर कहीं योजनों लम्बी झील दिखलायी पड़ रही थी तो कहीं दावानलका धुआँ बड़े जोरोंसे उठ रहा था। बीच-बीचमें गुफाओंसे गरजनेकी आवाज सुन मैं चौंक पड़ता था । हम दोनोंके पास तीन सौके करीब रुपये कमरमें बँधे थे । मैं इस कठिन यात्राका अनुभव-कर चिन्तित-सा हो रहा था । भयङ्कर वनमें न किसी पथिकके दर्शन, न कोई ढाढ़स देनेवाला था, हम दो नये अनजान यात्री पड़े थे । अभी पाँच कोश रास्ता चलना था, जल लानेका कोई उपाय नहीं, हमारे पास थोड़ा-सा जल बचा था, भूख बड़े जोरोंसे लग रही थी। चारों ओर केवल वन और नीलाकाश दिखलायी पड़ता था । मेरी चिन्ता बढ़ रही थी । इतनेमें सामनेसे उसी पगडंडीपर एक भयानक भील कुल्हाड़ी लिये आता दिखलायी पड़ा । उसकी आँखें लाल थीं और चालमें बड़ी तड़क-भड़क थी । मैंने सोचा, जरूर यह डाकू है । व्रजलालको धीरेसे जगाया और कहा— 'यह देखो, लुटेरा आ गया, अब हम नहीं बचेंगे ।' व्रजलाल घबराकर काँपने लगा । मैं भी धैर्यच्युत हो गया था । वह हमारे नजदीक अपनी पीठपरकी गठरी नीचे रखकर बैठ गया । व्रजलालने कहा—'भाई ! हमारे पास जो है वह ले लो, पर हमें जानसे मत मारो ।' यह सुनकर वह मुस्कराया और बोला—'हमें थोड़ा पानी पिलाओ ।' मेरे होश उड़ गये, क्योंकि यह थोड़ा पानी ही हमारा जीवन था, पर भगवान्‌का भरोसा-कर मैंने पानी पिला दिया । यही खैर थी कि दूसरे लोटेका पानी उसने नहीं माँगा । अब उसने अपनी गठरी खोली । उसमें केले थे । मुझे और व्रजलालको आठ-आठ केले देकर उसने कहा—'खा लो ।' हम भूखे तो थे ही, उसकी यह प्यारी बोली सुन, भगवान्‌को अर्पणकर केले खा गये । तृप्तिके साथ ही आत्मामें शान्ति मालूम हुई । फिर दूसरी बार उसने मुस्कराकर उतने ही केले हमें और दिये और कहा 'जब भूख लगे इन्हें खा लेना । डरो मत, वह देखो, 'चीखलदा' पास ही है, वहीं जल मिलेगा । तुम्हारे चार साथी आगे कुछ दूरपर बैठे हैं । उनमें पं० रामनारायणने मुझे कहा है कि दो लड़के तुम्हें रास्तेमें मिलेंगे, उन्हें जल्दी भेज देना, अतः जाओ, तुम्हारे साथी शीघ्र ही मिल जायँगे ।' मैंने उसकी दयालुता-पर मुग्ध हो कुछ और बातें करनी चाहीं, पर भयावनी मुखाकृति देख कुछ भी कहनेका साहस नहीं हुआ । वह हमें समझाकर चलता बना और थोड़ी दूर चलनेके बाद फिर दिखलायी नहीं पड़ा ।

अब हममें बल आ गया । निर्भय-से हो गये । कुछ विनोदकी बातें भी होने लगीं । भूख-प्यास मिट गयी । झपाटेसे चढ़ने लगे । लगभग एक बजे चले थे और पाँच बजेतक ऊपर चढ़ गये । वहाँ शिखरपर एक पुराना किला था और पास ही फला-फूला गूलरका वृक्ष था । वहाँ पहुँचते ही पेड़-पर कोलाहल सुनायी पड़ा । वे कह रहे थे—'आओ भाई, आपलोग आ गये ? हमलोग बड़े हैरान थे कि इतनी देर कहाँ हो गयी ?' बोलीसे व्रजलालने साथियोंको पहचान लिया । वे गूलर खा रहे थे । हम भी पास ही एक वृक्षके नीचे बैठ गये । अब पं० रामनारायणजीने कहा—'क्या करें, प्यासके भयसे हम आगे चले आये । आप पीछे रह गये, क्षमा करें । भूखे होंगे, हम फल फेंकते हैं इन्हें खाइये, यहाँसे गाँव दो माइल दूर है । अभी थोड़ा विश्राम करके चलेंगे ।'

ये बातें सुन व्रजलालने हँसकर मुझसे कहा—देखो भाई, हमें अनजान भयानक जंगलमें छोड़ ये यहाँ गूलरके फल खा रहे हैं और फिर जोरसे कहा-

'पण्डितजी ! आप तो उपदेशक हैं फिर इन भुनगोंसे भरे गूलरके फलोंको कैसे पावन कर रहे हैं ?' यह सुन पण्डितजी जरा लज्जित-से हो गये और बोले— 'भाई ! भूखा क्या पाप नहीं करता ? फिर भी हम फलको तोड़कर फूँकसे भुनगोंको उड़ा देते हैं और फिर खाते हैं, तुम भी भूखे हो, कुछ खा लो न ?' व्रजलालने मुझको इशारा किया और दोनोंने केलेकी फली निकालकर दिखलायी कि हमारे पास तो ये हैं, हम क्यों गूलर खाने जायँ ? खूब केले खाये हैं, क्या आपको नहीं मिले ?'

पं० रामनारायणजी नीचे उतर आये । साथी भी उनके पीछे-पीछे आ गये । आते ही उन्होंने पूछा— 'ये केले कहाँ मिले ? रास्तेमें तो जंगलके सिवा और कुछ भी नहीं था ।' मैंने कहा—'आपने जिस मनुष्यसे सन्देश कहला भेजा था, उसीने आठ-आठ केले हमें जंगली पथिक समझ रहा था, अब मेरा हृदय भी डाँवाँडोल होने लगा । रास्तेमें साथियोंसे न मिलकर उसने उनकी संख्या और नाम कैसे बतला दिये ? प्रभुकी अद्भुत लीला थी ।

इसी समय पं० सरयूशरणजीने रोते हुए केले माँगे, मैंने सोलहों केले उनके सामने रख दिये । सबने दो-दो केले उठा लिये, पं० सरयूशरणजी तो छिलकेसहित खा गये । बाकी केले हमारे लिये बच गये ।

मेरे हृदयमें हिलोरें उठने लगीं, हृदय भर आया । वियोगसे रहा नहीं गया, मैं रो पड़ा और कहने लगा—वे दयासिन्धु केले खिलानेवाले कौन थे, जिन्होंने जल पीकर हमें ढाढ़स बँधाया, नयी शक्तिका सञ्चार कर इस पर्वतपर पहुँचा दिया । वे पतितपावन प्रभु कहाँ गये ? मैं बार-बार इसी प्रकार कहकर रोने लगा । पं० सरयूशरणजीने मुझे हृदयसे लगाकर कहा—'वे दयासागर थे, घट-घटकी जाननेवाले अन्तर्यामी प्रभु थे । हमलोगोंने आप दोनोंको अकेले छोड़कर जो अपराध किया है उसे क्षमा करो और अब कुछ न बोलो ।'

मैं चुप हो गया । बाकी केले मित्रोंमें बँट गये । मैंने प्रेमवश एक रख लिया था, वह बहुत दिनोंतक सूखता रहा, पर अब चालीस वर्षतक कैसे रहता ? फिर भी उसका चूर्ण एक डब्बीमें अब भी सुरक्षित पवित्र स्थानमें रक्खा है । हमारे दुःखमें सहायता पहुँचानेवाले ये कौन थे, यह तो प्रभु ही जानते है ।

पता

वृथा भ्रमै मन मूढ़, मोहन मूरति घट-बसी ।
ढूँढ़ सकै तौ ढूँढ़, पलटि नैनकी सैनसों ॥

प्रेमयोगी 'मान'

साक्षात् भगवत्प्राप्ति

(लेखक—श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)



शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके दो प्रकारके उपाय बतलाये गये हैं। उनमेंसे एक तो साक्षात् भगवत्प्राप्तिके प्रदान करनेवाले हैं जो विशेषकर गुण और भावमूलक हैं। दूसरे उपाय प्रधानतः साधनामूलक हैं जो गुण और भावोंकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं तथा इनके द्वारा ही भगवत्प्राप्तिके कारण बनते हैं। साधकोंकी विशेष प्रवृत्ति और अनुरागके निमित्त साधनाको भी भगवत्प्राप्तिका उपाय कह सकते हैं, क्योंकि वह साक्षात् नही तो गौणरूपसे भगवत्प्राप्तिका कारण अवश्य होती है। साधनाके बिना अभीष्ट गुण-भावकी प्राप्ति हो भी नहीं सकती, इसलिये वह परमावश्यक वस्तु है। जिसप्रकार नींवकी दृढ़ताके बिना मकान ठहर नहीं सकता उसी प्रकार साधनाकी दृढ़ताके बिना भगवत्प्राप्तिके उपायस्वरूप गुण-भाव भी चिरस्थायी नहीं हो सकते। इसप्रकार भगवत्प्राप्तिमें गुण भाव लक्ष्य हैं और साधना उनकी प्राप्तिके उपाय हैं। इन दोनोंके भेद और पारस्परिक सम्बन्धका ज्ञान रखना परमावश्यक है। क्योंकि जिन गुण-भावोंकी प्राप्तिके लिये साधना की जाती है उनके महत्त्व और प्रयोजनको न जाननेसे वह कभी सफल नहीं हो सकती। इस रहस्यके न जाननेके कारण ही लोग गुण-भावोंकी अवहेलना कर उनके विरुद्धाचरण करते हैं तथा साधनाको ही साक्षात् प्राप्तिका मूल कारण मानकर भगवत्प्राप्तिको क्रय-विक्रयकी वस्तु बना डालते हैं। इसप्रकारकी साधनाओंमें बाह्यरूपसे निष्कामभावका चाहे कितना ही प्रदर्शन हो, आन्तरिक भावना तो सदा यही रहती है कि साधनमें कष्ट उठानेसे उसके फलस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति अवश्य होगी। परन्तु यह ठीक नहीं। भगवान्‌को साधनरूपी कीमत देकर कोई नहीं खरीद सकता, इस भावके साधक अनेक कष्ट सहनेपर भी जब भगवत्प्राप्ति नहीं कर पाते तो समझ लेते हैं कि क्रय-विक्रयकी भावनारूप साधनसे उसकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है और तब वे श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण, अहिंसा, सत्य, क्षमा, परोपकार, ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष, आत्मज्ञान, निर्मोह, शम, दम, समता आदि (गी० १०।४५) तथा निष्काम सेव्य-सेवक भावको धारण करते हैं और उन्हें अपने दैनिक जीवनके अभ्यासमें लगाते हैं। जिससे भगवत्प्राप्ति तो क्या, स्वयं भगवान् ही सेवक बन जाते हैं। एक महात्मा का कथन है कि साधना करनेका तात्पर्य यह है कि उसके अभ्याससे थककर साधक जान ले कि केवल साधनासे ही नहीं बल्कि निष्कामभावसे श्रीभगवान् के दिव्य गुण और सेव्य-सेवक-भावके धारण करने पर ही दुर्लभ भगवत्कृपाकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। गीतामें भगवान् कहते हैं कि 'न वेद, न यज्ञ, न स्वाध्याय, न दान, न कर्म और न उग्र तपके द्वारा ही कोई इसलोकमें मुझे देख सकता है। (गी० ११।४८) *तथा मेरे स्वरूपको हे अर्जुन! जैसा तुमने* देखा है वैसा (प्रत्यक्ष दर्शन) कोई वेद, तप, दान अथवा कर्मके द्वारा नहीं देख सकता, (गी० ११।५३) एवं साधक (योगी) वेद, यज्ञ, तप और दानसे जो पुण्य फल प्राप्त होते हैं, उनसे परे जाकर परम पदको प्राप्त करते हैं। (गी० ८।२८) इसप्रकार एक ही सिद्धान्तका बारम्बार अनुवाद होनेसे उसकी परम सत्यता स्वतः सिद्ध होती है।

मिथ्या धारणासे हानि—गुण भावके महत्त्वको न जानकर केवल साधना करनेवाले उनकी प्राप्तिके अवसरको पाकर उनकी अवहेलना ही नहीं करते,

बल्कि उनके विरुद्ध आचरण करते हैं जिससे बड़ी हानि होती है। इसप्रकारकी साधनासे सिद्धियोंकी प्राप्ति भले ही हो, किन्तु भगवत्प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। वह तो दिव्य गुणभाव अर्थात् निष्काम प्रेमाभक्तिसे होती है (गी० ११।५४)। गुणभावकी प्राप्तिके लिये दुर्गुणोंको छोड़कर दिव्य गुणका ग्रहण तथा भोगात्मक स्वार्थभावको छोड़कर ईश्वरार्थ निष्कामभावको ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

विकार-नाश—विकार (दुर्गुणों) के निवारणके विषयमें भगवान्ने गीतामें कहा है कि, काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं, यह कभी न शान्त होनेवाले महापाप हैं, इन्हें अपना शत्रु समझो। (गी० ३।३७) काम, क्रोध और लोभ यह नरकके तीन द्वार हैं, इनसे अपना ही सत्यानाश होता है, इसलिये इनका त्याग करना चाहिये। (गी० १६।२१) मरनेके पहले इस जन्ममें ही जो काम-क्रोधके उद्भव और वेगको सहन कर सकता है वही सिद्ध और सुखी मनुष्य है। (गी० ५।२३) इच्छा, द्वेषसे उत्पन्न हुए द्वन्द्वके मोहसे हे भारत! सब प्राणी सम्मोहित हो आवागमनमें पड़ते हैं। (गी० ७।२७) इसप्रकार काम, क्रोध, लोभ और ईर्ष्या-द्वेषके निवारणका उपदेश देते हुए भगवान्ने इन्द्रियनिग्रहको भी परमावश्यक बतलाया है। (गी० ४।२६-२७)

दिव्य गुण—दूसरोंके दुःखको अपना दुःख और सुखको सुख मानकर जहाँतक अपनेसे हो सके दूसरोंके दुःखको दूरकर तथा उनकी सुखवृद्धिमें सहायक बन सब प्राणियोंका हित करना सबसे बड़ा गुण है। अपने दोषोंको नष्ट करके, द्वन्द्वभावको हटा, सब भूतोंके हितमें रत संयमी ऋषिलोग ब्रह्मरूपी निर्वाणपदको प्राप्त होते हैं। (गी० ५।२५) हे अर्जुन! सुख अथवा दुःखमें जो अपने ही समान सर्वत्र देखता है वह योगी महान् है। (गी० ६।३२) इसप्रकार समभाव और सहानुभूति भी दो दिव्य गुण हैं। असंमोह, क्षमा, सत्य, शम, दम, अहिंसा, समता, सन्तोष आदि जो स्वयं श्रीभगवान्के भाव हैं उनका पालन करना आवश्यक है। (गी० १०।४-५) अत्यन्त द्वेष-शून्यता, मैत्री, करुणा, ममता-राहित्य, निरहंकार, क्षमाशीलता, सुख और दुःखमें समान भाव, सतत-सन्तुष्टि, निश्चयमें दृढ़ता, श्रीभगवान्में मन और बुद्धिको अर्पित करना, हर्ष, शोक, अमर्ष और उद्वेगसे निवृत्ति, अनपेक्षा, शुचिता, शत्रु-मित्र, मान-अपमान, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति आदिमें समान भाव, यथालाभमें सन्तुष्टता आदि भक्तके दिव्य गुण हैं। यही क्यों, जन्म-मरण, जरा-रोगसे निवृत्ति और अमृतत्वका लाभ तथा ब्रह्मकी प्राप्ति जिस त्रिगुणातीत अवस्थासे होती है वह भी दिव्य गुण ही है। सुख-दुःखमें समान भाव, स्वस्थता, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु और मित्र सबमें समान भाव, तथा अभय सत्त्व-संशुद्धि आदि समस्त दैवी सम्पत्तियाँ भी दिव्य गुण हैं।

दिव्य भाव—भोग-सम्बन्धी स्वार्थ-कामनाको त्यागकर कर्तव्य-कर्मोंको, फलकी कोई भी आकांक्षा न रखते हुए ईश्वरके निमित्त उसके ही कर्म समझकर आचरण करना दिव्य भाव है। (गी० ९।२७; ११।५५; १२।६, १०)

परम भाव—सर्वत्र सब प्राणियोंमें ईश्वरको परम कारण और सुहृद्रूपसे जानकर उन (प्राणियों) की तुष्टिके द्वारा उन (ईश्वर) की सेवा करना, तथा सबमें श्रीभगवान्को और श्रीभगवान्में सबको देखना परम भाव है, इस भावके द्वारा स्वयं श्रीभगवान्के साथ अटूट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। (गी० ४।३५; ५।७; ६।२९-३०-३१; ७।७-१०-१९; १०।४२)

मुख्य साधना—आजकल अधिकतर साधकोंको यह अच्छी तरह विदित नहीं होता कि मुख्य साधन क्या है? श्रीमद्भगवद्गीताने तो ईश्वर-स्मरणको ही सब साधनोंमें मुख्य माना है। सदा भगवान्का स्मरण करते हुए कर्तव्य-कर्मोंको करना तथा यह समझना

कि समस्त कर्म उन्हीके हैं, एवं मन, बुद्धिके साथ समस्त कर्मोंको निरहङ्कारभावसे श्रीभगवान्‌को अर्पण करना,अनन्यचित्तसे उनका स्मरण और कीर्तन करना, नित्ययुक्त होकर उनकी उपासना करना, परस्पर श्रीभगवान्‌के दिव्य गुण, स्वरूप, यश आदिका चिन्तन करना, एव प्रेमसे भगवद्भजन करना, यही मुख्य साधन है। (गी० ६। १४, २७, ३४, १०। ६-१०; १२।१३)

नवधा भक्तिमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन यह छः साधनाएँ हैं, तथा शेष तीन दास, सख्य और आत्मनिवेदन भाव हैं, इनकी प्राप्तिके विना साधना परिपक नहीं हो सकती। साधनाकी प्रगतिमें इसप्रकार तारतम्य होता है—पूजा, स्तुति, जप, ध्यान और लय। कहा भी है—

पूजाकोटिसम स्तोत्र स्तोत्रकोटिसमो जपः।
जपकोटिसम ध्यान ध्यानकोटिसमो लय. ॥

साधनामें ध्यान अन्तिम अवस्था है जिसका अन्त लय अर्थात् भगवत्प्राप्तिमें होता है।

गुण और भावका सम्बन्ध—बहुतोंका यह भी भ्रम है कि अहिंसा, सत्य, क्षमा आदि दिव्य गुणोंके विना ही भगवद्भावकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु जिसप्रकार पौधेके विना पुष्पका होना सम्भव नहीं उसी प्रकार सद्गुणोंके विना सद्भावका होना भी सम्भव नही है। सद्गुणसम्पन्न पुरुष ही दास, सख्य और मधुर भावको प्राप्त कर सकते हैं, अन्य नहीं। गुण-भाव और साधनके पारस्परिक सम्बन्धको न जाननेवाले अनेक साधक साधनमें निष्ठा रखते हुए भी काम, क्रोध, लोभ, असत्य आदि दुर्गुणोंमें पड़े रहते हैं और समझते हैं कि इनके रहनेपर भी केवल साधनके बलसे भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह नितान्त भूल है। दुर्गुण कभी साधनाको सफल नहीं होने देते। इसी प्रकार कुछ लोग चरित्र गठनके अभिलाषी बनकर केवल अपनी चेष्टासे ही दिव्य गुणकी प्राप्ति करना चाहते हैं, परन्तु यह असम्भव है। क्योंकि विना भगवद्भजनरूप साधनके चरित्रवान् अथवा दिव्य गुणयुक्त होना आकाशकुसुमके समान है। केवल विचार और इच्छाशक्तिके द्वारा बाह्य रूपसे चरित्रनिर्माण हो जानेपर भी अन्तर्चरित्रका निर्माण अर्थात् स्वार्थत्याग, सर्वत्र आत्मदर्शन आदि ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी प्राप्ति नही हो सकती। इनकी प्राप्ति तो आत्मविकासके द्वारा ही सम्भव है। अत साधन और सद्गुणका कार्यकारणसम्बन्ध स्पष्ट है तथा इन दोनोंके द्वारा भावकी प्राप्तिका होना भी निश्चय है। प्रारम्भमें साधनाके साथ-ही-साथ सद्गुणकी प्राप्तिमें भी सचेष्ट रहना आवश्यक है। आजकल प्राय. अधिकाश लोग दिव्य गुणोंकी प्राप्तिको महत्वपूर्ण न मानकर इसकी ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं देते बल्कि किसी सरल पथ अथवा साधनविशेषकी खोजमें रहते हैं और सद्गुणोंकी प्राप्तिको कठिन जान उसमें प्रवृत्त नहीं होते हैं। परन्तु यह याद रखनेकी बात है कि यदि अन्त.करणके भाव मलिन हैं तो किसी भी क्रियाके द्वारा भगवत्प्राप्ति असम्भव है।

लेखकने एक बार महात्मा गान्धीसे निवेदन किया था कि केवल अहिंसा, सत्य आदि सद्गुणोंके उपदेशसे ही जनता किसप्रकार अहिंसक, सत्यवादी आदि हो सकती है, मनुष्यकी कमजोरी इन्द्रियलोलुपता, स्वार्थपरता आदि केवल उपदेशसे किसप्रकार दूर हो सकते हैं? इसलिये क्या यह ठीक नहीं है कि अहिंसा, सत्यादिका पालन ईश्वरस्मरणके साथ-साथ हो? महात्माजीने कहा कि 'बात ठीक है और ऐसा ही होना चाहिये।'

भगवत्प्राप्तिके तीन भाव—

(१) 'सब प्राणियोंके हृदयमें ईश्वर है' यह जानकर अपने मन और बुद्धिके मलको दूरकर, चित्तको अभ्यास-वैराग्यके द्वारा शान्त कर, अपने आत्मामें स्थित हो निर्हेतुक उपासना और ध्यानद्वारा परमात्माको प्रत्यक्ष करनेका यत्न करना।

(२) सर्वत्र सब प्राणियोंमें ईश्वरको वर्तमान जान उनकी निष्काम सेवा करना और इसप्रकार सर्वदा ईश्वर-स्मरणमें संलग्न रहना।

(३) संसारकी सब वस्तुओंको ईश्वरकी सम्पत्ति जान उनमें ममत्वका त्याग करना तथा ज्ञान, बल, क्रिया आदिको ईश्वरकी स्वाभाविक शक्ति जानकर अहंकारसे बचना एवं निर्मम निरहंकार होकर लोकहित-कार्योंको यथार्थ ईश्वर-सेवा समझ फलकी बिना आकांक्षाके उनमें प्रवृत्त होना।

इन्हींसे साक्षात् भगवत्प्राप्ति होती है।

परम प्रेमास्पद

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—बहिन कोकिला! तुमने और तो सब प्रकारकी मनोहर कथाएँ तथा शिक्षाएँ सुनायीं परन्तु यह नहीं बतलाया कि 'सबसे प्यारा कौन है?' मैं देखती हूँ कि लोकमें तीन वस्तुएँ सबसे प्यारी होती हैं—एक स्त्री, दूसरा पुत्र और तीसरा धन। स्त्री न हो तो वंशरक्षक पुत्र कहाँसे हो? और गृहस्थीके धर्म भी स्त्रीके बिना नहीं हो सकते। जैसे एक पहियेकी गाड़ी किसी कामकी नहीं, इसी प्रकार स्त्रीके बिना पुरुष यज्ञादि कोई कर्म नहीं कर सकता। जैसे विधवा स्त्री किसी कर्मके योग्य नहीं रहती, इसी प्रकार विधुर पुरुषको भी कोई कर्म करनेका अधिकार नहीं बल्कि उसे तो घरमें रहनेतकका निषेध है। शास्त्र कहते हैं कि विधुर पुरुष वानप्रस्थाश्रम या संन्यासाश्रमका पालन करे। धन न हो तो धर्म, कर्म तथा स्त्री-पुत्रोंका पालन किसप्रकारसे हो? धर्म-कर्म सब धनसे ही सिद्ध होते हैं। ये तीनों परमावश्यकीय और प्यारे हैं तथापि एक-न-एक दिन इनका वियोग हो जाता है और इनके वियोग होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है और सुख भोग करता है। यदि स्त्री, पुत्र तथा धन ही परम प्यारे होते तो इनके वियोग होनेपर कोई भी जीवित न रहता, पर ऐसा नहीं होता है। अब आप ही इसका समाधान कीजिये कि ऐसी कौन-सी सुखरूप वस्तु है जिसके लिये महान्-से-महान् विपत्ति झेलकर भी मनुष्य जीवित रहता है?

कोकिला—बहिन! यह दृश्य वस्तुएँ कोई भी परम प्यारी नहीं हो सकतीं, क्योंकि इनका संयोग-वियोग होता ही रहता है। ये सब उस परम प्यारेकी सत्ता-स्फूर्तिसे प्यारी भासती हैं। इन सभी दृश्य पदार्थोंके अन्दर उसी परम प्यारेका आभास पड़ रहा है, इसीसे यह प्यारे लगते हैं। शरीरसे जब वह वस्तु (अर्थात् सूक्ष्म शरीर) चली जाती है जिसमें प्यारेकी सत्ता-स्फूर्ति विशेष थी, तब चाहे पुत्रका शरीर हो, चाहे स्त्रीका हो अथवा पतिका हो, उससे फिर कोई प्यार नहीं करता। जिस शरीरपर एक घड़ी पहले इतनी प्रीति थी कि उसके लिये मखमलोंके गद्दे बिछे थे, अब उसीको पृथ्वीपर डाल देते हैं और 'ले चलो ले चलो' होने लगती है, मनुष्य जिसके साज-शृंगारमें रात-दिन लगा रहता है उसीको अग्निमें भस्म कर दिया जाता है। क्या कोई अपनी प्यारी वस्तुकी ऐसी गति होते देख सकता है? इससे सिद्ध होता है कि स्त्री-पुत्रादिके तथा अपने शरीर प्यारे नहीं हैं।

श्यामा—बहिन! यह क्या कहती हो? अपना शरीर तो सभीको प्यारा होता है। सब अपने सुखके लिये ही यत्न करते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, जन, सब अपने सुखके लिये ही प्यारे हैं। उनके लिये उनको कोई प्यार नहीं करता। स्त्री पतिको प्यार करती है अपने सुखके लिये, पति स्त्रीको प्यार करता है अपने सुखके लिये, पिता पुत्रको प्यार करता है

अपने सुखके लिये, पुत्र पिताको प्यार करता है अपने सुखके लिये। इसप्रकार सब सबको अपने-अपने सुखके लिये प्यार करते हैं। श्रीयाज्ञवल्क्यजी अपनी प्रिया मैत्रेयीसे कहते हैं कि 'हे मैत्रेयी, स्त्री पतिको इसलिये प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करती है कि उसके प्रसन्न होनेसे प्रसन्नता प्राप्त होगी। पति स्त्रीको इसलिये प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता है कि उसकी प्रसन्नतासे मैं प्रसन्न हो सकूँगा, घरमें कलह रहा तो सारे गृहस्थ-धर्म नष्ट हो जायँगे, जीवनयात्रा कठिन हो जायगी। इससे सिद्ध होता है कि अपना शरीर ही परम प्यारा है।

कोकिला—बहिन! तू किसको अपना प्यारा समझती है? हाड़, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि, इत्यादिसे बने पुतलेको? नहीं-नहीं, यह पुतला अपना नहीं है, यह तो दृश्य है अर्थात् देखनेमें आता है, जो देखनेमें आता है वह सब काल्पनिक और मिथ्या है। क्या कोई अपने प्यारेको जला-गला सकता है? शरीरको तो सब जलते-गलते देखते हैं। तत्त्व-वेत्ताओंका कथन है कि जिस शरीर-की गति कृमि, विष्ठा और भस्मके रूपमें होती है वह अपना नहीं है। पुत्रको यदि कोई कृमि, विष्ठा या भस्मी-भूत करना चाहे तो क्या उसका पिता ऐसा करने देगा? कदापि नहीं, परन्तु तभीतक जबतक कि वह अपना है। जब वह अपना नहीं रहा, अन्यका हो गया तब चाहे कोई कुछ करे। जो अपना था वह तो चला गया, अब ममत्व कहाँ? अब तो अपने सामने ही पिता पुत्रको भस्मीभूत करता है। फिर वह अपना क्या हुआ? यह हड्डी, मांसका बना पुतला अपना कहलानेयोग्य नहीं है, अपना तो आत्मा है। श्रुति कहती है कि जो अपनेको नहीं जानता वह आत्महा है, अर्थात् आत्महत्यारा है। भला, अपनेको शरीररूपमें कौन नहीं जानता। बच्चेसे लेकर बूढ़ेतक सब अपनेको शरीररूपसे जानते हैं। यदि शरीर ही अपना होता तो श्रुतिको बतलानेकी क्या आवश्यकता थी? श्रुति तो अप्रत्यक्षको बतलानेके लिये उद्यत होती है, प्रत्यक्षको नहीं। प्रत्यक्षको तो सब जानते ही हैं। शिष्य जिस बातको नहीं जानता उसीको जाननेके लिये गुरुकी शरणमें जाता है। देह, मन, बुद्धि तो सबको प्रत्यक्ष हैं ही। शास्त्रको उनको बतानेकी क्या आवश्यकता है? शास्त्र तो जो जाननेमें न आवे उसीको गुरुद्वारा बताता है। यह सत्य है कि लोकमें पुत्र, स्त्री, धन प्यारे हैं। परन्तु ये सब गौणरूपसे ही प्यारे हैं, मुख्यरूपसे नहीं। जब अपने शरीरके ऊपर आपत्ति आती है तब मनुष्य अपने पुत्र, स्त्री तथा धनकी अपेक्षा नहीं करता, उनको भी त्याग देता है और स्थूल इन्द्रियोंसे सूक्ष्म इन्द्रियोंकी रक्षा करता है। जब कोई अपनेसे बलवान् अपनेको मारने आता है तो वह अपने हाथों-को ऊपर उठा देता है जिससे हाथोंमें चोट भले ही लगे परन्तु मस्तिष्कमें चोट न आये, क्योंकि सब सूक्ष्म इन्द्रियाँ मस्तिष्कमें वास करती हैं और जब प्राणोंपर आपत्ति आती है, तब उससे भी अपनी रक्षा करनेके लिये छटपटाता है और कहता है कि हाय, कोई ऐसा प्रयत्न हो, जिससे मैं शीघ्र विपत्तिसे छूट जाऊँ।' कोई कहता है कि 'अरे, सब राम-राम जपो जिससे यह शीघ्र विपत्तिसे छूट जाय' दूसरे बोलते हैं 'अरे, ईश्वर-ईश्वर कहो जिससे बेचारेकी दुःखसे निवृत्ति हो, बड़ा कष्ट पा रहा है।' इससे सिद्ध होता है कि मैं अर्थात् आत्मा शरीरसे कोई भिन्न वस्तु है, जो ऐसी आपत्ति आनेपर भी अपनेको नहीं भूलता। शरीर, धन, पुत्र, स्त्री, पञ्च कर्म-इन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृति इन सबसे परे कोई अन्य वस्तु है जो इन सबके नाश होनेपर भी नष्ट नहीं होती। स्त्री-पुत्रादिके जो पाञ्चभौतिक शरीर हैं, वे सब पञ्चत्वको प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु आत्मा अविनाशी, अप्रमेय है, उसका कभी नाश नहीं होता।' होना, रहना, बढ़ना, घटना, रूपान्तर होना, नाश होना शरीरके यह छः विकार हैं। आत्मामें ये विकार नहीं हैं। आत्मा सदा एकरस, अपरिणामधर्मशील है। शरीर ही

जन्मता है, शरीर ही मरता है। अज्ञानसे जीव शरीरके नाश होनेपर अपना नाश मानता है, इसी कारण शरीरका जन्म होनेसे वह अपना जन्म होना मान लेता है और शरीरके नाश होनेपर अपना नाश निश्चित करके शरीरके उत्पत्ति-नाशमें सुखी-दुःखी होता है। यह नहीं जानता कि आत्माका नाश तथा जन्म तो तीनों कालोंमें नहीं है, आत्मा स्थूल शरीर नहीं है; आत्मा सूक्ष्म शरीर नहीं है; आत्मा कारण-शरीर नहीं है और आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमेंसे भी कोई नहीं है। आत्मा तीनों अवस्थाओंसे रहित तीनोंका साक्षी है, यही आत्मा सबके जन्म और नाशको जानता है। आत्माके जन्म-नाशको कोई नहीं जानता। जो सबको और सबकी अवस्थाओंको जाने वही आत्मा है, वही द्रष्टा है, वही चेतन है, अक्षर है, अविनाशी है, परम प्रत्यक्ष है, पाससे भी पास है, अर्थात् बुद्धिरूपी गुहामें ही स्थित है। गुहामें स्थित होनेसे परिच्छिन्न हो गया, ऐसा कहना नहीं बन सकता क्योंकि वह एककी गुहामें स्थित हो, ऐसा नहीं है, सबकी गुहाओंमें स्थित है। इस कारण ईश्वर अपरिच्छिन्न है। यदि कहो कि गुहामें होगा तो बाहर नहीं होगा, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि वह आत्मा महान् है, बाहर-भीतर सर्वत्र परिपूर्ण है, सबका अधिष्ठान, सबका ईश और करनेवाला, अर्थात् सबको नियममें चलानेवाला है। वही भोग्य है, वही भोक्ता है और वही सबसे परे अभोक्ता भी है। श्रुति कहती है कि जो कुछ भी चर-अचर है सब उसीसे व्याप्त है अर्थात् सबमें वह व्यापक है, प्रत्येक योनिमें वही अधिष्ठित है, बृहत् होनेसे उसीका नाम ब्रह्म है, सर्व-ऐश्वर्य-सम्पन्न होनेसे वही भगवान् है, सबपर शासन करनेसे वही ईश्वर है, सबका अपना आप है, इसलिये वही ब्रह्म आत्मा शब्दसे कथन होता है, तत्त्व-वेत्ताओंने और श्रुतिने उसको परम प्रत्यक्ष कहा है।

श्यामा—बहिन! जब कि यह आत्मा पाससे भी पास और सबका अपना आप, तथा प्रत्यक्षसे भी परम प्रत्यक्ष है, अजर, अमर, जन्म-मृत्युसे रहित, महान् सुखका सागर है, तब सबके जानने, देखने तथा अनुभवमें क्यों नहीं आता? इसके जाननेके लिये सभी मनुष्य व्याकुल न रहते हों, ऐसा नहीं है, सभी मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार इसको जानने तथा इसके दर्शनकी लालसामें रहते ही हैं और इसके लिये अनेकों प्रकारके जप, तप, यज्ञ, दान, व्रत इत्यादि भी करते रहते हैं, फिर भी वह आत्मा जानने तथा देखनेमें नहीं आता, इसका क्या कारण है? कौन-से ऐसे साधन हैं जिनसे इस सुख-स्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो। कोई-कोई कहते हैं कि 'ईश्वर है नहीं, यदि होता तो अवश्य दिखायी देता।' यह कथन नितान्त असम्भव है, यदि ईश्वर कुछ न होता तो सब उसकी प्राप्तिकी उत्सुकतामें क्यों रहते? कुछ है तभी तो उसकी ओर सब दौड़ते हैं। कोई किसी भी प्रकारसे करें, करते सब उसीका भजन हैं। जैसे भगवान्ने गीतामें कहा है कि जो दूसरे-दूसरे देवताओंका भजन करते हैं वे सब मेरा ही भजन करते हैं परन्तु अविधिपूर्वक करते हैं। देवताओंके पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, मेरे पूजनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं। अतः बहिन! ईश्वरका भजन कैसे होता है और कैसे उसकी प्राप्ति होती है? और उसकी प्राप्तिके कौन-से साधन हैं?

कोकिला—बहिन! वह ईश्वर पाससे भी पास है और परम प्रत्यक्ष है, यह सत्य है। परन्तु ज्ञान और भक्तिके बिना उसका मिलना असम्भव है। जो वस्तु अति निकट होती है वह दिखायी नहीं देती, यह नियम है। जैसे अपनी आँख अति निकट अपने पास ही है परन्तु अपनेको नहीं दिखायी देती। ईश्वर तो आँखसे भी पास है, वह इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं दिखायी दे सकता, उसको देखनेके लिये ज्ञान-चक्षुओंकी आवश्यकता है और ज्ञान-चक्षु धारणा, ध्यान, समाधिके बिना खुल नहीं सकते। धारणा, ध्यान,

समाधि उत्पन्न करनेको जीवको ईश्वरमें योग तथा भक्ति करनी चाहिये, जबतक जीवकी ईश्वरमें अनन्य भक्ति न होगी, तबतक ईश्वरकी प्राप्ति दुर्लभ है। श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादजीका वचन है कि 'सर्वेश हरि धन, जन, विद्या, तप, ओज, तेज, प्रभाव, पौरुष और सदा सत्त्वगुणी बुद्धिसे ही प्राप्त होने योग्य नहीं है।' श्रुति भी ऐसा ही कहती है, कि 'यह आत्मा बहुत शास्त्रपठन पाठनसे, बहुत शास्त्र श्रवणसे, धारणावाली बुद्धिसे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है, जिसको यह आत्मा अधिकारी समझता है, उसीको प्राप्त होता है।

श्यामा—मनुष्य अधिकारी कब और कैसे बन सकता है?

कोकिला प्रेमसे ईश्वरका भजन करनेसे मनुष्य अधिकारी होता है। जब अनन्य मनसे, अव्यभिचारी भक्ति योगसे ईश्वरमें भक्ति करता है, तब आत्माका दर्शन पाता है। ईश्वर भजनमें सब पापोंके भस्म करनेकी शक्ति है, जाने अनजाने चाहे जिसप्रकार हो ईश्वरका नाम स्मरण करना चाहिये। स्मरण किया हुआ ईश्वरका नाम ईश्वरकी ओर खींचता है, नाम-स्मरण करनेवाले मनुष्योंकी सब कामनाएँ पूरी होती हैं, जो जिस कामनासे ईश्वरका नाम स्मरण करते हैं उनकी वह कामना पूर्ण होती है। जो ईश्वरकी प्राप्ति चाहते हैं, उनको नाम स्मरण ईश्वरकी प्राप्ति करा देता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि ईश्वरका नाम द्वेषसे, मित्रतासे, क्रोधसे और दूसरेके बहानेसे किसी तरह भी लिया जाय वह अवश्य फल देगा। ईश्वरका नाम लिया कि सब आपत्तियाँ भाग जाती हैं। जो ईश्वरके भक्त होते हैं वे कभी भी और कैसी भी विपत्ति आनेपर व्याकुल नहीं होते। उनके ऊपर जो विपत्तियाँ आती हैं, वे उन सबको परम तप समझते हैं। जैसे स्वर्ण अग्निमें तपाकर शुद्ध होता है, इसी प्रकार ईश्वर अपने भक्तोंको तीनों प्रकारके दुःखोंसे तपाकर शुद्ध करते हैं। ईश्वर भक्त भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखोंको दुःख नहीं समझता वह अपने आत्मामें पूर्ण काम, पूर्ण तृप्ति, पूर्ण सुख मानता है। उसको न लोभ है, न क्रोध और न मोह। वह विश्वप्रपञ्चमें रमण नहीं करता, अपने आत्मामें अर्थात् आनन्द सिन्धुमें हर समय गोते लगाता रहता है, यथाप्राप्तिमें सन्तुष्ट रहता है, किसीमें न राग रखता है न द्वेष, सब विश्वको ईश्वरस्वरूप देखकर प्रसन्नचित्त आप्तकाम रहता है। जब इसप्रकार 'सर्व वासुदेव ही है' इसे तत्त्वसे जान लेता है तब वह कृतकृत्य हो जाता है। ऐसे भक्तको भगवान् प्रसन्न होकर अपनी शरण देते हैं —अपनेमें मिला लेते हैं। फिर उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती। वही आत्मा ईश्वर है, वही आत्मा ब्रह्म है, वही आत्मा शिव है और वही आत्मा अन्तर्यामी सर्वव्यापक, पञ्चकोशोंसे रहित, सबका अपना आप है। जबतक वह जाननेमें न आवे तबतक अव्यभिचारी अर्थात् कभी न टूटनेवाली भक्तिसे भगवान्की उपासना करते रहना चाहिये। जब श्रद्धा विश्वासके साथ भगवत्के नाम उच्चारण करोगी तब अपने आत्मामें ही परमात्माको देख पाओगी भक्त अपने इष्टदेवमें जैसी बुद्धि करता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है। जो महान् निराकारका ध्यान करते हैं वे भक्त भी महान् निराकार हो जाते हैं और जो साकाररूप भगवान्का ध्यान करते हैं वे साकाररूप भगवान्को प्राप्त होते हैं। जगत्की आशाने ईश्वरको ढक रक्खा है, ईश्वर अपना आत्मा होनेसे पाससे भी पास है, आशा तज देनेपर ईश्वरकी प्राप्तिमें देर नहीं लगती। सच कहा है—

कु०—प्यारा ईश्वर सर्वके, हियमें करे निवास।
विषयी मूढ न लख सकें, यदपि पास-से पास॥
यदपि पास से पास आशने ईश छुपाया।
तजो जगतकी आश, ईश तुरतहि लख पाया॥
जयदेवी! तज आश, ईश नहिं तुझसे न्यारा।
सबका अपना आप, तापहर सुखकर प्यारा॥

हिसावकी भूल

किसी सन्त और जिज्ञासुमें इसप्रकार बातें हुईं। 'महाराज! राम-नाममें प्रेम कैसे हो?'

'भाई! राम-नामकी कीमत, उसका महत्व समझनेसे प्रेम बढ़ता है।'

'महाराज! कीमत तो कुछ-कुछ समझमें आती है परन्तु भजन नहीं होता।'

'क्या खाक समझमें आती है? समझमें आ जाती तो क्या यह प्रश्न शेष रह जाता? अभीतक तो तुम राम-नामको कौड़ियोंसे भी कम कीमती समझते हो।'

'महाराज! यह कैसे? कौड़ियोंके साथ राम-नामकी तुलना कैसी?'

'अच्छा तो बतलाओ, तुम्हारी वार्षिक आय अधिक-से-अधिक क्या है?'

'अनुमानसे पचास हजार रुपये!'

'अच्छा तो अब विचार करो। बनिये हो, हिसाब लगाओ। वार्षिक पचास हजार यानी मासिक अनुमान सवा चार हजार अर्थात् रोजके अनुमान डेढ़ सौ रुपये हुए। दिन-रातके २४ घण्टेकी आय डेढ़ सौ रुपये हैं, इस हिसाबसे एक घण्टेमें अनुमान छः रुपये और एक मिनिटमें दस पैसेकी आमदनी होती है। अब जरा सोचो, जिस एक मिनिटमें तुम्हारी औसत आमदनी दस पैसे हैं उसी एक मिनिटमें तुम कम-से-कम डेढ़ सौ राम-नामका बड़े आरामसे उच्चारण कर सकते हो। यानी जितनी देरमें दस पैसे पैदा होते हैं उतनी ही देरमें डेढ़ सौ राम-नाम लिये जाते हैं, तात्पर्य यह कि एक पैसेमें पन्द्रह नाम होते हैं। इसपर भी यह हाल है कि पैसेके लिये ही चेष्टा होती है राम-नामके लिये नहीं। फिर बतलाओ, राम-नामकी कीमत कौड़ियोंके बराबर भी कहाँ समझी जाती है? एक बात और है, यह हिसाब तो पचास हजार रुपये वार्षिक आयवालेका है। साधारण आयवाले लोग अपना-अपना हिसाब लगावें और समझें कि उनका क्या हाल है? महात्मा कहते हैं कि समय अमोलक चीज है, गया वक्त किसी भी कीमतमें हाथ नहीं आता। मरते समय मनुष्य सारी धन-दौलत देकर भी कुछ ही क्षण अधिक जीवन धारण करनेमें अपनेको असमर्थ पाता है। अन्तिम वसीयतनामे (Will) की सही भी अधूरी ही रह जाती है। ऐसा कीमती समय यों व्यर्थ जा रहा है। सोचो, विचारो, हिसावकी इस भारी भूलको दुरुस्त करो और अपने समयका सदुपयोग करो। सदुपयोग यही है कि निरन्तर नाम-जपमें लग जाओ। बस, नामजप अमूल्य चीज है। इससे वह अमूल्य—सारे अमूल्यके स्वामी—त्रिलोकाधिपति राम स्वयं प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये अविलम्ब इस कार्यमें लग जाओ और दुःखोंसे आत्यन्तिक छुटकारा पाकर सदाके लिये जीवनको सार्थक करो। यही मानव-जीवनका ध्येय है।'

प्रेम-पीड़ा

(लेखक—श्रीधर्मचन्द्र खेमका 'चन्द्र')

कितनी प्यारी कितनी मीठी मधुर प्रेमकी पीड़ा।
मेरा मन अनुभव करता है, करके उससे क्रीड़ा॥
प्रेमासवकी मादकता जब, हो नस-नसमें छायी।
पावन छवि उस प्रियतमकी तब, देती है दिखलायी॥
दुनिया कहती है प्रेमीको, पागल है दीवाना।
मैं तो मुग्ध हुआ हूँ उसपर, झूम रहा मस्ताना॥

सौन्दर्य

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी शास्त्री)

'घूँघटका पट खोल रे तोहि पीय मिलेंगे ।'



घूँघट अर्थात् अज्ञानका पर्दा खोल दो । प्यारेकी मोहिनी तथा अलौकिक सौन्दर्यपूर्ण मूर्तिकी झाँकी मिलेगी । समीप जाकर देखो । दिव्य रूपको निहारते ही रहोगे । आप-से-आप चित्त निस्पन्दित हो जायगा । आनन्दकी लहरें हृदयमें हिलोरें मारने लगेंगी । उस मोहिनी मूर्तिको देखते नहीं अघाओगे । फिर कृतकृत्य हो जाओगे ।

उस मूर्तिमें 'सत्य शिव सुन्दर' को जगमगाते हुए पाओगे । वही सत्य है, कल्याणकारी है, आनन्दमय है, वही सच्चा सौन्दर्य है । बाह्य जगत् में जो सौन्दर्य दृष्टिगोचर हो रहा है वह तो सत्य शिवकी छायामात्र है । प्रभुने अपनी समस्त सृष्टिमें उसी सौन्दर्यका प्रसार किया है । जिधर ही देखो, सौन्दर्य ही सौन्दर्य है । जहाँ सौन्दर्य है, वहीं अपूर्व आकर्षण है । जहाँ आकर्षण है, वहीं एकत्वकी प्रतीति होती है । जिस वस्तुमें जितना ही अधिक तथा स्थिर आकर्षण होगा वह वस्तु उतनी ही अधिक सुन्दर और कल्याणकारी होगी ।

मनुष्य स्वभावत सौन्दर्यका उपासक होता है । जिस मनुष्यकी सौन्दर्यकी जैसी कल्पना होती है वह मनुष्य उसीके अनुसार उसकी उपासना करता है । कवि ऊषाकालीन मनोरम दृश्यमें, नदियोंकी इठलाती चालमें, चाँदकी मादक ज्योत्स्नामें अद्भुत सौन्दर्यकी सृष्टि करता है । चित्रकार एक-से-एक बढकर सुन्दर चित्र चित्रित करनेमें तन्मय होता है । माता शिशुके मन्द हासमें सौन्दर्यका दर्शन करती है । चारों ओर सौन्दर्यका ही साम्राज्य छाया हुआ है ।

किन्तु आजकल बाह्य साधनोंकी बहुलता तथा बहिर्मुख वृत्तिके कारण जीवन सौन्दर्य प्राय नष्ट सा हो रहा है और कृत्रिम सौन्दर्यकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हो रहा है । पाश्चात्य देशोंके नर नारी नित्य नये नये फैशनोंका आविष्कार कर बाह्य सौन्दर्यकी धारमें बहे जा रहे हैं, जिसमें रस नहीं, आनन्द नहीं, स्थिरता नहीं । हाँ, उसमें एक ऐसी मादकता रहती है जिससे जीवन पुष्प मुर्झा जाता है ।

किसी वस्तुकी पूर्णता उस वस्तुके सौन्दर्यका द्योतक होती है । एक खिला हुआ फूल वनकी शोभाको बढाता है । परिपक्व आम स्वादु और गुणकारी होता है । पूर्णिमाके हसते हुए चाँदको देख किसका हृदय आनन्दसे उछलने नहीं लगता ? जीवनकी सम्पूर्ण दैवी वृत्तियोंको उनकी चरम-सीमातक पहुँचाना जीवनका पूर्ण विकास है । जीवनका पूर्ण विकास ही वास्तविक सौन्दर्य है ।

ईश्वरसे प्रार्थना है कि वे हमें शक्ति और सामर्थ्य दें जिससे हम अपने कर्त्तव्य पथपर सदा अग्रसर हों । हमारी अन्तर्दृष्टि खुल जाय और सृष्टिमें चारों ओर हमें सच्चे सौन्दर्यका दर्शन हो । 'सत्य शिव सुन्दर' का साक्षात्कार हो ।

जग-कानन

क्लान्त नितान्त हुआ श्रमसे, न मनोरथका मग दृष्टिमें आता ।
दूर है आशा अगाध नदी, पथ कंटक क्लेश चला नहीं जाता ॥
काम से हिंसक जीव अनेक, नहीं नर है जिनसे बच पाता ।
काननमें जगके भटका जगदीश बिना अब कौन है त्राता ॥

भगवतीप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, एल एल० बी०

परमपदप्राप्त स्वामीजी श्रीउत्तमनाथजी महाराज

(लेखक—सेठ श्रीरामगोपालजी मोहता, बीकानेर)

राजपूतानेके सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीउत्तमनाथजी महाराजका जन्म जेसलमेर राज्यके होफले ग्राममें श्रीजेठमलसिंहजी भाटी राजपूतके घरमें हुआ था। इनके पिताजीकी महात्माओंके सत्सङ्गमें बड़ी रुचि थी, जिसका प्रभाव पुत्रके चित्तपर भी पड़ा। जब साधु-सन्त इनके गाँवकी ओर आते तो ये भी उनके सत्सङ्गमें जाकर पूर्ण लाभ उठाया करते। अन्तमें संसारसे विरक्ति हो जानेके कारण आपने २३ वर्षकी अवस्थामें श्रीनवलनाथजीसे सं० १९५३ में संन्यासाश्रमकी दीक्षा ले ली।



यद्यपि आपके नामसे यह स्पष्ट प्रकट होता है कि ये नाथोंके सम्प्रदायके अनुयायी थे; परन्तु वास्तवमें आपके सिद्धान्त साम्प्रदायिकतासे बहुत ऊँचे उठे हुए थे। इनकी गुरु-परम्पराकी तरफ दृष्टि डाली जाय तो भी यह बात सिद्ध होती है कि इन लोगोंमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं थी। श्रीनवलनाथजी महाराजके गुरु पूज्य बनानाथजी और उनके गुरु पूज्य जीयारामजी महाराज थे। श्रीजीयारामजीके दूसरे शिष्य सुखरामजी और पूज्य बनानाथजीके द्वितीय शिष्य उमारामजी थे। इन नामोंसे विदित होता है कि ये लोग केवल सिद्धान्तोंको ही मानते थे, साम्प्रदायिकताको नहीं। इन सब महात्माओंका सिद्धान्त भगवान् शङ्करप्रतिपादित अद्वैत वेदान्त था। यह बात इनकी बनायी 'बानियों' और शब्दोंसे स्पष्ट है। श्रीउत्तमनाथजी महाराजके उपदेशोंमें तो साम्प्रदायिक सङ्कीर्ण भावोंके समूलोच्छेदनपर विशेष जोर दिया जाता था।

स्वामीजी महाराज अधिकतर भ्रमण ही किया करते थे। सर्दीके दिनोंमें आप प्रायः ऋषिकेशमें रहा करते थे और गर्मी तथा चातुर्मासमें राजपूतानेके भिन्न-भिन्न भागोंमें भ्रमण करते हुए अद्वैत वेदान्तका उपदेश किया करते थे। आषाढ़ शु० ११ से भाद्रपद शु० ११ तक दो मास एक ही स्थानमें विराजते थे, जहाँ आप श्रीमद्भगवद्गीता अथवा योगवाशिष्ठ आदि वेदान्त ग्रन्थोंपर प्रवचन किया करते थे। आपकी कथामें जिज्ञासु नर-नारियोंकी बहुसंख्यक उपस्थिति हुआ करती थी। आपके उपदेशोंकी शैली इतनी सरल और प्रभावोत्पादक होती थी कि वेदान्त-जैसे सूक्ष्म और गहन विषयको साधारण बुद्धिके लोग भी सहजमें ही समझ सकते थे। कथाओंके साथ इतिहास, दृष्टान्त, कविता और उसी विषयकी 'वाणियों' के गायन इतने हृदयग्राही हुआ करते थे कि श्रोताओंका मन उनको सुनकर कभी तृप्त नहीं हुआ करता—सुननेकी इच्छा बनी ही रहती थी।

जटिल प्रश्नोंको सुलझाने और शङ्का-समाधान

करनेमें चाहे कितना ही समय लग जाय और कितना ही परिश्रम पड जाय, पर ये कभी उकताते ही नही थे। इनके उपदेशोंमें केवल शुष्क आत्म ज्ञानकी चर्चा ही नहीं हुआ करती थी, बल्कि चरित्र सुधार और व्यावहारिक ज्ञानकी भी विशेषता रहती थी। ये जहाँ जाते वही जिज्ञासुओंकी भीड लगी ही रहती और सबको यथायोग्य समझाने में आप कोई बात उठा न रखते थे। इनके सत्सङ्गसे सैकडों नर-नारियोंने लाभ उठाया, सैकडोंके चरित्र सुधरे और सैकडों ही मानसिक व्यथाओंसे मुक्त हुए। इनसे बडे बडे राजा महाराजाओंसे लेकर साधारण-से साधारण व्यक्ति एक समान लाभ उठाया करते थे। अछूत—चाण्डालोंको भी आप अपने सदुपदेशोंसे वञ्चित नही रखते थे।

श्रीबीकानेर महाराजका आपके प्रति परम पूज्य भाव था। जैसलमेर-नरेश तो श्रद्धापूर्वक इनकी कथाओं और उपदेशोंको सुना करते थे। और इन्ही के उपदेशसे जैसलमेरके राजपूतोंमें अनेक कुरीतियोंके सुधार हुए। बहुत से राजपूत अपनी कन्याओंको जन्मते ही मार डाला करते थे। यह पापकर्म अब वहाँ बहुत कम हो गया है। पर्वों और त्योहारोंके अवसरपर पशु बलिका बडा जोर रहा करता था, पर आजकल वह निर्दय कर्म भी बहुत अशोंमे घटकर कम हो गया है। बडे बडे जागीरदारों तथा साधारण राजपूतोंसे आपने उपदेशद्वारा मद्य एव अफीम आदि मादक पदार्थोंका सेवन छुडवाया। इनके उपदेशोंके प्रभावसे कई स्थानोंमें पाठशालायें एव विद्यार्थि-गृह आदि शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ स्थापित हुई तथा जहाँ पानीका अभाव था वहाँ कूएँ और तालाब बनवाये गये।

स्वामीजी महाराजका त्याग बडी उच्च कोटिका था। आप अपने पास वेदान्तकी दो तीन पुस्तकोंके सिवा और कुछ भी नही रखते थे। वस्त्र जब बहुत जीर्ण होकर फट जाता था तभी दूसरा लेते थे। लोग भेंटमें ढेर-के ढेर फल लाया करते, पर आप अपने पास कुछ भी न रखकर उपस्थित जनसमूहको बाँट दिया करते थे। शिष्योंका प्राय आग्रह रहा करता था कि आप सेकण्ड क्लासमें ही बैठें, पर आप विशेष अवसरके सिवा सदा थर्डक्लासमें ही बैठा करते थे।

व्यक्तिविशेष अथवा स्थानविशेषमें आपकी आसक्ति नही थी। अपने शिष्योंमेंसे आप कभी किसीको अपने साथ नहीं रखते थे। विशेष आग्रह देखकर कभी किसीको कुछ समयके लिये अपने पास रखकर फिर शीघ्र विदा कर दिया करते थे। आपको सादा भोजन (विशेषत. बजरेकी रोटी, छाछ और राबडी) ही पसन्द थी। शहरोंसे सदा बाहर रहना ही इन्हें अच्छा लगता था। पर सत्सङ्गके लिये आने-जानेवालोंसे कोई परहेज नहीं था। शास्त्र श्रवणमें आप स्त्रियोंका भी पूरा अधिकार मानते थे। यद्यपि इस तरह उपदेश करनेपर लोग प्राय. कहा करते थे कि अनधिकारियोंको उपदेश नही करना चाहिये परन्तु इनका यह सिद्धान्त था कि अधिकारी स्वय उत्पन्न नही होते, बनानेसे ही बनते है। इसलिये इनके उपदेशों और कथाओंका द्वार सबके लिये समान भावसे खुला था। अपनी अपनी योग्यताके अनसार सभी लाभ उठाया करते थे। इनका लक्ष्य अपने कल्याणपर उतना न था कि जितना सबके हितपर। इसी उद्देश्यसे ये कभी निकम्मे नही बैठा करते थे। जब कोई मनुष्य उनके पास आता तो 'वाणी' आत्मज्ञान अथवा सात्त्विक आचरणकी चर्चा चला दिया करते थे। आपके उपदेशोंके अन्तमें पूज्यपाद गोस्वामीजीकी प्रसिद्ध चौपाई

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीडासम नहिं अधमाई॥

और 'हरेराम' मन्त्रकी सस्वर आवृत्ति हुआ करती थी।

सवत् १९८६ के आश्विन मासमें जोधपुरमें आप एक ऊँची छतसे गिर पडे, जिसमे मुँहपर इतनी अधिक चोट लगी कि शरीरके बचनेकी बहुत कम

आशा रह गयी । आपको कई मास तत्स्थानीय अस्पतालमें रहना पड़ा एवं आपने क्लारोफार्मके विना ही कई आपरेशन करवाये । डाक्टर लोग आपकी इस सहनशीलताको देखकर दंग रह गये । यद्यपि गिरनेसे लगी हुई चोटें तो समय पाकर ठीक हो गयीं, पर नाकके पास एक नासूर शेष रह गया, जिसका मवाद पेटके अन्दर जाता रहा और उसके फलस्वरूप आपकी पाचनशक्ति उत्तरोत्तर कम होती गयी । गिरनेके एक वर्ष बाद जोधपुरमें एक पागल सूअरने जंगल जाते समय स्वामीजीके एक अँगूठे और एक अँगलीको काट खाया तथा शरीरपर भी आक्रमण किया । उस समय आप अकेले ही थे, तो भी साहसपूर्वक सूअरको दबाकर एवं उसके मुँहको दोनों हाथोंसे पकड़कर बैठ गये । करीब आधघण्टे-तक, जबतक दूसरा आदमी न आ पहुंचा, आप उसे दबाये रहे, अन्यथा वह उन्मत्त सूअर उसी समय आपके शरीरको चीर-फाड़ डालता । क्षत्रिय-तेज, ब्रह्मचर्य-बल और आत्मशक्तिके प्रभावसे संसारकी कौन-सी शक्ति पराजित नहीं हो सकती ? डाक्टरोंका आग्रह कसौली जाकर इलाज करवानेका रहा, अतः पन्द्रह दिन वहाँ रहकर इलाज करवाया गया जिससे वह विष तो शान्त हो गया, पर पाचन-शक्तिका क्रमशः ह्रास ही होता गया । निदान उदर-व्याधि होकर आपके शरीरका अन्त संवत् १९८८ मिति माघ शु० ११ को ५८ वर्षकी अवस्थामें बीकानेर नगरमें हो गया ।

बीमारीकी अवस्थामें भी आत्मज्ञानकी चर्चा चलती रहती थी । 'वानियों' का गान विशेषरूपसे हुआ करता था । अन्तके समय भी आपके चित्तमें पूर्ण शान्ति बनी रही । राजपूतानेमें आत्मनिष्ठ होनेके साथ-साथ जन-साधारणको त्रितापसे छुड़ानेका प्रयत्न करनेवाले ऐसे महात्मा विरले ही होंगे । इनके शरीर-त्यागसे राजपूताना-निवासियोंको जो क्षति पहुंची है उसकी पूर्ति होनी बड़ी ही कठिन है ।*

आह्वान

हृदयमें आ बैठो घनश्याम ।
विश्वके नायक लीलाधाम ॥

जलमें थलमें, नभमें तेरा व्यापक रूप अनूप
कृपा-कटाक्ष-पातसे बनता सागर लघुतम कूप ।
भक्ति विचार धारमें बहते अति नृशंस नर नीच
सद्विवेक जलमें बह जाती कामवासना कीच ।
दया करते जिनपर तुम राम ॥
बैठकर मनमें जब घनश्याम ।
विश्वके नायक लीलाधाम ॥

मधुमें हो मिठास पुष्पोंमें सुरभि, शैत्य हो नीर
भावोंमें सौन्दर्य विश्वमें प्रवहणशील समीर ।
मुझे उठा उस पद पहुँचाओ जहाँ न दुखका लेश
आँखोंमें तव मूर्ति हृदयमें शान्ति सौख्य निःशेष ।
गोपिका जीवन अति अभिराम ॥
हृदयमें आ बैठो घनश्याम ।
विश्वके नायक लीलाधाम ॥

—उदयशंकर भट्ट

* कुछ वर्षों पूर्व बम्बईमें महात्मा श्रीउत्तमनाथजी महाराजका सत्संग लगभग २० दिनके लिये मुझे भी प्राप्त हुआ था । वे गुरुजीकी वाणी छपवानेके कामसे बम्बई पधारे थे । मेरे प्रार्थना करनेपर उन्होंने बम्बईके सत्संग-भवनमें प्रतिदिन प्रातःकाल गीतापर प्रवचन करना स्वीकार कर लिया था । स्वामीजी महाराजके जितने गुण सेठजीने इसमें लिखे हैं, मेरी समझसे उनमें इन गुणोंसे कहीं बढ़कर स्वाभाविक सद्गुण थे । वे बड़ी ही सुन्दर सीधी मीठी वाणीमें वेदान्तके गहन-से-गहन तत्त्वको समझाते थे । वैराग्य, निस्पृहता, स्पष्टवादिता, वेदान्तकी अनन्यनिष्ठा आपमें पद-पदपर प्रकट थी । मुझे उन थोड़े दिनोंके सत्संगसे बड़ा लाभ हुआ । सेठजीने उन पुण्यपुरुषका चरित्र भेजकर उनकी स्मृति और शिक्षाको ताजा कर दिया, इसलिये मैं हृदयसे साधुवाद देता हूँ । —सम्पादक

रावणका परम-पद-प्राप्तिका दृढ़ संकल्प

खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो याचत योगी॥
उमा राम मृदुचित करुणाकर। वैरभाव सुमिरत मोहिं निशिचर॥
देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपालु को कहहु भवानी॥
अस प्रभु सुनि न भजहिं भ्रम त्यागी। नर मतिमन्द ते परम अभागी॥



गवान् शंकर पार्वतीजीसे कहते हैं कि 'हे उमा, श्रीरामचन्द्रजीका चित्त मृदुल है, वह अत्यन्त करुणाशील हैं, नर-मांसका आहार करनेवाले दुष्ट दानवोंको भी वह गति देते हैं जिसकी याचना सदा योगीजन किया करते हैं, और भी केवल इस विचारसे कि 'निशिचर वैर-भावहीसे सही, मेरा स्मरण तो करते हैं, परमपदको प्रदान करते हैं। हे भवानी! कहो ऐसा दयालु कौन हो सकता है? जो मनुष्य ऐसे प्रभुको जानकर भ्रमरहित हो भजन नहीं करते वह मतिमन्द अत्यन्त अभागे हैं।'

शंकरजीके इस उपदेशके अनुसार राक्षसराज रावणने भी अपनी स्थितिके अनुकूल समझकर वैर-भावके द्वारा परमपद प्राप्त करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया था। श्रीराम-चरित-मानसमें अनेक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनमें श्रीराम-चन्द्रजीको भगवान्‌का अवतार बताकर बारम्बार रावणसे भगवत्-शरणागति ग्रहण करनेके लिये कहा गया है। जिससे रावणका संकल्प हटनेके बजाय अधिकाधिक बढ़ता गया है। उसीका किञ्चित् दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। नाक-कान-विहीन शूर्पणखा रावणके पास फर्याद करनेके लिये जाती है तो इसप्रकार श्रीरामचन्द्रजीका परिचय देती है—

अवधनृपति दशरथके जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये॥
समुझि परी मोहिं उनके करनी। रहित निसाचर करिहैं धरनी॥
जिन्हकै भुजबल पाइ दसानन। अभय भये विचरहिं मुनि कानन॥
देखत बालक काल समाना। परम धीर धन्वी गुण नाना॥
अतुलित बल प्रताप दोउ भ्राता। खलबधरत सुर-मुनि सुखदाता॥

शूर्पणखाने उपर्युक्त रेखांकित पदोंके द्वारा किसप्रकार [illegible] इस अव[illegible]र[illegible]को स्पष्टतः कहा है—

जब जब होइ धर्मकी हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

यह बातें सुनकर रावणका संकल्प और दृढ़ होने लगा, उसने विचारा कि,—

सुर नर असुर नाग खग माँहीं। मोरे अनुचर कहँ कोउ नाहीं॥
खरदूषण मो सम बलवन्ता। तिनहिं को मारे बिनु भगवन्ता॥

और यदि देवताओंको आनन्द प्रदान करनेवाले, पृथ्वीका भार हरण करनेवाले प्रभुने अवतार लिया है तो मैं हठपूर्वक उनसे वैर करूँगा तथा उनके शरोंसे प्राण त्यागकर संसाररूपी समुद्रसे तर जाऊँगा। तामस शरीर-से भजन होना दुष्कर है, इसलिये मन, कर्म, वचनसे मैं यह दृढ़ संकल्प करता हूँ —

सुररंजन भंजन महिभारा। जो भगवन्त लीन्ह अवतारा॥
तउ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु शर प्राण तजे भव तरऊँ॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मन्त्र दृढ़ एहा॥

इससे स्पष्ट है कि रावण अवतारवादको मानता था। परन्तु वह संशयवादी था इसीलिये उसका यह भी विचार था कि—

जो नररूप भूपसुत दोऊ। हरिहौं नारि जीति रण दोऊ॥

तथापि महाविद्वान् और नीतिमान् होनेके कारण अपने कल्याणकी प्राप्तिके लिये उसने जो दृढ़ संकल्प किया था उससे वह कदापि नहीं विचलित हुआ, यद्यपि उसे विचलित करनेवाले अनेक प्रसंग उपस्थित हुए। आगे कतिपय संवादोंके द्वारा इस बातको स्पष्ट किया जाता है—

१—मारीच-रावण-संवाद

तउ मैं जाइ बैर हठि करऊँ। प्रभु शर प्राण तजे भव तरऊँ॥

—इस विचारके अनुसार रावण अपने मामा मारीचके पास गया और उससे अपना सारा वृत्तान्त सुनाकर बोला कि—

होहु कपटमृग तुम छलकारी। जेहि विधि हरि आनौं नृपनारी॥

इसपर मारीचने उसे नाना प्रकारसे समझाया—

तेहि पुनि कहा सुनहु दशशीशा। ते नररूप चराचर-ईशा॥
मुनिमख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहिं मारा॥
सतयोजन आयउँ छन माहीं। तिन्हसन वैर किये भल नाहीं॥
भइ मम कीट भृंगकी नाईं। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई॥
जो नर तात तदपि अति शूरा। तिनहिं विरोध न आइहि पूरा॥

जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ हर कोदण्ड।
खरदूषण त्रिशिरा हतेउ मनुज कि अस बरिबण्ड॥

इस प्रकार युक्तिपूर्ण वाक्योंद्वारा मारीचके समझानेपर रावणने इनका कुछ यथेष्ट उत्तर न देकर इसप्रकार उसे फटकार बतायी—

गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को योधा॥

इससे स्पष्ट है कि रावणने अपने कल्याण-पथके लिये जो दृढ़ संकल्प किया था उससे वह जरा भी हटना नहीं चाहता, यही कारण है कि मारीचके उपदेशकी उसने इसप्रकार अवहेलना कर दी।

कुछ लोगोंका मत है कि रावणने विचार किया था कि, 'यदि भगवान्‌ने नर-रूपमें अवतार लिया होगा तो रण ठान करके उनके बाणोंसे प्राण त्यागकर भवसागरसे पार होऊँगा, और यदि अवतार न होकर वे राजकुमार होंगे तो उन्हें रणमें जीतकर उनकी स्त्रीको हर लाऊँगा। और इसी विचारकी परीक्षा करनेके लिये ही उसने मारीचसे कपटमृग बननेके लिये अनुरोध किया, इसमें उसका तात्पर्य यह था कि 'यदि अन्तर्यामी भगवान् नररूपमें होंगे तो मायाको जान लेंगे, और यदि वह माया-मृगको न जान सके तो मैं समझ लूँगा कि वे नर ही हैं।' इसप्रकार जब मारीचको उसने कपट-मृग बनाकर भेजा और भगवान् उसके पीछे उसे मारनेके लिये दौड़े तो उसको निश्चय हो गया कि यह अन्तर्यामी भगवान् नहीं वल्कि साधारण मनुष्य हैं। इसके बाद वह आजन्म उन्हें मनुष्य ही मानता रहा। यही कारण है कि उसने किसीके उपदेशपर ध्यान नहीं दिया।' परन्तु यह मत ठीक नहीं है। इस मतका खण्डन इसी मारीच-वधके प्रसङ्गसे हो जाता है। जब श्रीरामचन्द्रजी माया-मृगके पीछे दूरतक चले गये और कुछ देरके बाद लक्ष्मण भी उनकी खोजमें निकले तो सूना पाकर रावण उनकी पर्णकुटीके समीप यतीके वेषमें आया और नीति-प्रीति तथा भय दिखाते हुए अनेक प्रकारकी बातें सीताजीसे कहने लगा; जिन्हें सुनकर—

कह सीता सुनु यती गोसाईं। बोलेहु बचन दुष्टकी नाईं॥

तब उसने अपना भयङ्कर रूप दिखलाया। जिससे सीताजीने इसप्रकार परुष-शब्दोंमें उससे कहा—

कह सीता धरि धीरज गाढ़ा। आइ गयउ प्रभु खल रहु ठाढ़ा॥
जिमि हरि बधुहिं क्षुद्र शश चाहा। भयेसि कालवश निशिचरनाहा॥

उनके इन शब्दोंको सुनकर रावण क्रोधित हुआ और मन-ही-मन उसने उनके चरणोंकी वन्दना कर अत्यन्त सुखानुभव किया।

रावणके इस भावसे सारा भेद खुल जाता है। वह अपने दृढ़ सङ्कल्पके अनुसार वैरभावके सँभालनेके लिये बाहरसे क्रोधित (रिसाना) होता है, तथा अपने आन्तरिक निश्चयके द्वारा श्रीसीताजीको जगज्जननी जानकर उनके 'चरणोंकी वन्दना' करता है, एवं भगवान्‌की इस आह्लादिनी पराशक्तिके आश्रयसे आज मेरे कल्याणका द्वार खुलता है ऐसा विचारकर वह 'आनन्दित होता है।'

२—हनुमान्-रावण-संवाद

अशोकवाटिकाके उजाड़नेपर जब मेघनाद श्रीहनुमान्‌जीको नागफाँसमें बाँधकर रावणकी सभामें ले गया तो उन्होंने रावणसे इसप्रकार बातें कीं—

विनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥
देखहु तुम निजकुलहि विचारी। भ्रम तजि भजहु भक्तभयहारी॥
जाके डर अति काल डेराई। जे सुर असुर चराचर खाई॥
तासों वैर कबहुँ नहिं कीजै। मोरे कहे जानकी दीजै॥
रामचरण-पंकज उर धरहू। लंका अचल राज तुम करहू॥
रामविमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सुनु दसकण्ठ कहौं प्रन रोपी। रामविमुख त्राता नहिं कोपी॥
शंकर सहस विष्णु अज तोही। सकहिं न राखि रामकर द्रोही॥

मोहमूल बहुशूलप्रद त्यागहु तुम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिन्धु भगवान॥

इसप्रकार श्रीहनुमान्‌जीके युक्तिपूर्ण उपदेशोंको सुनकर रावणने उनका कुछ भी विचार न कर इसप्रकार उन्हें सूखा उत्तर दिया—

× × × मिला हमहिं कपि बड़ गुरु ज्ञानी॥
मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोही॥

इस उत्तरसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि रावणका जो

अपना निश्चित सङ्कल्प था उसके विपरीत वह एक शब्द भी किसीका नहीं सुनना चाहता था।

३–विभीषण रावण संवाद

विभीषण रावणको इसप्रकार समझाते हैं—

जो आपन चाहौ कल्याना। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजौ चौथचन्दाकी नाईं॥
चौदह भुवन एक पति होई। भूत द्रोह तिष्टै नहिं सोई॥
गुणसागर नागर नर जोऊ। अल्प लोभ भल कहे न काऊ॥

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पन्थ।
सब परिहरि रघुबीर ही भजहु भजहिं जेहि सन्त॥

तात राम नहिं नर-भूपाला। भुवनेश्वर कालहुके काला॥

और जब माल्यवन्तने भी इन्हीं युक्तिपूर्ण वाक्योंका अनुमोदन करते हुए कहा कि—

तात अनुज तब नीति विभूषण। सो उर धरहु जो कहत विभीषण॥

तब रावण बिगड उठता है और इसप्रकार उन्हें फटकारता है—

रिपु उत्कर्ष कहत शठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ ते कोऊ॥

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि रावण ऐसा नासमझ नहीं था कि विभीषणके वेद, शास्त्र, पुराणसम्मत वचनोंको समझने और उनपर विचार करनेमें ही असमर्थ हो, बल्कि बात यह थी कि अपने सङ्कल्पमें दृढ रहनेके कारण वह सद्-उपदेश देनेवालेका भी सदा निरादर करता रहा। जब विभीषणने अपनी युक्ति और नीतिको सफल होते नहीं देखा तब प्रीति और ममत्वरूपी अस्त्रका प्रयोग किया, क्योंकि युक्ति और प्रमाणोंकी अपेक्षा प्रीति और ममत्वपूर्ण वचनोंका अधिक प्रभाव पडता है। परन्तु रावण अपने दृढ सङ्कल्पसे विचलित होनेवाला नहीं था, इसलिये जब विभीषणके मुखसे यह कहते हुए सुना कि—

'तात चरण गहि मागौं राखहु मोर दुलार।'

तो उसने अपने कल्याण पथमें उन्हें बाधक समझकर दूर हटाना ही उचित समझा, इसीसे—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ ताहि कहु नीती।

—इसप्रकार कटुवचन कहकर उनपर चरण-प्रहार किया। क्योंकि विभीषणके समीप रहनेसे सम्भव था कि उनके प्रीति और ममत्वपूर्ण वचनोंसे प्रभावित होकर वह अपने कल्याण पथसे हट जाय। इसप्रकार विभीषणके संवादसे भी उसके अपने कल्याणके पथके सङ्कल्पकी दृढता सूचित होती है।

४–गुप्तचर-रावण संवाद

विभीषणके प्रभुके शरणमें जानेके पश्चात् रावणने अपने दूत श्रीरामजीकी सेनाको देखनेके लिये भेजे। वे दूत लक्ष्मणजीका पत्र लेकर रावणकी सभामें लौट आये तथा उन्होंने रावणको श्रीरामचन्द्रजीके शरणमें जानेके लिये भाँति-भाँतिसे समझाया। वहाँ रावण और दूतोंके बीच जो वार्तालाप हुआ है वह बडे ही मार्केका है। रावण पूछता है—

कहु तपसिन्हकै बात बहोरी। जिन्हके हृदय त्रास बड़ि मोरी॥
की भइ भेंट कि फिरि गये, श्रवण सुजश सुनि मोर॥

यहाँ सज्जन वृन्द विचार कर सकते हैं कि रावणकी यह बात दूतोंको ठगना नहीं तो और क्या है? क्योंकि उसने श्रीरामको अपनेसे ग्रसित कब देखा है, पुन जब दूत श्रीरामचन्द्रजीके उत्कर्षोंका वर्णन करने लगे।

सक शर एक सोखि शत सागर। तव भ्रातहिं पूछेउ नयनागर॥
तासु वचन सुनि सागर पाहीं। माँगत पथ कृपा मनमाहीं॥

तो रावण तत्काल 'सक शर एक सोखि शत सागर,' 'नयनागर' तथा 'कृपा मनमाहीं' इन प्रभुके ऐश्वर्य-सूचक वचनोंको अनसुना करके केवल 'माँगत पथ' पदको लेकर हँस उठा—

सुनत वचन बिहँसा दससीशा। जौ अस मति सहाय कृतकीशा॥
सहज भीरु कर वचन दृढाई। सागरसन ठानी मचलाई॥

यहाँ रावणकी चतुरतापूर्वक दूतोंको बहला देनेकी चेष्टा स्पष्ट है।

५–अंगद रावण संवाद

अगद रावणसे संवाद करते समय प्रारम्भसे ही प्रभुके अद्भुत ऐश्वर्यका बखान करते हुए उसे उपदेश देने लगे, पर वह प्रभुके ऐश्वर्य सूचक वाक्योंका कुछ भी खयाल

न कर अंगदके व्यक्तित्वपर आक्षेप करते हुए उसका उपहास करने लगा। जैसे—

कहु निज नाम जनककर भाई। केहि नाते मानिये मिताई॥

परन्तु अंगदने उसकी वार्तोका युक्तिपूर्वक उत्तर देते हुए उसे निरुत्तर कर दिया। तथा—

सुनु रावण परिहरि चतुराई। भजसि न कृपासिन्धु रघुराई॥

—इत्यादि वाक्योंद्वारा उपदेश करने लगे। परन्तु रावणने जब देखा कि अंगद अपनी चतुराईसे उसके कल्याण-पथमें बाधक होना चाहता है तो उसने इस-प्रकार अंगदको फटकार बतलायी—

शठ शाखामृग जोरि सहाई। बाँधा सिन्धु यहै प्रभुताई॥
लाँघहि खग अनेक वारीशा। शूर न होहिं ते सब सुनु कीशा॥

× × × ×

जो पै समर सुभट तव नाथा। पुनि पुनि कहसि जासु गुणगाथा॥
तौ बसीठ पठवत केहि काजा। रिपुसन प्रीति करत नहिं लाजा॥

इन उत्तेजनापूर्ण शब्दोंके द्वारा स्पष्ट ज्ञात होता है कि रावण सन्धि नहीं करना चाहता था। परन्तु इतनेपर भी अंगद उसे समझा-बुझाकर रास्तेपर लानेकी चेष्टा करते हैं। जैसे—

दशमुख मैं न बसीठी आयउ। अस विचारि रघुवीर पठायउ॥
बार बार अस कहहिं कृपाला। नहिं गजारि यश बधे शृगाला॥

इसप्रकार अंगदको बढ़ते हुए देखकर तथा अपने उद्देश्यकी सफलतामें प्रबल विघ्नरूप समझकर रावणने खुले शब्दोंमें प्रभुकी निन्दा की—

कटु जलपसि जड़ कपि बल जाके। बल-प्रताप बुधि तेज न ताके॥

अगुन अमान जानि तेहि, दीन्ह पिता बनवास।
सो दुख अरु युवती विरह, पुनि निशिदिन मम त्रास॥
जिनके बलकर गर्ब तोहिं, ऐसे मनुज अनेक।
खाहिं निसाचर दिवसनिशि, मूढ़ समुझि तजि टेक॥

इस निन्दासे राक्षसराजका अभिप्राय अंगदके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीको युद्धके लिये उत्तेजित करनेका था, क्योंकि युद्धके द्वारा ही उसको अभीष्ट कल्याण-पदकी प्राप्ति होनी थी। इस प्रसंगमें रावणके समस्त प्रत्युत्तरोंको देखनेसे उसकी संकल्पदृढ़ता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है।

६—मन्दोदरी-रावण-संवाद

पहली बार जब महलमें मन्दोदरीने रावणको समझाते हुए कहा कि—

कन्त कर्ष हरिसन परिहरहू। मोर कहा अति हित चित धरहू॥
समुझत जासु दूतकै करनी। गर्भ स्रवहिं रजनीचर-वरनी॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हे। हित न तुम्हार शंभु अज कीन्हे॥

तब उसकी इन युक्ति और प्रमाण-संगत बातोंको अनसुनी करके रावण हँसता हुआ बोला—

सभय सुभाव नारिकर साँचा। मंगलमहँ भय मन अति काँचा॥
जो आवै मर्कट कटकाई। जियहि बिचारे निश्चर खाई॥
कंपहि लोकप जाकी त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा॥

यहाँ पाठक विचार कर सकते हैं कि हनूमान् नामक बन्दरको खानेका किसीका साहस न हुआ, सारी लङ्का जल गयी, चारों ओर हाहाकार मच गया, सब निशिचर त्राहि-त्राहि करने लगे। तथापि रावणका यह कहना कि 'जो आवै मर्कट कटकाई। जियहि बिचारे निश्चर खाई॥' क्या कभी यथार्थ हो सकता है? कदापि नहीं। बात असल यह है कि रावणका इसप्रकारके उपदेशोंको जैसे हो टालकर अपने निश्चित संकल्पपर दृढ़ रहना ही एकमात्र लक्ष्य था।

श्रीरामचन्द्रजीके सेनासहित समुद्रपार करनेके बाद दूसरी बार मन्दोदरीने रावणको अपने भवनमें ले जाकर पुनः प्रार्थना करते हुए इसप्रकार कहा—

नाथ बैर कीजै ताही सों। बुधिबल सकिय जीति जाही सों॥
तुमहिं रघुपतिहिं अन्तर कैसा। खलु खद्योत दिवाकर जैसा॥
अतिबल मधुकैटभ जेहि मारे। महावीर दितिसुत संहारे॥
जेहि बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरण महि भारा॥
तासु विरोध न कीजिय नाथा। कालकर्म जिव जाके हाथा॥

यहाँ ध्यान देनेकी बात यह है कि इस प्रसंगमें मन्दोदरीने श्रीरामचन्द्रजीको साक्षात् भगवान् सूचित करनेमें कोई कसर नहीं उठा रक्खी है। मन्दोदरीके 'सोइ अवतरेउ हरण महि भारा' से रावणके 'सुररंजन भंजन महि भारा। जो भगवन्त लीन्ह अवतारा॥' की कैसी पुष्टि होती है? तथापि वह इसपर विचार न करके मन्दोदरीकी बातोंमें बहला देता है और कहता है—

सुन तैं प्रिया वृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना॥

वरुन कुबेर पवन यम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥
देव दनुज नर सब बस मोरे। कौन हेतु उपजा भय तोरे॥

इस प्रसंगसे स्पष्ट हो जाता है कि मन्दोदरीके इस कथनका, कि श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान्के अवतार हैं, रावण कुछ भी उत्तर नहीं देता है, क्योंकि उसे तो इसमें दृढ निश्चय हो ही गया था। हाँ, मन्दोदरीके हृदयमें श्रीरामजीके साथ युद्ध करनेके परिणामका जो भय उत्पन्न हो गया था उसको दूर करनेके लिये वह अपनी वीरताकी डींग हाँकता है। इससे उसके आन्तरिक संकल्पकी दृढता स्पष्ट सूचित होती है।

रावणके इस संकल्पके विषयमें कुछ लोग यह शंका किया करते हैं कि मायामृगके पीछे भगवान्को दौड़ते देखकर रावणको यह दृढ निश्चय हो गया था कि वह भगवान्के अवतार नहीं, बल्कि साधारण राजकुमार हैं इसी कारण उससे जब-जब जिस-जिसने श्रीरामचन्द्रजीको भगवान्का अवतार कहकर उसे उनसे युद्ध न करके उनके शरणमें जानेका उपदेश दिया है तब-तब उन लोगोंकी बातोंको उसने अज्ञानतामूलक समझकर उनकी उपेक्षा की है तथा उनकी धारणाओंका उपहास किया है। परन्तु निम्नाङ्कित प्रसंगोंमें स्वयं रावणकी आन्तरिक अवस्थापर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वह श्रीरामचन्द्रजीको साक्षात् भगवान्का अवतार समझता था।

१—सीताहरणके प्रसंगमें

क्रोधवन्त तब रावण, लीन्हेसि रथ बैठाय।
चला गगन पथ आतुर, भय रथ हाँकि न जाय॥

२—जटायु-युद्धके प्रसंगमें

सीतहिं यान चढ़ाइ बहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥

३—दूत-प्रसंगमें

सुनत सभय मन मुख मुसकाई। कहत दशानन सबहिं सुनाई॥

४—सेतुबन्धका समाचार सुनकर

सुनत श्रवण बारिधि बंधाना। दशमुख बोलि उठा अकुलाना॥
निज बिकलता बिचारि बहोरी। बिहँसि गयउ गृह करि भयभोरी॥

उपर्युक्त रेखांकित पदोंसे स्पष्ट सूचित होता है कि यदि रावण श्रीरामचन्द्रजीको भगवान्का साक्षात् अवतार न समझता होता तो केवल उन्हें मनुष्यमात्र समझकर उसके हृदयमें इसप्रकारकी भय या व्याकुलता कदापि नहीं होती। जिस रावणके विषयमें कहा जाता है कि—

कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दशमुख बशवर्ती नरनारी॥
आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहिं आय नित चरण बिनीता॥

वह रावण किसी मनुष्यसे भयभीत हो, ऐसा अनुमान करना भी गलत है।

इसप्रकार रामायणमें अनेक प्रसंग आते हैं जिनके मार्मिक रहस्यपर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि रावण वैरभावसे सदा भगवान्का स्मरण करता था और अपने कल्याणके लिये उसने यह दृढ संकल्प कर लिया था कि—

× × × 'प्रभु शर प्राण तजे भव तरऊँ॥'
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मन्त्र दृढ एहा॥

—सम्बन्धाभिमानी एक पतित

संसारकी नश्वरता

मिटा दीं उसने हजारों शक्लें, बना बनाकर टिका टिकाकर।
हँसीं लबूखा लैहदमें डालें, हैं माहसे बढकर दिखा दिखाकर॥
किसीको रंजो-मुहनमें डाला, किसीको दर्दो खुशी दिखाला।
किसीको वजदे जनूँमें टाला, है जेहलकी मै पिला पिलाकर॥

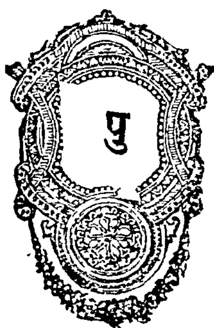
है ज़ोम दौलतका याँ किसीको, है हुस्नका ज़ोम याँ किसीको।
बनाया मदहोश उसने आलम, है नग़में सदहा सुना सुनाकर॥
हो शाह या हो गदा हो कोई, हो ग़ममें या हो ख़ुशीमें कोई।
किया तहे-ख़ाक सबको उसने, हँसा हँसाकर रुला रुलाकर॥

तमाशागाह है यह दुनियाँ तालिब, जेहलका पर्दा है सबपै गालिब।
तमाशा ख़ुद हैं यह जुमला क़ालिब, जो मोहमें डाले फँसा फँसाकर॥

—नृसिंहदास वर्मा, 'तालिब'

परीक्षितका सर्प

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल०बी०)



पुराणोंकी कथा है कि राजा परीक्षितने अज्ञानवश तक्षक नामका एक सर्प शमीक ऋषिके गलेमें डाल दिया था। ऋषिके शापसे उसी तक्षकने सात दिन या सप्ताहके भीतर ही परीक्षितको डसकर उसके जीवनका अन्त कर डाला। परीक्षितने जिस समय ऋषिके शापका समाचार सुना, वह बहुत घबरा गया। अपनी आयुको सात ही दिनमें समाप्य जानकर उसके मनमें विषयोंसे वैराग्य हो गया। परीक्षितकी अनुभूति मृत्युके विषयमें इतनी तीव्र हो उठी कि फिर उसका चित्त सांसारिक भोगोंसे एकदम विरक्त हो गया। वह सात ही दिनमें कुछ परलोक सुधार लेनेकी आकाङ्क्षासे योगस्थ हो गंगाके किनारे आसन मारकर बैठ गया। देशके नृपतिको इसप्रकार साम्परायिक विचारमें लीन जानकर ज्ञानमार्गमें निष्णात ऋषि और विरक्त लोग गंगा-तटपर एकत्र होने लगे। उसी समय परम योगीश्वर विरक्त महात्मा शुक भी उस ऋषि-सभामें जा पहुँचे। उनको देखकर वह परिषत् सम्मानपूर्वक उठ खड़ी हुई। फिर श्रीशुकदेवजीके बैठनेपर सब लोगोंने यथावत् आसन ग्रहण किया। ऋषियोंने कहा—'हे परीक्षित! तेरा बड़ा सौभाग्य है, जो परम तपस्वी और विरागी श्रीशुकदेवजीका इस समय यहाँ आगमन हुआ। इनके उपदेशसे तेरा परम कल्याण होगा।'

यह जानकर परीक्षितने हाथ जोड़कर विनय की—'महाराज, मुझे अब केवल सात ही दिनमें मृत्युके मुखमें चले जाना है। किसप्रकार मेरा निस्तार होगा, सो कृपाकर कहिये।' उत्तरमें श्रीशुकदेवजीने कहा—हे परीक्षित! ज्ञान तो एक क्षणमें ही होना सम्भव है। पहले कभी इतिहासमें राजा खट्वांगकी दो ही घड़ीमें मुक्ति हो गयी थी, तुम्हारे लिये तो सात दिन बहुत है। इतना कहकर शुकदेवजी परम पुरुष नारायणके जो पिण्ड और ब्रह्माण्डका धारण करनेवाला है और जो वामनरूपसे सबमें रमा हुआ है, चरितोंका निर्वचन करने लगे और उस अध्यात्म-चर्चासे परीक्षितका चित्त इसप्रकार समाधिमान हो गया कि सात दिनके अन्तमें उसने कहा कि यदि तक्षक मुझे अभी डस ले और इसी क्षण मुझे देहसे विलग होना पड़े तो भी मुझे खेद नहीं होगा। मेरा अब वह पूर्व देहाभिमान विगलित हो गया है। मेरा अनुभव देहीके देह त्यागनेमें इसप्रकार है जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचाको त्यागकर पृथक् हो रहता है—

अहिर्हि जीर्णामतिसर्पति त्वचम्। (तै० ब्रा०)

इस मनोहर कथाका तात्पर्य क्या है? जिस विद्वान् लेखकने इस रमणीय कथाके सम्पुटमें अपने भव्य ग्रन्थको निबद्ध किया है, उसीने अपने अन्तिम अध्यायमें इसका विवरण इसप्रकार दिया है। काल ही वह तक्षक सर्प है जो हममेंसे प्रत्येकके गले पड़ा हुआ है। जिसका देहाभिमान मिट गया है उसका तक्षक कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिसका देहाभिमान अभी बाकी है, उसीको तक्षकका भय बना हुआ है। काल सब भूतोंको पचानेवाला है। यही यहाँ तत्त्ववार्ता है। जितने समाचार महत्त्वके दिन-रातके मध्यमें प्रकट होते हैं, उनमें यही समाचार प्राणियोंके लिये सबसे अधिक महत्त्व रखता है—

प्रकृति-नटीका नव नृत्य क्षण-क्षणमें
　　यंत्रारूढ प्राणियोंको मायासे नचा रहा।
मोहके कटाहमें रात्रिन्दिव इन्धनसे
　　उग्र काल भूतोंको सत्यसम पचा रहा॥

सबके जीवनको क्रम-क्रमसे रन्दनेवाला परम तक्षा यह तक्षक काल है। इसके तक्षणसे कोई मुक्त नहीं। परन्तु जिनका देहाभास मिट चुका है, वे इस तक्षणसे विचलित नहीं होते। जो देहको ही सर्वस्व मानकर भूले हुए हैं उनको तक्षकका स्मरण-मात्र भी कँपा देता है। इस महातक्षाका रन्दा एक सप्ताह है। इन सात दिनोंकी आवृत्ति पुनः-पुनः होती है। सप्ताहरूपी रन्दे या बसूलेसे तक्षक काल सबकी जीवनावधिको निरन्तर घड़ रहा है। तक्षक-का धर्म ही सर्पणशील है। तक्षक काल कभी खड़ा नहीं होता। सूर्यके रथकी नेमिके समान तक्षक सर्प संतत सर्पण करता रहता है। जिस-प्रकार सूर्यकी रथ नेमि कभी नहीं रिसती [क्योंकि वह अरिष्टनेमि है] वैसे ही सबको जीर्ण करके मृत्युमुखमें भेजनेवाला तक्षक स्वयं कभी जराग्रस्त नहीं होता। वह निमेषरूपसे स्वल्प है, कल्परूपसे महान् है। वह महाशेषरूपसे सबको ग्रस लेता है। असंख्य त्रिपाद्विभूति देवता इस तक्षक महाशेषकी कुक्षिमें न जाने कहाँ पच जाते हैं। यदि हम अनन्त कालतक अथवा लोमशकी आयुतक कल्पके ऊपर कल्पकी गणना करते चले जायँ तो भी तक्षक कालका पारावार नहीं पा सकते।

परीक्षित स्वयं देहमोहमें ग्रस्त था। वह भ्रमसे तक्षकको उस ऋषिके गलेमें पड़ा हुआ समझता है जो ध्यान और तपसे तक्षकके भयसे अतीत हो चुका था। ऋषि तक्षक कालका पात्र नहीं, उसने तो 'वासांसि जीर्णानि' मन्त्रका साक्षात् कर लिया है।, तक्षकका पात्र तो परीक्षित ही है। वह जड़ाभिमानग्रस्त है। अतएव सर्प उलटकर उसीको डसनेका आयोजन करता है। ऋषिके गलेमें जो तक्षक मृत है राजाके गलेमें वही जीवित होकर पड़ा है। इस आशीविषीसे बचना परीक्षितके लिये अशक्य है। सारा राज्य, वैभव, प्रलयंकरी सेनाएँ उसकी रक्षा नहीं कर सकतीं। गूढातिगूढ राजभवन जिनमें भयका समस्त कौशल समाप्त हो गया हो, तक्षकके दंशसे परीक्षित-को नहीं बचा सकते। परीक्षितकी जन्मपत्रीमें ही ऐसे अङ्क पड़े हैं, तो आस्तीकका भैषज्योपचार क्या काम दे सकता है? भय, आस्तीक और परीक्षित—कोई भी ब्रह्माके विधानको नहीं मेट सकता। जो कच्चा दूध पीकर उतरा है, उसे एक दिन अवश्य ही चिता-भस्मका अंगराग लगाना पड़ेगा।

फिर बेचारे परीक्षितके लिये क्या उपाय है? उसके त्राणकी बस एक ही गति है अर्थात् तक्षकके अवश्यम्भावी दंशसे पहले ही परीक्षितको ज्ञानका हो जाना। विषयोंसे वैराग्य, नारायणमें भक्ति, आत्माका ज्ञान, सबका फल एक ही है—

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा॥

बिना देहाभिमानसे मुक्त हुए काल-सर्पका भय बना ही रहेगा—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

ज्ञान कितनी देरमें होता है? कितनी बार राम कहनेसे मुक्ति मिलती है? ये प्रश्न अज्ञानजनित हैं। परमार्थ वस्तु कालसंख्यासे अतीत है। उसकी उपलब्धिमें काल और संख्या बाधक नहीं है। परीक्षितने समझा—मेरे लिये सात दिन थोड़े हैं। शुकदेवने कहा—सात दिन तो बहुत होते हैं, ज्ञान तो क्षणभरमें सम्भव है। ज्ञान एक ज्योति है, उसके प्रकाशके लिये समयकी अपेक्षा नहीं। जिस क्षण मन विषयोंसे विरक्त हो जाता है और इन्द्रियाँ अन्त-र्मुखी हो जाती हैं, प्रकाश झलकने लगता है। आवरणका नाश ही प्रकाशका दर्शन है। इसके लिये साधन काम देते हैं, पर एक हदतक ही। उससे आगे ज्ञान-साधन स्वतन्त्र है। तभी तो उपनिषदोंमें कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

आत्मा जिसका वरण करती है, उसको ही अपना रूप दिखा देती है। यह एक स्वयंवर है। आत्मा ही इसमें वर है—

आत्मा हि वरः (तैत्ति० ३।१२।५।७)

ज्ञानकी गति शुकगति है। शुकके उड़ानकी भाँति ज्ञान किधरसे आया, किधरको गया, इसका कोई निशान रास्तेमें नहीं देख पड़ता। परमात्माकी अपार दयासे विरक्त मन जब समाधियुक्त हो जाय, तभी मानो सब व्याधियोंमें प्रबल कालसर्पकी व्याधिसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

ईश्वर-प्राप्तिकी शर्तें

(लेखक—रेवरेण्ड श्रीजार्ज चेनी महोदय, कैलिफोर्निया)



जगत्का धर्मानुकूल शासन करनेवाला सिद्ध पुरुष या सिद्धान्त कभी ईश्वरविहीन नहीं हो सकता। उसकी स्थिति अवश्य ही ईश्वरमें होगी। जिस समय हमारी ईश्वर-प्राप्तिकी दीर्घकालीन साधना समाप्त होगी, उस समय हमें यह ज्ञात हो जायगा कि जीवके अन्दर भी ईश्वरका ही पूर्णतया निवास है। उस समय प्रत्यक्ष या व्यक्तके साथ शाश्वत और केवलका—अव्यक्तका सान्निध्य प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा। उस समय परमात्माके साथ ही हमें अपने आत्मा और उसके अमरत्वका प्रत्यक्ष हो जायगा।

हमारे सनातन जीवनका मधुरातिमधुर आनन्द इसीमें है कि हमारी आत्मा सजातीय वस्तुके साथ प्रेम करे और बदलेमें उसका प्रेम प्राप्त करे, हम ईश्वरके साथ बुद्धि और विवेकसे युक्त सम्बन्ध स्थापित करें। इस द्वैतके बिना हमारा अद्वैतसे किसी प्रकार भी चिरकालतक समाधान नहीं हो सकता। आत्मा और परमात्माके एक हो जानेका अर्थ यह नहीं मानना चाहिये कि दोनोंकी सत्ता ही नहीं रहती, बल्कि यह मानना चाहिये कि उनके बीच समस्त विरोधी भावोंका नाश हो जाता है। पुरुष और स्त्रीके सच्चे प्रेमको दोनोंका एक हो जाना कहते हैं, परन्तु उनकी इस एकदिलीका आनन्द तबतक पूरा नहीं आ सकता, जबतक उन्हें अपने पृथक् अस्तित्वका स्मरण न हो। अतः उन सारे दार्शनिक सिद्धान्तोंका, जो जीव और ईश्वरमें कोई भेद नहीं मानते और इसप्रकार दोके परस्पर मिलनके आनन्दका निषेध करते हैं, परिणाम निराशा ही होता है। जब हम पूर्णताकी उस सर्वोच्च अवस्थापर पहुँच जायँगे, जहाँतक जीवकी गम्य है, तब हम देखेंगे कि हमारी स्थिति परमात्माके अन्दर हो गयी है और हम उसके प्रेम-मन्दिरके प्रेमी और सौम्य पुजारी बन गये हैं। फिर चाहे वह प्रेम-मन्दिर हमारे हृदयमें ही हमारे इस व्यक्त जीवनमें, हमारे बुद्धि एवं विवेकपूर्ण प्रत्यक्षानुभवमें क्यों न हो। हमारे अन्दर छिपा हुआ परमात्मा उस समय हमारे लिये उतना ही वास्तविक होगा, जितना उन अनेकों रूपोंका आधार है जिनके द्वारा परमात्माके अन्तरतम विचारों और प्रेमकी अभिव्यक्ति होती है।

दीर्घकालतक व्यक्त स्वरूपका आनन्द लूटनेपर अव्यक्त स्वरूपकी अन्तिम अभिव्यक्ति होती है। एक-दो सालमें ही परमात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। चेतनाके अन्तरतम प्रदेशमें परमात्माको प्राप्त

करने एवं विशेषरूपसे जाननेका यह प्रयत्न अत्यन्त महान् और निरवधि प्रतीत होता है। साधनकालमें कई बार हमें निराशाका सामना करना पड़ेगा। परन्तु घबराना नहीं चाहिये। अवश्य ही यह एक प्रकारसे अमृतके लिये क्षीरसागरका मथन करना है, जिसको पूरा करते-करते देवता हार गये थे। दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धापूर्वक साधना करते रहनेसे ईश्वरका स्वरूप समझमें आता है। यही कारण है कि ज्ञानके देवता Joshua को Nun अर्थात् 'सतत प्रयत्न' का पुत्र बतलाया गया है। इसीलिये यूनान-देशीय ज्ञानके देवता Mercury (बुध) ने देवताओं और मनुष्यों-को वशमें करनेके लिये मन्थरगति पहाड़ी-कछुएकी ढालसे एक सारंगी बनायी थी। इस दृश्यमान जगत्के अन्दर नववधूकी भाँति छिपकर रहनेवाले उस छलिया-के मुखपरसे मायारूप घूँघटको हटानेके लिये मनुष्यको उतने ही अध्यवसाय और धैर्यकी आवश्यकता है, जितनी समुद्र-गर्भसे मोती निकालनेमें अथवा किसी दुर्गम पर्वतकी चोटीसे बूटी लानेके लिये अपेक्षित है। ईश्वरके विषयमें यह उपदेश समयरूपी सुन्दर हारमें पिरोनेके लिये अन्तिम मोती है अथवा ईश्वरकी कृपारूपी मनोहर गजरेमें गूँथनेके लिये अन्तिम पुष्प है।

ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये जिस प्रेमकी आवश्यकता है, वह प्रेम सबके प्रति होना चाहिये। वही चित्त ईश्वरके चित्तको समझ सकता है, जो स्वतन्त्र एवं उदार हो और जो मानवीय विचारके विभिन्न रूपों एवं अवस्थाओंसे सहानुभूति रखता हो। मत-मतान्तरोंके द्वारा ईश्वरकी संकेतपूर्ण भाषा समझमें नहीं आ सकती। मनुष्यके साथ मनुष्यके बीचमें अन्तर डालनेवाले बचे-खुचे प्रतिबन्धकोंको हटा देना पड़ेगा और जगत्के सीमारहित क्षेत्रपर निर्द्वन्द्व और निःस्पृह होकर विचरना होगा, तब कहीं हमें अव्यक्त परमात्माके पदचिह्न दीख पड़ेंगे।

इस परमात्माका न तो केवल विज्ञान (Science) से पता लग सकता है और न निरे धर्म (Religion) से। बल्कि सत्य-धर्मसे युक्त विज्ञान और सच्चे विज्ञान तथा सत्यका अनुसरण करनेवाले धर्मके द्वारा ही उसकी प्राप्ति हो सकती है।.......जिनका अन्तः-करण पवित्र है, वे ही उस पवित्रतमका दर्शन कर सकते हैं, जो सत्यवादी हैं, वे ही उस सत्यस्वरूप-की झाँकी पा सकते हैं, जिनका हृदय विश्व-प्रेमसे छलक रहा है, वे ही उस परमात्माके दर्शन पा सकते हैं जो अपने व्यापक प्रेमसे दयापर भी दया करनेवाला और शक्तिको भी शक्ति प्रदान करनेवाला है। यद्यपि ईश्वर-प्राप्तिकी यह शर्त बहुत ऊँची है किन्तु यदि इसप्रकारकी योग्यता-सम्पादनकी शर्त सुनकर हमारा उत्साह भंग होता है तो हमें चाहिये कि पहले हम इससे कम कीमतकी समस्त वस्तुओंमें वैराग्य उत्पन्न करें। ईश्वरकी ओर हमारा आकर्षण तबतक चालू रहेगा, जबतक हम इस दृश्यमान जगत्के अन्दर उस अव्यक्त दिव्य गुणसम्पन्न ईश्वरकी खोज और प्राप्ति न कर लेंगे।

तिहारो रूप दरसै

दूजो और सबद सुनाय नहीं काननमें, रसना तिहारे ही गुनन गाय हरसै।
नैन सब ठौर पक तेरिही निहारैं छबि, त्वचाको तिहारो ही परस रस परसै॥
बसी नासिकामें रहै बदन सुबास तेरी, 'द्विजश्याम' सतत मलिन्द मन करसै।
तेरिही मिलन आस लीन्हें श्वास आवै जाय, सारो यह जगत तिहारो रूप दरसै॥

—द्विजश्याम

भक्त-गाथा

भक्त मणिदास माली



श्री जगन्नाथपुरीमें मणिदास नामक एक माली रहता था। फूल और फूलोंकी माला बेचकर मणिदास कुटुम्बका पालन करता था। लोकदृष्टिमें अशिक्षित होनेपर भी मणिदास सच्चा शिक्षित था। सच्चे शिक्षितके दो लक्षण प्रधानतया होते हैं। दीन-दुखी प्राणियोंपर दया करना और पाप छोड़कर भगवान्का भजन करना। भगवान्के दरबारमें वही बड़ा है जो दुष्कर्मोंका त्याग करके भगवत्-स्मरण करता है तथा संसारके सब प्राणियोंको भगवत्का स्वरूप मानकर सबकी निःस्वार्थ सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है, चाहे वह संसारकी दृष्टिमें दरिद्र, तिरस्कृत और पतित ही क्यों न हो। मणिदास अपनी थोड़ी-सी आमदनीका ज्यादा हिस्सा गरीबोंकी सेवामें—भूखे प्राणियोंके पेट भरनेमें लगा देता, बचे-खुचेपर अपना और कुटुम्बका निर्वाह करता और अपने मन और जीभको भगवान्के भजनमें लगाये रखता। इससे वह सभी स्थितियोंमें सुखी रहता; अपना सर्वस्व भगवान्को सौंप देनेवाला निश्चिन्त होकर निश्चित आनन्दका भोग न करे तो दूसरा कौन करे?

कुछ समय बाद दैवकी प्रेरणासे मणिदासके एक-एक करके सभी स्त्री-पुत्रोंका देहान्त हो गया। मणिदास इसे विपत्ति समझकर घबराया नहीं, उसने इसको ईश्वरका आशीर्वाद समझा और इसके लिये ईश्वरका धन्यवाद करता हुआ मन-ही-मन कहने लगा— 'अहा, दयालु प्रभुने बड़ी ही कृपा की, मेरा सारा बोझ हल्का कर दिया। स्त्री-पुत्रोंको अपना मानकर मेरा मन उनमें फँसा रहता था, श्रीहरिने मेरे कल्याणके लिये अपनी चीजोंको वापस ले लिया; हे जगदीश्वर! आपकी दयाको धन्य है, मुझे आपने दुनियाकी गुलामीसे छुड़ा लिया। मैं आजतक विषयोंका दास था, मोह-मदिराके नशेमें परम प्रेममय, परम दया-मय प्रभुकी सेवाको भूल रहा था। आज आपकी अपार कृपासे मुझे कर्तव्यका ज्ञान हो गया। प्रभो! अब आप आशीर्वाद दीजिये जिससे मेरे शेष जीवनका प्रत्येक पल केवल आपकी सेवा और गुण-नाम-संकीर्तनमें बीते।'

क्या सुन्दर भाव है! जो पुरुष या स्त्री जगत्के भोगोंकी—स्त्री-स्वामी, पुत्र-कन्या, धन-वैभव, यश-कीर्त्ति, जीवन-मृत्यु आदिकी प्राप्तिमें उन सब वस्तुओंको प्रभुकी सम्पत्ति समझकर उनपर अपना स्वामित्व या ममत्व न जमाकर ईमानदार और कर्तव्यपरायण सेवककी भाँति उनकी निःस्वार्थ भावसे सेवा और सँभाल करते हैं एवं उन सब पदार्थोंके अपने पाससे चले जानेपर प्रभुकी चीजें प्रभुके पास चली गयीं, अब प्रभुने हमारे लिये जो दूसरा कार्य नियत किया है, वही करना परम धर्म है, ऐसा मान-कर परम सन्तोष और आनन्दके साथ प्रभु-भजन-में संलग्न रहते हुए प्राप्तकर्तव्यका पालन करते हैं, वे ही पुरुष या स्त्री वास्तवमें भक्त कहलाने योग्य हैं। जो सांसारिक विषयोंके प्राप्त होनेपर सुख और उनके चले जानेपर दुःखका अनुभव-कर सुखमें भगवान्को धन्यवाद देते और दुःख-में कोसते हैं, वे सच्चे भक्त नहीं हैं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें भगवान्की अपेक्षा भोगोंका महत्त्व अधिक है।

मणिदासने प्रभुकी प्रेरणा समझकर अपने मन-का प्रभुके स्मरणमें लगा दिया, संसारकी प्रीति और ममताको असार जानकर सबके सार श्रीहरिनामका आश्रय ले लिया। साधुके भेषमें अब मणिदास अपना सारा जीवन भजनमें बिताने लगा। उषाकालमें ही नहा-धोकर भगवान्का ध्यान करनेके उपरान्त मणिदास हाथोंमें करताल लेकर श्रीजगन्नाथजीके सिंहद्वार-पर आकर खड़ा हो जाता और करताल-ध्वनिके साथ अति प्रेमपूर्वक श्रीहरिनामका कीर्तन करता। कभी-कभी तो कीर्तनकी मस्तीमें वह नाचने लगता। इसके बाद मन्दिरका सिंहद्वार खुलते ही वह अन्दर जाकर पतितपावन श्रीजगन्नाथदेवजीकी मूर्तिके पास, गरुड़-स्तम्भके पीछे खड़ा होकर मन भरकर श्रीभगवान्के दर्शन करता, बारम्बार साष्टांग प्रणाम करता और अति दीनभावसे नम्र गद्गद्वाणीसे स्तुति करता—'हे दीनदयालो! आपकी दयाकी बलिहारी! नाथ! बस, इसप्रकार आपके श्रीमुखका दर्शन करते-करते ही मेरी मृत्यु हो। प्रभो! आप मेरे प्राणोंके प्राण हैं, मुझ-सरीखे कंगालोंके आप ही पारसमणि हैं। आपके सिवा मेरा और कोई न तो है और न हो सकता है। मुझ निराधारके आधार आप ही हैं, मैं आपकी ही शरण हूँ।'

इसके बाद मणिदास कीर्तन करने लगता। कीर्तनके रंगमें मस्त होकर वह नाचने लगता। नाचते-नाचते तन्मयताकी अवस्थामें कभी वह ठीक श्रीजगन्नाथजीके पास, जहाँ चन्दनका कठौता रखा रहता है, वहाँतक चला जाता, फिर गरुड़के पास लौट आता। उस समय उसके शरीरमें आठों सात्त्विक भावोंका उदय हो जाता। वह कभी हँसता, कभी रोता, कभी चुप हो जाता, कभी ऊँचे स्वरसे गाता, कभी स्तुति करता, कभी प्रणाम करता और कभी जयजयकार करने लगता। वह स्तुति करता हुआ कहता—'हे नाथ! हे श्रीकृष्ण! आपकी जय हो, जय हो। हे वनमाली! बलिहारी है आपके सौन्दर्यकी, आपके वक्षःस्थलपर कमलोंका हार लटक रहा है, आपके गलेमें विविध प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएँ शोभा पा रही हैं, आपके प्रत्येक अंगमें रत्नोंके अलंकार झलमला रहे हैं, कानोंमें मकराकृति कुण्डल हैं, मस्तकपर रत्नमुकुट सुशोभित हो रहा है। आपके चन्द्रवदनको देखते ही भक्तका हृदय आनन्दसे भर जाता है। आपके खिले हुए श्वेत कमल-जैसे मनोहर नेत्र मानो भक्तोंको भवसागरसे पार उतारनेवाले पुल हैं, आपके दोनों हस्तकमल समस्त जगत्का अशेष कल्याण करनेमें लगे हुए हैं। आपके धारण किये हुए शंख, चक्र, गदा आदिको देखते ही नेत्र शीतल हो जाते हैं। भक्तोंकी रक्षा करनेमें सदा व्यग्र रहनेवाले तथा सुदर्शनचक्रसे सुशोभित आपके कर-कमलोंका आश्रय करनेवालोंको कोई भय नहीं रहता। हे प्रभो! आपके अभयप्रद चरणपद्म शरणागतके समस्त भयोंको दूर करते हैं। मैं इन चरण-कमलोंका त्याग करके दूसरेकी शरण नहीं जाऊँगा। हे स्वामिन्! मैं आपकी ही शरणमें पड़ा हूँ, अतएव आप मुझपर कृपा करें। हे दीनबन्धो, अब मुझे अपनी सेवासे—अपने दासत्वसे कभी वञ्चित न करें।'

यों कहते-कहते मणिदास उन्मत्तकी तरह नाचने लगता। उसकी कीर्तन और करताल-ध्वनिसे सारा मन्दिर गूँज उठता। इसप्रकार मणिदास श्रीजगन्नाथजी-के सभा-मण्डपमें नित्य नाचता, गाता और आनन्द करता। मनमें आता तभी चला जाता और पुनः आकर नाचने लगता। कोई महाप्रसाद दे देता तो उसे पा लेता, नहीं तो भूखा-प्यासा ही किसी मठमें जाकर प्रभुका ध्यान करने लगता। इसप्रकार उसने अपना तन-मन प्रभुके अर्पण कर दिया।

श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें मण्डपके एक भागमें नित्यप्रति पुराणकी कथा हुआ करती। एक विद्वान्

पण्डित कथा कहते तथा अनेकों श्रोता नर-नारी सुनते। कथावाचक पण्डितजी महाराज बड़े विद्वान् थे। वे तरह-तरहके भाव बनाकर ऐसे ढंगसे कथा कहते कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते। इतना होनेपर भी पण्डितजी प्रेमी नहीं थे। उनका हृदय शुष्क था, उसमें भगवत्-प्रेम-रसकी धारा नहीं बहती थी। एक दिन कथा हो रही थी, इतनेमें ही करताल बजाता और ऊँचे स्वरसे 'राम-कृष्ण-हरि' की ध्वनि करता हुआ मणिदास वहाँ जा पहुँचा। श्रीजगन्नाथजीका दर्शन करते ही वह आनन्दमें मग्न हो गया और उन्मत्त होकर नाचने लगा। नाचते-नाचते वह कथावाचकजीके पास जा पहुँचा। उसे यह पता ही नहीं था कि वह कहाँ है और क्या कर रहा है? भयोंके भय, भयहारी भगवान्‌के अभय पदोंमें उसका चित्त लग रहा था। कथावाचकजीको उसका यह आचरण बहुत बुरा लगा; उनको गुस्सा आ गया और उन्होंने कथा रोककर उसे डाँटना शुरू किया। परन्तु वहाँ सुनता कौन? कथावाचकजी बक रहे थे, वह अपनी मस्तीमें नाच रहा था। कथावाचकजीका गुस्सा और भी बढ़ गया। अब श्रोताओंने भी साथ दिया और गालियोंके साथ ही मणिदासपर थप्पड़ भी पड़ने लगे। बहुत देरतक यह अत्याचार चला। अन्तमें मणिदासको जब बाह्यज्ञान हुआ तब वह भौंचक-सा रह गया, कुछ ही समयमें उसे सारी बातोंका पता लग गया। उसके मनमें प्रणयकोप हुआ, वह चुपचाप वहाँसे निकलकर एक मठमें जाकर पड़ रहा। उसने मन-ही-मन कहा 'प्रभुके सामने यदि मुझे प्रभुकी कथा कहने-सुननेवाले मारते हैं, तो मैं वहाँ क्यों जाऊँ, शायद प्रभु यही चाहते हों।' कथावाचकजीने अपनी विजय समझी, उन्हें यह पता नहीं था कि **भगवान् विद्यापर नहीं रीझते, वह तो प्रेमके भूखे हैं, जिसके हृदयमें प्रेम होता है, वहीं भगवान्‌का निवास होता है।**

दिन बीत गया। सूर्यनारायण अस्ताचलको पधारे। मन्दिरमें सन्ध्याकी आरती हुई। परन्तु मणिदास नहीं गया। आज उसने अन्न-जल भी ग्रहण नहीं किया। मन्दिरकी सेवा समाप्त हुई, भण्डार बन्द हो गया और सबके बाहर चले जानेपर पट बन्द कर दिये गये।

पुरीके नरेश अपने महलमें सोये हैं। अकस्मात् उन्होंने देखा मानो स्वयं भगवान् श्रीजगन्नाथजी प्रकट होकर उनसे कह रहे हैं—'राजन्! तू बड़ा बे-खबर है, तुझे यह भी खबर नहीं कि तेरे राज्यमें—अरे मेरे मन्दिरमें क्या हो रहा है। मेरा प्रेमी भक्त मणिदास मन्दिरमें करताल बजाकर नाचा करता है और मुझे आनन्द दिया करता है। आज तेरे कथावाचकने उसे मारकर मन्दिरसे निकाल दिया है। उसके कीर्तन-नादको सुने बिना आज मेरा आनन्द फीका हो रहा है। मेरा मणिदास मन्दिरके बाहर मठमें भूखा-प्यासा पड़ा है, तू स्वयं वहाँ जा और आइन्दा उसके कीर्तनमें कोई विघ्न न हो, ऐसा प्रबन्ध कर। जब वह करताल बजाकर प्रेमानन्दमें मस्त हो मेरे सामने नाचेगा, तभी मुझे आनन्द आवेगा। देख, अब आगेसे कोई कथावाचक वहाँ कथा न बाँचा करे, कथाकी व्यवस्था श्रीलक्ष्मीजीके मन्दिरमें हो, मेरा सभा-मण्डप तो मेरे प्रेमी भक्तोंके भजन-कीर्तनके लिये ही सुरक्षित रहे।' अहा! आनन्दसागर भगवान्‌की करुणा तो देखिये, वे भक्तके आनन्दसे आनन्दित होते हैं।

उधर मठमें पड़े हुए मणिदासने देखा, अकस्मात् परमप्रकाश हो गया और उसमेंसे भगवान् श्रीजगन्नाथजीने प्रकट होकर उसके सिरपर हाथ फिराते हुए स्नेहपूर्वक कहा—'बेटा मणिदास! अरे तू भूखा क्यों रहा? देख, आज मैंने भी उपवास किया है। उठ, जल्दी भोजन कर।' मणिदासको बाह्य ज्ञान हो गया। उसने देखा महाप्रसादका थाल सामने रक्खा है। दयामयकी दया देखकर मणिदासका प्रणयाभिमान उतर गया।

इधर राजाकी नींद टूटते ही उसने विचार किया, यह कैसा स्वप्न था। क्या सचमुच श्रीजगन्नाथ भगवान्‌ने ही आज्ञा दी? राजा श्रद्धालु था, उसने उसी समय इसकी जाँच करना उचित समझा। घोड़ा मँगवाया गया और राजा उसपर सवार होकर सीधा मन्दिरकी तरफ चला। मन्दिरके सामने मठमें जाकर देखा, मणिदास पड़ा हुआ है। प्रातःकाल हो गया था, राजाने सादर प्रेमपूर्ण सम्भाषणसे मणिदासके मनको खींच लिया। साधु दयालु हुआ ही करते हैं। मणिदास राजी हो गया। राजा उसे साथ लेकर सभा-मण्डपमें आया और बड़े आदर-सत्कारके साथ मणिदासको वस्त्रालंकार पहनाकर कहने लगा—'मणिदास! तू धन्य है, अरे, वह ऊँची जाति किस कामकी, जिसमें भगवान्‌का प्रेम नहीं? तुझे और तेरे मा-बापको धन्य है। आज तू मेरे सामने करताल बजाकर नृत्य कर, तेरे नृत्यसे प्रभुको भी आनन्द होगा और मैं भी अपने नेत्र और कर्णोंके द्वारा कीर्तन-रसका पानकर कृतकृत्य होऊँगा।'

मणिदासने करताल लेकर प्रेमसे अधीर हो कीर्तन आरम्भ किया और अत्यन्त आनन्दसे पूर्ण होकर दीन-बन्धुकी स्तुति करते हुए मनोहर नृत्य किया।

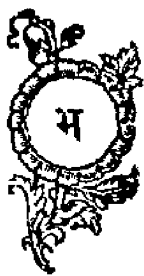
राजाकी आज्ञासे कथावाचकजीको उसी दिनसे वहाँ कथा बाँचना बन्द कर देना पड़ा। मन्दिरके नैर्ऋत्य-कोणमें स्थित श्रीलक्ष्मीजीके मन्दिरमें कथाकी व्यवस्था कर दी गयी, जो अबतक चालू है। सभा-मण्डप भक्तोंके प्रेम-पूरित कीर्तन-नृत्यके लिये खुला छोड़ दिया गया।

भक्त मणिदास जीवनभर वहीं कीर्तन करते रहे और अपने प्रेम-सुधाकी धारासे सहस्रों नर-नारियोंको अमरता प्रदानकर अन्तमें श्रीजगन्नाथजीकी सेवाके लिये दिव्य धामको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

ईश्वर साकार हैं या निराकार

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)



भगवान्‌को साकार कहें या निराकार? उनको कैसा समझना ठीक है? साकार-वादी भगवान्‌को निराकार सुनते ही भड़क उठते हैं और निराकार माननेवाले भगवान्‌के रूपकी बात सुनते ही जरा उपेक्षाकी हँसी हँसते हुए साकार-वादियोंकी ओर करुणा-भरी दृष्टिसे देखकर और उनकी बुद्धिके जडत्वपर विचारकर हताश हो जाते हैं। भारतके विभिन्न समाजोंमें बहुत प्राचीन समयसे इस बातपर न मालूम कितना वितण्डावाद और कलह हो चुका है। जिन शास्त्रोंमें भगवान्‌के साकार-विग्रहका वर्णन है, उनपर निराकारवादी विश्वास नहीं करते और जिन ग्रन्थोंसे भगवान्‌का निराकारत्व प्रदर्शित किया गया है, उनको साकारवादी बिलकुल मानने देना नहीं चाहते।

इनमें कौन-सी बात शास्त्रसम्मत है? साकार सत्य है या निराकार? दोनों दलोंके इस वितण्डावादमें पड़नेसे कोई लाभ नहीं है, इन दोनों मतोंकी उपेक्षा न कर शास्त्र और आचार्योंके मतोंके अनुसार मेरे हृदयने जैसी सम्मति दी और उससे मैं जो कुछ समझ सका हूँ, उसे यहाँ लिखता हूँ।

भगवान् न तो केवल साकार हैं और न केवल निराकार। वे साकार होते हुए भी निराकार हैं और निराकार होते हुए भी साकार हैं। वे साकार-अवस्थामें भी निराकार हैं और निराकार-अवस्थामें भी आकार-युक्त हैं। इसप्रकार परस्पर-विरुद्ध भाव असम्भव-

सा प्रतीत होनेपर भी, भगवान्‌में ये दोनों भाव ही सम्भव हैं। क्योंकि उनमें सम्भव-असम्भव सभी सम्भव है, उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है।

इस विश्व-जगत्‌की ओर देखनेसे यह समझमें आ जाता है कि भगवान्‌का शरीर-धारण या रूप सम्भव है, वे कितने असंख्य रूपों और कितने अगणित भावोंमें प्रकट हो रहे हैं। इस विश्वके प्रकाशमें हम उन्हींके रूपको देखकर तो परम आश्चर्य-चकित होते हैं। इतने रूपोंवाला यदि अरूप है तो रूपवान् कौन होगा? इधर उनका निराकारत्व भी ऐसा गम्भीर और विस्मयोत्पादक है कि उसका स्मरण करते ही रूपमात्रको भुला देना पड़ता है। अमावस्याकी घोर रात्रिमें दिगन्तहीन मेघाच्छन्न आकाशकी ओर देखनेपर अपने शरीरके अस्तित्वपर भी मानो सन्देह-सा होने लगता है। इस दृष्टिसे न तो साकार-को अस्वीकार करते बनता है और न निराकारको ही इन्कार करनेसे काम चलता है। पर यहाँ तो भगवान्‌के विशिष्ट रूपपर विचार करना है।

समय-समयपर विशिष्ट रूपसे भगवान् मनुष्य-के सामने या मनुष्य-समाजमें आविर्भूत होते हैं या नहीं? मनुष्य उनको अपने ही जैसे मनुष्यरूपमें देख सकता है या नहीं? भगवान् कितने ही महान् विराट् स्वरूप और कैसे ही ऐश्वर्यशाली क्यों न हों, जबतक उनको मनुष्य अपने-जैसे मनुष्यरूपमें नहीं देखता, तबतक सम्भवतः वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌को मनुष्यकी ऐकान्तिक आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये मनुष्यके समान बनकर मनुष्यके निकट आना पड़ता है। उनका यही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाला रूप माया-मनुष्य-विग्रह या अवतार-शरीर है। भगवान् मानव-समाजमें इसप्रकार आते हैं, यह अनेकों पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है एवं गीतामें तो भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे हमें यह सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

'मैं धर्मसंस्थापनके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

परन्तु जब भगवान् अपनी मायामें अधिष्ठित हो देह धारण करते हैं तो अन्य शरीरोंके सदृश ही प्रतीत होनेपर भी उनका वह भागवती-शरीर होता है, हमारे पाञ्चभौतिक शरीरोंके समान वह भूतमय या भौतिक शरीर नहीं होता। उस समय मनुष्यके समान दीखनेपर भी उनके शरीरमें और हमारे शरीरमें बड़ा भारी भेद है। हमारा शरीर जड-भावापन्न है परन्तु उनके शरीरमें जडभाव नहीं है। वह जडवत् बोध होनेपर भी सर्वशक्तिमय, चैतन्य-मय और आनन्दमय है।

जिसप्रकार जल जमनेपर बर्फ हो जाता है, बर्फमें जलके सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार भगवत्-शरीर सच्चिदानन्दमय है, उसका प्रत्येक अणु सच्चिदानन्दसे पूर्ण है। हम कर्मोंके अधीन हो इस संसारमें बार-बार आते-जाते हैं, वे कर्मरहित हैं, हमारे समान कर्मोंके अधीन होकर संसारमें नहीं आते, क्योंकि कर्म न होनेसे कर्म-फल-भोगरूप शरीरकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। उनका वह शरीर पञ्चभूतोंसे गठित नहीं होता, वे स्वेच्छासे शरीर धारण करते हैं, इसीसे जब वे मनुष्य-शरीरसे जगत्‌में अवतीर्ण होते हैं तो उनका वह शरीर उस सच्चिदानन्द-भावका स्वतःस्फुरण ही होता है। इसीलिये उसमें ऐसा सौन्दर्य होता है, जो जीवोंके मनःप्राणको इतना आकर्षित कर लेता है। अनेकों बार देखनेपर भी वह पुराना नहीं होता, जितना देखा जाता है उतनी ही देखनेकी इच्छा बढ़ती जाती है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं,
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।

शास्त्रोंमें अनेकों जगह भगवान्‌के शरीरका वर्णन है। वहाँ उसे माया-तनु या लोक-विमोहन शरीर ही कहा गया है। परन्तु इस माया-तनुका अर्थ मिथ्या

शरीर या हमलोगोंको ठगनेके लिये शरीर-धारण नहीं है, वह शरीर अलौकिक शक्तिका आधार या क्रियाक्षेत्र है। भगवान्‌की अलौकिक ईश्वरीय शक्ति ही पुञ्जीकृत या घनीभूत होकर इस विशिष्ट रूपको धारण करती है।

भगवान्‌का रूप देश-कालसे परिच्छिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। देहधारी होकर भी भगवान् मनुष्यके समान सीमित, सान्त या जडभावापन्न नहीं होते। उस शरीरमें उनकी वही असीम, अनन्त, चैतन्य सत्ता विद्यमान रहती है। जिसप्रकार सूर्य बहुत विशाल वस्तु है पर हमारी दृष्टि-शक्ति इतनी बड़ी वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिये हमारी दृष्टिकी अल्पताके अनुरूप सूर्य जिसप्रकार हमें छोटे रूपमें दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार अनन्त, अपरिमेय परमात्मा हमारे नयन-गोचर होनेपर हमारी नेत्र-शक्तिके अनुसार छोटे रूपमें दीखनेपर भी वास्तवमें वे क्षुद्र हो नहीं जाते। यही उनका असीम शक्ति-युक्त, भक्त-अनुग्रहकारी रूप होता है। भक्तकी तृप्तिके लिये भगवान्‌को भक्तकी दृष्टि-शक्तिकी सामर्थ्यके अनुरूप रूप धारण करना पड़ता है। इससे वे छोटे नहीं हो जाते। यदि कोई अन्य अधिक सामर्थ्यवान् पुरुष, उनको उसी समय देखना चाहे तो उस एक ही समयमें वे साधककी शक्तिके अनुसार बड़े रूपमें भी दिखलायी पड़ सकते हैं। इसीलिये भगवान्‌के प्रति भक्तका आग्रह बढ़ता ही रहता है। हम उनको अपने खिलाड़ी साथीके भेषमें, उसीके रूपमें प्राप्त कर सकते हैं; साथ ही गुरु, पिता, माता, विधाताके रूपमें भी पा सकते हैं। आवश्यक होनेपर वे हमारे प्राणोंके परमोत्सवरूपमें, नवीन-नटवर मदन-मोहन प्राण-कान्तके रूपमें आकर हमारे साथ रसालाप भी कर सकते हैं। हमारे विषय-व्याकुल चित्तको अपनी सुमनोहर वंशी-ध्वनिद्वारा अपने चरणोंमें खींचकर हमारी अनन्तकालकी दारुण संसार-पिपासाको मिटा दे सकते हैं।

वे निराकार, अरूप-रूपसे भी यह सब कुछ कर सकते हैं और साकार-रूपसे हमारे समीप बैठकर हमारी व्यथासे व्यथित होकर हमें अनेक प्रकारसे सान्त्वना भी दे सकते हैं।

यह सब उनकी महिमा है और यह महिमा ही उनकी माया या अघटनघटनापटीयसी अलौकिक शक्ति है।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
माया गुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥

जो भगवान् वस्तुतः चिन्मय एवं रूपवर्जित हैं, यह स्थूलरूप भी उन्हीं चिन्मयका रूप है। (भापके आकारमें जो अदृश्य था बस वही जलाकारमें दिखलायी पड़ने लगा) क्योंकि जिन तीन गुणोंके विकारसे यह स्थूल रूप बनता है, वे तीनों इस चिन्मयके ही अंश हैं। वे ही स्थूलरूपसे अधिष्ठित हैं। यद्यपि स्थूलरूप भगवान्‌का ही रूप है, पर उनका स्वरूप सभी रूपोंसे भिन्न है। जिनकी बुद्धि अविद्याके मोहसे मुग्ध है उन अबुद्धि मनुष्योंद्वारा 'दृश्यत्वं' दृश्यभावको यानी स्थूलरूपको 'द्रष्टरि' द्रष्टा पुरुष (जीव और ब्रह्म) के ऊपर आरोप किया जाता है।

जो विश्व-मूर्ति-रूपसे वासुदेव हैं, प्राणाधीश-रूपसे अखिल-प्राणमय दिव्य-तेज-पूर्ण देहधारी हैं, उन्हींका मनुष्य-सदृश रूप भी है। पर मानव-सदृश होकर भी वह अमानव हैं। उसी रूपको देखनेके लिये भक्तमात्रके प्राण व्याकुल रहते हैं। विश्व-रूप देखनेके बाद अर्जुनने इसी रूपको देखना चाहा था और भगवान्‌ने भी कृपा करके अर्जुनको वह रूप दिखलाया था। इस रूपके दर्शन कर लेनेपर भक्तकी रूप-तृष्णा सदाके लिये मिट जाती है। मनुष्यके अन्दर रूप-तृष्णा बड़ी प्रबल होती है, इस रूप-तृष्णा

या रूप-दर्शनके नशेको मिटानेके लिये ही वे अपूर्व श्यामसुन्दर-मूर्ति धारण करते हैं। शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर, विविध छन्दों और अनेक भाव-भङ्गियोंसे इस मदनमोहन, पुरुषोत्तमरूपके आविर्भावका वर्णन है। इस सुसंवादसे हमारा चित्त मानो स्वाभाविक ही आश्वासन प्राप्त करता है।

भगवान्‌के रूपयुक्त और रूपहीन दोनों भावोंका वर्णन शास्त्रोंने हमें सुनाया है। एक सीमाहीन, अन्तहीन, चैतन्य, इन्द्रियोंके अगोचर, अरूप और सत्तामात्र हैं तो दूसरे अनन्त शक्तिके आधार, अनन्त-क्रीडा-कौतुक-पूर्ण, प्रेम-पूर्ण, रूपमय, भुवन-मनोमोहन, चिन्मय, लीलाविग्रह हैं। एकमें अनन्त शक्ति शुद्ध और अव्यक्त है तो दूसरेमें अनन्त शक्तिका खेल है, अनन्त रूपका नित्य-निकेतन है। जहाँ शक्ति शुद्ध है, अपने आपमें मग्न है, उस अरूप भावका वर्णन भाषामें कोई भी नहीं कर सकता, वहाँ वे निराकार हैं। परन्तु जहाँ वह शक्ति जाग्रत् है, क्रीडाशील है, वहाँ वे निराकार होते हुए भी साकार हैं, क्योंकि जहाँ शक्तिका स्फुरण है वहीं रूप है। शक्तिका स्फुरण होते ही कुछ अवलम्ब या आश्रय लेना पड़ता है। यह आश्रय-केन्द्र ही उनके रूपको प्रकाशित करता है। यह रूप-परिग्रह-केन्द्र-शक्ति भावमयी है। यह रूप, विशिष्ट रूप होनेपर भी चिन्मय-भावके साथ एवं अरूप-सत्ताके साथ नित्य सम्बन्धित है। इसीसे जब भक्त भयभीत होकर उन्हें 'मा' कहकर पुकारता है तब भक्तको अभय प्रदान करनेके लिये वे अनन्त-चैतन्य-सत्ताका विस्तारकर अनुपमरूपमें भक्तके सम्मुख प्रकट होते हैं। उस समय वे हमारे ही समान बातें करते हैं, अपने भक्तके मनकी बात सुनते हैं। भक्तके दिये हुए पदार्थ ग्रहण करते हैं, खाते हैं। प्रभुकी वह कैसी अपूर्व करुणा है! भक्त प्रह्लादको जब हिरण्यकशिपुने कहा कि 'क्या इस स्तम्भमें तेरा भगवान् है?' तो भक्त प्रह्लादने निर्भीक-चित्त और विश्वासपूर्ण हृदयसे उत्तर दिया कि 'निश्चय ही हैं, पिताजी! वे सर्वव्यापी हैं, इस स्तम्भमें भी हैं।' हिरण्यकशिपुने चिर-शत्रु भगवान्‌को इतना निकट जानकर ज्यों ही खड्ग उठा प्रचण्ड वेगसे स्तम्भपर आघात किया त्यों ही सर्वव्यापी होते हुए भी, भक्तके प्रभु, भक्त-प्राणके देवता भगवान् भक्तकी बात सच्ची करने एवं हिरण्यकशिपुके अज्ञानतमको ध्वंस करनेके लिये उसी समय कितने भीषण और कितने मधुर रूपमें भक्तके सामने प्रकट हो गये और भक्तके हृदय-क्षोभको सदाके लिये मिटा दिया!

इस रूपके न धारण करनेपर उनकी भक्तवत्सलता कहाँ रहती? भक्तको भगवान् इसी प्रकार कृतार्थ करते हैं। यहाँ यह सोचना ठीक नहीं होगा कि भगवान् जब एक जगह आविर्भूत हो गये तो अन्य स्थानोंपर शायद नहीं रहे। वे सर्वव्यापी रहते हुए ही एक समयमें ही अनेकों स्थानोंपर प्रकट हो सकते हैं एवं सभी रूपोंमें उनकी असीम शक्ति पूर्ण रहती है। जिसप्रकार महान् एक अद्वितीय भगवत्-स्वरूपमें उनकी असीम शक्ति है, खण्डरूपसे प्रतीत होनेवाले असंख्य स्वल्पायतनोंमें—छोटे शरीरोंमें भी उनकी वही असीम शक्ति विद्यमान रहती है। यही उनकी भगवत्ता है। एक परमाणुमें वे जिसप्रकार पूर्णात्-पूर्णतररूपमें विराजमान हैं, अनन्त ब्रह्माण्डमें, अनन्त ब्रह्माण्डव्यापी अधिष्ठानमें भी वे वैसे ही पूर्णात्-पूर्णतररूपसे विराजित हैं। हमलोगोंकी भाँति भगवान्‌का एक स्थानपर स्थित रहते दूसरी जगह अभाव नहीं होता। परन्तु जब वे अपनेको किसी देश, काल और आधारमें प्रकाशित करते हैं तब वह एक अपूर्व प्रकाश होता है। उस देश, काल, आधारमें रहकर भी वे उस देश, काल और स्थानसे अतीत ही रहते हैं। वे भक्तकी पुकार सुनते हैं, एवं भक्तको अभय देनेके लिये उसी देश, काल और स्थानमें अपनेको प्रकट करते हैं। द्रौपदीने दुःशासनके अत्याचारसे भयभीत हो कौरव-सभामें उनको करुण-भावसे पुकारा

था, उन्होंने कातर भक्तके आह्वानसे आकर्षित होकर तत्काल भक्तका भय दूर कर दिया। उनकी आर्त त्राणपरायणताके ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं।

जैसे दुर्गन्धमय, कीचड भरे, सकीर्ण जलमें भी कमल अपूर्व शोभा, सुगन्ध और सुन्दर वर्णको लेकर खिलता है, भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे इसी देश, काल और आधारमें अपनी अपूर्व भक्त-भय-हारी मूर्तिको उसी प्रकार प्रकट करते हैं। यही उनका मदनमोहन रूप या भुवन-मन मोहन ईश्वरीय भाव है। इसी भावमय रूपमय सत्ताके दर्शन करने पर साधकका हृदय रोग नष्ट हो जाता है। इस रूपको देखते-देखते साधक विह्वल हो उठता है। इस रूप सागरमें डूब डूबकर भी वह अपने प्राणोंकी आशा मिटा नहीं सकता। भक्त कहता है-

जन्म अवधि हम रूप निहारिनु, नयन ना तिरपित भेल।

अनन्त-मिलन

(लेखक—श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०)

बड़े सवेरे ही उठकर मैं चला आ रहा हूँ अविराम।
किन्तु न पथका अन्त कहीं है, गयी दोपहर, आई शाम॥
फैल गया घन तम दिगन्ततक, आज अमावसकी है रात।
कहीं अभीतक चिह्न तक नहीं, कौन कहे मिलनेकी बात॥

आँधी है उठ रही, किन्तु उस पार तैर कर जाऊँगा।
तुच्छ बूँद मैं सागरमें अपनेको आज मिलाऊँगा॥

सुनता हूँ, वह है विशाल, औ है मेरा छोटा-सा रूप।
वह है व्यापक मुझमें भी, मैं हूँ नश्वर, वह नित्य अनूप॥
डर लगता है उसके सम्मुख जाते, उसकी शक्ति महान।
बहुत दिनोंसे सोच सोच यह पाता हूँ मैं कष्ट अजान॥

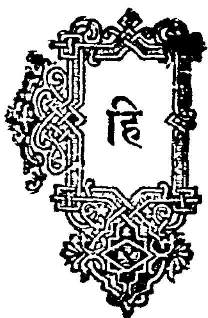
जैसे हो, मैं अंश पूर्णमें मिलकर पूर्ण कहाऊँगा।
तुच्छ बूँद मैं सागरमें अपनेको आज मिलाऊँगा॥

सब कुछ तज कर आज आह! जीवनधनको मैं पाऊँगा।
मायाग्रस्त मूढ मनके सब मिथ्या भेद भुलाऊँगा॥
अहंकारकी बुद्धि नष्ट कर ऐक्यभावको लाऊँगा।
'तदहमस्मि' द्रुत तन्मय होकर मैं सान्तता मिटाऊँगा॥

अपनापन खोकर 'अपना' को अब निश्चय अपनाऊँगा।
तुच्छ बूँद मैं सागरमें अपनेको आज मिलाऊँगा॥

आयुर्वेद और ईश्वरवाद

(लेखक—डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०)



हिन्दुओंके आयुर्वेद-शास्त्रोंमें अपने प्रतिपाद्य विषय प्राण (आयु) का प्रतिपादन करते हुए जीवनके मौलिक सिद्धान्तोंके विषयमें भी कहीं-कहीं कुछ लिखा गया है। माताकी कुक्षिमें कललके विकास तथा उसकी भावनाके विषयमें विचार करते समय, अथवा किसी रोग-विशेषके मूल-कारणोंकी गवेषणा करते समय, या जीवनके सदाचरणके नियमोंका उल्लेख करते समय, (इनमें सभी आयुर्वेदके आवश्यक भाग समझे जाते हैं) इस विषयकी भी कुछ आलोचना करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ आयुर्वेद कहता है कि जब वीर्य और रज माताकी कुक्षिमें अपने विहित स्वस्थ दशामें मिलते हैं और जब कुक्षि उनके ग्रहण करनेके लिये अनुकूल होती है तब कलल उत्पन्न होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या यह दोनों शरीरके निर्माण करने तथा प्राणके सञ्चरण करनेके लिये पर्याप्त हैं, अथवा कोई ऐसी वस्तु है जो इन दोनोंसे बिल्कुल ही भिन्न है, जो प्राण-सञ्चार करती है और रज-वीर्य-गत निर्माणात्मक गुणोंको क्रियान्वित करती है ? इस प्रश्नके साथ-साथ एक दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि क्या इसप्रकार उत्पन्न हुए पुरुषके मानसिक, नैतिक और शारीरिक स्वभावका माता-पिताके रज-वीर्यके द्वारा उतना पता लगाया जा सकता है जितना कि इन कारणोंके द्वारा कार्यके स्वभावोंका निरूपण होता है ? यदि उनका पता नहीं लगाया जा सकता और न उसके जीवनके प्रारम्भसे इन कारणोंमेंसे कुछके लिये प्रामाणिक कारण ही निश्चित किये जा सकते हैं, तो क्या हमारा यह मानना युक्तिसंगत होगा कि वे अकारण ही उत्पन्न हुए हैं अथवा हमें विवश होकर यह मान लेना चाहिये कि जीवन एक शाश्वत वस्तु है और कारण जो अभी स्पष्टरूपेण नहीं दीख पड़ते हैं, अवश्य ही पूर्व-जीवनमें रहे होंगे ? इसी प्रकार रोगोंमें कुछ तो वंशागत होते हैं, और कुछ संयमशील जीवनसे च्युत होनेके कारण उत्पन्न होते हैं। साथ ही कुछ दूसरे और ऐसे रोग भी होते हैं जिनके कारणोंका पता लगाना दुर्घट हो जाता है। तब इनकी किसप्रकार व्याख्या की जा सकती है ? पुनः जब वैयक्तिक दर्शन जीवनके प्रति मनुष्यकी प्रवृत्ति तथा उसकी समस्त क्रियाओंमें उसकी प्रेरणाको (जिसे वह जानता है या नहीं) अङ्कित करते हुए मनुष्यकी विवेचना करता है तो आयुर्वेदके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वह जीवनके सदाचारका विधान करते हुए सुस्पष्ट और प्रबलरूपमें जीवनके स्वरूपका भी निरूपण करे।

क्या हमारे अस्तित्वकी सीमा जन्म और मृत्युके बीचकी अवधिमात्र ही है, अथवा इन दोनोंसे परे भी वह स्थित है ? यदि वह परे है तो यह अस्तित्व अपने सुख-दुःख तथा अन्य समस्त द्वन्द्वोंके साथ अनन्त कालतक चक्रवत् घूमता रहेगा अथवा हमारे भीतर एक सूक्ष्मतर तत्त्व है जो इस बार-बारके पुनरावर्तनमें दौड़ता रहता है तथा मालामें सूतके समान समस्त जीवनको एक साथ ग्रथित करता है, जो इन द्वन्द्वोंसे असंस्पृष्ट होता है तथा जो आसानीसे इन्हें हटा सकता है और इसप्रकार जन्म-मृत्युके चक्रको रोक सकता है ? क्या हमारा अस्तित्व और जगत्‌का प्रवाह, ये अकारण अथवा वस्तु-स्वभावके द्वारा ही निर्मित हुए हैं ? अथवा कोई ऐसा तत्त्व या शक्ति है जो समस्त सृष्टिके व्यापारका ज्ञान रखती है और सबको इसप्रकार बन्धनमें डाले हुए है जिससे बचना दुष्कर है, तथा जो स्वयमेव इन विकारोंमें भी निर्विकार हो अद्भुतरूपेण अभिव्यक्त हो रही है ? इन प्रश्नोंके उत्तर अनेक प्रकारसे दिये गये हैं, परन्तु मुझे इस लेखमें दिखलाना है कि आयुर्वेद इनका क्या उत्तर देता है ?

चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता और अष्टाङ्गसंहिता जिसका एक संक्षिप्त और पद्यबद्ध संस्करण वाग्भट्टका अष्टाङ्गहृदय है, आयुर्वेदके दार्शनिक पक्षको अच्छी तरहसे व्यक्त करते हैं। यह सर्वोत्तम, प्राचीनतम तथा आयुर्वेदके अन्यतम विद्वानोंके लेख होनेके कारण, उत्तरकालीन लेखकोंके लिये अक्षय सामग्रीसे पूर्ण हैं तथा इनमें प्रकट किये हुए विचारोंसे भिन्न मत प्रकट करनेका साहस उत्तरकालीन लेखकोंमेंसे कदाचित् ही किसीने किया है। इनमेंसे चरकने उपर्युक्त प्रश्नोंका विवेचन बहुत ही विचार-

पूर्वक, मौलिक तथा विश्वासोत्पादक युक्ति-प्रतियुक्ति देते हुए नियमित रीतिसे किया है। सर्वसाधारणके द्वारा स्वीकृत विचारोंको सुश्रुतने अपनी निजी शैलीसे उनकी व्याख्या तथा पूर्ति करते हुए संक्षेपमें वर्णन किया है। वाग्भट्टने उससे भी अधिक संक्षेपमें प्रसंगवश निरभिमानता-पूर्वक केवल परिपक्व सिद्धान्तोंका उल्लेख किया है। संस्कृतके सूचीकटाह-न्यायका अनुसरण करते हुए हम पहले वाग्भट्टको, तब सुश्रुतको और अन्तमें चरकको लेंगे।

वाग्भट्ट

वाग्भट्ट अष्टाङ्गसंग्रह (शरीर, अ० २) गर्भके प्रारम्भकी आलोचना करते हुए कहता है कि जब पुराना रज नष्ट हो जाता है, नवीन रजका प्रादुर्भाव होता है; तथा गर्भके स्थान और मार्ग साफ हो जाते हैं, स्वस्थ वीर्य बीजके रूपमें शरीरगत वायुके द्वारा प्रेरित हुआ पञ्च-प्रारम्भिक तत्त्वोंको साथ लिये रजकी सहायतासे तथा तत्काल उस जीवसे युक्त होकर, जो वायुमें रागादि क्लेशोंको प्रदान करता है तथा जो अपने कर्मोंद्वारा प्रेरित होता है एवं मनके साथ रहता हुआ जो गर्भके रूपमें गर्भाशयमें स्थित होता है। जिसप्रकार कार्य कारणके अनुसार ही होते हैं, उसी प्रकार रज या वीर्यके प्राबल्य, अथवा दोनोंकी समानतासे क्रमशः गर्भके पुंस्त्व, स्त्रीत्व अथवा क्लीबत्वका निश्चय होता है। इसी प्रकारका विवेचन अष्टाङ्गहृदय (शरीर अ० १ । १-४) में हुआ है, परन्तु पहले और चौथे श्लोकका आशय ध्यान देने योग्य है। पहले श्लोकमें रज-वीर्य-सम्बन्धी संयुक्त द्रव वस्तुमें अपने कर्म और क्लेशोंके द्वारा विवश हुए जीवोंकी तुलना सत्य बातके स्थापन करनेके उद्देश्यसे मँथी जाती लकड़ियोंमें अग्निके साथ की गयी है। उससे अग्निके समान जीवके विभुत्व और एकत्वका अनुमान होता है, इसका गतिशील तथा अनेक रूप होना इसके धृत विषय अर्थात् मन आदिपर निर्भर करता है, जैसे अग्निकी अनेक रूपता उसके धृत विषय लकड़ीके ऊपर अवलम्बित होती है। चौथे श्लोकमें लिखा है कि जिसप्रकार कार्यमें कारणके ही गुण रहते हैं उसी प्रकार जीव साँचेमें ढाले हुए लोहेके समान नाना प्रकारके आकार ग्रहण करता है। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्यके भीतर वस्तुतः वही जीव है जैसा छोटे-से-छोटे प्राणियोंमें है। यही बात सूत्र अ० ३।३३ में भी पायी जाती है, मनुष्यको एक कीट तथा एक चींटीको भी अपने समान समझना चाहिये। वाग्भट्टके मतसे जब-तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, मन जीवात्मासे अभिन्न जान पड़ता है। इसीलिये वह कहते हैं कि, 'मन, इन्द्रियाँ तथा विभिन्न योनियोंमें जन्म लेना जीवके ऊपर ही निर्भर करता है।'

अष्टाङ्गहृदय, शरीर, ३-५ तथा संग्रहशरीर अ० ५ के 'आत्मजानि नानायोनियुत्पत्तिः' आदि स्थलमें टीकाकार इन्दुने लिखा है कि, 'इसलिये मन जीवात्माके भीतरसे उत्पन्न होता है, क्योंकि यह कहीं बाहरसे नहीं आता और सदा जीवात्मासे आसक्त रहता है।'

संग्रहशरीरके पाँचवें अध्यायमें इन्दु वाग्भट्टके दार्शनिक विचारका सारांश लिखते समय कहते हैं कि जीवात्मा नित्य है, विकारसे रहित है, न जन्म लेता है और न मरता है। मन तथा औरोंके सम्पर्कमें रहनेके कारण यह जन्म-मृत्यु आदि उपाधियोंको धारण करता है। यह सम्पर्क अविद्याके कारण है। जब अविद्याके नष्ट हो जानेपर सम्पर्क छूट जाता है, तब वह शुद्ध स्वरूपमें आता है और 'मुक्त' कहलाता है। क्योंकि बिना किसी नित्य कर्त्ताके बचपन अथवा जीवनकी दूसरी अवस्थाओंका स्मरण नहीं हो सकता, जिसके बिना कर्ममें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, तथा शारीरिक कर्म सम्भव नहीं हो सकते। यह यद्यपि अपनी इच्छानुसार काम करता है, तथा स्वतन्त्र है तथापि अपने कार्मोंके फलस्वरूप बन्धन या मुक्तिको प्राप्त करता है। बन्धन और मोक्ष उसके अपने कर्मोंके परिणाम हैं, जो कारणरूपसे रहते हैं। निस्सन्देह जीवात्मा-के बिना शरीर सम्भव नहीं है। महात्मा चरकका भी यही सिद्धान्त है कि—'जो यह कह सकते हैं कि घट कुम्भकारके बिना केवल मिट्टी, चाक और दण्डसे बन सकता है, अथवा घर बिना किसी बनानेवालेके केवल मिट्टी, घास और लकड़ीसे बन सकता है, वे ही कह सकते हैं कि शरीर भौतिक द्रव्योंके पारस्परिक संयोगके द्वारा बना है। इस-प्रकार जीवात्मा चेतन है, कारण है और नित्य है। और पञ्चमहाभूत अचेतन, क्षणस्थायी, प्रतिक्षण स्वयमेव भग्न होते रहते हैं। यदि पञ्चमहाभूत नित्य होते तो इनकी वृद्धि नहीं होती। निश्चय ही कोई वस्तु अन्यथा नहीं हो सकती, परन्तु ऐसा देखा जाता है, इसलिये महाभूत

क्षणिक हैं और जब जीवात्मासे अधिष्ठित होते हैं तो पुरुष-संज्ञाको प्राप्त करते हैं। जीवनकाल स्थिर है अथवा उसमें भिन्नता है, इस बातकी आलोचना करते हुए वाग्भट्ट-संग्रहसूत्रके ९ वें अध्यायमें लिखा है कि जीवनकी अवस्था-का निश्चय मनुष्यके अपने पूर्व-जन्मके (दैव) कर्मों तथा इहजन्मके पौरुषपर निर्भर करता है, यह दो प्रकारके कर्म या तो साथ-साथ चलते हैं या एक-दूसरेके साथ टकरा जाते हैं, जिसमें अधिक शक्तिशाली कर्मोंकी विजय होती है। इसप्रकार एक ही प्रकारकी बीमारीका इलाज करनेसे वह यदि दैव और पौरुष एक-दूसरेके अनुकूल हुए तो सुसाध्य, यदि परस्पर प्रतिकूल हुए तो दुःसाध्य और यदि दैवने पौरुष (पुरुषकार) को अतिक्रान्त किया तो असाध्य हो जायगी।

ग्रन्थ-कर्त्ताने बारम्बार नास्तिक तथा नास्तिकतासे बचने-की शिक्षा दी है। (संग्रहसूत्र ७९, ११४) वह बहुधा दो लोकोंका उल्लेख करते हैं, इहलोक और परलोक; और उसकी प्रशंसा करते हैं, जो इन दोनों लोकोंको सदा स्मरण रखता है तथा दोनोंको ही सुधारता है। (संग्रहसूत्र ३। ३८ ; हृदय ४। २५) मनुष्योंको अपने कल्याणके लिये तथा रोगसे छुटकारा पानेके लिये देवताकी उपासना करनेकी सम्मति दी गयी है (संग्रहसूत्र ३। २२) संग्रहमें शरीर-स्थानके पाँचवें अध्यायके अन्तमें दी हुई उनकी विवेचना बड़ी अच्छी है—'यह शरीर जिसका विश्लेषण अभी किया जा चुका है भेद और अभेद-दृष्टिके अनुसार बन्धन और मोक्षका कारण बनता है।'

सुश्रुत

सुश्रुत अपने शरीर-स्थानके प्रथम अध्यायके आदिमें मनुष्य तथा जगत्के पचीस मूल-तत्त्वोंको बतलाता है और सांख्यदर्शनके अनुसार उनके पारस्परिक सम्बन्धको निर्धारित करता है। समस्त सृष्टिका मूल-कारण अव्यक्त है, जिसका ज्ञान उसके तीन गुणों (सत्त्व-रज-तम) और आठ आकारों (अव्यक्त, महत, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राओं) के द्वारा होता है। केवल यही असंख्य जीवों-का आश्रय-स्थान है। अव्यक्तसे बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे अहङ्कार; इन दोनोंमें भी अव्यक्तके तीनों गुण रहते हैं। इन तीन गुणोंके अनुसार अहङ्कार तीन प्रकार-का होता है—सात्त्विक, राजस और तामस। रजोमिश्रित सात्त्विक अहङ्कारसे ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ मन) उत्पन्न होती हैं जो सत्त्वगुण और रजोगुणसे पूर्ण होती हैं। रजोमिश्रित तामस अहङ्कारसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इनके विकसित रूप हैं, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; और इनसे पाँच भूत उत्पन्न होते हैं—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश। यह चौबीस तत्त्व हैं, इनमें सभी अचेतन हैं। पचीसवाँ पुरुष है जो कार्य-कारण दोनोंसे सम्बन्ध रखता है और उनकी चेतनताका उत्तरदायी है। यद्यपि मूल-प्रकृति अचेतन है तथापि कहा जाता है कि यह पुरुषकी मुक्तिके लिये कार्य करती है। अब प्रकृति और पुरुषमें क्या साम्य है और क्या वैषम्य, यह भी देख लीजिये। दोनों अनादि-अनन्त तथा अस्पृष्ट हैं, दोनों नित्य, परम और विभु हैं। परन्तु प्रकृति जहाँ एक, अचेतन और गुणवाली है, तथा जब निष्क्रिय होती है तो सबको अपनेमें मिला लेती है, एवं पुरुषके सम्पर्कसे उन्हें पुनः आविर्भूत करती है, और निरपेक्ष नहीं रहती; वहाँ पुरुष चेतन हैं, असंख्य हैं, निर्गुण हैं, सृष्टि-प्रलयसे रहित और निरपेक्ष हैं। तब, कारणके अनुसार ही कार्यके होनेसे यह विकसित अवस्थाएँ सत्त्व, रज और तमसे पूर्ण हैं। उनमें व्यक्त होने तथा उनसे पूर्ण होनेके कारण पुरुष उनके गुणोंको धारण करते हैं। उसका कहना है कि ऐसा कुछ लोगोंका विचार है।

दूसरी जगह वह कहता है कि वैद्यकमें बुद्धिमान् पुरुष स्वभाव, ईश्वर, काल, दैव, भाग्य और विकासको मूलरूप मानते हैं। तत्त्वोंको भी इनसे पूर्ण तथा इनके गुणोंसे युक्त समझना चाहिये, क्योंकि उन्होंने समस्त तत्त्वोंको अपने गुणोंसे युक्त करके उत्पन्न किया है। चिकित्सामें इनकी महत्ता सदा स्वीकृत की गयी है, कारण ओषधिमें, पञ्चभूतोंके अतिरिक्त और कोई विचार नहीं होता। क्योंकि कहा गया है कि पुरुषके जीवनके लिये जिन पदार्थोंकी आवश्यकता होती है वह पञ्चभूतोंसे ही उत्पन्न होते हैं और आयुर्वेद-शास्त्रमें इन्द्रियाँ तथा ऐन्द्रिय विषय भौतिकरूपमें ही वर्णित हुए हैं। सिद्धान्त यह है कि मनुष्य ऐन्द्रिय विषयको निर्दिष्ट इन्द्रियसे ग्रहण करता है, दूसरी इन्द्रियसे नहीं, क्योंकि उनका मूल-स्थान एक ही है। पुनः आयुर्वेदमें जीवात्माको सर्वव्यापी

और नित्य नहीं बतलाया है; बल्कि ऐसे हेतु दिये गये हैं जो जीवोंकी नित्यता स्थापित करते हैं और उन्हें विभु नहीं बतलाते हैं। आयुर्वेद-शास्त्रमें जीवात्मा, जो अणु और नित्य है, के विषयमें बतलाया गया है कि वह अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार तिर्यक् जीवों, मनुष्यों और देवताओंके शरीरमें भ्रमता रहता है, वह आनुमानिक, अत्यन्त सूक्ष्म, चेतन, नित्य तथा अपने आपको रज-वीर्यके संयोगमें अभिव्यक्त करता है। इसलिये यह कहा जाता है कि पुरुष पाँच तत्त्व और जीवात्माका समुदाय है। ऐसा कर्मभूत पुरुष चिकित्साका विषय है। सारांश यह है कि अष्टधा मूल-प्रकृति और सोलह विकार, तथा पुरुष अन्य शास्त्रोंके समान ही आयुर्वेदमें भी स्वीकार किये गये हैं।

उसी ग्रन्थके तीसरे अध्यायमें कललके निर्माणकी आलोचना करते हुए जीवात्माकी कुछ उपाधियाँ निरूपित की गयी हैं, जो उसके स्वभावके विषयमें समस्त भ्रान्तियों-को दूर कर देती हैं। उसे क्षेत्रज्ञ, ज्ञ, विषय-संवेदनाका अधिष्ठाता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, उद्धारक, वक्ता कहा गया है। वह अविनाशी, अक्षर और अचिन्त्य है। पुनः पाँचवें अध्यायके अन्तमें शरीरके बाह्य और अभ्यन्तर विभिन्न विभागोंका विश्लेषण करते समय कहा गया है कि, 'सर्वशक्तिमान् (आत्मा) जो अत्यन्त ही सूक्ष्म है, इन चर्म-चक्षुओंसे नहीं देखा जा सकता, बल्कि उन लोगोंको दिखलायी देता है जिनको ज्ञान-दृष्टि होती है।' उसके दूसरे अध्यायके अन्तमें भी अच्छा निर्देश किया गया है 'जिनका मन पूर्व-जन्ममें शास्त्रीय, धार्मिक विचारोंमें रहा है, वह सदा उनके प्रति श्रद्धालु रहते हैं, उनमें सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होती है तथा उन्हें पूर्व-जन्मकी स्मृति होती है। कर्म जो मनुष्यको प्रेरित करते हैं उसके दूसरे जन्ममें भी उसका पीछा नहीं छोड़ते और जैसा पूर्व-शरीरमें अभ्यास (संस्कार) होता है, वैसे ही गुण उनमें आते हैं।'

शारीर० २, ४८ के कुछ प्रसङ्गोंका अवतरण दिया जाय तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार दृढ़ आस्तिक है। 'माता-पिताके नास्तिक होनेसे, पूर्व-जन्मके पापोंके कारण और वृत्तियोंके दुर्विपाकसे गर्भ विकृत हो सकते हैं।' शा० ३।२१ में आता है कि 'जो ब्राह्मण और देवताओंके भक्त हैं, तथा शुद्धता और सदाचार आदिका अभ्यास करते हैं उनके बहुत ही धार्मिक पुत्र उत्पन्न होते हैं, तथा जिनका विपरीत आचरण होता है उन्हें अयोग्य पुत्र होते हैं।' शा० ४।८० में कहा गया है कि 'शुद्धता, आस्तिकता, स्वाध्याय, गुरुजनोंकी भक्ति, आतिथ्य और भगवद्दर्शन ब्राह्मण-शरीरके लक्षण हैं। (जो सर्वोत्तम शरीर है और सत्त्वगुणसे परिपूर्ण है।)

चरक

चरकके विचारोंको इसप्रकार संक्षेपमें कहा जा सकता है कि मन, जीवात्मा और शरीर तीन लाठियोंके समान हैं, इनके संयोगमें प्राणी-जगत् जीवन धारण करता है जिसपर सब कुछ स्थिर है।

आयुर्वेदका पुरुष–इसी संयोगको पुरुष कहते हैं,जो चेतन है तथा आयुर्वेदका प्रतिपाद्य विषय है (सूत्र १-४५।४६) शरीर और मन रोगोंके आश्रय-स्थान हैं, परन्तु जीवात्मा निर्लेप, नित्य, मन पञ्चभूतोंके स्वभाव तथा इन्द्रियोंके द्वारा चेतनाके लिये उत्तरदायी है। यह पुरुष शारीरिक और मानसिक शक्तिके उचित अंशसे सज्जित हो तीन प्रकारकी ईषणाएँ रखता है। जीवनकी ईषणा,धनकी ईषणा और परलोककी ईषणा होती है। क्योंकि जीवनकी हानिसे सब कुछ हानि हो जाती है, इसलिये जीवनकी ईषणाका ही सर्वप्रथम ध्यान होना चाहिये। स्वस्थ और अनलस पुरुषके जीवनकी रक्षा स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करनेसे तथा रोगी पुरुषकी रक्षा रोगके दूर करनेसे ही हो सकती है। जीवनके बाद मनुष्यको धनकी चिन्ता होती है, क्योंकि बिना साधन (कर्म) के दीर्घजीवन बिताना महापाप है, इसकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य, राज्य-सेवा अथवा और कोई धन्धा करना चाहिये, जिनका निर्देश धर्मात्मा पुरुषोंने किया है तथा जिनसे जीविका और अभ्युदयकी प्राप्ति होती है। (सूत्र ११।३,५) तीसरी परलोककी ईषणा होती है।

पुनर्जन्म

क्या कोई दूसरा जीवन (परलोक) भी है? कुछ प्रत्यक्ष-ज्ञानके उपासक पुरुष भी होते हैं जो पुनर्जन्मको इसलिये नहीं मानते क्योंकि उसे हम इन्द्रियोंसे नहीं जान सकते। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं, जो केवल शास्त्रोंके आदेशपर दूसरे जीवनमें विश्वास करते हैं। इस-प्रकार जीवनके लिये उत्तरदाता कुछ लोग माता-पिताको,

कुछ प्रकृतिको कुछ ईश्वरकी सृष्टिको तथा कुछ दैवको बतलाते हैं परन्तु बुद्धिमान् पुरुष नास्तिकवादका निराकरण कर सकता है, क्योंकि बहुत ही कम दृश्य हमें प्रत्यक्ष होते हैं, अधिकांश तो प्रत्यक्ष-ज्ञानके परे हैं और उनका बोध हमें अनुमान या उपमान-प्रमाणके द्वारा ही होता है। स्वयं इन्द्रियाँ जो प्रत्यक्ष-ज्ञानके लिये उत्तरदायी हैं स्वयमेव अप्रत्यक्ष हैं। अति समीप, अति दूर, आवरण, इन्द्रियोंकी क्षीणता, असावधानी, अभिभव तथा सूक्ष्मता-के कारण पदार्थोंका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये यह कहना अयुक्त है कि जो इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, वह है ही नहीं। (चरक शा० ६,८)

उपर्युक्त किसी अवस्थाका समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि (१) यदि माता-पिताकी जीवात्मा बच्चेमें आती है तो वह कैसे? आंशिक वा पूर्णरूपमें? पूर्णरूपमें जीवात्माके संक्रमणसे माता-पिताको तत्काल मर जाना चाहिये और आंशिकरूपसे आना सम्भव नहीं, क्योंकि सूक्ष्म आत्माका खण्ड नहीं हो सकता। यही बात मन और बुद्धिके विषयकी है। साथ ही जो लोग इस विचार-को रखते हैं, जान पड़ता है वह इस बातको भूल जाते हैं कि जीवन चार प्रकारका होता है—ऊष्मज, स्थावर, अण्डज और पिण्डज। (२) फिर यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि छः पदार्थों अर्थात् पाँच तत्त्वों और आत्माके गुण उनमें स्वाभाविक होते हैं और केवल कर्म ही उनके संयोग और वियोगका कारण होता है। इसप्रकार उनमेंसे कोई भी अकेले या किसीके संयोगसे उत्पन्न नहीं हो सकते। (३) चेतन तत्त्व (जीवात्मा) के लिये जो नित्य है वह परमात्माकी सृष्टिके अन्दर नहीं आ सकता। तथापि यदि तुम कहते हो कि जीवात्मा वही परमात्मा है जो जीवनका कारण है, तो इसे मैं स्वीकार करता हूँ। (४) नास्तिकके लिये, जिसका मन दैवी (Chance) भावनाओंसे पीड़ित है, न तो ज्ञाता है न ज्ञेय है, न कर्त्ता है न कारण है, न देवता है न सन्त है, न कर्म है न उसका फल है, यहाँतक कि उसका अपना आत्मा भी नहीं है। यह नास्तिकताका पाप सब पापोंसे बढ़कर है, मनुष्यको अज्ञात स्थानमें ले जाता है। बुद्धिमान् पुरुषोंको इस उद्धत विचारका निराकरण करना चाहिये और ज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिके प्रकाशमें प्रत्येक वस्तुको यथार्थरूपमें देखना चाहिये। (चरक शा० ९।१६)

सत् अथवा असत् सब पदार्थोंका ज्ञान चार ही प्रमाणोंद्वारा होता है—आप्तवाक्य, प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान। प्रत्येक सदसद्वस्तुओंका ज्ञान इन्हीं चार प्रमाणोंसे होता है और इनसे पुनर्जन्मकी सिद्धि होती है। (चरक शा० १७,२६) आप्त-वचनसे हमें ज्ञात होता है कि दान, तप, यज्ञ, सत्यता, अहिंसा और संयमसे मनुष्य-को अभ्युदय और परमानन्दकी प्राप्ति होती है। निर्भ्रान्त ऋषियोंने धर्म-शास्त्रोंमें उनके लिये पुनर्जन्मका अवसान होना नहीं स्वीकार किया है जो मानसिक दोषों (तामस और राजस) से मुक्त नहीं हुए हैं। (शा० २७,२८) बच्चोंका अपने माता-पिताके अनुरूप नहीं होना; एक ही समय जन्मे हुए बच्चोंकी मुखाकृति, बोली, रूप, मन, बुद्धि तथा भाग्यमें विभिन्नता होना; उच्च और नीच कुल-में जन्म लेना; दासता और राजत्व; सुखी और दुःखी जीवन तथा इनकी अनियामकता; बिना अर्जित धनकी प्राप्ति; असंस्कृत शिशुमें रोना, स्तन पीना, हँसना, भय और अन्य क्रियाएँ; शरीरमें शुभाशुभ चिह्नोंका दीख पड़ना; समान कर्मोंके अनुष्ठानकी सफलतामें विभिन्नताका होना; एक ही काममें प्रवीणता तथा दूसरोंमें इसकी कमी; पूर्व-जन्मकी स्मृति; इस जगत्से चले गये पुरुषोंका पुनरागमन; एक ही प्रकारके पुरुषोंकी इच्छा और अनिच्छा आदि बातें प्रत्यक्ष देखी जाती हैं। इनसे अनुमान होता है कि यह सब मनुष्यके पूर्व-जन्मके कर्म हैं, जिसे दैव (प्रारब्ध) कहते हैं, जो संसक्ति और भोगके बिना न नष्ट ही हो सकते हैं और न दूर ही किये जा सकते हैं। इसी प्रकार इस जन्मके किये कर्मोंके फल भी दीख पड़ते हैं, फलका अनुमान बीजसे किया जाता है और बीजका अनुमान फलसे होता है। अतः यही हेतु यहाँ भी लगाया जा सकता है—गर्भ छः पदार्थोंके सन्निवेशसे उत्पन्न होता है; कर्त्ता और करणके सम्मिलित प्रयोगका अनुसरण कर्म करता है; इनमें कर्त्ता अपने कृत कर्मोंका फल पाता है, न किये हुए कर्मोंका नहीं, क्योंकि अङ्कुर बीजसे ही उत्पन्न होता है; फल कर्मके अनुरूप ही होता है; विभिन्न प्रकारके पौधोंसे एक ही प्रकारके अङ्कुर नहीं उत्पन्न हो सकते। इसप्रकार चार प्रमाणोंके द्वारा पुनर्जन्म-की सिद्धि हो जानेपर धर्म-मार्गकी चिन्ता की जा सकती है जिसमें गुरु-सेवा, विद्याध्ययन, विवाह, पुत्रोत्पादन, आश्रितोंका पालन, आतिथ्य, दान धर्म, द्वेषहीनता, तप, धर्म-चिन्तन, सम्यक् शारीरिक, वाचिक और मानसिक

कर्म, शरीर, इन्द्रियाँ, मन, इन्द्रियोंके विषय, बुद्धि और आत्माकी परीक्षा, चित्तकी एकाग्रता तथा ऐसे ही अन्य साधनोंका समावेश होता है। इसप्रकार जीवन बिताते हुए हम इहलोकमें यश और मरणोपरान्त स्वर्गकी प्राप्ति कर सकते हैं (शा०२९-३३)।

मन और आत्माका अस्तित्व स्वीकार किया गया। परन्तु किसप्रकार वह जाने जा सकते हैं तथा उनके स्वभाव और गुण क्या हैं? चरक इसप्रकार उत्तर देते हैं—

चौबीस तत्त्व

उसी आयुर्वेदिक पुरुषके लिये समस्त जगत्का विश्लेषण चौबीस प्रारम्भिक तत्त्वोंमें किया जा सकता है—अव्यक्त, बुद्धि, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएँ, एकादश इन्द्रियाँ और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके विषय। अव्यक्तके अतिरिक्त शेष तेईस तत्त्व क्षेत्र कहलाते हैं, अव्यक्त क्षेत्रज्ञ कहलाता है। अव्यक्तसे बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धिसे अहङ्कार उत्पन्न होता है; और तब दूसरे क्रमशः अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं। इस-प्रकार प्रत्येक बातमें पूर्ण होकर पुरुषका उत्पन्न होना कहा जाता है। प्रलयके समय वह पुनः इन तत्त्वोंसे अलग होता है। (शा० ६३, ६५) न तो क्षेत्रज्ञ और न क्षेत्र-परम्पराका ही कोई प्रारम्भ होता है, इसलिये पूर्व और उत्तरका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। परन्तु रजोगुण और तमोगुणके द्वारा प्रेरित होकर व्यक्त जगत् बारम्बार प्रकृतिसे उत्पन्न तथा उसमें विलीन हुआ करता है। (शा० ६६)

पूर्वके छः प्रकारके विश्लेषणमें जीवात्मा अव्यक्त या क्षेत्रज्ञके रूपमें आता है, मन बुद्धि और अहङ्कारके स्थानमें आता है क्योंकि वह मनकी ही विभिन्न क्रियाएँ हैं और पञ्चभूत शेष तत्त्वोंके स्थानमें आते हैं क्योंकि वह इन्हींसे उत्पन्न होते हैं।

मन और आत्मा

सावधानी तथा असावधानीके कारण आत्मा, इन्द्रियों तथा उनके विषयोंके उपयुक्त होनेपर भी ज्ञानके होने या न होनेसे मनके अस्तित्वकी सिद्धि होती है और प्रत्येक प्रकारके संवेदनोंके एक समयमें अलग-अलग होनेके कारण मनका प्रत्येक इन्द्रियके साथ ऐक्य और उसकी सूक्ष्मता प्रमाणित होती है। (शा० १६, १७) मनका काम इन्द्रियोंका निरीक्षण करना तथा उन्हें आत्माके सम्पर्कमें लाना, अपना संयम करना, तर्क और निर्णय करना है, जिससे वह वस्तुओंको समझ पाता है। इस शरीरमें रहनेवाला आत्मा सर्वव्यापी, प्रत्येक शरीरका पालक, सर्व-शक्तिमान् और सर्वरूप है। (शा० १४, ३२) वही निमित्त और उपादान-कारण, कर्त्ता, विचारक, ज्ञाता, ग्राहक, द्रष्टा, स्रष्टा, ब्रह्म, पुरुष, मूल, आश्रय, नित्य, सगुण, धर्त्ता, परमतत्त्व, अव्यक्त जीव, चेतना, प्राण, मन और अन्तरात्मा है। (शा० ४–८) 'मैं' और 'मेरे' कर्म और उनके फल, पुनर्जन्म और स्मृतिमें निहित भाव सिद्ध करते हैं कि आत्मा शरीरके अतिरिक्त है, जो अस्तित्वके लिये उत्तरदायी है। (शा० १, ५०) वह सत् और कारणरूप होते हुए नित्य है। यदि आत्मा न होता तो बुद्धि और जड़ता, सत्य और असत्य, वेद, शुभाशुभ कर्म असत् हो जाते, क्योंकि आत्मा ही कर्त्ता और ज्ञाता है। यदि आत्मा न होता तो न शरीर होता, न सुख और दुःख होते, न गति होती न विराम होता, न वाणी होती न बुद्धि होती, न शास्त्र होते न जन्म-मृत्यु होता, न बन्धन होता और न मोक्ष होता। यही कारण है कि बुद्धिमान् लोग आत्माको ही इन सबका कारण बतलाते हैं। (शा० ३७–३९) यह आत्मा परमतत्त्व है, निर्विकार है, समस्त भावोंसे निरपेक्ष सम्बन्ध रखता है, परन्तु बुद्धि और शरीर-की विभिन्नताके कारण आत्मामें विभिन्नता दीख पड़ती है। (शा० ३–२४)

चार तत्त्वोंसे युक्त होकर (क्योंकि आकाश सर्वत्र है और यह तत्त्व इसीमें स्थित रहते हैं और कर्मद्वारा उत्पन्न होते हैं) आत्मा मनकी गतिके द्वारा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तथा रज-वीर्यके यथार्थ संयोगके द्वारा कुक्षिमें नवीन शरीरको निर्मित करता है। (२।३१, ३५) चेतनाका कारण होनेसे आत्मा अकर्त्ता होनेपर भी कर्त्ता कहलाता है। मनको कर्त्ता नहीं कह सकते, क्योंकि यद्यपि वह कर्म करता है तथापि वह स्वयं अचेतन रहता है। (१।७३, ७४) आत्माका ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके संयोगसे होता है। इन्द्रियोंके साथ मन तथा केवल मन क्रमशः विशेष और निर्विशेष ज्ञानके कारण हैं। (१।५२, ५३; ३।२६) मन बाह्यरूपसे सदा जीवका अनुसरण करता है। (३।२६) और अपनी एकाग्रताके द्वारा आध्यात्मिक सिद्धियोंको तथा मुक्तिको प्राप्त करता है। यह सत्त्व-रज-तम त्रिगुणोंसे निर्मित होता है। जिनमें सत्त्वकी

प्रधानता होती है और वह बहुधा स्वयं मनके लिये उपस्थित होता है। (३।१९; ४।३७) इनके संयोगके आवर्त्तनको पुरुष कहते हैं, जो रज और तमके रहते हुए कभी अवसानको प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु जैसे ही सत्त्वगुणके द्वारा इनका अभिभव होता है, पुरुष स्थिर हो जाता है। (१।३४) आत्मा जो प्रकृतिका अधिष्ठाता है वह अकेले न तो कर्ममें लगता है और न फलको ही प्राप्त करता है। केवल दोनोंके संयोगपर ही सब कुछ निर्भर है और उसके बिना कुछ नहीं जाना जा सकता। (शा० ४५) जहाँ आत्मा, मन, इन्द्रियों और ऐन्द्रिय विषयोंका संयोग होता है वहाँ ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है। परन्तु निष्क्रियताके कारण जब इनका उपराम हो जाता है और मन पूर्णतः आत्मामें संलग्न हो जाता है तो पुरुष शरीरके साथ रहते हुए ही आठ प्रकारकी दिव्य शक्तियोंको प्राप्त करता है। जाननेवाले लोग इसे योग कहते हैं। (शा० १३६–१३९)

मुक्ति

राजसिक और तामसिक अवस्थाओंसे मुक्त होना, पूर्वजन्मके कर्मोंका क्षय होना तथा नवीन कर्मोंकी अनासक्तिको अपुनर्भव अथवा मोक्ष कहते हैं। यह तभी होता है जब कुछ निर्धारित नियमोंका अभ्यास करनेसे शुद्ध सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होती है और जिससे वस्तुओंका यथार्थ रूप दिखलायी देने लगता है तथा जान पड़ता है कि 'जो कुछ हो रहा है दुःखमय, क्षणस्थायी तथा अनात्म्य है, मैं इनका कारण नहीं हूँ और न तो इनसे मेरी अभिन्नता है और न यह मेरे हैं।' (१।१५०, १५१; ४।१४, २०) जब कोई पुरुष यह अनुभव कर लेता है तो वह पूर्णतः निरपेक्ष तथा अहङ्कारशून्य हो जाता है। तब समस्त सुख-दुःख, चेतना, ज्ञान और प्रतीति जड़के साथ चली जाती हैं। (१।१५२) इसके पश्चात् जीवात्मा परमात्मामें लीन हो परमानन्दमें रत हो जाता है और मन आदि सहकारियोंसे पूर्णतया रहित होनेके कारण उसका पुनः पता नहीं लगाया जा सकता। (१।१५२; ४।२२, २४)

विपर्यास

(१)

उजड़े इस स्मृति-कुटीरके अतिथि तुम्हें क्या दूँ मैं ?
सेवाके इस दीन सदनमें कैसे सन्मुख हूँ मैं ?

(२)

परम पुरातन इन तागोंसे कैसे तुमको बाँधूँ ?
कैसे इस जर्जर जीवनसे प्रेम योग आराधूँ ?

(३)

चुन चुनकर करसे तिनकोंके बने दरिद्र सदनमें ?
लगी आग, सब राख हुआ, अब क्या अवशेष वदनमें ?

(४)

जले हुए इस रङ्क अङ्कमें, कैसे तुम्हें बिठाऊँ ?
बालूकी भव भीति गगनमें कैसे कहाँ उठाऊँ ?

(५)

निराधार जीवन नैयाको सौंपूँ किसे कन्हैया ?
तुम बिन कोई नहीं जगतमें मेरी नाव खेवैया ?

'मयङ्क'

विवेक-वाटिका

सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको नहीं पहचानते । —भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

इस परमात्माको महान्, प्रभु, सबका प्रवर्तक कहा जाता है, इस परब्रह्मको अतिशय निर्मल, आनन्दके नियामक, ज्योतिस्वरूप और अविनाशी कहते हैं ।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

पृथ्वीकी ओर देखकर पैर रखना, जलको कपड़ेसे छानकर पीना, वाणीको सत्यसे पवित्र करके बोलना और मनमें विचार करनेपर जो उत्तम प्रतीत हो, वही करना चाहिये । —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

हे पिताजी, जिस परमात्माका परमपद शब्दोंद्वारा नहीं बतलाया जा सकता, जो योगियोंके ध्यानमें आता है और जिससे सारा विश्व उत्पन्न हुआ है तथा जो स्वयं विश्वरूप है, वही परमेश्वर मेरा विष्णु है । —प्रह्लाद

❀ ❀ ❀ ❀

मनको सन्मार्गपर ले जानेका पहला साधन 'सत्य' है, दूसरा 'संसारसे उपरामता' है, तीसरा 'आचरणकी उच्चता और पवित्रता' है और चौथा 'अपने अपराधोंके लिये प्रभुसे क्षमा-प्रार्थना करना' है । —सहल तस्तरी

❀ ❀ ❀ ❀

कभी चरित्रसे पतित न होना चाहिये । गिरनेमें गौरव नहीं है । पतितावस्थासे पुनः पुनः उठकर खड़े होओ, इसीमें परम गौरव है । —कानफ्यूसियस

❀ ❀ ❀ ❀

जिसप्रकार दवाके बिना बीमारीको सहन करना कठिन है, उसी प्रकार ज्ञानके बिना सांसारिक प्रभुताको सँभालना भी दुस्साध्य है । मनुष्य चारों ओर अज्ञानसे घिरा हुआ है, इसलिये वह भोग लिप्साके पीछे पड़ जाता है । —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

किसी चीजसे भी न चिढ़ो । काम उसी निर्लिप्त भावसे करो, जिस तरह वैद्य लोग अपने रोगियोंकी चिकित्सा करते हैं और रोगको अपने पास नहीं फटकने देते । सब उलझनोंसे मुक्त अथवा द्रष्टा साक्षीकी भावनासे काम करो । स्वतन्त्र रहो । —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

जब देहमेंसे श्वास निकल जायगा, तब पछतायगा । इसलिये जबतक शरीरमें श्वास है, तभीतक रामका स्मरण करके उनका गुण गा ले । —सहजोबाई

❀ ❀ ❀ ❀

क्षणमात्रको प्राप्त होनेवाले थोड़े से जीभके स्वादके लिये जीवोंकी हत्या करना बड़ी ही नृशंसता है । भगवान्‌के भेदोंसे भरे हुए अपने पेटको जानवरोंकी कब्र बनाना उसका निरादर करना है । एक चींटीको भी न सताओ, क्योंकि वह भी जीवधारी है और अपना जीव हर एक को प्यारा है । —अकबर

❀ ❀ ❀ ❀

अगर तेरे घटमें प्रेम है तो उसका ढिंढोरा न पीट । तेरे हृदयके भावको अन्तर्यामी जानते ही हैं ।

—मलूकदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

रे मन ! तू बड़ा ही कठोर है, मेरे अन्दरसे तू निकल क्यों नहीं जाता ? उस सुन्दर, साँवरे, सलोने रूप बिना तू रात दिन कैसे जीता है ? —दयाबाई

❀ ❀ ❀ ❀

तीन चीजें ऐसी हैं जिनको जितना बढ़ाओगे, उतनी ही बढ़ती रहेंगी, इनसे सावधान रहो—भूख, नींद और भय । —अफलातून



वैदिक-विनय

(लेखक—पं० श्रीदेवशर्माजी 'अभय' विद्यालङ्कार)

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुः,
वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः,
किं स्विद्वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

(ऋ० ६।९।६)

हे प्रभो! मैं चाहता हूँ कि मैं बिल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक वाणीद्वारा तेरा नाम जपूँ या तेरा मनन करूँ, तेरा ध्यान करूँ। परन्तु जब मैं ऐसा करनेके लिये बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनायी पड़ते ही मेरे कान वहाँ दौड़ जाते हैं, आँखोंके सामने कुछ भी आते ही मैं वहाँ देखने लगता हूँ। कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आँखें कुछ देखने लगती हैं और यदि मैं किसी ऐसे स्थानपर जाकर बैठता हूँ जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन ही अन्दर-अन्दर सब कुछ देखता, सुनता रहता है। दिन-रातकी किसी बातका स्मरण आते ही मन वहाँ भाग जाता है और वहाँकी बात सोचने लगता है। तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुँचा हुआ है। और यदि किसी दिन कोई मनपर चोट लगानेवाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार-बार वहीं पहुँचता है—रोकनेका बड़ा यत्न करनेपर भी क्षण-क्षणमें वहीं जा पहुँचता है। मेरे हृदयमें जगनेवाली वह ज्योति भी—जो वातरहित स्थानमें रक्खे हुए दीपककी शिखाकी तरह बिल्कुल अनिङ्गित, बिल्कुल ही न हिलती हुई, एकरस जलती हुई रहनी चाहिये—वह ज्योति, वह ज्ञान-ज्योति भी सदा इधर-उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियोंकी हवा लगते रहनेसे हिलती रहती है। तो फिर मैं तेरा ध्यान कैसे कर सकता हूँ? एकाग्रतासे तेरा नाम कैसे जपूँ? तेरा मनन कैसे करूँ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकूँगा तो उस दिन जब कि मेरी यह जीवन-साधना समाप्त होगी, तुम्हें क्या उत्तर दूँगा? तुम्हारे सामने किस बातका अभिमान कर सकूँगा? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुँचनेकी साधनाहीके लिये दी हैं। तो उस दिन जब कि तुम यह शरीर वापिस माँगोगे तब तुम्हें मैं क्या उत्तर दूँगा? क्या मुँह दिखलाऊँगा? हे प्रभो! शक्ति दो कि मेरे मनकी आज्ञाके बिना मेरे ये कान, आँख आदि कहीं न जा सकें और यह मन भी हृदयकी ज्योतिके साथ मिल जाया करे—ज्योति एक-रस जगती रहे। ऐसी अवस्था दिनमें दो बार सन्ध्योपासनाके समय तो हो जाया करे, नहीं तो मैं क्या मुँह दिखाने लायक रहूँगा?

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु,
उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छम्।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहुः,
अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥

(ऋ० ७।८६।३)

हे प्रभो! मैं तेरे दर्शन पानेके लिये व्याकुल हूँ। तुमसे साक्षात् मिलनेके लिये दिन-रात प्रतीक्षामें हूँ। इसके लिये यत्न करते हुए बहुत दिन हो गये। ऐसा एक भी साधन नहीं छोड़ा जो तुमसे मिलानेवाला प्रसिद्ध हो। कठोर-से-कठोर तप बड़े आनन्दसे किये हैं। तो अब कौन-सा पाप रह गया है जिससे तुम्हारे चरण-दर्शन नहीं हो पाते? हे वरुण! तुमसे ही पूछता हूँ, मुझे मालूम नहीं। मुझे मालूम होता तो मैं कभीका प्रतीकार कर चुका होता! हे पापनिवारक! तुम ही मुझ दर्शनपिपासुको मेरा वह अपराध बतलाओ जिससे अप्रसन्न होकर तुम मुझे दर्शन नहीं देते।

मनुष्योंमें मैं जिन्हें ज्ञानी, भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूँ उन सबके पास जाता हूँ और जाकर यही पूछता हूँ कि वरुणदेवके मुझे दर्शन क्यों नहीं होते। पर ये सब क्रान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एकस्वरसे यही बतलाते हैं कि यह वरुणदेव ही तुझसे नाराज़ है। वे सब सच्चे ज्ञानी मुझे यही एक उत्तर देते हैं। तो हे देव! मैं अब तुम्हारे बिना और किससे पूछूँ? सचमुच अब और किसीसे पूछना वृथा है। हे देव! या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नताका कारण बतला दो, नहीं तो मुझे दर्शन दे दो। हे मेरे स्वामी! जब मुझे अपने पापका पता न लगेगा तो मैं उसका प्रतीकार कैसे कर सकूँगा? मैं तुम्हें प्रसन्न करके छोड़ूँगा। अपने पापोंके प्रतिविधानके लिये मैं घोर-से-घोर प्रायश्चित्त करनेको तैयार हूँ। अपनेको पूरी तरह पवित्र कर डालनेके लिये आज मैं क्या नहीं कर डालूँगा। मैं अब तुमसे मिल जानेके लिये व्याकुल हो उठा हूँ। इसीलिये, हे अन्तर्यामी प्रभो! मैं तुमसे अपने पापोंको जानना चाहता हूँ। मेरे पापोंके सिवा इस संसारमें और कोई वस्तु नहीं है जो अब मुझे तुमसे मिलनेसे रोक सके।*

वयोवृद्ध विद्वानोंका परलोकवास

राजा युधिष्ठिरने यक्षके प्रश्नके उत्तरमें कहा था कि–'प्रतिदिन ही मनुष्य मरते हैं, परन्तु पीछे रहनेवाले अपनी मृत्युकी बात न सोचकर सदा स्थिर रहना चाहते हैं, इससे बड़ा और क्या आश्चर्य होगा?' बात सर्वथा सत्य है। हम देखते हैं, हमारे बीचसे हमारे बड़े-बूढ़े पूज्य पुरुष, हमारे समवयस्क बन्धु और हमारे बालक कालके द्वारा छीन लिये जाते हैं। जो जाते हैं, उनकी चाहे हम कितनी ही स्मृति-रक्षा करें तथा कितना ही अभिनन्दन कर उनके ऋणसे उऋण होनेकी और अपने आत्माको सन्तोष प्रदान करनेकी चेष्टा करें, वे उस शरीरसे हमसे सदाके लिये विलग हो ही गये। उनका उस शरीरसे, हमसे या उनकी अपनी कहलानेवाली वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। वे जिस घरके मालिक थे, जिन वस्तुओंपर उनका प्रभुत्व था, जहाँ उनकी धाक थी, उनके जानेके बाद पीछेवाले चाहे जैसी मनमानी करें, चाहे जैसा उनके प्रतिकूल कार्य करें, वे उस शरीरसे आकर उन्हें रोक नहीं सकते। कहीं सूक्ष्म शरीरमें रहकर वासना रहनेसे अपने प्रतिकूल क्रियाओंको देखकर उन्हें दुःख भले ही हो परन्तु वे उसका पूर्वशरीरसे प्रतीकार नहीं कर सकते। हम सबकी यही अवस्था होनेवाली है, फिर भी हम अपने बीचसे जानेवालोंका दो दिनके लिये शोक मनाकर रह जाते हैं, अपनी दशापर विचार नहीं करते, यह कितना बड़ा प्रमाद है।

पिछले कुछ महीनोंमें तो ऐसे अनेक पुरुष हमलोगोंके बीचसे उठ गये, जिनसे हमारा बहुत प्रेमका सम्बन्ध था और हमारे अन्दर बड़े विद्वान् समझे जाते थे। सांसारिक व्यवहारकी दृष्टिसे उनके परलोकवाससे जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होना असम्भव है। इन विद्वानोंमें यहाँ पं० श्रीपद्मसिंहजी शर्मा, पं० श्रीजगन्नाथदासजी रत्नाकर, पं० श्रीकिशोरीलालजी गोस्वामी, स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज गोलाघाट अयोध्या, पं० रामप्रसादजी, पं० श्यामसुन्दरजी चक्रवर्ती, पं० श्रीनाथूरामजी 'शङ्कर' शर्मा और श्रीदामोदरसहायसिंहजीका नाम उल्लेख योग्य है। ये सभी हमारे पूज्य और प्रेमी थे। जगत्‌की नश्वरतापर संसारी मनुष्य आँसू बहानेके सिवा और क्या कर सकता है? परन्तु यदि वह सावधान होकर अपनी स्थिति समझ ले और 'दुःखालय तथा अशाश्वत' संसारमें अपना कर्तव्य निश्चय कर ले तो अवश्य ही उसकी मृत्यु सुखमय हो सकती है।

* उपर्युक्त दोनों मन्त्र विनयसहित पं० श्रीदेवशर्मा 'अभय' विद्यालङ्कार-लिखित वैदिक-विनय नामक पुस्तकके प्रथम खण्डसे उद्धृत किये गये हैं। शर्माजी इसके तीन खण्डोंमें प्रतिदिन प्रार्थना करनेके लिये ३६५ दिनके ३६५ चुने हुए वेद-मन्त्रोंका संग्रहकर उनपर विनय लिखनेवाले हैं। अभी प्रथम खण्ड प्रकाशित हुआ है, इसमें पहले चार महीनोंके लिये मन्त्र हैं, जो बड़े ही उत्तम और शिक्षाप्रद हैं। पुस्तक गुरुकुल-कांगड़ीसे प्रकाशित हुई है, सवा रुपया मूल्य है, छपाई, सफाई बहुत ही सुन्दर है। वैदिक-प्रार्थना करनेवालोंके बहुत ही उपादेय और संग्रहणीय है। —सम्पादक

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, कार्तिक १९८९ नवम्बर १९३२ | संख्या ४ पूर्ण संख्या ७६

राम सुमिर

तू तो राम सुमिर जग लड़वा दे ।
कोरा कागज काली स्याही, लिखत पढ़त वाको पढ़वा दे ॥
हाथी चलत है अपने मारग, कुतर भुकत वाको भुँकवा दे ।
कहत कबीर सुनो भई साधो, नरक पचत वाको पचवा दे ॥

—कबीरजी

पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके उपदेश

मनुष्य-शरीर बहुत ही गन्दा है, पर इसमें एक गुण है, वह यह कि हम उपासनाद्वारा दिव्य शरीर-की प्राप्ति कर सकते हैं। मनुष्य-शरीरको छोड़कर और किसी शरीरमें यह गुण नहीं।

उपासनामें विघ्न इसीलिये आते हैं कि हमारा उसमें पूरा आग्रह नहीं होता, जब हमारी उसमें पूरी आसक्ति होगी, तब हमें कोई भी विघ्न विचलित नहीं कर सकेगा।

उपासनामें सबसे बड़ा विघ्न अपने कियेका अभिमान है। अभिमानवश हम दूसरोंका अपमान कर बैठते हैं, अपनेसे दूसरोंको छोटा समझते हैं। यही सबसे बड़ा पाप है, इससे सारा किया-कराया नष्ट हो जाता है।

अपनी निष्ठामें तो पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। परन्तु दूसरोंकी निष्ठाकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

अभ्यासीसे प्रथम तो पाप होते ही नहीं, कहीं आसक्तिवश कोई हो जाता है तो वह तीव्र अभ्यास-रूपी अग्निमें तुरन्त भस्म हो जाता है।

सत्सग करे और अभ्यास न करे तो क्या लाभ है। जैसे रामायण पढ़े और श्रीरामका भक्त न हो, अथवा श्रीमद्भागवतका पारायण करते हुए भी श्रीकृष्णचन्द्रका अनुरागी न हो।

श्रद्धा, तत्परता तथा जितेन्द्रियता—इनमेंसे एकके भी अभावमें इष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती, अतएव लक्ष्यकी सिद्धिके लिये तीनोंकी ही आवश्यकता है।

हजारों-लाखोंमें कोई ही एक साधु बनता है।

सीखनेकी वस्तु भजन ही है, ब्रह्मविचार नहीं। विचार तो भजनके फलसे स्वय ही प्राप्त हो जाता है। जो भजन करता है उसे कालान्तरमें या जन्मान्तरमें विचार हो ही जायगा। अतएव विचारके लिये भजन नहीं छोड़ना चाहिये।

विचारकी उत्पत्ति गुरु-सेवासे भी होती है। जैसे भृङ्गीका ध्यान करनेसे कीड़ा तद्रूप हो जाता है, इसी प्रकार गुरुकी सेवामें तत्पर रहनेसे शिष्यमें गुरुके गुण आ जाते हैं।

प्रणव या राम कृष्णादि नामोंमेंसे किसीका भी जप किया जाय परन्तु उसीमें तन्मय हो जाना चाहिये।

स्तुति और निन्दा दोनों ही उपासना है, स्तुतिमें उपासककी दृष्टि उपास्यके गुणोंपर रहती है इसलिये वह गुणोंको ग्रहण करता है और निन्दामें अवगुणोंपर, इसलिये वह अवगुण ग्रहण करता है।

तुमसे जो अलग वस्तु दीखती है, सो सब ससार है। देखनेवाला क्या है, इसको बुद्धि नहीं जान सकती, इसलिये वह 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' है और समस्त ससारका द्रष्टा है।

शरीर अलग है और मैं अलग हूँ, पहले ऐसी भावना करनी चाहिये। हरा, पीला, काला, लाल जो रूप दीखता है, उससे मैं अलग हूँ। राग-द्वेष, सुख-दु ख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति सबसे मैं अलग हूँ।

ज्ञेय अलग है और ज्ञाता अलग है, यह भाव परिपक्व हो जानेपर ज्ञेय ज्ञाताकी चमकमात्र है और कुछ भी नहीं है, इसप्रकार ज्ञेयका ध्यान न करना ही ज्ञाताका ध्यान है। ज्ञेयसे ज्ञाता अलग है ऐसा हर समय चिन्तन करना चाहिये। राम, कृष्ण, शिव सबका लक्ष्य अपना इष्टदेव ज्ञाता ही समझना चाहिये।

सब ज्ञेय है, इसलिये भय, क्रोध, राग, द्वेष किसीसे भी नहीं करना चाहिये। शम, दम, ध्यान,

सर्वथा त्याग, वैराग्य इन पाँचोंपर विशेष ज़ोर देना चाहिये। राग, द्वेष और भय भगवान्‌से हों तो ये मुक्तिके और संसारसे हों तो बन्धनके कारण हैं।

भगवान् परिपूर्ण हैं, उनसे प्रेम करनेकी आवश्यकता है। ज्ञानमें आनन्द नहीं, प्रेममें आनन्द है। किसी पुरुषको जान लेना ज्ञान है और उससे पुनः पुनः मिलना प्रेम, भक्ति या अभ्यास है।

याद रक्खो, संसार दुःखरूप है, स्वप्नवत् है, माया है, आत्माकी तरङ्ग है। आकाशमें कोई वस्तु है और मैं आकाशसे अलग हूँ, तब वह आकाशमें वस्तु नाश हो या उत्पन्न हो, उसमें मुझे सुख-दुःख क्यों होगा ?

सब संसार भावनासे ही बना है, देह भी भावनासे बना है। विपरीत भावनासे इस भावका अभाव करो।

कल्याण



पुराने इतिहासों, पुराणों और अन्य ग्रन्थोंसे पता लगता है कि किसी जमानेमें मनुष्य प्राप्त भोग-सुखोंको छोड़कर परमात्म-सुखके लिये लालायित था। उसने अपने जीवनका उद्देश्य ही मान रक्खा था, आत्माको जानना—परमात्माको प्राप्त करना। गर्भाधान-कालसे इसीके लिये तैयारी होती थी और जीवनभर इसीकी शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और संन्यास ये चार आश्रम और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण मनुष्यके इस अन्तिम ध्येयकी प्राप्तिके लिये ही बनाये गये थे और इनकी सुव्यवस्थापूर्ण पद्धति मनुष्यको क्रमशः परमात्माकी ओर ले जाती थी। शिक्षाका उद्देश्य ही था, मनुष्यको पूर्ण सुखकी प्राप्तिके साधन बतला देना !

× × ×

समयने पलटा खाया, मनुष्यकी दृष्टि नीचे उतरी, ध्येय पदार्थ नीची श्रेणीका हो गया, अब तो यहाँतक हुआ कि भोग-सुख ही जीवनका लक्ष्य समझा जाने लगा। अपना सुख या देशका सुख—जो छोटे दायरेमें है, वह अपने सुखके लिये यत्नवान् है, जो बड़े दायरेमें है वह देशके सुखके लिये चेष्टा कर रहा है, इसके अन्दर भी निज सुखकी इच्छा तो छिपी है ही, फिर उस सुखका स्वरूप क्या है ? खूब धन हो, सम्मान हो, सत्ता हो, अधिकार हो, प्रभुत्व हो, इनकी प्राप्तिके लिये चाहे जिस साधनका प्रयोग करना पड़े, चाहे जिस उपायसे काम लिया जाय, झूठ, कपट, छल, द्रोह, हिंसा किसीके लिये रुकावट नहीं, काम होना चाहिये, सफलता मिलनी चाहिये। आश्चर्य तो इसी बातका है कि मरणधर्मा मनुष्य दूसरेको लूटकर, मारकर स्वयं सुख-शान्तिसे जीना चाहता है।

× × ×

परन्तु क्या किया जाय ! विद्यालय, विश्वविद्यालय, आश्रम, मठ, मन्दिर, सभी जगह यही शिक्षा मिल रही है; बस, धनवान् बनो, अधिकार प्राप्त करो, सत्ता लाभ करो, इस लोकका सुख ही सुख है, यहाँका अधिकार ही जीवनका लक्ष्य है; यह न हुआ तो जीवन वृथा गया। परिणाम प्रत्यक्ष है। आज चारों ओर अधिकारकी लड़ाई शुरू हो रही है, लोगोंके जीवन दुःखमय बन गये हैं; कोई अधिकार-प्राप्तिके लिये व्याकुल है तो कोई अधिकार-रक्षाके लिये। भगवान्‌के लिये व्याकुल होनेवाले रैदास चमार और सजन कसाई शायद कोई नहीं, परन्तु मन्दिरप्रवेश सभी चाहते हैं और जिन्हें मन्दिर

या मन्दिरमें स्थित भगवान्‌की मूर्तिमें तनिक भी श्रद्धा नहीं है वे ही लोग सबको मूर्तिके सामने ले जानेपर तुले हुए हैं । क्या कहा जाय ! हमारा तमाम जीवन ही बाह्य हो गया, बाह्य वस्तुओंके लिये—इन्द्रिय-भोगोंके लिये बिक गया ! मांसके टुकड़ोंके लिये चील-कौओंकी-सी लड़ाई होने लगी ।

× × ×

किसी जमानेमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये तप होते थे । आज भोगोंकी प्राप्तिके लिये होते हैं ! कभी भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण होता था, आज भोगोंकी प्रतिमा पूजी जाती है ! कभी देहात्मबोध छोड़कर ब्रह्मात्मबोध किया जाता था; अब ब्रह्मात्मबोधकी अनावश्यकता समझी जाकर उस मार्गके पथिकोंको भी देहात्मबोधकी शिक्षा दी जाती है । बड़े-बड़े मनीषी, तपस्वी, संयमी पुरुष भी आज भोगोंकी प्राप्ति करने-करानेके लिये जीवनकी और धर्मकी बाजी लगाये बैठे हैं, और इसीको धर्म समझा जा रहा है ! इस भोगपरायणता—इन्द्रिय-सुखपरताका परिणाम क्या होता है ? मनुष्योंमें राक्षसी भावोंका उदय, द्वेष-हिंसा-प्रतिहिंसाका प्राबल्य, घोर अशान्ति और सुखके नामपर दुःखपूर्ण जीवन-यापन ।

× × ×

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भोग-सुख और भौतिक सत्ता-सामर्थ्यसे सम्पन्न समुन्नत कहानेवाले देशोंकी भीतरी दशा है । परन्तु इस दशाको भी देखना होगा ईश्वराभिमुखी ज्ञानसम्पन्न भारतीय नेत्रोंसे; हमने ये नेत्र खो दिये, कम-से-कम हमारे इन नेत्रोंपर जाले छा गये, इसीसे हम विपरीतदर्शी हो रहे हैं । वहाँकी सभी बातें हमें अच्छी लगती हैं चाहे वह बुरी-से-बुरी हों; ऐसा जादू छाया है कि उसने हृदयको ही 'पराया' बना दिया । इसीके परिणामस्वरूप आज हम वहाँके अनाचारमें सदाचार, पापमें पुण्य, स्वार्थान्धतामें देशभक्ति, अवनतिमें उन्नति, अधर्ममें धर्म और पतनमें उत्थानका विपरीत दृश्य देख रहे हैं, और सब ओर उसीके प्रवर्त्तनकी अन्धचेष्टामें तत्पर हैं ।

× × ×

जहाँ सुख है ही नहीं, वहाँ सुखको खोजना वैसा ही है जैसा तप्त मरुभूमिमें जल समझकर भटकना । भगवान् श्रीकृष्णने तो इस जगत्‌को 'अनित्य' और 'असुख' अथवा 'दुःखालय' और 'अशाश्वत' बतलाया है । और इसके प्रत्येक पदार्थमें 'जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि' रूप दुःख-दोष देखकर इससे वैराग्य करनेकी आज्ञा दी है और वैसा बनकर ही जगन्नाटकके सूत्रधार भगवान्‌की आज्ञानुसार अपने-अपने स्वांगके अनुकूल अभिनय करनेको निष्काम कर्म बतलाया है । आज हम भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञा मानकर लड़ने-मरनेको तो प्रस्तुत हैं परन्तु भोगेच्छा छोड़कर वैराग्य ग्रहण करनेके लिये जरा भी तैयार नहीं । फलस्वरूप निष्काम कर्मयोगके स्थानपर विकर्म—पाप-कर्म होते हैं—भोग-सुखेच्छासे प्रेरित होकर रागद्वेष-वश किये जानेवाले असत्य, कपट और हिंसायुक्त कर्म पाप न होंगे तो क्या होंगे ? पापका फल दुःख होता ही है; उसीका भोग भी हम खूब भोग रहे हैं । आश्चर्य और खेद तो यह है कि गीताकी दुहाई देकर मनमाने आचरण किये जा रहे हैं ।

× × ×

आज जो कुछ हो रहा है इसके अधिकांशमें न ज्ञान है, न निष्काम कर्म है और न भक्ति है । ज्ञानमें प्रधान बाधा है देहाभिमानकी, सो उसको खूब बढ़ाया जा रहा है । निष्काम कर्मयोगमें प्रधान बाधक है स्वार्थबुद्धि, जिसकी वृद्धिके लिये प्रत्येक सम्प्रदाय और दल जोरोंके साथ सङ्गठित हो रहे हैं और भक्तिमें प्रधान प्रतिबन्धक है शरणागतिमें कमी—भगवान्‌पर पूर्ण निर्भर न होना, सो यह भी प्रत्यक्ष

ही है। सच्चा ज्ञानी, सच्चा निष्कामकर्मी और सच्चा भक्त कभी छल, कपट, दम्भ, असत्य, अन्याय और हिंसा आदिका अवलम्बन नहीं कर सकता।

× × ×

क्योंकि ज्ञानके साधनमें देहात्मबुद्धिका—शरीरमें 'मैं' बुद्धिका त्याग करना पड़ता है, उसके लिये आत्मा शरीरसे उसी प्रकार अलग है, जिसप्रकार दूसरे शरीरोंसे हमारा शरीर। यह स्थिति प्राप्त होनेपर अर्थात् देहात्मबुद्धिके छूट जानेपर पापकर्म नहीं बन सकते। इसी प्रकार स्वार्थ-बुद्धिके परित्याग हो जानेपर ईश्वरार्थ किये जानेवाले निष्काम कर्म भी पापयुक्त नहीं हो सकते। और भगवत्-भक्तिमें तो मनुष्य भगवान्‌के शरण ही हो जाता है, उस अवस्थामें उसके दूषित भावोंका त्याग स्वाभाविक ही होता है। जहाँ दुष्कर्म होते हैं, सफलताके लिये शास्त्रविरुद्ध कर्मोंका, पापोंका आश्रय लिया जाता है, वहाँ ज्ञान, निष्काम कर्म और भक्तिका स्वप्न देखना मोहमात्र है।

× × ×

इस मोहका भङ्ग होना आवश्यक है, परन्तु हो कैसे ? अज्ञानजनित भोग-लोलुपताके अन्धकारने हमारे ज्ञानको ढँक लिया है और चारों ओरसे इस अन्धकारको और भी घन करनेका अथक प्रयत्न हो रहा है। इस अन्धकारकी घनताको ही ज्ञानका प्रकाश कहा जाता है। मनुष्यकी बुद्धि आज उल्लू और चमगीदड़की दृष्टि-जैसी हो गयी है, जैसे इन पक्षियोंको दिनमें अँधेरा और रातको प्रकाश दीखता है, वैसे ही हमें भी आज अन्धकारमें ही प्रकाशका भ्रम हो रहा है, इसीसे हम 'कामोपभोगपरायण' होकर सैकड़ों आशाकी फाँसियोंमें बँधे हुए काम-क्रोधादि साधनोंसे 'कामभोगार्थ' 'अन्यायपूर्वक अर्थ-प्राप्ति' के उपायोंमें लग रहे हैं। मोहने हमें घेर लिया है। अभिमानने हमें अन्धा कर दिया है, लोभने हमारी वृत्तिको बिगाड़ दिया है, मदने हमें उन्मत्त बना दिया है, इसीसे आज हम 'अहंकार-बल-दर्प-काम-क्रोध'का आश्रय लेकर 'सर्वभूतस्थित' भगवान्‌के साथ द्वेष करने लगे हैं। इन आसुरी भावोंका परिणाम नरककी यन्त्रणाएँ और अधम गतिके सिवा और क्या हो सकता है ?

× × ×

उपाय क्या है ? उपाय है—भगवदाराधन ! जिन लोगोंको कुछ भी भगवान्‌में विश्वास है वे सबकी ऐसी बुद्धि होनेके लिये भगवान्‌से सरल-श्रद्धायुक्त अकृत्रिम प्रार्थना करें। उठते हुए भगवत्-विश्वासको अपने शुभ आचरण और सच्ची भक्तिके द्वारा फिर जमावें। भगवत्-श्रद्धाके सूखते हुए वृक्षकी जड़को सच्ची निर्भरताकी अश्रु-जल-धारासे सींचें। आप्त-वचनोंपर श्रद्धा करें। ऋषि-मुनियोंको भ्रान्त मानना छोड़ दें। जीवनको तप-संयमसे पूर्ण बनाकर भगवद्-कृपाका आश्रय ग्रहण करें। अटल विश्वास तथा परम श्रद्धाके साथ भगवान्‌के चरणोंकी सेवा करें और उनके पवित्र नामका जप करें।

× × ×

मनुष्यको सावधान होकर यह सोचना चाहिये कि यहाँ सभी भोग-सुख अनित्य हैं, बिजलीकी भाँति चञ्चल हैं। शरीर कच्चे घड़ेके समान अचानक जरा-सी ठेस लगते ही नष्ट हो जानेवाला है, इसलिये भोगोंसे मन हटाकर भगवान्‌में प्रेम करें। भगवान्‌के लिये ही जगत्‌के सारे कार्य करें। जगत्‌के लिये भगवान्‌को कभी नहीं भुलाया जाय। भगवान्‌के लिये जगत्‌को छोड़ना पड़े तो आपत्ति नहीं, परन्तु जगत्‌के लिये भगवान् कभी न छूटें। यदि मनुष्य इसप्रकार निश्चय कर ले तो फिर जगत्‌के छोड़नेकी भी जरूरत नहीं पड़ती, सारा जगत् भगवन्मय ही तो है।

हरिरेव जगत्, जगदेव हरिः।

"शिव"

अर्जुनका मोह

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)



एक सज्जनका कहना है कि श्रीमद्भगवद्गीता-के पहले अध्यायमें दोनों पक्षकी सेनाओं-को देखकर अर्जुनका युद्धसे हटनेका यत्न करना और भगवान् श्रीकृष्णके सामने अनेकों युक्तियोंका उपस्थित करना इस उद्देश्यसे जान पड़ता है कि कौरवोंकी ग्यारह अक्षौहिणी बृहत् सेना और भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा और शल्य आदि महारथियोंको देखकर अर्जुनके मनमें यह सन्देह हो गया था कि इस विशाल सेनाको हम लोग शायद ही जीत सकेंगे और हारनेपर बड़ी बदनामी होगी। इसलिये कुछ ऐसी युक्तियाँ पेश की जायँ और युद्धसे हटनेके ऐसे कारण बतलाये जायँ जिनसे बदनामी न होकर उलटी प्रशंसा हो और युद्ध भी न करना पड़े। इसीलिये अर्जुनने पहले अध्यायके २९ वें श्लोकसे लेकर ४६ वें श्लोकतक बड़ी बुद्धिमानी और चातुरीके साथ यह दिखलाया कि 'जिन भाई-बन्धुओंके लिये राज्यकी आवश्यकता है जब इस महायुद्धमें उन्हीं सारे सम्बन्धियोंका विनाश हो जायगा तो फिर राज्य लेकर करना ही क्या है? अवश्य ही ये आततायी हैं परन्तु हैं तो हमारे भाई ही, अतएव मैं इनको मारना नहीं चाहता। यही नहीं, बल्कि इनके नाशमें मैं एक बड़ी हानि और देखता हूँ। कुलके नाश होनेपर सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और सम्पूर्ण कुल पापसे छा जाता है जिससे स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती हैं और उसके परिणामस्वरूप श्राद्ध-तर्पणकी क्रियाएँ लुप्त होकर समस्त कुल-धर्म और जाति-धर्मका नाश हो जाता है, जिससे मनुष्योंको अनन्त कालतक नरकोंमें निवास करना पड़ता है। ये [illegible] कौरव चाहे लोभवश इस पापको न समझें या समझकर भी उपेक्षा करें परन्तु हम बुद्धिमान् ऐसा नहीं कर सकते। इसलिये मैं तो यही उत्तम समझता हूँ कि इनपर शस्त्रप्रहार न करूँ और उस हालतमें मुझ निःशस्त्रको अगर ये मार भी डालें तो इसमें मेरा कल्याण ही होगा।'

कैसी अच्छी युक्ति है! लड़ना भी न पड़े और धर्मप्रेमी, कुलप्रेमी, लोभरहित भ्रातृप्रेमी और बुद्धिमान् भी कहलानेका सहज ही साधन हो जाय। परन्तु श्रीकृष्णने अर्जुनकी इन युक्तियोंपर कोई ध्यान नहीं दिया और उसके इस कथनको अनार्योचित, अस्वर्ग्य और अकीर्तिकर बतलाकर उसे हृदयकी दुर्बलता और क्लीबताको त्यागकर युद्धके लिये खड़े होनेका आदेश दिया। परन्तु अर्जुनके तो मनमें दूसरी बात थी। वह तो किसी भी प्रकारसे युद्ध करना नहीं चाहता था और अपनी असमर्थता बतलाकर युद्धसे हटनेमें भी सङ्कोच करता था, इसलिये उसने पहली युक्तिसे काम न बना देखकर बड़ी बुद्धिमानीके साथ दूसरी युक्ति पेश की। उसने कहा—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥

'हे मधुसूदन! इसमें कायरताकी कोई बात नहीं है। भला, आप ही बतलाइये, युद्धमें मैं पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यके हृदयको किसप्रकार बाणोंसे विद्ध कर सकूँगा? जो मेरे परम पूजनीय हैं उनसे लड़ना मुझसे कैसे सम्भव होगा? इन गुरुजनोंको मारनेपर

अगर राज्य भी प्राप्त हो गया तो गुरुओंके खूनसे सने हुए उस राज्यके भोगोंको मै कैसे भोगूँगा ? इसलिये मैं तो अपने लिये इन महानुभाव गुरुजनोंको मारनेकी अपेक्षा भीख माँगकर खाना अधिक कल्याणकारी समझता हूँ !' इस युक्तिमें भी अर्जुनने कमाल कर दिया। यदि इस दलीलपर अर्जुनको युद्धसे हटनेका मौका मिल जाता तो वह बड़ा भारी त्यागी, वैरागी और गुरुजनोंका भक्त ही कहलाता, परन्तु जब श्रीकृष्ण कुछ भी नहीं बोले तब अन्तमें असली बात अर्जुनके मुँहसे किसी प्रकार निकल ही गयी। उसने कहा—

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥

'कदाचित् लड़ें भी तो यह भी तो पता नहीं कि लड़ना ही ठीक है। कौन कह सकता है कि ये जीतेंगे या हम जीतेंगे आदि।' इसके बाद अगले श्लोकमें तो अर्जुनने—

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः'

—आदि कहकर तो हृदयकी कायरतातकको स्वीकार किया है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि अर्जुन घबड़ा गया था और अपनी बात ऊँची रखकर युद्धसे हटना चाहता था।

गम्भीरतासे विचार करनेपर अर्जुनकी दलीलें भी बिल्कुल पोच सिद्ध होती हैं। पहली दलील तो उसकी यह थी कि इन सम्बन्धियोंको मारकर मैं राज्य लेना नहीं चाहता—तो क्या यह बात उसे पहले नहीं सूझी थी जब वह युद्धके लिये जोर-शोरसे लगा था ? क्या उस समय ये भाई नहीं थे ? दूसरी दलील थी—कुलके नाशकी, सो कुलके नाशका सूत्रपात तो पहलेसे ही हो चुका था। भीमको जहर देना, लाक्षागृहमें आग लगाना, इधरसे कौरवोंके मारनेकी प्रतिज्ञाएँ किया जाना—क्या कुलनाशके चिह्न नहीं हैं ? तीसरी युक्ति है—वर्णसंकरताके फैलनेकी, जो पहलेसे ही फैली हुई थी। अर्जुन क्या जानता नहीं था कि हमारे पिता पाण्डु और चचा धृतराष्ट्र एवं हम पाँचों भाई वर्णसंकर हैं ? इसमें नयी बात ही कौन-सी थी ? चौथी युक्ति गुरुओंके साथ युद्ध करने और उन्हें मारनेमें हिचककी थी। पर विराट-नगरमें क्या ये ही भीष्म-द्रोण नहीं थे जिनको अर्जुनने बाणोंसे घायल कर दिया था। उस समय यह गुरुभक्ति क्यों नहीं उमड़ी ? इन सारी बातोंपर विचार करनेसे हमारा उपर्युक्त कथन सत्य सिद्ध हो जाता है और यह मानना पड़ता है कि अर्जुनके शस्त्र छोड़कर बैठनेमें मुख्य कारण युद्धमें अपने हारनेकी सम्भावना ही थी, जिसको वह छिपाना चाहता था।'

(उत्तर)

उपर्युक्त कथनमें अर्जुनपर कपटी और कायर होनेका दोषारोपण किया गया है जो ऊपरसे देखनेमें युक्तियुक्त-सा प्रतीत होता है परन्तु विचार करनेपर सर्वथा भ्रान्त सिद्ध हो जाता है। मेरी समझसे उस समय अर्जुनके मनमें मुख्य बात यह कदापि नहीं थी। महाभारतसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अर्जुन 'नर' नामक महर्षिका अवतार था और साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्ण उसे अपना मित्र मानते थे, यही नहीं, उसके रथपर सारथिका काम करते थे। ऐसा भगवत्सखा महापुरुष कदापि इसप्रकारका नहीं हो सकता। श्रीकृष्णको योगी और श्रेष्ठ पुरुष मानें तो भी उनके मित्रमें ऐसा कपट और भीरुता कदापि नहीं होनी चाहिये। जिस अर्जुनने सभापर्वमें वन जाते समय यह प्रतिज्ञा की थी कि मै वापस लौटकर सब कौरवोंका वध कर दूँगा, जिस अकेले अर्जुनने कौरवोंके सारे महारथियोंको हरा दिया था, जिसने युद्धमें साक्षात्

शंकरकी प्रसन्नता प्राप्त की थी और जिसने देवताओं-के पक्षमें युद्धकर देव-शत्रुओंको पराजित किया था, उसमें सात अक्षौहिणी सेना और श्रीकृष्णके साथ रहते हुए ऐसी बात मुख्यरूपसे कभी हो ही नहीं सकती। यह सम्भव है कि मोह प्राप्त होनेके कारण अज्ञानके हेतुसे अन्य दोषोंके साथ कायरताका दोष भी आंशिकरूपसे आ गया हो; परन्तु कपटका दोष उसके हृदयमें कभी नहीं आ सकता। अन्दर कुछ और हो तथा बाहर कुछ और कहे—यह बात अर्जुनके जीवनमें कभी नहीं घटी। कायरताका आंशिकरूपसे आना तो उसने स्वीकार ही किया है पर कपटका लाञ्छन उसपर कदापि नहीं लग सकता। अर्जुनने उस समय जो कुछ कहा वह उसके हृदयका सच्चा भाव था। वह पहले जानता था कि युद्धमें भाइयोंसे ही लड़ना है और यह भी जानता था कि इसमें कुल-नाश होगा परन्तु उनको अपने सारे सम्बन्धियोंके साथ मरने-मारनेके लिये खड़े देखकर अर्जुनको मोह हो गया। कुल-नाशकी बात उसने कपटसे नहीं कही, मोहवश कही।

अर्जुनने जो यह कहा कि 'कुलकी स्त्रियाँ दूषित होनेसे वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होती है, वह वर्णसङ्कर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लोप हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं।' सो सर्वथा ठीक ही कहा। भगवान् इसका उत्तर क्यों देने लगे? यदि अर्जुनका यह कहना शास्त्रविरुद्ध या निर्मूल होता तो भगवान् इसका खण्डन करते। स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होती है और वर्णसङ्करसे श्राद्ध और तर्पणकी क्रियाओंका लोप होकर जाति और कुलधर्मकी हानि और पितरोंका पतन होता है—यह बात शास्त्र-सम्मत है। सारी स्मृतियोंने इस बातको माना है। भगवान् भी इसका निषेध नहीं करते। इससे इस सिद्धान्तकी सत्यता ही सिद्ध होती है। इसपर यदि कोई कहे कि यदि अर्जुनकी यह दलील ठीक थी तो फिर भगवान्‌ने कुलका नाश क्यों करवाया? इसका उत्तर यह है कि इन सब बातोंका होना और युद्धमें सबका मारा जाना आत्मतत्त्वके सामने अत्यन्त तुच्छ है। सम्यक् ज्ञान न होनेतक संसारकी यह उथल-पुथल सर्वदा बनी ही रहेगी। अतएव सत्य होनेपर भी मुक्तिके सामने ये सब बातें नीची ही हैं। भगवान् अर्जुनको इस श्रेणीसे हटाकर ऊपरकी श्रेणीके कार्यमें लगाना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने कहा कि—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो। यह तेरेमें योग्य नहीं है। हे परन्तप! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो। क्षत्रिय होकर कायरताको प्राप्त होना निन्दनीय है; इसके लिये भी भगवान्‌ने कायरताकी निन्दा की। आगे चलकर भी भगवान्‌ने दूसरे अध्यायके श्लोक ३१।३७ में यही कहा है कि क्षत्रियके लिये कायरता अत्यन्त अकीर्तिकारक है और निन्दाकी अपेक्षा क्षत्रियका युद्धमें मर जाना कहीं उत्तम है। भगवान्‌ने इसके बाद मोक्षको सबसे उत्तम बतलाया है। मनुष्यको मुक्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये, वह न हो सके तो स्वर्गके लिये; नहीं तो कम-से-कम अपकीर्तिसे बचनेके लिये तो अवश्य ही चेष्टा करनी चाहिये। इसीलिये मनीषी लोग स्वर्गके लिये कीर्ति या मान-प्रतिष्ठाका और मुक्तिके लिये इन सबका त्याग कर दिया करते हैं। भगवान्‌ने भी यही कहा कि 'तेरा यह अज्ञान न मुक्ति चाहनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया हुआ है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिका करनेवाला है'—

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।

इस तरह कायरताकी निन्दा की, पर अर्जुनकी वर्णसङ्करता-सम्बन्धी युक्तिका खण्डन नहीं किया।

इसपर यह कहना कि पाण्डु, धृतराष्ट्र और अर्जुन आदि तो वर्णसङ्कर थे ही, कदापि युक्तियुक्त और सत्य नहीं है। सत्यवती और पितामह भीष्म-सरीखे महापुरुषोंने आपत्तिकालके गौण-धर्मके रूपमें वेदव्यासजीके द्वारा शास्त्रसम्मत नियोग करवाया था, इसी प्रकार कुन्तीने आपत्तिकालमें पतिदेवकी आज्ञासे सन्तान उत्पन्न की थी। यह वर्णसङ्करता नहीं है। स्त्री या पुरुष कामपरवश परपुरुष या परस्त्रीसे अवैध व्यवहार करते हैं, तभी वर्णसङ्कर सन्तान कहलाती है। आपत्तिकालमें महापुरुषोंकी आज्ञासे स्त्री-पुरुष दोनों ही काम-चिन्तासे सर्वथा शून्य होकर धर्मानुसार विधिवत् मर्यादित व्यवहार करते हों, उससे उत्पन्न होनेवाली सन्तान वर्णसङ्कर नहीं कहलाती। अतएव अर्जुनने मनकी बातको छिपाकर केवल ऊपरसे वर्णसङ्करताकी युक्ति पेश की, यह बात कदापि नहीं मानी जा सकती।

अर्जुनकी यह युक्ति भी सर्वथा हृदयकी ही थी कि मैं गुरुओंके रुधिरसे सने हुए भोग नहीं चाहता। यहाँ यह कहना कि विराट-नगरमें अर्जुनने इन्हीं गुरुओंसे तो युद्ध किया था, उचित नहीं जान पड़ता। वहाँ दोनों ही ओरसे किसीको मारनेका उद्देश्य नहीं था। कौरवोंका उद्देश्य था पाण्डवोंका पता लगाना और अर्जुनका उद्देश्य था राजा विराटकी गौओंको उनके हाथसे छुड़ा लेना। परन्तु यहाँ कुरुक्षेत्रमें तो उन्हें मारकर राज्य प्राप्त करनेकी बात थी, अतएव अर्जुनका वैसा कहना युक्तियुक्त ही था। परन्तु अर्जुन युद्धसे हटना चाहता था सो बात नहीं। उसको मोह हो गया था, उसकी बुद्धि चकरा गयी थी; इसीलिये तो उसने कहा कि—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

'कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ कि जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याण-कारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।'

अर्जुनमें मोहके कारण कायरता आदि दोष आ जानेके कारणसे कर्तव्यविमूढ़ता आ गयी, इसीसे भगवान्‌की शरणागत होकर उनसे सलाह पूछी; परन्तु मोह इतना बढ़ गया था कि शरण होनेके बाद भी अर्जुन यह कह बैठा कि 'इस भूमिमें निष्कण्टक धनधान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको पाकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियोंको सुखानेवाले शोकको दूर कर सके। अतएव मैं युद्ध नहीं करूँगा।' अर्जुनका यह कथन सर्वथा नीतिविरुद्ध था; इस हेतुसे भी भगवान्‌ने हँसकर उसके पाण्डित्यका विरोध किया था मानो उन्होंने अर्जुनकी मूर्खतापर हँसते हुए यह सङ्केत किया कि जब तू मेरी शरण हो गया तो फिर तुझे यह कहनेका क्या अधिकार है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। एक ओर तो कहता है कि मैं शरण हूँ, आप उपदेश दें, जो कहें सो करूँ और दूसरी ओर उपदेश सुननेसे पहले ही मनमानी कर बैठता है। इसी मूर्खतापर तो भगवान् हँसे थे। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुनको मोह था और मोहकी दशामें ऐसा हो जाना सर्वथा युक्तियुक्त और सम्भव है।

यह मोह क्यों हुआ, इसपर कुछ लोग कहा करते

हैं कि 'भगवान्‌की लीलासे अर्जुनको मोह हो गया क्योंकि इसी बहाने उन्हें गीताका प्रचार करना था। किन्तु यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः' भगवान्‌के लिये इस उद्देश्यसे अर्जुनको मोहाच्छादितकर उसे दोषी बनाना कोई उच्च श्रेणीका कार्य नहीं है। अतएव भगवान्‌के लिये ऐसी कल्पना करना अनुचित है। वास्तवमें अर्जुन शूर-वीर था, अपने धर्मको समझता था, इसलिये उसका युद्धकी तैयारी करना और कौरवोंको चुनौती देना सर्वथा न्यायसङ्गत था, किसी प्रकार भी अनुचित नहीं। परन्तु भक्त होनेपर भी अर्जुनको उस समयतक भगवान्‌के तत्त्वका पूर्ण ज्ञान नहीं था। पूर्ण ज्ञान न होनेतक विषयकी सन्निधिसे थोड़ा-सा दोष भी विस्तारको प्राप्त हो जाता है। जैसे कटा हुआ वृक्ष जलके संयोगसे फिर पनपकर फैल जाता है, वैसे ही विवेकी पुरुष भी विषयोंकी सन्निधिसे विषयी-सा बनकर लक्ष्यच्युत हो जाता है। दोनों ओरकी इन सेनाओंमें अपने समस्त सगे-सम्बन्धियों और कुटुम्बियोंको देखकर और उनका मरण निश्चित जान इसी प्रकार अर्जुनको भी मोह हो गया और उसीके कारण अर्जुनने पहले अध्यायके २८ वें श्लोकसे ४७ वें श्लोकतक और दूसरे अध्यायके ३ रे श्लोकसे १० वें श्लोकतक अपने हृदयकी सच्ची-सच्ची युक्तियाँ पेशकर युद्धसे हटनेका प्रयत्न किया। अर्जुनके इस कथनमें छल-कपट या छिपावका आरोप करना सर्वथा अन्याय और युक्तिविरुद्ध है।

महापुरुषकी वाणी

(संकलनकर्त्ता—पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिन्सिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत-कालेज, काशी)

श्रीश्रीशिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द *

(१)

विश्वाससे सभी कुछ हो सकता है। परन्तु किस शक्तिद्वारा किसप्रकार कौन-सा कार्य सम्पन्न होता है, यह नहीं कहा जा सकता। एक छात्र मैट्रिक-क्लासमें पढ़ता था, वह संस्कृत बिल्कुल नहीं जानता था, यहाँतक कि देवनागरी अक्षरतक नहीं पहचानता था। उसकी मुझपर बड़ी श्रद्धा थी। समय-समयपर प्रसंगवश मैं उसे पढ़नेको कहा करता था। परन्तु संस्कृत-में तो उसकी बिल्कुल ही रुचि नहीं थी। परीक्षाके पूर्व मैंने उसे विशेष मन लगाकर पढ़नेके लिये कहा, उसने कहा 'आपकी कृपा होगी तो मैं बिना ही पढ़े पास हो जाऊँगा।' मैंने कहा 'अच्छी बात है, इस पुस्तकको चाहे जहाँसे हठात् खोलो, जो पन्ना निकले, उसीको अच्छी तरह याद कर लो, तुम पास हो जाओगे।' उसने पुस्तक खोली, पर वह तो देवनागरी अक्षरतक नहीं जानता था। मैंने उस पृष्ठके श्लोकादिको बंगलामें लिखकर उसे अच्छी तरह पढ़ा दिया। आश्चर्यकी बात है कि सचमुच उसी पृष्ठका पर्चा आया और उस एक ही पृष्ठके पढ़नेसे वह तृतीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हो गया।

(२)

विश्वासके बलसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। कलकत्तेमें पूर्णचन्द्र मुखोपाध्याय नामक एक इञ्जिनियर

* यह महापुरुष ज्ञान, भक्ति और योग-मार्गके एक प्रसिद्ध साधक और अद्भुत शक्तिशाली पुरुष थे। इनमें भगवद्भक्ति और भगवद्विश्वास असाधारणरूपसे प्रकट रहनेके कारण इनके जीवनमें अनेकों अलौकिक घटनाओंका समावेश हो गया था। यह बड़े भारी विद्वान् भी थे। प्राच्य और पाश्चात्य अनेक शास्त्रोंके पण्डित थे। 'आर्य-शास्त्रप्रदीप' आदि ग्रन्थोंका निर्माणकर आपने देश-विदेशमें अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त की थी। प्रसंगवश तथा उपदेशरूपसे मैंने इनके मुखसे बहुत-सी बातें सुनी थीं, उन्हींमेंसे कुछ संग्रह कर दी गयी हैं। —गोपीनाथ कविराज

थे। वह पाँचसौसे कुछ अधिक वेतन पाते थे, पहले उन्होंने काश्मीरमें नौकरी की थी। वह और उनके परिवारके सभी लोग मुझपर बहुत ही भक्ति रखते, खास करके उनकी माता बड़ी ही भक्तिशालिनी थीं। वह सदा ही मुझसे पूछकर कार्य किया करतीं। उनको बहुत दिनोंका हृद्रोग था। अवस्था क्रमशः बिगड़ती जा रही थी। एक दिन उन्होंने बड़े ही दुःख और आग्रहके साथ मुझसे कहा, 'बाबा! मेरी जैसी स्थिति है, इसको देखते शरीर अधिक दिन टिकता नहीं दीखता। मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं मरनेके पहले कुछ तीर्थ-स्थानोंके दर्शन कर आऊँ।' मैंने उनको धीरज देते हुए कहा—'अच्छा, मैं आपको तीर्थ-दर्शन कराऊँगा, परन्तु मैं जहाँ-जहाँ जो कुछ देखनेको कहूँ, आप ठीक उसीके दर्शन करें, उसके सिवा कहीं न जायँ। मेरे कथनानुसार चलेंगी तो आप तीर्थ-दर्शन कर सकेंगी, नहीं तो कष्ट भोगना पड़ेगा।' उन्होंने यह स्वीकार कर लिया और वह तीर्थयात्राके लिये चल पड़ीं। परन्तु यात्रामें ठीक-ठीक मेरे कथनानुसार न कर सकीं। उनमें श्रद्धा और धर्म-विश्वास इतना अधिक था कि किसी तीर्थमें जाकर वहाँके सभी दर्शनीय स्थानोंको देखे बिना वह आगे नहीं बढ़ सकती थीं। शेषमें वह जब (मेरे कथनके विरुद्ध) गिरनार-पहाड़पर चढ़ रही थीं, तब बीचहीमें बड़े जोर-से उनके हृदयमें धड़कन शुरू हो गयी; ऐसी दशा हो गयी कि न ऊपर चढ़ा जाय और न नीचे उतरा जाय। इस स्थितिमें उन्होंने अत्यन्त व्याकुल हो प्राण भरकर मुझे याद किया। तीर्थयात्रा पूर्ण करके काशी लौटकर देह-त्याग करनेकी उनकी इच्छा थी, पर जब उन्होंने देखा कि शरीरकी अवस्था देखते काशीमृत्युकी सम्भावना नहीं है तब अत्यन्त ही कातरभावसे मेरा स्मरण करने लगीं। कुछ ही देर बाद उन्होंने देखा, ठीक मेरी ही आकृति-प्रकृतिका एक आदमी उन्हें गोदीमें लेकर ऊपर ले गया और वहाँके सब स्थानोंके दर्शन करवाकर धीरे-धीरे नीचे उतार गया। उसके स्पर्शसे उनके हृदयकी धड़कन कम हो गयी और वह अपनेको स्वस्थ देखने लगीं। कहना नहीं होगा, इस घटनाका मुझे रत्तीभर भी पता नहीं था। इसके बाद वह कलकत्ते सकुशल पहुँच गयीं। उनके सामने जो मेरी मूर्ति आविर्भूत हुई थी, उसे भगवान्‌का रूप समझना चाहिये। भगवान् विश्वरूप हैं—उनको भक्त जिस रूपमें देखना चाहता है वे उसी रूपमें उसको दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। गुरुको ईश्वर समझना ही शास्त्रका उपदेश है। वृद्धाने भी यही किया था। मैं तो पाषाण हूँ, परन्तु पाषाणमें भी भक्ति-विश्वास करनेसे श्रीभगवान्‌की अभिव्यक्ति हो जाती है।

इसके बाद वह काशीके लिये व्याकुल हो उठीं परन्तु डाक्टर आर० एल० दत्त आदिने उन्हें काशी जानेसे रोका और कहा कि 'काशी तो दूर रही, ऊपरसे नीचे उतरनेमें ही इनकी मृत्यु हो जा सकती है।' वृद्धाने उसी समय तारद्वारा मुझे सारी अवस्था जनाकर मेरा आदेश चाहा। मैंने उत्तर दिया—'कोई कुछ भी कहे, भय नहीं है, तुम चली आओ।' वृद्धा तार पाकर आनन्दके मारे अधीर हो उठीं और बड़े उत्साह-के साथ ऊपरसे नीचे उतर आयीं, उनका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ। उस दिन काशी भेजनेकी व्यवस्था की गयी। यथासमय वह सकुशल काशी पहुँच गयीं।

वृद्धाने रास्तेमें जल भी नहीं पीया था, मुझको प्रणाम किये बिना जल ग्रहण करनेकी उनकी इच्छा नहीं थी। सब लोग काशी-स्टेशनपर उतरे और नावमें सवार होकर केदारघाट आ रहे थे। उस समय मैं सोनारपुरामें रहता था। परन्तु उस दिन दैवक्रमसे नौका करके अस्सीपर स्नान करने गया था। वहाँसे लौटते समय केदारघाटपर गंगाजीके अन्दर ही उनसे भेंट हो गयी। वे सब-के-सब हठात् मुझको देखकर आनन्दमें डूब गये। कैसा आश्चर्य है! उस दिन भगवान् ही मुझको अस्सी-स्नानके बहाने वहाँ ले गये, नहीं तो मुझे ढूँढ़नेमें उन्हें बड़ा कष्ट होता और अनशनव्रत ले रखनेवाली रोगिणी वृद्धाके क्लेशकी सीमा न रहती। (क्रमशः)

भगवान्के आश्वासनपर विश्वास करो

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय ! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(गीता ९ । ३०-३१)

इन दो श्लोकोंमें दयामय भगवान् श्रीकृष्णने पापग्रस्त निराश जीवोंको बड़ा ही आश्वासन दिया है। कोई किसी भी स्थितिमें क्यों न हो, उसका अबतकका जीवन किसी भी प्रकारसे क्यों न बीता हो, वह कितने ही बड़े-से-बड़े दुराचारमें प्रवृत्त क्यों न रहा हो, यदि वह इस समय अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर ले कि जितना जीवन अब बाकी बचा है, वह सबका सब—पूराका पूरा—केवल भगवान्के लिये ही लगाया जायगा तो इस निश्चयके साथ ही वह तत्काल धर्मात्मा बन जाता है। 'क्षिप्र' शब्द इसी बातको प्रकट करता है। तदनन्तर वह उस परम शान्तिको—शाश्वत परम धामको प्राप्त हो जाता है जिसको पाकर फिर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इसी सिद्धान्तको और भी दृढ़ करनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि 'हे अर्जुन ! इस बातको सत्य समझ कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।' भक्तवत्सल भगवान् शेष जीवनके भगवदर्थ बिताने और अनन्यभावसे भजन करनेका निश्चय करनेवालेको अपना भक्त—निज जन—समझ लेते हैं। उसने पहले क्या किया था—इस बातकी ओर भगवान् कुछ भी ध्यान नहीं देते। वे देखते हैं केवल उसकी वर्तमान स्थितिको। इस बातको समझकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह अपने वर्तमान जीवनको श्रीहरिके चरणोंमें समर्पण करनेकी चेष्टा करे।

भविष्य तो वर्तमानका फल है और वर्तमान जीवन अनन्यभावसे श्रीहरि-चरणाश्रित हो जानेपर भूतकालके सभी पाप-कर्म जल जाते हैं। मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, उसका सञ्चित बनता है। सञ्चितसे स्फुरणा होती है। जो नया कर्म किया जाता है, उसीकी स्फुरणा अधिक और पुरानेकी कम होती है। गोदाममें माल भरा होता है और नया-नया माल भरता जाता है, निकालनेके समय हालका भरा हुआ ऊपरका माल पहले निकलता है और बहुत समय पूर्वका भरा हुआ नीचेका माल पीछे निकलता है, वैसे ही नये कर्मोंके सङ्कल्प अधिक आते हैं। यही सबका अनुभव है कि जिन कर्मोंमें हम दिन-रात लगे रहते हैं प्रायः उन्हींके सङ्कल्प अधिक आते रहते हैं—पूर्वके कर्मोंको हम धीरे-धीरे भूलते जाते हैं। नवीन सञ्चित की स्फुरणा ज्यादा होगी, बार-बार जैसी स्फुरणा होगी वैसा ही कर्म होगा और वही कर्म फिर सञ्चित बनकर नयी स्फुरणाओंका हेतु बनेगा एवं उन्हीं स्फुरणाओंसे फिर वैसे ही कर्म होंगे। तात्पर्य यह कि अच्छे कर्मोंसे अच्छा सञ्चित, अच्छे सञ्चितसे अच्छी स्फुरणा और अच्छी स्फुरणासे फिर अच्छे कर्म होते हैं। इसप्रकार शुभके चक्रमें पड़ा हुआ जीवन क्रमशः अत्यन्त शुद्ध बन जायगा एवं अशुभ सञ्चितको अपना कार्य (अशुभ सङ्कल्पोंकी उत्पत्ति) करनेका अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकेगा। पुराने अशुभ सञ्चित नये शुभके नीचे दब जाते हैं और यह (शुभ) बढ़कर जब भगवान्की पराभक्तिरूपमें परिणत हो जाता है तो उन पहलेके समस्त शुभाशुभ सञ्चितमें आग लग जाती है जिससे वे तमाम जलकर नष्ट हो जाते हैं।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।

यही मुक्तावस्था है, इसीलिये 'गयी सो गयी, अब राख रहीको' इस लोकोक्तिके अनुसार भगवान्की उपर्युक्त आश्वासनवाणीका अनुसरण करते हुए महापुरुषगण जीवोंको वर्तमान जीवनके वर्तमान सुधारका उपदेश करते हैं।

कोई यह समझे कि मैं तो बड़ा पापी हूँ, मेरा उद्धार कैसे हो सकता है, मेरे भजन करनेसे क्या होगा ?

तो उसका यह समझना निरा भ्रम ही है। किसी पर्वत-कन्दराका अन्तरतम प्रदेश लाखों वर्षोंसे चाहे जितने घने अन्धकारसे आवृत क्यों न हो, सूर्य भगवान्‌का प्रकाश वहाँ पहुँचनेपर वह अँधेरा क्या यह कहकर वहाँ स्थिर रह सकता है कि मैं अनन्त वर्षोंसे यहाँ डेरा डाले बैठा हूँ, इसलिये कुछ समय पीछे हटूँगा? ठीक इसी प्रकार जीवके अशेप पाप-पुञ्ज भगवान्‌के सम्मुख होते ही जलकर भस्म हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

सनमुख होय जीव मोहि जबही। कोटि जन्म अघ नासौं तबही॥

जब जीव निष्कपट होकर अनन्यभावसे अपने आपको भगवच्चरणोंमें समर्पितकर सरल हृदयसे पुकार उठता है कि 'हे प्रभो! मैंने आजतक दुनियाँके भोगों-की सेवा की, विषयोंका गुलाम रहा, धनिकोंकी चापलूसी की, अबसे इसी क्षणसे मैं आपके प्रणत-पापहारी पुण्य चरणकमलोंका आश्रित बनता हूँ—मुझे शरण दीजिये!' बस, तभी तत्काल ही पतितपावन नाथ उसे अपनालेते हैं। जहाँ भगवान्‌ने जिसको अपनालिया वहाँ फिर उसमें नाममात्रको भी कोई पाप नहीं रह जाता। विभीषण रावणका भाई राक्षस था। भगवान्‌के सामने आते ही वह निष्पाप हो गया—परम भक्त बन गया। जीवका भूतकाल कैसा ही रहा हो, यदि उसका वर्तमान सुधर जाय-वह दृढ़ निश्चय कर ले कि आगेका समय केवल भगवद्भक्तिमें ही बीतेगा—तो वह अशरण-शरण स्वतः ही अपना अभय हाथ फैलाकर उसे ऊपर उठा लेते हैं और अपनी स्नेह-शान्तिमयी गोदमें बिठा लेते हैं। ऐसा न होता तो जीवका उद्धार कभी होता ही नहीं। जीव समस्त पापोंके फलोंको भोगकर कभी उन्हें निःशेप नहीं कर सकता। भगवान् बड़े दयालु हैं। इसलिये उन्होंने यह नियम बना दिया है कि चाहे कोई कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो, मेरे सम्मुख आते ही धर्मात्मा बन जायगा। बात भी सर्वथा ठीक ही है। भला प्रज्वलित अग्निमें पड़ा हुआ कूड़ा-कर्कट क्या कभी बिना जले रह सकता है?

खेद तो इस बातका है कि भगवान्‌के इस दयापूर्ण विधानको जानता हुआ भी यह अज्ञानी जीव अपनी कामाग्निको विषयभोगरूपी घृतकी आहुतियोंसे पूर्णकर सुखी होना चाहता है! पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास-जीने विषयभोग-परायण जीवोंको लक्ष्य करके कैसी सुन्दर चेतावनी दी है—

अब नाथहिं अनुराग जाग जड़ त्याग दुराशा जीते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घीते॥

मनुष्य चाहता है कि मैं बहुत-से विषयोंको प्राप्त करके सुखी बन जाऊँ; पर यह हो ही नहीं सकता। ज्यों-ज्यों मनचाहे विषयोंकी प्राप्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी लिप्सा बढ़ती चली जाती है। घीसे आग बुझती नहीं, बढ़ती है। भोगोंसे तृप्ति नहीं, ताप होता है; शान्ति नहीं, अशान्ति होती है। इसीलिये गोस्वामीजी चेतावनी दे रहे हैं कि 'इस भ्रमको छोड़ दो। यह तो दुराशामात्र है। इसे छोड़कर अमृतोपम भगवत्प्रेमको प्राप्त करो। यदि तुम विषयोंको न भी छोड़ना चाहोगे तो ये अन्तमें जबरदस्ती छूटेंगे। इससे अच्छा है कि पहलेसे ही तुम इनकी आसक्ति छोड़कर भगवच्चरणकमलोंके अनुरागी भ्रमर बन जाओ।'

वास्तवमें मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य भगवान्‌के चरणारविन्दोंका अनुराग प्राप्त करना ही है। परन्तु यह तभी हो सकता है जब जीव परमात्माको अपना एकमात्र आश्रय बनाकर सब प्रकारसे आत्मसमर्पण कर दे। और यह वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं, बल्कि भगवत्कृपाके बलसे बहुत ही सहज है; जो लोग ऐसा मानते हैं कि हमारे भाग्यमें भगवत्प्राप्ति लिखी ही नहीं, हमारे वैसे संस्कार ही नहीं, वे वास्तवमें बड़ी भूल करते हैं। भगवान्‌के दरबारका दरवाजा सबके लिये सदा खुला रहता है, वह कभी बन्द होता ही नहीं। चाहे कोई आधीरातको अपने प्रियतम परमात्मा-का द्वार खटखटावे, वे तत्काल उसकी पुकारका उत्तर देकर उसे अपने हृदयसे लगानेको तैयार मिलेंगे। बच्चा जब कभी भी रोकर माँको पुकारता है तो माँ समय-

असमयका विचार न कर झटसे अपनी स्नेहभरी गोदमें उठाकर उसे स्तन-पान कराने लगती है। पुकार सुननेपर न तो वह बच्चेका पाप-पुण्य देखती है और न क्षणभर रुकती ही है। उस समय वह स्नेहकातरा जननी केवल दोनों हाथ बढ़ाकर बच्चेको उपर उठाना और पुचकारना ही जानती है। फिर भला, भगवान् तो सारी माताओंकी माता—स्नेहके सागर हैं। माँ तो किसी समय शायद दूर रहनेके कारण न भी सुने अथवा किसी दूसरे काममें लगी हो तो उसे पूरा करके भी आये, पर भगवान्में ये दोनों बातें नहा। वे कहीं दूर नहीं हैं–सर्वदा सर्वत्र पूर्ण हो रहे हैं। वे तो मन्दिरमें, मूर्त्तिमें, बाहर-भीतर सर्वत्र समभावसे सदा-सर्वदा रम रहे हैं, पूर्ण हो रहे है। वे सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। एक कामको करते हुए दूसरेको न कर सकें—ऐसी कठिनाईका उनके लिये कोई प्रश्न ही नहीं। वे एक ही समय असख्य स्थानोंमें प्रकट होकर असख्य काम कर सकते हैं। और ऐसा करते हुए भी वे सर्वत्र पूर्ण ही रहते हैं। अत कोई किसी भी कारणसे कभी भी उन्हें पुकारे, वे सुनते हैं और उत्तर देते हैं। उन्हें पुकारनेमें ही कसर है—यह जीवकी ओरसे ही देरी हो रही है।

उन्हें पुकारनेमें किसी काल, स्थान, पात्र आदिका कोई भेद नहीं है। पापी न पुकारे, पुण्यात्मा ही पुकारे; नरकमें न पुकारे, स्वर्गमें पहुँचकर पुकारे; आधीरातको न पुकारे, उषाकालमें पुकारे; मूर्ख न पुकारे, विद्वान् पुकारे; गरीब न पुकारे, धनी ही पुकारे; स्त्री या बालक न पुकारे, पुरुष ही पुकारे; चाण्डाल न पुकारे, ब्राह्मण ही पुकारे; गृहस्थ न पुकारे, सन्यासी ही पुकारे; इसप्रकार उनकी पुकारके सम्बन्धमें ऐसी कोई बात नहीं। देवर्षि नारद कहते हैं—

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः।

भक्तोंमें जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदिका भेद नहीं है।

पुकार सच्ची होनी चाहिये, पुकारनेवाला कौन है—वे इस बातको नहीं देखते; अवश्य ही पुकारनेवालेकी चाहकी परख करते हैं। ऊपरकी दिखाऊ पुकार उनकी स्नेह-धाराको उमड़ानेमें समर्थ नहीं हो सकती। वे हमारे अन्दरकी बात जानते हैं—हमारे भीतरका कोई भेद उनसे छिपा नहीं है। ऊपरकी पुकार होगी तो वे समझ लेंगे कि यह कोरी ठगई है। मनमें चाह नहीं है। कोई ऐसा हो जिसके मनमें पुकार मची हो, परन्तु किसी कारणवश बाहरसे न पुकार सके तो उस पुकारको भी वे सुन लेते हैं। उनको हृदयके कपटहीन शब्दोंकी आवश्यकता है, बाह्य शब्दोंकी नहीं। श्रीरामचरित-मानसमें भगवान्के वचन हैं—

पुरुष नपुंसक नारि-नर, जीव चराचर कोइ।
सर्वभाव भजि कपट तजि, मोहिं परम प्रिय सोइ॥

भक्तिमती शबरीको उन्होंने अपने विरदका भेद स्पष्ट शब्दोंमें यही बतलाया—

'मानौं एक भक्तिकर नाता।'

वास्तवमें यही है भी यथार्थ। भगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय; परन्तु जो भक्त मुझे प्रेमसे भजते हैं वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।' जैसे सूर्य किसीको अपना प्रकाश या गर्मी देनेसे इन्कार नहीं करता, पर जो उसके सामने आकर बैठता है उसीको प्रकाश और गर्मीकी अधिक प्राप्ति होती है। जो अपने घरके किंवाड़ ही बन्द करके बैठ जाय उसके लिये सूर्य क्या करे? इसी प्रकार भगवान्के सम्मुख होनेवाले ही पापमुक्त होकर भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं–उनसे विमुख रहनेवाले नहीं। अमुक मनुष्य ही भगवत्प्रेम प्राप्त कर सकता है और अमुक नहीं कर सकता, यह भेद उनमें नहीं है। ध्रुव बालक था। उसके समयमें अनेक राजा थे, ऋषि थे, मुनि थे, पर उन सभी-

को भगवत्-प्राप्ति हुई हो सो बात नहीं है । जिसे यह पता भी नहीं कि भगवान् क्या वस्तु हैं, जिसने कभी किसी पाठशालामें जाकर गुरुमुखसे उनके स्वरूपका वर्णन ही नहीं सुना—उनका प्रभाव ही नहीं जाना, वही नन्हा-सा बालक ध्रुव 'कमलनेत्र—पद्मपलाश-लोचन' प्रभुकी खोजमें निर्भय होकर निकल पड़ा । विद्या-बुद्धि-बल-हीन बालक जब अनन्यभावसे दृढ़-संकल्प होकर पुकार मचाने लगा तो वहाँ भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा ! उस भोले किन्तु अटल निश्चयी ध्रुवको अलौकिक ज्ञान और अचल पद देकर सदाके लिये कृतकृत्य बना दिया । प्रह्लाद भी बालक ही थे, वयोवृद्ध अथवा ज्ञानवृद्ध नहीं थे । इसी प्रकारके बहुत-से उदाहरणोंसे यह बात सिद्ध होती है कि भगवद्भक्तिमें विद्या, बुद्धि, बल, आयु आदिका कोई विचार नहीं है । अमुक स्थान और अमुक समयमें ही अमुक व्यक्ति भजन कर सकता है—यह बात भी नहीं है । कालका निर्देश भी नहीं है । यदि ऐसा हो तो मरता हुआ आदमी—काल अच्छा न होनेपर सद्गतिको प्राप्त ही न हो सके । देशका बन्धन हो तो बिना किसी तीर्थ-स्थानमें गये मुक्ति ही न हो सके ! पर यह बात नहीं है । बुरे-से-बुरे देश, काल और वर्णमें जब कभी जीव निष्कपट-भावसे परमात्माको पुकारता है तभी उनकी ओरसे उसे आशापूर्ण आश्वासन मिलता है ।

चक्रिक नामक एक भील जंगलमें रहा करता था । वहीं भगवान्‌की एक मूर्ति थी । उसे वह जड़-पत्थर न मानकर प्रत्यक्ष भगवान् मानता था । घूमते-घूमते उसे वनमें जो फलादि मिल जाते, प्रभुको उनका भोग लगाकर फिर स्वयं प्रसाद पाता । एक बार उसे पयालका एक फल मिला । उसने भूलसे उसको मुँहमें डाल लिया । डालते ही उसे अपनी भूल सूझ पड़ी; पर वह गलेमें उतर चुका था । अपना कोई वश न चलता देख वह फलको नीचे न उतरने देनेके लिये गलेको जोरसे पकड़ दौड़ता हुआ मूर्तिके पास जा पहुँचा । वमनद्वारा बाहर निकालनेकी चेष्टा करनेमें कोई कसर न रक्खी; पर जिसप्रकार वह उसे पेटमें न गिरने देनेका हठ किये हुए था उसी प्रकार फल भी बाहर न आनेमें मचल गया । भोग लगाना जरूरी था । अन्तमें कुल्हाड़ीसे गला काटनेकी तैयारी होते ही भक्त-वत्सल भगवान् अपनेको रोक न सके । प्रकट होकर हाथ पकड़ लिया ! वह जातिका भील था—बुद्धिसे हीन था; पर था सच्चे हृदयसे पुकार मचानेवाला ! कोई हो, होना चाहिये केवल सच्चा प्रेमी—अन्तस्तलसे पुकारनेवाला भक्त !

यह निर्विवाद सिद्ध है कि भगवत्प्राप्तिमें केवल निष्कपट पुकारकी ही अपेक्षा है—अन्य किसी बात-की नहीं । जिस क्षण सच्ची पुकार होगी, उसी क्षण परमात्माका आश्रय मिल सकेगा, इसमें कोई निश्चित कालकी अपेक्षा नहीं है । भोगोंकी प्राप्तिमें काल आदि निश्चित होता है । उचित अवसरपर ही उनकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु भगवत्प्राप्तिके लिये कोई बन्धन नहीं है । इसमें प्रारब्ध कुछ भी बाधा नहीं दे सकता । जब जीव व्याकुल हो जाय, विरह-तापसे जल उठे, प्रियतम श्रीकृष्णके बिना रह न सके, प्यारे रामके बिना उसे तनिक भी आराम न मिले, तभी भगवान् भी उसके बिना नहीं रह सकते । उनकी तो यह घोषणा ही है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

'जो मुझको जैसे भजता है उसे मैं वैसे ही भजता हूँ ।'* भगवान्‌का कहना बहुत ठीक है । पर वे भजते हैं अपने स्वरूप और अपनी शक्तिके अनुसार तथा

* इस सिद्धान्तमें देखनेपर कुछ भ्रम होता है । यदि भगवान् भक्तके अनुरूप ही उसको भजते हैं तो एक रोटीका प्रसाद चढ़ानेपर बदलेमें एक रोटी ही मिलनी चाहिये । एक घण्टा ध्यान करनेपर भगवान् भी एक घण्टा ध्यान ही कर लें । गजराजने पुकारा, आधा नाम लिया, तो वे भी आधा नाम ले लेते ! कोई पत्र-पुष्प-फल भेंट करता है तो वे अनन्तगुना फल क्यों देते हैं ? इसलिये शङ्का होती है कि 'यह कथन ठीक नहीं ।' पर भगवद्वाक्य

जीव भजता है अपनी शक्ति और योग्यताके अनुसार ! इसलिये यदि जीव इच्छा करे तो उनसे मिलनेमें देर नहीं हो सकती । यदि यह चल पड़े तो वे इतने जल्दी मिलते हैं कि जीव उतनी जल्दीकी कल्पना ही नहीं कर सकता ।

जहाँ हृदयमें विरहजनित व्याकुलता उत्पन्न हुई कि फिर उसे यह आवश्यकता नहीं कि यह वैकुण्ठ जाय । वे स्वयं उसके सामने आकर अपने सुरदुर्लभ दर्शनोंसे—अपनी अलौकिक रूपमाधुरीसे उसे मत्त और कृतार्थ कर देते हैं । छः मासके बच्चेको माँके पास जाना नहीं पड़ता । माता स्वयं ही भागती हुई उसके पास आ पहुँचती है । यदि हम वैसे ही सरल हृदयके मातृपरायण बच्चे बन जायँ तो भगवान्‌रूपी जगज्जननीके आनेमें देरी ही क्या है ? परायणता अवश्य ऐसी होनी चाहिये, जो सब अवस्थाओंमें रहे । जैसे माँकी मारसे बचनेके लिये भी बच्चा माँकी ही गोदमें घुसता है । माँकी गोद वास्तवमें बच्चेके लिये सदा ही खाली रहती है, बच्चा क्या करके आया है—इस बातको माता नहीं देखती । इसी प्रकार भगवान् भी यह नहीं कहते कि पापी मेरे सामने नहीं आ सकता । पापियोंके लिये स्वर्गका द्वार बन्द है सही, पर भगवान्‌का द्वार तो नरकके कीड़ोंके लिये भी खुला है । वहाँ यह नहीं होता कि पहले पापोंका दुःख भोगो और फिर मेरे यहाँ आओ । जो चाहता है उसीको वैकुण्ठ मिल जाता है । तुर्रा यह कि उसके पापोंका नाश भी वे ही स्वयं कर देते हैं । बस, केवल तीव्र इच्छाकी आवश्यकता है । उन्होंने घोषणा की है—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

'अरे, तू मेरी शरण हो जा, तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा, तू चिन्ता न कर ।' हम कैसे अभागे हैं कि इस घोषणाको सुनकर भी सुख-शान्ति पानेके लिये उनके मुक्तद्वारकी ओर नहीं जाते और मदमाते धनियों तथा झूठे अधिकारियोंके बन्द दरवाजे खटखटाते हैं और जगह-जगह ठोकरें खाते फिरते हैं ।

यदि एक बार भी उस सर्वलोकमहेश्वर, जीवोंके स्वाभाविक सुहृद् परम प्यारे प्रभुके विरदपर विश्वास-कर उसकी शरण पानेके लिये उत्कण्ठित हो उठें तो तुरन्त निहाल हो जायँ । स्वयं धनियोंके धनी बन जायँ, फिर कुछ भी पाना शेष न रह जाय ।

न मे भक्तः प्रणश्यति

भगवान्‌की इस दिव्य वाणीको याद करो—विश्वास करो और सच्चे हृदयसे अपने शेष जीवनको उनके भजनमें लगाकर अनायास संसार सागरसे अनायास ही तर जाओ । हनुमानप्रसाद पोद्दार



कभी झूठे हो नहीं सकते ! तो फिर बात क्या है ? सोचनेपर पता लगता है कि भगवान् भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार एवं हम भजते हैं अपनी शक्ति और स्वरूपके अनुसार । मान लीजिये गरुड़ और एक चींटी में मैत्री हो गयी । गरुड़से मिलनेके लिये चींटी आगे बढ़ी, पर वह बढ़ी अपनी चालसे । गरुड़ भी प्रेमवश आगे बढ़ा । चींटी तो थोड़ी ही दूर चली, पर गरुड़ तुरन्त आ पहुँचा । भजते दोनों ही हैं, पर भजते हैं अपनी-अपनी हैसियत-से । राजा और कङ्गालमें मैत्री होनेपर राजा अपने मित्रको हलुआ और मोहनभोग ही खिलायेगा और कङ्गाल अपने घरपर आये हुए मित्र राजाको साग-रोटी ही खिलायेगा । कङ्गाल मिलनेको जायगा अपनी बैलगाड़ीपर, पर राजा मिलनेको जायगा अपने वायुयानपर । इसी प्रकार जीव और भगवान्‌के प्रेममें अन्तर है । इसके पास प्रेमकी एक नन्हीं-सी बूँद है और वह है अनन्त प्रेम-सागर ! इधरसे जब यह जीव अपनी उस बूँदको लेकर उसीके सहारे प्रभुके लिये बढ़ता है, तब उधरसे प्रेम-सागर उमड़ पड़ता है । यह तो थोड़ी दूर पहुँच पाता है, पर वह उधरसे आकर इसे अपनेमें समा लेता है । फिर दोनों एक हो जाते हैं । यही रसाद्वैत है—

जब मैं था तब हरि नहीं, जब हरि हैं मैं नाहिं । प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं ॥

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(भाग ६ पृष्ठ १२६२ से आगे)

[मणि १०]

बृहदारण्यक उपनिषद्

सर्वपूज्यं सदापूर्णमखण्डानन्दविग्रहम् ।
अनन्तं जगदाधारं वन्देऽहं परमेश्वरम् ॥
चित्तवृत्तेरतीतन्तं वृत्तिहीनमनामयम् ।
नमामि शिरसा नित्यं सर्ववृत्त्यवभासकम् ॥

कुं०—ध्याऊँ देव अखण्ड चित्,अखिल विश्वआधार ।
सर्वपूज्य आनन्दघन, अविचल पद दातार ॥
अविचल पद दातार, पापहारक भवतारक ।
गुणातीत गुणपूर्ण, भावप्रिय तापनिवारक ॥
शरणागत प्रतिपाल, एक अद्वैत मनाऊँ ।
कीजै निर्मल बुद्धि, शुद्ध शिव अच्युत ध्याऊँ ॥

डोरूशंकर—हे देवी ! कल आपने मुझे सामवेदीय छान्दोग्य-उपनिषद् सुनाया था। उसमें आपने पाँच अध्यायोंमें अनेक प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन किया। छठे अध्यायसे श्वेतकेतु और आरुणिके संवादद्वारा एक सत् परब्रह्मसे तीन भूतोंकी उत्पत्ति और उन तीनों भूतोंका त्रिवृत्करण बताकर अनेक दृष्टान्तोंसे सत् ब्रह्मका स्वरूप समझाया। सातवें अध्यायसे सनत्कुमार और नारदके संवादद्वारा नाम आदिकी उपासनाएँ कहीं और सुखरूप भूमाका वर्णन किया। आठवें अध्यायसे आपने सत् और भूमास्वरूप ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यादि अनेक साधनोंका निरूपण किया। हे देवी! आज मैं यजुर्वेदीय बृहदारण्यक-उपनिषद्में उपदेश की हुई ब्रह्मविद्या सुनना चाहता हूँ। ज्यों-ज्यों मैं आपके वचनामृत सुनता हूँ, त्यों-ही-त्यों मेरी अधिक रुचि बढ़ती जाती है, तृप्ति नहीं होती।

एक ऋषि और अश्विनीकुमारका संवाद

देवी—हे प्रियदर्शन! ब्रह्मविद्याके प्रवर्तक बहुत-से ऋषि हुए हैं। उनमेंसे एक ऋषिकी कथा मैं तुझे सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन—

एक बार एक ऋषि किसी अपनी सिद्धिके लिये अश्विनीकुमारोंके पास गया। अश्विनीकुमारोंने किसी कारणवश उसकी अवज्ञा की तब वह क्रोधयुक्त होकर इसप्रकार कहने लगा—

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो ! मैं तुम्हारे किये हुए पूर्वके गुप्त पापोंको भलीभाँति जानता हूँ, यदि तुम मेरे कार्यकी सिद्धि न करोगे तो जैसे बादल घनघोर वर्षा करते हैं उसी प्रकार मैं तुम्हारे पापकर्मको विश्व-भरमें प्रकट कर दूँगा।

अश्विनीकुमार—भाई ! आप भले ही प्रकट कीजिये, हमें इस बातका भय नहीं है। पाप प्रकट होनेसे पापका फल नष्ट हो जाता है, ऐसा धर्मवेत्ताओंका निर्णय है। हमारा जो कुछ पाप हो, उसे आप हमारे सामने ही वर्णन कीजिये ! पापकर्मके सुननेसे हम आपसे बहुत प्रसन्न होंगे।

ऋषि—अच्छा, सुनिये ! हे अश्विनीकुमारो ! विराट् भगवान् ब्रह्माके शिष्य हैं। विराट् भगवान्‌से लेकर पौतिमाष्यपर्यन्त ब्रह्मविद्याके प्रवर्तक ऋषियों-की परम्परा है। इन ऋषियोंमें दध्यङ-अथर्वण नामके एक ऋषि थे। यह दैव-अथर्वण ऋषिके शिष्य थे। दध्यङ-ऋषिके पाससे तुमने विद्या पढ़ी थी परन्तु वैराग्यरहित देखकर दध्यङ ऋषिने तुमको उपनिषद्-रूप वेदान्त नहीं पढ़ाया, अर्थसहित वेदका कर्मकाण्ड ही पढ़ाया था। उन अपने गुरु दध्यङ ऋषिका वृत्तान्त सुनो—जिसको स्वर्गादिरूप फलकी इच्छा होती थी, जो कोई पशु-पुत्रादिरूप फल चाहता था अथवा

जिसको शत्रुके मारनेकी दुष्ट वासना होती थी, उन सबको दध्यङ ऋषि यथायोग्य उपाय बतलाया करते थे। स्वर्गकी कामनावालेको वे पौर्णमास नामके यज्ञ करनेका उपदेश देते थे और साथ ही यह भी कह देते थे कि जब तेरा पुण्य क्षीण हो जायगा तब तू स्वर्गसे भ्रष्ट होकर महान् कष्ट पायेगा। पशु-पुत्रादिकी इच्छावालेको समझाया करते थे कि सांसारिक पदार्थोंकी इच्छा करना ठीक नहीं है, क्योंकि विषय-भोग सब अनित्य हैं। शत्रु मारनेकी इच्छावालेको जहाँतक बनता, वे दुष्ट कर्मसे बचनेका उपदेश करते। ब्रह्मविद्याकी कामनासे अपने पास आये हुए जिज्ञासुओंको वे समझाते कि विवेक, वैराग्य, शमादि छः सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनोंसे सम्पन्न होकर आओ! जैसे सूर्यके सामने दीपक निष्फल है, जैसे अजीर्णमें भोजन करना व्यर्थ है और जैसे बिना समयकी वर्षासे कुछ लाभ नहीं है, इसी प्रकार विवेकादि चार साधनोंसे रहित अधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश देना वृथा है, इसलिये यदि तुमको ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिकी यथार्थ इच्छा हो तो पहले साधन-चतुष्टयरूप अधिकारका सम्पादन करो!

हे अश्विनीकुमारो! तुमको अपनी विद्याका बड़ा अभिमान था। विद्याके अभिमानसे तुमने एक बार देवराज इन्द्रकी अवज्ञा की, इसलिये देवराज इन्द्रने तुमको यज्ञभागसे बहिष्कृत कर दिया और सम्पूर्ण लोकोंको यह आज्ञा दी कि 'हे सम्पूर्ण लोको! ये अश्विनीकुमार चिकित्सा करनेवाले हैं इसलिये अशुद्ध हैं, पूर्वमें नीच जातिके थे इसलिये भी अशुद्ध हैं, अशुद्धको यज्ञभाग देना उचित नहीं है' इसप्रकार यज्ञभागसे बहिष्कृत हुए तुमने क्रोधयुक्त होकर दध्यङ अथर्वण अपने गुरुके पास जाकर इसप्रकार कहा था—

'हे गुरो! यदि आपकी आज्ञा हो तो सब देवताओं सहित इन्द्रके साथ हम युद्ध करनेमें समर्थ हैं परन्तु आपकी आज्ञा बिना हम युद्ध करनेमें समर्थ नहीं हैं। हम मृतसञ्जीवनी विद्या जानते हैं इसलिये अस्त्र, शस्त्र अथवा किसी व्याधिसे भी हमारी मृत्यु नहीं हो सकती। देव, असुर और मनुष्योंमेंसे किसीकी की हुई किसी प्रकारकी माया भी हमपर असर नहीं कर सकती। सर्पादि जङ्गम-विष और कालकूटादि स्थावर-विष हमारा एक रोम भी नहीं उखाड़ सकते। पुरुषके मरणकी साधनरूप अनेक प्रकारकी ओषधियाँ, मन्त्र, भूत-पिशाचादि, श्येनयज्ञरूप अभिचार और ब्राह्मणोंके अनेक प्रकारके शाप, ये सब भी हमारा कुछ नहीं कर सकते! आपकी कृपासे हम सभी सिद्धियोंसे सम्पन्न हैं। बिना युद्ध किये भी हम देवताओंको जीत सकते हैं। स्वर्गमें बहनेवाली गंगामें यदि हम एक ओषधि डाल दें तो देवों सहित इन्द्र क्षणभरमें मर जायँ।'

हे अश्विनीकुमारो! जब तुमने इसप्रकार अपने बलका वर्णन किया तो तुम्हारे दयालु गुरु दध्यङ ऋषि कहने लगे—

काम-क्रोधादिकी निन्दा और सामादि उपाय

दध्यङ ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! तुम बाहरके सब शत्रुओंको जीत सकते हो, परन्तु भीतरके काम-क्रोधादि शत्रुओंको नहीं जीत सकते, अतएव यह क्रोध ही तुम्हारा प्रबल शत्रु है! देवराज इन्द्र सब देवताओंका पूज्य है, ऐसे सर्वदेवपूज्य इन्द्रको जो तुम जीतनेकी इच्छा करते हो, इसका कारण केवल क्रोध ही है। क्रोधके बिना निषिद्ध कर्ममें बुद्धिमान्की प्रवृत्ति नहीं होती। क्रोधसे ही गुरु, राजा आदि वृद्ध पुरुषोंका मनुष्य निरादर करनेको तत्पर हो जाता है। पहले तुम्हें इन्द्रको जीतनेकी बुद्धि कभी नहीं हुई थी, अब क्रोधके वश होकर तुम इन्द्रको जीतना चाहते हो इसलिये यह क्रोध ही तुम्हारा महान् शत्रु है! पूर्वजन्ममें तुमने काम-क्रोधादि राजाओंको और उनके किङ्कर इन्द्रियोंको जीता था, इसलिये तुमको देव-शरीर प्राप्त हुआ। जिन काम-क्रोधादिको पूर्वजन्ममें जीतकर तुमने

उच्च पदवी पायी, वे ही काम-क्रोधादि अब तुमको अहित मार्गमें ले जा रहे हैं। तुम कामरूप शत्रुके वशमें थे, इसीलिये देव-सभामें वचनरूपी वाणोंसे इन्द्रने तुम्हारा ताड़न किया, क्योंकि कामना-रहित ब्रह्मज्ञानी पुरुषको सम्पूर्ण जगत् आत्म-स्वरूप होता है, इसलिये उसका कोई निरादर नहीं कर सकता। कामनावाले पुरुषका ही जहाँ तहाँ निरादर हुआ करता है। पहले इन्द्र तुम्हारा आदर करता था, अब इन्द्रने तुम्हारा निरादर किया है, इसका कारण क्या है यह तुम नहीं जानते। देखो, जबतक तुममें काम न था, तबतक इन्द्रने तुम्हारा आदर किया और जबसे तुम कामनावाले हुए हो तभीसे इन्द्रने तुम्हारा निरादर करने लगा। तुम कामहीको नहीं जीत सकते तो इन्द्रको कैसे जीत सकोगे ? कामरूपी शत्रुने देवताओंकी सभामें तुम्हारा अपमान करवाया, इस शत्रुको तुम जीत न सके तो देवताओं सहित इन्द्रके जीतनेमें तुम कैसे समर्थ होगे ? प्रथम तो अकेले एक कामरूप शत्रुने तुम्हारा अपमान कराया और अब तो काम और कामका पुत्र क्रोध—ये दो हो गये हैं, फिर वे तुम्हारा अनर्थ क्यों नहीं करेंगे ? दो तो चूनके भी बुरे होते हैं, यह लोकोक्ति ठीक ही है। काम और क्रोध सब देहधारियोंके परम शत्रु हैं। जो भीतरके काम-क्रोध-रूप शत्रुओंको विना जीते बाहरके राजादि शत्रुओं-को जीतना चाहता है, वह पुरुष अत्यन्त मूढ है क्योंकि काम, क्रोधरूप शत्रुओंको विना जीते मनुष्य बाहरके शत्रुओंको कभी नहीं जीत सकता। यदि तुम शत्रुको जीतना चाहते हो तो पहले काम, क्रोध-रूप महा बलवान् शत्रुओंको जीतो, फिर इन्द्रको जीतनेकी इच्छा करना। समस्त देवताओंको तथा प्राणीमात्रको कामने वश कर रक्खा है! यद्यपि सर्व जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वरादि ईश्वरोंमें कामकी अधीनता सम्भव नहीं है तो भी कामके अभावको सर्वत्र जतानेके लिये ब्रह्मादि ईश्वर भी लीलामात्र-से कामादि धारण करते हैं, वस्तुतः तो ब्रह्मादि देवता कामादिसे रहित हैं। हे अश्विनीकुमारो ! सब देहधारी जीवोंका शत्रु काम है। इस कामको ही तुम्हें जीतना चाहिये, तुमने कामदेवको नहीं जीता है किन्तु कामदेवने तुम्हें जीत लिया है। कामसे क्रोध अत्यन्त बलवान् है इसलिये क्रोधको जीतनेके लिये तुम्हें भगीरथ प्रयत्न करना चाहिये। अनेक उपायोंसे मुनिलोग कामको तो वश कर लेते हैं, परन्तु कामके पुत्र क्रोधको जीतनेमें समर्थ नहीं होते। ये काम-क्रोधरूप पिता-पुत्र महान् शूरवीर हैं, इनके जीतनेमें कोई समर्थ नहीं है। सम्पूर्ण जगत्को जीतनेसे भी काम-क्रोधका जीतना बहुत ही उत्तम है। यदि तुम अत्यन्त समर्थ हो तो पहले काम-क्रोधको जीतकर पीछे इन्द्रको जीतनेका उद्योग आरम्भ करो !'

हे अश्विनीकुमारो ! इसप्रकार तुम्हारे गुरु दध्यङ ऋषिने क्रोध शान्त करनेके लिये तुमको बहुत समझाया परन्तु तुम तो क्रोधमें भर रहे थे, क्रोधरूप अग्निसे तपे हुए तुम दोनोंको शान्ति न हुई देखकर तुम्हारे गुरु साम तथा भेदरूप दोनों उपायोंको छोड़ तुम दोनोंको शान्त करनेके लिये उपप्रदानरूप उपाय करने लगे। साम, भेद, उपप्रदान और दण्ड इन चार उपायोंसे प्राणी वश होता है। उनमेंसे प्रिय वचनद्वारा क्रोधादिकी निवृत्ति करना साम है, शत्रुके पक्षसे हटाकर अपने पक्षमें लाना, इसका नाम भेद है, इच्छित पदार्थको देनेकी प्रतिज्ञा करनेका नाम उपप्रदान—दाम है और मारना, शिक्षा करना, इसका नाम दण्ड है। दध्यङ ऋषि उपप्रदानरूप उपाय इसप्रकार करने लगे। वे बोले—

दध्यङ ऋषि—हे अश्विनीकुमारो ! यदि तुम क्रोधका परित्याग कर दो तो जिस ब्रह्मविद्याके लिये तुमने मुझसे पूर्वमें प्रार्थना की थी, उस ब्रह्म-विद्याका मैं तुमको उपदेश करूँ। यदि तुमको ब्रह्म-विद्या प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो देवराज इन्द्रसे वैर मत करो ! ऋषिकी यह वाणी सुनकर तुमने कहा—

'हे गुरो ! साम, भेद और उपप्रदान ये तीनों उपाय इस समय चल न सकेंगे, क्योंकि आपने अनेक बार हमसे कहा है कि जब तुम विवेकादि साधन सम्पादन कर लोगे, तभी मैं तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा, इसलिये ब्रह्मविद्याके लोभसे हम इन्द्रके साथ वैरका त्याग नहीं करेंगे, क्योंकि हम जानते हैं कि अभी हम ब्रह्मविद्याके अधिकारी ही नहीं हैं, इस समय तो कृपा करके आप हमें युद्धकी आज्ञा दीजिये और हमारा पराक्रम देखिये कि एक पलमें ही देवताओं सहित इन्द्रको हम जीत लेंगे, इसमें आप किसी प्रकारका सन्देह न कीजिये !'

हे अश्विनीकुमारो ! जब तुमने यह कहा तो दध्यङ्-ऋषि साम, दाम और भेद तीनों उपाय निष्फल समझकर चौथे दण्डरूप उपायका इस-प्रकार प्रयोग करने लगे—

दध्यङ् ऋषि—हे अश्विनीकुमारो ! सम्पूर्ण विश्वके मारनेसे जितना पाप लगता है, उससे अधिक पाप पाँच जनोंके पालन करनेवाले मनुष्यको मारनेसे लगता है,इसलिये तीनों लोकोंके पालन करनेवाले इन्द्रके मारनेसे तो तुम्हें महान् दोषकी प्राप्ति होगी। जो पुरुष अपने उपकार करनेवाले स्वामीको मारता है, उस अधम पुरुषको अपने कुटुम्बको मारनेके समान पाप लगता है। शास्त्रमें ब्रह्महत्यादि पापोंकी निवृत्तिके लिये प्रायश्चित्त बताया है परन्तु कृतघ्नताकी निवृत्तिका शास्त्रमें कोई उपाय नहीं कहा है। कृतघ्नताके समान जगत्में कोई पाप नहीं है। जो पुरुष अपने स्वामीसे द्रोह करता है, वह नीच पुरुष अन्धतामिस्र नामक नरकमें पडता है, ब्रह्महत्या करनेवाले पुरुषसे भी द्रोही पुरुष अत्यन्त अधम है, क्योंकि ब्रह्महत्यारा तो कोटि कल्पके बाद कभी नरकसे मुक्त भी हो जाता है परन्तु स्वामीसे द्रोह करनेवाला कृतघ्नी पुरुष कभी नरकसे मुक्त नहीं होता। भूमिके एक स्थलके पालन करनेवाले राजाको भी मारना न चाहिये तो लोकके पालक इन्द्रको मारना तो सर्वथा अनुचित है। जब इन्द्रादि लोकपालोंके अंशरूप पृथिवीके राजाको भी मारना योग्य नहीं है तो फिर इन्द्रादि लोकपालोंका मारना तो बहुत ही निन्दित कर्म है, देवताओंके चिह्नवाला भूदेव भी कदापि पृथिवीपर मारने योग्य नहीं है तो तीन लोकोंके देवताओंका भी देव इन्द्र कैसे मारने योग्य है ? जो अधम पुरुष शरीर, मन तथा वाणीसे गौ, ब्राह्मण, देव तथा सब लोकोंका उपकार करनेवाले धर्मात्मा राजाओंकी हिंसा करता है, वह अधम पुरुष सौ कोटि कल्पतक नरकसे मुक्त नहीं होता। और जैसे मस्तककी टक्करसे पर्वतका भेदन नहीं हो सकता, इसी प्रकार दश लोकपालों तथा सर्व देवताओंके जय किये बिना इन्द्रके जीतनेमें कोई देव अथवा दानव समर्थ नहीं है। इन्द्र, अग्नि, यम, रक्ष, वरुण, वायु, धनेश, रुद्र, शेष तथा ब्रह्मा ये दश दिक्पाल हैं। उनमें पूर्वादि आठ दिशाओंके इन्द्रादि आठ लोकपाल हैं, ब्रह्मा ऊर्ध्व दिशाके पति हैं और शेष अधोदिशाके स्वामी हैं, जब दश दिक्पालोंको ही कोई जीत नहीं सकता तो सब देवोंके अधिपति इन्द्रको कौन जीत सकता है ?

हे अश्विनीकुमारो ! तुम दोनोंमें जो सामर्थ्य है, वह इन्द्रादि देवताओंकी कृपासे है, यदि इन्द्रका तुमपर कोप होगा तो तुम दोनों काष्ठके समान शक्तिरहित हो जाओगे ! बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और उनचास मरुद्गण, इन सबको तुम किसप्रकार जीत सकोगे ? सब लोकपाल, देवता, मुनि, सिद्ध, चारण, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सम्पूर्ण शक्तियाँ, आकाशादि पञ्चमहाभूतोंके अभिमानी देवता, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारागण आदि जितना विश्व है, सब इन्द्रके पक्षमें हैं, तुम्हारे पक्षमें एक देवता भी नहीं है। यदि तुम इन्द्रके साथ युद्ध करोगे तो सब लोकपाल आदि देवता तुम्हारे साथ युद्ध करनेको खडे होंगे। जब तुम सब लोकपालोंको

जीत लोगे, तब इन्द्र तुम्हारे साथ युद्ध करेगा! सर्व लोकपालादिको जीतनेका तुममें सामर्थ्य नहीं है इसलिये इन्द्रके साथ युद्ध करनेकी इच्छा छोड़ दो! जहाँ युद्ध किये बिना कार्यकी सिद्धि होती ही न हो, वहीं युद्ध करना उचित है। जो बलमें, बुद्धिमें और शूरवीरोंकी सहायतासे अपने समान हो, उसके साथ युद्ध करना उचित है। अपनेसे अधिक बलवान्के साथ युद्ध करना कभी उचित नहीं, तुम दोनोंमें जितनी शक्ति है, उतनी शक्ति एक-एक देवतामें है, स्वर्गमें इन्द्रके पास रहनेवाले देवताओंमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेका सामर्थ्य है, ऐसे अनन्त देवताओंसे युक्त इन्द्रके साथ युद्ध करनेका तुममें सामर्थ्य नहीं है, स्वर्गमें रहनेवाले इन्द्रादिके साथ द्वेष करनेसे प्राणी स्वर्गसे भ्रष्ट होता है इसलिये यदि तुमको स्वर्गमें रहनेकी इच्छा हो तो इन्द्रके साथ द्वेष मत करो!'

हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार तुम्हारे गुरु दध्यङ ऋषिने इस लोक और परलोकमें भय दिखलानेवाले और नाना-प्रकारकी युक्तियोंसे युक्त वचनरूपी दण्डसे तुमको उपालम्भ दिया परन्तु तुमने गुरुकी बात न मानी और कहा—

'हे गुरो! इन्द्रने हमारा यज्ञ-भाग छीन लिया है और सब देवताओंकी सभामें हमारा अपमान किया है, इसलिये हमको महान् दुःख है! हे गुरो! इन्द्रके साथ युद्ध करनेसे हमारे प्राण चले जायँ और हमें नरककी प्राप्ति हो, यह सब स्वीकार है परन्तु आपकी आज्ञा बिना हम युद्ध नहीं कर सकते इसलिये आप हमको युद्ध करनेके लिये आज्ञा दीजिये।' तुम्हारे ये वचन सुनकर ऋषि बोले—

दध्यङ मुनि—हे अश्विनीकुमारो! अत्यन्त कोमल पुष्पोंसे भी किसी शत्रुके साथ युद्ध करना योग्य नहीं है तो तीक्ष्ण शस्त्रोंसे युद्ध करना तो किसी प्रकार भी उचित नहीं है। युद्धमें चार प्रकारके दोष हैं। एक तो हमारी जय होगी अथवा शत्रुकी होगी, इसप्रकारका संशय, दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंका अवश्य नाश, तीसरे युद्धमें शस्त्रका घाव लगे बिना और बान्धवोंकी मृत्यु बिना कोई पुरुष जय नहीं पाता और चौथा दोष यह है कि पराजयसे लोकमें परम निन्दा होती है। अधर्म-युद्धमें मरणसे पुरुषको नरककी प्राप्ति होती है और जीनेसे इस लोकमें अपकीर्ति होती है और फिर जिस युद्धमें ब्राह्मण, बान्धव और देवताओंका नाश होता हो, ऐसे अधर्मयुक्त युद्धमें क्षत्रिय राजाको उद्यम करना उचित नहीं है, ऐसे अधर्मयुक्त युद्धसे तो क्षत्रिय राजाको विराम पाना ही श्रेष्ठ है। इस क्षणभङ्गुर संसारमें अधिकारी शरीरको प्राप्त करके पुरुषको आत्मज्ञान-सम्पादन करना चाहिये। युद्धादि-सम्पादन करना योग्य नहीं है। यह संसार केलेके स्तम्भके समान साररहित है। सम्पूर्ण दुःखयुक्त जीवनवाले इस अनित्य संसारमें मनुष्य या देवताका शरीर प्राप्त करके पुरुषको अपने हितके लिये अद्वितीय आत्मज्ञानका अवश्य सम्पादन करना चाहिये। अद्वितीय आत्मज्ञान ही हितका उपाय है, आत्मज्ञानके सिवा सभी कर्म पुरुषका अहित करनेवाले हैं। इन्द्रके साथ युद्ध करनेसे तुमको इस लोक और परलोकमें दुःखकी ही प्राप्ति होगी।'

हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकारके गुरुके वचन सुनकर तुम कहने लगे—

'हे गुरो! आपने सर्व प्रकारसे युद्धका निषेध किया। आपका ऐसे निषेध करना उचित नहीं है, क्योंकि युद्धशास्त्रमें अनेक प्रकारके युद्ध करनेकी रीति बतायी है। आपके कथनसे तो युद्धशास्त्र ही व्यर्थ हो जायगा।' इसपर ऋषिने कहा—

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! युद्धशास्त्र व्यर्थ नहीं है। युद्धशास्त्रमें युद्धका विधान इसप्रकार है कि जहाँ युद्ध किये बिना अपनी मृत्यु होती हो और युद्ध करनेसे जीवनकी आशा हो, वहीं पुरुषको युद्ध करना चाहिये। युद्ध किये बिना तुम्हारे कार्य-

की सिद्धि हो सकती है इसलिये तुम युद्धकी इच्छा छोड़कर यज्ञभाग मिलनेका उपाय करो। स्थूल शरीरके पराक्रमसे बुद्धिका पराक्रम अधिक है, क्योंकि पुरुषका चलाया हुआ शस्त्र एक शत्रुको जय करता है अथवा कभी एक शत्रुको भी जय नहीं करता। और अनेक प्रकारके उपायोंको शोध कर निकालनेवाले बुद्धिरूप शस्त्रसे बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण जगत्को जीत लेता है। शारीरिक बलसे बुद्धिबल कहीं अधिक है। शरीरके पराक्रमसे जिन पदार्थोंको कोटि जन्मोंमें भी पुरुष प्राप्त नहीं कर सकता, बुद्धिके पराक्रमसे उन्हींको थोड़े ही समयमें पा सकता है। जैसे करोड़ों जन्मतक युद्ध करके पुरुष स्वर्गलोकको प्राप्त नहीं कर सकता पर हिरण्यगर्भकी उपासना करनेसे थोड़े ही कालमें उसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है इसलिये तुम भी बुद्धिसे यज्ञभाग मिलनेका उपाय ढूँढ़ो !' तुमने कहा—

हे भगवन्! युद्धके सिवा यज्ञभाग मिलनेका हम दूसरा कोई उपाय नहीं जानते! हमको तो युद्ध करनेसे ही यज्ञभागकी प्राप्ति होना सम्भव दीखता है।

दध्यङ–हे अश्विनीकुमारो! युद्ध करनेसे तुमको किसी प्रकार भी यज्ञभागको प्राप्ति नहीं हो सकती। उसकी प्राप्तिके लिये मैं तुमको एक सुलभ उपाय बताता हूँ, उसको तुम सावधान होकर सुनो— शर्याति राजाने यज्ञ करना आरम्भ किया है। च्यवन नामक ऋषि उसके जामाता हैं। शर्यातिने च्यवनको होता बनानेका निश्चय किया है परन्तु च्यवन-ऋषि नेत्रहीन हैं इसलिये शर्याति राजाको संशय है कि नेत्रसे रहित च्यवन मेरा यज्ञ किसप्रकार करावेंगे' यह सुनकर तुमने पूछा—'हे भगवन्! च्यवन-ऋषि शर्यातिके जवाँई किसप्रकार हुए और वे नेत्रसे हीन क्यों हैं? यह सब वृत्तान्त आप हमसे कहिये।' इसपर ऋषि कहने लगे—

दध्यङ–हे अश्विनीकुमारो! शर्याति राजाकी कुमारी सुकन्या जब छोटी लड़की थी तब एक समय राजा उसे लेकर मधुवनमें वनलीला देखने गया था, सखियोंके साथ वनमें फिरते-फिरते सुकन्या एक टीलेके सामने जाकर खड़ी हुई, उस टीलेमें उसको दो तारे चमकते हुए दिखायी दिये। तारे क्या हैं, यह जाननेके लिये सुकन्याने एक शूल लेकर बालकस्वभावसे उनमें घुसेड़ दिया। टीलेमेंसे दिखायी देनेवाले तारे और कुछ नहीं थे, वे तपस्वी च्यवन ऋषिकी आँखें थीं। शूलके चुभोनेसे उनकी आँखें फूट गयीं और उनमेंसे रुधिरकी धारा बहने लगी। सुकन्या डर गयी। जब राजाको यह बात मालूम हुई तो उसने टीलेमेंसे सूखे हुए च्यवन ऋषिको निकाला। कन्याने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। जब राजा च्यवन ऋषिसे क्षमा माँगने लगा तब च्यवन-ऋषि इसप्रकार कहने लगे—

च्यवन ऋषि—हे राजन्! आँखें फूट जानेकी मुझे कुछ चिन्ता नहीं है परन्तु अन्धा हो जानेके कारण मैं अपना नित्य-नैमित्तिक कर्म किसप्रकार करूँगा? इसीकी मुझे भारी चिन्ता है। मैं नित्य-नैमित्तिक कर्म यथाविधि कर सकूँ, ऐसा प्रबन्ध करो!

ऋषिकी वाणी सुनकर राजा सोचमें पड़ गया, कुछ न बोला, राजाको खिन्न देखकर सुकन्या कहने लगी—

सुकन्या–हे पिताजी! आप उद्विग्न न हों, मुझे प्रसन्नतापूर्वक ऋषिको दान दे दें। मुझ अभागिनीके हाथसे यह घोर पाप हो गया है, इस पापका प्रायश्चित्त मेरी समझमें यही आता है कि मैं इनकी सेवा करूँ।

राजाने उन महात्माको कन्यादान कर दी, अभीतक वे दोनों दम्पति अपने धर्मका आचरण करते हुए आनन्दपूर्वक उस वनमें रहते हैं। हे अश्विनीकुमारो! वह तपोधन च्यवन मुनि अपने तपके बलसे महान् समर्थ महात्मा हैं, परन्तु अन्धे और वृद्ध हैं इसलिये यदि तुम अपने चिकित्साशास्त्रके प्रतापसे उनकी आँखें ठीककर दो और उनको यौवन-अवस्था दे दो तो वे अपने श्वसुर शर्याति राजाका यज्ञ कराके

तुमको यज्ञभाग दिलवा देंगे। इसलिये तुम अन्य सब विचार त्यागकर यह कार्य करो, इसमें तुम्हारा हित है।'

हे अश्विनीकुमारो! जब दध्यङ मुनिने इसप्रकार तुमसे कहा तो तुमने च्यवन ऋषिके नेत्र अच्छे कर दिये और उन्हें यौवन-अवस्था भी दे दी। इसके बाद च्यवनने बलात्कारसे तुमको इन्द्रसे यज्ञका भाग दिलवाया। सच है काम-क्रोध बुद्धिको भ्रष्ट करनेवाले हैं और जो कार्य बलसे होना असम्भव है, वही कार्य बुद्धिके प्रतापसे सहजमें ही हो जाता है। धन्य हैं वे पुरुष जिनकी बुद्धि सर्वदा सावधान रहती है और जो सदा विचारपूर्वक सब कार्य करते हैं और काम-क्रोधादि शत्रुओंके वश नहीं होते! हे अश्विनीकुमारो! इसके पश्चात् जो कुछ हुआ सो कहता हूँ सुनो—

(क्रमशः)

तीर्थ-रेणु

(गंगातीरनिवासी एक परमहंस महात्माके उपदेश)

(गतांकसे आगे)



परमहंस रामकृष्णदेव बार-बार कहा करते थे, तुम लोग 'जनक-जनक' बकते हो, यह पता नहीं कि जनकने कितने दिनोंतक एकान्तमें रहकर कठिन तपस्या की थी। वे कहते थे, गृहस्थीमें रहो, किन्तु एक हाथसे भगवान्के चरण पकड़े रहो। समय मिलते ही कभी-कभी एकान्तमें जाकर कुछ दिनोंके लिये साधन-भजन करो। यदि दूध-पानी एक ही जगह रहेंगे तो मिल जायँगे। दूधको जमाकर उसमेंसे मक्खन निकाल लो, फिर विषयोंके जलमें वह न मिल सकेगा।

* * *

सभी अपनी-अपनी प्रकृतिसे मजबूर हैं। कोई किसीकी न तो उन्नति करा सकता है और न स्वयं कर ही सकता है। भगवान् जिसे योग्य पात्र समझकर उन्नति करावेंगे, वही कर सकेगा।

* * *

सभी अपनी-अपनी प्रकृतिसे मजबूर हैं, अवश हैं। महाप्रभु चैतन्यदेवकी सङ्गतिमें जो भी रहते वे ही प्रेममें विभोर होकर नृत्य करने लगते। क्योंकि प्रायः वैसी ही प्रकृतिवाले भक्त उनके पास पहुँचते थे। महाप्रभुके समीपमें उन्हें और उत्तेजना मिलती; किन्तु जिनकी प्रकृति ही निन्दा करनेकी थी, वे उनके पास भी निन्दा ही करते रहते थे। चैतन्यदेवके गुरुके एक गुरुभाई रामचन्द्रपुरी उनके पास रहते थे। वे सदा चैतन्यदेवके छिद्रोंको ही ढूँढ़ते रहते। लोगोंसे कहते—'संन्यासी होकर यह इतना खाता है, अपनी पूजा कराता है, यह ठीक नहीं।' संन्यासीको मीठा आदि नहीं खाना चाहिये। बहुत थोड़ी भिक्षा करनी चाहिये। एक दिन महाप्रभुके यहाँ चींटियोंको देखकर आप जलते हुए बोले—'दिन-रात मीठा खानेसे चींटियाँ तो आवेंगी ही। इतना मत खाया करो। थोड़ा खाना चाहिये।' महाप्रभुने उनके कहनेसे अपना भोजन बहुत घटा दिया और निमन्त्रण खाना भी बन्द कर दिया। उनका शरीर सूख गया, दुबले हो गये, किन्तु रामचन्द्रपुरी निन्दा करनेसे बाज नहीं आये, क्योंकि वे अपनी प्रकृतिसे मजबूर थे।

* * *

भोजन तीन कारणोंसे किया जाता है—

(१) शरीरको स्वस्थ बनाये रखनेके लिये।

(२) प्रेमके लिये।

(३) स्वादके लिये।

शरीर-निर्वाहके लिये तो जैसा मिल जाय और जैसा अपने अनुकूल पड़े, वैसा ही सादे-से-सादा

बिना चटपटे और स्वादके सात्त्विक भोजन ठीक समयपर करना चाहिये।

प्रेममें कोई नियम नहीं। वह तो प्रेमीकी इच्छापर निर्भर है, जिसमें उसे प्रसन्नता हो, उसमें समय और वस्तुका भी नियम नहीं है।

स्वादके लिये तो जैसी भी और जिस समय तबीयत चले, खाया जाता है। उसकी कोई गणना नहीं।

* * *

परन्तु साधकके लिये तो नियमसे ही भोजन करना उचित है। बहुत जगह हम प्रेमके नामपर अपनी इन्द्रियोंकी ही सन्तुष्टि करते हैं। प्रेमका बहाना करके अपनी जिह्वा-रस-लोलुपताकी ही पूर्ति करते हैं। प्रेम नियमसे ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये जान-बूझकर कभी भी शक्तिभर नियमको न तोड़ना चाहिये।

* * *

'प्रेममें नियम नहीं' इसके मानी यह नहीं कि नियमको तोड़ ही देना चाहिये। मीठा न खानेका नियम है तो मीठा खा ही लेना चाहिये अथवा नहीं ही खाना चाहिये। उस समय इन्द्रिय-वासनाओंसे रहित होकर जैसा भी बन जाय वैसा ही ठीक है।

* * *

क्या आप मोक्ष चाहते हैं ?

चाहते हैं क्या, मुक्त तो हैं ही। हमें बन्धन ही क्या है? कामिनी-काञ्चनकी इच्छाका ही नाम बन्धन है, अभीतक तो हमें इनकी इच्छा तनिक भी नहीं है। आगे भगवान् जानें। प्रभुके प्रति प्रेमाभाव-सा प्रतीत होता है, सो तो उनकी कृपापर ही निर्भर है, जब भी कृपा कर दें, कृपाकी ही प्रतीक्षा है।

* * *

क्या बताऊँ, दैवी माया बड़ी ही विचित्र है। 'प्रेम' जिस वस्तुका नाम है, वह दृष्टिगोचर ही नहीं होता। प्रेम करना बड़ा कठिन है। हमलोग जिसे प्रेम कहते हैं, वह तो एक प्रकारका भाव-प्रलोभन है। कोई मान-प्रतिष्ठाकी इच्छासे, कोई बड़प्पनकी इच्छासे, कोई दबकर, कोई किसीके प्रभावके वशीभूत होकर, कोई धनकी अभिलाषासे खुशामद करते हैं, उसे प्रेम थोड़े ही कह सकते हैं। 'प्रेम' तो बड़ी ही कठिन वस्तु है।

* * *

जो साढ़े तीन हाथका यह मनुष्य नामका भयानक जन्तु है, जिसके हृदयके भाव क्षण-क्षणमें बदलते रहते हैं, जो हमारी प्रत्येक चेष्टाका कुछ-न-कुछ अर्थ ही लगाता रहता है, तनिक-से भाव-शैथिल्यसे जिसकी भृकुटी चढ़ जाती है, ऐसे मनुष्यके प्रति प्रेम होना तो महान् ही कठिन काम है। किसी विरले महाभागका ही किसीके प्रति प्रेम हो सकता है। जिसका किसीके प्रति प्रेम हो गया हो, उस बड़भागी महानुभावके चरणोंमें हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है।

आनन्द * का बुद्धके प्रति प्रेम था। निमाईका निताईके प्रति प्रेम था। पीछेके लोगोंने इनको शिष्य-संज्ञा दे दी। असलमें इनमें तो शिष्य-गुरुका भाव ही नहीं था। प्रेममें यह भाव कहाँ? आनन्द भगवान् बुद्धसे कुछ अवस्थामें बड़े थे। नित्यानन्द भी गौराङ्गसे नौ-दस वर्ष बड़े थे। अद्वैत तो पचास-साठ वर्ष गौराङ्गसे बड़े थे। इनमें परस्परमें सच्चा प्रेम था। एक दूसरेके प्राण थे। प्रेममें द्वैधी भाव कहाँ? ईसाके साथ जो यूहन्ना आदि बारह साथी थे, उनका भी उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम था। प्रभु यीशुने उनके चरणोंको धोकर पान किया था।

गौराङ्गने भी नित्यानन्दके चरणोंको धोकर स्वयं पान किया, भक्तोंको प्रसाद बाँटा और कहने लगे—'आज हम कृतकृत्य हुए।'

* * *

---

* भगवान् बुद्धके सर्वप्रिय शिष्य थे।

असलमें प्रेमको समझना ही जीवनके यथार्थ लक्ष्यतक पहुँचना है।

हमलोग जो जीवन बिता रहे हैं, वह कोई जीवन थोड़ा ही है। हजारों आदमी ठीक समयसे उठते-बैठते, भजन-पूजा तथा अध्ययन-अध्यापन करते हैं। सरकारी दफ्तर और कचहरियोंमें नियमसे काम होता है। उनमें बहुत-से कर्मचारी सदाचारी और भले भी होते हैं। ऐसे जीवनको अच्छा जीवन भले ही कह लो, किन्तु महान् जीवन तो चीज़ ही दूसरी है। हर समय कलेजेमें भगवद्विरह अग्नि धधकती रहे, कभी मौजमें हँसे, कभी रोवे, कभी नाचे, कभी गावे, यही असलमें जीवन है।

'हसत्यथो रोदिति रौति गायति'

–इसी जीवनको श्रीमद्भागवतमें यथार्थ जीवन कहा है।

* * *

मन जब दृढ़ संकल्पके कारण इधर-उधर न जानेसे एकदम निराश हो जाता है, तब एकान्तमें सुखास्वादन करने लगता है। फिर वह सुखास्वादनके बिना रह ही नहीं सकता।

* * *

मनको कुछ-न-कुछ खूराक चाहिये। जब संघर्षणमें थे, तब मनको सबसे मिलने-जुलने और बातचीत करनेकी रोज नयी खूराक मिल ही जाती थी, किन्तु यहाँ उसे नयी खूराक तो मिलती नहीं, वह पुरानी ही बातोंकी पुनरावृत्ति करता रहता है। जैसे किसीको समाचारपत्र पढ़नेका व्यसन है, जब नया पत्र नहीं आता तो पुरानी ही फाइलको उलटने-पुलटने लगता है। किसी तरह मनको भी तो बहलाया जाय। जिनकी याद आती है, उनमें कोई तत्त्व थोड़े ही हैं। सभी संसारी हैं।

* * *

सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है। मौनसे बढ़कर कोई तप नहीं है। जपसे बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है। विचारसे बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है। और त्यागसे बढ़कर कोई सुख नहीं है।

* * *

प्रेषक—इन्द्र ब्रह्मचारी

तुलसीकृत रामायणमें करुणारस

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम० ए०, एल-एल० बी०)

(गतांकसे आगे)



अब वनवास सम्बन्धी नाटककी प्रतिनायिका कैकेयीके चरित्रपर विचार किया जाता है। उसका चरित्र-चित्रण तथा तत्सम्बन्धी कठिनाइयोंका निराकरण जिस प्रकार तुलसीदासजीने किया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। यदि कैकेयीके चरित्रको ही उपर्युक्त सिद्धान्तोंका खयाल रखते हुए दुःखान्तसूचक कहा जाय तो कविको उसके प्रति हमारे हृदयमें कुछ-न-कुछ करुणा-भाव तो अवश्य ही उत्पन्न करना चाहिये। यह काम कितना कठिन है, क्योंकि यदि उसके प्रति अधिक करुणा-भाव उत्पन्न हो जाय तो वह भाव उतने ही अंशमें दशरथके हिस्सेसे घट जायगा। फिर यदि हमारे हृदयमें वह भाव उतनी ही मात्रामें उत्पन्न हो जितना दशरथके प्रति होता है तो नाटकसे चरित्र-विरोध अथवा चरित्र-संघर्षणका मजा ही जाता रहे। परन्तु तुलसीदासजी, इस विचारसे कि कहीं हमारे हृदयमें कैकेयीके प्रति केवल घृणा ही उत्पन्न न हो, ऐसा आधिदैविक दृश्य पेश करते हैं जिसमें देवताओंने सरस्वतीजीको आग्रहपूर्वक इस बातपर आमादा किया कि वह किसी प्रकार रामजीका अभिषेक न होने दें। उसी प्रेरणावश सरस्वतीजीने मन्थराद्वारा महारानी कैकेयीको प्रभावित भी किया। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि सरस्वतीजीको स्वयं ही अपनी स्थितिकी निकृष्टताका अनुभव हो रहा था—यहाँतक कि जब वह विश्वकल्याणके भविष्यको भली प्रकार अनुभव कर सकीं तभी उनकी अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो सकी। यह बात निम्न चौपाइयोंसे प्रकट है—

आगिल काज बिचार बहोरी। करिहैं चाह कुशल कवि मोरी॥
हरषि हृदय दशरथपुर आई। इत्यादि

निष्काम-कर्म-जनित हर्ष ऐसा ही होता है। दूसरी ओर जब हम यह देखते हैं कि मन्थरा दैविक शक्तियोंके हाथमें कैकेयीके हृदयपरिवर्तनार्थ केवल एक नैमित्तिक कारणरूप है तो क्या हम मन्थरा और कैकेयी दोनोंके प्रति क्षमाका अनुभव नहीं करने लगते? परन्तु इसी भावको यदि कवि अत्यधिक मात्रामें अनुभव करानेका अवकाश दे तो कैकेयीके प्रति वह घृणा हमारे हृदयमें उत्पन्न ही न हो जिसका कुछ मात्रामें होना इसलिये आवश्यक है कि दशरथके प्रति हमारे हृदयमें करुणा-भाव उत्तेजित हो। देखिये, कुशल कविने इस कार्यको किस प्रकार सम्पादित किया है? वह यह करता है कि दैविक दृश्यको बहुत संक्षेपमें ही पेश करता है और उसके बाद ही प्रेम, उत्साह एवं करुणाके आवेगोंके ऐसे-ऐसे दृश्य हमारी कल्पना-शक्तिके सामने रखनेका प्रयत्न करता है कि हम इस बातको मानो भूल ही जाते हैं कि कैकेयी दैवी शक्तियोंके हाथोंमें कठपुतलीकी तरह काम कर रही है। हमारी दार्शनिक निष्पक्षता मानो करुणारसके समुद्रमें डूब ही सी जाती है। यदि इस निमग्नतासे कोई पृथक् रहता है तो वह केवल रामका ही व्यक्तित्व है और इसीलिये तुलसीदासजीने इस विचारको एक सुन्दर रूपकद्वारा चित्रकूट-सम्बन्धी दृश्यमें प्रकट करते हुए कहा है कि मानो राम इस करुणा-रसके कटकको अपने उस आश्रममें लिये जाते हैं जो शान्तिरसका भाण्डार है। यहाँपर तुलसीदास, शेक्सपियर और बर्नार्ड शा द्वारा रचित आधिदैविक दृश्यों-पर तुलनात्मक विचार करना अत्यन्त रुचिकर होगा। क्योंकि विस्तृत व्याख्या यथासमय आगे होती रहेगी, यहाँ इतना ही कह देना अलम् है कि तुलसीदासजी इस मामलेमें शेक्सपियर क्या, बर्नार्ड शा से भी बहुत आगे बढ़ गये हैं।

उपर्युक्त कठिनाईका निर्वाह तुलसीदासजी अन्य प्रकारसे भी करते हैं। वह यह कि जबतक दशरथजी रङ्ग-मञ्चपर रहते हैं उस समयतक कवि हमारे हृदयमें कैकेयीके स्वार्थ एवं दुष्टतापूर्ण दृढ संकल्पके प्रति घृणाका भाव उत्तेजित रखता है। वह स्वयं कहता है—

'भिल्लिनि जनु छोड़न चहति बचन भयंकर बाज'

परन्तु जब दशरथजी एक बार हमारी दृष्टिके ओट हो जाते हैं और उनके मृत्युजनित शोक एवं कैकेयीकी दुराग्रहजनित घृणाका प्रचण्ड प्रवाह घट जाता है तब तुलसीदासजी भी अपनी कथन-शैली बदल देते हैं। कैकेयीके पुत्र भरतने स्वयं जिन शब्दोंमें अपनी माताके प्रति घृणा प्रकट की है, वे कठोरतामें उन शब्दोंसे भी बढ़कर हैं, जिन्हें हैमलेटने अपनी माताके प्रति प्रयुक्त किया है। शब्द ये हैं—

जबतें कुमति कुमत मन ठयऊ। खण्ड खण्ड है हृदय न गयऊ॥
बर माँगत मन भइ नहिं पीरा। जरि न जीभ मुँह परेउ न कीरा॥

परन्तु इसी दृश्यमें जहाँ एक ओर कैकेयीने उत्साह-पूर्ण रीतिसे अपने पुत्रकी आरती सहर्ष उतारी है वहाँ उसने दशरथजीकी मृत्यु और तज्जनित परिणामोंपर चार आँसू भी बहाये हैं और स्वयं कहा है—

कछुक काज बिधि बीच बिगारयो। भूपति सुरपतिपुर पग धारयो॥

परन्तु तुलसीदासजीने तो उन आँसुओंको 'कपट नीर भरि नयन' ही कहा है। कारण, भरतकी तीव्र आलोचना-के पूर्व तो कैकेयीको अपने कुव्यवहारका तनिक भी अनुभव न था और उसका अश्रु-प्रवाह अधिकतर दिखावे-की रीतिपर ही था। देखिये न, उपर्युक्त चौपाईमें भी केवल 'कछुक काज' के ही बिगड़नेका वर्णन है जिसके लिये विधाता ही लाञ्छित किया गया है। यदि हम कैकेयी और हैमलेटकी माताके पश्चात्तापोंका तुलनात्मक निरीक्षण करें तो निस्सन्देह हमें बड़ा साहित्यिक आनन्द प्राप्त होगा। दोनों अपने पुत्रोंकी अभ्यर्थनासे प्रभावित होती हैं परन्तु कैकेयी अधिक दृढ होनेके कारण अपने पश्चात्ताप-को शब्दोंमें प्रकट नहीं करती—फिर चाहे हम इस चुप्पी-को कठोरहृदयता ही क्यों न कहें, परन्तु यह बात भी नाटकीय कौशलकी परिचायक है, क्योंकि यदि हमारी घृणाका भाव सहसा विलुप्त हो जाय तो इस अद्वितीय नाटकीय दृश्यका मजा ही जाता रहे। परन्तु कैकेयी भरतके कठोर शब्दोंका कोई उत्तर नहीं देती और वहाँ हैमलेटकी माताका उत्तर करुणासे परिपूर्ण दीखता है। कैकेयीकी दशामें भी हमें स्पष्ट अनुभव होता है कि उसका कठोर हृदय भी द्रवीभूत हो रहा है और उसका मस्तिष्क आन्तरिक निरीक्षणमें लगा हुआ है। तभी तो वह भी चुपचाप भरतके साथ चित्रकूट चल देती है और

राजतिलककी सामग्री ले जानेका भी विरोध नहीं करती। चित्रकूट पहुँचनेपर जब रामजी उससे शुद्ध पुत्रवत् प्रेमके साथ मिलते हैं तो हम यह देखते हैं कि मानो उनके शब्द कैकेयीके मानसिक रोगके निमित्त महौषधिका काम कर रहे हैं। तुलसीदासजी लिखते हैं—

प्रथम राम भेंटे कैकेई। सरल सुभाव भक्ति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल कर्म गति सिर धर खोरी॥

आगे चलकर पश्चात्तापकी दशा पूर्णरूपेण प्रकट होती है, मानो कैकेयी अपने मानसिक स्वास्थ्यको पुनः प्राप्त कर लेती है। जब चित्रकूटमें महाराज जनकके आगमनकी सूचना होती है उस समयके कैकेयीके हृदयस्थ भावोंका चित्रण तुलसीदासजी इसप्रकार करते हैं—

गरै गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहै केहि दूषण देई॥

इसी पश्चात्ताप-भावको हैमूलेट भी अपनी माताके हृदयमें जाग्रत् करना चाहता था परन्तु वह सफल नहीं हो सका। इसके लिये एक कोमलतापूर्ण स्पर्शकी आवश्यकता थी परन्तु हैमूलेट और भरत दोनोंमें अपनी माताओंके प्रति उसका अभाव था। अब हमें कैकेयीके प्रति भी करुणाका अनुभव होने लगता है।

अब एक अन्य दृष्टिकोणसे भी विचार कीजिये। यदि रामके ये शब्द—

सम्भावित कहँ अपयश लाहू। मरण कोटि सम दारुण दाहू॥

—एक नैतिक सिद्धान्तका प्रकटीकरण करते हैं तो क्या कैकेयी मरे हुएसे भी बदतर नहीं हो जाती? और जब हम उसकी कीर्तिको 'काल कर्म गति' के वश सरस्वतीके हाथों बिगड़ते देखते हैं तो हमारे हृदयमें करुणाका भाव जाग्रत् हो जाता है। आह, यह कैकेयी कौन है जो दैवी शक्तियोंद्वारा इतना अधिक सतायी जाती है? वह एक ऐसी साम्राज्ञी और वीर क्षत्राणी है जो लड़ाईके मैदानमें भी अपने पतिकी सहायता कर सकती है, वह रामसे अत्यन्त प्रेम करती है और राम भी उससे वैसा ही प्रेम करते हैं, परन्तु दैवी गति देखिये कि वही कैकेयी रामके वनवास और अयोध्यावालोंकी व्याकुलताका कारण बनती है। अब उसकी दृढ़ता भी उसके पतनका कारण बन जाती है, क्योंकि यदि वह तनिक भी निर्बल होती तो ऐसे कठिन सङ्कल्पको कभी पूरा न कर सकती और दशरथजीके मरने तथा उसके विधवा हो जानेके अतिरिक्त और बहुत-सी बुरी घटनाओंके भी घटित होनेकी नौबत न आती। महाराज दशरथकी मृत्यु तो केवल शारीरिक थी, परन्तु कैकेयीकी कीर्ति तो सदाके ही लिये कालिमापूर्ण हो गयी। अतः कैकेयीकी अवस्था अधिक करुणा-जनक है। बाह्य रीतिपर देखनेसे इस चरित्र-संघर्षणमें विजय कैकेयीकी जान पड़ती है परन्तु आन्तरिक रीतिपर देखनेसे स्नेह और सत्यकी परीक्षामें दशरथ ही विजयी प्रमाणित होते हैं। अब यह एक रहस्यपूर्ण प्रश्न है कि वस्तुतः दुःखान्त किसका हुआ।

चरित्र-संघर्षणका दूसरा पहलू भी, जो मन्थरा और कैकेयीके चरित्रोंमें दीखता है, उतना ही रोचक है जितना यागो (Iago) और अथेलोके दर्म्यानवाला। तुलनासे प्रकट होगा कि दोनों कवि काव्य-कलामें पारङ्गत हैं और दोनोंकी दुःखान्त नाटक-सम्बन्धी धारणाएँ भी इस पहलूमें समान ही हैं। दुःखान्त-कविताके आन्तरिक सिद्धान्तकी दृष्टिसे कैकेयी और अथेलोके साधारण प्रेममें ईर्ष्यारूपी विष जिस प्रकार प्रविष्ट किया गया है, वह भी बड़ी सुन्दरताके साथ हुआ है। परन्तु क्योंकि इस विषयकी ओर हमें फिर लौटना है, यहाँ केवल उसका जिक्र कर देना इस विचार-दृष्टिसे अलम् है कि कैकेयीके दुःखान्तक चरित्रकी कल्पनामें भी आन्तरिक और बाह्यात्मक उभय सिद्धान्तोंका समावेश हुआ है। कैकेयीके चरित्रमें दो मर्मभेदी (Vulnerable) स्थल दिखायी देते हैं, एक तो उसकी अभीकी उत्पन्न विलासिता जिसपर मन्थराने 'प्रिय सेज तुराई' कहकर कटाक्ष किया है और दूसरा उसकी तीव्र तार्किक निरीक्षण शक्तिका उन सम्बन्धोंमें भी प्रयुक्त होना जहाँ केवल पवित्र प्रेम-ही-प्रेम होना चाहिये। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर महोदय भी कहते हैं कि प्रेमके बहीखातेमें धन और ऋण साथ ही जोड़े जाते हैं। प्रेमिक उस हानिको लाभ ही समझता है जो प्रेमद्वारा आमन्त्रित की जाय। 'मैं करि प्रीति परीक्षा देखी' में कैकेयीके आत्मिक पतनकी समस्त दुःखान्तक सम्भावना विद्यमान है।

दशरथ और कैकेयी दोनोंके चरित्रोंमें पाश्चात्य दुःखान्तक साहित्यके सिद्धान्तोंका ही अधिकतर समावेश है, अतः उनकी विस्तृत व्याख्या करनी उचित जान पड़ी। परन्तु इस जीवन-सम्बन्धी दुःखान्तक भँवरके चक्करमें बहुत-से कोमल और निरपराधी चरित्र भी पड़ जाते हैं और इसीलिये उनके प्रति हमारे हृदयमें अधिकतर करुणा

उत्पन्न होती है। इस शोकसागरमें बेचारी कौशल्या डूबती दिखायी देती है परन्तु यदि कोई गुण उसे बिलकुल डूब जानेसे बचाये रखता है तो वह उसकी स्वस्थ मानसिक शक्ति ही है, जिसकी बदौलत वह दुःखके समयमें भी किसी पक्षके दोनों पहलुओंपर विचार करके निर्णय कर सकती है। उदाहरणार्थ देखिये कि उसने रामके रोक रखने अथवा वन जाने देनेकी बातके दोनों पहलुओंपर विचार करते हुए किस उत्तमतासे ये शब्द कहे हैं—

राखहुँ सुतहिं करहुँ अनुरोधू। धर्म जाइ अरु बन्धुविरोधू॥

उसके शोक और दुःखका कारण यह है कि उसके हृदयमें ममताकी ऐसी लहरें उठती हैं जो उसे 'सनेह-कातर' बना देती हैं। कौन ऐसा मनुष्य है जो इस दोहेको आँसू बहाये बिना पढ़ सकेगा—

बहुरि बच्छ कहि लाल कहि, रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बुलाइ लगाइ उर, हरषि निरखिहौं गात॥

परन्तु वह इतनी निस्स्वार्थ है कि हृदयकी भावनाएँ उसे कुपथपर नहीं ले जा सकतीं और वह कहती है कि—

गहबर हिय कह कौसिला, मोहिं भरतकर सोच।

इसप्रकार कौशल्याजीका चरित्र न केवल कैकेयीकी, प्रत्युत दशरथकी तुलनामें विरोधाभासका परिचायक है। कौशल्याजी अपने शब्दोंद्वारा दशरथजीके मानसिक सन्निपातकी चिकित्साका भरसक प्रयत्न करती हैं परन्तु विधिका विधान कुछ और ही है। राम और कौशल्या दोनों निरपराध हैं अतः हमारे हृदयमें उनके प्रति करुणा-भावका सञ्चार स्वाभाविक होता है, जब हम यह देखते हैं कि उनके सांसारिक सुखमें बाधा पड़ रही है। उनकी दशामें दुःखान्त-कविताका भाव नितान्त बहिरंग रीतिपर ही है। शायद इसीलिये अयोध्याकाण्डमें न सही, फिर भी अन्तमें दोनों ही सांसारिक सुखकी उपलब्धि करते हैं। भरतजी भी निष्पाप भोक्ता हैं और उन्हें अपनी आदर्श-पूर्तिके लिये दुःख भोगना पड़ता है। यहाँ हम उनकी गणना दुःखान्त-चरित्रके पात्रोंमें इस हेतु करते हैं कि उनके आदर्शपूर्ण विचारमें उनके लिये यही अत्यन्त दुःखदायक है कि लोकापवादकी दृष्टिसे उनके अपनी माताके षड्यन्त्रमें सम्मिलित हो जानेकी सम्भावना है। तुलसीदासजीने भी उनके इस दुःखका ऐसे विस्तारसे वर्णन किया है कि हमारे हृदयमें उनके प्रति करुणाजनक आदरका भाव उत्पन्न होता है। भरतजी स्वयं कहते हैं कि—

पितु सुरपुर, सिय राम बन, करन कहहु मोहिं राज।
यहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज॥

परिस्थितियोंके इस वर्णनमें कितना सुन्दर विरोधाभास है और साथ ही कितना व्यंगपूर्ण! वह स्वयं इन परिस्थितियोंको किस दृष्टिसे देखते हैं, यह बात निम्न-पदोंसे प्रकट होगी—

मोहि समान को पाप-निवासी। जेहि लगि सीय राम बनबासी॥
राउ राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनेउँ सचेतू॥

ऐसी परिस्थितियोंमें पड़कर भरतजीको अपना सचेत जीवन ही दुःखमय प्रतीत होता है! मेरा विचार है कि एक पृथक् लेखमें भरत और हैमलेटके चरित्रोंकी तुलनात्मक व्याख्या करूँ, अतः यहाँ अधिक विस्तारसे नहीं लिखा जाता। परन्तु इतना कहे बिना नहीं रह सकता कि केवल आदर्शपूर्ण पूर्व ही ऐसे आदर्श पुरुषका निर्माण कर सकता है, जो इस बातपर दुःखी हो कि उसे बिना अधिकारके राज्य और सम्पत्ति मिल रही है, न इस बातपर कि वह राज्य और सम्पत्तिसे वञ्चित हो रहा है। यदि भरतके आदर्शवादको सफलता प्राप्त होती है तो उसका कारण एक ओर तो भरतके क्रियात्मक स्वभाव और दूसरी ओर सहानुभूतिके वातावरणका होना है। हम अभी कौशल्याजीको यह कहते हुए कि 'मोहिं भरतकर सोच' देख चुके हैं। रामको उनपर ऐसा दृढ़ विश्वास था कि लक्ष्मणके शंका करनेपर भी उन्होंने स्वयं कहा था कि—

भरतहि होइ न राजमद, बिधि-हरि-हर पद पाय।

परन्तु भरतजीको हम सदा ही आदर्शवादके भावों एवं कार्योंकी उस खड़ी चट्टानके ऐसे किनारेपर पाते हैं कि तनिक भूल या धक्केसे उनका प्राणान्त ही हो जाय। चित्रकूटमें जब महाराज जनक तथा गुरु वशिष्ठको भी भरतजीके शोक-निवारणका कोई उपाय नहीं सूझता तो उस समय रामचन्द्रजी स्वयं ही उस शोकके दुःखान्तक परिणामको इसप्रकार बचा लेते हैं कि वह भरतजीके हृदयमें भावुक सहयोगके भावोंको जाग्रत् करते हुए कहते हैं—

रोपिय हाथ असनिके घाये।

सम्पूर्ण वातावरण ही बदल जाता है। रामका वियोग

रामकी आदर्शपूर्तिका हेतु बनकर सहनीय बन जाता है। अब राज्यका प्रबन्ध भी राज्यको रामजीकी थाती समझकर किया जा सकता है। परन्तु भरत-जैसे आदर्शवादीके लिये उस थातीका कोई चिह्न तो अवश्य ही चाहिये और वह चिह्न रामजीकी चरणपादुकाके रूपमें प्रस्तुत होता है। परन्तु भरत राज्यजनित भोग-विलासमें पड़ जानेके भयसे अपना समस्त जीवन ही एक त्यागी तपस्वीकी भाँति नन्दिग्राममें व्यतीत करते हैं। रामको इन आदर्शपूर्ण भावों एवं परिस्थितियोंका सम्यक् ज्ञान था और इसीलिये वह लङ्का-विजयपर आनन्दोत्सव मनानेके बजाय सीधे अयोध्याको लौटनेके लिये उतावले हो जाते हैं और विभीषणसे कहते हैं कि—

तोर कोष गृह मोर सब सत्य बचन सुनु तात।
दशा भरतकी सुमिरि मोहिं निमिष कल्पसम जात॥
तापस भेस शरीर कृश जपें निरन्तर मोहिं।
देखहुँ बेग सु जतन कर सखा निहोरौं तोहिं॥
जो जैहौं बीते अवधि जियत न पाउब वीर।
प्रीति भरतकी सुमिरि प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

क्या रामजीका सामयिक पुनरागमन भरतके जीवनकी एक और महान् दुर्घटनाको नहीं टाल देता? भरतजी निष्पाप थे और इसीलिये १४ वर्षकी कठिन परीक्षाके बाद उन्हें धर्मजनित सुख इसी लोकमें प्राप्त हो गया। साथ ही उपर्युक्त परीक्षाकी कड़ी आँचसे यह प्रमाणित हो गया कि भरतजी शुद्ध सुवर्ण थे। भरतसे अधिक और किसके प्रति इतनी सकरुण सहानुभूतिका प्रादुर्भाव हो सकता है? यही कारण है कि तुलसीदासजी पाश्चात्य साहित्यके दुःखान्त कविता-विषयक इस सिद्धान्तसे सहमत नहीं हैं कि वैसी कविताका अन्त मृत्युमें ही होना चाहिये, मानो किसी अन्य घटनासे पूर्ण करुणा उत्पन्न ही नहीं हो सकती। तुलसीदासजीके विचारसे यह खयाल बहुत ही भद्दा है।

बर्नार्ड शाके विचारसे, जिसका उल्लेख प्रथम लेखमें हो चुका है, भगवान् रामके चरित्रको किसी अवस्थामें भी दुःखान्तक कहीं नहीं कह सकते, क्योंकि वह विश्वके शुद्धिकारक दैवी साधनमें जान-बूझकर अपना सहयोग दे रहे हैं। अतः हम रामजीके चरित्रको महाकाव्य-सम्बन्धी वीरचरित्र ही कह सकते हैं।

ब्रेडली महोदय अपने 'दुःखान्त-कविताका उपादान-कारण' शीर्षक द्वितीय लेखके अन्तमें लिखते हैं कि—

Shakespear was not attempting to justify the ways of God to man and to show that the Universe is a divine comedy. He was writing tragedy and tragedy would not be tragedy if it were not a painful mystery.

'शेक्सपियरका उद्देश्य यह न था कि वह मनुष्योंको विधि-विधानकी सार्थकता समझाये तथा इस बातको भी, कि यह विश्व कोई ईश्वरीय सुखान्त रचना है। वह दुःखान्त कविताका लेखक था और वैसी कविताकी सार्थकता यही दिखलानेमें है कि संसारकी रचना एक दुःखपूर्ण रहस्य है।'

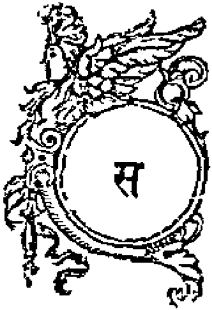
तुलसीदासजी मानो उपर्युक्त सिद्धान्तके अन्तिम भागसे सहमत हैं, परन्तु यदि हम उस सिद्धान्तके प्रथम भागको भी उनकी कवितासे संबद्ध करें तो वह इसका घोर विरोध करेंगे। यह ठीक है कि विश्व इस अर्थमें सुखान्तक न हो कि वह फूलोंकी सेज नहीं है परन्तु यह क्यों असम्भव हो कि हम दुःखान्त कवितामें विधि-विधानकी सार्थकता न दिखला सकें तथा उसे रहस्यमय न प्रमाणित कर सकें? तुलसीदासजीको उपर्युक्त उभय सिद्धान्तोंके एकीकरणमें, अयोध्याकाण्डमें बड़ी सफलता प्राप्त हुई है। हम तुलसीजीके समालोचकोंको इसपर बाध्य नहीं होना पड़ता कि हमें अपने कविके दोषोंको इसप्रकार स्वीकार करना पड़े जैसा ब्रेडली महोदयको निम्नलिखित शब्दोंमें करना पड़ा है—

Nor can he (Shakespear) be said event point distinctly, like some writers of tragedy in any direction where a solution (of the mystery) might be.

'शेक्सपियरके विषयमें हम यह भी नहीं कह सकते कि उसने दुःखान्त-कविताके अन्य लेखकोंकी भाँति हमें ठीक किसी ऐसी दिशाकी ओर संकेत किया है जहाँ विश्वके रहस्यका उद्घाटन हो सके।' इसीलिये जहाँ शेक्सपियर हमारे नैतिक आदर्शको उच्च बनानेमें असफल होता है, वहाँ तुलसीदासजीकी विशेषता ही यह है कि वह हमारे मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक तृष्णाकी तृप्ति भली प्रकार करते हुए करोड़ों मनुष्योंके पथ-प्रदर्शक बनते हैं। परन्तु उनकी शैली भी शेक्स्पियरसे कम रोचक और काव्यमयी नहीं है। मेरा तो विचार है कि यह दोष शेक्सपियरका उतना न था जितना पाश्चात्य साहित्यके दुःखान्त-कविता-सम्बन्धी संकुचित सिद्धान्तोंका।

ईश्वर

(लेखक-श्रीआनन्दघनरामजी)



सर्वज्ञान, सर्वक्रिया, सर्वसत्ता और परिपूर्ण आनन्दकी समष्टिमें जो शाश्वत शक्ति है उसको ईश्वर कहते हैं। इस ईश्वरीय शक्तिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयत्न प्राचीन कालसे अव्याहत रूपसे चला आता है। तथापि वह ज्ञान हमारी ज्ञान ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके सामर्थ्यके अनुसार ही होता है, अतः हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति जितनी ही न्यूनाधिक होती है वह ज्ञान भी उसी प्रमाणसे होता है।

हमारे मस्तिष्कमें विभिन्न विषयोंके ज्ञान-ग्रहणका कार्य करनेवाले विभिन्न पिण्ड होते हैं, उनके उजले रंगके भागमें पूर्वकर्मार्जित, परम्परागत और बीज निर्माण करनेवाली वृत्तियोंके कार्यको सूचित करनेवाली भूरी रेखाएँ जिस परिमाणमें उत्पन्न हुई होती हैं उसीके अनुसार हमारा ज्ञान-ग्रहण भी हो सकता है।

यह विशिष्ट ज्ञान-ग्रहणका कार्य करनेवाले पिण्ड तथा उनकी रेखाएँ जन्मसे ही प्राप्त हुई हैं। हमारे भावी ज्ञान-शिक्षाके कार्यके अनुसार जिस पिण्डको जितनी अधिक शिक्षा मिलेगी उतना ही वह अधिक विस्तृत होगा, तथा जिस पिण्डकी क्रियाके व्यापारके विपरीत शिक्षा मिलेगी वह पिण्ड क्षीण हो जायगा और जिन पिण्डोंमें क्षीणताका कार्य नहीं होता वह पिण्ड शरीरके साथ ही बढ़ते हुए अपना कार्य करते रहते हैं। ऐसा शरीरशास्त्रवेत्ता, इन्द्रिय-विज्ञानवेत्ता तथा मस्तिष्क-परीक्षा-शास्त्रवेत्ताओंका कथन है।

जिसके मस्तिष्कमें धार्मिक स्वभाववृत्तिवाले भागमें (Religious sentiment) भक्तिभाव (Veneration) तथा अध्यात्म-रति (Spirituality) सम्बन्धी पिण्डोंकी प्रमाणापेक्षा अधिक वृद्धि होती है, वे मनुष्य भोले भक्त होते हैं, जिनमें मध्यम दर्जेकी वृद्धि होती है वे आस्तिक विचारके होते हैं, तथा जिनमें ये पिण्ड क्षीणबल होते हैं, वे नास्तिक और धर्महीन होते हैं। इसलिये जिन्हें ईश्वरीय ज्ञानकी आवश्यकता हो, उन्हें चाहिये कि ईश्वर-सम्बन्धी विषयकी ओरसे मुख न मोड़कर इन पिण्डोंको क्षीण न बनावें तथा ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करनेकी जिज्ञासा और प्रयत्नके द्वारा उन्हें उपयोगी और सामर्थ्यवान् बनावें, जिससे ईश्वरीय ज्ञान तथा अनुभवके द्वारा उन्हें ईश्वरका साक्षात्कार हो सके।

मनुष्य जैसे-जैसे आधिभौतिक शास्त्रोंके ज्ञानमें पारंगत होता जाता है वैसे-ही-वैसे वह अधिकाधिक प्रत्यक्ष-प्रमाणवादी बनता जाता है। फिर पीछे उसमें श्रद्धा और विश्वासकी वृत्ति निःशेष हो जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि केवल श्रद्धा और विश्वासके सहारे ईश्वरका अस्तित्व माननेवाले मनुष्योंको वह मूर्ख अथवा पागलकी श्रेणीमें डालकर स्वयं सर्वज्ञताका ठेकेदार बन जाता है। उसके पास बड़े-बड़े विद्वानों और वैज्ञानिकोंके दिये हुए प्रमाणपत्र होते हैं; परन्तु वह सब भौतिक शास्त्रवादियोंके ही होते हैं और भौतिक विद्यामें पारंगत होनेके बदलेमें उसे दिये गये हैं। उसे ईश्वरीय ज्ञान-सम्बन्धी शास्त्रोंके अभ्यास करनेवाले सन्त-महन्तोंके पाससे एक भी प्रमाणपत्र मिला नहीं होता, अथवा उनसे ईश्वरीय शक्तिके अनुभव करनेके लिये अपने प्रत्यक्ष-प्रमाणके आधारपर विचारकर किसी अनुभवके प्राप्त करनेका प्रयत्न भी नहीं किया। ऐसी अवस्थामें ईश्वरके ऊपर श्रद्धा रखनेवालोंको ऐसे लोगोंकी वाणीसे यथासाध्य अलग रहना ही उचित है।

ज्ञानकी जिज्ञासा करनेवाले प्रत्येक पुरुषको चाहिये कि सत्यज्ञानकी प्राप्तिके मूल आधार विश्वासको बनाये रक्खे। भौतिक शास्त्रमें भी देखा जाता है कि उक्त शास्त्रके गुरुके वचनको बिल्कुल सत्य होनेका विश्वासकर तदनुसार प्रयोग करनेसे उसकी सत्यता अपने अनुभवमें आने लगती है। प्रयोगमें यदि अनुभव सत्य नहीं ठहरता तो अपनी की हुई क्रियामें, अर्थात् अपने प्रयोगमें ही कहीं भूल हो गयी है ऐसा समझकर गुरुके कथनानुसार अनुभव प्राप्त होनेतक पुनः-पुनः मनुष्य उसी प्रयोगकी परीक्षा करता है। इतना दृढ विश्वास उस वैज्ञानिक समझे जानेवाले पाश्चात्य शास्त्रान्वेषकके कथन (लेख) पर होता है। तभी वह उन उन शास्त्रोंके वैज्ञानिक विद्वान् कहे जाते हैं। इस भरोसेपर अर्थात् विश्वासकी भावनासे ही हम उनके लेखों-पर विश्वास करते हैं।

अत्यन्त प्रारम्भकालसे पाठशालामें श्रीगणेश सीखते समय अपने सिखानेवाले शिक्षकपर विश्वास रखकर उनके वचनोंको सत्य समझकर जब हम पढ़ते हैं तभी हमें ज्ञान प्राप्त होता है। इसप्रकार विश्वासके आधारपर खड़े होकर चले बिना किसीको भी किसी प्रकार ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

प्राकृतिक पदार्थोंके ज्ञानमें, प्राकृतिक शक्तिके अनुभवके लिये इस प्रकारके विश्वाससे ही काम चल जा सकता है, परन्तु आध्यात्मिक शक्तिके अनुभवमें ऐसी बात नहीं। अध्यात्म-शास्त्र-सम्बन्धी अनुभव इतने शीघ्र और इन्द्रियोंद्वारा नहीं होते बल्कि वे मनके द्वारा ही होते हैं। *अन्तर्ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष होनेपर उनकी प्रतीति* होती है। फिर पीछे उन्हें प्राकृतिक शास्त्रकी मर्यादाके अन्दर इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष करके सांसारिक कार्योंके उपयोगमें लाया जाता है। सारांश यह कि विश्वासके सूक्ष्म और श्रेष्ठ स्वरूप श्रद्धावृत्तिको, श्रद्धामयी भावनाको पकड़े बिना ईश्वरीय शक्तिका ज्ञान और उसके अनुभवकी प्राप्ति नहीं होती।

इस सरल और नित्यानुभवके सिद्धान्तको भूलकर सुशिक्षित कहलानेवाले विद्वान् जो श्रद्धावान् पुरुषोंकी दिल्लगी उड़ाते हैं, वह बड़ी भूल करते हैं। इसप्रकार दिल्लगी न उड़ा यदि वह कहें कि श्रद्धा करनेके पूर्व जिसपर श्रद्धा करनी हो उसकी योग्यता और अधिकारको देखकर श्रद्धा करनी चाहिये, तो उनका यह कहना ठीक होगा।

प्रत्येक मनुष्य अज्ञान-दशामें भी श्रद्धावान् होता है और उसी श्रद्धाद्वारा संसारका ज्ञान प्राप्त करता हुआ सज्ञान बनता है, साथ ही श्रद्धाद्वारा ज्ञान ग्रहण करते हुए अपने स्वभावको भी बनाता जाता है। इसीलिये भगवद्गीतामें कहा है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' जैसी उसकी श्रद्धा होती है, वैसा ही उसका स्वभाव और गुण भी बनता है—'यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' (गी० १७।३)

यह श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, परन्तु सत्य ईश्वरीय शक्तिका अनुभव प्राप्त करनेके लिये सात्त्विक श्रद्धा आवश्यक है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्। (गी० १७।४)

सात्त्विक श्रद्धावान् पुरुष ही ईश्वरके सत्य स्वरूपको जानकर यजन (अर्पण) करते हैं। इसलिये जो सात्त्विक श्रद्धाको धारणकर भक्ति नहीं करता, जो सात्त्विक श्रद्धाको धारणकर ईश्वरानुभवके लिये प्रयत्न (तप) नहीं करता, वह ईश्वरीय ज्ञानसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकता। क्योंकि ज्ञान ग्रहण करके अनुभव प्राप्त करनेकी उसमें पात्रता ही नहीं होती। इसीलिये ऐसे पुरुषके प्रति इस ज्ञानको न कहनेके लिये गीतामें स्पष्ट कहा है—

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

अर्थात् यह (गूढ़ ईश्वरीय ज्ञान) तपोहीन, अभक्त, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मेरी निन्दा करनेवालेको कभी नहीं कहना चाहिये।

अतएव ईश्वरीय शक्तिके अविश्वासीको पहले उस शक्तिके अस्तित्वमें प्रतीति कराकर उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न कराना चाहिये, तत्पश्चात् जब उसे उस शक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेकी जिज्ञासा उत्पन्न होगी और वह भक्तिपूर्वक उस ज्ञानके अनुभवके लिये प्रयत्न करनेवाला तपस्वी बनेगा, तभी उसे ईश्वरीय शक्तिका साक्षात्कार होगा—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५५)

अर्थात् भक्तिके द्वारा मैं जो कुछ हूँ और जैसा हूँ उसे तत्त्वतः जानता है, तब मुझे तत्त्वतः (मेरे सगुण साकार स्वरूपका) अनुभव करके वह मुझमें (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्यके क्रमसे) प्रविष्ट होता है।

इसप्रकार ईश्वरीय शक्तिका ज्ञान और अनुभव प्राप्त करनेका शास्त्रसिद्ध क्रम होनेके कारण, उन पुरुषोंको जो मूलतः श्रद्धाहीन, नास्तिक तथा ईश्वरीय ज्ञानके विषयमें अज्ञान होते हुए भी ज्ञान-जिज्ञासु हैं, उनके आधिभौतिक मार्गद्वारा ईश्वरीय ज्ञानकी ओर जानेकी योग्यतामें विश्वास दिलाकर इस श्रद्धामयी भूमिकापर लाना चाहिये तथा उन्हें ईश्वरीय शक्तिका ज्ञान करा देना चाहिये तभी वे अनुभवसिद्ध प्रयोगोंको करके पूर्ण सामर्थ्यवान् बनेंगे।

आजकल बहुतेरे सुशिक्षित और सत्यान्वेषी कहलानेवाले विद्वान् ईश्वरकी पूजा करनेवाले श्रद्धालु

पूछते हैं कि 'तू जिस मूर्तिकी पूजा करता है क्या वह मूर्ति ईश्वरकी है ? क्या तेरे भगवान्‌की रचना मनुष्यद्वारा होती है ? क्या इस बनायी हुई मूर्तिमें भगवान् है ? जब मनुष्यकी बनायी हुई घोड़े और हाथीकी मूर्तिमें सच्चा घोड़ा और सच्चा हाथी नहीं होता तो उसी मनुष्यकी बनायी हुई मूर्तिमें सच्चा भगवान् कैसे होगा ?' पत्थर आदिमें यद्यपि हाथी-घोड़ेकी कल्पना करनेसे उनमें हाथीपन या घोड़ापन नहीं आता वह निरी कल्पना ही होती है तथा वह झूठी होती है, इसे छोटा बच्चा भी कहता है तथापि उस कल्पनाको सच्चे हाथी घोड़ेके अस्तित्वका आधार तो होता है परन्तु उनकी तरह तुम्हारी ईश्वरकी मूर्तिके लिये सत्य आधार क्या होता है ? क्या ईश्वरको किसीने देखा है ? वह किसके देखनेमें आया है ? और उसको दिखलानेवाला कौन है ? पूर्वकालके धूर्त और स्वार्थी लोगोंने 'भगवान्, भगवान्' और 'ईश्वर, ईश्वर' चिल्लाकर अशिक्षित, अज्ञानी, भोले-भाले और भ्रममें पड़े हुए मनुष्योंको अपने स्वार्थ-साधनके लिये फन्देमें फाँसकर समाज और देशको अत्यन्त हानि पहुँचायी है। इसलिये इस मूर्खता-भरी कल्पनाको दूर करो, तभी तुम बुद्धिमान् बनोगे और तभी तुम्हारा कल्याण होगा।' इसप्रकारके लेख लिखकर और व्याख्यान देकर लोगोंको धर्महीन और नास्तिक बनानेका कार्य करनेवाले आज बहुतेरे मनुष्य दिखलायी देते हैं।

जो भारत एक समय समस्त संसारको ईश्वरके अस्तित्वकी प्रतीति देकर अनुभवके द्वारा उसका साक्षात्कार करा देता था, तथा जो समस्त संसारको यह पाठ पढ़ाता था कि मनुष्यके व्यवहारोंका सर्वोच्च ध्येय, नीति और धर्माचरणमें ही है, उसी भारतमें इस नवीन शिक्षाके होनेसे आज ऐसे लोग उत्पन्न हो गये हैं। इसके कारणको ढूँढनेपर ज्ञात होता है कि यह केवल शिक्षाका परिणाम नहीं बल्कि यह धर्मज्ञानहीन शिक्षाका परिणाम है। जिसप्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाणके आधारपर आधिभौतिक शास्त्रोंका ज्ञान दिया जाता है उसी प्रकार ईश्वरीय शास्त्रका ज्ञान देना भी आवश्यक है। तभी उपर्युक्त प्रश्नों तथा तदनुसार अन्य प्रश्नोंका उत्तर देकर इन लोगोंको भी ईश्वरकी सेवामें लाकर उचित मार्गमें प्रवृत्त किया जा सकता है।

इस आधिभौतिक प्रत्यक्ष-प्रमाण-शास्त्रोंकी जागृतिके कालमें भी, ये शास्त्रज्ञ जिस सृष्टिशक्तिके मूल सामर्थ्यपर नाचते हैं और ये जिस शास्त्रको अत्यन्त पूर्ण और बिल्कुल ठीक समझते हैं, उस गणित और भूमिति-शास्त्रोंके मूल कारणोंको, कौन-सा शास्त्रज्ञ हमें प्रत्यक्ष दिखलानेमें समर्थ है ? भूमितिकी व्याख्याके अनुसार बिन्दुका स्वरूप तथा गणितके शून्यका स्वरूप ठीक-ठीक कौन दिखला सकेगा ? सत्यके ज्ञान और उससे होनेवाले कार्यके लिये सत्य अमेय (अनिर्देश्य) बिन्दुके अस्तित्वको जड़ द्रव्यके बिन्दुके रूपमें ही शास्त्रज्ञोंको लेना पड़ता है।

'खड़ियामिट्टी या स्याहीके बिन्दुमें मानी हुई बिन्दुकी कल्पना केवल झूठी और स्वीकृत ही है अथवा इससे बिन्दुके सत्य अस्तित्वका भी ज्ञान होता है ?'—इस प्रकारका प्रश्न उन शास्त्रज्ञोंसे पूछनेपर वे उत्तर देते हैं कि 'यह कल्पना नहीं है बल्कि बिन्दुके सत्य अस्तित्वका ज्ञान है, तथा बिन्दुके सत्य स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यकी ज्ञानेन्द्रियोंकी सीमाके बाहरकी बात है। तथापि व्यावहारिक कार्योंके सम्पादनके लिये इसको उपयोगमें लाना आवश्यक है।'

इस प्रमाणभूत शास्त्रके अनुसार 'बिन्दु उसे कहते हैं जिसका स्थान नियत हो, परन्तु उसमें कोई विस्तार न हो।' और इसप्रकारके अमेय (अनिर्देश्य) और निराकार बिन्दुसे रेखा, धरातल और घनका निर्माण होता है इसको कौन शास्त्रज्ञ स्वीकार नहीं कर सकता ?

इस शास्त्रके अनुसार ही ईश्वर और सृष्टि-उत्पत्ति-शास्त्र दोनों प्रत्यक्ष-प्रमाणके आधारपर स्थित हैं, तथापि इस गम्भीर शास्त्रीय विचारको किनारे रख पहले सरल दृष्टिसे ही इसका विचार करेंगे।

पत्थर आदिकी प्रतिमामें हाथी-घोड़ेके न होनेपर भी उनकी जो कल्पना की गयी थी उसे क्षणभरके लिये असत्य मान भी सकते हैं। यद्यपि उस पत्थरमें घोड़े और हाथी नहीं थे और नहीं रहते हैं तथापि उनका आकार तो होता है। और इसी कारण उसमेंसे उन आकारोंको प्रत्यक्ष कराके दिखला भी सकते हैं। परन्तु पत्थरमें जो उष्णता, अग्नि और बिजली है, उस उष्णता, अग्नि और विद्युत्‌का अस्तित्व उसके स्वरूपमें नहीं दीख पड़नेके कारण इस कल्पनाको हम क्या असत्य कहेंगे, अथवा उस भावनाको हम सत्य शक्तिका ज्ञान कहेंगे ?

असत्य और अभावपूर्ण भावनाको ही कल्पना कहा जाता है, परन्तु सत्य स्थिति और सत्य शक्तिकी भावना-

को कल्पना अथवा असत्य भावना न कहकर सत्य तत्त्वका ज्ञान ही कहना चाहिये। जब दृश्य अथवा इन्द्रियज्ञानकी सीमामें आनेवाली वस्तुमें उसका तत्त्व अथवा उसकी शक्ति सुप्तावस्थामें अथवा अजागृत-अवस्थामें हो, अर्थात् अपनी ज्ञानेन्द्रियकी मर्यादामें आयी हुई न हो और उस शक्तिकी ज्ञान-कल्पनाको, ज्ञान-स्मरणको यदि भावना अथवा कल्पना शब्दसे व्यक्त करें तो वह सत्य शक्तिके विश्वासका निदर्शक होता है।

उष्णता, अग्नि और विद्युत् आदि जड़ शक्तियाँ जिस-प्रकार प्रत्येक वस्तुमें भरी हुई हैं और विशिष्ट संस्कार-द्वारा उन्हें जागृत कर प्रत्यक्ष अनुभवमें ला उनके अस्तित्वमें विश्वास करते हैं, उसी प्रकार पञ्चमहाभूतोंमें चैतन्य-शक्ति सुप्त है और वह जड़ भूतोंके सूक्ष्मरूपके मिश्रण-संस्कारद्वारा बने हुए सजीव प्राणियोंमें जागृत होनेसे प्रत्यक्ष प्रतीतिमें आती है। ऐसा प्रत्येक व्यक्तिका नित्यका अनुभव है और वह निजी अनुभव है। प्रो० बोसने तो उस चैतन्य-शक्तिका उद्भिजोंमें होना भी सिद्ध कर दिया है।

उष्णता, विद्युत् आदि जड़-शक्ति और प्राण, मन आदि चैतन्य-शक्ति यदि सर्वत्र और सर्वव्यापक हैं और वे यदि विशिष्ट संस्कारोंद्वारा जागृत होती और कार्य करती हैं तो इन सब शक्तियोंको निर्माण करनेवाली, इनको कार्यमें प्रेरित करनेवाली एक सर्वशक्तिमान् मूलशक्ति अवश्य होगी, इस विचारको कौन-सा शास्त्रज्ञ और विचारवान् पुरुष स्वीकार न करेगा? क्योंकि अलग-अलग भासमान होनेवाली क्रिया-शक्तियोंके मूलमें एक ही शक्तिके होनेका कारण क्या है? इस शङ्काके लिये न तो आधिभौतिक शास्त्रमें कोई स्थान है और न अध्यात्म शास्त्रमें।

१–नीहारिका (Nebula) से तेजोमेघ, उससे सूर्य और तारे, सूर्यसे पृथ्वी आदि ग्रह-उपग्रह और उनसे खनिज, उद्भिज आदि विविध जीव-सृष्टिका निर्माण हुआ है।

२–विभिन्न प्रकाशवर्ण (रङ्गों) का मूल प्रवाह (Eather) के कम्प होते हैं।

३–समस्त दृश्य शक्तिका स्वरूप और उसमें स्थित समस्त पदार्थ विद्युदणु (Electrons) रूपहीके हैं।

४–विविध प्रकारके ज्ञान, स्मृति और विचार ये समस्त एक मनःप्रकाशकी ही तरङ्गें हैं।

इसप्रकार समस्त शास्त्र डंकेकी चोट घोषित कर रहे हैं कि सबका मूल-कारण केवल एक है। अथवा उनके कथनानुसार सब पदार्थोंकी समस्त क्रियाओंके मूलमें एक ही शक्ति निश्चयपूर्वक कारणरूपमें स्थित है। आधिभौतिक शास्त्रोंकी सीमा बँधी हुई होनेके कारण उनके द्वारा इस मूल-शक्तिका पता नहीं लगता। इसलिये अन्वेषकोंने इसके नियमोंका ज्ञान प्राप्तकर उनको मानव-कल्याणके लिये उपयोगी बनानेके निमित्त शास्त्ररूपमें ग्रथित किया और उसका नाम अध्यात्मशास्त्र रक्खा।

प्राकृतिक शास्त्रकी सीमाके परे प्राण, मन और आत्म-शक्तिकी खोज करनेवाले अध्यात्मशास्त्रके अन्वेषकोंने इस मूल-शक्तिके अमेय और अरूप अस्तित्वको ईश्वर नाम दिया है और उस शक्तिके इन्द्रियगम्य स्वरूपको देव (भगवान्) नाम दिया है। सबकी उत्पत्ति, स्थिति, रूपान्तर और ज्ञानके मूल-कारणस्वरूप अचिन्त्य और निराकार ईश्वरीय शक्ति तथा चिन्त्य और साकार दैवी शक्तिके ज्ञान तथा उनके अनुभव साक्षात्कार करनेके उपयोगी नियमोंके जान लेनेका ही अर्थ 'ईश्वरका ज्ञान' प्राप्त करना है।

किसी भी शक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उस शक्तिके धर्म (गुण) को जानना होता है। धर्म और धर्मीमें इतना निकट ऐक्य होता है कि धर्म यदि व्यक्त न हो तो धर्मीका अस्तित्व होते हुए भी उसका अनुभव नहीं होता। अतिरिक्त इसके, जिससे जो चीज़ उत्पन्न होती है उसमें यदि मूलके विशिष्ट धर्मगुणोंकी सामूहिक प्रतीति न भी हो तो साधारण गुण-धर्म तो उसमें बने ही रहते हैं क्योंकि वह भी उस मूल-शक्तिका एक अंश होता है। इन समस्त प्रमाणभूत नियमोंके द्वारा ही ईश्वरीय शक्तिका विचार किया जायगा।

इस अखिल विश्वका निर्माण करनेवाली ईश्वर नामक शक्ति मूलमें अव्यक्त होनेपर भी अंशिकरूपसे कुछ व्यक्त हुई है और उसका अधिक अंश अव्यक्त ही है। हमारा शरीर भी व्यक्त विश्वाकार है, हमारे मनके अन्तर्गत ध्यान, मानस-प्रकाशकी मूर्ति, स्मृति-चित्र जो दूसरोंको नहीं दीख पड़ते, व्यक्त नहीं होते हैं तथा केवल हमें ही मालूम होते हैं। ये अव्यक्त विश्वाकार हैं। इस सूक्ष्म मानस-प्रकाश-रूप स्मृतिके चित्रका आकार जब विस्मृतिमें लय हो जाता है तो जिस रूप, स्थिति अथवा अस्तित्वकी कल्पना हम

नहीं कर सकते, ऐसे गूढ़ अथवा सुप्त अस्तित्वको चित्रगुप्त मानस-स्थिति अथवा सुप्त स्मृति कह सकते हैं और वही व्यक्ताव्यक्तातीत अवस्था है, क्योंकि स्मृति-चित्र उस स्थितिमें पहुँचकर ज्यों का-त्यों स्पष्ट होकर स्मरण-चित्रके मानस-प्रकाशका रूप धारणकर अव्यक्तरूपमें आता है। और वहाँसे ऐन्द्रिय स्वरूपसे प्रत्यक्ष, स्थूल ऐन्द्रिय ज्ञानमें व्यक्तरूपको प्राप्त होकर अपनी इन्द्रियोंद्वारा स्थूल क्रिया करता है। यह प्रत्येक मनुष्यके नित्यका अनुभव है।

आधिभौतिक शास्त्रज्ञ विश्वरूपको धारण करनेवाले मूलकारणके विषयमें केवल इतना ही कहकर चुप हो जाते हैं कि विद्युदणु (Electrons) अपने अव्यक्त तेजोरूप और गतिको न छोड़ते हुए केवल अपनी विशिष्ट संख्याओंके समूह और गतिकी विशिष्ट तालबद्धतासे विभिन्न घटक-तत्त्वों (Oxigen etc) का निर्माणकर उनके संयोगसे स्थूल अथवा व्यक्त सृष्टिके स्वरूपको दिखलाते हैं, उन अणुओं-की पूर्वावस्था जो ध्यानमें नहीं आती, शून्यास्तित्व (Absolute zero) के नामसे सम्बोधित होती है, अर्थात् वह बुद्धिकी सीमाके बाहरकी वस्तु है।

आध्यात्मिक शास्त्रवेत्ता इस ज्ञानसे आगे बढ़कर विश्वके आधिभौतिक अव्यक्त मूलकारण विद्युदणु-स्वरूपको और उस अणुरूपमें विद्युत्-अणुओंको विभक्तकर आकारमें दो सौ गुना सूक्ष्म तथा उनको एक सेकेण्डमें दो अरब परिक्रमण करनेवाले दिव्य सूक्ष्म ईश्वरीय तत्त्वका अन्वेषण करके उसके अनुभवमूलक साक्षात्कारके लिये सबको आवाहन करते हैं।

आधिभौतिक शास्त्रोंने विश्व और शरीरके अन्तर्गत जड़-पदार्थोंकी कुछ व्यक्त और अव्यक्त क्रियाओं और शक्तियोंका अन्वेषण किया है परन्तु अव्यक्तके विषयमें उनके अन्वेषणकी सीमा बन्द हो जानेके कारण वे आगे नहीं बढ़ते। उसके आगे आध्यात्मिक शास्त्रके अन्वेषकोंका क्षेत्र होनेके कारण उन्होंने शरीरमें स्थित चैतन्यके व्यक्ताव्यक्त मानस-प्रकाश-चित्रके स्वरूपका और विश्वमें स्थित हिरण्यगर्भके तेजस्वरूप देवताओंका अन्वेषण करके इन दोनोंके ही मूल-कारण अचिन्त्य और निराकार ईश्वरीय आत्मा और ब्रह्मके रूपका खोज करके आत्मरूप तथा ब्रह्मरूप ज्ञानके द्वारा ईश्वर-साक्षात्कारके अनुभवकी प्राप्तिका मार्ग दिखला दिया है।

आधिभौतिक शास्त्रज्ञोंने अपनी श्रेणीके ज्ञानके अनुभवके लिये जिस मार्गका उपयोग किया उसे 'प्रयोग' (Experiment) नाम दिया और आध्यात्मिक शास्त्रज्ञों-ने अपनी श्रेणीके ज्ञानके अनुभवके लिये जिस मार्गका उपयोग किया उसका 'उपासना' नाम रक्खा। अब यह देखना है कि इस उपासना-शास्त्रके मुख्य सिद्धान्तके अनुसार जड़ और चेतन-शक्तिका सम्बन्ध जोड़नेवाले नियम कौन-से हैं?

१-जड़की सर्व क्रियाओंको चैतन्य-शक्तिसे ही गति मिलती है। जड़के अन्तर्गत सञ्चालित होनेवाली प्रत्येक क्रिया नियमित ज्ञान और नियमित इच्छा-शक्तिके विशिष्ट हेतुके आधारपर ही चलती रहती है, इसी कारण उन्हें स्वभावसामर्थ्यक्रिया (Nature) कहते हैं। इन सब क्रियाओंके निर्माणका अन्तिम हेतु क्या है, यह जड़में स्थित क्रियात्मिका चैतन्य-शक्तिको ज्ञात होता है या नहीं इसका हमें प्रत्यक्ष नहीं होता तथापि अनुमान और अनुभवके द्वारा हम उसको जान सकते हैं।

२-हमारे शरीरमें अन्तरिन्द्रियोंको धारण पोषण करनेवाली समस्त क्रियाएँ विशिष्ट हेतुके आधारपर नियमित ज्ञान और नियमित इच्छा-शक्तिद्वारा अपनी प्रकृतिके अनुसार सदा सञ्चालित होती रहती हैं। ऐसा होनेपर भी उन क्रियाओंके व्यापारमें अदल-बदल तथा कमी-बेशी करनेका सामर्थ्य अपने मनकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्तिमें है, ऐसा मानस-शास्त्रज्ञोंका सिद्धान्त है और अनुभव करनेसे प्रत्येकको ऐसा ही ज्ञात होता है। इच्छा-शक्ति नियमित हो या स्वतन्त्र, वह सुप्त अथवा जागृत ज्ञानके अतिरिक्त दशामें कार्य नहीं कर सकती।

३-जब इच्छाशक्ति चैतन्यमें जान-बूझकर क्रियाका निर्माण करती है तो उसे 'बौद्धिक इच्छाकी प्रेरणा' कहते हैं।

४-नियमित प्राकृतिक ज्ञानद्वारा सञ्चालित क्रिया हो अथवा इच्छापूर्वक होनेवाली क्रिया हो, सभी किसी विशेष हेतुको ग्रहणकर सञ्चालित होती हैं, यह बात निश्चित है।

५-इन समस्त सञ्चालित होनेवाली क्रियाओंके अन्तिम हेतुका विचार करनेपर 'सभी क्रियाओंका हेतु सुख-प्राप्ति और दुःख निरसन' ही है, यह निश्चित सिद्धान्त प्रकट होता है।

६-जड और चेतनके अन्तर्गत नियमित क्रियाओंके स्वरूपका निरीक्षण करनेपर यही मालूम होता है कि ये क्रियाएँ सर्व ज्ञान और सर्व सामर्थ्यसे युक्त इच्छाशक्तिद्वारा ही सञ्चालित होती हैं।

७-किसी भी बद्ध अथवा ज्ञात क्रियाकी जागृतिके लिये इच्छाकी प्रेरणा आवश्यक है, किसी भी इच्छाके उत्पन्न होनेके लिये ज्ञान आवश्यक है और ज्ञानके लिये मन आवश्यक है, यह चेतन मानव-प्राणीका अनुभवजन्य सिद्धान्त है।

८-खनिजकी अपेक्षा उद्भिजमें, उद्भिजकी अपेक्षा प्राणियोंमें और प्राणियोंकी अपेक्षा मनुष्यमें मनका स्वरूप विकसित होते-होते पूर्णत्वको प्राप्त हुआ है। यह बात विकाशवाद (Evolution) तथा मनके निवास-स्थानका पूर्ण विचार करनेवाले इन्द्रिय-विज्ञान शास्त्रद्वारा स्पष्ट हो गयी है।

९-मनुष्यके मनकी शक्ति, उसकी श्रद्धामयी धारणाके अनुसार सीमित ज्ञान, सीमित इच्छा और सीमित स्थूल आनन्दोपभोगसे विकास करते-करते सूक्ष्म और असीम ज्ञान, असीम सामर्थ्य और असीम आनन्दोपभोग होनेवाली पूर्णावस्थातक पहुँच सकती है। मनकी पूर्णशक्तिके कारण ही उसे मनुष्य कहते हैं।

१०-जिस हिरण्यगर्भके स्वर्गीय प्रकाशमेंसे यह जगत् स्थूल रूपको प्राप्त हुआ है उसके सजातीय और समान मानसिक प्रकाशका अर्थात् इस स्थूलके निर्माण करनेवाले भगवान्के स्वरूप और सामर्थ्यका श्रद्धापूर्वक ध्यान तथा भक्तिपूर्वक पूजन करनेसे निराकार ईश्वरका जो साकार भगवान्के रूपमें साक्षात्कार होता है, इस प्रयोगको ही उपासना कहते हैं।

११-उपासनाद्वारा भगवान्का साक्षात्कार करके भक्त बना हुआ मनुष्य ही सर्व ज्ञान, सर्व क्रिया, सर्व सामर्थ्य तथा पूर्ण आनन्दसे युक्त ईश्वरीय स्वरूपके आनन्दका उपभोग करते हुए उसके साथ एकरूप हो मुक्त होकर संसारको मुक्ति प्रदान करता है।

ऐसा सामर्थ्य ईश्वर-प्रेमके बिना नहीं प्राप्त होता। इसलिये ईश्वरीय सामर्थ्यका साक्षात्कार करनेके लिये उत्सुक पुरुषोंको अपने हृदयमें सुप्त शक्तिको जागृत करनेके लिये अपने शरीरको शुद्ध करना चाहिये और उस ईश्वरीय शक्तिको व्यावहारिक बनानेके लिये अपने हृदयको पवित्र करना चाहिये, उसके लिये शुद्ध आचार, उच्च विचार होना चाहिये तथा वाणी और आचार दोनोंको एक समान बनाना चाहिये।

इन सबके बना देनेकी शक्ति केवल प्रभु-प्रेममें ही है। ऐसे प्रभु-प्रेमको छोड़कर ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करनेमें सारी जिन्दगी बिता देनेपर भी जो इन्द्रियातीत, बुद्धिके लिये अगोचर, मनसे परे ईश्वरीय स्वरूप है उसका दर्शन कैसे हो सकता है? वह कैसे समझमें आ सकता है? केवल कोरे ज्ञानसे उस ईश्वरका दर्शन हो ही नहीं सकता। ईश्वरके साथ आत्म-प्रेम बढ़ानेवाले साकार और सगुण रूपके साथ मनको एक करके अनन्य भक्तिके बिना कौन ऐसा पुरुष है, जो अन्य साधनद्वारा ईश्वरका दर्शन करा सकता है? जो परिच्छिन्न मूर्तिमें स्थित ईश्वरत्वको प्रेमसे जागृत करके उसके साथ एकरूप नहीं हो सकता, वह अपरिच्छिन्न निराकारके साथ किसप्रकार एकरूप हो सकता है? इसलिये हे ज्ञानी! तू प्रभु-प्रेममें पागल बन जा। जो ईश्वरीय स्वरूप बड़े-बड़े योगियोंको समाधिके द्वारा भी नहीं दीख पड़ता, उस स्वरूपको दुर्बल बच्चों और माताओंको भी दिखला देनेकी शक्ति इस भक्तिमें है!

ईश्वर मन, वाणीके कितना ही परे हो, उसको उसकी निराकार अवस्थासे साकार अवस्थामें खींच लानेकी शक्ति तुम्हारे अन्तःकरणमें स्थित प्रेम-रज्जुमें है। उससे उसे अच्छी तरह बाँध रक्खो, उसे नित्य अपनी ओर खींचो। छोड़ो मत। उसके प्रेममें पागल हो जाओ। संसार तथा अपने आपको जैसे ही तुम भूल जाओगे, वैसे ही प्रभु अपनी निराकारावस्थासे निकलकर तुम्हारी इन्द्रियोंके सामने सर्वत्र मूर्तिमान् हो जायगा। तब तुम सर्व इन्द्रियोंसे उसे प्रगाढ़ आलिङ्गनकर उसके समस्त आनन्दका उपभोग करोगे।

ईश्वरीय स्वरूपका साक्षात्कार कराकर ईश्वरीय स्वरूपमें तल्लीन करानेवाला यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(गीता ११।५४)

अर्थात् हे अर्जुन! केवल अनन्य भक्तिद्वारा ही मुझे यथार्थरूपसे जानना, देखना तथा मुझमें प्रविष्ट होना सम्भव है।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

६२०—जीवन्मुक्त-दशामें जैसा कि माना जाता है यह संसार भी पूर्णरूपेण अदृश्य नहीं हो जाता। अलबत्ता आनुभविक जगत्‌का अस्तित्व नहीं रह जाता। परन्तु इसे प्रलय नहीं कह सकते। इसका केवल यही अर्थ होता है कि अस्तित्व मानो पूर्णताके लिये अपने रूप-रंगको बदलता है। केवल अनुभवात्मक अस्तित्व ही अदृश्य होते हैं, समस्त अस्तित्व नहीं। अस्तित्व वस्तु-तत्त्व रह जाता है केवल उसका सीमित रूप अदृश्य होता है। बाह्य विषयता चली जाती है, देश और कालसम्बन्धी पदार्थोंके दृश्य अवश्य लोप हो जाते हैं, वस्तुओंका पारस्परिक कार्य-कारण-भाव भी चला जाता है। एकत्व और बहुत्व भी साथ ही चले जाते हैं। यह अवश्यम्भावी है। परन्तु जगत् अपने समस्त तत्त्वोंके साथ मुक्तात्माके निमित्त भी नहीं जाता। यह केवल अपने रूप, अर्थ और भावको बदल देता है। मिथ्या दृष्टि, सीमित क्षितिज, भ्रमात्मक भाव तथा सीमित दृश्योंके सिवा और कुछ भी अदृश्य नहीं होता। तथ्य, वस्तु तत्त्व, अस्तित्व सदाके समान मौलिक-रूपमें बने रहेंगे। परन्तु दृष्टिकोण बदल जायगा।

६२१—संसारमें तत्त्व-चिन्तन करनेवाले बहुत कम होते हैं। हममेंसे अधिकांश मनुष्य यह नहीं जानते कि सच्चिन्तन क्या वस्तु है? अधिकांश मनुष्योंका चिन्तन गम्भीर नहीं होता है। गम्भीर चिन्तनके लिये दृढ़ साधन-की आवश्यकता होती है। मनके उचित विकासके लिये असंख्यों जन्म लग जाते हैं, तब कहीं मन गम्भीरता-पूर्वक उचित चिन्तन करता है। वैदान्तिक साधना (मनन) के लिये एक तीक्ष्ण बुद्धिकी आवश्यकता होती है। दृढ़ चिन्तन, नियमित चिन्तन, स्पष्ट चिन्तन, सारे विषयोंके मूलके विषयमें चिन्तन, सारी परिस्थितियोंके मूलतत्त्वका चिन्तन, समस्त विचारों और जीवनकी धारणाओंके विषयमें चिन्तन—यह सब वैदान्तिक साधनाके तत्त्व हैं। तुम्हें पुराने भावको चाहे वह कितना ही बलिष्ठ और जमा हुआ क्यों न हो, छोड़ना ही पड़ता है जब उसके स्थानमें एक नवीन दिव्य भाव तुम्हें प्राप्त होता है। यदि तुम अपने चिन्तनके परिणामोंका सामना करनेका साहस नहीं रखते, चिन्तनके फलके पचानेकी शक्ति तुममें नहीं, वह तुम्हें व्यक्तिगतभावसे चाहे जैसे जान पड़ें, तो तुम तत्त्वान्वेषणमें नहीं लग सकते। भक्तिमय हो जाओ। वेदान्ती स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तनका आश्रय लेते हैं।

६२२—तत्त्व-जिज्ञासु तथा आध्यात्मिक साधकके लिये विभिन्न वासनाओं और बाह्य विषयोंसे पूर्ण विराग तथा साथ ही आन्तरिक विषयोंका मनन और अध्यात्म-तत्त्वकी अमूर्त भावनाकी योग्यता अपेक्षित होती है।

६२३—शुद्ध चैतन्यकी आवाज़ तबतक नहीं सुनायी पड़ती जबतक समस्त क्षुद्र इन्द्रियाँ मौन धारण नहीं करतीं।

६२४—ब्रह्मानुभवका सीधा उपाय मनकी शान्ति है।

६२५—तुम तभी ध्यान कर सकते हो जब तुम्हारा मन निश्चिन्त रहता है।

६२६—साधारण मन एक समयमें या तो सुन सकता है या देख सकता है, परन्तु पूर्णताको प्राप्त मन एक ही समय देख भी सकता है और सुन भी सकता है। वह समस्त इन्द्रियोंसे अथवा एक ही इन्द्रियसे युक्त हो सकता है अथवा किसी भी इन्द्रियसे युक्त नहीं हो सकता। योगी अपनी इच्छाके अनुसार इसका प्रयोग कर सकता है। वह एक ही समय आठ काम कर सकता है उसे अष्टावधान कहते हैं। वह एक ही समय दस काम कर सकता है, तो इसे दशावधान कहते हैं।

६२७—स्वर्गमें मनके सारे सांसारिक अनुभव एकत्र करके विश्लेषित होते हैं। उनका तत्त्व लिया जाता है। और मानसिक क्षेत्रसे वह जो तत्त्व निकाला जाता है उसके अनुसार मनके एक नये रूप और प्रवृत्तिके साथ जीव भौतिक जगत्‌में पुनः जन्म लेता है।

६२८—चर्मचक्षु प्रत्यक्षके केवल बाह्य कारण हैं। दर्शनके यह इन्द्रिय नहीं हैं। दर्शनकी इन्द्रिय एक केन्द्र है जो मस्तिष्कमें अवस्थित होता है। यही बात समस्त इन्द्रियोंकी है। मन इन्द्रियोंसे सम्बन्धित होता है। इन्द्रियाँ मस्तिष्कमें अपने स्वानुकूल केन्द्रसे सम्बन्धित होती हैं, यह केन्द्र चर्मचक्षुओंसे और चर्मचक्षु बाह्य

विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं । मन संवेदनको बुद्धिके पास पहुँचाता है, बुद्धि उसे पुरुष (शुद्ध चैतन्य, अमूर्त) के पास ले जाती है । तब यथार्थतः प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । पुरुष कर्मेन्द्रियोंको कर्ममें परिणत करनेकी आज्ञा देता है । यह सांख्यदर्शनके अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञानका सिद्धान्त है ।

६२९—मनमें अपनी गम्भीरताकी ओर देखनेकी एक विचारात्मक शक्ति होती है । राजयोगी इस शक्तिको विकसित करता है । इस यौगिक विशेषताको बढ़ानेमें अन्तःप्रेक्षण सहायक होता है । आजहीसे एक बन्द एकान्त कोठरीमें मौन होकर बैठो । मनका सावधानीसे निरीक्षण करो । धैर्य रक्खो । अपने आपको मनसे परिचय मत दो, साक्षी बनो । अपनी चेतनताको अलग रक्खो, तुम्हें विभिन्न मानसिक दशाओंका ज्ञान धीरे-धीरे हो जायगा ।

६३०—राजयोगीको, जो मनको वशमें करना चाहता है, उसे वासना और तामसिक तपकी दोनों सीमाओंसे बचना होगा । अधिक उपवाससे दुर्बलता आ जाती है और तुम कोई साधना नहीं कर सकते, तुम चिन्तन नहीं कर सकते और तुम मनन नहीं कर सकते । अपनी प्रकृतिके अनुसार भोजन लो, इसके विषयमें विशेष आडम्बर मत बढ़ाओ । कोई भी हिंसा और अपवित्रतासे रहित आहार जो आसानीसे प्राप्त हो जाता है तथा तुम्हारे मन और शरीरके अनुकूल है, सात्त्विक है ।

६३१—मनको किसी बाह्य विषय, आन्तरिक चक्र अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसी किसी अमूर्त भावनापर जमानेको ही धारणा कहते हैं ।

'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'—(पातञ्जलयोग० ३ । १)

६३२—मन और पञ्च तत्त्वोंके बीच एक आन्तरिक सम्बन्ध है । जब अग्नितत्त्व नासिकाके छिद्रोंमें प्रवाहित होता है तो मन क्षुब्ध हो जाता है और ध्यानमें बाधा पड़ती है । आकाश-तत्त्वके प्रवाहमें ध्यान बहुत ही अनुकूल होता है । नासिका-छिद्रोंमें पाँचों तत्त्वोंके प्रवाहका जिन्हें ज्ञान होता है वे ध्यानमें बहुत ही शीघ्रतापूर्वक अग्रसर हो सकते हैं । ध्यान करनेवालोंके लिये स्वरसाधन या स्वरोदयका ज्ञान आवश्यक है ।

६३३—जब सुषुम्ना-नाड़ी काम करती रहती है अर्थात् जब दोनों नासिका-छिद्रोंसे श्वास-प्रश्वास चलता रहता है, ध्यान आसानीसे सुखपूर्वक होता रहता है । मन प्रशान्त दशामें रहता है । सुषुम्नाकी क्रियाशील दशामें सत्त्वगुणकी अभिवृद्धि होती है । ध्यानके लिये तुम बैठे कि सुषुम्ना बहने लगी ।

६३४—ध्यानके अभ्याससे स्नायुजाल, मस्तिष्क और मनमें पर्याप्त परिवर्तन होते हैं । इससे स्नायु-प्रवाह, कम्पन, स्नायुपथ, कोण, स्नायु-प्रणाली नवीन हो जाते हैं । सारे मन और स्नायु-जालका पुनर्निर्माण हो जाता है । इससे तुम अपने नव निर्मित हृदय, नवीन मन, नवीन संवेदनाएँ, नवीन अनुभव, नवीन चिन्तन और क्रिया, तथा नवीन विश्व-दृष्टि (अर्थात् प्रभुमय जगत्) को उत्पन्न करते हो ।

६३५—प्राणायाम अर्थात् श्वास-क्रियाको वशमें करनेसे रजोगुण और तमोगुणके पर्दे, जो सत्त्वगुणको छिपाये रखते हैं, हट जाते हैं । इससे नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं । इससे मन दृढ और स्थिर हो जाता है और एकाग्रताके योग्य बनता जाता है । मनका कूड़ा प्राणायामके द्वारा शुद्ध होता है, जैसे स्वर्णकी मैल उसके गलानेसे छूटती है ।

६३६—मन स्वयमेव बाह्य जगत्के आकारमें प्रकट होता है । विषयीके विचारसे मन चेतनस्वरूप है और विषयके विचारसे विश्वरूप है ।

६३७—मन अपने सारे कामोंको बहुत ही शीघ्रतासे लिङ्ग-शरीरमें पूरा करता है और वहाँसे ही हरकत करता रहता है । परन्तु स्थूल शरीर इसे नहीं जानता और कर्महीन हो पड़ा रहता है ।

६३८—अनादि पुरुष संकल्पके द्वारा जितने रूप धारण करता है वह सब मन ही है ।

६३९—मन अपने विवेकरूपी शत्रुके द्वारा परब्रह्मकी प्रशान्त-दशाको प्राप्त होता है । यह पहले विवेकसेमुँह मोड़ता है और इसलिये विषय-वासनाके चंगुलमें अपने-आप फँसता जाता है ।

६४०—मनको अधूरे ज्ञानसे बहुत कष्ट होता है । यह महान् आत्माओंसे प्रार्थनाके द्वारा सहायता चाहता है ।

६४१—अन्तमें सुख और हास्यके परिणामस्वरूप मनसे आनन्द उठ करके शुद्ध ब्रह्ममें लीन होता जाता है ।

६४२—वास्तविक आनन्द तभी होता है जब मन बाह्य ज्ञानके द्वारा समस्त इच्छाओंसे बहिर्भूत हो अपने सूक्ष्म रूपको नष्ट कर देता है।

६४३—सङ्कल्प और वासनाएँ ही, जिन्हें तुम उत्पन्न करते हो, तुम्हें मानो पींजड़ेमें बन्द कर देती हैं। तुम अपने ही सङ्कल्पों और वासनाओंके द्वारा उसी प्रकार बन्धनमें पड़ जाते हो जैसे रेशमका कीड़ा अपने बनाये हुए कोष-गृहमें (cocoon) बन्द हो जाता है। अपने उच्च सात्त्विक मन तथा विवेकके द्वारा अपने आन्तरिक मनको नष्ट कर दो।

६४४—विचार विभिन्न प्रकारके तथा परिवर्तनशील होते हैं। अभी अच्छे विचार दिखलायी दिये और पाँच ही मिनटके बाद बुरे विचार उत्पन्न हो आते हैं। मन बहुत ही चञ्चल होता है और सदा बदलता रहता है। इसलिये यह कभी एकरस रहनेवाला कूटस्थ आत्मा नहीं हो सकता।

६४५—सर्पकी भाँति गेंडुलि मारे हुए कुण्डलिनि नामक मूलाधार चक्रमें सोई हुई शक्ति प्राणसे सम्बन्धित होती है। प्राणका सम्बन्ध मनसे रहता है।

६४६—मन सदा बदलता और भटकता रहता है। मनका यह चञ्चल स्वभाव नाना प्रकारसे प्रकट होता है। तुम्हें मनके इस स्वभावको रोकनेके लिये सदा सावधान रहना पड़ेगा। एक संसारीका मन सिनेमा, थियेटर, सरकस इत्यादिकी ओर भटका करता है। साधुका मन काशी, वृन्दावन, नासिककी ओर भटकता है। बहुतेरे साधु साधना करते समय एक स्थानपर नहीं रहते। मनके चञ्चल स्वभावको इसे एक स्थानमें, एक प्रकारकी साधनामें, एक गुरुमें तथा एक ही प्रकारके योगमें लगाकर रोकना चाहिये।

जब तुम एक पुस्तक पढ़नेके लिये उठाओ तो उसे समाप्त करके ही दूसरी पुस्तकको छूना चाहिये। तुम जो काम हाथमें लेते हो अपने तन-मनसे उसमें लग जाओ और उसे पूरा करके ही दूसरा काम प्रारम्भ करो। एक समयमें एक ही काम हाथमें लेकर उसे अच्छी तरह कर डालना सर्वोत्कृष्ट नीति है ऐसा बहुतेरे मनुष्य कहते हैं। यह योगियोंकी कर्मपद्धति है।

६४७—पहले-पहल चौबीसों घण्टे भगवान्‌में मनको लगाना कठिन होता है। जैसे ही ध्यानसे फुरसत मिली, मन घूमने लगता है और अपनी पुरानी आदतोंको प्राप्त करनेके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करता है। तुम इसके बुरे अभ्यासोंको रोकनेका कौन-सा उपाय करोगे? तुम्हें अवश्य ही उसे दूसरा सात्त्विक विषय ग्रहण करनेके लिये उपस्थित करना चाहिये। यह विभिन्नता पसन्द करता है। कुछ समय-तक दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ो और समाप्त होते ही, जो कुछ तुमने अध्ययन किया है, उसे नोट कर लो। इस दशामें तुम कुछ समय लगा सकते हो। इससे मन कुछ ढीला हो जायगा। इससे एक मनबहलाव भी हो जायगा। अपनी योग्यताके अनुसार तुम अपना कुछ समय गरीबों और रोगियोंकी सेवामें लगा सकते हो। मैं तुम्हारे दैनिक कार्य-क्रमका एक ढाँचा बनाकर नीचे देता हूँ—

१—ध्यान	८ घण्टे
२—अध्ययन	४ घण्टे
३—लिखना	२ घण्टे
४—सेवा	२ घण्टे
५—भोजन-स्नानादि	२ घण्टे
६—सोना	६ घण्टे

६४८—तुम पर्वतको नष्ट नहीं कर सकते। परन्तु पर्वतकी भावनाको नष्ट कर सकते हो। (क्रमशः)

आत्माकी खोज !

परम प्रतापी औ प्रबल बेगवारो पौन, पैठत ही लघु मौन भीतर बिलानो जात।
त्रासक त्रिलोक सोकराहित प्रमत्त गज, मृदुल मृनालके सुतारसों बिरानो जात॥
'सुकवि नारायण' अकारन ही सागरको, अगम अगाधि जल चंचऊ थिरानो जात।
कहा कहौं, कैसे कहौं, आपनेको आपहीमें, हेरत ही हेरत सु मो मन हिरानो जात॥

नारायणदास चतुर्वेदी

दुःख क्यों होता है ?

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

कुं०—दुखका कारण राग है, राग-हेतु है ध्यान ।
विषय-ध्यान जो त्यागते, वे ही चतुर सुजान ॥
वे ही चतुर सुजान, ध्यान भगवतका करते ।
विषयोंको विष जान, सदा जो उनसे डरते ॥
'देवी' कहते कृष्ण, त्याग है कारण सुखका ।
अर्जुन! तज दे राग, राग है कारण दुखका ॥

कमलादेवीका विचार



मलादेवी नामकी एक सुशीला कन्या कुलीन और श्रीमान् कुलकी बेटी थी और शिष्टाचारी, प्रतिष्ठित कुलमें व्याही गयी थी। शारदादेवीकी भक्त थी। संसारी सुख इस बड़भागिनीके ललाटमें विधाताने नहीं लिखा था। इसके भाग्यमें तो अलौकिक आनन्द ही लिखा गया था। बालकपन यानी लगभग तेरह-चौदह वर्षकी उम्रमें ही अकस्मात् इसका पति इसे जगत्पतिकी सेवामें सौंपकर अन्य लोकमें जा बसा, बेचारीने अबतक दुःखका नाम भी नहीं सुना था। अचानक दुःखका पहाड़ सिरपर टूट पड़नेसे वह व्याकुल हो गयी। शोकके कारण अपनी इष्टदेवी, जगन्माता, भवभयहारिणी, तरण-तारिणीको भी भूल गयी। एक वर्षतक पतिके वियोगमें आँसू बहाती रही। स्मरण रहे कि इष्टदेवी अपने सच्चे भक्तोंको कभी नहीं त्यागती। भक्त चाहे उसको भूल भी जाय, इष्टदेवी भक्तको कभी नहीं भूलती। सालभर बाद शारदादेवीकी शुभ प्रेरणासे कमलादेवी एक दिन इसप्रकार विचारने लगी—

कमला—दुःख क्यों होता है ? क्या धनसे दुःख होता है ? नहीं ! नहीं ! धनसे कदापि दुःख नहीं हो सकता! धन तो सबका उपकारक है, धनसे ही संसारभरका व्यापार सिद्ध होता है, धनसे भूख-प्यासकी निवृत्ति होती है, धनसे वस्त्राभूषणकी प्राप्ति होती है, धनसे दास-दासी, नौकर-चाकर, महल-अटारी, वाहन-सवारी, बाग-बगीचे आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं। चार पैसेवालेकी सब प्रतिष्ठा करते हैं, धनवाला घर-बाहर सर्वत्र पूज्य गिना जाता है! जैसे दूधवाली गाय सबको प्यारी लगती है उसी प्रकार धनवान् सबको प्यारा लगता है! किसीने सच कहा है कि 'हे धन! यद्यपि तू ईश्वर नहीं है तो ईश्वरके समान तो है ही, क्योंकि जैसे ईश्वर सबकी मनोकामना पूर्ण करता है उसी प्रकार तू भी सबकी इच्छाएँ पूर्ण करता है और जिसप्रकार ईश्वर सबके दोषोंको छिपाता है, उसी प्रकार तू भी सबके दोषोंको ढँक देता है।' भाव यह है कि धनवान्के दोष कोई नहीं देखता। भला, ऐसे धनसे दुःख कैसे हो सकता है? धनके लिये बड़े-बड़े विद्वान् देश-विदेश घूमते हैं और लम्बे-चौड़े व्याख्यान दे-देकर धन बटोरते हैं! विद्यालय, गोशाला, धर्मशाला आदि धनसे ही बनवाये जाते हैं, तीर्थयात्रा भी धनसे ही होती है। भाव यह है कि धन केवल यहाँ ही काम नहीं देता; दान, धर्म, यज्ञद्वारा परलोकमें भी काम आता है, तब धनमें दुःख कहाँ है? इससे यही सिद्ध हुआ कि धनमें दुःख नहीं है।

तब क्या धनके न होनेमें दुःख है ? नहीं। धनके न होनेमें भी विचार करनेसे दुःख प्रतीत नहीं होता। धनके कमानेमें परिश्रम होता है, धनकी रक्षाके लिये चिन्ता करनी पड़ती है, धनके नाश हो जानेमें कष्ट होता है। निर्धनको न परिश्रम करना पड़ता है, न रखवाली करनी पड़ती है और धनके नाशका भी उसको भय नहीं होता। धनीको राजा, ब्राह्मण,

कुटुम्बी नोचते रहते हैं, निर्धनके पास कोई नहीं फटकता। तब धन न होनेमें भी दुःख कहाँ ? धनी ही रातों चिन्ता किया करता है, सुखकी नींद भी नहीं सो सकता, सेठजीको कोमल गद्दोंपर भी आरामसे नींद नहीं आती ! वह रातको घड़ियाँ गिना करते हैं, पर सेठजीका साईस कंकरोंपर अथवा घासपर ऐसी खर्राटेकी नींद लेता है कि वह सचमुच ब्रह्मसे जा मिलता है। धनीको काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि सताते हैं, निर्धनको इनमेंसे एक भी नहीं सताता ! जिसको अपने खानेको ही कठिनाईसे मिलता है, वह विवाहकी इच्छा नहीं करता, वह सोचता है कि जब मेरा ही पेट कठिनाईसे भरता है तो स्त्रीको अन्न कहाँसे आवेगा, ऐसा सोचकर वह विवाह नहीं करता। इससे सिद्ध है कि काम-दोष निर्धनमेंसे भाग जाता है। निर्धनको कोई दो-चार बुरी-भली कह लेता है ता वह सुन लेता है, उसे क्रोध नहीं आता। इसलिये निर्धनमें क्रोध भी नहीं होता। भूखेको कोई राज्य दे तो भी नहीं लेता, क्योंकि राज्यादिकी इच्छा तो पेट भरनेपर होती है, इसलिये निर्धनमें लोभका भी अभाव होता है। भूखेको सिवा रोटीके अन्य कोई वस्तु नहीं सुहाती, इसलिये उसे मोह भी नहीं होता। जब निर्धनमें काम, क्रोध, लोभ और मोह ही नहीं है तो मद तो उसमें हो ही कहाँसे ? मद तो धनमें होता है, जिसके पास धन नहीं है, उसमें मद कहाँ ? धनी ही धनके मदमें गुरु, पूज्य और देवताओंका अपमान करता है, अपनेको बड़ा मानता है, अपनेसे सबको नीचा मानता है। धनसे कभी तृप्ति तो होती नहीं, ज्यों-ज्यों धन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों तृष्णा बढ़ती है, तृष्णासे राग-द्वेष बढ़ते हैं, राग-द्वेष ही महा अनर्थके कारण हैं, निर्धनमें राग-द्वेष नहीं होते। इसलिये उसको दुःख भी नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि धन नहीं होनेमें भी दुःख नहीं है।

तब क्या पति होनेमें दुःख है ? यह कथन तो लोक-शास्त्र दोनोंसे सर्वथा विरुद्ध है। स्त्रीका तो पति ही ईश्वर होता है, स्त्रीकी शोभा पतिसे ही है। खाना-पीना, पहिनना-ओढ़ना स्त्रीका सब पतिसे ही है। स्त्रीको पतिसे ही सब प्रकारका सुख प्राप्त होता है। पतिसे स्त्री सुहागिनी कहलाती है, पति बिना स्त्रीका नाम ही बिगड़ जाता है। मंगलके कार्योंमें पतिवाली ही काम करती है, पतिहीनाको मंगल-कार्योंसे दूर रहना पड़ता है। पति स्त्रीको रति-सुख देता है, खाली कोखको पूर्ण करता है, पतिसे स्त्री पुत्रवती होती है, पुत्रवती संसारमें धर्मात्मा गिनी जाती है, पतिवालीका घरके और बाहरके सब आदर करते हैं। स्त्रीका सर्वस्व पति ही है। पतिहीना स्त्री बिना जलकी सूखी नदी अथवा बिना प्राणकी देह समझी जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि पति होनेमें दुःख नहीं, उलटे सुख ही है।

तब क्या पति न होनेमें दुःख है ? विचारकर देखा जाय तो ऐसा भी नहीं है। जैसे स्त्री पुरुषके लिये संसारका कारण है इसी प्रकार पुरुष भी स्त्रीके लिये संसारका कारण है। जन्म-मरणका नाम संसार है। जन्म मरणके बीचमें आधि, व्याधि, जरा आदि अनेक प्रकारके दुःख हैं, वे सब भी संसार ही हैं। पतिसे संसारका सुख अवश्य है परन्तु संसार स्वयं दुःखरूप और नाशवान् है, तब ऐसे दुःखरूप नाशवान् संसारमें सुख किसप्रकार हो सकता है? सुख तो अखण्ड वस्तुमें होता है, ऐसा श्रुति, स्मृति और सम्पूर्ण महात्माओंसे सुननेमें आता है और युक्तिसे भी ऐसा ही सिद्ध होता है। क्षणिक सुख चले जानेके बाद पश्चात्ताप करना पड़ता है, पश्चात्ताप परम दुःख है। पतिवाली स्त्रीको गर्भ धारण करना पड़ता है, गर्भके धारण करनेमें दुःख प्रत्यक्ष ही है, नौ मासतक बोझा लादना पड़ता है, प्रसवके समयमें तो इतना कष्ट होता है कि मरणमें भी इतना कष्ट न होगा ! बच्चा सही-सलामत हो गया

तो भली भला, नहीं तो अवतकका सहा हुआ सारा ही कष्ट व्यर्थ चला गया, बदलेमें शोक पल्ले पड़ा ! पासकी पड़ोसिनें भी बुरा-भला कहने लगीं, सास भी माथा ठिनकने लगी ! 'अजी, यह कैसी बहू हमारी तकदीरमें लिखी थी कि इसके बच्चे जीते ही नहीं, इससे तो बाँझ ही भली थी, स्वयं कष्ट न भोगती और न हम सब घरवालोंको कष्ट देती ।' इत्यादि विचारकर सास ऊपरसे मुखपर नहीं कहती तो मनमें तो अवश्य कुढ़ती है । पति भी बाप बननेकी खुशीमें फूला-फूला फिरता था, भाग्यवश बच्चा न जीया तो वह भी प्रसन्न नहीं होता । कोई-कोई तो दूसरा विवाहतक करनेको तैयार हो जाते हैं ! स्त्रीके कष्टका विचार तो चूल्हे-भाड़में गया, उलटा मुँह फुला लेते हैं । भाग्यवश बच्चा जी गया तो गू-मूत करो, गू-मूतमें सनी-सनायी फलरियाँ आये दिन धोते रहो, गीले मूतके भीगे बिछौनेपर सोओ, आज खाँसी हुई, आज बुखार आ गया, आज दूध नहीं पीता, घुटी पिलाओ, यों अनेक चिन्ताएँ लगी रहती हैं । कभी पितरोंकी, कभी देवी-देवियोंकी खोर होती है । हकीम बुलाओ, सयानेको बुलाओ, शीतला पूजो, बराईके गुलगुले बाँटो । बाजी-बाजी तो बच्चोंकी खातिर पीर और मियाँतकको पूजती हैं और शीतलाका गदहा पूजना तो सहज-सी बात है । ये सब खटके पतिके अनुग्रहसे लगते हैं । बच्चेको पाल-पोसके बड़ा किया तो पढ़ानेकी चिन्ता लगती है, पढ़ गया तो अच्छा, कुपढ़ रह गया तो जी जलता है । विवाह करो तो मुश्किल, नहीं करो तो दिक्कत ! कमाई न करी तो पराये घरकी आयी हुई ऊपर नहीं तो मनमें कोसती है । 'अच्छे मेरे भाग फूटे, निखट्टूके पल्ले पड़ी !' कमाई करने लगा तो सास-ससुरको छोड़कर बहू अलग हो जाती है। अलग नहीं हुई तो भी अपने स्वामीकी कमाईका अभिमान तो करती ही है । 'मेरे स्वामीकी बदौलत सब खाते-पीते हैं, मैं ही सबको खिलाती-पिलाती हूँ ।' इत्यादि अनेक बातें बनाती है । कोई भलीमानस हुई और अच्छी प्रकार सेवा करने लगी तो उसकी प्रीतिके पाशमें बँधना पड़ता है, सब प्रकारसे उसको राज़ी रखना पड़ता है, कहीं वह नाराज न हो जाय, ऐसा ध्यान रखना पड़ता है । कुछ भी न करो तो उसके बच्चोंके गू-मूत तो अवश्य ही धोने पड़ते हैं, ये सब पापड़ पतिके संगसे बेलने पड़ते हैं । पराधीन तो अवश्य ही रहना पड़ता है और पराधीनतामें सुख नहीं है, कहा भी है कि 'पराधीन सुख सपने नाहीं' इसप्रकार विचारनेसे सिद्ध होता है कि पतिके न होनेमें भी दुःख नहीं है । फिर पतिके न होनेमें दुःख कहाँ ?

तब क्या शरीरमें दुःख है । शरीरमें तो प्रत्यक्ष दुःख है ही, सब दुःखोंका कारण शरीर ही है । शरीरसे संसार है । जन्म-मरण, आधि-व्याधि, भूख-प्यास, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद आदि इन सबका भण्डार शरीर ही है । जन्मनेमें दुःख, मरनेमें दुःख, आधि-व्याधिमें दुःख, भूख-प्यास, टट्टी-पेशावमें दुःख, इन सब दुःखोंका मूल शरीर ही है । शरीरधारीको काम सताता है, क्रोध जलाता है, लोभ हँसी कराता और दीन बनाता है, मोह फन्देमें फँसाता है और मद तो सारे पाप कराता है । ये सब दोष शरीरसे उत्पन्न होते हैं । शरीर न हो तो इनमेंसे कोई भी न हो । इसलिये शरीर ही सब अनर्थोंका कारण है । यदि विचारकर देखा जाय तो दुःख शरीरमें भी नहीं है किन्तु दुःख मनमें है । यद्यपि शरीर बिना भोग सम्भव नहीं है तो भी दुःखका कारण मन ही है । मन ही सुख-दुःख मानता है और काम, क्रोध, लोभादि भी सब मनके ही विकार हैं । मन ही शरीर धारण कराता है क्योंकि लोकमें ऐसी कहावत है कि 'जहाँ आशा तहाँ वासा ।' मनहीमें अनेक प्रकारकी इच्छाएँ उठती रहतीं और इच्छाएँ जीवको नाना ऊँच-नीच योनियोंमें ले जाती हैं, यह मन ही दुःखदायी है । मन ही बन्धनका कारण है । परन्तु और भी विचारकर देखती हूँ तो

शरीर और मन दोनों ही निर्दोष हैं। निर्दोष ही नहीं किन्तु इनमें गुण भी है। मनुष्य-शरीरकी तो देवता भी इच्छा करते हैं क्योंकि इस शरीरमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। इसीलिये मनुष्य-शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है। यह ही शरीर मुझे प्राप्त हुआ है, यह शारदादेवीकी मुझपर परम कृपा है। जगज्जननीने मुझे झंझटसे भी छुड़ा दिया है, तब इस शरीरसे मुझे अपना कल्याण ही करना उचित है। मनमें कामादि दोष अवश्य हैं परन्तु मन मेरे वश हो सकता है क्योंकि जब मैं चाहती हूँ कि 'यह वस्तु मैं नहीं खाऊँ, यह वस्त्र मैं नहीं पहिनूँ' तो मन रुक जाता है, इससे सिद्ध होता है कि मन मेरे अधीन है, मैं मनके अधीन नहीं हूँ। सारांश यह निकलता है कि जब मैं किसी वस्तुमें राग करती हूँ, उसीमें मन जाता है, यदि मैं राग न करूँ तो मन भी न जाय, इसलिये रागमें ही दुःख है। न शरीरमें दोष है, न मनमें दोष है; सारा दोष इस रागका है। रागका कारण ध्यान है जिन वस्तुओंका मैं ध्यान-चिन्तन करती हूँ, उन्हीं वस्तुओंमें मेरा राग होता है। तब मुझे किसी विषयका ध्यान ही न करना चाहिये। परन्तु ध्यान तो किसी-न-किसी वस्तुका होगा ही, क्योंकि मनका स्वभाव ही ध्यान है। ध्यान तो छूट नहीं सकता। हाँ! यह हो सकता है कि मैं अपनी किसी प्यारी एक वस्तुका ध्यान लगाऊँ। शास्त्रोंसे सुननेमें आता है कि भगवतीमें ध्यानको जोड़ देनेसे सांसारिक वस्तुओंका ध्यान छूट जाता है। भगवती परम दयामयी हैं, अपने भक्तोंपर करुणा करके तुरन्त ही उनके मनको अपनी ओर खींच लेती हैं, इसलिये मुझे भगवतीका ध्यान और उन्हींसे प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसा विचारकर कमलादेवी भगवतीका ध्यान और उनसे प्रार्थना करने लगी—

भगवतीसे प्रार्थना

हे श्रीसरस्वती भगवती! हे जगज्जननी, पापौघहननी! हे संतापहारिणी जगदानन्दकारिणी! देवीभागवतमें मैंने ऐसा सुना है कि आप कोटि सूर्यके समान प्रकाशवाली, कोटि चन्द्र-समान शीतल और कोटि कामदेव-समान लावण्यवती हैं! आपका आदि, अन्त तथा मध्य नहीं है। ब्रह्मारूपसे आप जगत्‌की उत्पत्ति करती हैं, विष्णुरूप होकर विश्वका पालन करती हैं और रुद्ररूप धारण करके सब ब्रह्माण्डोंका संहार करनेवाली हैं। आपका कोई नाम नहीं है, फिर भी आपके भक्तोंने आपके अनेक नामोंकी कल्पना की है। आपका कोई रूप नहीं है फिर भी अपने भक्तोंपर अनुग्रह और अभक्तोंपर निग्रहरूप अनुग्रह करनेके लिये आप अनेक रूप धारण करती हैं। आप तीनों कालोंमें एकरस रहती हैं, इसलिये आपके भक्त आपको सत् कहते हैं। चराचर जगत्‌को आप सत्ता देनेवाली हैं, इसलिये आपका नाम सत् है। आपके सिवा सारा विश्व वन्ध्यापुत्रके समान असत् है, इसलिये आप भी सत् हैं। चराचर जगत् आपमें भासता है, इसलिये आप चित् कहलाती हैं। आप सबको जानती हैं, आपको कोई नहीं जानता, इसलिये भी आपको चित् कहते हैं। संसारभरमें जितना ज्ञान है वह सब ज्ञान आपके अन्तर्भूत हैं, इसलिये भी आप चित् कहलाती हैं। आपके सिवा नाम-रूप-जगत् जड़ है, इसलिये भी आपका नाम चित् है। आप सुखकी अखण्ड परिपूर्ण सागर हैं इसलिये वेदवेत्ता आपको आनन्द कहते हैं। सम्पूर्ण जगत् आपकी प्रियताको लेकर ही सुखरूप भासता है, इसलिये भी आपको आनन्द कहते हैं। आपके सिवा सब जगत् दुःखरूप है इसलिये भी तत्त्वज्ञ पुरुष आपको आनन्द कहते हैं। बृहत्‌रूप होनेसे आप ब्रह्म कहलाती हैं, आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। देश, काल, वस्तु इन तीनों परिच्छेदोंसे आप रहित हैं इसलिये आपको वेद-वाणी अनन्त कहती है। आप सबका शिव—कल्याण करनेवाली हैं

इसलिये आपका नाम शिवा है। आप सर्वमें रमण करनेवाली हैं अथवा योगी आपमें रमण करते हैं इसलिये आपकी रमा संज्ञा है। आप स्वर-व्यञ्जनसे रहित अमात्रस्वरूप हैं इसलिये योगीजन आपको उमा कहते हैं। गायन करनेसे आप भक्तोंकी रक्षा करती हैं, इसलिये गायत्री कहलाती हैं। सब जगत्‌की उत्पत्ति करनेसे आपका नाम सावित्री है। सर्व स्वर, ताल, राग, रागिनी आपमेंसे निकली हैं, इसलिये आप सरस्वती कहलाती हैं। आपका भजन करनेसे परम कीर्तिकी प्राप्ति होती है, इसलिये आपको कीर्ति कहते हैं। आपकी शोभासे ही सब शोभायमान होते हैं अथवा सर्व ऐश्वर्य आपके अधीन हैं इसलिये आपका नाम श्री है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चार प्रकारकी वाणीकी अधिष्ठात्री होनेसे आपको वाक् कहते हैं। आपके स्मरणसे भक्तोंका कल्याण होता है, अथवा सर्व स्मृति आपमें ही रहती है इसलिये आपको शास्त्रमें स्मृति कहा है। जो कुछ सुना जाता है, आपकी सामर्थ्यसे ही धारण किया जाता है, इसलिये आपका नाम मेधा है! सबको धारण करनेवाली होनेसे आप धृति कहलाती हैं। प्रलय-कालमें भी आपमें क्षोभ नहीं होता इसलिये तत्त्व-दर्शी आपको क्षमा कहते हैं। इसी प्रकार और भी आपके अनेक नाम-रूपोंकी भक्तोंने कल्पना की है, उनकी गणना करनेमें कोई समर्थ नहीं है, फिर भी आप नाम-रूपकी उपाधिसे वर्जित ही हैं।

हे जगदम्बे! ब्राह्मणोंको शमादि गुण आपके अनुग्रहसे प्राप्त होते हैं। क्षत्रिय आपके बलसे शौर्य आदि गुण प्राप्त करता है। वैश्यको आप ही श्रीमान् बनाती हैं और शूद्रको आप ही शोकसे रहित करती हैं। ब्रह्मचारीको आप अमोघ वीर्य प्रदान करती हैं। गृहस्थको धर्ममें प्रवृत्त करती हैं, वानप्रस्थको आपके प्रतापसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है और संन्यासी आपके कृपाकटाक्षसे ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको प्राप्त करता है। योगीको परम तत्त्वका अनुभव आपकी दयासे ही होता है, ज्ञानी आपकी कृपादृष्टिसे परमानन्दका अनुभव करता है। पतिव्रताओंको आप सौभागिनी बनाती हैं और अनाथ विधवाओं-को अपनी अनपायनी अखण्ड भक्ति देकर आप ही उनको सधवा बनाकर अपना सामीप्य देती हैं। हे देवी! मैं भी अज्ञ बालिका हूँ, अधम स्त्री-जाति होनेसे न कहीं जा सकती हूँ, न आ सकती हूँ, किसीके पास खड़े होनेसे ही नहीं किन्तु किसीकी ओर दृष्टि करनेमें भी मुझे कलंकका भय लगा रहता है। ऐसी मुझ पराधीनकी आप ही एक शरण हैं। हे मातः! मुझे सुबुद्धि दीजिये। सब पुरुषोंमें मेरी भाईकी दृष्टि हो, कभी कामकी चेष्टा मेरे मनमें ही न आवे, सबको आपका स्वरूप समझकर कभी मुझे किसीपर क्रोध न हो! खाने-पहिननेको रूखा-सूखा, नया-पुराना जो मिल जाय, उसीमें सन्तुष्ट रहूँ, अच्छे खाने-पहिननेका कभी लोभ न करूँ। किसीके बच्चोंको देखकर मुझे मोह न हो, किसीका धन देखकर मुझे ईर्ष्या न हो, किसीका सौभाग्य देखकर मेरा मन न कुढ़े, मन सर्वदा प्रसन्न रहे। किसीकी निन्दा भूलकर भी न करूँ, किसी बहिनसे कठोर वाणी न बोलूँ, कोई बुरा-भला कहे तो बुरा न मानूँ, अपने जप-तप, दान-पुण्यका मुझे कभी गर्व न हो, अपनी विद्याका, अपनी करनीका किञ्चित् भी अभिमान न हो! सदा आपके चरणोंमें प्रीति हो। हे देवी! महात्माओंसे मैंने ऐसा सुना है कि ये गुण साधनसे प्राप्त नहीं होते, आपकी कृपासे ही किसी-किसीको प्राप्त होते हैं। इसलिये मैं आपकी शरण हूँ। मेरी रक्षा कीजिये, अन्तमें यह प्रार्थना है कि आपके निर्गुण और सगुण दो रूप मैंने सुने हैं। दोनों रूपोंसे आप सर्वत्र व्यापक हैं, सबके हृदयमें विराजमान हैं। आपका सगुण रूप श्रुति और स्मृतिरूप हैं। इन स्मृतियोंमें गीता जो आपका सगुण स्वरूप है, वह मझे अत्यन्त ही प्यारा है।

इसलिये मैं सर्वदा गीताका पाठ किया करूँ और गीतामें कहे हुए आपके 'ॐ तत्सत्' नामोंका जप किया करूँ और उन्हींके अर्थका विचार किया करूँ। गीता सर्वस्वरूप है, भगवान्ने अपने मुखसे कही है, अर्जुनने सुनी है, व्यास भगवान्ने महाभारतमें रची है, गीता रमा, उमा, शिवा आदिका स्वरूप है, यह मेरा निश्चय दृढ़ बना रहे, कभी शिथिल न हो, नीचे लिखी रचनाको कभी न भूलूँ, इतनी ही प्रार्थना है।

कुं०—गीता लक्ष्मी शारदा, गीता ही ओंकार।
गीता ही गंगा उमा गीता श्रुतिका सार॥
गीता श्रुतिका सार, कृष्णने गाई गीता।
सुनी पार्थ मन लाय, मोह वैरीको जीता॥
राजा जनक सुजान, जोति हल काढ़ी सीता।
'जयदेवी' भज व्यास, वेद मथ काढ़ी गीता॥

पश्चात् कमलादेवी गीताका पाठ, पावन मन्त्रका जप और मन्त्रके अर्थका विचार निरन्तर प्रेमपूर्वक नियमसे कुछ कालतक करती हुई धीरे-धीरे भगवतीमें विश्वासकी वृद्धि करती हुई, शान्तिको प्राप्त होने लगी और अन्तमें परम शान्तिको प्राप्त कर सदाके लिये परम सुखी हुई। इत्यतिशोभनम्।

दो०—पढ़ें सुनें भाई-बहिन, कमला शुद्ध विचार।
जगदम्बाकी कृपासे, निश्चय हों भव पार॥

रामायण-शंका-समाधान

(लेखक—परमहंस बाबा श्रीअवधविहारीदासजी महाराज)

(१)

सीतहिं चितै कही प्रभु बाता।
अहै कुमार मोर लघु भ्राता॥



रावणकी बहिन शूर्पणखा एक बार पञ्चवटीमें गयी और वहाँ श्रीराम और लक्ष्मण दोनों कुमारोंको देखकर उनपर मोहित हो विकल हो उठी। तथा श्रीरामजीसे अपने साथ ब्याह करनेकी प्रार्थना करने लगी। तब श्रीरामजीने सीताकी ओर देखकर लक्ष्मणको सङ्केत करके कहा कि यह कुमार मेरा छोटा भाई है, उसके पास जाओ (वह स्त्रीविहीन है अतः) वह तुमसे विवाह करेगा। सीताकी ओर देखनेका यही भाव है कि हमारी स्त्री तो सीता है। तुम लक्ष्मणके पास जाओ। यहाँ लोग प्रश्न करते हैं कि लक्ष्मणको श्रीरामजीने कुमार (बिना ब्याहा) क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि श्रीरामजीने जो लक्ष्मणको कुमार कहा है वहाँ बिना ब्याहा अर्थ कदापि नहीं है। 'बल्कि सीताकी ओर चितै' करके अपनेको स्त्रीयुत और लक्ष्मणको स्त्रीविरहित सूचित किया है क्योंकि शूर्पणखाके आनेके समय दोनों भाइयोंको कुमार ही लिखा गया है—'देखि विकल भइ जुगल कुमारा।' यहाँ तो श्रीरामजीके लिये भी 'कुमार' शब्द आया है। देशी भाषामें बिना ब्याहेको कुमार न कहकर कुँवारा कहते हैं और इसी शब्दसे शूर्पणखाने अपनेको सूचित किया है—'तातें अब लगि रह्यो कुँवारी॥' अतः लक्ष्मणजीके लिये 'कुमार' शब्दका अर्थ बिना ब्याहा करना व्यर्थ है। यहाँ कुमार-शब्द कुमारावस्थाका द्योतक है।

(२)

जब शूर्पणखा रावणके पास गयी और रावणने पूछा कि तुम्हारे नाक-कान किसने काटे हैं तो उसने बतलाया कि—

अवधनृपति दसरथके जाये। पुरुषसिंह बन खेलन आये॥
सोभाधाम राम अस नामा। तिन्हके संग नारि एक स्यामा॥

तासु अनुज काटी श्रुतिनासा। सुनि तव भगिनि करी परिहासा
खरदूषण सुनि लगे पुकारा। क्षण महँ सकल कटक उन्ह मारा॥

इस बातको सुनकर रावणको इतना शोक हुआ कि रातको उसे नींद न आयी और उसने विचारा कि—

खरदूषण मोसम बलवन्ता। तिनहिंको मारै विनु भगवंता॥
सुर रंजन भंजन महि भारा। जो भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ वैर हठि करिहौं। प्रभु शर प्राण तजे भव तरिहौं॥
होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम वचन मन्त्र दृढ़ एहा॥
जो नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहौं नारि जीति रन दोऊ॥

अर्थात् शूर्पणखा उन्हें भूपसुत (राजा दशरथ-का पुत्र) बतलाती है और खरदूषणको विना भगवान्‌के कोई दूसरा नहीं मार सकता, अतः रावणने स्वयं जाकर परीक्षा करके इस सन्देहके निवारण करनेका निश्चय किया कि वह नर हैं या भगवान् हैं। उसने विचारा कि 'यदि वे पुरुष भगवान्‌के अवतार होंगे तो मैं हठ करके उनसे युद्ध ठान दूँगा और इसप्रकार प्रभुके वाणोंसे प्राण त्यागकर मुक्त हो जाऊँगा और यदि कहीं वे सचमुच राजाके पुत्र नररूप अर्थात् मनुष्य हुए तो मैं उनकी स्त्रीको हर लाऊँगा और युद्धमें दोनों-को पराजित करूँगा। मारीच बड़ा ही मायावी है उसे चलकर कपट-मृग बनाकर वहाँ भेजूँ, जहाँ शूर्पणखाके कथनानुसार दोनों 'नृप-सुत' शिकार खेलनेके लिये आये हुए हैं। इससे अनायास ही सब रहस्य खुल जायगा। यदि वे शिकारी नृप-सुत होंगे तो कपट-मृगके पीछे शिकारके लिये दौड़ेंगे, और यदि भगवान् होंगे तो अपनी अन्तर्यामी-शक्ति-से इस मायाको जानकर अपने स्थानसे न हटेंगे। और तब उनका भगवान् होना निश्चय हो जायगा।' ऐसा विचारकर रावण मारीचके पास पहुँचा और उससे माया-मृग बननेकी प्रार्थना की। मारीचने रावणको बहुतेरा समझाया कि वे नर नहीं हैं बल्कि चराचरके स्वामी साक्षात् भगवान् हैं; परन्तु रावणने उसकी एक न सुनी और उलटे उसे मार डालनेका भय दिखाकर वहाँ जानेके लिये राज़ी किया जहाँ सर्वदर्शी, सर्वान्तर्यामी प्रभु थे। मारीच कपट-मृग बनकर सामनेसे निकला, उस समय प्रभुने रावणको अपने विषयमें नृपसुत मनुष्यके रूपमें ही निश्चय करा देना उपयुक्त समझा। क्योंकि यदि रावण जान जाता कि वह साक्षात् भगवान् हैं तो वहीं उनसे युद्ध छेड़ देता, जैसा कि उसने निश्चय किया था और इसप्रकार उसके कारण जो अनेकों दुष्टोंका वध करके पृथ्वीका भार श्रीप्रभु-को उतारना था वह न होता। दूसरे ब्रह्माजीने रावणकी मृत्यु भी नरके हाथसे ही लिखी थी—

नरके कर आपन वध बाँची। हँसेउ जानि विधि गिरा असाँची॥

अतः ब्रह्माकी मर्यादाको बनाये रखनेके लिये लीलाधाम मायापति श्रीप्रभु माया-मृगके पीछे उसके शिकारके लिये दौड़ पड़े और जब रावणने अपनी आँखों देखा कि वह मारीचको मृग समझकर उसके पीछे दौड़े जा रहे हैं तो उसके हृदयमें यह दृढ़ निश्चय हो गया कि यह भगवान् कदापि नहीं हैं, बल्कि यथार्थतः नृपसुत ही हैं अतः अपने पूर्व निश्चयके अनुसार वह उनकी स्त्रीके अपहरण करने-में प्रवृत्त हुआ। यद्यपि उसने सीताजीके प्रतिबिम्ब-को हरण किया और मन्दोदरी, प्रहस्त, माल्यवान, विभीषणादिने उसे नाना प्रकारके प्रमाणोंसे बारम्बार समझाया तथापि उसे श्रीराममें मनुष्य होनेका भ्रम जो अपनी इस प्रत्यक्ष परीक्षाद्वारा हो गया था, वह दूर न हुआ और वह मरणपर्यन्त श्रीरघुनाथजीको मनुष्य ही समझता रहा तथा युद्धसे तनिक भी भयभीत न होकर सदा 'जीति रण दोऊ' के ही निश्चयपर आरूढ़ रहा। उसे यह दृढ़ विश्वास था कि 'रणमें मैं ही विजय प्राप्त करूँगा, इसके प्रमाणमें उसके यह वचन हैं—'कहाँ राम रण हतौं प्रचारी।'

बहुधा लोग यह कहा करते हैं तथा कोई-कोई

अर्थकर्त्ता भी यह अर्थ किया करते हैं कि रावणने श्रीरामजीको ईश्वर जानकर उनके हाथसे मृत्यु पानेके लिये युद्ध किया। परन्तु हमारे उपर्युक्त प्रमाणोंके अनुसार यह कथन सर्वथा असंगत जान पड़ता है। पुनः मानसमें कहीं भी ऐसा प्रसंग नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि उसने श्रीरामजीको भगवान् समझकर सीताहरण किया अथवा युद्ध ठाना। यह तो स्पष्ट है कि रावण जब लङ्कासे चला है तो यही निश्चय करके चला है कि यदि वे भगवान् होंगे तो उनसे हठपूर्वक युद्ध करके प्राण त्याग दूंगा और यदि नृपसुत होंगे तो उनकी स्त्रीको हरण करूंगा। पश्चात् वह उन्हें नृपसुत जानकर सीताजीको हरण करता है, तथा प्राण देनेके बदले सदा अपनी प्राण-रक्षामें तत्पर पाया जाता है। कुम्भकर्णको जगाना, विजयके लिये यज्ञ करना, लक्ष्मणजीको शक्ति लगने-पर कालनेमिको भेजना इत्यादि प्रयत्न उसने अपने जीनेके लिये ही किये थे, यदि उसे मरना अभीष्ट होता तो ऐसा क्यों करता ? अतः रावणने श्रीराम-जीको अपनी परीक्षाद्वारा नृपसुत निश्चय कर लिया था, इसीलिये वह जीनेका प्रयत्न करता था। उसने जो श्रीसीताजीका मनमें चरण-वन्दन किया है—

सुनत वचन दससीस रिसाना। मनमहँ चरण बन्दि सुख माना॥

—सो तो उनके पतिव्रतधर्मके प्रति श्रद्धा करके किया था। क्योंकि श्रीसीताजीने कहा था कि—

जिमि हरिबधुहि क्षुद्र शश चाहा। भयसि कालबश निश्चर नाहा॥

यहाँ रावणने श्रीरामजीको सिंह तथा अपनेको खरगोशकी उपमा देते हुए सुना तो वह बहुत क्रोधित हुआ, परन्तु 'पतिव्रताका धर्म यही है'—ऐसा विचारकर उसने मन-ही-मन श्रीसीताजीके चरणोंकी वन्दना की और यह विचारकर सुख माना कि ऐसी पतिव्रता स्त्री कहीं भी हो वन्दनीया है। क्योंकि स्वयं उसकी स्त्री मन्दोदरी भी पतिव्रता थी। अतः वह इस महान् गुणकी महिमाका ज्ञाता था। कुछ लोग कहते हैं कि सीताजीको लक्ष्मी मानकर उसने वन्दना की है, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि श्रीरामजीमें खरदूषणके वधसे कुछ भगवान् होनेका उसने अनुमान भी किया था जो पीछे उसके विचारसे गलत निकला, परन्तु सीताजीके लक्ष्मी होनेका विचार तो उसे स्वप्नमें भी नहीं था, क्योंकि लक्ष्मी समझनेपर दुष्ट वचनका प्रयोग कदापि सम्भव नहीं। अशोक-वाटिकामें हनुमान्जीके पहुंचनेपर जो वचन रावणने सीताजीके प्रति कहे हैं वे सेव्यभावके स्पष्ट विरोधी तथा दुष्टभावके परिपोषक हैं। जब उसने श्रीरामजीको ही मनुष्य निश्चय कर लिया है तब उनकी स्त्रीको वह लक्ष्मी कैसे समझ सकता है ? क्योंकि श्रीरामजीको मनुष्य समझकर ही उसने सीताहरण किया है। अतः सीताजीमें लक्ष्मीजीकी भावना होना रावणके लिये कदापि सम्भव नहीं। अतएव रावणको भ्रमवश अज्ञानी जानते हुए ज्ञानयुक्त मानना बड़ी भूलकी बात है।

(३)

गह सिसु बिच्छु अनल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई॥

श्रीरघुनाथजी दण्डकारण्यमें पम्पासरपर गये और उस सुन्दर सरोवरको देखकर उसमें स्नानकर परमानन्दको प्राप्त हुए। पश्चात् एक सुन्दर तरुकी छायामें लक्ष्मणके साथ बैठ गये। उसी समय श्रीनारदजीने उनके पास आकर यह प्रश्न किया कि 'हे प्रभु! मैंने जब विवाह करना चाहा था तो आपने विवाह क्यों नहीं करने दिया ?' भगवान् बोले—'हे मुनि, जिसप्रकार जब बालक बिच्छू, अग्नि या सर्पको पकड़नेके लिये दौड़ता है तो माता चुपकेसे जाकर उसे उन्हें पकड़नेसे बचा लेती है, क्योंकि ये तीनों उस बालकके लिये दुःखदायी होते हैं। उसी प्रकार मेरे अमानी दास शिशुके समान हैं उनको मैं लोभ, काम तथा क्रोधसे बचाता हूँ। जैसे शिशुको

बिच्छू, अग्नि और सर्प दुःखदायी होते हैं वैसे ही मेरे भक्तको काम, क्रोध और लोभ दुःखदायी होते हैं। प्रमाण—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिषमहुँ छोभ॥

यहाँ बिच्छूकी उपमा लोभसे, अग्निकी उपमा क्रोधसे और साँपकी उपमा कामसे दी गयी है। जैसे—

काम भुजंग डसत जब जाही। बिषय निम्ब कटु लगत न ताही
सुनु गिरिजा क्रोधानल जासू। जारै भुवन चारिदस आसू॥

अब रहा बिच्छू; वह भी लोभकी उपमामें आया है—'लोभहि बिच्छू जान।'

'बच्छ' शब्द पाठान्तर है, शुद्ध पाठ 'बिच्छु' ही है क्योंकि गोस्वामीजीकी हस्तलिखित मानसकी चौथी प्रतिमें 'बिच्छु' ही पाठ मिलता है, और 'बिच्छु' ही यहाँ अर्थयुक्त जान पड़ता है क्योंकि दो वर्षका बालक जैसे साँप और अग्निको खेल समझकर पकड़ने जाता है वैसे ही बिच्छूको भी खेल समझकर पकड़ता है। जैसे उसे साँप और अग्नि दुःखदायी होते हैं, वैसे ही बिच्छू भी दुःखदायी होता है। फिर घरोंमें साँप तो कम निकलते हैं, बिच्छू ही अधिक निकलते हैं, यदि माता उन्हें बिच्छूसे न बचावे तो फिर दूसरा कौन बचावेगा? उसी प्रकार श्रीरामजीके भक्तोंको काम, क्रोध और लोभ तीनों दुःखदायी होते हैं, उनमें यदि काम और क्रोधसे उनकी भगवान्ने रक्षा की तो फिर लोभसे उनको दूसरा कौन बचावेगा? और भगवान्के भक्त भगवान्के इसी वाक्यपर निर्भर करते हैं कि काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंसे भगवान् उसी प्रकार हमारी रक्षा करेंगे जिसप्रकार माता बिच्छू, अग्नि और सर्पसे बालककी रक्षा करती है। अतः 'बिच्छु' पाठ ही ठीक है, क्योंकि 'बच्छ' शब्द यहाँ निरर्थक हो जाता है।

किसी-किसी अर्थकारने इस पदमें बछड़ा और गौका अर्थ किया है जो असंगत है, क्योंकि न तो बछड़ा अग्नि या सर्पको कहीं पकड़ने दौड़ता है, और न गौ ही कहीं बछड़ेको पकड़ते हुए देखी जाती है। किसी-किसी टीकाकारने 'बच्छ' शब्दका अर्थ 'लाड-प्यार' किया है और अयोध्याकाण्डका प्रमाण दिया है कि—

'बहुरि बच्छ कहि लाल कहि रघुपति रघुबर तात।'

परन्तु यह भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि यहाँपर रक्षाका प्रसंग है और 'बच्छ' शब्दके लिये 'लाड-प्यार' का प्रसंग होना चाहिये था। अतः इस प्रसंगमें 'बच्छ' शब्द निरर्थक तथा अयोध्याकाण्डके लाड-प्यारके प्रसंगमें 'बच्छ' शब्द सार्थक है।

शब्दका अर्थ स्वतन्त्र नहीं होता, बल्कि प्रसंगानुसार बदलता रहता है। 'सैन्धव' शब्दके दो अर्थ हैं—नमक और घोड़ा। परन्तु भोजनके समय यदि कोई सैन्धव माँगे तो नमक ही लाना ठीक है, उस अवसरपर घोड़ा लाना मूर्खताका द्योतक होगा। उसी प्रकार शिकारके प्रसंगमें सैन्धवकी माँग हो तो घोड़ा ही लाना होगा, नमक लाना हास्यास्पद होगा। अतः 'बच्छ' शब्दको यहाँ बिच्छूका अपभ्रंश मानकर अर्थ करें तो ठीक है वरं दूसरा अर्थ यहाँ सुसंगत हो ही नहीं सकता। दूसरे 'बिच्छु' शब्दके न होनेसे एक दोष यह आ जाता है कि रक्षा-हेतुमें त्रुटि आती है और माता अपने शिशुकी जिसप्रकार बिच्छूसे रक्षा करनेसे वञ्चित रह जाती है वैसे ही भगवान् अपने भक्तको लोभसे नहीं बचा पाते हैं।

यदि कहा जाय कि आगे चलकर तो—

'दुहुँकहँ काम क्रोध रिपु नाहीं।'

—इसप्रकार काम-क्रोध दो ही शब्दोंका प्रसंग आता है। इसका समाधान यह है कि जब

शत्रु-प्रसंग आयेगा तब काम-क्रोध दो ही शब्द लिये जायँगे और जब दुःखदायी प्रसंग आयेगा तो काम, क्रोध और लोभ तीनोंकी गिनती होगी। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी शत्रुके प्रसंगमें दोहीका प्रमाण मिलता है—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

पहले भगवान्‌ने केवल नारदकी रक्षामें माता और बालककी उपमा दी है और उसके द्वारा काम, क्रोध और लोभ तीनोंसे भक्तकी रक्षा कैसे होती है यह दिखलाकर उस प्रश्नको वहीं समाप्त कर दिया है। पश्चात् भगवान्‌ने ज्ञानका प्रसंग लाकर भक्तिकी विशेषता दिखलायी है। उस ज्ञानके प्रसंगमें काम और क्रोध दोहीका उल्लेख है, क्योंकि ज्ञानियोंके काम और क्रोध दो ही शत्रु हैं—'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी।' तथा 'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहीं।'

अतः पहले प्रसंगमें उपमाद्वारा काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंका उल्लेख हुआ है और दूसरे प्रसंगमें काम और क्रोध इन दोनोंको स्पष्टरूपसे कहा है। जब ये दोनों प्रसंग दो प्रकारके हैं तब उनका एकमें मेल कैसे किया जा सकता है। अतः समझना चाहिये कि ज्ञानके प्रसंगमें श्रीभगवान्‌ने काम और क्रोधका उल्लेख किया है और भक्तिके प्रसंगमें काम, क्रोध और लोभका; क्योंकि यहाँ भक्तकी सब प्रकारसे रक्षा करना ही उनको अभीष्ट है।

उसीके मन बसते भगवान्

काम, क्रोध, मद, लोभ छोड़ जो करता सबसे प्यार।
कभी न अपने मनमें आने देता बुरे विचार॥
जिसे रहता है सत्‌का ध्यान।
उसीके मन बसते भगवान॥

देख दुःखमें किसी जीवको तुरत दया जो करता।
इस लुभावने जगमें रह जो मायामें न विचरता॥
सदा करता हरिके गुण-गान।
उसीके मन बसते भगवान॥

अखिलेश्वरसे जिसे प्रेम है जान जन्मका सार।
और समझता है प्रपंचमय यह सारा संसार॥
हुआ है जिसे तत्त्वका ज्ञान।
उसीके मन बसते भगवान॥

जिसको राह बताते रहते उच्च कोटिके सन्त।
एक उसीकी रटसे रहता जिसके सदा 'बसन्त'॥
नहीं है जिसको कुछ अभिमान।
उसीके मन बसते भगवान॥

—बसन्तकुमार चतुर्वेदी

विवेक-वाटिका

हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे ही यह मेरी प्रकृति सचराचर जगत्‌को रचती है । इसी हेतुसे यह जगत् आवागमनके चक्रमें घूमता है । —भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

वह परमात्मा नित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन है; एक ही अनेकों प्राणियोंकी कामना पूर्ण करता है; सांख्य और योगसे प्राप्त होनेयोग्य कारणरूप इस परब्रह्मको जो जानता है, वह समस्त बन्धनोंसे छूट जाता है ।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

भगवान्‌की अनन्य भक्तिसे मनुष्य सर्व लोकोंके महेश्वर, समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, वेदोंका उत्पन्न करनेवाले परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होता है ।

—श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

पिताजी ! शासन और उपदेश करनेवाले तो एकमात्र परमात्मा विष्णु ही हैं, जो सारे संसारमें सभी प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं । उनके सिवा दूसरा कौन किसको उपदेश देकर शासित कर सकता है ।

—प्रह्लाद

❀ ❀ ❀ ❀

जिन वस्तुओंका अस्तित्व कालके द्वारा परिगणित होता है, वे सभी विनाश होनेवाली हैं । पर्वत और वन सभी ऐसे पदार्थ हैं । ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे बँधा हुआ प्राणी भी, कालके ही अन्तर्गत है । —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

मेरे सद्गुण मेरे साथ कभी बीमार नहीं पड़ते । इसी प्रकार वे मेरी कब्रमें भी मेरे साथ नहीं गड़ सकेंगे ।

—एमर्सन

❀ ❀ ❀ ❀

जो मनुष्य मानव-जीवनका मूल्य नहीं समझता, वह दुखी और साधु पुरुषोंकी सेवासे मिलनेवाले माधुर्यका अनुमान नहीं कर सकता । —अबु सुलेमान

❀ ❀ ❀ ❀

ईश्वरपर अपनी मरज़ी मत चलाओ । शारीरिक आवश्यकताओंके सम्बन्धमें ईश्वरकी इच्छाको पूर्ण होने दो । सांसारिक आवश्यकताओंमें ईश्वरकी मर्ज़ीको ही अपनी मर्ज़ी बना लो । —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

जो मनुष्य अपने सुखके लिये अहिंसक प्राणियोंको मारता है वह जीते हुए और मरनेपर कहीं भी सुख नहीं पाता । मांस प्राणियोंकी हिंसा बिना उत्पन्न नहीं होता, प्राणियोंके वधसे कभी स्वर्ग नहीं मिलता, इससे मांस नहीं खाना चाहिये । जो पुरुष किसी भी प्राणीको कैद करके अथवा मारकर दुःख पहुँचानेकी इच्छा नहीं करता, वह सबका हित चाहनेवाला मनुष्य अत्यन्त सुखको प्राप्त होता है । —मनुमहाराज

❀ ❀ ❀ ❀

चारों अवस्थाओंको व्यर्थ खो दिया, श्रीहरिका नाम नहीं लिया, जब शरीर छूट जायगा, तब यमराजके यहाँ यमकी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी । फिर पछतानेसे कुछ भी नहीं होगा । —सहजोबाई

❀ ❀ ❀ ❀

जिसने प्रेमका नियम नहीं लिया, जिसने कामको नहीं जीता और जिसने नेत्रोंसे अलखपुरुष भगवान्‌के दर्शन नहीं किये उसका जीवन व्यर्थ है । —मलूकदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

बुद्धिमान् मित्र, विद्वान् पुत्र, पतिव्रता स्त्री, दयालु मालिक, सोच-विचारकर बोलनेवाला और विचारकर काम करनेवाला, इन छः से हानि नहीं हो सकती ।

—हितोपदेश

❀ ❀ ❀ ❀

जो श्रीहरिके प्रेम-रसमें मतवाले हो रहे हैं उनका विचार बहुत गहरा है । ऐसे साधु त्रिभुवनकी सम्पत्तिको तृणके समान समझते हैं । —दयाबाई

❀ ❀ ❀ ❀



ईश्वर-परमतत्त्व

(लेखक—ज्यो० प० श्रीशिवप्रसादजी द्विवेदी)

शिव शमलशातन शमनशासन शाश्वत
शशाङ्ककृतशेखर शरधिभूतरत्नाकर ।
शरीकृतहरिर्गिरीकृतधनु स्थिरीभूतपाद्
धरीकृतरथोद्धत सपदि पातु विश्वम्भर ॥

'ईश्वर' शब्द समस्त भूमण्डलमें इतना व्यापक है कि भिन्न-भिन्न भाषाओंके पर्याय-शब्दोंद्वारा प्रत्येक सभ्य मनुष्य अपने जीवनमें हजारों बार ईश्वर-शब्दका प्रयोग करता है । सभ्य मनुष्य-समाजमें जितने भिन्न-भिन्न धर्म प्रचलित हैं उन सबने किसी-न-किसी रूपमें ईश्वरको माना ही है । अनीश्वरवादी नास्तिक जनोंको भी, जिनकी संख्या सभ्य समाजमें बहुत ही अल्प है, किसी एक सर्वशक्तिमान् ईश्वरको न मानते हुए ईश्वर-शब्दका प्रयोग तो अनेकों बार करना ही पड़ता है । ऐसे व्यापक 'ईश्वर' शब्दसे ज्ञेय जो कोई सर्वशक्तिमान् परम पदार्थ है उसका स्वरूप भिन्न भिन्न मत-मतान्तरोंमें भिन्न भिन्न प्रकारका ही माना गया है । इस लेखमें मुख्य प्रतिपाद्य विषय यही है कि भारतीय वैदिक सनातन-धर्मके सिद्धान्तानुसार 'ईश्वर' शब्दवाची परम पदार्थ वा परम तत्त्व कौन है और उसका क्या स्वरूप है ?

वैदिक सनातन-धर्ममें अनेक सम्प्रदाय एवं पृथक्-पृथक् मार्गोंद्वारा अनेक उपासनाभेद विद्यमान हैं । उन सभी सम्प्रदायों, उपासनाभेदों वा पन्थोंके मूल आचार्योंने अपने-अपने मतके प्रधानोपास्य देवको ही ईश्वर माना है और उनका ऐसा मानना उचित भी है । कहा है कि—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।

वैष्णव-समुदाय शेषशायी श्रीमन्नारायणको ही सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, जगन्नियन्ता, जगदादिकारण, परमपुरुषोत्तम परमेश्वर मानता है एवं उसी परम पुरुषोत्तम परमेश्वरके रूपान्तर श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु, श्रीराम आदिको भी परमेश्वर मानता है । शैव समुदाय इसी प्रकार श्रीसदाशिवको उक्त सम्पूर्ण लक्षणयुक्त परमेश्वर कहता है । शाक्त अर्थात् शक्ति (दुर्गा) के उपासक जन आदि-शक्ति पराम्बाको ही उक्त समस्त लक्षणमयी साक्षात् परमेश्वरस्वरूपिणी वर्णन करते हैं । इसी प्रकार सौर, गाणपत्य आदि अन्य जनसमुदाय भी अपने-अपने प्रधान उपास्य देवोंको परमेश्वर मानते हैं । केवल मानते हैं इतना ही नहीं किन्तु श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्रादि शास्त्रोंमें भी जहाँ-जहाँ विष्णु, शिव, सूर्य, अग्नि, दुर्गा आदि प्रधान देवताओंकी स्तुति है वहाँ इनमेंसे प्रत्येकको परब्रह्मका स्वरूप ही वर्णन किया गया है । यथा श्रीमन्नारायणके विषयमें—

नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् । निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित् । इत्यादि (नारायणाथर्वोपनिषद्)

श्रीसदाशिवके विषयमें—

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्माशिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ॥ (श्रुति)

तथा—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥
(कैवल्योपनिषद्)

श्रीदुर्गाके सम्बन्धमें—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्य-
हमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्म्य-
हमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ॥

अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम्।
विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि॥

अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये ३ यजमानाय सुन्वते। अहं राष्ट्रीसंगमनीवसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति।

(वेदोक्त देवीसूक्त)

तथा—

त्वमेका विश्वस्मिन्नूमणमनसाद्वैतमकरो-
स्ततस्त्वं जज्ञे जगदिदमहङ्कारसहितम्।
मनस्तेनारब्धं सकलमपि दृग्दृश्यमसृजत्
तदेवं लोकेस्मिन्किमपि न विलोके त्वदितरम्॥

(श्रीत्रिपुरसुन्दरीस्तवराज)

श्रीगणपतिके विषयमें—

त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्त्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि॥ (श्रीगणेशोपनिषद्)

श्रीसूर्यनारायणके विषयमें—

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा नमस्त आदित्य। त्वमेव प्रत्यक्षं कर्म कर्तासि।……आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद् भूमिर्जायते। आदित्यादापो जायन्ते। आदित्याज्ज्योतिर्जायते। आदित्याद्व्योमदिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्याद्वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति। असावादित्यो ब्रह्म। (सूर्योपनिषद्)

इसी प्रकार श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि अनेक देवोंकी स्तुतियाँ वेदोंमें हैं। पुराण, मन्त्रशास्त्र, स्तोत्रादिमें तो सब देवताओंकी इसी अभिप्रायकी स्तुतियाँ सैकड़ों भरी पड़ी हैं।

यहाँ यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्रत्येक सम्प्रदायका अपने-अपने उपास्य देवोंको ही परमेश्वर मानना यथार्थ वा वास्तविक सत्य नहीं है। श्रीमन्नारायण, श्रीसदाशिव, श्रीपराशक्ति आदि सब ही उपास्यदेव साक्षात् परमेश्वर-हीके स्वरूप हैं, और सर्व शक्तिमत्त्वादि परमेश्वरके सम्पूर्ण लक्षणोंसे सम्पन्न भी हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इतना अवश्य है कि उपासनामार्ग साकारमूलक होनेसे अपनी-अपनी रुचि और सम्प्रदायके अनुसार अनन्य-भक्तिका साधनरूप साक्षात् परमेश्वर परम तत्त्वका सगुण आकार तत्तत्सम्प्रदायानुवर्ती समुदाय मानता है एवं तत्तत्सम्प्रदायके मूल ग्रन्थ भी अपने-अपने उपास्य देवको साक्षात् परमेश्वर ही वर्णन करते हैं।

अब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उपनिषदादि वेदान्तशास्त्रप्रधानप्रतिपाद्य जगदादिकारण, सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, निराकार, निरवयव, निरीह, निष्क्रिय, अनाद्यनन्त, परमात्मा, परब्रह्म क्या परमेश्वर नहीं है? परमेश्वर परमतत्त्व क्या परब्रह्मसे कोई भिन्न पदार्थ है? अथवा भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोक्त साकार परमेश्वर क्या परब्रह्मसे पृथक् कोई परमपदार्थ है? इसप्रकार क्या अनेक परमेश्वर हैं? इत्यादि प्रश्न उठते हैं, परन्तु ऐसे प्रश्न हो ही नहीं सकते, क्योंकि परमेश्वर एक ही है, ऐसा तो सब ही मत-मतान्तरोंमें निःसंशय सिद्धान्त माना गया है। तथापि उक्त सन्देहोंको दूर करनेके लिये इस बातका विवेचन होना आवश्यक है कि वास्तवमें परमेश्वर वा ईश्वरवाची परमपदार्थ वा परमतत्त्व कौन है, जिसको भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें अपनी-अपनी रुचि और भक्तिके अनुसार साकार परमेश्वर माना है, साथ ही जो सच्चिदानन्द निराकार परब्रह्मका अभिन्न स्वरूप भी है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक स्थलोंमें श्रीभगवान्‌के अनेक वाक्य ऐसे हैं जिनमें प्रत्यक्षरूपसे उस ईश्वर-परमतत्त्वका निर्देश किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपनेको भी उसी ईश्वर-परमतत्त्वका अभिन्न साकार दिव्य स्वरूप बतलाते हैं। केवल बतलाते ही नहीं हैं किन्तु विराट्-रूपका दर्शन अर्जुनको कराकर और फिर अपना वही चतुर्भुज रूप दिखलाकर अपने और विराट्रूप ईश्वर-परमतत्त्वके अभेदको प्रत्यक्ष भी सिद्ध कर दिखलाते हैं। गीतामें स्थान-स्थानपर श्रीभगवान् 'अहं' शब्दका प्रयोग करके अपनेको ही साक्षात् परमेश्वर, परमात्मा बतलाते हुए 'तत्' शब्दके प्रयोगद्वारा उस अनिर्वचनीय ईश्वर-परमतत्त्वका निर्देश भी साथ-ही-साथ अनेक स्थानोंपर करते हैं। यथा—'अहं' शब्दका प्रयुक्त वाक्य—

'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥'
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७। ६-७)

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥
(गीता ७ । २४)

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(गीता १५ । १८)

इत्यादि वाक्योंमें श्रीभगवान् अपनेको परमेश्वर बतलाते हुए साथ ही अपने परमरूप ईश्वर-परमतत्त्वका संकेत भी कर रहे हैं। इन वाक्योंका भाव यही है कि मैं ही जगत्का सृष्टि, स्थिति, संहारकर्त्ता परमेश्वर हूँ, परन्तु मेरे उस अनिर्वचनीय परमतत्त्व-स्वरूपको न जानकर मुझको अज्ञानी लोग मनुष्याकार समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं। जिन वाक्योंद्वारा श्रीभगवान् प्रत्यक्षरूपसे 'तत्' शब्दका प्रयोग करके उस ईश्वर-परम-तत्त्वका निर्देश करते हैं वे वाक्य इसप्रकार हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥
(गीता १८ । ६१-६२)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
(गीता १५ । १७)

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
(गीता ८ । ३)

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
(गीता ८ । ४)

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥
(गीता ८ । २२)

उक्त वाक्योंका भाव यही है कि ईश्वर ही सब संसार-को चलाता है, उस ईश्वरकी ही शरण जानेसे परम शान्ति एवं मोक्षकी प्राप्ति होगी। जिसको परमात्मा कहते हैं वही समस्त जगत्का पालन करता है। परमात्माका आधि दैविक स्वरूप ही परमपुरुष है और अध्यात्मस्वरूप परब्रह्म है। एवं आधिभौतिक (विराट्) स्वरूप जगत् है। इस वाक्यसे स्पष्ट है कि उस एक ही आदिकारण भूत परमात्माके परब्रह्म, परमपुरुष और विराट् ये तीन स्वरूप हैं। इसप्रकार 'तत्' शब्दसे श्रीभगवान्के मुखसे ही परमेश्वरवाची जिस परमतत्त्वका निर्देश किया गया है उसी परमतत्त्वके वास्तविक स्वरूपका विवेचन यहाँ करना है।

सभी शास्त्रोंमें जगदादिकारण, सच्चिदानन्दस्वरूप, अनाद्यनन्त, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, निराकार, निष्क्रिय परब्रह्ममें और जगन्नियन्ता सृष्टि, स्थिति, प्रलयकारक परम पुरुषोत्तम परमेश्वरमें कोई भी भेद नहीं माना है। दोनोंको एक ही पदार्थ कहा है और है भी ऐसा ही। क्योंकि 'एकमेवाद्वितीय' ब्रह्मके सिवा दूसरा पदार्थ आवेगा ही कहाँसे। परन्तु अतिसूक्ष्म विचार तथा मनन करनेसे ऐसा अवश्य प्रतीत होता है कि परब्रह्म और परमेश्वर एक होते हुए भी अवस्थाभेदमें वही दो नामसे निर्दिष्ट किये जाते हैं। अतः परब्रह्म और परमेश्वरके इस अवस्थाभेदका विवेचन करनेसे ही ईश्वरवाची परम तत्त्वके वास्तविक स्वरूपका निर्णय हो सकता है।

ईश्वरतत्त्वके विवेचनके लिये प्रथम सृष्टिक्रमका कुछ परिचय होना आवश्यक है। शास्त्रोंमें सृष्टिक्रम इस प्रकारसे वर्णन किया गया है कि प्राकृत प्रलयके पश्चात् जगदादिकारण, निर्गुण, निर्विशेष, निष्क्रिय, निराकार, अनन्त परब्रह्मके नियमित बहुत कालपर्यन्त कारणावस्थामें ही स्थित रहनेपर और पुनः काल नियमानुसार सृष्टि काल आनेपर, 'एकोऽहं बहु स्याम्' अर्थात् मैं जो एक हूँ सो अब बहुत रूप हो जाऊँ, इसप्रकारकी सिसृक्षा (सृष्टि करनेकी इच्छा) प्रकट होती है। एवं उसी सृज्य शक्ति (सृष्टि करनेकी इच्छा-शक्ति) की स्वयं प्रेरणासे सृष्टिक्रमका आरम्भ होता है। जैसा कि विष्णुपुराणमें लिखा है—

करोत्येवंविधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः ।
सिसृक्षाशक्तियुक्तोऽसौ सृज्यशक्तिप्रचोदितः ॥

आगे लिखा है कि परब्रह्ममें स्वयं सिसृक्षा उत्पन्न होनेपर परब्रह्ममेंसे ही प्रकृतिका आविर्भाव होता है। समस्त भौतिक जगत्की आदिकारणभूता परमब्रह्म

स्वरूपिणी इसी प्रकृति वा महामायासे त्रिविध अहङ्कार उत्पन्न होता है—अर्थात् सात्त्विकाहंकार, राजसाहंकार और तामसाहंकार। सात्त्विक अहंकारसे मन और इन्द्रियाधिष्ठातृ-देवता उत्पन्न होते हैं, राजस अहंकारसे दस इन्द्रियाँ और तामस अहंकारसे आकाशादि पञ्चमहाभूत (पञ्चतत्त्व) और उनके शब्द-स्पर्शरूप रस, गन्धादि गुण उत्पन्न होकर उनसे समस्त स्थिर जगत्का तथा समस्त प्राणियोंके शरीरोंका प्रादुर्भाव होता है। फिर सिसृक्षायुक्त सविशेष परब्रह्म परमेश्वरके और महामाया प्रकृतिके संयोगसे समष्टिजीवरूपा चैतन्यस्वरूप चिच्छक्ति (चैतन्यशक्ति) उत्पन्न होती है, जिसमें अनन्त जीवोंके पूर्व सृष्टिके कर्म-बीज कारणावस्थामें स्थित रहते हैं, उन्हीं कर्म-बीजोंके अनुसार ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्त अनन्त प्रकारके अनन्त जीवोंकी सृष्टि परब्रह्मकी सत् और चित् शक्तियोंके संयोगसे होती है। जैसा कि श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

इसप्रकार स्थावर-जंगम समस्त संसारकी उत्पत्तिका क्रम शास्त्रोंमें कहा है। पुनः जब प्राकृत प्रलयका समय आता है तब सृष्टिके विलोम-क्रमसे सम्पूर्ण जगत्का लय परब्रह्ममें हो जाता है। चार प्रकारके प्रलयोंमें प्राकृत प्रलयका लक्षण कूर्मपुराणमें यह लिखा है कि—

महदाद्यं विशेषान्तं यदा संयाति संक्षयम्।
प्राकृतः प्रतिसर्गोऽयं प्रोच्यते कालचिन्तकैः॥

प्राकृत प्रलयके पश्चात् पुनः नियमित सृष्टिकाल आनेपर जगदादिकारण परब्रह्ममें स्वयं सिसृक्षा उत्पन्न होती है, ऐसा पहले लिखा जा चुका है। निरीह परब्रह्मकी यह इच्छा अस्मदादि जीवोंकी सकाम इच्छाके सदृश नहीं है किन्तु महाकालस्वरूप परब्रह्मकी प्रेरणासे अर्थात् नियमित कालके पश्चात् जब सृष्टिका नियत काल उपस्थित होता है उस समय प्रकृति-नियमसे ही परब्रह्ममें स्वयं सृष्टि करनेकी इच्छा वा प्रेरणा होती है। काल भी परब्रह्मका ही स्वरूप है अतः परब्रह्म अपने नियमसे आप ही नियमित हैं। अतएव परब्रह्मकी स्वनियमित यह प्रेरणारूप इच्छा जीवोंकी सकाम भोगेच्छाके सदृश कदापि नहीं है इसीलिये परब्रह्म निरीह कहे जाते हैं।

परब्रह्ममें सिसृक्षा उत्पन्न होनेपर आदिमें प्रकृति और पुरुष दो रूप होते हैं और ये दो रूप भी उस अनन्त परब्रह्मके एक अंशमात्रसे ही उत्पन्न होते हैं। अवशिष्ट अनन्त अप्रमेय परब्रह्म तो उस ही कारणावस्थामें स्थित रहता है। प्रकृति और पुरुषसे पूर्वोक्त क्रमसे समस्त जड़-चेतन जगत्की सृष्टि होती है। श्रीभगवान्ने अर्जुनको अपनी विभूतियाँ कहते-कहते अन्तमें इसी बातको कहा है कि—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०।४२)

प्रकृति, पुरुष एवं जड़, चेतनके संयोगसे यह संसार उत्पन्न हुआ है जिसका सञ्चालन, तथा नियन्त्रण परमचैतन्यस्वरूप परमपुरुषोत्तम परमेश्वर स्वयं ही करते हैं। क्योंकि समस्त जीव अपने-अपने कर्मानुसार योनियोंमें प्रविष्ट होकर कर्मानुसार ही भोग भोगते और मनुष्ययोनिमें आकर पुनः कर्म करते हैं, परन्तु कर्मके जड़ होनेसे वह कर्म स्वयं जीवोंको फल देनेमें अशक्त है, अतः अनन्त जीवोंको स्वकर्मानुसार फल देनेकी व्यवस्था परमेश्वरकी स्थिति शक्तिद्वारा स्वयं होती है। परमचैतन्यस्वरूप परमेश्वर साक्षीरूपसे निर्लेप होकर स्थित रहता है।

अब विचारणीय यह है कि वह जगन्नियन्ता परमेश्वर किस स्वरूपमें अवस्थित है। यह विषय वेदोक्त पुरुषसूक्तके आदिके पाँच मन्त्रोंमें स्पष्टतया प्रतिपादित किया है। यथा—

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥
(पुरु० ३)

अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् इस परमपुरुषकी ही महिमा वा विशेष विभूति है। और वह परब्रह्म इस सम्पूर्ण जगत्से बहुत ही अधिक बड़ा है। यह सम्पूर्ण जगत् उस परब्रह्मका एक अंशमात्र है, तीन अंश अर्थात् इससे बहुत ही अधिक प्रमाणमें वह अविनाशी परब्रह्म

इस विवेचनसे यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि गीतामें जो भगवान्‌ने स्वयं अपने और 'तत्' शब्द निर्दिष्ट परमेश्वरके अभेदबोधक वाक्य कहे हैं उनमें कोई भी शंकावसर नहीं है। एवं स्व-स्व सम्प्रदायोक्त सब उपास्य-देव उपासनार्थ उस ईश्वर-परमतत्त्वके ही निजस्वरूप हैं। तथा सच्चिदानन्दादि अनेक विशेषणयुक्त परब्रह्म ही जगत्-सृष्टि-स्थिति-संहारके निमित्त सविशेष स्वरूपात्मक होनेसे ईश्वर-शब्दवाची परमतत्त्व है और वही उपासना-निमित्त श्रीकृष्णादि साकारस्वरूपमें भी अवतीर्ण होता है, अतएव यही ईश्वर-परमतत्त्वका सर्वसम्मत निर्णय है।

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

ईश्वर

(लेखक—साहित्यरत्न श्रीश्यामनारायणजी पाण्डेय 'श्याम')

आया तेरे द्वार हृदयका—
ले करके उपहार।
चाहे तू इसको ठुकरा दे—
या कर ले स्वीकार॥

मेरे करुणामय क्रन्दनको—
करुण स्वरोंमें गा दे।
लाया हूँ आँसूका गजरा—
ले ले या बिखरा दे॥

भूल गया मेरा पागल तम-
के उलझे अलकोंमें।
छिपी हुई है मेरी दुनिया—
तेरी मृदु पलकोंमें॥

धधक रहा है हृदय-भवन—
दुखियाकी आग बुझा दे।
मेरे मुकुलित नयन खोल—
जीवनकी राह सुझा दे॥

ऐ शून्य गगनके शून्य देव,
ऐ ज्योति जगानेवाले!
ऐ अन्तिम परिणाम, विश्वके—
चरण पराग बना ले॥

पिन्हा रहा हूँ मंजु गलेमें,
प्रेम-कुसुमका हार।
बहता है यदि दीन अश्रुमें,
तो कर ले स्वीकार॥

श्रीकृष्ण और विदेशी विद्वान्

(लेखक—पं० श्रीझाबरमल्लजी शर्मा)



हिन्दू-जातिके विश्वास और आर्ष-ग्रन्थोंकी प्रमाण-परम्पराके विचारसे 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' थे। किन्तु अन्दाजबहादुर विदेशी इतिहासज्ञों और उनके अन्ध-मतानुयायी इहदेशी विद्वानोंकी धारणा ऐसी नहीं है। स्वनामख्यात मैक्समूलर, सेक्स, वेबर ग्रीयर्सन, लाटिशनर, हापकिन्स, केनेडी आदि विदेशी और भण्डारकर, दत्त तथा शील प्रभृति देशी प्रत्नतत्त्वविदोंके मत इस सम्बन्धमें बड़े ही कौतूहलजनक हैं। किसीकी रायमें श्रीकृष्णकी कहानी कोरी गढ़न्त है और ईसा या क्राइस्टके चरितके आधारपर उसकी कल्पना कर ली गयी है। वास्तवमें कृष्ण कोई हुआ ही नहीं। किसीका कथन है कि श्रीकृष्णकी पहले कभी देवतारूपसे पूजा नहीं हुई। मुसलमानोंका भारतपर आक्रमण होनेके पश्चात् वे देवरूपसे पूजे जाने लगे हैं, यहाँतक कि जयदेव कविसे पहले—बारहवीं शताब्दीके पूर्व श्रीकृष्णके 'ईश्वर' समझे जानेका कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। महाकवि कालिदास आदिके समय तथा बौद्ध-ग्रन्थोंके रचना-कालमें भी श्रीकृष्णके सम्बन्धमें कोई विशेष नहीं जानता था। क्राइस्टके चरितके आधारपर श्रीकृष्ण-चरितकी कल्पना कर डालनेवाली सूझ कितनी विचित्र है, इसका नमूना देखिये—

'क्राइस्ट और कृष्ण-नाम मिलते-जुलते हैं। ईसा और कृष्ण दोनों ही राजकुलोंमें पैदा हुए। कंसके डरसे वसुदेवने कृष्णको गोकुल पहुँचाया और हेरेडके भयसे जोसेफ और मेरी ईसाको लेकर मिश्रको भाग गये। कृष्णका बचपनमें गोप-गृहमें लालन-पालन हुआ और ईसाने गडरियेके घरमें जन्म ग्रहण किया। कृष्णको मार डालनेके लिये कंसकी आज्ञासे अनेक शिशु मारे गये और ईसाके प्राणनाशके लिये हेरेडके हुक्मसे इतनी बाल-हत्या हुई कि जिसकी भयानक कहानीको अबतक भी स्मरण करके लोग दहल जाते हैं। पूर्व-देशसे आये हुए पण्डितोंसे हेरेडने जाना कि ईसाका जन्म हो गया। उसे यह डर हुआ कि ईसा सिंहासन छुड़ा लेगा। उधर आकाशवाणीद्वारा कंसने जाना कि तुझे सिंहासनच्युत और नष्ट करनेके लिये देवकीके गर्भसे बालक पैदा होगा। ईसाने बालकपनमें अपने तर्कसे यहूदी पण्डितोंको हराया और कृष्णने बारह वर्षकी अवस्थामें अपने मामा कंसको केशाकर्षण कर मार डाला। बुद्धिमान् और सुनिपुण व्यक्तियोंके बालकसे तर्कमें हार जानेकी घटना मामाको बाल नोचकर मार डालनेके रूपकमें परिणत हो गयी। ईसाके बारह शिष्य थे और कृष्णके अनुचरोंकी संख्या पाँच थी। ईसाके प्रिय शिष्य सदा पास रहते थे, इसी तरह अर्जुन भी श्रीकृष्णके बहुत ही अनुगत थे। युधिष्ठिर और साइमन पिटर दोनों ही धार्मिक हैं किन्तु दोनोंने ही मिथ्या भाषण किया था। साइमन पिटर अपनी इच्छासे झूठ बोला और युधिष्ठिर श्रीकृष्णके चक्रमें फँसकर। दोनोंको ही इसके लिये नरक देखना पड़ा। ईश्वरने किसीको भी पाप-कर्ममें नियुक्त नहीं किया। हिन्दू-धर्ममें इसप्रकार निकृष्ट बातोंका जो उल्लेख है, इसका कारण यह है कि मूल-धर्मपुस्तकसे रूपान्तरित करनेमें यह विकृति आ गयी है। गोकुल-यात्राके समय ईश्वर-महिमासे यमुनाका जल इतना कम हो गया कि वसुदेव अनायास पार हो गये। बाइबलमें लिखा है कि लोहित-समुद्र और जर्डनका जल भी इसी तरह सूख गया। रोमन कैथेलिकोंकी पूजा-पद्धतिसे हिन्दुओंके पूजा-प्रकारका बहुत कुछ सादृश्य है। धूप, घण्टा, घड़ावल आदि दोनों ही सम्प्रदाय काममें लाते हैं। अपने जीवनकी अन्तिम दशामें क्राइस्टने अनेक कष्ट और अपमान सहन करके क्रुशसे प्राणत्याग किया और कृष्ण भी व्याधके बाणसे मृत्युको प्राप्त हुए। मृत्युसे पहले ही अपने वंशका ध्वंस उन्होंने देख लिया। भाषा-भेदके कारण ही 'क्राइस्ट' शब्द कृष्ण हो गया है।' यह डाक्टर सेक्सकी समझका निचोड़ है।

वेबर साहबकी राय है कि 'बालकृष्णकी उपासना ईसाई-धर्मानुवर्तिनी है। महाभारतोक्त शान्तिपर्वके नारायणी पर्वाध्यायमें लिखा है कि महर्षि नारद श्वेतद्वीपसे आदिदेवके दर्शन करनेके साथ ही धर्मका तत्त्व हृदयङ्गम कर आये थे। भागवत और नारदपाञ्चरात्रमें जिस भक्ति-भावकी कथा लिखी है किंवा जो भगवत्तत्त्व विघृत

हुआ है, महर्षि नारद उसे श्वेतद्वीप* आदिस्थानसे संग्रह कर लाये थे।'

डाक्टर शील तो और भी दूरकी कौड़ी लाये हैं। आपका कहना है कि 'इसमें कोई सन्देह नहीं ईसाको ही नारायणके अवताररूपसे कल्पित कर लिया गया है और भारतीय वैष्णवगण मिश्र अथवा एशिया माइनरके उपकुलसे वैष्णव-धर्मका बीज इस देशमें लाये हैं। पुण्डरीकाक्ष, विश्वभावन, हृषीकेश, महापुरुष, पूर्वज प्रभृति जो नारायणके विशेषण हैं उनके द्वारा भी ईसाके भावत्रयकी उपासनाका ही बोध होता है।'

डाक्टर भाण्डारकरका मत है कि आभीर विदेशसे यानी एशिया माइनर प्रभृति ईसाई-धर्मके केन्द्र-स्थानोंसे इस देशमें आकर बस गये हैं। वे अस्थायी-भावसे जगह-जगह आते-जाते थे। अन्तमें वे भारतवर्षके ही एक प्रान्तमें बस गये। ईसाकी तीसरी शताब्दीके अन्तमें वे बड़े शक्तिशाली हो उठे थे। बाल-गोपालकी उपासना उनके द्वारा ही प्रचलित हुई। श्रीकृष्णका गोप-कुलमें लालन-पालन हुआ था, इस बातका प्रचार आभीरोंसे ही हुआ। शकोंके द्वारा ईसाई-धर्म इस देशमें आया और उसके द्वारा ही क्राइस्ट कृष्णमूर्तिमें प्रकट हुए †।

ऐसे-ऐसे विचित्र विचार-परिपूर्ण इतिहास हमारे अंग्रेजी-सर्वस्व शिक्षित-समुदायके स्वाध्याय और अनुशीलनकी सामग्री हैं। क्या ये विचार भारतीय आर्य-संस्कृतिके विरुद्ध नहीं हैं? क्या यह वह विष नहीं है कि जिसने अस्थि-मज्जागत होकर हमारे अंगरेजी शिक्षितोंको संज्ञाशून्य—स्वधर्म-विमुख—बना दिया? ऐसे ही विचारोंने उनके हृदयोंसे स्वधर्मनिष्ठाके साथ-साथ कृष्ण-भक्तिकी जड़ें हिला दी हैं।

इस अकल्याणकर भावके प्रतिकारका एकमात्र उपाय यही है कि हमारी धर्म-भाषा—देववाणीके साङ्गोपाङ्ग अध्ययनके द्वारा उसके वाङ्मयके अटूट भण्डारकी ग्रन्थ-राशिको श्रद्धा समन्वित हृदयसे समझनेकी योग्यता प्राप्त की जाय।

वस्तुतः पश्चिमी दुनियाके विद्वानोंकी सृष्टि-कल्पना बहुत ही संकुचित है और वे ईसाके बाद ही सब बातोंको घसीटकर ला देना चाहते हैं। यही कारण है कि अपनी संकुचित समझके अनुसार कल्पनाकर उसको 'नयी ऐतिहासिक' खोजका रूप दे देते हैं और उनकी वही भ्रान्त धारणा हमारे अंग्रेजी शिक्षित विद्वानोंके लिये अकाट्य प्रमाण बन जाती है। उनकी रायमें त्रिकालदर्शी महर्षियोंके वचन अन्यथा हो सकते हैं किन्तु विदेशी विद्वानोंकी बातमें अन्तर नहीं आ सकता, महर्षि वेदव्यास—जिन्होंने महाभारत एवं श्रीमद्भागवतादि पुराणोंकी रचनाकर भगवान् श्रीकृष्णके लोकपावन चरितका वर्णन किया, कोई वस्तु नहीं; इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतपर श्रीधरी, हरिलीला, विजयध्वज, परमहंसप्रिया, मुक्ताफल, विद्वत्कामधेनु, सम्बन्धोक्ति, तत्त्वदीपिका, शुक-हृदय, सुदर्शनी, मुनिप्रकाशिका, प्रहर्षनी, यादुपती, बृहत्तोषिणी, चक्रवर्तीया, सन्दर्भ, माधवी, वामनी, एकनाथी, पुरुषोत्तमी, वीर राघवी, मधुसूदनी और चूर्णिका आदि अनेक टीकाओंके प्रणम्य टीकाकार—जो श्रीकृष्णका ईश्वरत्व प्रतिपादित कर गये हैं, जिनके निर्दिष्ट साधन-पथपर चलकर अनेक साधक जीवन्मुक्त हो गये, वे भी विश्वासके योग्य नहीं किन्तु विदेशी इतिहास-लेखक और तदनुवर्ती भारतीयोंका भ्रान्त मत आदरणीय समझा जाय, इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है?

प्राचीन टीकाकारोंकी बात भी जाने दीजिये, रामकृष्ण परमहंस तो अभी हालहीमें हो गये हैं। वे विश्वविख्यात स्वामी विवेकानन्दके आराध्य गुरुदेव थे। उन्हींकी कृपाके प्रसादसे नास्तिकप्राय नवयुवक नरेन्द्रनाथका अज्ञानान्धकार दूर हुआ और उसने विवेकानन्द नाम धारणकर पश्चिमी दुनियामें हिन्दू-धर्मका डंका बजा दिया। ब्रह्मसमाजके प्रसिद्ध वाग्मी केशवचन्द्र सेन आदि उनकी सेवामें उपस्थित होकर शान्ति पाते थे। उन परमहंसदेवके दर्शन करनेवालोंमेंसे कितने ही लोग बंगालमें अबतक जीवित हैं। परमहंस रामकृष्णजी अपनी साधनाके बलसे बहुत ऊँची कक्षाको पहुँच गये थे। उनके और ईश्वरके बीचसे भेदका पर्दा उठ गया था। वही रामकृष्ण परमहंस 'राधे गोविन्द' बोलते-बोलते गद्‌गद् ही नहीं—मूर्छित हो जाते थे। ऐसी स्थितिमें हिन्दुओंके परमाराध्य स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कविकल्पित कैसे माने जा सकते हैं? श्रीकृष्ण क्या थे, इसके लिये हिन्दू-जातिको विदेशियोंकी थोथी कल्पना-भरे इतिहास पढ़नेकी आवश्यकता नहीं—पञ्चम वेद महाभारत एवं श्रीमद्भागवतादि पुराण उसके घरकी चीजें घरमें ही विद्यमान हैं। आवश्यकता है उनका एकान्तहृदयसे मनन करनेकी।

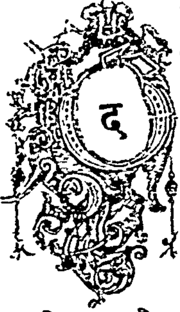
---

* ईसाई-धर्मका वह आदि-स्थान—श्वेतद्वीप, वेवर आदिके विचारसे एशिया माइनर—सीरिया वा मिश्रका एलेक्जेण्ड्रिया शहर है।

† पृथ्वीका इतिहास भाग पाँचवाँ पृष्ठ १४८—५१।

आदर्श मित्र श्रीकृष्ण-सुदामा

(लेखक—पं० श्रीगंगाविष्णुजी पाण्डेय विद्याभूषण, 'विष्णु')



दक्षिण-दिशाके विदर्भ* नामक नगरमें सुदामा नामके एक सदाचारी ब्राह्मण रहते थे। यह सम्पूर्ण शास्त्रों-के ज्ञाता, कर्मनिष्ठ, कुलीन एवं साधु-प्रकृतिके मनुष्य थे। इनके कुटुम्बमें इनकी स्त्री और चार पुत्र (किसी-किसीका मत है कि इनके कोई पुत्र नहीं था) थे। सदाचारी और सद्गुणी होते हुए भी भाग्यवश ये ऐसे दरिद्र थे कि कभी-कभी लगातार इन्हें दो-दो लंघन हो जाते थे, किन्तु यह इतने सन्तोषी भी थे कि किसीके यहाँ कभी माँगने न जाते थे, विना माँगे जो कुछ मिल जाता उसीसे अपना और अपने कुटुम्बका पालन करते थे! इनके यहाँ दूसरे दिनके लिये कभी भी अन्नका दाना नहीं वचता था। जैसा हाल अन्नका था वही वस्त्रोंका भी था। वर्षोंके फटे-पुराने वस्त्रोंसे ही दम्पति और वालकोंका कार्य चलता था। कभी-कभी तो सीते-सीते ब्राह्मणी हैरान हो जाती थी, किन्तु पुराने वस्त्र इनका पीछा नहीं छोड़ते थे। कहाँसे छोड़ें; यह न कोई व्यापार करते थे, न किसीसे माँगते थे। किसीने दे दिया तो ले लिया अन्यथा अपने चिंथड़ोंमें ही सन्तुष्ट रहते थे तथा सुख-दुःखको समान मानकर अपने धर्म-कर्ममें लगे रहते थे। जैसे ईश्वर-भक्त और साधु यह थे, सौभाग्यसे वैसी ही साध्वी इन्हें स्त्री भी मिल गयी थी। इनकी स्त्रीका नाम था सुशीला। सुशीलादेवी वास्तवमें सुशीला ही थी। तीन-तीन दिनतक भूखी रहकर भी वह प्रेमसे अपने पतिकी सेवा और वच्चोंका लालन-पालन किया करती थी। वह कभी भी पतिव्रत-धर्मसे विमुख नहीं हुई और न भोजन-वस्त्र और आभूषणोंका तक़ाजा करके उसने कभी निर्धन सुदामाजीका चित्त ही दुखाया। मिल गया तो खा लिया, नहीं तो यों ही पड़ रही और तिसपर भी सदा प्रसन्न-मुख। दोनों सदाचारकी मूर्ति थे।

एक वार ऐसा प्रसंग आया कि इस दरिद्र कुटुम्बको दो उपवास हो गये और कहीं कुछ न मिला। तीसरे दिन भूखसे व्याकुल होकर छोटे-छोटे वच्चे रोने लगे, तव तो सुशीलाका धैर्य जाता रहा और वह हाथ जोड़कर डरती हुई सुदामाजीसे वोली—'नाथ! वच्चे भूखके मारे विलविला रहे हैं, किन्तु आप उदासीन वैठे हैं, कोई प्रयत्न नहीं कर रहे हैं! यदि भिक्षासे कार्य नहीं चलता तो किसी कुटुम्वी या पड़ोसीके यहाँसे अन्नका प्रवन्ध कीजिये अथवा किसी मित्रकी शरण लीजिये। क्या आपके कोई मित्र नहीं है? अव तो उदरकी ज्वाला नहीं सही जाती। मैं अकेली होती तो चाहे जैसे दिन काट डालती किन्तु इन छोटे-छोटे वच्चोंका रोना-कलपना तो मुझसे नहीं देखा जाता। हाय! हमलोग वड़े अभागी हैं। पूर्व-जन्ममें न जाने कौन-से पाप किये हैं जिससे यह कष्ट भोग रहे हैं।'

सुदामाने हँसते हुए उत्तर दिया—'सुशीले! आज तुमने अपना धैर्य क्यों छोड़ दिया? तुम्हारा वह सन्तोष कहाँ गया? क्या भूखकी ज्वालाको तुम नहीं दवा सकती? वालक रो-धोकर आप चुप हो जायँगे। देखती नहीं हो मैं लगातार भिक्षा-को जाता हूँ किन्तु कहीं कुछ नहीं मिलता। फिर मैं क्या करूँ? पड़ोसियोंसे मैं कई वार ले

* कई जगह इनका स्थान द्रविड़-देश (जो उड़ीसाके दक्षिण-पूर्वीय सागरके किनारेसे रामेश्वरतक है) वताया है, किन्तु मदनकोषकारने गुजरात-प्रदेशमें सागरके किनारे पोरवन्दर (सुदामापुरी) इनका स्थान वताया है और यही ठीक भी जँचता है क्योंकि पोरवन्दरमें इनकी और इनकी स्त्रीकी मूर्ति अवतक विराजमान है। अतः इनका द्रविड़ ब्राह्मण न होकर गुर्जर-ब्राह्मण होना अधिक उपयुक्त मालूम होता है।

आया हूँ और कुटुम्बियोंके पास ऐसे समयमें माँगने जाना मैं उचित नहीं समझता। रह गये मित्र, सो वे इस संसारमें मेरे दो हैं—एक नारायण (श्रीकृष्ण) और एक दरिद्रनारायण। दरिद्रनारायण तो सदा मेरे यहाँ डटे ही रहते हैं और नारायण यहाँसे दूर द्वारकामें निवास करते हैं। मेरी उनकी साधारण मित्रता नहीं, बड़ी घनिष्ठ मित्रता है। मैं और वे दोनों महर्षि सान्दीपनिके यहाँ साथ-ही-साथ पढ़े और खेले हैं। मित्रताके नातेसे तो मैं इतना भाग्यवान् हूँ कि संसारमें शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो। किन्तु मैंने उनसे माँगनेके लिये मित्रता नहीं की है। कुछ लेनेके विचारसे मित्रता करना मित्रता नहीं, वञ्चकता है।'

सुशीला बोली—'प्राणनाथ! श्रीकृष्ण जिसके मित्र हों उसकी यह दशा! यह आश्चर्य नहीं तो क्या है? जब वे आपके परम मित्र और गुरुभाई हैं तो उनके पास जानेमें क्या आपत्ति है? उन्होंने तो गो-ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेहीके लिये अवतार लिया है न? आप निःसंकोच उनके पास जाइये, वहाँ जानेसे हमलोगोंका दरिद्र सदाके लिये दूर हो जायगा। गृहस्थ ब्राह्मण समझकर वे आपको अटूट धन देंगे, जिससे फिर यह रोज़-रोज़की भीखका झगड़ा मिट जायगा, वहाँ जानेसे आपको इच्छित वस्तु भी प्राप्त होगी और श्रीकृष्णसे भेंट भी हो जायगी। यह कहाँकी रीति है कि एक मित्र राज्य भोगे और दूसरा भीख माँगे?'

सन्तोष-मूर्ति सुदामाने उत्तर दिया—'प्रिये! आज तुम्हारे मनमें यह तृष्णा कहाँसे उत्पन्न हो गयी, जो बार-बार हमें द्वारका जानेके लिये कह रही हो? क्या तुम इस बातको भूल गयी कि धनके लोभमें पड़ने और माँगनेसे ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है? इतने दिन जैसे व्यतीत हुए हैं वैसे ही ईश्वर-कृपासे शेष दिन भी बीत जायँगे। निर्धन-अवस्थामें जैसा भगवद्भजन होता है, वैसा धनी होनेपर कदापि नहीं होता। तुच्छ धनके लिये मैं उनके पास जाऊँ, यह महा विडम्बना है। यदि पूर्व-जन्ममें मैंने दिया होता तो मुझे इस जन्ममें मिलता, जब दिया ही नहीं तो पानेकी आशा करना वृथा है। ऐसी दशामें मित्रके पास जाकर अपनी और उनकी हँसी कराना सर्वथा अयोग्य है। जैसा चल रहा है चलने दो, जाने-आनेका नाम छोड़ो। ब्राह्मणोंका शील और धर्म अपरिग्रहमें ही है, इसे याद रक्खो!'

सुशीला सुदामाजीके उत्तरसे बहुत दुखी हुई और सकुचाती हुई पुनः बोली—'नाथ! दासीका अपराध क्षमा कीजिये। मैं अपने लिये आपसे द्वारका जानेका इतना आग्रह नहीं कर रही हूँ, किन्तु इन नन्हें-नन्हें बालकोंका ख्याल करके कह रही हूँ। सोचिये! इनका पालन करना भी तो हमारा-आपका कर्तव्य है? यदि ये भूखके मारे मर गये तो क्या आपको इसका प्रायश्चित्त न करना होगा? यदि इसके पहले ही द्वारका जाकर आप श्रीकृष्णसे मिल लें तो क्या बुरा है? फिर मैं केवल धनके लोभसे ही आपको वहाँ भेज रही हूँ सो बात नहीं है। वहाँ जाने और उनके दर्शन करनेसे पारलौकिक एवं लौकिक दोनों कल्याण होंगे। उनके पास जानेमें क्या लज्जा है? एक तो वे आपके परम मित्र हैं और दूसरे दीनानाथ हैं। आप जाइये, अवश्य जाइये।'

सुदामाने बहुत कुछ टाल-टूल की किन्तु गृहिणी-के विशेष आग्रह करनेके कारण विवश होकर उन्हें जानेको बाध्य होना पड़ा। वह जानेके लिये तैयार तो हो गये किन्तु अब उन्हें यह फिक्र हुई कि बरसोंमें मैं मित्रके यहाँ जा रहा हूँ, यदि उनके लिये कुछ भेंट न ले जाऊँगा, तो वह क्या कहेंगे? यह सोचकर गृहिणीसे बोले—'प्रिये! शास्त्रकी आज्ञा है कि जब किसी गुरुजन या प्रियजनके यहाँ जाय तो कुछ भेंट अवश्य ले जाय, किन्तु मेरे पास तो कुछ है ही

नहीं, मैं उनके लिये क्या ले जाऊँ ? छूछे हाथ वहाँ जाना क्या अच्छा लगेगा ?' सुशीला कुछ देरतक सोचती रही और फिर बोली—'अच्छा, मैं अपनी पड़ोसिनोंसे कुछ माँगकर लाती हूँ, उसीको लेकर आप जाइये।' ऐसा कहकर * वह चार घरोंसे चार मुट्ठी चावल माँग लायी और एक सात परतके पुराने चिथड़ेमें बाँधकर पतिको देकर बोली—'लीजिये, अपने मित्र श्रीकृष्णके लिये यह भेंट, अब तो आप जायँगे ?'

सुदामाने चावलकी पोटली बड़ी सावधानीसे रख ली और फटे-पुराने वस्त्रोंको किसी प्रकार पहिनकर स्त्री-पुत्रोंसे विदा हो एक फटे बाँसकी लकुटिया लेकर नंगे पैरों द्वारकाको चल दिये। रास्तेमें मनमें नाना प्रकारके तर्क-वितर्क करते जाते थे। कभी कहते थे कि इतनी दूर द्वारकाको मैं कैसे पहुँचूँगा? पहुँच भी गया तो श्रीकृष्णके पासतक मेरी रसाई कैसे होगी ? डयोढ़ीवान मुझे भीतर कैसे जाने देंगे ? मेरा सन्देश उनको कौन पहुँचावेगा ? जब साधारण राजाओंके दरबारमें बड़े-बड़े लोग नहीं जाने पाते तो त्रिभुवनपतिके दरबारमें मुझे कौन जाने देगा ? कभी विचारते थे, साध्वी सुशीला मेरे कारण कितना कष्ट भोग रही है, मेरे साथ पाणिग्रहण करके उसने सिवा दुःखके क्या सुख पाया ? कहते हैं कि स्त्रियाँ सुखमें ही पतिकी अनुगामिनी होती हैं, दुःखके समय बहुधा विरक्त-सी हो जाती हैं और बात-बातमें पतिसे लड़ने लगती हैं, किन्तु साध्वी सुशीलाने तो मुझसे कभी एक शब्द भी जोरसे नहीं कहा। कभी कहते थे कि क्या जाने श्रीकृष्ण मुझे पहचानेंगे या नहीं ? क्योंकि जब हम दोनों छोटे थे, तब हमारी मुलाकात हुई थी और इस समय वह राजाधिराज हैं तथा मैं एक दीनातिदीन ब्राह्मण हूँ। सम्भव है पहचानकर भी वे मुझसे न मिलें या मेरा निरादर कर दें।† ऐसी अवस्थामें तो मेरा मरण ही हो जायगा। कभी सोचते थे कि मैंने बड़ी भारी भूल की जो सुशीलाकी बातोंमें आकर घरसे निकल पड़ा। अब वह झोंपड़ी भी गयी, जिसमें भिक्षान्न खाकर मैं सुखसे सोता था और द्वारका पहुँचना भी कठिन है। अब यदि लौटता हूँ तो और हँसी होगी, इससे चलना ही चाहिये, जो कुछ भाग्यमें बदा होगा, होगा। कुछ न होगा तो दूरसे ही श्रीकृष्णके दर्शन तो हो जायँगे। यह कौन कम लाभ है ! इसके लिये तो बड़े-बड़े योगी सतत प्रयत्न करते रहते हैं किन्तु सफल नहीं होते। जिन श्यामसुन्दरका मैं सतत स्मरण करता हूँ, जिनके साथ पढ़ा और खेला हूँ, वह मुझे न पहचानें या पहचानकर न मिलें, यह कभी नहीं हो सकता। वह मुझे ही क्या सारे संसारको जानते और पहचानते हैं।

इसप्रकार विचारते एवं रास्ता तय करते हुए बड़ी कठिनतासे सुदामाजी पूछते-पूछते द्वारकाके समीप पहुँचे किन्तु अगाध समुद्र देखकर फिर इस चिन्तामें पड़ गये कि इससे पार कैसे उतरें। बड़ी देरतक इधर-उधर देखते रहे और फिर नाविकोंके पास जाकर बोले—'भाई ! हम श्रीकृष्णके मित्र हैं, पुरीमें जाना है, हमें नौकापर चढ़ा पार कर दो। धन तो हमारे पास है नहीं, थोड़े-से चावल हैं, श्रीकृष्णकी भेंटके लिये जाते हैं, यदि चाहो तो एक मुट्ठी ले लो।' 'हम श्रीकृष्णके मित्र हैं' 'एक मुट्ठी चावल' 'यदि चाहो तो ले लो' सुदामाजीकी यह सीधी-सादी बातें सुनकर नाविक पहले तो बहुत हँसे, उन्हें क्या पता कि यह ब्राह्मण जो कुछ कह रहा है अक्षरशः सत्य है और फिर हाथ जोड़कर बोले—'महाराज !

---

* अस कहि उठि बाहर गई तुरत विप्रकी नारि।
लै आई घर चारिते चावर मूठी चारि॥
(भक्तमाल)

† राजा द्रुपदने आचार्य द्रोणके साथ यही व्यवहार किया था, यद्यपि उसे द्रोणकी कृपासे ही राज्य मिला था और वह आधा राज्य देनेकी उनसे प्रतिज्ञा भी कर चुका था। (महाभारत)

'आपलोगोंकी कृपासे ही हमलोग संसार-सागरसे पार होते हैं। किरायेकी आवश्यकता नहीं है। यह नौका हमारे स्वामीकी ओरसे इसी कार्यके लिये नियत है कि जो कोई आवे, पुरीमें पहुँचा दिया जाय। आइये बैठिये, हमलोग आपको पुरीमें पहुँचा दें।'

सुदामा बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि एक मुट्ठी चावल बच गये और पोतमें बैठकर खुशी-खुशी द्वारका पहुँच गये! गाँवके रहनेवाले सुदामाने झोपड़ियोंके सिवा कभी द्वारकाके ऐसे महल स्वप्नमें भी न देखे थे। जहाँ जाते थे वहीं भौंचक-से खड़े रह जाते थे। राजसी ठाट-बाट देखकर किसीसे पूछनेकी भी हिम्मत न होती थी। चलते तो आगे थे किन्तु लौट-लौटकर बार-बार पीछे देखते जाते थे कि कोई हमें रोक तो नहीं रहा है। द्वारकाके राजमहलोंमें ब्राह्मणमात्र सर्वदा बिना रोक-टोकके जा सकते थे। किसीको उनके रोकनेका अधिकार न था। श्रीकृष्णने द्वारपालोंको आज्ञा दे रखी थी कि 'जो हमसे मिलने आवे, फौरन उसकी सूचना हमें दो, इसमें कभी उलट-फेर न हो, न कोई विमुख होकर लौटने पावे। यदि ऐसा हुआ तो तुमलोगोंको कठोर दण्ड दिया जायगा।' श्रीकृष्णकी इस ब्राह्मण-वत्सलताके कारण किसीको दरिद्र सुदामाके रोकनेका साहस न हुआ और वे कई ड्योढ़ियाँ पार करके धीरे-धीरे मुख्य ड्योढ़ीपर पहुँच गये। वहाँ खड़े होकर विचारने लगे कि 'हमारे मित्र कहाँ मिलेंगे? सिवा श्रीकृष्णके न मैं किसीको जानता हूँ और न मुझे कोई जानता है, ऐसा न हो, कि कोई रोक दे। यहाँतक जो मैं चला आया, मुझे किसीने नहीं रोका, यह इन लोगोंकी दया है। बिना जाने-बूझे यदि मैं किसी दूसरेके महलमें चला गया तो लोग मुझे मूर्ख समझकर मेरा तिरस्कार करेंगे। मेरी तो इच्छा होती है कि मैं यहाँसे लौट जाऊं किन्तु फिर खयाल करता हूँ कि यहाँतक आकर बिना श्रीकृष्णसे भेंट किये लौट जाना महा मूर्खता है। सुशीलासे जब मैं कहूँगा कि मैं श्रीकृष्णकी ड्योढ़ीतक गया और फिर लौट आया तो वह अपना सिर ठोंक लेगी। अतः मित्रसे मिलना अत्यन्त आवश्यक है और उसका यही उपाय है कि मैं द्वारपालके द्वारा अपने आनेका सन्देशा उनके पास भेजूँ। यदि उन्हें मेरा स्मरण होगा तो वे मुझसे मिलेंगे। अन्यथा मैं यहींसे लौट पड़ूँगा। बिना आज्ञा शाही महलोंमें जाना अच्छा नहीं है, ऐसा निश्चय करके चकितचित्त डरते-डरते द्वारपालसे बोले—'भैया द्वारपाल! हम श्रीकृष्णके पुराने मित्र हैं; हमारा नाम सुदामा है। जहाँ वे हों, तुम जाकर उनसे कह दो कि आपके मित्र आये हैं और आपसे मिलना चाहते हैं।'

सुदामाके ब्रह्मतेजसे प्रभावित होकर द्वारपालने उन्हें उठकर सादर प्रणाम किया और उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्ण जहाँ अपनी विभूतियोंके साथ विनोद कर रहे थे, पहुँचकर नम्रतापूर्वक उक्त सन्देश कह सुनाया। सुदामाका नाम सुनते ही—

'मेरो मीत आयो, अरी मेरो मीत आयो,
अरी मेरो मीत आयो मन भाय सुख पायो है।'

—कहते हुए प्रेमविग्रह श्रीकृष्ण रुक्मिणीके पाससे उठकर दौड़े और प्रेमके आँसुओंको बहाते हुए ड्योढ़ीपर पहुँचकर सुदामासे लिपट गये। सुदामाके बड़े-बड़े बालोंमें किरीट उलझ गया, फटे वस्त्रोंमें पीताम्बर फँस गया, तुलसीकी मालासे उलझकर मोतियोंका हार टूट गया, किन्तु कृष्ण-त्रैलोक्यनाथ श्रीकृष्णने धूलिधूसरित दरिद्रमूर्ति सुदामाको हृदयसे लगाकर बड़ी देरतक भेंट की और फिर बेंवाईवाले उनके चरणोंकी रज लेकर अपने सिरपर चढ़ायी। अखिल ब्रह्माण्ड जिनकी चरण-रज पानेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हीं जगन्नाथ कृष्णने एक दीन-हीन दरिद्र किन्तु सच्चे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणकी चरण-रज अपने सिरपर चढ़ायी। इसे कहते हैं आदर्श मित्रता! रानियोंका समूह

और सेवकोंका दल श्रीकृष्णका यह अद्भुत कार्य देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उनमेंसे कोई मुख फेरकर हँसने लगा और कोई श्रीकृष्णकी सरलताकी प्रशंसा करने लगा।

सुदामा श्रीकृष्णकी उदारता और सरलता देखकर अपनेको भूल गये तथा प्रेममें मग्न होकर बड़ी देरतक चित्रलिखित-से खड़े रहे। जब उन्हें कुछ होश हुआ तो वह जगद्वन्दनीय श्रीकृष्णके चरणोंपर गिरनेके लिये आगे बढ़े किन्तु इसके पूर्व ही श्रीकृष्णने उन्हें झटसे पकड़कर फिर हृदयसे लगा लिया और कहने लगे 'मित्र! यह क्या कर रहे हो? तुम वर्ण, अवस्था, विद्या और योग्यता आदि सभी बातोंमें मुझसे श्रेष्ठ हो, मेरे बड़े गुरुभाई और सच्चे मित्र हो। मुझे तुम्हें प्रणाम करना चाहिये न कि तुम्हें मुझे। इतनी दूरसे चलकर तुम मेरे यहाँ आये हो, यह तुम्हारी दया है अथवा मेरे पूर्व-पुण्योंका फल है। तुम्हारे सदृश सदाचारी ब्राह्मणका मित्ररूपसे संसारमें प्राप्त होना कुछ थोड़े तपका फल नहीं है। बहुत दिनोंके बाद अनायास आज तुम्हारे दर्शन हुए। कहो, घरमें सब कुशल तो है? मेरी भाभीजी तो सानन्द हैं? क्या मेरा जिक्र कभी तुमने उनसे किया है? अच्छा, आओ अब भीतर चलें, यह बातें फिर होंगी।' ऐसा कहकर सुदामाका हाथ बड़े प्रेमसे पकड़कर श्रीकृष्ण उन्हें महलमें ले आये और मणिजटित स्वर्ण-शय्यापर बैठालकर अपने पीताम्बरसे उनके पैरोंकी धूलि पोंछी, फिर सोनेके थालमें रखकर स्वयं उनके दोनों पैर धोये। चरण-जलको अपने सिरपर सींचकर रानियोंको घरमें सर्वत्र छिड़कनेकी आज्ञा दी। रुक्मिणी आदिने बहुत चाहा कि हम इनके चरण धोवें किन्तु आदर्श मित्र श्रीकृष्णने ऐसा न करने दिया। श्रीकृष्ण ज्यों-ज्यों सुदामाके पैर पकड़कर मल-मल धोते थे, त्यों-ही-त्यों वह और सिकोड़ते जाते थे। उनका यह खयाल था कि कहीं मित्रके कोमल-कोमल हाथोंको कष्ट न हो और श्रीकृष्णका यह खयाल था कि मुझे ये चरण आज बड़े भाग्यसे मिले हैं। पैर धोनेके बाद पीताम्बरके छोरसे (मामूली अँगोछेसे नहीं) उनके पैर पोंछे, शरीरमें चन्दन लगाया और उन्हें स्वच्छ एवं नवीन वस्त्र पहिनाये। भोजन तैयार हो जानेपर रुक्मिणी और सत्यभामा परोसने लगीं, सुदामाजी भोजन करने लगे और श्रीकृष्णचन्द्र बैठकर पंखा डुलाने लगे। भोजनके बाद, सत्यभामाने हाथ धुलाये, रुक्मिणीने पान-इलायची दीं और श्रीकृष्णने माला पहिनाकर उनकी आरती उतारी एवं प्रदक्षिणा की। अतिथि-सत्कारके उपरान्त श्रीकृष्ण सुदामासे आज्ञा लेकर स्वयं भोजन करने गये और सुदामाजी आराम करने लगे।

श्रीकृष्णको भोजन करके आये देखकर सुदामाजी उठ बैठे और फिर राजा और महाराजा, देव और भूदेव तथा दीनानाथ और दीनशिरोमणि, श्रीकृष्ण और सुदामा (राजा-रंकका विचार छोड़कर) दोनों एक साथ पलंगपर बैठे। रानियाँ और पटरानियाँ पंखा करने लगीं और बहुत-से कुटुम्बीजन भी आ गये। सुदामा और श्रीकृष्णको एक साथ पर्यंकपर बैठे देखकर सब स्त्रियाँ और यदुवंशी बड़े चकित हुए और आपसमें कहने लगे कि 'संसारमें इस ब्राह्मणसे बढ़कर और कोई भाग्यवान् न होगा, त्रिभुवनपतिने स्वयं इसके पैर धोये, चरणोंके काँटे निकाले, चिरकुट पहने हुए इस दीनके साथ हृदयसे हृदय मिलाकर बड़े प्रेमसे भेंट की और अब इसे अपने बराबर पर्यंकपर बैठा रक्खा है तथा बार-बार 'मित्र-मित्र' कहकर इसे बुला रहे हैं। यह दरिद्री बड़ा पुण्यशाली है। रूपवान् और धनवान्का प्रायः सभी आदर करते हैं किन्तु गरीबका कोई भी आदर नहीं करता। न जाने इस ब्राह्मणमें क्या गुण है, जो श्रीकृष्ण स्वयं इसकी इसप्रकार अपने हाथोंसे सेवा कर रहे हैं?' उन्हें यह क्या पता कि ऐसे ही सदाचारी ब्राह्मणों और दीनोंके द्वारा श्रीकृष्णको दीनदयालु, दीनानाथ, भक्तवत्सल और अशरणशरण आदि उपाधियाँ मिली हैं।

पटरानियोंमें 'सत्यभामा' बड़ी वाचाल थीं, अतः यह हँसकर कृष्णसे बोलीं 'महाराज! आप तो सदा हमलोगोंके सामने लम्बी-चौड़ी डींगें मारा करते थे किन्तु आज आपके इन मित्रको देखकर आपकी सब कलई खुल गयी। जो जैसा होता है वैसा ही उसका मित्र भी होता है। शायद ये आपके उस समयके मित्र होंगे जब आप कमली ओढ़के नन्दकी गैया चराया करते और दही-दूध चुरा-चुराकर खाया करते थे। पहले हमलोग इन बातोंको कोरे गपोड़े समझती थीं किन्तु आज विश्वास हो गया कि ये सब सत्य हैं। श्रीकृष्णने उत्तर दिया-'हाँ, राजकुमारी! तुम्हारा कहना बिलकुल सत्य है। ये मेरे लड़कपनके मित्र हैं। किन्तु हैं अभिन्न-हृदय। इनकी मित्रताका मुझे अभिमान है। तुम्हें यदि इसमें कुछ संशय हो तो जिसप्रकार चाहो, परीक्षा कर लो। सच्ची मित्रताका सम्बन्ध ऐश्वर्य और दारिद्र्यसे नहीं है, हृदयसे है। रह गयी मक्खन चुराकर खानेकी बात, सो यदि मैं लड़कपनमें मक्खन खाकर हृष्ट-पुष्ट न हुआ होता तो ऋक्ष जाम्बवान्से कैसे लड़ता? तुम्हारे पिताको मणि देकर कैसे सन्तुष्ट करता और तुम्हें कैसे पाता? तुमलोगोंको मेरे मित्र भले ही दीन-हीन दीखते हों क्योंकि तुम राजकुमारियाँ हो, किन्तु मुझे तो ये मित्ररूपमें अपने ही सदृश दिखायी देते हैं! दृष्टि ही तो है। सबकी एक-सी नहीं होती। हाँ, भला यह तो कहो, तुमने इन्हें दरिद्र कैसे मान लिया? ये धनी ही नहीं, महाधनी हैं। यह धन, जो तुम देख रही हो, एक दिन मनुष्यको छोड़कर चला जाता है, किन्तु इनके पास जो अक्षुण्ण धन है, वह चिरस्थायी है। यह मुझसे भी बड़े हैं। मैं तो राजा भी नहीं, महाराज उग्रसेनका सेवक हूँ। यह महाराजा हैं। मेरी वन्दना कुछ इने-गिने लोग करते हैं और इन्हें सारा संसार सिर झुकाता है। मेरे पास अचिर-स्थायी धन है और इनके पास चिरस्थायिनी वेद-विद्या है। मैं क्षत्रिय हूँ, यह अग्रजन्मा हैं। मैं सेवक यह सेव्य हैं। मेरे भुजदण्डों तथा अस्त्र-शस्त्रोंसे भी जो कार्य नहीं हो सकता उसे इनकी सुनृता वाणी सहजमें कर सकती है।'

सुदामाजीके मनमें यह शंका हुई कि शायद श्रीकृष्णने मुझे पहचाना नहीं, किसी दूसरेके धोखे मेरा इतना आदर-सत्कार कर रहे हैं। श्रीकृष्ण-चन्द्र इस बातको ताड़ गये और समयानुसार सुदामासे बोले--'आज बहुत दिनमें मेरी और तुम्हारी भेंट हुई है। मैं हमेशा तुम्हारी याद किया करता था। आज ईश्वरने यह साध पूरी कर दी। मित्र! तुम भी मेरी कभी याद करते थे कि नहीं? मित्र! तुम्हें स्मरण होगा कि हम दोनों महर्षि सान्दीपनिके यहाँ पढ़ते थे। गुरुजीने हमलोगोंको कृपापूर्वक जो विद्या पढ़ायी है उससे हम आजन्म उनसे उऋण नहीं हो सकते मित्र तुमने भी मुझे पढ़ने-लिखनेमें बड़ी सहायता दी थी। एक बार गुरुजी-की स्त्रीने वनसे हम दोनोंसे लकड़ी तोड़ लानेको कहा था, तब तुमने मेरे हिस्सेकी भी लकड़ियाँ तोड़ दी थीं। जब हम दोनों शिरपर लकड़ीके बोझे रखकर घर आ रहे थे तो रास्तेमें बड़े जोरसे आँधी आयी, पानी बरसने लगा और चारों ओर अन्धकार छा गया। ऐसी दशामें चलते हुए हम-लोग रास्ता भूल गये और एक महाभयङ्कर वनमें पहुँच गये थे। रात हो गयी थी। हम लोग सर्दीके मारे व्याकुल थे, अतः विवश हो एक वृक्षके नीचे पड़े थे, उस समय तुमने छोटे भाईके समान मेरी रक्षा की और खानेके लिये चने दिये थे। रातको जब हमलोग घर न पहुँचे तो गुरुजी बड़े चिन्तित हुए और हमको ढूँढ़ते हुए जंगलमें आये और हमलोगोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए तथा हम दोनोंको हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया कि तुम्हारी विद्या सफल हो। मित्र! विद्या पढ़कर मैं मथुरा चला आया और तुम अपने घर चले गये। तबसे आज भेंट हुई। दिन जाते कुछ देर नहीं लगती।'

श्रीकृष्णके मुखसे इस प्राचीन कथाको सुनकर सुदामाजीकी शंका दूर हो गयी और उन्हें विश्वास हो गया कि मुझे पहचानकर ही इन्होंने मेरा आदर-सत्कार किया है। वे मन-ही-मन अपने भाग्यको सराहते हुए गद्गद्-कण्ठसे बोले—'मित्र ! मुझे क्यों अधिक लज्जित करते हो ? आपके साथ मित्रता होना मेरी पुण्य-परम्पराका फल है। नाथ! त्रिभुवन आपकी पूजा करे और आप मुझ-जैसे अकिञ्चन ब्राह्मणको इतना आदर दें, यह आपकी असीम दया नहीं तो क्या है ? आपकी महिमाका आदि-अन्त योगी भी नहीं पाते। आपका नाम जप कर भक्त, संसार-सागरसे पार हो जाते हैं। आप इस दृश्यमान जगत्के कर्ता हैं, विश्वके आधार हैं, विश्वके स्वामी हैं, विश्वके आत्मा हैं, विश्वके रूप हैं। आपकी शक्तियोंसे ही यह ब्रह्माण्ड टिका हुआ है। आपसे ही चराचर जगत् प्रकाशित है। आप स्वयं प्रकाश हैं। आपने संसार-रक्षाके लिये शरीर धारण किया है। वेद और पुराण निरन्तर आपका चरित गाया करते हैं। आपने अनेक पापियोंको मारकर पृथ्वीका भार हलका किया है। तथा करेंगे। जो मनुष्य सच्चे मनसे आपका भजन-पूजन करते हैं वे वन्धन-मुक्त हो जाते हैं और किसी अवस्थामें उन्हें कोई कष्ट नहीं होता।

श्रीकृष्णने देखा कि सुदामाजी तो अब दूसरे मार्गकी बातें कर रहे हैं। जिस कामके लिये इनकी गृहिणीने इन्हें यहाँ भेजा है वह तो ये भूल ही जाते हैं। यह सोचकर अपनी मायामयी मृदु मुसकानसे सुदामाके ऊपर मायाका प्रकाश डालते हुए बोले, 'मित्र! अब इन बातोंको जाने दो। यह बताओ भाभीजीने मेरे लिये क्या सौगात भेजी है ? सद्-गृहिणी पुत्रतुल्य अपने देवरके लिये कुछ भी न भेजे, यह तो हो नहीं सकता ? इसलिये जो वस्तु उन्होंने मेरे लिये भेजी हो वह चुपचाप मुझे दे दो। लुकाने-छिपानेकी जरूरत नहीं है।' श्रीकृष्णकी उपहार-सम्बन्धिनी चर्चा सुनकर सुदामा बड़े लज्जित हुए। मनमें कहने लगे कि 'मैं कैसे इतने बड़े पुरुषको सब लोगोंके सामने चावलकी कनियाँ दूँ ? राजा-महाराजा जिनके यहाँ नाना प्रकारकी भेंटें लेकर उपस्थित होते हैं उन्हें मैं चार मुट्ठी चावल दूँगा तो ये देखनेवाले क्या कहेंगे ? इससे मेरी अप्रतिष्ठा भले ही न हो किन्तु इनकी तो महान् अप्रतिष्ठा होगी।' कृष्णका वैभव देखकर सुदामाको उन्हें चावल देनेका साहस न हुआ। लज्जासे उनका मुख पीला पड़ गया। वे चावलकी पोटली जो अब-तक बगलमें छिपाये थे, उसे और छिपानेका प्रयत्न करने लगे। श्रीकृष्णने इनकी चेष्टासे समझ लिया कि 'कुछ इनके पास है तो सही किन्तु ये संकोचवश दे नहीं रहे हैं। मित्रतामें कपट या संकोच अच्छा नहीं। इससे सर्वथा हानि होती है। पहले भी एक बार इन्होंने गुरुकुलमें ऐसी ग़लती की थी—जिसका परिणाम यह भोग रहे हैं और अब फिर वही ग़लती करना चाहते हैं। अबकी बार मैं इन्हें इस ग़लतीसे बचाऊँगा और अवश्य बचाऊँगा। लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णके मित्र होकर भी सुदामा दुखी हैं और भीख माँगते फिरते हैं। यह बात मेरे हृदयमें तीर-सी चुभती है। सुदामाजी यदि कभी किसीसे कहते हैं कि मैं श्रीकृष्णका मित्र हूँ, तो लोग हँसने लगते हैं। अभी-अभी सत्यभामाने भी वही ताना मारा था। इतने दिनोंतक धनी होनेकी इनकी इच्छा नहीं हुई इसीलिये मैंने भी कुछ ध्यान नहीं दिया। अब इसी निमित्त यह अपनी धर्मपत्नीके भेजे हुए मेरे यहाँ आये हैं, यद्यपि अब भी इन्हें स्वयं धनकी कुछ चाहना नहीं है किन्तु इनकी गृहिणी तो चाहती है। अतः उनका मनोरथ पूर्ण करना मेरा सर्वप्रथम कर्तव्य है।'

सुदामाके लाख छिपानेपर भी श्रीकृष्णने चकमा देकर बगलमें दबी हुई पोटली झटसे खींच ही ली, तथा धान मिले चावलोंकी एक मुट्ठी चबाते हुए

हँसकर सुदामाजीसे बोले। 'क्यों मित्र! यह बात? मेरी पूज्य भाभीने मेरे लिये जो प्रसाद भेजा उसे तुम अबतक छिपाये रहे! भाभीके भेजे हुए इन चावलोंको खाकर आज मैं जैसा तृप्त हुआ हूँ वैसा कभी नहीं हुआ। एक आदर्श गृहिणीको जो वस्तु उपहारमें भेजना चाहिये, वही मेरी भाभीने भेजी है! मित्र! मेरी यह आदत है कि मैं प्रेमसे अर्पण किये हुए एक दानेसे प्रसन्न हो जाता हूँ और बिना प्रेमके ढेरों व्यञ्जनोंसे भी नहीं प्रसन्न होता। मैं वस्तुका भूखा नहीं, प्रेमका भूखा हूँ। तुमने सुना होगा, दुर्योधनने मेरे लिये नाना प्रकारके व्यञ्जन बनवाये थे किन्तु प्रेमशून्य होनेके कारण मैं उसके यहाँ नहीं गया और विदुरके यहाँ प्रीतिपूर्वक दी हुई भाजी खाकर सन्तुष्ट हो गया था। तुम जो कुछ मेरे लिये लाये हो इसे थोड़ा मत समझो। इससे अकेला मैं क्या, सम्पूर्ण विश्व तृप्त हो सकता है। जैसा स्वाद इन चावलोंमें है वैसा स्वाद मुझे आजतक किन्हीं चावलोंमें नहीं मिला। ऐसा कहकर वे एक मुट्ठी और खा गये। पोटली खोलते कपड़ा फटे होनेके कारण कुछ चावल ज़मीनपर गिर पड़े थे, उन्हें श्रीकृष्ण खुद बीनने लगे और रानियोंको भी आज्ञा दी कि एक-एक दाना उठाकर हमें दे दो, कोई दाना पैरके नीचे न पड़े। जानती नहीं हो, ये चावल हमारे मित्रके लाये हुए हैं।' रुक्मिणीने सोचा कि दो मुट्ठी चावल खाकर इन्होंने सुदामाको अटूट सम्पत्ति दे दी, अब ये तीसरी मुट्ठी खानेवाले हैं इसलिये इन्हें रोकना चाहिये। रुक्मिणीजी श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर व्याजसे बोलीं-'प्राणनाथ! क्या हमारी जेठानीजीकी भेजी हुई सौगात अकेले ही खा जायँगे? हमलोगोंको कुछ हिस्सा न मिलेगा? आप बहुत खा चुके, अब इतने चावल हमलोगोंके लिये रहने दें।' श्रीकृष्णचन्द्र रुक्मिणीका संकेत समझ गये और उन्होंने चावल खाना बन्द कर दिया।

सुदामाजीके आनेपर श्रीकृष्णने द्वारकामें इस बातकी मुनादी करवा दी थी कि हमारे एक प्राचीन मित्र आये हुए हैं, जिन्हें उनके दर्शन करने हों या उनसे सम्भाषण करना हो वे सहर्ष श्रीकृष्णभवनमें आ सकते हैं। मुनादी सुनकर अक्सर लोग जमा हो ही जाते हैं। श्रीकृष्णभवन कुटुम्बियों और नगर-निवासियोंसे बात-की-बातमें खचाखच भर गया। किन्तु 'नाम बड़े, दर्शन थोड़े' वाली कहावतको चरितार्थ करनेवाले दुर्बल सुदामाको देखकर सब बड़े चकित हुए और आपसमें कहने लगे यही कृष्णके मित्र हैं? इन्हींके दर्शन करनेकी नगरमें आज घोषणा हुई है! इनके समान तो हमने कोई और दरिद्री देखा ही नहीं है जो इतनी दूरसे आकर श्रीकृष्णके लिये ज़राले चावल भेंटमें लाये हैं और इनसे भी बढ़कर लोभी श्रीकृष्ण हैं जो अकेले ही चावलोंको खा रहे हैं और प्रशंसाके पुल बाँध रहे हैं।' श्रीकृष्णचन्द्र इन लोगोंकी कानाफूसीका मतलब समझ गये और मुसकराकर बोले—'सज्जनो! यह आपलोगोंका सौभाग्य है जो आपको इनके दर्शन हो गये। ऐसे ब्राह्मण मिलते कहाँ हैं? यह अपने लिये नहीं बल्कि गृहस्थोंके कल्याणके लिये ही उनके यहाँ कभी-कभी पहुँच जाते हैं। आपलोग मुझे इन चावलोंको खाते हुए देखकर हँसते हैं, ठीक है। आप इनका स्वाद नहीं जान सकते।' इसप्रकार बातचीत होते-होते आधी-रात व्यतीत हो गयी तब श्रीकृष्णने सबको विदा किया और सुदामासे शयन करनेकी प्रार्थना की।

श्रीकृष्ण बड़ी देरतक सुदामाजीके पैर दबाते रहे और जब वे सो गये तो अपने पलंगपर पड़कर विचार करने लगे कि, यद्यपि सुदामाजीको स्वप्नमें भी धनकी इच्छा नहीं है, किन्तु हमारी भाभी धन और सुखभोग चाहती हैं तथा उन्होंने ही इन्हें कह-सुनकर यहाँतक भेजा है। इसलिये उनकी इच्छा पूर्ण करनी ही चाहिये। यह निश्चय करके ऋद्धि, सिद्धि और विश्वकर्माको बुलाकर उन्हें आज्ञा दी कि तुमलोग

जाकर सुदामाका महल जितनी जल्दी हो सके तैयार करके धनधान्यसे भर दो और किसीको पता न लगने पावे।' श्रीकृष्णने झोंपड़ीको महल तथा गाँव-को सुदामापुरी और ब्राह्मणीको रानी तथा उसके बालकोंको राजकुमारोंके सदृश कर दिया किन्तु सुदामाके हाथ और साथमें एक कौड़ी भी नहीं दी। जैसे आये थे वैसे ही उन्हें लौटा दिया। क्यों? इस-लिये कि एक तो यह स्वयं कुछ चाहते ही नहीं थे दूसरे ढोकर ले जाने आदिमें उनको तकलीफ होती, तीसरे जितना धन, श्रीकृष्ण सुदामाको देना चाहते थे उतना देते हुए देखकर कुटुम्बी शायद नाराज़ होते या न देने देते इसलिये उस खज़ानेसे एक पाई न देकर अपने मुख्य वैष्णवी खजानेसे ही सुदामाका घर भर दिया।*

कई दिन अतिथि-सत्कार ग्रहण करनेके बाद एक दिन नित्य-कृत्यसे निवृत्त होकर एकान्तमें सुदामाने श्रीकृष्णसे कहा—'मित्र! यहाँ आये मुझे कई दिन हो गये, अब आज्ञा दीजिये तो घर जाऊँ और कुटुम्बको सान्त्वना दूँ। श्रीकृष्णने उदास होकर उत्तर दिया—'मित्र! मैं कैसे कहूँ कि तुम जाओ, मित्रका वियोग महा कष्टप्रद होता है। इतने दिन तुम्हारे सत्संगसे बड़े आनन्दसे कटे, तुम्हारे चले जानेपर फिर वही घरकी चिन्ताएँ मुझे घेर लेंगी! मैं तो चाहता था कि अभी तुम कुछ दिन यहाँ और रहते एवं मैं तुम्हारी सेवा करता, किन्तु यदि तुम्हारी इच्छा ही है तो मैं विशेष आग्रह भी नहीं कर सकता क्योंकि मित्रकी इच्छाके विरुद्ध कार्य करना पाप है। मित्र! जाओ, भाभीसे मेरा प्रणाम कहना, बच्चों-को मेरी ओरसे प्यार करना और मुझे सर्वदा याद रखना।' इतना कहते-कहते श्रीकृष्णका गला भर आया और वे सुदामासे लिपटकर रोने लगे। सुदामाने भी उन्हींका अनुसरण किया। सुदामाको भेजनेके लिये कृष्ण उनसे बातें करते-करते बड़ी दूर तक चले आये। सुदामा यद्यपि उनसे बार-बार लौट जानेका आग्रह करते थे किन्तु वे न लौटते थे। सुदामाजीने जब देखा कि इस तरह नहीं लौटेंगे तो वहीं खड़े हो गये तब श्रीकृष्णको विवश होकर रुक जाना पड़ा। श्रीकृष्णने पुनः उनका आलिङ्गन किया और उन्हें विदा करके थोड़ी देरतक वहीं खड़े-खड़े सुदामाकी ओर देखते रहे, जब वे न दिखायी दिये तब वहाँसे बड़े दुःखसे महलकी ओर चले किन्तु फिर भी लौट-लौटकर उन्हें देखते ही जाते थे।

सुदामा श्रीकृष्णसे मिलकर मन-ही-मन 'उनकी प्रशंसा और स्मरण करते हुए वहाँसे रास्तेमें चले जाते थे और कहते थे 'देखो, कहाँ महादरिद्र मलिन वस्त्रवाला मैं और कहाँ श्रीकृष्ण, तो भी उन्होंने मुझे हृदयसे लगाकर भेंटा, स्वर्णजटित शय्यापर बैठाला, इष्टदेवके सदृश मेरी पूजा की और अवधिरहित स्नेह दिखाया। इसका बदला मैं तीन जन्ममें भी नहीं दे सकता। किन्तु जिसके लिये मेरी धर्मपत्नी-ने मुझे भेजा था वह कुछ न हुआ। श्रीकृष्णने द्रव्यके नामपर तो एक कौड़ी भी न दी। श्रीकृष्णने यह बहुत ही अच्छा किया, उन्होंने मुझे अनर्थकारी धनके संगसे बचाकर मेरा बड़ा कल्याण किया। सुशीलाके कहनेसे मैं तो धनके लिये आ ही गया था परन्तु इन्होंने मेरा बड़ा ही हित सोचा। धनसे नाना प्रकारके कुकार्य होते हैं, सुईके छेदमेंसे चाहे ऊँट भले ही निकल जाय किन्तु धनी मनुष्य कभी स्वर्ग नहीं पा सकता। निर्धन मनुष्य हरिभक्त और सुशील होता है, उसके अभिमान नहीं होता, इन्होंने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की जो मुझे धन नहीं दिया, नहीं तो मैं भी संसारके झगड़ेमें फँस जाता। मित्रका धर्म है कि मित्रको विपत्तिसे बचावे, वही श्रीकृष्णने किया

* श्रीकृष्णने बिना माँगे इतना धन सुदामाको दे दिया, किन्तु फिर भी उसे थोड़ा ही समझा और इसीलिये उन्होंने सुदामासे इसके विषयमें स्पष्ट कुछ नहीं कहा। सच है, बड़े लोग यदि किसीको कोई वस्तु देना चाहते हैं तो मुखसे नहीं कहते, चुपचाप दे देते या उसके घर भेज देते हैं।

मेरे लिये यह गरीबी बड़ी अच्छी है, इसमें ईश्वरका भजन तो होता है, मेरी बुद्धि भी ईश्वरने उस समय अच्छी कर दी जो मैंने चलते समय उनसे कुछ माँगा नहीं, नहीं तो धन तो मिलता किन्तु मैं लोभी समझा जाता । घर पहुँचकर ब्राह्मणीको किसी-न-किसी प्रकार समझा लूँगा ।'

सुदामा धीरे-धीरे अपने गाँवके नजदीक पहुँचे किन्तु वहाँका दृश्य देखकर इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। कहने लगे कि 'क्या मैं मार्ग भूलकर फिर द्वारकामें आ गया ? नहीं, वहाँ तो समुद्र था । मेरी झोंपड़ी क्या किसीने ब्राह्मणीसे छीन ली ? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता ! क्या यह दूसरा गाँव है ? नहीं, अपने गाँवके चिह्न मुझे खूब याद हैं । मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा हूँ ? नहीं, रास्ता चलते ऐसा होना असम्भव है ! क्या झोंपड़ी गिराकर इतनी जल्दी महल बन सकता है ? कभी नहीं ! फिर मेरी झोंपड़ी गयी कहाँ ? ऐसा महल तो इस गाँवमें था ही नहीं ! द्रव्यके लोभमें पड़कर मैंने अपनी झोंपड़ी भी खोयी और ब्राह्मणीसे भी हाथ धोये । श्रीकृष्ण ! क्या तुम्हारी भेंटका यही फल है कि जो कुछ था वह भी चला गया ! अच्छा, जरा इस महलकी ड्योढ़ीपर चलकर पूछूँ तो यह कौन गाँव और किसका महल है ?' डरते-डरते जाकर द्वारपालसे पूछा—'क्यों भाई ! इस गाँवका क्या नाम है और यह किसका महल है ? द्वारपालने कहा 'महाराज! इस गाँवका नाम सुदामा-पुरी और महलका नाम सुदामाभवन है। वे द्वारका-में अपने मित्र श्रीकृष्णसे मिलने गये हैं । कहिये आपका क्या नाम और क्या काम है ? मैं महलमें खबर कर दूँ ।' द्वारपालकी बातें सुनकर सुदामा और भी चकराये कि 'यह क्या ऐन्द्रजालिक बातें कर रहा है ! सम्भव है, कोई दूसरे सुदामा हों ।'

भाग्यवती सुशीलाने इनको द्वारपालसे बातें करते हुए छतपरसे देख लिया और पहचान गयी। उसने झट दासियोंको आज्ञा दी कि हमारे पतिदेवको शीघ्र भीतर बुला लाओ। दासियाँ उनके पास दौड़कर पहुँचीं और उनसे भीतर चलनेको कहा किन्तु उन्हें उनकी बातपर विश्वास न हुआ और वहीं खड़े रहे । अन्तमें सुशीला स्वयं आयी और पतिके चरणोंपर गिरकर प्रार्थना करने लगी कि 'नाथ! भौंचक-से क्या सोच रहे हैं ? भीतर चलिये ! यह महल आपका ही है ।आपके मित्र श्रीकृष्णकी कृपासे यह सम्पूर्ण सम्पत्ति हमें मिली है । आपके मित्र दानिशिरोमणि हैं, और उन्हींकी दयाका यह फल है। मैं आपकी धर्मपत्नी सुशीला हूँ, ये आपके पुत्र हैं! और ये सब दासियाँ हैं ? आप किसी प्रकारकी शङ्का न करें ।' इतनेपर भी सुदामाको विश्वास न हुआ (हो कैसे ? सुशीलाको ये दीना हीना ब्राह्मणीके रूपमें छोड़ गये थे और अब वह रानीके रूपमें थी) किन्तु ध्यानपूर्वक पुत्रों और सुशीलाको देखनेसे उन्हें निश्चय हुआ कि यही मेरी धर्मपत्नी सुशीला है । सुशीला उनका हाथ पकड़कर भीतर ले गयी, यथायोग्य भोजन कराया और अपने यहाँका यथाक्रम हाल बताकर द्वारका-यात्राका हाल उनसे पूछा।

इतना धन पाकर भी सुदामाका मन प्रसन्न न हुआ, उनको चिन्तित देखकर एक दिन सुशीलाने उनसे हाथ जोड़कर पूछा—'नाथ ! श्रीकृष्णका दिया हुआ यह धनैश्वर्य पाकर भी आप उदासीन-से दिखायी देते हैं, इसका क्या कारण है? जिस धनको पाकर लोगोंके प्रसन्नताकी सीमा नहीं रहती, उसे यथेष्ट मात्रामें पाकर आप उदासीन हो रहे हैं ।' सुदामाने उत्तर दिया—'सुशीले! यह धन नहीं, बन्धन है। इसके चक्करमें जो मनुष्य पड़ जाता है उसका संसारके जालसे छूटना अति कठिन है । भिक्षा माँगकर मैं ईश्वरका स्मरण कर सकता था किन्तु अब कर सकूँगा या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। इसीलिये मैं उदासीन हूँ। मनुष्यका जन्म केवल सांसारिक सुख-भोगके लिये नहीं है, ईश्वर-स्मरणके लिये है। बड़ी कठिन तपस्याके द्वारा यह प्राप्त होता है। मेरा तो

तुमसे भी यही कहना है कि तुम इस धनको अपना न समझकर श्रीकृष्णका ही समझो और उन्हींके नामपर दान-धर्मादिमें इसे खर्च करती रहो और कृष्णका भजन करो।' श्रीकृष्णकी कृपासे सुदामा और उनकी पतिव्रता पत्नीको कभी धनपर ममत्व नहीं हुआ और उन्होंने अपना सारा जीवन निष्काम व्यवहार करते हुए श्रीकृष्णकी भक्तिमें ही विताया और अन्तमें दोनों श्रीगोलोकधामको प्राप्त हुए।

ईश्वरके चमत्कार

(लेखक—श्रीकृष्णकन्हैयाजी)

ईश्वर स्वयं अपना आपा किसीको वतावें तो भले ही कोई जान सकता है, अन्यथा उसका जानना बड़ी टेढ़ी खीर है! संसारमें कितने ही 'ईश्वराङ्क' निकाले जायँ, कितने ही 'वेद' 'पुराण' 'कुरान' और 'वाइविल' पढ़ी जायँ, ईश्वर हाथ नहीं आता। बल्कि जितना यह प्राणी समझता जाता है कि मैं अब इस चट्टी (मंजिल) पर चढ़ गया, मैंने यह अनुभव प्राप्त कर लिया उतना ही ईश्वर आगे सरकता जाता है। ईश्वर ही चाहे कि मैं जगत्से 'निरीश्वरवाद' मिटा दूँ, तब मिट सकता है, और कोई अवलम्ब नहीं है। मेरे यह प्रेमभरे शब्द उन प्रेमियोंके लिये हैं, जो जगत्में 'ईश्वरीय प्रेम' का प्रचार करना चाह रहे हैं। इसलिये 'ईश्वर' से ही प्रार्थना करनी चाहिये कि वे ही जगत्को अपनी ईश्वरता दिखावें।

(१)

मैं वालक था। जयपुर रियासतमें लालसोट नामक एक पर्वतीय उपत्यकामें वस्ती है। हम सभी खेलनेवालोंकी अवस्था आठ-आठ, दस-दस वर्षकी होगी। हमारे अन्दरका एक लड़का शौच गया और उसने आकर ज्यों ही लोटा-डोर कुएँमें पानी भरनेके लिये पटका, झटका लगते ही वह स्वयं कुएँमें गिर पड़ा। हम सव वालक भाग गये, उसके माता-पिताको खवर हुई। सव दौड़े आये, जनताकी भीड़ लग गयी। वह 'काल्ह' लड़का वैठा-वैठा कुएँके भीतरसे आवाज़ दे रहा है—'मैं राजी-खुशी वैठा हूँ। घवड़ाओ मत, मुझे निकाल लो।'

कुआँ चालीस-पचास हाथ नीचा था। ग्रीष्म ऋतु थी। कुएँके एक भागमें कीचड़ था, एकमें चट्टान थी और एकमें तनिक-सा जल था। कुआँ पत्थरोंसे बना हुआ था। यहाँ विचार यह है कि यदि यह वालक ऊपरसे जलमें गिरता तव तो भींगता, कीचड़में गिरता तो कीचड़में धँसता और पत्थरकी चट्टानपर इतने ऊँचेसे गिरता तो चकनाचूर हो जाता। वह न भींगा, न कीचड़में धँसा, न उसके किसी भी अंगमें तनिक-सी चोट ही लगी। सव आश्चर्यमें! मैं तो वालक था। किन्तु मेरे वड़े भाई अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने अनेक प्रकारसे इस विषयकी मौकेके अनुसार छानवीन की। उस लड़केसे पूछा गया, 'भाई क्या हुआ? उसने कहा मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ कि किसीने गोदीमें भर मुझे इस चट्टानपर वैठा दिया।

यह ईश्वरीय महिमा नहीं तो और क्या है?

(२)

मुझे अकेले हिमालयके निर्जन वनोंमें भ्रमण करनेका वहुत शौक रहा है। मैं एक वार लगभग रात्रिके वारह वजे निर्जन वनमें भ्रमण कर रहा था। न वादल थे, न कुछ। यकायक विजली चमकी, मुझे अपने अगले पाँवके आगे एक अगम खोह दीखा—मैं तुरन्त पीछे हटा, यदि मेरा दूसरा कदम उठा होता तो अवश्य ही मेरी हड्डीतकका भी पता न लगता क्योंकि वह 'नाला' इतना नीचा था। तव मैंने अपने पढ़े हुए तर्क और अनीश्वरवादी ग्रन्थोंको झुठा समझा।

मैंने इस विषयपर अनेक प्रकारसे प्रकाश डाला। किन्तु हठात् मेरे हृदयमें यह भाव दृढ हो गया कि—ईश्वर अवश्य हैं और ईश्वरकी ओरसे भी इस जगत्में एक 'महकमा' ऐसा अवश्य है जो प्राणीकी गतिविधिको प्रतिक्षण निरीक्षण करता रहता है।

कहिये—किस अनीश्वरवादी के 'टार्च' ने बिजली दिखाकर ऐसे संकटके अवसरपर मेरी प्राण-रक्षा की ?

(३)

एक बार लक्ष्मणझूलासे श्रीनीलकण्ठ महादेव-की यात्रा करते समय दो रीछ 'अगल-बगल' से आ चिपटे। यकायक घबराकर मुँहसे शब्द निकला 'रक्षा करियो नीलकण्ठ बाबा' वे रीछ तुरन्त जंगल-की ओर भाग गये। सभी जानते हैं मानवकी सूरतसे रीछ कैसा चिढ़ता है और उसे कैसा नुकसान पहुँचाना जानता है, किन्तु महादेव नीलकण्ठकी कृपासे इस आपत्तिसे छुटकारा मिला। और यह भागवतका सच्चा श्लोक स्मृतिपटपर लिख गया—

आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन्।
ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम्॥

अर्थात् यकायक कोई घोर आफत ऐसी आ जाय जिससे उस समय छूटनेका कोई सहारा ही न हो, ऐसी घोर विपत्तिके समय भी प्राणी भगवान्‌का नाम लेकर उस आफतसे तुरन्त छुटकारा पा जाता है। चाहे वह नाम भगवान्‌की भक्ति या स्नेहसे उच्चारण न किया जाय, बेहोशीमें ही निकल पड़े तो भी वह उस आपत्ति-से अवश्य त्राण पाता है। इस भागवतीय श्लोकका देखिये यह कैसा ज्वलन्त उदाहरण है।

कौन कहता है कि 'ईश्वर नहीं है'।

प्रार्थना

अच्युत हरे दयामय अब तो दया दिखाओ।
कर दूर इस विपतिको आगे हमें बढ़ाओ॥ अच्युत हरे०॥
जीवन-तरी है बहती माँझी अबोध मैं हूँ।
करुणायतन कृपा कर भव पार तो लगाओ॥ अच्युत हरे०॥
रणमें तुम्हीं बने थे अर्जुनके रथके सारथि।
फिर क्यों दया न करके अब नावको चलाओ॥अच्युत हरे०॥
वीराग्रणी सुधन्वा की लाज थी बचाई।
हा! आज फिर न आकर क्यों लाजको बचाओ॥ अच्युत हरे०॥
अच्युत हरे दयामय कुछ तो दया दिखाओ।
कर दूर इस विपतिको आगे हमें बढ़ाओ॥ अच्युत हरे०॥

—देवीशङ्कर मिश्र

मोह-मुद्गर

श्रीशंकराचार्यकृत

मूढ जहीहि धनागमतृष्णां
कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृष्णाम्।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं
वित्तन्तेन विनोदय चित्तम्॥ १॥

अहे मूढ ! वैभव पानेकी तृष्णाको दे त्याग,
मन्दमते ! तू अपने मनमें कर ले पूर्ण विराग।
जो कुछ वित्त मिला है तुझको कर्मोंके अनुसार--
बस उससे ही हृदय-बीच तू कर आनन्द-प्रचार॥ १॥

का ते कान्ता कस्ते पुत्रः
संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयात-
स्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥ २॥

कौन तुम्हारी यहाँ कामिनी, कौन पुत्र, 'हे मित्र' !
सारा ही संसार अहो ! यह है अत्यन्त विचित्र !!
भला कहाँसे आया है तू, किसकी है सन्तान ?
अये बन्धु ! कर इसी तत्त्वका सदा हृदयमें ध्यान॥ २॥

मा कुरु धनजनयौवनगर्वं
हरति निमेषात् कालस्सर्वम्।
मायामयमिदमखिलं हित्वा
ब्रह्मपदं प्रविशाशु विदित्वा॥ ३॥

धन, जन, यौवनका कदापि तू कर न अरे ! अभिमान,
पलक मारते सब कुछ हर लेता है काल महान्।
शीघ्र त्यागकर मायामय यह विषय-प्रपञ्च अशेष--
ज्ञान प्राप्तकर परमब्रह्ममें कर अविलम्ब प्रवेश॥ ३॥

नलिनीदलगतजलमतितरलं
तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।
क्षणमिह सज्जनसङ्गतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका॥ ४॥

पद्म-पत्रपर पड़े हुए अति चञ्चल नीर समान,
अतिशय चपल और क्षणभंगुर इस जीवनको जान।
यहाँ एक बस क्षणभरकी सत्सङ्गतिहीका भाव--
भव-सागरसे तरनेमें बन जाता दृढतर नाव॥ ४॥

यावज्जननन्तावन्मरणं
तावज्जननीजठरे शयनम्।
इति संसारे स्फुटतरदोषः
कथमिह मानव तव सन्तोषः॥ ५॥

जबतक यहाँ जन्म होता है तबतक मृत्यु-विलास,
तबतक ही करना पड़ता है जननि-जठरमें वास।
यदि इस जगमें दीख रहा है ऐसा स्फुटतर दोष,
हे मनुष्य ! फिर होता कैसे यहाँ तुझे सन्तोष ?॥ ५॥

दिनयामिन्यौ सायम्प्रातः
शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुः
तदपि न मुञ्चत्याशावायुः॥ ६॥

दिवस और रजनीकी वेला सन्ध्या-प्रात अपार,
शिशिर-वसन्त आदि ऋतुएँ भी आतीं बारम्बार।
महाकाल क्रीडा करता है बीती जाती आयु,
हाय ! न फिर भी छोड़ रही है यह आशाकी वायु !!॥६॥

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं
दशनविहीनं जातन्तुण्डम्।
करधृतकम्पितशोभितदण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशाभाण्डम्॥ ७॥

पलित हो गये बाल शीशके गलित हुआ सब गात,
टूट गये त्यों ही क्रम-क्रमसे मुँहके सारे दाँत।
पकड़ा हुआ हाथमें कँपता कैसा फबता दण्ड ?
फिर भी नहीं छोड़ता आशा-भाण्ड, अहो पाखण्ड !!॥७॥

सुरवरमन्दिरतरुतलवासः
शय्या भूतलमजिनं वासः।
सर्वपरिग्रहभोगत्यागः
कस्य सुखन्न करोति विरागः॥ ८॥

सुर-मन्दिर-समीप या तरुके नीचे वास-स्थान,
पृथ्वीतल ही शय्या हो, मृग-चर्ममात्र परिधान।
हो जाता है जहाँ सर्वथा भोगपरिग्रह-त्याग--
किसे नहीं सुख पहुँचाता है ऐसा शुद्ध विराग !॥ ८॥

शत्रौ मित्रे पुत्रे बन्धौ
मा कुरु यत्नं विग्रहसन्धौ ।
भव समचित्तः सर्वत्र त्वं
वाञ्छस्यचिराद्यदि विष्णुत्वम् ॥ ९ ॥

पुत्र तथा बान्धव कोई हो अथवा मित्र-सपत्न—
उनमें विग्रह-सन्धि आदिका कर न कदापि प्रयत्न ।
हो जा तू सम्पूर्ण वस्तुमें ही समदर्शी सन्त—
परमेश्वरमें मिल जानेकी हो यदि चाह तुरन्त ॥ ९ ॥

अष्टकुलाचलसप्तसमुद्रा-
ब्रह्मपुरन्दरदिनकररुद्राः ।
न त्वं नाहं नायं लोक-
स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥१०॥

कुल-पर्वत ये आठ और अति विस्तृत सात समुद्र,
ब्रह्मा इन्द्र आदि सुरगण या दिनकर अथवा रुद्र—
ये सब कोई नित्य नहीं हैं तू, मैं या यह लोक ।
फिर भी यों किसलिये व्यर्थ ही किया जा रहा शोक? ॥१०॥

त्वयि मयि चान्यत्रैको विष्णु-
र्व्यर्थं कुप्यसि मय्यसहिष्णुः ।
सर्वस्मिन्नपि पश्यात्मानं
सर्वत्रोत्सृज भेदज्ञानम् ॥११॥

मुझमें, तुझमें और अन्यमें व्याप्त एक ही विष्णु,
अतः वृथा तू क्रोधित होता है मुझपर असहिष्णु ।
आत्मरूप परमेश्वरको ही सब जीवोंमें जान,
अबसे भी सर्वत्र त्याग दे भेद-भावका ज्ञान ॥११॥

बालस्तावत्क्रीडासक्त-
स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः ।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः
परमब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥१२॥

बालक है, तबतक नर रहता क्रीड़ामें आसक्त,
तरुण हुआ तब तरुणीहीमें हो जाता अनुरक्त ।
वृद्ध-अवस्थामें नाना चिन्ताओंमें है मग्न ।
हुआ नहीं उस परमब्रह्ममें कोई भी संलग्न ! ॥१२॥

अर्थमनर्थं भावय नित्यं
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् ।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः
सर्वत्रैषा कथिता नीतिः ॥१३॥

अर्थ, अनर्थोंकी ही जड़ है सदा यही तू जान ।
उससे सुखका लेश न मिलता, देख इसे सच मान ।
अपने सुतसे भी रहती है धनवानोंको भीति,
स्मरण रहे, यह सभी जगहमें कही गई है नीति ॥१३॥

यावद्वित्तोपार्जनशक्त-
स्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
तदनु च जरया जर्जरदेहे
वार्तां कोऽपि न पृच्छति गेहे ॥१४॥

जबतक धन पैदा करनेकी रहती कुछ भी शक्ति—
निज कुटुम्बकी भी तबतक ही देखी जाती भक्ति ।
तदनन्तर जब कभी जरासे जर्जर होता गात—
नहीं पूछता है तब घरमें हा ! कोई भी बात ॥१४॥

कामं क्रोधं लोभं मोहं
त्यक्त्वाऽऽत्मानम्भावय कोऽहम् ।
आत्मज्ञानविहीना मूढा-
स्ते पच्यन्ते नरकनिगूढाः ॥१५॥

अरे ! त्यागकर काम, क्रोध, लोलुपता, मोह-विकार,
'मैं हूँ कौन ?' निरन्तर यों ही कर तू आत्मविचार ।
आत्मज्ञानसे वञ्चित रह जाते जो कोई मूढ—
विविध यन्त्रणाएँ वे सहते होकर नरक-निगूढ ॥१५॥

पाण्डेय रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम'



श्रीराधा-सम्बन्धी शंकाओंका समाधान

(लेखक—सम्बन्धाभिमानी एक महापतित)

हे सीते ! जनकात्मजे ! धरणिजे ! श्रीरामध्यानान्विते ! हे ब्रह्मेशसुरादिवृन्दनमिते ! हे शोभने ! रक्ष माम् ।
हे रामे ! रघुनाथरूपरसिके ! हे रासलीलान्विते ! हे रामाङ्घ्रिरते नुतेऽखिलजनैर्जानामि न त्वां विना ॥



यबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०, साहित्यरत्नने गत वर्षके फाल्गुण मासके 'कल्याण' में अपने 'श्रीराधा' शीर्षक लेखके द्वारा कुछ शंकाएँ उठायी हैं। इन शंकाओंसे उक्त सज्जनकी सद्भावना तथा सच्चे जिज्ञासु होनेका परिचय मिलता है। भगवत्कृपाके आश्रित हो इनके समाधानका प्रयत्न किया जाता है। पहली शंका यह है-'रामावतारकी श्रीसीताजीने श्रीकृष्णावतारमें 'राधा' का रूप धारण किया या रुक्मिणीका ? सीताका ही राधारूप हो तो रुक्मिणीजी कौन थीं ?'

इसका उत्तर यह है कि सीता, राधा और रुक्मिणी तीनों ही वास्तवमें भगवान्‌की एक ही आह्लादिनी परा शक्तिके तीन रूप हैं। वह आदिशक्ति ही रामावतारमें 'श्रीसीता' हैं, श्रीकृष्णावतारके व्रजमण्डलमें 'श्रीराधा' और द्वारकामें 'श्रीरुक्मिणी' हैं। इस बातके अनेकों प्रमाण रहस्य-ग्रन्थोंमें पड़े हुए हैं, विस्तार-भयसे उनमेंसे कुछका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणके कृष्ण-जन्म-खण्डमें भगवान् श्रीकृष्णने श्रीराधाजीसे स्पष्ट कहा है कि—

यथा त्वं राधिका देवी गोलोके गोकुले तथा ।
(अ० १२६ । ९६)

अर्थात् हे राधे ! तुम समानरूपसे गोलोक और गोकुल (व्रज) में श्रीराधा हो।

त्वं सीता मिथिलायां च त्वच्छाया द्रौपदी सती ।
(१२६ । ९८)

अर्थात् हे राधे ! तुम्हीं मिथिलामें सीता हो और तुम्हारी ही छाया द्रौपदी है।

द्वारवत्यां महालक्ष्मीर्भवती रुक्मिणी सती ।
(१२६ । ९९)

अर्थात् हे राधे ! द्वारकामें तुम्हीं महालक्ष्मीरूपा रुक्मिणी हो।

रावणेन हृता त्वं च त्वं च रामस्य कामिनी ।
(१२६ । १००)

तुमको ही रावणने हरण किया था, तुम्हीं श्रीरामकी प्रिय कामिनी (सीता) हो।

यहीं अपने विषयमें भगवान् कहते हैं—

जातोऽहं कृष्णरूपश्च परिपूर्णतमः स्वयम् ।
गोलोके गोकुले रम्ये क्षेत्रे वृन्दावने वने ॥
(१२६ । ८९)

पुनः—

अहं चतुर्भुजः शश्वद् द्वारवत्यां रुक्मिणीपतिः ॥
(१२६ । ९३)

अर्थात् 'मैं ही परम रम्य गोलोक-गोकुल वृन्दावनमें परिपूर्णतम (राधाकान्त स्वयं मुरलीधर द्विभुजधारी) श्रीकृष्ण हूँ। और मैं ही द्वारकामें चतुर्भुज (वैकुण्ठनाथ-रूपसे महालक्ष्मीरूपी) रुक्मिणीका पति हूँ।'

इसके अतिरिक्त सीता, राधा और रुक्मिणी तीनोंको ही मूल-प्रकृति कहा गया है, जैसे—

१—सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ॥
(श्रीरामतापनीय उपनिषद्)

२—कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृतिरुक्मिणी ॥
(श्रीगोपालतापनीय उपनिषद्)

३—ममाधारस्वरूपा त्वं त्वयि तिष्ठामि साम्प्रतम् ।
त्वं च शक्तिसमूहा च मूलप्रकृतिरीश्वरी ॥
(ब्रह्मवैवर्त्त कृष्णजन्मखण्ड ६ । २१२)

इनमें पहले प्रमाणमें श्रीसीताजीको, दूसरेमें रुक्मिणी-जीको और तीसरेमें श्रीराधाजीको मूल-प्रकृति कहा है। तात्पर्य यह है कि ये तीनों एक ही मूल-प्रकृतिके तीन रूप हैं। इसप्रकार इन तीनोंका स्वरूपतः ऐक्य सिद्ध होता है। इसप्रकार आपकी शंकाके शब्दोंके अनुसार उत्तर यों होगा कि श्रीरामावतारकी श्रीसीताजीने श्रीकृष्णावतारमें व्रज-मण्डलमें श्रीराधाका और द्वारकामें श्रीरुक्मिणीका रूप धारण किया। यहाँतक पहली शंकाका उत्तर हुआ।

परन्तु इसपर यह शंका उठ सकती है कि श्रीरामावतारमें तो श्रीसीताजीका एक ही मिथिलेश-नन्दिनी रूप प्रकट होता है, पर श्रीकृष्णावतारमें वही श्रीराधा और श्रीरुक्मिणी दो विभिन्न स्वरूपोंको क्यों धारण करती हैं ?

इस शंकाका सम्बन्ध भगवच्चरित्रोंके रहस्य-विभागसे है, अतः इसके समझनेके लिये बहुत ही सावधानीकी आवश्यकता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

ममाप्येवं द्विधारूपं द्विभुजं च चतुर्भुजम्।
चतुर्भुजोऽहं वैकुण्ठे पद्मया पार्षदैः सह॥
गोलोके द्विभुजोऽहं च गोपीभिः सह राधया।
द्विविधं ये वदन्त्येवं द्वौ प्रधानौ तु तन्मते॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण कृष्णजन्मखण्ड अ० ४३)

अर्थात् 'मेरे भी दो रूप हैं—द्विभुज और चतुर्भुज। चतुर्भुजस्वरूपसे मैं वैकुण्ठमें लक्ष्मी और पार्षदोंके साथ रहता हूँ और द्विभुजरूपसे मैं राधा तथा गोपियोंके साथ गोलोकमें रहता हूँ। इसप्रकार जो दो रूपसे (मुझे) कथन करते हैं, उनके मतमें दोनों ही प्रधान हैं।'

वैकुण्ठे कमलाकान्तो रूपभेदाच्चतुर्भुजः।
गोलोके गोकुले राधाकान्तोऽयं द्विभुजः स्वयम्॥
(ब्रह्मवैवर्त कृष्णजन्मखण्ड अ० ९)

अर्थात् 'वैकुण्ठमें यही श्रीकृष्ण रूपभेदसे चतुर्भुज कमलाकान्त हैं और गोलोकमें गोकुलमें यह स्वयं द्विभुज राधाकान्त हैं।'

उपर्युक्त अवतरणोंमें भगवान्के चतुर्भुज और द्विभुजरूपके भेदका वर्णन करते हुए गोलोकमें द्विभुजरूपके लिये मुरलीधर नन्दनन्दनके विषयमें गोलोकस्थ व्रजविहारकी ओर ही संकेत किया गया है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थोंमें प्रसंगानुसार द्विभुजरूपके लिये गोलोकान्तर्गत श्रीसीतारामरूपके विषयमें श्रीअयोध्या या साकेतकी ओर ही संकेत किया गया है। यथा—

तन्मध्ये पुरे दिव्यं साकेतमितिसंज्ञकम्।
योषिद्रत्नं मणिस्तम्भं प्रमदागणसेवितम्॥
(सदाशिवसंहिता)

और भी—

तत्रायोध्यापुरी रम्या यत्र नारायणो हरिः।
रामरूपेण रमते सीतया परया सह॥
ऐश्वर्या सह देवेशस्तत्रासीनः परः पुमान्।
इन्दीवरदलश्याम. कोटिसूर्यप्रकाशकः॥
वामाङ्के जानकी देवी किशोरी कनकोज्ज्वला।
कैवल्यरूपिणी नित्या नित्यानन्दैकविग्रहा॥
सर्वशक्तिमयी रम्या शक्तीना शक्तिदायिनी।
जननी सर्वभूतानां योगिनामपि मोहिनी॥
पूर्णरूपेण साकेते नित्यलीला रसोत्सुका।
मया रामेण रमते क्षणविच्छेदकाक्षमा॥
साकेतकपुरद्वारसरयूकेलिकारिणी।
कोटिगन्धर्वकन्याभिरालीभिर्भाति भामिनी॥
(बृहद्ब्रह्मसंहिता पा० ३ अ० १)

अर्थात् 'वहाँ (उसी त्रिपादविभूतिमें) रम्य अयोध्यापुरी है जहाँ भगवान् नारायण 'राम' रूपसे पराशक्ति 'श्रीसीताजी' के सहित रमण करते हैं। परमेश्वरी सीताके सहित वह देवेश, परमपुरुष श्रीराम वहाँपर विराजमान हैं। वह नीलकमलके सदृश श्यामवर्ण तथा कोटि सूर्यके समान प्रकाश करनेवाले हैं। वामांकमें श्रीजानकी देवी, नित्यकिशोर अवस्थासे युक्त स्वर्णके समान उज्ज्वल गौरांगी, कैवल्यरूपिणी, नित्या, नित्यानन्दकी साक्षात् विग्रह, सर्वशक्तिमयी, परमसुन्दरी, शक्तियोंको भी शक्ति देनेवाली, सब भूतोंकी जननी, योगियोंको भी मोहित करनेवाली, नित्य लीलारससे उत्सुक पूर्णरूपसे 'साकेत' में मुझ रामके संग निवास करती हैं और क्षणमात्रके लिये भी मेरा वियोग सहन नहीं कर सकतीं। साकेतपुरीके द्वारपर केलि करनेवाली सरयू कोटि गन्धर्वकन्या तथा सखिवृन्दसे युक्त शोभायमान है।' इसप्रकार नित्य द्विभुजरूपके लिये नित्य साकेतविहारी 'श्रीसीताराम' रूपकी ओर ही संकेत किया गया है। श्रीवशिष्ठसंहिता आदिमें इसके और भी अनेक प्रमाण हैं, जिनके देखनेसे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामके नाम, रूप, लीला और धाम ये चारों परात्पर नित्य तथा सच्चिदानन्द विग्रह हैं अतएव भूमण्डलपर प्रथम पुरुष भगवान् नारायणके राम-कृष्ण दोनों ही लीलावतारोंमें श्रीरामचरित्रका अवतरण गोलोकान्तर्गत परमधाम श्रीअयोध्या या साकेतकी नित्य लीलासे होता है तथा श्रीकृष्ण-चरित्रका अवतरण गोलोकस्थ व्रजमण्डलकी नित्यलीलासे होता है। परन्तु जैसा कि तुलसीकृत रामायणमें भगवान् श्रीरामने भक्त विभीषणके प्रति अपने श्रीमुखसे कहा है—

तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥

—इन नित्य-लीलाओंका सम्बन्ध युगल नित्यकिशोर श्रीसीताराम अथवा श्रीराधाकृष्णके अनन्य ऐकान्तिक भक्तोंसे ही होता है जिनके वे सर्वस्व होते हैं। साथ ही सृष्टिके सर्वसाधारणके हितार्थ भी अवतार होते हैं। जैसे—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता)

इसीलिये राम-कृष्ण दोनों ही अवतारोंमें गोलोकस्थ साकेत तथा नित्यव्रजमण्डलकी नित्यलीलाके साथ ही शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज विष्णु भगवान् तथा उनके वैकुण्ठधामका ऐश्वर्य भी प्रकट होता रहता है। श्रीरामावतारमें यह ऐश्वर्य श्रीरामचरितके साथ एकरस मिला हुआ कभी-कभी व्यक्त हो जाता है।

जैसे—

१—अस कहि योगअगिनि तनु जारा। राम कृपा बैकुण्ठ सिधारा॥
२—भूप-रूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुजरूप दिखावा॥
३—गृध्र देह तजि धरि हरिरूपा। भूषण बहु पट-पीत अनूपा॥
श्यामगात विशाल भुज चारी। इत्यादि।

ऐसे ही श्रीकृष्णावतारमें भी है परन्तु वहाँ यह नित्य-लीला तथा वैकुण्ठधामका ऐश्वर्य श्रीकृष्ण-चरित्रके दो विभिन्न भागोंमें व्यक्त होता है। जैसे—

गोलोकश्चर्यं यत्किञ्चित् गोकुले तत्प्रतिष्ठितम्।
वैकुण्ठविभवं यत्तद्द्वारकायां प्रकाशितम्॥
(पद्मपुराण पातालखण्ड अ० ६९)

अर्थात् 'श्रीकृष्णावतारमें नित्य गोलोक-धामकी लीला-का अवतरण व्रजमण्डलमें हुआ है और वैकुण्ठका विभव द्वारकामें प्रकट हुआ है।' इसी कारण श्रीभगवान्‌की आह्लादिनी पराशक्तिको भी श्रीकृष्णावतारमें 'श्रीराधा' और 'श्रीरुक्मिणी' दो रूप धारण करने पड़े हैं। तात्पर्य यह है कि वही आदिशक्ति जो रामावतारमें श्रीसीता हैं, श्री-कृष्णावतारमें व्रजमण्डलमें श्रीराधा और द्वारकामें श्री-रुक्मिणी हुई हैं। यहाँतक पहली शङ्काका समाधान हुआ।

अब दूसरी शङ्का यह है कि, कल्याणके श्रीकृष्णांक-परिशिष्टांकमें श्रीयुत अमूल्यचरण विद्याभूषणने अपने 'श्रीश्रीराधा-तत्त्व' शीर्षक लेखमें कहा है—'प्राचीन वैष्णवोंके श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्य थे, यदि कोई मूर्तिमान् आनन्दस्वरूप श्रीकृष्णको जान ले, तो वह फिर स्त्री-पुत्रादिको नहीं चाहेगा। जीवके अन्दर ऐसी बलवती आनन्द-लिप्सा क्यों है? इसी बातको समझनेके लिये गौड़ीय वैष्णवोंने जीवके स्वरूपकी आलोचना करते हुए राधा-स्वरूपका आविष्कार किया है।' (कल्याण वर्ष ६ अङ्क २ पृष्ठ ५६६) इस कथनका क्या उत्तर है? प्रश्न यह है कि राधाका आविष्कार बंगाली वैष्णवोंने श्रीमद्भागवत-की रचनासे पहले किया या पीछे?' अब इसका समाधान किया जाता है।

'प्राचीन वैष्णवोंके श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्य थे, वे श्रीराधाजीकी आराधना नहीं करते थे' यह समझना बहुत बड़ी भूल है। यदि ऐसा होता तो वैष्णवाग्रगण्य श्री-शिवजी महाराज ऐसा क्यों कहते कि—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजस्समर्चयेत्।
जपेत् वा ध्यायतो वाऽपि स भवेत्पातकी शिवे॥
(संमोहन-तन्त्रान्तर्गत गोपालसहस्रनाम)

अर्थात् 'हे पार्वती! गौर-तेज अर्थात् श्रीराधाके विना जो श्याम-तेज अर्थात् श्रीकृष्णका पूजन, जप या ध्यान करता है वह पातकी होता है।' बात असल यह है कि श्रीराधा-रहस्यकी गम्भीरता बहुत ही गहन है, इसे सहज ही नहीं समझा जा सकता। एतदर्थ श्रीयुत अमूल्य-चरण विद्याभूषणके 'श्रीश्रीराधा-तत्त्व' शीर्षक लेखकी ही निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यानसे पढ़नेयोग्य हैं—

'शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि जितने प्रकारके प्रेमोंसे विमलानन्दका आस्वादन किया जाता है, भगवान् श्रीकृष्ण निजानन्द परिस्फुट करनेके लिये अथवा विचित्र भावसे आस्वादन करनेके लिये उन समस्त प्रकारके प्रेमोंको प्रकट करते हैं। सम्पूर्ण प्रकारके प्रेमोंके एक ही समूहरूपका नाम ही 'राधा' है। आनन्दके घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं और प्रेमकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधा हैं।'

प्रेमका विषय बहुत ही गूढ़ है। शास्त्रोंमें प्रेमलक्षणा भक्तिको दुर्लभ बतलाया है तथा कल्याण-पथके अन्य साधनोंका विधिपूर्वक वर्णन करते हुए भी प्रेमके बारेमें

'महत्कृपा' तथा 'भगवत्कृपालेश' को ही उसका साधन माना है। यथा—

'मुख्यतस्तु महत्कृपया भगवत्कृपालेशाद्वा'

(नारदभक्तिसूत्र)

इसके सिवा और कुछ नहीं कहा जा सका है। अतएव जब प्रेमका रहस्य ही इतना गूढ़ है और 'प्रेमकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधा हैं,' तब श्रीराधा-तत्त्वका समझ लेना कोई सहज बात नहीं है।

अतएव प्राचीन कालके वैष्णव श्रीराधा-रहस्यको गोपनीय समझकर ही अधिकतर प्रकटरूपमें श्रीकृष्णकी आराधना करते हुए श्रीराधाकी आराधना प्रायः अन्तरंग भावसे ही किया करते थे और अवसरपर वह बात प्रकट भी हो जाती थी। श्रीराधा-रहस्य-परायण श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुने भी तो सर्वसाधारणमें श्रीराधा, श्रीराधा नामका प्रचार न करके—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस मन्त्रके कीर्तनका ही मुख्यरूपसे प्रचार किया। क्योंकि वे भी प्राचीन कालके वैष्णवोंके समान सर्वांगपूर्ण वैष्णव थे। यही कारण है कि निम्बार्क-सम्प्रदायके महानुभाव श्रीव्यासजीको भी कहना पड़ा कि—

श्रीशुक प्रकट कियो नहिं याते जानि सारको सार॥

अतएव गौडीय वैष्णवोंने ही राधा-स्वरूपका आविष्कार किया। प्राचीन वैष्णवोंके श्रीकृष्ण ही एकमात्र आराध्य थे तथा वे श्रीराधा-तत्त्वसे परिचित न थे, अथवा श्रीराधा उनकी आराध्या न थी इत्यादि समझना बहुत बड़ी भूल है। अब रहा यह कि श्रीश्रीराधा-तत्त्वके लेखक श्रीयुत अमूल्यचरण विद्याभूषणका 'गौडीय वैष्णवोंने जीवके स्वरूपकी आलोचना करते हुए राधा-स्वरूपका आविष्कार किया है'—यह कथन भी सत्य है। पर इसके सत्य होनेका रूप दूसरा है।

भगवान्‌की कृपासे समय-समयपर उच्च कोटिके महात्मा अवतीर्ण होकर जिस सिद्धान्त तथा रहस्यात्मक वस्तुको विपरीत बुद्धियुक्त मनुष्योंके आक्रमणद्वारा नष्ट होते देखते हैं, उसकी रक्षा करते हैं, एवं गोपनीय रहस्य जब अधिकारियोंकी कमीके कारण लोप-सा होने लगता है और कुतार्किक लोग उसे कल्पित और शास्त्र-विरुद्ध कहकर मिटानेकी चेष्टा करते हैं तब महात्माओंद्वारा ऐसे गोपनीय रहस्योंका नवीन रूपमें आविष्कार हुआ करता है और इस प्रकार सिद्धान्तों या रहस्योंका उन महात्माओंके द्वारा आविष्कार होना कहा जाता है। श्रीराधा-रहस्यका उद्‌घाटन विशेष-रूपसे गौडीय वैष्णवोंके ही हिस्से पड़ा है, इसप्रकार उनके द्वारा श्रीराधा-रहस्यका आविष्कार होना सत्य ही है। पर प्राचीन वैष्णव श्रीराधा-रहस्यसे परिचित न थे अथवा वे श्रीराधाकी आराधना नहीं करते थे, ऐसा समझना भूलसे खाली नहीं है। ब्रह्मवैवर्तपुराण, नारदीय पुराण, गर्गसंहिता आदि आर्षग्रन्थोंमें श्रीराधा-रहस्यका विस्तारपूर्वक वर्णन है। श्रीराधासहस्रनाम, श्रीराधाष्टोत्तरशतनाम, श्रीराधाकवच आदि अनेक प्राचीन स्तोत्र प्राप्त हैं, ये सब किसी गौडीय सम्प्रदायके बनाये हुए नहीं हैं।

यहाँतक दूसरी शंकाका समाधान हुआ; परन्तु इसीके साथ 'सूरदासजी तथा समस्त कृष्णोपासक और ब्रजवासी लाडिलीजीको कुमारी मानते हैं और बंगालियोंके मतसे उनका अहियान घोषकी विवाहिता स्त्री होना पाया जाता है' यह बात भी प्रकट की गयी है। अहियान घोषकी विवाहिता स्त्री होनेके सम्बन्धमें कलकत्ता-विश्वविद्यालयके सुप्रसिद्ध हिन्दी-अध्यापक श्रीयुत नलिनीमोहन सान्यालसे सुनी हुई एक छोटी-सी कथा भी श्रीमान्‌ने लिखी है। पर यह विषय भी बहुत गहन है। ऐतिहासिक रूपसे 'श्रीराधा' कुमारी थीं या 'किसी गोपकी विवाहिता स्त्री थीं।' इस बातका यथार्थ निर्णय तथा इस विषयमें शास्त्रीय तथा भावुकोंकी गम्भीर शंकाओंका समाधान एक बहुत ही गम्भीर रहस्यका विषय है। इस सम्बन्धमें कुछ तो इस कारणसे कि लेख बहुत बढ़ जायगा और कुछ इस कारण कि इस सम्बन्धमें सिद्धान्त और रहस्यके वेत्ता रसिक महानुभावों और आचार्योंका सम्मत-सिद्धान्त सुननेकी दासकी उत्कट अभिलाषा है। अतएव इसपर मैं अभी कुछ भी नहीं लिखता। इसके सिवा 'श्रीराधा' शीर्षक लेखमें इस सम्बन्धमें कोई स्पष्ट प्रश्न भी नहीं है। अतएव इस प्रसंगको उठाना विशेष आवश्यक भी नहीं है। हाँ, एक साधारण-सी शंका अवश्य है, वह यह कि—

श्रीकृष्ण भगवान्‌की जो कालीका स्वरूप धारण करनेकी दन्तकथा प्रचलित है उसका उल्लेख करते हुए इसमें

कालीकी उपासनाके विषयमें आक्षेप किया गया है। इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें व्रजवासियोंके सर्वस्व उनके जीवन-धन तो रसिकेन्द्र युगलनित्यकिशोर श्रीराधा-व्रजचन्द ही हैं, उन्हें कालीसे क्या प्रयोजन ? परन्तु गृहस्थ-धर्मके अनुसार यथावसर गणपति, शिव और शक्तिकी पूजाका विधान भी समस्त हिन्दू-परिवारमें पाया जाता है। इसके अतिरिक्त व्रजमें काली-पूजाकी प्रथाका उल्लेख तो भागवतमें भी मिलता है। चीर-हरणके प्रसंगमें गोपियोंने कात्यायनी-व्रतका ही अनुष्ठान किया था। कात्यायनी तो कालीका ही नामान्तर है। अतएव व्रजमें कालीपूजनकी चर्चा सुनकर चकित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं।

'श्रीराधा' शीर्षक लेखमें तीसरी शंका पूज्यपाद श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके सम्बन्धमें है कि उनके द्वारा रचित विनय-पत्रिका तथा श्रीकृष्ण-गीतावलीमें भी 'श्री-राधा' नाम क्यों नहीं आया ? इसका उत्तर संक्षेपमें इतना ही है कि गोस्वामीजीके इष्ट श्रीसीताराम हैं और उनके सभी ग्रन्थ श्रीसीताराममय हैं। श्रीकृष्ण-चरित्रका विनय-पत्रिका आदि ग्रन्थोंमें प्रसंग आ जानेके कारण कहीं-कहीं किञ्चित् दिग्दर्शनमात्र हुआ है। 'श्रीकृष्ण-गीतावली' का भी उनकी रचनामें इतना ही स्थान है कि गोस्वामी तुलसीदासके चरित्रसे कोई यह कल्पना न कर ले कि श्रीराममें अनन्य भक्ति होनेमें श्रीकृष्णके नाम-रूप और चरित्रको बाधक समझते थे। जैसा कि आजकल प्रायः नवीन शैलीके उपासक समझते हैं। यही हाल श्रीसूरदासजीका भी है। उन्होंने भी अनन्य श्रीकृष्णोपासक होते हुए भी कुछ पदोंमें श्रीरामचरित्रका भी कथन किया है। सूरदासजीकी रचनामें भी श्रीरामचरित्रके पदोंका वही स्थान है जो गोस्वामीजीकी रचनामें श्रीकृष्ण-गीतावलीका है। अतः गोस्वामीजीके ग्रन्थोंमें श्रीराधाका नाम न आने-की शंका उठाना युक्त नहीं है। तथापि श्रीविनयपत्रिकाके निम्नलिखित दण्डकमें 'श्रीराधारमण' नाम स्पष्ट आया है—

कोशलाधीश जगदीश जगदेक हित
अमित गुन विपुल विस्तार लीला।
गायन्ति तव चरित सुपवित्र श्रुति शेष शुक
शम्भु सनकादि मुनि मननशीला ॥

× × ×

भूमि-भर-भार-हर प्रगट परमातमा
ब्रह्म नररूप-धर भक्त-हेतू।
वृष्णि-कुल-कुमुद राकेश राधारवन
कंस वंसाटवी धूमकेतू ॥

यहाँतक तृतीय शंकाका समाधान हुआ। इसी शंकाके साथ-साथ,

राधा राधा रटत है आक ढाक औ कैर।
तुलसी या व्रजभूमिमें कहा रामसों वैर॥

—यह दोहा लिखकर यह शंका उठायी गयी है कि व्रजमें तो बहुतेरे रामानन्दीय वैष्णवोंके स्थान हैं तथा *बहुतेरे श्रीराम-जानकीके मन्दिर हैं अतः गोस्वामीजीका* यह लिखना कैसे सुसंगत हो सकता है ?

इसका उत्तर यह है कि आजकल प्रायः लोग महात्माओंके वचनोंके मर्मको समझनेका परिश्रम न करके जल्दी ही उनपर सन्देह उठाकर तरह-तरहकी कल्पना करने लगते हैं। यथार्थ बात यह है कि उपर्युक्त दोहेमें श्रीगोस्वामीजीने व्रजमें 'श्रीराधे राधे' की ध्वनि गुञ्जार करते हुए सुनकर आनन्दमग्न हो विनोदमें ही यह दोहा कहा है। इसका कदापि यह भाव नहीं कि व्रजवासियोंको उन्होंने श्रीरामका वैरी घोषित किया है। बल्कि यह केवल भावुकोंके विनोदकी वस्तु है। इसी प्रकार गोस्वामीजीका एक और यह दोहा भी बहुत प्रचलित है—

कहा कहौं छवि आजकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै धनुष-बान लो हाथ॥

इस दोहेके भावकी मार्मिकताको न समझकर मोटी बुद्धिसे लोग यह शंका उठाते हैं कि, 'जिन गोस्वामीजीने स्वयं श्रीकृष्ण-गीतावली ग्रन्थमें श्रीकृष्ण-चरित्रका कीर्तन किया है वही गोस्वामीजी श्रीकृष्णकी मूर्तिको मस्तक नवानेसे इन्कार क्यों करते हैं ? क्योंकि गोस्वामीजीके विचार ऐसे संकीर्ण न थे।' इसप्रकार शंका उठाकर वह यह निर्णय करते हैं कि यह दोहा गोस्वामीजीका नहीं है बल्कि संकीर्ण हृदयवाले किसी पक्षपाती पुरुषने गोस्वामीजीके नाम इसे गढ़ लिया है। परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति तो यह है कि इस दोहेका भाव विनोदकर है। इसकी मार्मिकतामें कोई सन्देह नहीं उठाया जा सकता। पहले तो, 'कहा कहौं छवि आजकी, भले बने हो नाथ' इस आधे दोहेमें ही श्रीकृष्णकी छविका जो भाव प्रकट

किया गया है इससे श्रीकृष्णरूपमें गोस्वामीजीका स्नेह, ममत्व और आनन्द सूचित होता है। शेष आधेमें प्रभुसे अपना विनोदात्मक हठ प्रकट करते हुए गोस्वामीजी कह उठे, 'तुलसी मस्तक जब नवै धनुष-बान लो हाथ।' बस, भावग्राहक प्रभुने भी गोस्वामीजीके विनोदात्मक हठको पूर्ण किया और हाथमें धनुष-बाण ले ही तो लिया। सारांश यह है कि भगवद्भक्तोंके वाक्योंपर आक्षेप करनेके पूर्व उनके मर्मोंके समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

ईश्वरीय सत्ताकी एक सच्ची झलक

(लेखक—एक शास्त्री)

गत वर्षकी बात है। श्रावणमासका सुहावना समय था। हम परिवारको साथ ले श्रीमथुराजी पहुँचे। पहुँचते ही वर्षाने हमलोगोंका सुन्दर स्वागत किया!

श्रीमथुराजीमें हिण्डोलेमें झूलते हुए श्रीव्रजभूषण-की बाँकी-झाँकीके आनन्द-सुधा-वर्षणसे हमारी हृत्कली खिल उठी। परमपावनी रवितनया श्रीयमुना-जीके दर्शन तथा अवगाहनने स्वर्गीय सुख प्रदान किया। सन्ध्या-समय कालिन्दीके सुरम्य तटपर नौकाओंकी बहार, दीपमालाओंकी अनुपम छटा तथा विश्रामघाटकी आरतीके अलौकिक दर्शन एवं मन्द-मन्द वारिमिश्रित सुसमीरके सेवनने हमें अत्यन्त ही मुग्ध कर दिया। विचार हुआ कि श्रीगोकुलका भी दर्शन करना चाहिये।

दूसरे दिन प्रातःकाल वर्षाऋतुके कारण अपार यौवनमदोन्मत्ता तरणि-तनया यमुनाजीके विशाल वक्षःस्थलपर तरङ्गित होती हुई हमारी नौका श्रीगोकुलके लिये चल पड़ी। वर्षाके जलसे स्नान किये हुए तटके सुन्दर वृक्षों तथा श्याम-हरित शस्यकी शोभा देखकर हृदय आनन्द-सिन्धुमें तरङ्गित हो रहा था। मनमें आता था कि 'अहो! वनविहारी मदनमोहन श्रीश्यामसुन्दरने इसी वनमें इसी कमनीया कान्ताके किनारे गौओंको चराया था! अपने सहचरोंके साथ वनभोजन किया था! हे कलिन्दकन्या यमुने! तूने उस लीलाधारीकी लीलाओंका सुख अनुभव किया है, तू धन्य है! तेरे दर्शनसे हमें अतुलनीय आह्लाद प्राप्त होता है।' इसी प्रकारके सुखद विचारोंमें मग्न हम शीघ्र ही गोकुल जा पहुँचे।

श्रीगोकुल-ग्रामसे कौन नहीं परिचित होगा! यों तो सभी ऋतुओंमें यहाँकी प्राकृतिक शोभा विलक्षण होती है। परन्तु वर्षाऋतुमें तो इसकी छटा कुछ और ही हो जाती है। श्रीयमुना महारानीके निरातङ्क अङ्कमें क्रीड़ा करता हुआ गोकुल-ग्राम नयनाभिराम हो जाता है। यहाँके भगवान्‌की लीलाओंके सुन्दर मन्दिरादि तथा दिव्य दृश्य भारतके कोने-कोनेसे लोगोंको आकर्षित करते हैं। गाँवके इर्द-गिर्द सघन काननोंसे प्रस्रवित प्रशस्य शस्यश्यामला भूमिसे होकर बहता सुनीरा गम्भीरा रवितनयाकी ओर बढ़ता हुआ वर्षा-सलिल अपने कलरवसे देखनेवालोंको मनोमुग्ध कर देता है।

श्रीगोकुलके रमणीय घाटों, स्थानों और मन्दिरोंके दर्शनका आनन्द ले तथा भोजनादिसे निवृत्त हो श्रीमथुरा लौटनेके उद्देश्यसे हमलोग पुनः घाटपर अपनी नौकामें आ उपस्थित हुए, साथ ही पाँच-छः व्रजललनाएँ भी उसपर आ बैठीं।

नौका अब उलटे प्रवाहकी ओर खींची जाने लगी। करीब डेढ़ मील हमलोग पहुँचे होंगे कि इतनेमें आकाशमें घोर काली घटा उठी, बादल गर्जने लगा, तथा यमुनाके तटोंपर मोर शोर मचा उठे। साथकी व्रजभामाएँ भी कलकण्ठसे गान करने लगीं। देखते-ही-देखते वर्षा होने लगी और जोरोंसे हवा बहने लगी। अब नावका बढ़ाना

कठिन हो गया। नाव ठहरा दी गयी और हम-लोगोंको उतरना पड़ा। मेरी कमरमें चार सौ रुपयेके नोट, कुछ रुपये तथा पैसे बँधे थे, अब उन्हींकी रक्षाका प्रश्न सामने था। मैंने धोती कसकर कमरमें बाँध ली और ऊपरसे कमीज उतारकर भी लपेट ली। मल्लाहोंने कहा—'तुमलोग सामने बरसानेके पुराने श्रीराधाजीके मन्दिरमें धीरे-धीरे पैदल आ जाओ, हम नाव लेकर वहीं तैयार रहेंगे'

वह मन्दिर वहाँसे एक मीलकी दूरीपर था। मेरे साथ दो छोटे-छोटे बच्चे भी थे, उनको स्त्रियोंके साथ धीरे-धीरे आने देनेके लिये पीछे छोड़कर, मैं कहीं नोट भींग न जायँ इस डरसे अकेला उस मन्दिरकी ओर शीघ्रतासे बढ़ा।

किनारेका मार्ग बड़ा बीहड़ था। वर्षा जोरसे हो रही थी। चारों ओर जल भर जानेके कारण पगडण्डियाँ मालूम नहीं होती थीं। इसलिये बिना मार्गके ही पानीमें छप्-छप् करता बढ़ता जा रहा था, वर्षाका वेग और चारों ओरके हरियालीसे घिरे हुए जलमय दृश्य मनको मुग्ध कर रहे थे। मनमें रह-रहकर भगवान्‌की बाल्यकालकी लीलाओंका स्मरण हो आता था और भगवान्‌की क्रीड़ाभूमिमें अपनेको घूमते देखकर मैं आनन्दमें मग्न हो रहा था। फिर तो भगवान्‌की स्मृतिमें इतना तल्लीन हुआ कि मार्ग भूलकर कहीं-का-कहीं निकल गया और मन्दिरका लक्ष्य भी सामनेसे दूर हो गया।

इतनेमें सामने एक बड़ा-सा टीला दीख पड़ा, मैं सहज ही उसपर चढ़ गया। थकान जाती रही। इतनेमें बादल गर्जा और फिर बिजली चमकी; उससे ऐसा अपूर्व प्रकाश हुआ जैसा मैंने पहले कभी नहीं देखा था। एक मिनटके लिये आँखें चकाचौंध होकर मुँद गयीं। मैं वहीं रुक गया।

आँखें खुलीं, तो देखता क्या हूँ कि वर्षा कम हो रही है और नीचे हरी घासके मैदानमें अत्यन्त सुन्दर गौवें आनन्दपूर्वक चर रही हैं। मैंने ऐसी अपूर्व सुन्दर गौवें कहीं न देखी थी, उन्हें देखते ही मैं कह उठा—'अहा! इन्हीं गौओंको हमारे प्यारे गोपाल चराते थे। वह भी अवश्य ही यहीं कहीं होंगे।' मैं इन्हीं विचारोंमें था कि हठात् कोई आन्तरिक शक्ति नीचे उतरनेके लिये प्रेरित करने लगी।

नीचे उतरते ही क्या देखता हूँ कि सामने थोड़ी ही दूरपर सात या आठ वर्षकी अवस्थाका, केवल लँगोटी पहने, हाथमें एक लकुटी लिये, वर्षा-जलसे स्नान किया हुआ श्यामवर्ण मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ गोपबालक मेरी ओर देखता हुआ अँगुलियों-से अपनी ओर मुझे बुला रहा है। मैंने उसके रूखे वदनको देखकर समझा कि यह किसी गरीब ग्वालेका लड़का है, इसे दो-चार पैसे दे देने चाहिये। परन्तु पैसे निकालनेमें बड़ी अड़चन थी, क्योंकि साथ ही नोट और रुपये भी थे तथा वहाँ एकान्त वन था। ऐसा विचारता हुआ, मैं दैवीशक्तिसे प्रेरित होकर उसके समीप बढ़ने लगा। अभी बीस ही कदमकी दूरीपर पहुँचा था कि मेरे पैर रुक गये और मैं वहीं खड़ा हो गया।

वह बालक मन्द-मन्द मुस्कराता हुआ बोला—'देखो तो तुम्हारी रुपयेकी गाँठ पूरी तो है। दो-चार पैसे माँगनेवाले यहाँ व्रजमें बहुत मिलेंगे, उन्हें दे देना। मैं तो इन गौओंके दूधमें ही प्रसन्न रहता हूँ।'

बालककी इस सुधामयी वाणीमें एक अद्भुत आकर्षण था, मैं मोहित हो गया। साथ ही मुझे यह विस्मय हुआ कि इस बालकको मेरे रुपयोंका पता कैसे लगा? फिर वह बालक बोला—'देखो, वह सामने मन्दिर दिखलायी दे रहा है। तुम्हारी नाव वहाँ पहुँच गयी है। तुम इधर कहाँ जा रहे हो? मथुराजीकी सड़क यहाँसे दूर है और यह भयावह स्थान है। इसलिये तुम शीघ्र ही यहाँसे चले जाओ।'

उस बालककी बोलीमें एक अपूर्व मधुरता थी, मैं मनोमुग्ध हुआ उसकी सुधासनी वाणी सुनकर अघाता न था, साथ ही मुझे इस घटनापर बड़ा ही विस्मय हो रहा था। मेरी दशा उस समय वर्णनातीत थी। फिर भी मैं चुप था। इतनेमें वह हँसता हुआ बालक मुड़कर जाने लगा। मैं भी 'किं-कर्त्तव्यविमूढ़' उसके पीछे जाने लगा। मुझे पीछे आता देख वह बालक बोला—'जाओ, जाओ तुम्हारा इधर क्या काम है ? जाओ अभी घूमो।'

इतना कहकर निमिषमात्रमें ही वह बालक उन गौओंके साथ अन्तर्धान हो गया। मैं भौचक्का-सा उस ओर देखता ही रह गया। अब न वह बालक था और न वे गौएँ। मैंने लाख खोजा, पर पता न पाया। आखिर हताश होकर नीचा सिर किये मैं पूर्वनिर्दिष्ट मन्दिरमें पहुँचा। मुझे ऐसा मालूम होता था, मानो किसीने मेरा सर्वस्व हरण कर लिया हो। प्रभुकी बड़ी विचित्र लीला है !

मेरे कुटुम्बी वहाँ पहलेसे ही पहुँचकर वस्त्र सुखा रहे थे। मुझे आते देखकर बोले—'तुम तो हमसे पहले पहुँचनेकी गरजसे चले थे, फिर इतनी देर कहाँ लगी ?' मैंने 'रास्ता भूल गया' कहकर उन्हें उत्तर दिया।

वहाँ मन्दिरके पुजारियोंसे मैंने पूछताछ की कि क्या कोई बालक यहाँ गौएँ चराने आता है ? परन्तु किसीने मुझे सन्तोषजनक उत्तर न दिया।

अब हम लोग उसी प्रकार फिर नावमें आकर बैठ गये। इस बार उस नावमें एक शान्त-चित्त महात्मा भी आकर बैठे हुए थे। मैं भी चुपचाप उन्हींके पास जा बैठा। महात्मा बड़े ही शान्त और उदार-चित्तके जान पड़ते थे। मैंने उन्हें प्रणाम करके आदिसे अन्ततक जो कुछ देखा था सब उनसे कह सुनाया। सुनकर महात्मा मेरी ओर देखकर हँस पड़े। उनकी हँसीमें बड़ी अपूर्वता थी। फिर बोले—'बच्चा ! तुम्हें प्रभुकी लीलाकी एक झलकका दर्शन हो गया ! तुम बड़े भाग्यशाली हो ! देखो, प्रभुकी लीलाकी यह एक सच्ची झाँकी है, इसे तुम असत्य न मानना। व्रजमें सर्वत्र प्रभुकी लीला होती रहती है। आनन्दकन्द प्रभु सर्वदा यहाँ विचरण करते रहते हैं, परन्तु कोई ही महाभागी उनका दर्शन कर पाता है। सर्वान्तर्यामी प्रभुने जो तुमसे कहा है कि—'तुम्हारा इधर क्या काम है ? जाओ अभी घूमो' इसका अभिप्राय यही है कि तुम अभी प्रभुके पास जानेके अधिकारी नहीं हो, अभी संसार-चक्रमें भ्रमण करो।' इसलिये प्रभुकी आज्ञाका पालन करते हुए तुम उस प्रभुका सदा चिन्तन किया करो, फिर उसकी दया तुम्हारे ऊपर अवश्य होगी।

आठ बजे शामको हमारी नौका मथुरा पहुँची। महात्माजीसे मैंने लाख प्रार्थना की कि हमारे साथ ही चलकर रहिये। परन्तु वह न माने। फिर तो मथुरामें खोजनेपर भी वे हमें न मिल सके। और हमने निरुत्साह अपने परिवारके साथ वहाँसे घरके लिये प्रस्थान किया।



चित्र-परिचय

रावणादि राक्षसोंका वध करनेके अनन्तर जब वनवासकी अवधिका केवल एक ही दिन रह गया तो राक्षसराज विभीषण भगवान् श्रीरामके अयोध्या-गमनके लिये यक्षपति कुबेरका पुष्पक नामक अति शीघ्रगामी विमान ले आये। भगवान् अपने रीछ-वानरोंके दल-बल-सहित उसी विमानश्रेष्ठपर चढ़कर अयोध्या लौट रहे हैं। इधर अयोध्यावासी नर-नारी बड़ी उत्सुकतासे भगवान्‌को आकाशमार्गमें आते देख रहे हैं।



सिंहासनारूढ़ राम

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, मार्गशीर्ष १९८९ दिसम्बर १९३२ | संख्या ५ पूर्ण संख्या ७७

मूढता

ऐसी मूढता या मनकी ।
परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओस-कनकी ॥
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घनकी ।
नहिं तहँ शीतलता न वारि पुनि हानि होत लोचनकी ॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तनकी ।
टूटत अति आतुर अहारबस छति बिसारि आननकी ॥
कहँलौं कहौं कुचाल कृपानिधि जानत हौ गति जनकी ।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु लाज निज पनकी ॥

कल्याण



शरीर, वाणी और मनसे न तो स्वयं ऐसा कोई कार्य करो, जिससे वायुमण्डलमें दूषित भाव फैले और न ऐसे दूषित वायुमण्डलमें रहो जिसका प्रभाव तुम्हारे शरीर, वाणी और मनपर हो। मनुष्य जो कुछ भी शरीरसे कर्म करता है, वाणीसे शब्दोच्चारण करता है और मनसे चिन्तन करता है, उसका प्रभाव वहाँके वायुमण्डलपर पड़ता है, उसके परमाणु वहाँके वायुमण्डलमें न्यूनाधिकरूपसे फैल जाते हैं, जो उस वायुमण्डलमें रहनेवाले प्रत्येक वस्तुपर अपना प्रभाव डालते हैं।

× × ×

समस्त आकाशमें सर्वत्र वायु व्याप्त है। वायु ही शरीरके अन्दर प्राणरूपसे रहता है। श्वासका अन्दर जाना और बाहर निकलना वायुका ही कार्य है। यह अन्दर जाने-आनेवाला वायु अन्दर जाते समय बाहरके परमाणुओंको अन्दर ले जाता है और बाहर निकलते समय भीतरके परमाणुओंको बाहर लाकर वहाँके वायुमण्डलमें छोड़ देता है।

× × ×

भीतर गये हुए परमाणु जितनी अधिक या कम शक्तिके होते हैं, उतना ही अधिक या कम प्रभाव वे उस मनुष्यके मनपर डाल सकते हैं। परन्तु उन परमाणुओंको ग्रहण करनेवाला मन यदि उनसे प्रतिकूल भावोंके शक्तिशाली परमाणुओंसे भरा होता है तो उसपर उनका असर बहुत ही कम होता है, वे टकराकर वापस बाहर निकल जाते हैं, तथापि मनको स्पर्श कर आनेका कुछ-न-कुछ असर होता ही है, चाहे उस समय उसका पता न लगे। बार-बार यदि वैसे ही परमाणु अन्दर जाते रहेंगे तो कालान्तरमें मनके अन्दर रहे हुए प्रतिकूल परमाणुओंको दबाकर या नष्ट करके वे अपना पूरा अधिकार विस्तृत कर लेंगे।

× × ×

बाहरसे जानेवाले परमाणुओंके अनुकूल परमाणु यदि अन्दर भी होते हैं तो उनका शीघ्र और अधिक असर होता है, जैसे किसीके मनमें धन या स्त्रीको प्राप्त करनेकी वासना है और इसी प्रकारकी वासनाको बढ़ानेवाले परमाणु श्वासके साथ वायुके सहारेसे अन्दर आवें तो इनका असर बहुत शीघ्र होता है और अधिक होता है।

श्वासके साथ अन्दरसे बाहर जानेवाले परमाणु भी अपने न्यूनाधिक बलके अनुसार ही वायुमण्डलमें अधिक या कम दूरीतक फैलते हैं। जिनके मनकी सङ्कल्प-शक्ति बहुत बढ़ी हुई होती है, वे अपने मानसिक भावोंको बहुत दूरतक भेज सकते हैं और अपनेसे कमजोर सङ्कल्प-शक्तिवाले अधिकसंख्यक मनुष्योंके मनपर प्रभाव डाल सकते हैं। जिनकी मानसिक शक्ति कमजोर है, उनके विचार बाहर जाकर न तो बहुत दूरतक फैल सकते हैं और न अधिकसंख्यक लोगोंके मनोंपर प्रभाव ही डाल सकते हैं। यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि संकल्पशक्ति प्रायः उन्हींकी अधिक बढ़ती है जिनके सङ्कल्प सत् या सात्त्विक होते हैं।

× × ×

परन्तु बुरे सङ्कल्पोंका भी कम प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि आजकल तो वायुमण्डलमें प्रायः वैसे ही सङ्कल्प अधिक फैले हुए रहते हैं और लोगोंके मन भी उन्हींके अनुकूल परमाणुओंसे भरे हुए हैं। यह सिद्धान्त है कि ग्रहण करनेवाला अपने सजातीय या अनुकूल पदार्थोंको ही शीघ्र और अधिकतासे ग्रहण करता है।

× × ×

जिन लोगोंके मनोंमें विषाद, शोक, हिंसा, द्वेष, वैर, अभिमान, लोभ, दम्भ, क्रोध, काम, कायरता, नास्तिकता, ईर्षा और भय आदि दूषित सङ्कल्प भरे होते हैं वे स्वयं अपना ही अनिष्ट नहीं करते, प्रत्युत अपने सङ्कल्पोंको वायुके द्वारा बाहर भेजकर

आसपासके सारे वायुमण्डलको दूषित कर देते हैं, जिससे वहाँ रहनेवाले सभी मनुष्योंके मनपर उन दूषित सङ्कल्पोंका किसी-न-किसी अंशमें असर होता है। और होते-होते वहाँका बाहरी और भीतरी वायुमण्डल इतना अधिक दूषित हो जाता है कि निर्दोष सरल मनके नये मनुष्यको वहाँ आकर प्रायः उसी प्रकारका बननेके लिये बाध्य होना पड़ता है। कई खास-खास स्थानों या महकमोंमें ऐसी बातें प्रायः प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

× × ×

जिस स्थानमें सच्चे साधुलोग अधिक बसते हैं, चाहे वे वाणीसे कोई भी उपदेश न देते हों या किसीसे मिलते-जुलते भी न हों, उस स्थानका वायु-मण्डल शुद्ध और साधु-भावोंसे भरा रहता है। जहाँ इसके विपरीत चोर, डाकू, व्यभिचारी, कपटी, कामी और क्रोधी मनुष्य रहते हैं, वहाँका वायुमण्डल, उन लोगोंके ऊपरसे अच्छे-अच्छे उपदेशकी बातें कहनेपर भी, दूषित रहता है। इसका पता समझदार मनुष्यको भलीभाँति लग जाता है, इसीलिये ऐसे महात्माओंके निवासमात्रमें परम लाभ माना गया है जो सर्वथा लोकसमाजसे अलग और मौन रहते हैं परन्तु जिनका अन्तःकरण केवल भगवद्भावोंसे भरा होता है। उनके अन्दरसे निकली हुई भगवद्भावोंकी किरणें सारे वायु-मण्डलमें फैलकर वहाँ सर्वत्र सदाचार, साधुशील और भगवत्प्रेमकी ज्योति छिटका देती है, और उसके प्रकाशको पाकर पामर प्राणी भी कृतार्थ हो जाते हैं।

× × ×

वायुमें दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। वायु स्वयं अन्य किसी गुणवाला न होनेपर भी जहाँ स्पर्श करता है वहींके परमाणुओंको लेकर उनको इधर-उधर बिखेर देता है। सुगन्धके स्थानसे सुगन्ध और दुर्गन्धके स्थानसे दुर्गन्ध लेकर उसे चारों ओर फैला देता है, इसी प्रकार सुन्दर संगीत-ध्वनि अथवा कर्कश कठोर शब्दको भी पकड़कर दूर-दूरतक उनका विस्तार कर देता है। इन बाहरी चीजोंके फैलानेमें ही इसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, यह मनके अन्दर-के भावोंको भी स्पर्श करता है और उन्हें ग्रहणकर बाहर लाकर इधर-उधर फैलाता है। यह अच्छे-बुरे भावोंके परमाणुओंको बाहरसे भीतर और भीतरसे बाहर ले जाया करता है। यह क्रिया वायुमें सदा-सर्वदा होती ही रहती है; इसीलिये जहाँ सन्त बसते हैं वहाँका वायुमण्डल शुद्ध तथा असन्तोंके निवासस्थलका अशुद्ध माना गया है। तीर्थोंमें ऐसे सन्तजन ही रहा करते थे, इसीसे उनको शुद्ध तथा दूसरोंको शुद्ध करनेवाले माना गया है।

× × × ×

श्रीरामचरितमानसमें कहा है कि काकभुशुण्डिजी-के आश्रमके चारों ओर चार-चार कोसतक काम, क्रोधादि विकार नहीं आ सकते थे। अब भी कई महात्माओंकी सन्निधिमें पापके विचारोंका रुक जाना या मनमें बिल्कुल ही न उठना देखा-सुना गया है। जब मनके अन्दर रहनेवाले अच्छे-बुरे विचारोंसे भी वायुमण्डल प्रभावित हो सकता है, तब वाणी और शरीरकी क्रियाओंका वायुमण्डलपर असर होना तो आसान बात है। अतएव काकभुशुण्डिजीके आश्रममें, जहाँ मनके सर्वथा भगवद्गत होनेके साथ ही नित्य हरि-कथा हुआ करती थी, वैसा होनेमें कोई आश्चर्य या अनहोनी बात नहीं माननी चाहिये।

× × ×

जिसप्रकार मनमें कभी बुरे विचार नहीं लाने चाहिये उसी प्रकार वाणीसे भी किसी बुरे शब्दका उच्चारण नहीं करना चाहिये। अश्लील, असत्य, अहितकर, व्यर्थ, अप्रिय, अपमानजनक, क्रोधभरी, दर्पपूर्ण, नास्तिकताका समर्थन करनेवाली, भय और अभिमान-

से भरी वाणी कभी नहीं बोलनी चाहिये । ऐसी वाणीका उच्चारण करनेसे वहाँका वायुमण्डल दूषित होता है। जिसको लक्ष्य करके ऐसी वाणी बोली जाती है, उसपर तो बुरा असर होता ही है, परन्तु जहाँतक वह ध्वनि जाती है वहाँतकके प्राणियोंके मनोंपर वह बहुत बुरा असर डालती है । जैसे शूरताकी वाणीसे मनुष्यमें शूरता आती है, वैसे ही कायरोंकी भयभरी वाणी लोगोंको कायर बना देती है । रणवाद्य और चारणोंकी जोशीली कविताओं और सन्तोंकी वैराग्यकी बानियोंका अद्भुत प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

× × ×

इसी प्रकार शरीरसे—किसी भी इन्द्रियसे ऐसी कोई चेष्टा नहीं करनी चाहिये, जो वायुमण्डलको दूषित करनेवाली हो । सारांश यह कि मनको सदा शुद्ध संकल्पों और सत् विचारोंसे भरे रक्खो, वाणीके द्वारा सदा सत्य, हितकर, मधुर और उत्तम वचन बोलो और शरीरसे सर्वदा-सर्वथा उत्तम क्रिया करो । इसीमें अपना और जगत्का हित है । इसी प्रकार जहाँ ऐसे शुद्ध मन, वाणी और शरीरवाले सज्जन महानुभाव रहते हों, उन्हींके समीप रहो और उन्हींका संग करो । न स्वयं बुरा वायुमण्डल पैदा करो और न बुरे वायुमण्डलमें निवास ही करो ।

× × ×

जो अपने मनमें वैरकी भावना रखता है, वह जगत्में अपने वैरी उत्पन्न करता है; जो प्रेमके संकल्प करता है, वह प्रेमियोंकी संख्या बढ़ाता है; जो भोगोंमें मन लगाता है, वह भोगोंमें रचा-पचा रहता है; जिसके मनमें शूरता है, वह शूरताका वातावरण पैदा करता है; जो कायर है, वह कायरता फैलाता है; जो भक्त है, वह भक्त पैदा करता है; जो अभक्त है, वह नास्तिकता फैलाता है; जो भयसे काँपता है, वह आसपास भयका विस्तार करता है; जो निर्भय रहता है, वह सबको निर्भय बनाता है; जो सुखी है, वह जगत्को सुखी करता है; जो रात-दिन शोक, दुःख और विषादमें डूबा रहता है, वह सबको यही चीजें देता है; और जो भगवान्में प्रेम करता है, वह भगवत्प्रेमियोंकी संख्या बढ़ाता है । अतएव सब विषयोंको सर्वदा दूरकर केवल भगवत्प्रेमसे ही हृदयको सर्वथा भर दो। कदाचित् ऐसा न कर सको तो मनमें सदा आदर्श सात्त्विक शुद्ध विचारोंका पोषण करो और उन्हींको बढ़ाओ । ऐसा करनेसे तुम्हारे आसपासका वायुमण्डल सात्त्विक बन जायगा । सात्त्विक विचारोंकी क्रमशः वृद्धि होते रहनेसे तुम्हारी संकल्पशक्ति बढ़ जायगी, फिर तुम अपने सद्विचारोंको बहुत दूर-दूरतक लोगोंके हृदयकी गहराईतक पहुँचाकर सबको सात्त्विक बना सकोगे । तुम सुखी बनोगे और बिना ही किसी उपदेश-आदेशके स्वभावतः ही जगत्के बहुत बड़े भागको भी सुखी बना सकोगे ।

× × ×

वे सात्त्विक और शुद्ध विचार ये हैं—अहिंसा, सत्य, शौच, दया, प्रेम, दान, क्षमा, संयम, त्याग, वैराग्य, निरभिमानिता, एकान्तप्रियता, कोमलता, सरलता, नम्रता, सेवाभाव, सहिष्णुता, परधर्मके प्रति सम्मान, द्वेषहीनता, समता, सन्तोष, गुणग्राहकता, दोषदृष्टिका अभाव, सुहृदपन, ममता तथा अहंकारका अभाव, मान-बड़ाईकी सर्वथा अनिच्छा, सर्वभूतहित, और भगवत्परायणता आदि ।

× × ×

बस, मन-वाणी-शरीरसे निरन्तर सावधानी और लगनके साथ इन्हीं सब सद्गुणों और सत्संकल्पोंको बढ़ाते रहो । स्वयं तर जाओगे और असंख्य प्राणियोंको तारनेमें सहायक होगे ।

"शिव"

तत्त्व-विचार

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जन निम्नलिखित चार प्रश्न करते हैं—

(१) केवल एक ईश्वरकी शरणसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो सकता है और ईश्वरकी शरणके समान दूसरा कोई सरल तथा सुगम मार्ग नहीं है तो फिर सद्गुण और सदाचारसहित हठयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग आदि नाना प्रकारके कठिन मार्ग क्यों बतलाये जाते हैं ?

(२) स्त्री, पुत्र, धन, मकान एवं अन्य सब पदार्थ सांसारिक सुख देनेवाले हैं और पूर्वकृत सुकृतके फलरूपसे मिलते हैं, उनके क्षय और नाशमें ईश्वरकी दयाका दर्शन कैसे किया जाय ?

(३) सिंह, सर्प, चोर, डाकू, रोग एवं विष आदि सब वस्तुएँ दुःखदायक हैं और पूर्वकृत पापकर्मके फलरूपमें प्राप्त होती हैं, इन मानसिक और शारीरिक दुःखोंकी प्राप्ति और वृद्धिमें ईश्वरकी दयाका दर्शन कैसे करें ?

(४) श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायके १९ वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि 'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इस आत्माको मरनेवाला समझता है वे दोनों ही ठीक नहीं समझते क्योंकि यह आत्मा न किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जा सकता है।' और २० वें श्लोकमें कहते हैं कि 'शरीरके नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं होता।' इस कथनका असली आशय क्या है ? क्योंकि इसके तात्पर्यको न समझनेवाले मूर्खलोग इसका विपरीत अर्थ मान लेते हैं और कहते हैं कि श्रीभगवान् अर्जुनको इसप्रकारका उपदेश देकर जब मनुष्योंको ही मारनेके लिये उत्साहित करते हैं तो फिर पशु, पक्षियोंको मारनेमें हिंसा और पाप क्यों मानना चाहिये ?

इन प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर इसप्रकार है—

१—ईश्वरकी शरणके समान दूसरा कोई सरल मार्ग नहीं है, यह सर्वथा सत्य है। इसीलिये भगवान्ने गीतामें मुक्तिके नाना मार्ग दिखलाकर अन्तमें सबका सार यही बतलाया है कि 'तू सम्पूर्ण धर्मों (के आश्रय) को छोड़कर केवल एक मेरी शरण हो जा, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे छुड़ा दूँगा, शोक मत कर।'

महर्षि पतञ्जलिने भी योगदर्शनमें ईश्वर-शरणागतिको ही सबसे सहज उपाय बतलाया है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा, ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।

'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इत्यादि सूत्रों द्वारा केवल ईश्वरप्रणिधानसे ही सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश और परमपदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

जिस समय विभीषण भगवान्के शरण आये हैं, उस समय स्वयं भगवान् सुग्रीवको कहते हैं।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

(वा० रामायण)

जो पुरुष एक बार भी मेरी शरण होकर प्रार्थना करता है कि मैं तेरा हूँ, उसको मैं सम्पूर्ण भूतोंसे अभय कर देता हूँ यह मेरा व्रत है—

'मम प्रण शरणागत भयहारी'

महाभारतके अनुशासनपर्वमें युधिष्ठिरके प्रति पितामह भीष्मजीने कहा है—

वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायणः ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥

भगवान् वासुदेवके आश्रित और वासुदेव-

परायण हुआ मनुष्य सम्पूर्ण पापोंसे पवित्र होकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार कठोपनिषद्में नचिकेताके प्रति भगवान् यमने भी कहा है—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥

इसका आश्रय यानी शरण श्रेष्ठ है, यह आश्रय सर्वोत्कृष्ट है, इस आश्रयको जानकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है।

इस तरह श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और शास्त्रोंमें जगह-जगह 'ईश्वर-शरण' की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। अतएव केवल एक परमेश्वरकी शरणसे ही मनुष्य परमपदको प्राप्त हो सकता है इसमें कोई संशय नहीं। और यही सबकी अपेक्षा सुगम और सरल मार्ग भी है। परन्तु जैसे कोई उदरके अनेक रोगोंसे पीड़ित मूर्ख रोगी हरीतकी-के गुण और प्रभावको न जाननेके कारण उसमें विश्वास नहीं करता, केवल हरीतकीमात्रके सेवनसे सब रोगोंकी निवृत्तिको असम्भव समझता है, अतः उसके लिये चतुर वैद्य हरीतकीको छोड़कर या अन्य प्रकारकी हरीतकी-मिश्रित अन्यान्य नानाप्रकारकी कठिन ओषधियोंके सेवनका प्रबन्ध करता है, वैसे ही ईश्वरके दया आदि गुण और प्रभावके रहस्यको न जाननेके कारण, जिनकी ईश्वरमें श्रद्धा और प्रेम कम है या बिलकुल ही प्रेम नहीं है अथवा जो केवल ईश्वरशरणमात्रसे मुक्ति नहीं मानते हैं, उनके लिये हठयोग, राजयोग, कर्मयोग और सांख्ययोग आदि नाना प्रकारके कठिन मार्ग बतलाये गये हैं।

२—स्त्री, पुत्र, धन एवं मकान आदि जो भी कुछ सांसारिक सुखदायक वस्तु हैं, पारमार्थिक बुद्धिद्वारा देखा जाय तब तो एक परमात्माके [illegible] अन्य कोई वस्तु ही नहीं है। किन्तु नाना-रूपसे प्रतीत होनेके कारण महात्माजन इन सबको स्वप्नवत् बतलाते हैं। यदि विवेक-बुद्धिद्वारा देखा जाय तो सांसारिक सम्पूर्ण सुखदायक पदार्थ भी दुःखरूप ही हैं परन्तु मोहके कारण अज्ञानी मनुष्य दुःखको ही सुख मानकर फँस जाते हैं।

जैसे मोहके कारण अज्ञानवश पतंग साक्षात् मृत्युरूप दीपशिखा, लालटैन, बिजलीकी रोशनी इत्यादिको सुख मानकर उसके संगसे जल मरते हैं, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य मोहवश साक्षात् मृत्यु-रूप स्त्री-धनादि सांसारिक विषय-भोगोंको सुख मानकर उनके संगसे बारम्बार मृत्युके मुखमें पड़ते हैं। श्रुति कहती है—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० २।६)

जो मूढ धनके मोहसे मोहित होकर प्रमत्त हो रहा है, उसको परलोक नहीं भासता। यह लोक है, परलोक नहीं है इसप्रकार माननेवाला बारम्बार मेरे वशमें होता है यानी मृत्युको प्राप्त होता है।

कोई दयालु पुरुष पतंगोंको मोहवश मृत्युकी ओर जाते देख उनके दुःखसे द्रवितचित्त हो उनके हितके लिये दीपक, बिजली या लालटैन इत्यादिकी रोशनीको कम कर देता है या बुझा देता है, किन्तु इस रहस्यको न जाननेके कारण पतंग उलटे दुखी होते हैं और समझते हैं कि हमारी मनोकामना अपूर्ण रह गयी, तो भी रोशनीको बुझानेवाले पुरुषकी तो उनपर बड़ी भारी दया ही समझी जाती है। ऐसे ही काञ्चन, कामिनी आदि विषय-भोगोंके क्षय और नाशमें भी परम दयालु परमात्माकी दयाका ही दर्शन करना चाहिये।

३—सिंह, सर्प, चोर, डाकू, रोग एवं विष आदि जो भी कुछ दुःखदायक वस्तु हैं, वे भी वास्तवमें परमार्थबुद्धिद्वारा देखा जाय तो परमात्माके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, किन्तु नानारूपसे प्रतीत होनेके कारण महात्माजन इन सबको भी स्वप्नवत् बतलाते हैं। यदि विवेकबुद्धिद्वारा विचार किया जाय तो शारीरिक और मानसिक सम्पूर्ण व्याधियों-की प्राप्तिमें यानी शारीरिक और मानसिक सम्पूर्ण दुःखोंकी उत्पत्ति और वृद्धिमें ईश्वरकी दया पद-पद-पर दिखलायी देती है।

(क) जैसे न्यायकारी दयालु राजा अपराध करनेवाली प्रजाको दण्ड भुगताकर पवित्र कर देता है वैसे ही परम दयालु परमात्मा पापी मनुष्यको शरीर और मनके द्वारा सांसारिक दुःख भुगताकर पवित्र कर देता है।

(ख) जैसे दयालु वैद्य कुपथ्य करनेवाले रोगी-को कुपथ्यके परिणाममें प्रत्यक्ष दोष दिखाकर कुपथ्यसे बचा देता है, वैसे ही परमदयालु परमात्मा पापोंके परिणामरूप दुःखके समय भक्तके हृदयमें इसप्रकार प्रेरणा कर देता है कि यह दुःख तेरे पूर्वमें किये हुए पापोंका फल है। इससे उसकी पाप करनेकी वृत्ति क्षय होती जाती है।

(ग) विवेक-बुद्धिद्वारा दुःखोंको सहन करनेसे आत्मबलकी वृद्धि होती है, उसमें वीरता, धीरता, गम्भीरता और तितिक्षा आदि गुण बढ़ते हैं। किसी कविने कहा है—

सुन्दर सोई सूरमा लोट-पोट हो जाय।
ओट कछू राखें नहीं चोट हृदयपर खाय॥

—इसप्रकार सहन करते-करते वे वीर पुरुष भगवत्की दयासे भगवत्-प्राप्तिके पात्र बन जाते हैं। भगवान्ने कहा है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गीता अ० २। १५)

हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है।

(घ) शारीरिक क्लेशकी प्राप्ति होनेपर उसको परम तप मानकर सहन करनेसे परम तपके फलकी प्राप्ति है, बृहदारण्यक उपनिषद्के ११ वें ब्राह्मणमें इसका वर्णन है।

(ङ) भगवान् श्रीकृष्ण जब कुन्तीदेवीको वर देने लगे तब कुन्ती देवीने कहा कि विपत्तिकालमें आपकी विशेष याद आती है अतएव मैं आपसे सदा विपत्ति ही माँगती हूँ। किसी कविने भी कहा है—

सुखके माथे सिल पड़ो, जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी, जो पल-पल राम रटाय॥

(च) शर-शय्यापर शयन करते हुए पितामह भीष्म कहते हैं कि 'मैंने जो कुछ भी पाप किये हैं वे सब रोगरूपसे प्राप्त हो जायँ और मुझे सदाके लिये उऋण बना दें, मेरा पुनर्जन्म न हो।'

अतएव मनुष्यको उचित है कि वह पद-पद-पर ईश्वरकी दयाका दर्शन करते हुए दुःखोंको ईश्वरका प्रदान किया पुरस्कार समझकर आनन्द-के साथ उन्हें स्वीकार करे।

४—श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायके श्लोक १९ एवं २० में भगवान्का तात्पर्य 'शोक, स्नेह और मोहके कारण क्षात्र-धर्मसे गिरे हुए अर्जुनके कल्याणके लिये विकार और क्रियारहित अविनाशी आत्माकी नित्यता और नाशवान् शरीरकी अनि-त्यता दिखलाकर तत्त्व-ज्ञानका उपदेश देना एवं दुष्टोंका संहार करनेके उद्देश्यसे अर्जुनको उत्साह दिलाकर धर्मयुक्त युद्धमें लगाना' प्रतीत होता है।

यहाँ पशु, पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगके विषयमें भगवान्का कुछ भी कहना नहीं है। इन श्लोकोंसे मोहवश पशु-पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगका आशय निकालना सर्वथा अनुचित एवं

प्रसङ्गविरुद्ध है। निरपराधी पशु-पक्षी आदि जीवोंके प्राण-वियोगको हिंसा न समझकर मोहसे या स्वार्थ-सिद्धिके लिये किसी जीवको मारना केवल मूर्खता ही नहीं, पाप है।

(क) विकार और क्रियारहित अचल, नित्य, चेतन, अव्यक्त, अव्यय, अज, अविनाशी आत्माका किञ्चित्मात्र भी किसी प्रकार क्षय या नाश नहीं हो सकता और यह शरीर अन्तवन्त यानी क्षणभङ्गुर, अनित्य होनेके कारण अवश्यमेव ही नाशवान् है। इसप्रकार आत्मा और शरीरका तत्त्व भगवान्ने अर्जुनको इसलिये बतलाया कि वह युद्धमें *अपने या प्रियजनोंके शरीर-नाशसे* आत्माका नाश एवं आत्मामें विकार न मान ले। क्योंकि आत्मा न तो हनन क्रियाका कर्म है और न कर्ता ही है।

(ख) नीति और धर्मसे सम्मत होनेके कारण क्षात्र-धर्मके अनुसार युद्धमें मनुष्योंका मारना भी पाप नहीं है। बारह वर्षका वनवास एवं एक वर्षका अज्ञातवास भोगकर भी धरोहररूपसे रक्खा हुआ राज्य न मिलनेके कारण अर्जुनको दुर्योधनादिके साथ युद्ध करनेके लिये तैयार होना पड़ा था। इसी हेतु अर्जुनके लिये यह युद्ध धर्म-मय बतलाया गया। नहीं तो क्रोध, लोभ या मोह-के वशमें होकर मन, वाणी या शरीरसे किसी भी जीवको किञ्चिन्मात्र भी दुःख पहुँचाना पाप है, फिर प्राण-वियोगकी तो बात ही क्या।

(ग) नीति और धर्मके विरुद्ध होनेके कारण दुर्योधनादिके लिये यह युद्ध पापमय था। क्योंकि वनवाससे आये हुए पाण्डवोंको धरोहररूपसे रक्खा हुआ उनका राज्य माँगनेसे समयपर न लौटाना महापाप था।

इतना ही नहीं, नीचबुद्धि दुर्योधन आदि स्वार्थ और मोहके वशमें होकर प्रजा एवं पाण्डवोंके साथ बहुत अत्याचार किया करते थे। भीमको विष देना, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाकर नाश करनेकी व्यवस्था करना, युधिष्ठिरको छलसे जुएमें हरा देना, निरपराधिनी सती द्रौपदीका भरी सभामें वस्त्र हरण करना एवं उसके केश पकड़कर खींचना, वनमें पाण्डवोंको क्लेश देनेके लिये जाना, बिना ही अपराध विराटकी गौओंको हरण करना, न्याय-युक्त सन्धि न कर पापमय युद्धके लिये हठ करना, भगवान् श्रीकृष्णके समझानेपर भी न मानना एवं उनको कैद करनेके लिये कोशिश करना, इत्यादि बहुत-से पापोंके कारण वे कुटुम्बसहित मारनेके योग्य समझे गये।

(घ) पाण्डव धर्मात्मा थे और दुर्योधनादि पापी थे। इसीलिये दलदलमें फँसी हुई गौकी तरह राज्य और प्रजाको दुष्टोंके हाथसे छुड़ाकर धर्मात्मा पाण्डवोंको सौंपने एवं उनका यश बढ़ानेके उद्देश्यसे भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर संसारके हितके लिये कर्ण, दुर्योधनादि लोगोंका नाश करना उचित समझा। शास्त्रमें ऐसे आततायियोंको बिना ही विचारे मारनेका विधान है।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः॥
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

आग लगानेवाला, विष देनेवाला, बिना शस्त्र-वालेपर शस्त्रसे प्रहार करनेवाला, धन हरनेवाला, मकान आदि छीननेवाला एवं स्त्रीको हरनेवाला—ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। इन आततायियोंको बिना ही विचारे मार देना चाहिये। आततायियोंको मारनेमें और मरवानेमें कोई भी दोष नहीं होता। तो भी धर्म और दयाकी दृष्टिसे मारनेकी अपेक्षा समझाकर काम निकालना उत्तम है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णजीने दुर्योधनादि दुष्टोंको सन्धि करनेके लिये नाना प्रकारसे स्वयं समझानेकी चेष्टा की, किन्तु दुर्योधनने किसी प्रकार भी सन्धि करना स्वीकार नहीं किया। उसका मरण अवश्यम्भावी

था इसीलिये भगवान्‌ने अर्जुन, भीम आदिके द्वारा उन सबको मरवाया। भगवान्‌के अवतार ग्रहण करनेमें भी यही कारण था। गीतामें भगवान्‌ने कहा भी है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।८)

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये एवं धर्मके स्थापन करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट होता हूँ। इसीलिये दुष्टोंका संहार करके प्रजाके हितके लिये धर्मात्मा युधिष्ठिरके हाथमें राज सौंपकर भगवान्‌ने धर्मकी स्थापना की एवं वेदव्यासादि ऋषियोंद्वारा और पितामह भीष्मद्वारा उपदेश दिलाकर तथा स्वयं उपदेश देकर प्रिय भक्त युधिष्ठिर और अर्जुन आदिका उद्धार किया।

(ङ) क्षत्रियोंके लिये नीति और धर्मयुक्त युद्ध करना परम धर्म एवं स्वार्थ-बुद्धिसे लाभप्रद कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २।३१)

अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेको योग्य नहीं है क्योंकि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रियके लिये नहीं है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
(गीता २।३७)

तू या तो मरकर स्वर्गको प्राप्त होगा, अथवा जीतकर पृथिवीको भोगेगा। इससे हे अर्जुन! युद्धके लिये निश्चयवाला होकर खड़ा हो।

स्वार्थबुद्धिको एवं अहंकारको सर्वथा त्यागकर न्यायसे किसीका मारना तो वास्तवमें मारना ही नहीं है।

भगवान् कहते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता १८।१७)

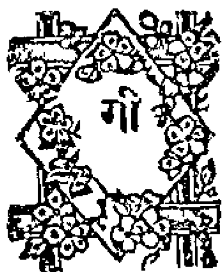
जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा अनायास किसीके मर जानेपर उन्हें कोई पाप नहीं होता, इसी प्रकार कर्तृत्वाभिमानसे रहित निःस्वार्थी पुरुष पापका भागी नहीं होता। देहाभिमान और स्वार्थसे रहित केवल संसारके हितके लिये प्रारब्धवश जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है। क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती और बिना कर्तृत्व-अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है। इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बँधता।

आवश्यकता है निरन्तर अभ्यास करते रहनेकी। बिना अभ्यासके कुछ भी नहीं हो सकता। अभ्यास और वैराग्यरहित जीवन व्यर्थ है। विचार करो—समस्त दृश्य-जगत् संकल्पसे पूर्ण है। जैसा संकल्प करोगे, ठीक उसी भाँति दृष्टिगोचर होने लगेगा। संकल्प समुद्र-जल-बिन्दुवत् है। अनन्त संकल्पसमूह ही संसार है। वास्तवमें संकल्पसे इतर कुछ भी नहीं है। ऐसा विचार करके विश्वप्रपञ्चकी आसक्तिका नाश कर दो। आसक्तिके नाश करते ही तुम्हें भगवन्नाम-निष्ठाकी उपलब्धि होगी।

श्रीमंगलमय हरिका सम्मान करो, बार-बार उनका स्मरण करो, प्रत्येक वस्तुमें उन्हींको देखो, निरन्तर प्रीति करो, उनके विरहमें रोओ, उनकी यादमें आँसू बहाओ। —उड़ियाबाबाजी

अर्जुनका विषाद

(लेखक-साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी)



गीतामें बारम्बार केवल एक ही शब्द-पर ज़ोर दिया गया है। वह शब्द है—योग। हम गीताके प्रत्येक अध्यायमें इस शब्दको पाते हैं। अतः गीताको हम योगशास्त्र कह सकते हैं। *गीता प्राचीन भारतकी प्रतिभाका पुष्प है और इस पुष्प-की सुगन्ध योग है।* योगशास्त्रको समझनेके लिये गीता-समुद्रमें डुबकी लगानी पड़ेगी।

योग कई प्रकारके होते हैं। उनमेंसे एकको हम प्रकृति-योग कहेंगे। गीतामें इसका संक्षेपतः निर्देशमात्र हुआ है। विश्वकोषमें विषयोंका विस्तृत वर्णन नहीं होता। इस प्रकृति-योगके विषयमें गेटे (*Goethe*) ने भी बहुत कुछ लिखा है। मैं उसे एक ऋषि मानता हूँ। एक दूसरे प्रकारका भी योग है मैं इसीके विषयमें यहाँ कुछ कहूँगा। मैं इस दूसरे प्रकारके योग—विज्ञान-योगके प्रतिपाद्य विषयका वर्णन नहीं करना चाहता। आधुनिक युग विज्ञान-का युग है। प्राचीन भारतमें मनोविज्ञानका बहुत अध्ययन होता था। *अनतिदूर भविष्यमें यूरोप और अमेरिका हिन्दू-मनोविज्ञानका अधिकाधिक अध्ययन करेंगे।* विज्ञान केवल आधुनिक युगके लिये ही है।

एक तीसरे प्रकारका योग होता है। वह आत्म-योग है। गीतामें इसीकी व्याख्या हुई है। जब मैं गीतामें वर्णित योगका निर्देश करता हूँ तो मेरा अभिप्राय आत्म-योगसे होता है। प्रकृति-योग और विज्ञान-योगमें हम दृश्य वस्तुका ध्यान करते हैं, परन्तु आत्म-योगमें हम नित्यताको अपने हृदयमें धारण करते हैं। गीताके अनुसार आत्मा सत्यताका मूल है और हम अपने भीतर अनन्तको वहन करते हैं। क्योंकि हमारे भीतर आत्माका अवस्थान है। हम बहुधा इसे स्थूल शरीरमें ही आबद्ध मानते हैं। गीता आत्म-योगका पाठ्य ग्रन्थ है। यह योग हमारे आध्यात्मिक विकासका पुष्प है। गीताका आलोचनात्मक अध्ययन करनेका अर्थ है मनुष्यके चेतनात्मक विकासकी अवस्थाओंका समझना। यह श्रेणियाँ कौन-सी हैं?

पहली अवस्था यन्त्र-पुरुष (Machine-man) की है। हममेंसे अधिकांश पुरुष यन्त्रवत् काम करते हैं। हमने यन्त्रकी गणना करते देखी है। कुछ लोगोंका ऐसा ख़याल है कि आनेवाले युद्धमें यन्त्र-पुरुष (Machine-man) ही युद्धक्षेत्रमें लड़ेंगे! हममेंसे अधिकांश यन्त्र-पुरुष (Machine-man) हैं। और जबतक हम यन्त्र-अवस्थासे ऊपर नहीं उठते, *आध्यात्मिक विकासका प्रारम्भ नहीं हो सकता।*

दूसरी अवस्था निरीक्षण (Inspection) की है। तीसरी अवस्था निराशा और विषादकी है। गीताके पहले अध्यायका नाम विषाद-योग है। विषाद शब्दके महत्त्व-पर हम आगे कुछ लिखेंगे। विषादका एक अर्थ है—निराशा। मनुष्य यन्त्र-युगके आगे बढ़ता है, यन्त्रकी प्रेरणासे बहुत-से काम करके किसी शान्त अवसरपर जब वह अकेला पड़ता है तो *विषादमें प्रवेश करने लगता है।* वह पूछता है, यह सब क्या है? कुछ रहस्यात्मक ग्रन्थ इसे धर्ममेघावस्थाके नामसे पुकारते हैं। मानस-शास्त्रकी दृष्टिमें मनुष्यके ऊपर एक प्रकारका मेघ आच्छादित होता है तब वह जीवनसे ऊब जाता है। हो सकता है कि उसे परिवारके भरण-पोषणकी चिन्ता हो अथवा वह किसी प्रकारसे अपनी जीविका उपार्जन करनेमें लगा हो। वह प्रतिदिन अपने आफिसमें जाकर काम करता हो परन्तु उसे देखनेसे जान पड़ेगा कि उसे जीवनमें बिल्कुल ही मज़ा नहीं मिलता। इसे ही विषादकी अवस्था कहते हैं, यही मेघाच्छन्न अवस्था है। इस अवस्थामें आनेपर मनुष्य बहुत ही व्यथित हो उठता है। ऐसा मनुष्य ईश्वरकी ओर अपने हृदयको उठाकर तथा बाहुओंको उसकी ओर फैलाकर कहता है—'हे सहायक और शान्ति प्रदान करनेवाले प्रभु! तुम कहाँ हो?' इस स्थितिमें वह किसी भी ऐसे पुरुषको नहीं पाता जो उसे प्रफुल्लित करे और कहे कि—'भाई! परम पदके यात्री! साहस करो, साहस करो!' यह जगत् उसके लिये वीरान हो जाता है, वह अपनेको निरवलम्ब पाता है। तथापि मेरे विचारसे वह बड़ा भाग्यशाली है। बादल घिरते हैं परन्तु शीघ्र ही उसके ऊपर दयाकी वृष्टि होती है। *अवश्य ही* बहुत कम लोग इस अवस्थाके झोंकेको बर्दाश्त कर सकते हैं। मैं अपने जीवन-वेदके आधारपर कहता हूँ, जबतक तुम

इस विषाद—निराशा—निरवलम्बकी तीसरी अवस्थामें नहीं पहुँचते तबतक तुम्हारा आध्यात्मिक जीवन उन्नत नहीं हो सकता। अर्जुन इस तीसरी अवस्थामें आता है, उसके ऊपर विस्मृतिका मेघ आच्छादित होता है और वह अपने हथियार रख देता है। तब वह चौथी अवस्थाके समीप पहुँचता है। अर्जुन किसप्रकार तीसरीसे चौथी अवस्थामें पहुँचता है? गीतामें पाँच आत्मिक अवस्थाएँ हैं। पहली तीनोंका उल्लेख मैं कर चुका हूँ। किसप्रकार श्रीकृष्ण अर्जुनको विषादसे उबारते हैं। चौथी अवस्थाको हम किसी अंशमें मोहकी अवस्था कह सकते हैं। यह मोह क्या वस्तु है? मोहके अभिप्रायको समझे विना गीताको समझना कठिन है। श्रीकृष्णका प्रधान शब्द 'मोह' है। अर्जुन विषाद-ग्रस्त है और श्रीकृष्ण उसे छुटकारा करानेके लिये आते हैं। अर्जुनको अभी मोहका पाठ सीखना है। अर्जुन कहता है—'प्रभो! मैं कृपासे आविष्ट हूँ, किसप्रकार मैं अपने सगे-सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों, देशभाइयोंके साथ युद्ध कर सकता हूँ?' श्रीकृष्ण बड़ी कठिनाईसे अर्जुनको समझा पाते हैं कि 'वह कृपा और दयासे नहीं बल्कि वस्तुतः मोहसे, आसक्तिसे ग्रस्त है।' अर्जुनके समान हमें भी मोहका पाठ सीखना है। इस भूतलपर प्रत्येकको योद्धा होना है और मोहका पाठ पढ़े विना हम आध्यात्मिक जीवनके क्षेत्रमें नहीं लड़ सकते। इसप्रकार हममेंसे अनेकों भाई रूपमें आसक्त हैं, रूपमें आसक्त होनेके कारण ही हमें दुःख अनुभव करना पड़ता है। एक आदमी था। उसे अपनी स्त्रीमें बहुत ही आसक्ति थी, उसीके लिये वह आफिसमें काम करता था, उसके रहनेके लिये उसने एक सुन्दर घर बनाया। आफिसके कामसे फुरसत पानेपर उसका अधिकांश समय स्त्रीके पास ही व्यतीत होता था। वह सोचता रहता था कि मुझे स्त्रीसे प्रेम है। एक बार वह उसे लेकर मोटरकी सैरके लिये निकला। अचानक उसकी मोटर दूसरी मोटरसे टकरा गयी। ईश्वरकी कृपासे वह मनुष्य और उसकी स्त्री दोनों बच गये। परन्तु बेचारी स्त्री घायल हो गयी, उसकी नाक कट गयी। पतिके मनमें उठता था कि मैं स्त्रीको प्यार करता हूँ। उसने उसे अस्पताल पहुँचाया। उसकी जान तो बच गयी परन्तु उसकी नाक जाती रही। अब वह वैसी खूबसूरत न रही और अब उसका पति भी अधिक समय-तक उसके पास नहीं रहता। वही सुन्दर आत्मा उसके भीतर है, वह अब भी भक्तिपूर्वक उसकी सेवा करती है, उस सुन्दर घरमें वह उसी प्रकार उसकी प्रतीक्षा करती है, परन्तु उसका स्वामी कहीं अन्यत्र है। बहुधा जिसे हम प्रेमके नामसे पुकारते हैं, वह किसी रूपके प्रति अभि-लाषा अथवा आसक्ति होती है। जब रूपमें सुन्दरता नहीं रह जाती तब हम उससे मुँह मोड़ लेते हैं। इसे प्रेम कहोगे या मोह? यदि तुम आध्यात्मिक जीवनमें उन्नति करना चाहते हो तो मोहमें आसक्त न हो। बहुधा जिसे हम प्रेम कहते हैं वह आसक्ति होती है। अपने जीवनको प्रेममय बनाओ परन्तु याद रहे आसक्ति प्रेम नहीं है। रूपसे लिपटना आसक्ति है, मोह है; परन्तु सत्यमें रमण करना प्रेम है।

अर्जुन भावके द्वारा प्रवाहित हो जाता है और इस भावको कृपाके नामसे पुकारता है। परन्तु वस्तुतः यह कृपाका भाव नहीं है। अर्जुन आत्मश्लाघामें पड़कर समझता है कि वह कृपा, करुणासे अभिभूत हो गया है। पीछे श्रीकृष्ण अर्जुनको समझा देते हैं कि यह कृपा नहीं है। अर्जुन अपनी चेतनाके विश्लेषण करनेके लिये रुकना नहीं चाहता। परन्तु आध्यात्मिक उन्नतिके लिये यह विश्लेषण आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्यको जो आध्यात्मिक जीवनके पथमें पैर रखना चाहते हैं सचेत रहना चाहिये कि वह भ्रान्तिमें न पड़ें। श्रीकृष्ण कहते हैं—'अर्जुन! तुम कृपासे आविष्ट नहीं हुए हो, बल्कि मोहासक्त हो रहे हो।' गीताका एक प्रधान उपदेश है—'निर्मोही बनो।' आओ थोड़ी देर विचारें, मोह क्या वस्तु है? इस सम्बन्धमें मैं तुम्हें हिन्दुओंके उस विश्लेषणका स्मरण दिलाऊँगा जिसमें पापको काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहङ्कारमें विभाजित किया है। इस विभाजनका आधार क्या है? इनमें कामका नम्बर पहला आता है, कामसे ही इच्छा उत्पन्न होती है। बौद्ध और हिन्दू-मानस-शास्त्रके अनुसार समस्त दुःखोंका मूल है इच्छा। शास्त्रोंमें इसे तृष्णाके नामसे पुकारा है। सीधी-सादी भाषामें हम इसे काम, इच्छाके नामसे पुकारते हैं। कामके बाद क्रोधका नम्बर आता है। हमें पहले इच्छा होती है, हम एक चीजको चाहते हैं, फिर उसे अधिकारमें करना चाहते हैं, उसके पीछे दौड़ते हैं, उसे पकड़ना और कब्जेमें किये रखना चाहते हैं; हम भ्रमसे समझते हैं कि उस वस्तुको पास रखनेसे ही हमें आनन्द मिलेगा। तुमको मैं अपने रास्तेमें होकर जाते देखता हूँ, तुम मेरी

इच्छामें बाधक बनते हो और मुझे क्रोध उत्पन्न हो जाता है। यदि हमारी इच्छामें बाधा न आवे तो क्रोध नहीं उत्पन्न हो सकता। इसप्रकार हम देखते हैं कि मनोवैज्ञानिक-दृष्टिसे क्रोध कामके बाद उत्पन्न होता है। अब देखना है कि किसप्रकार क्रोधके बाद लोभ आता है। तृष्णापर विजय प्राप्त हुई कि हमने शोकको जीत लिया। इच्छाको जीतनेका अर्थ है आनन्दके साम्राज्यको अधिकृत करना। यह द्वन्द्व क्यों मचा हुआ है ? कारण यह है कि हम और तुम एक ही वस्तुको चाहते हैं। बहुतेरे दूसरे मनुष्य भी उसीको चाहते हैं और इसीलिये द्वन्द्व मचा है। हम युद्ध और पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रमें घूम रहे हैं। मैंने बतलाया है कि इच्छाके बाद क्रोधका आविर्भाव होता है।

अब क्रोधके बाद किसप्रकार लोभका उदय होता है ? हम नाना प्रकारके वस्तुओंकी इच्छा करते हैं। इस प्रकृति-क्षेत्रमें, रूपके मैदानमें हम नाना विषयोंके पीछे दौड़ते हैं। अब इन रूपोंका वर्गीकरण किया जाता है। कुछ रूप पदार्थोंसे बने होते हैं। कभी-कभी हम पदार्थोंके पीछे दौड़ पड़ते हैं। हम घर चाहते हैं, सोना चाहते हैं, चाँदी चाहते हैं और क्या-क्या नहीं चाहते। हम अमुक-अमुक वस्तुपर अपना अधिकार चाहते हैं। ये वस्तुएँ पदार्थोंके विशेष रूप हैं। अब जब हम इनमेंसे किसी रूपको चाहते हैं तो हमें लोभ होता है। परन्तु इच्छा-जगत्‌में केवल पदार्थोंके रूप ही नहीं हैं बल्कि चेतनाके रूप भी हैं। केवल घरको ही रूप नहीं है बल्कि हममेंसे प्रत्येकको रूप हैं, क्योंकि हम व्यक्त-जगत्‌के एक अंश हैं। किसी व्यक्तिविशेषका रूप सुन्दर या भद्दा हो सकता है इस-प्रकार देखो, मोह कैसे उत्पन्न होता है ? जब तुम प्राकृतिक वस्तुओंकी इच्छा करते हो तो तुम्हें *लोभ* सताता है, और जब चेतनात्मक पदार्थोंकी इच्छा करते हो तो मोह। मित्र-से हमें वियोग होता है और हम दुखी हो जाते हैं। श्री-कृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—'तुम रूपमें आसक्त हो। तुम्हें रूप और तत्वकी विवेचना करनी चाहिये। तत्त्व तो आत्मा है। तुम रूपासक्त कब होते हो ? जब आत्माको भूल जाते हो। अन्तमें अहङ्कार आता है। यह भी मोह-का ही रूप है। प्राकृतिक रूपोंकी इच्छा करना लोभ है, चेतनात्मक रूपोंकी इच्छा करना मोह है और अपने रूपकी इच्छा करना अहङ्कार है। हम अहङ्कारी कैसे बनते हैं ? मैं अपने रूपके विषयमें देखता हूँ और कहता हूँ कि मैं तुमसे अच्छा हूँ, तुमसे बड़ा हूँ, तुम्हें मेरी बात माननी पड़ेगी। हमें यह अहङ्कार कैसे उत्पन्न होता है ? हम अपने रूपको चाहते हैं। कैसी मूर्खता है ? क्योंकि रूप अनित्य है, एक न-एक दिन इसका नाश होगा और हम इसको न जानेंगे। गीता कहती है—'अपने रूपमें आसक्त होना ही अहङ्कार है।' संसारके अनेकों महापुरुषोंको अहङ्कारके कारण दुःख उठाना पड़ा है। नेपोलियन जो आधुनिक युगका सबसे बड़ा कर्मिष्ठ पुरुष माना जाता है बहुतेरे सुन्दर साहस और बुद्धिमानीके गुण उसमें थे, परन्तु वह अहङ्कारी था। इस दृष्टिसे शिवाजी नेपोलियनसे श्रेष्ठ थे। शिवाजी नम्र पुरुष थे, परन्तु *नेपोलियन वैसा न था*। अपने रूपके ऊपर आसक्त होना ही अहङ्कार है। और मोह-भ्रान्त होकर बाहरी रूपपर आसक्त होना है। श्रीकृष्णकी एक महती शिक्षा यह है कि, 'रूप और आत्माकी विवेचना करो। आत्मा बाह्य रूप नहीं है।' इस बातको समझे *बिना हम गीताको नहीं समझ सकते*। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं कि 'तुम्हें युद्धमें उतरनेका साहस नहीं होता क्योंकि तुम रूपमें आसक्त हो रहे हो।' अर्जुन कहते हैं—'मेरा मन घूम रहा है, मैं किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहा हूँ।' अर्जुन काँप रहा है। विषादका एक अर्थ है क्षीणता। *इस समय अर्जुन क्षीणतासे दुखी हो रहा है।* जब तुम्हारा शरीर थक जाता है, तुम जीवनमें उदास दीख पड़ते हो। बेचारे अर्जुनका शरीर शिथिल हो रहा है, वह कहता है—'मेरा मन घूम रहा है।' दुर्योधनने जो अर्जुन, उसके भाइयों और द्रौपदीको कष्ट दिया, उसे अर्जुनने खूब सोचा है। कौरवोंने जो उन्हें नाना प्रकारसे सताया है उसका चिन्तन करके अर्जुनकी उत्साहशीलता शिथिल हो गयी है, वह क्षीणताके कारण दुखी हो रहा है।



परमार्थ-साधनके आठ विघ्न


भगवत्-प्राप्तिके साधकको या परमार्थ-पथके पथिकको एक-एक पैर सँभालकर रखना चाहिये । इस मार्गमें अनेकों विघ्न हैं । आज उनमेंसे आठ प्रधान विघ्नोंके सम्बन्धमें कुछ आलोचना करनी है—वे आठ ये हैं——आलस्य, विलासिता, प्रसिद्धि, मान-बड़ाई, गुरुपन, बाहरी दिखाव, पर-दोष-चिन्तन और सांसारिक कार्योंकी अत्यन्त अधिकता ।

आलस्य—आलसी मनुष्यका जीवन तमोमय रहता है । वह किसी भी कामको प्रायः पूरा नहीं कर पाता। आज-कल करते-करते ही उसके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं । वह परमार्थकी बातें सुनता-सुनाता है, उसे अच्छी भी लगती हैं, परन्तु आलस्य उसे साधनमें तत्पर नहीं होने देता । श्रद्धावान् पुरुष भी आलस्यके कारण उद्देश्य-सिद्धितक नहीं पहुँच पाता । इसीलिये श्रद्धाके साथ 'तत्परता' की आवश्यकता भगवान्‌ने गीतामें बतलायी है । आलस्यसे तत्परताका विरोध है, आलस्य सदा यही भावना उत्पन्न करता रहता है कि 'क्या है, पीछे कर लेंगे ।' जब कभी उसके मनमें कुछ करनेकी भावना होती है, तभी आलस्य प्रमाद, जम्हाई, तन्द्रा आदिके रूपमें आकर उसे घेर लेता है अतएव आलस्यको साधन-मार्गका एक बहुत बड़ा शत्रु मानकर जिस किसी उपायसे भी उसका नाश करना चाहिये ।

विलासिता—विलासी पुरुषको मौज-शौकके सामान जुटानेमें ही फुरसत नहीं मिलती, वह साधन कब करे ? पहले सामान इकट्ठा करना, फिर उससे शरीरको सजाना, यही उसका प्रधान कार्य होता है । कभी साधु-महात्माका संग करता है तो उसकी क्षण-भरको यह इच्छा होती है कि मैं भी भजन करूँ परन्तु विलासिता उसको ऐसा करने नहीं देती । भाँति-भाँतिके नये-नये फैशनके सामान संग्रह करना और उनका मूल्य चुकानेके लिये अन्याय और असत्यकी परवा न करते हुए धन कमानेके काममें लगे रहना इन्हींमें उसका जीवन बीतता है । शौकीन मनुष्यके धनका अभाव तो प्रायः बना ही रहता है, क्योंकि वह आवश्यक-अनावश्यकका ध्यान छोड़कर जहाँ कहीं भी कोई शौककी बढ़िया चीज देखता है, उसीको खरीद लेता है या खरीदना चाहता है । न रुपयोंकी परवा करता है और न अन्य किसी प्रकारका परिणाम सोचता है । सुन्दर मकान, बढ़िया-बढ़िया बहुमूल्य महीन वस्त्र, सुन्दर भोजन, इत्र-फुलेल, कंघे, दर्पण, जूते, घड़ी, छड़ी, पाउडर आदिकी तो बात ही क्या है, खाने-पहनने, बिछाने, बैठने, चलने-फिरने, सूँघने-देखने और सुनने-सुनाने आदि सभी प्रकारके सामान उसे बढ़िया-से-बढ़िया और सुन्दर-से-सुन्दर चाहिये । वह रात-दिन इन्हींकी चिन्तामें लगा रहता है । वैराग्य तो उसके पास भी नहीं फटकने पाता । वह कभी-कभी भगवान्‌से प्रार्थना करता है कि 'हे भगवन् ! मेरे मनमें आपके प्राप्त करनेकी इच्छा है, परन्तु मेरे शौकके सामान सदा बने रहें, मुझे नये-नये विलास-द्रव्योंकी प्राप्ति होती रहे । और मैं इसी प्रकार विलासितामें डूबा हुआ ही आपको भी पा लूँ ।' कहना नहीं होगा कि यह प्रार्थना भी उसकी क्षणभरके लिये ही होती है । ऐसे लोगोंको करोड़पतिसे कंगाल होते देखा जाता है और अर्थ-कष्टके साथ ही आदतसे प्रतिकूल स्थितिमें रहनेको बाध्य होनेका एक महान् कष्ट उन्हें विशेषरूपसे भोगना पड़ता है । जो मनुष्य भगवत्-प्राप्ति तो चाहता है परन्तु वैराग्य नहीं चाहता, और सादा जीवन बितानेमें संकोचका अनुभव करता है, वह भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता ।

अत विलासिताके भावको मनमें आते ही उसे तुरन्त निकाल देना चाहिये । यह भाव तरह-तरहकी युक्तियाँ पेश करके पहले पहले 'कर्तव्य' समझाकर आश्रय प्राप्त कर लेता है, फिर बढ़कर मनुष्यको तबाह कर डालता है, अतएव इससे विशेष सावधान रहना चाहिये। विलासी पुरुषोंका सग करना या उनके आसपास रहना भी विलासितामें फँसानेवाला है। इसलिये विलासिताको परम शत्रु समझ इसका सर्वथा नाश करके सभी बातोंमें सादगीका आचरण करना चाहिये। विलासितामे अनेक हानियाँ हैं परन्तु निम्नलिखित दस हानियाँ तो होती ही है, इस बातको याद रखना चाहिये ।

१ धनका नाश,	६ धर्मका नाश,
२ आरोग्यताका नाश,	७ सत्यका नाश,
३ आयुका नाश,	८ वैराग्यका नाश,
४ सादगीके सुखका नाश,	९ भक्तिका नाश,
५ देशके स्वार्थका नाश,	१० ज्ञानका नाश ।

प्रसिद्धि—ससारमें ख्याति साधन-मार्गका एक बड़ा विघ्न है । इसीसे सन्तोंने भगवत्प्रेमको वैसे ही गुप्त रखनेकी आज्ञा दी हैं जैसे भले घरकी स्त्री जारके अनुरागको छिपाकर रखती है। साधककी प्रसिद्धि होते ही चारों ओरसे लोग उसे घेर लेते हैं । साधनके लिये उसे समय मिलना कठिन हो जाता है । उसका अधिक समय सैकड़ों हजारों आदमियोंसे बात चीत करने और पत्र-व्यवहारमे बीतने लगता है। जीवनकी अन्तर्मुखी वृत्ति बहिर्मुखी बनने लगती है। होते होते उसका जीवन सर्वथा बहिर्मुख हो जाता है । वह बाहरके कामोंमें ही लग जाता है और क्रमश गिरने लगता है । परन्तु प्रसिद्धिमें प्रिय भाव उत्पन्न हो जानेके कारण उसे वह सदा बढ़ाना चाहता है और यों दिनों दिन अधिकाधिक लोगोंसे परिचय प्राप्त कर लेता है । फिर उसका असली साधकका स्वरूप तो रहता नहीं, परन्तु प्रसिद्धि कायम रखनेके लिये वह दम्भ आरम्भ कर देता है और वैसे ही रात-दिन जलता और नये-नये ढोंग रचा करता है, जैसे निर्धन मनुष्य धनी कहानेपर अपने उस झूँठे दिखाऊ धनीपनको कायम रखनेके लिये अन्दर-ही-अन्दर जलता और जाल रचता रहता है । उसका जीवन कपट, दु ख और सन्तापका घर बन जाता है । ऐसी अवस्थामें साधनका तो स्मरण ही नहीं रहता । अतएव इस अवस्थाकी प्राप्ति न हो, इससे पहले ही बढ़ती हुई प्रसिद्धिको रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये । यह बात याद रखनी चाहिये—'जिनकी प्रसिद्धि नहीं हुई और भजन होता है, वे पूरे भाग्यवान् हैं । जितनी प्रसिद्धि है, उससे ज्यादा भजन होता है तो भी अधिक डर नहीं है । जितना भजन होता है उतनी ही प्रसिद्धि है तो गिरनेका भय है । जितना भजन होता है उससे कहीं ज्यादा प्रसिद्धि हुई तो वह गिरने लगा और जहाँ कोई बिना भजनके ही भजनानन्दी कहलाता है वहाँ तो उसका पतन हो ही चुका ।'

मान बड़ाई—यह बड़ी मीठी छुरी है या विषभरा सोनेका घड़ा है । देखनेमें बहुत ही मनोहर लगता है परन्तु साधन-जीवनको नष्ट करते इसे देर नहीं लगती। ससारके बहुत बड़े-बड़े पुरुषोंके बहुत बड़े-बड़े कार्य मान-बड़ाईके मोलपर बिक जाते हैं। असली फल उत्पन्न करनेके पहले ही वे सब मान-बड़ाईके प्रवाहमें बह जाते हैं । मानकी अपेक्षा भी बड़ाई अधिक प्रिय मालूम होती है। बड़ाई पानेके लिये मनुष्य मानका त्याग कर देता है, लोग प्रशसा करें, इसके लिये मान छोड़कर सबसे नीचे बैठते और मानपत्र आदिका त्याग करते लोग देख जाते हैं । बड़ाई मीठी लगी कि साधन-पथसे पतन हुआ । आगे चलकर तो उसके सभी काम बड़ाईके लिये ही होते हैं । जबतक साधनसे बड़ाई होती है तबतक वह साधकका भेष रखता है । जहाँ किसी कारणसे

परमार्थ-साधनमें रहनेवाले मनुष्योंकी निन्दा होने लगती है, वहीं वह उसे छोड़कर जिस कार्यमें बड़ाई होती है उसीमें लग जाता है। क्योंकि अब उसे बड़ाईसे ही काम है, भगवान्‌से नहीं। अतएव मान-बड़ाईकी इच्छाका सर्वथा त्याग करना चाहिये। परन्तु सावधान, यह वासना बहुत ही छिपी रह जाती है, सहजमें इसके अस्तित्वका पता नहीं लगता। मालूम होता है, हम बड़ाईके लिये काम नहीं कर रहे हैं, परन्तु यदि निन्दा जरा भी अप्रिय लगती है और बड़ाई सुनते ही मनमें सन्तोष-सा प्रतीत होता है या आनन्दकी एक लहर-सी उठकर होठोंपर हँसीकी रेखा-सी चमका देती है तो समझना चाहिये कि बड़ाईकी इच्छा अवश्य मनमें है। बहुत-से मनुष्य तो भोगोंतकका त्याग भी बड़ाई पानेके लिये ही करते हैं। यद्यपि न करनेवालोंकी अपेक्षा बड़ाईके लिये किया जानेवाला त्याग या धार्मिक सत्कार्य बहुत ही उत्तम है, परन्तु परमार्थदृष्टिसे मान-बड़ाईकी इच्छा अत्यन्त हेय और निन्दनीय होनेके साथ ही साधनसे गिरानेवाली है।

गुरुभाव—साधन-अवस्थामें मनुष्यके लिये गुरु-भावको प्राप्त हो जाना बहुत ही हानिकारक है। ऐसी अवस्थामें, जब वह स्वयं ही सिद्धावस्थाको प्राप्त नहीं होता, जब उसीका साधनपथ रुक जाता है, तब वह दूसरोंको तो कैसे पार पहुँचावेगा? ऐसे ही कच्चे गुरुओंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है, जैसे अन्धा अन्धोंकी लकड़ी पकड़कर अपने सहित सबको गड्ढेमें डाल देता है, वैसी ही दशा इनकी होती है। परमार्थ-पथमें गुरु बननेका अधिकार उसीको है जो सिद्धावस्थाको प्राप्त कर चुका हो। जो स्वयं लक्ष्यतक नहीं पहुँचा है, वह यदि दूसरोंके पहुँचानेका ठेका लेने जाता है तो उसका परिणाम प्रायः बुरा ही होता है। शिष्योंमेंसे कोई सेवा करता है तो उसपर उसका मोह हो जाता है। कोई प्रतिकूल होता है तो उसपर क्रोध आता है। सेवकके विरोधीसे द्वेष होता है। दलबन्दी हो जाती है। जीवन बहिर्मुख होकर भाँति-भाँतिके झंझटोंमें लग जाता है। साधन छूट जाता है। उपदेश और दीक्षा देना ही जीवनका व्यापार बन जाता है। रागद्वेष बढ़ते रहते हैं और अन्तमें वह सर्वथा गिर जाता है। साधनपथमें दूसरोंको साथी बनाना, पिछड़े हुओंको साथ लेना, मित्रभावसे परस्पर सहायता करना, भूले हुओंको मार्ग बताना, साथमें प्रकाश या भोजन हो तो दूसरोंको भी उससे लाभ उठाने देना, मार्गके बीमारोंकी सेवा करना, अशक्तोंको शक्तिभर साहस, शक्ति और धैर्य प्रदान करना तो साधकका परम कर्तव्य है। परन्तु गुरु बनकर उनसे सेवा कराना, पूजा प्राप्त करना, अपनेको ऊँचा मानकर उन्हें नीचा समझना, दीक्षादेना, सम्प्रदाय बनाना, अपने मतको आग्रहसे चलाना, दूसरोंकी निन्दा करना और बड़प्पन बघारना आदि बातें भूलकर भी नहीं करनी चाहिये।

बाहरी दिखाव—साधनमें 'दिखाव' की भावना बहुत बुरी है। वस्त्र, भोजन और आश्रम आदि बातोंमें मनुष्य पहले तो संयमके भावसे कार्य करता है परन्तु पीछे उसमें प्रायः 'दिखाव' का भाव आ जाता है। इसके अतिरिक्त, 'ऐसा सुन्दर आश्रम बने, जिसे देखते ही लोगोंका मन मोहित हो जाय, भोजनमें इतनी सादगी हो कि देखते ही लोग आकर्षित हो जायँ। वस्त्र इस ढंगसे पहने जायँ कि लोगोंके मन उनको देखकर खिंच जायँ।' ऐसे भावोंसे भी ये कार्य होते हैं। यद्यपि यह दिखावटी भाव सुन्दर और असुन्दर दोनों ही प्रकारके चाल-चलन और वेष-भूषामें ही रह सकते हैं। बढ़िया कपड़े पहननेवालेमें स्वाभाविकता हो सकती है और मोटा खद्दर, या गेरुआ अथवा बिगाड़कर कपड़े पहननेवालेमें 'दिखाव'

का भाव रह सकता है। इसका सम्बन्ध ऊपरकी क्रियासे नहीं है, मनसे है। तथापि अधिकतर सुन्दर दिखानेकी भावना ही रहती है। लोकमें जो फैशन सुन्दर समझी जाती है, उसीका अनुकरण करनेकी चेष्टा प्रायः हुआ करती है। अन्दर सचाई होनेपर भी 'दिखाव' की चेष्टा साधकको गिरा ही देती है। अतएव इससे सदा बचना चाहिये।

पर-दोष-चिन्तन—यह भी साधन-मार्गका एक भारी विघ्न है। जो मनुष्य दूसरेके दोषोंका चिन्तन करता है वह भगवान्‌का चिन्तन नहीं कर सकता। उसके चित्तमें सदा द्वेषाग्नि जला करती है। उसकी जहाँ नजर जाती है, वहीं उसे दोष दिखायी देते हैं। दोषदर्शी सर्वत्र भगवान्‌को कैसे देखे ? इसी कारण वह जहाँ-तहाँ हर किसीकी निन्दा कर बैठता है। परदोषदर्शन और परनिन्दा साधनपथके बहुत गहरे गड्ढे हैं। जो इनमें गिर पड़ता है, वह सहज ही नहीं उठ सकता। उसका सारा भजन-साधन छूट जाता है। अतएव साधकको अपने दोष देखने तथा अपनी सच्ची निन्दा करनी चाहिये। जगत्‌की ओरसे उदासीन रहना ही उसके लिये श्रेयस्कर है।

सांसारिक कार्योंकी अधिकता—मनुष्यको घरके, संसारके, आजीविकाके, यहाँतक कि परोपकारतकके कार्य उसी हदतक करने चाहिये, जिसमें विश्राम करने तथा दूसरी आवश्यक बातें सोचनेके लिये पर्याप्त समय मिल जाय। जो मनुष्य सुबहसे लेकर रातको सोनेतक काममें ही लगे रहते हैं, उनको जब विश्राम करनेकी ही फुरसत नहीं मिलती, तब घण्टे दो घण्टे स्वाध्याय करने अथवा मन लगाकर भगवच्चिन्तन करनेको तो अवकाश मिलना सम्भव ही कैसे हो सकता है ? उनका सारा दिन हाय-हाय करते बीतता है, मुश्किलसे नहाने-खानेको समय मिलता है। वे उन्हीं कामोंकी चिन्ता करते-करते सो जाते हैं, जिससे स्वप्नमें भी उन्हें वैसी ही सृष्टिमें विचरण करना पड़ता है। असलमें तो सांसारिक पदार्थोंके अधिक संग्रह करनेकी इच्छा ही दूषित है। दानके तथा परोपकारके लिये भी धन संग्रह करनेवालोंके मानसिक दयनीय दुर्दशाके दृश्य प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, फिर भोगके लिये अर्थ सञ्चय करनेवालोंके दुःख भोगनेमें तो आश्चर्य ही क्या है। परन्तु धन सञ्चय किया भी जाय तो इतना काम तो कभी नहीं बढ़ाना चाहिये, जिसकी सँभाल और देखभाल करनेमें ही जीवनका अमूल्य समय रोज दो घड़ी स्वस्थचित्तसे भगवद्भजन किये बिना ही बीत जाय। जिन बेचारोंके पेट पूरे नहीं भरते, उनके लिये तो कदाचित् दिन-रात मजदूरीमें लगे रहना और अधिक-से-अधिक कार्यका विस्तार करना क्षम्य भी हो सकता है परन्तु जो सीधे या प्रकारान्तरसे धनकी प्राप्तिके लिये ही कार्योंको बढ़ाते हैं, वे तो मेरी तुच्छ बुद्धिमें भूल ही करते हैं। निष्कामभावसे करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुष भी जब अधिक कार्योंमें व्यस्त हो जाते हैं, तब प्रायः निष्काम-भाव चला जाता है और कहीं-कहीं तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें बाध्य होकर सकामभावका आश्रय लेना पड़ता है। अतएव जहाँतक बने साधक पुरुषको सांसारिक कार्य उतने ही करने चाहिये, जितनेमें गृहस्थीका खर्च सादगीसे चल जाय, प्रतिदिन नियमित रूपसे भजन-साधनको समय मिल सके, चित्त न अशान्त हो और न निकम्मेपनके कारण प्रमाद या आलस्यको ही अवसर मिले। कर्तव्य-पालनकी तत्परता बनी रहे। और मनुष्य-जीवनके मुख्य ध्येय 'भगवत्-प्राप्ति' का कभी भूलकर भी विस्मरण न हो।

विघ्न और भी बहुत-से हैं, पर प्रधान-प्रधान विघ्नोंमें ये आठ बड़े प्रबल हैं। साधकको चाहिये कि वह दयामय सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की कृपा-पर विश्वास करके और उसीका आश्रय ग्रहण करके इन विघ्नोंका नाश कर दे। प्रभु-कृपाके बलसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मनुष्य प्रभु-कृपापर जितना ही विश्वास करता है, उतना ही वह प्रभुकी सुखमय गोदकी ओर आगे बढ़ता है।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

श्रीहरिः

श्रीगीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्षशुक्ला ११ को श्रीगीता-जयन्तीका उत्सव है। गीताकी प्रशंसामें कुछ भी कहना उसका एक प्रकारसे अपमान करना है, जो साक्षात् श्रीभगवान्‌के श्रीमुख-कमलका वचन है, जिसके एक भी वचनका सहारा लेकर चलनेवाला मनुष्य अनायास ही भव-सागरसे तर जाता है। उस गीता माताकी जयन्तीका उत्सव मनाना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। जयन्ती-उत्सवमें और सब बातें सुविधाके अनुसार होनी ही चाहिये, परन्तु एक बात विशेषरूपसे होनी चाहिये, वह यह कि गीता-भक्तोंको गीताके उपदेशमय किसी भी श्लोकको आधार मानकर उसके अनुसार जीवन बनानेका प्रण करना चाहिये। हमारी समझसे निम्नलिखित तीन श्लोक इसके लिये बहुत ही उपयोगी हैं। श्लोक ये हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥ (१६।२१)
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (७।१४)
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ (९।३४)

भगवान् कहते हैं—'हे अर्जुन! काम, क्रोध तथा लोभ ये तीन नरकके द्वार, आत्माका नाश करनेवाले हैं इसलिये इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। मेरी यह त्रिगुणमयी अद्भुत माया बड़ी ही दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मुझको निरन्तर भजते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं (इसलिये भगवान्‌का नित्य भजन करना चाहिये)। तू मुझमें ही मन लगा, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा कर, मुझको ही नमस्कार कर, इसप्रकार मेरी शरण होकर अपने आत्माको मुझमें लगाकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाई-बहिनसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि सभी लोग, जो गीताशास्त्रको मानते हों, चाहे वे किसी भी देश, वर्ण, जाति या श्रेणीके हों, उस दिन यथासाध्य निम्नलिखित कार्य करने-करानेका प्रयत्न अवश्य करें।

(१) गीता-ग्रन्थकी पूजा।
(२) गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण और रचयिता श्रीव्यासदेवका पूजन।
(३) यथासाध्य गीताका पारायण।
(४) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ, गीतापर व्याख्यान और गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।
(५) गीता तत्त्वको समझने और गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-प्रवचन तथा व्याख्यान।
(६) गीताजीकी सवारीके जुलूस निकाले जायँ।
(७) लेखक और कवि लेखों और कविताओंद्वारा गीता-धर्म-प्रचारमें सहायता करें।

नम्र-निवेदन

(१) ईश्वराङ्कका पहला संस्करण समाप्त हो गया। दूसरा संस्करण २५०० का लगभग १५ दिनमें छपकर तैयार हो जानेकी आशा है। इतने समयतक जिन सज्जनोंके रुपये मनिआर्डरसे आते हैं या जिन सज्जनोंकी वी० पी० भेजनेकी आज्ञा मिलती है उनकी सेवामें अङ्क निकलनेपर भेजा जा सकेगा। तबतकके लिये प्रेमी और कृपालु ग्राहक महानुभावगण धीरज रक्खें। कष्टके लिये क्षमा करें। इधर प्रेसकी पुस्तकें और चित्र अधिक बिकनेके कारण कई पुस्तकें और चित्र आदि समाप्त हो गये जो 'ईश्वराङ्क' के साथ साथ छापने पड़े। अतः इस देरीके लिये क्षमा चाहते हैं।

(२) ईश्वराङ्क' का १८७५० प्रतियोंका पहला संस्करण प्रायः तीन ही महीनेमें समाप्त हो गया। इससे आपलोगोंके ईश्वर-प्रेम, आस्तिकता और कल्याणके प्रति प्रेमका प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। नये-नये ग्राहकोंकी माँग देखकर केवल प्रचारकी दृष्टिसे खर्चका खयाल प्रायः छोड़कर २५०० प्रतियोंका यह दूसरा संस्करण फिर छापा गया है। माँगें आ रही हैं। अबकी बार इन अङ्कोंके निकल जानेपर तीसरा संस्करण छपनेकी सहजमें कोई सम्भावना नहीं है इसलिये जिन सज्जनोंको ग्राहक बनना हो उन्हें बहुत जल्दी ४≈) मनिआडरसे भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये।

यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्मार्थ बाँटने, इनाम देने, उपहार देने और संग्रहमें रखनेके लिये यह बहुत ही उत्तम और उपकारी वस्तु है। भारतवर्षके प्रायः सभी भाषाओंके पत्रों और बड़े बड़े महानुभावोंने मुक्त-कण्ठसे ईश्वराङ्कके संग्रह करनेकी राय दी है। ४≈) देकर ग्राहक हो जानेपर अगले दस महीनोंके अङ्क भी मिल जाते हैं, यह विशेष सुभीता है। अतएव इन २५०० प्रतियोंके बहुत ही जल्दी बिक जानेकी सम्भावना है।

(३) जिन सज्जनोंने मान सम्मान, नामप्रकाशन या आर्थिक लाभकी कुछ भी आशा न रखकर निःस्वार्थ भावसे कल्याणके ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं उनके हमलोग बड़े ही कृतज्ञ हैं। भगवान्‌के कार्यमें सहायता करनेवाले सज्जन श्रीभगवान्‌के बड़े ही कृपापात्र होते हैं। हमारा निवेदन है कि वे कृपापूर्वक कल्याणके प्रचारार्थ ग्राहक बढ़ानेमें कुछ परिश्रम और करें, जिससे ईश्वराङ्कका यह दूसरा संस्करण बहुत जल्दी प्रेमी पाठकोंके हाथोंमें चला जाय।

(४) यह स्मरण रहे कि कल्याणमें विज्ञापन आदिकी कोई आमदनी नहीं है यह सिर्फ ग्राहक संख्यापर ही निर्भर करता है। कल्याणकी पुरानी फाइलें और विशेषाङ्क जो बचे हैं वे भी बहुत उपयोगी हैं, प्रेमियोंको ग्राहक बनानेकी तथा पुरानी फाइलें बिकवाने और खरीदनेकी विशेष कोशिश करनी चाहिये।

—व्यवस्थापक

श्रीरामायण-परीक्षा

श्रीरामायण परीक्षा आगामी माघ शुक्ल ५ सं० १९८९ ता० ३०-१-१९३३ से आरम्भ होगी। केन्द्रोंमें अभीसे तैयारी होनी चाहिये। पौष कृष्ण पक्षके अन्ततक परीक्षार्थियोंके आवेदनपत्र कार्यालयमें आ जाने चाहिये।

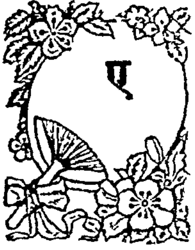
संयोजक, श्रीरामायण प्रचार समिति
C/o गीताप्रेस, गोरखपुर

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]



क बार दध्यङ ऋषिके आश्रममें देवराज इन्द्र आया। उसको अपने आश्रममें आया हुआ देखकर दध्यङ ऋषिने उसका बहुत प्रकारसे आदर-सम्मान किया और इसप्रकार कहने लगे—

दध्यङ—हे देवराज इन्द्र! आप तीन लोकके अधिपति हैं, अतिथिरूपसे मेरे आश्रममें पधारे हैं, इसलिये आपके प्रसन्न करनेको मैं क्या करूँ, वह आप कहिये। वह प्रजा बहुत ही भाग्यशालिनी है, जिसके घरपर राजा पधारे! घरपर आये हुए अतिथिका सम्मान करना गृहस्थका परम धर्म है और राजा-जैसे अतिथिका सत्कार करना तो लोक-परलोक दोनोंमें कीर्तिका हेतु है। कहिये मैं आपका क्या कार्य करूँ?

इन्द्र—हे दध्यङ ऋषि! यदि आप मुझे प्रसन्न करना चाहते हैं तो मुझे ब्रह्म-विद्याका उपदेश दीजिये, क्योंकि सब प्राणियोंको ब्रह्म-विद्याकी प्राप्ति होना ही दुर्लभ है। संसारके सब पदार्थ थोड़े पुण्यसे प्राप्त हो सकते हैं परन्तु ब्रह्मविद्या तो जब जन्म-जन्मान्तरके महान् पुण्य एकत्र होते हैं तभी किसीको प्राप्त होती है। मैं आपसे ऐसी ब्रह्मविद्याको प्राप्त करना चाहता हूँ। इसके सिवा मैं अन्य कुछ भी नहीं चाहता।

इन्द्रके इसप्रकारके वचन सुनकर दध्यङ ऋषि संशयमें पड़ गये। जैसे किसी कन्याका पिता 'मैं तुमको अपनी कन्या दूँगा' ऐसी किसीसे प्रतिज्ञा करके, पीछे उस पुरुषमें विद्यादि गुणोंको न देखकर 'इस गुणहीनको मैं अपनी कन्या दूँ या न दूँ' ऐसे संशयमें पड़ जाता है। इसी प्रकार दध्यङ इन्द्रको प्रिय पदार्थ देनेकी प्रतिज्ञा करके सोचमें पड़ गये। 'इन्द्र गुरु-भक्तिसे रहित है, विषयोंमें आसक्त है, इसलिये ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं है' ऐसा विचारकर 'इन्द्रको ब्रह्मविद्या देना योग्य है या नहीं' ऋषि इस महान् संशयमें पड़ गये। 'यदि मैं ब्रह्मविद्या न दूँ, तो मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग होती है और यदि अनधिकारी इन्द्रको ब्रह्मविद्या दूँ तो ब्रह्मविद्या निष्फल जायगी' इस उलझनमें पड़े हुए ऋषि बहुत देरतक सोचते रहे, तदनन्तर ऋषिने यह विचार किया कि अनधिकारीको ब्रह्मविद्या देनेमें इतना पाप नहीं, जितना प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञा पूर्ण न करनेमें है इसलिये मुझे अपनी प्रतिज्ञाका पालन करके प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये इन्द्रको अवश्य ब्रह्मविद्याका उपदेश देना चाहिये। ऐसा विचारकर दध्यङ ऋषि देवराज इन्द्रको ब्रह्मविद्याका उपदेश इसप्रकार करने लगे—

इन्द्रको ब्रह्मविद्याका उपदेश

दध्यङ—हे देवराज! अश्विनीकुमार नामके मेरे दो शिष्योंने ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेके लिये मुझसे प्रार्थना की थी परन्तु उनको वैराग्यादि साधनोंसे रहित देखकर मैंने उन्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं किया, उसी दुर्लभ ब्रह्मविद्याका मैं तुम्हें उपदेश करता हूँ, सावधान होकर सुनो—हे इन्द्र! 'सुख' शब्दका मुख्य अर्थ आत्मस्वरूपका आनन्द है। आत्मस्वरूपके आनन्दसे भिन्न विषयोंमें जो आनन्द होता है, वह आनन्द 'सुख' शब्दका गौण अर्थ है। जैसे आत्मस्वरूपका आनन्द 'सुख' शब्दका मुख्य अर्थ है और विषयानन्द 'सुख' शब्दका गौण अर्थ है इसी प्रकार 'विद्या' शब्दका मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है।

लौकिक विद्या, 'विद्या' शब्दका गौण अर्थ है। अथवा जो अज्ञान अनन्तरूपसे फैला हुआ है, वासनारूपी जालका मूल है और सब प्राणियोंको भय देनेवाला है, उस अज्ञानको सम्पूर्ण रीतिसे नष्ट कर देना, इसीका नाम विद्या है। अथवा वैराग्यादि साधनसम्पन्न अधिकारीको आनन्दस्वरूप आत्माका बोध करा देना यानी अधिकारीको आत्माका साक्षात् कराना, इसका नाम विद्या है। इसप्रकारका 'विद्या' शब्दका अर्थ ब्रह्मविद्यामें ही घटता है, ब्रह्मविद्याके सिवा अन्य लौकिक विद्याओंमें इसप्रकारका अर्थ नहीं घटता। ब्रह्मविद्यासे ही पुरुषका अज्ञान नष्ट होता है और आनन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्ति होती है। ब्रह्म सर्व वेदान्त-शास्त्रका प्रतिपाद्य है। इस ब्रह्मने अपने सच्चिदानन्दरूपसे सब जगत्को व्याप्त कर रक्खा है इसलिये ब्रह्मका नाम पूर्ण है। असत् शब्दका अर्थ और उस अर्थसे उत्पन्न हुए ज्ञानका विषय जो तत्पदका अर्थरूप परोक्ष ईश्वर है और सत् शब्दका अर्थ और उसके अर्थसे उत्पन्न हुए ज्ञानका विषय जो त्वंपदका अर्थरूप अपरोक्ष जीव है, उन दोनोंको परमात्माके सत् आनन्द-स्वरूपसे पूर्ण जानो। असत् शब्दका अर्थ ईश्वर होनेसे ही 'ईश्वर है' ऐसा किसीके जाननेमें नहीं आता और इसीसे ईश्वर परोक्ष है और सत् शब्दका अर्थ जीव होनेसे 'मैं हूँ' ऐसा सबको अनुभव होता है एवं इसीसे जीव अपरोक्ष है।

इन्द्र–हे भगवन्! प्रपञ्चरूप उपाधि आत्माके भेदका कारण है इसलिये आत्माके भेदका कारण प्रपञ्चरूप उपाधि जबतक विद्यमान है तबतक परमात्माकी सर्वत्र पूर्णता किसप्रकार सम्भव हो सकती है?

दध्यङ–हे इन्द्र! यदि प्रपञ्च आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न हो तो प्रपञ्च आत्माके भेदका कारण हो, परन्तु अधिष्ठानरूप आनन्दस्वरूप आत्मासे प्रपञ्च भिन्न नहीं है, प्रपञ्च पूर्ण परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, उसीमें स्थित है और उसीमें लय होता है। अधिष्ठान आत्मासे प्रपञ्चकी सत्ता भिन्न नहीं है इसलिये सम्पूर्ण जगत् अधिष्ठानरूप आत्मामें ही कल्पित है। जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानके जाननेसे कल्पित किये हुए सर्पका नाश हो जाता है और रज्जुरूप अधिष्ठान ही शेष रहता है इसी प्रकार अधिष्ठानरूप आत्माके जाननेसे—साक्षात्कार होनेसे कल्पित किये हुए सारे प्रपञ्चका नाश हो जाता है और प्रपञ्चरूप उपाधिसे रहित परमात्मा जाननेमें आता है। जैसे आकाशमें रहनेवाले मेघ जब आकाशमें लय हो जाते हैं तो मेघोंके लय हो जानेके बाद आकाश ही रह जाता है इसी प्रकार कल्पित प्रपञ्चके नष्ट हो जानेके बाद अकेला अद्वितीय परमात्मा ही शेष रहता है। हे इन्द्र! जैसे आकाश सर्वत्र पूर्ण है इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा भी सर्वत्र पूर्ण है। जैसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान-कालमें शरीरादि अनात्मपदार्थ एक स्वभाववाले नहीं होते किन्तु बाल, यौवन आदि अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको प्राप्त होते रहते हैं, इस प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा अनेक अवस्थाओंको प्राप्त नहीं होता किन्तु तीनों कालमें एक ही स्वभाववाला रहता है। हे इन्द्र! इस सत् चित्-आनन्दस्वरूप निर्गुण परमात्माके वास्तविक स्वरूपका शुद्ध अन्तःकरणवाले विद्वान् पुरुषको ही अनुभव होता है, मलिन अन्तःकरणवाला पुरुष आत्माके वास्तविक स्वरूपको जान नहीं सकता।

इन्द्र–हे भगवन्! जिस आत्माके वास्तविक स्वरूपका विद्वान् पुरुष अनुभव करता है, उस आत्माके वास्तविक स्वरूपका 'यह घट है, यह पट है' इस प्रकार 'इदंता' रूपसे मुझको उपदेश कीजिये।

दध्यङ हे देवराज इन्द्र! आनन्दस्वरूप आत्मा वस्तुतः असङ्ग, निर्गुण और जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयसे रहित है। ऐसे आत्माको 'यह घट है, यह पट है' इसप्रकार इदंतारूपसे न तो कोई

भी विद्वान् जाननेमें ही समर्थ है और न कोई विद्वान् इसप्रकार समझानेमें ही समर्थ है। निर्गुण परमात्मामें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका आरोप करके गुरु शिष्यको निर्गुण ब्रह्मका उपदेश करता है। आरोप किये हुए प्रपञ्चका अपवाद किये बिना निर्गुण परमात्माका साक्षात् बोध करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, क्योंकि निर्गुण परमात्मा स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप है इसलिये चक्षु आदि बाहरकी इन्द्रियोंसे, मन, बुद्धि आदि भीतरकी इन्द्रियोंसे और इसी प्रकार किसी दूसरे प्रमाणसे वह जाननेमें नहीं आ सकता। ऐसे मन, वाणीके अविषयरूप निर्गुण परमात्मामें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय किसप्रकार सम्भव हो सकती है? इस प्रकारके विचारवाले महात्मा पुरुषोंने जगत्की उत्पत्ति आदिकी सिद्धिके लिये निर्गुण परमात्मामें मायाकी कल्पना की है। माया अज्ञानसे भिन्न नहीं है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इसप्रकारके अनुभवसे जिस अज्ञानका स्वरूप सिद्ध होता है, वह अज्ञान ही माया है। इस अज्ञानरूप मायाको परमात्मा प्रकाशित करता है। अज्ञानरूप माया सम्पूर्ण परमात्माको आवरण नहीं करती किन्तु परमात्माके किसी एक भागको आवरण करती है। यदि सम्पूर्णरूपसे परमात्माको माया आवरण करती हो तो अस्ति, भाति और प्रिय-रूपसे आत्माका भान नहीं होना चाहिये। सब प्राणियोंको 'मैं सर्वदा विद्यमान हूँ' इस प्रतीतिमें अस्तिरूपसे परमात्माका भान होता है। 'मैं भासता हूँ' इस प्रतीतिमें परमात्माका भातिरूपसे भान होता है और 'मैं प्यारा हूँ' इस प्रतीतिमें प्रियरूप परमात्माका भान होता है। अपने स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूपसे आनन्दस्वरूप आत्मा बुद्धिआदि सर्व जड़ पदार्थोंका द्रष्टा है। परमात्मा सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित है, इसलिये स्वयंसिद्ध आनन्दस्वरूप परमात्माका साक्षात् बोध करानेमें कोई भी पुरुष समर्थ नहीं है। भाव यह कि शब्द, स्पर्श आदि विषयोंसे जो सुख उत्पन्न होता है, उस सुखका जब एक पुरुष दूसरे पुरुषसे वर्णन करता है तो किसी दूसरे पदार्थका दृष्टान्त देकर ही अपने सुखका वर्णन करता है, दृष्टान्त बिना अपने सुखका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं होता। जब विषयोंसे उत्पन्न हुए सुखका ही कोई वर्णन नहीं कर सकता तो अलौकिक आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात् वर्णन कौन कर सकता है? आनन्दस्वरूप आत्माको साक्षात्‌रूपसे कोई भी कहनेमें समर्थ नहीं है। इसलिये हे इन्द्र! निर्गुण परमात्मामें जगत्का अध्यारोप करके ही मैं तुमको आनन्दस्वरूप आत्माका उपदेश करता हूँ। यदि तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा तो तुम आप ही परमात्माके वास्तविक स्वरूपको जान सकोगे।

परमात्मामें जगत्का अध्यारोप

हे देवराज इन्द्र! इस अनादि संसारमें जैसे रात्रि और दिनका निरन्तर प्रवाह चला करता है अर्थात् रात्रि निवृत्त होनेपर दिनकी उत्पत्ति होती है और दिनके निवृत्त होनेपर रात्रिकी उत्पत्ति होती है। जिसप्रकार रात्रि और दिनका यह प्रवाह निरन्तर चला ही करता है इसी प्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका प्रवाह निरन्तर चला करता है। जगत्की उत्पत्तिके पीछे प्रलय होती है और प्रलयके बाद उत्पत्ति होती है, इसप्रकार उत्पत्ति और प्रलयका प्रवाह चलता रहता है। जैसे रात्रि और दिनका मध्य समय सन्ध्या कहलाती है इसी प्रकार जगत्की उत्पत्ति और लय इन दोनोंके मध्यका भाग स्थिति कहलाता है, यह सम्पूर्ण जगत्का नाम, रूप तथा क्रियास्वरूप है। इसमें विश्व, लोक, दृश्य तथा प्रपञ्च आदि शब्द नाम कहे जाते हैं। आकाशादि पञ्चभूत तथा उनसे उत्पन्न होनेवाले शरीर आदि व्यक्तियोंको रूप कहते हैं और जगत्की उत्पत्ति और संहारको क्रिया कहते हैं। एक-एक घट-पटादि पदार्थोंमें भी नाम, रूप और क्रिया रहती है। जैसे कि घड़ेके घट, कुम्भ और कलस आदि नाम हैं, जिसके बीचका भाग

गोल और मुख छोटा हो, वह घड़ा है, यह घड़ेका रूप है। घड़ा जल आदि लानेके कार्यमें आता है, यह घड़ेकी क्रिया है। इसी प्रकार पटादि सर्व पदार्थोंमें नाम, रूप और क्रिया समझ लेनी चाहिये।

हे देवराज इन्द्र ! जैसे घट-पटादि पदार्थ किसी समय नये होते हैं और पीछे पुराने हो जाते हैं। ये इनकी नयी-पुरानी अवस्थाएँ घट-पटादि पदार्थोंसे भिन्न नहीं हैं, उनके स्वरूप ही हैं इसी प्रकार पानी भरकर लाना आदि रूप क्रिया भी घट-पटादिकी विशेष अवस्था है इसलिये घट-पटादि पदार्थोंसे क्रिया भी भिन्न नहीं, किन्तु स्वरूप ही है। घटादि रूप घटादि नामसे भिन्न नहीं है क्योंकि घटादिके नाम विना घटादि रूपकी सिद्धि नहीं होती इसलिये घटादिका रूप नामस्वरूप है। इस प्रकार नाम, रूप और क्रिया परस्पर भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार उनका कारण भी नाम, रूप तथा क्रियासे भिन्न नहीं है। जिसप्रकार रज्जुमें कल्पित सर्प, दण्डादि कार्य रज्जुरूप कारणसे भिन्न नहीं होते और परस्पर भी भिन्न नहीं होते, इसी प्रकार नाम, रूप और क्रिया न तो अपने कारणसे भिन्न हैं और न परस्पर भिन्न हैं। हे इन्द्र ! जैसे आकाशमें कल्पित मेघ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व आकाशस्वरूप है इसी प्रकार नाम, रूप तथा क्रियावाला सम्पूर्ण जगत् अपनी उत्पत्तिसे पहले अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है। श्रुतिमें जगत्‌की उत्पत्तिसे पहिले जगत्‌की ब्रह्मरूपसे स्थिति कही है इसलिये ब्रह्मको जगत्‌का कारण माने बिना ब्रह्ममें जगत्‌की स्थिति सम्भव नहीं है क्योंकि अपनी उत्पत्तिसे पहले कार्य अपने कारणमें ही रहता है, कारणसे भिन्न कोई कार्य नहीं रहता। जैसे घटरूप कार्य अपनी उत्पत्तिसे पहिले मृत्तिका-रूप कारणमें रहता है, अन्य किसी पदार्थमें नहीं रहता। इस प्रकार श्रुतिमें वर्णन किये हुए जगत्‌का कारणपना माया विना ब्रह्ममें नहीं बन सकता। अद्वितीय निर्गुण परमात्मामें जगत्‌के कारणपनेकी ... लिये विद्वान् पुरुषोंने अद्वितीय ब्रह्ममें मायाकी कल्पना की है। यह माया भी अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। अज्ञात ब्रह्मका नाम ही माया है, इसी कारण महात्मा पुरुषोंने ब्रह्ममें जगत्‌की कारणता सिद्ध करनेके लिये अज्ञात परमात्माको मायाके वाचक अव्याकृत आदि शब्दोंसे वर्णन किया है।

मायाविशिष्ट परमात्माके नाम

हे इन्द्र ! कितने ही वेदवेत्ता पुरुष मायाविशिष्ट परमात्माको अव्याकृत, आकाश, अक्षर, मायी, अधीश्वर, अन्तर्यामी, ईश्वर, कारणब्रह्म और पूर्ण आदि अनेक नामोंसे वर्णन करते हैं। सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले मायाविशिष्ट परमात्मामें सम्पूर्ण प्रपञ्चके नाम तथा रूप अस्पष्ट रूपसे रहे हुए थे इसलिये माया-विशिष्ट परमात्माको अव्याकृत कहते हैं। जैसे शीत-कालमें सूक्ष्मरूपसे आकाशमें रहनेवाले मेघ वर्षा-कालमें स्थूलरूपसे उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार प्रलय-कालमें अव्याकृत परमात्मामें नाम, रूप तथा क्रिया-स्वरूप जगत् सूक्ष्म रूपसे रहता है और सृष्टिकालमें अव्याकृत परमात्मामेंसे स्थूलरूप जगत् उत्पन्न होता है, इसलिये मायाविशिष्ट अव्याकृत परमात्मा ही सर्व जगत्‌का कारण है।

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये पञ्च महाभूत; श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच प्राण और सोलहवाँ मन, इन सोलह कलाओंके समूहको वेदवेत्ता सूक्ष्म शरीर कहते हैं। समष्टि सूक्ष्म शरीरमें 'अहं' अभिमानसे युक्त माया-विशिष्ट परमात्मा हिरण्यगर्भ कहलाता है। इस हिरण्यगर्भको कोई-कोई सूत्रात्मा, मृत्यु, अशनाया, प्रभञ्जन, स्वयम्भू, ईश, कार्यब्रह्म इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। इस हिरण्यगर्भका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है और अनेक प्रकारके वर्णोंसे युक्त है। इन्द्रिय, प्राण, विषय और अन्तःकरण आदिका समूह ईश्वररूप है। जैसे बीजसे पहले अङ्कुर होता है

और अङ्कुरसे वृक्ष हो जाता है, इसलिये बीज अङ्कुरद्वारा वृक्षका कारण-रूप है और अङ्कुर साक्षात् वृक्षका कारण-रूप है इसी प्रकार मायाविशिष्ट परमात्मा हिरण्यगर्भद्वारा प्रपञ्चका कारण है और हिरण्यगर्भ आकाशादि पञ्चभूतोंका और पञ्चभूतोंके कार्य स्थूल शरीर आदिका साक्षात् कारण है, यह सम्पूर्ण जगत् हिरण्यगर्भका स्वप्न है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि सम्पूर्ण जगत्को आप हिरण्यगर्भका स्वप्न मानेंगे,तो हिरण्यगर्भमें जीवपना सिद्ध हो जायगा।

दध्यङ—हे इन्द्र! उपाधिदृष्टिसे जब हिरण्यगर्भ अपने चैतन्यस्वरूपका अनुभव नहीं करता तब वह जीव कहलाता है और चैतन्य-दृष्टिसे जब हिरण्यगर्भ अपने व्यापक स्वरूपका अनुभव करता है तब वह ईश्वर कहलाता है, जैसे महाभारतमें युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डवोंमें देवता और मनुष्य दोनोंका अंश कहा है इसी प्रकार समष्टि सूक्ष्म उपाधिकी दृष्टिसे हिरण्यगर्भमें जीव-व्यवहार होता है और उपाधिरहित चैतन्यदृष्टिसे हिरण्यगर्भमें ईश्वर-व्यवहार होता है। यह हिरण्यगर्भ जड-चैतन्य सम्पूर्ण जगत्का, इन्द्रादि देवताओंका और दशों दिशाओंका स्वरूप है इसलिये हिरण्यगर्भकी व्यापकता सर्वत्र सिद्ध है।

डोरूशङ्कर—हे देवी! युधिष्ठिरादि पाँच पाण्डव तो द्वापरमें हुए थे और यह वृत्तान्त सत्ययुगका अथवा इससे भी पहलेके युगोंका है, फिर ऋषिने पाण्डवोंका दृष्टान्त कैसे दिया, इसमें मुझे संशय होता है। कृपया मेरा समाधान कीजिये।

देवी—(अप्रसन्न-सी होकर) बच्चा! यह शंका नास्तिकोंकी है। सृष्टि अनादि है, करोड़ों कल्पोंसे चली आ रही है, न मालूम कितनी बार महाभारत हो चुका है और कितनी बार पाण्डव हो चुके हैं। विद्वान्को आम खाना चाहिये, पेड़-पत्ते गिनना मूर्खता है। अनेक युगोंमें अनेक बार, रामायण महाभारत होते रहते हैं।

परमात्मा जगत्का कारणरूप

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे मायावी बालक अपनी मायाके प्रभावसे अनेक प्रकारके पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय किया करता है इसी प्रकार हिरण्यगर्भ भगवान् अपनी मायासे सर्व जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार किया करते हैं इसलिये हिरण्यगर्भ सर्व जगत्के कारणरूप हैं। जगत्में हिरण्यगर्भसे अधिक अथवा उनके समान कोई दूसरा देहधारी जीव नहीं है। हिरण्यगर्भ सब देहधारी जीवोंसे अधिक और सब प्रकारसे दोषरहित हैं। जैसे राजाका माननीय नौकर अपनी इच्छानुसार शुभ या अशुभ कर्ममें बर्तता है और राजा उसकी इच्छानुसार प्रेरणा करता है इसी प्रकार पूर्वके पुण्य-पापरूप कर्मोंकी वासनाके अनुसार पुण्य तथा पाप-कर्ममें प्रवृत्त होनेवाले जीवको हिरण्यगर्भ भगवान् प्रेरणा करते हैं और जैसे धर्मात्मा राजा शुभ-कर्म करनेवाले पुरुषको सुख देता है, अशुभ करनेवाले-को दुःख देता है इसी प्रकार हिरण्यगर्भ भगवान् पुण्य-कर्म करनेवालेको सुख देते हैं और पाप-कर्म करनेवालेको दुःख देते हैं। यह हिरण्यगर्भ भगवान् पापी पुरुषकी इच्छानुसार उसको पाप-कर्मके लिये प्रेरणा करते हैं और धर्मात्माकी इच्छानुसार धर्मात्माको पुण्यकर्ममें प्रवृत्त करते हैं, इसलिये हिरण्यगर्भमें विषमता तथा निर्दयताका दोष नहीं आता। जैसे माता-पिता अनेक प्रकारके पदार्थ देकर बालकको सुख देते हैं और इसी प्रकार दण्ड भी देते हैं तो भी बालकको दण्ड देनेमें माता-पिताकी बालकपर निर्दयता नहीं होती, बालकके हितके लिये ही माता-पिता ताड़न करते हैं, इसी प्रकार हिरण्यगर्भ भगवान् भी चित्त शुद्ध करनेके लिये जीवको कर्मानुसार नरकका दुःख देते हैं, सृष्टिके आदि-कालमें वे विचारद्वारा जगत् उत्पन्न करते हैं, स्थितिकालमें जगत्का पालन करते हैं और प्रलयकालमें जगत्का लय करते हैं। इन हिरण्यगर्भके सिवा दूसरा कोई

जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेमें समर्थ नहीं है।

हिरण्यगर्भने प्रथम जलप्रधान पञ्चमहाभूत उत्पन्न किये और जलमें अपनी शक्तिरूप वीर्य मिलाया। उपासककी उपासनासे उत्पन्न हुए कर्मके सूक्ष्म परिणामको वीर्य कहते हैं, यह शक्तिरूप वीर्य जलके ऊपर तैरने लगा। जैसे अंकुर होनेसे पहले बीज फूल जाता है इसी प्रकार यह वीर्य फूलने लगा। पश्चात् वह वीर्य दहीके समान जम गया और अत्यन्त कठिन होकर पृथिवीरूप हो गया, उस पृथिवीके सारसे यह ब्रह्माण्ड-गोलक हुआ। इसी कारणसे पृथिवी द्रवरूप न रहकर ऋक्षरूप हो गयी। द्रव नाम भागनेका है और ऋक्ष नाम नक्षत्रका है। इस पृथिवीके साररूप ब्रह्माण्ड-गोलकका आकार कुक्कुटके अण्डेके समान है और यह भू आदि सात लोकोंका आधार है। यह ब्रह्माण्डरूप गोलक एक वर्षतक जलमें तूँबेके समान पानीपर तैरता रहा। एक वर्षके बाद वह अण्डा फटा और उसमेंसे विराट् भगवान् उत्पन्न हुए। भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालोंमें रहनेवाला सर्व प्रपञ्च विराट् भगवान्का स्वरूप है। वे सब जीवोंको सब प्रकारके भोगोंकी प्राप्ति कराते हैं। वे ही मनुष्यको स्वर्गरूप गौण अमृत भी देते हैं और मोक्षरूप मुख्य अमृत भी प्रदान करते हैं। विराट् भगवान् अनेक प्रकारके अन्नादि पदार्थ देकर वृक्षादि स्थावर और मनुष्यादि जङ्गम प्राणियोंकी वृद्धि करते हैं। सब जगत् उनकी महिमाका एक पदरूप है और तीन पदयुक्त उनकी महिमा स्वप्रकाशरूप है, जैसे लोकमें सेनापतिसे लेकर द्रव्यादि सब पदार्थ राजाकी महिमारूप हैं और सेनापतिकी महिमासे, उस महिमाका आश्रयरूप राजा अधिक है इसी प्रकार सर्व प्रपञ्चरूप महिमासे विराट् भगवान् अधिक हैं। कामनावाले पुरुषोंको स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले कर्मकाण्डरूप प्रवृत्तिमार्गके कर्ता विराट् हैं और निष्कामी पुरुषोंको मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञानकाण्डरूप निवृत्ति मार्गके कर्ता भी वही हैं। आकाशादि पञ्चभूतोंसे रचे हुए सब प्रपञ्चसे विराट् भगवान् अधिक हैं इसलिये बुद्धिमान् उनको विराट् कहते हैं। वे सर्वप्राणियोंकी नगरीका आश्रय करके स्थित हैं और अपने स्वरूपसे सब शरीरोंको पूर्ण करते हैं इसलिये विराट् भगवान्को वेदवेत्ता अधिक-पुरुष कहते हैं। ब्रह्माण्डमें स्थित विराट् भगवान्से सर्व शरीर तथा पर्वत, पृथिवी आदि उत्पन्न हुए हैं इसलिये वे सर्व देहधारी जीवोंसे अधिक हैं।

विराट् भगवान् यज्ञ-स्वरूप ऋक्, साम, यजुः, और अथर्वण आदि चारों वेदों कारणरूप गायत्री आदि छन्दोंके तथा सर्व पशुओंके उत्पन्न करनेवाले हैं। उनके मुखसे देवराज इन्द्र, अग्नि तथा सब ब्राह्मण उत्पन्न हुए हैं, उनके बाहुसे इन्द्र, वरुणादि, देवता, देव-क्षत्रिय तथा मनुष्य-क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं, उनके उदरमेंसे विश्वेदेवादि देव-वैश्य तथा मनुष्य-वैश्य उत्पन्न हुए हैं और उनके पगमेंसे पूषा आदि देव-शूद्र और मनुष्य-शूद्र उत्पन्न हुए हैं। विराट् भगवान्के मनसे चन्द्रमा, नेत्रसे सूर्य, प्राणसे वायु, नाभिसे आकाश, मस्तकसे स्वर्गलोक, श्रोत्रसे दसों दिशाएँ तथा अन्य देवता और शब्दादि विषय उत्पन्न हुए हैं। घी आदि सर्व द्रव्य पदार्थ, वसन्त ऋतु आदि सब काल, अग्नि आदि देवता, यज्ञके कर्ता यजमान और यज्ञादि कर्म है, ये कोई भी विराट् भगवान्से भिन्न नहीं हैं। सब उन्हींका स्वरूप है। प्राणियोंके सब मस्तक, और सब इन्द्रियाँ विराट् भगवान्के हैं इसलिये वे असंख्य मस्तकवाले और असंख्य इन्द्रियोंवाले कहलाते हैं, वे सर्व भूत भौतिक प्रपञ्चमें व्यापक होकर सबके हृदयदेशमें स्थित हैं, बुद्धि आदि सबके साक्षी हैं, सर्व दृश्यवर्गसे पर और आवरणसे रहित स्वयंप्रकाशरूप हैं। इन स्वप्रकाश विराट् भगवान्का मैं साक्षात् अनुभव कर रहा हूँ। वे नाम-रूपात्मक सब जगत्के कारणरूप हैं। वे हृदयमें रहकर शब्द-

उच्चारण आदि व्यवहारको सिद्ध करते हैं, हे इन्द्र! ब्रह्मके उपदेशसे प्रतिबन्धका नाश होनेपर तुम भी विराट् भगवान्का साक्षात् अनुभव करोगे। वे दस दिशा-स्वरूप हैं, सकल सामग्रीसहित यज्ञस्वरूप हैं। जो पुरुष यज्ञसे उनका पूजन करता है, वह महात्मा यज्ञरूप धर्मद्वारा विराट् भगवान्के मस्तक-रूप स्वर्गको प्राप्त होता है। स्वर्गलोक विराट् भगवान्-का मस्तक है, सूर्य और चन्द्रमा दोनों नेत्र हैं, वायु उनके प्राण हैं, अन्तरिक्षलोक उनके देहका मध्य भाग है, जल उनका मूत्राशय है, भूलोक उनके पाद हैं, आहवनीय अग्नि उनका मुख है, गार्हपत्याग्नि उनका हृदय है, दक्षिणाग्नि उनका मन है, यज्ञकी संस्कारयुक्त भूमि उनका वक्षःस्थल है, दर्भ उनके रोम हैं और सर्व ओषधि और वनस्पति उनके केशरूप हैं। इसप्रकार उपासक पुरुष विराट् भगवान्का ध्यान करते हैं।

क्षुधाका प्राबल्य

हे इन्द्र! प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सर्व प्रपञ्च विराट भगवान्का स्वरूप है, विराट् भगवान्रूप पुत्रको उत्पन्न हुआ देखकर क्षुधासे पीड़ित हुए हिरण्यगर्भ भगवान्ने विराट् भगवान्को भक्षण करनेके लिये अपना मुख फैलाया।

इन्द्र—हे भगवन्! हिरण्यगर्भ भगवान्की पुत्रके भक्षणरूप निन्दित कर्ममें क्यों इच्छा हुई?

दध्यङ—हे इन्द्र! यह क्षुधारूपी पिशाचिनी सभी प्राणियोंकी बुद्धिको भ्रष्ट करती है। शास्त्रमें सब रोगोंका उपाय बताया है परन्तु क्षुधारूपी रोगका उपाय अन्न-भक्षणके सिवा अन्य कुछ भी नहीं बताया, अन्नका भक्षण ही क्षुधारूपी रोगकी निवृत्तिका उपाय है। क्षुधावान् पुरुषको पुत्र-मरणसे भी अधिक दुःख होता है इसीलिये हिरण्यगर्भ भगवान्-ने पुत्रके मरणके दुःखको अल्प समझा और क्षुधाके दुःखको विशेष समझकर वे पुत्रके भक्षण करनेको तैयार हुए। जब हिरण्यगर्भ-जैसे ईश्वरको भी क्षुधा-रूपी पिशाचिनीने अनर्थमें प्रवृत्त कर दिया तो अन्य अविवेकी पुरुषोंको अनर्थमें प्रवृत्त करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? जैसे देहरहित राक्षस देहधारी जीवकी हिंसा करता है इसी प्रकार क्षुधा-तुर पुरुष अपने मा, बाप, गुरु, भाई तथा बान्धवोंका हनन करता है। क्षुधारूपी पिशाचिनी सत्य, शौच, श्री, धैर्य, बल, वीर्य, पराक्रम, यश, धर्म तथा दया आदि सब गुणोंका नाश कर देती है। क्षुधा-तुर पुरुष अपनी स्त्री तथा माता-पिता आदि सम्बन्धियोंका श्वानके समान तिरस्कार करता है। क्षुधार्त्त पुरुषमें दया नहीं होती, सब देहोंमें क्षुधा-रूपी पिशाचिनीका बल विचित्र है। निद्रा, काम, क्रोधादि दोष अत्यन्त प्रबल हैं, इनका भी क्षुधा नाश कर देती है और सत्यादि शुभ गुणोंका भी नाश कर देती है। क्षुधावान्को निद्रा नहीं आती। यदि क्षुधावान् पुरुष किसीसे अन्नकी याचना करे तो अन्नदाता दुर्वचनोंसे उसका तिरस्कार करता है तो भी क्षुधातुर पुरुष उसपर क्रोध नहीं करता। इसी प्रकार चन्द्रमा-समान मुखवाली, कोमल भाषण करनेवाली और सुन्दर शरीरवाली सोलह वर्षकी अप्सराके समान शुभाङ्गी स्त्रीके आलिङ्गन करनेसे भी क्षुधावान् पुरुषके मनमें बालकके समान काम उत्पन्न नहीं होता, इसलिये काम-दोषसे भी क्षुधारूपी पिशाचिनी अधिक बलवान् है। क्षुधावान द्रव्य तथा पशु आदिकी इच्छा नहीं करता, पृथिवी-के राज्य करनेकी भी उसे इच्छा नहीं होती, इसलिये क्षुधा लोभसे भी अधिक प्रबल है। जब काम, क्रोध और लोभ ये तीनों दुर्गुण महा शूरवीर क्षुधारूपी पिशाचिनीसे पराजयको प्राप्त हो जाते हैं तब सत्यादि शुभ गुण तो काम-क्रोधादिसे पराजयको प्राप्त हुए हैं ही, यदि वे क्षुधासे हार जायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है!

हे इन्द्र! जब हिरण्यगर्भ भगवान्ने क्षुधाके वश होकर अपने पुत्र विराट्के भक्षण करनेको मुख फैलाया तो विराट भगवान् पिताको मुख फाड़े

देखकर भयको प्राप्त हुए और उनके मुखसे 'भाण' यह शब्द निकला ! हे देवराज इन्द्र ! इस देहका अभिमान ही जीवके अनर्थका कारण है, क्योंकि देहाभिमानके कारण ही विराट् भगवान् हिरण्यगर्भ भगवान्‌को क्षुधातुर देखकर भयको प्राप्त हुए थे, देहाभिमानके सिवा अन्य कोई कारण उनके भयभीत होनेका न था ! यद्यपि विराट् भगवान्‌को इस बातका ज्ञान था कि मरणके बाद इस स्थूल शरीरको श्वानादि पशु भक्षण कर लेंगे तो भी देहाभिमानके प्रभावसे वे भूखे पिताको तुच्छ शरीरका दान न कर सके ! इससे सिद्ध होता है कि देहाभिमान ही सब धर्मोंका प्रतिबन्धक है।

इन्द्र–हे भगवन् ! विराट् भगवान्‌ने पिताको शरीरका दान न दिया, इसमें देहका अभिमान प्रतिबन्धक न होकर कोई अन्य ही प्रतिबन्धक होगा।

दध्यङ–हे इन्द्र ! देहके दान देनेमें अन्य कुछ नहीं, केवल देहाभिमान ही प्रतिबन्धक है। अच्छा ! तू ही बता दूसरा क्या प्रतिबन्धक है ? क्या पिताको शरीरका दान देना, किसी अनिष्टका साधन है, जो अनिष्टताका ज्ञान दानका प्रतिबन्धक है, अथवा क्या शरीरका पिताको दान देना निष्फल है, इस प्रकार निष्फलताका ज्ञान प्रतिबन्धक है ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष नहीं बनता क्योंकि यदि किसी पुरुषने किसी दूसरेकी वस्तु अपने पास रक्खी हो तो उसको उस वस्तुके लौटा देनेमें किसी अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती किन्तु न देनेमें उलटी विश्वासकी हानिरूप अनिष्टकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार पिताके वीर्यसे पुत्रका शरीर उत्पन्न हुआ है, अतः वह शरीर पिताका ही है, इसलिये यदि पिता पुत्रके शरीरको भक्षण कर ले तो उसमें पुत्रको किसी अनिष्टकी प्राप्ति नहीं होती वरं नहीं देनेसे उलटे विश्वासकी हानिरूप अनिष्टकी प्राप्ति होती है इसलिये पिताको शरीरका दान देनेमें अनिष्टकी साधनताका ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं है। और दूसरा पक्ष भी नहीं बनता कि पिताको शरीर दान करनेमें निष्फलताका ज्ञान प्रतिबन्धक हो क्योंकि शरीर अनित्य है, इस अनित्य शरीरसे कोई भी कार्य सिद्ध होता हो तो वह कार्य कर लेना चाहिये, इसीमें मरण-धर्मवाले शरीरकी सफलता है। पिताको शरीर देनेसे पिताके क्षुधाकी निवृत्तिरूप फल प्रत्यक्ष ही था। यदि कोई क्षुधातुर पुरुषको अन्नादि पदार्थ देता है तो उस अन्नदाताको स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है। जब अन्नादि देनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है तो पिताको शरीर देनेमें हानि ही क्या थी, उलटा पुण्य ही था। इसलिये निष्फलताका ज्ञान भी शरीर दे देनेमें प्रतिबन्धक नहीं है। इस अपवित्र शरीरमें अभिमान करना व्यर्थ है। वेदवेत्ताओंका कथन है—

विण्मूत्रादिमलानां हि सञ्चयो देह ईरितः।
अस्मिन्नहं मतिश्चेत्स्यात् बाह्ये कस्मान्न सा भवेत् ॥

अर्थात् हे देहाभिमानी जीवो ! यह शरीर विष्ठा, मूत्र, मांस, रुधिर, मज्जा, अस्थि आदि मलोंके समुदायका सञ्चय है, उसमें तुम आत्मबुद्धि क्यों करते हो ? जब ये विष्ठा-मूत्रादि शरीरके बाहर होते हैं तब उनमें आत्मबुद्धि क्यों नहीं करते ? शरीरके भीतर और बाहरके विष्ठा आदिमें कोई विलक्षणता नहीं है, यह शरीर उन्हीं अपवित्र पदार्थोंसे भरपूर है इसलिये इसमें मोह, ममता और अभिमान करना व्यर्थ है।

माया अनर्थका कारण है

हे इन्द्र ! माया ही सबको मोहित करती है, विराट् भगवान्‌को भी उस मायाने मोहित कर दिया।

इन्द्र–हे भगवन् ! मायाने विराट् भगवान्‌को मोहित कर दिया, यह कैसे कहा जा सकता है ?

दध्यङ–हे इन्द्र ! पितासे उत्पन्न हुआ यह शरीर पिताका ही है, पुत्रका नहीं। सिवा इसके यह शरीर दुर्गन्धिवाला, सदा अपवित्र, क्षणभङ्गुर, घटके

समान फूट जानेवाला तथा स्थायीपनेसे रहित है। ऐसे निकृष्ट शरीरको क्षुधासे पीड़ित हुए पिताको उन्होंने नहीं दिया, यह माया नहीं तो और क्या है? पिताको शरीर न देनेमें विराट् भगवान्‌की कृपणता प्रत्यक्ष है, कृपणताका कारण देहाध्यास है, देहाध्यास अज्ञानरूपी मायाका कार्य है। इसलिये पिताको शरीर न देनेमें माया ही कारण है। मायासे ही शरीरादिमें आत्माभिमानरूप मोह होता है। जब अज्ञानरूप मोह विराट् आदि महान् पुरुषों-को भी अनुचित कार्यमें प्रवृत्त कर देता है तो अन्य क्षुद्र प्राणियोंको प्रवृत्त करे, इसमें नयी बात ही क्या है? विराट्‌ने जब 'भाण' इस शब्दका उच्चारण किया तो उनकी वाणीसे सर्व देहधारी जीवोंकी वर्णरूप वैखरी वाणी तथा ध्वनिरूप वैखरी वाणी उत्पन्न हुई। जब हिरण्यगर्भ भगवान् पुत्रको भक्षण करनेको तैयार हुए तो विद्या उनको इस निषिद्ध कर्मसे निवारण करने लगी। लोक-मर्यादासे अथवा शास्त्र-मर्यादासे निषिद्ध कर्म करनेवाले और अत्यन्त दीन दशाको प्राप्त हुए पुरुषको विद्या ही सुख देनेवाली है और सुखके साधन जो द्रव्यादि पदार्थ हैं, उनकी प्राप्ति करानेवाली भी विद्या ही है। आपदा यानी सङ्कटरूप दुस्तर समुद्रको विद्याद्वारा पुरुष सुखसे पार कर सकता है। धनकी परलोकमें गति नहीं है यहाँका धन यहीं रह जाता है परन्तु विद्या तो परलोकमें भी जीवका साथ नहीं छोड़ती। विद्याके बलसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, क्षुधा इत्यादि शत्रुओंका नाश होता है और सत्य, क्षमा, शम, दम, विवेक, वैराग्य, सन्तोष आदि मित्रोंकी प्राप्ति विद्या-के प्रभावसे ही होती है। ऐहिक तथा पारलौकिक सभी कार्योंमें विद्या माताके समान सहायक होती है और परमार्थ-तत्त्व आनन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्तिमें विद्या ही कारण है। हिरण्यगर्भ भगवान्‌को पुत्रके भक्षणके लिये तैयार देखकर विद्या उन्हें इस-प्रकार समझाने लगी—

विद्या—हे हिरण्यगर्भ! तुमको अपने पुत्र विराट्‌का भक्षण करना योग्य नहीं है। सब लोकों-के धर्मकी मर्यादा स्थापन करनेके लिये तुम प्रकट हुए हो। यदि तुम्हीं धर्मकी मर्यादाका भङ्ग कर दोगे तो फिर कोई भी जीव मर्यादा-पालन करनेमें समर्थ नहीं होगा! जब उपदेशक ही धर्मपर नहीं चलेगा तो उसके अनुयायी धर्मपर कैसे चलेंगे? जब पिता ही बुरे कर्ममें प्रवृत्त होगा, तो वह पुत्रको निन्दित कर्म करनेसे किसप्रकार रोक सकेगा? जब ब्राह्मण ही अपना धर्म पालन नहीं करेंगे, तो अन्य वर्णोंको वे कैसे धर्मपर चला सकेंगे? जब राजा ही अन्यायी होगा तो उसकी प्रजा न्यायपर कैसे चल सकेगी? जब गुरुका आचरण ही ठीक न होगा तो शिष्य शिष्टाचारी कैसे हो सकता है? जब सास पतिव्रत-धर्मका पालन नहीं करेगी तो बहू सदाचारिणी कैसे हो सकती है? जब संन्यासी ही त्यागी न होगा तो वह गृहस्थको त्यागकी शिक्षा कैसे दे सकता है? जब कुलका बड़ा-बूढ़ा ही भ्रष्ट होगा तो उसका कुल कैसे भ्रष्ट नहीं होगा? जब तीर्थ-वासी ही पापाचरण करने लगेंगे तो वे यात्रियोंका कल्याण कैसे कर सकेंगे? जब गयाके पण्डे ही दुराचारी हो जायँगे तो वे यजमानके पितरोंको कैसे तारेंगे? जब पुजारी ही ठाकुरजीकी यथार्थ सेवा नहीं करेगा तो मन्दिरमें आनेवालोंको वह कैसे भगवत्परायण कर सकेगा? और जब मल्लाह ही पापी होगा तो वह नावमें बैठनेवालोंको क्यों नहीं डुबोवेगा? हे हिरण्यगर्भ! तुमको धर्ममर्यादामें रखनेवाली मैं एक विद्या ही हूँ। यदि तुम मेरे उप-देशको न मानोगे तो तुम्हारा यश नष्ट हो जायगा और पुत्रसे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह भी तुमको प्राप्त न होगा। पुत्र-भक्षणरूप कर्म महानिन्द-नीय है। चाण्डाल और पशु भी ऐसा निन्दनीय कर्म नहीं करते। श्वान आदि पशु कामसे मोहित होकर अपनी मा अथवा बहिनसे कामचेष्टा करते हैं। पर ऐसे बुद्धिहीन श्वान आदि भी अपने पुत्रका

भक्षण नहीं करते, तुम तो धर्मके स्थापन करनेवाले हो, तुमको ऐसा पापमय कर्म करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

हे इन्द्र! जब विधाने इसप्रकार समझाया तो हिरण्यगर्भ भगवान् पुत्रके भक्षणसे निवृत्त हुए, पश्चात् उन्होंने विराट् भगवान्‌को सब वेदोंका अध्ययन कराया और आत्मज्ञानका उपदेश किया, पश्चात् वे अन्तर्धान हो गये। हिरण्यगर्भ भगवान्‌के अन्तर्धान होनेके पश्चात् विराट भगवान् अकेले रह गये और जिसप्रकार निर्जन वनमें अकेला बालक भयको प्राप्त होता है इसी प्रकार अकेले रह जानेसे विराट् भगवान् भयको प्राप्त हुए और इसप्रकार विचार करने लगे—

'वेदमें ऐसा कहा है कि दूसरी वस्तुसे भय होता है और मेरे स्वरूपके सिवा दूसरा है नहीं, क्योंकि ब्रह्म अद्वितीय है। यदि मेरे स्वरूपसे ब्रह्म भिन्न हो तो ब्रह्ममें अद्वितीयता ही नहीं रहेगी! यदि मेरे स्वरूपसे आत्मा भिन्न हो तो जैसे मुझसे भिन्न घट-पटादि पदार्थ हैं, वे अनात्मा हैं, इसी प्रकार मुझसे भिन्न होनेसे आत्मा भी अनात्मा हो जायगा। आत्माको अनात्मा कहना बन नहीं सकता। इसलिये आत्मा मेरे स्वरूपसे भिन्न नहीं है। जब एक अद्वितीय ब्रह्म ही है तो भयका कारण ही नहीं है। जब दूसरा है ही नहीं तो मैं भय किससे करूँ? भय करना सर्वथा अयोग्य है, मुझे निर्भय होना चाहिये।'

हे इन्द्र! ऐसा विचारकर विराट् भगवान्‌ने भेद-दृष्टिका त्याग कर दिया और भेद-दृष्टि त्यागनेसे वे भयसे मुक्त हो गये। हे इन्द्र! भेद-दृष्टिका त्यागनेवाला कभी भयको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भेद-दृष्टि ही भयका कारण है। बालक सर्पको देखकर उसे पकड़ने दौड़ता है, भय नहीं पाता क्योंकि उसमें भेद-दृष्टि नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि भेद-दृष्टि ही भयका कारण है। ऐसा विचार करनेसे विराट् भगवान् भयसे तो रहित हो गये परन्तु काम उत्पन्न होनेसे वे स्त्री बिना सुख प्राप्त न कर सके। *कामी पुरुषको स्त्री बिना सब जगत् शून्य दिखायी* देता है इसलिये विराट भगवान्‌को भी स्त्री बिना वामभागमें रहा हुआ आकाश शून्य ही जान पड़ा। कामीको वामभाग शून्य लगता है, पुत्रकी इच्छावालेको अपनी गोद शून्य दिखायी देती है, पशुकी इच्छावालेको अपने घरका आँगन शून्य जान पड़ता है, धनकी इच्छावालेको अपना खजाना खाली दीखता है। इसप्रकार जिस पुरुषको जिस-जिस पदार्थकी कामना होती है, उसको उस-उस पदार्थका स्थान शून्य दिखायी देता है। निष्कामी पुरुष आत्माको सर्वत्र पूर्ण जानता है इसलिये उसको कोई स्थान शून्य नहीं दीखता। इससे सिद्ध होता है कि पदार्थोंकी कामना ही सर्व दुःखका कारण है, कामरूपी सर्पसे डसे हुए विराट भगवान् इसप्रकार विचार करने लगे— (क्रमशः)

ठौर कहाँ

दानी दुनियाके सबै उलटे टटोलैं गाँठि, बानिहू न बोलैं मुख दीनता सुनाओ तो ?
मानी अभिमानहीमें चूर रहैं आठों याम, नौ सुनै गाथा 'द्विजश्याम' जाय गाओ तो ?
पूजाकी अकोर बिनु पाए न पसीजैं देव, बिपति निवेदनको दरबार जाओ तो ?
शंकर तुम्हारे बिना समय भयंकरमें, किंकरको और कहाँ ठौर है बताओ तो ?

—द्विजश्याम

चीर हरण-लीला

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी पन्त)



आनन्दकन्द भगवान् मुकुन्दकी कर्ण-रसायन नयनलुभावन मनभावन अपार मधुरिमपारावारप्लावित अनन्त लीलाओंमेंसे चीर-हरण, रास-लीला तथा कुब्जा-प्रसङ्ग—इन तीन लीलाओंके विषयमें प्रायः भक्तोंको भी कुछ-न-कुछ सन्देह हो ही जाता है। आज मैं इन लीलाओंमेंसे चीर-हरण-लीलापर कुछ लिखनेका साहस कर रहा हूँ। सम्भव है इसमें भक्तजनोंके विनोद-की कुछ सामग्री निकल आवे।

यदि इन लीलाओंका अर्थ वास्तव वैसा ही लगाया जाय जैसा कि आपामर प्रसिद्ध है, तब तो बड़े-बड़े सन्देह-शैलोंकी उत्पत्ति होती है। निर्गुण, निरञ्जन, निराधार, निर्विकार, सदाचारसर्वस्व एवं निखिललोकैकगुरु भगवान् श्रीकृष्णका पामरजनके समान भोली-भाली अबलाओंका चीरापहरण करना वह भी ऐसी अवस्थामें जब कि वे एकान्तमें विमल यमुना-के कूलपर निश्चिन्त हो स्वच्छन्द जल-विहार कर रही थीं, कहाँतक समुचित है? साधारण-से-साधारण ज्ञान रखनेवाला प्रत्येक पुरुष जानता है कि नग्न स्त्रीको देखना पाप है, अपनी इच्छाके अनुकूल बैठी हुई स्त्रीको देखना बुरा है। तब क्या सकल निगमागमके आकर, सदाचारके सागर नट-नागर भगवान्को यह बात विदित नहीं थी? और परिपूर्ण निरीह भगवान्-का दुर्वासनावश चीरापहार कर दुराचारके पथका विस्तार करना कहाँतक समुचित है? जब कि भगवान्का अवतार उन्हींके कथनानुसार धर्म-संस्था-पनके लिये हुआ था, लोक-मर्यादाकी रक्षा करना उनका मुख्य कर्तव्य था। लोक-मर्यादाकी रक्षाका भगवान्को कितना ध्यान था, यह बात गीताके प्रत्येक प्रकरणसे टपकती है। भगवान्ने स्पष्ट शब्दोंमें अपने-को जनसाधारणका पथ-प्रदर्शक सिद्ध किया है—

'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ! सर्वशः'
'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'
'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि'
'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्'

इत्यादि इत्यादि

निरञ्जन, निर्गुण होते हुए भी जिन्होंने लोकहितके लिये माया-मानुष-वेष धारण किया, जिन्हें जनसाधारण-के प्रति अपने उत्तरदायित्वका इतना बड़ा ध्यान था, जो प्रत्येक कार्यमें लोक-लीकका इतना अनुसन्धान करते थे वे भला अपनी पदवीका अनुसरण करनेवाली अबोध जनताको ऐसा आदर्श क्योंकर दिखाते जिससे कि उसका सत्यानाश हुए बिना न रहे? क्या तब उद्धार करनेके लिये अवतार लिये हुए भगवान्को अपकार करनेवाला न कहा जाता?

दूसरी बात यह भी है कि जन्म-ज्ञानी, अवधूत परम विरक्त व्यासदेवजीके पुत्र श्रीशुकदेवजी जिस पावन कथाके वक्ता हैं, आसन्नमृत्यु राजर्षि परीक्षित जिसके श्रोता हैं, उसमें संसारी-जनोचित काम-लिप्सा-परिपूर्णताका आरोप करना कहाँतक सम्भव हो सकता है? कामी-से-कामी पुरुष भी यदि जान जाय कि अमुक दिन मेरी मृत्यु होनेवाली है, तो उसका भी मन विषय-वासनाओंसे कुछ-न-कुछ अवश्य विचलित हो जाता है। फिर परीक्षित तो विश्वविश्रुत, अजात-शत्रु, धर्मात्मजके एकमात्र वंशधर गो-ब्राह्मण-परिपालक, दुष्टदलघातक थे, उनका संसारी कथाओंमें अभिरुचि होना तीनों कालोंमें भी सम्भव नहीं है। साधारण-

से-साधारण वक्ता स्त्री-पुरुषोंकी श्रृङ्गारपूर्ण कथा कहनेमें लजाता है—घृणा करता है, भला अवधूत-वेश सांसारिक विषयोंकी ओर स्वप्नमें भी दृष्टि न देने-वाले जन्मज्ञानी श्रीशुकदेवजी ऐसी कथाको एक मुमूर्षुके प्रति कब कहने लगे ?

भगवान् परब्रह्म श्रीकृष्णके विषयमें ऐसी बातों-की कल्पना करना एकमात्र अज्ञानियोंके अज्ञान-विजृम्भणका फल है। आइये, इस आशंकाके अपनोदनके लिये चीर-हरण-लीलाकी सारी आवृत्ति कर डालें, क्या उसमें कोई ऐसा शब्द, भाव या चरित्र है, जिससे कि इस आशंकाका सम्बन्ध हो ?

हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः।
चेरुर्हविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम्॥

मार्गशीर्षके महीनेमें नन्दके व्रजकी कुमारिकाएँ हविष्य-पदार्थोंसे शरीर-रक्षा करती हुई पतिव्रता-ललामभूता श्रीकात्यायनीके पूजनव्रतको करने लगीं।

आप्लुत्याम्भसि कालिन्द्या जलान्ते चोदितेऽरुणे।
कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम्॥
गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः।
उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः॥

हे राजन्! वे बालिकाएँ प्रातःकाल श्रीयमुनाके जलमें स्नानकर, बालुकामय प्रतिमा बनाकर सुगन्धित चन्दन-मालाओं, धूप-दीप, बलि, फलफूल, अक्षत और विविध उपहारोंसे देवी श्रीकात्यायनीकी पूजा करती थीं।

कात्यायनि! महामाये! महायोगिन्यधीश्वरि!
नन्दगोपसुतं देवि! पतिं मे कुरु ते नमः॥

हे कात्यायनि! हे महामाये! हे महायोगिनि! हे अधीश्वरि! हे देवि! नन्दजीके पुत्रको हमारा पति (रक्षक) बनाओ, तुझे नमस्कार है।

इति मन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः।
एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः।
भद्रकालीं समानर्चुर्भूयान्नन्दसुतः पतिः॥

इस मन्त्रका जप करती हुई वे बालिकाएँ भगवती-की पूजा करती थीं। श्रीकृष्ण भगवान्में सर्वात्मना अपना चित्त समर्पणकर उन्होंने इसप्रकार पूरे एक मासतक व्रत किया। नन्दके दुलारे हमारे पति (रक्षक) हों, इसलिये भगवती भद्रकालीकी पूजा की।

उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वैरन्योन्याबद्धबाहवः।
कृष्णमुच्चैर्जगुर्यान्त्यः कालिन्द्यां स्नातुमन्वहम्॥

प्रातःकाल उठकर अपने-अपने गोत्रजोंके साथ परस्पर हाथ मिलाकर कलिन्दकन्यामें स्नान करनेके लिये जाती हुई वे ऊँचे स्वरसे श्रीकृष्ण भगवान्की गुण-गाथाका गान करती थीं।

नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत्।
वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजह्रुः सलिले मुदा॥

वे किसी दिन श्रीयमुनाजीके तटमें आकर प्रति-दिनकी तरह अपने वस्त्रोंको रखकर श्रीकृष्णकी गुण-गाथाओंका कीर्त्तन करती हुई आनन्दसे जलमें विहार करने लगीं।

भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये॥

योगेश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी गोपियोंके अभिलाषको जानकर मित्रमण्डलीके साथ उनके *कान्तभावकी सिद्धिके लिये वहाँपर गये।*

तासां वासांस्युपादाय नीपमारुह्य सत्वरः।
हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह॥

उनके वस्त्रोंको लेकर भगवान् कदम्बके ऊपर चढ़कर हँसते हुए बालकोंके साथ हँसते हुए परिहास-पूर्वक बोले।

आगत्यात्राबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम्।
सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्शिताः॥

हे अबलाओ! यहाँ आकर अपनी इच्छानुसार अपने-अपने वस्त्र ले जाओ। मैं सच कहता हूँ,

तुम व्रतकर्शिता हो, इसलिये मैं परिहास नहीं कर रहा हूँ ।

न मयोदितपूर्वं वा अनृतं तदिमे विदुः ।
एकैकशः प्रतीच्छध्वं सहैवोत सुमध्यमाः ॥

हे सुन्दरियो ! मैने आजतक कभी मिथ्याभाषण नहीं किया, इस बातके साक्षी ये मेरे सखा हैं । चाहे तुम एक-एक करके अपने वस्त्र लो, चाहे सभी एक साथ ।

तस्य तत्क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः ।
व्रीडिताः प्रेक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥

प्रेमसागरमग्ना गोपियाँ भगवान्के उस रहस्य-परिहासको देखकर लज्जित हुईं, एक दूसरीको देखकर और परस्पर हँसकर रह गयीं, बाहर न निकलीं ।

एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाऽऽक्षिप्तचेतसः ।
आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर परिहासकी आशङ्का करनेवाली वे गोपियाँ शीतल जलमें आकण्ठ डूबी हुई अतएव काँपती हुई श्रीकृष्ण भगवान्से बोलीं ।

माऽनयं भो कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥

हे भगवन् ! अनीति मत कीजिये, नन्दजीके दुलारे, अपने परम प्यारे तुमको हम जानती है, तुम व्रजश्लाघ्य हो, हमारे वस्त्रोंको दो, अब विलम्ब न करो । देखो तो सही हम मारे शीतके सारी काँप रही है ।

श्यामसुन्दर ! ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।
देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे ॥

हे श्यामसुन्दर ! हम तुम्हारी दासियाँ हैं, जो तुम कहोगे सो हम करेंगी । हे धर्मज्ञ ! हमें वस्त्र दो, नहीं तो हम राजासे कहेंगी ।

श्रीभगवानुवाच

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥
नो चेन्नाहं प्रदास्ये किं क्रुद्धो राजा करिष्यति ।

भगवान् बोले—हे देवियो ! यदि तुम मेरी दासियाँ हो तो जो मैं कहूँगा वही करोगी, अतः हे पवित्र मुसकानवालियो ! यहाँ आकर अपने-अपने वस्त्रोंको लो । नहीं तो मैं वस्त्र नहीं दूँगा । तुम राजासे कहो न ! राजा क्रुद्ध होकर मेरा क्या कर लेगा ?

ततो जलाशयात्सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः ।
पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकर्शिताः ॥

इसके बाद शीतसे काँपती हुई वे सब गोपबालिकाएँ गुह्य स्थानको हाथसे ढककर जलाशय (श्रीयमुनाजी) से निकलीं ।

भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः ।
स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥

शुद्ध भावसे प्रसन्न हुए भगवान् गोपियोंको क्षतयोनि देखकर अपने कन्धेपर कपड़ोंको रखकर प्रसन्नतापूर्वक हँसते हुए बोले ।

यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम् ।
बद्ध्वाऽञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
कृत्वा नमोऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥

दीक्षा ग्रहण की हुई तुमलोग नंगी होकर जो यमुनामें अवगाहन करने लगीं यह जलके अधिष्ठाता श्रीवरुणदेवका अपराध हुआ इसलिये शिरमें अञ्जलि बाँधकर उक्त अपराधके छुटकारेके लिये नमस्कारकर अधोवस्त्रको ग्रहण करो ।

इत्यच्युतेनाभिहितं व्रजाबला
मत्वा विवस्त्राऽऽप्लवनं व्रतच्युतिम् ।
तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग्यतः ॥

व्रजकी अबलाएँ श्रीकृष्ण भगवान्‌से इसप्रकार कहे गये नग्न स्नानको व्रतच्युतिका हेतु मानकर उसकी पूर्तिकी अभिलाषा करती हुई समस्त कर्मोंके फलस्वरूप भगवान्‌को प्रणाम करने लगीं, क्योंकि भगवान् सब दोषोंकी निवृत्ति करनेवाले हैं ।

तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः ।
वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः ॥

गोपियोंको इसप्रकार प्रणाम करनेके लिये झुकी हुई देखकर भगवान् देवकीनन्दनने उनको वस्त्र दे दिये । दयासागर भगवान् उनके प्रणामसे सन्तुष्ट हो गये ।

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः
प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं
ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥

उक्त प्रकारसे अत्यन्त वञ्चित होती हुई निर्लज्ज की जाती हुई, उपहसित होती हुई गुडियोंकी तरह अपनी मनमानी खेलकी साधन बनायी जाती हुई एवं विवस्त्रा की जाती हुई भी वे गोपियाँ श्रीकृष्ण भगवान्‌को दोष-दृष्टिसे नहीं देखती थीं किन्तु अपने प्रियके सगमसे परम आनन्दको प्राप्त हुईं ।

परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।
गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः ॥

अपने वस्त्रोंको पहिनकर प्रियतमके सगमें अत्यन्त आसक्त होती हुई अतएव भगवान्‌के प्रति लज्जापूर्ण नयनवाली वे ललनाएँ विवश होती हुई तनिक भी इधर-उधर नहीं डोलीं ।

तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः ॥

भगवान् दामोदर व्रतधारिणी उन गोपिकाओंकी पादस्पर्शकी इच्छाको जानकर उन अबलाओंसे बोले ।

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम् ।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥

हे पतिव्रताओ ! मेरा पूजनरूप तुम्हारा सकल्प मैंने जान लिया है, उसका मैं अनुमोदन करता हूँ और वह सत्य होने योग्य है ।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥

मुझमें जिनका चित्त लगा हुआ है ऐसे जनोंका विषयाभिलाष फल-भोगके लिये नहीं होता किन्तु विषयकी महिमासे काम-शान्तिके लिये होता है । भूँजे हुए, पकाये हुए जो अङ्कुरके उत्पादनके लिये समर्थ नहीं होते ।

याताऽबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्य्यार्चनं सतीः ॥

हे साध्वी स्त्रियो ! तुम व्रजमें जाओ । तुम्हारे मनोरथ सिद्ध हो गये हैं । अबसे तुम्हारा मन मुझमें रमेगा । जिसके उद्देश्यसे तुमने श्रीकात्यायनीजीका पूजन किया है वह कार्य पूर्ण हुआ ।

श्रीशुक उवाच—

इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।
ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम् ॥

इसप्रकार भगवान्‌से आज्ञप्त पूर्णमनोरथ कुमारिकाएँ भगवान्‌के चरण-कमलोंका ध्यान करती हुई बडे कष्टसे व्रजमें प्रविष्ट हुईं ।

अहा ! क्या पवित्र भाव है ! क्या पवित्र अनुष्ठान है ! नन्दके व्रजकी कुमारिकाएँ हविष्यान्न ग्रहण करती हुई कालिन्दीके विमल जलमें स्नानकर कात्यायनीके पूजन व्रतका अनुष्ठान करती थीं । उन्होंने देवीकी बालुकामयी प्रतिमा बनाकर उसकी पूजा की । जरा ध्यान दीजिये, क्या कोई विहारिणी स्त्री अपने मनोनीत पुरुषकी प्राप्तिके लिये इसप्रकार व्रत-तप करती हुई देखी गयी है ? हविष्यान्नके उपयोगसे उसे क्या लाभ ? भगवतीके पूजनसे क्या प्रयोजन ? उसके

लिये तो यही उपयोगी देखा गया है कि या तो वह स्वयं अभिसार करे या दूत-दूतीद्वारा पतिको अपने संकेत-स्थलपर बुलावे । ऐसे पवित्र अनुष्ठानका तो वहाँ नामतक नहीं रहता । दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि यमुनाके पुलिनमें वे अकेली नहीं थीं, झुण्ड-की-झुण्ड थीं । उनका श्रीकृष्ण-विषयक अहैतुक सच्चा प्रेम एक दूसरेसे गुप्त नहीं था । वे सब परस्पर हाथ मिलाकर प्रतिदिन कालिन्दीके कूलमें जाती थीं और श्रीकृष्ण भगवान्की सुमधुर कर्ण-रसायन गुण-गाथाओंका कीर्त्तन करती थीं । क्या लोकमें ऐसा होना कभी देखा गया है कि एक पुरुषके ऊपर मोहित हुई बहुत-सी ललनाएँ परस्पर परम प्रीति करें और अपने प्रेमीके प्रति उत्कर्षको प्राप्त हुए अपने प्रेमका एक दूसरेसे वर्णन करें ? इतना ही नहीं, अपने प्रेमीका खुल्लमखुल्ला उद्घोष भी करें ? कभी नहीं । ऐसा सम्भव नहीं हो सकता । इधर भगवान्की ओर देखिये । आप भी अकेले छिपकर चोरीसे संकेत-स्थानपर पहुँच गये हों, ऐसा नहीं, किन्तु अपने मित्रोंसे घिरे हुए शुद्धभावसे वहाँ पधारे ।

यहाँपर यह आशंका हो सकती है कि यदि भगवान् श्रीकृष्णको इन सब बातोंसे कुछ प्रयोजन ही नहीं था, तो वे क्यों यमुनाके कूलपर गये ? ललनाओंके वस्त्रोंका अपहरणकर क्यों कदम्बपर चढ़ गये ? और गोपियोंने भगवान्को पति बनानेके लिये क्यों इतना व्रत-तप आदि किया ? चाहे कुछ हो भी पर्यवसान तो फिर भी उसी भावनापर होता है ।

यह आशंका ठीक नहीं है । अपने भक्तोंकी भलाईके लिये भगवान् सब कुछ कर सकते हैं । बहुत-से ऐसे स्थल मिले हैं जहाँपर भगवान्ने अपनेको नीचा दिखाकर भी अपने भक्तोंको बड़प्पन दिया है । भक्तप्रवर भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञा कुचल दी । वीरवर अर्जुनकी विजयके लिये उसका सारथ्य स्वीकार किया । शबरीकी सदिच्छाकी पूर्तिके लिये उसके जूँठे बेर खाये आदि-आदि । गोपियाँ भक्त ही नहीं बल्कि भक्तशिरोमणि थीं । भक्तप्रवर उद्धवने—

> **आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां**
> **वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।**
> **या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा**
> **भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥**
>
> इत्यादि ।

—कहकर गोपियोंके चरणोंकी रजको धारण करनेवाली झाड़ियों, लताओं और ओषधियोंमें मैं कुछ होऊँ ऐसी आकांक्षा की है । गोपियोंका श्रीकृष्ण-विषयक आवेश देखकर उद्धव आश्चर्य-सागरमें मग्न हो गये थे । गोपियोंकी श्रीकृष्ण-विषयक जो पराभक्ति या प्रेम था वह अहैतुक था । न उन्हें ऐहिक विषयोंकी आकांक्षा थी और न पारलौकिक सुखभोगकी स्पृहा । वे तो श्रीकृष्ण भगवान्के चरण-कमलोंके दर्शनकी प्यासी थीं । ऐसी निष्काम उत्कृष्ट भक्तिवाली गोपियोंके अभिलाषको पूर्ण करना भगवान्का परम कर्त्तव्य था । गोपियोंकी बड़ी इच्छा थी कि भगवान् यमुना-तटपर पधारकर हमलोगोंका पति-भाव ग्रहण करें । यहाँ पतिका अर्थ शुद्ध यौगिक लेना उचित होगा, योगरूढ नहीं । (पाति रक्षतीति पतिः) पालक, विघ्नोंसे रक्षा करनेवाला, संसार-सागरमें पड़े हुए लोगोंको उबारनेवाला । यदि कोई कहे कि नहीं, यहाँपर पति-शब्द योग-रूढ ही है जिसका अर्थ है पाणि-ग्रहीता । यह आशंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिस समयकी यह लीला है, उस समय भगवान्की अवस्था केवल सात वर्षकी थी । सात वर्षके बालकका अधिकवयस्का कुमारियों, उद्भिन्नयौवनाओं और युवतियोंके साथ पाणिग्रहणप्रयुक्त पतिभाव लौकिक, धार्मिक अथवा पारमार्थिक किसी भी दृष्टिसे सम्भव नहीं हो सकता । सात वर्षके बालकके प्रति अटूट

भक्ति-प्रवाह होनेका एकमात्र कारण था गोपियोंकी अन्तर्दृष्टि एवं शुद्ध भाव । गोपियाँ जानती थीं कि श्रीकृष्ण निरञ्जन, निर्विकार, निराधार, नीरूप ब्रह्म हैं । गोपियाँ कोई साधारण महिलाएँ नहीं थीं। देवीभागवत, गोपालतापिनी और तन्त्रान्तर देखनेसे उनका प्रभाव पूरा जाना जाता है । कहींपर वे चित्शक्तिकी अंश कही गयी हैं, कहीं श्रुतियोंका अवतार, कहीं दण्डकारण्यवासी ऋषियोंका अवतार । देवताओंके अवतार होनेकी बात तो भागवतके दशम स्कन्धके प्रारम्भमें ही वर्णित है । ऐसी प्रभाववती गोपियोंकी अटूट भक्तिधाराके वशीभूत होकर भगवान् यमुनाकूलमें गये । भगवान्‌ने उन्हें नग्न होकर यमुनामें स्नान करते देखा । उन्होंने विचारा कि गोपियोंका अज्ञान संस्कारवश अभी कुछ सावशेष है । ये जलमें मुझसे अपनेको गुप्त समझ रही हैं । मेरे सर्वव्यापक स्वरूपको भूल रही हैं । इनके इस अज्ञानको अवश्य दूर करना होगा । उन्होंने उनके वस्त्र ले लिये और कदम्बपर चढ गये और उनको ढीठ होकर वस्त्र ले जानेके लिये कहा । मेरे स्वरूपभूत जलमें नग्न स्नान करती हुई भी ये मेरे समीप नग्न आनेमें जो लजाती हैं यह इनका अज्ञान है । दूसरी बात यह भी हो सकती है जैसा कि भगवान्‌ने उनसे स्वयं कहा है । जलमें नग्न होकर स्नान करना वरुणका महा अपराध है । उससे वरुणदेव रुष्ट होते हैं । ये मेरी भक्त हैं, इनका वे कुछ अपकार न कर दें, इनकी देखादेखी धर्मशास्त्रकी अवहेलना और लोग भी ऐसा करने लगें, इसलिये आज इनको ऐसा दण्ड दिया जाय कि जिससे इन्हें भविष्यमें ऐसा करनेका साहस न हो । इसीलिये उन्हें नग्न आनेको कहा। हाथोंसे लज्जाकी रक्षा न कर लें, इसलिये वरुणके प्रति हाथ जुड़ाकर प्रणाम करवाये। अवश्य दण्ड कड़ा है, ऐसा दण्ड पाकर पुनः उन्हें ऐसा करनेका कभी साहस नहीं हुआ होगा । इससे धर्मशास्त्र एवं लोकमर्यादाकी रक्षा हुई ।

गोपियोंने भगवान्‌को अपना पति बनानेके लिये अथक प्रयत्न, जप, तप आदि किया । इसका भी कारण है । भगवान्‌के प्रति अपना प्रेम प्रकट करनेके चार मार्ग हैं—सख्य, दास्य, वात्सल्य और कान्ताभाव, जिसे रति या मधुरभाव भी कहते हैं । इन सब मार्गोंमें कान्ताभाव परम श्रेष्ठ है । जैसे पतिव्रतपरायणा नारी अपने सुख या आनन्दकी सर्वथा उपेक्षाकर पतिके सुखके लिये समस्त व्यापारोंको करती है वैसे ही कान्ताभाववाले भक्तोंकी भी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होती हैं । सख्य, दास्य आदि भावोंमें उपास्यके दोष-गुणोंके प्रति दृष्टि जाना सम्भव है, प्रसंगवश उसकी अवहेलना या आज्ञाभंग भी हो सकता है । पर कान्ताभाव परमहंसावस्थास्वरूप है, उसमें कान्तके सिवा और कुछ है ही नहीं, उसीके लिये अपना सर्वस्व-समर्पण, अपनी चित्तवृत्तियोंका अर्पण, यहाँतक कि आवश्यकता पड़नेपर अपने प्राणोंका भी तृणवत् समर्पण होता है । गोपियोंकी भक्तश्रेणीमें प्रथम रेखा है । उसी उच्चकोटिके भावको प्राप्त करनेके लिये उन्होंने देवीकी उपासना आदि की । जिन भगवान्‌के भजनसे पातकियोंके भी पातक क्षणमें भस्म हो जाते हैं, उनका तन, मन, वचनसे भजन करनेवाली गोपियोंमें दुर्भाव कभी सम्भव नहीं हो सकता । परम पुनीत कथामें दोषारोपण करनेवाले अज्ञानियोंके अज्ञानका ही यह फल है कि उन्हें इसमें दुर्भावकी झलक दिखायी देती है । जिन्हें भगवान्‌के माहात्म्यका तनिक भी ज्ञान हो और गोपियोंके स्वरूपका साधारण भी परिचय हो, वे ऐसी कल्पना कभी नहीं कर सकते । जिन भगवान्‌के भक्तोंके संसर्गसे पतित नारियोंके भावमें भी रासायनिक चमत्कार हुआ है । स्वयं भक्तशिरोमणि होती हुई और भगवान्‌के श्रीमुखसे निःसृत वचनामृतका पान करती हुई गोपियोंके भावके विषयमें किसी प्रकारकी कल्पना करना मूर्खतामात्र है ।

धर्म और विज्ञान

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्र सांख्य-वेदान्त-तीर्थ)

महाकवि कालिदासने अपने अमरकाव्य मेघदूतमें कहा है—

'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण'

जिसप्रकार गाड़ीका पहिया कभी नीचे और कभी ऊँचे उठता है, उसी प्रकार मनुष्यकी अवस्था भी नित्य उत्थान-पतनके अन्दरसे होती हुई अग्रसर होती है। आज जो राजा है कल वही राहका भिखारी होता है, आज जिसकी बातको लोग आदेश मानकर सिर चढ़ाते हैं, कल उसीकी तिरस्कार-भरी हँसी उड़ाने लगते हैं। एक दिन धर्मका ही आधिपत्य था, वही लोगोंका शिरोमणि था, वेद-वेदान्त, पुराण-तन्त्र, काव्य-कथा, कर्म-मन्त्र सबमें— मानव-जीवनके प्रत्येक रन्ध्रमें उसीकी जय-घोषणा ध्वनित होती थी, परन्तु आज वह दिन नहीं रहा, पहिया उलट गया, आज धर्म अपने सिंहासनसे च्युत है, वहाँ आज नये राजाका अधिकार है, उसका अपार ऐश्वर्य है और सारा जगत् अभ्यर्थना कर रहा है। आज विज्ञानका आमन्त्रण पाकर बुभुक्षित मानव-समाजके दल-के-दल बड़ी संख्यामें उसकी सभामें आ गये हैं और पत्तल लेकर आँगनमें भोजनके लिये बैठ गये हैं। युग-युगान्तरोंकी भूख आज मिट जायगी, इस भावनासे उनका आनन्द छलका पड़ता है। आज उसकी बाढ़ किनारेको लाँघकर बड़े जोर-शोरसे बाहर बह चली है।

वस्तु-तन्त्र-मूलक ज्ञान ही विज्ञान है। जिस ज्ञानमें ज्ञाता छिपा हो, केवल ज्ञेय वस्तु ही विच्छिन्न होकर पद्मपत्रके समान अपनेको धीरे-धीरे सब ओर फैला देती हो, उसका नाम विज्ञान है। इसीसे इसमें वस्तुके ऐश्वर्यका पता लग जाता है एवं उस वस्तुके स्थितिशील होनेके कारण इसके ऐश्वर्यका भी ज्ञानी, अज्ञानी, साधक, असाधक सभी श्रेणीके लोग बिना भेदभावके समानतासे भोग कर सकते हैं। वस्तु-तन्त्र-मूलक सभी ज्ञानोंका यह एक ही नियम है। इसीलिये जो साधक योगासनपर बैठकर वस्तुके अन्तर्निहित सत्यका साक्षात्कार करता है, वस्तु केवल उसीको अपने अन्तर्लोकका ऐश्वर्य नहीं दे देती, सर्वसाधारणके लिये उसका द्वार खुल जाता है। इसी कारण विज्ञानसे मानव-समाजका ऐश्वर्य बढ़ गया है, मनुष्योंकी दीनता बहुत कुछ दूर हो गयी है। प्रकृतिकी पहनायी हुई पराधीनताकी बेड़ी टूट रही है। विज्ञानके आशीर्वादसे ऐश्वर्यका रसास्वादनकर मनुष्य आज अपनेको धन्य मान रहा है। वह आकाशमें उड़ता है, समुद्रपर नाचता है, अरण्य-पर्वत, गहन वन प्रभृतिकी बाधाओंको लाँघकर दुर्गम पथपर वायु-वेगसे दौड़ रहा है, इसपर भी वह तृप्त नहीं है, वह कुछ और भी चाहता है। जिसप्रकार रक्तका स्वाद पा जानेपर बाघ ज्यादा खूँखार हो उठता है उसी प्रकार मनुष्य भी आज शक्तिके लोभमें लोलुप हो गया है। आज उसे कौन रोकेगा ? इसीलिये आज राम-रहीम दूर हट गये हैं, मनु-मोजेसके उपदेशोंका तिरस्कार हो रहा है। जन-समाजमें आज विज्ञानके प्रभाव और विश्वासकी सीमा नहीं है।

धर्मकी प्रकृति सदासे ही कुछ निराली रही है। वह मनुष्यके किसी भी माप-तौलके अन्दर नहीं आता। वह तो मानो आकाशका प्रकाश है, धरणीकी धूलिके साथ वह कोई भी सरोकार नहीं रखता। दुर्लभ-अतिथिके सदृश मनुष्यके इस मिट्टीके घरमें वह दो दिनके लिये उतर आता है और फिर न मालूम कहाँ अदृश्य हो जाता है। इसीसे देखा जाता है कि जब साधकका हृदय इस ऊर्ध्व-लोकके प्रकाशसे प्रकाशित हो उठता है तब उसकी दिव्य प्रभापर मुग्ध होकर मनुष्योंके दल-के-दल सब ओरसे आकर उसे चारों ओरसे घेर लेते हैं। परन्तु आश्चर्य यह है कि बहुत

ही थोड़े मनुष्य इस प्रकाशको स्पर्श कर पाते और इसकी ज्योतिर्मयी दिव्य शिखासे अपने जीवन-दीपको जलाकर धन्य होते हैं। शेष सभी लोग उस साधकके केवल बाहरी जीवनकी नकल करते हुए जीवनके दिन व्यतीत करते हैं। असका पता न पानेके कारण उन्हें छिलकोंसे ही सन्तुष्ट होना पड़ता है। इसीलिये सत्यद्रष्टा ऋषियोंके कण्ठसे गम्भीर, उदात्त स्वरमें यह अपूर्व वाणी उद्घोषित हुई है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूᳪस्वाम् ॥

प्रवचन, पाण्डित्य या मेधाद्वारा कोई परमात्माको प्राप्त नहीं कर सकता। वे स्वयं कृपाकर जिसको वरण करते हैं वही उनको प्राप्त होता है, उसीके सम्मुख परमात्मा अपनेको प्रकट करते हैं। इसीकी प्रतिध्वनि गीता कर रही है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक सिद्धिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है और उन यत्नशील सिद्ध तपस्वियोंमें भी कोई एक विरला ही भगवान्को प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

यदि इस पथके पथिकोंकी यही गति होती है, यदि करोड़ों यात्रियोंमेंसे एक या दो ही वास्तविक गन्तव्य स्थानपर पहुँच सकते हैं, तब तो इस पथके पथिकोंको बहुत ही दुःख सहन करना पड़ेगा। यह मार्ग 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' है, इसमें सन्देह ही क्या है ? इसीलिये युग-युगमें न मालूम कितने नये नये संघ-सम्प्रदायोंका प्रादुर्भाव हुआ, कितने ऋषि, योगी, सन्त, साधुओंका समागम हुआ, कितने प्रकाश चमके और फिर बुझ गये, पर इस जगत्के जय करनेके लिये निकले हुए यात्रियोंमेंसे हम करोड़ों दीन, दरिद्र, प्रकाशहीन, आहारहीन यात्री युग-युगान्तरोंसे वञ्चित हुए जिस अन्धेरेमें थे उसी अन्धकारमें रह गये।

विज्ञानकी बाहरी वस्तुओंसे ही आत्मीयता है। उसका सारा कारोबार जडके साथ ही है। मानव-मन या मानव-आत्माकी वह कोई परवा नहीं करता। इसीलिये यद्यपि किसी दिन जन-सेवा व्रतको लेकर ही उसका अभ्युदय हुआ था परन्तु आज उसकी यह जनार्दनमूर्ति प्रकट हो रही है। विज्ञानकी सबसे सुलभ कीर्ति है जनसाधारणके नेत्रोंको सहज ही कुछ-का कुछ दिखा देना। इस यन्त्र-सृष्टिपर यदि थोड़ी गहरी दृष्टिसे विचार करें तो समझमें नहीं आता कि यन्त्र मनुष्यका गुलाम है या मनुष्य ही यन्त्रका गुलाम है। किसी भी कारखानेके प्रतिदिनके कार्योंको देखकर अवाक् हो जाना पड़ता है! किसप्रकार हजारों मजूर इन कलोंके इशारोंपर चलकर स्वयं पूरे कल ही बन गये हैं! वे भी अमृतके पुत्र हैं, उनके हृदयाकाशमें भी ईश्वरका महासिंहासन नित्य सुरक्षित है, इस बातका बोध होना तो दूर रहा, प्रत्युत वे तो शायद यह भी भूल गये कि हम मनुष्य हैं और हमारे भी हृदय है, मन है, स्नेह, प्रेम, प्रीति, इच्छा, अनिच्छा और स्वाधीनता है। एक बड़ा भारी रेल-इञ्जिन घर-द्वारको कँपाता हुआ हुस-फुस करता प्लेटफार्मपर आकर खड़ा हो जाता है। तुरन्त ही सैकड़ों नर-नारी इधर-उधर दौड़ने लगते हैं, उसके विकट गर्जन और अयथा आस्फालनसे मनुष्योंकी अन्तरात्मा काँप उठती है, जड-शक्तिकी इस ऐश्वर्यमयी मूर्तिके सामने मनुष्यकी आत्मशक्ति म्लान हो जाती है। मनुष्य दीन हो जाता है और अपनेको भूलकर उसीमें यह श्रेय-प्रेयकी युगल मूर्तिका दर्शन करने लगता है। इसप्रकार यद्यपि मुट्ठीभर थोड़े-से मनुष्योंकी सुख-सुविधाके लिये विज्ञान हजारों मनुष्योंको पीस डालता है, तो भी उसका पुरस्कार मनुष्यकी स्थूल इन्द्रियोंका प्रत्यक्ष-विषय होकर दिखलायी

पड़ता है एवं विचार-आचारकी किसी दुष्प्राप्य जटिलताकी सृष्टि न कर नगद-धर्मकी व्यवस्था करता है इसलिये लोग उसीपर विश्वास करते हैं, इसीलिये चिर-वञ्चित मनुष्य-समाजकी आज विज्ञानके दरवाजेपर भीड़ लग गयी है। आज विज्ञान-का एकाधिपत्य है। परन्तु यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि जिसप्रकार मनुष्यके पेट है उसी प्रकार मस्तिष्क भी है, वह जिसप्रकार भोजनकी तृप्ति चाहता है उसी प्रकार उसको मननका आनन्द भी वाञ्छनीय है।

विज्ञान भी सत्यको देखना चाहता है और दर्शन भी उसी सत्यकी खोजमें है। दोनोंका साध्य एक है, साधना भिन्न-भिन्न हैं। विज्ञान वस्तुको पीसकर, चूर्णकर, तपाकर, जलाकर उसमें विविध क्षारयुक्त जल मिलाकर, बाहरकी ओरसे उसका अनेक प्रकारसे विश्लेषणकर सत्यकी खोज करता है। धर्मकी पद्धति इसके बिलकुल विपरीत है, वह अन्तरकी दृष्टिसे पदार्थका भलीभाँति सम्पूर्ण-रूपसे विश्लेषणकर उसमें जो 'आनन्दरूपं यत् ज्योतिः' आनन्दरूप प्रकाश मिलता है, उसीमें सत्यकी मूर्ति देखता है। इसीलिये विज्ञानका सत्य जडमयी पृथिवीका नब्बे संख्याओंसे निर्दिष्ट रूप-रस-हीन पञ्जरास्थिमात्र है। आवश्यकता होनेपर हम उसे उपयोगमें ला सकते हैं पर उससे प्रेम नहीं कर सकते। पर धर्मका सत्य है सच्चिदानन्दकी उस एक अखण्ड छायाकी आनन्दमयी अनुभूति, जो ऊपरसे उतरकर इस दृश्य-मान जगत्के असंख्य नाम-रूपोंके समस्त हृदयोंमें विराजित है। परन्तु स्थूलके प्रति हमारी आसक्ति अधिक होनेके कारण हमारा आकर्षण इस देहीकी अपेक्षा देहकी ओर ही अधिक है और इसीसे हमारी दृष्टिमें स्थूलका गौरव अधिक है। इसीसे देहने ही साधारणतः हमारे प्रथम और प्रधान स्थानपर अधि-कार कर रक्खा है। इसीलिये हम सबसे पहले उदर-पूर्ति चाहते हैं, 'अन्नं बहु कुर्वीत' इस वाणीका साधन ही हमारा व्रत है। परन्तु उदर-पूर्तिके साथ ही जब स्थूलका गौरव चला जाता है और गहरे अन्तरकी प्रगाढ़ पिपासा प्रबल वेगसे बढ़कर जिह्वाको जलाने लगती है तो उसे नष्ट करनेवाला कोई भी शस्त्र विज्ञानके पास नहीं है। इतनेपर भी हम देखते हैं कि सारा मानव-समाज आज अबोध बालककी भाँति 'अस्ति नास्ति न जानन्ति' विज्ञानके सामने हाथ पसारे खड़ा है और 'देहि देहि पुनः पुनः' की पुकारसे उसने सारे आकाशको गुँजा दिया है। भोगमय जीवन दूरसे हमें मिथ्या ही मुग्ध करता है, कुछ दिन वैसा जीवन बितानेपर सहज ही उससे मन उठ-सा जाता है, फिर तो हमें वह बन्द कैदखाना-सा प्रतीत होने लगता है, जहाँ न हवा है और न प्रकाश है, ऐसा लगता है, मानो शीघ्र ही कछ अवकाश—खुली जगह और विस्तार नहीं मिला तो हमारे प्राण ही नहीं रहेंगे। जगत् और जीवनकी माधुर्य एवं स्नेहहीन अति साधारण मूर्तिने मानो कारागृहकी दीवारोंके समान चारों ओरकी सीमाको संकुचित कर रक्खा है। हम संकीर्णताकी इस काली यवनिकाको हटा देना चाहते हैं, इस क्षुद्र सीमामें हमारी तृप्ति नहीं होती। यहाँ हम और हमारा आत्मा अत्यन्त ही सङ्कुचित और क्लिष्ट हो रहे हैं। हम इससे मुक्त होना चाहते हैं, परन्तु किस उपायसे? सारा जगत् आज व्याकुल-दृष्टिसे विज्ञानके गम्भीर मुख-की ओर उपायकी आशासे ताक रहा है। सशंकित हृदयसे प्रतीक्षा कर रहा है, न मालूम किस शुभ मुहूर्तके अद्भुत आविष्कारसे अकस्मात् यह दुःस्वप्न नष्ट हो जायगा, यवनिका उठ जायगी, जगत् और जीवनकी एक नयी चाल, एक नया अर्थ पाकर हम बच जायँगे, धन्य हो जायँगे। परन्तु ऐसा कभी नहीं होगा, जैसे एक दिन मनुष्यने धर्मके द्वारपर अर्थकी याचना करके भूल की थी, आज वैसे ही विज्ञानके द्वारपर परमार्थकी कामनासे खड़ा हो करके वही भूल कर रहा है। उसको अर्थ और परमार्थ दोनों ही आवश्यक हैं। एक ही साधनासे

उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। इसीसे उपनिषद्में यह कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

जो विद्या और अविद्या दोनोंको एक साथ जानता है, वह अविद्याके द्वारा मृत्युको लाँघकर विद्याके द्वारा अमृतका उपभोग करता है।

भारतमें युग-युगमें अनेकों मत और अनेकों मार्ग निकले और नष्ट हो गये। परन्तु इस उपनिषद्-वाणीमें जिस पथका सङ्केत है, वैसे सामञ्जस्यपूर्ण सर्वांगसुन्दर पथका फिर कभी उपदेश नहीं हुआ। महामनीषि गीताकारने अपने अपूर्व दार्शनिक महाकाव्यमें जिस आसक्तिहीन कर्म-योगका विस्तार किया है, उपनिषद्के इस छोटे-से मन्त्रमें उसीकी बीज-मूर्ति अनुस्यूत है। दार्शनिक परिभाषामें इसीका नाम 'ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद' है। जनकादि राजर्षिगण इसी पथके पथिक थे। जिसप्रकार पक्षी एक पङ्खसे आकाशमें नहीं उड़ सकता, उसी प्रकार मनुष्य भी केवल ज्ञान या केवल कर्मकी सहायतासे संसार-सागरसे तरनेमें समर्थ नहीं होता। कर्ममयी, कर्म-निपुणा विद्या ही अविद्या है। गीताकी भाषामें इसीका नाम 'योगः कर्मसु कौशलम्' है। इसी अविद्या, इसी कर्म-कुशलताके द्वारा मृत्युको लाँघना पड़ेगा। फलासक्तिको छोड़ना होगा, तब तुम्हारे अन्तरमें छिपा हुआ ब्रह्मज्ञान स्वतः ही प्रकाशित हो उठेगा और उससे 'अमृत' को पाकर तुम कृत-कृत्य हो जाओगे। यदि हम गीताकी दृष्टि और ऋषियोंके अनुभवको ग्रहणकर समुचित साधनाकी शरण नहीं लेंगे तो आज जो विज्ञान मनुष्यको भोग-पथकी ओर खींच ले गया है और जो धर्म योगका प्रकाश दिखा रहा है वे दोनों ही व्यर्थ हो जायँगे।



विनय

(लेखक—श्रीधर्मचन्द्रजी खेमका 'चन्द्र')



विनय यह तुमसे जगदाधार।
शरण चरणमें मिले तुम्हारे, हमको दो न बिसार॥
जग-जीवन है एक पहेली, बड़ा विकट व्यापार।
मतलबके सब संगी साथी, मतलबका व्यवहार॥
ईर्षा और द्वेषका मनमें, है अक्षय भण्डार।
सीखा नहीं किसीने करना, सच्चे दिलसे प्यार॥
पग-पगपर दुख-दर्द भरा पथ, धोखा-धड़ी अपार।
इस 'नन्हेसे जीवन' में उफ़!, इतना हाहाकार!॥
देव! हमारी भूलोंका क्या, है कोई प्रतिकार?।
मार्गच्युत जनका ध्रुव तू है, है तेरा आधार॥



आस्तिक-नास्तिक-संगम

(लेखक—श्रीधर्मेन्द्रनाथजी शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल०)

आस्तिक-नास्तिक-वाद

सनातन-कालसे सुनते आ रहे हैं कि इस दृश्यमान जगत्‌रूपी पर्देके पीछे छिपी हुई कोई शक्ति 'ईश्वर' है जिसने मनुष्योंको बनाया, पर साथ ही धीमी-धीमी आवाज़ आती है 'नहीं, ईश्वरने मनुष्योंको नहीं बनाया, प्रत्युत मनुष्योंने ही ईश्वरको बनाया है' अर्थात् ईश्वर केवल मनुष्यके दिमाग़की उपज है। ऐसा मालूम पड़ता है कि ईश्वरके विषयमें यह आस्तिक और नास्तिक-बुद्धि सृष्टिके आरम्भसे ही चली आ रही है, पुराने-से-पुराने युगमें भी जिसे प्राचीन प्रस्तरकाल (Palaeolithic period) कहा जाता है, जिसमें मनुष्य मकान बनाना नहीं जानते थे प्रत्युत जानवरोंकी तरह खोहोंमें नङ्गे रहा करते थे, अथवा जङ्गली-से-जङ्गली देशोंमें; रेगिस्तान और बरफिस्तानके उन देशोंमें भी जहाँ मीलोंतक हरियाली दिखायी नहीं देती और अब भी मनुष्य पशुओंका-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जहाँ किसी पैगम्बर, पुरोहित और धर्मगुरुका पता नहीं है, वहाँ भी अगर मनुष्यकी आबादी है तो उस अदृश्य शक्तिके विषयमें किसी-न-किसी रूपमें भावना विद्यमान है, उनके जङ्गली गीतोंमें जिनकी एक सभ्य मनुष्य सर्वथा उपेक्षा करेगा, उस अदृश्य शक्तिके लिये मानव-हृदयकी तड़पती हुई आह भरी हुई है, कई बार मेरे हृदयमें खयाल आया करता है कि यदि जङ्गली जातियोंके इसप्रकारके सङ्गीतोंका संग्रह किया जावे तो वह संग्रह आध्यात्मिक उपनिषद् (Spiritual Testament) का रूप धारण कर लेगा। इसके साथ-ही-साथ उन सब स्थानोंमें और सब युगोंमें मनुष्यके तार्किक दिमाग़ने बार-बार कहा है कि जो तत्त्व हमें आँखोंसे नहीं दीखता, हमारी इन्द्रियोंसे सर्वथा परे है, उसे मानकर झूठा हवाई किला क्यों बनायें? हरेक देश और हरेक मज़हबके इतिहासको देखनेसे स्पष्ट पता चलता है कि यह आस्तिक-नास्तिक-बुद्धि इस पृथ्वीपर मनुष्यकी उत्पत्तिके समयसे चली आ रही है, न जाने कितने ग्रन्थ इस आस्तिक-नास्तिक झगड़ेके निर्णयके लिये आजतक लिखे गये हैं और न जाने कितने व्याख्यान और वादविवाद इस विषयपर आजतक हुए हैं और शायद अनन्त कालतक यह गोरख-धन्धा इसी प्रकार चलता रहेगा।

फिर सत्य क्या है? वस्तुतः दोनों ही सत्य हैं, क्योंकि दोनों पक्षोंकी तहके भीतर एक ही तत्त्व है। मेरे पाठक कदाचित् चौंक उठेंगे, यह मैं क्या स्थापना करने लगा हूँ, पूरब पश्चिम एक ही हैं, अन्धेरा और प्रकाश एक ही हैं, आग और जल एक ही हैं, यह कैसे हो सकता है? पर फिर भी मैं कहूँगा यह संसार पहेलियोंका घर है और आस्तिक तथा नास्तिकवादके भीतर छिपा हुआ तत्त्व भी एक ही है, एक बात तो हम स्पष्ट देख सकते हैं और उसे दिखाना ही इस लेखका उद्देश्य है कि आस्तिक और नास्तिकवादका जो चरम दार्शनिक विकास है, उन दोनोंमें जो अन्तिम तत्त्व, निष्कर्ष और निचोड़ है वह एक ही है, सर्वथा एक ही है।

आस्तिकवादका विकास

मैं इस लेखमें क्रमशः आस्तिकवाद और नास्तिकवादके दार्शनिक विकासका संक्षेपसे उल्लेख करूँगा जिससे हमें पता चलेगा कि किसप्रकार दोनों अन्तिम परिणामपर पहुँचकर एक हो जाते हैं, ईश्वरकी भावनाके विषयमें मनुष्यके विकाशकी तीन सीढ़ियाँ या अवस्थाएँ मानी जाती हैं जो क्रमशः इसप्रकार हैं—

प्रथम अवस्था—सबसे प्रथम जब मनुष्य बाह्य प्राकृतिक शक्तियोंको कुछ काम करते देखता है, सूरज उसे रोशनी और गरमी देता है, आग उसके भोजनको पकाती है, वायुके द्वारा वह साँस लेता है, वर्षासे उसका अन्न उपजता है इत्यादि, तो वह सूरज, अग्नि, वायु, वर्षा आदिको अपने समान चेतन समझता है और उनकी बड़ी शक्तिको देखकर उन्हें देवता मानकर उनकी पूजा करने लग जाता है, इसी प्रकार जिस बाह्य भौतिक वस्तुको वह कुछ भी प्रभावशाली देखता है उसीको, चाहे वह पहाड़ हो, नदी हो, वृक्ष हो, देवता समझकर उसकी पूजा करने लगता है, इस अवस्था या सीढ़ीको भूतदेववाद या जड़देववाद अथवा अङ्गरेजीमें 'फेटिशिज़्म' (Fetishism) कहा जाता है जिसका अर्थ है—किसी बाह्य वस्तुके जड़ या

भौतिक रूपको देवता समझकर उसकी पूजा करना, ईश्वरवादकी यह अवस्था जङ्गली जातियोंमें पायी जाती है।

द्वितीय अवस्था-इससे अगली अवस्थामें मनुष्यके अन्दर यह विचार उत्पन्न होता है कि दृश्यमान सूरज, अग्नि, वायु आदि तो जड़ पदार्थ हैं परन्तु इनमेंसे हरेकके अन्दर, अपने शरीरके अन्दर आत्माके समान एक चेतन देवतारूप शक्ति काम कर रही है, इसप्रकार वह सूरज और अग्नि आदि हरेकके अन्दर रहनेवाले अलग-अलग देवताओंकी कल्पना करता है, जो अभौतिक और चेतन हैं। इसी प्रकार वह पहाड़, नदी, वृक्ष आदिको भी देवता न समझकर उनके अन्दर छिपी हुई चेतनशक्तिको अलग-अलग देवताओंके रूपमें स्वीकार करता है और क्रमशः जगत्‌को चलानेवाले अनेक देवताओंकी कल्पना होती है, उन देवताओंको एक दूसरेसे ऊँचा-नीचा समझा जाता है, उन देवताओंमें एकको सबमें मुख्य समझा जाता है, धीरे-धीरे उन देवताओंके सम्बन्धमें अनेक आख्यायिकाएँ बनती और बढ़ती चली जाती हैं, इस अवस्था या सीढ़ीको 'बहुदेववाद' या 'Polytheism' कहा जाता है; स्कैण्डिनेविया और यूनानके पुराने धार्मिक ग्रन्थोंमें इसप्रकारकी अनेक देवताओंकी कल्पना खूब विस्तृतरूपमें पायी जाती है। भारतवर्षमें भी एक समय 'बहुदेववाद' की कल्पना खूब विस्तारके साथ हुई थी।

तीसरी अवस्था-बहुदेववादमे मनुष्य एकदेववाद या एकेश्वरवाद (Monotheism) पर पहुँचता है, वह सोचता है कि सूरज, आग, हवा आदि बाह्य वस्तुओंमें काम करनेवाले अनेक देवताओंकी कल्पना करनेकी अपेक्षा इनके अन्दर काम करनेवाली एक ही व्यापक चेतन-शक्तिको मानना अधिक उचित है जो सब प्राकृतिक पदार्थोंको चलाती और उनसे काम कराती है। जो इस विश्वको बनानेवाली, सँभालनेवाली और अन्तमें मिटानेवाली शक्ति है और वह केवल एक है। अनेक देवताओंकी कल्पना व्यर्थ और अयुक्त है, क्योंकि अनेक देवताओंमें परस्पर विरोध आदि आ जानेसे विश्वका ठीक नियन्त्रण नहीं हो सकता, भारतके सिवा अन्य देशोंमें एकेश्वरवादकी भावना पहले-पहल यहूदी धर्ममें पायी जाती है, उसीका विकास इस्लाममें आया और फिर इस्लामने 'एकेश्वरवाद' का प्रचार बड़े ज़ोरके साथ किया। भारतवर्षमें एकेश्वरवादका विचार बहुत ही पुराने समयमें उत्पन्न हुआ था और अब पाश्चात्य विद्वान् भी स्वीकार करने लगे हैं कि ऋग्वेदमें एकेश्वरवाद विद्यमान है।

एक यूनानी कहानी

हमने ऊपर देखा कि मनुष्यने ईश्वरकी कल्पना अपनी समानताके आधारपर की। प्राकृतिक पदार्थोंको काम करते देखकर उन्हें अपने समान चेतन या अपने समान उनके अन्दर चेतन देवताओंकी कल्पना की, यहाँतक कि मनुष्योंके समान ही देवताओंके हथियार, सवारी, मकान और स्त्रियों तथा सन्तानोंतककी कल्पना की गयी। एक यूनानी कहानीमें ईश्वर-कल्पनाका बड़ा अच्छा चित्रण किया गया है—एक बार जङ्गलके सारे जानवर इसलिये इकट्ठे हुए कि वे ईश्वरके स्वरूपका फैसला करें, उस बड़ी सभामें प्रत्येक जानवर ईश्वरके स्वरूपके विषयमें अपने विचार प्रकट करने लगा, खरगोशने कहा कि 'ईश्वर कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिसके कान बड़े जबर्दस्त हों, यदि हमारे-जैसे खरगोश एकाध मीलसे कुत्तेकी आवाज़ सुन सकते हैं तो ईश्वर महान् शक्तिशाली होनेके कारण कई मीलोंसे कुत्तेकी आवाज सुन सकता होगा।' हाथीने फरमाया कि 'यदि ईश्वर सचमुच कोई शक्तिशाली वस्तु है तो उसकी सूँड़ बहुत जबर्दस्त होनी चाहिये जिससे बड़े-से-बड़े बरगदके पेड़को भी एक झटकेमें उखाड़कर फेंक दे।' इसी प्रकार सब जानवरोंने ईश्वरकी शक्तिका अपने-अपने अनुसार बखान किया परन्तु अन्तमें सभाध्यक्ष सिंहने गरजते हुए कहा कि 'ईश्वरका सच्चा स्वरूप कोई न समझ सका, वस्तुतः वह महान् शक्तिशाली है इसलिये आवश्यक है कि उसके पञ्जे इतने जबर्दस्त हों कि बड़े-से-बड़े मस्त हाथीको एक ही थप्पड़में लिटा दे।' यह कहानी हमें बतलाती है कि कहानीके जानवरोंके अनुसार मनुष्यने भी देवताओंकी कल्पना किसप्रकार अपनी समानताके आधारपर ही की है। देवताओंकी कल्पनातक ही यह बात हो, ऐसा नहीं है, बल्कि जब मनुष्य एक ईश्वरकी सत्तातक पहुँचता है तो भी वह इस अपनी समानताकी कल्पनाको नहीं छोड़ पाता। यहूदी धर्मग्रन्थ पुरानी बाइबिलमें हम पाते हैं कि 'जेहोवा' (जो कि ईश्वरका नाम है) मनुष्योंके समान ही रागद्वेष करता है, इज़राइलीज़ जातिके लोगोंसे उसका खास प्रेम है। उनकी रक्षाके लिये मारा-मारा फिरता है, उनके दुश्मनोंपर क्रोध करता है, उनसे बदला लेता है,

मनुष्योंके समान जगह-जगह घूमा-फिरा करता है, अर्थात् मनुष्योंके समान उसकी चेष्टा और स्वभाव है इसे ही धर्मदर्शन (Philosophy of Religion) में 'मनुष्यकी समानताके अनुसार परमात्माकी कल्पना' (Anthropomorphic conception of God) कहते हैं, इस्लाममें जो ईश्वरका रूप है वह यहूदी-धर्मकी अपेक्षा अधिक विशुद्धतर है, इसी प्रकार हिन्दू-धर्ममें जहाँ विशुद्ध स्वरूपका वर्णन है वहाँ कहा गया है कि ईश्वरका मनुष्यके समान शरीर नहीं, उसमें बुढ़ापा-जवानी नहीं, उसमें किसी प्रकारका राग-द्वेष नहीं, प्रत्युत वह प्रकाशस्वरूप, न्यायकारी, दयालु, सर्वशक्तिमान् है। परन्तु यदि हम ध्यानसे देखें तो पता चल जायगा कि न्याय, प्रकाश, दया और सर्वशक्ति आदि गुण भी मनुष्यने अपनी समानताके आधारपर कल्पित किये हैं, क्योंकि न्याय, दया, प्रकाशादि गुण संसारमें बहुत उच्च समझे जाते हैं, इसलिये उन्हीं गुणोंका उत्कृष्ट रूप हमने ईश्वरमें मान लिया।

आस्तिकवादका चरम स्वरूप

इसप्रकार हम देखते हैं कि दृश्यमान जगत्से परे जो तत्त्व है उसकी कल्पना करनेमें भी मनुष्य उसे किसी-न-किसी प्रकार दृश्यमान जगत्के पदार्थों या गुणोंके रूपमें ही सोचता है। वह उस परिधिके भीतर बन्द है, उससे आगे जा ही नहीं सकता, मनुष्यकी बुद्धि और कल्पना इतनी सीमित है, इतनी अल्प है। परन्तु फिर भी मनुष्य इस दृश्यमान जगत्के भीतर बन्द रहनेको तैयार नहीं होता, उसके अन्दर कोई छिपी प्रेरणा है जिसके कारण वह दृश्यमान जगत्से परे छलांग मारना चाहता है और अदृश्य जगत्में प्रवेश करना चाहता है जहाँ दृश्य और अदृश्य जगत्की परिधि मिलती है, उसे वह छू लेता है। मनुष्यकी इस ऊँची उड़ानकी झलक हमें उपनिषदों और वेदान्तमें मिलती है। उपनिषदें तरह-तरहसे ब्रह्मका वर्णन करती हैं, मनुष्यको उस रास्तेकी ओर ले जाती हैं परन्तु सब वर्णन करनेके बाद उपनिषद्के ऋषि एक साथ पुकार उठते हैं—

'ब्रह्म वह है जो वाणीसे कहा नहीं जा सकता, मन और बुद्धिसे समझा नहीं जा सकता—वह जिसकी लोग पूजा करते हैं, ब्रह्म नहीं है। (केनोपनिषद्)

वे बतलाते हैं कि सगुण ब्रह्म तो व्यवहारकी दृष्टिसे कल्पित किया गया है, शुद्ध ब्रह्म निर्गुण है, निर्गुण होनेसे अज्ञेय है। क्योंकि वह स्वयं ज्ञाता है, उसीके द्वारा तो सब जाना जाता है। तो उस ज्ञाताको कौन जान सकता है? आग सबको जलाती है पर आगको कौन जला सकता है? क्योंकि जो भी जाना जायगा वह ज्ञेय होगा, विषय (object) होगा, वह ज्ञाता विषयी (Subject) नहीं हो सकता। बृहदारण्यकोपनिषद्में आता है—

> येनेदꣳसर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् विज्ञातारमरे केन विजानीयात्॥ (२।४।१४)

जिसके द्वारा सब कुछ जानता है उसे किसप्रकार जाने। जो स्वयं ज्ञाता है उसे किसप्रकार जाने?

इसलिये केनोपनिषद्में एक पहेली आती है—

> यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
> अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥
> (२।३)

जिसका नहीं जाना हुआ है उसीका जाना हुआ है, जिसका जाना हुआ है वह तो उसे जानता ही नहीं। वह जाननेवालोंका न जाना और न जाननेवालोंका जाना हुआ है; इस पहेलीका क्या अर्थ है? यही कि शुद्ध ब्रह्म निर्गुण और अज्ञेय है, इसलिये जो उसे किसी स्वरूप-विशेषसे जानता है वह उसे नहीं जानता। उसकी प्राप्तिमें तो ज्ञाता और ज्ञेयका भेद ही नहीं अर्थात् बाह्य विषयके समान उसका ज्ञान हो नहीं सकता इसलिये उसीको ब्रह्मका वास्तविक ज्ञान है जिसे उसका ज्ञान नहीं। क्योंकि ब्रह्मका साक्षात्कार इसप्रकारका नहीं जैसे किसी बाह्य विषयका ज्ञान हो।

इसलिये निर्गुण ईश्वरका स्वरूप अज्ञेय है और उसके विषयमें हम कुछ भी नहीं कह सकते। केवल इतना कह सकते हैं कि वह है, जिसका स्वरूप हम नहीं जानते। इसीलिये उपनिषद् कहती है—

> अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।
> (कठ० ६।१२)

अर्थात् 'वह है' ऐसा कहनेके सिवा उसके विषयमें क्या ज्ञान हो सकता है? इसीलिये वेदान्त और उपनिषदोंका अन्तिम तत्त्व 'नेति' 'नेति' समझा जाता है जिसका अर्थ है कि 'वह ऐसा नहीं है' 'वह ऐसा नहीं है' इस रूपमें ब्रह्मका वर्णन करना। इसप्रकार यह स्पष्ट है वेदान्तका अन्तिम तत्त्व जहाँतक सांसारिक बुद्धिकी पहुँच है निषेधात्मक ही है। फलतः हम इस परिणामपर पहुँचते

है कि कोई एक महान् यथार्थ तत्त्व इस दृश्य जगत्के पीछे छिपा हुआ किंवा इसमें ओतप्रोत है जिसके स्वरूपके विषयमें हम कुछ नहीं कह सकते, कुछ नहीं जान सकते, कुछ नहीं सोच सकते, किसी प्रकारसे थोड़ा-सा खयाल भी नहीं कर सकते। इसी आशयको तरह-तरहसे अधिक-से-अधिक उपयुक्त शब्दोंमें उपनिषद् कहती है।

नास्तिकवादका विकास

यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि नास्तिकवाद भी आस्तिकवादके साथ-ही-साथ कदाचित् उसी समयसे चला आ रहा है जब कि मनुष्यने पहले-पहल सोचना प्रारम्भ किया था। यह तो कहना कठिन है कि नास्तिकवादका विकास किसप्रकार, कब-कब हुआ, परन्तु नास्तिकवादके जितने रूप हैं उन्हें साधारणतया तीन रूपोंमें विभक्त किया जा सकता है जिनमें क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति पायी जाती है, नास्तिकवादके तीन रूप या तीन अवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं—

कट्टर नास्तिकवाद*—का रूप यह है कि जो कुछ हमें इन्द्रियोंसे प्रतीत हो रहा है उसके सिवा और कोई छिपा हुआ तत्त्व नहीं है जिसे 'ईश्वर' आदि नाम दिया जा सके, यह संसार स्वयं बना है, स्वयं चल रहा है इत्यादि। 'ईश्वर' केवल मनुष्यके बिगड़े हुए दिमागकी उपज है, यह कट्टर नास्तिकवाद ईश्वर या किसी अदृश्य तत्त्वके अस्तित्वकी सम्भावनाका भी निषेध करता है।

मध्यम नास्तिकवाद—नास्तिकवादका दूसरा रूप है, जिसमें मनुष्यका तर्क कट्टरताके भावको छोड़कर इसप्रकार चलता है—इस दृश्यमान जगत्को हम अपनी इन्द्रियोंसे साक्षात् करते हैं, इसके सिवा कोई और भी अदृश्य तत्त्व है या नहीं इस विषयमें हमें न कुछ पता है और न हम कुछ जान ही सकते हैं। इसलिये उसके विषयमें हमें कुछ न कहना चाहिये। ऊपरके सिद्धान्तसे इसका भेद स्पष्ट है। पहलेमें निश्चितरूपसे कहा जाता है कि दृश्यमान जगत्से परे अदृश्य तत्त्व कोई नहीं है। परन्तु दूसरे नास्तिकवादके अनुसार 'कोई अदृश्य तत्त्व है या नहीं' इस विषयमें हम कुछ नहीं जान सकते।

वैज्ञानिक नास्तिकवाद—पश्चिमके आधुनिक वैज्ञानिक और दार्शनिक जिस रूपमें नास्तिकवादको मानते हैं, उसमें वे एक कदम और आगे बढ़ जाते हैं। उसीको अब स्पष्ट किया जायगा, साधारणतया यह समझा जाता है कि साइंसकी खोजोंके बाद अब 'ईश्वरवाद' के लिये कोई गुंजाइश नहीं रह गयी है क्योंकि साइंसने सिद्ध कर दिया है प्रकृतिमें अनेक शक्तियाँ अपने निश्चित सनातन नियमों (Fixed Eternal Laws) के अनुसार काम कर रही हैं और उनसे जगत्का यह सारा खेल बन रहा है, उनके अतिरिक्त किसी ईश्वरको माननेकी आवश्यकता नहीं, साइंसके विषयमें यह विचार एक अंशमें ठीक और एक अंशमें ग़लत है। यह ठीक है कि निश्चित सनातन नियमोंके आधारपर यह सारा विश्व ठहरा हुआ है, परन्तु वैज्ञानिक कहते हैं कि इन प्राकृतिक नियमोंका द्रष्टा और अध्यक्ष कौन तत्त्व है इसका हमें कुछ पता नहीं, इतना ही नहीं। वे कहते हैं कि जगत्के उपादान (Matter) का असली रूप क्या है और प्राकृतिक शक्तियोंका यथार्थ तत्त्व क्या है, यह बात भी अन्धेरेमें छिपी हुई है।

आधुनिक वैज्ञानिक दार्शनिक जिनमें हर्बर्ट स्पेन्सर मुख्य समझा जाता है, इस बातको स्वीकार करते हैं कि इस दृश्यमान जगत्के अतिरिक्त कोई अदृश्य तत्त्व है, परन्तु वह मनुष्यके लिये सर्वथा अज्ञेय है।

यदि हम एक तिनकेको उठायें और उसपर विचार करें तो पता चल जायगा कि मनुष्यकी बुद्धि उसका अन्तिम रहस्य नहीं समझ सकती, एक तिनकेका हम विश्लेषण करें तो मालूम पड़ता है कि वह कई मौलिक रासायनिक तत्त्वों (Elements) से बना हुआ है, परन्तु यह तत्त्व क्या वस्तु है ? यदि वे परमाणुरूप हैं तो उन परमाणुओंके भी आगे टुकड़े हो सकते हैं या नहीं ? यदि एक परमाणुके टुकड़े नहीं हो सकते तो क्यों नहीं हो सकते, जब उसमें कुछ भी आकार (लम्बाई-चौड़ाई) है तो उसके हिस्से भी होने ही चाहिये। इसलिये परमाणुके टुकड़े नहीं हो सकते यह बात मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं आ सकती, और यदि यह मान लें कि परमाणुके भी टुकड़े हो सकते हैं तो कबतक ? क्या अनन्त टुकड़े होते चले जायँगे, कहीं भी कोई सीमा न होगी, यह बात मानना भी उतना ही कठिन है जितना कि पहली, फिर तत्त्व क्या है ? मनुष्यकी बुद्धि अन्धकारमें गोते खाती है, वह किसी तत्त्वको पकड़ना चाहती है परन्तु वह तत्त्व उसकी पहुँचसे बाहर है, इसी प्रकार यदि हम रातको

* नास्तिकवादके विषयमें इसप्रकारकी तीन संज्ञाओंका प्रयोग लेखकका अपना है।—लेखक

आकाशमें तारोंपर दृष्टि डालें और सोचें कि क्या कहीं इस तारका-जगत्का अन्त हुआ है या नहीं ? तो मनुष्यकी बुद्धि चकरा जायगी, हम यह भी नहीं सोच सकते कि इन तारोंका विस्तार अनन्त देशतक है और कहीं भी इनकी समाप्ति नहीं है, हमारी सीमित बुद्धिमें यह अनन्त बात कैसे आ सकती है, हम अनन्तसूचक शब्द बोल सकते हैं, पर उसका सोचना हमारे लिये सम्भव नहीं। यदि दूसरी ओर हम सोचें कि एक स्थानपर इन तारोंका अन्त हो जाता है और उसके बाद आकाश खाली पड़ा है तो यह बात भी हमारी समझसे बाहर है।

फलतः हम स्पष्ट देखते हैं कि अनेक ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें हमारी बुद्धि जान ही नहीं सकती, परन्तु साथमें हमारी बुद्धिको इतना ज्ञान भी है कि कोई चीज़ है जिसे वह नहीं जान सकती। इसलिये दर्शन-शास्त्रकी पराकाष्ठा यही है कि मनुष्य यह जान ले कि जो यथार्थ तत्त्व है उसे वह नहीं जानता। यूनानके दार्शनिक सुकरातके विषयमें जब आकाशवाणी हुई कि 'वह सबसे बड़ा ज्ञानी है' तो सुकरात हैरानीसे कहने लगा कि शायद इसका मतलब यह होगा कि मुझे इतना ज्ञान है कि 'मैं' कुछ नहीं 'जानता' औरोंको इतना ज्ञान भी नहीं, इसीलिये उपनिषद्की पहेलीमें आता है कि 'जो नहीं जानते वे ही जानते हैं' इसप्रकार मनुष्यकी बुद्धि ही इस बातका पता देती है कि कोई अदृश्य तत्त्व है जिसे हम नहीं जानते।

हर्बर्ट स्पेंसर आदि कतिपय आधुनिक वैज्ञानिकोंको नास्तिक इस अर्थमें कहा जा सकता है कि वे कहते हैं कि अदृश्य तत्त्व सर्वथा अज्ञेय है इसलिये उसे ईश्वर-रूपमें मानकर उसके जाननेकी चेष्टा, पूजा-पाठ आदि धार्मिक क्रियाएँ सर्वथा व्यर्थ हैं, किन्तु वे लोग भी—'कोई अदृश्य तत्त्व है' इस बातको स्वीकार करते हैं।

आस्तिक-नास्तिक-सङ्गम

ऊपरके लेखसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चरम सीमातक पहुँचकर आस्तिक और नास्तिकवाद एक ही सिद्धान्तपर आ जाते हैं, आस्तिकवादका विशुद्ध रूप जो कि हम उपनिषदोंमें पाते हैं, इस बातपर अधिक-से-अधिक ज़ोर देता है कि शुद्ध ब्रह्मका स्वरूप सर्वथा अज्ञेय है, इसी प्रकार दार्शनिक नास्तिकवाद इस बातको मानता है कि कोई अदृश्य तत्त्व है अवश्य परन्तु वह सर्वथा अज्ञेय है। इसप्रकार हम देखते हैं कि आस्तिकोंका 'भाववाद' स्वरूपकी दृष्टिसे अभावात्मक हो जाता है और नास्तिकोंका 'अभाववाद' तत्त्वकी दृष्टिसे भावात्मक बन जाता है, इसप्रकार दार्शनिक दृष्टिसे उन दोनोंमें कोई अन्तर ही नहीं रह जाता है, तर्ककी चरम सीमामें पहुँचकर वे दोनों एक हो जाते हैं, इसीलिये कई बार हर्बर्ट स्पेंसरके वाक्योंको पढ़ते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो हम उपनिषदोंके वाक्योंको अंग्रेजी भाषामें पढ़ रहे हैं।

तर्कसे आगे

जहाँतक तर्ककी गति है, आस्तिक और नास्तिकवाद एक हो जाते हैं, परन्तु उन दोनोंमें अन्तर है और बड़ा अन्तर है। वह अन्तर तब होता है जब मनुष्य तर्कसे अगली सीढ़ीपर चढ़ता है, जब वह तर्कको छोड़कर अपनी 'आत्मभावना' जिसे पाश्चात्य दार्शनिक 'Intution' कहते हैं जागृत करता है; 'अदृश्य तत्त्व' है और वह अज्ञेय है, इतनेसे मनुष्य कदापि सन्तुष्ट नहीं हो सकता। उसके हृदयमें एक भावना—एक प्यास है जो उसके अस्तित्वके साथ मिली हुई है जिससे प्रेरित होकर वह उस अदृश्य तत्त्वकी खोज करता है। दर्शनशास्त्र 'अदृश्यतत्त्व' की ओर सङ्केत करके चुप हो जाता है, वहीं उसका कार्य समाप्त है। उस 'अदृश्य तत्त्व' की खोज दर्शनशास्त्रका विषय नहीं, वह काम है धर्मका, मजहबका, Religion का; प्रत्येक मनुष्यके अन्दर 'धर्म' या अध्यात्मभावनाका बीज विद्यमान है, बहुतोंमें वह सुप्त-दशामें रहता है और बहुतोंमें जागृत। अध्यात्ममार्गकी खोजमें मनुष्य अपनी रुचि, संस्कार, और प्रवृत्तिके अनुसार ज्ञान, कर्म और भक्ति इन तीनोंमेंसे कोई एक मार्ग ग्रहण करता है, उनकी व्याख्या करना इस लेखका उद्देश्य नहीं। मुझे केवल यह दिखाना था कि तर्ककी चरम सीमामें पहुँचकर आस्तिकवाद और नास्तिकवाद एक हो जाते हैं।



हृदय अथवा भक्तिमार्ग

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

[एक परम गुरुकी उक्तिके आधारपर लिखित]



श्री भगवान् जीवोंके हृदयोंमें नित्य-निरन्तर निवास करके परम त्याग (यज्ञ) करते हैं—गीताके अनेक श्लोकों (१३ । १७; १५ । १५ और १८ । ६१) से इसकी पुष्टि होती है । जीव सहजहीमें अपने प्राणाराम प्रभुको पा सकें—इसी अभिप्रायसे भगवान्ने उनके हृदयोंको अपना निवास-स्थान बना रक्खा है । भगवान्की इतनी दया न हो तो निरे पंगु और क्षुद्र परिच्छिन्न जीवोंके लिये यह कदापि सम्भव नहीं कि वे पूर्णातिपूर्ण, परात्पर एवं वाङ्मनोतीत अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी प्राप्ति कर सकें । परन्तु खेद है कि उनका इतना दयापूर्ण त्याग होनेपर भी हम उन्हें अपने हृदयमें ढूँढ़नेके लिये प्रयत्न नहीं करते । यदि कभी जिज्ञासा होती भी है तो वह केवल उन्हें बाहर ढूँढ़नेकी होती है । मृग सुगन्ध-लोलुप होकर कस्तूरीकी खोजमें वन-वन, घाटी-घाटी भटकता फिरता है; पर वह मत्तकारिणी सौरभ उसे कहीं बाहर प्राप्त नहीं होती—वह तो उसके अन्दर—नाभिमें ही है । ठीक यही दशा हमलोगोंकी हो रही है । 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'—इस श्रुतिके अनुसार आत्मा और परमात्माका परस्परमें सख्यभाव होनेसे यद्यपि शुद्ध और मूल आत्माका स्थान भी हृदय ही है; किन्तु जब आत्माका प्रतिबिम्ब अज्ञानके कारण 'अहं-मम' से प्रेरित होकर विषय-भोग-लिप्साके निमित्त बाह्य विषयोंमें आसक्तिवश मलिन हो जाता है तब जाग्रतावस्थामें नेत्र और स्वप्नावस्थामें कण्ठ उसके निवासस्थान बन जाते हैं । केवल सुषुप्ति-अवस्थामें (जब कि अहं-ममात्मक बहिर्मुखी चञ्चल और मलिन वृत्ति कुछ समयके लिये प्रसुप्त और शान्त हो जाती है) जीवात्मा हृदयमें रहता है । उस समय उसकी स्थिति आत्मामें होनेसे उसे अपने स्वरूपके आनन्दका अनुभव होता है ।

हृदयमें आत्म-स्थिति होनेके लिये यह परम आवश्यक है कि हमलोगोंकी वर्तमान स्थिति केवल 'अहं-मम' तक ही सीमित और संकुचित न रहकर क्रमशः ईश्वरोन्मुख होती रहे । इसके लिये हमें इसकी गतिका प्रवाह प्राकृतिक नानात्वकी ओरसे हटाकर आत्मिक एकत्वकी ओर बदलना होगा । अन्तमें होते-होते अहं-ममका यह संकीर्ण नानात्व-भाव प्रसरित होकर—एकात्मतत्त्वकी ओर जाकर—'वासुदेवः सर्वमिति' में परिवर्द्धित हो जाना चाहिये । तात्पर्य यह कि त्रिगुणमयी प्रकृतिसे मोहित होकर हमलोग जिन शरीर, परिवार और आत्मीय जनोंको अपना मानकर उनके भरण-पोषणमें ही अपनी समस्त शक्ति लगा देते हैं, उन सबसे आसक्ति हटाकर—उनके साथ कर्तव्य-बुद्धिसे यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, जिनको हम पराये मान रहे हैं उनको भी अपनी आत्मा अथवा परमात्माका अंश समझकर उनकी सेवामें विशेषरूपसे प्रवृत्त हों । ऐसा करनेसे हमें मायिक प्रकृतिके बन्धनसे छुटकारा मिलेगा एवं अज्ञान-अन्धकारका नाश होगा । पर इस बातका ध्यान रहे कि इस सर्वात्मभावके निश्चयमात्रसे ही—वाचिक ज्ञानसे ही परम लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी; प्रत्युत इस निश्चयको क्रियात्मक रूप देना होगा, अपने दैनिक जीवनमें इसका अभ्यास करना होगा । इस अभ्यासके फलस्वरूप वैराग्यकी उत्पत्ति होगी और उस वैराग्यके उत्पन्न होनेपर स्वार्थपरायणता, कामात्मक भोगलिप्सा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान और राग-द्वेष आदि समस्त तामसिक, राजसिक विकार दूर हो जायँगे, जिन्होंने हृदयस्थ परमात्माको

इसप्रकार आच्छन्न कर रक्खा है कि मानो उनके अस्तित्वका वहाँ सर्वथा अभाव ही हो। इन विकारोंके विद्यमान रहते हृदयस्थित परमात्माकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं।

कई ऐसे साधक भी देखनेमें आते हैं जिनका अन्तःकरण प्रायः निर्विकार-सा प्रतीत होता है, पर उन्हें भगवत्कृपाका लाभ और साक्षात्कार नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि वे शरीर-यात्राका कार्य करते हुए भी अपने निश्चयका दैनिक जीवनमें अभ्यास नहीं करते। वे कहते अवश्य हैं कि दूसरे सब भी उनकी आत्मा ही हैं किन्तु उनके सुख-दुःखमें अपने सुख-दुःखका-सा अनुभव नहीं करते। अपने दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये वे जितना यत्न करते हैं, वैसा दूसरोंके निमित्त नहीं करते। इससे सिद्ध होता है कि उनकी स्थिति अबतक वस्तुतः व्यष्टिमें ही संकुचित है—समष्टितक उसका विकास हो नहीं पाया है। भगवान् श्रीकृष्णने इस सर्वात्मस्थितिका स्पष्ट वर्णन गीता अ० ६ श्लोक ३२ में इसप्रकार किया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

भगवान्‌की दृष्टिमें वही परम योगी है जो दूसरेके सुख-दुःखका अनुभव अपने ही सुख-दुःखके समान करता है। अतः सब प्राणियोंको आत्मा या परमात्माका रूप समझकर इस निश्चयके अनुसार साधन करनेपर ही यथार्थ ब्रह्मज्ञानकी उपलब्धि हो सकती है।

इस एकात्मभावके अनुसार साधकोंके लिये यह परम आवश्यक है कि वे निःस्वार्थ सेवा और करुणाके भावसे प्रेरित हो, अपना मुख्य कर्तव्य मान कर दीन-हीन, असहाय, दरिद्र, दुःखी और पददलित आदिको परमात्माका रूप मानकर उनके दुःखोंकी निवृत्ति, सुखोंकी वृद्धि एवं अभावोंकी पूर्तिके निमित्त यथासामर्थ्य चेष्टा करनेमें सोत्साह संलग्न रहें और इसे परमात्माकी सेवा समझें। अज्ञानी, पापी और मूर्ख आदिमें ज्ञान, सदाचार, विद्या और भगवद्भक्तिका प्रचार करें। सदा-सर्वदा परहितमें निरत रहना, सब प्रकारके अभिमान और स्वार्थ-भावका त्याग करना, पर-दुःखकातर होकर उसके दुःखको दूर करनेको सर्वोच्च और परम धर्म समझकर आत्मोत्सर्ग करनेको नित्य प्रस्तुत रहना आदि इस पथके मुख्य साधन हैं। इसप्रकारके साधनसे शुद्धान्तःकरण और निरभिमान हो चुकनेवाला साधक ही यथार्थ उपासक कहलाने योग्य है। उसकी उपासनाका मुख्य उद्देश्य स्वार्थ-साधन न होकर लोकहितमात्र रह जायगा। वह अपनी साधनाके कारण संसारका बहुत बड़ा चिरस्थायी उपकार करनेमें समर्थ हो सकेगा। ऐसा साधक अपने आराध्य प्रभुकी निर्हेतुकी उपासना, स्मरण-ध्यानद्वारा अपने स्वच्छ हृदयमें मनको सन्निवेशितकर संसारके हितार्थ (न कि स्वार्थ-साधनार्थ, जिसमें मोक्ष भी सम्मिलित है) निरन्तर प्रेमपूर्वक लगा रहेगा और अपने उपदेश—विशेषतः कार्यकलापसे दूसरोंको भी इस सदुद्देश्य-साधनमें नियुक्त करेगा। ऐसा साधक भगवान्‌के तेजःपुञ्जका एक केन्द्र बन जाता है। इसी केन्द्रसे फैलकर वह तेज सारे संसारको ज्ञानालोकसे प्रकाशितकर कृतार्थ कर देता है। यही यथार्थ भाव ईश्वरार्पणका है; क्योंकि ऐसे साधकके पूजन, स्मरण और ध्यानको भगवान् ग्रहणकर उसको लोकहितार्थ व्यवहृत करते हैं। ऐसा होनेपर ही यथार्थ प्रेम-भक्तिका संचार होता है और उसीसे अपने उपास्यके साथ उसका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित होता है। ध्यानद्वारा तद्गतचित्त होनेसे ध्येयका साक्षात्कार होता है।

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।'

श्रीगौरांग महाप्रभुके दक्षिणसे लाये ब्रह्मसंहिता-

के पाँचवें अध्यायमें लिखा है कि भक्त अपने उपास्य-को प्रेमके नेत्रसे सदा अपने हृदयमें देखते हैं—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति ।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

बाधा

निष्काम भक्तिकी उपासनामें चार मुख्य बाधाएँ हैं जिनको दूर किये बिना साधन परिपक्व-अवस्थाको प्राप्त नहीं हो सकता।

(१) उपास्योंकी एकता न मानना—अपने उपास्यको अन्य उपास्यसे पृथक् मानना बड़ी भूल है। अनन्यताके नामपर दूसरे उपास्योंको निकृष्ट मानकर अपनेको सबसे उत्कृष्ट मानना नितान्त भ्रान्त भावना है। वस्तुतः सब उपास्य एक ही हैं—सब उसी एक परमात्माके विभिन्न स्वरूप हैं। अतः किसीके उपास्यको अपने उपास्यकी अपेक्षा किसी भी अंशमें न्यून समझना अपने उपास्यका ही अपमान करना है क्योंकि उक्त उपास्य भी वही (अपना ही) है—दूसरा नहीं। अतः इस भेद-भावको दूर करना चाहिये। यह आवश्यक है कि साधक केवल अपने उस एक उपास्यमें ही अनुरक्त रहे जिसकी ओर उसका हृदय आकर्षित हो—एकसे अधिकको उपास्य न बनावे। किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि वह अपने उपास्यको दूसरे उपास्यसे कदापि भिन्न समझे।

(२) भक्तिमें दूसरी रुकावट अहंकारकी है। साधकके हृदयमें जबतक अहंकार और ममत्व किसी भी अंश और आकारमें विद्यमान रहेंगे तब-तक उपास्य परमात्माकी साक्षात् प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। 'कल्याण' के आश्विनके अंकमें 'भजनकी आवश्यकता' शीर्षक लेखमें ठीक ही कहा गया है—

'प्रेम-गली अति साँकरी तामें दो न समाहिं।'

अहंकार-दमन भी ज़बानी-जमाखर्चकी बात नहीं है—यह बड़ा प्रयाससाध्य है। अहंकारका नाश हो जानेपर सब प्रकारकी इच्छाओंका अभाव और मान-अपमान, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति और शत्रु-मित्रादि द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है। यदि उपास्यके दर्शनकी इच्छा है तो अहंभाव विद्यमान है, जो दर्शन चाहता है। भक्तिमार्गमें अहंकारका नाश न होकर वह आत्मामें परिवर्तित होकर उपास्यमें समर्पित होता है और तबसे सेव्य-सेवक-भावमें भी केवल 'सेव्य' ही रह जाता है। इस *स्थितिमें भी सेवा अवश्य जारी रहती है किन्तु* सेवक स्वयं अपने अहंकारसे प्रेरित होकर कर्म नहीं करता, वह सेव्यद्वारा संचालित होता है और इस-प्रकार उसका अहंभाव मिट जाता है।

(३) ध्यानकी परिपक्वतासे जिस आनन्दका अनुभव होता है उसमें आसक्त हो जाना तीसरी बाधा है। साधन-पथमें इस आनन्द-स्वादका आना अवश्यम्भावी है किन्तु इसमें आसक्त न होकर इस-को अतिक्रम करना चाहिये। अन्तरानन्दका उप-भोग करनेकी चाह भी कामना है और यह भिन्नता-सूचक है अर्थात् इसमें अहंभाव, जो आनन्दका भोक्ता है, सूक्ष्मरूपसे वर्तमान रहता है।

(४) मोक्षेच्छा अन्तिम बाधा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मोक्ष परमोत्तम है किन्तु भक्तिका स्थान मोक्षसे बहुत ही ऊँचा है। मोक्षाभिलाषी अथवा हठयोगी परमात्माके निवासस्थान—यथार्थ हृदयतक नहीं पहुँचते। वे षट्चक्रके हृदयस्थ उस अनाहत चक्रमें पहुँच सकते हैं जिसमें बारह दलका कमल है किन्तु अनुरक्त त्यागी उपासक उस गुप्त हृदय-देशमें जा पहुँचता है जिसमें अष्टदल कमल है।

दीक्षा और गुरु

श्रीउपास्यके मन्त्रकी दीक्षा किसी गुरुद्वारा अवश्य ली जानी चाहिये। जो दीक्षाकी कोई आवश्यकता न समझकर किसी मनमाने नाम

अथवा मन्त्रका निश्चय करके उपासनामें लग जाते हैं वे साक्षात् सम्बन्धके स्थापनमें सुगमताके साथ कृतकार्य नहीं हो सकते। यदि उत्तम गुरुकी प्राप्ति न हो सके तो साधारण सदाचारी गुरुसे ही जिस उपास्यमें स्नेह हो उसका मन्त्र प्राप्त कर लेना चाहिये, क्योंकि यदि साधक सच्चा अनुरक्त और श्रद्धालु होगा तो स्वयं भगवान् उस दीक्षा-गुरुद्वारा आवश्यक शक्ति प्रदान कर देंगे। जिस अपने उपास्यमें प्रेम हो उसे छोड़कर, जिस उपास्यमें आकर्षण नहीं है उसकी दीक्षा किसी गुरुके अनुरोधसे ले बैठना उचित नहीं है। ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

यथार्थ सद्गुरु

ये सब बाह्य दीक्षा-गुरु उस वास्तविक और अदृश्य श्रीसद्गुरुके प्रतिनिधि हैं जो उपयुक्त उपासना करनेपर श्रीउपास्यकी कृपासे ठीक समयपर स्वयं दर्शन देते हैं। इन्हें न तो ढूँढ़नेकी आवश्यकता ही है और न ये ढूँढ़नेपर मिलते ही हैं। तदनन्तर इनकी सहायतासे ही श्रीउपास्यकी साक्षात् प्राप्ति हो सकती है—अन्यथा नहीं। यह भी अटल नियम है कि श्रीसद्गुरुकी प्राप्तिसे ही उसे श्रीउपास्यकी भी प्राप्ति हो सकती है। ऐसे श्रीसद्गुरु भी बाहर न मिलकर अभ्यन्तर-हृदयमें ही मिलते हैं क्योंकि वस्तुतः उनमें और श्रीउपास्यमें कोई भेद नहीं है। गुरु-गीता आदि ग्रन्थोंमें जिस सद्गुरुका वर्णन है उससे ऐसे सद्गुरुका ही निर्देश होता है जो इस समय भी वर्तमान हैं और अपना कार्य कर रहे हैं। और इस समय भी वे योग्य साधकोंको मिलते तथा दूसरोंको अदृश्य भावसे सहायता करते हैं।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

६४९—जितने व्यक्तिगत मन हैं उतने प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाएँ भी हैं। जो एक मनके उपयुक्त है वह दूसरे मनके लिये उपयुक्त नहीं हो सकती। एक मनुष्यके मनके लिये राजयोग बहुत आसान हो सकता है, तो दूसरे मनुष्यके मनके लिये ज्ञानयोग आसान होगा। एक प्रकारका तप एक मनके अनुकूल है तो दूसरा तप दूसरे मनके अनुकूल होता है। ऋषिकेशके अवधूत केशवानन्दजीके लिये घण्टोंतक गर्म बालूपर धूपमें खड़े रहना आसान है तो अयोध्याके मधुकरी बाबाको केवल रोटीपर ही जीवन चला लेना आसान है, तथा स्वामी कृष्णाश्रमजीको गङ्गोत्तरीमें ही पूर्ण शान्ति पाना आसान है।

६५०—मनका वास्तविक दोष कामना है। काम-वासना-भोगके लिये आकर्षण, सबसे बड़ा दोष है। यह बन्धनका कारण होता है। ब्रह्मचिन्तन सारी कामनाओंको नष्ट कर देता है! ब्रह्ममें कामना नहीं होती। ब्रह्म शुद्धस्वरूप है। 'ॐ' का जप करो—इस मन्त्रका जप करो कि—'शुद्धोऽस्मि'; सारी कामनाएँ अदृश्य हो जायँगी।

६५१—मनमें राग उतना ही भयानक होता है जितना द्वेष। जहाँ राग है वहाँ द्वेष भी रहेगा। राग द्वेषका ही दूसरा रूप है। यह दोनों एक ही वस्तुकी दो अवस्थाएँ हैं। दोनों समानार्थी हैं।

६५२—कुछ मनुष्योंके मन तुम्हारे ऊपर रागसे लगे रहते हैं और कुछ मनुष्योंके द्वेषसे। भय और द्वेषके द्वारा रावणका मन सदा श्रीरामके ऊपर लगा रहता था, वह सदा दृढ़तापूर्वक श्रीरामका चिन्तन करते हुए प्रत्येक वस्तुमें और प्रत्येक स्थानमें श्रीरामको देखता था। इसी प्रकार कंसका मन श्रीकृष्णमें लगा रहता था। यह भी एक प्रकारकी (वैर-भक्ति) भक्ति है। किसी प्रकार हो, उसका मन प्रभुमें लगा था।

६५३—क्षुब्ध हो उठना मनकी कमज़ोरी है, यदि तुम आसानीसे क्षुब्ध हो उठते हो तो तुमसे अनेकोंका बुरा हो जा सकता है। धैर्य, तितिक्षा, सहनशीलता, करुणा, दया, प्रेम, ब्रह्मभाव, नारायणभाव आदिके द्वारा इस कमज़ोरीको हटाओ।

६५४–अनावश्यक तर्क न करो । तर्कसे शत्रुता, उत्तेजित भाव तथा शक्तिका विनाश होता है । प्रत्येक मनुष्यके अपनी परामर्श-शक्ति तथा विचार-दृष्टि, भाव, धारणा, विश्वास तथा निश्चय होते हैं । दूसरोंकी विचार-दृष्टिको बदल देना बड़ा कठिन है । दूसरोंको जबरदस्ती अपने विचारानुकूल बना लेनेकी चेष्टा न करो । जब तुम साधन करते हो, जब तुम अध्ययनके द्वारा शास्त्रोंसे ज्ञान और तथ्यका संकलन करते हो, तो जबतक तुम्हारे विचार दृढ़ और स्थिर न हो जायँ दूसरोंके साथ तर्क न करो ।

६५५–तुम अष्ट-सिद्धियोंकी क्यों चिन्ता करते हो वे बिल्कुल ही व्यर्थ हैं । यदि वह प्रकट होना चाहें तो भी उन्हें कठोरतापूर्वक दूर हटाओ । वे तुम्हें भ्रममें डाल देंगी जिससे तुम्हारा पतन हो जायगा । हे साधक ! सावधान हो जाओ । भगवान् बुद्धने मारको (प्रलोभन और सिद्धिको) दूर हटाया था । ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करो । तब तुम्हें सब कुछ मिल जायगा । सारी आध्यात्मिक सिद्धियाँ हाथ फैलाकर तुम्हारा स्वागत करेंगी । तब तुम्हारा पतन न होगा ।

६५६–तन्द्रा, वासना, मनकी अस्तव्यस्त दशा तथा मनोरथ—यह भगवान् अर्थात् ब्रह्ममें मनको लगानेमें प्रधान बाधक होते हैं । इन विघ्नोंको लघु सात्विक भोजन और विचार ही दूर कर सकते हैं ।

६५७–यदि मन, जिससे ज्ञान, प्रत्यय तथा समस्त क्रियाएँ होती हैं अदृश्य हुआ तो इसके साथ ही विषयरूप जगत् भी अदृश्य हो जायगा ।

६५८–यदि सारे विचार अदृश्य हो जायँ तो फिर ऐसा कुछ भी नहीं बच रहता जिसे मन कहा जा सके । इसलिये विचार ही मन है । साथ ही विचारोंके सिवा, उनसे अलग स्वतन्त्र भावसे कोई जगत् नहीं रह जाता ।

६५९–सुषुप्तिमें विचार नहीं रहते, इसलिये वहाँ संसार भी नहीं रहता । जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें विचारोंकी क्रीडा होती है इसलिये संसार भी बना रहता है ।

६६०–मन प्रायः दिव्य प्रकाश, सौन्दर्य, बुद्धि, विभिन्न रङ्ग तथा मधुर ध्वनिमें ही आसक्त रहता है । इन क्षुद्र विषयोंसे भ्रममें मत पड़ो । अन्तःकरणमें खोजो, इन समस्त वस्तुओंका अधिष्ठान क्या है ? मनके मूलमें तथा इस भासित' होनेवाले इन्द्रिय-जगत्के समस्त विषयोंमें एक ही तत्त्व है । वह तत्त्व परिपूर्ण और स्वयम्भू है, वह तत्त्व उपनिषदोंका ब्रह्म है । मेरे प्यारे पाठको ! निश्चय ही वह तुम हो 'तत्त्वमसि' ।

६६१–जब एक बार आत्मनिष्ठा और आत्मानुभूति हो जाती है तो वह फिर कभी विस्मृत नहीं होती । आत्मनिष्ठाका संस्कार जब एक बार पड़ जाता है तो वह फिर मनसे मिटाया नहीं जाता । वह सदा मनसे लगा रहता है ।

६६२–यह संसारचक्र राग-द्वेष, धर्माधर्म, सुख-दुःखके छः अरोंसे बने हुए पहियेके द्वारा चलता है । शरीर कर्मका परिणाम है, कर्म राग-द्वेषका परिणाम है । यदि तुम *शरीरको नहीं चाहते तो कर्म मत करो । यदि तुम कर्म* नहीं चाहते तो मनमें राग-द्वेषकी धाराको नष्ट कर दो ।

६६३–*राग-द्वेष अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञानके कारण* होते हैं । अनुकूल वस्तुओंमें तुम्हें राग होता है तथा प्रतिकूल वस्तुओंमें द्वेष होता है । जब भेद-ज्ञानपर अवलम्बित यह अनुकूल-प्रतिकूल भाव नष्ट हो जाते हैं तो राग-द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं ।

६६४–राग-द्वेष अभिमानके कारण भी होते हैं । अविद्याका परिणामस्वरूप यह अभिमान जब नष्ट हो जाता है तो राग-द्वेष भी नष्ट हो जाते हैं । यदि ज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा मूलकारण अविद्याका नाश किया गया तो अभिमान, राग, द्वेष, कर्म, शरीर, धर्म, अधर्म, सुख, दुःखकी सारी शृङ्खलाएँ नष्ट हो जायँगी । इनमें एक शृङ्खला दूसरेपर अवलम्बित है । ज्ञानके प्राप्त होनेपर यह सारा सम्बन्ध टूट जायगा ।

६६५–आत्मानुभवकी प्राप्तिके लिये मनके ही द्वारा इसकी शुद्धता और स्थिरताके लिये अथक परिश्रम करना होगा । केवल इच्छा शक्ति ही इसे वशमें कर सकती है और इसकी चञ्चलताको रोक सकती है ।

६६६–मनके ऊपर जो आत्माकी छाया है वह, जबतक मन स्थिर नहीं होता, दिखलायी नहीं पड़ सकती, जिसप्रकार क्षुब्ध समुद्रकी सतहपर चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ता ।

६६७–जिस मनुष्यके पास विवेक और दृढ़ इच्छा-शक्ति है वह आसानीसे मायाको दूरकर आत्मानुभव कर

सकता है। विवेक और इच्छा—इन्हीं दो शक्तियोंसे मन वशीभूत किया जा सकता है।

६६८—यदि दर्पण मैला है तो तुम अपने मुँहको स्पष्ट नहीं देख सकते, इसी प्रकार यदि मन मैला है तो तुम आत्माको नहीं देख सकते। काम, क्रोध, लोभ आदि ही मल हैं, इन्हें निरन्तर निष्काम कर्मयोगके द्वारा दूर करो।

६६९—विभिन्न प्रकारकी बातें करना भी एक प्रकारकी बुरी आदत है। यह मनको अत्यन्त विच्छिन्न करती है। इससे मन बहिर्मुख हो जाता है और मनुष्य आध्यात्मिक दृष्टिसे गिर जाता है। सप्ताहमें कम-से-कम एक दिन मौन-व्रतका अभ्यास ज़रूर करना चाहिये। बातचीतमें बहुत शक्ति क्षीण होती है।

६७०—मन सदा सुखके ही पीछे लगा रहता है क्योंकि यह आनन्द ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है। तुम आम पसन्द करते हो क्योंकि इससे तुम्हें सुख मिलता है। समस्त पदार्थोंमें तुम अपनी आत्माको ही अधिक चाहते हो। यह आत्मप्रियता इस रहस्यको खोल देती है कि आत्मा आनन्दमय ही है।

६७१—ब्रह्मको कहना कठिन है, समझना कठिन है, प्राप्तिका साधन कठिन है। 'कहत कठिन, समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक।' ऐसा ही गीता २। २९ में लिखा है—

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

'उसे कोई तो आश्चर्यवत् देखते हैं, दूसरे उसे आश्चर्यवत् कहते हैं, दूसरे उसे आश्चर्यवत् सुनते हैं, परन्तु सुन करके भी कोई उसे नहीं समझते।' ब्रह्मानुभवके लिये सूक्ष्म, शुद्ध और उच्च मन, दृढ़ इच्छा, धैर्य, सन्तोष और उत्साहकी आवश्यकता है।

६७२—राजसिक मनमें दूसरोंके विषयोंमें देखनेकी प्रवृत्ति होती है। यह दूसरोंके बुरे और निन्द्य कर्मोंको याद रखता है और उनके शुभ कर्मोंको भूल जाता है। इन दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे द्वेषकी प्रबलता होती है और बहुधा इससे मन क्षुब्ध होता है।

जब तुम्हारा मन दूसरेके दोषोंको देखना चाहे तो तुम उसके अच्छे गुणोंका स्मरण करो। उसके अच्छे स्वभावकी ओर देखो। इन दो रीतियोंसे तुममें प्रेमकी वृद्धि होगी और द्वेषका नाश होगा। दैनिक जीवनके व्यवहारमें सावधानीसे मनकी देखभाल करो। इन दोनों रीतियोंको कार्यान्वित करो। एक मन सिद्धान्त, बातचीत और अध्ययनसे एक रत्ती अभ्यास श्रेष्ठ है।

६७३—यदि तुममें ज़रा भी अहंभाव है, यदि नाम-रूपसे तुम तनिक भी आसक्त हो, यदि तुममें वासनाकी गन्ध भी रह गयी है और यदि तुम्हारे मनमें सांसारिक कामनाओंका तनिक भी चिह्न है तो तुम्हें ब्रह्मानुभव नहीं हो सकता।

६७४—एक मनुष्य मनकी एकाग्रताके द्वारा गुह्य सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। पर उसमें मानसिक पवित्रताकी कमी हो सकती है। आत्मानुभवके लिये मानसिक पवित्रता प्रथम आवश्यकीय वस्तु है।

६७५—यह मन जो सङ्कल्प-विकल्पमें विस्तृत होता रहता है, अपने मूल-कारण ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है। इसके द्वारा संकल्प और अहंकार उत्पन्न होते हैं। सारे विश्व जो केवल मनके द्वारा प्रकट होते हैं इसके रूपके सिवा और कुछ नहीं है। विश्व मनके कारण ही वास्तविक-सा दीख पड़ता है।

६७६—माया मन है। मनके काम ही स्वयं मायाके काम हैं। रूपके प्रति मनमें जो आकर्षण अथवा आसक्ति होती है वही माया है। अपने आत्माको मनरूप बनाना ही माया है।

६७७—आर्ककी देवी जोनको किसी ऐसे लोककी आत्मासे प्रत्यक्ष सम्बन्ध था, जिसे हम देवलोकके नामसे पुकारा करते हैं (अथवा जिसे कैथलिक लोग World of the saints के नामसे कहते हैं, यद्यपि यह बिल्कुल वही वस्तु नहीं है।) जिस आत्माको उसने देखा था वह आर्केंजेल (Archangeles) के नामसे पुकारी जाती है। यह आत्मा उस मध्यलोककी थी जो परम मन और मनःलोकके परेके लोकके बीचमें है। यह ब्रह्मलोक—सृष्टिकर्त्ताका लोक है। उक्त दोनों आत्माओंको जो प्रायः

आर्ककी जोन देवीके सामने उपस्थित होती और उससे बातें करती थी। यदि कोई भारतीय देखता तो उन्हें दूसरे ही रूपमें देखता। क्योंकि जब एक मनुष्य देखता है तो वह अपने मनके रूपके अनुकूल ही प्रवृत्त होता है। जिस वस्तुको तुम देखो, तुम जिस रूपमें उसे देखना चाहते हो वही रूप उसे देते हो। यदि वही आत्मा ईसाई, बौद्ध, हिन्दू तथा शिन्तो लोगोंकी जमातके सामने दीख पड़ती तो उसे बिल्कुल ही विभिन्न नाम दिये जाते। प्रत्येक उस आत्माको संकेत करके कहते कि यह अमुक देवताके समान है और इसप्रकार प्रत्येक अपने निर्णयमें विभिन्नता दिखलाते परन्तु वह आत्मा जो प्रकट हो रही है सो विभिन्न नहीं, वह तो एक ही है। भारतमें तुम *एक आत्माका दर्शन करते हो, उसे देवमाता कहते हो, कैथेलिक उसे कुमारी मेरी (Virgin Mary)* कहता है, जापानी उसे करुणाकी देवी क्वानो (Kwannon) कहता है, तथा दूसरे लोग और ही नाम देते हैं। शक्ति एक ही है, परन्तु इसके विषयमें जो मूर्त-कल्पना होती है वह विभिन्न धर्मोंके अनुसार विभिन्न प्रकारकी होती है।

९७८–*यह पूर्णतः तुम्हारे हाथमें है* कि विचारोंको जिनमें तुम रमते हो अपनी इच्छानुसार नियमित करो तथा परिणामस्वरूप उनसे प्रभावित होओ। तुम केवल परिस्थितियोंके हाथके खिलौने तबतक नहीं हो जबतक तुम वैसा होना नहीं चाहते।

९७९–*श्रीराम और श्रीकृष्ण सदा, यहाँतक कि जब* राज्य करते थे तब भी ब्रह्ममें स्थित रहते (स्वरूपस्थित) थे। मनुष्यके रूपमें रहनेपर भी वे अपने वास्तविक सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूपमें विराजित थे। जब वे भाँति-भाँतिके कामोंमें लगे रहते थे तो अपने शरीर और मनको अपने औज़ारके समान काममें लाते थे। बहुतेरे कट्टर मायावादी वेदान्ती समझते हैं कि ज्ञानी एक अशक्त मनुष्य होता है। ऐसा कदापि नहीं है। राजयोगी अपने यौगिक संयमद्वारा जो कुछ करता है ज्ञानी भी अपने सत्सङ्कल्पसे वही करता है। सामान्यतः उसे भी इच्छाएँ होती हैं। वह जो चाहता है तत्काल तैयार पाता है।

९८०–'सजातीय पदार्थोंमें आकर्षण' का नियम सदा क्रियाशील होता है। तुम अपने जीवनके इस पार्श्वसे अपने विचारों और *जीवनकी अवस्थाओं तथा प्रभावोंकी* ओर निरन्तर आकर्षित हो रहे हो।

९८१–प्रत्येक भाव *भावनापर अवलम्बित* होता है, चिन्तन और कामनाके संयोगको ही भावना कहते हैं। भावनाएँ उन कामनाओंके ही रूप हैं जो विचार-तत्त्वके द्वारा गुँथी हुई होती हैं। दूसरे शब्दोंमें विचारयुक्त कामना-हीको भावना कहते हैं। भावनाओंके कम्पन पूर्ण मानसिक द्रव्योंमें हलचल उत्पन्न करते हैं और इससे मनुष्यके सारे विचार बाधित और क्षुब्ध हो उठते हैं।

९८२–ये सांकल्पिक क्रियायें होती हैं, यदि तुम आत्म-समर्पण करते हो तो तुम्हें प्रयत्न करना छोड़ देना होगा, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि तुम सारी सांकल्पिक क्रियाओंको भी रोक दोगे। इसके विपरीत, तुम अपने सङ्कल्पको भगवत्संकल्पकी ओर लगाकर आत्मानुभवमें शीघ्रता कर सकते हो। इसको भी दूसरे रूपमें आत्म-*समर्पण* कहेंगे। उस निष्क्रिय *आत्मसमर्पण*की तुमसे आशा नहीं की जाती जिसमें तुम बिल्कुल कर्महीन बन जाते हो। बल्कि अपने संकल्पको भगवत्संकल्पकी प्रेरणा-पर छोड़ देनेकी आशा की जाती है। परन्तु योगयुक्त होनेके पूर्व किसप्रकार कोई इसे कर सकता है? तुम्हारा एक संकल्प है और तुम उस संकल्पको प्रदान कर सकते हो। अपने निशाकालमें चैतन्य होनेका उदाहरण लो। यदि तुम निष्क्रिय आत्मसमर्पणकी विधिको ग्रहण करते हो तो तुम कहोगे—

'जब भगवान्की इच्छापर ही चेतनता निर्भर है तो मैं चेतन हो जाऊँगा।'

दूसरे प्रकारसे यदि तुम अपने सङ्कल्पको भगवत्संकल्पमें दे देते हो तो तुम्हें इच्छा होती है, तुम कहते हो—'मैं अपनी निशासे सचेत होऊँगा।' तुम्हारी यह इच्छा होती है कि इसे कर डालना चाहिये। तुम आलसीकी तरहसे बैठकर प्रतीक्षा नहीं करने लगते। तभी आत्मसमर्पण होता है जब तुम्हारी ऐसी प्रवृत्ति होती है। 'मैं अपने संकल्पको प्रभुको अर्पण करता हूँ। मैं बड़ी ही उत्सुकतापूर्वक अपनी निशासे सचेत होना चाहता हूँ। मुझे ज्ञान नहीं है। भगवत्संकल्प मेरी सहायता करे।' तुम्हारी इच्छा सदा कर्मनिष्ठ होनी चाहिये; किसी विशेष कर्मको चुनते हुए अथवा किसी विशेष वस्तुकी चाहना करते हुए नहीं बल्कि एक दृढ़ साधकके समान तुम्हें कर्ममें लगना चाहिये जो अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये एकचित्त लगा हुआ है। यह प्रथम सोपान है। यदि तुम सावधान हो, यदि तुम्हारा ध्यान प्रमादरहित है, तो एक प्रकारके उत्साहके रूपमें कुछ-न-कुछ तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा

जिससे तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि क्या करना चाहिये और तुम उस कामको करनेके लिये आगे बढ़ोगे। केवल तुम्हें यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मसमर्पणके मानी है कि जो तुम आशा करते हो उससे भिन्न परिणाम प्राप्त होनेपर भी तुम अपने कर्मोंके परिणामको स्वीकार करो। दूसरे प्रकारसे यदि तुम्हारा आत्मसमर्पण निष्क्रिय है, तो तुम न कुछ करोगे, न चेष्टा करोगे, तुम केवल पड़े-पड़े चमत्कारकी प्रतीक्षा करोगे। तदनन्तर यह देखनेके लिये कि तुम्हारी संकल्प और इच्छाएँ भगवद्-संकल्पके अनुकूल हैं या नहीं, तुम्हें देखना चाहिये कि तुम्हें उसकी ओरसे कोई उत्तर मिला है या नहीं, तुम्हारी इच्छाओंका समर्थन होता है या विरोध; और यह भी मन, शरीर या प्राणके द्वारा नहीं, बल्कि उसके द्वारा जो तुम्हारे अन्तर्जीवन, तुम्हारे हृदयकी गुहामें सदा निवास करता है।

६८३-तुम अपने मानसिक जीवनमें या तो पतवारको पकड़कर यह निश्चय कर सकते हो कि वस्तुतः कौन-सा मार्ग पकड़ना है, कौन-सा लक्ष्य प्राप्त करना है, अथवा पतवारको छोड़ देते हो जिससे तुम्हारी नौका या तो फट जाती है या तुच्छ हवाके झोंकेसे, प्रत्येक भावनाओंसे, रागद्वेषकी धारासे इधर-उधर बहा करती है।

६८४- ध्यान करनेकी कोठरीको हरिमन्दिरके समान पुनीत समझना चाहिये। वहाँ अपवित्र विषयोंपर बातें नहीं होनी चाहिये। वहाँ अमर्ष, द्वेष, लोभ-सम्बन्धी पापमय विचार नहीं होने चाहिये। धार्मिक और श्रद्धालु चित्तके पुरुषोंका ही प्रवेश वहाँ होने देना चाहिये। क्योंकि जो कुछ हम करते हैं, जो कुछ हम विचारते हैं, जो कुछ बोलते हैं उनके संस्कारको उसी कोठरीके वायुमण्डलमें पड़ने दें और यदि उनसे (बुरे विचार आदिसे) बचनेकी चिन्ता न की जायगी तो वे साधकके मनपर अपना प्रभाव डालेंगे और मनको क्षुब्ध और निष्क्रिय बनाकर उसे भक्ति-भावनाके अयोग्य कर डालेंगे। जो शब्द बोल दिये जाते हैं, जो विचार मनमें उठ जाते हैं, जो कर्म किये जाते हैं वे नष्ट नहीं होते, वे सदा वायुमण्डलके सूक्ष्म परदेपर प्रतिबिम्बित होते रहते हैं और उस कोठरीके ऊपर जहाँ वह किये गये हैं मँडराते रहते हैं। और निरन्तर मनपर प्रभाव डालते रहते हैं। उनपर विजय प्राप्त करनेके लिये जहाँतक हो सके प्रयत्न करना चाहिये। यह कुछ ही महीनेतक करना पड़ेगा, जब आदत बदल जायगी, सब आप ही ठीक हो जायगा।

६८५-भय रागके भीतर छिपा रहता है। जब तुम्हें शरीरके प्रति राग होता है तो मृत्युका भय आ घेरता है। जब तुम्हें द्रव्यके प्रति राग होता है तो द्रव्यहानिका भय उत्पन्न होता है, क्योंकि द्रव्य ही भोगके उपकरणोंके प्राप्त करनेका साधन है। जब तुम्हें स्त्रीके प्रति राग होता है तो तुम्हें सदा उसकी रक्षाकी ही चिन्ता बनी रहती है। भय रागका बहुत पुराना और घनिष्ठ मित्र है।

६८६-मनकी वृत्तियोंमें राग, द्वेष और मोहकी जड़ खूब गहरी जमी होती है, उनको उखाड़ फेंकनेके लिये दृढ़ और सतत प्रयत्नकी आवश्यकता होती है।

६८७-सुखका कारण तृष्णा है, जहाँ तृष्णा नहीं वहाँ सुख नहीं।

६८८-इच्छा (तृष्णा) का कारण बाह्य विषयोंका अस्तित्व है।

६८९-साधकको संग छोड़कर मौनावलम्बन इसी-लिये करना चाहिये क्योंकि रागके कारण तो परिचय बढ़ेगा और द्वेषके कारण कर्कश शब्दोंका उच्चारण करते हुए दुःख ही प्राप्त होगा। शब्द तीरके समान होते हैं, वे दूसरेकी भावनाओंको क्षत-विक्षत कर डालते हैं। मौना-वलम्बन तथा संग-त्यागके द्वारा मनुष्य वागिन्द्रियका संयम कर सकता है और रागको दूर हटा सकता है। तभी मनको शान्ति मिलती है।

६९०-राजयोगी प्रतिपक्ष-भावनासे अर्थात् बुरे विचारोंके स्थानमें उच्च विचारोंको स्थान देकर उन्हें नष्ट कर देता है। भक्त उसे आन्तरिक प्रार्थना तथा आत्म-समर्पण-के द्वारा नष्ट करता है। वह कहता है-'हे प्रभु! मैं अपने सारे कर्म तथा कर्मोंके फलके साथ अपने आपको तुम्हारे चरणोंमें समर्पण करता हूँ। मुझे बुरे विचारोंके दूर करने तथा उनके नाश करनेके लिये शक्ति प्रदान कीजिये।' भगवान् ऐन्द्रिय-उत्तेजनाको सत्त्व अथवा ओजमें परि-वर्तित कर देते हैं। ज्ञानयोगी उसे ही उदासीन वृत्ति तथा विचारद्वारा नष्ट करता है। वह कहता है—इनसे मुझे कोई काम नहीं, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ—'शिवोऽहम्, शिवोऽहम्'! ये उत्तेजनाएँ मनसे सम्बन्ध रखती हैं, मैं मनसे अलग हूँ।

६९१-जिज्ञासुको पूर्णरीतिसे मांस, मछली तथा मद्यसेवनको त्याग देना चाहिये, क्योंकि इनसे मन क्षुब्ध हो जाता है तथा इनके द्वारा मनमें उत्तेजना उत्पन्न होती है।

चतुर रानियोंका समागम

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)



श्रीरामचन्द्रजीके वनवासके समय जब भरतजी अपनी माताओं तथा गुरुजनोंको साथ लेकर श्रीरामचन्द्रजीसे मिलनेके लिये चित्रकूट गये थे उस समय मिथिलासे राजा जनक भी अपनी रानी तथा अपने प्रियजनोंके साथ चित्रकूट पहुँचे थे। उस अवसरपर श्रीकौसल्याजी तथा श्रीसुनयनाजी परस्पर मिली थीं। उनके मिलन-प्रसंगका ही यहाँ किञ्चित दिग्दर्शन कराया जाता है।

महारानी कौसल्याजी तथा महारानी सुनयना-जीका मिलन क्या था, मानो शोककी दो घटाएँ घिर आयीं और उनसे करुणाकी वृष्टि होने लगी, समस्त समाज परिप्लावित हो उठा। छोटी-छोटी नदियाँ जिस-प्रकार वर्षामें उमड़-उमड़कर गंगा-यमुनासे मिलती हैं तो उनका भयानक दृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या तथा मिथिला-समाजके साथ इन दोनों रानियोंकी दशा देखनेपर मालूम होता था मानो शोकको बाढ़ आ गयी हो। सबके नेत्रोंसे अश्रुकी धारा बह रही है और उन्हें देखकर पशु-पक्षी, देव-दानव, किन्नर-गन्धर्व सब व्याकुल हो उठे हैं।

शंका—ये दोनों रानियाँ तो चतुर और ज्ञानी थीं फिर इन्हें शोक क्यों हुआ? श्रीकौसल्याजी महाराजा श्रीरामचन्द्रजीकी माता थीं तथा नीतिज्ञ महाराजा दशरथजीकी पटरानी थीं तथा श्रीसुनयना-जी भी ज्ञाननिधि विदेह महाराजा जनककी वल्लभा थीं, फिर इन्होंने अज्ञानियों-जैसा शोक क्यों किया? मरण-जीवन, सुख-दुःख, हानि-लाभ—ये ज्ञानियोंकी दृष्टिमें तो कुछ हैं ही नहीं, क्योंकि ब्रह्माजीने इनकी रचना अज्ञानियोंके लिये ही की है। फिर ज्ञानशीला रानियोंको इसप्रकार शोक क्यों हुआ?

समाधान—यथार्थमें जैसा तुम कहती हो वही ठीक है। परन्तु लोकव्यवहारमें ज्ञानियोंका कुछ बिगड़ता नहीं। वे शोककी दशामें ज्ञानको भूलते नहीं और इन्द्रियोंके द्वारा व्यवहारमें लगे रहनेपर भी आत्मज्ञानमें अचल रहते हैं। जो पुरुष ज्ञानके प्रकाशमें कर्म करते हैं उनको प्रत्यवाय (पाप) नहीं लगता। ऐसे शोकके अवसरपर इन रानियोंके धैर्य और शान्तिपूर्वक जो उत्तर-प्रत्युत्तर हुए हैं उन्हींसे इसका पता लगता है—

सील सनेह सरस दुहुँ ओरा।
द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन।
महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥
सब सियराम प्रेमकी मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति॥
सीय मातु कह बिधिबुधि बाँकी। जो पय फेन फोरि पबि टाकी॥

सुनिय सुधा देखिय गरल सब करतूत कराल।
जहँ-तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल॥

श्रीसुनयनाजी अपने समाजके साथ वहाँ आती हैं जहाँ श्रीकौसल्या आदि रानियाँ बैठी हैं। श्रीकौसल्याजी उनका आदर-सम्मान करती हैं और समयानुकूल आसन बैठनेके लिये देती हैं। उस समयके दोनों ओरके शील-स्नेहको देखकर महा कठोर वज्र भी द्रवित हो रहे हैं। सब रानियोंके शरीर पुलकित और शिथिल हो रहे हैं और आँखों-में अश्रु भरे वह सिर नीचे किये भूमिपर नखोंसे लिख रही हैं। वे समस्त रानियाँ जो मानो सीता और रामके प्रेमकी मूर्तियाँ हैं, इस समय ऐसी लगती हैं मानो करुणा नाना रूप धारण किये हुए बैठी हो। इसप्रकार करुणासे आवृत रानियोंके समाजमें धैर्य धारणकर श्रीसुनयनाजी कहने लगीं कि विधाताकी बुद्धि बड़ी टेढ़ी है अर्थात् ब्रह्मा यथोचित कार्य नहीं करता, समय-कुसमय

कुछ नहीं देखता, उलटा-सीधा जो मनमें आता है कर डालता है। दूधका फेन जो इतना कोमल होता है उससे महाकठोर वज्रको भी काट डालता है। श्रीरघुनाथजीके ऐसे कोमल शरीर, सुकुमार राजकुमारको वनवास दे दिया! तथा अपने प्राणप्यारे पुत्रके लिये राज्याभिषेकमें लगे हुए महाराजा दशरथके सामने अचानक ऐसा भयंकर विपरीत समय उपस्थित कर दिया कि उन्हें बलात् श्रीरामवनवासके समान असह्य दुःखद समाचार सुनना पड़ा तथा श्रीरामके वियोगमें प्राणत्याग करना पड़ा। इसका एक और अभिप्राय यह भी हो सकता है कि ब्रह्माकी विचित्र गति है। उन्होंने दृढ़ रामराज्यरूपी कठोर वज्रको अबला कैकेयीके वचनरूपी दूधके फेनसे तोड़ दिया। अथवा श्रीदशरथ, कौसल्या और श्रीरघुनाथजीका संयोग पयके समान है, कैकेयी टाँकी है, मन्थरा हथौड़ी है और ठोकनेवाली सरस्वती है, इन तीनोंने उस संयोगको तोड़ सबको अलग-अलग कर दिया। श्रीराजा दशरथ स्वर्गवासी हुए, श्रीरघुनाथजीका वनवास हुआ, और श्रीकौसल्याजी अकेली अयोध्यामें पड़ी रहीं। विधाताकी सारी रचना विकराल है; देखिये, अमृतके विषयमें हम केवल सुना करते हैं वह कहीं दिखलायी नहीं देता। परन्तु गरल तो सर्पोंकी जिह्वामें, संखिया आदि धातुओंमें, सिंगी हालाहलादि मूलमें—इसी प्रकार अनेकों स्थानोंमें दिखलायी देता है। उल्लू, कौए और बगले आदि कुपक्षी तो जहाँ देखिये, वहीं दीख पड़ते हैं परन्तु श्रेष्ठ राजहंस कहीं मानसरोवरमें ही देखे जाते हैं। इसमें उल्लू, कौए और बगलेको कैकेयीमें आरोपण कर रही हैं, सूर्यके प्रकाशके विना अन्धेरेमें पड़े रहना उल्लू चाहता है, यही बात कैकेयीमें देखी जाती है, सूर्यरूपी दशरथको मिटाकर वह अन्धकारमय अयोध्यामें प्रसन्न है। किसीकी प्रीति-प्रतीति न मानना और कठोर बोलना यह कौएका गुण है—यह बात कैकेयीमें प्रत्यक्ष है। सबको विश्वास देकर अनर्थ करना यह बगलेका गुण है, यह भी कैकेयीमें प्रत्यक्ष है कि श्रीरघुनाथजीमें प्रीति दिखाकर तथा सबको विश्वास दिखा करके भी अनर्थ उपस्थित कर दिया। हंसोंके विषयमें जो कहा है कि विरले ही कहीं मानसरोवरमें मिलते हैं, वह लक्षण श्रीभरतजीमें दीख पड़ता है। जैसे—

भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन-दोष-बिभागा॥

अर्थात् भरत हंसरूप हैं, सूर्यवंश अवध मानसरोवर है, भरतजीने उसमें उत्पन्न होकर गुण-दोषोंको पृथक्-पृथक् दिखला दिया। यद्यपि वशिष्ठ आदि ऋषि भी मानस हंस थे, परन्तु किसीकी चतुराई काम न आयी। इसप्रकार श्रीसुनयनाजीने ब्रह्माके ऊपर जो दोष दिया है उससे कैकेयीकी अवस्था अभिव्यञ्जित होती है।

सुनि ससोच कह देबि सुमित्रा।
बिधिगति बड़ि बिपरीत बिचित्रा॥
जो सृजि पालै हरै बहोरी।
बालकेलि सम बिधिगति भोरी॥

श्रीसुनयनाजीकी इस बातको सुनकर श्रीसुमित्राजी कहने लगीं कि विधाताकी गति अत्यन्त विचित्र है, वह देखनेमें अन्य, तथा विचारनेमें अन्य ही ठहरती है। परन्तु श्रीरघुनन्दनकी जो आज्ञा होती है वही विधाता करता है। विधाताकी मति कैसी भोरी है जो सृष्टिको उत्पन्न करता है, उसका पालन करता है फिर उसका संहार करता है। जिसप्रकार बालक खेल-खेलमें घर बनाते हैं, उससे खेलते हैं और फिर उसे मिटा डालते हैं। यही दशा ब्रह्माकी है। परन्तु ब्रह्मा भी कुछ करनेमें स्वतन्त्र नहीं है। अतः जो कुछ हुआ है उसमें न कैकेयीका दोष है और न ब्रह्माका दोष है। यह सब श्रीरघुनाथकी मर्जीसे ही हो रहा है। श्रीसुमित्रा उपासनाशक्ति हैं, अतः वह राम-आज्ञाको प्रधानता देती हैं।

कौसल्या कह दोष न काहू।
कर्म-बिबस दुख-सुख छति-लाहू॥

कठिन कर्म-गति जान विधाता ।
जो सुभ-असुभ कर्म-फल-दाता ॥
ईस रजाइ सीस सबहीके ।
उतपति थिति लय बिषहु अमीके ॥
देवि मोह-बस सोचिय बादी ।
बिधि प्रपञ्च अस अचल अनादी ॥
भूपति मरण जियब उर आनी ।
सोचिय सखि लखि निज हित हानी ॥
सीय-मातु कह सत्य सुबानी ।
सुकृती अवधि अवधपति रानी ॥

लखन राम सिय जाँहि बन भल परिणाम न पोच ।
गहबर हिय कह कौसला मोहि भरतकर सोच ॥

श्रीकौसल्याजी ज्ञानशक्ति हैं, अतः प्रारब्धको प्रधान रखकर कहती हैं—'हे देवि ! तुम यह क्या कहती हो ? विधाताकी गति ठीक है, उनमें कोई दोष नहीं । मनुष्यके जैसे कर्म होते हैं उसीके अनुसार उसे सुख-दुःख, हानि-लाभकी प्राप्ति होती है, उसमें तनिक भी न्यूनाधिकता विधाता कर नहीं सकते । यदि ऐसा न करें तो उनके न्यायमें दोष आ जायगा और फिर वह निर्विकार नहीं रह सकेंगे । अतः विधाता तो हमें अपने ही किये शुभाशुभ कर्मोंका फल देते हैं ।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'

कर्मकी गति बड़ी कठिन है । वह अन्यथा नहीं हो सकती । जो जैसा कर्म करेगा, विधाता उसको वैसा ही फल प्रदान करेगा । हम कर्मोंकी गतिको नहीं जानकर विधाताको दोष देते हैं । विधाता स्वयं कर्त्ता भी तो नहीं, वह तो भगवान्की आज्ञानुसार सब काम करता है अर्थात् जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय सब ईश्वरकी आज्ञासे होते हैं । इसलिये ब्रह्माको दोष देना वृथा है और ईश्वर अर्थात् श्रीरघुनाथजीको तो न किसीसे राग है न द्वेष । उनको तो सब प्राणी समान हैं, सब आत्मरूप हैं उनके लिये न कोई शत्रु है, न मित्र है, वह तो करुणाकी वृष्टिकर प्राणिमात्रका कल्याण करते हैं । यह पृथ्वी तथा इसके ऊपर यावत् पदार्थ दीख पड़ते हैं सब जीवोंके उपकारके लिये बनाये गये हैं । देखो, बालकके उत्पन्न होनेके पहले भगवान् माताके स्तनोंमें दूधकी धारा बहा देते हैं । अहा ! जो परमात्मा इतने दयालु हैं उनको मनुष्य मोहवश होकर भूल जाता है तथा उनकी कृपासे प्राप्त हुए पदार्थोंमें ममता रखता हुआ अहंकारमें डूब जाता है । कितने आश्चर्यकी बात है ! मनुष्य अज्ञानसे ईश्वरकी आस्थाको त्याग अपनी आस्थामें लगता है और जब विपत्ति आती है तब फिर ईश्वरको ही दोष देने लगता है । अज्ञानके कारनामे ऐसे ही होते हैं, ईश्वर तो न किसीको सुख देता है और न दुःख; परन्तु अज्ञानी जीव एक दूसरेको सुखी-दुखी देख कहते हैं कि ईश्वरके 'घर न्याय नहीं । यह नहीं जानते कि ईश्वर 'जैसेको तैसा' है अर्थात् जो जैसा करता है उसको वैसा ही फल देता है । सबको अपने ही कियेका फल भोगना पड़ता है ऐसा जानकर सोच करना व्यर्थ है । ईश्वरने तो सृष्टिके आदिमें ही यह व्यवस्था बाँध दी है कि 'शास्त्रविहित कर्म करनेसे सुख मिलता है और शास्त्रद्वारा निषिद्ध कर्मोंको करनेसे दुःख भोगना पड़ता है ।' परन्तु मनुष्य अज्ञानान्धकारमें पड़कर भावी सुख-दुःखका विचार न कर कर्माकर्मकी परवा न करते हुए मनमाना काम करता जाता है जिससे उसे कष्ट भोगते हुए नाना योनियोंमें भटकना पड़ता है । नाना प्रकारकी व्यथाओंसे व्याकुल हो चिल्लाता है, पर इससे क्या ? उसने जो किया है उसका फल उसे मिल रहा है, किये हुए कर्मोंका फल भोगे बिना छुटकारा कहाँ मिल सकता है ? सच पूछिये तो सृष्टिकी उत्पत्ति ही जीवोंके कर्मोंके अधीन है । यदि जीवोंके कर्म न हों तो ब्रह्माकी सृष्टि ही रुक जाय । ब्रह्माका सृजन, विष्णुका पालन तथा शिवका संहार यद्यपि श्रीरघुनाथजीकी आज्ञाके अनुसार ही होता है तथापि यह सब प्रपञ्च जीवोंके कर्माधीन ही है । श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कहा है—

यत्प्रभावेन हर्त्ताहं त्राता विष्णू रमापतिः ।
यत्प्रसादेन कर्त्ताभू देवो ब्रह्मा प्रजापतिः ॥
यो नराधमः लोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखः ।
जपं तपं दया शौचं शास्त्रानामवगाहनम् ॥
सर्वं वृथा विना येन श‍ृणुध्वं पार्वती प्रिये ।

यह विधाताका प्रपञ्च अनादिकालसे ऐसा ही चला आता है, कुछ नयी बात नहीं है। अतः हे देवि सुनयने! मोहके वश हो कदापि सोच नहीं करना चाहिये। परन्तु हे सखि! मुझे अपने हितकी हानिका शोक हो ही जाता है। महाराजने तो जीनेसे मरना ही अच्छा जाना, परन्तु मेरा तो सुहाग तथा सुख सब उनके साथ ही चला गया, क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि लोकमें स्त्रीकी गति पतिके विना नहीं होती। पति-विहीना स्त्री मृतकके समान है। पति विना स्त्रीकी शोभा और सौन्दर्य व्यर्थ है, पति बिना स्त्रीका न देह है न गेह।

जिय विनु देह नदी विनु वारी। ऐसेहि नाथ पुरुष विनु नारी॥

अर्थात् पति बिना स्त्री ऐसी है जैसे जीवके विना देह तथा जलके विना नदी। पतिके विना स्त्रीका जीवन केवल दुःखमय जीवन है। इस लोकमें पतिके बिना कोई अपना नहीं होता है। नारी-जातिकी नौकाको भवसागरसे पार करनेके लिये एक पतिको ही ईश्वरने कर्णधारस्वरूप बनाया है, जब कर्णधार ही नहीं तब ज़ीवन-नौकाको पार कौन लगावेगा? इस तरह पति विना स्त्रीको नाना प्रकारकी आपत्ति सहनी पड़ती है। महाराजके स्वर्गवाससे मैं अनाथा हो गयी हूँ। परन्तु यह शोक करना व्यर्थ है, यह सब स्वार्थकी बात है। परमार्थतः तो जो प्रारब्धमें होता है वह हो कर ही रहता है। प्रारब्धका लिखा कोई कितने भी उपाय करे, नहीं मिट सकता। उसे तो भोगनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं। इसलिये दूसरोंको दोष देना व्यर्थ है।

इसप्रकार श्रीकौसल्याजीके सत्य और सारयुक्त वचन सुनकर श्रीजानकीजीकी माता कहने लगीं—

'हे महारानी! आपका यह कथन बहुत ही सुन्दर और सत्य है, तथा यह आपके योग्य ही है। क्योंकि सुकृतिकी अवधि अर्थात् स्वयं परब्रह्मको पुत्ररूपसे पानेवाले श्रीमहाराज अवधपतिकी आप मुख्य रानी हैं, आपके मुखसे ऐसी बात क्यों न निकले? आपसे बढ़कर पुण्यवान् कौन है क्योंकि आपने स्वयं परब्रह्म सच्चिदानन्दघनको अपना स्तन पान कराया है।'

फिर कौसल्याजी कहने लगीं कि—'हे बहिन! श्रीराम, लखन और सीता यदि वनको जाते हैं तो प्रसन्नतासे जायँ, मुझे इसमें शोक नहीं क्योंकि इससे अन्तमें भलाई ही दीखती है। इसमें कुछ बुराई नहीं, इससे तो यश, कीर्ति तथा देवकार्य होनेकी सम्भावना है परन्तु मुझे भरतका सोच हो रहा है कि वह श्रीरामविरहको सह सकेंगे या नहीं।' ऐसा कहते श्रीकौसल्याजीका हृदय भर आया, करुणासे वह व्याकुल हो उठीं और गद्गद्वाणीसे आँसू बहाते हुए कहने लगीं कि 'हे बहिन! जान नहीं पड़ता कि राम-वियोगसे भरतकी क्या दशा होगी? भरतकी राममें जो प्रीति है उसे देखकर मालूम होता है कि वह अवधमें नहीं रहेंगे' और फिर तो अयोध्या राम और भरतके बिना भयानक जंगलके समान हो जायगी!

श्रीकौसल्याजीके समान समस्त स्त्रियोंको धीरता धारण करनी चाहिये। देखिये, उनको प्राणप्यारे पुत्र श्रीराम, सीता तथा लक्ष्मणके वन जानेका तनिक भी सोच नहीं है परन्तु अपनी सौतके पुत्र श्रीभरतके दुःखसे वह व्याकुल हो रही हैं। यह है चतुर रानियोंका स्वभाव और धीरज; उन्हें अपने दुःखकी परवा नहीं है वह पर-दुःखसे दुखी हो रही हैं। श्रीकौसल्याजी इस वचनको सार्थक कर रही हैं कि जो तुम्हारे लिये काँटे बोवे उसके लिये तुम फूल बोओ। जिस

भरतके कारण उन्हें पतिवियोग तथा पुत्र-वनवासके समान असह्य दुःखोंको सहना पड़ा उसी श्रीभरतके दुःखसे यह दुखी हो रही हैं। आजकल तो ठीक इसके उलटा व्यवहार देखनेमें आता है। सब अपने स्वार्थके लिये दूसरेको हानि पहुँचानेमें ही लगे रहते हैं। श्रीकौसल्याजीमें भेदभाव नाममात्रका भी नहीं। 'मैं' और 'मेरा' का भाव तो उनके हृदयमें स्वप्नमें भी नहीं आता था। वह सबमें समान प्रेम रखती थीं, किसीका बुरा नहीं चाहती थीं। यही तो ज्ञानी और अज्ञानीमें भेद है। ज्ञानी सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान सबमें एक-सा रहता है परन्तु अज्ञानी सुख, लाभ और मान पाते समय ज्ञानी बन जाता है और दुःख, हानि तथा अपमानके समय उसका भेद खुल जाता है। संसारमें दिखावटी ज्ञानी बहुत मिलते हैं परन्तु यथार्थ ज्ञानी विरले ही होते हैं। पर-उपदेशमें कुशल बहुतेरे दीख पड़ते हैं परन्तु वैसा आचरण करनेवाले विरले ही मिलते हैं। यदि संसारमें अपने कल्याणकी चाहना है तो सुख-दुःख, हानि-लाभ, मानापमान सबमें समभाव रखना चाहिये। जिन्होंने रागद्वेषका त्याग कर दिया है, जिनके हृदयसे 'मैं मेरापन' दूर हो गया है, जिन्होंने एक ईश्वरपर विश्वासकर उसे ही अपना आत्मा जाना है वे ही इस लोक तथा परलोकके सुखके भागी बनेंगे। दूसरे लोग तो नाना प्रकारकी योनियोंके आवागमनमें दुःख ही भोगते रहेंगे।

ईश्वरका स्वरूप और उसकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीयुक्त एम० आर० धोलकिया)



सांसारिक व्यवहारके लिये मनुष्यको अपने शरीरके हाथ, हृदय और मस्तक इन तीन मुख्य अंगोंसे काम लेना पड़ता है। इसी आधारपर मानव-समाजको भी निम्नलिखित तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है—

१–कर्म-प्रधान (Practical), २–भावप्रधान (Emotional) और ३–बुद्धि-प्रधान (Intellectual)। जिस प्रकार उपर्युक्त तीनों प्रकारके पुरुषोंके लिये 'मनुष्य' शब्दका समानरूपसे व्यवहार किया जाता है, इसी प्रकार उनके लिये 'आध्यात्मिक' (Spiritual) शब्दका प्रयोग भी किया जा सकता है।

इसी सिद्धान्तके अनुसार ईश्वरसम्बन्धी कल्पनाओंको भी तीन मुख्य भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, यद्यपि ईश्वरको निरी कल्पनाका विषय समझनेसे बढ़कर कोई भयानक भूल नहीं हो सकती। सर्वशक्तिमान् ईश्वर अव्यक्त एवं अचिन्त्य हैं, अतएव उनका वर्णन करना और भी कठिन है। इसलिये इस सम्बन्धमें लोगोंके अनन्त विचारों एवं अनन्त कल्पनाओंका होना अनिवार्य ही है। जितने मन हैं उतने ही उनके विचार-जगत् भी होते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु एक ही मनके वैयक्तिक विकासकी जितनी अवस्थाएँ होती हैं, उतने ही उसके विचार-जगत् होते हैं, और जब मन ही अनन्त हैं तो विचार जगत्की अनन्तताका तो ठिकाना ही क्या है? योगजन्य आध्यात्मिक बलसे एवं सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी कृपासे प्राप्त दिव्य ज्ञानकी सहायतासे हमारे पूर्वज महर्षियोंने चौरासी लाख योनियोंका पता लगाया था, जिनमेंसे प्रत्येकके विकासकी अवस्था भिन्न एवं निश्चित है। इसका अर्थ यह नहीं कि चौरासी लाखसे अधिक योनियाँ नहीं हैं, मतलब यह है कि इनसे अधिक योनियोंका पता नहीं लग सका। अतएव यह मानना पड़ेगा कि ईश्वरके भी अनन्त गुण, अनन्त रूप एवं अनन्त नाम हैं। और इसी लिये हम यह कह सकते हैं कि ईश्वर अनन्त नामवाला है, साथ ही वह नामरहित भी है। उसे नामरहित इस-

लिये कहा गया है कि नाम और रूप दोनों ही नाशवान् हैं। और अनन्त नामवाला इसलिये कहते हैं कि जीव अनन्त हैं और प्रत्येक जीवके ईश्वरके विषयमें भिन्न-भिन्न विचार हैं। उस वर्णनातीतका वर्णन करनेके ये ही दो प्रकार हैं जिन्हें अन्वय और व्यतिरेकके नामसे पुकार सकते हैं। वास्तवमें अज्ञानरूपी अन्धकारमें पड़ा हुआ यह पामर संसार उस परमात्माका वर्णन कैसे कर सकता है ? तथापि अपने अनुभव, विचार संवेदन तथा बोधके अनुसार उपर्युक्त विभागके आधारपर हम ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ मन्द-सी कल्पना करनेकी चेष्टा अवश्य करेंगे। यदि हमारे अन्दर उसे जाननेके प्रयत्नकी इच्छा भी उत्पन्न हो जाय तो हमें अपनेको धन्य मानना चाहिये और अपनी ऊँची-से-ऊँची कल्पनाओं और आशाओंको उस इच्छाके ऊपर न्योछावर कर देना चाहिये।

ईश्वरके सम्बन्धमें सबसे अधिक प्रचलित एवं अनुभव-सिद्ध धारणा यह है कि वह बार-बार इस संसारकी रचना, पालन एवं संहार करता रहता है। वह शाश्वत, पूर्ण एवं अचिन्त्य है। उसके अस्तित्व एवं उसकी आज्ञाके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। उसकी निश्चित नीति एवं नियमोंके अनुसार प्रकृति उसके विश्वका सञ्चालन कर रही है। उसके विनोदके लिये, उसकी लीलामें योग देनेके लिये मायानटी जीवोंको असंख्य प्रकारके नाच नचाती है और स्वयं भी अनादिकालसे नृत्य कर रही है। उसकी बुद्धि, ज्ञान, दया एवं शक्तिसे चकित होकर उसके ज्ञानी भक्त सब कुछ छोड़कर उस अनन्त महासागरकी एक क्षुद्र चपल तरंग बनकर रहते हैं और मृत्युमें जीवनका एवं जीवनमें मृत्युका अनुभव करते हैं। प्रेमी भक्त उसके सुर-मुनि-चुम्बित चरणोंमें सर्वस्व समर्पणकर तथा अपने विनयविनम्र हृदयोंमें उसे प्रेमपाशसे बाँधकर सामीप्य-मुक्तिका अभिलाष करते हैं और शरणापन्न दासानुदास बनकर सेवाका अलौकिक आनन्द लूटते हैं। छोटे मोटे देवी-देवता अपने-अपने अधिकारके अनुसार भिन्न-भिन्न लोकोंके सुव्यवस्थित सञ्चालन तथा उनके अन्दर शान्ति-स्थापनके कार्यमें उसकी सहायता करते हैं, उसके भक्तोंके अनुपम गुणोंके गुप्त खजानेको मथ-मथकर निकालनेवाली काम-क्रोधादि आसुरी शक्तियाँ भी अप्रत्यक्षरूपसे, अज्ञानसे, अवैध रीतिसे तथा अनिच्छापूर्वक उसीकी महिमाका विस्तार कर रही हैं। योगीजन उसके आनन्दार्णवका एक क्षुद्र सीकर तथा उसकी शक्तिकी महान् राशिका एक कण पाकर ध्यान एवं समाधिमें अपनी आयुको बिताते रहते हैं। उसके असंख्य लोकोंमें जो दिव्य नियम एवं सत्य सिद्धान्त प्रचलित हैं, उनमें पूर्ण श्रद्धा रखकर लोग हँसते हुए असह्य कष्टोंको सहन करनेमें समर्थ हो जाते हैं। और उसीकी अमित दयाका अवलम्ब लेकर लाखों आत्माएँ अमर-पदको प्राप्त होकर इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-देहको सार्थक कर चुकी हैं। अस्तु।

उपर्युक्त (कर्म, भाव और बुद्धिके) तीन विभागों-का पार्थक्य करना कठिन काम है। यदि तीनों स्वरूपोंको एक दूसरेसे बिलकुल भिन्न माना जाय तो कर्मप्रधान मनुष्यकी दृष्टिमें ईश्वरका स्वरूप यह होगा कि वह उस ईश्वरीय नियमका सञ्चालन करनेवाला है जिसके अधीन रहकर जीव अनेकानेक योनियोंमें भटकता हुआ अनेक प्रकारके अनुभव प्राप्त करता है और उन अनुभवोंसे यह शिक्षा ग्रहण करता है कि जैसा करोगे वैसा ही पाओगे।

'कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥'

यह निर्विवाद है कि मनुष्य ईश्वरके स्वरूपके विषयमें इससे नीची कोई कल्पना नहीं कर सकता। ईश्वरके स्वरूपकी यह कल्पना उसी प्रकारकी है जिसप्रकार कोई ग्रामीण मनुष्य एक पुलिसके सिपाहीको, जिसे पेटभर अन्न भी कठिनाईसे मिलता है और जो अपनी नौकरीकी चक्कीमें रातदिन पिसा करता है, सरकार समझने लगता है। तथापि जीवनयात्रामें तथा ईश्वर-प्राप्तिके मार्गमें यह भी एक मंजिल है। जिस मनुष्यका जगत् अपने शरीर तथा अधिक-से-अधिक उन्हीं लोगों तथा उन्हीं वस्तुओंतक सीमित है, जिनका उसके साथ तथा उसके सुख एवं समृद्धिके साथ साक्षात् सम्बन्ध है और जो पशुओंसे किसी प्रकार ऊँचा नहीं कहा जा सकता, वह इसीसे क्रमशः ऊँचा उठता है और केवल अपने ही सुखका ध्यान रखता हुआ वह ईश्वरके स्वरूपकी इस कल्पनाके आधार-पर जो एक प्रकारका उपयोगिताप्रधान स्वरूप है, अपने आचरण एवं व्यवहारोंमें इस संसारकी जटिलताका अनुभव करता है।

भावप्रधान मनुष्यमें क्रियाओं तथा विचारोंकी अपेक्षा उसके मनोभाव अधिक तीव्र होते हैं। यही मनोभाव जब ईश्वरोन्मुख हो जाते हैं तब उसकी भक्त-संज्ञा हो जाती है। यद्यपि उसकी भक्ति गौण ही होती है, उसकी क्रिया-

शक्ति एवं विचार-शक्ति गौण हो जाती हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि ईश्वरके स्वरूपके विषयमें उसकी धारणा उसकी सर्वोच्च आकांक्षा तथा लक्ष्यके अनुकूल ही होती है। उसे अपने उपास्य देवकी विश्व-विमोहिनी मूर्ति नित्य-चिन्मय विग्रह, अलौकिक गुण, आकर्षण-शक्ति, मृदुलता तथा दयालुताको देख-देखकर मुग्ध होने तथा उसकी आनन्ददायक स्मृतिमें अपनी सुध और बुध भूल जाने तथा मीराबाईकी भाँति उसके अन्दर लीन हो जानेमें ही सुख मिलता है। वह उसके सुरमुनिवन्दित चरणोंमें अपनी आत्माको न्योछावर कर देनेके बाद यह सोचने लगता है कि अब उस प्रियतमको कौन-सी वस्तु समर्पण करूँ। भगवान्‌की कृपाका एक कण प्राप्तकर उसकी जीवनधारा बिल्कुल पलट जाती है।

इसप्रकारकी मनोवृत्तिवाले भाव-प्रधान मनुष्यकी धारणामें देश, काल एवं कार्य-कारण-भावकी सीमासे अपरिच्छिन्न ऐश्वर्य ही ईश्वरका स्वरूप है। इस ऐश्वर्यमें अनन्त गुणोंकी कल्पना की जाती है जिनमें प्रधान गुण छः हैं—ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज।

ज्ञान—ज्ञान उस गुणका नाम है जिसके द्वारा विश्वकी अतीत, वर्तमान एवं भविष्य इन तीनों अवस्थाओंकी तथा जीवात्मा एवं नामरूपात्मक सत्तावाले प्रत्येक पदार्थकी सर्वकालमें उपलब्धि हो सके। इतना ही नहीं, ज्ञानके द्वारा अन्तःकरणकी क्षणिक, जटिल एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म वृत्तियों, विकारों एवं संस्कारादिका भी अनुभव हो सकता है, जो उत्पन्न होकर कुछ समयके लिये हमपर अधिकार कर लेते हैं और प्रायः अज्ञात, अलक्षित एवं अतर्कित-रूपसे हमारे अन्तरतम प्रदेशमें छिपे हुए रहते हैं। उस ज्ञानके द्वारा विश्वके सञ्चालन, व्यवस्था एवं नियमोंका बोध हो सकता है और ईश्वरीय इच्छाकी प्रतिकूलताको बचाते हुए उनपर शासन करनेकी योग्यता भी प्राप्त हो सकती है। जो पुरुष सर्वोच्च ज्ञानसे सम्पन्न है, जो ज्ञान-स्वरूप ही है, वही ईश्वर है।

ज्ञानका अर्थ विज्ञान (Science) नहीं समझना चाहिये, जिसकी इधर कुछ समयसे खूब उन्नति हो रही है और जो ज्ञानका एक अंशमात्र है। यह सब लोग जानते हैं कि विज्ञानविशारद अपने अनुसन्धानमें इतने कृतकार्य हो चुके हैं कि उन्होंने प्रकाश (Light) विद्युत् (Electricity) और आकर्षणशक्ति (Magnetism) आदि भिन्न-भिन्न शक्तियोंको उपयोगमें ले लिया है। किन्तु ये शक्तियाँ वस्तुतः हैं क्या, इस विषयसे वे अभीतक बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। कोई भी वैज्ञानिक न तो अबतक जीवोंकी रचना कर सका है और न अनावृष्टिजन्य दुर्भिक्षों अथवा ज्वालामुखी पर्वतोंके विस्फोटोंसे ही संसारकी रक्षा कर सका है। सच पूछिये तो विज्ञानकी उपयोगिता इसमें है कि उसके द्वारा एक ओर तो हमारे अन्दर ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा उत्पन्न हो और हम मानव-शक्तिकी अल्पता-का अनुभव करें एवं दूसरी ओर हम परमात्माकी परमाद्भुत, दुर्दमनीय एवं अनुपम क्रिया-शक्ति, उसकी महती कृपा एवं महिमाको समझ सकें।

बल—बल परमात्माके उस गुणका नाम है जिसके द्वारा वह जगदाधाररूपसे इस विश्वके सारे भारका वहन करता है, अथवा यों कहिये कि जिसका अनुभव उपर्युक्त बातको जान लेनेपर ही होता है। श्रीबलरामजीके नामके अन्दर इस बलकी ध्वनि निकलती है, जो शेषरूपसे इस अखिल ब्रह्माण्डको धारण करते हैं और जिनकी तनिक-सी अप्रसन्नता-से भूकम्प, ज्वालामुखी-विस्फोट एवं जमीनके बैठ जानेके निमित्तको लेकर संसारमें उथल-पुथल मच सकती है।

ऐश्वर्य—ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध यदि सारे जीव मिलकर सृष्टिके सञ्चालनसे लेकर उस परमात्माके एक क्षुद्र-से-क्षुद्र व्यापारमें भी हस्तक्षेप करना चाहें अथवा करनेकी चेष्टा करें तो वे उसमें कृतकार्य नहीं हो सकते, चाहे उस कार्यमें वे अपनी योग्यता भले ही समझते हों। इसीका नाम 'ऐश्वर्य' है। कर्ण अर्जुनसे किसी प्रकार कम शक्ति-शाली नहीं था। दानवगण भी छोटे-मोटे देवताओंसे पराक्रम-में अधिक नहीं तो किसी प्रकार न्यून भी नहीं थे, तथापि ईश्वरके ऐश्वर्यके सामने इन सबकी कुछ भी नहीं चल सकी।

अखाड़ेमें एक पहलवान दूसरे पहलवानके साथ कुश्ती करता हुआ ईर्ष्याके वशीभूत होकर अपने प्रतिस्पर्धीको सदाके लिये निकम्मा एवं अधमरा कर सकता है, परन्तु दर्शकोंमें उपस्थित राजाका तनिक-सा इशारा पाकर उसे अपने जोड़वालेको छोड़ना पड़ता है और राजाके सामने झुककर अत्यन्त अदबके साथ सलाम करना पड़ता है। यही ऐश्वर्य है।

वीर्य—वीर्य ईश्वरका वह गुण है जो लगातार कठिन परिश्रम करते रहनेपर भी थकावट नहीं आने देता। उदाहरणतः विश्वके सञ्चालनमें अथवा भक्तोंकी रक्षा

करनेके लिये जो भगवान्का सनातन विरद है, उनको एक स्थानसे दूसरे स्थानको दौड़ना पड़ता है, कभी-कभी तो उन्हें इतनी तीव्र गतिसे जाना पड़ता है कि गरुड़को भी पीछे छोड़कर पैदल भागनेकी नौबत आ जाती है। उन्हें किसी दिन एक पलका भी विश्राम नहीं मिलता, उनके यहाँ रविवारको छुट्टी नहीं रहती। वीर्यके ही द्वारा वह अनेकों ब्रह्माण्डोंकी रचना करते हैं तथा चेतन एवं जड दोनोंको ही अमरत्व एवं नित्यस्थिति प्रदान करते हैं।

शक्ति—कार्य-शक्ति, इच्छा-शक्ति इत्यादि अष्टशक्तियोंका स्रोत वही है। वह 'कर्तुं अकर्तुं एवं अन्यथा कर्तुं समर्थ' है। योग-सिद्धियाँ भी उसीसे प्राप्त होती हैं और उसीके सत्य संकल्पके अनुरूप होती हैं। बुद्धि, चेतना, कान्ति, स्मृति, भ्रान्ति इत्यादि जितने भी गुण मनुष्यके अन्दर दृष्टिगोचर होते हैं, यहाँतक कि मनुष्यकी इच्छा-शक्ति, विचार-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति जिस सर्वोपरि शक्तिके अधीन होकर काम करती हैं वे सब उसीकी शक्ति हैं और उसीकी आज्ञासे उसकी संकल्प-शक्तिके अनुसार अभिव्यक्त होती हैं, बढ़ती हैं, घटती हैं एवं तिरोहित होती हैं।

तेज—उस प्रभाका नाम है जो मण्डलाकारसे विशिष्ट प्रभाववाले पुरुषोंको वेष्टित किये रहती है और जो चिरकालसे प्रकाशके रूपमें परमेश्वरके चित्रोंमें दरसायी जाती रही है। इसके कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सन्निधिमें रह भी सकता है और नहीं भी। इसीके कारण कभी-कभी उग्र-से-उग्र प्रकृतिवाले पुरुषको भी कम-से-कम उस तेजस्वी पुरुषकी उपस्थितिमें दासानुदास होकर रहना पड़ता है।

प्रेमियोंकी भाषाको छोड़कर तार्किकोंके शब्दोंमें इसी बातको हम इसप्रकार कह सकते हैं कि ईश्वर वही है जिसके अन्दर उपर्युक्त छहों गुणोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं उच्चतम विकास हो। इस परिभाषाका आश्रय लेकर भक्तजन ईश्वरकी श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य एवं सख्य आदि नवधा-भक्तिमें तत्पर हो सकते हैं, क्योंकि उन्हें 'लघुता' अर्थात् ईश्वरावतारके पुनीत चरित्रोंका सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो जाता है और उनकी आदर, भक्ति एवं पूजा करनेकी योग्यता बढ़ जाती है। भावप्रधान मनुष्योंके लिये दूसरा कोई 'तरणोपाय' नहीं है।

वैष्णवजन अपने उपास्य देवका इसप्रकार बखान करते हैं—

'वह श्रीपति है, सारे उत्कृष्ट एवं सुखावह गुणोंका आकर है, समस्त दुर्गुणोंका विरोधी है, सच्चिदानन्द-स्वरूप है, भक्तोंका सर्वस्व एवं उनकी एकमात्र गति है, उसका दिव्य विग्रह कान्ति, कमनीयता, लावण्य एवं तारुण्यकी सीमा है, वह उन सबके लिये दुर्विज्ञेय है जो उसकी कृपाके पात्र नहीं बन चुके हैं, वह आश्चर्योंका परमाश्चर्य है, शाश्वत, निर्विकार एवं अव्यय है, उसके नियम अटल एवं उसका विधान अवश्यम्भावी होता है, उसकी इच्छाके विरुद्ध एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, उसके अलंकार और उसके शृंगार भक्तोंके मनको चुराने-वाले होते हैं, उनसे उसके सौन्दर्यकी वृद्धि नहीं होती, अपितु उसकी कमनीयतामें कुछ हलकापन आ जाता है, जिसके कारण वे भाग्यवान्जन जो उस छविका दर्शन कर पाते हैं, अपनेको सँभाल सकते हैं और (शुद्धस्वरूपके तेजसे) मूर्छित होनेसे बच जाते हैं। उसके शस्त्र दुर्बलों एवं साधुजनोंकी रक्षाके लिये एवं दुष्टोंके दमनके लिये होते हैं, उनका अद्भुत ढंगसे प्रयोग होता है और उनकी शक्ति अपरिमित एवं अनन्त होती है। जगज्जननी समुद्रतनया उसकी अर्धांगिनी होकर भी अपने अमित प्रेमके कारण उसके सुर-मुनि-वन्दित चरणोंमें अपने जीवन एवं अस्तित्वको समर्पणकर उसकी चरण-सेवामें तत्पर रहती है।

उसके लक्ष्मीलालित चरण-कमलोंमें सारे छोटे-मोटे देवी-देवता, भक्त-ध्यानी एवं योगीजन अपने मन तथा मस्तकोंको न्यौछावर कर देते हैं। नित्यमुक्त पुरुष तथा वे सारी आत्माएँ जो सामीप्य मुक्तिको प्राप्त कर चुकी हैं, उसकी उपासना करती रहती हैं। उसके सुर-मुनि-दुर्लभ चरणोंकी सेवाके लिये असंख्य आत्माएँ उसका आदेश प्राप्त करनेके लिये उत्सुक होकर उसके चतुर्दिक् खड़ी रहती हैं और उसका गुणगान करती रहती हैं। उसका धाम अव्यय, अनन्त एवं सच्चिदानन्दस्वरूप है, वहाँ दुःखकी छाया भी नहीं है। उस धामके निवासी अनन्त कालतक उसके प्रेमका पवित्र एवं अनवद्य आनन्द लूटते रहते हैं। उसकी लीला ही अनेकों ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, पालन एवं संहारका मूल-कारण है। वह अपने स्वरूप, गुण एवं शक्तियोंका खण्डन किये बिना ही अपने ही द्वारा रचित सृष्टिकी किसी भी योनिमें अवतीर्ण हो जाता है। उसके इसप्रकार अवतीर्ण होनेका प्रत्यक्ष हेतु जगत्में व्यवस्था स्थापित करना ही होता है, किन्तु वास्तवमें वह

अपने उन प्रेमी भक्तोंके जीवनकी रक्षाके लिये आता है जो उसके दर्शनके अभावमें व्याकुल होकर देह-त्याग करनेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं। वह अपने भक्तोंके साथ रहकर प्राकृत मनुष्योंकी-सी लीला करता है, कभी तो उनके साथ सखाका-सा बर्ताव करता है और कभी-कभी उन अपने भक्तोंका दास बनकर रहता है। इस-प्रकारके बर्तावसे उनके अन्तःकरणमें अपने विश्वस्वामित्व-का किञ्चिन्मात्र भी भाव नहीं रहने देता। वह अपने भक्तोंका योगक्षेम वहन करता है, उन्हें पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति कराता है और एक निश्चित योग्यताके प्राप्त हो जानेपर उनकी योग्य गुरुओंसे भेंट करा देता है। वह साधु-सन्तों, सद्गुणियों एवं सज्जनोंके द्वारा संसारके पाप-पंकको धोता रहता है। वह पापियोंके भी उतना ही निकट है जितना पापमुक्त पुरुषोंके और दोनों प्रकारके पुरुषोंपर ही उसकी दयाका अविरत स्रोत समानरूपसे बहता रहता है। इसीलिये लोग उसे अधमोद्धारण, पतित-पावन इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। वह दण्डके रूपमें हमें शिक्षा भी देता है तो केवल दयापरवश होकर हमारी आत्माके परम कल्याणको ध्यानमें रखकर ही ऐसा करता है। अविनाशी शुद्धसत्त्वसे निर्मित उसका कमनीय विग्रह उसके भक्तोंके चित्तको हर लेता है और उनके ऊपर ऐसे असीम आनन्दकी वर्षा करता है मानो हज़ारों चन्द्रमा ब्रह्माण्डके ऊपर पीयूषवर्षा कर रहे हों। उसके गुण उन लोगोंके चित्तको भी चुरा लेते हैं जो अत्यन्त कल्पनाशील होते हैं और जिनका समाधान शीघ्र नहीं हो सकता। वह पूतनाकी भाँति हमारी छिपी हुई पाप-वासनाओंको लीलासे ही नष्ट कर देता है। उसके कृपा-कटाक्षकी एक कोर भी पापी-से-पापी मनुष्यके लिये उसके निरयधामका द्वार खोल देती है। वह दयाका समुद्र है और इस बातको ध्यानमें रखकर कि संसारके भोगोंमें लिप्त एक दीन-हीन मनुष्य इससे अधिक क्या दे सकता है, वह अपने भक्तद्वारा प्रेमपूर्वक दिये हुए पत्र, पुष्प, फल अथवा जलसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, यद्यपि संसारके इन सारे पदार्थोंपर उसीका स्वत्व है।'

कर्म-प्रधान मनुष्यका जो उपयोगितामूलक सिद्धान्त है, वही विस्तृत होकर भाव-प्रधान मनुष्यके लिये कर्त्तव्य-बुद्धि-में परिणत हो जाता है और उसके द्वारा वह मनुष्य-जाति एवं विश्वके रचयिताके प्रति अपने कर्त्तव्यका प्रेमपूर्वक पालन करनेके लिये सन्नद्ध हो जाता है। शुष्क कर्मवादी-को, जो इस सिद्धान्तको मानता है कि जैसा करोगे वैसा ही पावोगे, संसार बड़ा कष्टमय प्रतीत होता है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मनुष्य संसारके नियमोंका पालन करे। मनुष्य एक कृपण सौदागरकी भाँति काम करनेको अग्रसर होता है। पर ऐसा न करके दूसरोंको सुखी देखने तथा बनानेमें सुखका अनुभव क्यों न किया जाय? इसप्रकारके कार्य क्यों न किये जायँ, जिनसे दान देनेवाला, दान लेनेवाला एवं परमेश्वर तीनों प्रसन्न हों? एक बार किसी नदीमें भयानक बाढ़ आयी। एक साधुने जो अपनी कुटियामें बैठा हुआ था, एक बिच्छूको बाढ़में बहते देखा और उसका हृदय दयासे द्रवीभूत हो गया। उसने दौड़कर बिच्छूको पकड़ लिया, बिच्छू बार-बार उसके हाथपर डंक मारने लगा। साधु रोने लगा, पासमें खड़े हुए लोगोंने उसे बिच्छूके फेंक देनेको कहा, परन्तु उसने उनकी एक भी न सुनी, तब वे लोग उसको मूर्ख कहकर वहाँसे चलते बने। उस साधुने अपने शिष्योंको उनके प्रश्न करनेपर एकान्तमें ले जाकर इसप्रकार समझाया कि 'भाई, जब यह छोटा-सा जानवर उस कार्यमें बराबर सफल होता गया जो प्रकृतिने उसके जिम्मे रक्खा है तब क्या तुमलोग यह चाहते हो कि मैं मनुष्य होकर भी अपने प्रभुकी आज्ञाकी अवहेलना करूँ?' भाव-प्रधान मनुष्य यह पूछ सकता है कि इसप्रकारकी मनोवृत्ति क्यों न बना ली जाय?

मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तिका यथेष्ट विकास हो जानेपर उसके मनमें यह निश्चय हो जाता है कि सारे जीव-जन्तु एक ही पिताकी सन्तान हैं और वह अपने प्रभुसे प्रेम तथा उसकी अर्चा एवं उसकी आज्ञाका पालन करने लगता है। दुःखमें उसे इस विचारसे आश्वासन मिलता है कि मेरे प्रभुका कोई दूसरा प्रभु नहीं है; उससे मुझे जो कुछ भी प्राप्त होता है वह मेरे लिये अमृत ही है, चाहे वह देखनेमें विष ही क्यों न हो; मेरी चिन्ता उसको है। मनुष्य यदि एक बार ईश्वरसे प्रेम करने लग जाय तो उस प्रेममें वह शक्ति होती है जो उसे अपनी अहंताको भुला देती है और सारा संसार एवं मनुष्य-जाति उसे चाहे जिसप्रकारके कष्ट देवे, वह उन्हें हँसता हुआ सहन कर लेता है।

बुद्धिवादी मनुष्य ईश्वरके उसी स्वरूपको ग्रहण करता है जिसके द्वारा उसकी बुद्धि एवं तर्कका समाधान

होता है। ईश्वरकी समता उसके विग्रहोंकी नित्यता तथा एकसे अधिक अनन्तताओंकी सम्भावना इत्यादि प्रश्नोंकी मीमांसा करते हुए वह इस विचारकी अवज्ञा करता है कि ईश्वरका प्रभु अन्य कोई नहीं है। निम्नलिखित मुख्य विचारोंसे उसे ईश्वरके स्वरूपको समझनेका समुचित साधन प्राप्त होता है।

इस बातको दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है कि भक्ति और ज्ञान एक दूसरेसे पृथक् नहीं है और नीचे जो बातें लिखी गयी हैं वे केवल सिद्धान्तोंके भेदको लेकर लिखी गयी हैं, भक्तों एवं ज्ञानियोंके भेदको लेकर नहीं। सच पूछिये तो संसारमें अनेक ऐसे भक्त हैं जिनका सम्भाषण एवं बर्ताव ज्ञानियोंका-सा होता है। इसी प्रकार ऐसे ज्ञानी भी बहुत मिलेंगे जो मन-ही-मन भक्तोंकी तरह रोते हैं। अस्तु!

भक्तों और ज्ञानियोंके सिद्धान्तोंमें सृष्टिके आरम्भसे ही मतभेद चला आया है। कर्मका तो कभी भक्ति अथवा ज्ञानके साथ मुकाबला नहीं हुआ, किन्तु भक्ति तथा ज्ञानमें कौन प्रधान है, इसके लिये बराबर संघर्ष होता आ रहा है। समन्वयरहित होनेपर यह हृदय और मस्तिष्ककी प्रतिद्वन्द्विता ही बहुत अंशोंमें धार्मिक विरोधका तथा उन दो दलोंकी फूट एवं मतभेदका कारण होती है, जिनमें-से एकके मस्तिष्क होता है किन्तु हृदय नहीं होता और दूसरेके हृदय होता है किन्तु मस्तिष्क नहीं होता।

ज्ञानियों और भक्तोंके बीच मूलमें ही बड़ा मतभेद देखनेमें आता है। भक्तका लक्ष्य 'ईश्वरकी दासता' होता है, किन्तु ज्ञानी कहता है कि 'दास तो दास ही है, चाहे उसका दुलार किया जावे या उसे कोड़े लगाये जावें; वह स्वतन्त्र नहीं होता। बेड़ी सोनेकी ही क्यों न हो, उसका बन्धन उतना ही दृढ होता है जितना लोहेकी बेड़ियोंका।' ज्ञानी व्यावहारिक बुद्धिको छोड़कर परमार्थ-दृष्टिके द्वारा सारी द्वैतभावनाओंको मिटा देता है। जिसप्रकार एक रासायनिकके लिये कोयला और हीरा दोनों समान हैं, क्योंकि दोनों ही Carbon नामक मूल धातुसे बने हुए हैं। जो वस्तु नित्य नहीं है वह सत् भी नहीं है। कारण कार्यसे अभिन्न है और कार्य कारणसे। दृष्टान्तके लिये लकड़ीका बना हुआ सामान लकड़ी ही है, वृक्ष एवं बीज पृथक् वस्तु नहीं है। सारा जगत् हमारी कल्पनाओंका ही स्थूल रूप है और इन कल्पनाओंका आधार मन है। मनके नाश हो जानेपर कल्पनाएँ अपने आप नष्ट हो जाती हैं और उसके साथ-ही-साथ जगत्‌की भी सत्ता मिट जाती है। देश और कालकी सत्ता नित्य नहीं है, क्योंकि हमें कभी-कभी एक घण्टा भी पहर-जैसा भारी मालूम होने लगता है और एक गज़का फासला भी एक मील-जितना लम्बा प्रतीत होने लगता है। इसके विपरीत कभी-कभी एक पहर एक घण्टेके बराबर प्रतीत होने लगता है और एक मीलका अन्तर एक कदमके फासले-जैसा मालूम होने लगता है। देश-काल, सुख-दुःख, ऊँच-नीच, बड़ा और छोटापन, बुराई-भलाई, गुण-दोष एवं पाप-पुण्य इन सारे द्वन्द्वोंकी स्थिति इस विनाशशील मनकी कल्पनाओंके आधारपर ही होती है। हमारा मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

झीलके अन्दर जबतक उसका पानी सूख नहीं जाता, अनेकों पक्षियों तथा लता-गुल्मोंका प्रतिबिम्ब बराबर दिखायी पड़ता है। आज जिस वस्तुको हम देखते हैं वही कल अदृश्य हो जाती है अथवा संसारमें जितने भी परिवर्तनशील पदार्थ हैं वे सारे असत् हैं।

इसप्रकारकी विचारधाराका अनुसरण करनेसे ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारकी सत्ता ही नहीं रह जाती और यदि रहती भी है तो केवल व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक रूपसे। जगत् सत्य है अथवा मिथ्या यह विवाद यहींसे प्रारम्भ हो जाता है। प्रत्येक वस्तुके कुछ निश्चित गुण होते हैं, जिन्हें सब कोई स्वीकार करते हैं जैसे आगकी दाहक शक्ति। इस बातको लेकर उन-उन वस्तुओं और उनके गुणोंको सत्य कहा जाता है किन्तु इस बातको लेकर कि ये वस्तुएँ नित्य नहीं हैं और उनके गुण भी उनके अन्दर सदा विद्यमान नहीं रहते, हमारा प्रतिद्वन्द्वी उन वस्तुओं एवं गुणोंको असत्य कहने लगता है। ज्ञानी कहता है कि जगत् कल्पित है और यह दावा करता है कि मेरा ही सिद्धान्त सत्य है। वह इस बातको भूल जाता है कि सत्यका जो लक्षण उसने बतलाया है उसीसे जगत्‌की सत्यता प्रमाणित होती है। दूसरे पक्षवाले जो जगत्‌को सत्य मानते हैं वे भी यह भूल करते हैं क्योंकि वे इन्द्रियों तथा अपनी प्रतीतिको ही सत्यका आधार मानते हैं।

जो वस्तुएँ वास्तवमें देखने और स्पर्श करनेमें आती हैं, उनकी सत्ताका सर्वथा निषेध करना वास्तवमें टेढ़ी खीर है। ज्ञानी ऐसी अवस्थामें मायाका सहारा लेता

है। 'मा' का अर्थ है 'नहीं' और 'या' का अर्थ है 'जो'। इसप्रकार मायाका अर्थ होता है 'जो नहीं है'। यह माया ही द्वैत एवं भेदका मूल है और वह अनिर्वचनीय है। मायाके कारण ही सत्य वस्तु असत्य-सी भासने लगती है और अलीक वस्तु सत्य-सी प्रतीत होने लगती है। अज्ञानीके लिये माया दुरत्यय है ('मम माया दुरत्यया') और ज्ञानीके लिये माया है ही नहीं। अतः माया सत् भी है और असत् भी, और इसीलिये वह अनिर्वचनीय है। इस प्राचीन एवं बद्धमूल विवादका मैंने अपनी बालिशतापूर्ण बुद्धिसे इसप्रकार समाधान किया है कि 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस वाक्यमें जगत्‌को 'मिथ्या' कहा गया है, 'असत्य' नहीं। मेरी समझमें 'मिथ्या' शब्दका अर्थ 'असत्य' समझना भूल है। 'मिथ्या' का अर्थ 'असार' अर्थात् 'निष्फल' है, 'असत्य' नहीं।

अब रही ईश्वरके स्वरूपको समझनेकी बात। ज्ञानी ईश्वरका वही रूप नहीं मानता जो कर्मयोगी अथवा भाव-प्रधान मनुष्य मानता है। वह उनके ईश्वरके भी ऊपर एक और सत्ता स्थापित कर देता है जिसे वह 'ब्रह्म' कहता है। द्वैत सदा नहीं टिक सकता, यौगिक पदार्थोंका एक-न-एक दिन विश्लेषण अवश्य होता है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कर्मयोगियों तथा भक्तोंका ईश्वर भी जो सशरीर एवं कतिपय इच्छाओं, गुणों एवं व्यापारोंसे युक्त है, एक-न-एक दिन उन सबका त्याग करके शाश्वत एवं निर्विकार ब्रह्ममें लय हो जायगा। अतः ज्ञानीका ईश्वर ब्रह्म ही है। मायाके अन्दर दीखनेवाले ब्रह्मके प्रतिबिम्बको ईश्वर अथवा शिव कहते हैं और अविद्याके अन्दर प्रतिभासित होनेवाले उसके प्रतिबिम्बकी जीव-संज्ञा है। जीव और शिव वास्तवमें एक ही हैं। मायाके ही कारण रज्जुमें सर्पकी एवं शुक्तिमें रजतकी भ्रान्ति होती है। यदि समन्वयके सिद्धान्तका आश्रय लिया जाय, तब तो ठीक है, अन्यथा इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि यदि सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष ये सब मिथ्या हैं, तो फिर गुरु-शिष्यकी परम्परासे क्या लाभ? यदि रज्जुके अन्दर सर्पकी भ्रान्तिसे उत्पन्न होनेवाले भय तथा तज्जन्य दुःखकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर शिष्योंको गुरुके पास दौड़नेकी और गुरुको अपने प्रियतम शिष्योंके अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिये ज्ञानरूपी प्रकाशको लेकर दौड़नेकी क्या आवश्यकता है?

हमने अपनी क्षुद्र बुद्धिके अनुसार इस विवादास्पद विषयके सम्बन्धमें यह मत स्थिर किया है कि ब्रह्मके अतिरिक्त किसी भी वस्तुके न होनेका एक विशेष अर्थ है। जिसप्रकार बिल्वमंगलजीने अपनी प्रेयसीके पास जानेकी धुनमें यह कहा था कि 'मेरे लिये अँधेरी रात नहीं है, नदीमें बाढ़ नहीं आयी है, चिन्ताकी खिड़कीमेंसे साँप नहीं लटक रहा है' इत्यादि। उसी प्रकार यह निषेध-वाक्य भी एक विशेष प्रकारकी मनोवृत्तिका व्यञ्जक है। साहित्यमें अपह्नुति-अलंकारके रूपमें इसप्रकारके निषेधात्मक वाक्योंका बहुधा प्रयोग होता है। जगत् मिथ्या है, इस सिद्धान्तको ज्ञानी व्यवहारमें कहाँतक लाता है, इसकी परीक्षाके लिये यदि उसपर एक मस्त हाथी छोड़ा जाय तो यह निश्चित है कि अपने प्राण बचानेके लिये अवश्य भागेगा और ऐसा करनेपर भी अपने भागनेको भ्रान्ति ही कहेगा। यदि किसी मनुष्यको यह कहा जाय कि तुम्हें जो शब्द लिखाया जाय उसके अतिरिक्त और किसी बातपर विचार न करना और यदि उसे श्वेत शब्द लिखनेको कहा जाय तो उसके लिये सफेद रंगका चूर्ण, चाहे वह विष हो अथवा कोई सञ्जीवनी बूटी, एक ही प्रकारका होगा। हाँ, यदि कोई यह कहे कि हमारा सिद्धान्त तो यही है, किन्तु उसके निर्भ्रान्त होनेका दावा न करे, फिर चाहे वह वास्तवमें निर्भ्रान्त ही क्यों न हो, तो दूसरी बात है।

ईश्वर-प्राप्तिके साधनकी दृष्टिसे ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें वेदान्तियोंका यह सिद्धान्त कहाँतक ठीक है, इस विषयमें हमारा व्यक्तिगत मत यह है कि यह सिद्धान्त ईश्वर-प्राप्तिका स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष साधन नहीं हो सकता। इसमें केवल ईश्वर-प्राप्त पुरुषोंकी दृष्टिका ही निर्देश है। इसके अन्दर ईश्वर, जगत् एवं जीवका वैसा ही आनन्दपूर्ण प्रतिपादन है जैसा अटारीपर चढ़े हुए मनुष्यके द्वारा आकाशका वर्णन होता है। यह तो वैसी ही बात है जैसे कोई तरणोपायकी जिज्ञासासे अपनी शरणमें आये हुए दुराचारी, पश्चात्तापसे युक्त मनुष्यको यह कहे कि तुम प्रत्येक मनुष्यके अन्दर जगदम्बाकी भावना करो। यदि उसमें यह भावना करनेकी योग्यता होती तो वह पापमें प्रवृत्त ही क्यों होता? ईर्ष्या, घृणा, प्रतिहिंसा इत्यादि भावोंको दमन करनेके लिये द्वैतभावनाको छोड़ दो और अभेद-वृत्तिको धारण करो, यह कह देना कोई क्रियासाध्य उपाय नहीं है।

हमारी तुच्छ धारणा तो यह है कि अद्वैत-सिद्धान्त प्रकाशपूर्ण भले ही हो परन्तु उसमें सरसता नहीं है। बस, वही घट, पट और मायाकी पुरानी कथा। युक्ति, तर्क, बुद्धि और विज्ञानके इस युगमें अन्यान्य दर्शनशास्त्रोंके मुकाबलेमें वेदान्त एक ऊँचा स्थान प्राप्त करनेका दावा अवश्य कर सकता है। यही नहीं, कुछ इने-गिने विशिष्ट अधिकारियोंके लिये यह सिद्धान्त आध्यात्मिक उन्नतिके मार्गमें भी सहायक हो सकता है, किन्तु अधिक सहायता इससे नहीं मिलती। इसके विपरीत इस सिद्धान्तने हमारे-जैसे लाखों 'संसारी कीड़ों' के मस्तिष्कमें यह भ्रम उत्पन्न कर दिया है कि 'ब्रह्म' वास्तवमें अक्रिय है और उसका जगत्के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, और इसप्रकार उन्हें एक प्रकारसे पथभ्रष्ट-सा कर दिया है।

किसी भी द्वैत-सिद्धान्तकी भाँति अद्वैत-सिद्धान्तमें भी चित्त-शुद्धि, षट्सम्पत्ति इत्यादि गुणोंके सम्पादनकी प्रारम्भमें ही आवश्यकता बतलायी गयी है। व्यवहारदशामें तथा भगवत्-प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर होनेके लिये भी द्वैतभावनाकी परमावश्यकता है। हमारे पैरकी पनही और हमारे शरीरमें कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही चमड़ेके बने हुए हैं। परन्तु यह कहना बिल्कुल निःसार है, क्योंकि जूतोंको तो हम कीचड़ और मैली जगहमें ले जानेमें तनिक भी संकोच नहीं करते। किन्तु हमारे शरीरको यदि कोई सौ मीलके अन्तरसे भी काला और कुरूप बतलावे तो तुरन्त हमारे मगजका पारा चढ़ जाता है। किसी ज्ञानी भक्तने ठीक ही कहा है कि 'मुख और गुदा दोनों एक ही शरीर-के अवयव हैं किन्तु अबतक किसीने मुखका गुदाके स्थान-में और गुदाका मुखके स्थानमें उपयोग नहीं किया है और इसीलिये इन दोनों अंगोंमें भेद मानना आवश्यक है। बहुत-से लोगोंके व्यवहारजन्य अनुभवसे हमें मालूम हुआ है कि अधिकार एवं भूमिकाके बिना वेदान्तके उपदेशसे लाभकी अपेक्षा हानि कहीं अधिक हुई है। हमने वेदान्त-को ज्ञानकी वह चरमसीमा समझ रक्खा है जिसे परमात्मा उस पुरुषको पूर्ण बनानेके लिये प्रदान करते हैं जो उसकी कृपासे पूर्णताके अत्यन्त निकट पहुँच चुका है।

निबन्धका कलेवर बहुत बढ़ गया है और ईश्वर-स्वरूपका विवेचन करते समय ईश्वर-प्राप्तिके सम्बन्धमें भी प्रसंगवश कई बातें कही जा चुकी हैं, किन्तु फिर भी ईश्वर-प्राप्तिके सम्बन्धमें कुछ और लिखनेके लोभको हम संवरण नहीं कर सकते। आशा है, प्रेमी पाठक हमारी इस धृष्टताको क्षमा करेंगे। बात यह है कि ये दोनों विषय एक दूसरेसे इतने सम्बद्ध हैं कि एकके बिना दूसरा पूर्ण नहीं हो सकता।

ईश्वर-प्राप्तिके सम्बन्धमें हमें दो बातोंपर विचार करना होगा। एक तो मोक्ष-साधनके भिन्न-भिन्न मार्गोंपर और दूसरे उस राजमार्गपर, जिससे प्रायः लोग मोक्ष-मन्दिर-की यात्रा किया करते हैं। उक्त दोनों विषयोंका विवेचन एक प्रकारसे पुनरुक्तिदोषमें परिगणित होगा, किन्तु इससे विषय अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा, स्थान-संकोचके कारण हम प्रधानतया दूसरे पहलूको लेकर ही कुछ लिखना चाहते हैं—

कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये मोक्षके तीन प्रसिद्ध मार्ग हैं, इनके अतिरिक्त कुछ महापुरुषोंने प्रपत्ति तथा गुरु अथवा ईश्वरकी कृपा—ये दो मार्ग और बतलाये हैं। यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जो जीव अपने ध्येय-की प्राप्तिके लिये कमर कसकर तैयार हो गया है वह इन भिन्न-भिन्न मार्गोंके तारतम्यका निश्चय करनेमें समय एवं शक्तिका कभी अपव्यय नहीं करेगा। वह परिस्थितिका ध्यान रखते हुए तीनोंका उपयोग करता है, क्योंकि उसे तीनोंकी आवश्यकता है।

वास्तवमें हमारी समझमें मार्ग तो एक ही होता है। उदाहरणतः बनारस आबू-पहाड़से इतने अक्षांश उत्तरकी ओर और इतने अक्षांश पूर्वकी ओर है। अब उत्तर और पूर्वकी ओर किसप्रकार जाया जाय, इसके लाखों प्रकार हो सकते हैं।

भक्ति और ज्ञान—इन दो प्रधान मार्गोंके सम्बन्धमें यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि भक्तिमार्ग अन्धा है और ज्ञानमार्ग पंगु है। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि साधन-दशामें दोनों मार्गोंका सुन्दर समन्वय हो, यद्यपि स्वभावसे ही किसी साधकके अन्दर ज्ञानकी प्रधानता होती है और किसीके अन्दर भक्तिकी मात्रा प्रधानरूपसे रहती है और इसीके अनुसार वह साधक लौकिक दृष्टिसे ज्ञानी अथवा भक्त कहलाता है। भक्ति-मार्गमें भाव एवं प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रधानता है और ज्ञान-मार्गमें बोध एवं अनुभव प्रधान हैं। किन्तु एकके बिना दूसरा अधूरा ही रहता है। ज्ञानसे ही साक्षात्कारमें यह शक्ति आती है जिससे मनुष्य साक्षात्कारके तत्त्वमें तल्लीन

हो सकता है। बोध निश्चयात्मक तभी होता है जब उसे साक्षात्कारकी सहायता मिलती है। संक्षेपमें तीनों मार्ग तथा प्रपत्ति और 'कृपा' इसप्रकार है—

कर्ममार्ग—यज्ञ, दान, तप, सन्ध्यावन्दन, वर्णाश्रमानुसार शास्त्रविधि, पञ्चमहायज्ञ, अग्निहोत्र, देवपूजा, तीर्थयात्रा, पुण्यक्षेत्रवास, पुण्यस्नान, व्रत, कृच्छ्र चान्द्रायणादि तपश्चर्या, यज्ञशेषप्रसाद, धार्मिक भोजन, शास्त्रश्रवण, देवऋण तथा पितृऋणका चुकाना इत्यादि कर्ममार्गके प्रधान अंग हैं।

ज्ञानमार्ग—ज्ञानका अर्थ आत्मज्ञान और ईश्वरज्ञान दोनों है। आत्मज्ञानकी सिद्धि स्वानुभव एवं विवेकपर अवलम्बित है किन्तु ईश्वर-ज्ञानकी प्राप्ति गुरूपदेश एवं शास्त्रके वचनोंमें पूर्ण श्रद्धा एवं उनके मननसे होती है।

भक्तिमार्ग—भक्तिका अर्थ है ईश्वरके प्रति सदा असीम प्रेम करना, उसके स्वरूपका ध्यान करना एवं उसके चरित्र, सद्गुणसमूह, शक्ति एवं दया इत्यादिका चिन्तन करना।

हम किसी वस्तुको बिना जाने ही उससे प्रेम करने लग जायँ, यह सम्भव नहीं है। अतः अनेकों बार ज्ञान और भक्तिका पर्यायक्रमसे अभ्यास करनेपर ही उन्नति होती है। जिसप्रकार विज्ञानका अध्ययन करते समय हम घरपर तो उसकी पाठ्यपुस्तकका अभ्यास करते हैं और फिर प्रयोगशाला (Laboratory) में आकर प्रयोगों (ezperiments) द्वारा उस पुस्तकमें बताये हुए परिणामोंकी प्रत्यक्ष उपलब्धि करते हैं, इसी प्रकार साधकको चाहिये कि वह पहले शास्त्रोंद्वारा आत्मतत्त्वका मनन करे और फिर भक्तिके क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर उसकी साक्षात् उपलब्धि करे। ऊपर बतायी हुई विधिसे ज्ञान एवं भक्तिके समन्वयका दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर जिस विशुद्ध भक्तिका विकास होता है उसे 'परा-भक्ति' कहते हैं। उससे निम्नकोटिकी भक्तिको 'गौण-भक्ति' कहते हैं।

प्रपत्ति-मार्ग—भक्तिका सार यही है। प्रपन्न पुरुषकी दृष्टिमें अपनी पृथक् सत्ता ही नहीं रहती। जो कुछ भी कर्म उसके द्वारा होते हैं केवल यन्त्रकी भाँति होते हैं। उसके लिये कर्ता, भोक्ता एवं स्वामी सब कुछ उसका प्रभु ही होता है। प्रभुसे पृथक् उसकी सत्ता ही नहीं होती। 'जिस मार्गसे तू मुझे ले जाता है उसी मार्गका मैं अनुसरण करता हूँ। तू मुझे पीनेको जो कुछ भी देता है वही मैं पीता हूँ, वह चाहे अमृत हो या विष। तेरी जो इच्छा हो वही कर।' प्रपन्न पुरुषके हृद्गत भाव प्रायः इसी प्रकारके होते हैं।

प्रपत्तिके दो भेद होते हैं—सामान्य-प्रपत्ति एवं आर्त-प्रपत्ति। सामान्य-प्रपत्तिकी दशामें प्रपन्न जीवित रहता है, किन्तु आर्त-प्रपत्तिकी अवस्थामें भक्तके लिये अपने इष्टका वियोग इतना असह्य हो जाता है कि उसे उसके बिना जीवन भारवत् प्रतीत होने लगता है। ऐसी अवस्थामें भक्तके सञ्चित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध सभी प्रकारके कर्म भगवद्-विरह-तापसे दग्ध हो जाते हैं और जिसप्रकार भक्तिमती मीराबाईकी ज्योति भगवान् श्रीकृष्णकी ज्योतिमें समा गयी, उसी प्रकार उस भक्तकी आत्मा परमात्मामें लय हो जाती है।

गुरु-कृपा अथवा ईश्वर-कृपा—यह नियमकी बात है कि गुरु एवं भगवान्‌की कृपाके बिना अध्यात्ममार्गमें ठोस उन्नति नहीं हो सकती। परन्तु यह बात कहीं-कहीं देखनेमें आती है।

आध्यात्मिक विकासके साधारण क्रमपर विचार करनेसे यह प्रतीत होता है कि उसकी प्रथम सीढ़ी सन्त-समागम है। इसे आध्यात्मिक उन्नतिका मूल कहें तो भी कोई अत्युक्ति न होगी। जिसने अध्यात्म-मार्गमें अभी पैर ही रक्खा है उसके लिये हमारे समझमें पहली आवश्यकता इस बातकी है कि वह इस बातपर पूरा ध्यान रक्खे कि उसका कितना समय अपनेसे ऊँचे पुरुषोंके सङ्गमें व्यतीत होता है और कितना समय अपनेसे निम्न श्रेणीके पुरुषोंके साथ बीतता है। मनुष्य स्वभावसे ही अनुकरणशील है। सन्त-समागमसे उसकी मनोवृत्ति एवं रहन-सहनका ढंग क्रमशः पलट जाता है। फलतः उसके हृदयमें ईश्वरके प्रति विश्वास उत्पन्न होता है, चाहे प्रारम्भमें वह केवल नाम-मात्रका ही क्यों न हो। इसके अनन्तर उसी मार्गका अवलम्बन करनेवाले दूसरे लोगोंकी देखादेखी वह कर्म-मार्गका अनुसरण करने लगता है, चाहे वह साधक कहलानेके लिये, सुखके लिये, दूसरोंको प्रसन्न करनेके लिये अथवा और किसी भी हेतुसे हो। कर्म-मार्गका अनुसरण करनेसे उसे प्रधानतया तीन बातें प्राप्त होती हैं, ऐहिक दृष्टिसे निवृत्ति एवं शान्ति, चित्तशुद्धि एवं पुण्यसंग्रह।

सन्त-समागम, कर्मयोग एवं पुण्यसंग्रहसे साधकको अपने लक्ष्यकी सिद्धिके लिये, अपने समय एवं शक्तिका उपयोग करनेके लिये अवसर एवं सुविधा प्राप्त होती है।

इसके अनन्तर गुरु-कृपा अथवा ईश्वर-कृपा प्राप्त होती है। तब उसके हृदयको ईश्वरके चिन्तन एवं उसके गुण-समूहके श्रवणमें तथा तदर्थ कर्म करनेमें आनन्द एवं सुखका अनुभव होने लगता है।

यदि साधनके पूरे मार्गको तीन स्तरोंमें विभक्त किया जाय तो अबतक जो बताया गया है, अर्थात् सन्त-समागम, कर्ममार्ग, सत्पुरुष-सेवा तथा उसके फलरूपमें मिलनेवाली उनकी कृपा, धर्मपालन एवं ईश्वरगुणानुवादमें आनन्दकी उपलब्धि, यह सब कुछ पहली मंजिलके अन्दर आ जाता है।

दूसरी मंजिलके अन्तर्गत निम्नलिखित चार अवान्तर भूमिकाएँ हैं—

१–ईश्वर-प्राप्तिके उद्देश्यसे नवधा-भक्तिका जीवनमें आचरण करना।

२–गौण-भक्तिका आत्मज्ञानके साथ सम्मिश्रण—जो जीव एवं शिवकी एकताके अनुभवका ही नाम है।

३–उक्त दोनों मार्गोंसे ईश्वरके साथ एक हो जाना एवं

४–मनमें ईश्वरका साक्षात्कार।

यहाँ एक बातकी चेतावनी दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। वह यह कि यद्यपि इन सब भूमिकाओंका वर्णन एवं पठन सहज है, इनको प्राप्त पुरुष बहुत ही अल्प हैं। ऐसे अनेक बड़े धर्मनिष्ठ पुरुषोंको भी, जिन्हें लोग बड़े भारी भक्त एवं ज्ञानी समझते हैं और जो स्वयं अपनेको ऐसा ही मानते हैं, केवल सन्त-समागमका क्षीण-सा प्रकाश ही प्राप्त हुआ है और उनकी स्थिति अभीतक पहली मंजिलकी प्रथम भूमिकामें ही है।

अन्तिम मंजिलकी भी निम्नलिखित चार भूमिकाएँ हैं:—

१–साक्षात्कारकी अवस्थाके समयको बढ़ाना और उसके अतिरिक्त समयको अपनी क्रिया, विचार एवं इच्छा सबको उसे पूर्णतया समर्पणकर व्यतीत करना।

२–पूर्ण आत्मनिवेदनयुक्त जीवनसे प्रसन्न होकर ईश्वर उसपर जो पूर्ण कृपाकी वृष्टि करता है उसे प्राप्त करना। सामान्य प्रपत्तिका भी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, यही स्वरूप है।

३–ईश्वर उसे अपने राज्यका अधिपति बना देता है और उसे अपने ही-जैसा ऐश्वर्य प्रदान कर देता है।

४–साक्षात्कारकी अवस्थाके अन्दर सदैव स्थित रहनेके लिये जो दुर्दमनीय व्याकुलता उत्पन्न हो जाती है, तब विरह-वेदना असह्य हो जाती है। इसीका नाम आर्त-प्रपत्ति है और यह विकास अथवा असीममें मिल जानेकी चरम सीढ़ी है।

लेख समाप्त करनेके पूर्व मैं पाठकोंकी सेवामें यह विनम्र निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मैं कोई शास्त्री अथवा पण्डित नहीं हूँ। मैंने केवल वही बात आपलोगोंके सम्मुख उपस्थित की है, जो मुझसे जगदम्बाने दया करके लिखा दी है। इसके औचित्य अथवा अनौचित्यका निर्णय पाठक स्वयं करें।

ओ नाविक !

आह ! तरी झट खोल अरे नाविक ! मत कर तू देरी।
मत्त चित्त उस पार-वहाँपर लगा रहा है फेरी॥
क्षितिज चूमती तुङ्ग तरङ्गें आती हैं, आने दे।
प्रलय-गान विक्षुब्ध समीरण गाता है, गाने दे॥
चूर-चूर हाँ ! हमको भी हो जाने दे टकराकर।
टुक तो मिल जायँगे प्रियतमसे अनन्तमें जाकर॥

—सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' बी० ए०

वेद और पुराण

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम० ए०)



वैदिक गहन तत्त्वोंको सुगम बनाना पुराण-शास्त्रका प्रधान ध्येय है। जिसप्रकार दार्शनिक विचारोंकी पुराणमें विशद व्याख्या की गयी है उसी प्रकार वैदिक इतिहासका भी उसमें मञ्जुल भाषामें विशद वर्णन है। जो कथानक वेदमें कतिपय पंक्तियोंमें वर्णित हुए हैं और अतएव आपाततः दुरूह प्रतीत होते हैं वे पुराणोंमें सुस्पष्ट रीतिसे लिखे गये हैं। नीचेकी पंक्तियोंमें उदाहरणद्वारा इसी बातको सिद्ध किया जाता है।

शन्तनु-चरित्र

कुरुवंशमें एक महीपाल थे, जिनका नाम था ऋष्टिषेण। इनके दो पुत्र हुए। एकका नाम देवापि और दूसरेका शन्तनु था। छोटे शन्तनुने राजपदपर अपना अधिकार किया और बड़े देवापिने वनवासी होकर तपश्चरण प्रारम्भ किया। बड़े भाईके होते हुए छोटे भाईका राजा बनना पापाचरण था। इसी पापके दुष्प्रभावसे राजा शन्तनुके राज्यमें बारह वर्षतक वर्षा ही न हुई। जब विद्वान् ब्राह्मणोंने वर्षा-अभावका कारण महाराजके सम्मुख निवेदन किया तो शन्तनुने देवापिसे अपना अधिकार स्वीकार करनेकी प्रार्थना की। तपोधन देवापिने राजसिंहासन स्वीकार नहीं किया। हाँ, उन्होंने वर्षानिमित्त यज्ञानुष्ठानमें शन्तनुका पौरोहित्य स्वीकार किया। आचार्य यास्कने निरुक्त (अध्याय २ तृतीय पाद खण्ड १) में इस इतिहासका उल्लेख किया है। वेदमें यही कथा अति संक्षेपमें कही गयी है। दिग्दर्शनार्थ नीचे मन्त्रयुगल दिया जाता है। निष्पक्षपात विचारकोंको उससे अवश्य सन्तोष होगा।

ॐ आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान् स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि ॥

ॐ यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत् देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥

अब पाठकगण नीचे दिये हुए पौराणिक पद्योंको पढ़ें और उनकी वैदिक मन्त्रोंसे तुलना करें।

देवापिः शन्तनुस्तस्य बाह्लीक इति चात्मजाः।
पितृराज्यं परित्यज्य देवापिस्तु वनं गतः ॥
अभवच्छन्तनू राजा प्राङ्महाभिषसंज्ञितः।
....
समा द्वादश तद्राज्ये न ववर्ष यदा विभुः ॥
शन्तनुर्ब्राह्मणैरुक्तः परिवेत्तायमग्रभुक्।
राज्यं देह्यग्रजायाशु पुरराष्ट्रविवृद्धये ॥
(श्रीमद्भा० ९ । २२)

उर्वशी-कथा

मित्रावरुणके शापसे अभिभूत स्वर्लोकरत्न अप्सरा उर्वशीको भूमण्डलपर आना पड़ा। भूलोकाधिप महाराज पुरूरवाका माहात्म्य वह स्वर्गमें ही सुन चुकी थी, अतएव इस शाप-समयमें भूमिपर रहकर इसी महाराजको अपना प्रणयपात्र बनाया। कुछ दिनों पुरूरवाके यहाँ निवासकर फिर वह अपनी स्वतन्त्रताका उपभोग करने लगी। अप्सराके विरहमें व्याकुल नरेन्द्र वन-वन उसके अन्वेषणमें विचरण करने लगे। एक दिन उन्हें वह जल-क्रीड़ा करती हुई एक सरोवरमें दिखायी दी। पुरूरवाके अनुनय-विनय करनेपर उर्वशीने उसे कुछ उपाय अपनी प्राप्तिका बता दिया। यह कथा मन्त्र-

भागमें, ब्राह्मण-भागमें तथा पुराणमें विशदरूपसे मिलती है। समयाभाव तथा लेखके कलेवरकी व्यर्थ वृद्धिके भयसे मैं केवल उन-उन स्थलोंका दिग्दर्शन कराये देता हूँ—

मा पुरूरवो मा प्रपप्तो
मा त्वा वृकासो अशिवासो अक्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति
सालावृकाणां हृदयान्येता ॥

(ऋग्वेद)

उर्वशी हाप्सराः । पुरूरवसमैडं चकमे तं ह विन्दमानोवाच त्रिः स्म माह्नो वैतसेन दण्डेन हतादकामाः स्म मा निपद्यासै मो स्म त्वा नग्नं दर्शमेप वै नः स्त्रीणामुपचार इत्यादि ।

(शतपथ ब्राह्मण)

सुदेहोऽयं पतत्यत्र देवि दूरं हृतस्त्वया ।
खादन्त्येनं वृका गृध्रास्त्वत्प्रसादस्य नास्पदम् ॥

उर्वश्युवाच—

मा मृथाः पुरुषोसि त्वं मा स्म त्वाऽद्युर्वृका इमे ।
क्वापि सख्यं न वै स्त्रीणां वृकाणां हृदयं यथा ॥

(श्रीमद्भा०)

यदि उपर्युक्त उद्धरण अपर्याप्त प्रतीत हों तो पाठक उन-उन स्थलोंको पूरा-पूरा पढ़ लें। जिनके ये अंश हैं वे इसप्रकार हैं–ऋग्वेद, शतपथ ११।३।३ तथा भागवत स्कं०६ अ० १४।

इन्द्र-वृत्र-कथा

प्राचीन कालमें देवराज इन्द्रने अपने शत्रु विश्वरूपका वध किया था। विश्वरूपके पिता त्वष्टाने एक ऐसे पुत्रकी प्राप्तिके लिये यज्ञ किया जो इन्द्रका पराभव करे। यज्ञानन्तर एक महा भयंकर असुर निकला जिसका नाम वृत्र रक्खा गया। इस वृत्रका इन्द्रके साथ युद्ध पुराणोंमें परम रोचक शब्दोंमें वर्णन किया गया है। दिग्दर्शनार्थ—

येनावृता इमे लोकास्तमसा त्वाष्ट्रमूर्तिना ।
स वै वृत्र इति प्रोक्तः पापः परमदारुणः ॥
तं निजघ्नुरभिद्रुत्य सगणा विबुधर्षभाः ।
स्वैः स्वैर्दिव्यास्त्रशस्त्रौघैः सोऽग्रसत्तानि कृत्स्नशः ॥
ततस्ते विस्मिताः सर्वे विषण्णा ग्रस्ततेजसः ।
प्रत्यञ्चमादिपुरुषमुपतस्थुः समाहिताः ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ६)

यही पुराणप्रोक्त कथानक वेदके अनेक मन्त्रोंमें उपलब्ध है। जैसे कि—

अतिष्ठन्तीनामनिवेशनानां काष्ठानां मध्ये निहितं शरीरं वृत्रस्य निण्यं विचरन्त्यापो दीर्घं तम आशयदिन्द्रशत्रुः ।

यास्कने इसी मन्त्रके व्याख्यानमें स्पष्ट लिखा है कि—

'तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः ।'

सावर्णिमनु-चरित्र

श्रीविष्णुपुराण (तृतीय अंश, द्वितीय अध्याय) में लिखा है—सूर्यनारायणकी पत्नी संज्ञाके गर्भसे मनु, यम तथा यमीका जन्म हुआ। एक बार सूर्यपत्नी अपने पतिदेवके समीपसे अन्तर्धान होकर तपश्चरणार्थ वनवासिनी हो गयीं। यही कथा वेदके निम्नांकित मन्त्रमें निहित है—

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति
इदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना
महो जाया विवस्वतो ननाश ॥

पुराणमें यह भी लिखा है कि सूर्यदेवने ध्यानद्वारा अपनी पत्नीके तपश्चरणको जान लिया था और यह भी कहा गया है कि पीछे उन्हीं सूर्यके

दो पुत्र और हुए जो अश्विनीकुमार नामसे प्रसिद्ध हैं। वेद्का निम्नलिखित मन्त्र भी यही बात बता रहा है—

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः
कृत्वी सवर्णामददुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद्यत्तदासी-
दजहादुद्वा मिथुना सरण्यूः ॥

पुराणका वचन है कि ये ही सूर्य-पुत्र मनु सावर्णि नाम अष्टम मनु हैं।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि पौराणिक आख्यान, जिन्हें मन्दमति अर्वाचीन कतिपय जन कपोलकल्पनामात्र विचारते हैं, वैदिक ही हैं। मैं और भी उद्धरण वेद-पुराण-साम्य* सूचक भविष्य-में भेजूँगा जो पुराण-शास्त्र-माहात्म्यको प्रकटित करेंगे। ॐ



यौगिक प्राणायाम

(लेखक—श्रीप्रेमी महाशय)

प्राकथन



तत्त्वदर्शी महर्षियोंने सुदीर्घ कालके जीवनमें विचारबाहुल्य और दिव्य दृष्टिके प्रभावसे शरीरके भीतरकी सब क्रियाओंका अच्छी तरह अन्वेषण किया था और उनसे उत्पन्न होनेवाले रस-विरस, फल-कुफल, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य, या दीर्घजीवन आदिके होने-न-होने अथवा किसप्रकार होने आदिके विधान बनाये थे। उनके निश्चित किये हुए विधान भारतीय जन-समुदायके लिये प्राणपोषक, हितवर्धक, सरलसाध्य और बड़े महत्व या प्रयोजनके हैं। स्नान, ध्यान, दान, पुण्य, पूजा, पाठ, यज्ञ, औषध, उपचार, उपासना या योगसाधन आदि सभी आयोजनोंमें मानव-समाजकी भलाई भरी हुई है। उदाहरणके लिये 'प्राणायाम' को ही लीजिये। इसमें विलक्षण विज्ञानके बहुत-से तत्त्व सन्निविष्ट हैं।

किसी प्रकारके खान-पानकी पाचन-क्रिया प्रारम्भ होते ही शरीरकी प्रत्येक नश-नाड़ी या आँत अपने-अपने काममें संलग्न हो जाती है। और खाद्य-प्रसूत रस, रक्त, मांस, मज्जा और वीर्य आदिका यथा-योग्य और यथाक्रम निश्चय-नियोजन तथा समी-करण आदि करने लग जाती हैं। इसप्रकारकी क्रिया करनेमें उनका एकमात्र सहायक वायु होता है, जो उनको भी सहारा देता है और जीवधारियों-को श्वासरूपसे जीवित भी रखता है। उसका यह काम अहोरात्र होता रहता है, क्षणभरके लिये भी कभी बन्द नहीं होता। कदाचित् बन्द हो जाय तो फिर कोई भी श्वासजीवी प्राणी जीवित नहीं रह सकते। किन्तु प्राणायाम एक ऐसी क्रिया है, जिसके द्वारा वायुका सब काम चाहे जितने समयके लिये

* कहीं-कहीं पौराणिक और वैदिक कथाओंमें नामादि-सम्बन्धी पारस्परिक वैषम्य हो सकता है। यह भेद विवक्षाभेदसे हो सकता है। यथा—किसी महाराजका नाम पुराणमें कुछ और हो और वेदमें कुछ और हो। इस-प्रकारके विसंवादका कारण पुरुष-विशेषके दो प्रचलित नाम हो सकते हैं। एक नाम पुराणमें आ गया, दूसरा नाम वेदोंमें। पुराणवेत्ताओंकी तो सम्मति यह है कि कल्प-भेदसे कथाओंमें—उनके नामादिमें विकल्प है ।—लेखक

बन्द हो जानेपर भी कोई प्राणी प्राणहीन नहीं हो सकता बल्कि प्रत्येक नश-नाड़ी उससे शुद्ध होती हैं और प्राणायाम करनेवाले प्रत्येक प्राणी इच्छानुसार जीवित रह सकते हैं। एक-एक प्राणायामसे अनेक प्रकारके लाभ होते हैं और उनसे मनुष्योंके आयुर्बल, मेधा आदि लोकोत्तर बढ़ जाते हैं। इस लेखमें हम विविध प्रकारके प्राणायामोंकी प्रक्रिया प्रकट करते हैं जो योग-शास्त्रके आधारसे ली गयी हैं। आशा है विज्ञ पाठक इनपर मनन करेंगे।

मुख्यतया तीन प्रकारका प्राणायाम होता है। उसके पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीन नाम हैं। शरीरगत प्राणवायुको प्रत्येक नश-नाड़ीमेंसे आकर्षण करके एक स्थानमें नियुक्त करनेसे 'पूरक' होता है। उसको उसी जगह रोक देनेसे 'कुम्भक' होता है। और फिर उसे निकाल देनेसे 'रेचक' होता है। यह सब क्रिया स्वस्थ होकर सिद्धासनसे बैठकर नासाछिद्रसे वायुका आकर्षण करने, दोनों छिद्रोंको बन्द करके उसे रोकने और दूसरे छिद्रसे निर्गत करनेसे सम्पन्न होती हैं। श्वासके भरनेसे वायु खिंचता है, बन्द करनेसे रुकता है और उसके छोड़ देनेसे निर्गत होता है। ये काम बहुत धीरे-धीरे करनेसे हित होता है और स्वल्पारम्भ ही सबमें श्रेयस्कर कहा गया है। इसी क्रियासे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक प्राणायाम किये जा सकते हैं और उनसे सुख, सुस्वास्थ्य तथा परमानन्दकी प्राप्ति आदि अनेकों लाभ होते हैं। उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

१—लोम-विलोम

चन्द्रस्वर (नासाछिद्रके बायें छेद) से पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे और सूर्यस्वर (नासिकाके दाहिने छिद्र) से धीरे-धीरे रेचक करे। फिर तुरन्त ही सूर्य-नाड़ीसे पूरक करके कुम्भक करे और चन्द्र-नाड़ीसे शनैः-शनैः रेचक करे। इसप्रकार यथाशक्ति अनेक बार करे। सर्वप्रथम इस प्राणायामका करना आवश्यक है। प्रतिदिन इसके २५ बार करनेसे शरीरकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म सब नाड़ियोंका मल भस्म हो जाता है और बहुत देरतक श्वास रोकनेकी शक्ति आ जाती है।

२—सूर्य-भेदन

नासारन्ध्रके दाहिने छिद्रसे वायुको खेंचकर यथाशक्ति कुम्भक करे। फिर बायें छिद्रसे वायुको शनैः-शनैः निकाल दे। इस प्राणायामसे शरीरमें उष्णता बढ़ती है। अतः इसे शीतऋतुमें करना अच्छा है। इसके करनेसे शीर्ष-रोग, कृमि-रोग और चौरासी प्रकारके वायु-विकार समूल नष्ट होते हैं।

३—उज्जाई

नाकके दोनों छिद्रोंसे एक साथ ही पूरक करके कुम्भक करे। फिर चन्द्र-नाड़ी (वामस्वर) से धीरे-धीरे रेचक करे। यह भी उष्णताकारक है। इससे उदररोग, उरःक्षत, जालन्धररोग, क्षयरोग, श्लेष्मरोग और वीर्य-दोष ये समूल नष्ट हो जाते हैं। यह शीतऋतुमें अधिक हितकारी होता है।

४—शीतकारी

नासिकाके दोनों छिद्रोंको बन्द करके 'राजदन्त' (नाककी नोकके नीचेके दो ऊपरवाले और दो नीचेवाले दाँतोंके बीचमें होकर) होठोंसे बाहरकी वायुका पान करे, (उसे कण्ठोंकी तरफ खींचे) और उससे यथाशक्ति कुम्भक करे। फिर दोनों नासाछिद्रोंसे उसे धीरे-धीरे त्याग दे। (त्यागते समय होठ बन्द रक्खे)। यह प्राणायाम शीतल होता है। इसको ग्रीष्मऋतुमें या पित्तप्रकोपमें करनेसे लाभ होता है। इसके करनेसे सब प्रकारके ज्वर, सब प्रकारके पित्तरोग और वायुगोला आदि दूर होते हैं। और अधिक अभ्याससे युवावस्था प्राप्त होती है तथा सौन्दर्य बढ़ जाता है।

५—शीतली

दोनों नासाछिद्रोंको बन्द करके जीभको बाहर निकालकर कौवेकी चोंच अथवा नाली-जैसी बनावे और उसी नालीमें होकर वायुको भीतर खींचकर कुम्भक करे। फिर दोनों ही नासारन्ध्रोंसे उसे धीरे धीरे निकाल दे। इसको भी ग्रीष्मऋतुमें ही करे। इसके करनेसे 'शीतकारी' के सब गुण तो होते ही हैं, उनके सिवा आयुष्य भी अधिक होती है, और किसी प्रकारका विष नही चढ सकता।

६—प्लाविनी

पहले पृथ्वीपर सीधा लेट जावे। फिर पद्मासन लगावे, उसी अवस्थामें दोनों हाथोंको कनपटीके पास ले जाकर सिरके नीचे तकियेकी तरह लगा ले। कुछ दिन इसप्रकार करनेके अनन्तर इसी भाँति जलके अन्दर भी सीधा लेट जावे और पद्मासन लगा लवे। फिर दोनों नासाछिद्रोंसे श्वास खींचकर पूरक करे, और उसे यथाशक्ति रोके रहे। इसी अवस्थामें दोनों हाथोंको कनपटीके पास ले जाकर सिरके नीचे तकियेकी तरह लगा ले। इसप्रकार जितनी देरतक कुम्भक हो सके अर्थात् श्वास रुका रह सके उतनी देरतक ईश्वरके स्वरूपका स्मरण करे, उसको हृदयगम बनावे। और मनमें यह भावना रक्खे कि मैं कमलके समान हलका हो गया हूँ और कमलपत्रकी तरह पानीपर ठहरा हुआ हूँ। (वास्तवमें ऐसा हो भी जाना चाहिये) इस प्राणायामको जितनी देर कर सके, करता रहे। अन्तमें जब रेचक करने लगे, अर्थात् श्वासको छोडने लगे तब नासिकाके दोनों छिद्रोंसे ही धीरे धीरे छोड दे। यह प्राणायाम प्रत्येक ऋतुमें प्रतिदिन किया जाय तो अनेक लाभ होते हैं। यहाँतक कि जलमें स्थिर रहने, सीधा सो जाने, ध्यान करने, या उसपर चलने फिरनेतककी शक्तियोंका अभ्यास हो जाता है।

७—मूर्छा

पद्मासन लगाकर जालन्धर बन्ध (जिसमें कण्ठ संकुचित करके दृष्टिको भँवरोंके बीचमें लगा दी जाती है) कायम रक्खे। पीछे दोनों हाथोंके दोनों अँगूठे दोनों कानोंमें, दोनों तर्जनी दोनों आँखोंमें, दोनों मध्यमा दोनों नासाछिद्रोंमें और दोनों अनामिका तथा कनिष्ठिका मुँहपर लगावे। फिर चन्द्र-नाडीसे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे। और जालन्धर बन्ध रहते हुए ही सूर्य-नाडीसे रेचक करे। इस प्राणायामसे चित्तकी एकाग्रता बढती है और समाधिका अभ्यास होता है।

८—कपालभाती

दोनों नासाछिद्रोंसे वायुको जल्दी जल्दी दस बार खींचकर ग्यारहवीं बार पूरक करे, अर्थात् उसे भर लेवे। और कुम्भक करके दोनों छिद्रोंसे ही रेचक करे। इस प्राणायामसे दोनों फेंफडे सुदृढ होते हैं और जीवनशक्ति बढती है।

९—भस्त्रिका

इसमें सूर्यस्वरसे चन्द्रस्वरकी तरफ दस बार घर्षण करके ग्यारहवीं बार सूर्यसे पूरक करे। और यथाशक्ति कुम्भक करके चन्द्रस्वरसे धीरे धीरे रेचक करे। फिर इसी प्रकार इस विधिके विपरीत करे। यह प्राणायाम समशीतोष्ण है। इसलिये प्रत्येक ऋतुमें किया जा सकता है। इससे सदैव स्वस्थ रह सकते हैं।

उपर्युक्त सब प्राणायामोंका एक बार ही अभ्यास न करे। थोडे-थोडे दिनों या एक एक ऋतुतक यथाक्रम एक एकको करे और देखे कि किस

प्राणायामसे क्या-क्या लाभ होते हैं और शरीरके भीतरके व्यापारमें क्या-क्या न्यूनाधिक्य या अन्तर होता है। विश्वास है कि कुछ कालके निरन्तर अभ्याससे इस विषयमें बहुत कुछ सफलता मिलेगी और लिखी हुई बातें यथार्थ मालूम देंगी। *

भेंट

जब रात्रिमें झंझा बहता है और वायु चीखती है,
वृक्ष उठती-पड़ती नौकाकी पतवार-से कराहते हैं,
तो मैं डरकर जागती हूँ और तुम्हारे लिये हाथ
बढ़ाती हूँ;
मेरे ओठोंपर तुम्हारा नाम होता है।
हृदय-सह्य पीड़ाओंमें कोई भी पीड़ा ऐसी नहीं
पीड़ित शून्यमें, विस्मृत होकर, पुकारना;
विश्वस्त हाथ बढ़ाना और तुम्हारे बदले केवल
शून्य स्थान पाना।
यह तो उन क्षणोंका, जब मैं तुम्हें भूल जाती हूँ,
पर्याप्त प्रायश्चित्त होना चाहिये।
तब मेरी भेंट लो—निर्मल और तीव्र और मधुर,
धुँधली स्मृतिके युगोंसे कहीं अधिक प्रकाशान्वित
एक कसक।
मैं इसे तुम्हारे श्रीचरणोंमें रखती हूँ।†

अनु०—बालकृष्ण बलदुवा

* प्राणायामके साधनमें अभ्यास करनेवालोंको बड़ी सावधानीके साथ सब प्रकारसे नियमित जीवन बिताना चाहिये तथा नियमितरूपसे ही प्राणायाम करना चाहिये। यह सरल प्राणायामकी बात है। जिनको इसमें अधिक अभ्यास करना हो उनको अनुभवी गुरुकी सन्निधिमें रहकर ही अभ्यास करना चाहिये। नहीं तो अज्ञानतासे उलटा परिणाम भी हो सकता है। —सम्पादक

† अमेरिकन कवयित्री एलाइन किलमर (Aline kilmer) की एक कविता।

गोपाल ग्वाला

मधुवन है और है हरिप्रिया कालिन्दीका कलित किनारा।

तीसरे पहरका समय है। स्वच्छ नीले आकाशपर जवानी-ढला सूर्य फीकी चमक चमक रहा है।

कदम्ब-वृक्षकी सुखद छायामें गोपाल-कृष्ण आसीन हैं; परन्तु निचले नहीं। अधरोंपर मिश्री-घुली मुसकान विराज रही है। मुसकानपर खेल रहा है चाञ्चल्य-शिशु। भला मीठेपर बच्चा कैसे न रीझे?

गोपालके समीप ही सखा-समूह आसन जमाये हुए हैं। आस-पास गायें चर रही हैं। कोई दूध-सी धौरी है, कोई पीताम्बर-सी पीली, कोई अलकों-सी काली, कोई श्याम-सी श्यामा और कोई अनेक संकल्पोंवाले चित्त-सी चितकबरी।

सामने दूर एक पेड़के पिछवाड़े मोर नाच रहा है। उधर हरी-हरी लताओंके झुरमुटमें छोटे-छोटे मृग-छौने उछलते-कूदते खेल रहे हैं।

× × ×

बाँसुरी! गोपालकी बाँसुरी!!

अहा! कितनी भाग्यशालिनी है बावरे साँवरेकी सुरीली-रसीली बाँसुरी, जिसे स्वयं साँवलिया नित्य अपने सुधाको सुधा देनेवाले मधुर अधर चुमाते हैं।

चुलबुली उठी दीवाने गोपालके दिलमें, बाँसुरी निकल आयी बगलमेंसे, लपकी और चट चढ़ बैठी अधरोंपर—उन्हीं मधुर अधरोंपर जिनके रसास्वादनके लिये साक्षात् रसमयी सदा विरस रहती हैं—तरसती हैं।

मोहनकी मुरली बज उठी, मधुर-धीर-ललित स्वरमें।

× × ×

बावरी वंशीकी मुनि-मन-मोहिनी अलबेली तान समस्त वायुमण्डलमें व्याप्त हो गयी।

यमुनाकी चाल रुक गयी। वृक्षोंपर चहकते पक्षियोंने चहकना भूलकर चकित-चित्तसे श्रवणेन्द्रियोंको सुरमें लगा दिया। मृग-छौनोंकी उछल-कूद समाप्त हो गयी। मोर नाचना भूल गया।

गायोंने चरना छोड़ दिया। मुखका तृण मुखमें लिये ही वे गोपालकी तरफ दौड़ी चली आयीं और एकटक लगीं निहारने उनके मस्ताने मुखकी ओर! स्तन पीते बछड़ोंने माताओंके स्तनोंसे मुख हटा लिया, वे दूध पीना भूल गये। सभी वंशी-सुधा पान करनेमें तन्मय हो गये।

वंशी बजाते, मन्द-मन्द मुसकाते, गोपाल गाँवकी ओर चल दिये। सबने उनका अनुसरण किया।

× × ×

सन्ध्या हो चली है, पश्चिममें गोधूलि पिता सूर्यसे बहिन उषाका कुशल-मंगल पूछ रही है।

वंशीका अमृत-नाद सुन भाग्यवती गोपियाँ अपने-अपने घरोंसे निकल-निकल द्वारोंपर आकर खड़ी हो गयीं और सैनसे एक दूसरीसे कहने लगीं—'नेकु देख री वीर! गैयनको मतवारी करिबेवारो, नन्दको दुलारो कारो साँवरो कैसे झूमतो-झूमतो आय रह्यो है।'

मुसकराते हुए, काले गोपाल ग्वालने चित्तको चुरानेवाली, प्रेमभरी एक तिरछी दृष्टि गोपियोंके मुग्ध मुखड़ोंपर डाल दी। वे निहाल हो गयीं। मुक्तिने चुपकेसे गोपालसे कहा—सबको मुक्ति करते हो, क्या मेरी मुक्ति नहीं करोगे—

मुक्ति कहै गोपालसों मेरी मुक्ति कराय।

गोपालने उत्तरमें कहा—

व्रज-रज उड़ि मस्तक चढ़े मुक्ति मुक्त ह्वै जाय॥

व्रजमें मुक्ति मुक्त हो गयी! यह रहस्य किसीने नहीं जाना। अहा! कैसे सुन्दर थे वे दिन और कैसे थे वे मनोहर दृश्य! और आज.................

'हरि'

भक्त-गाथा

भक्त श्रीदीनबन्धुदास और उसका कुटुम्ब



प्रसिद्ध अवन्तिकापुरीमें भक्तवर दीनबन्धुदासका जन्म उत्तम ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। उनके कुटुम्बमें पतिव्रता ब्राह्मणी मालती, दो पुत्र, एक पुत्रवधू—ये चार व्यक्ति और थे। पाँचों ही मानो पूर्वजन्मके कोई योग-भ्रष्ट, भगवद्भक्त, वैराग्यवान् तपस्वी जीव थे। इनमें परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। एक दूसरेकी सेवा करने और परस्पर सुख पहुँचानेके लिये सब-के-सब सदा तैयार रहते थे। लोगोंके देखनेमें इनमें परस्पर बड़ा मोह प्रतीत होता था परन्तु वास्तवमें ये सब वैराग्यकी मूर्ति थे। श्रीहरिके चरण-कमलोंमें सर्वस्व समर्पण करके निरन्तर प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करना इनके जीवन-का व्रत था। श्रीहरिकी कथापर इनकी बड़ी प्रीति थी। ये अपना अधिक समय सन्त-समागम और सन्त-सेवामें ही बिताते थे। दूसरोंका भला करना, प्रत्येक जीवको सुख पहुँचाना—इनका नित्यका कार्य था। इनके हाथ सन्तोंकी चरण-सेवा और दुखी-दरिद्र नर-नारियोंको अन्न-वस्त्र देने और उनकी शुश्रूषा करनेमें सदा लगे रहते थे। अतिथि-सेवाको तो ये अपना प्रधान धर्म मानते थे। इनके घरसे कभी कोई अतिथि निराश नहीं लौटा। 'अतिथि-सेवा गृहस्थका परम धर्म है और अतिथि यदि निराश लौट जाता है तो वह अपने सारे पाप गृहस्थके घर छोड़ जाता है।' शास्त्रके इस वचनपर इनकी दृढ़ श्रद्धा थी। अतएव इनके घर अतिथिका भलीभाँति आदर-सत्कार होता था। यदि किसी अतिथिकी मनोकामना पूर्ण करनेमें ये नितान्त ही असमर्थ होते तो मधुर वचनोंसे उसे सन्तोष करवाके लौटाते थे। तिरस्कार करके या साफ इन्कार करके कभी किसी अतिथिका मन नहीं दुखाते थे।

भक्त दीनबन्धुदासके इस धार्मिक जीवनकी ख्याति देशभरमें फैल गयी। प्रकृतिकी सीमाको लाँघकर भगवान्के अप्राकृत राज्यमें तो यह समाचार कभीका पहुँच चुका था। बात भी ठीक है। मनुष्यके हृदय-की ऐसी कौन-सी छिपी हुई स्थिति है जिसको अन्तर्यामी प्रभु न जानते हों? इसके अतिरिक्त अतिथियोंमें भी न मालूम कब, कौन, किस देशके महापुरुष किस वेशमें आ जाते हैं जो हमारे गुण-दोषोंकी परीक्षाकर उनका समाचार प्रभुतक पहुँचाते रहते हैं। पता नहीं कब अप्राकृत राज्यका कोई अतिथि हमारे द्वारपर आ जाय, अतएव गृहस्थको अतिथि-सेवाके लिये सर्वदा और सर्वथा तैयार रहना चाहिये और इसमें अपना सौभाग्य मानना चाहिये।

संसारमें जैसे विषयी मनुष्य धन, पुत्र और मानादि पानेके लिये व्याकुल रहता है, उसी प्रकार दिव्यधाम-में भगवान् भी एक बातके लिये बड़े व्याकुल हो जाया करते हैं और उस व्याकुलताके सामने विषयी मनुष्यों-की व्याकुलता समुद्रके सामने एक परमाणुके समान भी नहीं होती। भगवान् जब यह जान पाते हैं कि अमुक जीव मुझसे मिलनेके लिये व्याकुल है तो वे इतने व्याकुल हो जाते हैं कि फिर उन्हें अति शीघ्र उस भक्तको दर्शन देनेके अतिरिक्त और कोई बात याद नहीं रहती। वे किसी चीजकी बाट न देखकर तुरन्त उसे कृतार्थ करनेके लिये वहाँ जा पहुँचते हैं। गजराजको बचानेके लिये इसी व्याकुलताके कारण भगवान् गरुड़ छोड़कर हठात् वहाँ प्रकट हो गये थे। आज वही अखिल विश्वके स्वामी दीनबन्धु प्रभु

अपने सेवक दीनबन्धुदासको कृतार्थ करनेके लिये अवन्तिका-नगरीमें आ पहुँचे, और भक्तकी महिमा बढ़ानेके लिये उसकी अतिथिपरायणताकी परीक्षाके बहाने उन्होंने एक नयी लीला रच डाली। भगवान्‌की प्रेरणासे एक तीव्र विषधर सर्पने दीनबन्धुदासके घर पहुँचकर उसके बड़े बेटेको डस लिया। देखते-ही-देखते उसके सारे शरीरमें जहर फैल गया और कुछ देर छटपटानेके बाद वह भगवान्‌के धाममें जा पहुँचा। पुत्रकी अकालमृत्युसे दीनबन्धु और उनकी पत्नीको बड़ा दुःख हुआ। पतिव्रता पुत्रवधूके दुःखका तो कहना ही क्या था? बड़े भाईकी मृत्युसे छोटे भाईको भी दुःख था परन्तु इनका यह दुःख वास्तविक था या जगन्नाटकका अभिनय—इसका पता पाठकोंको आगे चलकर लगेगा।

इसी समय अवन्तिका-नगरीके राजमार्गपर एक तेजपुञ्ज संन्यासी लोगोंको दिखायी दिये। उनके एक हाथमें दण्ड और दूसरेमें कमण्डलु था। वदनपर सुन्दर गेरुआ वस्त्र था। चेहरा अत्यन्त शान्त, गम्भीर और तेजस्वी था। देखते ही भक्तिभावसे लोगोंके मस्तक झुक जाते थे। संन्यासीजी शहरके लोगोंसे पूछते-पूछते दीनबन्धुदासके द्वारपर आकर उन्हें पुकारने लगे। घरमें उस समय कोलाहल मचा हुआ था। परन्तु संन्यासीकी पुकार सुनते ही सब चुप हो गये। दीनबन्धु अपना मुँह धो-पोंछकर बाहर आये और संन्यासीकी तेजपुञ्ज मूर्ति देखते ही आनन्दविह्वल हो गये। तदनन्तर दोनों हाथ जोड़कर नम्रतासे बोले—'देव! पधारिये, इस अधमके योग्य जो आज्ञा हो निःसंकोच कहिये।'

संन्यासीने गम्भीर स्वरसे कहा—'भाई, दीनबन्धु! मैंने सुना है कि तुम अतिथियोंका बड़ा ही आदर-सत्कार करते हो और दीन-हीन-दुखी नर-नारियोंको यथायोग्य अन्न-वस्त्र, आश्रय और आश्वासन देकर सुखी करते हो। मैं बहुत भूखा हूँ। मुझे अभी इसी क्षण भिक्षा देकर सुखी करो।'

संन्यासीकी बात सुनकर दीनबन्धुदासने भक्ति-भरे हृदयसे प्रणाम करके कहा—'महाराज! आप इस आसनपर विराजिये, मैं अभी आता हूँ।'

इतना कहकर संन्यासीको आसनपर बैठाकर दीनबन्धु घरके भीतर गये और स्त्री-पुत्रादिसे बोले—'देखो, बाहर एक क्षुधातुर संन्यासी खड़े हैं और वे अभी भिक्षा चाहते हैं। इधर पुत्रका मृत देह घरमें पड़ा है, अब क्या करना चाहिये। ऐसे विकट समयमें हमलोग किसप्रकार अतिथि-सेवा कर सकेंगे? तुमलोगोंकी क्या सम्मति है?'

दीनबन्धुदासकी बात सुनकर पत्नी मालती, पुत्रवधू और छोटे पुत्र तीनोंने एक ही स्वरसे कहा—'मरा हुआ प्राणी तो वापस लौट नहीं सकता। अतिथि घरसे विमुख लौट जायगा तो बड़ा अधर्म होगा। न मालूम अतिथिके रूपमें कौन आये हैं। अतएव पहले, जैसे भी हो, अतिथि-सत्कार करना चाहिये। इसके बाद मृत देहका संस्कार किया जायगा।'

घरके सब लोगोंका मत अपने अनुकूल पाकर दीनबन्धुदास बहुत ही प्रसन्न हुए और ऐसे प्रभु-भक्त धर्मनिष्ठ कुटुम्बीजनोंकी प्राप्तिमें अपना सौभाग्य समझकर भगवान्‌को धन्यवाद देने लगे। तदनन्तर सर्वसम्मतिसे पुत्रका मृत देह एक मजबूत कपड़ेमें बाँधकर उन्होंने एक कोठरीमें रख दिया और सब लोगोंने स्नानादि करके अतिथि-सत्कारकी तैयारी की। सास-बहूने मिलकर बड़े प्रेमसे रसोई बनायी। दीनबन्धुदास रसोई तैयार होते ही आसन बिछाकर संन्यासीको अन्दर बुला लाये और हाथ धुलाकर भोजन परोसने लगे।

थाल परोसनेके बाद दीनबन्धुदासने संन्यासी महाराजसे विनयपूर्वक भोजन करनेके लिये प्रार्थना की। उत्तरमें संन्यासीजी बोले—'भाई दीनबन्धु! तुमने तो सिर्फ मेरे ही लिये भोजन परोसा है। मैं किसी भी गृहस्थके घर कभी अकेला भोजन नहीं किया करता। घरमें जितने मनुष्य होते हैं, सबको साथ बैठाकर भोजन किया करता हूँ। इसलिये तुमलोग सब मेरे साथ भोजन करो, यदि ऐसा नहीं कर सकते तो मैं भोजन नहीं करूँगा।'

संन्यासीकी बात सुनकर सभी विचारमें पड़ गये और एक दूसरेकी ओर ताकने लगे। सबने अपने-अपने मनमें विचार किया—'यदि हम भोजन करने नहीं बैठेंगे तो संन्यासी बिना कुछ खाये चले जायँगे, यह हमारे लिये बड़े ही अधर्मकी बात होगी, अतएव चुपचाप इनके साथ बैठकर दो-चार कौर खा लेना ही उचित है।'

सबकी एक सम्मति जानकर चार थालियाँ और परोस दी गयीं और चारों ही जने भोजन करने बैठ गये। परन्तु संन्यासीजीने फिर भी कौर नहीं उठाया। कुछ देर बाद मौन भंग करके संन्यासीने कहा—'भाई दीनबन्धुदास! मैंने लोगोंसे सुना था कि तुम्हारे घरमें तुम्हारी पत्नी, दो पुत्र और एक पुत्रवधूसमेत तुम सब पाँच आदमी हो परन्तु मेरे साथ तो तुम चार ही बैठे हो। तुम्हारा एक पुत्र कहाँ गया? मैं अपने नियमके अनुसार उसके आये बिना भोजन नहीं कर सकता।'

संन्यासीकी इस बातको सुनते ही सबके होश उड़ गये। बोलनेकी शक्ति नहीं रही। अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे सब संन्यासीकी ओर ऐसे देखने लगे, मानो उन्होंने संन्यासीका कोई भारी अपराध किया हो। दीनबन्धु-दासके सारे कुटुम्बकी ऐसी दशा देखकर संन्यासीजीने गम्भीरतासे कहा—'अरे भाई! इतना डर किस बातका है? तुमलोग ऐसे दुखी क्यों हो गये? साहस करो, और जो बात हो, सच-सच कह दो। बताओ, तुम्हारा पुत्र कहाँ है?'

संन्यासीकी बात सुनकर चारों ही उनके चरणोंमें लुट पड़े। तदनन्तर दीनबन्धुदासने धीरेसे कहा—'महाराज! मैं सच्ची बात आपके सामने कहता हूँ, आप हम अधर्मोंपर क्रोध न करें। जिस समय आप यहाँ पधारे, उसके कुछ ही मिनट पूर्व साँप काटनेसे मेरे पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी। हमलोग उसके दाह-संस्कारकी तैयारी करनेको थे, इतनेहीमें आप पधार गये। आप अत्यन्त भूखे हैं, यह जानकर हमलोगोंने पहले आपको भिक्षा करवाना ही निश्चय किया। तदनुसार पुत्रकी लाश अलग रख दी गयी और स्नान करके रसोई बनायी गयी। अब आपकी जैसी आज्ञा हो।'

संन्यासीने आश्चर्यचकित-से होकर कहा—'अरे, तुम क्या सच कहते हो, मुझे तो इस बातपर विश्वास नहीं होता। पुत्र और पतिके मृत देहको छोड़कर कौन पिता-माता और स्त्री अतिथि-सत्कारके लिये तैयार हो सकते हैं? मुझे दिखलाओ, तुम्हारे पुत्रका मृतदेह कहाँ है?'

अब दीनबन्धु क्या करता! पुत्रके मृत देहकी गँठड़ी वहाँ उठा लाया और चादर खोलकर वहीं शोकाकुल हो खड़ा रह गया। संन्यासी तो लाशको देखते ही उठकर खड़े हो गये और क्रोधमें भरकर लाल-लाल आँखें निकालते हुए बोले—'अरे दीनबन्धु! तू कैसा नृशंस है? तुझे कौन ज्ञानी कहता है? मैं तो समझता हूँ तू अत्यन्त ही दुष्ट-प्रकृतिका निर्दय मनुष्य है। पुत्रकी लाश घरमें पड़ी रहे और पिता आनन्दपूर्वक किसीके साथ भोजन करने बैठ जाय, ऐसे निर्दय, कठिन-हृदय और पापी पिताको क्या कहा जाय?'

संन्यासीके वचन सुनकर दीनबन्धुदासने कहा—'महाराज, आपका कथन सत्य हो सकता है, परन्तु आप ही बतलाइये, संसारमें कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है ? यह तो राहकी धर्मशाला है, जगह-जगहके यात्री आकर ठहरते हैं और अपना-अपना समय पूरा होते ही आगेकी यात्राके लिये चल देते हैं । कोई पहले जाता है, कोई पीछे। अथवा यों समझिये कि यह संसार एक आमके पेड़के समान है । यथासमय इसमें मौर लगते हैं, फिर सूखकर गिर जाते हैं । उनमेंसे कुछमें नन्हें-नन्हें-से फल लगते हैं, उन फलोंमें कुछ तो बड़े होते हैं और कुछ थोड़े ही दिनोंमें नष्ट हो जाते हैं । जो आम बड़े होते हैं और पकते हैं, वे भी काल पाकर गिर पड़ते हैं या मनुष्योंके उपभोगमें आनेके लिये तोड़ लिये जाते हैं । इसप्रकार छोटे-बड़े, कच्चे-पक्के सभी फलोंका अन्तमें विनाश होता है । इसी तरह इस संसारमें बालक-युवा, स्त्री-पुरुष कोई भी हों, कालचक्रसे किसीको छुटकारा नहीं मिलता । राजा-रंक सभीके सिरपर कालचक्र घूमता रहता है और आगे-पीछे सभीको एक दिन मरना ही पड़ता है । मेरे पुत्रके इस जीवनके दिन पूरे हो गये होंगे, इससे वह परब्रह्म परमात्माके धाममें चला गया । जब हमलोगोंके दिन पूरे होंगे, तब हम भी चले जायँगे । व्यर्थ शोक करनेमें क्या लाभ है ? अवश्य ही संसारके व्यवहारके अनुसार हमलोगोंका भोजन करने बैठना अनुचित था, परन्तु आपको भूखा लौटा देनेमें अधर्म समझकर ही हमने ऐसा किया । अतएव महाराज ! आप शान्त होइये । भगवान्‌ने गीतामें यही कहा है कि जो मरे हुए और अवश्य मरनेवाले प्राणियोंके लिये शोक नहीं करता, वही पण्डित है ।'

दीनबन्धुदासका उत्तर सुनकर सन्यासीजी मन-ही-मन हँसने लगे पर उन्होंने प्रकटमें कुछ भी उत्तर नहीं दिया—फिर दीनबन्धुकी स्त्री मालतीसे वे कहने लगे—'अरे, तेरा हृदय भी कितना कठोर है ? तू तो माता है । माताका तो पुत्रपर ही बड़ा ही स्नेह हुआ करता है, यह स्वाभाविक नियम है । इतनेपर भी तुझे पुत्रके मरणका कोई शोक नहीं हुआ, यह कितनी भारी कठोरता है ?'

मालतीने संन्यासीजीको प्रणाम करके नम्रतासे कहा—'पिताजी ! आप ज्ञानी हैं, मैं आपसे क्या कहूँ ! परन्तु जब आप पूछते ही हैं तो मेरे मनके भाव आपके सामने प्रकट करती हूँ । जबतक पुत्र जीवित था, तबतक इस शरीरके सम्बन्धके नाते मैं उसे अत्यन्त प्यार करती थी । वह मेरे हृदयका टुकड़ा था परन्तु अब मरनेपर उससे मेरा वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं रह गया । जन्म-मृत्यु शरीरका धर्म है । जो जन्मेगा वह जरूर मरेगा । फिर, संसारके सम्बन्धका आरोप सच्चा समझकर हम क्यों शोक करें ? कुम्हार अपने चाकपर मिट्टीका लौंधा रखकर भाँति-भाँतिके बरतन बनाता है, तरह-तरहके घाट गढ़ता है । इसी प्रकार संसारकी मायाका खेल है । माया अनेक प्रकारकी रचना कर रही है । कुम्हारके चाकसे कुछ बर्तन ठीक उतरते हैं कुछ उसी समय नष्ट हो जाते हैं; जो बचते हैं उनमें कितने ही आवेमें टूट-फूट जाते हैं, परन्तु कुम्हार उनके लिये कोई शोक नहीं करता; फिर मुझको ही पुत्रके लिये क्यों शोक करना चाहिये ? इस असार संसारमें सब कुछ स्वप्नवत् है । यहाँ नित्य सम्बन्ध किसका है ? पखेरुओंके समूहके समान रातको पेड़पर सब इकट्ठे होते हैं, सबेरा होते ही सब अपनी-अपनी दिशाको उड़ जाते हैं; इसी प्रकार मनुष्यकी दशा है । यहाँ एक दूसरेका जो सम्बन्ध दिखायी देता है, सो सब मायाकी लीला है । अतएव मुझे कुछ भी शोक नहीं है । शोक तो मनुष्यके मनको प्रभु-भक्तिसे दूर हटाता है, जिसका मन भगवान्‌में लगा है, जिसके मनमें आनन्दमय भगवान् बसते हैं, उसको शोक क्यों होने लगा ?'

दीनबन्धुकी पत्नी मालतीकी बातें सुनकर संन्यासीजीको बहुत ही सन्तोष हुआ । इसके बाद उन्होंने दीनबन्धुदासके छोटे पुत्रको बुलाकर उससे कहा, 'अरे भाई ! माल्रम होता है तू तो बड़े ही कठिन कलेजेका है, या तेरे मनमें कोई कुभावना भरी है । तुलसीदासजीने कहा है-'*मिलहिं न जगत सहोदर भ्राता*' तू आज उस सहोदर भाईके मरणपर तनिक भी शोक नहीं करता । सच है, आजकल दुनियामें भाईका भाई कौन होता है, सब स्वार्थके सगे हैं, परन्तु तू भोजन करनेके लिये बैठ गया, तुझे जरा भी शरम नहीं आयी ? तेरे-जैसा अज्ञानी, मूर्ख, निर्दय और पापी जगत्में और कौन होगा ?'

बालकने हाथ जोड़कर कहा 'स्वामिन् ! मैं नन्हा-सा बच्चा आपको क्या जवाब दूँ ? वास्तवमें जगत्की दृष्टिसे आप मुझपर चाहे सो दोषारोपण कर सकते हैं और सन्देह स्थापन कर सकते हैं। पर आप तो ज्ञानी हैं, क्या आप कह सकते हैं कि जगत्का यह सम्बन्ध सत्य है ? आज जो बड़ा भाई है, पता नहीं वह कितनी बार छोटा भाई बना होगा । फिर यह तो इसी जीवनका नाता है न ? जन्मसे पहले भी कोई नाता नहीं था और उनके बाद भी कोई नाता नहीं रहता । बीचका नाता होता है और वह मृत्युके साथ ही समाप्त हो जाता है । इस मायाके संसारमें सिवा एक श्रीपरमात्माके और सत्य तत्त्व ही क्या है ? यह तो मानो एक हाट है, जैसे हाटमें अनेक जगहसे व्यापारी लोग माल वेचने आते हैं और किसीके साथ यथार्थमें कुछ भी सम्बन्ध न होनेपर भी सगे भाईके समान सम्बन्ध स्थापितकर परस्पर मिल-जुलकर रहते और हँस-खेलकर अपना व्यापार करते हैं, परन्तु जब अपना माल बिक जाता है या हाट बन्द हो जाती है, तब कोई भी किसीकी परवा न कर अपनी-अपनी राह चले जाते हैं, वैसे ही इस संसाररूपी हाटकी दशा है । अपना-अपना कर्म भोगनेको जीव आते हैं, यहाँ आकर तरह-तरहके सम्बन्धोंका आरोप कर लेते हैं और कर्म-भोग पूरे होते ही चले जाते हैं । मेरे भाईके कर्म पूरे हो गये थे, इससे वह चला गया, मेरे कर्मभोग पूरे होते ही मैं भी चला जाऊँगा । जिस व्यापारीका माल नहीं बिकता, भला वह अपनेसे पहले माल वेचकर जानेवाले व्यापारीके साथ हाटसे कैसे चला जायगा ? इसी प्रकार मरनेवालेके साथ कोई नहीं मरता । यदि मैं कुछ अनुचित कहता हूँ तो आप मुझे क्षमा करें और उचित बोध देकर कृतार्थ करें ।

ब्राह्मण-कुमारके वचन सुनकर संन्यासीको बड़ा आनन्द हुआ और वे मन-ही-मन उसकी बुद्धि और विवेककी प्रशंसा करने लगे । विवेकवान् पुरुष किस-प्रकारसे सांसारिक दुःखोंसे दुःखको प्राप्त नहीं होता, इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण पाकर वे प्रसन्न हो गये । अब दीनबन्धुदासकी पुत्रवधू—मृत पुरुषकी धर्मपत्नी—की परीक्षा शेष रह गयी । उसे पास बुलाकर संन्यासीजी कहने लगे—'बेटी ! तेरा वर्ताव तो बहुत ही दुःखदायक है । संसारमें स्त्रीके लिये पति ही सर्वस्व है, पति बिना स्त्रीका जीवन निरर्थक है, पतिहीना नारीके समान दुखी प्राणी संसारमें कोई नहीं है, परन्तु अच्छे वंशकी लड़की होनेपर भी तेरे आचरण ऐसे निन्दनीय क्योंकर हो गये ? आज तेरी आँखोंमें एक भी आँसू नहीं देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है । क्या तुझे पतिकी मृत्युका तनिक भी शोक नहीं है ? अरे, और तो हुआ सो हुआ, तुझसे पतिका मुर्दा घरमें पड़ा रहते खानेके लिये पत्तल परसाते भी लज्जा नहीं आयी ? तुझे धिक्कार है !'

संन्यासीके वचन सुनकर धर्मपरायणा विधवाने कहा—'बापजी ! आपका कहना बिल्कुल सत्य है, स्त्रीके लिये पति ही सर्वस्व है, परन्तु यह तो वत-

लाइये, संसारमें (प्रकृतिस्थ) प्रकृतिमें फँसे हुए जीवका सच्चा पति कौन है ? क्या एक परमात्माके सिवा हम सबका कोई और भी स्वामी है ? उसी सच्चे एकमात्र स्वामीकी प्राप्तिके लिये ही तो स्त्री अपने लौकिक पतिको परमेश्वर समझकर परमेश्वराकार-वृत्ति होनेके लिये उसकी सेवा करती है। जब उस परमात्माने अपने प्रतिनिधिरूप पतिको सेवाके लिये मुझे सौंपा था और जबतक उनका मेरे पास रहनेका भगवान्‌का विधान था, तबतक उनकी तन-मनसे सेवा करना मेरा धर्म था और मैं अबतक वही यथासाध्य करती भी रही। अब जब उन्होंने अपनी चीजको वापस लेकर मुझे अपनी सीधी सेवाका कार्य सौंप दिया, तब बताइये, मैं शोक क्यों करू ? मुझे तो किसी भी तरह उन प्रभुकी सेवामें नियुक्त रहना है, वे चाहे जैसे सेवा लें। जो आनन्द मनुष्यको विषयकी प्राप्तिमें होना चाहिये वही उसके विनाशमें भी होना चाहिये। क्योंकि विषय तो कहीं किसी दूसरेके पास आता-जाता नहीं। परमात्माकी चीज परमात्माकी इच्छासे परमात्माकी ही सृष्टिमें घूमा करती है। जब दूसरा कोई स्थान ही नहीं, तब कोई उससे बाहर कहाँ जा सकता है ? एक ही मालिककी अनेक जगह दूकानें हैं, उनमें कहीं किसी दूकानमें मालकी जरूरत हो और दूसरी दूकानसे मालिक उसे मँगवा लें तो उस दूकानका कार्यकर्ता मुनीम इसके लिये शोक क्यों करे ? माल रहेगा मालिककी दूकानमें ही, इसमें नहीं, उसमें सही। मुझे जो सुख पतिरूप परमात्माकी सेवा करनेका सधवापनमें था, वही आज पतियोंके पति परमात्माकी सेवा करनेका अवसर पाकर इस वैधव्यमें है। दूसरे—आप जानते हैं यह संसार नाटक है। जबतक अभिनयकर्ता नट स्टेजपर हैं तबतक अपने-अपने स्वांगके अनुसार अभिनय करते हैं, भाँति-भाँतिके सम्बन्ध स्थापितकर उसीके अनुसार बर्तते हैं, परन्तु वास्तवमें उनका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता, सभी उस नाटकके सूत्रधारके इशारेपर नाचनेवाले नट हैं, इसी प्रकार हमलोगोंमेंसे जिसको जो स्वांग मिला है, उसीके अनुसार हमें वर्तना है। अबतक सधवापनका स्वांग था, अब वैधव्यका मिल गया ! इसमें आपत्ति ही कौन-सी है ? रिझाना तो अभिनय करके उस सर्व विश्वके स्वामी प्रभु परमात्माको है, स्वांग कोई-सा भी हो।

इसके सिवा एक बात और है, जबतक मनुष्य विषयोंमें फँसा रहता है तबतक वह भगवान्‌का यथार्थ भजन—जो मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य है—नहीं कर पाता। इसीलिये लोग घर त्यागकर संन्यासी हुआ करते हैं जिसमें वे सब कुछ छोड़कर भगवान्‌का प्रेमपूर्वक भजन कर सकें। वैधव्य तो सन्यास है, जो भगवान्‌ने कृपापूर्वक अपना भजन करनेके लिये मुझे दिया है ! मैं इसमें शोक क्यों करूँ ? जिन विषयोंका त्याग करना पड़ता है उनका त्याग अनायास ही हो गया, यह तो एक प्रकारसे परमार्थ-दृष्टिसे सौभाग्यकी ही बात है !

हे महाराज ! यह संसार उस लीलामय हरिका लीलाक्षेत्र है, इसमें श्रीहरि अनेक प्रकारके खेल खेलते हैं। किसीको हँसाते हैं, किसीको रुलाते हैं, किन्हींको परस्पर मिला देते हैं, किन्हींको बिछुड़ा देते हैं। किसीको सुखी करते हैं, किसीको दुखी करते हैं। यह सब उस प्रभुकी लीला है। प्रभुकी लीलाको देख-देखकर प्रसन्न होनेवाला मनुष्य उसकी किसी एक लीलाको देखकर शोक क्यों करे ?

फिर लौकिक दृष्टिसे भी तो रोना उचित नहीं है। जो स्त्री पतिके मरनेपर बहुत अधिक रोती-पीटती है, उसका पति परलोकमें मोहवश ज्यादा दुखी होता है। मुझे तो पतिदेवने सदा आनन्दमें रहनेकी ही शिक्षा दी थी। इसके सिवा यदि मैं अभी रोनेको बैठ जाती तो मेरे पतिके पूजनीय पिताका अतिथि-सेवा-धर्म नष्ट होता,

इसलिये भी मुझे शोक करना उचित नहीं था। खानेको तो हमलोग केवल आपके लिये ही बैठे थे, यह बात मेरे पूज्य श्वसुरजी आपसे कह ही चुके हैं।

हे पिताजी! भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है, आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, नित्य, शाश्वत, पुराण है, वह तो कभी मरता नहीं, शरीर नाशवान् है ही, फिर इसके लिये शोक क्यों किया जाय?—इसमें मैंने कोई अनुचित बात कही हो तो आप कृपापूर्वक मुझे अपनी दीना पुत्री जानकर समझानेकी दया करें।'

मृत ब्राह्मणकुमारकी पत्नीके मुखसे ऐसे भक्ति और विवेकमय वचनोंको सुनकर संन्यासी महाराजके आनन्दका पार नहीं रहा। वे मन-ही-मन कहने लगे 'अहो! धन्य है इन चारों जीवोंको! ऐसे ही भक्त मेरी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं और संसारके लिये शोभारूप हैं।' तदनन्तर संन्यासीजीने कमण्डलुमेंसे थोड़ा-सा गङ्गाजल निकाला और एक तुलसीका पत्ता मृत देहके मुखपर रखकर जल छिड़कते हुए कहा 'बेटा! उठो, जल्दी उठो।'

देखते-ही-देखते मृत शरीरमें जीवनी शक्तिका पुनः सञ्चार हो आया, ब्राह्मणकुमार नींदसे उठते हुएकी भाँति अङ्गड़ाई लेता हुआ उठ बैठा और अपने सामने अपूर्व तेजपुञ्ज संन्यासीमूर्तिको देखकर उनके चरणोंमें लोट गया।

संन्यासीका ऐसा प्रभाव देखकर सब लोग आश्चर्यमें डूब गये। उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। सभी संन्यासीके चरणोंपर गिरकर श्रद्धाभक्तिके आँसुओंसे उनके चरणोंको पखारने लगे और मन-ही-मन विचारने लगे कि यह संन्यासी महाराज कौन हैं?

इसके बाद संन्यासीने सजीवन हुए ब्राह्मणकुमारसे कहा—'हे ब्राह्मणबालक! आज मैंने यहाँ बड़ा तमाशा देखा, संसारकी स्वार्थपरताका नङ्गा चित्र मेरे सामने आ गया! तू जिन लोगोंको अपने प्यारे सम्बन्धी तथा आत्मीय मानता है और जो तेरी कमाईपर मौज कर रहे हैं, वे तेरे माता, पिता, भाई यहाँतक कि तेरी विवाहिता स्त्रीतक सब-के-सब तुझे मरा जान तेरे मृत देहको एक ओर डालकर मेरे साथ भोजन करनेको बैठ गये। दुःखकी बात है कि तेरा ऐसे कठोर हृदयके निर्दयी लोगोंके घरमें जन्म हुआ।'

संन्यासीकी बात सुनकर ब्राह्मणकुमारने हँसकर कहा, 'देव! ऐसे कुलमें मेरा जन्म हुआ और ऐसे नर-नारी मेरे आत्मीय बने, यह तो वस्तुतः मेरे लिये बड़े ही सौभाग्यकी बात है। यह तो इस बातकी सूचना है कि मैं बड़ा ही पुण्यात्मा योगभ्रष्ट जीव हूँ। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि योगभ्रष्ट पुरुषका ही ज्ञानवान् योगियोंके कुलमें जन्म होता है। ऐसा जन्म श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न होनेकी अपेक्षा भी बहुत दुर्लभ है। भगवान्‌ने दया करके ही मुझे ऐसे माता, पिता, भाई और पत्नी प्रदान किये हैं जो संसारकी नश्वरता और असारताको समझकर परमात्माके प्रीत्यर्थ जगत्‌में नाटकके पात्रवत् व्यवहार करते हैं। मेरे पिताने मुझको भी यही शिक्षा दी है। आपने जो कुछ कहा, उसे सुनकर तो इनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गयी है। संसारमें कौन किसका सम्बन्धी है? मान लीजिये, घोर ग्रीष्म ऋतु है, सूर्य तप रहे हैं, मार्गमें कुछ मुसाफिर जा रहे हैं, सूर्यके तापसे और गरमीसे घबराकर वे कहीं छाया खोज रहे हैं, इतनेमें उन्हें एक पीपलका बड़ा पेड़ दिखलायी दिया, सब लोग कुछ विश्राम लेनेके लिये उसकी छायामें बैठ गये। घण्टे-दो-घण्टे बाद जब धूप कुछ कम हुआ, तब एकके बाद एक सब लोग उठकर अपने-अपने रास्ते चल दिये। राहका वह पेड़ जहाँ-का-तहाँ रह गया। इसी प्रकार यह संसार भी एक वृक्ष है। जैसे मार्गके वृक्षको

छायामें गरमीसे तपे हुए मनुष्य विश्रामके लिये इकट्ठे होते हैं इसी प्रकार इस संसार-वृक्षके नीचे हजारों मनुष्य अपने-अपने पूर्वजन्मके कर्मानुबन्धसे आकर इकट्ठे होते हैं और एक दूसरेसे मिलते तथा सम्बन्धका आरोप कर लेते हैं। फिर अपना-अपना कर्म पूरा होते ही—ऋण उतरते ही चले जाते हैं। एक दूसरेका देन-लेन चुकने-चुकानेके लिये लोग एकत्र होते हैं और उसके चुकते ही अलग हो जाते हैं। यही संसारका सम्बन्ध है। इस बिछुड़नेमें शोककी कौन-सी बात है? यहाँ तो मनुष्य बिछुड़नेके निश्चित कालको लेकर ही जन्म लेते हैं। जो लोग ऐसा जन्म पाकर श्रीपरमात्माके भजन, सत्सङ्ग तथा साधु-सेवामें अपना समय लगाते हैं उन्हींका जीवन धन्य और कृतार्थ होता है तथा उन्हींकी सारी आशाएँ सफल होती हैं।'

ब्राह्मणकुमारके विचार सुनकर संन्यासी महाराज आनन्दमग्न हो गये और मन-ही-मन सबके विचारोंकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे कि 'ऐसे ही विवेकी पुरुषोंको धारण करके पृथ्वी टिक रही है और इन्हींसे उसकी महिमा है।' इसके अनन्तर संन्यासीजी हँसते हुए बोले—'वत्स दीनबन्धुदास! तुम पाँचों व्यक्तियोंके निष्कपट शुद्ध व्यवहार, विवेक, वैराग्य, अतिथि-सेवाके अनुराग और श्रीहरिमें निष्काम भक्ति देखकर मुझे बहुत ही आनन्द हो रहा है। वास्तवमें तुमलोग धन्य हो, जहाँ तुमलोगों-जैसा कुटुम्ब है वह देश और वह कुल धन्य है; तुम सभी परम सुखसे जीवन बिताकर इसी जीवनमें मोक्ष-पदको प्राप्त करोगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।'

संन्यासी महाराजका शुभाशीर्वाद श्रवणकर सब गद्गद् होकर उनके चरणोंमें गिर पड़े। संन्यासीने सबके मस्तकोंपर हाथ रखकर उन्हें उठाया और कहा—'हे भक्तो! तुमलोग सदा-सर्वदा भगवान् विश्वपति श्रीहरिका भजन करते रहना, तुमलोगोंको किसी अवस्थामें कोई भी दुःख प्राप्त नहीं होगा।' संन्यासीके कर-स्पर्शसे तथा उनकी वाणी सुनकर पाँचों व्यक्तियोंके हृदयमें आनन्दका पार नहीं रहा।

सब-के-सब मन्त्रमुग्धकी भाँति संन्यासीके चरणोंमें पड़े थे, इतनेमें संन्यासीने हँसते हुए फिर गम्भीर वाणीसे कहा—'अच्छा तो अब मैं जाता हूँ। तुम्हारी सारी आपत्ति-विपत्ति, दुःख-शोक, बाधा-विघ्न मैं साथ लिये जाता हूँ। मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा। मेरा यह स्वभाव ही है कि मैं अपने प्रेमियोंको कभी भूल नहीं सकता। तुम भी मुझे न भूलना। आजसे मैं तुम्हारा हूँ और तुम सब मेरे हो; इस बातको सदा याद रखना। मैं तुम-सरीखे पुण्यात्मा प्रेमी जनोंकी खोजमें ही रहा करता हूँ। जहाँ ऐसे कोई प्रेमी मिल जाते हैं, वहीं मैं अपनेको बेच देता हूँ, यही मेरा नियम है। लो, अब मैं तुम्हें अपना परिचय देता हूँ। मैं ही विश्वपति विश्वरमण भगवान् हूँ।'

संन्यासीकी अमृतवाणीके अन्तिम शब्द सुनते ही उन पाँचोंकी मुग्धता भङ्ग हुई, उन्होंने आँखें खोलकर देखा तो सामने कोई नहीं दीखा। संन्यासी महाराजकी दिव्य ज्योतिर्मयी मूर्त्ति अन्तर्धान हो चुकी थी। वे सब-के-सब व्याकुल हो गये। अपने चिरवाञ्छित परम धनको प्राप्त होकर भी पहचान नहीं सके और एक ही क्षणमें उसका वियोग हो गया, इस विचारसे उनकी व्याकुलता अत्यन्त बढ़ गयी। वे रोते-रोते प्रभुसे विनय करने लगे—

हे प्रभो! हे दीनबन्धु! हे हमारे जीवन-धन, तुम तो हमलोगोंको कठिन हृदयके बतला रहे थे न? पर अब मालूम होता है तुम-जैसा कठिन-हृदय जगत्में अन्य कोई नहीं है। जब दर्शन देनेकी इच्छा ही नहीं थी तो क्यों हमें अपना परिचय दिया? एक बार नेत्र-भरके हमें अपना विश्वविमोहन रूप देख तो लेने

देते । तुमने तो मानो हाथमें देकर दिव्य रत्नको वापस छीन लिया । ललचाकर हृदयका धन ले लिया । हे विश्वम्भर ! वस्तुतः तुम बड़े मायावी हो, हम पहले जानते कि तुम्हीं संन्यासी बनकर हमारे सामने खड़े हमसे विनोद कर रहे हो तो हम तुम्हें क्यों छोड़ते ? पर तुम्हारी मायाको कौन जान सकता है ? ब्रह्मादि देवगण भी तुम्हारी मायासे मुग्ध हो जाते हैं, फिर हमलोगोंकी तो बात ही कौन-सी है ? परन्तु हे हमारे हृदयधन ! अब हमसे तुम्हारे दर्शन बिना रहा नहीं जाता, हृदय फट रहा है । दया करके शीघ्र अपनी भुवन-मन-मोहिनी मधुर छवि दिखलाकर हमें कृतार्थ करो ।'

अकस्मात् दिव्य प्रकाश हो गया । भक्तवत्सल भगवान् भक्तोंकी सच्ची पुकार सुनकर अपने मुनिमन-हारी अखिल सौन्दर्यसागररूपमें प्रकट हो गये । पाँचों प्राणी अपने चिर-अभिलषित परम धनको प्राप्त-कर आनन्दनिमग्न और कृतकृत्य हो गये ! अब सचमुच भगवान् उनके और वे भगवान्‌के बन गये । इसी प्रकार हरि-दर्शन, हरि-सेवा और हरि-चर्चामें अपने पुण्य-जीवन बिताकर अन्तमें सबने श्रीहरिके दुर्लभ अभय पदको प्राप्त किया ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय ।

आवाहन

आओ हे प्रियतम सुन्दर !

क्षणिक प्रभा-सी छवि छिटकाकर, कहाँ छिपे जाते अन्दर ?
चन्द्रहीन चन्द्रिका-चमत्कृत,
कनकलोकमें हो आलोकित,
प्रतिपल नव-नव प्रतिमाएँ बन, खेल खेलते, हे नटवर ! आओ० ॥
छिपे-छिपे सुनिभृत निकुञ्जमें,
घने नील-नीहार-पुञ्जमें,
परम मदिर मधुमय निनादमें, थिरक रहे हे मुरलीधर ! आओ० ॥
परम ज्योतिसे हो आभासित,
रवि-शशि-तारक-राशि प्रकाशित,
तड़ित अनल-सा उद्दीपित कर जाना मेरा अन्तर-तर ॥ आओ० ॥
प्रथम किरण-रञ्जित शतदलदल,
मलयानिल स्पन्दित चलदलदल—
सा विकसित कम्पित अन्तस्तल, सुधा श्याम-घन सिञ्चन कर ॥ आओ० ॥

गौरीशंकर द्विवेदी 'साहित्यरत्न'

विवेक-वाटिका

यह ब्रह्म महान् है, स्वप्रकाशरूप है, अचिन्त्य है, सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म है, दूरसे भी दूर है और पाससे भी पास है, वह आप ही इस बुद्धिरूपी गुहामें बैठकर देखता है।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

उस आत्माको कोई काट नहीं सकता, कोई जला नहीं सकता, कोई भिगो नहीं सकता, कोई सुखा नहीं सकता। वह निस्सन्देह ही नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर और सनातन है, वह अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी है। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

निरन्तर चित्तमें भगवत्-तत्त्वका चिन्तन करो, नश्वर धनका चिन्तन छोड़ दो, देखो, सारा संसार व्याधिरूपी सर्पसे डसा जा रहा है और सब लोग शोकसे पीड़ित हो रहे हैं। —श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

दान, पश्चात्ताप, सन्तोष, संयम, दीनता, सत्य और दया ये सात वैकुण्ठके दरवाजे हैं। —महाभारत

❀ ❀ ❀ ❀

भगवद्-भजनमें दूसरोंकी निन्दा करना तथा भक्तोंके प्रति द्वेषभाव रखना महान् पाप है। जो अभक्त हैं उनकी उपेक्षा करो, उनके सम्बन्धमें कुछ सोचो ही नहीं, उनसे अपना सम्बन्ध ही मत रक्खो। जो भगवद्भक्त हैं, उनकी चरण रजको सदा अपने सिरका आभूषण समझो। उसे अपने शरीरका सुन्दर सुगन्धित अंगराग समझकर सदा भक्तिपूर्वक शरीरमें मला करो। —श्रीचैतन्यमहाप्रभु

❀ ❀ ❀ ❀

तपसे सब प्रकारके सन्ताप नष्ट होते हैं, तपसे ही दुःख, भय, शोक और मनका क्षोभ आदि विकार दूर होते हैं, तपस्वी भक्त ही यथार्थमें भगवन्नामका अधिकारी है। —प्रभु नित्यानन्द

❀ ❀ ❀ ❀

धर्मका निवास कहीं दूर नहीं है, धर्म सदा अपने ढूँढनेवालेके बगलमें ही बसता है। जिसने एक बार भी धर्मके लिये चेष्टा की उसीको धर्म मिल जाता है। सन्तजनोंको तो दूसरेके दोषोंमें भी धर्मके दर्शन होते हैं। —कनफ्यूसियस

❀ ❀ ❀ ❀

विवेकरहित वैराग्य हठवादिताका पागलपन है और केवल शाब्दिक ज्ञानसे तो मनुष्य स्वयं ही घबड़ा उठता है। इसलिये जिसमें विवेक और वैराग्य दोनों हैं, वही पुरुष भाग्यवान् साधु है। —समर्थ रामदास

❀ ❀ ❀ ❀

श्रद्धालु मनुष्यका हृदय ईश्वरका गुणानुवाद गाने और सुननेसे अत्यन्त पवित्र हो जाता है, भगवच्चर्चा ही उसका अन्न है, प्रभुप्रेम उसकी शान्ति है, हरिका स्थान ही उसकी दूकान है, भजन-कीर्तन उसका व्यापार है, धर्मग्रन्थ उसकी सम्पत्ति है, भूलोक उसका खेत है, परलोक उसका खलियान है, और प्रभु-प्राप्ति ही उसके परिश्रमका फल है।

—अबु सुलेमान दाराई

❀ ❀ ❀ ❀

'चलो-चलो'की पुकार तो सभी मचाते हैं, परन्तु पहुँचता कोई विरला ही है। क्योंकि इस मार्गमें 'कनक' और 'कामिनी' की दो बड़ी घाटियाँ हैं। —कबीर साहेब

❀ ❀ ❀ ❀

किसीके मनमें सच्चा प्रेम पैदा हो और वह साधन-भजन करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो जाय तो उसे मार्ग बतलानेवाले सद्गुरु आप ही मिल जाते हैं, उसे गुरुकी खोज नहीं करनी पड़ती। —रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀ ❀

बहुत अधिक बोलनेसे व्यर्थ और असत्य शब्द निकल जाते हैं इसलिये कर्मक्षेत्रमें जितना कम बोलनेसे काम चले, उतना ही कम बोलना चाहिये। —विजयकृष्ण गोस्वामी

❀ ❀ ❀ ❀

केवल मुँहसे ही ज्ञान बघारनेवाला पण्डित नहीं है, वह तो ठग है। पण्डित तो वही है जो ज्ञानके अनुसार बर्ताव करता है यानी जो कुछ कहता है वही करता है।

—इसाक इब्राहीम खैयास

❀ ❀ ❀ ❀

जो पीछे बीत चुका या जो आगे होनेवाला है उसकी चिन्ता न करो। लेकिन जो समय तुम्हारे हाथमें है, उसे अच्छे-से-अच्छे कार्यमें बिताओ। —पारसभाग



गोवंशप्रिय कन्हैया

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेपि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, पौष १९८९ जनवरी १९३३ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ७८

भगवान्का विरह

अजहुँ न निकसै प्राण कठोर ।
दरसन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ॥
चार पहर चारौं जुग बीते रैन गवाँई भोर ।
अवधि गई अजहूँ नहिं आये कहाँ रहे चितचोर ॥
कबहूँ नैन निरखि नहिं देखे मारग चितवत तोर ।
'दादू' ऐसे आतुर बिरहणि जैसे चन्द चकोर ॥

—दादूजी

पूज्यपाद महात्मा श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

राज-सिंहासनपर बैठते ही राजाके समीप मन्त्री तथा अन्य कर्मचारी आ जाते हैं, उसी भाँति अविवेकके उदय होते ही काम, क्रोध, मद, लोभ आदि आ जाते हैं। 'अहं' के उदय होते ही स्वस्थता नष्ट हो जाती है। स्वस्थताके मानी हैं—'स्व' में स्थित होना।

'स्व' में तुम तभी स्थित रह सकोगे, जब तुम अपने 'अहं' को अलग कर दोगे। तुम अभ्यासी बनो, त्यागी बनो। बिना अभ्यासके आगे नहीं बढ़ सकते। ज्यों ही अभ्यासमें प्रमाद करोगे, त्यों ही चित्तमें नाना तरहकी स्फुरणाएँ होनी प्रारम्भ हो जायँगी।

जबतक काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि चित्ताकाशमें डेरा डाले पड़े हैं, तबतक न तो ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है और न भक्ति-तत्त्वकी ही उपलब्धि हो सकती है।

जबतक ज्ञानका 'अहं' है, तबतक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जबतक भक्तिका 'अहं' है, तबतक भक्त नहीं कहा जा सकता।

अज्ञान, अविवेकका नाश करना ज्ञान तथा प्रेम-तत्त्वको आमन्त्रित करना है। सारे अज्ञान एवं अविवेककी सृष्टि 'अहं' ने की है। इसलिये 'अहं' को ही अपराधी समझकर गिरफ्तार करो। उसीका नाश करो। 'अहं' का नाश होते ही दिव्यताका अनुभव होने लगेगा। फिर तुम अपने अन्दर एक बढ़ती हुई रोशनीका अनुभव करने लगोगे।

यदि तुम ज्ञानकी प्राप्ति करना चाहते हो तो, तुम्हें आवश्यकता इस बातकी है कि देश, जाति तथा शरीरकी आसक्तिको अलग करो।

जो चित्त दृश्य जगत्में आसक्त है, वह परमतत्त्वका चिन्तन नहीं कर सकता। जिस अवस्थामें पहुँचनेके लिये तुम तड़प रहे हो, उसके समीप पहुँचनेके पूर्व तुम्हें बहुत-से कामोंको समाप्त करना होगा। अपनी सारी बुराइयोंको दूर करके सात्त्विक संसारमें उतरना होगा।

विश्वास करो, मंगलमय श्रीहरि तुम्हारे साथ निरन्तर खेल कर रहे हैं। दुखी क्यों होते हो? दुखी होना अपनेको अविश्वासकी अवस्थामें फेंकना है। सारी परिस्थितिके रचयिता ईश्वर हैं। जिस प्रभुने तुम्हें पैदा किया है, जिस प्रभुने तुम्हारे जीवन रक्षाके हेतु नाना वस्तुओंकी सृष्टि की है, जिस प्रभुने सूर्य और चाँद-जैसी मनोहर दिव्य वस्तुएँ दी हैं वही प्रभु तुम्हें बुद्धियोग भी प्रदान करेगा।

किन्तु आवश्यकता है, सर्वतोभावेन अपनेको उसके ऊपर छोड़ देनेकी—निछावर कर देनेकी। अपनी सारी अहंता और ममताको उसीके चरणोंमें रख दो। अहंता और ममता ही बन्धन हैं। बन्धनमें क्यों पड़े हो? इस महा दुःखदायी बन्धनको अपना महाशत्रु समझ उतारकर फेंक दो।

'क्यों रे! तू किसकी उपासना करता है?'

'मैं तो भगवन्! उसीकी उपासना करता हूँ।'

'क्या वह निराकार है?'

'जी नहीं।'

'तो क्या साकार है?'

'जी नहीं।'

'तू भी खूब है! 'उसे' निराकार और साकारसे भी अलग कर दिया।'

'हाँ भगवन्! आपने ही तो बताया था कि वह न तो साकार है और न निराकार। वह तो दोनोंसे पृथक् है।'

* * *

प्रायः लोग कह दिया करते हैं कि साकार उपासना सरल है। नहीं, साकार-स्वरूपकी झाँकी तो दृढ़ अभ्यासी लोग ही कर सकते हैं। निराकारकी उपासना सूक्ष्म चित्तवालोंके लिये सरल है।

कल्याण



जो अपनी सारी इन्द्रियोंको और मन-बुद्धिको भगवान्‌के काममें लगाये रखता है, वही बुद्धिमान् भक्त है। कानसे भगवान्‌के गुण सुनो, आँखोंसे सन्तोंको देखो, जीभसे भगवान्‌के गुण गाओ, हाथसे भगवान्‌की सेवा करो, पैरोंसे भगवान्‌के स्थानोंमें जाओ, मनसे भगवान्‌का चिन्तन करो और बुद्धिसे भगवान्‌का विचार करो। तुम्हारा जीवन पवित्र भगवत्‌मय बन जायगा।

× × ×

सङ्गसे ही आदमी अच्छा-बुरा बनता है, सङ्ग केवल मनुष्यका नहीं, इन्द्रियोंके विषयमात्रका ही अच्छा-बुरा होता है। अच्छे सङ्गका सेवन करो, बुरा सङ्ग सदा छोड़ो। कानसे बुरी बात मत सुनो, आँखोंसे बुरी चीजें मत देखो, जीभसे बुरी बात मत कहो, हाथसे बुरा काम मत करो, पैरसे बुरी जगह मत जाओ, मनसे बुरा चिन्तन मत करो और बुद्धिसे बुरे विचार मत करो। तुम सब बुराइयोंसे आप ही छूट जाओगे।

× × ×

ऐसी पुस्तक कभी मत पढ़ो, जिससे विषयोंका लालच बढ़े और पापमें मन जाय, चाहे उसका नाम शास्त्र ही क्यों न हो। विषयोंसे मनको हटानेवाली और पापसे बचानेकी शिक्षा देनेवाली पुस्तकें पढ़ो; ऐसी ही बातें सुनो और ऐसे ही स्थानमें रहो।

× × ×

विषय-चिन्तन सर्वनाशकी जड़ है और भगवच्चिन्तन दुःखोंसे छूटनेका मूलमन्त्र है। बड़ी सावधानीसे मनसे विषयोंके चिन्तनको हटाते रहो और निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन करो। ज्यों-ज्यों विषय-चिन्तन कम होकर भगवच्चिन्तन बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों तुम शान्ति और सुखके समीप पहुँचोगे। विषय-चिन्तन सदाचारीको भी पापके पङ्कमें डाल देता है और भगवच्चिन्तन अत्यन्त दुराचारीको भी साधु-भक्त बना देता है।

× × ×

दो केन्द्र हैं—एक दुःखका, दूसरा सुखका; दुःखके केन्द्रमें बैठकर चाहे जितनी सुखकी बातें करो, कभी सुखी नहीं हो सकते और सुखके केन्द्रमें पहुँचनेपर दुःख ढूँढ़े भी नहीं मिलता। जगत्‌का आश्रय दुःखका केन्द्र है और भगवान्‌का आश्रय सुखका। चाहे कोई कितनी ही ऊँची-ऊँची बातें करे, जबतक जगत्‌के आश्रयसे सुख पानेकी आशा है, तबतक वह वैसे ही सुखी नहीं हो सकता, जैसे आगकी लपटोंमें पड़ा हुआ आदमी केवल बातोंसे शीतलता नहीं पाता। अतएव जगत्‌का आश्रय छोड़कर भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करो; उस सुखके केन्द्रमें स्थित होकर फिर चाहे दुःखालय संसारकी बात भी करो, तुम्हें दुःख उसी प्रकार नहीं छू सकेगा, जिसप्रकार हिमालयकी बरफमें बैठे हुए पुरुषको गरमी नहीं छू सकती।

× × ×

सबमें परमात्माका निवास समझकर सबका सम्मान करो, अपमान तो किसीका भी मत करो। स्वयं मान छोड़कर सबका सम्मान करोगे, दूसरोंके मानपर तुम्हारा कोई भी आचरण किसी प्रकार ठेस पहुँचानेवाला नहीं होगा तो, तुम आप ही सबके प्यारे बन जाओगे। फिर तुम्हें सभी हृदयसे चाहेंगे और तुम अपनी इच्छानुसार अधिकांशको सन्मार्गपर ला सकोगे।

× × ×

दूसरेके साथ ऐसा कोई बुरा बर्ताव कभी न करो, जैसा अपने साथ दूसरोंसे तुम नहीं चाहते। यदि

तुम दूसरोंसे सम्मान, सत्कार, उपकार, दया, सेवा, सहायता, मैत्री और प्रेम आदिकी आशा रखते हो तो पहले दूसरोंके प्रति तुम यही सब बर्ताव करो ।

× × ×

अपनी अच्छी बात दूसरेसे प्रेमपूर्वक कहो परन्तु यह आग्रह न करो कि वह तुम्हारी बात मान ही ले । और न माननेवालेको कभी न तो बुरा कहो और न मनमें ही बुरा समझो । उसे अपनी बात मनवानेकी नहो, परन्तु निवेदन करनेकी चेष्टा करो । कभी अपनी भूल हो तो मान-भङ्गके भयसे अपनी बातपर अड़े मत रहो। भूल स्वीकार करनेमें हानि तो होती ही नहीं, ठीक रास्तेपर आनेसे बड़ा भारी लाभ अवश्य होता है ।

× × ×

दूसरोंसे अपनी बातके समर्थनकी नीयतसे ही उनकी सम्मति मत चाहो । भूल-चूक बतानेके लिये ही उनकी राय पूछो और यदि कोई भूल बतावे तो बुरा न मानकर उसपर विचार करो तथा उसका उपकार मानो । यदि वह कोई ऐसी भूल बतावे जो अपनेमें न दीखे, तब भी उसकी नीयतपर सन्देह न करो; फिर गौर करके अपने हृदय और आचरणोंको टटोलो, कहीं-न-कहीं भूल लुकी-छिपी मिल जायगी । कदाचित् न भी मिले और भूल बतानेवाला ही भूला हो, तो भी उसकी कृपा मानो, जिसने तुम्हें सुधारनेके लिये तुम्हारी भूल बतलानेजैसा छोटा काम स्वीकार किया और इस काममें अपना समय लगाया ।

× × ×

तुम्हारी रायपर कोई न चले तो बुरा मत मानो, न उससे घृणा करो । बल्कि तुम्हारी रायके अनुसार काम न करनेके कारण उसको कोई नुकसान पहुँचा हो, और वह फिर कभी मिले तो उससे यह मत कहो कि मेरी राय न माननेका फल तुम्हें मिला है । उसके साथ प्रेमसे मिलो, उसे समयपर फिर अपनी नेक सलाह दो और अच्छे मार्गपर चलानेकी चेष्टा करो।

× × ×

किसीमें कोई दोष देखकर उसके लिये मनमें यह निश्चय न कर बैठो कि वह बुरा ही आदमी है । हो सकता है, दोष देखनेमें तुमने भूल की हो अथवा किसी परिस्थितिमें पड़कर मन न रहनेपर भी उससे वह दोष बन गया हो । अच्छे-बुरे गुण सभीमें हैं; उसके अच्छे गुणोंको देखकर उसपर प्रेम करो ।

× × ×

सच्चा दोष दीखनेपर भी किसीका अपमान न करो या उसपर क्रोध करके दोष निकालनेकी चेष्टा न करो। कभी-कभी तुम्हारे अपमान या क्रोधसे दोषी मनुष्यकी दूषित वृत्ति दब जायगी, परन्तु उस वृत्तिका नाश नहीं होगा । तुम्हारा किया हुआ अपमान या क्रोध उसके मनमें चुभता रहेगा और यदि वह भूलमे पड़ गया तो, अपने दोषके लिये पश्चात्ताप न कर तुमसे अपमान या क्रोधका बदला लेनेकी धुनमे लगा रहेगा । इससे उसमें भी नये दोष पैदा होंगे और उसकी द्वेषयुक्त चेष्टासे भड़ककर तुम भी अधिक क्रोधी और हिंसक बन जाओगे । किसीका दोष जड़से निकालना हो तो उसके प्रिय बनकर, उसकी सेवा कर-कर उसके मनपर अधिकार जमाओ और फिर उसे समझाओ । सम्भव है, इसमें सफलता कुछ देरसे मिले, परन्तु मिलेगी अवश्य और स्थायी मिलेगी । याद रक्खो—राज, समाज और व्यक्तियोंने दण्ड दे-देकर अपराधियोंकी संख्या बढ़ा दी है । जो खुद दोष करते हैं और राग-द्वेषवश यथार्थ दोषका निर्णय नहीं कर सकते, उन्हें दूसरोंके दोष देखने और उन्हें दण्ड देनेका कोई अधिकार नहीं है।

× × ×

एक बातका सदा खयाल रक्खो । अपने पुत्र, भाई, सेवक या किसी और अपनेसे नीचे पद या स्थितिवालेका भी दूसरोंके सामने कभी अपमान मत करो । कोई भी आदमी अपना अपमान सहना नहीं चाहता । अपमानित मनुष्य चाहे बोल न सके, परन्तु उसके दिलमें बड़ा दुःख होता है और अपना अपमान करनेवालेपर बुरी भावना जरूर पैदा होती है। इसलिये किसीको सावधान करनेके लिये कुछ कहना ही हो तो, एकान्तमें कहो । और वह भी जहाँतक बने सहानुभूति और प्रेमकी भाषामें ।

× × ×

तुम अपने सामने किसीको कोई दोष करते देख लो और वह जान जाय कि तुमने उसके दोषको देख लिया है तो फिर उससे और कुछ भी मत कहो । वह स्वयं लज्जित हो रहा है । कह-सुनकर उसका संकोच भङ्गकर उसे ढीठ न बनाओ ।

× × ×

जैसे अपनी लाभ-हानिका खयाल रखते हो, वैसे ही दूसरोंके हानि-लाभका भी ध्यान रक्खो । किसीके यहाँसे माँगकर मँगवायी हुई चीज़ खराब न होने पावे तथा अपना काम निकलते ही उसके यहाँ सावधानीके साथ पहुँच जाय । इस बातकी विशेष चिन्ता रक्खो, नहीं तो उसको दुःख होगा और लोग मँगनी चीजें देनी बन्द कर देंगे, जिससे दूसरे गरीबोंका सुभीता जाता रहेगा । और जैसे दूसरोंसे चीज़ मँगवा लेते हो, ऐसे ही अपनी देनेमें भी कभी सङ्कोच न करो । जहाँतक हो सके, किसीसे कोई भी चीज बिना ही माँगे अपना काम चलाओ । माँगकर न तो सङ्कोचमें पड़ो और न किसीको सङ्कोचमें डालो ।

× × ×

दुखी-गरीब भाई-बहिनोंके साथ विशेष प्रेम और सरलताका वर्ताव करो । उनकी सेवा करनेमें न तो ऐसा खयाल करो और न कभी यह उनपर प्रकट ही होने दो कि तुम बड़े आदमी या समर्थ हो, इससे उनका उपकार कर रहे हो या उनपर एहसान कर रहे हो । गरीब भाई-बहिनोंकी कभी कोई सेवा तुमसे बन जाय तो उनको कभी भूलकर भी उसका स्मरण तो कराओ ही मत, बल्कि मन-ही-मन उनका उपकार मानो कि उन्होंने तुम्हारी सेवा स्वीकार की । परन्तु इस कृतज्ञताको भी अपने मनमें ही रक्खो । उनपर प्रकाश न करो । नहीं तो, शायद वे समझेंगे कि तुम अपने उपकारकी उन्हें याद दिला रहे हो; इससे उन्हें संकोच होगा और अपनी गरीबीकी याद करके वे दुखी हो जायँगे । जो गिनानेके लिये किसीकी सहायता करता है वह तो उसे जलानेके लिये आग जलाता है । उनका ताप मिटानेके लिये नहीं ।

× × ×

गरीब दुखी गृहस्थोंकी सहायता या सेवा करना चाहो तो अत्यन्त ही गुप्तरूपसे करो, हो सके तो उन्हें भी पता न लगने दो । और सेवा करके उसे सदाके लिये भूल जाओ, मानो तुमने कभी कुछ किया ही नहीं ।

× × ×

जैसे तुम्हें अपने समयका ध्यान रहता है, ऐसे ही दूसरोंके समयका भी ध्यान रक्खो । किसी भी भले आदमीके पास बिना काम जाकर न बैठो । शिष्टाचारसे या किसी कामसे जाना हो तो उसका सुभीता देखकर जाओ और अपना काम होते ही तुरन्त वहाँसे उठ जाओ । अनावश्यक बैठकर उसे संकोचमें मत डालो । यदि वहाँ और आदमी बैठे हों तो अपनी बातचीत जल्दी समाप्त कर लो, जिससे दूसरोंको भी बात करनेका अवसर मिले ।

× × ×

दो आदमी बात करते हों तो उनकी बात सुनने-

करता और मेरा विश्वास है कि कोई भी ऐसा दावा नहीं कर सकता। परन्तु यह विश्वास रखना कि, मैं जो कुछ कहता हूँ सो अमूलक नहीं है।

जीवनके मार्गपर जितना ही अग्रसर हुआ जाता है, अनुभवकी मात्रा और प्रकाश क्रमशः उतना ही बढ़ता जाता है, एवं वह अधिकतर गम्भीर भाव धारण करता है। वस्तुतः आत्मिक अनुभूतिका अधिकांश तो भाषा-द्वारा प्रकट ही नहीं किया जा सकता और जितना अंश प्रकट करने योग्य प्रतीत होता है, उतना भी यथार्थ रूपमें प्रकट नहीं हो पाता। कारण, जो विशुद्ध बोधका विषय है, उसे चिन्तनके क्षेत्रमें और वाक्यरूपमें उतारते ही उसकी विशुद्धि नष्ट हो जाती है—एवं कुछ अंशमें वह मलिन हो जाता है।

जिज्ञासु—अब धर्मके सम्बन्धमें कुछ कहिये। हमलोग अपने चारों ओर धर्मका जो रूप देखते हैं, क्या वही धर्मका तात्त्विक रूप है ? यदि ऐसा ही है, तो नाना देशों और नाना कालोंमें धर्मके सम्बन्धमें इतने विभिन्न सिद्धान्त क्यों उत्पन्न होते हैं ?

वक्ता—वत्स ! धर्मका तात्त्विक रूप एक होनेपर भी उसके व्यावहारिक रूप नाना प्रकारके हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। देश, काल और जागतिक घटना-वैचित्र्यसे धर्मके तात्त्विक रूपमें तनिक भी परिवर्तन नहीं होता—यही उसका अन्तरङ्ग या स्वरूप है। पर, जो धर्मका बहिरङ्ग है वह देश-कालादिके भेदसे व्यवहार-क्षेत्रमें भिन्न-भिन्न हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु जो धर्मके रहस्यको जानते हैं, वे इस बाहरी रूपकी विचित्रतामें भी उसके शाश्वत नित्यरूपको देख पाते हैं। कारण, वे जानते हैं कि जिसको बाह्य रूप बतलाया जाता है वह अन्तर्निहित भावका ही बहिःप्रकाश मात्र है। गर्भमें यदि वास्तविक सत्ता हो, तो बाह्य रूपके आश्रयसे भी उस सत्ताकी उपलब्धि अवश्य ही हो जायगी। बाहरका आवरण अन्दरके जीवित प्रवाहको रोककर नहीं रख सकता।

जिज्ञासु—आपके कथनसे यह समझमें आया कि यथार्थ धर्म एक होनेपर भी उसके बाह्य रूप नाना प्रकारके हो सकते हैं। अतएव किसी भी बाह्य रूपका विश्लेषण करनेपर उसके अन्दरसे धर्मका सनातन तत्त्व प्रकट हो जायगा। यदि यही सत्य है तो फिर बाह्य धर्मोंमें उत्कर्ष, अपकर्षके विचारको कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

वक्ता—नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। उत्कर्ष और अपकर्षका अथवा बड़े और छोटेका विचार बाहर ही बाहर रहता है, अन्तरमें प्रवेश करनेपर यह विचार नहीं रहता। अतएव जबतक बाह्य भाव है, तबतक धर्मके वास्तविक तत्त्वको कोई जान नहीं सकता और इसलिये, तबतक उत्कर्ष और अपकर्षको मानना ही होगा। आत्मा सर्वत्र और सर्वदा अखण्ड एवं अद्वैत होनेपर भी जैसे सब जीवोंको एक-सा नहीं कहा जा सकता, वैसे ही, धर्मका मूल-तत्त्व सर्वत्र एक होनेपर भी बाह्य दृष्टिसे सब धर्मोंको समान नहीं कहा जा सकता ! बिम्ब एक होनेपर भी दर्पणकी आपेक्षिक स्वच्छता आदि कारणोंसे जैसे प्रतिबिम्बमें नाना प्रकारके भेद स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही सार धर्म एक होनेपर भी बाह्य धर्ममें उत्कृष्ट और अपकृष्टका विचार उठे बिना नहीं रह सकता।

जिज्ञासु—जब सभी धर्म एक ही मूल-धर्मके विकास हैं, तब उनके पारस्परिक भेदका नियमन किसप्रकार हो सकता है ?

वक्ता—धर्म मूलतः एक होनेपर भी सर्व क्षेत्रोंमें उसके पूर्णरूपका प्रकाश नहीं हो सकता। जिस आधारमें जितना सामर्थ्य है उसमें उतना ही प्रकाश हो सकता है, अधिक नहीं। व्यक्तिगत और जातिगत भावसे भी मनुष्यमें यथेष्ट भेद देखनेमें आता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक योग्यतासम्पन्न होगा, वह धर्मके वास्तविक तत्त्वको उतने ही गम्भीर और विशिष्ट रूपमें उपलब्ध कर सकेगा। यही बात जातिके सम्बन्धमें है। यह समझ लेनेपर, विभिन्न देशोंमें विभिन्न प्रकारके धर्मोंकी उत्पत्ति क्यों हुई, इसका रहस्य कुछ-कुछ समझमें आ जायगा। कालभेदसे जो धर्ममें भेद होता है उसका भी यही कारण है। इसीलिये बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्धके धर्म परस्पर पृथक्-पृथक् होते हैं। और इसीलिये सत्यादि चारों युगोंके लिये ऋषियोंने एक ही प्रकारके धर्मका अनुशासन नहीं किया।

जिज्ञासु—आपके कथनसे तो धर्मका तत्त्व क्रमशः जटिल हुआ चला जा रहा है। देशकाल-भेद और अन्यान्य कारणोंसे यदि धर्ममें भेद होना अनिवार्य है, तो सूक्ष्मदृष्टिसे देश और कालके किञ्चित्-किञ्चित् परिवर्तनके साथ ही धर्मका आदर्श और आचरण भी बदलना ही चाहिये। ऐसी

अवस्थामें शास्त्रद्वारा धर्मका निर्णय किसप्रकार हो सकता है ? कारण, शास्त्रमें प्रत्येक उपदेश साधारण भावसे ही दिया जाता है । प्रत्येक व्यक्तिके प्रतिमुहूर्त्तके धर्मके देशगत और अवस्थागत पार्थक्यकी ओर दृष्टि रखकर शास्त्रके द्वारा कदापि निर्णय नहीं हो सकता । यदि यही सत्य है तो क्या शास्त्रको मिथ्या कहा जाय ?

वक्ता—शास्त्र मिथ्या क्यों होने लगा ? हाँ,तुम लोग जिसे शास्त्र कहते हो, वह यथार्थ शास्त्र नहीं है—वह यथार्थ शास्त्रका केवल बाह्य परिच्छिन्न प्रकाश है । जबतक ज्ञान-चक्षु नहीं खुल जाते, प्रकृतिके अन्दर प्रवृष्ट नहीं हुआ जाता—सारांश यह कि जबतक वेद या शब्द-ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो जाता, तबतक शास्त्रवाणीको कैसे समझा जा सकता है ? अनन्त चिदाकाशसे जिस बोधरूप वाणीका उद्गम होता है, वही शास्त्र है । ऐसी वाणी किसी शरीरधारी दिव्यमूर्तिकी वाणी हो सकती है; अशरीरीकी आकाश-वाणी हो सकती है; हृदयसे उठी हुई भाववाणी हो सकती है; अथवा गुरु-स्थानसे निकली हुई आज्ञास्वरूप ज्ञानरूपा दिव्यवाणी हो सकती है । कोई भी वाणी हो, वह मूलतः एक प्रज्ञास्वरूपा वाणी ही है, दूसरी नहीं ।

जिज्ञासु—शास्त्रतत्त्वके सम्बन्धमें इस समय मैं कुछ भी नहीं पूछता । केवल एक बात जानना चाहता हूँ । आपने जिसको नित्यशास्त्र कहा है, उसमें और हमारे प्रचलित शास्त्रमें क्या कोई भेद है ? यदि है तो वह कैसा है ?

वक्ता—संक्षेपमें तुम्हारी इस बातका उत्तर मैं तुम्हें पहले ही दे चुका हूँ । फिर भी, तुम्हारे इस विशेष प्रश्नके उत्तर-में यह कहा जा सकता है कि दोनोंमें भेद है और नहीं भी है । शास्त्र ही धर्मका प्रकाशक है । धर्मके नित्यरूपका ज्ञान तो नित्यशास्त्रसे ही हो सकता है । हमारे प्रचलित शास्त्रसे हम केवल व्यावहारिक धर्मका रूप जान सकते हैं । धर्मका सार्वभौम तत्त्व जाननेके लिये बुद्धि-गुहामें प्रवेश करना पड़ता है, वह ग्रन्थ-पाठसे जाननेका विषय नहीं है । प्रत्येक मनुष्यके लिये देश और अवस्था-गत अधिकार-मूलक धर्मका निर्देश व्यावहारिक शास्त्रमें नहीं मिल सकता ।

जिज्ञासु—तो क्या आपका यह अभिप्राय है कि कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके यथार्थ निर्णयके लिये ग्रन्थ-पाठ यथेष्ट नहीं है ?

वक्ता—अधिकार और अवस्थाके भेदके अनुसार कौन-सा कर्म उचित है और कौन-सा अनुचित, इसका निर्णय केवल साधारण उपदेशोंकी आलोचनासे नहीं किया जा सकता । जबतक अन्तःकरण जागृत नहीं होता, तबतक हृदयमें गुरु-शक्तिकी जागृति नहीं होती, तबतक कर्त्तव्यका निर्णय अभ्रान्त हो ही नहीं सकता । वेदरूपी नित्यगुरुके हृदयमें जागृत हुए बिना कर्म-पथपर अग्रसर होना सम्भव नहीं है ।

'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'

यह बात बिल्कुल सत्य है । इसका तात्पर्य यह है कि जो सत् हैं, साधु हैं, शुद्धचित्त हैं और मोहनिद्रासे जागकर जिन्होंने सत्य वस्तुकी ओर देखना आरम्भ कर दिया है, उनको ग्रन्थ पढ़कर अथवा किसीसे उपदेश सुन-कर सन्दिग्ध विषयका सन्देह दूर करना नहीं पड़ता । उनका ज्ञानोज्ज्वल चित्त ही संशयका उच्छेदकर उनके हृदयमें विश्वासका बीज बो देता है । शुद्धचित्त पुरुषकी स्वाभाविक प्रवृत्ति कभी अनुचित अथवा निषिद्ध विषयकी ओर हो ही नहीं सकती । इसीसे समझ लेना चाहिये कि साधारण जीवके लिये धर्मके गूढ़ तत्त्वको जान लेना कितनी दूरकी बात है । दूसरेको धर्मका उपदेश करना तो दूर रहा, निजमें ही कर्म-पथपर चलनेके लिये धर्मके जितने प्रत्यक्ष ज्ञानकी आवश्यकता है, उतना भी सहजमें नहीं मिल सकता । सारांश यह कि, बाह्य शास्त्रीय ज्ञान यथार्थ शास्त्र-ज्ञान नहीं है ।

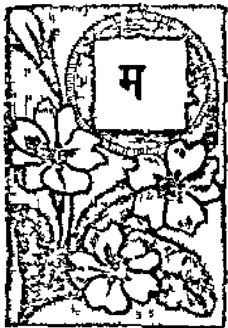
जिज्ञासु—आपने जो कुछ कहा, इससे यह समझमें आता है कि विषय अत्यन्त कठिन होनेपर भी इसे जानना ही चाहिये, क्योंकि धर्मका तत्त्व जाने बिना मनुष्यके पशुत्व-नाश होनेका दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है । एकमात्र धर्मने ही मनुष्यको दूसरे पशुओंसे अलग करके मनुष्य पदके योग्य बनाया है । धर्मकी उन्नतिसे व्यक्तिगत और जातिगत रूपमें मनुष्यकी उन्नति होती है और धर्मके लोप होनेपर मनुष्य क्रमशः पुनः पाशव रूपमें उतर आता है ।

वक्ता—वत्स ! वास्तवमें ही धर्मकी उन्नति और विशुद्धि-से मनुष्यकी सब प्रकारकी उन्नति होती है । 'धर्मः सर्वेषां भूतानां मधु'—धर्मरूप कल्पवृक्षका आश्रय ले लेनेपर मनुष्यकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रह सकती । मनुष्य सब विषयोंमें परमानन्द प्राप्तकर कृतार्थ हो सकता है ।

(अपूर्ण)

मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)



मनुष्य-जीवनका समय अमूल्य है । समयकी कीमत न जाननेके कारण ही लोगोंका बहुत-सा समय व्यर्थ ही चला जाता है, इसीलिये आत्म-कल्याणमें विलम्ब हो रहा है । कहा जा सकता है कि कानून-पेशा वकील-बैरिस्टर प्रभृति तो समयका सदुपयोग करते हैं क्योंकि वे अपने समयके प्रत्येक मिनटका पैसा ले लेते हैं; किन्तु पैसोंसे मनुष्य-जीवनका वास्तविक ध्येय सिद्ध नहीं होता । जो मनुष्य अपने अनमोल समयको पैसोंके बदले बेच डालते हैं, पैसोंसे होनेवाले भावी दुष्परिणामको नहीं समझनेके कारण पैसे इकट्ठे करते चले जाते हैं और जीवित कालमें उनसे कुछ भौतिक सुखकी प्राप्ति करते हैं, वे वस्तुत कल्याण-मार्गमें कुछ भी अग्रसर नहीं होते ।

मरनेके समय उन्हे एकत्र किया हुआ धन यहीं छोड़ जाना पडता है, उससे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह शोक और चिन्ताको बढ़ानेवाला ही होता है । अतएव जो धन, मान आदिके मोलपर अपने अमूल्य समयको बेच डालते हैं वे अपनी समझसे बुद्धिमान् होनेपर भी वास्तवमें बुद्धिमान् नहीं हैं । बुद्धिमान् तो वही कहे जा सकते हैं जो जीवनके अमूल्य समयको अमूल्य कार्योंमें ही लगाते हैं; और अमूल्य कार्य भी उसीको समझना चाहिये, जिससे अमूल्य वस्तुकी प्राप्ति हो । वह अमूल्य वस्तु है—परमात्माके तत्त्व-ज्ञानसे होनेवाली आत्मोन्नतिकी चरम सीमा—परमेश्वरके स्वरूपकी प्राप्ति; इसीको दूसरे शब्दोंमें परम-पदकी प्राप्ति अथवा मुक्ति भी कहते हैं ।

दु.खकी बात है कि बहुत-से भाई तो ऐसे हैं जो अपने समयको चौपड़, तास, शतरञ्ज आदि खेलनेमें, सासारिक भोगोंमें एव निद्रा, आलस्य और प्रमादमें व्यर्थ ही बिता देते हैं । बहुत-से ऐसे मूढ हैं जो जीवनके अमूल्य समयको चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि कुकर्मोंमें बिताकर इस लोक और परलोक दोनों-से भ्रष्ट होकर दु खके भाजन बनते हैं; और कितने ऐसे हैं जो सुल्फा, गाँजा, कोकिन और मदिरा आदि मादक द्रव्योंके सेवनमें समय नष्ट करके नरकके भागी बनते हैं । यह समयका अत्यन्त ही दुरुपयोग है ।

उचित तो यह है कि हमारा प्रत्येक श्वास श्रीभगवान्‌के स्मरणमें ही बीते । एक क्षण भी व्यर्थ न जाय। फिर पाप और प्रमादमे बिताना तो अत्यन्त ही मूर्खता है । असलमें बात यह है कि समयकी उपयोगिताको *हमलोगोंने अभी समझा नहीं !* जैसे पैसेकी उपयोगिता समझी हुई है, वैसे ही यदि समयकी उपयोगिता समझी होती तो भूलकर भी हमारा एक क्षणका समय ईश्वर-स्मरण बिना नहीं बीत सकता। हम किरायेकी मोटरपर सवार होकर कहीं जाते हैं और रास्तेमें किसी सज्जनसे आवश्यक बातें करनेके लिये मोटरको रोकना पडता है तो उस समय हम उनसे अच्छी तरह बात नहीं करना चाहते क्योंकि हमारी नजर तो प्रति मिनट दो आने चार्ज करनेवाले मीटरपर लगी रहती है । यह पैसेकी उपयोगिता समझनेका नमूना है । प्रति मिनटके दो आने पैसेसे भी हम समयकी उपयोगिताको अधिक नहीं समझते। हमारे लिये उचित तो यह है कि जैसे मोटरमें बैठे किसीसे बात करते समय हमारा मन पैसोंमें लगा रहता है इसी प्रकार ससारका प्रत्येक कार्य करते समय

अमूल्य जीवनका एक-एक क्षण मुख्यरूपसे श्रद्धा और प्रेमके साथ परम प्रेमास्पद परमात्माके चिन्तनमें ही लगाना चाहिये।

इसप्रकार चिन्तन करते-करते भगवान्‌की दयासे किसी भी क्षण हमें भगवत्-प्राप्ति हो सकती है। जिस क्षणमें भगवत्-प्राप्ति होती है, उसी क्षणका जीवन अमूल्य है। उस समयकी तुलना किसीके साथ भी नहीं की जा सकती। परन्तु वैसा समय श्रद्धा और प्रेमपूर्वक चिन्तन करनेसे ही प्राप्त होता है। इसलिये हमें श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके स्वरूपके सदा-सर्वदा चिन्तन करनेका अभ्यास करना चाहिये। ऐसा करनेपर हमारा सभी समय अमूल्य समझा जायगा। यदि प्रेम और श्रद्धाकी कमीके कारण जीवनभरमें भगवत्-प्राप्ति न भी हुई, तो भी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि अभ्यासके बलसे अन्त-समयमें तो भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन अवश्य होगा ही, और गीतामें भगवान् स्वयं कहते हैं कि जो अन्त-समय मेरा चिन्तन करता हुआ जाता है वह निश्चय ही मुझको प्राप्त होता है, इसमें कोई भी संशय नहीं है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(८।५)

किन्तु खेदकी बात है कि हमलोग ईश्वरके भजनकी कीमत कौड़ियोंके जितनी भी नहीं करते। मान लीजिये, एक पुरुष सालभरमें आठ हजार एक सौ रुपये कमाता है, वह यदि रोजगार छोड़कर* भजन करे तो उसका भी वह भजन कौड़ियोंसे सस्ता पड़ता है।

* वास्तवमें रोजगारको स्वरूपसे छुड़ानेका हमारा अभिप्राय नहीं है, केवल भजनकी महिमा दिखानेके लिये लिखा गया है। उत्तम बात तो यह है कि मुख्य वृत्तिसे परमात्माको याद रखता हुआ गौणी वृत्तिसे व्यवहार करे।

वार्षिक ८१००)के हिसाबसे एक महीनेके ६७५), एक दिनके २२।।), एक घण्टेका ।।।≈) आने एवं एक मिनटका एक पैसा होता है। एक पैसेकी अधिक-से-अधिक साठ कौड़ी समझी जाय और ईश्वरका नाम-स्मरण एक मिनटमें कम-से-कम एक सौ बीस बार किया जाय यानी एक सेकण्डमें दो नाम लिये जायँ तो भी वह कौड़ियोंसे मन्दा पड़ता है। जब ८१००) सालाना कमानेवालेसे भजनकी परता कौड़ियोंसे मन्दी पड़ती है, फिर हजार-पाँच सौ रुपये सालाना कमानेवालेकी तो गिनती ही क्या है?

कञ्चन, कामिनी, मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाकी आसक्तिमें फँसकर जो लोग अपने अमूल्य समयको बिताते हैं, उनका वह समय और परिश्रम तो व्यर्थ जाता ही है, इसके अतिरिक्त उनकी आत्माका अधः-पतन भी होता है।

धनकी आसक्तिमें फँसा हुआ लोभी मनुष्य अनेक प्रकारके अनर्थ करके धन कमाता है। धनके कमाने और उसकी रक्षा करनेमें बड़ा भारी क्लेश और परिश्रम होता है। उसके खर्च करनेमें भी कम दुःख नहीं होता और फिर धनको त्यागकर जानेके समय तो किसी-किसीको प्राण-वियोगसे भी बढ़कर दुःख होता है। जैसे निर्धन आदमी धन-उपार्जनकी चिन्ता करता है और ऋणी ऋण चुकानेके लिये व्याकुल रहता है वैसे ही धनी आदमी धनकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है।

वस्तुतः धन कमानेकी लालसा आत्माका अधः-पतन करनेवाली है, इसी प्रकार स्त्री-सङ्गकी इच्छा उससे भी बढ़कर आत्माका पतन करती है। पर-स्त्री-गमनकी तो बात ही क्या है, वह तो अत्यन्त ही निन्दनीय और घोर नरकमें ले जानेवाला कर्म है, परन्तु अपनी विवाहिता स्त्रीका सहवास भी शास्त्र-विपरीत हो तो कम हानिकर नहीं है। आसक्तिके

कारण शास्त्र-विपरीत होना मामूली बात है। जब साधन करनेवाले बुद्धिमान् पुरुषकी इन्द्रियाँ भी बलात्कारसे मनको विषयोंमें लगा देती हैं, तो फिर साधन-रहित विषयासक्त पामर मूर्खोंका तो पतन होना कौन बड़ी बात है ?

जैसे मूर्ख रोगी स्वादके वश हुआ कुपथ्य करके मर जाता है, वैसे ही कामी पुरुष स्त्रीका अनुचित सेवन करके अपना नाश कर डालता है। विलासिताकी बुद्धिसे स्त्रीका सेवन करनेसे कामोद्दीपन होता है और कामका वेग बढ़नेसे बुद्धिका नाश हो जाता है; कामसे मोहित हुआ नष्टबुद्धि पुरुष चाहे जैसा विपरीत आचरण कर बैठता है, जिससे उसका सर्वथा अधःपतन हो जाता है।

स्त्रीके सेवनसे बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, उत्साह, स्मृति और सद्गुणोंका नाश हो जाता है, एवं शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर मनुष्य मृत्युके समीप पहुँच जाता है; तथा इसलोकके सुख, कीर्ति और धर्मको खोकर नरकमें गिर पड़ता है। यही आत्माका पतन है, इसीलिये साधुजन कञ्चन और कामिनीका भीतर और बाहरसे सर्वथा त्याग कर देते हैं। वास्तवमें भीतरका त्याग ही असली त्याग है क्योंकि ममता, अभिमान और आसक्तिसे रहित हुआ मनुष्य न्याययुक्त कञ्चन और कामिनीके साथ सम्बन्ध रखनेपर भी त्यागी ही माना गया है।

मान, बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें तो अच्छे-अच्छे साधक भी फँस जाते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा साधनपथमें भी दूरतक मनुष्यका पिण्ड नहीं छोड़ती। आरम्भमें तो यह अमृतके तुल्य प्रतीत होती है परन्तु परिणाममें विषसे भी बढ़कर है। अज्ञानवशात् यह बहुत-से अच्छे-अच्छे पुरुषोंके चित्तको डाँवाडोल कर देती है।

साधक पुरुष भी मोहके कारण इसप्रकार मान लेते हैं कि मेरी पूजा और प्रतिष्ठा करनेवाले पवित्र होते हैं, इससे मेरी कुछ भी हानि नहीं। परन्तु ऐसा समझनेवालोंकी बुद्धि उन्हें धोखा देती है और वे मोह-जालमें फँसकर साधनपथसे गिर जाते हैं। बहुत-से मूढ़ पुरुष तो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाके लिये ही ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं।

दूसरे जो जिज्ञासु अर्थात् अपनी आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे ईश्वरभक्ति, सदाचार और लोक-सेवादि उत्तम कर्म करते हैं वे भी मान-बड़ाई, प्रतिष्ठाको पाकर फिसल जाते हैं और उनके ध्येयका परिवर्तन हो जाता है। ध्येयके बदल जानेसे मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये ही उनके सब काम होने लगते हैं और झूठ, कपट, दम्भ और घमण्डको उनके हृदयमें स्थान मिल जाता है, इससे उनका भी अधःपतन हो जाता है।

कुछ जो अच्छे साधक होते हैं, उनका ध्येय तो नहीं बदलता परन्तु स्वाभाविक ही मनको प्रिय लगनेके कारण मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके जालमें फँसकर वे भी उत्तम मार्गसे रुक जाते हैं। आजकल जो साधु, महात्मा, भक्त और ज्ञानी माने जाते हैं उनमेंसे तो कोई बिरले ही ऐसे होंगे, जो इनके जालमें न फँसे हों।

पामर और विषयासक्त पुरुषोंको तो ये अमृतके तुल्य दीखते ही हैं किन्तु बुद्धिमान् साधक पुरुषको भी ये देखनेमें अमृतके तुल्य प्रतीत होते हैं। परन्तु बुद्धिमान् साधक तत्त्वज्ञानी और विरक्त पुरुषोंके संगके प्रतापसे विचार-बुद्धिके द्वारा परिणाममें विषके सदृश समझकर इनको नहीं चाहते।

इनमेंसे भी जो मुलाहिजेमें फँसकर या मनके धोखेसे स्वीकार कर लेते हैं, वे भी प्रायः गिर जाते हैं।

जो उच्च श्रेणीके साधक हैं और जिन्हें इन सबमें वास्तविक वैराग्य उत्पन्न हो गया है, उन विरक्त पुरुषोंकी इन सबमें प्रत्यक्ष घृणा हो जाती है। इसलिये वे इनसे उपराम हो जाते हैं। जैसे मद और मांस न खानेवालेके चित्तकी वृत्तियाँ मद-मांसकी ओर स्वाभाविक ही नहीं जातीं वैसे ही उन विरक्त पुरुषोंके चित्तकी वृत्तियाँ मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाकी ओर नहीं जातीं। बुद्धिमान् रोगी जैसे कुपथ्यसे डरते हैं वैसे ही वे उनके संसर्ग और सेवनसे (मृत्युके सदृश) डरते हैं। जहाँ मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा होती है वहाँ प्रथम तो प्रायः वे लोग जाते ही नहीं, यदि जाते हैं तो उन सबको स्वीकार नहीं करते। कोई बलात्कारसे मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा कर देता है तो उनके दिलमें वे सब खटकते हैं।

जो ज्ञानवान् हैं अर्थात् ईश्वरके तत्त्वज्ञानसे जिन्हें परम वैराग्य और परम उपरामता प्राप्त हो गयी है, उनके विषयमें तो कुछ लिखना बनता ही नहीं। वे तो समुद्रके सदृश गम्भीर, निर्भय और धीर होते हैं। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको तो वे चाहते ही नहीं, यदि बलात्कारसे कोई कर देते हैं तो वे इतने उपराम होते हैं कि श्रीशुकदेवजीकी भाँति वे उनकी परवा ही नहीं करते।

जब उनकी दृष्टिमें परमात्माके अतिरिक्त संसार ही नहीं है तो फिर राग, वैराग्य, मान, अपमान, निन्दा, स्तुतिको स्थान ही कहाँ है ? उन पुरुषोंको छोड़कर और कोई विरला ही पुरुष होगा जो मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाको पाकर नहीं गिरता।

अतएव कञ्चन, कामिनी, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाके मोहमें फँसकर अपने मनुष्य-जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ गवाँकर आत्माका पतन नहीं करना चाहिये।

मनुष्य-जीवनका एक-एक श्वास ऐसा अमूल्य है कि जिसकी प्रशंसा नहीं की जा सकती, क्योंकि ईश्वरकृपाके प्रभावसे उत्तम देश, काल और सत्संगको पाकर यह मनुष्य एक क्षणमें भी परमपदको प्राप्त हो सकता है। किसी कविने भी कहा है—

ऐसे महँगे मोलका एक स्वास जो जाय।
तीन लोक नहीं पटतरे काहे धूरि मिलाय॥

मनुष्यके जीवनका समय बहुत ही अनमोल है। एक-एक श्वासपर सौ-सौ रुपये खर्च करनेसे भी एक श्वासका समय नहीं बढ़ सकता। रुपये खर्च करनेसे समय मिल जाता तो राजा-महाराजा कोई नहीं मरते।

पैसोंहीसे नहीं, रत्नोंके मोलपर भी मनुष्य-जीवनका समय हमको नहीं मिल सकता। इसलिये ऐसे अमूल्य समयको जो व्यर्थ खोयेगा, उसको अवश्य ही पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस क्षणभङ्गुर परिवर्तनशील संसारके सभी पदार्थ जीर्ण और नाशको प्राप्त होते हुए क्षण-क्षणमें हमलोगोंको चेतावनी दे रहे हैं, परन्तु हमलोग नहीं चेतते।

प्रति सेकेण्ड टिक-टिक करती हुई घड़ी हमें समय बतलाती है परन्तु हम ध्यान नहीं देते। हमारे शरीरके नख, रोम और अवस्थाओंका परिवर्तन, इन्द्रियोंका ह्रास तथा बीमारियोंकी उत्पत्ति हमको समय-समयपर मौतकी याद दिलाती है तो भी हम सावधान नहीं होते। इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य होगा ?

हमलोग मायारूपी मदिराको पीकर ऐसे मोहित हो गये हैं कि उसका नशा कभी उतरता ही नहीं। सन्त कवियोंने भी हमें कम चेतावनी नहीं दी है परन्तु हम किसीकी परवा ही नहीं करते, फिर हमारा कल्याण कैसे हो ?

नारायण स्वामी कहते हैं—

दो बातनको भूल मत जो चाहत कल्यान।
नारायण एक मौतको दूजे श्रीभगवान॥

श्रीकबीरदासजीके वचन तो चेतावनीसे भरे हुए हैं—

कबीर नौबत आपनी दिन दस लेहु बजाय ।
यह पुर पट्टन यह गली बहुरि न देखो आय ॥
आजकाल की पाँच दिन जंगल होगा बास ।
ऊपर ऊपर हल फिरैं ढोर चरैंगे घास ॥
मरहुगे मरि जाओगे कोई न लेगा नाम ।
ऊजड़ जाय बसाओगे छाँड़ि बसंता गाम ॥
हाड़ जलै ज्यों लाकड़ी केस जलै ज्यों घास ।
सब जग जलता देखकर भया कबीर उदास ॥
कबीर सूता क्या करे जागो जपो मुरार ।
एक दिन ऐसे सोउगे लंबे पैर पसार ॥

जब कबीर-सदृश सन्तकी चेतावनी सुनकर भी हमारी निद्रा भंग नहीं होती तो दूसरोंकी तो हम सुनें ही क्या ?

कर्तव्यको भूलकर भोग, प्रमाद, आलस्य और सांसारिक स्वार्थ-सिद्धिमें मोहित होकर तल्लीन हो जाना ही निद्रा है ।

चराचर भूतप्राणी ईश्वरका अंश होनेके कारण ईश्वरका स्वरूप ही है । इसप्रकार समझकर उनके हितमें रत होकर उनकी सेवा करना और सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन परमात्माके तत्त्वको जानकर उनको कभी नहीं भूलना, यही जागना है ।

श्रुति भी इसी बातको लक्ष्य कराती हुई डंकेकी चोट हमें जगा रही है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥

यदि इस मनुष्य-शरीरमें उस परमात्म-तत्त्वको जान लिया जायगा तो सत्य है यानी उत्तम है और यदि इस जन्ममें उसको नहीं जाना तो महान् हानि है । धीर पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें परमात्माका चिन्तनकर परमात्माको समझकर इस देहको छोड़ अमृतको प्राप्त होते हैं अर्थात् इस देहसे प्राणोंके निकल जानेपर वे अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं ।

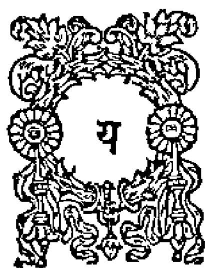
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो ।

ऐसे चेतानेपर भी हमलोग नहीं चेतेंगे तो फिर हमलोगोंका उसी दशाको प्राप्त होना युक्तियुक्त है जैसा कि तुलसीदासजीने कहा है—

जो न तरै भवसागरहि नर समाज अस पाय ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति आतमहनि गति जाय ॥

भजनमें एक बड़ी बाधा



यद्यपि भगवान्‌पर विश्वास करके उनके अनन्य शरण हो जानेपर मनुष्यके सारे दोष अपने-आप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त योगक्षेमका वहन भगवान् स्वयं करते हैं, परन्तु ऐसी स्थिति बहुत सहज नहीं है । सच्चे साधनके फलसे नित्य भगवत्कृपाका अनुभव होनेपर ही भगवान्‌में पूर्ण और अलौकिक विश्वास पैदा होता है और तभी मनुष्य अपने समस्त बल, लोक-परलोक और भोग-मोक्ष सब प्रभुके चरणोंपर अर्पण करके उनके अनन्य शरण होता है । क्षणविश्वासी या अल्पविश्वासी साधारण लोग इस अवस्थासे बहुत दूर रहते हैं । वे भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको सुनकर कभी-कभी विश्वासकी ओर कुछ झुकते हैं, परन्तु पर्याप्त आगे बढ़नेसे पहले ही कई प्रकारकी बाधाएँ प्राप्तकर रुक जाते हैं । इन बाधाओंमें कुछ तो पूर्वकर्मोंके प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ वर्तमान कालके संग, स्थिति आदिके कारण उत्पन्न हुई रुकावटें होती हैं । ये बाधाएँ अनेक हैं, परन्तु इस समय साधारणतः उनमेंसे धनकी चिन्ता एक प्रधान बाधा है । धनकी चिन्ताका कारण उदरपूर्ति या परिवार-पालन ही कहा जाता है

परन्तु वास्तवमें मूलकारण दूसरा है,—वह है हमारी कामभोगपरायणता । विषयोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ और परम आनन्द माननेवाले मनुष्योंकी चिन्ताएँ मृत्युकालतक भी दूर नहीं होतीं । क्योंकि ऐसे लोग अपनी स्थितिके अनुकूल साधारण सादा जीवन बिताना भूल जाते हैं । फलस्वरूप उन्हें रात-दिन धनकी इतनी चिन्ता करनी पड़ती है कि उसके सामने भगवान् और धर्मका चिन्तन या विचार तुच्छ, अनावश्यक और कभी-कभी त्याज्य हो जाता है और वे सब कुछ भूल कामक्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक धनसंग्रहके कार्यमें लग जाते हैं । यों करते-करते ही उनके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं । बहुमूल्य मनुष्य-जीवन पाप-ताप बटोरनेमें ही व्यर्थ बीत जाता है । यह इतनी बड़ी हानि होती है, जिसकी बड़ी कठिनतासे भी पूर्ति नहीं होती और समय हाथसे निकल जानेपर पीछे बेहद पछताना पड़ता है।

मनुष्य यदि चाहे तो प्रारब्ध या सञ्चित-जनित प्रतिबन्धकोंको भी दूर कर सकता है। पर वर्तमान कालके संग और स्थितिसे उपजी हुई बाधाओंको तो मिटानेमें कोई सन्देह ही नहीं है । यदि वह संगको बदल डाले और हृदयमें कुछ बल सञ्चय करके कुसंग और दुर्बलतावश होनेवाले प्रमाद और अकर्तव्य कार्योंको छोड़ दे तो ये बाधाएँ सहज ही दूर हो सकती हैं । वास्तवमें हमें अपने और परिवारके लिये साधारणतः अन्न-वस्त्र संग्रह करनेमें उतनी कठिनता नहीं है । कठिनता तो यह है कि हमने अपनी आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ा ली हैं और उनकी किसी-न-किसी प्रकार पूर्ति करनेमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझ रक्खी है । यदि हम ध्यान देकर देखें तो व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे हजारों अवसर हैं, जिनमें हम बहुत धन खर्च किया करते हैं परन्तु जहाँ बिना खर्च किये ही काम मजेमें चल सकता है, ऐसे अवसरोंपर खर्च करनेकी आवश्यकता हमने उत्पन्न कर ली है, वस्तुतः है नहीं । खाने-पहनने तथा गृहस्थीके दूसरे-दूसरे कार्योंके लिये हम ऐसी बहुत-सी चीजें खरीदते हैं जिनके न खरीदनेसे हमें अपने जीवनयापनमें कोई रुकावट नहीं होती । उदाहरणके लिये, मनुष्यका दो कपड़ोंमें काम चल सकता है पर वह चार-पाँच पहनता है, खानेमें मिठाई अथवा बहुत तरहकी तरकारी, अचार आदिके बिना कोई अड़चन नहीं होती परन्तु इनमें बहुत व्यय किया जाता है! छोटे साफ मकानमें रहा जा सकता है परन्तु दिखावेके लिये बड़ी-बड़ी इमारतें बनवायी जाती हैं। शाल-दुशाले, इत्र-फुलेल, साबुन-क्रीम, फरनीचर आदि हजारों प्रकारके शौकके सामानमें पानीकी ज्यों पैसा बरबाद किया जाता है । यह तो व्यक्तिगत बात हुई । समाजमें ब्याह-शादी, कर्णछेदन, जनेऊ, मरण आदि पर इतना बुरी तरह खर्च किया जाता है कि जिसका दुःख पीढ़ियोंतक भोगना पड़ता है । सैकड़ों अच्छे-अच्छे घराने इस व्यय-भारसे दबकर नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं । इधर वर्षोंसे खर्च घटानेकी तथा रीतियोंमें सुधारकी बात चल रही है और अनेक प्रकारके परिवर्तन भी हुए हैं परन्तु खर्चकी रकम घटनेके बदले बढ़ी है । खर्चके तरीके बदले हैं, खर्च नहीं घटा । बल्कि पहले जो कुछ खर्च किया जाता था, वह प्रायः ऐसी चीजोंमें खर्च होता था जो चीजें बुरे समयपर काम आती थीं और उनकी लागतसे कुछ कम कीमत, चाहे जब बेंचकर, वसूल की जा सकती थी परन्तु अब तो जो कुछ खर्च होता है वह प्रायः स्वाहा ही हो जाता है। फैशनने सबको तबाह कर दिया है । इस सारे अनर्थका कारण हमारी कामभोग-परायणताकी वृद्धि है और इसके छूटनेका असली उपाय विषय-वैराग्य-पूर्वक ईश्वरपरायणता ही है । उस ईश्वरपरायणतामें भजनकी आवश्यकता है । और भजन होनेमें यह धनकी 'हाय-हाय' बाधक हो रही है । अतएव अपना, समाजका और देशका लौकिक, पारलौकिक हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह खर्च घटावे, जीवनमें सब ओर सादगीका व्यवहार करे, व्यक्तिगत और समाजगत धनकी फजूलखर्चीको दृढ़ता **और**

बल्कि साथ नासमझीसे होनेवाली बदनामीको सहकर भी रोके। विवाह-शादीमें तो जो अनर्थ हो रहा है सो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। खर्चकी भयानकताके कारण लड़कियोंका ब्याह नहीं होने पाता और अच्छे-अच्छे परिवार इसके लिये दुखी हो रहे हैं। इसीके कारण प्रायः लड़के-लड़कियोंमें जन्मकालसे ही भेद-दृष्टि हो जाती है। जिसके कई लड़कियाँ हैं उसका तो जीवन ही दुःखमय बन रहा है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक हृदयवान् गृहस्थको इस विषयपर विचार करके कर्तव्य स्थिर करना चाहिये। कन्याके माता-पिता क्या करें, उन्हें तो किसी प्रकार खेत-जमीन, घर-द्वार बन्धक रखकर वरके माता-पिताको राजी करना ही पड़ता है। परन्तु वह हृदयका रक्त दिया जाता है, दहेज नहीं। मेरे मित्र एक सरयूपारी ब्राह्मण हैं, उनके घरमें कई कन्याएँ हैं, एक कन्या विवाहयोग्य है। उसकी उम्र लगभग १५ सालकी हो गयी है, कन्या सुशीला है, बहुत अच्छे ब्राह्मण हैं, परन्तु दहेजके अभावमें विवाह नहीं हो पाता। वे बड़े दुखी हो रहे हैं। हजार डेढ़ हजारसे कममें तो कोई बात ही नहीं करता। यू० पी० के एक सज्जनका पत्र मिला है। वे पहले वकील थे। उनके एक कन्या है। वे लिखते हैं—'कन्या विवाह-योग्य हो गयी है, परन्तु दहेजका प्रश्न सामने है। मैट्रिकपास बालकके पिता तो मोटर बिना बात नहीं करते।' यह पाप है। मैं 'कल्याण'के हृदयवान् उन पाठक-पाठिकाओंसे एक विनय करता हूँ, जो घरमें सम्पन्न हैं और जो परमार्थके मार्गपर आगे बढ़ना चाहते हैं कि वे अपनी व्यक्तिगत और समाजगत आवश्यकताओंको तुरन्त कम कर दें और अपने लड़कोंका विवाह ढूँढ-ढूँढकर बिना दहेज लिये गरीब माता-पिताकी सुयोग्य कन्याओंसे करनेकी प्रतिज्ञा करें। धर्मप्रेमी अविवाहित युवक भी प्रण करें कि वे अपना विवाह बिना दहेज लिये ही करेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेसे उन्हें परमार्थ-मार्गमें बड़ा लाभ होगा।

यह सामाजिक विषय होनेके कारण 'कल्याण'में इस सम्बन्धमें कुछ लिखना अनुचित समझा जा सकता है परन्तु यह निवेदन सामाजिक दृष्टिसे नहीं, शुद्ध परमार्थ-दृष्टिसे किया गया है और इसी दृष्टिसे 'कल्याण'के पाठकोंसे प्रतिज्ञा करनेकी प्रार्थना की गयी है। क्योंकि यह विषय भजनमें बड़ा ही बाधक सिद्ध हो रहा है और इस बाधाके दूर होनेकी बड़ी ही आवश्यकता है। क्या मैं आशा करूँ कि कल्याणके हजारों पाठकोंमेंसे कुछ तो ऐसी प्रतिज्ञा कर ही लेंगे?

वस्तुतः धन अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ है, प्रेमघन *परमात्मारूपी धनकी तुलनामें तो यह रक्खा ही नहीं जा* सकता। सूर्य और जुगनूकी उपमा भी इसके लिये पर्याप्त नहीं है। इसलिये इस विषयमें वृत्तियोंके अधिक लगानेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि आज इस जड-युगमें चारों ओर धनकी पूजा हो रही है और लोग धन-चिन्तामें पड़े हुए ईश्वरको भूल रहे हैं। इसीसे ऐसा लिखा गया है। धन कम खर्च करनेकी इस प्रार्थनासे यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें धनका महत्व बतलाया गया है, वरं यह समझना चाहिये कि धन अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है, व्यर्थ खर्चकर उसके उपार्जनमें समय लगाकर उसका महत्व बढ़ाना उचित नहीं! हम अपनी आवश्यकताओंको जितना कम करेंगे, उतना ही धनका महत्व घटेगा और उतना ही शीघ्र हम पाप-तापसे छूटकर परमात्माकी ओर अग्रसर हो सकेंगे। आवश्यकता ही धनकी लालसा उत्पन्नकर हमें दरवाजे-दरवाजेपर भटकाती और भगवान्से विमुख करती है। जिस दिन चाह मिट जायगी उस दिन हम बादशाह बन जायँगे।

चाह गई चिन्ता गई मनुआँ बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहन्शाह॥

हनुमानप्रसाद पोद्दार



परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

बृहदारण्यक उपनिषद्

विराट् भगवान्—मैं सर्वत्र व्यापक हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई नहीं है, मेरा शरीर किसी भी भोगको भोग नहीं सकता। इसलिये अपने भोगके अर्थ इस बड़े शरीरसे कोई दूसरा छोटा शरीर उत्पन्न करूँ, जिससे मेरे शरीरको विषय-सुख प्राप्त हो।

ऐसा विचारकर विराट् भगवान्ने सीपीके सम्पुटके समान आधा शरीर स्त्रीरूप और आधा शरीर पुरुषरूप बनाया। विराट् भगवान्से उत्पन्न हुआ स्त्री-पुरुषरूप शरीर कारण-अज्ञानसे घड़ा हुआ है इसलिये वह शरीर मायाविशिष्ट ईश्वररूप है, वही शरीर अन्तःकरणादि सूक्ष्म पदार्थोंसे घड़ा हुआ है इसलिये हिरण्यगर्भरूप है और वही शरीर स्थूल भौतिक पदार्थोंसे रचा हुआ है इसलिये विराट्स्वरूप है। जैसे स्त्री-पुरुषात्मक समष्टि शरीर ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्स्वरूप है, इसी प्रकार इस लोकमें स्त्री, पुरुष, नपुंसक तथा स्थावर-जङ्गमादि जितने शरीर हैं, वे सब ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्स्वरूप हैं क्योंकि प्राणियोंके समष्टि स्थूल शरीरके अभिमानी विराट् भगवान् हैं, इसलिये सब प्राणियोंके साथ उनका तादात्म्य-सम्बन्ध है। सब प्राणियोंके समष्टि सूक्ष्म शरीरके अभिमानी हिरण्यगर्भ हैं इसलिये सर्व प्राणियोंके साथ हिरण्यगर्भका तादात्म्य-सम्बन्ध है। और सब प्राणियोंके समष्टि कारण-शरीरका अभिमानी ईश्वर है इसलिये ईश्वरका भी सब प्राणियोंके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है, उनमें माया कारण है, अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उनके कार्य अन्तःकरणादि सूक्ष्म हैं और पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत और उनके कार्य शरीरादि स्थूल हैं, इसप्रकार सब प्राणी स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप हैं, इसलिये सब प्राणियोंके शरीरोंके साथ विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वरका तादात्म्य-सम्बन्ध है। हे इन्द्र! विराट् भगवान्से उत्पन्न हुए स्त्री-पुरुषात्मक शरीरोंसे ही मनुष्यादि सब उत्पन्न हुए हैं।

हे इन्द्र! विराट्का शरीर व्यष्टिमें नहीं गिना जाता, समष्टिमें गिना जाता है। स्त्री-पुरुषके शरीरको उत्पन्न हुआ देखकर विराट् भगवान्ने सीपीके सम्पुटके समान उनके दो भाग किये। उनमेंसे एक भाग स्त्रीरूप और दूसरा भाग पुरुषरूप हुआ। स्त्री-भागको शास्त्रमें 'शतरूपा' और पुरुष-भागको 'स्वयम्भु मनु' कहा है। शतरूपा और मनु भगवान्से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। इसप्रकार जब विराट् भगवान्ने शतरूपा नामकी स्त्री और मनु नामक पुरुषको उत्पन्न किया तब मनु भगवान् कामातुर हुए। मनु भगवान्को कामातुर देखकर शतरूपा अपने मनमें इसप्रकार विचार करने लगी—

शतरूपा—(मनमें) विराट् भगवान्से मेरी और मनुकी उत्पत्ति हुई है। इसलिये मनु मेरा भाई है तब व्यभिचारिणी स्त्रीके समान मैं मनुके साथ किसप्रकार समागम करूँ? मनुके साथ विषय-सम्बन्ध करना मुझे योग्य नहीं है। कामसे मोहित हुआ मनु स्वर्ग-प्राप्तिके साधनरूप धर्मको और नरकके कारणरूप अधर्मको नहीं जानता, मैं तो स्वर्ग तथा नरक-प्राप्तिके साधनरूप धर्म-अधर्मको जानती हूँ, इसलिये मुझे निन्दित कर्ममें प्रवृत्त होना उचित

नहीं है। (यद्यपि स्त्रीमें पुरुषकी अपेक्षा काम अधिक है तो भी इस लोकमें कामसे आतुर हुआ पुरुष धर्म-मर्यादाका जितना उल्लंघन करता है, कामातुरा स्त्री उतना उल्लंघन नहीं करती। पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीमें धैर्य अधिक है इसलिये स्त्रियाँ कदापि मर्यादाका उल्लंघन नहीं करतीं। अत्याचारके लिये पुरुष ही दोषी है!) इस समय मनु कामातुर है, इसलिये यदि मैं उसको इस समय धर्मका उपदेश करूँगी तो वह माननेवाला नहीं है, क्योंकि कामातुर पुरुषको गुरु अथवा स्वामी भी नहीं समझा सकते तो फिर मेरे वचनोंको तो मनु क्यों मानने लगा? मैं अपने स्त्री-रूपको त्यागकर दूसरा रूप धारण करके अन्तर्धान हो जाऊँ। मनुको अधर्मसे निवारण करनेका यह उपाय है। लोकमें समान जातिवाले स्त्री-पुरुषोंमें काम-भावना दिखायी देती है, अपनेसे विलक्षण जातिमें काम-भावना नहीं होती। जैसे मनुष्यको मनुष्य-जातिकी स्त्रीमें ही काम-भावना होती है, पशु-जातिकी स्त्रीमें काम-भावना उत्पन्न नहीं होती।

ऐसा विचारकर भगवती शतरूपाने स्त्री-रूपको त्यागकर गायका रूप धारण कर लिया। शतरूपाको गायरूप धारण किया हुआ देखकर मनुने वृषभका रूप धारण कर लिया। उसी गाय और वृषभसे सर्व गौवें और बैल उत्पन्न हुए। पश्चात् शतरूपाने गायका रूप बदलकर घोड़ीका रूप धारण कर लिया। तब मनुने वृषभका रूप त्यागकर घोड़ेका रूप धारण कर लिया। उनसे सब घोड़ा-घोड़ी हुए। इसप्रकार जिस-जिस जातिवाले स्त्रीके रूपको शतरूपा धारण करती गयी, उसी-उसी जातिके पुरुषरूपको मनु धारण करते गये और उनसे उन सब जातिके स्त्री तथा पुरुष-शरीर उत्पन्न हुए। इसप्रकार मनु-शतरूपा-से स्त्री-पुरुषरूप स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न हुए, यों परमात्माने दो पैरवाले मनुष्यादि, चार पैरवाले अश्वादि और पगसे रहित सर्पादि सब प्राणी उत्पन्न किये।

जगत्‌में परमात्माका प्रवेश

हे देवराज इन्द्र! समष्टि अज्ञानरूप उपाधिमें प्रविष्ट होकर परमात्मा जगत्‌का कर्ता ईश्वर कहलाता है, समष्टि सूक्ष्म उपाधिमें प्रविष्ट होकर हिरण्यगर्भ कहलाता है और वही परमात्मा स्थूल उपाधिमें प्रवेश करनेसे विराट् कहलाता है। भाव यह है कि परमात्मा शरीररूपी समस्त पुरियोंमें प्रवेश करता है। जैसे महाकाश मठरूप उपाधिमें प्रवेश करनेसे मठाकाश कहलाता है और घटरूप उपाधिमें प्रवेश करनेसे घटाकाश कहलाता है इसी प्रकार परमात्मा समष्टि अज्ञानरूप उपाधिमें प्रविष्ट होकर ईश्वर कहलाता है, समष्टि सूक्ष्म उपाधिमें प्रविष्ट होनेसे हिरण्यगर्भ कहलाता है, और समष्टि स्थूल उपाधिमें प्रविष्ट होनेसे विराट् कहलाता है। और जब वही परमात्मा अपने चैतन्य-स्वरूपसे सर्व प्राणियोंके शरीरोंमें पगसे लेकर मस्तकतक प्रवेश करता है तब जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है। जब अन्नादि पदार्थ घरमें लाये जाते हैं तब घरके साथ उन पदार्थोंका सम्बन्ध हुआ कहा जाता है। अन्नादिका जैसे घरमें प्रवेश होता है, इस-प्रकारका परमात्माका प्रवेश जीवोंमें नहीं है, अज्ञानादि उपाधियोंमें स्थित जो परमात्माका स्फुरण है, वही परमात्माका प्रवेश है। इस प्रवेशका नाम शास्त्रमें आभास अथवा अवच्छेद है। जैसे सर्वत्र व्यापक आकाशको भ्रान्तिवाले पुरुष घटमें रहा हुआ मानते हैं वस्तुतः वह आकाश घटमें नहीं रहता। इसी प्रकार सब जगत्‌के अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा-को विचारहीन पुरुष शरीरमें रहा हुआ मानते हैं परन्तु परमार्थसे वह शरीरादिके आश्रय रहा हुआ नहीं होता किन्तु शरीरादि जड़ पदार्थ उसके आश्रय-में रहते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिके पहले आकाश सर्वत्र विद्यमान है तो भी घट होनेके बाद आकाश उसमें प्रविष्ट होता है इसी प्रकार शरीरकी उत्पत्ति-के पहले यद्यपि आत्मा सर्वत्र विद्यमान है तो भी

शरीर होनेपर शरीरमें उसका प्रवेश होता है। जैसे सूर्यका प्रकाश सब पदार्थोंपर समान पड़ता है तो भी सूर्यकान्तमणिद्वारा वह दाहक होता है परन्तु घटादि पदार्थोंद्वारा दाहादि कार्य नहीं करता, इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र व्यापक है तो भी उसकी हृदयमें विशेषरूपसे उपलब्धि होती है। शास्त्रमें आत्माको हृदयस्थ कहा है। जैसे नाईकी औज़ार रखनेकी पेटीमें किसी एक स्थानमें ही अस्तुरे-रूप शस्त्रकी जल्दी उपलब्धि होती है, इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीरमेंसे एक हृदय-देशमें ही आत्माकी जल्दी उपलब्धि होती है। जैसे अग्नि सामान्यरूपसे सब पदार्थोंमें रहता है किन्तु काष्ठमें ही उसकी सहज उपलब्धि होती है। इसी प्रकार सामान्यरूपसे परमात्मा सर्वत्र व्यापक है तो भी शरीरोंमें ही विशेपरूपसे उसकी उपलब्धि होती है। जैसे स्वरूप-से अग्निमें न्यूनता अथवा अधिकता नहीं है तो भी काष्ठरूप उपाधिकी न्यूनता अथवा अधिकता अग्निमें दिखायी देती है। इसी प्रकार आनन्द-स्वरूप आत्मामें यद्यपि वस्तुतः न्यूनता अथवा अधिकता नहीं है तो भी शरीरोंकी उपाधिसे उसमें न्यूनता अथवा अधिकता जाननेमें आती है।

इन्द्र-हे भगवन् ! यदि आत्मा विशेपरूपसे सर्व शरीरोंमें स्थित है तो सबको आत्माका साक्षात्कार क्यों नहीं होता ?

दध्यङ-हे इन्द्र ! जैसे अग्नि सब काष्ठोंमें रहता है तो भी किसी-किसी काष्ठके मन्थन करनेसे उत्पन्न हो आता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि सब शरीरोंमें स्थित है तो भी श्रवणादि साधनोंसे किसी-किसी शरीरमें उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात् वेदान्त-शास्त्रके श्रवण किये बिना अस्ति, भातिरूपसे तो सब जीवोंको आत्माका ज्ञान होता है किन्तु परिपूर्ण आनन्दस्वरूप और अद्वितीयरूपसे आत्माका ज्ञान सबको नहीं होता। श्रवणादि साधनोंसे ही अद्वितीय आत्माका साक्षात्कार होता है। जैसे काष्ठरूप उपाधिके भेदसे अग्नि महान् तथा अल्पभावको प्राप्त होता है, वस्तुतः अग्निमें महानता अथवा अल्पता नहीं है, इसी प्रकार एक ही अद्वितीय परमात्मा अन्तःकरणादि उपाधियों-के भेदसे अनेक प्रकारके भावोंको प्राप्त होता है, वस्तुतः तो वह एकस्वरूप ही है। जैसे एक ही अग्नि-का प्रकाश काष्ठरूपी उपाधिके भेदसे अनेक प्रकार-का हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मा अन्तःकरणादि उपाधियोंके भेदसे अनेक प्रकारका हो जाता है। जैसे रात्रिके समय सूक्ष्मरूपसे सूर्यका प्रकाश विद्यमान है तो भी अन्धकारसे पराजयको प्राप्त सूर्यका प्रकाश किसी पदार्थको विशेपरूपसे प्रकाश नहीं करता, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है, तो भी अज्ञानसे ढका हुआ होने-से वह किसीको विशेपरूपसे प्रकाश नहीं देता।

इन्द्र-हे भगवन् ! प्रकाशस्वरूप आत्मामें अज्ञान-कृत आवरण कैसे हो सकता है ?

दध्यङ-हे इन्द्र ! जैसे दिनमें अन्धकार सूर्यके आश्रय रहता है और रात्रिमें सूर्यको ढक देता है इसी प्रकार अज्ञान आत्माके आश्रय रहता है और उसीको आच्छादन भी करता है इसीलिये अज्ञानको शास्त्रमें स्वाश्रय-स्वविषयरूप कहा है अर्थात् जैसे अन्धकार जिस घरके आश्रय रहता है, उसी घरको आच्छादन करता है, इसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार शुद्ध आत्माके आश्रय रहता है और उसी-को आच्छादन करता है।

जगत्का अध्यारोपापवाद

हे देवराज इन्द्र ! जैसे धूपमें और सूर्यनारायण-में एक-सा ही प्रकाश है तो भी सूर्यनारायण पूर्ण प्रकाशस्वरूप हैं परन्तु धूप पूर्ण प्रकाशस्वरूप नहीं, किन्तु परिच्छिन्न प्रकाशरूप है, उसी प्रकार वागादि इन्द्रियोंमें जो आत्माका प्रकाश है, वह परिपूर्ण प्रकाश नहीं, किन्तु परिच्छिन्न प्रकाश है और आनन्दस्वरूप आत्मा पूर्ण प्रकाशस्वरूप है। यद्यपि

यह आनन्दस्वरूप आत्मा एक-एक वागादि इन्द्रियोंमें व्यापक होनेसे परिपूर्ण है तो भी 'मैं वाक् हूँ', 'मैं श्रोत्र हूँ' इसप्रकार विपरीत ज्ञानके विषयवाला आत्मा परिच्छिन्नके समान प्रतीत होता है। परिपूर्ण आत्मामें परिच्छिन्न दृष्टि होना ही जन्म-मरणरूप संसारका कारण है। इसलिये विद्वान् पुरुष आत्माको परिच्छिन्नरूपसे नहीं देखते, किन्तु सर्वत्र परिपूर्णरूपसे देखते हैं। जैसे देवदत्त नामक कोई पुरुष जब रसोई करता है तो लोग उसे रसोइया कहते हैं और जब वही पाठ करता है तो लोग उसे पाठक कहते हैं। इसप्रकार पाकरूप क्रियाके ग्रहण करनेसे देवदत्तमें रसोइया शब्दकी प्रवृत्ति होती है और पाठरूप क्रियासे पाठक शब्दकी प्रवृत्ति होती है। पाकरूप क्रिया और पाठरूप क्रिया-से रहित देवदत्तके स्वरूपमें पाचक अथवा पाठक नाम-की प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये पाचक और पाठक नाम देवदत्तमें परिच्छिन्नता दिखलाते हैं, परिपूर्णता नहीं दिखलाते, इसी प्रकार वागादि नाम भी किसी निमित्त-कारणसे आत्मामें प्रवृत्त होते हैं, स्वरूपसे शुद्ध आत्मामें किसी नामकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये वागादि सर्व नाम आत्माकी परिच्छिन्नता-के बोधक हैं।

हे इन्द्र ! जब आनन्दस्वरूप आत्मा शब्दका उच्चारणरूप व्यापार करता है, तब वाक् कहलाता है, जब घट-पटादि पदार्थोंको ग्रहण करता है तब हस्त कहलाता है, जब मलादिके परित्यागद्वारा प्राणियोंका परिपालन करता है, तब पायु कहलाता है, जब प्राणियोंके आनन्दको उत्पन्न करता है, तब शिश्न कहलाता है और जब आत्मा प्राणियोंके सुख-दुःखके भोगके निमित्त गमन करता है तब पैर कहलाता है। इसप्रकार वागादि कर्मेन्द्रियोंके साथ तादात्म्य अध्यासको प्राप्त होनेसे आत्मामें वागादि शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है। जब आत्मा गन्धको ग्रहण करता है तब घ्राण कहलाता है। जब देखता है तब चक्षु कहलाता है। जब सुनता है तब श्रोत्र कहलाता है। जब मधुरादि षट् रसोंको चखता है तब रसन कहलाता है और जब शीतोष्ण-स्पर्शका अनुभव करता है तब त्वचा कहलाता है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा शरीरमें घूमनेसे प्राण कहलाता है। सर्व जगत्की कल्पना करनेसे मन कहलाता है। गर्भके समान सर्व जगत्को वासना-रूपसे अपने स्वरूपमें धारण करनेसे धी कहलाता है। अनुसन्धानरूप वृत्तिको प्रकाश करनेसे चित्त कहलाता है और 'मैं' इसप्रकारके अभिमानसे सर्व प्राणीमात्रका बोधक होनेसे आत्मा कहलाता है। 'मैं' शब्द सर्व प्राणियोंके आत्माका बोधक और वाचक है। वागादि जितने नाम ऊपर कहे हैं और देव, मनुष्य, असुर इत्यादि लोकमें जितने नाम हैं, वे सब भिन्न-भिन्न रूपसे आत्माके ही बोधक हैं। वागादि शब्दोंका अर्थ जो आत्मा है, विद्वान् पुरुषके लिये उसको जानना उचित नहीं है किन्तु परिपूर्ण आत्माको जानना चाहिये। जैसे जलरूप उपाधिके भेदसे एक ही सूर्य अनेक प्रकारका दीखता है इसी प्रकार एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा भिन्न-भिन्न उपाधियोंके सम्बन्धसे वागादि अनेक प्रकारका प्रतीत होता है और उपाधिके नाश होनेपर तो आत्मा ही आत्मारूपसे एकत्वको प्राप्त होता है, परिपूर्ण आत्मा ही वस्तुतः जाननेयोग्य है। जैसे एक ही महाकाशका घटाकाश, मठाकाश, गृहाकाश इत्यादि विशेष रूपोंसे सम्बन्ध है इसी प्रकार एक ही आनन्दस्वरूप आत्माका वागादि सर्वविशेष रूपोंसे सम्बन्ध है परन्तु आत्मा सजातीय, विजातीय और स्वगत इन तीनों भेदोंसे रहित है, क्योंकि सर्व जीवोंमें आनन्दस्वरूप आत्मा 'मैं' इस शब्दका और 'मैं' इस ज्ञानका विषयरूप जाननेमें आता है इस-लिये शक्ति-वृत्तिसे परिपूर्ण अर्थको जतानेवाला जो 'आत्म' शब्द है और लक्षणा-वृत्तिसे परिपूर्ण अर्थको जतानेवाला जो 'मैं' शब्द है, इन दोनों शब्दोंसे ही बुद्धिमान् पुरुष आत्माको परिपूर्ण जानते हैं।

इन्द्र—हे भगवन् ! जैसे प्रत्येक पुरुष अपने शरीरमें 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं स्थूल हूँ' इसप्रकार 'मैं' शब्दका प्रयोग करता है, उसमें वक्ता पुरुषके भेदसे और 'मैं' शब्दके भेदसे 'अहं' शब्दके अर्थरूप शरीरका भेद जाननेमें आता है। इसी प्रकार 'मैं' शब्दका और 'आत्मा' शब्दका वक्ता पुरुषके भेदसे और 'अहं' शब्द तथा 'आत्म' शब्दके भेदसे 'अहं' शब्द और 'आत्मा' शब्दके अर्थरूप आत्माका भी भेद हो जायगा।

दध्यङ—हे इन्द्र ! वक्ताके भेदसे और शब्द-प्रयोगके भेदसे सर्वत्र पदार्थका भेद नहीं होता, जैसे एक मनुष्य घड़ेको घट कहता है और दूसरा कलश कहता है। इसमें परस्पर उच्चारणका ही भेद है, घड़ेके स्वरूपमें भेद नहीं है। इसी प्रकार आत्माको 'अहं' कहनेसे और 'आत्मा' कहनेसे 'अहं' और 'आत्मा' शब्दका ही भेद होता है, उन दोनों शब्दोंके लक्ष्य अर्थ आत्माका भेद नहीं होता—एक ही आनन्दस्वरूप आत्मा सर्व प्राणियोंके 'अहं' शब्दमें और 'आत्म' शब्दमें सम्बन्धवाला प्रतीत होता है इसलिये वक्ता पुरुषके भेदसे और शब्दके भेदसे आत्माका भेद नहीं है। एक आत्मा प्राणीमात्रमें व्यापक है, जैसे गृहमें स्थित आकाशको गृहाकाश, मठमें स्थित आकाशको मठाकाश और घटमें स्थित आकाशको घटाकाश कहनेमें यद्यपि परस्पर शब्दोंका भेद है पर आकाश शब्दका अर्थ जो शुद्ध महाकाश है, उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता, इसी प्रकार 'आत्मा' और 'मैं' शब्दका अर्थ शुद्ध आत्मा ही है। मुमुक्षुओंको शुद्ध आत्माका साक्षात्कार करना योग्य है। अधिकारियोंको शब्दादि विषयोंकी प्राप्तिके लिये उपाय नहीं करना चाहिये। शास्त्रमें कहा है कि बुद्धिमान्‌को उसी पदार्थकी प्राप्तिके लिये उपाय करना चाहिये, जो पदार्थ अन्तमें सुखका साधन हो। जिस पदार्थकी प्राप्तिसे पीछे दुःख हो, उस पदार्थको प्राप्त करनेका यत्न करना उचित नहीं है। शब्दादि विषयोंसे दुःख उत्पन्न होता है, इसलिये उनके लिये यत्न करना व्यर्थ है। आत्माके साक्षात्कारसे निरतिशय आनन्द प्राप्त होता है, इसलिये आत्म-साक्षात्कारके लिये उद्यम करना चाहिये। शब्द, स्पर्शादि विषय परिणाममें दुःख उत्पन्न करते हैं इसलिये उनकी प्राप्तिके लिये यत्न करना उचित नहीं है। इसी प्रकार विषय-भोगके साधनरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर भी भोगकी प्राप्तिद्वारा उत्तर-कालमें अनेक प्रकार दुःखोंका कारण होते हैं इसलिये ये तीन प्रकारके शरीर भी अधिकारीको प्राप्त करनेयोग्य नहीं हैं। शब्दादिसे लेकर कारण-शरीरपर्यन्त जितना दृश्य प्रपञ्च है, उस सबको त्यागकर शरीर-संघातमें स्थित सत्, चित् तथा आनन्दस्वरूप आत्माको जब पुरुष जानता है तब सच्चिदानन्दद्वारा वह अपने आत्माको जाननेमें समर्थ होता है। जैसे गायके पैरोंके खोजोंपर जानेसे गायका पता लगता है, इसी प्रकार शरीर-संघातमें स्थित आत्माका जब निश्चय होता है तब सर्व भूत प्राणिमात्रमें व्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार होता है; शरीर-संघातमें स्थित आत्माके ज्ञान विना सर्वत्र व्यापक आत्माका ज्ञान नहीं होता। अन्तःकरणरूपी मार्गमें गायके पैरके चिह्नोंके समान साक्षीरूपसे स्थित आत्माका निश्चय कर लेनेसे स्थावर-जंगमरूप सर्व जगत्‌में व्यापक आत्माका निश्चय हो जाता है। आनन्दस्वरूप आत्माके लाभ विना अन्य कोई पदार्थ लाभदायक नहीं होता। आनन्दस्वरूप आत्माके प्राप्त होनेसे यश, कीर्ति आदि जितने अल्प पदार्थ हैं, वे सब आत्मज्ञानीको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे हाथीके पैरमें सबके पैरोंका समावेश हो जाता है इसी प्रकार आत्मज्ञानरूप फलमें सब कर्मोंके फलका अन्तर्भाव है। इसलिये आत्माके सिवा सब पदार्थ त्यागनेयोग्य है और आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान ही सम्पादन करना योग्य है। सबसे अधिक प्रिय होनेसे आनन्दस्वरूप आत्मा ही प्राप्त करना चाहिये।

पुत्र आदिसे भी आत्मा अधिक प्रिय

हे इन्द्र! जैसे आत्मा प्रिय कहनेमें आता है इसी प्रकार पुत्रादि पदार्थ भी प्रिय कहे जाते हैं। इनमें आत्मा किसी प्रकारकी उपाधि विना प्रिय होता है और पुत्रादि पदार्थ उपाधिद्वारा प्रिय लगते हैं। पुत्र, स्त्री, बान्धव, धन आदिमें जो प्रीति होती है, वह प्रीति आत्माके लिये ही होती है, पुत्रादिके लिये नहीं होती। यदि पुत्रादिके लिये ही प्रीति हो तो शत्रुके पुत्रादिमें भी प्रीति होनी चाहिये किन्तु उनमें प्रीति नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि पुत्रादिकी प्रीति अपने आनन्दके लिये है। आत्मामें जो प्रीति है, वह किसी पदार्थके लिये नहीं, किन्तु आत्माके लिये ही है, इसलिये आनन्द-स्वरूप आत्मामें निरुपाधिक प्रीतिका विषयपना है और पुत्रादिमें सोपाधिक प्रीतिका विषयपना है। श्रुतिमें आत्माको पुत्रादिसे भी अधिक प्रिय कहा है। आत्माकी अपेक्षासे पुत्रादि बाहरके पदार्थ हैं इसलिये वे उपाधिकी प्रीतिका विषय हैं। इसी प्रकार आत्माकी अपेक्षासे प्राणादि भी बाहरके पदार्थ हैं इसलिये वे भी उपाधिकी प्रीतिके ही विषय हैं।

स्थूल शरीरके परिणामको प्राप्त हुए शब्दादि विषयोंसे प्राणविशिष्ट इन्द्रियाँ अन्दर हैं, इन्द्रियोंकी अपेक्षा संकल्प-विकल्परूप मन अन्दर है, मनकी अपेक्षा निश्चयरूप बुद्धि अन्दर है, बुद्धिकी अपेक्षा अहंकार अन्दर है, अहंकारकी अपेक्षा कारणरूप अज्ञान अन्दर है, कारण-अज्ञानका नाम अव्याकृत है, और अव्याकृत नामके कारण-अज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्मा अन्दर है। शुद्ध आत्माकी अपेक्षासे कोई पदार्थ अन्दर नहीं है। जैसे घटरूप विषय बाहर है। आनन्द-स्वरूप आत्मा नेत्रादि इन्द्रियोंसे घटरूप विषयको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माकी विशेषणरूप जो इन्द्रियाँ हैं, वे घटादि विषयकी अपेक्षासे अन्दर हैं। आत्मा मनसे इन्द्रियोंको जानता है इसलिये मन इन्द्रियोंकी अपेक्षासे अन्दर है, आत्मा निश्चयरूप बुद्धिसे मनको जानता है इसलिये द्रष्टा आत्माकी विशेषणरूप बुद्धि मनकी अपेक्षासे अन्दर है, आत्मा अहंकारविशिष्ट जीवसे बुद्धिको जानता है इसलिये आत्माका विशेषण जो जीव है, वह बुद्धिकी अपेक्षासे अन्दर है। कारण-अज्ञानसे ढका हुआ आत्मा अहंकारवाले जीवको जानता है, इसलिये कारण-अज्ञान जीवकी अपेक्षासे अन्दर है। और आत्मा स्वयं प्रकाशरूप है, अज्ञानका प्रकाश करनेवाला होनेसे अज्ञानकी अपेक्षा आत्मा अन्दर है। आत्माकी अपेक्षासे कोई दूसरा पदार्थ अन्दर नहीं है। आत्माकी अपेक्षासे अज्ञान आदि सब पदार्थ बाहर हैं, आत्मा ही सबके अन्दर है। इसी कारणसे आत्मा आनन्दस्वरूप है। आनन्दस्वरूप होनेसे आत्मा पुत्रादिसे लेकर अज्ञानपर्यन्त सब पदार्थोंकी अपेक्षा अत्यन्त प्रिय है। आत्मासे अधिक प्रिय कोई नहीं है। (क्रमशः)

श्रीकृष्ण दीनबन्धो

प्रज्ञादयादि सिन्धो श्रीकृष्ण दीनबन्धो। टेक।

आनन्दकन्द बुद्ध-प्रज्ञानरूप शुद्ध।
वेदान्तवेद्य सुन्दर-निष्काम भक्त-बन्धो ॥ १ ॥ प्रज्ञा०

कंसादि-दैत्यहारी-कुब्जा-विनोदकारी।
ब्रह्मादि-मोहकारी-गोपी प्रियैक बन्धो ॥ २ ॥ प्रज्ञा०

जब जब विपत प्रदर्शन-भारतमें खूब होता।
अवतार लेके तब तब आते दयालु बन्धो ॥ ३ ॥ प्रज्ञा०

भक्तोंका देख सङ्कट-वैकुण्ठ छोड आते।
गोपाल शान्ति देते-उद्धार कर भवान्धो ॥ ४ ॥ प्रज्ञा०

त्रिगुणात्म विश्व अन्दर-अध्यात्म-बोध हितकर।
दे दा महशमाधव-तुम हो सदैव बन्धो ॥ ५ ॥ प्रज्ञा०

—श्रीघनश्यामचन्द्र शास्त्री

ज्वरकी अवस्थाका प्रलाप

[हरद्वारमें एक संन्यासीजीको और इधर अनूपशहरके पास गंगातीरपर एक प्रेमी सज्जनको ज्वर आया था। ज्वरमें दोनोंने ही अपनी-अपनी धुनमें कुछ कहा, संयोगवश बिना ही माँगे दोनों जगहसे एक ही शीर्षक-में लगभग एक ही साथ वह लिपिबद्ध होकर 'कल्याण' में प्रकाशनार्थ यहाँ पहुँच गया। इन प्रलापोंमें बहुत-सी कामकी बातें हैं, इसलिये दोनोंको प्रकाशित किया जाता है। —सम्पादक]

(१)
(एक संन्यासी)

समष्टिके अभिमानीका नाम ईश्वर और व्यष्टिके अभिमानीका नाम जीव है। मेरे शरीरमें जितने कीटाणु विद्यमान हैं, प्रत्येककी अभिमानी चेतन सत्ता भिन्न-भिन्न है, परन्तु उन कीटोंके समूहरूप यह मेरा शरीर है। इन अनन्त कीटोंके समूहरूप शरीर मिलकर जो एक समष्टि बना है वह मनुष्य-शरीर है, इसका अभिमानी मैं हूँ। परन्तु वे कीटाणु जिनका समूह मेरा शरीर है किन्हीं अन्य अनन्त शरीरोंका ढेर है। परन्तु वे शरीर मेरे शरीरसे भिन्न नहीं हैं; उनके शरीरोंमें मेरा शरीर भासता है। परन्तु वे सब अभिमानी भी मुझसे भिन्न नहीं हैं। कोई कह नहीं सकता कि मेरे अमुक अवयवोंको काट दो। इससे प्रतीत होता है कि मेरा शरीर उन शरीर तथा आत्माओंसे सर्वदा अभिन्न है। मैं छोटेसे लेकर बड़ेतक सबमें ओतप्रोत हूँ। जैसे मेरा शरीर अन्य कीटोंका समूह है और अन्य कीट मेरे शरीरके अवयव हैं, इसी तरह मेरा शरीर भी किसी महत् शरीरका अवयव है और वह महत् शरीर भी किसी और का अवयव है। जहाँ यह सत्ता और महत्ता समाप्त होती है, जिसके परे कोई महत्ता बाकी नहीं रह जाती, उसका अभिमानी एक चेतन सत् व्यापक और महत्तम है। वह इस विश्वके जड़ और चेतनमें ओतप्रोत है। उसको हम ईश्वर कहते हैं। वह इस समष्टिके जड़ और चेतनमें व्याप्त होकर इसके समस्त जड़-चेतनकी क्रिया कर रहा है। जैसे कि हम शरीर और शरीरगत कीटाणुओं-की करते हैं।

'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'

अन्यथा यह महात्मा पुष्करसे यहाँतक क्यों चले आये? पुष्करसे यहाँतक घनी आबादी है और बड़ी धर्म-शालाएँ हैं। यह महात्मा यहाँ क्यों आ गये? किसने इनको यहाँ भेज दिया? मैं तो कहूँगा वही एक व्यापक सत्ता है जो समष्टिस्वरूप है और सबमें ओतप्रोत है। वही सबको इधर-उधर पुतलीकी तरह घुमा रही है।

जो समष्टिका अभिमानी है, जिसका यह शरीर भी शरीर है, जिसके चेतन-स्वरूपका एक अंश ही इसका यह चेतन-स्वरूप है। उसने अपने एक अवयवको हमारे यहाँ कल्याणमय, सुखद समय प्रदान करनेके लिये भेज दिया है, यह ईश्वरका अंश होनेसे हमारी और विश्व तैजस प्रकट प्राज्ञकी तरह सर्वव्यापक एक चेतन सत्ता है जिसको हम कभी-कभी याद रखते हैं। उसके भेजे इस स्वरूपका यदि हम सत्कार करते हैं, सेवा करते हैं, आश्वासन देते हैं, अनुमति देते हैं, उसे उस भूमिमें ठहरने देते हैं जो उसकी है, तो समझो कि हम ईश्वरकी उस रूपमें सेवा करते हैं जिस तरह कि हमारा दाहिना हाथ बायें पैरके दुःखमें शामिल हो जाता है। हम न ईश्वरपर एहसान करते हैं, न उसका कोई उपकार। हमने अपने एक पड़ोसी, नहीं, अपनेसे अलग (पर अपने ही स्वरूप) एक चेतन सत्ताके साथ सहानुभूति प्रकट की है; न हमने इनको कुछ दिया है और न कुछ लिया है। इसी

तरह भगवान् प्रसन्न होते हैं । जैसे मेरे अन्तःकरणमें मेरे पाँवके दुःखकी सहानुभूति और हितैषिताका सञ्चार होने लगता है । भगवान्का शरीर, भगवान्के अवयव-के साथ सहानुभूति भगवान्को प्रिय इसलिये है कि भगवान्के शरीरको सुख हो । यह परमार्थ-दृष्टि ही सत् ज्ञान है, सच्चा व्यवहार है और परमार्थका सीधा रास्ता है । इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं, दया करते हैं और हमारा कल्याण होता है । यदि हम इसके विपरीत बरतें, ऐसी अवस्थामें किसीको आश्वासन न दें, उससे रूक्षताका व्यवहार करें तो यह उस अन्तर्यामीसे विमुख होना है, उसकी सेवासे जी चुराना है और घोर पाप करना है; दुर्गतिके कारणकी थैली भरना है, अन्तर्यामी प्रभुसे अनन्त योजन दूर हो जाना है; और नरकमें अपने रहनेका घर बनाना है । यह पाप है, इससे बचो । जितने प्राणी अल्पज्ञकी दृष्टिमें भले हैं, बुरे हैं, पापी हैं, धर्मात्मा हैं, भगवान्की पूजा करते हैं, या भगवान्के अवयवोंपर कुठाराघात करनेमें लगे रहते हैं तुम उन सबको भगवान् समझो, उनकी सेवा भगवान्की सेवा समझो । तुम उनको घृणित मत समझो, जिस घृणाको तुम उनके अन्दर आरोप करके घृणा करते हो, दूर भागते हो, क्या तुमने उस घृणाकी वस्तुको कभी देखा है ? वह तो कर्म है, प्राणका धर्म है, चक्षुका विषय नहीं । फिर तुम देखते ही उससे नाक-मुँह क्यों चढ़ा लेते हो ? मारवाड़की सभ्य परिभाषामें '*वो माणस तो चोखो ही छे, पर काम घणो खोटो करै छे*' उसकी चेतन सत्ता दूषित नहीं है, वैसी ही पवित्र और शुद्ध है, जैसी तुम्हारी है । उसका शरीर भी भगवान्के शरीरका वैसा ही अवयव है जैसा तुम्हारा । तुम भगवान्के अवयवकी सेवा करते हो, उसकी नहीं । तुम उसके बुरे कर्मका अनुसरण मत करो; स्वयं बचो और उसको भी प्रेम-पूर्वक दयाभावसे बचानेका यत्न करो । यह धर्म है, भगवान्की सेवा है, मोक्षका साधन है, इसमें पतनका भय नहीं । भगवान् प्रसन्न होंगे, दयामयी भुजा बढ़ावेंगे । वह तुम्हारा अवलम्बन (सहारा) होगी और वही भवसागर पार होनेका आधार होगी, सहारा होगी और दृढ़ नौका होगी ।

(२)

(एक प्रेमी)

प्यारे श्रीराधारमणजी !

न जाने अभी मेरे दुःखका कोष तुम्हारे पास कितना और शेष है ? भले दादा ! मुझे बतलाओ तो सही । सञ्चित द्रव्यमें २१ साल तो भोगविलास करते व्यतीत हो गये, परन्तु महान् आश्चर्यकी बात है कि वह अभीतक समाप्त ही नहीं हुआ । अभी इस भाद्रपदमें तो आठ दिनतक आनन्दशय्यापर लेटा हुआ ब्रह्मनिष्ठ प्रेमस्वरूप तुम्हारे रसिकजनोंकी प्रेमधाराकी आनन्दमय तरंगोंमें स्नान करता ही रहा था और उस आनन्दवर्षामें भीगनेसे ज्वरकी जाज्वल्यमान ज्वाला शान्त होती जाती थी । मैं उस समय कह नहीं सकता था कि सुख-दुःखमें क्या अन्तर है !

और देखो, कन्हैया भैया ! इस वैज्ञानिक युगके लोग, जिन्हें बायें-दहिनेके अतिरिक्त आगे-पीछेका कुछ भी नहीं सूझता, अथवा निरक्षर भट्टाचार्य लोग, तुम्हें पाँच सहस्र वर्षका दाढ़ी-मूँछवाला बूढ़ा कृष्ण कहते हैं परन्तु अपना अक्षय लोमस मन तो तुम्हें अभीतक सात वर्षका बालक ही मानता चला आता है । खैर, कुछ भी हो, परन्तु तुम मुझे अब बड़े कृपण-से प्रतीत होते हो । यदि यह असत्य है तो बालकपनेके ये चोचले क्यों नहीं छोड़ते ? मेरी जन्म-जन्मान्तरकी लाखों मन कमाई (पाप)का फल तुम छटाँकोंसे तौल-तौलकर देते हो, कहीं ज्येष्ठकी धूपके प्यासेको बूँदोंसे जल पिलाया जाता है ? यह तो एक

हिमालय-सदृश पर्वतके टुकड़े-टुकड़े करके तोले-माशेके वाट बनाने हैं।

हे साँवल साह ! सुने तो तुम यहाँतक गये हो कि, जिस किसीका कुछ भी तुम्हारे हाथ लग जाता है फिर तुम उसको वापस देना ही नहीं जानते, परन्तु मेरी ही किश्तें खूब ठीक-ठीक समयपर देते आये हो। क्यों जी, यह जो मुझे मिलता है, सो व्याज है या मूलधन ? तुम मेरे इस सञ्चित धन (पाप) के बैंकमें बहुत दिनोंसे काम करते चले आते हो, कोई वेतन भी नहीं पाते। मेरी बड़ी भूल हुई जो मैंने तुम्हारा कभी ध्यान नहीं किया और तुमने भी कभी कुछ माँगा नहीं। तुम्हारी गरीबीपर मुझे बड़ा तरस आता है। केवल तीन हाथ पटुका और एक कारी कमरी ही पास रह गयी है परन्तु ठाकुर तब भी कहलाते हो और गरीबोंको सताते हो, बेचारोंके घर दूध-दहीतक भी नहीं छोड़ते। परन्तु मेरी पिछली कमाईको तो नहीं चुराते। चुरा लो, लूट लो, या यों ही कह दो कि 'मुझपर अब तुम्हारा कुछ भी नहीं रहा या मुझसे तुम्हारी पूँजी चोरी गयी, उसके बदले मुझको ले लो।'

नटखट नटवर ! मैं इस बकवादमें कोई द्वेष-भाव विचारकर या दुःखकी निन्दा करके तुम्हें चुप नहीं करना चाहता। आज वह बड़ा हर्ष मुझे प्राप्त है, जिसे लोग दुःख करके बताते हैं। तुम्हारी भेजी हुई जो कोई भी वस्तु होगी, वह मुझ-जैसे पामरकी तो कौन कहे, मुनियोंको भी तुम्हारे प्रेमके नातेसे परम प्रिय होगी। जब सांसारिक स्वार्थावलम्बी प्रेमियोंके पत्रादि-की प्रतीक्षा करते-करते उनके प्राप्त होनेपर प्रेमके कारण मनुष्यको हर्ष होता है तब तुम्हारी भेजी हुई वस्तुका तो कहना ही क्या है ? कुछ भी हो, वह तो प्राणोंसे भी प्यारी ही लगेगी।

नयनाभिराम घनश्याम शोभाधाम ललित-ललाम ! यह भी तो मेरा अहोभाग्य है कि तुम मुझे याद करके कुछ तो सौगात भेजते हो। भेजनेके समय न जाने कितनी देर मुझ-जैसे अधमाधमका नाम तुम अपने मनमें लाते होगे ? मुझे आज विश्वास हो गया कि अब जो कुछ भी अच्छा या बुरा हूँ, सरकारको मेरी खबर है; मेरी मिट्टीको वह प्यारा पहचानता है, किसी प्रकार भी मुझे कुछ देर तो अपने हृदयमें बसा ही लेता है—*शंकरमानस राजमराला*।

देख भैया ज्वर ! मैं तेरा कौन-सा सौम्य स्वरूप मानकर पूजन-वन्दन-अभिनन्दन करूँ। तेरे ही कारण कन्हैया भैया मुझे यह मान-सम्मान देता है। फिर भला, तुझ-जैसा परम सखा सुखदाता चाहे जबतक क्यों न मेरे पास रहे और मौज करे। मैं कभी तुझे घर भेजनेकी बात अपने मुखसे कह ही नहीं सकता। तेरे उपकारका बदला सोचना मेरी बुद्धिके परेका विषय है।

अरे कन्हैया ! तू तो बड़ा ही चालाक, छलिया और इन्द्रजाली है, मुझे तो इधर तूने कारण-कार्यका न्याय घटित करके भ्रामरी दशामें डाल दिया। उधर थोड़ी ही देर बाद किसीसे कहलाता है कि 'कोई हानि नहीं, यह तो शरीरका भोग है, भोग होनेपर आप ही समाप्त हो जायगा।' तेरे अविश्वासी कोई उसी समय कहते हैं कि 'वैद्यराजको बुलाइये, ओषधि-का उपचार कीजिये। यही कर्तव्य-कर्म है अथवा लंघन होने दीजिये। क्योंकि—

ज्वर याचक और पाहुनो इनको यही सुभाय।
लंघनसे ये जात हैं बहुरि न आवत धाय॥

आधारमन श्रीराधा-रमन ! खैर, अपनी-अपनी सब कहते ही रहते हैं। मुझे तो भैया ! तेरा बड़ा ही कलक लगता है। मैं तो मौजसे लेटे रहता हूँ और तू

मदारका घोड़ा बना चारों ओर दौड़ता ही रहता है। यही तो मुझसे देखा नहीं जाता। बड़ा ही दुःख मालूम होता है। खैर, कोई बात नहीं। बालकोंपर खेलमें किसानोंसे अधिक काम पड़ता ही है परन्तु वह खेलमें हार नहीं मानते। फिर भी यह सोचकर दया-सी आ जाती है कि प्रत्येक समय पालनेका झूलनेवाला, कमलवत् शय्याका विहारी, कोमल अवस्थाका शिशु, मधुर मूरत, नगे पैर इस कुआँरकी तीखी धूपमें वैद्यराजजीको न जाने कहाँसे हल जोततेसे बुलाकर लाया होगा। क्योंकि मुझ-जैसे गँवार-दीन रोगियोंको बहुधा ऐसे ही धन्वन्तरि मिला करते हैं। कहा भी है कि—

जैसी नकटी देवी, वैसे ही बूचे पुजारी।

मेरे मनमें समा जा। योगियोंके अन्तःकरणमें जब तू प्राणायामकी डोरमें बँधकर जाता है तो वहाँ दस-पाँच मिनट बाद तुझे हवा खानेको तो मिल जाती है। पर मैंने तो ज्वरका आसव निकालनेके लिये प्रचण्ड अग्नि कर दी है और कम्बलको ऊपरसे न उठानेकी प्रतिज्ञा-सी कर ली है-

मिलें। शरद्-पूर्णिमाकी रात्रिमें रामघाटके पुण्यस्थलमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योगकी दिव्यमूर्ति श्रीपूज्य उड़िया-बाबा तथा प्रेमावतार आनन्दस्वरूप मधुरमूर्ति श्रीहरि-बाबा तुम्हारी वही पुरानी रासलीला देखते मिलें। मैं दूरसे ही प्रणाम करके विहारघाटपर करुणागार सत्-चित्-आनन्दमय ध्येयस्वरूप श्रीअच्युतमुनिको नौका-पर विराजमान देखकर दूरहीसे साष्टांग प्रणाम करके भृगुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें पहुँचा, क्योंकि मेरे स्वामी भोलेबाबाजी (शिव) के दर्शन वहाँसे निकट ही थे। तुम्हारा यह प्रेमी मुझे तुम्हारा जन जानकर देखते ही उठ खड़ा हुआ और सब कामकाज छोड़कर स्वागत करने लगा तथा मेरे विश्रामके हेतु आसन सजा-कर कहने लगा—

'सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाय॥'

परन्तु मैंने कहा कि 'हमारा तेरा युद्ध होगा' उसका राजसी रक्त यह सुनते ही फड़कने लगा—

'जो रण हमें प्रचारै कोऊ।
लड़ैं सुखेन काल किन होऊ॥'

पर भैया कन्हैया ! मुझे तुम्हारा जानकर मेरी लज्जा उसने नहीं जाने दी, मुझे छातीपर चढ़ाकर आप ही पछड़कर लेट गया। मैंने भी पहुँचते ही ऐसा बल-पराक्रम दिखलाया कि उसके मनभवनमें जितना कुछ संसारका मैला भरा था, सब निकल गया। उसने कई दुष्ट मित्रों (कामादि) को अपने घरमें छिपा रक्खा था—मेरे पहुँचते ही सब सटकनारायण गटक-नारायण बन गये और ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-योग जो कभी उसके पास गरीबोंको फटकने नहीं देते थे, चुपकेसे सन्तोंके मुँहमें जाकर छुप रहे। बस, प्रेम-का राज्य रह गया। वह पुकारने लगा हे विघ्नविनाशक गणेश ! हे भैया गिरधारी ! हे बद्रीविशाल ! हे सोहने श्यामलाल ! तुम आज परे कैसे हो रहे हो ? अपनी कुछ ईश्वरी महिमा तो दिखाओ !

भृगुने मारी लात जानि उनको भंडारी।
रूठि गये मुख फेरि लियो क्यों जनहितकारी॥
स्वामीको अपराध दासपर कोप जनायो।
राधारमण कृपालु भलो यह न्याय चुकायो॥
ब्याज सहित द्वै भारि लेहु उरमें पद भाये।
कल्प कोटिलौं चिह्न न जिनके मिटैं मिटाये॥

बस, फिर क्या था, तुम सुनते ही हाँफते-हाँफते तत्क्षण ही दौड़े आये। मेरी तो दुर्गतिकी इतिश्री हो गयी और रोगी मुसकुराकर उठ बैठा। वह मधुर-मधुर दुग्धका तुम्हारे भोग लगाता हुआ और तुम्हें देखता हुआ गाने लगा—

रूपरसिक मोहन मनोज मनहरण सकल गुण गरबीले।
छैल छबीले चपल लोचन चकोर चित चटकीले॥

बस, मेरे मुखमें तो कड़वा विष पड़ा और तुमको मधुरामृतपान करनेको मिला।



मनसों नित सुमिरण करै, तनसों सेवा-काज।
जपै नाम वर वचनसों सोई धन्य समाज॥
धनि-धनि सो जननी-जनक धन्य देश धनि गाम।
जिनके पूत सपूत ह्वै भजै निरन्तर राम॥

मदारका घोड़ा बना चारों ओर दौडता ही रहता है। यही तो मुझसे देखा नहीं जाता। बडा ही दुःख मालूम होता है। खैर, कोई बात नहीं। बालकोंपर खेलमें किसानोंसे अधिक काम पड़ता ही है परन्तु वह खेलमें हार नहीं मानते। फिर भी यह सोचकर दया-सी आ जाती है कि प्रत्येक समय पालनेका झूलनेवाला, कमलवत् शय्याका विहारी, कोमल अवस्थाका शिशु, मधुर मूरत, नगे पैर इस कुआँरकी तीखी धूपमें वैद्यराजजीको न जाने कहाँसे हल जोततेसे बुलाकर लाया होगा। क्योंकि मुझ-जैसे गँवार-दीन रोगियोंको बहुधा ऐसे ही धन्वन्तरि मिला करते हैं। कहा भी है कि–
जैसी नकटी देवी, वैसे ही बूचे पुजारी।

हे जनहितकारी लीलाधारी! क्या कहूँ? ज्वरमें तो पड़ा हूँ, पर सासारिक कार्यक्रममें बाधा पड़ जानेका भी दुःख लेटे-लेटे नहीं सहा जाता, परन्तु तुम्हें कल कहाँ, घर-घर घूमनेकी तो तुम्हारी पुरानी आदत है। हाँ, पहले रातकी थी, अब दिनभर शुष्क हृदयोंमे बाँसुरीके स्वर और रसीली तानें सुनाते फिरते हो। धन्यभाग उनके। परन्तु वे प्रकृतिके गुलाम तुम्हें क्यों पहचानें? मैं अपनी क्या कहूँ, जीवनपर्यन्त अपनी तो कोई भी हानि ही नहीं हुई। इस पातकमय शरीरके ऊपर इससे अधिक और क्या कृपा होगी?

भैया रणछोड चितचोर व्रजकिशोर! तेरी चञ्चलपनेकी प्रशसा रसिकोंद्वारा अनेक बार सुनी है। श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थ तो तेरे कई बार भागनेकी कथा सुना चुके हैं। मुझे तो तेरी यह परीक्षा आज भलीभाँति हुई कि तू मुझसे आज अलग ही-अलग घूम रहा है। मेरे हृदयस्थलमें (जो अनादिकालका तेरा स्थान है) तो आज झाँकता भी नहीं। ज्ञात होता है कि ज्वरसे, अरे भगोड़े निगोड़े! तू भी डरता है। खैर, तू हारा-थका-सा है, इससे मैं भी नहीं कहता कि तू इस समय मेरे मनमें समा जा। योगियोंके अन्तःकरणमें जब तू प्राणायामकी डोरमें बँधकर जाता है तो वहाँ दस-पाँच मिनट बाद तुझे हवा खानेको तो मिल जाती है। पर मैंने तो ज्वरका आसव निकालनेके लिये प्रचण्ड अग्नि कर दी है और कम्बलको ऊपरसे न उठानेकी प्रतिज्ञा-सी कर ली है—फिर भला तुझे बिना कारण इस बन्धनमें क्यों डालूँ? तबतक थोड़ी देर तू मेरे सामने ही टहलता रह!

इतनेमें ही ज्वर रो-रोकर अपने आँसुओंसे मेरा तन धोने लगा। मैंने उसे पुचकारा और कहा कि—'भैया ज्वर! मेरी तो इस समय बुद्धि ठिकाने नहीं है। तू अबकी बार जावे तो लालासे कह देना कि 'या तो मुझे फिर न भेजो, यदि भेजना ही है तो तुम मेरे पीछे-पीछे क्यों आ जाते हो और क्यों दूरसे खडे मुसकुराते हो, तुम रात दिन माखन मिश्री तो खाते हो परन्तु कठोर स्वभावके बनते जाते हो।' तब ज्वर स्वय ही उससे कहने लगा–'मैं तो अब प्रतिज्ञा किये लेता हूँ, कभी कहीं नहीं जाऊँगा। परन्तु क्या करूँ मित्र राधारमण! तुम्हें जब अपने पीछे तिरछा खडे हुए मन्द-मन्द सोहने-माधुरे रूपमें मुसकुराते और वशी बजाते निहारता हूँ तो फिर उत्तर देते ही नही बनता, प्रतिज्ञा बेचारीका कुछ ध्यान ही नहीं रहता। प्रेममें नेमकी दाल ही नहीं गल पाती। क्या करूँ? मैं इधरको चला भी इसीलिये आता हूँ कि तुम्हारे साकार स्वरूपके दर्शन (श्रीभागीरथीकी धवलधारा, जहाँ निराकार ब्रह्म नीराकार बना बह रहा है) करनेपर विचित्र आनन्द प्राप्त होता है और जीवन कृतकृत्य हो जाता है, क्योंकि मेरे जीवनका मुख्य लक्ष्य परपीडा है। अबकी बारकी यात्रामें तुम्हारे अनेकानेक प्रकारके परमप्रेमी या तुम्हारे ही सगुण स्वरूप अद्भुत कलाधारी कमण्डलु लिये या जटायें बाँधे जहाँ-तहाँ तटपर दर्शन करनेको

मिलें। शरद्-पूर्णिमाकी रात्रिमें रामघाटके पुण्यस्थलमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योगकी दिव्यमूर्ति श्रीपूज्य उड़ियाबाबा तथा प्रेमावतार आनन्दस्वरूप मधुरमूर्ति श्रीहरिबाबा तुम्हारी वही पुरानी रासलीला देखते मिलें। मैं दूरसे ही प्रणाम करके विहारघाटपर करुणागार सत्-चित्-आनन्दमय ध्येयस्वरूप श्रीअच्युतमुनिको नौकापर विराजमान देखकर दूरहींसे साष्टांग प्रणाम करके भृगुक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें पहुँचा, क्योंकि मेरे स्वामी भोलेबाबाजी (शिव) के दर्शन वहाँसे निकट ही थे। तुम्हारा यह प्रेमी मुझे तुम्हारा जन जानकर देखते ही उठ खड़ा हुआ और सब कामकाज छोड़कर स्वागत करने लगा तथा मेरे विश्रामके हेतु आसन सजाकर कहने लगा—

'सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदयसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाय॥'

परन्तु मैंने कहा कि 'हमारा तेरा युद्ध होगा' उसका राजसी रक्त यह सुनते ही फड़कने लगा—

'जो रण हमें प्रचारै कोऊ।
लड़ैं सुखेन काल किन होऊ॥'

पर भैया कन्हैया ! मुझे तुम्हारा जानकर मेरी लज्जा उसने नहीं जाने दी, मुझे छातीपर चढ़ाकर आप ही पछड़कर लेट गया। मैंने भी पहुँचते ही ऐसा बल-पराक्रम दिखलाया कि उसके मनभवनमें जितना कुछ संसारका मैला भरा था, सब निकल गया। उसने कई दुष्ट मित्रों (कामादि) को अपने घरमें छिपा रक्खा था—मेरे पहुँचते ही सब सटकनारायण गटकनारायण बन गये और ज्ञान-भक्ति-वैराग्य-योग जो कभी उसके पास गरीबोंको फटकने नहीं देते थे, चुपकेसे सन्तोंके मुँहमें जाकर छुप रहे। बस, प्रेमका राज्य रह गया। वह पुकारने लगा हे विघ्नविनाशक गणेश ! हे भैया गिरधारी ! हे बद्रीविशाल ! हे सोहने श्यामलाल ! तुम आज परे कैसे हो रहे हो ? अपनी कुछ ईश्वरी महिमा तो दिखाओ !

भृगुने मारी लात जानि उनको भंडारी।
रूठि गये मुख फेरि लियो क्यों जनहितकारी॥
स्वामीको अपराध दासपर कोप जनायो।
राधारमण कृपालु भलो यह न्याय चुकायो॥
ब्याज सहित द्वै भारि लेहु उरमें पद भाये।
कल्प कोटिलौं चिह्न न जिनके मिटैं मिटाये॥

बस, फिर क्या था, तुम सुनते ही हाँफते-हाँफते तत्क्षण ही दौड़े आये। मेरी तो दुर्गतिकी इतिश्री हो गयी और रोगी मुसकुराकर उठ बैठा। वह मधुर-मधुर दुग्धका तुम्हारे भोग लगाता हुआ और तुम्हें देखता हुआ गाने लगा—

रूपरसिक मोहन मनोज मनहरण सकल गुण गरबीले।
छैल छबीले चपल लोचन चकोर चित चटकीले॥

बस, मेरे मुखमें तो कड़वा विष पड़ा और तुमको मधुरामृतपान करनेको मिला।



मनसों नित सुमिरण करै, तनसों सेवा-काज।
जपै नाम वर वचनसों सोई धन्य समाज॥
धनि-धनि सो जननी-जनक धन्य देश धनि गाम।
जिनके पूत सपूत ह्वै भजै निरन्तर राम॥

योगदर्शनमें ईश्वर

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)



निरीश्वरवादी सांख्य * का मत है कि प्रकृति और पुरुष (जड और चेतन) इन दोनोंसे ही अखिल विश्व व्याप्त है, इनके अतिरिक्त किसी ईश्वरका माना जाना असिद्ध है, क्योंकि यदि चेतनको ईश्वर माना जाय तो चित्‌शक्ति तो असङ्ग और उदासीन है अतः उसके द्वारा अपने भक्तोंपर अनुग्रह किया जाना किसप्रकार सम्भव हो सकता है और यदि जडको ईश्वर माना जाय तो प्रकृति अथवा प्रकृतिजन्य कार्योंमें ही कोई वह (ईश्वर) भी हो सकता है। अतः वह प्रकृतिके अन्तर्गत है और प्रकृति तो जड है। जडद्वारा भी अनुग्रहरूप चेतनका कार्य किसप्रकार होना सम्भव है? अतएव ईश्वरका माना जाना असङ्गत है। सांख्यके इस मतका खण्डन करते हुए भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें ईश्वरका प्रतिपादन इसप्रकार किया है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

(समाधिपाद सू० २४)

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारोंसे अपरामृष्ट अर्थात् असम्बद्ध जो पुरुषविशेष—अन्य पुरुषोंसे विलक्षण उत्कृष्ट चेतन है, वह ईश्वर है। यहाँ 'क्लेश' आदि शब्द हैं, वह पारिभाषिक हैं, अतएव इनका संक्षेपमें स्पष्ट किया जाना आवश्यक है। योगसूत्रमें क्लेश पाँच बतलाये गये हैं—१ अविद्या, २ अस्मिता, ३ राग, ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश।

(१) अविद्या—(मिथ्या या विपर्यय ज्ञानको अर्थात् वस्तुके स्वरूपको अन्यथा जान लेनेको, जैसे रस्सीको सर्प समझ लेने आदिको अविद्या कहते हैं) अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्ममें क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मबुद्धि होना अविद्या है—

(अ) अनित्यमें नित्यबुद्धि होना यह है कि स्वर्गादि पारलौकिक एवं ऐहिक प्रपञ्च जो अनित्य है, उसमें नित्यबुद्धि होना, जैसा कि प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंको उपदेश देते हुए कहा है—

रायः कलत्रं पशवः सुतादयो
गृहा मही कुञ्जरकोशभूतयः।
सर्वेऽर्थकामाः क्षणभङ्गुरायुषः
कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत्प्रियं चलाः॥
एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी
क्षयिष्णवः सातिशया न निर्मलाः।'

(श्रीमद्भा० ७। ७। ३९-४०)

भाव यह है कि धन, स्त्री, पशु, हाथी, घोड़े आदि, पुत्रादि परिवार, घर, पृथ्वी, खजाने और वैभव सभी अनित्य हैं—सदा स्थिर रहनेवाले नहीं, और इसी प्रकार यज्ञादिसे उपार्जित स्वर्गादि लोकोंके पारलौकिक विषय-विलास भी क्षयिष्णु हैं—क्षीणपुण्य होनेपर ये भी नष्ट हो जाते हैं, यही नहीं, जिसप्रकार यहाँ ईर्ष्या-द्वेषादिका दुःख है, उसी प्रकार वहाँ भी ईर्ष्या-द्वेष होनेके कारण वे भी दूषित हैं।

* कुछ महानुभाव सांख्य-दर्शनको निरीश्वरवादी कहते हैं परन्तु अनेक विद्वानोंका ऐसा मत है कि सांख्य-भी वेदान्तकी भाँति ईश्वरवादी दर्शन है। इस विषयमें कल्याणके ईश्वरांकमें श्रीयुत यतीन्द्रकुमार मजूमदार एम० ए० महोदयका एक लेख छप चुका है। इस अंकमें भी अन्यत्र उन्हींका 'सांख्यके मतसे ईश्वरका स्वरूप' शीर्षक लेख छपा है। इस लेखमें भी सेठजीने आगे चलकर सांख्यको ईश्वरवादी ही माना है। —सम्पादक

जब लौकिक और पारलौकिक सभी विषय-भोग स्वयं ही बेचारे अनित्य हैं, तब इस क्षणभङ्गुर जीवनवाले मनुष्यका वे क्या हित-साधन कर सकते है ? अतएव ऐसे अनित्य पदार्थोंमें 'ये नित्य रहेंगे, कभी नष्ट न होंगे' ऐसा समझना प्रथम अविद्या है।

(आ) अशुचिमें शुचिबुद्धि होना यह है कि यह मानवशरीर अत्यन्त अपवित्र है, माताका उदर मल-मूत्रादि दुर्गन्ध वस्तुओंसे परिपूर्ण है, ऐसे अपवित्र स्थानसे इसकी उत्पत्ति है एवं माता-पिताका अत्यन्त अपवित्र रज-वीर्य ही इस शरीरकी उत्पत्तिका कारण है। इसी प्रकार भोजन किये हुए अन्न और पीये हुए जलके परिपाकसे जो रुधिर आदि बनते हैं, उन्हींके रूपान्तरप्राप्त रस इस शरीरके आश्रय हैं तथा मल-मूत्र आदि अपवित्र पदार्थ ही इस शरीरसे झरते रहते हैं और प्राणान्त होनेपर यह शरीर—चाहे किसी चक्रवर्ती सम्राट्का, धुरन्धर विद्वान्का अथवा अपूर्व सुन्दरीका ही क्यों न हो, ऐसा अपवित्र समझा जाता है कि उसका स्पर्श तो दूर रहा, मृत-शरीरके साथ स्मशान भूमितक सहगमन करनेवालोंकी भी स्नानादिसे शुद्धि होती है। ऐसे अपवित्र शरीरमें शुचि-बुद्धि होना अविद्याका दूसरा लक्षण है। अथवा 'अहो ! कैसा चन्द्रमाके समान मुख है, मानो मधु और अमृतके अवयवोंसे इसका निर्माण किया गया है, इसके नील-कमलके समान हाव-भाव-पूर्ण कैसे हृदयहारी कटाक्ष हैं' यों पवित्र समझना भी अविद्या है। क्योंकि जिस शरीरका उत्पत्तिस्थान, उपादानकारण, आश्रय, निष्पन्द और निधन सभी महान् अपवित्र हैं, उस शरीरका चन्द्रमादिसे सम्बन्ध ही क्या है।' अतः यही अशुचिमें शुचिबुद्धि होना दूसरी अविद्या है।

(इ) दुःखमें सुखबुद्धि होना यह है कि विषयोंके यावन्मात्र भोग हैं वे परिणाम, ताप और संस्कार-दुःखसे व्याप्त हैं। क्योंकि विषयोंके भोगमें सुख मानकर उनमें अभिलाषा होती है, अभिलाषा होनेपर उनकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते हैं अतएव पुण्य-पापात्मक अच्छे-बुरे कार्योंमें प्रवृत्ति होना अनिवार्य है। और सुखमें रुकावट पैदा करनेवाले दुःखोंको मिटानेके लिये कर्तव्याकर्तव्यका विचार न रहनेसे पापकर्म होना भी स्वयं सिद्ध है, उन पापकर्मोंके फलसे पुनः दुःख ही प्राप्त होता है अतः अन्तमें दुःख होना यह परिणामदुःख है। सुखके साधन विफल होनेपर चित्तमें सन्ताप होना ताप-दुःख है। इसी प्रकार सुखके अनुभवसे सुखका संस्कार उत्पन्न होता है, इस संस्कारसे सुखका स्मरण, स्मरणसे सुख-प्राप्तिकी इच्छा, उस इच्छासे सुखके लिये चेष्टा, चेष्टाद्वारा शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति, प्रवृत्तिद्वारा फिर पाप-पुण्यका उत्पन्न होना, उनके फलसे फिर जन्म, फिर सुखादि अनुभव, अनुभवसे वासना, वासनासे फिर स्मरण आदि, निष्कर्ष यह कि इसप्रकार कर्माशयके समूहका उत्पन्न होना ही विषय-भोगोंमें संस्कार-दुःख है। ऐसे विषय-भोगरूप दुःखमें सुख समझना तीसरी अविद्या है। अतएव स्वयं भगवान्ने आज्ञा की है—

'विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥'
(गीता)

(ई) अनात्ममें आत्मबुद्धि होना यह है कि शरीरके उपकरणभूत आत्मासे भिन्न जो पुत्र, कलत्र, पशु, भृत्य आदि चेतन पदार्थ तथा घर, बाग, शय्या, आसन, स्थानादि अचेतन पदार्थ एवं भोगोंका अधिष्ठान शरीर और पुरुषका उपकरणभूत मन, इन सब अनात्म-पदार्थोंमें अर्थात् जो वस्तुतः आत्मासे भिन्न हैं, उनमें आत्मबुद्धि होना चतुर्थ अविद्या है। यह चतुर्विध अविद्या महान् दुःखकारक होनेसे क्लेशरूप है।

(२) अस्मिता—अर्थात् आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और कूटस्थ है और बुद्धि परिणामी, मलिन

योगदर्शनमें ईश्वर

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)



निरीश्वरवादी सांख्य * का मत है कि प्रकृति और पुरुष (जड और चेतन) इन दोनोंसे ही अखिल विश्व व्याप्त है, इनके अतिरिक्त किसी ईश्वरका माना जाना असिद्ध है, क्योंकि यदि चेतनको ईश्वर माना जाय तो चित्शक्ति तो असङ्ग और उदासीन है अत: उसके द्वारा अपने भक्तोंपर अनुग्रह किया जाना किसप्रकार सम्भव हो सकता है और यदि जडको ईश्वर माना जाय तो प्रकृति अथवा प्रकृतिजन्य कार्योंमें ही कोई वह (ईश्वर) भी हो सकता है। अतः वह प्रकृतिके अन्तर्गत है और प्रकृति तो जड है। जड-द्वारा भी अनुग्रहरूप चेतनका कार्य किसप्रकार होना सम्भव है? अतएव ईश्वरका माना जाना असङ्गत है। सांख्यके इस मतका खण्डन करते हुए भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें ईश्वरका प्रतिपादन इसप्रकार किया है—

योगिराजोंका ऐश्वर्य अन्य किसी योगीके समान अथवा किसीकी अपेक्षा न्यून होता है किन्तु ईश्वरका ऐश्वर्य सामान्य और अतिशयसे रहित है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। अतएव सिद्ध हुआ कि साम्यातिशय विनिर्मुक्त ऐश्वर्यशाली, क्लेश-मुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त सर्वज्ञ पुरुष-विशेष 'ईश्वर' है। सांख्य-दर्शनका मत भी निरीश्वरवादी नहीं, विद्वानोंका मत है कि यदि नित्यैश्वर्यशाली ईश्वर कोई माना जायगा तो वैराग्यकी दृढ़ता न होगी, क्योंकि पुरुषोंकी नित्यैश्वर्यकी इच्छा वैराग्यका प्रतिबन्धक हो जायगी, अतएव वैराग्यकी दृढ़ताके लिये ईश्वरकी सिद्धिका अभाव सांख्यमें कहा गया है-वस्तुतः नहीं।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने जिस ईश्वरको पुरुषविशेष वर्णन किया है उसी ईश्वरको भगवान् पुरुषविशेषका पर्याय (दूसरे शब्दोंमें) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम कथन करते हैं—

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥'
(गीता १५ । १७)

उत्तम अर्थात् उत्कृष्टतम पुरुष अन्य है—अत्यन्त विलक्षण है, वह वेदान्त-वाक्योंमें परमात्माकी संज्ञासे कहा गया है अर्थात् वह अविद्याजनित शरीरादि आत्माओंकी अपेक्षा पर है और सब प्राणियोंका आत्मा प्रत्यक् चेतन है। वह तीनों-लोकोंको—पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको, अपने चैतन्य-बलकी शक्तिसे उनमें प्रविष्ट होकर केवल स्वरूप-सत्तामात्रसे धारण करनेवाला अविनाशी ईश्वर है !

यदि ईश्वरको न माना जाय तो प्रकृतिकी संसारकी रचनामें प्रवृत्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति तो जड है, जड वस्तु स्वयं किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें कदापि समर्थ नहीं, अतः विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्य ज्ञानक्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वरकी प्रेरणासे ही वह प्रपञ्चके निर्माणमें समर्थ हो सकती है। जैसा कि—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।'
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

-इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट है और श्रीभगवान्ने स्वयं भी आज्ञा की है—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।'

अब यदि ईश्वरकी पूर्वोक्त सर्वोत्कृष्टताके विषयमें यह प्रश्न किया जाय कि इसमें प्रमाण ही क्या है ? तो इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ ईश्वर-प्रणीत वेद ही प्रमाण है। वेदकी प्रमाणता स्वतः-सिद्ध है। क्योंकि ईश्वरप्रणीत वेदके मन्त्र जिस-जिस कार्यकी सिद्धिके लिये विनियुक्त हैं, उस-उस कार्यका सिद्ध होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। पुराणोंमें भी कहा है—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधोऽधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ।'

अर्थात् सर्वज्ञता (तीनों कालोंमें सम्पूर्ण पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान) तृप्ति (किसी भी वस्तुका अप्राप्त न होना), अनादिबोध (स्वभावसिद्ध ज्ञान) स्वतन्त्रता (कार्य करनेमें पराधीन न होना), नित्य अलुप्त शक्ति (तीनों कालोंमें सामर्थ्यसे रहित न होना) और अनन्तशक्ति (जिसका अन्त नहीं ऐसी शक्ति) यह छः ईश्वरके अङ्ग हैं। और ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति,

एवं जड है। वस्तुतः इन दोनोंकी एकता होना सर्वथा असम्भव है किन्तु अज्ञानवश आत्माको बुद्धिसे भिन्न न जानकर 'मैं भोक्ता हूँ' ऐसा मान लेना ही अस्मिता नामक क्लेश है।

(३)–राग–अर्थात् सुखके अनुभवी पुरुषको सुखस्मरणसे उसके सजातीय सुख और उसके साधनमें तृष्णा (अभिलाष) होना तीसरा क्लेश है।

(४)–द्वेष–अर्थात् दुःखानुभवी पुरुषको दुःखसे द्वेष क्रोधादि होना चतुर्थ क्लेश है।

(५)–अभिनिवेश–अर्थात् वासनाके प्रभावसे विद्वानोंके चित्तमें भी मूर्खोंके समान–'मैं कभी न मरूँ, सर्वदा ही बना रहूँ' ऐसी धारणा—मरणका भय रहना ही पञ्चम क्लेश है।

इन पाँचों क्लेशोंमें 'अविद्या' ही उत्तर-कथित अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका मूल-कारण है। यहाँतक पाँचों क्लेशोंकी स्पष्टता की गयी। 'कर्म' अर्थात् पूर्वोक्त राग-द्वेषादि क्लेशोंसे उत्पन्न शुभाशुभ कर्म, एवं 'विपाक' अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके करनेसे उत्पन्न सुख, और दुःखात्मक फल, और 'आशय' अर्थात् सुख और दुःखके भोगसे उत्पन्न संस्कारद्वारा बनी हुई अनेक वासनाएँ।

इन्हीं अविद्या, कर्म, विपाक और आशयसे असम्बद्ध—निरालिप्त पुरुषविशेषको भगवान् पतञ्जलिने ईश्वर कहा है। अर्थात् सांख्यप्रतिपादित पुरुषसे यह विलक्षण पुरुष ही ईश्वर है। यहाँ यदि यह शङ्का की जाय कि सांख्यमें क्लेशादि धर्म चित्त-निष्ठ माने गये हैं और पुरुषको असंग माना गया है अतएव जब पुरुष भी क्लेशादिके सम्पर्कसे शून्य है, तब सांख्यमतके पुरुषमें और ईश्वरमें, जिसको योगदर्शनमें 'पुरुषविशेष' माना गया है, क्या विशेषता है—क्या विलक्षणता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि पुरुष भी स्वाभाविक क्लेशादिसे रहित अवश्य है, किन्तु वह अविवेकी होनेके कारण चित्तको अपनेसे भिन्न न जानकर—स्वाभाविक न होनेपर भी चित्त-निष्ठ क्लेशादिसे सम्बद्ध हो जाता है। जैसा कि—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।'

(कठोपनिषद्)

—आदि श्रुतियोंद्वारा स्पष्ट है अर्थात् उपाधि-सम्बन्धयुक्त पुरुष ही भोक्ता है किन्तु ईश्वर सर्वदा क्लेशनिर्मुक्त है। इसीसे वह पुरुष-विशेष है। फिर यदि यह कहा जाय कि 'जब क्लेशनिर्मुक्तको ईश्वर कहा जाय तो जो मुक्त-पुरुष हैं अथवा प्रकृति-लीन पुरुष हैं, वे भी ईश्वर ही कहे जा सकते हैं क्योंकि वे भी क्लेशादि-निर्मुक्त ही होते हैं, अतएव 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'स हि सर्ववित् सर्वस्य कर्ता' इत्यादि श्रुतियोंके विषयमें कपिल मुनिने यही कहा है—

'मुक्तात्मनः प्रशंसोपासासिद्धस्य वा।'

(सांख्यप्रथमाध्याय, सूत्र ९५)

अर्थात् 'उक्त श्रुतियोंमें यह मुक्त पुरुषकी अथवा योगाभ्यासरूप उपासनासिद्ध योगियोंकी प्रशंसा है कि ईश्वरका प्रतिपादन?' इसका उत्तर यह है कि यद्यपि मुक्त पुरुष भी क्लेश-विनिर्मुक्त हैं किन्तु वे नित्यमुक्त नहीं क्योंकि वे पूर्वमें क्लेशयुक्त होते हुए ही साधनोंके अनुष्ठानद्वारा क्लेशरहित होते हैं। और इसी प्रकार प्रकृति-लीन भी अपनी अवधि-के पश्चात् संसारमें आनेके कारण भोग्य क्लेशोंके सम्बन्धसे युक्त होते हैं। किन्तु ईश्वरके साथ इन क्लेशोंका सम्बन्ध भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें ही नहीं है। निष्कर्ष यह कि मुक्त-पुरुष मोक्षसे पूर्व और प्रकृति-लीन पुरुष लय होने-के पूर्व और अवधिके अनन्तर क्लेश-युक्त होते हैं अतः वे ईश्वर नहीं। जिसप्रकार ईश्वर मुक्त और प्रकृति-लीनोंसे विलक्षण है, उसी प्रकार अणिमादि ऐश्वर्यशाली योगिराजोंसे भी विलक्षण है। क्योंकि

योगिराजोंका ऐश्वर्य अन्य किसी योगीके समान अथवा किसीकी अपेक्षा न्यून होता है किन्तु ईश्वर-का ऐश्वर्य सामान्य और अतिशयसे रहित है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। अतएव सिद्ध हुआ कि साम्यातिशय विनिर्मुक्त ऐश्वर्यशाली, क्लेश-मुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त सर्वज्ञ पुरुष-विशेष 'ईश्वर' है। सांख्य-दर्शनका मत भी निरीश्वरवादी नहीं, विद्वानोंका मत है कि यदि नित्यैश्वर्यशाली ईश्वर कोई माना जायगा तो वैराग्यकी दृढ़ता न होगी, क्योंकि पुरुषोंकी नित्यैश्वर्यकी इच्छा वैराग्यका प्रतिबन्धक हो जायगी, अतएव वैराग्यकी दृढ़ताके लिये ईश्वरकी सिद्धिका अभाव सांख्यमें कहा गया है—वस्तुतः नहीं।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने जिस ईश्वरको पुरुषविशेष वर्णन किया है उसी ईश्वरको भगवान् पुरुषविशेषका पर्याय (दूसरे शब्दोंमें) उत्तम पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम कथन करते हैं—

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥'

(गीता १५ । १७)

उत्तम अर्थात् उत्कृष्टतम पुरुष अन्य है—अत्यन्त विलक्षण है, वह वेदान्त-वाक्योंमें परमात्मा-की संज्ञासे कहा गया है अर्थात् वह अविद्याजनित शरीरादि आत्माओंकी अपेक्षा पर है और सब प्राणियोंका आत्मा प्रत्यक् चेतन है। वह तीनों-लोकोंको—पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गको, अपने चैतन्य-बलकी शक्तिसे उनमें प्रविष्ट होकर केवल स्वरूप-सत्तामात्रसे धारण करनेवाला अविनाशी ईश्वर है!

यदि ईश्वरको न माना जाय तो प्रकृतिकी संसारकी रचनामें प्रवृत्ति भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकृति तो जड है, जड वस्तु स्वयं किसी कार्यको उत्पन्न करनेमें कदापि समर्थ नहीं, अतः विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्य ज्ञानक्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वरकी प्रेरणासे ही वह प्रपञ्चके निर्माण-में समर्थ हो सकती है। जैसा कि—

'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।'

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

—इत्यादि श्रुतियोंसे स्पष्ट है और श्रीभगवान्ने स्वयं भी आज्ञा की है—

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।'

अब यदि ईश्वरकी पूर्वोक्त सर्वोत्कृष्टताके विषयमें यह प्रश्न किया जाय कि इसमें प्रमाण ही क्या है? तो इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञ ईश्वर-प्रणीत वेद ही प्रमाण है। वेदकी प्रमाणता स्वतः-सिद्ध है। क्योंकि ईश्वरप्रणीत वेदके मन्त्र जिस-जिस कार्यकी सिद्धिके लिये विनियुक्त हैं, उस-उस कार्यका सिद्ध होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। पुराणोंमें भी कहा है—

'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः
स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः
षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥
ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तपः सत्यं क्षमा धृतिः ।
स्रष्टृत्वमात्मसम्बोधोऽधिष्ठातृत्वमेव च ॥
अव्ययानि दशैतानि नित्यं तिष्ठन्ति शङ्करे ।'

अर्थात् सर्वज्ञता (तीनों कालोंमें सम्पूर्ण पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान) तृप्ति (किसी भी वस्तुका अप्राप्त न होना), अनादिबोध (स्वभावसिद्ध ज्ञान) स्वतन्त्रता (कार्य करनेमें पराधीन न होना), नित्य अलुप्त शक्ति (तीनों कालोंमें सामर्थ्यसे रहित न होना) और अनन्तशक्ति (जिसका अन्त नहीं ऐसी शक्ति) यह छः ईश्वरके अङ्ग हैं। और ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप, सत्य, क्षमा, धृति,

सर्वज्ञत्व, आत्मसम्बोध और अधिष्ठातृत्व यह दश ईश्वरमें सर्वदा विद्यमान रहते हैं।

यहाँतक योगदर्शनके अनुसार ईश्वर-प्रतिपादन-का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके अतिरिक्त योगदर्शनमें जिस चित्तवृत्तिके निरोधात्मक योगके साधनसे समाधि-लाभ कैवल्यका निरूपण किया गया है, उस समाधि सिद्धिके लिये भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानाद् ।

(साधनपाद सू० ४५)

ईश्वरके प्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है। 'प्रणिधान' के भाष्यमें भगवान् वेदव्यासजीने 'प्रणिधानाद्=भक्तिविशेषाद्' यह स्पष्टता की है अर्थात् ईश्वरकी भक्तिसे समाधिकी सिद्धि होती है। यद्यपि भाष्यके व्याख्याकार श्रीवाचस्पति मिश्रजी-ने इस सूत्रकी व्याख्यामें योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान यह सात अङ्ग ईश्वरप्रणिधानमें उपयोगी होनेके कारण इन योगके सातों अङ्गोंके अनुष्ठानकी भी आवश्यकता बतलायी है। किन्तु भगवान् भाष्यकारने ईश्वर-प्रणिधानके लिये इन साधनोंकी आवश्यकताके विषयमें कुछ आज्ञा नहीं की है, अतएव यम-नियमादि ईश्वर-प्रणिधानके ऐकान्तिक कारण नहीं, यदि महर्षि पतञ्जलिको ऐसा अभीष्ट होता तो इसके पूर्व—समाधिपादमें वे—

'ईश्वरप्रणिधानाद् वा ।'

(समाधिपाद सू० २३)

—ऐसा सूत्र कदापि न लिखते। इस सूत्रके प्रथम श्रद्धा आदि उपायोंसे समाधिका लाभ बतलाया गया है, जिनमें तीव्र वैराग्यद्वारा समाधिका प्राप्त होना अत्यन्त शीघ्र बतलाया गया है, और तीव्र वैराग्यमें भी अधिमात्र तीव्र वैराग्यको विशेष बतलाया गया है—

'मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ।'

(समाधिपाद सू० २२)

उसके पश्चात् उपर्युक्त २३ वें सूत्रमें ईश्वर-प्रणिधानद्वारा तीव्र वैराग्यसे भी आसन्नतम—अत्यन्त ही शीघ्र समाधि-लाभका फल प्राप्त होना कहा गया है। इसके द्वारा स्पष्ट है कि योग-दर्शनके मतमें भगवद्भक्ति ही मोक्षके लिये सर्व साधनोंसे उत्कृष्ट होता हुआ भी स्वतन्त्र साधन है, इसके लिये अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं।

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिका यह मत स्वकपोल-कल्पित नहीं, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीताके छठे अध्यायमें भगवान्ने स्वयं योगचर्याका निरूपण करनेके बाद प्रथम तो—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥४६॥

इसप्रकार योगीको तपस्वियोंसे, ज्ञानीजनोंसे और अग्निहोत्रादि वेदविहित कर्मनिष्ठोंसे सर्वोत्कृष्ट बतलाते हुए अपने अनन्य भक्त अर्जुनको योगी-योग-सम्पन्न होनेकी आज्ञा देकर पुनः निष्कर्ष-रूपमें यही आज्ञा की है कि—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(गीता ६ । ४७)

योगियोंमें अर्थात् सभी अन्य देवताओंके उपासकोंमें, जो अपने पूर्व-पुण्योंके फल-विशेषके कारण मुझ वासुदेवमें अच्छी प्रकार स्थित किये हुए अन्तःकरणसे श्रद्धापूर्वक मुझको भजता है—मेरी श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति करता है, वह मेरा भक्त युक्ततम है अर्थात् समाहित-चित्त योगिराजोंमें सबसे वही श्रेष्ठ है। कहनेका तात्पर्य यह है कि केवल योगदर्शनमें ही नहीं, सभी मोक्षो-पदेशक शास्त्रोंका यही निष्कर्ष है कि विषम भवसागरको उत्तीर्ण करनेके लिये भगवान्की भक्ति-

का ही एकमात्र साधन ऐसा है, जो सभी संसारी जीवोंको सुख-साध्य है। भगवान्ने अपने अन्तरङ्ग भक्त उद्धवजीसे स्पष्ट आज्ञा की है कि—

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १९-२०)

जैसे बढ़ी हुई अग्नि ईंधनको जलाकर भस्म कर डालती है, वैसे ही मेरी भक्ति भी समस्त पापोंका सर्वथा नाश कर देती है। हे उद्धव! मेरी प्राप्ति करानेमें मेरी दृढ़ भक्तिके समान योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग आदि कोई भी समर्थ नहीं है। (ये सब भी उपाय हैं, परन्तु भक्तिसे कम शक्तिके हैं)

सांख्यमें ईश्वरका स्वरूप

(लेखक—डा० श्रीयतीन्द्रकुमार मजूमदार एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला)



कल्याण'के गत श्रावणकी संख्यामें 'सांख्यमें ईश्वर-वाद' शीर्षक लेखमें मैंने यह दिखलानेकी चेष्टा की है कि, सांख्य भी वेदान्तकी भाँति सेश्वर-दर्शन है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सांख्य किसप्रकारके ईश्वरको स्वीकार करता है, अर्थात् सांख्यके ईश्वरका क्या स्वरूप है? सांख्य-कार भी वेदान्तकी भाँति ईश्वरको पुरुषविशेष ही मानते हैं, यही दिखलाना इस लेखका उद्देश्य है।

ईश्वरके पुरुषत्व (Personality) के सम्बन्धमें आलोचना करनेसे पूर्व 'पुरुषत्व' के अर्थके विषयमें विचार करना आवश्यक है। पुरुषत्वके प्रधान लक्षण दो हैं, अथवा एक ही लक्षणको दो प्रकारसे प्रकट किया जाता है। इन दोनों लक्षणोंमें एक है—आत्मज्ञान (self-consciousness) और दूसरेका नाम है—इच्छा (will), जो समस्त चेष्टा और उद्यमका सज्ञान शक्ति-केन्द्र है। सब प्रकार पुरुषत्वके ये ही दो साधारण धर्म या लक्षण हैं। परन्तु यह आत्म-ज्ञान किसी सारभूत पदार्थका अभेद अथवा अखण्ड एकत्व नहीं है, यह एक सुव्यवस्थित समष्टि या प्रपञ्चका सभेद एकत्व है—बहुत्वमें एकत्व है; और इसप्रकारका एकत्व सर्वत्र सम्पूर्ण या निर्दोष नहीं है, एकमात्र ईश्वरमें ही वह निर्दोषिता पूर्णताको प्राप्त हुई है। अतएव एकमात्र ईश्वर ही अखण्ड आत्मज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसीको वस्तुतः अधिपुरुष या पुरुषविशेष (Super-person) कहा जा सकता है। इधर जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर सभी कार्य और चेष्टाओंका एकीभूत केन्द्र है, तब भी हम उस एक ही वस्तुको समझते हैं; यह केवल भाषाकी भिन्नता है। अथवा संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि, ईश्वर ही पूर्ण ज्ञान और पूर्ण इच्छाशक्ति है। ये दो लक्षण यदि ईश्वरके पुरुषत्वके लक्षण हैं तो क्या सांख्य ईश्वरमें इन दोनों धर्मोंका आरोप करता है? इसी प्रश्नकी मीमांसा करना यहाँ हमारा प्रतिपाद्य विषय है।

सांख्यने पुरुषका लक्षण साधारण भावसे किया है। हमें उसी लक्षणकी भलीभाँति परीक्षा करनी होगी। सांख्यकारिकाकी १० वीं और ११ वीं कारिका*में पुरुषके जो लक्षण या गुण बतलाये गये हैं, उनसे पता लगता है कि पुरुष अज, नित्य, सर्वव्यापी, अपरिवर्तनीय, एक, स्वाधीन, अविभाज्य, असङ्ग और स्वतन्त्र है। इन सब विषयोंमें पुरुष प्रकृतिके सदृश है; किन्तु पुरुषमें और भी गुण हैं, जिसके कारण वह प्रकृतिसे भिन्न है। वे गुण हैं—त्रिगुणवर्जित, विवेकी, कर्त्ता, विशिष्ट या व्यक्तित्वसम्पन्न, चेतन और अप्रसवधर्मा। इसीके साथ १९ वीं कारिका†पर विचार करना चाहिये।

* हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिंगम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।
त्रिगुणमविवेकिविषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥

† तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च ॥

सांख्य-सूत्रमें पुरुषके निम्नलिखित गुण स्थिर किये गये हैं–पुरुष नित्य है, सर्वव्यापी है (१ अ०, १२ सूत्र *), असंग है (१ अ०, १५ सूत्र †), नित्यशुद्ध या अपरिवर्तनीय है, नित्यबुद्ध और नित्यमुक्तस्वभाव है (१ अ० १९ सूत्र ‡)। पुरुषके गुणोंके सम्बन्धमें सांख्यवादीगण अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी सांख्यकारिकासे ज़रा-सा भी भिन्न मत नहीं रखते। अतएव सांख्यकारिकामें पुरुषके गुणोंकी जो सूची दी गयी है, उसीको हम उनका अन्तिम सिद्धान्त मान सकते हैं।

अब पुरुषके उक्त गुणोंकी भलीभाँति परीक्षा करें। पुरुष (अर्थात् परमपुरुष) सचेतन, धीमान् (प्रधी) और नित्यबुद्ध है अतएव वह अभेद एकत्व नहीं है, परन्तु वह एक स्वगतभेदयुक्त समष्टि है, अथवा वह वस्तु है जिसे 'बहुत्वमें एकत्व' कहते हैं। पुरुष क्या एक निरवच्छिन्न एकत्व है, या एक समष्टिका एकत्व है ? यहाँ और भी दो गुणोंपर ध्यान देना होगा–पुरुषको कर्त्ता (Subject) और प्रकृतिको विषय (Object) कहा गया है। अतएव पुरुष हुआ आत्मज्ञानयुक्त कर्त्ता और प्रकृति हुई उसका विषय। परन्तु केवल इतनेसे ही पुरुषका बहुत्वमें एकत्व सिद्ध नहीं होता; क्योंकि यहाँ प्रकृति पुरुषसे सर्वथा भिन्न है और उससे बहिर्भूत हो सकती है। यद्यपि पुरुष प्रकृतिको जान सकता है परन्तु प्रकृति पुरुषके अन्तर्गत नहीं है। इस अवस्थामें पुरुष सर्वथा विषयशून्य होकर विशुद्ध एकत्वमें परिणत हो जाता है और प्रकृति पुरुषके ज्ञानके विषयीभूत समस्त पदार्थोंको अपने अन्दर धारण करती है। इसीलिये पुरुषको एक बहुत्वकी समष्टि या विश्वाधार बनानेके लिये जिस किसी प्रकारसे भी प्रकृतिको उसके अन्तर्गत करना होगा। इसीलिये सांख्यने 'सर्वव्यापी' यह खास विशेषण दिया है। पुरुष केवल आत्मज्ञानयुक्त कर्त्ता ही नहीं है। वह सर्वव्यापी चैतन्य या कर्त्ता है। अर्थात् वह प्रकृतिको अपने अन्दर धारण करता है। इस तरह देखा जाता है कि पुरुष एक सर्वव्यापी आत्मज्ञानयुक्त समष्टि या ब्रह्माण्ड है, प्रकृति उसका एक अंश या तत्त्वमात्र है। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि पुरुष विषय और विषयीका, आत्मा और अनात्माका एक अविभाज्य समवाय (Organic-Synthesis) है—संक्षेपमें, वही विषय-विषयी है। यह सत्य है कि प्रकृतिको भी सर्वव्यापी कहा गया है परन्तु वस्तुतः प्रकृति सर्वव्यापी विषय या अनात्मा है। एक सर्वव्यापी विषयीके साथ नित्यसम्बद्ध एक सर्वव्यापी विषय भी होना चाहिये और इन दोनोंको लेकर जो एक पूर्ण आत्मा है, उसका इनके साथ अङ्गाङ्गी-सम्पर्क है। इसका युक्तिसङ्गत रूप आगे चलकर देखेंगे।

इस बीचमें हम कुछ कठिन विषयोंकी मीमांसा करना चाहते हैं। पुरुषको असङ्ग और नित्यमुक्त कहा गया है। प्रकृति यदि पुरुषके अन्तर्गत है तो पुरुषके लिये इन विशेषणोंका प्रयोग कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि इन विशेषणोंका प्रयोग हो सकता है, क्योंकि ऐसा कहनेमें पुरुषकी केवल एक ही दिशा या अंशको ही दिखलाया जाता है। उसके पूर्ण स्वरूपको नहीं। पुरुष केवल प्रकृतिमें अनुस्यूत (Immanent) ही नहीं है, वह प्रकृतिसे अतीत (Transcedent) भी है। किसी सचेतन कर्ताका विषय केवल उसके निजके अन्तर्गत ही नहीं है, वह कर्ता उस विषयसे पृथक् और उससे अतीत भी है। दृष्टान्तके लिये कहा जा सकता है कि, हमारे भाव, अनुभूति और इच्छा आदि हमारे आत्माके अन्तर्गत होनेपर भी केवल यही उस आत्माके सर्वस्व नहीं हैं। पुरुष प्रकृतिसे अतीत है, इसलिये वह नित्यमुक्त है, अर्थात् प्रकृतिका प्रभाव उसपर नहीं है, एवं साथ ही वह उसके संग या सम्पर्कसे मुक्त भी है। केवल इसी अर्थमें श्रुति पुरुषको नित्यमुक्त और प्रकृति-संगरहित कहती है। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि, सांख्यमें पुरुषके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे श्रुत्युक्त पुरुषके लक्षणोंसे विशेष पृथक् नहीं हैं। और जो लोग श्रुतिसे परिचित हैं, वे विशेषरूपसे जानते हैं कि निम्बार्क और रामानुजके मतानुसार ये गुण ब्रह्मके या परमपुरुषके निर्गुणत्वके प्रकाशक हैं। ऐसे और भी गुण–निष्क्रियत्व, अपरिवर्तनीयत्व, अप्रसवधर्मित्व, विशिष्टत्व–आदि भी पुरुषत्वके निर्गुणत्वके परिचायक हैं। परन्तु अपर पुरुष प्रकृतिमें अनुस्यूत है इसलिये उसमें व्यक्त प्रकृतिके क्रियाशीलत्व, प्रसवधर्मित्व, परिणामित्व इत्यादि गुण भी रहते हैं। अतएव परमपुरुषके पूर्णत्वमें परस्पर आपाततविरुद्ध दो प्रकारकी गुणावली देखनेमें आती है—एक श्रेणी उसके निर्गुणत्वकी

* 'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्'

† 'असंगोऽयं पुरुष इति'

‡ 'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते।'

परिचायक है और दूसरी सगुणत्वकी। अथवा इस विषयको हम इस दूसरे रूपमें प्रकट कर सकते हैं। परमपुरुष अपने पूर्णस्वरूपसे नित्यमुक्त है, कारण, उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसे बद्ध कर सके; तथापि यहाँ वह अपनी प्रकृतिके अधीन है, अर्थात् वह अपने ही द्वारा आप बँधा हुआ है। परन्तु इस अपने द्वारा अपने बन्धन या अधीनत्वका नाम ही स्वाधीनता है। वह असंग है, क्योंकि उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके साथ उसे संयुक्त होना पड़े। वह निष्क्रिय है, क्योंकि सम्पूर्णताके कारण उसका कोई भी अभाव पूर्ण होनेके लिये शेष नहीं है, अथवा उसका कोई भी उद्देश्य सिद्ध होना नहीं है, अतएव सब कर्मोंके मूलमें रहनेवाली इच्छा उसमें नहीं है। वह अपरिवर्तनीय है, कारण, उसके बाहर ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसके स्वरूपमें परिवर्तन कर सके; अतएव अपने पूर्णरूपमें वह नित्य अपरिवर्तनीय है। वह अप्रसवधर्मी है, क्योंकि उत्पादनमात्रसे ही परिवर्तन सिद्ध होता है, किन्तु वह नित्य परिपूर्ण है। वह व्यक्ति है, क्योंकि व्यष्टिके साथ सामञ्जस्य रखनेवाली जो पूर्ण समष्टि है वही वास्तविक व्यक्ति है। परन्तु चूँकि अंश अर्थात् जगत्की समस्त वस्तुएँ या व्यक्तियाँ उसीके बहुधा प्रकाश हैं—उसीकी निजशक्तिके एक-एक विशिष्ट केन्द्र हैं, अतएव उनके धर्म भी उसमें हैं। परमपुरुष केवल पूर्ण ही नहीं है, वह परिपूर्ण इच्छाशक्ति भी है, इच्छाशक्ति शब्दसे हम यहाँ एक परिपूर्ण स्वतःस्फूर्त सक्रिय मूल-तत्त्वको लेते हैं। इस अर्थमें परमपुरुष सक्रिय है, परन्तु उसके सक्रियत्वमें कोई भी अभाव, उद्देश्य या इच्छाजनित प्रवृत्ति नहीं है; वह स्वतःस्फूर्त है। सांख्यमें ऐसे और भी अनेक प्रमाण हैं, जिनके द्वारा यह देखा जाता है कि यद्यपि पुरुष और प्रकृति भिन्न हैं, तथापि वे एक स्वाधीन समग्रके अविच्छेद्य अंशस्वरूप या एक उच्चतर संयोग या समष्टिके नित्यानुबद्ध दो रूप या भावमात्र हैं (सांख्य-सूत्र प्रथम अध्यायके सूत्र १८, १९, ९६, ९९, १६४* और तृतीय अध्यायका सूत्र ५१† देखिये)।

कभी-कभी यह 'संयोग' शब्द पुरुष और प्रकृतिका सम्बन्ध समझानेके लिये व्यवहृत होता है; इस 'संयोग'से ही प्रकृति पुरुषसे सृष्टि-शक्ति प्राप्त करती है। (सांख्यकारिका २१ ‡ देखिये)। यह आश्चर्यकी बात है कि इस सम्बन्धको समझानेके लिये सांख्यकारिकामें 'संयोग' शब्दका व्यवहार किया है परन्तु सांख्य-प्रवचन-सूत्र 'सान्निध्य' शब्द व्यवहार करता है। यहाँ 'संयोग' शब्द ही 'सान्निध्य' शब्दकी अपेक्षा अधिकतर उपयुक्त प्रतीत होता है। जो कुछ भी हो, २१ वीं कारिकाकी एक विशेष उक्तिपर ध्यान दीजिये। उसमें यथाक्रमसे पंगु और अन्धेके साथ पुरुष और प्रकृतिकी तुलना की गयी है और कहा गया है कि सृष्टि-कार्यमें इनमेंसे एक दूसरेके बिना सर्वथा असहाय है। परन्तु सांख्यके मतसे सृष्टि (सर्ग) नित्य है, अतएव पुरुष और प्रकृतिका योग भी नित्य है, अर्थात् पुरुष और प्रकृति नित्ययुक्त हैं। इसलिये ये दोनों एक उच्चतर सत्ताके नित्यभिसम्बद्ध भाव हैं।

इस प्रसंगको पूरा करनेसे पूर्व, पुरुष और प्रकृतिको और भी जो दो विशेषण दिये गये हैं, उनपर विचार करना आवश्यक है। वे दोनों विशेषण हैं—स्वाधीन और स्वतन्त्र। प्रकृति यदि स्वाधीन और स्वतन्त्र है तो वह पुरुषके साथ अविच्छेद्य-सम्बन्धसे सम्बद्ध कैसे हो सकती है? परन्तु हम इस बातको देख चुके हैं, कि प्रकृति अविच्छिन्नरूपसे सम्बद्ध है और प्रकृति-पुरुष दोनों ही एक उच्चतर सत्ताके नित्याभिसम्बद्ध भाव हैं। अब इन दोनों विरोधी वाक्योंका सामञ्जस्य कैसे किया जा सकता है? इस विषयमें जरा ध्यान देनेसे ही यह समझमें आ जाता है, इसमें कुछ भी असामञ्जस्य नहीं है। हम प्रकृतिको दो रूपोंमें देख सकते हैं—पुरुषके कुछ गुण प्रकृतिमें हैं. इसके सिवा कुछ गुण प्रकृतिके निजके हैं, जिनके कारण वह पुरुषसे भिन्न है। अतएव पुरुष और प्रकृतिका मिलन भी है और पार्थक्य भी है। जहाँतक वे अभिन्न हैं, वहाँतक ठीक उसी अंशमें वे अविच्छेद्य-सम्बन्धसे आबद्ध और परस्परके मुखापेक्षी हैं; और जहाँतक वे भिन्न हैं और परस्पर-विरोधी हैं, वहाँतक वे असम्बद्ध हैं और परस्पर निरपेक्ष हैं। इसलिये एक विशेष दिशासे देखनेपर प्रकृति आपेक्षिकरूपसे स्वाधीन दीखती है, क्योंकि उसकी पूर्ण स्वाधीनता तो सर्वथा

* 'प्रकृतिनिबन्धनाचेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम्।' 'न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते।' 'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्' 'अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम्' 'औदासीन्यं चेति'

† 'कर्मवैचित्र्यात्प्रधानचेष्टागर्भदासवत्'

‡ 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः'

असम्भव है। यदि वस्तुतः प्रकृतिको ऐसी स्वाधीनता होती तो प्रकृति पुरुषसे बाहर हो जाती और वह पुरुषको सीमाबद्ध करके उसे ससीम क्षुद्र कर डालती। दो वस्तु सम्पूर्णरूपसे स्वाधीन हैं और साथ ही महत् तथा सर्वव्यापी भी हैं—यह उक्ति स्व-विरोधिनी है। अतएव प्रकृतिको आपेक्षिकरूपसे ही स्वाधीन कहना उचित है। फिर प्रकृतिको स्वतन्त्र भी कहा गया है। परन्तु स्वतन्त्र और स्वाधीन शब्द एक ही अर्थको प्रकट करते हैं, अतएव प्रकृति सर्वथा स्वाधीन नहीं है, आपेक्षिक भावसे स्वतन्त्र है। इसीसे अन्यान्य समस्याओंकी भी मीमांसा हो जाती है।

अवश्य ही यह सत्य है कि सांख्यका प्रधान उद्देश्य ही पुरुष-प्रकृतिका भेद और विरोध अधिक करके और उनका सम्बन्ध यथासम्भव कम करके दिखाना है। जो सांख्यदर्शनको विशेष सावधानीसे नहीं पढ़ते, उनकी दृष्टिमें सांख्य कट्टर बहुवादी ही दिखायी देता है; परन्तु जो लोग विशेष प्रणिधानपूर्वक अध्ययन करते हैं, वे देखते हैं कि सांख्य आपेक्षिक भावसे ही बहुवादी है; उसके बहुत स्थलोंमें बहुत्वके पीछे एक ईश्वरका अस्तित्व भी स्वीकृत हुआ है—यद्यपि वह उतना स्पष्ट नहीं है।

ईश्वरके पुरुषत्वके सम्बन्धमें योगदर्शनमें भी ऐसा ही मत दृष्टिगोचर होता है। योगसूत्र समाधिपादके सूत्र २३–२६* में पतञ्जलिने प्रधानतः ईश्वरकी प्रकृतिकी ही आलोचना की है और ऊपर ईश्वरके पुरुषत्वके जिन दो प्रधान लक्षणोंकी बात कही गयी है, वही बात इन सूत्रोंमें भी है। इन सूत्रोंकी अच्छी तरह व्याख्या करनेसे हम इस सिद्धान्तपर पहुँच जाते हैं कि योगदर्शनके मतमें ईश्वर पूर्ण ज्ञानस्वरूप और पूर्ण इच्छास्वरूप है, अतएव वही पुरुष या पुरुषविशेष (Super-person) है।

इस विषयमें महाभारतका मत भी यही है। शान्तिपर्वमें ऐसे अनेकों श्लोक हैं जिनमें हमारे अनुमानसे ईश्वरको ज्ञानस्वरूप और इच्छास्वरूप ही माना गया है। यह अनुमान, महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०३ के श्लोक ३१–३३, अध्याय ३०५ के श्लोक ३२, अध्याय ३०६ के श्लोक ३३–३७, अध्याय ३१४ के श्लोक २ और अध्याय ३१५ के श्लोक ७–९ के† देखनेसे सिद्ध होता है। किन्तु अध्याय ३१५ के श्लोक १-२‡ देखनेसे यह भ्रम हो जाता है कि ये श्लोक मानो उपर्युक्त मतके विरोधी हैं। वस्तुतः सावधानीके साथ परीक्षा करनेपर कोई विरोध नहीं रह जाता। हम ऊपर यह देख चुके हैं कि सांख्य पुरुषके सम्बन्धमें स्पष्टतः दो विरुद्ध मतोंका पोषण करता है। सांख्य कहता है कि पुरुषकी दो दिशाएँ हैं—निर्गुण और सगुण। जिस परिमाणमें पुरुष व्यक्त जगत्में ओतप्रोत

---

* ईश्वरप्रणिधानाद्वा, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः, तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्, स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

† प्रकृतिः कुरुते देवी भवं प्रलयमेव च।
दिवसान्ते गुणानेतानभ्येत्येकोऽवतिष्ठते॥
रश्मिजालमिवादित्यस्तत्काले नियच्छति।
एवमेषोऽसकृत्पूर्वं क्रीडार्थमभिमन्यते॥
आत्मरूपगुणानेतान्विविधान् हृदयप्रियान्।
एवमेतां विकुर्वाणः सर्गप्रलयधर्मिणम्॥
अप्रबुद्धमथाव्यक्तमगुणं प्राहुरीश्वरम्।
निर्गुणं चेश्वरं नित्यमधिष्ठातारमेव च॥
सर्गप्रलय एतावान् प्रकृतेर्नृपसत्तम।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च यदासृजत्॥
एवमेव च राजेन्द्र विज्ञेयं ज्ञानकोविदैः।
अधिष्ठातारमव्यक्तमस्याप्येतन्निदर्शनम्॥
एकत्वं च बहुत्वं च प्रकृतेरर्थतत्त्ववान्।
एकत्वं प्रलये चास्य बहुत्वं च प्रवर्तनात्॥
बहुधात्मा प्रकुर्वीत प्रकृतिं प्रसवात्मिकाम्।
तच्च क्षेत्रं महानात्मा पञ्चविंशोऽधितिष्ठति॥
अधिष्ठातेति राजेन्द्र प्रोच्यते यतिसत्तमैः।
अधिष्ठानादधिष्ठाता क्षेत्राणामिति नः श्रुतम्॥
अव्यक्तरूपो भगवान् शतधा च सहस्रधा।
शतधा सहस्रधा चैव तथा शतसहस्रधा॥
कर्तृत्वाच्चापि सर्गाणां सर्गधर्मा तथोच्यते।
कर्तृत्वाच्चापि योगानां योगधर्मा तथोच्यते॥
कर्तृत्वात्प्रकृतीनां च तथा प्रकृतिधर्मिता॥
कर्तृत्वाच्चापि बीजानां बीजधर्मा तथोच्यते।
गुणानां प्रसवत्वाच्च प्रलयत्वात्तथैव च॥

‡ न शक्यो निर्गुणस्तात गुणीकर्तुं विशां पते।
गुणवांश्चाप्यगुणवान्यथातत्त्वं निबोध मे॥
गुणैर्हि गुणवानेव निर्गुणश्चागुणस्तथा।
प्राहुरेवं महात्मानो मुनयस्तत्त्वदर्शिनः॥

है, उस परिमाणमें वह सगुण या त्रिगुणविशिष्ट है, अर्थात् असंख्य ससीम रूपधारी है। और जिस परिमाणमें वह व्यक्त जगत्के अतीत है उस परिमाणमें वह निर्गुण या त्रिगुणरहित है, अर्थात् स्व-स्वरूपमें स्थित है। इस-प्रकारके रूप-भेदमें कोई अयौक्तिकता या असामञ्जस्य दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी ऐसे ही वचन मिलते हैं, उसमें कहीं परमात्माको निर्गुण कहा गया है तो कहीं सगुण (अध्याय १३ श्लोक १४, २०, २६, २९ और ३०* देखिये)। श्रीमद्भागवतका अध्ययन करनेपर उसमें भी यही बात पायी जाती है (तृतीय स्कन्ध अध्याय २६ के श्लोक ६–८, १६, १८, २२; अध्याय २७ का श्लोक १† देखिये)

अब ब्रह्मसूत्रमें ईश्वर और प्रकृतिके परस्पर निर्भर-शीलत्व और परस्परान्तर्गतत्व-सम्बन्धी प्रतिपाद्य विषय-पर जो कुछ आपातविरोधी उक्तियाँ हैं, उनपर विचार करके इस लेखका उपसंहार करना है।

(१) तदधीनत्वादर्थवत्

(अध्याय १।४।३)

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए निम्बार्क कहते हैं कि सांख्यके मतमें प्रकृति ईश्वरके अधीन नहीं है। समझमें नहीं आता कि यह सिद्धान्त कहाँसे लिया गया है। हम ऊपर यह प्रमाणित कर चुके हैं कि सांख्यके मतानुसार पुरुष और प्रकृति परस्परान्तर्गत और नित्ययुक्त हैं; और सांख्यके मतके अनुसार ही उपनिषद्के मतमें भी प्रकृति पुरुषकी एक शक्तिके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

(२) व्यतिरेकानवस्थितेश्चाऽनपेक्षत्वात्

(अध्याय २।२।४)

इस सूत्र-व्याख्यामें भी निम्बार्क कहते हैं कि सांख्यके मतसे प्रधान पुरुष निरपेक्ष है; किन्तु इस धारणाका भ्रमात्मक होना ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है। अवश्य ही यह कौतूहलका विषय है कि ब्रह्मसूत्रके प्रणेतारूपसे व्यासदेवने सांख्यके मतसे प्रधानको ईश्वरके अनधीन और निरपेक्ष बतलाया है और उन्होंने ही योगसूत्रके भाष्यकाररूपसे कहा है कि पुरुष और प्रकृति सम्पूर्ण पृथक् (अत्यन्ता-सङ्कीर्ण) नहीं हैं (साधनपाद सूत्र २०, समाधिपाद सूत्र ४ और कैवल्यपाद सूत्र २२। २३ का भाष्य देखिये‡)।

व्यासदेवने अपना मत सम्भवतः उपनिषद्से लिया है अतएव उपनिषद्के इस उद्देश्यके वचनोंपर विचार करना आवश्यक है। प्रकृति और उसके परिणामका वर्णन अनेकों उपनिषदोंमें किया गया है, परन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद्में ईश्वर और प्रकृतिके सम्बन्धमें अधिकतर स्पष्ट भावसे वर्णन आया है। (अध्याय १ श्लोक १०-१२ और अध्याय ४ श्लोक ५-७ देखिये) इन मन्त्रोंमें ब्रह्म और प्रकृतिके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि प्रकृति ब्रह्मकी एक शक्ति या अंशके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है,

---

* सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा॥

† एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते॥
तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम्।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः॥
कार्यकरणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्॥
प्रभावं पौरुषं प्राहुः कालमेके यतो भयम्।
अहंकारविमूढस्य कर्तुः प्रकृतिमीयुषः॥
अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया॥
स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथाऽपां प्रकृतिः परा॥
प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥

‡ कई विद्वानोंकी सम्मति है कि योगसूत्रके भाष्यकार व्यासदेव—ब्रह्मसूत्रप्रणेता भगवान् व्यासदेवसे पृथक् कोई भिन्न महानुभाव हैं। सम्भवतः इसी कारण यह मतविरोध हो—सं०

अतएव उससे स्वतन्त्र या उसके अनधीन नहीं है। साधारणतः सांख्यकी जैसी व्याख्या की जाती है, उसमें प्रकृतिको ब्रह्मसे सम्पूर्णरूपसे स्वाधीन कहा जाता है, इसीलिये सांख्यको वेदान्तसे सावधानीके साथ अलग किया जाता है। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि, यद्यपि उपनिषदोंमें बहुत जगह *सांख्यकी परिभाषा मिलती है*, परन्तु वह भिन्न वस्तुओंका निर्देश करती है और वह सांख्यदर्शनसे कभी नहीं ली गयी है। कोई-कोई यह सन्देह करते हैं कि सांख्यने ही उपनिषद्से उसकी परिभाषा ली है और अपने प्रयोजन और अर्थमें उसका व्यवहार किया है। कौतूहलकी बात तो यह है कि कपिलका नाम भी श्वेताश्वतर उपनिषद्में आया है (अ० ५ । २ * देखिये) यह सत्य है कि, किसी *निश्चित ऐतिहासिक प्रमाणद्वारा* यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि सांख्यने उपनिषद्से उसकी परिभाषा ली है या उपनिषद्ने सांख्यसे ली है। पुरुष और प्रकृतिके सम्बन्धके विषयमें जो आपातविरोधी विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं, उसीसे यह संशय उत्पन्न होता है। परन्तु हम पहले ही यह प्रमाणित कर चुके हैं कि, सांख्य प्रकृतिको पुरुषसे सर्वथा *स्वाधीन नहीं* कहता, वरं उसमें स्पष्टरूपसे यह कहा गया है कि प्रकृति पुरुषका ही अंश है। इतना ही नहीं, सांख्यकी श्रेष्ठताके बतलानेवाले महाभारत शान्तिपर्वमें और श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक श्लोक मिलते हैं। (महा० शान्तिपर्व अध्याय ३०१, श्लोक १००, १०१; अध्याय ३१६ श्लोक २; और श्रीगीता अ० ५ श्लो० ४ । ५ देखिये †) इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रकृतिके साथ जीव और परम पुरुषका जो सम्पर्क है, उसके सम्बन्धमें सांख्य और उपनिषद्में कोई भी अनैक्य या असंलग्नता नहीं है।

अब हम यहाँ यह उपसंहार कर सकते हैं कि सांख्यके मतमें भी एक अद्वितीय परम पुरुष ही विद्यमान है, वह परम चेतन *आत्मा अथवा ईश्वर* है; वह प्रकृतिको अपने पूर्णतासूचक अङ्गरूपसे अपने ही अन्दर धारण करता है, और अपनेको विश्वाङ्ग स्वरूप असंख्य जीवरूपसे प्रकट करनेके लिये प्रकृतिको साधनरूपमें व्यवहार करता है; और इसप्रकार वह एक परिपूर्ण चेतन और समस्त कर्म या चेष्टाका परम कारण होनेसे उसे पुरुष कहा जा सकता है परन्तु उसके परिपूर्ण एकत्वके कारण उसे पुरुषविशेष कहना ही अधिकतर युक्तिसंगत है।

कोई नहीं अपना

(पीलू–तीनताल)

जगत्में कोई नहीं अपना।

झूठा नाता, झूठे साथी, सब झूँठा सपना।
दुनिया एक मुसाफिरखाना, चार दिवस कुल रहना।
लाखों गलियाँ जगत-नगरमें, उनमें मूर्ख ! भटकना॥
पूर्ण असम्भव इस नगरीमें, अधिक दिनों रहना।
मुक्ति निकट है एक यहाँ बस, राम-नाम जपना॥

पद्मकान्त मालवीय

---

* 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्'

† सांख्या राजन्महाप्राज्ञ गच्छन्ति परमां गतिम्। *ज्ञानेनानेन कौन्तेय तुल्यं ज्ञानं न विद्यते॥*
अत्र ते संशयो माभूज्ज्ञानं सांख्यं परं मतम्। अक्षरं ध्रुवमेवोक्तं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्। तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ॥
सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

सप्ताह

(लेखक—मुंशी श्रीकन्हैयालालजी एम० ए०, एल-एल० बी०)

[कहानी]

(१)

'चाचा ! मैं शोभारामजीके पास जा रहा हूँ।'

पिताजी घरपर चाचा कहे जाते थे। एक जरूरी मुकद्दमेके कागज़ात देख रहे थे। लड़केकी बात सुनकर उन्होंने सिर उठाकर ऊपर देखा। वे ठीक समझ न सके कि भैयाका क्या मतलब है। उन्होंने पूछा 'तुम्हारे मास्टर कहाँ चले गये ?'

भैयाने शान्तिसे उत्तर दिया, 'उन्होंने साधु होनेके लिये जयपुर छोड़ दिया है !'

चाचाने अपना चश्मा टेबिलपर रख दिया। वे बोले, 'मुझे दुःख है कि उन्होंने जानेके पहले मुझसे कुछ नहीं कहा। यह तो मुझे मालूम था कि वे जायँगे, लेकिन इस बातकी कल्पना भी नहीं थी कि वे इस तरह यकायक चले जायँगे। वे कब गये ?' यह सब वे मानो एक ही साँसमें कह गये। 'चाचा ! मैं भी वहीं जाऊँगा, दो घण्टे हुए जहाँ वे गये हैं।'

'जाओ, चुपचाप बैठो और गर्मियोंकी छुट्टीमें आराम करो। पागल आदमियोंकी तरह बे-मतलबकी बातें मत करो।'

'नहीं, चाचा ! मैं जरूर जाऊँगा। मैं यहाँ अब और नहीं रुक सकता !'

'चुप रहो ! मुझे काम करने दो।' चाचाने डाँटकर कहा।

'चाचा ! मुझे कुछ रुपये दे दीजिये।' भैयाने अपने शान्त, गम्भीर और दृढ़ स्वरमें कहा।

'न तो मैं तुम्हें रुपये दूँगा और न तुम्हें कहीं जाने ही दूँगा। मैं यह लड़कपन नहीं पसन्द करता।' उनके स्वरमें दृढ़ता थी, लेकिन उन्हें मालूम था कि भैयाका मन दिनोंदिन वैराग्य और भगवत्प्रेमकी ओर बढ़ रहा है तथा वह बड़ा ही दृढ़-निश्चयी है, इससे सम्भव है वह फिर भी अपनी हठपर अड़ा रहे।

चाचाको यह आशा न थी कि भैयाके समान निश्चयी लड़का इतनी आसानीसे मान जायगा, लेकिन भैया बिना कुछ कहे हुए उनके पाससे चला गया। चाचाने कनखियोंसे उसको अपने कमरेकी ओर जाते देखा। उन्होंने समझा कि अब साधु होनेका उसका जोश ठण्डा पड़ गया, इस कारण उन्होंने अपना चश्मा लगाया और फिर मुकद्दमेकी तैयारीमें लग गये। किन्तु उन्हें इस बातका अफसोस था कि भैयाके मास्टर शोभाराम इस तरह यकायक घर छोड़कर क्यों चले गये ?

× × ×

दो घण्टे बाद सतरह वर्षका एक लड़का धोती, कुर्ता और गांधी टोपी पहने और एक पुस्तक हाथमें लिये चाचाके घरसे चुपचाप बाहर हुआ और तेजीसे आगे बढ़ा। वह चाँदपोल फाटककी ओर बढ़ा और जब नगरकी दीवारके बाहर हुआ तो उसने एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर स्वतन्त्रताका अनुभव किया। उसे यह नहीं मालूम था कि उसे किस रास्तेसे जाना चाहिये और उसे कहाँ जाना है लेकिन उसके क़दम बराबर बढ़ रहे थे। उसके अन्दर एक दृढ़ता थी, जिससे वह बिना किसी रुकावटके बराबर आगे बढ़ा चला जा रहा था।

भैयाको, (क्योंकि यह लड़का भैयाके सिवा और कोई न था) यह मालूम था कि शोभाराम अपने गुरुके पास गये थे, जो बुलन्दशहरके जिलेमें किसी जगहपर गंगाके किनारे रहते थे। जयपुरसे बुलन्दशहर बड़ी दूर है। उसके पास पैसा या कपड़ा कुछ भी न था। अपने साथ ले जानेको उसके पास था बस भगवान्‌का विश्वास, अपना दृढ़ विचार और वह पुस्तक। चलनेके लिये उसके पास पैरोंका ही बल था। उसे रास्ता नहीं मालूम था, लेकिन चूँकि उसने ऐसा सुन रक्खा था कि शोभाराम अपने गुरुके पास अक्सर दिल्ली होकर जाया करते थे, इसलिये उसने दिल्ली जानेवाली सड़कको पकड़ा, जहाँसे उसका विचार था कि वह अपने अज्ञात अथवा अल्पज्ञात विदेशकी ओर बढ़ेगा, जो बुलन्दशहरके जिलेमें है।

किया । सूरज उसे जला रहा था और उसके इस काममें गरम हवा—लू उसकी पूरी मदद कर रही थी जो अपने साथ बालू वा बादल लेकर चलती थी। बालूसे भैयाकी आँखें अन्धी हो रही थीं किन्तु उसे भगवान्पर दृढ विश्वास था और यह मालूम था कि वह ठीक मार्गपर जा रहा है और इस कारण वह प्राकृतिक बाधाओंके होते हुए भी चलता गया। ऐसा मालूम होता था कि प्रकृतिकी सब शक्तियाँ मिलकर भैयाका विरोध कर रही हैं और उसके आगे बढ़नेमें रुकावट डाल रही हैं। दोपहरके बाद भैयाके पैरोंने बिल्कुल जवाब दे दिया। भैया बड़ी मुश्किलसे चल रहा था। और यह एक देखनेयोग्य दृश्य था कि भैया किसप्रकार अपनी थकावटकी कुछ भी फिक्र न करता हुआ आगे बढ़ रहा था। वह इस बातको भी भूल गया था कि उस दिन भी उसने कुछ खाया न था, लेकिन उसकी ताक़त अब उसका साथ नहीं दे रही थी। पर भैया अभी इससे बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसने इसका कभी विचार ही न किया। अब वह बालुओंके एक चौड़े मैदानमें था। वह किसी ऐसी छायादार जगहमें पहुँचनेका प्रयत्न कर रहा था जहाँ वह अपनी रात बिताये और सुबह होते ही फिरसे अपनी यात्रापर चल दे।

वायु और उसके शोरसे बराबर युद्ध करते-करते वह बिल्कुल बहरा-सा हो गया था। उसने उसी सड़कपर पीछेसे आती हुई लारीके भोंपूकी धीमी आवाज़ न सुनी। लारी उसके बहुत पास आ गयी थी और वह अबतक सड़कके बीचोंबीच अपना गुरुमन्त्र गाता झूमता हुआ-सा चला जाता था। लारीके ड्राइवरको इस बातपर आश्चर्य हुआ कि यह लड़का इसके भोंपूके द्वारा आगाह किये जानेपर भी सड़कपर चलनेका हठ कर रहा है। बिजलीकी तरह एक विचार उसके हृदयमें आया। उसने सोचा कि इस लड़केको सबक देना चाहिये कि सड़कके किनारे चलना, सड़कपर चलनेसे अधिक सुरक्षित है। उसने अपना ब्रेक लगाया और गाड़ीकी चाल धीमी की और निश्चय किया कि वह इस लड़केको एक हल्का-सा धक्का दे दे। वह अब उसके बहुत समीप आ गया था। और भैयाके बाईं तरफ था। ठीक उसी समय भैयाने देखा कि उसके पीछे एक लारी आ रही है और उसे बाएँ हो जाना चाहिये। वह अपने बाएँकी ओर झपटा। परन्तु भैया और ड्राइवर दोनोंको आवश्यकतासे अधिक विलम्ब हो चुका था। ड्राइवरका इरादा एक हल्का धक्का देनेका था और उसने एक हल्का ही धक्का दिया होता पर चूँकि भैया भी उसी तरफको चला गया था, वह लारीके पिछले हिस्सेसे टकरा गया। उसे इससे चोट लगी और वह गिर पड़ा। वह बहुत थका था और कमज़ोर हो रहा था। धक्केको सहन न कर सका। गिरा और बेहोश हो गया।

जितनी देरमें भैया गिरा, गाड़ी उससे कई गज़ आगे चली गयी थी। ड्राइवर अपनी सीटसे झुका और उसने पीछे देखा। भैयाको मुर्देकी तरह पड़ा देखकर वह पीला पड़ गया और फौरन उसने अपनी मोटर रोक दी। वह उतरा और उसके पीछे उसके दस मुसाफिर। सब-के-सब इस घटनासे बहुत घबराये हुए थे। ड्राइवर उस जगह पहुँचा जहाँ भैया पड़ा हुआ था। उसने उसकी नाड़ी देखी और कह उठा, 'जिन्दा, सिर्फ बेहोश हो गया है।'

सब मुसाफिर ड्राइवरको उसकी इस कार्यवाहीके लिये बुरा-भला कह रहे थे और भैयाको होशमें लानेकी कोशिश कर रहे थे। उसमेंसे एकने लारीमेंसे पानी लाकर भैयाके मुँहपर छिड़कना शुरू किया। थोड़ी देरके बाद भैयाको होश हुआ और किसीको अपनी खिदमत करते देखकर उसे बड़ा अचम्भा हुआ। वह बैठ गया और अपने विचारोंको एकत्र करने लगा। लारीको अपनेसे कुछ दूरपर खड़ी देखकर उसे सब बातें याद आ गयीं। उसे शर्म लगी कि वह गिर पड़ा। वह कुछ ऐसे उचित शब्दोंको सोचनेमें लगा हुआ था, जिससे वह उन लोगोंसे अपनी ग़लतीके लिये क्षमा माँगे, इतनेमें उस छोटी भीड़मेंसे एक बूढ़ा बोला, रामजी! किधर जा रहे हो? हमलोग पासके ही गाँवमें जा रहे हैं, हमारे साथ आओ।'

ये शब्द इतने स्नेहसे कहे गये थे कि भैया इस कृपा-को अस्वीकार न कर सका। वह उठा और टोपी तथा किताब उठाकर बिना कुछ कहे-सुने जाकर लारीमें बैठ गया।

(३)

दूसरे दिन तीन बजे सबेरे भैया फिर दिल्लीकी ओर अपना पैर बढ़ाता चला आ रहा था। इस समय वह एक गम्भीर विचारमें पड़ा था। वह सोच रहा था कि उसका मेज़बान सुबह उठनेपर जब वह देखेगा कि वह गायब हो गया है तो क्या सोचेगा। उसे इस बातपर अफसोस था कि वह इस तरह चोरकी तरह क्यों चला आया और

खासकर इस बातपर कि उसने उस कृपाका कुछ धन्यवाद भी न दिया था जो कि उसके मेज़बानने उसके लारीका किराया देकर, रातको भोजन देकर और उसके प्रति क्षमाके भाव दिखाकर की थी। उसे ऐसा लगा कि वह बड़ा कृतघ्न है। किन्तु फिर उसने शीघ्र ही सोचा कि ईश्वर उस बूढ़े मनुष्यको उसकी कृपाके लिये आशीर्वाद देगा। अगर वह धन्यवादके कुछ दिखावटी शब्द कह ही देता तो उससे क्या हो जाता।

इस विचारसे उसका मन शान्त हुआ। उसने फिर जप करना शुरू किया और वह आगे बढ़ने लगा। रातमें आराम करने और उस वृद्ध पुरुषके यहाँ किये गये भोजनके कारण आज उसे ज्यादा ताकृत मालूम होती थी।

सुबह दस बजेतक उसने कई मीलकी सफर तै कर ली थी और अब वह जयपुरकी सीमासे बहुत आगे निकल चुका था। अलवर-राज्यकी भूमिमें था। उसे एक धुँधली-सी याद थी कि जहाँ वह है वहाँसे थोड़ी दूरपर उसे अलवर महाराजाका बड़ा जङ्गल मिलेगा। इसलिये उसने सोचा कि जङ्गलमें पहुँचकर, वहाँ कुछ घण्टोंतक आराम करके फिर आगे बढ़ना चाहिये।

जब भैया अलवर-राज्यके जङ्गलमें पहुँचा उस समय दोपहर हो चुकी थी। वह एक बड़े वृक्षके नीचे बैठ गया। छायाने उसे इतनी ठण्डक दी कि वह घण्टोंकी गहरी नींदमें सो गया।

जब वह जागा तो उसे बड़ा अफ़सोस हुआ कि उसने अपने समयका एक बहुत बड़ा हिस्सा व्यर्थ सोनेमें गँवा दिया। उसने देखा कि सूर्य क्षितिजपर बहुत नीचे चला गया था। वह जल्दीसे उठा और थोड़ी देर सो लेनेके कारण जो शक्ति उसने पा ली थी उससे दूनी तेजीके साथ सड़कपर चल पड़ा जो जङ्गलमें होकर जाती थी। वह चाहता था कि रात होनेके पहले वह जितना रास्ता तै कर सके, कर ले।

जङ्गलके आख़ीरमें पहुँचनेकी आशामें वह चलता ही गया। किन्तु जङ्गलका अन्त उसे दृष्टिगोचर न हुआ। उसके हृदयमें ज़रा भी भय नहीं था। यह बात उसके गुरुमन्त्रके गानसे प्रकट हो रही थी जिसको वह इस समय गा रहा था। परन्तु उसके ध्यानमें यह बात जरूर आयी कि उसे कहीं रात काटना है और अगर वह जङ्गलके दूसरी ओर न पहुँचेगा तो उसे अपनी रात जङ्गलमें ही किसी पेड़के नीचे रहकर गुज़ारनी पड़ेगी।

अँधेरा हो चला था, भैयाने जङ्गलमें एक पगडण्डीकी तरहका रास्ता देखा। उसने सोचा यह किसी बस्तीको जाता है, जहाँ वह आगे जानेके पहले अपनी रात बिता सकेगा। बिना इस बातको सोचे हुए कि यह पगडण्डी उसे कहाँ ले जायगी, भैयाने सड़क छोड़ दी और वह उस छायादार मार्गपर तेज़ीसे आगे बढ़ा। भैया करीब सवा मीलके पहुँचा होगा कि उसने उस घने जङ्गलमें एक सफेद मन्दिरकी तरहका एक मकान देखा। उसे इस बातपर प्रसन्नता हुई कि उसे अपनी रात बितानेके लिये भगवान्‌का मन्दिर मिल गया।

यह ठाकुरजीका एक मन्दिर था और उस समय मन्दिरमें केवल एक पुजारी था जो उस स्थानसे जानेकी तैयारीमें दरवाज़े बन्द कर रहा था। जब भैया मन्दिरके पास पहुँचा तो उसे देखकर पुजारीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—'इस समय सन्ध्याको, जब कि मैं रातके लिये भी घरको बन्द कर रहा हूँ, तुम्हारा यहाँ क्या काम है?'

भैयाने शान्तिसे उत्तर दिया—'आज रात मैं यहीं बिताऊँगा।'

पुजारीने और आश्चर्यमें भरकर कहा, 'क्या तुम पागल हो गये हो?'

'क्यों?'

'क्या तुम्हें यह नहीं मालूम कि यहाँ रातको जङ्गली जानवर कुत्ते-बिल्लीकी तरह घूमते हैं?'

'पर वे तो मेरे किसी मतलबके नहीं हैं।

'बेवकूफ़ लड़के, तू तो उनके मतलबकी चीज होगा। मैं पुजारी होकर भी यहाँ रातको नहीं रहता। देख, मेरा घोड़ा तैयार है, जिसपर मुझे यहाँसे आठ मील दूर अपने गाँवपर जाना है!'

'तुम चले जाओ मैं तो यहीं रुकूँगा' भैयाने फिर उसी दृढ़ता और गम्भीरतासे कहा। उसके हृदयमें जङ्गलमें घूमनेवाले पशुओंका कुछ भी भय न था। उसने सोचा, उनमें भी तो भगवान् है, फिर मैं तो उनसे द्वेष नहीं करता, वे मुझे क्यों मारेंगे?

'लड़के, बेवकूफ़ी न कर। यह हिफ़ाज़तकी जगह नहीं है......'

'पण्डितजी, भगवान्‌के मन्दिरसे बढ़कर हिफ़ाज़तकी और कहाँ जगह है ?' ईश्वर-विश्वासी भैयाने उसकी बात काटकर कहा, उसके शब्दोंमें पुजारीके अपने देवताके प्रति अविश्वासपर इतनी करुणापूर्ण दया थी कि यदि उसमें कुछ भी समझ होती तो वह इसका अनुभव अवश्य करता।

पुजारीने लाचारीसे कहा—

'ज़िद्दी लड़के! कर जैसा तेरे जीमें आये। ले आज सन्ध्याका प्रसाद। मैं जाता हूँ। उसने भैयाके सामने काफ़ी खाना रख दिया, जिससे उसके दो दिनका काम चल सकता था। इसके बाद बिना कुछ कहे उसने मन्दिरके दरवाज़ोंको बन्द किया और वह मकानके दूसरी ओरसे अपना घोड़ा लाकर उसपर सवार हो गया।

घोड़ेपर चढ़कर अपने घरकी ओर जाते हुए पुजारीने चिल्लाकर कहा—'अगर तुम्हें प्यास लगे, तो पानी उस तरफ नीचे नालेमें मिलेगा, मगर शेरोंसे होशियार रहना, वे रातको वहाँ अपनी प्यास बुझाने आते हैं।'

जिस बरामदेमें भैया खड़ा था वहाँसे उसने चिल्लाकर कहा, 'ठीक महाराज' लेकिन पुजारी उसे उत्तर देनेको भी न घूमा।

पुजारीके चले जानेपर भैयाने थोड़ा-सा भोग लिया और उसे स्वादसे खाया। तब वह उस ओरको चला, जहाँ पुजारीने उसे बताया था कि पानी मिल सकेगा।

वह एक फर्लांग गया होगा, कि उसने एक छोटा-सा नाला देखा, जिसमें बहुत साफ़ पानी बह रहा था और जो चारों तरफ़से हरे छायादार वृक्षोंसे घिरा था। जिस समय वह उस स्थानपर पहुँचा, करीब-करीब अँधेरा हो गया था, किन्तु उसने उस स्थानकी नीरवता और शान्तिको बहुत पसन्द किया, इतनी उसकी इच्छा हुई कि वह अपनी रात इसी खुली जगहपर बितावे, परन्तु मन्दिरके आकर्षणके कारण वह थोड़ा पानी पीकर वहीं लौट गया।

जब वह मन्दिरकी तरफ़ लौट रहा था, उसने देखा कि एक लम्बा भयानक काला साँप उसके सामनेसे पगडण्डीको काटता हुआ निकल गया। वह अभी अपना कर्तव्य निश्चित न कर पाया था कि दूरसे आती हुई शेरके गरजनेकी आवाज़ उसे सुन पड़ी। उसने अपनेको सँभाला, ईश्वरमें उसके पूर्ण और दृढ़ विश्वासने उसे साहसी बना दिया। वह बिना घबराहटके मन्दिरकी तरफ़ लौटा और रात बितानेके लिये मन्दिरमें लेट गया।

भैया मुश्किलसे लेटा होगा कि उसने घोड़ोंकी टापोंकी आवाज़ सुनी। उसने सोचा यह एक ऐसी बात है जिससे उसका कोई प्रयोजन नहीं। पर ऐसा नहीं होनेवाला था। घोड़ोंके टापोंकी आवाज़ और मनुष्योंके बातचीतकी ध्वनि उसे और भी पास आती हुई मालूम हुई, यहाँतक कि उस गरोहमेंसे किसीने कहा, 'ऐसा मालूम होता है कि मन्दिरमें कोई आदमी है।'

'कौन है!' दूसरे आदमीने ज़ोरसे पूछा।

'एक बटोही है!' भैयाने उत्तर दिया और अपनी टोपी सरपर रखकर उन शिकारियोंसे बातचीत करनेको उठ बैठा जो घोड़ोंपर सवार मन्दिरके सामने खड़े थे।

'यह कोई उचक्का है!' एक नवागन्तुकने धीमेसे कहा जिसे भैयाने अच्छी तरह सुन लिया।

'नहीं नहीं, मैं बुलन्दशहरको जा रहा हूँ और सवेरा होते ही अपनी यात्रापर चल दूँगा।' भैयाने उनके सन्देहको दूर करनेके लिये कहा।

इस समय एक घुड़सवारने अपना टार्च जलाया और उसने भैयाकी तरफ़ रोशनी फेंकी। 'अवश्य ही यह कोई ख़तरनाक आदमी है, देखते नहीं इसकी गान्धी टोपी!' गरोहसे एकने कहा। सबने एक साथ कहा—'भाग जा यहाँसे!'

भैयाने वहाँ रुकना उचित नहीं समझा, उठकर ठाकुरद्वारेकी देहलीपर दण्डवत् किया, फिर बिना कुछ बोले उस नालेकी ओर चला गया, जहाँ वह थोड़ी देर पहले पानी पीनेके लिये गया था, और रात बितानेकी उसने इच्छा की थी। उसे इस बातका अफ़सोस न था कि वह मन्दिरसे निकाल दिया गया, बल्कि इस बातकी खुशी थी कि वह मन्दिरसे जल्दी मनचाही जगहपर आ गया, क्योंकि वह नालेके पासकी खुली ज़मीनको किसी भी और जगहसे अधिक पसन्द करता था। भैयाने सन्देह दिलानेका कारण समझकर टोपीको फेंक दिया और नालेकी ओर चलना शुरू किया। वह फौरन अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँचकर एक पेड़के नीचे लेट गया और अपनेको एक

मीठी नींदमें भूल गया, उसको इस बातका ज़रा भी ख़याल नहीं हुआ कि उसके इस स्थानपर पहुँचनेके थोड़ी ही देर पहले एक बड़ा भारी शेर उसी जगह गरज रहा था।

(४)

चाचाको भैयाके भागनेकी खबर उस समय मिली, जब वे रातको अपने परम मित्र कुँवर साहबके यहाँसे लौटे। स्वभावतः ही वे बहुत घबराये, पर उन्हें यह न मालूम था कि भैयाको कहाँ ढूँढ़ें। उन्होंने जीजासे राय ली और अपने पुत्र नन्हई तथा अपने सब नौकरोंसे पूछा, पर भैयाके विषयमें किसीको पता न था क्योंकि अपने जानेके विषयमें भैयाने किसीसे कुछ भी नहीं कहा था।

चाचा इस बातपर और चिन्तित हुए। वे स्वयं अपने सभी मित्रोंके यहाँ गये कि शायद भैया किसीके यहाँ चला गया हो, किन्तु जब रातको वे लौटे तो बस निराशाकी एक प्रतिमूर्ति होकर, क्योंकि खोये हुए पुत्रके पता लगानेमें उन्हें कुछ भी सफलता न मिली थी।

सुबह यह बात तै की गयी कि भैयाका पता लगानेके लिये हर दिशामें लोग भेजे जायँ और पता मिले तो भैयाको समझा-बुझाकर लौटा लावें। चाचा इतने घबरा गये कि वे स्वयं कहीं न गये। उनका दिन बड़ी बेचैनीसे बीता और जितने भी लोग भेजे गये थे, किसीने भी आकर कोई अच्छी खबर न सुनायी।

दूसरे दिन चाचाको आशाकी एक किरण दिखायी दी, जब उनके एक मवक्किलने आकर कहा कि उसने भैयाको अपने गाँवमें एक वृद्ध मनुष्यके घरपर देखा था। लेकिन और बातें वह न बता सकता था, फिर भी यह पता लग गया कि भैया दिल्लीकी ओर गया था और जयपुरसे लगभग चालीस मील दूर चला गया था।

तुरन्त यह बात तै की गयी कि मुन्नू और जीजा चाचाकी मोटरमें जायँ और भैयाको वापस लावें। मोटरकी लम्बी यात्राके लिये जल्दी-जल्दी तैयारियाँ की गयीं और दोपहर होते-होते दिल्लीकी सड़कपर दोनों चल दिये।

(५)

मुन्नू और जीजा अभी दस मील भी न गये होंगे कि उनकी मोटरका टायर जोरोंसे फट गया और वह आधा घण्टा, जो मोटर-ड्राइवर सिद्धनरायनको फ़ालतू पहिया चढ़ानेमें लगा, उन्हें कई घण्टेके बराबर मालूम हुआ, क्योंकि वे जितना भी तेज़ मुमकिन हो सके, जानेके लिये आतुर हो रहे थे। उन्हें यह बात नहीं मालूम थी कि बिना ईश्वरकी सहायताके वे सर्वथा निःसहाय और अशक्त थे।

वे दस-पन्द्रह मील और गये। अब एक ट्यूबमें पञ्चर हो गया। यह विशेष दुःखकी बात थी क्योंकि चढ़ानेके लिये कोई दूसरा फाल्तू ट्यूब न था। उन्हें जलती धूपमें इन्तजार करना पड़ा, जबतक कि ट्यूब फिरसे कामके लायक न बन गया। इस बार फिर उनके आगे बढ़नेमें घण्टेभरकी देर हो गयी।

दुर्भाग्य अपनी मर्ज़ीपर चल रहा था और ये दो व्यक्ति उसके विरुद्ध चल रहे थे। वे इतना तेज़ नहीं जा सकते थे जितना वह चाहते थे। किन्तु लाचार थे, इञ्जन और मशीनकी अन्य त्रुटियोंको दूर करना उनके लिये बिल्कुल असम्भव था, जिनपर उनका कोई वश न था। बड़ी मुश्किलसे वे लोग उस गाँवमें पहुँचे जहाँ भैयाको चाचाके मवक्किलने देखा था। इन लोगोंने उस बूढ़े आदमीका पता लगाया जिसने भैयाको रातमें शरण दी थी। जब मुन्नू और जीजाने सारी कहानी सुनी कि कैसे भैयाको मोटरलारीसे धक्का लगा था, कैसे वह बूढ़ा आदमी उसे लारीसे अपने घर लाया था और कैसे वह बिना एक शब्द भी कहे भैया रातको चला गया था, तो उन्हें इस बातपर बड़ा अफसोस हुआ कि उन्होंने इतनी देरी की। वृद्ध पुरुषने भी बड़ी सहानुभूति दिखायी, किन्तु और अधिक न जाननेके कारण वह भैयाकी खोजमें और कुछ सहायता नहीं कर सका।

उन्होंने रात गाँवमें बितायी और यह तै किया कि सुबह दिल्लीकी ओर रवाना होंगे क्योंकि जो कुछ भी उन्हें मालूम हुआ था उससे उन्हें इस बातका विश्वास था कि शोभारामजीकी खोजमें ही वह गया है।

दूसरे दिन तड़के वे लोग फिर खोजमें निकले और करीब दस बजेके अलवरके जङ्गलमें पहुँच गये और दैवकी प्रेरणासे गाड़ीका इञ्जन फिर बिगड़ गया। सिद्धनरायन इञ्जनकी गड़बड़ी दूर करनेका प्रयत्न कर रहा था, मुन्नू और जीजा हाथ-पैर सीधा करनेके लिये गाड़ीसे उतरे। वे इतने व्याकुल और घबराये हुए थे कि आपसमें बातचीत-

तक नहीं कर रहे थे, पर दोनों इसको जान रहे थे कि एक दूसरेके मस्तिष्कमें कौन-सी बात चक्कर काट रही है ।

'मुझे प्यास मालूम होती है' मुन्नूने कहा ।

'यहाँ तो पानी मिलना असम्भव ही समझो' जीजाने उत्तर दिया और सिद्धनरायनकी ओर देखने लगे जो कारबरेटरसे गर्द हटानेकी कोशिश कर रहा था जिसकी वजहसे इञ्जन रुका हुआ था ।

'जबतक वह गाड़ी ठीक कर रहा है, चलो हम कहीं पानी ढूँढ़ें' मुन्नूने कहा ।

'आओ हम लोग आगे बढ़ें, जब गाड़ी ठीक हो जायगी, तब वह हमारे पीछे-पीछे आ जायगी ।'

वे आगे बढ़े और बहुत दूर नहीं गये थे कि उन्होंने सड़कसे लगी हुई एक पगडण्डी देखी। उन्होंने भी भैयाकी तरह सोचा कि यह पगडण्डी उन्हें किसी बस्तीकी ओर ले जायगी । उन्होंने सिद्धनरायनको यह बात कह दी कि वह यहीं पगडण्डी और सड़कके किनारेपर उनका इन्तज़ार करे । वे पानीकी खोजमें घने जङ्गलके भीतर चले ।

सामने मन्दिर देखकर उनके मनमें पानी मिलनेकी आशा हुई । मन्दिरमें पहुँचनेपर उन्होंने पुजारीको देखा जो मन्दिरमें अकेला बैठा हुआ था ।

'तुम क्या चाहते हो ?' उसने पूछा ।

'थोड़ा पानी भाई !' जीजाने उत्तर दिया ।

'शामतक रुको या लौट जाओ—आज यहाँ बड़ा ख़तरा है'—उसने आत्म-विश्वाससे कहा ।

'क्या मामला है ? हम बहुत प्यासे हैं !' मुन्नूने कहा।

'पिछली रातको महाराज साहबने एक बड़े भारी चीतेको घायल किया है और वह इसी तरफ़ कहीं नालेके पास है, उसने एक लकड़हारेको मार डाला है और अब भी किसी झाड़ीमें है । महराजके साथी शिकारियोंने अभीतक उसका पता नहीं पाया है । मैं नालेसे तुम्हारे लिये कैसे पानी लाऊँ ?'

उसने यह सब बड़ी जल्दी कह डाला । जब उसने यह बातें कहीं, उसने अपने चारों ओर देखा कि उसकी बात किसीने सुन तो नहीं ली ।

'लेकिन महाराज ! हमलोग बहुत प्यासे हैं !'

'मुझे अफसोस है कि मैं इस समय तुम्हारी सहायता नहीं कर सकता ।'

'क्या आपके पास थोड़ा पानी नहीं है ?'

'मेरे पास सिर्फ थोड़ा-सा चरणामृत है, बाक़ी मैंने खुद पी लिया है ।'

'तो उसे आप हमें दे दीजिये।'

उसे पुजारीने उनको दे दिया और उन दोनों आदमियोंने उसे आपसमें बाँट लिया । उस थोड़े जलने उनकी प्यास और बढ़ा दी । वे बड़े परेशान हुए ।

'तुम्हें यह कैसे मालूम कि वह घायल चीता यहाँ है ?' जीजाने पूछा ।

'मैंने एक शिकारीसे सुना है जो थोड़ी देर हुए इधरसे गुज़रा था ।'

मुन्नू निराश होकर बरामदेमें बैठ गये । वे बहुत प्यासे थे और किसी तरह भी ज़्यादा देरतक बिना पानीके न रह सकते थे । मुन्नूका कष्ट देखकर जीजाने कुछ ख़तरा उठाकर नालेसे पानी लानेका इरादा किया । पुजारी और मुन्नूके मने करनेपर भी जीजा पुजारीका लोटा लेकर मुन्नूके लिये पानी लेनेको आगे बढ़े । लेकिन अभी उन्हें गये दो ही मिनट न हुए होंगे जब कि वे दौड़ते हुए लौटे।

'कहो क्या बात हुई ?' पुजारीने सहमकर पूछा ।

जीजाने बड़ी आशाके साथ कहा—'मुन्नू, देखो तो यह भैयाकी टोपी तो नहीं है ?' उन्होंने एक गांधी टोपी जो उनके हाथ थी, दिखाकर कहा—'मैंने इसे यहाँसे थोड़ी दूरपर पड़ी पाया ।'

मुन्नू जल्दीसे उठे, इसे ध्यानसे देखा लेकिन स्वभावतः उन्हें विश्वास न हुआ कि यह भैयाकी ही टोपी है, लेकिन यह उससे बहुत मिलती-जुलती थी क्योंकि अभी उस दिन उसने स्वयं उसे अपनी टूटी हुई मशीनपर सिया था।

जीजाने प्रसन्न होकर कहा—'हमें यह जङ्गल ढूँढ़ना चाहिये ।'

पुजारी अपने अतिथियोंकी बातचीत न समझ सका। उसने पूछा—'तुम किसे ढूँढ़ते हो ?'

'मुन्नूने कहा—'मेरा छोटा भाई घरसे भाग गया है। हमलोग उसे ढूँढ़ने निकले हैं।'

'मैं नहीं जानता कि वह वही था लेकिन दो दिन हुए लगभग १८ वर्षका एक लड़का यहाँ आया था और रातमें यहीं ठहरा था। लेकिन जब मैं सुबह आया, तब वह चला गया था।'

इस सूचनाने जीजाका विश्वास और भी दृढ़ कर दिया कि भैया इसी जङ्गलमें कहीं है, लेकिन मुन्नूने सोचा कि, भैया आगे बढ़ गया होगा और इस कारण उन्होंने जीजासे मोटरपर चढ़कर आगे बढ़नेको कहा क्योंकि इसी उपायसे भैयाको पकड़ पानेकी आशा थी।

जीजाने उनसे असहमत होकर कहा, 'नहीं, मुन्नू! आगे बढ़नेके पूर्व हमें यहाँ अच्छी तरह ढूँढ़ लेना चाहिये, ईश्वर हमारी मदद करेगा।'

'वह अवश्य हमारी मदद कर रहा है, लेकिन यहाँपर समय बिताना व्यर्थ है।' मुन्नूने कहा। वे इस समय मोटरके पास पहुँचनेको व्यग्र हो रहे थे। इस समय अपनी प्यासतकको वे भूल गये थे।

कुछ और वाद-विवादके बाद मुन्नू जीजाके साथ नालेकी ओर जानेको सहमत हो गये कि पहले वहाँ चलकर दोनों पानी पीयें और फिर भैयाकी खोजमें आगे बढ़ें।

जैसे ही वह मन्दिरसे बाहर आये, उनकी भेंट दो शिकारियोंसे हुई जो अपनी बन्दूक लिये नालेकी ओर जा रहे थे। मुन्नू और जीजा उनके पीछे-पीछे चले। उन्होंने किसी खतरेसे बचानेमें रक्षा प्रदानके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया। वे चुपचाप चलते गये।

यकायक एक शिकारी अचानक रुका और अपने साथीको पृथ्वीपर किसी चीजकी ओर संकेत किया।

'यह उसके पैरका निशान है'—उसने धीमे स्वरमें कहा।

दूसरा उससे सहमत होकर बोला, 'मालूम तो ऐसा ही होता है।'

एकने मुन्नू और जीजासे कहा, 'जनाब होशियार रहियेगा, यहाँ नजदीक ही कहीं घायल चीता है!'

जीजाने कहा—'हमलोग प्यासे हैं और थोड़ा पानी पीनेके लिये नालेकी तरफ जा रहे हैं।'

'सँभले हुए जाइये'

चीतेके डरसे वे होशियारीसे आगे बढ़े। शिकारी लोग पैरोंका निशान देखते हुए चल रहे थे। मुन्नू और जीजा उनके पीछे थे। जीजाके हृदयमें घटनाक्रमके इस परिवर्तनसे एक प्रकारकी गुदगुदी पैदा हो रही थी।

इसके पूर्व कि मुन्नू और जीजाको यह मालूम हो कि क्या हो रहा है उनकी शान्ति अचानक एक बन्दूककी आवाजसे भङ्ग हुई। क्षणभर बाद एक गरज सुनायी दी और फिर सन्नाटा हो गया।

शिकारी लोग दौड़े और मुन्नू और जीजा मानो अपने आप ही उनके पीछे दौड़े। शिकारी तो अपने शिकारकी तरफ झपटे पर वह कौन चीज थी जिसने जीजा और मुन्नूको सहसा आकृष्ट कर लिया?

नालेके किनारे एक वृक्षके नीचे भैया चुपचाप शान्तिसे बैठा हुआ अपनी पुस्तक पढ़ रहा था जो वह अपने साथ लाया था। उसके करीब ८० गजके फासलेपर एक बड़ा-सा मरा हुआ सुन्दर चीता पड़ा था। भैया बन्दूककी आवाज सुनकर चौंका, उसने अपना सर उठाया और मुन्नू-जीजाको अपनी ओर आते देखा।

मुन्नू और जीजा एक ही साथ चिल्ला उठे 'भैया, भैया।'

'दादा! जीजा! तुम यहाँ कैसे आये?'

'तुम्हारी खोजमें। तुम इस भयानक जङ्गलमें क्या कर रहे हो?'

'मैं श्रीमद्भागवतका सप्ताह कर रहा हूँ' भैयाने उत्तर दिया। उसे इस बातकी बिल्कुल खबर न थी कि वह कितने बड़े खतरेमें था और भगवान्‌ने उसे क्योंकर बचाया?*



* एक सच्ची घटनाके आधारपर। —लेखक

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

६९२–विचार स्वयमेव शान्त और अचञ्चल होने चाहिये, तभी तुम्हें दिव्य भावना मिल सकती है। केवल ऐसी अवस्थाओंमें ही अनुकूल प्रभाव चित्तमें उतर पाते हैं। अधिकाधिक शान्त मानसिक अवस्थामें तुम भगवान्‌में निष्ठावान् हो सकते हो। योजनाएँ, आयोजनाएँ, वृत्तियाँ, भावनाएँ, उत्तेजनाएँ, द्वेष-प्रभृति पतित दशाएँ मनको उत्तेजित करती हैं तथा भगवत्प्राप्तिमें बाधा डालती हैं।

६९३–मनमें एक आन्तरिक युद्ध सदा चला करता है; स्वभाव और सङ्कल्पमें, सत्त्वगुण और रजो-तमोगुणमें, पुराने सांसारिक अभ्यासों तथा नवीन आध्यात्मिक अभ्यासोंमें, शुभ वासना और अशुभ वासनामें, विवेक और मन तथा इन्द्रियोंमें यह युद्ध मचा रहता है। यदि तुम क्रोध-वासना आदिको भगानेका प्रयत्न करते हो तो वह कहते हैं कि—'हे जीव! तुमने हमें दीर्घकालके लिये इस स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरके इस घरमें रहनेकी आज्ञा दी है अब हमें तुम क्यों भगाना चाहते हो? तुम्हारी क्षुब्ध दशा तथा वासनामें हमने तुम्हें बहुत ही सहायता दी है, हमको यहाँ रहनेका पूरा अधिकार है, हम यहाँ बलपूर्वक रहेंगे, तुम्हारे सारे प्रयत्न जो हमें हटानेके लिये होंगे उन्हें हम रोकेंगे, तुम्हारे ध्यानमें बाधा डालेंगे और यहाँ बारम्बार आकर रहेंगे।' तथापि शुद्ध, दृढ और अजेय सङ्कल्पकी इनपर अवश्य विजय होती है। इसमें सन्देह नहीं, मैं तुम्हें दृढतापूर्वक विश्वास दिलाता हूँ।

६९४–आसुरी स्वभावकी शक्तियोंके विपरीत काम करनेके लिये अन्तःकरणमें सहायता करनेवाली शक्तियाँ भी होती हैं। यदि तुम 'ॐ' या 'राम'का दस बार जाप करते हो, यदि तुम एक बार पाँच मिनटके लिये ध्यानमें बैठते हो तो इनके संस्कार तुम्हें बलपूर्वक अनेकों बार मन्त्रोंके जाप तथा अधिक समयतक ध्यानमें बैठनेके लिये लगावेंगे, यद्यपि तुम माया या अविद्याके प्रभावके कारण आध्यात्मिकताके विषयमें बिल्कुल भूल जाते हो। वासना-द्वेष आदि विरुद्ध शक्तियाँ तुम्हें आध्यात्मिक प्रवाह, सत्त्व-शक्तिसे नीचे गिरानेकी चेष्टा करेंगी और शुभ वासनाएँ तुम्हें भगवान्‌की ओर ले जानेकी चेष्टा करेंगी। यदि बुरे विचार तुम्हारे मनमें सप्ताहमें दो-तीन बार उठनेके बदले महीनेमें एक बार उठें (याद रक्खो कि बुरे विचार युवावस्थाके प्रारम्भमें ही उठने लगते हैं), यदि तुम सप्ताहमें एक बार क्रोधित होनेके बदले महीनेमें एक बार क्रोधित होते हो, तो इसे उन्नतिसूचक समझना चाहिये, इससे जान पड़ता है कि तुम्हारी सङ्कल्प-शक्ति बढ़ रही है। यह आध्यात्मिक शक्तिके उन्नत होनेकी सूचना है। प्रसन्न हो जाओ, अपनी उन्नति (दैनिक-आध्यात्मिक डायरी) को लिख लो।

६९५–उपनिषद्के तत्त्वोंके जाननेवाले मानते हैं कि मनकी रचना भोजनके ऊपर अवलम्बित रहती है। हम जो भोजन करते हैं उसीसे मनकी सृष्टि होती है। 'हम जो भोजन करते हैं, वह तीन रूपोंमें बदल जाता है, स्थूल अर्थात् गुरुतर भाग मल बन जाता है, मध्यम भाग मांस बनता है और सूक्ष्म भाग मन बनता है।' (छान्दोग्योपनिषद् ६। ५। १)

जिसप्रकार दहीके मथनेपर उसका सूक्ष्म तत्त्व ऊपर उठ आता है और मक्खनके रूपमें परिणत हो जाता है, इसी प्रकार जब भोजनका परिपाक होता है तो सूक्ष्मतम भाग ऊपर आता है और मनके रूपमें बदल जाता है। (छान्दोग्य० ६। ६। १-२)

हम भगवद्गीताके उपदेशमें भी देखते हैं कि मनकी सात्त्विक, राजस और तामस तीन विभिन्न दशाएँ तीन प्रकारके भोजनके ऊपर ही निर्भर रहती हैं। (गीता १७। ८-९-१०)

जब मनका गुण उस भोजनके गुणपर अवलम्बित है जो हम करते हैं तो साधकोंके लिये, जो ध्यानमय जीवन बिताते हैं, तथा वृद्ध गृहस्थोंके लिये जो संसारमें रहते हुए ही आध्यात्मिक जीवन बितानेकी चेष्टा करते हैं, उच्चतम आचारके निर्माणार्थ सात्त्विक भोजनपर निर्भर करना स्वाभाविक हो जाता है।

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ।'

'जब भोजन शुद्ध होता है तो समस्त स्वभाव शुद्ध हो जाता है, स्वभावके शुद्ध होते ही स्मृति दृढ होती है, और दृढ स्मृतिकी प्राप्तिसे सारे बन्धन दूर हो जाते हैं ।' (छान्दोग्य० ७ । २६ । २)

इसीसे नारदकी सारी अशुद्धियाँ नष्ट हो गयी थीं और तभी पूज्यपाद सनत्कुमारने उन्हें 'तमसः पर' (अन्धकारसे परेवाला) मार्ग दिखलाया था । वह मार्ग जो हमें तमस् (अन्धकार) के परे ले जाता है, शुद्ध भोजनपर ही अवलम्बित है क्योंकि इसीसे मनकी शुद्धि सम्पन्न होती है ।

६९६–अधिकांश मनुष्योंके विचार भोजन करने, शरीरको धोने तथा साफ वस्त्र पहननेमें ही लगे रहते हैं । उनके लिये यही सब कुछ है । प्रायः अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त पुरुष तो केवल अन्नमय कोषमें ही रहते हैं । कभी-कभी वे मनोमय कोषमें आ जाते हैं । आध्यात्मिक साधक और विवेकी पुरुष विज्ञानमय कोषमें रहते हैं । तुमलोगोंको वेदान्तिक ग्रन्थोंके अध्ययन तथा शुद्ध चिन्तनके द्वारा विज्ञानमय कोषको उन्नत करना चाहिये । तभी तुम सुरक्षित हो जाओगे और तब मन तुम्हें प्रलोभन तथा धोखा नहीं दे सकेगा ।

६९७–वह मन जो अपने उद्देश्यपर आशान्वित, श्रद्धासम्पन्न, साहसशील तथा दृढ होता है और सदा उसपर लगा रहता है, उस उद्देश्यके अनुकूल शक्ति, उपकरण तथा तत्त्वोंको स्वयमेव आकर्षण कर लेता है ।

६९८–सन्देहात्मक भावोंके मनुष्य दूसरोंसे तथा भौतिक वायुमण्डलमें आकाशगत सामग्रीसे सन्देहात्मक उपकरण और सन्देहात्मक विचार आकर्षण करते हैं । आशान्वित, श्रद्धालु तथा प्रसन्नचित्तवाले पुरुष दूसरोंसे इसी प्रकारके विचार आकर्षण करते हैं । वे अपनी चेष्टाओंमें सदा सफल होते हैं ।

६९९–यदि तुम्हें कोलाहलमें रहना पड़ता है तो उसकी शिकायत न करो बल्कि उससे फ़ायदा उठाओ । मनुष्य बाह्य विघ्नोंका उपयोग ध्यानके अभ्यासमें कर सकता है । समीपमें जो कुछ घटनाएँ होती हैं उनके द्वारा निर्बाधगतिसे काम करनेकी शक्ति तुम्हें बढ़ानी चाहिये । शक्ति अभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है और वह विभिन्न रूपोंसे उपयोगी होती है । विभिन्न अवस्थाओंमें काम करनेका अभ्यास करना मानसिक-संयम तथा उन्नतिका द्योतक है ।

७००–केवल राजयोगी वृत्तियोंके निरोधकी चेष्टा करते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—(पातञ्जल-योगसूत्र १-२)

वेदान्ती सदा आत्मभाव—ब्रह्मभाव रखता है, जहाँ कहीं वह विषयोंके सम्पर्कमें आता है, इसप्रकार वह वृत्तियोंके निरोधकी चेष्टा नहीं करता । उसके लिये प्रत्याहार नहीं, उसके लिये बहिर्मुख वृत्ति भी नहीं, वह नामरूपको हटा देता है और अस्ति-भाति-प्रियको ग्रहण करता है । भक्त विषयोंमें नारायणको—श्रीकृष्णको देखता है, वह भी अपनी वृत्तियोंका निरोध नहीं करता, वह भी वेदान्तीकी भाँति अपनी मानसिक अवस्थाको बदल देता है । मन ही नाना भाव और भेदभावकी सृष्टि करता है । यदि तुम अपने दृष्टिकोणको, मानसिक अवस्थाको बदल डालो तो संसार आनन्दमय हो जायगा । तुम्हें पृथ्वीपर ही स्वर्गकी प्राप्ति होगी ।

बाहर केवल तत्त्व, कम्पन अथवा दृश्य हैं, प्रकृति विरक्त है, प्रकृति दृष्टिहीन है । विषयोंमें न तो सुख है, न दुःख । यह सारी मानसिक सृष्टि, मानसिक भ्रम, मानसिक प्रवृत्ति, मानसिक धोका है । मन ही माया है । मायाका शक्तिशाली निवास-स्थान मनकी कल्पनामें है । आत्मा लिङ्गहीन है, पञ्चतत्त्वोंका कोई लिङ्ग नहीं । मन ही लिङ्गभावनाकी सृष्टि करता है । सुखदेवमें कोई लिङ्गभाव नहीं । विचारो, कि स्त्री केवल पञ्चतत्त्वोंके मिश्रणसे विद्युद् अणु तथा परमाणुओंके ढेरसे बनी है । लिङ्ग-सम्बन्धी भावना धीरे-धीरे अदृश्य हो जायगी ।

७०१–विचारकी शक्ति महान् होती है, प्रत्येक सम्भावनीय मार्गमें तुम्हारे विचारोंका एक निश्चित मूल्य होता है । तुम्हारी शारीरिक शक्ति, तुम्हारी मानसिक शक्ति, तुम्हारे जीवनमें सफलता तथा तुम जो सुख अपने साथियोंको प्रदान करते हो—यह सब तुम्हारे विचारोंके गुण और स्वभावपर निर्भर हैं । विचार-संस्कृतिका ज्ञान तुम्हें अवश्य होना चाहिये ।

७०२–प्रत्येक बुरे विचार एक तलवारके समान हैं जो उनके लिये खींची गयी होती है, जिनके प्रति वे बुरे विचार किये जाते हैं।

७०३–चाहे जैसे विचार तुम पसन्द करो, उन विचारोंको जबतक तुम अपने पास रखते हो, चाहे तुम पृथ्वीमें भ्रमण करो अथवा समुद्रमें, निरन्तर ज्ञात अथवा अज्ञातभावसे तुम अपने विचारोंके गुणागुणके अनुसार ही परिणामको आकर्षित करोगे। विचार तुम्हारी वैयक्तिक सम्पत्ति है और तुम उसे दृढ़तापूर्वक अपनी योग्यताका अनुभव करते हुए अपने अनुकूल नियमित कर सकते हो।

७०४–मन अन्धकारमें भटकता है। विस्मृतिमें पड़ जाता है। क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है। यदि दो दिनके लिये भोजन बन्द हो जाय तो यह ठीक-ठीक चिन्तन नहीं कर सकता। सुषुप्तिमें मनकी क्रिया नहीं होती है। मन वासना, तृष्णा तथा अशुभ भावनासे भरा रहता है। क्रोधकी दशामें यह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। भयमें यह काँपने लगता है। आघात पड़नेपर यह डूब जाता है। तब भला मनको तुम शुद्ध चैतन्य कैसे मान सकते हो?

७०५–ध्यानावस्थामें शान्तिके द्वारा शारीरिक और मानसिक कष्ट दूर हो जाते हैं। जैसे ही कष्ट दूर होते हैं मानसिक तथा शारीरिक आनन्दका उदय होता है। मन आनन्दमय हो जाता है।

७०६–चाहे जो कुछ प्राप्त हो उसे बिना 'ननु' 'नच' के ग्रहण करो। इसप्रकार मनुष्य प्रत्येक अवसरोंको प्राप्त करता है, आसानीसे उन्नति करता है। पर्याप्त मानसिक शक्ति तथा मनकी समतावस्था प्राप्त करता है, चञ्चलता दूर हो जाती है। सहन और धैर्यकी शक्ति बढ़ती है।

७०७–मनकी शुद्धि होनेपर वह अधिक संवेदनात्मक हो जाता है, ध्वनि या आघातके द्वारा आसानीसे विच्छिन्न हो जाता है। और किसी प्रकारके दबावको पूर्णरूपसे अनुभव करता है। तुम्हें यथाशक्ति चेष्टा करनी चाहिये।

७०८–असफलताओंसे हताश मत होओ। अपनी शक्तिभर चेष्टा करते जाओ, अपने दोषों और असफलताओं-पर उतना चिन्तन मत करो। अपनी असफलताका कारण जाननेके लिये उन्हें सामने रक्खो और पुनः चेष्टा करो। इसप्रकारसे तुम उस प्रवृत्तिको नष्ट कर दोगे जिससे तुम्हें असफल होना पड़ा था। उनके विषयमें बार-बार सोचने-से उन्हें नयी शक्ति प्राप्त होती है। तुच्छ असफलताओंके लिये अधिक घबराओ मत, बैठकर केवल असफलताओंके ही चिन्तनमें मत लगो।

७०९–जो लोग ध्यानका अभ्यास करते हैं वे जानते हैं कि अभ्यास न करनेवालोंकी अपेक्षा वे अधिक उत्तेजित हो जाते हैं और इस कारणसे भौतिक शरीरपर कभी-कभी बड़ा बल पड़ता है।

७१०–सद्ग्रन्थोंके अध्ययनसे आध्यात्मिक साधनामें सहायता मिलती है, परन्तु अत्यधिक अध्ययनसे मन गन्दा हो जाता है। निदिध्यासनके समय तुम कभी-कभी कठोपनिषद् तथा बृहदारण्यक उपनिषद्, अवधूत-गीता, योगवाशिष्ठका अध्ययन कर सकते हो। यह मनको दिव्य बना देंगे।

७११–शान्तचित्तके साथ साहसकी भी आवश्यकता होती है जिससे तुम आध्यात्मिक पथकी परीक्षाओं तथा विघ्न-बाधाओंका मुकाबला कर सको। आत्माके एकत्वके अनुभवमें यह बद्धमूल होता है। 'अभयम्' एक दैवी सम्पत्ति है (गीता १६–१)। सदा विचार करते रहो कि तुम आत्मा हो, धीरे-धीरे तुममें महान् साहस बढ़ेगा। अविद्याके कारण भौतिक शरीरके मोहसे ही भय होता है।

(क्रमशः)



स्वधर्म-पालनसे भगवत्प्राप्ति

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—अरी बहिन कोकिला! तू आज कोई ऐसी शिक्षाप्रद कथा सुना कि जिसमें अपने धर्मका पालन करनेसे किसी विधवा बहिनका सचमुच ही कल्याण होनेकी बात हो। मुझे विधवाओंकी हीन दशापर बड़ा ही खेद होता है। इन बेचारियोंको इस जन्ममें तो जीवनपर्यन्त सुखी होना असम्भव है ही, परलोकमें भी इन्हें सुख नहीं हो सकता क्योंकि चिन्ता तो एक क्षण भी इनका पीछा नहीं छोड़ती। वास्तवमें तो यही यथार्थ है कि जब जीवनमें ही सुख नहीं तो मृत्युके बाद सुख कहाँ रक्खा है? क्योंकि मनुष्यकी जैसी भावना होती है वैसा ही फल होता है। उनकी यहाँपर कोई कामना पूर्ण ही नहीं होती और अपूर्णकामीको मृत्युकालमें दुःखकी भावना होती है, इससे परलोकमें भी उन्हें दुःख ही मिलता है। परन्तु आश्चर्य है, जब परमात्मा स्वयं सुखस्वरूप है तो उसकी सन्तान दुःख-रूप कैसे होती है? जैसा कारण होता है वैसा ही तो कार्य होता है? श्रुति भी आदेश करती है कि उसी ब्रह्मके आनन्दसे सृष्टि उत्पन्न होती है, उसीके आनन्दसे सर्व प्राणी जीवित रहते हैं, फिर अन्तमें उसी सुखस्वरूपमें लय हो जाते हैं। तब क्या इन विधवाओंकी कोई अन्य सृष्टि है?

कोकिला—बहिन! तू समझी नहीं, उस सुख-स्वरूपका सुख तो सबमें समान है, किसीमें कम-ज्यादा नहीं। यहाँके सुख-दुःखका कारण तो मनका सम-विषम होना है, प्राणी विषयोंमें आनन्द मानते हैं, यह उनकी भूल है। विषयोंमें आनन्द बिलकुल नहीं है। विषयोंमें आनन्द होता तो वह हमेशा एक-सा रहना चाहिये, ऐसा देखनेमें नहीं आता। जब विषय मिलते हैं तब थोड़ी देरको आनन्द होता है, फिर उसी प्रकार चिन्ता चित्तको जलाने लगती है, इससे यह निश्चय हुआ कि विषयोंमें सुख नहीं है। जब कोई प्रिय पदार्थ मिलता है, तब उसके मिलनेसे मन एकाग्र होता है। और जहाँ मन एकाग्र हुआ कि उसपर सुखस्वरूप आत्माका आभास पड़ा। चञ्चल चित्तमें उसका आभास नहीं पड़ता, मनका एकाग्र होना ही ईश्वर तथा आनन्दकी प्राप्ति है, तब इन अस्थिर-चित्त विधवाओंको सुखका आभास कैसे हो? क्योंकि कुछ-न-कुछ चिन्ता इनके मनको सताती ही रहती है। मन ही मनुष्योंके बन्ध-मोक्षका कारण है। विक्षिप्त मनसे जन्म तथा मरणके चक्रमें घूमना पड़ता है और निरुद्ध मनसे इस जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाना होता है, गीतामें भगवान्‌का वचन है कि मनुष्यका मन ही शत्रु है और मन ही मित्र है।

शंका—बहिन! मन एक है, उसमें दो गुण किस-प्रकार हो सकते हैं? और मनके विक्षेपहीन होनेका साधन किसप्रकार है?

समाधान—बहिन! मन एक है, यह सत्य है। परन्तु वृत्तिभेदसे वह दो ही नहीं, अनेकों प्रकारका हो जाता है। मनके विक्षेपरहित होनेका साधन अपने-अपने धर्मका नियमपूर्वक पालन करना है, जो अपने धर्म-पर आरूढ़ रहती हैं, निष्काम भावसे ईश्वर-भक्ति करती हैं, किसी और कैसी भी विपत्ति आनेपर विचलित नहीं होती उन्हींको इस जन्ममें सुखका अनुभव होता है और परलोकमें उत्तम गतिकी प्राप्ति होती है। जो मनुष्य अपने धर्मका पालन नहीं करता, उसको इस लोकमें अपयशकी प्राप्ति और परलोकमें नाना यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

श्यामा—बहिन! मनका निश्चल होना तो अति कठिन है। गीतामें भी कहा है कि वायुका वेग तो किसी कारण रुक सकता है परन्तु मन वायुसे भी अधिक

वेगवाला है। अतः इस मनका निग्रह तो अत्यन्त ही कठिन है। जब अर्जुन और श्रीकृष्ण-जैसे योगी, धर्म-वीर, शूरवीर इसका निग्रह कठिन मानते हैं, तब साधारण जीवका तो कहना ही क्या है? मनका स्वरूप ही परिणामशील है, तब वह सर्वदा एक-सा कैसे रहे?

कोकिला–बहिन! यह मन ऐसा ही है जैसा तू कहती है, परन्तु जिसके जितनी बड़ी उपाधि होती है उसका मन भी उतना ही अधिक चञ्चल होता है। उपाधिके ही कारण पुरुषोंका मन स्त्रियोंसे अधिक चञ्चल तथा विक्षिप्त होता है। विधवाओंकी अपेक्षा सधवाओंका मन अधिक विक्षिप्त होता है। पुरुषोंको व्यापारादिकी बड़ी चिन्ता होती है, उन-मेंसे कोई चिन्ता स्त्रियोंको नहीं सताती। इसी कारण स्त्रियोंका मन बहुत शीघ्र एकाग्र तथा समा-धिस्थ हो जाता है, क्योंकि उनका मन घरके ही अन्दर-अन्दर रहता है। पुरुषोंका मन अधिकांशमें बाहर घूमता रहता है, अनेक प्रकारके कारोबार, लेन-देन चित्तको कभी स्थिर नहीं होने देते। परन्तु इन दोनोंसे अधिक शीघ्रतासे विधवाओंका मन स्थिर हो सकता है, क्योंकि विधवाओंको सिवा अपने अन्न-वस्त्रके और किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जहाँ खुशीसे अन्न-वस्त्र मिला कि विधवा प्रसन्न हुई। चित्तका प्रसन्न रहना या होना ही निश्चिन्तता है। विधवाको सांसारिक व्यापारसे कुछ प्रयोजन न होना चाहिये क्योंकि गृहस्थ-धर्म पालना पतिव्रताको कर्तव्य है। विधवाको किसीके लेन-देनसे अब कुछ प्रयोजन नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसे तो परम पिता जगदीश्वरने सब बन्धनोंसे छुड़ा दिया है अर्थात् विना ही प्रयास उसे भगवान्ने संन्यास दे दिया है। अतः संन्यासीके-जैसे कर्म विधवाको करने चाहिये। जो ईश्वरके बताये हुए अपने धर्मपर नहीं चलती वह महामूर्खा है। उसको कहीं भी सुख नहीं मिल सकता।

श्यामा—बहिन! ऐसा कैसे हो सकता है, कि विधवा किसी बातसे प्रयोजन ही न रक्खे, उसे तो अन्य गृहिणियोंसे अधिक बोझा सिरपर उठाना पड़ता है। सधवाओंसे अधिक सबकी सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती है। नहीं करे तो फिर जीवनका निर्वाह होना ही कठिन हो जाता है। यदि वह सब क्रियाओंसे मुख मोड़कर बैठ जाय तो उसकी कोई बात भी न पूछे। अधिक क्या, उसका घरमें रहना ही दुस्तर हो जाय। फिर वह बेचारी क्या करेगी? कामसे मनुष्य क्या पशुतक प्यारे लगने लगते हैं, कहावत प्रसिद्ध है 'कामकी मा डरे, पूतकी मा परे' काम ही सबको प्यारा लगता है, चाम प्यारा नहीं लगता।

कोकिला—अरी बहिन! सेवा-शुश्रूषा करनेसे न कोई आजतक बँधा और न कभी बँधेगा। आसक्ति ही बन्धनका कारण है; जहाँ 'मैं' 'मेरा' हुआ कि बँधा। अपना माननेसे ही संसार है, नहीं तो संसार कहाँ? संसार नहीं तो बन्ध कहाँ, बन्ध नहीं तो मृत्यु कहाँ, मृत्यु नहीं तो जन्म कहाँ और जन्म नहीं तो सुख-दुःख कहाँ? सारे सुख-दुःखोंका कारण केवल आसक्ति ही है। राजाका नौकर लोकदृष्टिमें राजा-के दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होता रहता है, होना भी ऐसा ही चाहिये। परन्तु वह अपने मनमें जानता है कि मेरा परिवार सब प्रकार सुखी है। ये दुःख-सुख तो राजाके हैं, मेरा इनसे कुछ प्रयोजन नहीं। मालिकके दुःखसे मैं दुखी-सा प्रतीत होता हूँ, वास्तवमें तो सुखी हूँ। नाइन अपने सब यजमानों-के यहाँ जाती है, जिसके यहाँ हर्ष होता है, वहाँ हर्ष प्रकट करती है और जिसके यहाँ शोक होता है वहाँ शोक प्रकट करती है। परन्तु उसके मनमें न हर्ष होता है न शोक। अपने घर जाकर बाल-बच्चों-में सुखसे निवास करती है, वहाँ यजमानोंके सुख-दुःख नहीं मानती, अतः बहिन! सुख-दुःख माननेसे ही होते हैं। जहाँ अपनापना नहीं, वहाँ दुःख-सुख

कहाँ ? इसीलिये कहा है कि विधवाकी अपेक्षा गृहिणीको अधिक चिन्ता है, क्योंकि वह सारी गृहस्थीको अपना मानती है। लोकमें ईश्वरने ही उसको गृहकी मालिकिन बनाया है, उसको अपना मानकर उसकी रक्षा करना तो गृहिणीका धर्म भी है परन्तु उसमें आसक्ति करना उसके लिये भी अधर्म है। इसी प्रकार मन्त्रीकी अपेक्षा राजाको अधिक चिन्ता रहती है। मन्त्री अथवा सेवक राजाकी आज्ञा पालनकर सुखपूर्वक अपने-अपने स्थानमें निवास करते हैं, परन्तु राजाको स्वप्नमें भी वह सुख होना दुस्तर है। उसको अनेक प्रकारकी चिन्ता घेरे रहती है। रात्रिको निद्राका सुख वह अनुभव नहीं कर सकता। विधवाको मन्त्री तथा सेवककी भाँति रहना चाहिये, सब काम करती हुई भी कुछ न करे, वैसे तो प्राणीमात्रका धर्म है कि वह सबको दूसरा समझे क्योंकि जितने भी दृश्य (अपने शरीरतक) पदार्थ हैं, सब अपनेसे अन्य ही हैं। जब सब अन्य हैं तब अन्यके सुख-दुःखोंमें सुख-दुःख मानना क्या मूर्खता नहीं है ? तुझे एक परम पवित्र अपने धर्मपर आरूढ़ विधवाका अनुभव सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन।

'एक असंसारी विधवा थी जो कि अपने धर्म-कर्ममें पूर्ण थी। वह यह भी नहीं जानती थी दुःख किसे कहते हैं, सुख-समुद्रसे भरपूर थी। ईर्षा-द्वेष सबसे दूर थी। आत्माराम निशंक थी। ज्ञानाग्निसे कर्ता-भोक्तापना जल जानेके कारण उसको कोई भी दुःख नहीं व्यापता था। वह सदा आनन्दमें रहती थी। रात-दिन वह जपती थी हरिनाम, करसे करती थी सब काम। एक समय एक संसारी विधवा आकर उसके पास अपना दुःख इसप्रकार रोने लगी—

संसारी-बहिन ! क्या कहूँ, कहाँ जाऊँ ? मुझे तो दिन-रात न भूख है न प्यास। रातको निद्रा भी नहीं आती; सारे गिन-गिन रात व्यतीत करती हूँ, घण्टे गिन-गिन दिन बिताती हूँ। यों तो तुम भी मेरे ही समान दुखिया हो परन्तु तुमको इसप्रकारकी कोई चिन्ता नहीं प्रतीत होती। तुम्हारा चित्त हर समय प्रसन्न दीखता है, इसका क्या कारण है ? क्या कभी मैं भी इसप्रकार प्रसन्न-चित्त रह सकती हूँ ? तुमने ऐसा कौन साधन किया है कि जिससे तुम इसप्रकार प्रसन्न-चित्तवाली हुई हो। सुनती हूँ कि प्रसन्न-चित्तमें ईश्वर प्रकट हो जाते हैं। परन्तु मुझ-जैसी अभागिनियोंको तो यह सुख मिलना असम्भव ही मालूम होता है।

असंसारी–बहिन ! ईश्वरकी आस्था तथा ईश्वरमें मन लगानेपर दुःख कभी स्वप्नमें भी नहीं हो सकता। मेरा मन शुरूसे ही अर्थात् वैधव्य-दशाको प्राप्त होते ही ईश्वरके चरणोंमें लग गया। मैं गृहकार्य सब करती थी और शारीरिक परिश्रम भी करती ही थी, परन्तु मन भगवान्‌के सिवा अन्य किसी कार्यमें नहीं लगता था। नाचने-गानेमें या उत्सव आदिमें तो कहीं जाती ही नहीं थी। हाँ, धर्म-सभाओंमें सत्संग-लाभके लिये अवश्य जाती थी।

करसे करती थी मैं काम, मनसे जपती थी हरिनाम।
बहिना, यह था मेरा काम, साठ घड़ी अरु आठों याम॥

इसप्रकार करते-करते वह मन्त्र ही मनका विषय हो गया था। मन हर समय ईश्वरके नामके जापमें लगा रहने लगा। भजन करते समय तो बाह्य विषयोंका ध्यान ही मैं नहीं आने देती थी। वैधव्य-व्रतोंका नियमपूर्वक पालन करती थी। चटकीले-भड़कीले वस्त्र नहीं पहनती थी, आभूषण भी ज्यों-ज्यों मेरी बुद्धि विकाशवाली होती गयी, सब छोड़ती गयी, सारांश यह कि यम-नियमोंका यथावत् पालन करती रही। मैंने किसी कामनासे कभी कोई कर्म नहीं किया, जो किया सब ईश्वरार्पण किया। कुटुम्बियोंको सब प्रकारसे प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करती थी, इससे आप भी प्रसन्न रहती थी। शृंगारिक वस्तुओंसे कभी भूलकर भी प्रेम नहीं करती थी,

संसारको असार समझकर चित्त उससे दूर रखती थी। अधिक क्या कहूँ? शास्त्रानुसार वैधव्य-व्रतका पालन करते-करते एक वह दिन आ गया कि मैं पूर्ण सुखी हो गयी। अब तो ऐसी सुखी हूँ कि मेरे समान शायद कोई राजा-महाराजा तो क्या स्वर्ग-का राजा इन्द्र भी सुखी नहीं होगा। जो सुख मुझे प्राप्त है, मैं तो समझती हूँ कि वह सुख किसी भी संसारीको प्राप्त नहीं है, क्योंकि धन, जन तथा त्रिलोकीके ऐश्वर्यसे यह सुख प्राप्त नहीं हो सकता।

शङ्का—बहिन! तुम्हें जो यह सुख प्राप्त है, वह किस उपायसे और किसप्रकार प्राप्त होने योग्य है?

समाधान—बहिन! अपने धर्मपर आरूढ़ शुद्ध अन्तःकरणवाले अधिकारी शिष्यको सद्गुरु-कृपा और भगवद्भजनसे यह सुख प्राप्त होने योग्य है। इस सुखके प्राप्त होते ही सब कामनाएँ निर्मूल हो जाती हैं, अधिकाधिक सब प्रकारके रोग उससे दूर रहते हैं, चिन्ता-चिता स्वयं भस्म हो जाती है। मायाका किला टूट जाता है। जहाँ मायाका किला नष्ट हुआ कि फिर कहाँ शोक और कहाँ मोह?

अरी बहिन! यदि तू अपनेको सुखी बनाना चाहती है तो आजसे वैधव्य-व्रतका पालन कर। किसी शृंगारिक वस्तुके मन न लगा। रंगीन वस्त्र तथा भूषण तुझ-जैसी पवित्र बहिनोंको नहीं पहनने चाहिये। देख, सुवर्णमें तो कलियुगका वास प्रत्यक्ष ही है। राजा परीक्षितका मुकुट सोनेका था। इसी कारण तो धर्मात्मा राजाने समाधिनिष्ठ ऋषिके गलेमें मरा सर्प डाल दिया था। सुवर्णके ही कारण राजाकी बुद्धिमें कलियुग आ गया था और इसी कारण राजासे ऐसा अनुचित कार्य हुआ। जो राजा साधु-ब्राह्मणोंके प्राण थे, साधु-ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व देनेको तैयार रहते थे, क्या वह जान-बूझकर ऐसा निन्दित कार्य कर सकते थे? कदापि नहीं। यह सब सोनेकी ही करतूत थी। जिस सुवर्णने ऐसे धर्मात्मा राजाकी बुद्धि मलिन कर दी, उसी सुवर्णको धारणकर हम सुख तथा ईश्वरको प्राप्त करना चाहें तो यह कब सम्भव है?

दूसरे, सुवर्ण अग्निदेवका मल है, जो कोई बार-बार अग्निदेवमें सुवर्णको तपा-तपा गहना बनवाकर पहनते हैं उनको अग्निदेव शाप दे देते हैं, कि इनको कभी ज्ञान न हो। बहिन! अग्निदेवका शाप देना यथार्थ ही है, उसीका मल उसीमें डालो तो क्या यह अनर्थ नहीं है? इसलिये सारे अनर्थकी जड़ यह सुवर्ण है, सुवर्णसे अनेक प्रकारके छल-छिद्र मनुष्यमें प्रवेश कर जाते हैं, सुवर्णके कारण अंग कुरूप हो जाते हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। फिर भी यह सुवर्ण ऐसा लुभानेवाला है कि मनुष्य इसके दीप जान नहीं पाता, इसने अपनी चमक-दमकसे सबको वशमें कर रक्खा है।

एक सेठके चार पुत्रियाँ थीं, जब सेठ मरनेको हुआ, तब उसने अपना धन चारों पुत्रियोंको बराबर-बराबर बाँट दिया। एकने उस धनसे व्यापार किया। दूसरीने अपने पुत्रोंको पढ़ा-लिखा विद्वान् बना दिया। तीसरीने न खाया, न किसीको दिया, वह उसे पृथिवीमें गाड़कर मरणपर्यन्त उसकी रक्षा करती रही, अन्तको उसे वहीं गड़ा छोड़ आप परलोक चली गयी और चौथीने अनेकों प्रकारके सुवर्णके गहने गढ़वा लिये। उसके कान, नाक इत्यादि हर समय सुवर्णसे लदे रहते थे। इसप्रकार अपनेको देख-देख वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुआ करती और कहा करती कि 'देखो न, धन होनेका यही लाभ है, मैं कैसी चतुर हूँ।' एक दिन दैवाधीन उसके घरमें चोर आ गये, उन्होंने कहा 'अपना गहना हमें दे दो नहीं तो हम खींच लेंगे' अति आसक्तिके कारण यह कब सम्भव था कि वह अपने हाथसे अपने गहने दे देती, उसने अपने गहने उतारकर नहीं दिये, फल यह हुआ कि चोरोंने जबरन उसके कान, नाक खींच डाले और वह लहूलुहान हो गयी। रूप भी कुरूप हो गया। जहाँ वह अपने रूपको देख-देख प्रसन्न होती थी, अब कुरूपताको देख-देख रोने लगी। अतएव बहिन! हम-जैसी बहिनोंको तो इससे नितान्त दूर ही रहना

चाहिये। क्योंकि हमारे ऊपर तो उस करुणाकर भगवान्‌की महान् करुणा है, कि उसने सुवर्ण छूनेका हमें अधिकार ही नहीं रहने दिया। हमको तो परमपिताने स्वभावसे ही शुद्ध और पवित्र बनाया है। शुद्ध, पवित्र होकर फिर हम कीचड़में फंस जायँ तो इसके समान और कौन पाप होगा? बहिन! ऐसा समय हाथ नहीं आयेगा। इसलिये ईश्वरका धन्यवाद करती हुई, हमको अपना अमूल्य समय भगवद्भजन करते हुए सुखपूर्वक बिताना चाहिये। जो अदृष्टमें है वह तो किसीसे विपरीत हो ही नहीं सकता, यही परमपिताका अटल नियम है। उस परमपिता ईश्वरकी आज्ञा पालना, अपने-अपने धर्मपर आरूढ़ रहना यही परम भक्ति है। किसी सांसारिक वस्तुमें मन नहीं लगाना उनको क्षणभंगुर, विनाशी तथा असत्य मानना, जो वस्तु जैसी हो उसको वैसी ही मानना या देखना ज्ञान है। आत्माको अनात्मा तथा अनात्माको आत्मा मानना तो अज्ञान तथा जन्म-मरणका कारण है।

संसारी–बहिन! सुवर्णमें आपने बहुत दोष कहे। इससे किसीको भी नहीं लेना चाहिये क्योंकि इसके ग्रहणसे सभीका अमंगल होगा। अपना अमंगल कौन चाहेगा? कौन बुद्धिभ्रष्ट होकर लोक-परलोकका नाश करेगा?

असंसारी–वास्तवमें परमार्थ-दृष्टिसे तो यही बात है परन्तु संसारमें व्यवहारकी दृष्टिसे एक ही नियम सबके लिये लागू नहीं हो सकता। अपने-अपने धर्मके अनुसार त्याग और ग्रहणकी व्यवस्था शास्त्रमें कही है। गृहस्थिनियोंके लिये शास्त्र पतिके मनोरञ्जनार्थ वस्त्राभूषणोंसे शरीरको अलंकृत करनेकी आज्ञा देता है, लौकिक पतिके लिये लौकिक शृंगार आवश्यक है। सधवाओंका धर्म है कि जिसप्रकार अपना पति प्रसन्न रहे, उसी प्रकार बरते तथा शरीरको सुसज्जित रखे परन्तु इसके लिये अति हठ न करे। स्त्रीको तो स्वभावसे ही ईश्वरने मोहिनी बनाया है। इसीलिये आजकल बहुत-सी बहिनें, पतिकी रुचि न देखकर और भार समझकर गहनोंको त्यागती जाती हैं, यही ठीक भी है। पतिव्रताका पतिको प्रसन्न करना ही मुख्य धर्म है, जिससे पति प्रसन्न रहे स्त्रीको वही निर्दोष कार्य करना चाहिये। जो गृहस्थ हैं उनके लिये सब प्रकारसे शास्त्रविहित निर्दोष लौकिक व्यवहार योग्य है और जो गृहस्थके लिये ग्राह्य है, वही संन्यासीके लिये त्याज्य है, इसी प्रकार जो सधवाओंको ग्राह्य है, वही विधवाओंके लिये त्याज्य है।

बहिन! जीव अन्धा है। अन्धे जीवके लिये शास्त्र अञ्जन है। शास्त्ररूपी अञ्जन जीवकी आँखें खोल देता है। आँखें खुल जानेपर जो जैसी वस्तु है वह ठीक वैसी दिखायी देने लगती है। फिर शोक-मोह हो ही नहीं सकते क्योंकि अज्ञानमें ही दुःख-विषाद और शोक-मोह है। पतिके मरनेपर शास्त्रीय दृष्टिसे सचमुच विधवाका शरीर जल जाता है क्योंकि पति ही उसका शरीर है। जले हुएको जो जला हुआ नहीं मानतीं, उनको कष्ट होता है और जो शास्त्रपर विश्वास करके यथार्थरूपसे जला मानती हैं, उन्हें कभी न जलनेवाले आनन्दस्वरूप आत्माका दर्शन होता है। उसे प्राप्त करके वे अजर, अमर हो जाती हैं। फिर कभी संसारके कीचड़में नहीं फँसतीं। सच कहा है—

कुं०–विधवाका तन जल गया, किञ्चित नहिं सन्देह।
नहिं अब उसका गेह है, नहिं उसका है देह॥
नहिं उसका है देह, देहसे है वह न्यारी।
सच्चित परमानन्द, एक अच्युत अविकारी॥
जयदेवी, पति साथ, जिये जुग-जुग सब सधवा।
पतिविहीन हो चुकी, शरण श्रीहरिकी विधवा॥

अथवा

कुं०–विधवा सधवा हो गयी, विश्वनाथ पति कीन्ह।
देह गेह सब छेड़कर, शरण ईशकी लीन्ह॥
शरण ईशकी लीन्ह, रूप भगवतका चीन्हा।
दीन्हा आपा मेट, नित्य अक्षय पद लीन्हा॥
जयदेवी, भज राम, राम-प्यारी हैं सधवा।
कृष्णसेविका धन्य, होंय सधवा या विधवा॥

रास

(लेखक—श्रीपन्नालालजी अग्रवाल)

यमुनाके रम्य तटपर पूर्ण चन्द्रमाकी धवल ज्योत्स्नामें मोहन मुरली बजा रहे थे !

मैं अभिसारिका-गृहमें दर्पणके सम्मुख केश-विन्यास ठीककर कुंकुमकी बिंदिया लगा ही रही थी कि मुरलीकी मोहिनी टेर मेरे कानोंपर पड़ी ।

मैने यह टेर पहली ही बार सुनी थी। मै तो कुछ ही काल पूर्व जीवन-पुष्प ले उसे पतिदेवके चरणोंमें चढ़ाने व्रज आयी थी—उस नीरव-रात्रिको चीरकर आनेवाली वंशी-ध्वनिने मुझे मुग्ध कर लिया और मैं अपना आपा खो घरसे बाहर निकल पड़ी !

-सखी ! जब मोहनकी मुरलीमें इतनी शक्ति है तो मोहनकी मोहिनीका तो क्या ठिकाना ?

वहाँ जा देखा, मुरलीधर मुरली अधर धरे, गलेमें वैजयन्ती-माला डाले, कदम-वृक्षके नीचे खड़े हैं और व्रजकी गोपियाँ उस रूप-माधुरीको अपने उनींदे नयनोंद्वारा पानकर मस्त हो झूम रही हैं। मै—अनजान मुग्धा भी उनमें जा मिली ! थोड़ी देर बाद व्रज-विहारीने कहा—'आओ, आज रास रचेंगे'

तरल तरंगोंपर चन्द्र-किरण थिरकती है, वैसे गोपियाँ बाँसुरीकी मन-मोहिनी टेरपर श्यामको घेर नृत्य करने लगीं। चारों ओर अमिय-वर्षा हो रही थी, चन्द्रिका छिटकी पड़ती थी, प्रकृति स्थिर हो गयी, यमुनाका प्रवाह रुक गया, चन्द्रदेव आकाशमें जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये, वेदान्तप्रतिपाद्य अखिल ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानन्द श्यामके मोहन नृत्यका दुर्लभ आनन्द लूटनेको नभमण्डलमें देव-विमानोंकी भीड़ लग गयी। मयूर नृत्य करना भूल जैसे-के-तैसे अतृप्त नयनोंसे निहारते रहे।

धीरे-धीरे और भी समाँ बँधा—श्यामने अपने अनेकों रूप धारण कर लिये। एक-एक व्रजाङ्गनाके बीच एक-एक कृष्ण। करोड़ों कलाधरों—जैसा प्रकाश वहाँ पृथ्वीपर उतर आया।

सखी ! जब एक कृष्णपर तमाम ब्रह्माण्ड न्योछावर है तो अनेकों कृष्णका तो क्या कहना ?

मैं सुधाकी एक ही घूँटमें अपने तन-मनकी सुध-बुध गवाँ बैठी। मेरे पाँव लड़खड़ाने लगे। अब और मेरे लिये सुधा-पान करना असम्भव था। मैं बेहोश हो, चेतना-शून्य हो वहीं श्रीकृष्ण-चरण-चुम्बित धन्य धरतीपर गिर पड़ी।

मूर्छा भंग हुई। मैने अपने आपको श्यामके चरण-प्रान्तमें पाया। श्याम ही अपने पीताम्बरकी छोरसे हवा कर रहे थे, श्याम ही मेरे मुखपर यमुना-जल छिड़क रहे थे।

आँख उठाकर देखा चन्द्रमामें श्याम मुसकुरा रहे हैं। कुञ्ज-निकुञ्जमें श्याम-ही-श्याम नजर आते हैं। लताओंकी-ओरसे श्याम ही निहार रहे हैं।

सखी ! उसी दिनसे मैने रासकी महिमा जानी। जिधर देखती हूँ उधर श्याम-ही-श्याम—बाहर श्याम, अन्दर श्याम, सासमें श्याम, स्वामीमें श्याम, ननदमें श्याम, बच्चोंमें श्याम, बालाओंमें श्याम, तमाम ब्रह्माण्डमें श्याम-ही-श्याम ! क्या कहूँ प्यारी सखी ! मै श्याममें हूँ और श्याम मुझमें।

आचार्य मधुसूदन सरस्वती

(लेखक—पं० श्रीकृष्णजी पन्त)

श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने जन्मसे किस प्रान्तको अलङ्कृत किया, कौन शताब्दी उनके आविर्भावसे धन्य हुई, उनकी लोकयात्रा कैसे सम्पन्न हुई, उन्होंने कौन-कौन ग्रन्थरत्न रचे ? इत्यादि जिज्ञासाकी शान्तिके हेतु यहाँपर कुछ विवेचन किया जाता है—

हमारे चरितनायक सस्यश्यामला वङ्गभूमिके समुज्ज्वल रत्न थे। उन्हें अपने गर्भमें धारणकर सचमुच उसका 'रत्नगर्भा' नाम सार्थक हो गया। वे वङ्गवासी थे, इस विषयमें अनेक प्रमाण हैं। वेदान्त-कल्प-लतिकामें उन्होंने—

'नीलाचलनाथस्य भजनाञ्जननिर्मलीकृतज्ञान-चक्षुः प्रत्यक्षेणाज्ञाननिवृत्तिमनुभवति, औपनिषदास्तु नीलाचलनायकेनानुगृहीताः'

—इत्यादि वाक्योंमें नीलाचलनायका समुल्लेखकर उनके विषयमें अपनी अतुल भक्तिका परिचय दिया है। नीलाचलनाथ या नीलाचलनायक पद भगवान् जगन्नाथ-जीके पर्यायवाची हैं। जगन्नाथपञ्चक आदि स्तोत्रोंके—

'नीलाद्रिचूडामणिम्' 'नीलाद्रौ शङ्खमध्ये शतदल-कमले रत्नसिंहासनस्थम्' 'कनकरुचिरे नीलशिखरे'''

—इत्यादि वचन इस विषयमें प्रमाण हैं। उस समय सारे बङ्गालमें भगवान् जगन्नाथजीकी भक्तिस्रोतस्विनी प्रबल वेगसे बह रही थी। उनकी भी स्वोपास्य देवके विषयमें अतुल भक्ति होना स्वाभाविक ही था। इससे विदित होता है कि वे वङ्गवासी थे।

मधुसूदन सरस्वतीके शिष्य पुरुषोत्तम सरस्वतीने सिद्धान्तबिन्दुके *'बहु याचनया मयायमल्पो बलभद्रस्य कृते कृतो निबन्धः'* इस श्लोककी व्याख्या करते हुए बलभद्रको भट्टाचार्य बतलाया है और गौड ब्रह्मानन्दने बलभद्रको आचार्यकी सेवामें निरत ब्रह्मचारी कहा है। 'भट्टाचार्य' उपाधि प्रायः वङ्गदेशमें ही प्रचलित है। शिष्यकी प्रार्थनामात्रसे एक ग्रन्थ तैयार कर देना उसकी अतिशय प्रेमभाजनता एवं सेवानिरतताका द्योतक है। इस बातका उदाहरण प्रायः वङ्गदेशीय विद्वानोंमें ही पाया जाता है। मुक्तावलीकार पण्डित-शिरोमणि श्रीविश्वनाथ पञ्चाननने भी अपने स्नेहभाजन शिष्य राजीवकी प्रार्थनापर मुक्तावलीकी रचना-कर संस्कृत-संसारका बड़ा उपकार किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि ये वङ्गवासी थे। कुछ टीका-कारोंने तो मधुसूदन सरस्वतीको भी भट्टाचार्य कहा है। जो कुछ भी हो, इनके वङ्गवासी होनेमें किसीको सन्देह नहीं है।

इनके विषयमें वंशवृक्ष आदिसे जो सामग्री उपलब्ध हुई है उससे विदित होता है कि इनके मूल-पुरुषका नाम राम मिश्र था। वे समस्त वङ्गदेशीय ब्राह्मणोंके मूल-पुरुष एवं वेदनिरत तपस्वी ब्राह्मण थे। उन्होंने जिला फरीदपुरके अन्तर्गत 'कोटालपाड़ा' ग्रामको अपना निवासस्थान बनाया। आचार्य मधुसूदनके पिताका नाम प्रमोदन पुरन्दर था। वे बड़े प्रख्यात व्यक्ति थे। उनके चार पुत्र हुए—(१) श्रीनाथ चूडामणि, (२) यादवानन्द न्यायाचार्य, (३) कमलजनयन एवं (४) वागीश गोस्वामी। उनमें यादवानन्द न्यायाचार्य राजा प्रतापादित्यकी राजसभाके प्रधान पण्डित थे। उनके अपूर्व पाण्डित्यसे प्रसन्न होकर राजाने उन्हें अविलम्ब सरस्वतीकी उपाधि दी थी। उनके ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ पुत्रके विषयमें कोई विशेष उल्लेखयोग्य बात ज्ञात न हो सकी। तृतीय पुत्र कमलजनयन ही हमारे चरितनायक हैं। उन्होंने बाल्यावस्थामें नवद्वीपमें न्यायका अध्ययन किया था।

उनके न्यायशास्त्रके गुरु हरीराम तर्कवागीश थे। न्यायके अगाध विद्वान् गदाधर भट्टाचार्य उनके सहाध्यायी थे। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। न्याय-के साथ-ही-साथ माधव सरस्वतीके निकट उन्होंने वेदान्त आदि दर्शनोंमें भी अतिशय प्रौढ़ता प्राप्त कर ली थी।

इसप्रकार नवद्वीपमें अध्ययनकर मधुसूदन सरस्वती काशी पधारे। अभी उनका विवाह नहीं हुआ था, वे आबाल ब्रह्मचारी थे। किंवदन्ती है कि काशी-वासी पण्डितगण उनके साथ विचारमें उनकी अलौकिक प्रतिभाके सामने नहीं ठहर सके। काशी-में पहले-पहल उन्होंने दण्डी स्वामी विश्वेश्वर सरस्वती-के चतुःषष्टिघाटस्थित मठमें निवास किया था। जब विश्वेश्वर सरस्वतीने मधुसूदनजीकी असाधारण प्रतिभाकी चर्चा सुनी, तो उन्हें अपने समीप बुलाया, मधुसूदन सरस्वती उनके निकट उपस्थित हुए। शास्त्रचर्चामें अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञासे उन्होंने विश्वेश्वर सरस्वतीको विमुग्ध कर दिया। वहीं विश्वेश्वर सरस्वतीके निकट संन्यासकी दीक्षा ले ली। कह नहीं सकते कि उनके संन्यास लेनेमें विश्वेश्वर सरस्वतीका उपदेश कारण हो, अथवा विपक्षियोंके आक्रमणसे जर्जरित अद्वैतवादके उद्धारके लिये बद्धपरिकर होनेके कारण स्वयं ही उन्होंने प्रथमा-श्रमसे चतुर्थाश्रम ग्रहण किया हो। जो भी हो, मधुसूदन सरस्वतीजीने आजन्म अद्वैतवादकी जो सेवा की, वह असाधारण एवं स्तुत्य है। उन्होंने सदाके लिये अद्वैतवादवैजयन्तीको देदीप्यमान कर दिया एवं गगनमण्डलमें सबसे ऊँचे फहरा दिया। कृती आचार्यने अपने इस कृत्यसे अपनी कीर्तिकौमुदी-को आकल्पान्त स्थायिनी बना दिया। अद्वैतवादके इतिहासमें उनका नाम सदा स्वर्णाक्षरोंसे लिखा जायगा। अद्वैतवादकी जैसी सेवा उन्होंने की है, वैसी अन्यान्य विरले ही कृतियोंद्वारा हुई हो। मधुसूदनके प्रभावसे प्रभावित होकर अद्वैतवाद प्रबल-तरसे प्रबलतम हो गया।

उनके संन्यासाश्रमके गुरु श्रीविश्वेश्वर सरस्वती थे। उन्होंने अद्वैतरत्नरक्षण नामक निबन्धकी परिसमाप्तिमें भगवान् विश्वेश्वर एवं अपने गुरुका अभेदरूपसे निर्देशकर स्वरचित ग्रन्थ उनको समर्पित किया है। वे लिखते हैं—

अद्वैतरत्नमेतत्तु श्रीविश्वेश्वरपादयोः।
समर्पितमेतेन प्रीयतां स दयानिधिः॥

प्रकृत सिद्धान्तबिन्दुके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए उन्होंने कहा है—

श्रीशङ्कराचार्यनवावतारं
विश्वेश्वरं विश्वगुरुं प्रणम्य।
वेदान्तशास्त्रश्रवणालसानां
बोधाय कुर्वे कमपि प्रबन्धम्॥

इससे भी सिद्ध होता है कि उनके गुरुका नाम विश्वेश्वर था। उनके शिक्षागुरु माधव सरस्वती थे। उन्होंने अद्वैत-सिद्धिकी परिसमाप्तिमें लिखा है—

श्रीमाधवसरस्वत्यो जयन्ति यमिनां वराः।
वयं येषां प्रसादेन शास्त्रार्थे परिनिष्ठिताः॥

गूढ़ार्थदीपिका-नामक गीताकी व्याख्याकी समाप्ति-में भी लिखा है—

श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां
प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम्।
व्याख्यानमेतद् विहितं सुबोधं
समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु॥

—इत्यादि श्लोकोंसे विदित होता है कि उन्होंने शास्त्राध्ययन माधव सरस्वतीके निकट किया था,

विश्वेश्वर सरस्वती उनके दीक्षागुरु थे और श्रीरामानन्द स्वामी उनके परमगुरु ।

उनके ग्रन्थोंके उपक्रम एवं उपसंहार देखनेसे ज्ञात होता है कि इन्होंने अपने सभी ग्रन्थ संन्यासावस्थामें ही रचे थे ।

मधुसूदन सरस्वतीजीकी विष्णुभक्ति अतुलनीय है । वे जैसे ज्ञानी थे, वैसे ही भक्त भी थे । इसप्रकार ज्ञान एवं भक्तिका सामञ्जस्य उन्हींमें देखा गया है । उनके समान शास्त्रमीमांसक विरले ही हुए हैं । गीताकी गूढार्थदीपिका-व्याख्यामें सर्वत्र ही उन्होंने विष्णु भगवान्‌के प्रति प्रगाढ़ भक्तिका परिचय दिया है । गीताव्याख्याकी समाप्तिमें दिया गया निम्नलिखित श्लोक कितना भावमय है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

अद्वैत-सिद्धिके प्रारम्भ एवं अवसानमें भी उन्होंने निम्नलिखित पद्योंसे विष्णुकी अभिवन्दना की है—

मायाकल्पितमातृतामुखमृषाद्वैतप्रपञ्चाश्रयः
सत्यज्ञानसुखात्मकः श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः ।
मिथ्याबन्धविधूननेन परमानन्दैकतानात्मको
मोक्षं प्राप्त इव स्वयं विजयते विष्णुर्विकल्पोज्झितः ॥
यो लक्ष्म्या निखिलानुपेक्ष्य विबुधानेको वृतः स्वेच्छया
यः सर्वान् स्मृतमात्र एव सततं सर्वात्मना रक्षति ।
यश्चक्रेण निकृत्य नक्रमकरोन्मुक्तं महाकुञ्जरं
द्वेषेणापि ददाति यो निजपदं तस्मै नमो विष्णवे ॥

दोनों श्लोकोंके भाव अपूर्व हैं । उपरितन श्लोक अद्वैतवादके भावोंसे सराबोर है, अधस्तन पुराणोंमें वर्णित भगवान्‌की कितनी ही मनोहर कथाओंका स्मरण कराता है । इतनेमें ही उनकी हरिभक्ति-प्रगाढ़ताकी इतिश्री नहीं होती । इसके अतिरिक्त उन्होंने हरिभक्तिपर भक्तिरसायन नामक एक स्वतन्त्र अत्युत्तम निबन्ध लिखा है । उसमें भक्तिको जो स्थान उन्होंने दिया है, उससे सहसा यह सन्देह होने लगता है कि यह किसी वैष्णव आचार्यकी तो कृति नहीं है ? अद्वैतवादके दर्जनों प्रौढ ग्रन्थोंके सफल रचयिताकी लेखनीसे यह प्रसूत होना कि भक्ति स्वतन्त्र पुरुषार्थ एवं मुक्तिसे भी बढ़कर है, अवश्य आश्चर्यजनक एवं उनके पूर्ण भक्त एवं उदारहृदय होनेका साक्षी है ।

मधुसूदन सरस्वतीजीकी निष्कामता भी अलौकिक है । उन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना की पर ग्रन्थकर्तृत्वका अभिमान उन्हें छूतक नहीं गया । वे उनका कर्त्ता अपनेको समझते ही नहीं थे । समझें भी तो कैसे ? प्रथम श्रेणीके आत्मज्ञानीके लिये यह कैसे सम्भव था । इसीलिये उन्होंने लिखा है—

ग्रन्थस्यैतस्य यः कर्त्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम् ।
मयि नास्त्येव कर्तृत्वमनन्यानुभवात्मनि ॥

जब 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्योंके *विचारसे अपरोक्ष ज्ञान हो गया—आत्मसाक्षात्कार* हो गया, मैं वही (आत्मा ही) हूँ, उससे पृथक् नहीं हूँ ऐसी भावना दृढ़ हो गयी, तब अनात्माश्रित अहंकार-ममकारका पता ही कहाँ !

उन्होंने अपने सब ग्रन्थ भगवान् एवं गुरुओंको समर्पित किये हैं ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

इस भगवदुक्तिके अनुसार ग्रन्थ ही नहीं ग्रन्थ-निर्माणसे उत्पन्न हुआ सुकृत भी उन्होंने श्रीकृष्ण

भगवान्‌के अर्पण कर दिया । अद्वैत-सिद्धिकी परिसमाप्तिमें वे लिखते हैं—

कुतर्कगरलाकुलं भिषजितुं मनो दुर्धियां
मयायमुदितो मुदा विषविघातिमन्त्रो महान् ।
अनेन सकलापदां विघटनेन यन्मेऽभवत्
परं सुकृतमर्पितं तदखिलेश्वरे श्रीपतौ ॥

गुरुओंको समर्पण करनेके वचन अद्वैतरत्नरक्षण, गीताव्याख्या आदिमें कहे गये हैं । उनका दिग्दर्शन पहले हो चुका है ।

मधुसूदन सरस्वतीजीका पाण्डित्य सर्वतोमुख था । वे जैसे वेदान्तके प्रगाढ़ पण्डित थे, वैसे ही नव्य न्याय आदि दर्शनोंमें भी उनकी अप्रतिहत गति थी । पण्डितमण्डलीमें ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि संन्यास लेनेके अनन्तर मधुसूदन सरस्वती अपनी जन्मभूमिके दर्शन करनेके लिये एक बार पुनः नवद्वीपमें गये । उनके वहाँ जानेसे नैयायिक-सिरमौरोंमें जो खलबली मची, उसका एक कविने अच्छा चित्र खींचा है । वह कहता है—

नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाक्पतौ ।
चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद्गदाधरः ॥

सुना जाता है वहाँ वे अपने सतीर्थ्य गदाधर भट्टाचार्यके अतिथि हुए थे । गदाधर भट्टाचार्य जब अपने अन्तेवासियोंको न्यायशास्त्र पढ़ाने लगे तो उन्होंने सोपहास कहा—क्या छात्रावस्थामें जो टिप्पणियाँ संकलित की थीं, उन्हें ही आप अभीतक पढ़ाते हैं ? इसी सिलसिलेमें दोनोंमें शास्त्रचर्चा छिड़ गयी । उस चर्चामें गदाधर भट्टाचार्यने मधुसूदन सरस्वतीकी अपूर्व कल्पनाशक्ति तथा असीम पदार्थ-सम्पत्तिको देखकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया था । इसी नव्य न्यायकी प्रखरताके कारण उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें परमतके खण्डन-अवसरपर युक्तियों एवं अनुमानोंसे काम लिया है । जहाँपर अन्य प्राचीन आचार्योंने केवल श्रुतिके सहारेसे परमत-खण्डनका प्रयत्न किया है, वहाँपर वे अभिनव युक्तियों एवं तर्कोंसे उसका खण्डन कर कृती हुए । अद्वैतसिद्धिकी समाप्तिमें उन्होंने अपने अनेक विद्याओंके परिचयका स्वयं उल्लेख किया है—

गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात्
श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत् ।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं
तदेतस्मिन् ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम् ॥

मधुसूदन सरस्वतीजीके समस्त ग्रन्थोंमें उनकी हृदयस्पर्शी ज्ञानगरिमा, प्रबल भक्ति एवं उदार हृदयका परिचय मिलता है । जीवनकी साधनाके साथ जिन ग्रन्थोंका प्रणयन होता है, उनके भाव अवश्य हृदयस्पर्शी होते हैं । मधुसूदनजीकी जीवनकी साधनाको उनके ग्रन्थ अभिव्यक्त करते हैं । शिव और विष्णुमें उन्हें कोई भेद नहीं भासता था, महिम्नःस्तोत्रकी शिवपरक एवं विष्णुपरक व्याख्या उनकी अपूर्व कुशलता एवं शास्त्रगाम्भीर्यका द्योतन करती हुई इस बातको पुष्ट करती है ।

मधुसूदन सरस्वतीनिर्मित निम्नलिखित १० ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) सिद्धान्तबिन्दु या सिद्धान्ततत्त्वबिन्दु, (२) वेदान्तकल्पलतिका, (३) संक्षेपशारीरकव्याख्या, (४) अद्वैतसिद्धि, (५) गूढार्थदीपिका (गीता-व्याख्या), (६) अद्वैतरत्नरक्षण, (७) प्रस्थानभेद, (८) महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या, (९) भक्तिरसायन एवं (१०) भागवत-व्याख्या ।

यद्यपि इनकी रची हुई भागवतकी व्याख्या सम्पूर्ण हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुई, परन्तु वृन्दावनसे प्रकाशित श्रीनित्यस्वरूप ब्रह्मचारीजीके बृहत्संस्करणमें प्रथम

श्लोकमात्रकी व्याख्या हमने देखी है। उसके आदिमें मगल करते हुए आचार्य लिखते हैं—

श्रीकृष्णं परमं तत्त्वं नत्वा तस्य प्रसादतः।
श्रीभागवतपद्यानां कश्चिद्भाव॰ प्रकाश्यते॥
अनुदिनमिदमायु.सर्वदाऽसत्प्रसंगै-
र्बहुविधपरितापैः क्षीयते व्यर्थमेव।
हरिचरितसुधाभिः सिच्यमान तदेतत्
क्षणमपि सफल स्यादित्ययं मे श्रमोऽत्र॥

इन श्लोकोंसे मालूम होता है कि उन्होंने सम्पूर्ण भागवतकी टीका रची है, पर हमारे दुर्भाग्यसे इस समय वह सम्पूर्ण उपलब्ध नहीं है।

जर्मनीके थोडर (Theodor) महाशयने अपने बृहत् सूचीपत्र (Catalogus Catalegoram) में उक्त दस 'ग्रन्थों' के अतिरिक्त आत्मबोध-टीका, आनन्द-मन्दाकिनी, कृष्णकुतूहल-नाटक, भक्तिसामान्यनिरूपण, वेदस्तुतिकी टीका आदि १२ ग्रन्थोंको और जोडकर उनके २२ ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। पर सस्कृत-ससारमें उनके उपर्युक्त १० ही ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रन्थोंमें इन ग्रन्थोंका कहीं उल्लेख भी नहीं मिला है। सम्भव है ये उन्हींकी कृतियाँ हों या किसी अन्य मधुसूदन सरस्वतीकी। अद्यावधि इन अतिरिक्त ग्रन्थोंको देखनेका भी हमें सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

उनके पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें किसकी रचना सबसे पहले हुई और किसकी सबसे पीछे, इस विषयमें क्रमिक निर्देश करना असम्भव है, क्योंकि किसी भी ग्रन्थमें उसके निर्माणकी तिथि नहीं दी गयी है। केवल एक यही सूत्र निर्णायक है कि किस ग्रन्थके वचन किस ग्रन्थमें उद्धृत किये गये हैं, यह देखकर जिस ग्रन्थके वाक्य दूसरे ग्रन्थमें उद्धृत हुए हैं, उसे पूर्वरचित एव जिसमें उद्धृत किये गये हैं, उसे पश्चात् रचित सिद्ध करना। उक्त युक्तिका अवलम्बनकर ज्ञात होता है कि उनकी सर्वप्रथम कृति सिद्धान्तबिन्दु है, कारण कि अद्वैतसिद्धिमें—*'व्युत्पादित चैतदस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (नि० सा० स० पृ० ५४६) *'सर्वमुपपादितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ'* (नि०सा०सं०पृ० ५५०) *'सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकयोर्विस्तरः'* (नि० सा० स० पृ० ८६६) इत्यादि वाक्योंमें सिद्धान्तबिन्दुका समुल्लेख किया गया है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि अद्वैतसिद्धिकी अपेक्षा सिद्धान्तबिन्दु प्राचीन है। महिम्न स्तोत्रकी टीका, वेदान्तकल्पलतिका, गूढार्थ-दीपिका, भागवतकी व्याख्या, भक्तिरसायन एव अद्वैत-रत्नरक्षणसे भी यह ग्रन्थ प्राचीन है, क्योंकि महिम्न-स्तोत्रकी व्याख्यामें वेदान्तकल्पलतिकाका उल्लेख है—*'विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयाः' 'यथा च शब्दादपरोक्षानिर्विकल्पकबोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायाम्'* (क्रमश महिम्न.स्तोत्रके २६ वें और २७ वें श्लोककी व्याख्या) वेदान्तकल्पलतिकामें सिद्धान्तबिन्दुका उल्लेख आया है—*विस्तरेण प्रपञ्चितमस्माभिः सिद्धान्तबिन्दौ* (वे० क० सरस्वतीभवन स० पृ० ८७) अद्वैतसिद्धिमें गीताव्याख्या गूढार्थदीपिकाका उल्लेख है—*विस्तृतमिदमस्माभिर्गीतानिबन्धने* (पृ० ७३९) गीताटीकामें भागवतकी टीकाका उल्लेख किया गया है, भागवत-टीकामें भक्तिरसायनका नाम आया है—*भक्तिरसानुभवप्रकारश्च सर्वोऽप्यस्माभिः भक्तिरसायनेऽभिहितः* (स्क० १ अ० १श्लोक १ की व्याख्या) भक्ति-रसायनमें वेदान्तकल्पलतिकाका उल्लेख किया है—*विस्तरस्तु अस्मदीयवेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः।* सिद्धान्तबिन्दुका उल्लेख वेदान्तकल्पलतिकामें आया है। इत्यादि उद्धरणोंसे सिद्ध हो गया कि उपर्युक्त पुस्तकोंसे सिद्धान्तबिन्दु प्राचीन है। यद्यपि सिद्धान्त-बिन्दुमें भी वेदान्तकल्पलतिकाका उल्लेख है—*'विस्तरस्तु वेदान्तकल्पलतिकायामनुसन्धेयः'* (सि० बि० पृ० २११), *'विस्तरेणैतत् प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलतिकायामित्युपरम्यते* (सि० बि० पृ० २२१) तथापि इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि

वेदान्तकल्पलतिका इससे प्राचीन है, क्योंकि वेदान्तकल्पलतिकामें भी तो सिद्धान्तविन्दुका उल्लेख है। ये दोनों समकालिक भले ही मान लिये जायँ, इसमें हमें विप्रतिपत्ति नहीं है। अद्वैतरत्नरक्षणमें बहुत स्थलोंमें अद्वैतसिद्धिके वचन उद्धृत किये गये हैं। इससे विदित होता है कि उक्त निबन्ध पूर्वोक्त सब ग्रन्थोंसे अर्वाचीन है। यह निर्णय करना कठिन है कि महिम्नःस्तोत्रकी व्याख्या तथा संक्षेपशारीरककी व्याख्यासे अद्वैतरत्नरक्षण प्राचीन है या अर्वाचीन। न तो उनमें अद्वैतरत्नरक्षणका उल्लेख मिला है, न उनका अद्वैतरत्नरक्षणमें।

मधुसूदन सरस्वतीके समयका अभीतक ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका। इस विषयमें अनेक मतभेद हैं। कोई सोलहवीं शताब्दीके अन्ततक ही उनका काल सीमित करते हैं, तो कोई सत्रहवीं शताब्दीके तृतीय भागमें उनका जन्म निश्चित करते हैं। लेकिन मेरे विचारमें उनका जन्म सोलहवीं शताब्दीके चतुर्थ भागमें हुआ था और सन् १६५० तक वे विद्यमान थे। उनका रचनाकाल १६१० से १६४० तक माना जाय तो कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। ऐतिहासिक छानबीनके बाद यह बात प्रायः निश्चित हो गयी है कि अप्पय दीक्षितका जन्म सन् १५२० में हुआ था और ७३ वर्षकी अवस्थामें सन् १५९३ में वे स्वर्गवासी हुए थे। अद्वैतसिद्धिमें मधुसूदन सरस्वतीने अप्पय दीक्षितका 'परिमलकार' पदसे बड़े आदरके साथ उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—
'सर्वतन्त्रस्वतन्त्रैर्भामतीकारकल्पतरुकारपरिमलकारैरिति' मधुसूदन सरस्वतीका सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कहकर उनकी प्रशंसा करना एवं दार्शनिकशिरोमणि भामतीकारकी समान कक्षामें उनका उल्लेख करना इस बातको सिद्ध करता है कि अप्पय दीक्षितका जन्म मधुसूदन सरस्वतीके जन्मसे कम-से-कम ६० वर्ष पूर्व हुआ था एवं मधुसूदन सरस्वतीकी ग्रन्थरचनाके समय वे संसारमें नहीं रह गये थे।

यदि मधुसूदन सरस्वतीका समय भी सोलहवीं शताब्दीके अन्ततक या इससे कुछ पूर्व मान लिया जाय तो इससे बहुत-सी अड़चनें उपस्थित होती हैं—प्रथम तो यह कि मधुसूदन सरस्वती एवं अप्पय दीक्षितके वयमें बहुत कम अन्तर मानना पड़ेगा। एक प्रकारसे वे समकालिक सिद्ध हो जायँगे। यदि थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय कि वे समकालिक थे, तो शंका होती है कि एक अपने समकालिकका अपने ग्रन्थमें बड़े आदरके साथ उल्लेख करें और दूसरे उनके विषयमें सर्वथा मौन रहें यह कैसे सम्भव हो सकता ? पाण्डित्यके लिहाजसे भी मधुसूदन सरस्वती उनसे कुछ कम नहीं थे। उनका ग्रन्थ-रचनाका काल भी थोड़ा नहीं रहा। उनका ग्रन्थप्रणयनमें कम-से-कम २५-३० वर्षका काल लगना सम्भव है। दोनों विद्वान् काशीवासी ही थे। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता है कि अपने समकालीन प्रकाण्ड पण्डितकी कोई भी कृति उनके दृष्टिगोचर नहीं हुई होगी, अतः उनका उनके ग्रन्थोंमें समुल्लेख नहीं हुआ। इत्यादि विवेचनसे भी सिद्ध होता है कि मधुसूदनजीकी ग्रन्थ-रचना उनके देहावसानके बादसे आरम्भ हुई थी *।

* आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वती-सम्बन्धी यह लेख अच्युतग्रन्थमाला, काशीसे प्रकाशित 'सिद्धान्तबिन्दु' नामक ग्रन्थके प्राक्कथनसे लिया गया है। 'सिद्धान्तबिन्दु' ग्रन्थ श्रीआद्य शंकराचार्यजीके दशश्लोकीका श्रीमधुसूदनजी महाराजकृत व्याख्या है। यह वेदान्तका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। इस छोटेसे ग्रन्थमें श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीने वेदान्तके प्रायः सभी मुख्य-मुख्य पदार्थोंकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। अच्युतग्रन्थमालाके सञ्चालकोंने इस ग्रन्थका भाषानुवाद गंगातीरनिवासी वेदान्तशास्त्रके मर्मज्ञ एक विद्वान् महात्माजीसे सम्पन्न कराकर इसे प्रकाशित किया है। पुस्तकका मूल्य १।≈) है। वेदान्तप्रेमियोंको यह ग्रन्थ देखना चाहिये। अच्युतग्रन्थमालाकी सभी पुस्तकें गीताप्रेस, गोरखपुरसे मिल सकती हैं। —सम्पादक

प्रेम

प्रेम ही सच्चे सुखका सार।
शान्तिका एकमात्र आधार॥
जिसके रँगमें विश्व रँगा है जिसका किया विचार।
ऋषि मुनियोंने जभी हमारे, पाया अद्भुत प्यार॥
बनाया उसे हृदयका हार।
प्रेम ही सच्चे सुखका सार॥
बिना प्रेमके जीना दूभर है प्राणीको आज।
गूँज रही जगमें इसकी ध्वनि इसका ही है राज॥
हृदयका एकमात्र अधिराज।
विश्वका अनुपम-सा सिरताज॥
गुणका गुण है, अवगुण है, जीवनका है आदर्श।
सब कुछ है यह इसको पाकर होता हियमें हर्ष॥
करे नव जीवनका संचार।
प्रेम ही सच्चे सुखका सार॥

—अवन्तविहारी माथुर, 'अवन्त'

भावके भूखे भगवान्

भावका भूखा हूँ मैं औ भाव ही बस सार है।
भावसे मुझको भजे तो भवसे बेड़ा पार है॥
अन्न धन औ वस्त्र भूषण कुछ न मुझको चाहिये।
आप हो जाये मेरा बस पूर्ण यह सत्कार है॥
भाव बिन सब कुछ भी दे डाले तो मैं लेता नहीं।
भावसे एक फूल भी दे तो मुझे स्वीकार है॥
भावसे सूनी पुकारें मैं कभी सुनता नहीं।
भावपूरित टेर ही करती मुझे लाचार है॥
जो मुझीमें भाव रखकर लते हैं मेरी शरण।
उनके औ मेरे हृदयका एक रहता तार है॥
भाव जिस जनमें नहीं उसकी मुझे चिन्ता नहीं।
भाववाले भक्तका भरपूर मुझपर भार है॥
बाँध लेते हैं मुझे यों भक्त दृढ़ ज़ंज़ीरमें।
इसलिये इस भूमिपर होता मेरा अवतार है॥

—हरिनारायण गुप्ता

ज्ञान-तत्त्व

(लेखक—श्रीरामशरणजी गुप्त 'शरण' एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एस०)

हे मनुज! मान निज धर्म मानपर मरना—
पर अपनेपर सपने अभिमान न करना।
पाकर नर-तन-सा रतन, न निष्फल खो तू—
अक्षय-सुखका सोता पा ले-मत सो तू॥१॥
धन है, बल है, यश है, पर है सब किसका—
उस नश्वरका—है नाम रूप कुछ जिसका॥
तू नाम रूपसे परे सदा समरस है।
तुझको न दुःख सुख कभी, न यश अपयश है॥२॥
यह तत्त्व समझकर, विश्वनाच सब नाँचो,
जबतक तनमें एकत्र तत्त्व हैं पाँचो।
तुम भूप बनो, या रङ्क पात्र नाटकके—
मन भूले भटके, कभी न उसमें अटके॥३॥
हो कायारत, कायरता क्यों करते हो?
निज हिया अपटुला कटुला भय भरते हो।
यदि विधि-विधान-वश विविध वेष हो करना—
तो करो, भरो सब स्वाँग पड़े जो भरना॥४॥
पर भूल न जाओ, "शूल-मूल ममता है"—
इस भव-नाटकमें सफल तत्त्व समता है।
सब रुदन हास—आभासमात्र है झूँठा—
है एक—न कोई मित्र, न कोई रूठा॥५॥
वह एक तुम्हीं हो, सब उसकी छाया है।
यह भिन्नरूपता भ्रम है, सब माया है॥
फिर अपना अपना जपना क्यों भाया है?
कब कोई क्या ले गया? कौन लाया है?॥६॥
वह एक अनूपम रूप सभीमें देखो—
उस सच्चित्‌को आनन्दसहित चित लेखो।
आचरण यही आमरण "शरण" ही तेरा—
हो सुखद बसेरा, अन्त मिटे जग-फेरा॥७॥

आध्यात्मिक जीवनके कुछ सिद्धान्त

(लेखक—स्वामी श्रीभोलानाथजी महाराज, लखनऊ)

नीचे लिखे सिद्धान्तोंको बराबर ध्यानसे पढ़ना चाहिये और उनके अनुसार चलनेका लगातार प्रयत्न करते रहना चाहिये। हमारी वर्तमान दशा हमें कोई साधारण तथा सुगम मार्ग ग्रहण करनेको बाधित करती है।

१—कोई काम छिपाकर न करो, अर्थात् जब तुम किसी ऐसे कामको करना चाहते हो जो कि समाज अथवा ईश्वरके प्रति तुम्हारे सम्बन्धके विचारसे बुरा हो और तुम्हें यह मालूम पड़े कि उसे छिपाकर करनेकी आवश्यकता है तो उस कामको करनेका विचार तुरन्त छोड़ दो।

२—कोई ऐसा काम न करो जिसके करनेके बाद तुम्हें झूठ बोलना पड़े।

३—किसीका बुरा मत चाहो, चाहे वह किसी भी धर्म या किसी भी देशका क्यों न हो।

४—किसी निःसहाय जन अथवा जनसमूहकी (गरीबोंकी) यथाशक्ति सहायता करो। यदि तुम किसीकी सहायता नहीं कर सकते तो कम-से-कम किसीको कष्ट न दो।

५—अपने मनमें कभी अकेले मत रहो अर्थात् यह कल्पना करो कि वह सत्य, वह महान् शक्ति सदा तुम्हारे साथ है, हर समय तुम्हारे सब वचन और सारे कर्म उसी परमेश्वरके सामने किये जानेके योग्य हों।

६—प्रतिदिन एक बार प्रातःकाल और एक बार सायंकाल प्रार्थनाके लिये समय निकालो। प्रातःकाल अपने ही शब्दोंमें ईश्वरकी कुछ इसप्रकार प्रार्थना करो—

हे जगत्पिता परमेश्वर! मैं आपका हूँ। किसी कारणसे मैं फिर शरीरमें फँस गया हूँ। संसार बड़ा लुभावना और बलवान् है। मैं फिर दिनभरके लिये आज उसमें प्रवेश कर रहा हूँ। मेरा हाथ पकड़ो और ऐसी शक्ति दो, जिससे मैं ठीक रास्तेपर चलूँ। मेरे चित्तमें हर समय आपहीका ध्यान बना रहे। मैं बालक हूँ और अबोध हूँ। इन्द्रियोंद्वारा जो बुरे विचार मनमें आते हैं उन्हें रोकनेमें मैं बिल्कुल असमर्थ हूँ। इसलिये मेरा हाथ अवश्य पकड़ो और दिनभर अपने नेतृत्व और रक्षामें रक्खो!

७—रातको अपनी दृष्टि अपने अन्तःकरणकी ओर ले जाओ और विचारो कि कहाँ और किन-किन अवसरोंपर तुममें शिथिलता आयी और तुम अपने पथसे विचलित हुए। सच्चे हृदयसे पश्चात्ताप करो और परमेश्वरसे प्रार्थना करो कि अगली बार फिर जब वैसे अवसर आवें तो वह तुम्हारी सहायता करे और तुम्हें गिरनेसे बचावे।

यदि यह समझो कि दिनमें तुमसे कोई अच्छा काम हुआ है तो उसके लिये अभिमान न करो और परमात्माको धन्यवाद दो क्योंकि उसीकी दयाकी सहायतासे तुम उस कामके करनेमें सफल हुए हो।

८—दिनभरमें जो सुख-दुःख मिलें उन सबमें उसीकी इच्छाका सञ्चार समझो और सदाके लिये उसे अपने हृदय-मन्दिरमें प्रतिष्ठित करो।

९—अपने बन्धनों और सम्बन्धोंको वैसा ही समझो जैसा कि एक नाटकका ऐक्टर (पात्र) अपने रंगमञ्चके सम्बन्धोंको समझता है। उसकी वास्तविक स्थिति सदा एक-सी रहती है परन्तु उसका वेष बदला करता है। यानी इन बन्धनोंको अपने मनसे बिल्कुल तोड़ डालो या अपनी कल्पनाशक्तिद्वारा उन बन्धनोंसे स्थायी और दृढ़ सम्बन्ध स्थापित करो।

१०—कोई अच्छा काम इस आशासे न करो कि उसका बदला मिले वरं अपने अभिनयसे मालिकको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करो।

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

[सर आलिवर लॉजके एक लेखका अनुवाद]



तत्त्ववेत्ता लोग व्यक्त पदार्थोंके बाह्य स्वरूपको छोड, उनके भीतरी मूलस्वरूपको खोजनेका प्रयत्न सदासे करते आये हैं। इसका पता लगानेके लिये उन लोगोंने वस्तु-स्थितिकी तहतक गोते लगाये हैं। अतएव यह अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है जो उन्होंने अव्यक्त या मूलकारणका स्वरूप व्यक्त या स्थूल स्वरूपसे भिन्न प्रकारका पाया हो। अब उन साइंसवालोंको देखो जो तत्त्व-ज्ञानकी विरुद्ध दिशामें जाते हैं। वे लोग विश्वकी रचनाको उसी तरह मानते हैं जैसा उसका प्रत्यक्ष रूप दृष्टिगोचर हो रहा है। वे लोग उसके भीतरी अलक्ष्य-तत्त्वके ज्ञान-सम्पादनमें प्रयत्न नहीं करते। उन्हें जो वस्तु जिस उद्देश्यके लिये जान पड़ती है उसे वैसा ही समझने लगते हैं। यदि हम उन्हें उस वस्तुकी व्याख्या भिन्न प्रकारकी बतलावें तो वे इसे अजीब बात समझेंगे। तथापि उन लोगोंको इसप्रकारकी विलक्षणताका परिचय कोपर्निस्कसके समयसे आजतक अनेक बार मिल चुका है। कोपर्निस्कसके ग्रह-विज्ञानके वैषम्यसे बढ़कर और दूसरा उदाहरण कौन मिल सकता है ? यह पृथ्वी आकाशस्थित अनेक ग्रहोंके समान बिल्कुल नहीं मालूम होती। इसका आकार छोटा है और यह आकाशमें अपनी कक्षापर तीव्र-गतिसे घूम रही है। उसकी सारी शक्तियाँ उस बृहदाकार गोलेपर अवलम्बित हैं जो अबतक सम्पूर्ण नक्षत्रोंसे अत्यन्त प्रकाशित समझा जाता है। पृथ्वीपर दिन और रात होनेका कारण यह बतलाया जाता है कि वह अपनी धुरीपर चक्रकी भाँति घूमती है। इसी प्रकार उसमें ऋतु-परिवर्तनका कारण यह कहा जाता है कि उसकी धुरी अपनी कक्षासे सूर्यकी ओर झुक जाती है। जानना चाहिये कि एक लघु तथा प्रत्यक्षतः नगण्य कारणसे बड़े भारी उद्देश्य या फलकी भी प्राप्ति हो जाया करती है। हमारे सीखनेके लिये यह पहला पाठ है। दूसरा पाठ सीखने-योग्य यह है कि यद्यपि वैज्ञानिकोंने अपने अनुसन्धानका फल अधिकांशमें दार्शनिक-पद्धतिसे प्राप्त नहीं किया है वरं सूक्ष्मावलोकन एवं विश्लेषणात्मक प्रयोगद्वारा जाना है, तथापि हमको दार्शनिक-पद्धतिद्वारा ही अन्वेषण करना उपयुक्त होगा अर्थात् किसी वस्तुके प्रत्यक्ष रूपको छोड़कर तद्गत अप्रत्यक्ष आधारस्तम्भ मूलकारणको ढूँढना होगा। भौतिक पदार्थोंके बाह्य स्वरूप उनके अलक्ष्य सूक्ष्म स्वरूपसे अविरल सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं। पदार्थोंके सूक्ष्म रूप उनके स्थूल रूपसे भिन्न होते हैं। परन्तु वैज्ञानिकोंने यह समझ लिया कि उन दोनोंमें परस्पर लगातार सम्बन्ध नहीं होता है, अथवा उनका यह सम्बन्ध आणविक होता है, अर्थात् उनके प्रत्येक भागकी रचना स्वतन्त्र परमाणुओंके सङ्गठनसे होती है। इसी प्रकार चेतन-पदार्थोंके विषयमें वे लोग यह समझने लगे कि ये भी स्वतन्त्र इन्द्रियोंके सङ्गठनसे बनते हैं तथा उनको ऐन्द्रिय-द्रव्य वंशानुक्रमसे प्राप्त होता रहता है, परन्तु प्रत्यक्षतः कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। इस ऐन्द्रियवादको पीछेके विज्ञानवेत्ताओंने ग्रहण नहीं किया। ये लोग भिन्न-भिन्न श्रेणीके पदार्थोंकी उत्पत्तिके विषयमें अध्ययन करनेके लिये इस बातकी खोजमें लगे कि एकसे दूसरेमें क्रमानुसार प्रविष्ट होनेका द्वार कौन है ? निरिन्द्रिय जीवोंके विषयमें उनको पहले पहल ऐसा मालूम होने लगा कि उनमें उत्क्रान्ति-विकासका सम्बन्ध नहीं है, उनके प्रत्येक अणुका निर्माण बिल्कुल स्वतन्त्र है। उनको यह भी नहीं मालूम हुआ कि उनमें मूल-पदार्थ एकसे दूसरे रूपमें बदलनेवाला होता है, जिसमे यह आशा की जा सके कि सेन्द्रिय जीवोंके समान उनमें भी एकसे दूसरे रूपमें परिवर्तन होता है अथवा उनमें पारस्परिक सम्बन्धका पता मिलता है। जानना चाहिये कि संसारमें अन्य प्रकारके पदार्थोंका भी अस्तित्व है। उसका ज्ञान हमारी इन्द्रियोंको सीधा नहीं, किन्तु पर्यायसे होता है। उदाहरणके लिये विद्युत्‌को लीजिये। यह एक विलक्षण चीज़ है जो प्रत्येक पदार्थके एक सिरेसे दूसरेतक नितान्त तीव्र-गतिसे चल रही है। इसकी गतिका रहस्योद्घाटन किसी प्रकार उस रीतिसे हो सकता है जिस रीतिसे शब्दकी गतिका पता लगाया गया है।

इस कथनका सारांश यह है कि यह (विद्युत्) एक यन्त्रकी भाँति कोई मध्यस्थ पदार्थकी लहर है जिसका नियम शब्द-गतिके नियमसे भी अति गूढ़ है, तथापि उसका निश्चय कुछ-कुछ शब्द-गतिके नियमके आधारपर किया जा सकता है। बहुत गहरी खोजके अनन्तर यह मालूम

हुआ कि विश्वके सञ्चालनमें साधारण दृष्टिसे जो परमाणु-समूह जान पड़ता है उसमें और भी मूलद्रव्य सन्निहित हैं। विद्युत्-गतिके अद्भुत रूपका ज्ञान हमको ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता, इसीलिये यन्त्रोंकी सहायता लेनी पड़ती है। जब विद्युत्-प्रवाहका आविष्कार हुआ तब उसमें और भी कई प्रकारकी गुत्थियाँ पायी गयीं। इनमेंसे एक चुम्बकाकर्षण (Magnetism) भी है। पहले पहल ऐसा जान पड़ा कि इसका बिल्कुल स्वतन्त्र अस्तित्व है परन्तु अब यह ज्ञात हुआ है कि विद्युत् और चुम्बक (Electricity and Magnetism) दोनों आपसमें अनिवार्य रीतिसे मिले हुए हैं, तथा जब विद्युत् गतिमान् होती है तब उसमें चुम्बकाकर्षण समझाया जा सकता है। इसके आगे और भी खोज करनेसे यह मालूम हुआ कि इन दोनोंकी सहकारितासे प्रकाश बनता है। यह प्रकाश यान्त्रिक लहर बिल्कुल नहीं है बल्कि विद्युत्-चुम्बक (Electro-magnetic) इसकी मूल प्रकृति है; अर्थात् प्रकाशकी उत्पत्तिमें विद्युत् और चुम्बक आदि-कारण हैं। इसप्रकार समझमें आनेयोग्य सरल बनानेके उद्देश्यसे उपर्युक्त तीनों शाखाओंको एकमें मिलाकर विद्युत्-शक्तिको 'प्रधान-सञ्चालक' का रूप दिया गया है। परन्तु यह कोई नहीं जानता कि स्वयं 'विद्युत्' क्या चीज़ है? उसके रहनेके स्थानका पता नहीं लग सका है; अलबत्तः वह अपने गुप्त स्थानसे खींचकर बाहर लाया जा सका है। फिर भी जहाँतक अनुसन्धान हो सका, यही मालूम हुआ कि वह सम्पूर्णतः व्यापक स्वरूप है। इसपर भी एक उलझन और मिली। एक वैद्युतिक-गतिमें अनेक अति सूक्ष्म तात्त्विक-गतियोंका समूह मौजूद पाया जाता है, जिन्हें अलग-अलग करना असम्भव है तथा इनकी गणना नहीं हो सकती। यही विद्युदणु (Electrons) प्रकाशके मूलद्वार हैं; तथा पदार्थोंके प्रत्येक परमाणु (Atom) में विद्यमान हैं।

वैद्युतिक-गतिका सिद्धान्त इसप्रकार क्रमशः आविष्कृत हुआ है। पदार्थोंके बाह्य स्वरूप अपने भीतरी स्वरूपसे जिसप्रकार भिन्न होते हैं वह उपर्युक्त गवेषणासे पाठकोंकी समझमें आवेगा। हमने यह ज्ञान प्राप्त किया है कि परमाणु-पुञ्ज परस्पर सम्बन्धित हैं; वे सब विद्युत्के धन और ऋण (Positive and Negative) गतिके मेलसे बने हैं और उन परमाणुओंमें जिसप्रकार इन दोनोंका रासायनिक संयोग हुआ है, वह केवल नम्बर और पेटर्न (Number and pattern) के संकेतसे ही बतलाया जा सकता है। इसप्रकार सब भौतिक रचनाओंके बाह्य स्वरूपका रहस्य, संगठन आदि जो कुछ अध्ययन-मननद्वारा ज्ञात हो सका, बतलाया गया है। हमारे शरीरका निर्माण भी दो मूलतत्त्वों—प्रोटन और इलेक्ट्रन (Proton and Electron) के अगणित अणु-समूहसे हुआ है। इस-प्रकार सूक्ष्मावलोकनसे भौतिक पदार्थोंके बाह्य रूपमें क्रान्तिकारी परिवर्तन विदित हुआ—प्राकृतिक स्वरूपके भीतर सम्पूर्णतः तो नहीं किन्तु किसी अंशमें अप्राकृतिक गुप्त रूप प्रतिबिम्बित होने लगा। वैज्ञानिक लोग अब पदार्थोंके दृश्य रूपपर बिल्कुल अविश्वास करने लगे हैं तथा यह जानने लगे हैं कि वह मूल-सत्यहीका अनेक विचित्र प्रतिबिम्बरूप है। हमारे सामने विलक्षण पदार्थोंका अक्षय भण्डार पड़ा हुआ है जिसका अन्त ही नहीं मिलता है। जैसे अभी हालमें यह आविष्कार हुआ है कि खुद प्रकाशमें आणुविक प्रकार होते हैं। वह (प्रकाश) परमाणु-पुञ्ज या फोटनसे बाहर होता है अथवा उसमें विलीन रहता है और जैसे-जैसे पदार्थ बदलते रहते हैं वैसे-वैसे उनका—परमाणु-पुञ्जका भी रूप परिवर्तित होता रहता है, तथापि उन सबकी चालका प्रमाण एक समान रहता है। फोटन किसी भी दशामें सब एक ही रूपके नहीं हैं। कुछ तो ऐसे हैं कि जब वे हमारी आँखोंमें प्रवेश करते हैं तब उनका रंग लाल मालूम होता है, कुछ हरा और कुछ पीला आदि। हम देखते हैं कि किसी पदार्थका रङ्ग उस पदार्थमें नहीं होता है किन्तु उस फोटनकी शक्तिका द्योतन है जो हमें उससे मिलती है। बहुत-से फोटन ऐसे हैं जो कुछ भी हलचल या जोश उत्पन्न नहीं कर सकते। सच तो यह है कि जोश उत्पन्न करनेवाले फोटन थोड़े ही हैं और एक्सरेज़ (X' rays) गामारेज़ (Gama rays) और स्पेक्ट्रम (Spectrum) अर्थात् सूर्यचन्द्रकी किरणोंके सिलसिलेमें दृष्टिगोचर होते हैं। फोटन पदार्थोंके परमाणुओंसे इस अर्थमें भिन्न कहा जा सकता है कि वे भौतिक नहीं हैं। तब भी उनका अलग अस्तित्व होता है और यद्यपि वे दिखलायी नहीं पड़ते तथापि वे मूलस्वरूपमें विद्यमान हैं। इसप्रकार हालमें इतना कहा जा सकता है कि भौतिक संसारकी रचना निम्नलिखित तीन द्रव्योंके मेलसे हुई है—

१-प्रोटन या पाज़िटिव (Proton or Positive charge) 'धन' गति।

२-इलेक्ट्रन या निगेटिव(Electron or Negative charge) 'ऋण' गति।

३-फोटन (Photon) जो उपर्युक्त दोनों गतियोंके फलस्वरूप उत्पन्न होता है।

इसी आधारपर अनेकों कार्य सम्पादित हुए हैं और बेशुमार फलकी प्राप्ति हुई है। परन्तु इस परिणामपर कोई सिर्फ अवलोकन (प्रयोग) द्वारा नहीं पहुँच सका है। असलमें विज्ञान अपने मुख्य प्राचीन स्थानकी ओर लौट रहा है। कोई आश्चर्य नहीं कि वह 'प्राकृतिक तत्त्वज्ञान' के प्राचीन पदपर आसीन हो जावे। वह अब तो तत्त्वज्ञान-मूलक हो गया है। ये सब आविष्कार इस बीसवीं सदीके चन्द वर्षोंके भीतर ही हुए हैं। यह उसी प्रकार उल्लेखनीय है जिसप्रकार उन्नीसवीं शताब्दिके आरम्भमें 'विद्युत्-चुम्बक-आकर्षण' की बुनियाद डाली गयी थी। ये सब आविष्कार आधुनिक होनेसे मानव-समाजके सम्मुख उपस्थित करने योग्य परिमार्जित नहीं हुए हैं। समय आनेपर ऐसा अवश्य किया जायगा और तब उनके विचारोंमें क्रान्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी।

मेरा मत सर्वमान्य प्राचीन पन्थका है। मेरे इस मतको आधुनिक धुरन्धर वैज्ञानिकोंने भी समर्थन किया है। मैं आगे कुछ विस्तारपूर्वक अपना मत प्रकाशित करता हूँ।

मनुष्योंमें अधिकांश ऐसे लोग हैं जो अपने अनुभवपर विश्वास रखकर ऐसा विचार करते हैं कि वस्तुओंका जैसा रूप प्रत्यक्ष दीख पड़ता है वैसा ही उसका मूल अव्यक्त रूप भी होगा। इस अनुमानका हमको त्याग कर देना चाहिये। उदाहरणके लिये हम अपने शरीरहीको लेते हैं। इसका जो रूप प्रकट दीखता है वह वास्तवमें अन्तरस्थ इन्द्रियों और मस्तिष्कका कार्य करता हुआ रूप है, जो कि मस्तिष्क ही विचारेन्द्रिय है इसीसे हमलोग ऐसा खयाल करते हैं कि विचारकी उत्पत्ति उसीसे (मस्तिष्कसे) ही होती है। परन्तु यदि हम उसकी सूक्ष्म रचनाओंपर ध्यान दें तो हम मानव-स्वभाव तथा आत्माके विषयमें अधिकतर बोध प्राप्त करने लगेंगे। एक लाउड-स्पीकर-यन्त्र (Loud speaker-machine) को उदाहरणार्थ लीजिये। यह कोई भी नहीं कह सकेगा कि हम उस यन्त्रके विश्लेषण करनेसे शब्दोच्चारके उद्गमस्थानका पता पा सकेंगे। हमारा मस्तिष्क निश्चय ही उससे भी अधिकतर रहस्यपूर्ण इन्द्रिय है। उसकी कार्यशक्तिका उद्गमस्थान गुप्त एवं अज्ञात है। वास्तवमें वह गुप्त तो नहीं है परन्तु हमारी अज्ञानताहीसे वह ऐसा जान पड़ता है; अर्थात् हमारा ज्ञान स्वल्प है, इसीसे हम उस गुप्त रहस्यको नहीं जान सकते। एक मूर्ख जङ्गली मनुष्यको लाउड-स्पीकर वैसा ही विलक्षण तथा रहस्यमय प्रतीत होगा जैसा हमको मनुष्यका मस्तिष्क। किसी सफ़री लाउड-स्पीकरको देखकर वह जंगली मनुष्य यह समझेगा कि उसमें जान है। यदि वह उसे कुल्हाड़ीसे तोड़-फोड़ डाले तो उसकी समझमें उसकी जान चली गयी तथा वह अपनी आवाजसे उस मनुष्यकी शान्ति भङ्ग नहीं कर सकेगा। उसके लिये उपर्युक्त घटनासे यद्यपि लाउड-स्पीकरकी ध्वनि बन्द हो गयी तथापि ध्वनिका कारण बन्द नहीं हुआ। कार्य भले ही बन्द हो जाय, परन्तु कारणका अस्तित्व नहीं मिट सकता। हमारे चारों ओर असंख्य सूक्ष्म पदार्थ भरे पड़े हैं, परन्तु जबतक उनका प्रभाव हमारी इन्द्रियोंपर नहीं पड़ेगा तबतक हमको उनका अस्तित्व नहीं मालूम होगा। प्रत्यक्षमें तो ऐसा जान पड़ता है कि हमारे आसपास शून्य स्थानके सिवा और कुछ नहीं है। यह हमारा भ्रम है। इस विषयके ज्ञानके लिये हमको बिना तारके तार (Wireless telegram) की लहरकी खलबलाहटसे कुछ-कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। हमारे आसपास यूरोपकी राजधानियोंमें दिये गये व्याख्यानों तथा गान-वाद्यकी ध्वनि व्याप्त है, परन्तु हम तबतक उन्हें न सुन सकते, न जान सकते हैं, जबतक हमारे पास रेडियो (Radio) नामक यन्त्र न हो। यह एक तुलनात्मक उदाहरण है; परन्तु मैं इसीपर अधिक ज़ोर देता हूँ, क्योंकि इसके द्वारा उस अव्यक्तमूल महान् सत्यका कारण समझमें आ सकता है। जब हम मर जाते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि हमारा अस्तित्व मिट गया। यह तो बाह्य रूप है। हमको पहलेसे मालूम है कि यह सत्य नहीं है। हम मृत्युको प्राप्त हुए लोगोंसे बातचीत कर सकते हैं। यद्यपि उनका अपना यन्त्र (शरीर) नहीं रहता है तथापि वे दूसरेके यन्त्रको अपने उपयोगमें ला सकते हैं। अर्थात् मृतात्मा

दूसरे किसी जीवित मनुष्यके शरीरमें प्रवेशकर अथवा निज मायिक शरीरका निर्माणकर हमारे सम्मुख प्रगट होकर बातचीत भी कर सकते हैं। मृतात्मा ठीक-ठीक विशेष क्रियाद्वारा हमारी इन्द्रियोंपर प्रभाव डालनेमें समर्थ होते हैं। जबतक उन क्रियाओं-साधनोंका सन्तोष-जनक पालन नहीं किया जाता है तबतक वे हमारी इन्द्रियोंपर प्रभाव नहीं डाल सकते हैं, इसी कारण वे अलक्ष्य रहते हैं। आमतौरसे ये साधन बहुतेरे लोगोंको मालूम हैं। यदि कोई सीखना चाहें तो हम उन्हें सिखला सकते हैं। स्मरण रहे कि जिन लोगोंको प्रेतात्माओंद्वारा दिये गये समाचारोंको ग्रहण करने अथवा माननेकी इच्छा नहीं होती, उनको ज़बरदस्ती नहीं मनवायी जा सकती।

मेरा यह सिद्धान्त है कि लोगोंके इस कथनको अत्युक्तिपूर्ण जानना चाहिये कि मन और प्राणके धारण करनेके लिये भौतिक पदार्थ-शरीरकी आवश्यकता होती है। असलमें प्रकाशके भी आधारके लिये भौतिक द्रव्यकी आवश्यकता नहीं, परन्तु प्रकाशको प्रकट करनेके लिये भौतिक द्रव्यकी आवश्यकता है। प्रकाशका ज्ञान हमको तभी होता है जब उसका असर किसी भौतिक पदार्थपर होता है। ठीक इसी प्रकार मैं आत्माके विषयमें कहूँगा। आत्मा किसी भौतिक पदार्थपर आश्रित नहीं है। वह बिल्कुल स्वतन्त्र है परन्तु हमारे सम्मुख प्रगट हो जानेका वह स्वयं प्रयत्न नहीं करता जबतक किसी प्रकारके भौतिक द्रव्योंसे उसका संयोग नहीं किया जाता। इसी कारण जब कोई प्रेतात्मा (परलोकगत आत्मा) किसी शरीरमें उतरता है तभी हमको उसकी विद्यमानताका बोध होता है। उसका आना थोड़े कालके लिये होता है; चाहे चन्द मिनटोंके लिये हो अथवा चन्द वर्षोंके लिये हो। द्रव्योंके अणु-समूह जो कार्य करते हैं उनका बोध हमको होता है; वह क्या है? वह उस प्रधान-सञ्चालक-शक्तिका प्रमाण अथवा लक्षणमात्र है जो उनके भीतर गुप्त रीतिसे कार्य कर रही है। मैं पहले कह आया हूँ कि भौतिक द्रव्य वास्तवमें निर्जीव (जड़) होते हैं। उनकी निजी शक्ति कुछ नहीं होती। वे न तो हिल-डुल सकते हैं, न कोई क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। उनकी अपनी इच्छा कुछ भी नहीं होती। उन्हें जिधर धक्का दिया जाय उसी ओर ढुलक पड़ते हैं। वे अपने आसपासके रिक्त स्थानमें गतिमान् रहते हैं। इनके सिवा वे प्रत्यक्ष भी नहीं होते। उनका बाह्य रूप यही मालूम होता है कि उनमेंसे प्रत्येकका एक अंश दूसरे अंशमें कार्य कर रहा है। असल बात यह है कि वे दोनों अंश शून्य स्थानमें या उस स्थानमें जिसे हम 'वेकम' (Vacumn) कहते हैं, काम करते हैं। और यही स्थान उन दोनोंके मध्य संयोजक-कड़ी निर्माण करता है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षणके विषयमें भी समझना चाहिये। ऐसा कहते हैं कि पृथ्वी चन्द्रमाको अपने केन्द्रकी ओर खींचती है। यह आकर्षण बाहरी रूप है। यही बात चुम्बकके बारेमें भी जाननी चाहिये जब वह लोहेके टुकड़ोंको अपनी ओर खींचने लगता है। वास्तवमें चौम्ब्यक्षेत्र ही उन दोनों—चुम्बक और लोहेको सञ्चालित करता है जो उनके आस-पास रहता है। यही दशा सब भौतिक पदार्थोंकी भी है। दो भौतिक द्रव्य वास्तवमें आपसमें मिलकर नहीं रह सकते। उनके अणुओंके मध्यमें अन्तरप्रवाहित एक गड्ढा-सा होता है जो एकसे दूसरेको हटाता रहता है। यह सच है कि चन्द आधुनिक विज्ञानशास्त्री यह ख़याल करने लगे हैं कि जब एक परमाणु दूसरेसे मिलने लगता है अथवा उन दोनोंमें रासायनिक कार्य होने लगता है तो उनमें गतिप्रदान व्याप्त शून्य स्थानके फोटन अथवा ईथर-के आन्दोलनद्वारा होता है। ठीक इसी भाँति मैं भी कह सकता हूँ कि मस्तिष्कके अणुओंमें गति उत्पन्न करनेवाला विचार, है अर्थात् विचारका प्रवेश होनेसे ही स्नायुओंमें उत्तेजनाका सञ्चार होता है जो एक निर्धारित नियम-विशेषसे उस विचारको व्यक्त करते हैं। यहाँपर यह जानना चाहिये कि मैं उस अत्यन्त गूढ़ विषयके वर्णनमें प्रवेश कर रहा हूँ जिसका अन्वेषण अभीतक पूर्ण रीतिसे नहीं हो पाया है। अर्थात् यह ज्ञात नहीं हो सका है कि मस्तिष्क-तन्तुओं वा अणुओंमें विचारका आविर्भाव किस शक्तिके द्वारा होता है। अभी इतना ही कहना बस है कि अबतक हमें जो कुछ ज्ञान भौतिक द्रव्योंकी कार्यगतिके विषयमें हुआ है, वही जीवन-विज्ञान अर्थात् प्राणिशास्त्र-सम्बन्धी कार्यगतिमें भी लागू होता है। जब एक सूखा पत्ता हवामें एक ही बिन्दुपर त्वरित गतिसे चक्कर खाने लगता है, तब हम उसकी भौतिक गतिको देखते तो हैं, परन्तु हम जानते हैं कि यह उसका एक सांकेतिक चिह्नमात्र (Index) है जिसका ज्ञान हमें अभीतक नहीं हो सका है। वह सूखा पत्ता स्वयं निर्जीव है। उसकी चक्र-गति

कहींसे मिली हुई शक्तिका प्रत्युत्तर-स्वरूप है। मुझे विश्वास है कि यह दृष्टान्त सम्पूर्ण विश्वके गतिमान् पदार्थोंके सम्बन्धमें ठीक घटित होता है।

मैं जीवित प्राणियों और निरीन्द्रिय पदार्थोंमें कुछ भी भिन्नता नहीं मानता। वे सब वैज्ञानिक तथा रासायनिक नियमोंके सर्वथा स्वाधीन हैं। उन नियमोंका पालन उन सबमें पूरा-पूरा होता है। इन्द्रिय-संगठन-शक्तिकी तुलना सरलतापूर्वक रसायन-शास्त्रकी परिभाषाके अनुसार स्टीम-एञ्जिन (Steam-Engine) की शक्तिसे की जा सकती है, परन्तु उसकी कार्यशक्ति, लक्ष्य तथा हलचलके नियन्त्रणका उद्देश्य या हेतुका समझना सहज नहीं है। इनको समझनेके लिये अव्यक्त सत्यके अन्तर-पटमें प्रवेश करना होगा। हमको यह स्वीकार करना होगा कि विश्व-ब्रह्माण्डके जीवनपर शासन करनेवाली कोई सत्ता है। अन्वेषणकी ऊँची सीढ़ियोंपर चढ़नेसे हमको मालूम होगा कि हम 'आत्मिक जगत्' में जा रहे हैं। वहाँ हम देखेंगे कि आत्मा सर्व-प्रधान सत्य है। हम पदार्थोंमें कार्य, आन्दोलन आदि जो कुछ देखते हैं वे सब अपने चारोंओर व्याप्त विशाल सत्यके अस्तित्वके लक्षण या उदाहरणमात्र हैं। आत्माका कार्य तब ही व्यक्त होता है जब उसका प्रवेश भौतिक जगत्में होता है। पदार्थोंका कार्य सिर्फ यही होता है कि वे उसके (आत्माके) कार्यको हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष दिखलावें।

हमारी आध्यात्मिक दुनियाँ है। हमारा सम्बन्ध वहाँसे हमारे भीतरी स्वभावद्वारा है। अर्थात् हमलोग स्वभावतः आत्मिक जगत्से सम्बन्ध रखते हैं। कुछ समयके लिये इस संसारमें स्थूल (भौतिक) शरीरमें इसलिये अवतरित हुए हैं कि यहाँ सदाचार तथा सद्गुणद्वारा आत्माको उन्नत बनावें, जिससे हमारा भविष्य समुज्ज्वल हो। हमारे इस सिद्धान्तके माननेसे प्रकृतिके बाह्य स्वरूपके माननेमें विरोध उत्पन्न होता है। परन्तु मैं तो यही कहूँगा कि वह बाह्य रूप एक छल-माया है। मैंने तथा मेरे समान कतिपय और लोगोंने भी प्रकृतिके बाह्यरूपके भीतर प्रवेश करके सत्य-तत्त्वको पहचानना सीख लिया है। किसी-किसी अवसरमें क्षणभरके लिये जब हमको उस सत्य-तत्त्वकी झलक मिलती है तब ऐसा जान पड़ता है कि वह कल्पनासे परे अत्यन्त विशाल, अचिन्त्य तेजोमय तथा अपार महिमामय है। उसीकी दयासे हम सुरक्षित हैं जिससे इस संसारमें अपने कर्त्तव्यपालनद्वारा उन्नत दशाको प्राप्त होवें। 'वाल्टेर' ने सच कहा है कि 'अपना बगीचा आबाद करो' (Cultivate your garden)। सारांश यह है कि मैंने विज्ञानशास्त्रके अध्ययन-मननद्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया है कि भौतिक पदार्थ—जिनका ज्ञान हमें इन्द्रियोंद्वारा होता है—निपट निर्जीव-जड़ पदार्थ है तथा उनकी सारी शक्ति शून्याकाशमें व्याप्त है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि भौतिक द्रव्य कभी किसी प्रकारकी गति उत्पन्न नहीं कर सकते, बल्कि शून्याकाश (अन्तरिक्ष) की अज्ञात शक्ति धक्का देकर उनमें गति उत्पन्न करती है। उसी शक्तिके कार्यको वे (भौतिक द्रव्य) उसी तरह प्रदर्शित करते हैं, जिस तरह घड़ीका काँटा समय बतलानेका काम करता है।

मैंने अपने प्रयोग तथा अनुभवसे यह जाना है कि जो मनुष्य पार्थिव शरीर त्याग कर चुके हैं—मर गये हैं, उनके अस्तित्वका नाश नहीं हुआ है। ऐसे मृतात्मा अब भी अन्तरिक्षमें मौजूद हैं। इससे यह सिद्ध है कि जीवनके लिये भौतिक पदार्थ मुख्य नहीं है। परन्तु जबतक मृतात्मा भौतिक पदार्थका आश्रय ग्रहण नहीं करते तथा उनके द्वारा उनका (मृतात्माओंका) कार्य प्रत्यक्ष नहीं होता तबतक उनका अस्तित्व हमको मालूम नहीं होता। पूर्वजन्ममें उनके शरीर जिन परमाणु-समुच्चयसे निर्मित हुए थे, ठीक उसी तरहके संगठित परमाणु-समुच्चयके प्राप्त होनेपर वे फिर भी अपने काम तथा अपने रूप भी पूर्वके समान ही व्यक्त कर सकते हैं। मैंने यह स्थिर किया है कि सूक्ष्म आत्मिक-जगत्—जहाँसे हमारा आदि सम्बन्ध है—स्थूल-भौतिक-जगत्से बहुत अधिक सत्य है। वह शून्याकाशमें स्थित है, तथा वहाँकी अन्यान्य शक्तियोंको बल प्रदानकर उन्हें अपने शासनमें रखता है। सभी दृश्यमान भौतिक पदार्थोंकी रचना इसी भाँति हुई है। यद्यपि इन भौतिक पदार्थोंका प्रभाव हमारी इन्द्रियोंपर सीधा पड़ता है अर्थात् उनके अस्तित्व तथा रूपका ज्ञान हमें इन्द्रियोंद्वारा प्राप्त

होता है, तथापि वे सब अलक्ष्य-सत्य-पदार्थके कार्य-द्योतक सांकेतिक चिह्नमात्र हैं।

मुझे परलोकगत आत्माओंद्वारा जो संवाद प्राप्त हुए हैं, उनसे यह ज्ञात हुआ है कि वे अपनी विशेष शक्ति-प्रदानद्वारा हमलोगोंकी समय-समयपर सहायता करते रहते हैं। यह भी मालूम हुआ है कि उनमें पूर्वजन्मार्जित स्मृति, प्रेम तथा सामर्थ्य पूर्ववत् विद्यमान हैं और वे उच्च स्थितिको प्राप्त होते जा रहे हैं। वे यह भी जानते हैं कि कौन-कौन आत्मा उनसे क्रमशः उच्चपद प्राप्त कर चुके हैं। मेरी दृढ धारणा है कि इसी प्रकार विकास-श्रेणी क्रमशः बुद्धिसे परे सर्वोच्च स्थितितक चली गयी है। अन्तमें मेरा यह विश्वास है कि यह विश्व-ब्रह्माण्ड बुद्ध्यातीत कल्पनासे परे—महतो महीयान् गुरुर्गरीयान्—सत्य शक्तिका प्रतिविम्बस्वरूप है, तथा इसका नियन्त्रण उसी परमपिताकी शक्तिके द्वारा हो रहा है, जिसका नाम—प्रेम—ईश्वर है।

[अनुवादक—धानूलाल श्रीवास्तव]

अनन्त पथपर

(लेखक—श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल-एल० बी०)

चक्करदार सीढ़ियोंपरसे मुझको ऊपर जाना है।
हृदय-वेदनाके आँसू कुछ तुमको भेंट चढ़ाना है॥
भरकर पश्चाताप-अञ्जली खड़ा हुआ हूँ ज़ीनेपर।
हो जाओगे दया-रूप तुम पलमें जिसको पीनेपर॥

किन्तु कठिनता एक बड़ी है, तुमतक पहुँचूँगा कैसे?
बाधाओंको अपने पथसे प्रभो! हटाऊँगा कैसे?
लदा हुआ है सिरपर मेरे पापोंका बोझा भारी।
छाई काम-क्रोध आदिककी आँखोंमें है अँधियारी॥

कपट, स्वार्थ, ईर्षाने मिलकर रक्त चूस सारा डाला।
पैर लड़खड़ाते हैं ऐसा हूँ तन शक्तिहीनवाला॥
इतनेपर भी मदकी मदिरा खूब डाँटकर पी ली है।
जिसके कारण दशा और भी मेरी हुई नशीली है॥

नहीं सुकर्मोंकी लकुटीतक कोई मुझे सहारा है।
किन्तु सुना है शरणागतको तुमने सदा उबारा है॥
हो इसमें यदि सत्य नाथ! तो तुम ही हाथ बढ़ाओ अब।
इस अनन्त ज़ीनेके ऊपर तुम ही मुझे चढ़ाओ अब॥

मोह-मुद्गर

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

प्राप्ते सन्निहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे।
भज गोविन्दं भज गोविन्दं
भज गोविन्दं मूढमते ॥१६॥

मृत्यु निकट आकर जब तेरा ग्रस्त करेगी प्राण,
'डुकृञ् करणे' धातु वहाँ तब कर न सकेगा त्राण।
(इस कारण व्यामोह छोड़कर सुन रहस्य यह गूढ़—)
नारायण भज, नारायण भज, नारायण भज, मूढ़ ॥१६॥

नारीस्तनभरनाभीदेशं
दृष्ट्वा मा गा मोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं
मनसि विचिन्तय बारम्बारम् ॥१७॥

पीन उरोज देख रमणीका सुन्दर नाभि-प्रदेश,
कभी नहीं तू लाना मनमें मोहजन्य आवेश।
यह तो मांस और मज्जादिकका है घृणित विकार !
देख, हृदयमें सदा यही तू बारम्बार विचार ॥१७॥

यावत् पवनो निवसति देहे
तावत् पृच्छति कुशलं गेहे।
गतवति वायौ देहापाये
भार्या बिभ्यति तस्मिन् काये ॥१८॥

जबतक इस शरीरके भीतर करता प्राण निवास,
तबतक प्रिया पूछती रहती गृहमें 'कुशल' सहास।
किन्तु प्राण जब बिलग हो गया, होता तनका नाश,
तब भार्याको भी भय होता उस शरीरके पास ॥१८॥

सत्सङ्गत्वे निस्सङ्गत्वं
निस्सङ्गत्वे निर्मोहत्वम्।
निर्मोहत्वे निश्चलितत्वं
निश्चलितत्वे जीवन्मुक्तिः ॥१९॥

सत्संगतिसे हो जाता नर विषयोंसे निस्संग,
फिर व्यामोह-रहित हो जाता, हो सर्वत्र असंग।
मोह विगत होते ही होता मन निश्चलतायुक्त,
निश्चलता आते ही वह हो जाता जीवन्मुक्त ॥१९॥

वयसि गते कः कामविकारः
शुष्के नीरे कः कासारः।
क्षीणे वित्ते कः परिवारः
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥२०॥

आयु ढल जानेपर रहता कहाँ मनोज विकार !
नीर सूखनेपर रह जाता भला कहाँ कासार !
विभव नष्ट होनेपर रहता कहाँ अहो ! परिवार !
तत्त्वज्ञान हो जानेपर है कहाँ भला संसार ! ॥२०॥

जटिली मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः।
पश्यन्नपि न च पश्यति मूढो
ह्युदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥२१॥

कोई जटिली कोई मुण्डी कोई लुञ्चितकेश,
कोई वस्त्र गेरुआ धारे यों बहुविध कृत वेष।
मूढ़ मनुष्य देखकर भी यह नहीं समझता नित्य,
नाना वेष बनाये जाते यों ही उदर-निमित्त ॥२१॥

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः।
करतलभिक्षस्तरुतलवास-
स्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥२२॥

आगे जलती आग दिवसमें पीठ-ओर है भानु,
रात्रि-समय ठोढ़ीमें सट जाते हैं दोनों जानु।
करतलमात्र पात्र भिक्षाका तरुके नीचे वास,
फिर भी नहीं छोड़ता हा ! यह आशारूपी पाश ॥२२॥

कुरुते गङ्गासागरगमनं
व्रतपरिपालनमथवा दानम्।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन
मुक्तिं भजति न जन्मशतेन ॥२३॥

कोई तो करता गङ्गासागरको ही प्रस्थान,
कोई व्रतका पालन करता अथवा देता दान ।
यही किन्तु सबका मत है जो रहता ज्ञानविहीन,
सौ जन्मोंमें भी पा सकता मुक्ति नहीं वह दीन ॥२३॥

योगरतो वा भोगरतो वा
सङ्गरतो वा सङ्गविहीनः ।
यस्य ब्रह्मणि रमते चित्त-
न्नन्दति नन्दति नन्दत्येव ॥२४॥

योगाभ्यासपरायण हो या सदा भोगमें लीन,
सदा सङ्गमें निरत रहे या होवे संगविहीन ।
किन्तु ब्रह्ममें रम जाता है जिस प्राणीका चित्त,
वह अवश्य ही आनन्दित होता रहता है नित्त ॥२४॥

भगवद्गीता किञ्चिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता
सकृदपि येन मुरारिसमर्चा
क्रियते तस्य यमेन न चर्चा ॥२५॥

यदि श्रीमद्भगवद्गीताका थोड़ा भी हो ज्ञान,
गंगाजल-कण लेशमात्र भी किया जिन्होंने पान ।
एक बार जिनसे अर्चित हों मुररिपु कमला-कान्त,
उन जीवोंकी चर्चा करता नहीं कदापि कृतान्त ॥२५॥

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
योगी योगनियोजितचित्तो
रमते बालोन्मत्तवदेव ॥२६॥

मार्गपतित चिथड़ोंका रच लेता है अपना कन्थ,
पाप-पुण्यसे सदा निराला रहता उसका पन्थ।
योगी योगाभ्यासपरायण करके अपना चित्त,
बालक या उन्मत्त-सदृश ही रमता रहता नित्त ॥२६॥

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥२७॥

तू है कौन, कहाँसे आया, अथवा मैं हूँ कौन ?
कौन हमारी माता है या पिता हमारा कौन ?
इन सब बातोंका तुम करते रहना सदा बिचार,
स्वप्नविचारसमान त्यागकर यह असार संसार ॥२७॥

गेयं गीतानामसहस्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥२८॥

गीता विष्णुसहस्रनामका करते रहना गान,
प्रतिक्षण माधवके स्वरूपका धरते रहना ध्यान ।
साधुजनोंकी ही सङ्गतिमें सदा लगाना चित्त,
दीनजनोंके लिये सर्वदा देते रहना वित्त ॥२८॥

सुखतः क्रियते रामाभोगः
पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं
तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥२९॥

सुखके हेतु किया जाता है रमणीका संभोग,
पीछे हाय ! समस्त देहमें छा जाता है रोग ।
यदपि मृत्युका आश्रय लेना ही पड़ता जगबीच,
फिर भी पापाचारोंको वह नहीं छोड़ता नीच ॥२९॥

प्राणायामम्प्रत्याहारं
नित्यानित्यविवेकविचारम् ।
जाप्यसमेतसमाधिविधानं
कुर्ववधानम्महदवधानम् ॥३०॥

प्राणायाम और निज इन्द्रियका कर प्रत्याहार,
'क्या अनित्य या नित्य वस्तु है'—इसको सदा बिचार ।
जाप्यसमेत सदा करता रह सुदृढ़ समाधि-विधान,
सावधान हो, कर प्रतिदिन उस महत्तत्त्वका ध्यान ॥३०॥

गुरुचरणाम्बुजनिर्भरभक्तः
संसारादचिराद्भवमुक्तः ।
सेन्द्रियमानसनियमादेवं
द्रक्ष्यसि निजहृदयस्थन्देवम् ॥३१॥

श्रीगुरुदेवचरणपङ्कजका होकर अविचल भक्त,
इस असार संसृतिसे हो जा तू अविलम्ब विरक्त ।
इन्द्रिययुत मनका नियमन करनेसे इसी प्रकार
देख सकेगा निज हृदयस्थित ईश्वरको अनिवार ॥३१॥

पाण्डेय रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम'

विवेक-वाटिका

प्राप्त होने योग्य गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, समस्त शुभाशुभका द्रष्टा, सबका निवासस्थान, शरण लेने योग्य, बदला न चाहकर हित करनेवाला सुहृद्, उत्पत्ति-प्रलयरूप तथा सबका आधार, सबका निधान और अविनाशी बीज मैं ही हूँ।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

जो इसप्रकार जानता है कि यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर और अभय है, यह ब्रह्म निश्चय अभय है, वह निश्चय ब्रह्म ही हो जाता है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

तप करनेसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, दान देनेसे ऐश्वर्य मिलते हैं, ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और तीर्थस्नानसे पाप नष्ट होते हैं। —महाभारत

❀ ❀ ❀ ❀

भगवान्‌के पवित्र, सुन्दर और मनोहर नामोंका तथा उनके अर्थोंका गान और उनकी अलौकिक लीलाओंका लज्जा छोड़कर कीर्तन करते हुए श्रेष्ठ भक्तको आसक्तिरहित होकर पृथ्वीपर विचरण करना चाहिये। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

क्रोध मनुष्यका बड़ा भारी वैरी है, लोभ अनन्त रोग है, सब प्राणियोंका हित करना साधुता है और निर्दयता ही असाधुपन है। —युधिष्ठिर

❀ ❀ ❀ ❀

जो चेतनको जड़ और जड़को चेतन कर सकते हैं ऐसे समर्थ श्रीरघुनाथजीको जो जीव भजते हैं, वे ही धन्य हैं।

—गोसाईं तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

पानी ऊँची जगहपर नहीं टिकता, वह नीचे ही ठहरता है, इससे जो नीचा होता है वह पानी निकालकर पी लेता है, पर ऊँचेको प्यासा ही लौट जाना पड़ता है।

—कबीरजी

❀ ❀ ❀ ❀

सदा याद करते रहनेकी तो एक ही वस्तु है। सदा-सर्वदा, सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके ही स्मरणसे प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है। सदा उसीका स्मरण करते रहना चाहिये। —श्रीचैतन्यदेव

❀ ❀ ❀ ❀

मनमें कामना रखकर भजन करनेसे सिर्फ उसका फल मिलता है, परन्तु निष्काम भजनसे तो भगवान्‌की प्राप्ति होती है। सांसारिक फल तो मनुष्यको भगवान्‌से दूर करता है इसलिये निष्काम भावसे भगवान्‌का भजन करना चाहिये। —समर्थ रामदास

❀ ❀ ❀ ❀

जबतक यह शरीर स्वस्थ है, जबतक वृद्धावस्था दूर है, जबतक इन्द्रियोंकी शक्ति कम नहीं हुई है और जबतक आयु शेष नहीं हुई है, तभीतक परमात्माको पानेके लिये उपाय कर लो। नहीं तो फिर, घरमें आग लग जानेपर जो कुआँ खोदनेकी बात सोचकर चुपचाप बैठा रहता है, उसे जलना पड़ता है, यही दशा होगी। —भर्तृहरि

❀ ❀ ❀ ❀

भगवान्‌का नाम ही भवरोगकी दवा है। अच्छा न लगनेपर भी नाम-कीर्तन करते रहना चाहिये, करते-करते क्रमशः नाममें रुचि हो जायगी। —विजयकृष्ण गोस्वामी

❀ ❀ ❀ ❀

विषयी मनुष्य नीचे लिखी तीन बातोंके लिये अफसोस करते हुए मरते हैं—(१) इन्द्रियोंके भोगोंसे तृप्ति नहीं हुई, (२) मनकी बहुत-सी आशाएँ अधूरी ही रह गयीं और (३) परलोकके लिये कुछ साथ न ले चले।

—हुसेन बसरी

❀ ❀ ❀ ❀

ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सब कर्मोंका नाश हो जानेके कारण मनुष्य बिना किसी प्रतिबन्धके मुक्त हो जाता है।

—श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

ऊँची जातिका अहंकार कोई न करे, क्योंकि मालिकके दरबारमें केवल भक्ति ही प्यारी है। —पलटू साहेब

❀ ❀ ❀ ❀

यदि कोई कमजोर मनुष्य प्रभुके कार्यमें लग जाता है, तो उसको भी अन्तमें प्रभुका बल मिल ही जाता है, इसी प्रकार यदि कोई बलवान् पुरुष लौकिक स्वार्थोंमें ही लगा रहता है तो अन्तमें उसे बलहीन तथा लाञ्छित होना पड़ता है। —अब्दुल्ला अनानिल

❀ ❀ ❀ ❀

भक्त-गाथा

भक्त जगन्नाथदास भागवतकार



क्त जगन्नाथदास जातिके ब्राह्मण थे और श्रीजगन्नाथपुरीमें निवास करते थे। विद्या, विनय और साधु-स्वभावके होनेके कारण इनको लोग बहुत अच्छी नज़रसे देखते थे। यद्यपि देखनेमें इन्हें कोई दुःख न था, परन्तु ये सदा चिन्तामें ही डूबे रहते थे। चिन्ता किसी सांसारिक भोग-वस्तुके प्राप्त करनेकी नहीं थी, वह थी भगवान्‌को पानेकी ! वह चौवीसों घण्टे इन्हीं विचारोंमें रहते और बारम्वार भगवान्‌से प्रार्थना करते कि 'हे प्रभो ! इस अपार भवसागरसे पार करनेवाले तुम्हीं एकमात्र कर्णधार हो, जबतक तुम्हारी कृपा नहीं होती तबतक किसी भी उपायसे जीवका उद्धार नहीं हो सकता। नाथ ! मैं दीन, हीन, शक्तिहीन पामर प्राणी हूँ, मुझमें ताकत नहीं कि मैं मनको विषयोंसे हटाकर आपके चरणोंमें लगाऊँ। मैं तो विषयविमोहित हूँ, मोहके सागरमें डूब रहा हूँ। तुम्हीं हाथ पकड़कर मुझे निकालो तो निकल सकूँगा। दयामय ! मुझ-सा दीन और कौन होगा, जो अपनी दीनताके प्रकट करनेमें भी असमर्थ है, जो दीनबन्धुके चरणोंमें उपस्थित होकर इतना भी नहीं कह सकता कि 'मैं दीन हूँ।' अभिमान सदा-सर्वदा दीनताका बाधक बना ही रहता है। मुझे अब कोई भी मार्ग नहीं सूझता। करुणानिधे ! इस पतित प्राणीपर दया करो, अपने भजन करनेकी शक्ति दो और किसी दिन अपनी बाँकी झाँकी दिखाकर कृतार्थ कर दो।'

इसप्रकार प्रार्थना और चिन्तन करते बहुत-सा समय बीत गया। एक दिन रात्रिके समय एकान्तमें जगन्नाथदास बिछौनेपर पड़े हुए मन-ही-मन प्रार्थना करने लगे—'प्रभो ! बहुत दिन हो गये, अब तो अपनी कृपाकी एक किरण मुझपर भी डालो। मैं अधिकारी नहीं, इसलिये मुझे भक्ति और प्रेम मत दो, परन्तु अपनी इतनी महिमा तो बता दो कि जिससे मैं दृढ़ विश्वासके साथ तुम्हारा भजन कर सकूँ। हे दयामय ! मैं तुम्हारे शरण हूँ। तुम्हारे सिवा लोक-परलोकमें मेरा कोई नहीं है। मारो या तारो, जो कुछ हूँ, तुम्हारा ही हूँ।' यों कहते-कहते और मनमें प्रभुका ध्यान करते-करते जगन्नाथदासको नींद आ गयी। आज दयामयका हृदय द्रवित हो गया। भगवान् बड़े कोमल-हृदय और भक्तवत्सल हैं। एक ही शब्दसे द्रवित हो जाते हैं। अवश्य ही वह शब्द द्रवितचित्तसे निकला हुआ और सच्चा होना चाहिये। जिस दिन, जिस क्षण प्रार्थनामें भक्तका चित्त पिघल जाता है और वह भगवान्‌की कृपापर पूर्ण विश्वासकर अपनेको उनके चरणोंमें डाल देता है, बस, उसी क्षण भगवान् उसकी प्रार्थना पूर्ण कर देते हैं। आज जगन्नाथकी मनोकामना पूर्ण करनेके लिये शरणागत-भयहारी भगवान् शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज साकार स्वरूपसे स्वप्नमें जगन्नाथके सामने प्रकट हुए और हँसकर बोले—'प्यारे जगन्नाथ ! तू किसलिये इतना घबरा रहा है ? अरे, जिसने एक बार भी सच्चे हृदयसे मेरा आश्रय ले लिया, उसे भय कहाँ है ?

सनमुख होहि जीव मोहि जबहीं। कोटि जनम अघ नासों तबहीं॥

यह मेरा व्रत है। आज तेरा उद्धार हो चुका। तू निर्भय हो चुका। अब तू मेरा एक काम कर। 'भागवत' भवसागरसे तारनेके लिये एक सुदृढ़ जहाज है। मेरे भावसे पूर्ण होकर ही मेरे ही स्वरूप व्यास-

देवने इसकी रचना की है । राजा परीक्षित शुकदेव मुनिसे इसी भागवतको सुनकर सहज ही भवसागरसे तर गया था । भागवत मेरा स्वरूप है । अतएव तू अपनी प्राकृत भाषामें इस महापुराणका समश्लोकी अनुवाद कर । इससे तू तो पवित्र होगा ही, अनेकों प्राणियोंको भी पवित्र कर सकेगा । जल्दीसे इस कामको करके जगत्का मङ्गल कर और मङ्गलमय बन ।' इसप्रकार प्रभुकी आज्ञा मिलनेपर स्वप्नमें ही जगन्नाथदासने कहा—'प्रभो ! मैं महामूर्ख हूँ । आपकी आज्ञाका पालन किस तरह कर सकूँगा । अपार महिमावाले श्रीमद्भागवत-ग्रन्थका प्राकृत भाषामें अनुवाद मुझसे क्योंकर हो सकेगा ?' भगवान्ने उत्तर दिया—'बेटा ! घबरा नहीं । मेरी शक्तिसे क्या नहीं हो सकता ? तू निर्भय-चित्तसे ग्रन्थ-निर्माणके लिये तैयार हो जा और मैं तेरे हृदय-कमलपर बैठकर जो कुछ कहूँ, उसीको लिखता चला जा ।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये । जगन्नाथदासकी नींद टूटी । वह एकदम उठ बैठे । प्रभुके दर्शन होनेसे आज उनके आनन्दका पार नहीं है । परम विश्वासी भक्त कागज, कलम लेकर भगवान्की आज्ञा पालन करने बैठे, परन्तु लिखें क्या ? आँसुओंके प्रवाहसे सारे अंग भीग गये । बाह्य दृष्टि रुक गयी । अन्तर्दृष्टिसे देखा, तो हृदयमें भगवान् अन्तर्विहारी विष्णुकी तेजोमयी दिव्य छवि विराजित दिखलायी दी । इन्द्रियोंके सारे दरवाजे बन्द हो गये । कलम चलने लगी और लगातार पन्ने-के-पन्ने लिखे जाने लगे । दूसरे दिन प्रातःकाल फिर यही दशा हुई । यों प्रतिदिन होते-होते कुछ समयमें सम्पूर्ण भागवतका परम रमणीय भाषामें पद्यानुवाद हो गया । अत्यन्त कठिन-से-कठिन मूल श्लोकोंपर भी कोमलकान्त पदावली रची गयी । तदनन्तर जगन्नाथदासने प्रभुके आदेशानुसार इस कल्याणकारी भागवतका गानकर मनुष्योंके पाप-तापका विनाश करना शुरू किया ।

जगन्नाथदास भागवतका कीर्तन करते हुए सारे देशमें घूमने लगे । उनका प्रेम और माधुर्य-भरा गायन सुनकर मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षीतक भी मुग्ध होने लगे । प्रथम तो मधुर स्वरका सङ्गीत स्वाभाविक ही लोगोंके चित्तको खींचता है, फिर यदि वह केवल निष्काम भावसे भगवान्की आज्ञानुसार जीवोंके कल्याणके ही लिये गाया जाय और वह भी श्रीमद्भागवत-जैसे प्रेमामृतपूर्ण ग्रन्थका सार हो तो, उससे समस्त प्राणियोंके प्रसन्न होकर खिंच जानेमें आश्चर्य ही क्या है ? जगन्नाथदास जब रास्तेमें चलते हुए भागवतका गान करते, तब उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी झड़ी लग जाती, प्रेमके आवेशमें वाणी गद्गद हो जाती, शरीर लड़खड़ाने लगता, प्रत्येक अङ्गमें भक्तिकी तरंगें उछलती हुई दिखलायी देतीं । प्रेम और करुणापूर्ण मधुर स्वरसे दिशाएँ गूँज उठतीं । उनकी इस अवस्थामें देखकर बालक, वृद्ध, युवा, पुरुष और स्त्री सभीके मन खिंच जाते और सभी लोग बड़े आदर-सत्कारके साथ अपने-अपने घरोंमें ले जाकर उन्हें घेरकर बैठ जाते और अपने प्यारे बन्धुके समान उनके मुखसे भगवान् श्रीकृष्णके परम मधुर चरित्रोंको सुन-सुनकर कृतार्थ होते । आज इसके तो कल उसके, यों घर-घरमें जगन्नाथदासके भागवतका गान होने लगा और लोग भगवान्की मधुर लीलाका आनन्द लूटने लगे ।

दुष्टोंको न तो हरिचर्चा ही सुहाती है और न किसीका सम्मान ही उन्हें सुखदायी होता है । जगन्नाथदासका आदर-सत्कार ऐसे लोगोंकी दृष्टिमें खटकने लगा, उनकी निन्दाप्रिय जिह्वाएँ जगन्नाथदासकी निन्दा करनेके लिये लपलपाने लगीं । किसीकी प्रशंसा सुनकर उसकी निन्दा करना, अच्छेमें भी बुरी बातका आरोपण करना तथा अकारण ही दूसरोंका अनिष्ट करना, यही खलोंका स्वभाव होता है ।

कौआ स्वभावसे ही उत्तम वस्तुओंको भ्रष्ट करता है। कुत्ते पवित्र वृक्षों, वेलों और स्थलोंपर पेशाब करते हैं, चूहे विना ही किसी स्वार्थके लोगोंके कपड़े काट जाते हैं और साँप लोगोंको अकारण ही डस जाता है परन्तु इसमें उसको कोई लाभ नहीं होता; इसी प्रकार दुष्ट जन साधुओंकी निन्दा करने और उनपर दोष मँढ़नेमें ही सुख मानते हैं—तुलसीदासजी महाराजने ऐसे दुष्टोंके लक्षण वतलाते हुए कहा है—

खलहिं हृदय अति ताप विशेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देखी॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई॥
काम-क्रोध-मद-लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बैर अकारन सब काहूसों। जो कर हित अनहित ताहूसों॥

पर-द्रोही पर-दार-रत परधन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद॥

इसी स्वभावके कारण दुष्ट-मण्डलीका हृदय जगन्नाथदासका मान-सम्मान देखकर दग्ध हो गया। उन्होंने जाल रचा और उनमेंसे कुछ लोगोंने जाकर राजा प्रतापरुद्रसे यह शिकायत की कि 'महाराज! आपकी इस पुण्यक्षेत्र पुरी नगरीमें आजकल बड़ा अनर्थ होने लगा है। जगन्नाथदास नामका एक पाखण्डी ब्राह्मण तुलसीकी माला पहनकर और तिलक-छापे लगाकर नगरके नर-नारियोंको ठगता फिरता है, जहाँ-तहाँ नाचता-गाता है, स्त्रियोंमें जाकर बैठता है। सरल हृदयकी स्त्रियोंके धन और धर्मको हरण करनेमें वह बड़ा ही चतुर है। उसके कारण पवित्र पुरी पाप-पुरी हो गयी है। आपको हमारी बातका विश्वास न हो तो आप गुप्त दूतोंको भेजकर इस बातका पता लगवा लीजिये। परन्तु यह अनर्थ अब जल्दी ही बन्द होना चाहिये।' राजाको इन लोगोंकी बातोंपर विश्वास हो गया। उसने दूतोंके द्वारा पता लगाया। दुष्टोंने उन्हें साथ ले जाकर सैकड़ों स्त्री-पुरुषोंके घेरेमें बैठे जगन्नाथदासजीको भागवतका गायन करते दिखला दिया और कुछ दे-लेकर उनके द्वारा यह कहलवा दिया कि 'महाराज! शिकायत सच्ची है, जगन्नाथदास वास्तवमें बड़ा अनर्थ कर रहा है और जगह-जगह उसकी पूजा हो रही है।'

राजा लोग राज-मदके कारण प्रायः अन्धे-बहरे हुआ ही करते हैं। प्रतापरुद्रने तुरन्त जगन्नाथदासजीको पकड़वाकर मँगवा लिया और उनसे कहा—'अरे जगन्नाथ! तू ऊपरसे तो साधु बना फिरता है और तेरे आचरण इतने दुष्ट हैं, तू दिन-रात स्त्रियोंमें बैठकर न माल्रम क्या-क्या गाया करता है। सच-सच बता दे, नहीं तो समझ ले कि तेरे जीवनके दिन पूरे हो गये हैं।'

राजाके क्रोध-भरे वचन सुनकर जगन्नाथदासने क्षणभर भगवान्का ध्यान कर निश्चिन्त भावसे कहा—'महाराज! द्वेषियोंकी बात सुनकर विना स्वयं जाँच किये अकारण ही निरपराधको सताना राजाका कर्त्तव्य नहीं है। मै तो भागवतका गान करता हूँ और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या अन्त्यज कोई भी मुझे प्रेमसे बुलाता है, उसीके यहाँ जाकर भागवत सुनाता हूँ। मैं बालक-वृद्ध या स्त्री-पुरुषका जरा भी विचार नहीं करता। भगवान्की दयासे मैं ब्रह्मचारी हूँ। पुरुषोंके लिये पुरुष और स्त्रियोंके लिये स्त्री-सदृश हूँ। मुझे देखकर किसीके मनमें विकार नही होता। भगवत्कृपासे मेरे मनमें भी कोई दूषित भाव कभी नहीं आये।'

जहाँ द्वेष-बुद्धि होती है, वहाँ सीधी बात भी उलटी प्रतीत होती है। राजा प्रतापरुद्रने पहलेसे ही जगन्नाथदासको दुराचारी समझ लिया था, अतएव उनके कथनका उलटा अर्थ लगाकर दाँत पीसते हुए राजाने कहा—'माल्रम होता है, तू बड़ा ही दुष्ट है, कैसी बातें गढ़ी हैं? तू पुरुषोंके पास पुरुषरूपमें रहता है और स्त्रियोंके पास जाते ही स्त्रीरूप बन जाता है; बड़ा

सिद्ध है न ? तेरी यही सिद्धि मुझे देखनी है । मुझे भी दिखा तेरा स्त्रीरूप ! यदि न दिखा सका तो याद रख, मैं ब्राह्मण जानकर तुझपर कुछ भी दया नहीं दिखाऊँगा ।' इतना कहकर राजा प्रतापरुद्रने गुस्सेके आवेशमें ही सिपाहियोंसे कहा—'जाओ इस कपटी दुराचारीको ले जाकर हथकड़ी-बेड़ी डालकर कैद-खानेमें बन्द कर दो ।' जगन्नाथदासजीने यह बात कभी नहीं कही थी कि मैं वास्तवमें ही स्त्रीरूप बन जाता हूँ । उनका तो भाव ही दूसरा था; परन्तु राजाको न तो यह बात समझानेका उन्हें अवसर ही मिला और न उन्होंने इस अवस्थामें समझानेकी चेष्टा करनेमें कोई लाभ ही समझा । क्रोधके समय मनुष्य बुद्धि-भ्रष्ट हो जाता है, उस समय उसे कोई समझाना चाहता है तो उसके गुस्सेका पारा और भी ऊपर चढ़ जाता है । अस्तु । प्रतापरुद्र महलोंमें चला गया और सिपाहियोंने जगन्नाथदासजीको बाँधकर कैद-खानेमें ले जाकर बन्द कर दिया ।

प्रेमी भक्तके लिये स्वर्ग-नरक एक-से हैं, वह अपने स्वामीकी रुचि देखकर हर जगह उसको अपने साथ समझता हुआ सदा ही आनन्दमें मग्न रहता है । कहा है—

जो रुचि देखै रामकी, बिहग होहि तत्काल ।
नरक परै दुख सहै पै, सुखी रहै सब काल ॥
स्वर्गौ करै नरकादि, दै, एक-एक सदैं प्रेम ।
प्रीतमके सुखसों सुखी, यही प्रेमको नेम ॥
कहि न जाय मुखसों कछू, श्याम प्रेमकी बात ।
नभ-जल-थल-चर-अचर सब,श्यामहि श्याम लखात ॥

भक्त जगन्नाथ कारागारमें परम आनन्दसे प्रभुका ध्यान करने लगे । वे प्रेममें मतवाले कभी हँसते, कभी रोते, कभी उच्चस्वरसे कीर्तन करते, कभी दोनों हाथ उठाकर नाचते और कभी चुपचाप समाधिस्थ होकर बैठ जाते । एक बार न मालूम उनके मनमें क्या भाव आया, वे करुणाकी याचना करते-करते बड़े ही कातर स्वरमें भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे । उन्होंने कहा—'प्रभो ! राजाने मेरी बातका उलटा अर्थ लगाया है, उसका उलटा अर्थ ही सच होना चाहिये । तुम्हारे यहाँ स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है । और न जीव ही स्त्रीत्व या पुरुषत्व है, यह तो तुम्हारी माया है । इस पुरुष-शरीरको एक बार स्त्री-शरीर बना देना तुम्हारे लिये मामूली खेल है । परन्तु इससे राजाको बहुत विश्वास हो जायगा और तुम्हारे गुणगानमें सुभीता होगा । यदि आपत्ति न हो तो ऐसा कर दो न मेरे मायापति !' प्राणनाथ प्रभुने जगन्नाथदासकी पुकार सुन ली । जग-न्नाथदास प्रार्थना करते-करते बेसुध हो गये । देखते हैं कि स्वयं प्रभु उनके सामने खड़े हैं । जेलकी कोठरी असीम तेजसे देदीप्यमान हो रही है । भगवान्‌ने हँसते हुए अपना भक्तभयहारी करकमल जगन्नाथदासके मस्तकपर रखकर कहा—'वत्स ! तेरी यही इच्छा है तो यही सही, मेरा तो काम ही भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करना है । मेरी अपनी तो कोई इच्छा होती नहीं, भक्तकी इच्छाको ही मैं अपनी इच्छा मान लेता हूँ । देख, अब तेरा शरीर नर-शरीर न रहकर नारी-शरीर हो गया है । अब फिर जब तू पुनः इसको पुरुष-शरीरमें बदलना चाहेगा, तभी यह पुरुष-शरीर बन जायगा ।' भगवान् इतना कहकर अन्तर्धान हो गये । जगन्नाथदासका स्वप्न टूटा । परन्तु स्वप्नकी घटनाको प्रत्यक्ष सत्य देखकर उनके आश्चर्य और आनन्दका पार नहीं रहा । प्रभुकी महिमा और भक्तवत्सलताका विचारकर जगन्नाथदास गद्गद हो गये । कृतज्ञतासे उनका हृदय भर गया । भगवान्‌के करकमलके स्पर्शको स्मरण करके वह अपनेको कृतार्थ समझने लगे । उन्होंने मन-ही-मन कहा—'अहा, जिनके चरणधूलिके स्पर्शसे पत्थरकी अहल्याका उद्धार हो गया, जिनके चरणस्पर्शसे शेषनागका मस्तक विचित्र मणियोंसे विभूषित हो गया, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जिनके चरणोदकको आग्रहपूर्वक मस्तकपर धारण करते हैं, उनके करकमलका स्पर्श मुझे प्राप्त

हो गया ! मेरे सद्भाग्यकी समता आज कौन कर सकता है ?'

भगवान्‌का स्मरण, कीर्तन और प्रार्थना करते-करते रात बीत गयी। सिपाहियोंने दरवाजा खोला। जगन्नाथदास बाहर निकले। परन्तु पुरुषके बदले सुन्दरी स्त्रीको देखकर सिपाही चकित हो गये। जगन्नाथदासने उन्हें आश्चर्यचकित देखकर उनसे कहा—'भाइयो ! मैं वही जगन्नाथदास हूँ जिसको कल रातको तुमलोगोंने कोठरीमें बन्द किया था, प्रभुकी लीला बड़ी विचित्र है, उन्हींकी करुणासे मुझे यह स्त्रीत्व प्राप्त हुआ है। तुम मुझे अभी राजाके पास ले चलो।' सिपाही राजासे पूछकर स्त्रीरूपी जगन्नाथदासको राजमहलमें ले गये। राजा उनकी कमनीय कामिनी-मूर्ति और रमणी-सुलभ अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको देखकर आश्चर्यमें डूब गया। वह विचार करने लगा कि 'क्या बात है ? यह वही जगन्नाथ है या छल करके उसने किसी स्त्रीको भेज दिया है। यदि वास्तवमें वही है तो यह सारी सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिकी महिमा है। मैंने ऐसे भक्तको कैदमें डालकर बड़ा अपराध किया। परन्तु ऐसा क्योंकर हो सकता है ? सम्भव है इसमें कोई चालाकी ही हो।' यों विचारकर और भलीभाँति जाँच कराके राजाने कहा—'तेरा स्त्रीरूप ठीक है, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है। परन्तु तू वही जगन्नाथदास ही है, इस बातका मुझे क्या पता ? सम्भव है, वह किसी तरह जेलसे निकल भागा हो और अपनी जगह तुझे यहाँ भेज दिया हो। अतएव तू अभी मेरे सामने यहीं पुनः अपने पहले पुरुषरूपको प्राप्त हो जाय तो मैं समझूँ कि तेरा स्त्रीरूप ठीक है।'

राजाकी बात सुनकर जगन्नाथदासजीने आँखें मूँदकर प्रभुसे मन-ही-मन प्रार्थना की। तुरन्त ही वस्त्राभूषणसहित उनका स्त्रीरूप अदृश्य हो गया और वही करताल हाथमें लिये जगन्नाथदास हरिकीर्तन करने लगे। राजासहित सारा-का-सारा राजपरिवार और राजसभाके उपस्थित सदस्यगण आश्चर्यचकित हो गये। राजाने चरणोंमें प्रणामकर अपराधके लिये क्षमा-याचना की और भलीभाँति आदर-सत्कार करके कहा—'भक्तचूडामणि ! यदि आपने मेरा अपराध क्षमा कर दिया हो तो उसके प्रमाणस्वरूप आप मुझे भागवत-सङ्गीत सुनाकर मेरे कानों और मनको पवित्र कीजिये और मुझे पापसमूहसे छुड़ाइये।'

भक्त तो स्वभावसे ही क्षमाशील और शान्त होते हैं, उन्होंने राजाको सान्त्वना देकर भागवत सुनाना आरम्भ किया। सारी राजसभा उनके भागवतका गान सुनकर मुग्ध हो गयी। राजा प्रतापरुद्रका हृदय प्रेमसे द्रवित हो गया। कथा समाप्त होनेपर राजाने पुनः प्रणाम करके कहा—'प्रभो ! मैं आज आपकी शरण हूँ, मुझपर दया कीजिये और अपना शिष्य स्वीकार कीजिये।' तदनन्तर चन्दार्क नामक स्थानमें उनके लिये एक कुटिया बना दी गयी।

जगन्नाथदासजी हरिगुण गाते-गाते चले गये। इधर राजाने उन दुष्ट-बुद्धि साधुनिन्दक दुष्टोंको बुलाकर उन्हें यथोचित दण्ड दिया।

महान् भक्त जगन्नाथदासको नश्वर शरीर त्यागकर प्रभुकी परम सेवामें पधारे आज चार सौ वर्षसे ऊपर हो गये, परन्तु आज भी श्रीजगन्नाथपुरीमें समुद्र-तीरपर श्रीहरिदास ठाकुरकी समाधिके समीप ही उनका समाधि-मन्दिर विद्यमान है। आज भी उनके द्वारा रचित भागवत-ग्रन्थ उड़ीसानिवासियोंके घर-घरमें देवताकी भाँति पूजित हो रहा है। लोग गुरु-मन्त्रकी भाँति उसका स्वाध्याय करते हैं, पढ़ते हैं और परम भक्तिभावसे उसकी व्याख्या की जाती है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

विरह-गति

ख्वाबमें जिस वक़्तसे, तस्वीर पाई आपकी ।
ऐ सनम ! हर दम तभीसे, याद आई आपकी ॥
आप हैं किस देशवासी, आपका क्या नाम है ?
आपसे मिलनेको मैंने, क़सम खाई आपकी ॥
सूझता कुछ भी नहीं है, बूझता कुछ भी नहीं ।
इस प्रानके चारों तरफ़, सूरत समाई आपकी ॥
मोर-पंखोंकी झलकमें, कोकिलाके कंठमें ।
दीख पड़ती है मुझे, बस, श्यामताई आपकी ॥
रातभर आकाशवाला, साँवलापन देखता ।
पवन मानो मंद गतिसे, ख़बर लाई आपकी ॥
रात आधी है अँधेरी, कृष्ण-पक्ष विराजता ।
अति दूरसे आवाज़-सी, देती सुनाई आपकी ॥
घनश्याम प्यारे तुम कहाँ, जो प्राणप्रिय हो 'नयन' के ।
जोत अब हर जीवमें, देती दिखाई आपकी ॥

—नयनजी

प्रियतमकी झाँकी

(लेखक—श्रीनृसिंहदासजी वर्मा 'तालिब')

जिधर नज़र डाली उधर तू ही तू है,
तेरी चर्चा प्यारे सनम कू बकू है ।
दरिन्दे परिन्दे चरिन्दे यह सारे,
यही गीत गाते के तू ख़ूबरू है ॥
तेरे हमदकी बाँसुरी सारे फुक़रा,
बजाते व गाते के तू माहरू है ।
क़मर शम्स सारे सितारे सैयारे,
दरस हमको देते के तू हूबहू है ॥
पहाड़ों व नदियों दरख़्तोंने सबने,
अलापा यह गाना के तू ख़ुश गलू है ।
न तेरा सा ग़म्ज़ा न तेरा-सा नख़रा,
कहीं देखने सुननेमें सुर्ख़रू है ॥
यही मेरी है इल्तजा बन्दापरवर,
हो विर्दे ज़ुबाँ यह के सब तू ही तू है ।
जहाँ नज़र जाये तू ही नज़र आये,
हर इक लम्हा समझूँ के तू रूबरू है ॥
मक़ाबे हुई तुझमें मुझमें जो हायल,
उठे यह उठे और दुईकी जो बू है ।
तेरा नूर ही ज़र्रे ज़र्रेमें देखूँ,
तजैयल हो उन्क़ा के तू तुर्श रू है ॥
पिला दे ऐ साक़ी मये अर्ग़वानी,
के बेहोश होके बकूँ तू ही तू है ।
हुआ जो भी मख़मूर इस जामे मै से,
क़ल्बमें बसा उसके तू शम्सरू है ॥
जिस्ममें क़ल्बमें अक़्लमें नज़रमें,
बसी सबमें तेरी वह भीनी सी बू है ।
फ़रशसे अरश तक मलायक मलक तक,
बुख़ारा बलख़ तक तू ही एक तू है ॥
हिमालाकी चोटी पै है ज़ात तेरी,
तहे-फ़र्श भी बस तू ही हूबहू है ।
तू ही मारमें नेश हो करके रहता,
तशद्दुदमें ज़ालिमके तू उसकी ख़ू है ॥
ख़ुदा बाद आतिशमें आब और ज़मींमें,
नबी और पैग़म्बरमें तू मू बमू है ।
न था कुछ सिवा तेरे है 'औ न होगा,'
है वाहिद तू गर चे बना नूह बनूह है ॥
दुआ फक्त 'तालिब' की है यह करीमा,
के सूझे यह हर वक़्त तू सू बसू है ।

श्रीभगवन्नाम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

राम-नाम-मनि-दीप धरु जीह-देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरौ जो चाहसि उजियार ॥
राम-नाम नर-केसरी कनककसिपु कलिकाल ।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालहिं दलि सुरसाल ॥
रसना साँपिनि बदन बिल जे न जपहिं हरिनाम ।
तुलसी प्रेम न रामसों ताहि बिधाता बाम ॥

चारों ही युगोंमें श्रीभगवन्नामका माहात्म्य असीम है परन्तु कलियुगमें तो जीवके उद्धारके लिये श्रीभगवन्नामके सिवा और कोई सहज उपाय ही नहीं है। त्रिकालदर्शी दयालु ऋषि-मुनियोंने निर्णय करके यही व्यवस्था की है कि कलियुगमें जो मनुष्य श्रीभगवन्नामका आश्रय लेगा, वह अनायास संसारसागरसे तर जायगा। भगवत्कृपासे कल्याणमें श्रीभगवन्नामपर कुछ-न-कुछ लिखा ही जाता है। इससे कल्याणके पाठक-पाठिका श्रीभगवन्नामके माहात्म्यके सम्बन्धमें यत्किञ्चित् परिचित हैं। वास्तवमें तो श्रीभगवान्‌के नामका माहात्म्य वाणीसे कोई कह ही नहीं सकता । भुक्ति, मुक्ति तथा भगवत्प्रेम, जो चाहे वही वस्तु मनुष्य श्रीभगवन्नामके प्रतापसे प्राप्त कर सकता है। इसी हेतु प्रतिवर्ष ढाई महीनेके लिये 'कल्याण' के प्रिय पाठक-पाठिकाओंसे नाम जपने-जपानेकी प्रार्थना की जाती है।

गतवर्ष कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी १५ तक ढाई महीनेमें उपर्युक्त १६ नामोंके दस करोड़ मन्त्रजप करने-करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी और आनन्दका विषय है कि दस करोड़की जगह पाठक-पाठिकाओंके परिश्रम और उत्साहसे लगभग तीस करोड़ मन्त्रजप हो गया।

इस वर्ष फिर उसी प्रकार दश करोड़ मन्त्रजपके लिये विनीत प्रार्थना की जाती है। इस बार कल्याणके प्रेमी भगवत्-रसिक पाठक-पाठिकाओंसे विशेष उत्साह दिखलानेके लिये विनयपूर्वक निवेदन किया जाता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! मनुष्योंमें वे मनुष्य निश्चय ही भाग्यवान और कृतार्थ हैं जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं। इस कलियुगमें सब दोष-ही-दोष भरे हैं, परन्तु एक महान् गुण यह है कि श्री 'कृष्ण' के नामकीर्तनसे ही मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें भगवान्‌के ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें उपासना करनेसे जो गति मिलती है वही कलियुगमें केवल श्रीहरिके नाम-कीर्तनसे मिलती है। इन वाक्योंका महत्व समझकर समस्त भाई-बहिन इस बार विशेष उत्साहसे प्रयत्न करें, यह प्रार्थना है। नियमादि वही है।

यह कोई नियम नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल बिछौनेसे उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गणना की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी अनिवार्य कारणवश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे कहकर जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा प्रबन्ध न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। एक बात याद रखनी चाहिये कि पैसा या वृत्ति देकर किसी दूसरेसे जप नहीं करवाना चाहिये।

जो करे सो स्वयं आप ही करे। किसी अनिवार्य कारणवश जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और वहाँ सूचना भी न भेजी जा सके तो कोई आपत्ति नहीं। निष्काम भावसे भगवान्के नामका जप जितना भी किया जाय उतना ही उत्तम है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण' के प्रेमी पाठक और पाठिकाएँ अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको कृपापूर्वक इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१-किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२-सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३-प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४-सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी कोई आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५-संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। एक मन्त्रमें सोलह नाम हैं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या १०८ होती है। जिसमेंसे भूल चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देने पर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करें उस दिनसे फाल्गुन सुदी १५ तकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोडकर सूचना भेजनी चाहिये।

६-संस्कृत, हिन्दी, मारवाडी, मराठी, गुजराती, बङ्गला, अंग्रेजी और उर्दू में सूचना भेजी जा सकती है।

७-सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप विभाग
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

कवियोंसे क्षमा-याचना और प्रार्थना

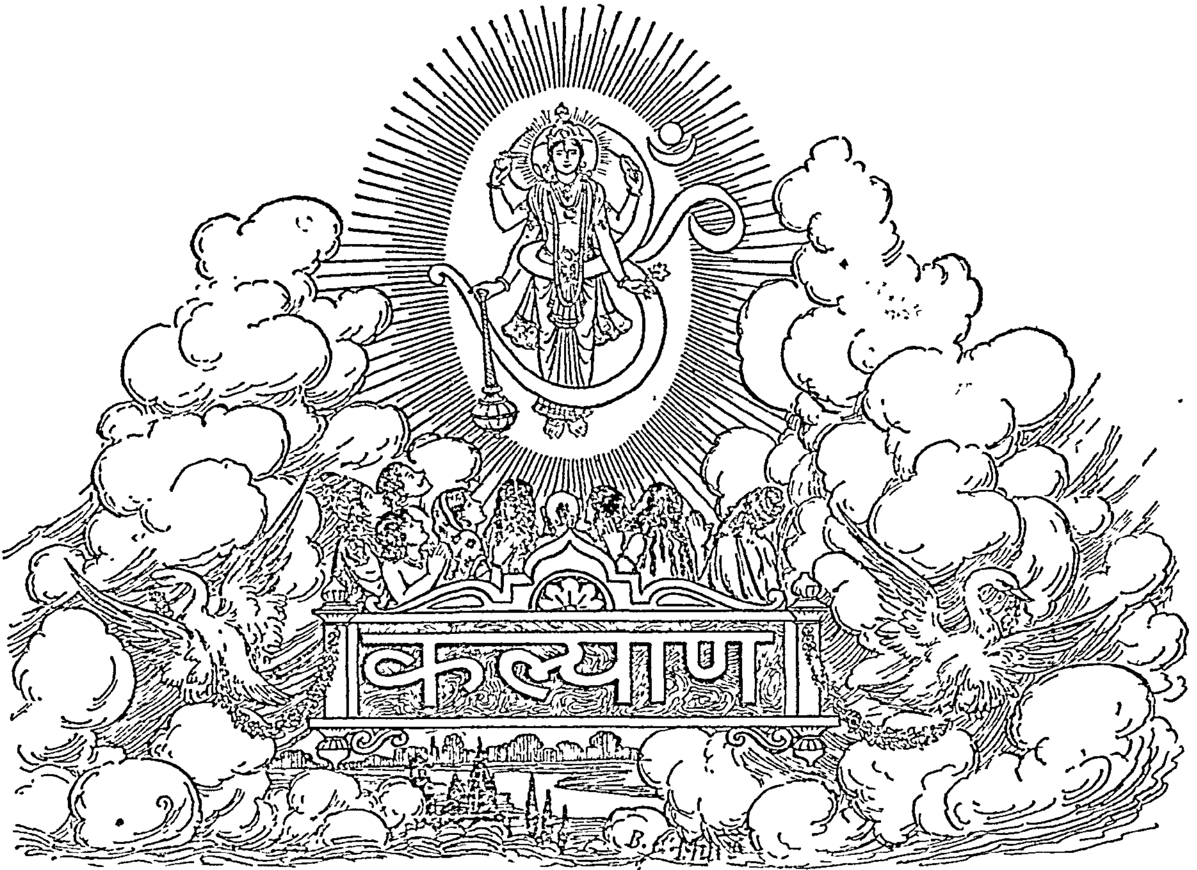
'कल्याण' पर लेखकों और कवियोंकी बडी कृपा है, वे बिना ही माँगे लेख और कविताएँ भेजनेकी कृपा किया करते हैं। कविताएँ तो प्रायः प्रतिदिन ही पाँच चार आ जाती हैं, इस कृपाके लिये मैं सब का कृतज्ञ हूँ। कविता भेजनेवाले महानुभाव कृपा करते हैं और अपने-अपने भावके अनुसार शक्तिभर अच्छी-से-अच्छी रचना ही भेजते हैं और उनका यह आशा और आशा करना भी अनुचित नहीं है कि उनकी रचना कल्याणमें अवश्य छपे। परन्तु मैं अपनी असमर्थताके कारण उनके हृदयमें दुःख पहुँचानेका कारण बनता हूँ, यह मेरे लिये बडे खेदकी बात है। इस समय मेरे पास इतनी कविताएँ आयी हुई हैं कि लगातार सालभरतक कल्याणमें केवल कविताएँ ही छापी जायँ तो भी शायद सब नहीं छप सकतीं। ऐसी स्थितिमें मुझे सबकी रचनाएँ न छापनेके लिये बाध्य होना पडता है। कविगण इसके लिये मुझपर क्षमा करेंगे। कविताएँ प्रतिदिन आती हैं, समय और डाकव्ययके संकोचसे सबकी पहुँच *लिखना* भी कठिन है। फिर, ताकीदके पत्र आते रहते हैं उनका भी उत्तर नहीं दिया जा सकता, न सबकी रचनाएँ लौटायी ही जा सकती हैं, इस अपराधके लिये भी मैं क्षमा चाहता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि बिना माँगे कवि महोदयगण कृपापूर्वक कविता अभी नहीं भेजें तो कार्यसम्पादनमें सुभीता हो और मेरे रूखे व्यवहारसे उन्हें कष्ट भी नहीं पहुँचे। आशा है मेरी प्रार्थनापर कुछ ध्यान दिया जायगा।

विनीत
सम्पादक



तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नरनारी। भंजेउ राम शंभुधनु भारी॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, माघ १९८९ फरवरी १९३३ | संख्या ७ / पूर्ण संख्या ७९

अबके माधव मोहि उधारि ।
मगन हौं भव-अंबु-निधिमें कृपासिन्धु मुरारि ॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग ।
लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग ॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट सिर अघ-भार ।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेंवार ॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देत तियसुत नाम-नौका ओर ॥
थक्यो बीच बिहाल बिह्वल सुनहु करुनामूल ।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु सूर ब्रजके कूल ॥

—सूरदासजी

सांख्ययोग और कर्मयोगकी एकता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

गीता अध्याय ५ श्लोक ५ में भगवान् कहते हैं—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है निष्काम कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगको एक देखता है वही यथार्थ देखता है। परन्तु इस विषयमें यह शंका होती है कि यहाँ भगवान् सांख्य और योगके फलको एक कहते हैं या दोनोंका सिद्धान्त ही एक बतलाते हैं। यदि फल एक कहते हैं तो सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेसे फल एक कैसे हो सकता है और यदि दोनोंका सिद्धान्त ही एक कहा जाय तो उचित नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि योग और सांख्यके सिद्धान्तमें परस्पर बड़ा अन्तर है।

योगके सिद्धान्तमें फलासक्तिको त्यागकर मनुष्य ईश्वरके लिये कर्म करता है तो भी उसमें कर्तापनका अभिमान तो रहता ही है।

सांख्यके सिद्धान्तसे कर्मका कर्ता मनुष्य नहीं है, उसके द्वारा कर्म होते हैं तो भी उन कर्मोंमें उस पुरुषका अभिमान नहीं रहता, वह तो केवल साक्षीमात्र ही रहता है।

कर्मयोगी अपनेको, ईश्वरको तथा कार्यसहित प्रकृतिको पृथक्-पृथक् तीन सत्य पदार्थ मानता है। परन्तु सांख्ययोगी ईश्वरकी सत्ताको अपनेसे अलग नहीं मानता, केवल एक आत्म-सत्ता ही है ऐसे मानता है तथा विकारसहित प्रकृतिको अन्तवन्त यानी नाशवान मानता है। अतएव दोनोंका सिद्धान्त भिन्न भिन्न प्रतीत होता है, फिर सांख्य और योगको यहाँ किस विषयमें एक बतलाया गया है?

उपर्युक्त शंकाका उत्तर यह है—

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
(गीता ५।४)

सांख्य और योग इन दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकारसे स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है। परमात्माकी प्राप्तिरूप फल दोनोंका एक ही है। परमधाम, परमपद और परमगतिकी प्राप्ति भी इसीको कहते हैं।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि सांख्य और योग इन दोनों साधनोंका फल एक होनेके कारण इन्हें एक कहा है। फल एक होनेसे सिद्धान्त भी एक ही होना चाहिये, यह ठीक है परन्तु यह कोई नियम नहीं है। मार्ग (साधन) और लक्ष्य (सिद्धान्त) भिन्न भिन्न भी हो सकते हैं।

जैसे एक ही ग्रामको जानेके लिये अनेक रास्ते होते हैं, किसी रास्तेसे जाइये, परिणाम सबका एक ही होता है। जैसे किसी एक देशको जानेवालोंमें एक तो अपनी दिशासे पश्चिम-ही-पश्चिम जाता है और दूसरा पूर्व-ही-पूर्व जाता है किन्तु चलते-चलते अन्तमें दोनों ही वहाँ पहुँच जाते हैं। रास्ता भिन्न भिन्न होनेके कारण परस्पर एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर मालूम होता है परन्तु उस देशके समीप पहुँचनेपर वह अन्तर नहीं रहता।

इसप्रकार एक ग्रामको जानेके लिये जैसे अनेक मार्ग होते हैं, वैसे ही एक कार्यकी सिद्धिके लिये सिद्धान्त भी अनेक हो सकते हैं। जैसे सूर्य और चन्द्र-ग्रहणको सिद्ध करनेवाले पुरुषोंमें एक पक्ष तो यह कहता है कि पृथिवी स्थिर है सूर्य और चन्द्रमा चलते हैं और दूसरा कहता है कि पृथिवी भी चलती है। दोनों-

का सिद्धान्त भिन्न-भिन्न होनेके कारण एकसे दूसरेका बड़ा अन्तर है किन्तु फल दोनोंका एक होता है।

इसलिये साधन और सिद्धान्तकी अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी दोनोंका उद्देश्य और परिणाम एक ईश्वर-की प्राप्ति होनेसे वह एक ही है। जिसका परिणाम ईश्वरकी प्राप्ति नहीं है, वह सिद्धान्त तो वास्तवमें सिद्धान्त ही नहीं है।

अब सांख्य* और कर्मयोग† की एकताके विषयमें लिखा जाता है। उपासना दोनों ही साधनोंमें रहती है। उपासनारहित ज्ञान और कर्मयोग वैसे ही शुष्क हैं, जैसे बिना जलके नदी।

गीताके अनुसार सांख्ययोगीके सिद्धान्तमें विज्ञाना-नन्दघन केवल एक आत्मतत्त्व ही अनादि, नित्य और सत्य है। उस विज्ञानानन्दघनके संकल्पके आधारपर एक अंशमें संसारकी प्रतीति होती है जैसे निर्मल आकाशके किसी एक अंशमें बादलकी। इसलिये सांख्ययोगी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर शोक, भय, राग-द्वेष, ममता, अहंकार और परिग्रहसे रहित हुआ पवित्र और एकान्तदेशका सेवन करता है। एवं मन, वाणी तथा शरीरको वशमें किये हुए, सम्पूर्ण भूतोंमें समभाव होकर आत्मतत्त्वका विवेचन करता हुआ प्रशान्त-चित्तसे परमात्माके स्वरूपका एकीभावसे इसप्रकार ध्यान करता है कि एक आनन्दघन विज्ञान-स्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है। उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उस ब्रह्मका ज्ञान भी उस ब्रह्मको ही है। वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है, उसका कभी अभाव नहीं होता। इसलिये उसे सत्य, सनातन और नित्य कहते हैं। वह सीमारहित, अपार और अनन्त है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, द्रष्टा, दृश्य, दर्शन आदि जो भी कुछ है, सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। वास्तवमें एक पूर्णब्रह्म परमात्माके सिवा अन्य कोई भी वस्तु नहीं है।

*-† गीतोक्त सांख्य और कर्मयोगको महर्षि कपिल-प्रणीत सांख्यदर्शनसे तथा महर्षि पतञ्जलिप्रणीत योगदर्शन-से भिन्न समझना चाहिये।

वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा 'पूर्ण-आनन्द' 'अपार-आनन्द' 'शान्त-आनन्द' 'घन-आनन्द' 'बोध-स्वरूप-आनन्द' 'ज्ञानस्वरूप-आनन्द' 'परम-आनन्द' 'नित्य-आनन्द' 'सत्-आनन्द' 'चेतन-आनन्द' 'आनन्द-ही-आनन्द' है। एक 'आनन्द' के सिवा और कुछ भी नहीं है। इसप्रकार मनन करते-करते जब मनके समस्त संकल्प उस परमात्मामें विलीन हो जाते हैं, जब एक बोधस्वरूप, आनन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीके भी अस्तित्वका संकल्प ही नहीं रहता, तब उसकी स्थिति उस आनन्दमय अचिन्त्य परमात्मामें निश्चल हो जाती है। इसप्रकारसे ध्यानका नित्य नियमपूर्वक अभ्यास करते-करते साधन परिपक्व होने-पर जब साधकके ज्ञानमें उसकी अपनी तथा इस संसारकी सत्ता ब्रह्मसे भिन्न नहीं रहती, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी कुछ एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप बन जाते हैं, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

सांख्ययोगी व्यवहार-कालमें चौबीस तत्त्वोंवाले* क्षेत्रको जड़, विकारी, नाशवान् और अनित्य समझता है और सम्पूर्ण क्रिया—कर्मोंको प्रकृतिके कार्यरूप

* महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
(गीता १३।५)

पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव; अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

उस क्षेत्रसे ही किये हुए समझता है अर्थात् इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इसप्रकार समझता है। एवं नित्य, चेतन, अविनाशी आत्माको निर्विकार, अकर्ता तथा शरीरसे विलक्षण समझता है। यों समझकर वह सांख्ययोगी मन, इन्द्रिय और शरीर-द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर कर्म करता हुआ भी कर्मोंद्वारा नहीं बँधता।

वह सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको केवल एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है और उस परमात्माके सङ्कल्पसे सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्तिके विस्तार-को देखता है। इसप्रकार अभ्यास करते-करते अभ्यास-के परिपक्व होनेसे वह ब्रह्मको एकीभावसे प्राप्त हो जाता है। यानी वह उस ब्रह्मको तद्रूपतासे प्राप्त हो जाता है। जैसे गीतामें भगवान्ने कहा है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥
(५ । १७)

हे अर्जुन! तद्रूप है बुद्धि जिनकी, तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानद्वारा पापरहित हुए अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।

ब्रह्मको प्राप्त होनेके बाद पुरुषकी जो स्थिति होती है, उसके विषयमें कुछ भी लिखना वस्तुतः बड़ा ही कठिन है। तथापि साधु, महात्मा और शास्त्रोंके द्वारा यत्किञ्चित् जो कुछ समझमें आया है, वह पाठकोंकी जानकारीके लिये लिखा जाता है। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करें।

जैसे मनुष्य, बादलोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण, प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् आकाशके खण्डोंको बादलोंके नाश हो जानेपर उस एक अनन्त निर्मल महाकाशके अन्तर ही देखता है अर्थात् केवल एक अनन्त निर्मल आकाशके अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा मायासे उत्पन्न हुए शरीरोंके पृथक्-पृथक् विकारके कारण अज्ञानसे प्रतीत होनेवाले भूतों (जीवों) के पृथक्-पृथक् भावोंको अज्ञानके नाश हो जानेपर उन जीवोंकी नाना सत्ता-को केवल उस एक अनन्त, नित्य-विज्ञानानन्दघन परमात्माके अन्तर ही देखता है अर्थात् वह केवल एक *विशुद्ध, नित्य, विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके सिवा और कुछ* भी नहीं देखता। यद्यपि उस ज्ञानीके लिये संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है तो भी प्रारब्धके कारण उसके अन्तःकरणमें संसारकी प्रतीतिमात्र होती भी है।

जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी सृष्टिका उपादान-कारण और निमित्त-कारण अपने आपको ही देखता है, वैसे ही वह सम्पूर्ण चराचर भूत-प्राणियोंका उपादान-कारण* और निमित्त-कारण† केवल विज्ञानानन्दघन ब्रह्मको ही देखता है, क्योंकि जब एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं रहती, तब वह उस ब्रह्मसे भिन्न किसको कैसे देखे? यही उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति है। इसीको परमपद, परमधाम और परमगतिकी प्राप्ति भी कहते हैं।

गीताके अनुसार कर्मयोगके सिद्धान्तमें प्रकृति यानी माया, जीवात्मा और परमेश्वर यह तीन पदार्थ माने गये हैं। सातवें अध्यायमें भगवान्ने मायाके विस्तारको

* उपादान-कारण उसे कहते हैं, जिससे कार्यकी उत्पत्ति होती है। जैसे घड़ेका उपादान-कारण मिट्टी और आभूषणोंका सुवर्ण है।

† निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुका निर्माण होता है। जैसे घड़ेका निमित्त-कारण कुम्हार और आभूषणोंका सुनार।

अपरा प्रकृति, जीवात्माको परा और परमेश्वरको अहंके नामसे वर्णन किया है। पन्द्रहवें अध्यायमें इन्हीं तीनों पदार्थोंको क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके नामसे कहा है। वे सर्वशक्तिमान्, सबके कर्ता-हर्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर उस नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं * यानी विज्ञानानन्दघन ब्रह्म भी वही हैं। उन्होंने ही अपनी योगमायाके एक अंशसे सम्पूर्ण संसारको अपनेमें धारण कर रक्खा है। † माया ईश्वरकी शक्ति है तथा जड़, अनित्य और विकारी है एवं ईश्वरके आधीन है तथा जीवात्मा भी ईश्वरका अंश होनेके कारण नित्य विज्ञानानन्दघन-स्वरूप है। ‡ किन्तु मायामें स्थित होनेके कारण परवश हुआ वह गुण और कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिको भोगता एवं जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है। परन्तु परमात्माकी शरण होनेसे वह मायासे छुटकारा पाकर परमपदको प्राप्त हो सकता है। गी० अ० ७ श्लो० १४ में कहा है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।

इसलिये कर्मयोगी पवित्र और एकान्त स्थानमें स्थित होकर शरीर, इन्द्रिय और मनको स्वाधीन किये हुए परमात्माकी शरण हुआ प्रशान्त और एकाग्र मनसे श्रद्धा और प्रेमपूर्वक परमात्माका ध्यान करता है, ऐसे योगीकी भगवान्‌ने स्वयं प्रशंसा की है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(गीता ६। ४७)

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

कर्मयोगी कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे भगवदाज्ञानुसार, भगवदर्थ कर्म करता है, इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। क्योंकि राग-द्वेष ही बाँधनेवाले हैं। समत्वबुद्धि होनेसे राग-द्वेषका नाश हो जाता है। इसलिये उसको कर्म नहीं बाँध सकते। ऐसे योगीकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् कहते हैं कि 'उसको नित्य-संन्यासी जानना चाहिये।'

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥
(गीता ५। ३)

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार-रूप बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

भगवत्‌की आज्ञासे भगवदर्थ कर्म किये जानेके कारण उसमें कर्तापनका अभिमान भी निरभिमानके समान ही है। इसलिये वह निष्काम कर्मयोगी व्यवहारकालमें भगवान्‌की शरण होकर निरन्तर

---

* ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(गीता १४। २७)

† विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥
(गीता १०। ४२)

‡ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
(गीता १५। ७)

इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है।
ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥

भगवान्‌को याद रखता हुआ भगवान्‌की आज्ञानुसार सम्पूर्ण कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही करता है, जैसे गीता अ० १८ श्लोक ५६-५७ में भगवान्‌ने कहा है—

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

इसलिये हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मेरे अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

इसप्रकार अभ्यास करते-करते जब भगवान्‌की कृपासे उनके प्रभावको समझ जाता है तब वह सब प्रकारसे नित्य निरन्तर भगवान् वासुदेवको ही भजता है। जैसे गीतामें कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥
(१५।१९)

हे भारत! इसप्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

फिर उसको भजनके प्रभावसे सर्वत्र एक वासुदेव ही दीखता है। इसलिये वह वासुदेवसे कभी अलग नहीं हो सकता।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(गीता ६।३०)

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

इससे वह भगवान् वासुदेवको ही प्राप्त हो जाता है और उसके लिये यह सम्पूर्ण संसार भी वासुदेवके रूपमें परिणत हो जाता है। एक वासुदेवके सिवा कोई भी वस्तु नहीं रहती। वहाँ मायाका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

भक्ति, भक्त, भगवन्त सब एक ही रूपमें परिणत हो जाते हैं। इसलिये उस भक्तकी भगवान्‌से कोई अलग सत्ता नहीं रहती। तद्रूपतासे उस परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

इन शब्दोंसे जो सांख्ययोगके द्वारा साधन करनेवाले ज्ञानीको प्राप्त होनेयोग्य परमधाम बतलाया गया है, भगवान्‌की कृपासे वही परमधाम निष्काम कर्मयोगके साधन करनेवाले भक्तको प्राप्त होता है।

उसी महात्माकी प्रशंसा करते हुए भगवान् कहते हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७।१९)

जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इसप्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।

परन्तु कोई-कोई भक्त अविद्याके नाश होनेपर भी भगवान्‌के रहस्यको जानता हुआ प्रेमके सामने मुक्तिको तुच्छ समझता है और वह भगवान्‌को सेव्य और अपनेको सेवक या सखा समझकर भगवान्‌के प्रेमरसका पान करता है, उसके लिये भगवान्‌की माया लीलाके रूपमें परिणत हो जाती है। इसलिये वह पुरुष

भगवान्‌में तद्रूपताको न प्राप्त होकर भगवान्‌की कृपासे दिव्य देहको धारण करके अर्चिमार्गके द्वारा स्थान-विशेष भगवान्‌के परम दिव्य नित्यधामको प्राप्त होता है, वहाँ उस लीलामय भगवान्‌के साथ लीला करता हुआ नित्य प्रेममय अमृतका पान करता है; फिर दुःखके आलय इस अनित्य पुनर्जन्मको वह प्राप्त नहीं होता ।

साधनकी परिपक्व अवस्था होनेसे दोनोंके ही राग-द्वेष, अहंता-ममता, भय एवं अज्ञान आदि विकार नाश हो जाते हैं । और वे तेज, क्षमा, धृति, शौच, सन्तोष, समता, शान्ति, सत्यता और दया आदि गुणोंसे सम्पन्न हो जाते हैं ।

सांख्ययोगीका कर्मोंमें कर्तृत्व-अभिमान न रहनेके कारण कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता और कर्मयोगी फलासक्तिको त्यागकर कर्मोंको ईश्वर-अर्पण कर देता है, इसलिये उसका कर्मोंसे सम्बन्ध नहीं रहता । सांख्ययोगी संसारका बाध करके विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपकी स्थापना करता है और निष्काम कर्मयोगी प्रकृतिसहित संसारको और अपने आपको भी परमात्माके स्वरूपमें परिणत कर देता है । फलतः बात एक ही है । इसीलिये भगवान्‌ने सांख्य और योगको फलमें एकता होनेके कारण एक कहा है ।

उपसंहार

परमात्माकी प्राप्तिका यह विषय इतना गहन है कि इसे लिखकर समझाना असम्भव है, क्योंकि यह वाणीका विषय ही नहीं है । यह परम गोपनीय रहस्य है, और सम्पूर्ण साधनोंका फल है । जो इसको प्राप्त होता है वही इसको जानता है परन्तु इसप्रकार भी कहना नहीं बनता । जो भी कुछ कहा जाता है या समझा जाता है उससे वह विलक्षण ही रह जाता है। जाननेवाले ही उसको जानते हैं और जाननेवालोंसे ही जाना जा सकता है । अतएव जाननेवालोंसे जानना चाहिये । श्रुति कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥
(कठोपनिषद्)

उठो, जागो और महापुरुषोंके समीप जाकर उनके द्वारा तत्त्वज्ञानके रहस्यको समझो । कविगण इसे तीक्ष्ण क्षुरके धारके समान अत्यन्त कठिन मार्ग बताते हैं । परन्तु कठिन मानकर हताश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं । क्योंकि भगवान्‌में चित्त लगानेसे मनुष्य सारी कठिनाइयोंसे अनायास ही तर जाता है । गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझको स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ । यानी सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।

किन्तु बिना प्रेमके निरन्तर चिन्तन नहीं होता और बिना श्रद्धा प्रेम होना कठिन है तथा वह श्रद्धा महान् पुरुषोंके द्वारा भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यको समझनेसे होती है ।

इसलिये महान् पुरुषोंका सङ्ग करके परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रेम बढ़ाना चाहिये *। जिनकी परमेश्वरमें श्रद्धा और प्रीति नहीं है उन्हींके लिये सब कठिनाइयाँ हैं ।

---

* संसारमें जो सबसे उत्तम सदाचारी, त्यागी, ज्ञानी, महात्मा दीखें, उन्हींके पास जाकर उनकी आज्ञानुसार साधनमें तत्परताके साथ लग जायँ ।

विवाह-संस्कार

नवयुवकोंसे अपील

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)



विवाहमें कन्याके पितासे द्रव्य लेकर वरका विवाह करना केवल सामाजिक कुप्रथा ही नहीं है, किन्तु धर्म-ध्वंसकारी कार्य है । षोडश संस्कारोंमें विवाह भी उपनयनके समान एक मुख्य संस्कार है। कन्याके निमित्त विवाह ही उसका उपनयन है, जिसमें पति उसका आचार्य है। विवाह-संस्कारके उत्तम रीतिसे सम्पादन होनेसे उत्तम सन्तति उत्पन्न होती है और इस संस्कारको बिगाड़नेसे खराब सन्तति होती है। मनुका वचन है—

अनिन्दितैः स्त्रीविवाहैरनिन्द्या भवति प्रजा ।
निन्दितैर्निन्दिता नृणां तस्मान्निन्द्यान्विवर्जयेत् ॥

(मनु० ३ । ४२)

प्रशस्त विवाहके द्वारा उत्पन्न सन्तान अच्छी होती है । निन्दित विवाहसे निन्दित सन्तानका जन्म होता है अतएव निन्द्य विवाह न करे। कुमारी कन्या शास्त्रके अनुसार स्वयं श्रीजगन्माता देवीकी प्रतिरूपा हैं, जिसकी पूजासे श्रीभगवती शीघ्र प्रसन्न होती हैं। स्मृतिमें कन्याको रत्न कहा है, पूर्वकालमें कन्याके पिताके पास जाकर वरके पक्षवाले कन्याके विवाहकी याचना करते थे और एक या दो जोड़े गाय-बैल कन्याके पिताको देते थे जो आर्ष-विवाह समझा जाता था । इस आर्ष-विवाहद्वारा कन्याके पिताको प्रसन्न करके कन्याग्रहण करनेसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वह तीन पितृ आदि और तीन पुत्र-पुरुखोंको तारता है (मनु० ३ । ३८) । इस कारण विवाहमें कन्याके पितासे द्रव्य लेनेसे वह विवाह-संस्कार न होकर वैसी ही खरीद-बिक्री हो जाती है जैसा कि घोड़े-बैल खरीदे जाते हैं । जिसप्रकार द्रव्य देकर कन्याका विवाह करना आसुरी-विवाह है (मनु० ३ । ३१), उसी प्रकार वरके पक्षवाले यदि कन्याके पक्षसे रुपये लेकर विवाह करते हैं तो वह भी आसुर-विवाह है । मनुका वचन है—

इतरेषु तु शिष्टेषु नृशंसानृतवादिनः ।
जायन्ते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः ॥

(मनु० ३ । ४१)

ब्राह्म आदि चार विवाहोंके अतिरिक्त आसुर आदि चार हीन विवाहोंसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं, वे निर्दय, मिथ्यावादी, वेदनिन्दक और धर्म-द्वेषी होते हैं। शास्त्रके अनुसार कन्यादानमें तो कोई खर्च ही नहीं होना चाहिये। मनुका वचन है —

अद्भिरेव द्विजाग्र्याणां कन्यादानं विशिष्यते ।
इतरेषां तु वर्णानामितरेतरकाम्यया ॥

(मनु० ३ । ३५)

ब्राह्मणोंको जलसे कन्यादान करना प्रशस्त है। क्षत्रियादि तीन वर्णोंमें जलके बिना भी दाता-ग्रहीताके वचनमात्रसे कन्यादान हो सकता है। कन्यारत्नके, जो साक्षात् देवी हैं, विवाहके निमित्त रुपया माँगना मानो साक्षात् जगन्माताका अपमान करना है । हिन्दू-जातिके वर्तमान अधःपतनके कारणोंमें एक मुख्य कारण विवाह-संस्कारको रुपयोंके लेन-देनद्वारा भ्रष्ट कर देना भी है । इस कारणसे उत्तम सन्तति उत्पन्न नहीं होती और इस शक्तिके अपमानके कारण ही हमलोग यथार्थमें शक्ति-हीन हो गये हैं । अतएव धर्म और संस्कारकी रक्षाके निमित्त यह परमावश्यक है कि हमलोग प्रण करें कि विवाहमें रुपयेकी माँगको, जो पाप है, एकदम त्याग कर देंगे और सब प्रकारके व्यर्थ व्ययका भी त्याग करेंगे तथा धूम-धामको भी छोड़ेंगे । हमारे अविवाहित नवयुवकोंको दृढ शपथ करनी चाहिये कि वे घोड़े-बैलके समान विवाहके निमित्त द्रव्य लेकर नहीं बिकेंगे और कन्या-पक्षसे बिना कुछ भी द्रव्य लिये कन्यारत्नको ग्रहण करेंगे और इसप्रकार विवाह-संस्कारको पुनरुज्जीवितकर धर्म और समाजका कल्याण करेंगे । इस ठहरौनी अथवा तिलककी कुप्रथाकी, जो महा अनर्थका कारण है, सर्वथा इतिश्री कर देंगे ।

धर्मका सनातन आदर्श

प्रवृत्ति और निवृत्तिधर्मका स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्टसंस्कृत-कालेज, काशी)

[गतांकसे आगे]

जिज्ञासु—ये सब बातें तो हुईं । अब प्रस्तावित विषयमें मेरे सन्देहको दूर करके मुझे कृतार्थ करें ।

वक्ता—वत्स ! मैं कहता हूँ, तुम चित्त लगाकर सुनो। आलोचनाके लिये धर्म-तत्त्वको दो भागोंमें बाँट लेनेसे सुभीता होगा । धर्मका एक नित्य और अविनश्वर रूप है, जिसका कुछ-कुछ आभास मैं तुम्हें पहले बातों-ही-बातोंमें करा चुका हूँ । उसके सम्बन्धमें पीछे आलोचना करूँगा। परन्तु धर्मका एक रूप और है, जो व्यावहारिक होनेके कारण अनित्य होनेपर भी स्वाभाविक है । चिरस्थायी न होनेपर भी प्रथमतः इसकी आवश्यकता है । यह अनित्य प्राकृतिक धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेदसे दो प्रकारका है । अवश्य ही यहाँ मैं पुरुषकार-मूलक कृत्रिम धर्मकी बात नहीं कह रहा हूँ ।

जिज्ञासु—आपने जो प्रवृत्तिको धर्मका एक अंग बतलाया, यह बात ठीक समझमें नहीं आयी । क्योंकि प्रवृत्ति तो वासना-मलिन जीवके लिये स्वाभाविक है । यदि इसको धर्मके अन्तर्गत माना जाय तो फिर अधर्मका क्या लक्षण किया जायगा ? मैं तो समझता हूँ कि प्रवृत्तिका निरोध किये बिना धर्म-जीवनकी सूचना ही नहीं हो सकती । फिर आप निवृत्तिधर्मके अतिरिक्त एक नित्य-धर्म और बतलाते हैं, यह बात भी ठीक समझमें नहीं आयी। निवृत्तिके फलस्वरूप जीव अनन्त कालके लिये शान्तिदेवीकी गोदमें जा पहुँचता है—फिर उसके लिये धर्मकी कौन-सी बात शेष रह जाती है ?

वक्ता—वत्स ! तुम्हारे दूसरे संशयका समाधान मैं अभी नहीं करूँगा । कारण, नित्यधर्मकी आलोचनाके प्रसंगमें यह बात समझानेसे तुम्हारे समझनेमें विशेष सुभीता होगा । तुम्हारे पहले प्रश्नका उत्तर यह है कि, 'प्रवृत्ति होनेसे ही अधर्म होगा' ऐसी कोई बात नहीं है । 'प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला,' यह बात सत्य अवश्य है, परन्तु इतना याद रखना चाहिये कि प्रवृत्तिकी समाप्ति न होनेतक निवृत्तिके उदय होनेकी कोई भी आशा नहीं है। तुमने जो व्यावहारिक दृष्टिसे निवृत्तिको ही उत्तम कहा, इस बातको मैं भी मानता हूँ, परन्तु बात यह है कि प्रवृत्तिका दमन करके अथवा बलपूर्वक उसे रोककर निवृत्ति-की स्थापना नहीं की जा सकती । कारण 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ?' जिन उपादानोंसे जीवका जीवत्व है—अवश्य ही यहाँ मैं बद्ध जीवके विषयमें ही कह रहा हूँ—वे स्वभावसे ही बहिर्मुख हैं । जबतक यह बहिर्मुखी गति शान्त नहीं होगी, तबतक निवृत्तिकी आशा करना क्या दुराशा नहीं है ? अन्तरमें जो भोगा-कांक्षा विद्यमान है, उस आकांक्षाको तृप्त न करके यदि उसे अभिभूत करनेकी चेष्टा की जायगी, तो क्या वह चेष्टा कभी सफल हो सकती है ? विरोधी प्रबल शक्तिके द्वारा कुछ समयके लिये वह अभिभूत हो सकती है, परन्तु अवसर मिलते ही वह दूने वेगसे पुनः जाग्रत् हो उठेगी। कारण, जिस बाह्य शक्तिके प्रयोगसे उस आकांक्षाको अभिभूत किया जाता है, वह शक्ति चाहे कितनी ही प्रबल हो, एक दिन उसका क्षय अवश्यम्भावी है। अतएव उस दिन अतृप्त वासनाका पुनः उदय होना निश्चित है ।

जिज्ञासु—तब क्या आप संयमकी कोई भी सार्थकता नहीं मानते ? यदि प्रवृत्तिके निरोधकी कोई आवश्यकता ही न हो तो फिर मनुष्यके आध्यात्मिक जीवनमें निवृत्तिकी भी आवश्यकता कैसे समझी जा सकती है ? निवृत्तिका प्रवृत्तिसे विरोध है । अतएव प्रवृत्तिकी सार्थकता स्वीकार करते ही प्रकारान्तरसे निवृत्तिकी उपयोगिता कुछ अंशमें कम हो ही जाती है ।

वक्ता—वत्स ! तुम मेरी बातको अभी समझ नहीं सके। निवृत्तिको अनुपयोगी बतलाना तो दूर रहा, मैं तो उसका प्राधान्य ही मानता हूँ । वस्तुतः निवृत्तिके बिना धर्ममार्गके पहले सोपानपर भी पैर नहीं रक्खा जा सकता । परन्तु अभिप्राय यह है कि केवल निवृत्ति-निवृत्ति चिल्लानेसे ही

तो हृदयस्थ चिर-सञ्चित वासनाकी जड नहीं उखड़ सकती। सृष्टिके सभी पदार्थ विषम-भावापन्न हैं; जबतक साम्यभाव नहीं आता, तबतक सृष्टि-चक्रसे बाहर निकलनेकी आशा अलीक आकाशकुसुममात्र है । ऋणशोध किये बिना जैसे छुटकारा नहीं मिलता, इसी प्रकार अतृप्त वासनाको लेकर संसार-सागरसे तरा नहीं जा सकता । वासनाकी निवृत्ति हुए बिना मुक्तिकी चेष्टा वृथा श्रममात्र है । अब बात यह है कि वासनाकी तृप्ति या भोगसे वासनाकी निवृत्ति सम्भव है या नहीं । इसीपर विचार करना है । यह सभी जानते हैं कि प्यास लगनेपर जल पीना पड़ता है और जल पीनेसे पिपासाकी निवृत्ति हो जाती है । परन्तु वह निवृत्ति क्या वास्तविक निवृत्ति है ? अवश्य ही नहीं है । यदि होती तो कालान्तरमें पुनः पिपासा क्यों लगती ? अतएव यह मानना पड़ता है, कि सामयिक जलपानद्वारा पिपासाकी सामयिक निवृत्ति होनेपर भी उसका ऐकान्तिक उपशम नहीं होता । हमारे उपादानके अन्दर अभावका एक ऐसा स्रोत है, जिसको किसी भी वस्तुके द्वारा हम सदाके लिये निवृत्त नहीं कर सकते। यदि उपादानगत इस अभावको हम उपादानसे निकाल दे सकें, तो फिर कभी अभावके बोधकी सम्भावना ही नहीं है । परन्तु यहाँ अभाव-बोधको हटानेके साथ-ही-साथ बोधभावतकका लोप हो जायगा, क्योंकि बोधभावको जाग्रत् रखनेके लिये उसके एक अवलम्बनकी नितान्त आवश्यकता है । पक्षान्तरमें, उपादानस्थित उस अभावको न हटाकर यदि उसके उपयुक्त किसी भाव-वस्तुकी उसके साथ योजना कर दी जाय, तो वह अभावबोध तृप्तिके आनन्दरूपसे उज्ज्वल होकर जाग उठता है । प्रतिक्षण नाना रूपोंसे जो अभावका आविर्भाव हो रहा है वह उस मौलिक एक ही अभावकी अभिव्यक्ति है । अतएव यदि किसी कौशलसे उस मूल अभावको जान लिया जाय और उसकी तृप्तिके लिये सम्यक् उपायसे काम लिया जाय, तो वह अभाव और उसके निवृत्त करनेका उपाय दोनों परस्पर मिलकर एक ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका विकास कर देंगे, जिससे फिर अभावबोधकी जागृतिके लिये कोई अवकाश ही नहीं रह जायगा ।

जिज्ञासु—ऐसा भी कभी हो सकता है ? संसारमें ऐसी साध्य वस्तु कौन-सी है, जिसके द्वारा अभावबोध या आकांक्षा सदाके लिये निवृत्त हो सकती हो ? मान लीजिये, मुझे प्यास लगी—मैंने जल पीया, प्यास निवृत्त हो गयी। परन्तु यह निवृत्ति अन्तिम निवृत्ति नहीं है । कारण, फिर प्यास लगेगी, फिर जल पीना पड़ेगा । काल-प्रवाहसे पिपासा और जलपानकी पुनः-पुनः एकके बाद एककी आवृत्ति होती रहेगी । बार-बार जल पीना पड़ता है, इस कष्टसे बचनेके लिये एक ही बार सारा जल नहीं पीया जा सकता। कारण, जितनी प्यास है, उससे अधिक पीनेकी शक्ति ही नहीं है। इसीलिये, आपने जो कुछ कहा, मैं उसे अच्छी तरह हृदयङ्गम नहीं कर सका ।

वक्ता—तुम्हारे न समझनेका कारण मैं जानता हूँ। जगत्के भीतरी रहस्यको अभी तुम नहीं जानते हो, इसीसे तुम्हारा संशय नहीं मिटता । परन्तु इस एक बातपर थोड़ा-सा विचार करनेपर तुम सत्यका किञ्चित् आभास पा सकते हो । देखो, जब प्याससे व्याकुल होकर हम जल पीते हैं, तब वस्तुतः सम्पूर्ण जल हमारे ग्राह्य नहीं होता, जलका जो सार है—एक शब्दमें जिसे 'रस' कहा जा सकता है, हमारे लिये वही उपादेय होता है । बहुत-से जलमें भी एक क्षुद्र कणसे अधिक रसका मिलना निश्चित नहीं है । परन्तु कणमात्र होनेपर भी उसमें ऐसी असाधारण शक्ति है कि वह दीर्घकालपर्यन्त पिपासाको निवृत्त करके शान्तिदान कर सकता है । पिपासा अग्निका धर्म है; देहमें अग्निकी क्रिया होनेके कारण ही पिपासाका आविर्भाव होता है । इसी प्रकार रस सोमका धर्म है । इस अग्निको शान्त करनेके लिये इस सोमबिन्दुके अतिरिक्त संसारमें अन्य कोई भी उपाय नहीं है । अवश्य ही यहाँ प्रसङ्गतः हम एक ही दिशाको लेकर आलोचना कर रहे हैं। परन्तु सभी दिशाओंमें इसी प्रकार समझना होगा । जीवके हृदयमें जो भोगाकांक्षा है, वस्तुतः वह अग्निका ही विकासमात्र है, यद्यपि वह आधारभेदके कारण नाना प्रकारसे प्रकट होती है । भोग्यरूप सोम या अमृतका बिन्दु अर्पण किये बिना इस आकांक्षाकी निवृत्ति नहीं हो सकती—यह अग्नि साम्यभावको प्राप्त नहीं कर सकती।

जिज्ञासु—शास्त्र कहता है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

काम्य वस्तुके भोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती । अग्निमें घी डालनेसे जैसे अग्नि बढ़ती है, वैसे ही काम्य

वस्तुकी प्राप्ति और उपभोगसे कामनाका ह्रास न होकर उसकी उलटी वृद्धि होती है। यदि यह सत्य है, तो आपके सिद्धान्तके साथ इसका सामञ्जस्य कहाँ होता है, यह बात समझमें नहीं आती। कारण, आप कहते हैं कि सोमके सम्बन्धसे ही अग्निकी शान्ति होती है; और मैं देखता हूँ तथा मुझे मालूम होता है कि गीतामें भी यही कहा गया है कि, 'भोग्य वस्तुके सम्बन्धसे भोगकी वृद्धि होती है।' मैं बहुत ही स्थूलबुद्धि हूँ, अतएव अनुग्रह करके मुझे और भी स्पष्टरूपसे समझाइये।

वक्ता–काम्य वस्तुके उपभोगसे कामनाकी शान्ति नहीं होती वरं वृद्धि होती है, तुम्हारा यह कथन अवश्य ही ठीक है। क्योंकि विशुद्ध भोग्य वस्तु न मिलनेके कारण भोगाकांक्षा तृप्त नहीं होती। जगत्‌में जितनी भी भोग्य वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, वे सभी मिश्र हैं। सभी भोग्य वस्तुओंमें सोम अथवा अमृत भी है, परन्तु उसके साथ ही आगन्तुक मल इतना अधिक परिमाणमें है कि उससे पृथक् करके सोमकलाको ग्रहण नहीं किया जा सकता। इधर, जागतिक भोक्ता भी विशुद्ध भोक्ता नहीं है। विशुद्ध भोक्ता न होनेके कारण भोगजनित आनन्द भी बन्धनका हेतु ही बन जाता है। जैसे सोम विशुद्ध भोग्य है, वैसे ही अग्नि विशुद्ध भोक्ता है; किन्तु जगत्‌में साधन-संस्कार बिना ऐसा कोई जीव देखनेको नहीं मिल सकता, जिसमें शुद्ध अग्नि प्रज्वलित हो चुकी हो। सौभाग्यसे जिनके अन्दर यह अग्नि जल उठी है, वे दिव्य भावको प्राप्त होकर अग्निरूप मुखका अवलम्बन करके दृष्टिके द्वारा ही भोग्यनिहित अमृतका आस्वाद लेते हैं। देवता जो अमृतका भोग करते हैं और उनके भोग जो दृष्टिसे ही सम्पन्न हो जाते हैं, यह बात तो तुमने सुनी ही होगी। साधक भी इसी प्रकार दिव्य भावको प्राप्त होनेपर वैसे ही शुद्ध दिव्य भोगका अधिकारी हो जाता है। 'अग्निर्वै देवानां मुखम्' शास्त्रके इन वचनोंमें बड़ा गूढ़ अर्थ भरा है।

जिज्ञासु–आपके विवेचनसे प्रतीत होता है कि विशुद्ध भोगोंसे बन्धन नहीं होता; तृप्ति ही होती है। विशुद्ध भोगी भोग्य वस्तुके असार अंशको त्यागकर शुद्ध सार अंशको ही ग्रहण करता है। और उससे उसकी भोग-तृष्णा निवृत्त हो जाती है।

वक्ता–यही बात है, परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये। जो मिश्रभोग करता है तथा जो भोग्यका केवल सार अंशमात्र ही ग्रहण करता है, भोग-तृष्णा तो निस्सन्देह दोनोंकी ही निवृत्त होती है और दोनों प्रकारसे होनेवाली तृष्णा-निवृत्ति सामयिक है, यह भी निश्चित है। तथापि इन दोनोंमें बड़ा भेद है। कारण, मिश्रभोग्य ग्रहण करनेसे तृष्णाके सामयिक निवृत्त होनेपर भी, वस्तुतः तृष्णाकी वृद्धि होती है। परन्तु शुद्ध भोगसे तृष्णा क्रमशः क्षीण हो जाती है। इस बातको मैं और भी स्पष्ट करके समझाता हूँ; विशेष मन लगाकर समझनेकी चेष्टा करना। थोड़ी देरको मान लो, तुम्हारी भोगाकांक्षाका परिमाण आठ कला है। अवश्य ही वह तुम्हारे अन्दर प्रसुप्तरूपसे है। इसकी दो अवस्थाएँ हैं। जबतक किसी उत्तेजक कारणको पाकर यह सोयी हुई तृष्णा जाग्रत् नहीं होती, तबतक उसकी सत्ताका पता नहीं लगता। परन्तु जब किसी उद्दीपक कारणके प्रभावसे वह प्रकट हो जाती है, तब उसके गुण और क्रिया कार्यक्षेत्रमें दिखायी देते हैं। परन्तु उद्दीपक कारणके तारतम्यसे प्रसुप्त भोगाकांक्षाका न्यूनाधिक कुछ ही अंश अभिव्यक्त हो सकता है। जितना अंश अभिव्यक्त होता है, ठीक उसी परिमाणमें भोग प्राप्त हुए बिना उसकी शान्ति नहीं होती। यदि वहाँ उस आठ कला भोगाकांक्षाकी केवल एक ही कला प्रकट हुई हो और यदि उसे विशुद्ध भोग्य नहीं प्राप्त हो, तो यद्यपि भोग्य वस्तुके सम्बन्धसे उसकी सामयिक तृप्ति होती है—थोड़े समयके लिये वह जागी हुई भोगाकांक्षाकी एक कला दब जाती है,—परन्तु उसकी सदाके लिये निवृत्ति नहीं होती। वरं बाह्य मलका सम्बन्ध होनेके कारण उसकी मात्रा और भी बढ़ जाती है। फलस्वरूप आठ कला भोगाकांक्षा सम्भवतः नौ कला हो जाती है। इसी प्रकार प्रत्येक बार एक-एक कला बढ़ती ही चली जाती है। पुनः-पुनः भोगके द्वारा भोग-शान्ति न होकर भोगोंकी क्रम-वृद्धिका यही कारण है। परन्तु वह भोग्यवस्तु यदि विशुद्ध अमृतरूप होती है—यदि उसमें आगन्तुक मलका सम्बन्ध नहीं रहता, तो उसके भोगसे सामयिक भोग शान्ति तो होती ही है, क्रमशः भोगकी मात्रा भी घट जाती है। फलस्वरूप आठ कला भोगाकांक्षामें सम्भवतः एक कम होकर वह सात ही रह जाती है। और निरन्तर इसप्रकार होते-होते अन्तमें भोगाकांक्षा सर्वथा लुप्त हो जाती है। तब वह विशुद्ध भोक्ता साक्षी या उदासीन द्रष्टा बनकर प्रकृतिका खेल देखता रहता है।

जिज्ञासु-आपकी व्याख्या-प्रणालीसे एक गहरे सत्यका पता लगा। एक ओर भोगसे भोगकी वृद्धि होती है और क्रमशः बन्धन दृढ़ होता है, यह बात समझमें आयी। और दूसरी ओर भोगसे ही भोगका नाश होता है और अन्तमें भोग-शून्य होकर परम शान्तिका उदय होता है। दोनों ही भोग हैं, परन्तु दोनोंमें बड़ा भेद है।

वक्ता-हाँ, तुमने ठीक समझा है। जिस भोगसे भोग-का नाश होता है, वह भोग वैध है; और जिससे भोगकी मात्रा बढ़ती है, वही निषिद्ध है। विधिनिषेधकी विस्तृत व्याख्या यहाँ नहीं करूँगा। परन्तु वैध भोग निन्दनीय विषय नहीं है और वही त्यागका एकमात्र मार्ग है, इसी बातको भली भाँति स्पष्ट करनेके लिये मैं अनेक प्रकारसे समझानेकी चेष्टा करता हूँ। तुमने कहा था, प्रवृत्ति-मार्ग धर्मके अन्दर कैसे आ सकता है? इस बातको मैं नहीं समझ सकता। मैं आशा करता हूँ, अब तुम्हारी उस शङ्काका कुछ समाधान हुआ होगा। वस्तुतः प्रवृत्तिका आश्रय लिये बिना निवृत्तिको पानेका दूसरा उपाय ही कहाँ है? कोई कुछ भी करें या कहें, जगत्में अधिकांश मनुष्य प्रवृत्तिके गर्भमें ही पड़े हुए हैं। प्रवृत्तिके सर्वथा त्यागका उपदेश देना वृथा है। क्योंकि, वह उपदेश फल उत्पन्न करनेवाला नहीं हो सकता। केवल निषिद्ध प्रवृत्तिको छोड़ कर, वैध प्रवृत्तिका आश्रय ग्रहण करना ही शास्त्रोपदेशका तात्पर्य है। प्रवृत्तिमात्र ही निवृत्तिकी विरोधिनी नहीं है—शुद्ध प्रवृत्ति तो निवृत्तिमें प्रधान सहायक है। मैं आशा करता हूँ, अब तुम इस बातको समझ रहे हो।

जिज्ञासु-हाँ, अब मैं बहुत कुछ समझ रहा हूँ, परन्तु इस प्रसङ्गमें एक बात जाननेकी इच्छा होती है। आप अनुमति दें तो पूछूँ?

वक्ता-तुम जो चाहो, पूछ सकते हो। मैं अपनी समझके अनुसार विवेचन करनेकी चेष्टा करूँगा।

जिज्ञासु-आपने कहा है कि सांसारिक जीव—जो अभी अपने अन्दर विशुद्ध अग्निको प्रज्वलित नहीं कर सका है—अशुद्ध भोग्य वस्तुका भोग करता है। निश्चय ही वह विशुद्ध भोग नहीं है और उसके फलस्वरूप भोगकी वृद्धि होती है। यहाँपर मैं पूछना चाहता हूँ कि यह भोग-व्यापार किसप्रकार निष्पन्न होता है, जिससे जीव देवता-की भाँति विशुद्ध भोक्ता न होकर, मुक्त-भावसे भोग करनेमें समर्थ न होकर, भोगके साथ ही भोगसे बँध जाता है?

वक्ता-वत्स! भोक्ता और भोग्य, अन्नाद और अन्न, अग्नि और सोम—ये एक ही मूल वस्तुके दो विभक्त रूप हैं। जिस अनिर्वचनीय कारणसे महाबिन्दु विक्षुब्ध होता है, एवं जगत्-सृष्टिकी सूचना होती है, उसी कारण-से मूल ज्योति विभक्त होकर एक ओर अग्नि और दूसरी ओर सोमके रूपमें आविर्भूत होती है। अग्नि सोमको चाहता है, और सोम अग्निको। ये दोनों एक दूसरेको खींचते रहते हैं। किसी भी उपायसे हो, अग्निके साथ सोमका मिलन होते ही अग्निका अग्नित्व और सोमका सोमत्व विलुप्त होकर, दोनोंके संयोगसे दोनोंके अन्तर्निहित परम सत्ताका आविर्भाव हो जाता है। अतएव विशुद्ध सोमबिन्दुके विशुद्ध अग्निके सम्मुख होते ही दोनों मिल जाते हैं। और इस मिलनसे जिस आनन्दका आविर्भाव होता है, वही यथार्थ आनन्द है। वह एक पक्षसे भोग होनेपर भी पक्षान्तरसे आंशिक भावसे मुक्ति भी है। साधारण जीव साक्षात् रूपमें भोग्य वस्तुसे इस अमृतको आकर्षण करके उसका पान नहीं कर सकता और इस आनन्दको न पानेसे उसकी सामयिक तृप्ति भी नहीं होती। प्रकृतिके विचित्र कौशलसे उसका देह-यन्त्र इसप्रकारसे बना हुआ है कि, उस अशुद्ध भोग्य वस्तुसे उन यन्त्रोंकी सहायताद्वारा क्रमशः विशुद्ध रस निकाला जाकर आनन्दमय कोशस्थित दिव्य भावापन्न जीवात्मा-के भोगके लिये लाया जाता है। भोग्य वस्तुसे ही क्रम-मन्थन-नीतिके अनुसार भिन्न स्तरके कोश अपनी-अपनी भूमिके लिये उपयोगी रस खींचकर उससे पुष्टि-लाभ करते हैं। वास्तवमें इस सोम-रससे ही पञ्चकोश अपनी-अपनी मात्रा ग्रहण करके तृप्त होते और जीवित रहते हैं। परन्तु तुम्हें यह निश्चय जान रखना चाहिये कि यह पुष्टि कालमार्गमें ही सम्पन्न होती है—इसलिये यह पुष्टि होनेपर भी क्षयका ही प्रकार-भेद है। कारण, मलिन देहके प्रत्येक स्तरमें बुभुक्षु अग्नि विद्यमान है। यह अग्नि विशुद्ध न होनेके कारण उस स्तरमें ही रसको शुष्क कर डालती है। फल-स्वरूप आनन्दमय कोशतक शुद्ध रस बहुत ही स्वल्प मात्रामें पहुँच सकता है। यही जरा और मृत्युका कारण है; किसी अन्य समय तुम्हें यह बात समझा दी जायगी।

शुद्ध भोगके बिना जरा और मृत्यु शून्य अवस्थाका आविर्भाव नहीं हो सकता।

अब, एक बार फिर विचार करके देखो कि अशुद्ध भोगसे भोग-वासनाकी निवृत्ति क्यों नहीं होती।

जिज्ञासु—अब आप प्रस्तावित विषयको समझाइये। कहीं संशय होगा तो निवेदन करूँगा।

वक्ता—मैं कह रहा था कि, अनित्य और व्यावहारिक धर्म भी प्रवृत्ति और निवृत्ति-भेदसे दो प्रकारका है। कौशलपूर्वक भोगका नाम ही प्रवृत्ति-धर्म है। अर्थात् भोगका एक ऐसा कौशल है कि जिसका अवलम्बन करनेसे भोगके द्वारा ही भोगका अवसान हो जाता है। तब निवृत्ति आप ही आ उपस्थित होती है। उसके लिये पृथक्‌रूपसे चेष्टा नहीं करनी पड़ती। इस कौशलका अवलम्बन नहीं किया जा सकनेपर ही भोग बन्धनका कारण हो जाता है और वह कभी धर्म-पद-वाच्य नहीं हो सकता। चित्तमें जबतक जिस विषयके संस्कार रहेंगे तबतक उस विषयका त्याग नहीं हो सकता। कृत्रिम उपायोंसे यथार्थ त्याग नहीं हो सकता। पहले जो अग्नि और सोमकी बात कही थी, यदि भोग-कौशलके द्वारा उस अग्नि और सोमका मिलन करा दिया जाय, तो चित्तमें स्थित वासना अपने आप ही शुद्ध भोग्य वस्तुके मिलनसे तृप्त होकर शान्त हो जाती है और ऐसा होनेपर उसके फिर उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह साम्यभाव धारण कर लेती है। इस अवस्थामें निवृत्ति देवीका आवाहन नहीं करना पड़ता, स्वभावतः ही उसका आविर्भाव हो जाता है। फिर शुद्ध भोक्ता भी पूर्णत्वको प्राप्त होकर भोगके अतीत शुद्ध साक्षिभावसे स्थित हो जाता है।

जिज्ञासु—आपकी बात मैं समझ गया, खूब युक्तिसंगत मालूम होती है। परन्तु कार्यक्षेत्रमें इसकी उपयोगिता कितनी है, यह बात अभी समझमें नहीं आती। कारण, हमलोग सांसारिक जीव हैं। हमें शुद्ध भोगका अधिकार नहीं है। और जिन सब भोग्य वस्तुओंद्वारा हम जगत्‌में घिरे हुए हैं, उनमें भी एक भी विशुद्ध नहीं है। इस स्थितिमें हमारे लिये तो विशुद्ध भोगकी सम्भावना ही कहाँ है? और जब विशुद्ध भोग ही असम्भव हो गया, तब प्रवृत्तिधर्मका पालन हमसे किसप्रकार हो सकता है?

वक्ता—वत्स, तुम्हारी शङ्का ठीक है, परन्तु कुछ विचार करनेपर यह शङ्का दूर हो सकती है। निश्चय ही भोग्य वस्तु मिश्रभावापन्न है, परन्तु उसमें कुछ अंश शुद्ध सत्त्वका भी अवश्य है। परन्तु नाना प्रकारके मलोंसे मिला होनेके कारण उसे खींचकर बाहर निकालना कठिन है। जीवका दैहिक यन्त्र इसप्रकारसे बना हुआ है कि साधारण अवस्थामें उसके द्वारा भोग्य वस्तुसे शुद्ध सत्त्वके अंशको विश्लेषण करके निकालकर आनन्दमय कोशतक ठीक-ठीक पहुँचाया नहीं जा सकता। परन्तु ऐसा सूक्ष्म उपाय भी है जिसके द्वारा वह शुद्ध सत्त्वबिन्दु अपेक्षाकृत सहजरूपसे आनन्दमय कोशतक उठकर तथा उसके ऊपर विराजमान परमात्मामें निवेदित होकर प्रसादरूपमें कारणशरीरमें जीवात्माका भोग बन सकता है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' ईशोपनिषद्‌के इस मन्त्रमें त्याग और भोगका बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। इसको और भी स्पष्ट करके कहता हूँ। यदि लोहेके लाखों छोटे-छोटे कण दूसरी-दूसरी वस्तुओंके बहुत-से कणोंके साथ मिले होकर जहाँ-तहाँ बिखरे हों और दूसरी वस्तुओंको छोड़कर शुद्ध लोहेके उन कणोंको एक जगह संग्रह करना हो तो इसका एकमात्र उपाय है चुम्बकको उन कणोंके पास ले जाकर रख देना। चुम्बकका स्वभाव ही लोहेके कणोंका आकर्षण करना है; अतएव उसकी आकर्षण-सीमाके भीतर जितने लोहेके कण पृथक्-पृथक् बिखरे होंगे, वह निश्चय ही उन सबको खींच लेगा। इसी प्रकार हमारी भोग्य वस्तुओंमें जो शुद्ध सत्त्वके कण हैं, उन्हें उस शुद्ध सत्त्वके ही एक अंशके अवलम्बनसे हमारा आनन्दमय कोश और नीचेके समस्त कोश अपने-अपने सत्त्वके अनुसार चुम्बक-धर्मको प्राप्तकर स्वाभाविक ही अपनी-अपनी पुष्टिके लिये भोग्य वस्तुओंमेंसे खींच लेंगे। इस उपायसे मन्थन अथवा विवेक क्रियाद्वारा यदि भोग्य वस्तुओंका विश्लेषण किया जा सके तो चुम्बकाकर्षणके प्रभावसे उनका सत्त्वांश कोशोंमें पहुँचकर उनको तृप्त कर सकता है!

कहना नहीं होगा कि मैंने जिस प्रवृत्तिधर्मके विषयमें कहा है, यही उसका स्वरूप है। जगत्‌की भोग्य वस्तुएँ निर्मल और शुद्ध सोममय नहीं हैं, इसीलिये तो इसप्रकार विवेककी आवश्यकता है। शुद्ध और अशुद्ध वस्तुओंको परस्पर पृथक् कर देनेका नाम ही विवेक है। विवेक होनेपर असार अंशके प्रति वैराग्य और सार अंशके प्रति

अनुराग या आकर्षण होना स्वाभाविक है। स्थूलरूपसे विचार करनेपर भी यही बात प्रतीत होती है। हम भोग्यरूपमें जो कुछ भी खाते हैं भीतर पहुँचनेपर पूर्वोक्त प्रकारसे उसका विश्लेषण होता है और असार अंश स्वभावके नियमसे ही देहका पुष्टिकारक न होकर क्षतिकारक होनेके कारण देहसे निकाल दिया जाता है और सार अंश देहमें रहकर उसका पोषण करता है। यह सार अंश भी अवश्य ही सर्वथा विशुद्ध नहीं होता, इसीलिये विश्लेषणकी क्रिया क्रमशः होती ही रहती है और साथ-ही-साथ उस-उस भूमिमें असार अंशका त्याग और सार अंशका ग्रहण होता रहता है। साधारण खाद्य वस्तुके सम्बन्धमें जो नियम है, वही एक नियम समस्त भोग्य वस्तुओंके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

जिज्ञासु–इन्द्रियद्वारोंसे रूप, रस आदि विषयोंका ग्रहण भी क्या इसी नियमसे होता है?

वक्ता–इसमें सन्देह ही क्या है? भोक्ताके भोगके लिये किसी भी द्वारसे कोई भी विषय ग्रहण किया जाय, सर्वत्र एक ही नियम है। चक्षुके द्वारा जब तुम किसी रूपको ग्रहण करते हो, तब यदि तुम निरपेक्ष द्रष्टा होकर उसको नहीं देख सकते, तो समझना चाहिये कि वह रूप-दर्शन भी तुम्हारे भोगके सिवा और कुछ नहीं है। गम्भीर रात्रिके निस्तब्ध आकाशमें जब तुम दूरसे आयी हुई मधुर वंशी-ध्वनि सुनते हो और सुनते-सुनते स्वप्नमय भावके आवेशमें तन्मय हो जाते हो, तब यदि वह तुम्हें अच्छी लगती है तो समझ लो कि वह भी तुम्हारा भोगविशेष है। इसी प्रकार सब जगह समझो। हमारी साधारण सांसारिक अवस्थामें हम इन रूप-रसादि समस्त विषयोंको अपने-अपने प्राक्तन संस्कारोंके वशमें होकर नाना प्रकारसे भोग करते हैं। परन्तु इस भोगसे भोगका नाश नहीं होता, हमारी अज्ञानकारीमें भोगाकांक्षा दिन प्रति-दिन बढ़ती ही चली जाती है। इसका कारण यह है कि हमलोग उचित रीतिसे भोग करना नहीं जानते। भगवान्‌के मङ्गलमय विधानमें अशुभ कुछ भी नहीं है। उचित रीतिसे भोग करनेपर हम जान सकेंगे कि, भोग भी मङ्गलमय हैं; किसी भी अंशमें अमङ्गल नहीं हैं।

यथार्थमें बात यह है कि, त्यागके साथ भोगको एक सूत्रमें ग्रथित नहीं किया जाता, 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इस नियमका अनुसरण नहीं होता, इसीलिये भोगके मङ्गलमय रूपका दर्शन हम नहीं कर पाते। इसीलिये हमारे भोग धर्मके अन्तर्गत नहीं समझे जाकर अधर्मके अङ्ग बन जाते हैं।

जिज्ञासु–हमलोग जो रूप-दर्शन या शब्द-श्रवण आदि करते हैं, वह भोगके अन्तर्गत है, इस बातको मैं खूब समझता हूँ। और इसमें भी कोई सन्देह नहीं है कि यह भोग भी विशुद्ध भोग नहीं है। परन्तु बात यह है कि चक्षु-इन्द्रियद्वारा जो रूप देखा जाता है—उसमें ऐसा क्या कौशल हो सकता है, जिससे वह दर्शन विशुद्ध भोग-रूपमें परिणत हो सके और अपनेको शुद्ध दर्शन या आत्मदर्शनरूपसे प्रकट कर सके?

वक्ता–अवश्य, ऐसा कौशल तो है ही। पहले चुम्बकके दृष्टान्तसे जिस तत्त्वको समझनेकी चेष्टा की गयी है, यहाँ भी उसीका स्मरण करना चाहिये। यह सत्य है कि हम जो रूप देखते हैं, वह विशुद्ध रूप नहीं है। विशुद्ध रूपके दर्शन हो जाते तो अन्य इन्द्रियाँ काम नहीं कर सकतीं। यहाँतक कि नेत्र भी उस रूपके गहरे नशेमें विह्वल हो जाते। क्षणभरके बाद ही वह दूसरे रूपकी खोजमें नहीं निकल पड़ते। तुमने कभी उस यथार्थ रूपको देखा नहीं है, इसीसे तुम्हारी धारणामें शायद उस शुद्ध रूपकी महिमा अभी नहीं आ सकेगी। उस शुद्ध रूपके साथ आँखोंका सम्बन्ध हो जानेपर फिर वे दूसरी किसी ओर दौड़ ही नहीं सकतीं। यही नियम सभी इन्द्रियोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

जिज्ञासु–आपने जिस कौशलकी बात कही भी अब उसके सुननेकी इच्छा होती है।

वक्ता–उस कौशलको ठीक-ठीक समझ सकनेकी अभी सम्भावना न होनेपर भी तुम्हारी उत्सुकताकी निवृत्तिके लिये मैं संक्षेपमें कुछ कहता हूँ। जैसे खाद्य वस्तु देहके अन्दर जाकर दैहिक यन्त्रकी क्रियाद्वारा विश्लिष्ट होती है और उसका सार अंश क्रमशः ऊपरकी ओर सञ्चारित होता है, इसी प्रकार रूप-रसादि कोई भी विषय जो इन्द्रियद्वारा आहरण किया जाता है, वह भी देहके अन्दर जाकर विश्लिष्ट होता है और उसका सारांश नाड़ी-पथसे ऊपरकी ओर प्रवाहित होकर भोक्ताके भोगस्थानपर पहुँच जाता है। कारण, भोग-स्थानपर पहुँचे बिना किसी भी

वस्तुको अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता। रूप देखनेपर जो आनन्द होता है, वह भी भोगविशेष है—वह आनन्द भी बाह्य विषय भोक्ताके समीप भोग्यरूपमें उपस्थित हुए बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। यह सकाम मलिन भोग तो भोग्यवस्तुमात्रसे ही बद्ध जीवको निरन्तर ही होता रहता है। परन्तु विशुद्ध भोग सहसा उत्पन्न नहीं हो सकता। कारण, जबतक द्रष्टा होकर विषयका ईक्षण नहीं किया जा सकता, तबतक भोगकी विशुद्धि नहीं हो सकती। भोग-शोधनके मूलमें दो रहस्य हैं—एक है आधारका शोधन और दूसरा है उसका बोधन। अभी चित्तको ही आधार मान लो। वास्तवमें तो विन्दु ही आधार है, ब्रह्मचर्यके बिना बिन्दुकी शुद्धि नहीं हो सकती। बिन्दुके शुद्ध हुए बिना उसमें बोध-शक्तिका सन्चार करना निष्फल है। बल्कि, कभी-कभी तो ऐसा करना हानिकारक होता है। विन्दु ही वह मूल सत्ता है जिससे देहादि विकासको प्राप्त हुए हैं। इस सत्त्वको शुद्ध करके उसमें चैतन्यका उज्ज्वल प्रकाश प्रतिफलित कर देनेपर उसको सहज ही ऊपरकी ओर खींचा जा सकता है। ये दोनों बातें ब्रह्मचर्यकी भित्तिस्वरूप हैं। यहाँ अभी ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु यह निश्चित है कि ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित हुए बिना प्रवृत्तिमार्गके धर्मकी साधना हो ही नहीं सकती। इसीलिये प्राचीन कालमें पहले (ब्रह्मचर्य) आश्रममें ही विन्दुको स्थिर करके, दूसरे (गृहस्थ) आश्रममें विवाह करके प्रवृत्ति-धर्मके पालन करनेकी व्यवस्था थी। वैदिक युगका वह गार्हस्थ्य धर्म ही यथार्थ प्रवृत्तिधर्मका सामाजिक विन्यास था।

सत्त्वशुद्धि और ज्ञानोदय हुए बिना रूप-रसादि विषय-भोग सम्भोगके अन्तर्गत रहते हैं; उनसे क्रमशः भोग-त्याग होनेकी कोई सम्भावना नहीं है।

जिज्ञासु—स्थिररेता और जातप्रज्ञ पुरुषके सामने रूपादि विषय आनेपर उसके देहके अन्दर किसप्रकारकी क्रिया होती है, अब यह बात समझाइये ?

वक्ता—पहले ही कहा जा चुका है कि, जैसे लोहेको चुम्बक आकर्षण करता है वैसे ही शुद्ध वस्तु शुद्ध वस्तुको आकर्षण करती है। जिसके ज्ञानका विकास हो गया है और जिसकी शुद्ध शक्ति क्रियाशील हो गयी है उसके भीतरकी क्रियाएँ साधारण मनुष्योंके भीतरकी क्रियाओंसे भिन्न प्रकारकी होती हैं। मान लो उनके चक्षु-इन्द्रियद्वारा रूपको ग्रहण किया गया, अन्दर प्रविष्ट होनेपर उस रूपका दैहिक यन्त्रद्वारा विश्लेषण किया गया। विश्लेषण करते ही उसका सत्त्वांश ऊपरकी ओर खींचा जाकर ज्ञानी आत्माके सामने दृश्यरूपमें उपस्थित हो गया। परमात्मा द्रष्टामात्र हैं, भोक्ता नहीं हैं, अतएव वह शुद्धरूप, जो द्रष्टा परमात्माका दृश्यमात्र है, अपने आप ही वहाँसे लौटकर योगयुक्त जीवात्माके विशुद्ध भोग्यरूपमें, अर्थात् प्रसादरूपमें उसके सामने अवतीर्ण हो जाता है। यह प्रसादभोग वास्तविक भोग नहीं है। एक प्रकारसे भोग होनेपर भी, दूसरे प्रकारसे यह भोगका नाशक है। यही त्याग और भोगका समन्वय है।

जबतक जीवात्मा भगवत्-प्राप्य प्राकृतिक उपहारोंको भगवान्‌की ओर न जाने देकर अहङ्कारवश या कामनासे पीड़ित होकर स्वयं ही ग्रहण करनेको तैयार रहता है, तबतक परमात्माके साथ उसका स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। परन्तु जब जीव कामको निरुद्ध करनेमें समर्थ होता है और परम पुरुषकी ओर प्रवाहित होनेवाले प्रकृतिके स्रोतको रोकनेकी चेष्टा नहीं करता, तब वे प्राकृतिक उपहार परम पुरुषके समीप जाकर उनकी दृष्टिसे पवित्र होकर आशीर्वादरूपसे उसीपर बरस पड़ते हैं।

जिज्ञासु—वस्तुतः जीवकी दृष्टि और उसका लक्ष्य किस ओर रहना चाहिये ? भोगलिप्सुकी दृष्टि तो विषयोंकी ओर ही रहेगी अर्थात् वह स्वभावसे ही बहिर्मुखी होगी। और यदि किसी कारणसे कामनाका निरोध हो गया तो फिर उसकी बाह्यदृष्टि रहेगी नहीं, इसलिये भोग्यवस्तु उसको न तो स्पर्श कर सकती है और न बद्ध कर सकती है। इन दोनों अवस्थाओंमें ही वह भगवत्-प्रसादको कैसे ग्रहण कर सकता है ?

वक्ता—जबतक जीवकी इन्द्रियाँ आदि बाहरकी ओर विषयोंके प्रति दौड़ती हैं, तबतक जीव बहिर्दृष्टि या बहिर्लक्ष्य कहलाता है। संसारके अधिकांश जीव इसी प्रकारके हैं। जब इन्द्रिय आदि करणवर्ग, चित्त और समाहृत विषय संशोधित होते हैं तब किसी प्रकारके भोगकी उपलब्धि नहीं होती। इसके बाद प्रबुद्ध भावका उदय होनेपर अर्थात् ज्ञानका उन्मेष होनेपर, ये करणादि सभी वस्तुएँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। सुतरां उस समय जीव भी अन्तर्मुख हो जाता है।

इस अवस्थामें विक्षुब्ध प्रकृतिका जो स्रोत स्वाभाविक नियमसे परमात्माकी ओर बहता है, वही लौटकर उस उन्मुख जीवके शुद्ध भोगके उपकरण-रूपमें परिणत हो जाता है—यही प्रसाद है।

अब प्रवृत्ति-धर्मके तत्त्वके सम्बन्धमें तुम्हें और कुछ पूछना हो तो, पूछ सकते हो।

जिज्ञासु—प्रवृत्तिमार्गके धर्मके सम्बन्धमें मैं जो कुछ समझ सका हूँ, इससे उसके रहस्यका कुछ-कुछ आभास मिला है, ऐसा जान पड़ता है। परन्तु अब यह पूछना है कि आपने प्रवृत्ति-धर्मकी साधनाका जिस अवस्थासे प्रारम्भ होना बतलाया है, बहुत-से लोग शायद उसको निवृत्ति समझेंगे। कारण, आपके मतसे जबतक बिन्दुका शोधन और चित्-शक्तिका उन्मेष नहीं होता, तबतक प्रवृत्ति-धर्मकी सूचना ही नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थामें जगत्‌में जो सब धर्मानुष्ठान प्रचलित हैं, वे तो प्रवृत्ति-धर्मके अन्तर्गत आ ही नहीं सकते। फिर निवृत्ति या अनुत्तर-धर्मकी बात तो बहुत ही दूर है। वास्तवमें प्रवृत्तिकी पूर्णता और निवृत्ति-धर्मका प्रारम्भ कहाँ है, मैं यहाँ इस बातको जानना चाहता हूँ।

वक्ता—प्रवृत्ति और निवृत्तिमें सम्पूर्णरूपसे पार्थक्य है। अतएव प्रवृत्तिको निवृत्ति मानकर भ्रममें पड़नेका कोई भी कारण नहीं है। जिस धर्मके अनुष्ठानसे आत्माकी समस्त शक्तियाँ विकसित और पूर्णरूपसे परितृप्त होती हैं, वही प्रवृत्ति-धर्मका परम आदर्श है। यदि चक्षु किसी ऐसे रूपको देख सके, जिसके देख लेनेपर रूप-दर्शनकी तृष्णा फिर कभी उदय ही न हो, मेरे मतसे उसका वह रूप-दर्शन शुद्ध भोग है अथवा प्रवृत्ति-धर्मका अङ्ग है। अवश्य ही इसका क्रमिक विकास है, इस बातको मैं स्वीकार करता हूँ। परन्तु जिस रूपके दर्शनसे रूप-दर्शनकी लालसा तृप्त नहीं होती, उस रूपको चाहे भगवद्रूप ही क्यों न बतलाया जाय, यथार्थमें वह शुद्ध भोग नहीं माना जा सकता। वह सांसारिक रूप-दर्शनका ही एक प्रकारभेदमात्र है। एकाग्र-भूमिपर आरोहण करके उसे वशमें कर लेनेपर जैसे निरोध अपने आप ही वशमें हो जाता है, वैसे ही रूप रसादिका शुद्ध भागवती शक्तिके रूपमें सम्भोग कर लेनेपर फिर कोई भी वैषयिक भोग उसे बाँध नहीं सकते।

जिज्ञासु—अब इस समय प्रवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं पूछना है। इस सम्बन्धमें मैंने जो कुछ समझा है, मेरा वह समझना ठीक है या नहीं इस विषयमें फिर कभी आपसे बातें करूँगा। सम्प्रति, मैं निवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें कुछ जानना चाहता हूँ। निवृत्ति-धर्म क्या है? उसका स्वरूप क्या है, साधन क्या है और निवृत्ति-धर्मका पूर्ण आदर्श किसप्रकारका है?

वक्ता—प्रवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ आलोचना हुई है, उससे निवृत्ति-धर्मको हृदयङ्गम करनेका मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया है। प्रवृत्ति-धर्मका आचरण किये बिना निवृत्ति-धर्मका अनुष्ठान स्वाभाविकरूपसे नहीं हो सकता। आत्माकी यावतीय शक्तियोंकी पूर्ण तृप्ति अथवा परमानन्दकी प्राप्ति—यह प्रवृत्ति-धर्मकी पराकाष्ठा है। जब ये पूर्णताको प्राप्त हुई शक्तियाँ तृप्त होकर नित्य अचल शिवभावके साथ एकाकार हो जाती हैं, तभी निवृत्तिका आविर्भाव होता है। प्रवृत्तिकी पूर्णतामें भोगशक्ति और भोग्यवस्तु दोनों ही विशुद्ध होकर पूर्णरूपसे प्रकाशित होती हैं। परन्तु निवृत्तिमें यह शक्ति और भोग्य दोनों ही अव्यक्त हो जाते हैं। भोगकी पूर्णता सिद्ध होनेके कारण भोग अतिक्रान्त हो जाता है। सुतरां एक ओर भोगशक्ति तृप्त होकर शुद्ध दृक्-शक्तिके रूपमें परिणत हो जाती है और दूसरी ओर भोग्य वस्तु शुद्ध होकर केवल सत्त्वरूपसे स्थित हो जाती है। इस अवस्थाका पूर्ण विकास होते ही निवृत्ति-साधनाका अवसान हो जाता है। प्रवृत्ति-धर्मके अन्तमें विशुद्ध परमानन्द जागृत रहता है। इस परमानन्दमें भोक्ता, भोग्य और भोग तीनों ही शुद्ध हैं। इसी प्रकार निवृत्ति धर्मका अवसान होनेपर आनन्दका आस्वादन भी अतिक्रान्त हो जाता है। अर्थात् आनन्द पूर्ण हो जानेपर उसकी उपलब्धि नहीं होती, अथवा भोग नहीं होता। यही विशुद्ध चैतन्य-अवस्था है। इस अवस्थामें द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि तीनों अभिन्नरूप रहते हैं।

जिज्ञासु—तब तो निवृत्ति-धर्म स्वाभाविक धर्म है,—उसके लिये कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। भूखेका पेट भरनेपर उसमें जैसे अन्नसंग्रहकी चेष्टा नहीं रहती, वह आप्तकाम होकर निश्चेष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रवृत्ति-धर्मके पूर्ण होनेपर आप्तकाम-भावका आविर्भाव हो जानेके कारण निवृत्तिका अपने आप ही उदय हो जाता है। अतएव निवृत्ति-धर्मकी साधना नहीं है। जो स्वाभाविक है, वह तो स्वभावके नियमसे आप ही होता है, उसके लिये चेष्टाकी आवश्यकता नहीं होती। बरं चेष्टा तो स्वाभाविक प्रवाहमें प्रतिबन्धक होती है।

वक्ता—निवृत्ति-धर्म जैसे स्वाभाविक है, ठीक वैसे ही प्रवृत्ति-धर्म भी स्वाभाविक ही है। तुमको अबतक जो कुछ कहा गया है उसे भलीभाँति समझ लेनेपर यह बात धारणामें आ जायगी कि प्रवृत्ति-धर्मका अनुष्ठान भी किसी कृत्रिम उपायसे नहीं हो सकता। अभिप्राय यह कि, जबतक पुरुष अपने पुरुषकारको त्यागकर, अभिमान छोड़कर प्रकृतिका आश्रय ग्रहण नहीं करता, तबतक प्रवृत्ति या निवृत्ति किसी भी प्राकृतिक या स्वाभाविक धर्मका अनुष्ठान नहीं होता। यौवनमें जैसे भोग स्वाभाविक है, वैसे ही बुढ़ापेमें त्याग भी स्वाभाविक है। भोगके मूलमें त्याग न रहनेसे जैसे वह भोग धर्मरूपमें परिणत होनेके योग्य नहीं है, इसी प्रकार त्यागके मूलमें भोग न रहनेसे वह त्याग भी धर्मपद-वाच्य नहीं हो सकता। स्वाभाविक या प्रकृतिगत धर्ममें भोग और त्याग स्वभावके नियमसे यथासमय अपने आप आ जाते हैं। किसीके लिये चेष्टा नहीं करनी पड़ती। धर्मका जो नित्य आदर्श है, अर्थात् जो यथार्थ सनातन-धर्म है, उसमें अहंकारमूलक कृत्रिम साधना कुछ भी नहीं रहती। प्रवृत्ति-साधनके प्रारम्भिक विन्दुसे लेकर निवृत्ति-साधनके अन्तिम विन्दुपर्यन्त समस्त साधनचक्र प्राकृतिक या सनातन-साधन है। देश, काल अथवा सांसारिक विचित्रताके कारण इस नित्य साधनके आदर्शमें किसी प्रकार भी परिवर्तन नहीं होता।

जिज्ञासु—आपने प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्मका जो स्वरूप बतलाया, यही सनातन-धर्मका रहस्य प्रतीत होता है। परन्तु जगत्में जितने ऐतिहासिक धर्म हैं—यहाँतक कि, सनातन-धर्मके नामसे जो व्यावहारिक धर्म प्रचलित हैं, उनमेंसे कोई-सा भी बहिरङ्गरूपसे आपके द्वारा वर्णन किये हुए प्रवृत्ति-धर्मके अन्तर्गत नहीं जान पड़ता। तब, हमलोग जगत्में जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति-धर्म मानते हैं, वह क्या वस्तुतः कुछ भी नहीं है?

वक्ता—कुछ भी नहीं है, यह किसने कहा? जो स्वाभाविक है, वही सनातन है। जो पुरुषकार-मूलक है, वह सनातन नहीं हो सकता। तुम जिसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहते हो अर्थात् तुम्हारे शास्त्रमें जिसे धर्म-पथ और मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है, वह एक प्रकारसे पौरुष-धर्म है। क्योंकि निजमें कर्ता हुए बिना उस धर्मका अनुष्ठान नहीं हो सकता। मैं जिस धर्मकी बात कह रहा हूँ, वह पौरुष-धर्म नहीं है, अर्थात् वह कृत्रिम धर्म नहीं है—निजमें कर्ता बनकर उसका अनुष्ठान नहीं करना पड़ता, वस्तुतः उसका कोई भी अनुष्ठाता नहीं है—हृदयमें भावका विकास होनेपर वह अपने आप ही प्रकट होता है और वह स्रोत अपने आप ही बहता रहता है। जीव जबतक आत्म-समर्पणपूर्वक अर्थात् व्यावहारिक समस्त धर्मोंका त्याग करके एकमात्र प्रकृतिकी शरण नहीं लेता, तबतक प्रकृतिके धर्मका विकास नहीं होता। उसे धर्म-मन्दिरके बाहर ही पड़े रहना पड़ता है।

वत्स! अभिमान रहते धर्मकी योजना नहीं होती। अभिमानशील जीव नित्य प्रवृत्ति-धर्मका भी आचरण करनेमें असमर्थ होता है। जैसे शुक्लपक्षका चन्द्रमा एक-एक कला बढ़ता हुआ पूर्णिमाके दिन पूर्ण-भावको प्राप्त हो जाता है और फिर कृष्णपक्षमें उसकी वे सारी कलाएँ क्रमशः क्षीण होते-होते अन्तमें वह सर्वथा कला-हीन अवस्थाको प्राप्त होता है, इसी प्रकार जीव नित्य प्रवृत्ति-पथपर स्थित होकर स्वभावके आकर्षणसे सर्व-शक्तिसम्पन्न और परमानन्दकी अवस्थाको आप ही प्राप्त हो जाता है, एवं तदनन्तर क्रमशः उसकी परिपूर्ण सर्वशक्ति उपसंहृत होनेपर उसका आत्म-समर्पण पूर्णताको प्राप्त करता है। इस शुक्लपक्षके आदर्शके अनुसार ही सामाजिक जीवनमें गार्हस्थ्य-धर्मका विकास होता है और कृष्णपक्षका आदर्श ही संन्यास-धर्मका मूल है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अब हम पूर्णविन्दु और शून्यविन्दु—विन्दुकी इन दोनों अवस्थाओंको समझ सके हैं। इन दोनों विन्दुओंके समरस होनेपर प्रवृत्ति-धर्म और निवृत्ति-धर्म एकाकार हो जाते हैं, तब परमधर्मका उदय होता है। इस परमधर्मका रहस्य एकमात्र परमेश्वरके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता। उन्हींकी कृपासे कोई-कोई भाग्यवान् जीव चकितकी भाँति उसका आभासमात्र पाते हैं; तुमने तो बौद्ध-धर्मकी आलोचना की है। इससे तुम यह जानते ही हो कि नागार्जुनादि महापुरुषोंने संसार और निर्वाणको इशारेसे एकरस और अद्वय ही बतलाया है। यही परम-धर्मका आभासमात्र है। कारण, प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप विरुद्ध स्रोतोंमें यहाँ समन्वय हो गया है।

जिज्ञासु—इस परमधर्मकी बात अभी रहने दीजिये। क्योंकि यह अत्यन्त ही गम्भीर और दुर्दर्श है। अभी तो निवृत्ति-धर्मके सम्बन्धमें ही कुछ बातें पूछनी हैं। प्रवृत्ति-

धर्मके चक्रमें प्रवेश करनेके लिये जैसे एक अधिकार-सम्पत्तिकी आवश्यकता है, वैसे ही क्या प्रवृत्ति-धर्मकी पूर्णता होनेपर, निवृत्तिकी ओर चलनेके लिये भी किसी प्रारम्भिक योग्यताकी आवश्यकता है ?

वक्ता–नहीं, इसमें पृथक् योग्यताकी कोई आवश्यकता नहीं है। प्रवृत्तिकी पूर्णता होते ही निवृत्ति-पथपर चलनेकी योग्यता हो गयी, यह समझ लेना चाहिये। परन्तु कोई साधक स्वाधीनरूपसे इस पौर्णमासीके अन्दर ही रह सकते हैं, उधर, कोई इच्छा होनेपर कृष्णपक्षमें प्रवेश करके सारे चक्रको समेट ले सकते हैं। परन्तु एक बात है, प्रवृत्ति-गति और निवृत्ति-गति एक ही चक्राकार गतिके अन्तर्गत होनेपर भी दोनोंमें विरोध है। गतिके निरुद्ध न होनेपर, यह विरोध आप ही समताको प्राप्त हो जाता है।

जिज्ञासु–हमलोग जगत्‌में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, वह तो आपके द्वारा वर्णित प्रवृत्ति और निवृत्ति-धर्मसे पृथक् ही प्रतीत होती हैं। इन दोनोंमें क्या पार्थक्य है, जिसके लिये आप इस जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्तिको धर्मके नित्य आदर्शके अन्तर्गत नहीं मानते ?

वक्ता–जगत्‌में जिसको प्रवृत्ति और निवृत्ति कहते हैं, उसे एक प्रकारसे कृत्रिम और पौरुष-धर्म कहा जा सकता है। अहङ्कारकी प्रेरणासे अथवा 'मैं करता हूँ' इस बोधको रखते हुए, जो कुछ भी किया जाता है, वह सभी पुरुषकारका ही प्रकार-भेद है। प्रकृतिके स्रोतमें पड़े बिना प्रकृति-धर्मका उदय ही नहीं हो सकता। प्रकृतिके स्रोतमें प्रवृत्ति और निवृत्तिका वास्तविक विरोध नहीं है; क्योंकि एकसे ही दूसरीका आविर्भाव होता है। जैसे बालक युवक होता है और युवक ही वृद्धरूपमें परिणत होता है, वैसे ही प्रवृत्तिसे ही अपने आप निवृत्तिका उदय होता है। जैसे एक अखण्ड जीवन-प्रवाहमें बाल्य, यौवन और वार्द्धक्य सभीको स्थान है। वैसे ही नित्य स्वाभाविक धर्ममें प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रभृति सभीको स्थान है। इस धर्मका कोई अनुष्ठाता नहीं है। इससे यह मुक्त धर्म है। परन्तु पुरुष जबतक अपनेको कर्ता मानकर अभिमान करता है और इस अभिमानके वश होकर सब कर्मोंका सम्पादन करता है, तबतक उसके वे सभी कर्म कृत्रिम हैं। जागतिक प्रवृत्ति कृत्रिम क्यों है, जरा विचार करनेसे ही यह बात समझमें आ जाती है। मनुष्य जो कुछ चाहता है, वह ठीक-ठीक उसको नहीं पाता और जो कुछ पाता भी है, वह भी ठीक-ठीक नहीं पाता। सुतरां जैसे उसका चाहना अपूर्ण है वैसे ही उसकी प्राप्ति भी अपूर्ण है। जैसे—चक्षु रूप देखनेके लिये व्याकुल है। परन्तु तुम यह निश्चय समझो कि, जीवके चक्षुकी यह व्याकुलता यथार्थ व्याकुलता नहीं है। यदि सचमुच आँखें रूपके लिये व्याकुल होतीं तो निश्चय ही वह रूपके दर्शनकर कृतार्थ हो जातीं। फिर यथार्थ रूप-दर्शन करनेकी उसकी शक्ति ही कितनी है ? वैसे किसी एक रूप या आलोकसामान्य सौन्दर्यकी आभा यदि कभी भाग्यवश उसके नेत्रोंके सामने आ जाती है तो उसके भोग करनेकी उसमें शक्ति ही नहीं रहती। अतएव जागतिक दृष्टिसे देखा जानेपर भी यह स्पष्ट समझमें आता है कि सांसारिक जीव ठीक-ठीक भोग करनेमें भी समर्थ नहीं होता। संसारी जीव किसी प्रकारके भोगका अधिकारी नहीं है। जब उसका भोग ही तृप्त नहीं होता, कल्प-कल्पान्तरतक काम्य-वस्तुओंका उपभोग करनेपर भी जब उसकी कामना तृप्त नहीं हो सकती, तब उसके लिये निवृत्तिका आश्रय ग्रहण करना कैसे सम्भव हो सकता है ? कारण, तुमसे यह पहले ही कहा जा चुका है कि आकांक्षा अतृप्त रहते शान्ति या निवृत्तिके मार्गपर चलनेकी सम्भावना नहीं है। संयम आदिका जो आचरण किया जाता है, यह निवृत्ति-धर्मकी साधना नहीं है, यह तो चित्त-शुद्धिके लिये किये जानेवाले आवश्यक उपायमात्र हैं। याद रखना चाहिये कि अशुद्ध-चित्त जीव नित्य धर्ममें प्रविष्ट नहीं हो सकता—चित्त-शुद्धि हुए बिना प्रकृतिके स्रोतमें पड़नेकी सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये प्रवृत्ति-धर्म किंवा निवृत्ति-धर्ममें कोई अधिकार नहीं होता।

यह जो नित्य प्रवृत्ति-निवृत्ति-धर्मकी बातें तुमसे कहीं, यही यथार्थ उपासना है। ज्ञानका उन्मेष होनेपर ही इसका आरम्भ होता है। और इसके अवसानके साथ ही-साथ ज्ञानकी पूर्णता सिद्ध होती है।

जिज्ञासु–आपकी बातोंसे यह समझमें आता है कि, जागतिक प्रवृत्ति-निवृत्ति अहङ्कारमूलक कर्मोंका ही प्रकार-भेद है। वस्तुतः इसे प्रवृत्ति या निवृत्ति कहना उचित नहीं है। कारण, कर्मके मूलमें अहङ्कार होता है और उपासनाके मूलमें स्वभाव रहता है—इसलिये इन दोनोंमें यथेष्ट भेद है।

वक्ता–तुमने यह ठीक कहा है। आज हमलोगोंने धर्म रहस्यके एक अङ्गकी कुछ आलोचना की। अब तुम्हें और जो कुछ पूछना हो सो पूछ सकते हो ! (क्रमशः)

पूर्ण समर्पण



वास्तविक पूर्ण समर्पण करना नहीं पड़ता, अपने आप हो जाता है। जबतक कोई समर्पण करनेवाला धर्मी कर्ता रहता है, तबतक अहङ्कार शेष है और तबतक पूर्ण समर्पणमें कमी है। एक ऐसी स्थिति होती है, जब कि, देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहङ्कार इन सबके समष्टि-यन्त्रपर प्रभु अपना कब्ज़ा कर लेते हैं—वह यन्त्र प्रभुका स्वच्छन्द क्रीड़ा-स्थल या लीला-भूमि वृन्दावन बन जाता है। इस अवस्थामें उसमें कोई भिन्न कर्त्ता नहीं रह जाता। प्रभु उस यन्त्रसे अपनी इच्छानुसार मनमाना कार्य लेते हैं—लेते नहीं, उस यन्त्रमें निरङ्कुश लीला करते हैं। जैसे लावारिस सम्पत्तिपर सरकारका अधिकार हो जाता है, इसी प्रकार उस लावारिस यन्त्रपर प्रभुका अधिकार स्वाभाविक ही हो जाता है। अहङ्कारका एक क्षुद्र कण भी जबतक शेष रहता है, तबतक यन्त्रको यह लावारिसपना प्राप्त नहीं होता। और ऐसा हुए बिना प्रभु उसपर अधिकार नहीं जमाते। स्थूल देहसे लेकर अहङ्कार-तक जब सारी वस्तुएँ कर्माकर्मरूप सञ्चित सम्पत्ति-सहित किसीकी अपनी चीज़ नहीं रह जातीं, तब उन सबपर प्रभु स्वयं आ विराजते हैं। फिर प्रभुको बुलाना नहीं पड़ता। न यही कहना पड़ता है कि नाथ! हमें शरण दीजिये। क्योंकि कहनेवाला कोई वहाँपर प्रकटरूपसे रह ही नहीं जाता। जैसे चुम्बक शुद्ध लोहेको खींच लेता है, इसी प्रकार वह यन्त्र स्वयमेव ही परमात्माके द्वारा खिंचा जाकर उनका परम और चरम आश्रय पा जाता है अथवा प्रभु स्वयं उसके सहज अकर्तृक आकर्षणसे खिंचकर उसमें आ विराजते हैं और उसके प्रत्येक अवयवमें अपना कार्य करने लगते हैं। इसीसे यह पूर्ण समर्पण करना नहीं पड़ता, हो जाता है।

इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये पहले शरणागतिका साधन करना पड़ता है, जिससे आधार-यन्त्रकी परम शुद्धि होकर वह प्रभुकी स्वच्छन्द लीला-भूमि बननेकी योग्यता प्राप्त करता है। इस शरणागतिके साधनमें अनेक भाव हैं, जिनमें नीचे लिखे पन्द्रह मुख्य हैं—

१–नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना।

२–प्रभुको ही अखिल विश्वरूपसे प्रकट समझना।

३–कर्ममात्रमें प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिका कार्य देखना।

४–प्रभुको ही सबसे बढ़कर एकमात्र परम प्रियतम समझना।

५–प्रभुपर पूर्ण विश्वास होना।

६–सर्वथा-सर्वदा प्रभुके अनुकूल कार्य करना।

७–सब कुछ प्रभुका समझना और प्रभुसे कभी कुछ भी न चाहना।

८–प्रभुके प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न होना और अनुकूलताका अनुभव करना।

९–प्रभुको ही अपना परम स्नेही पिता, परम वत्सलतामयी माता, परम हितैषी बन्धु, परम सुहृद् सखा, परम कृपालु स्वामी, परम सहायक धन, परम उत्तम गति और परम प्रकाशकारी विद्या समझना। एवं कृतज्ञता-पूर्ण हृदयसे सदा उनके नाम-गुणका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना।

१०–प्रत्येक शुभ कर्ममें प्रभुको प्रेरक और सञ्चालक समझना।

११–प्रभुके प्रतिकूल कोई भी कार्य न करना और प्रत्येक प्रतिकूल वस्तुसे उदासीन रहना, चाहे वह लौकिक दृष्टिसे कितनी ही आवश्यक, उच्च या प्रियतर हो ।

१२–प्रभुके यथार्थ शरण-प्राप्त या शरणका मर्म समझनेवाले पुरुषोंका सङ्ग करना ।

१३–अपनेको प्रभुका सेवक समझना ।

१४–प्रत्येक पाप-कार्यमें अपनेको कर्त्ता मानना ।

१५–अन्तःकरणके विशुद्ध होकर प्रभुके प्रति लगनेके लिये आर्तभावसे प्रभु-प्रार्थना करना ।

इनमें कुछ साधारण स्थितिके भाव हैं और कुछ शरणके साधनकी बहुत ऊँची स्थितिके । परन्तु जबतक वे उच्च भाव स्वाभाविक लक्षणरूप न होकर करनेकी वस्तु रहते हैं तबतक वे साधन ही हैं । इन साधनोंके पूर्ण होनेपर आधार परम शुद्ध होकर सर्वथा प्रभुका निवास या क्रीड़ाक्षेत्र बनने योग्य हो जाता है, तदनन्तर तुरन्त ही भगवान् उसमें आ विराजते हैं । बस, वही पूर्ण समर्पण है ।

अब उपर्युक्त पन्द्रह साधनोंपर संक्षेपमें क्रमशः कुछ विचार करना है —

१–नित्य-निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना, शरणागतिका सर्वप्रधान भाव है । किसी फलके लिये, प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये या आत्म-सुखके लिये साधक जो भजन करता है वह इससे नीचा भाव है । इस भावमें कोई भजन करता नहीं, भजन होता है । क्यों होता है ? इसीलिये कि वह ऐसा करनेको बाध्य है । जैसे जीवन-धारणके लिये श्वास लेना अनिवार्य और स्वाभाविक है, वैसे ही उसके लिये भजन करना अनिवार्य और स्वाभाविक है । सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते–प्रत्येक क्रिया करते श्वासोच्छ्वासकी भाँति भजन होता ही रहता है । कभी उस भजनसे विराम नहीं होता । यदि किसी कारणसे कदाचित् क्षणभरको हो जाता है तो उस समय दम घुटनेपर जैसी व्याकुलता होती है, उससे कहीं अधिक व्याकुलता होती है । इसी भावका वर्णन करते हुए देवर्षि नारदजीने '*तद्विस्मरणे परमव्याकुलता*' कहा है । इस प्रकार यह भजन नित्य और निरन्तर तो होता ही है, साथ ही इसमें चित्तकी अनन्यता भी सदा समानरूपसे वर्तमान रहती है; प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी कभी चित्तमें नहीं आ पाती । इतनी गुंजाइश ही नहीं रहती कि चित्तवृत्ति क्षणभरके लिये किसी अन्यकी सत्ता देख सके । इस भावके प्राप्त होनेपर पूर्ण समर्पण होते देर नहीं लगती । श्रीभगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(गीता ८ । १४)

'हे अर्जुन ! जिसका चित्त अनन्य है (केवल मुझमें ही लगा है) ऐसा पुरुष नित्य-निरन्तर मुझको ही स्मरण करता रहता है । और उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको मेरी प्राप्ति सुलभ है । यों अनन्य भजन करनेवाला किसी भी लोभसे आधे क्षणके लिये भी भजन नहीं छोड़ता । भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥
(११ । २ । ५३)

'देवतागण निरन्तर ध्यानयुक्त होकर खोज करते हुए भी जिन भगवत्-पदारविन्दोंको प्राप्त नहीं कर सकते, त्रिलोकीका सम्पूर्ण वैभव मिलनेपर भी जो आधे क्षण और आधे पलके लिये भी उन चरणोंका चिन्तन नहीं छोड़ता, वही मुख्य भगवद्भक्त है ।'

भगवान्‌के अनन्य भजन करनेवाले भक्त ऐसे ही हुआ करते हैं ।

२–समस्त संसार प्रभुसे उत्पन्न हुआ है, प्रभुमें निवास करता है और प्रभुमें ही विलीन हो जायगा। यह उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी वस्तुतः प्रभुकी लीला है । एकमात्र प्रभु ही हमलोगोंकी विकृत-दृष्टिमें भिन्न-भिन्न रूपोंसे भास रहे हैं। स्वयं भगवान् कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(गीता ७ । ७)

'हे अर्जुन ! मेरे अतिरिक्त दूसरी वस्तु किञ्चित् भी नहीं है, यह सम्पूर्ण संसार सूतमें सूतके मणियोंकी भाँति मुझमें गुँथा है ।' आगे चलकर आप कहते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
(गीता ९ । ४-५)

यह समस्त जगत् मुझ अव्यक्त-मूर्ति (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) से परिपूर्ण है और ये समस्त चराचर भूत मुझमें स्थित हैं । मैं उनमें स्थित नहीं हूँ । और वे भूत भी मुझमें स्थित नहीं हैं। (यह सारा मेरे योगैश्वर्यका—मेरी अघटनघटनापटीयसी माया-शक्तिका परिणाम है) तू मेरे इस योग और ऐश्वर अर्थात् माया और प्रभावको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और उन्हें उत्पन्न करनेवाला भी मैं वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं हूँ ।

इस पहेलीका अर्थ यही है कि एक प्रभु ही जलसे बर्फकी भाँति जगत्‌में परिपूर्ण हैं—जगत् मानो बर्फ है और प्रभु जल हैं । यह समस्त जगत् प्रभुके संकल्पसे उत्पन्न और संकल्पके आधारसे ही प्रभुमें स्थित है। कोई वस्तु भिन्न हो तो उसमें किसीके पूर्ण या व्यापक होनेका प्रश्न उठे, इसलिये प्रभु किसीमें हैं भी नहीं । और इसी प्रकार अन्य वस्तुका सर्वथा अभाव होनेसे वे वस्तुएँ भी प्रभुमें नहीं हैं । यह तो प्रभुकी लीला है जो न होनेपर भी अनेक प्रकारके दृश्य दिखलाती और नानात्वकी रचना करके सबको परस्पर मोहित करती है । वस्तुतः एक प्रभु-ही-प्रभु हैं ।

इस भावके हुए बिना नित्य-निरन्तर अनन्य भजन नहीं हो पाता । इसी भावमें डूबकर भक्त चराचरमें परमात्माके दर्शन कर—भगवान्‌के कथनानुसार '*वासुदेवः सर्वमिति*' का अनुभवकर रागद्वेष छोड़कर सबको प्रणाम करता है । गोसाईंजी इसी परम पुनीत भावमें निमग्न होकर कहते हैं—

सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रणाम जोरि युगपानी॥

फिर आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी सबमें केवल एक वही दीखता है । कोई कहने-सुननेवाला पृथक् रह ही नहीं जाता ।

जिनके दृग हरि-रँग रँगे, हिय हरि रहे समाय।
नभ-जल-थवनि-अनिल-अनल, सबमें श्याम दिखाय॥
कहि न जाय मुखसों कछू, श्यामप्रेमकी बात।
नभ-जल-थल-चर-अचर सब, श्यामहिं श्याम लखात॥
ब्रह्म, नहीं, माया नहीं, नहीं जीव, नहिं काल।
अपनीहू सुधि ना रही, रह्यो एक नँदलाल॥
को, कासौं, केहि विधि, कहा, कहै हृदैकी बात।
हरि हेरत हिय हरि गयो, हरि सर्वत्र लखात॥

३–भगवान्‌की दो प्रकृति हैं—एक जड अपरा प्रकृति और दूसरी चेतन जीवरूप परा प्रकृति। इन्हीं दोनों प्रकृतियोंसे जगत् उत्पन्न होता है। भगवान् इन दोनोंमें अनुस्यूत हैं। वे ही जलके रस, चन्द्र-सूर्यके प्रकाश, आकाशके शब्द, पृथ्वीके गन्ध, अग्निके प्रकाश, वायुकी धारणशक्ति, जीवनके जीवन, पुरुषोंके पुरुषत्व,

बुद्धिमानोंकी बुद्धि, तेजस्वियोंके तेज और मनस्वियोंके मन हैं । सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाले समस्त भावोंका उदय उन भगवान्‌से ही होता है । त्रिगुण भावोंसे मोहित मनुष्य समस्त भावोंके मूलाधार, गुणोंसे परे अविनाशी नित्य अव्यय भावरूप परमात्माको नहीं जानते । वस्तुत वही अन्तर्विहारी प्रभु शरीररूप यन्त्रपर आरूढ़ हुए समस्त प्राणियोंको उनके कर्मानुसार अपनी मायासे घुमाया करते हैं । पेडका एक पत्ता भी उनकी प्रेरणा और शक्ति बिना नहीं हिल सकता । अग्नि और वायु उन्हींकी शक्तिसे वस्तुमात्रको जलाते और उडाते हैं । उनकी प्रेरणा और शक्ति ही सबके जीवन, क्रिया और स्थितिका आधार हैं । मनुष्य भ्रमसे अपनेको कर्ता मानकर बँधता है और जहाँतक यह कर्तापनका भाव है वहीतक उसकी अपने स्वल्प सीमाबद्ध जीव-भावके सुख-दु खके हेतुरूप कर्मोंमें आसक्ति है, इन्द्रियाराम पुरुषोंकी यह आसक्ति ही उनके द्वारा दुष्कर्म होनेमें कारण बनती है । जो पुरुष वस्तुत इस तत्वको समझ लेता है कि मैं कुछ भी नहीं करता, इस देहयन्त्रके द्वारा जो कुछ होता है, सो प्रभुकी प्रेरणा और शक्तिसे ही होता है, वह कभी दुष्कर्म—विकर्म नहीं कर सकता । उसके द्वारा होनेवाला प्रत्येक कार्य प्रभुप्रेरित होनेसे स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल, सर्वथा शुद्ध और सहज लोकहितकर होता है । यों तो वस्तुत. सभी स्थितियोंमें—शुभाशुभ चेष्टामात्रमें ही प्रभुकी प्रेरणा और शक्ति ही खेला करती है । महाभारतके भयानक युद्धमें प्रत्यक्षदर्शीने देखा था कि वहाँ केवल भगवान्‌का चक्र चल रहा था और शक्तिरूपा द्रौपदी खप्पर भर रही थी । परन्तु विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि अज्ञानावृत होनेके कारण ऐसा न मानकर अपने अहङ्कारसे कर्तापनका आरोप करती रहती है, कर्तृत्वभावसे किये हुए कर्म—(जबतक प्रभुके निमित्त निष्काम भावसे नहीं होते) फलोत्पादक होनेके कारण बन्धनकारक होते ही हैं । जब मनुष्य केवल 'रघुनाथ गुसाईंको ही उरप्रेरक' समझकर सर्वभावसे उनके शरण हो जाता है, तब उसे शीघ्र ही परम शान्ति मिल जाती है । श्रीभगवान् कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८ । ६२)

'हे अर्जुन ! तू सर्वभावसे उस अन्तर्विहारी, प्रेरक परमेश्वरकी शरण हो जा । उस परमात्माके प्रसादसे परम शान्ति और सनातन धामको प्राप्त हो जायगा ।'

इस भावकी प्राप्तिसे प्रभु-शरण होनेमें बड़ी सहायता मिलती है । यह भी शरणागतिके साधनोंमें एक प्रधान साधन है ।

४—प्रियतम अनेक नहीं हो सकते । वह एक ही होता है । जगत्‌के समस्त प्रिय और प्रियतर पदार्थ परम प्रियतमके चरणोंपर सहज ही न्योछावर कर दिये जाते हैं । कोई भी वस्तु ऐसी नहीं होती जो प्रियतमकी प्रतिद्वन्द्विता कर सके । जबतक हृदयमें प्रियतमका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव रहता है, तबतक वास्तविक प्रियतमभावकी स्थापना ही नहीं हुई । प्रियतम-भावके प्राप्त हो जानेपर उसके सामने सभी पदार्थ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होने लगते हैं । देवर्षि नारदने इस प्रियतमभावके उपासकोंमें भाग्यवती श्रीकृष्णप्रिया व्रजगोपियोंका उदाहरण दिया है, *'यथा व्रजगोपिकानाम् ।'* गोपियाँ भगवान्‌से कहती हैं—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।

तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३२-३३)

'हे प्रियतम ! आप धर्मज्ञ हैं । आपने जो कहा कि पति, सन्तान और सुहृदोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है सो हम मानती हैं । आपके इसी उपदेशके अनुसार उपदेशदाता आप ईश्वरकी सेवासे ही सबकी सेवा सिद्ध हो जायगी, क्योंकि आप समस्त शरीरधारियोंके प्रिय, बन्धु और आत्मा हैं । प्रियतम ! बुद्धिमान् लोग आपपर ही प्रेम करते हैं क्योंकि आप नित्य प्रिय आत्मा हैं (वास्तवमें आत्मा ही तो प्रियतम है, आत्माके बिना) पति, पुत्रादि क्या सुख दे सकते हैं ? वे तो सब दुःख देनेवाले ही हैं । अतएव हे परमेश्वर ! हमपर प्रसन्न होइये और हमारी बहुत दिनोंकी आशाको नष्ट न कीजिये ।'

आत्मासे बढ़कर कोई भी प्रिय नहीं है । जगत्‌में भिन्न भिन्न वस्तुओंसे—सम्बन्धियोंसे मनुष्य जो प्रेम करता है सो आत्मसुखके लिये ही करता है । परमात्मा उस आत्माके भी आत्मा हैं, मूलस्वरूप हैं, इसलिये उनसे बढ़कर प्रियतम दूसरा कोई हो ही नहीं सकता । इसीलिये गोपियाँ कहती हैं—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदामृतवेणुगीतं
संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥
व्यक्तं भवान्व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो !
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ४०-४१)

'हे प्रियतम ! त्रिलोकीमें ऐसी कौन स्त्री (प्रकृतिकी मूर्ति) है जो आप (परम पुरुष)के अमृतमय पदोंसे युक्त बाँसुरी-गानको सुनकर और आपके त्रिलोकमोहन स्वरूपको देखकर मोहित न हो जाय और उसका मन अपने धर्म (अज्ञानमय कर्म) से न डिग जाय ? आपके इस त्रिलोकसुन्दर रूपको देखकर और आपकी मुरली-धुनि सुनकर पक्षी, पशु, मृग, गौ और वृक्ष भी आनन्दसे पुलकित हो जाते हैं । जैसे आदिपुरुष नारायण देवोंकी रक्षा करते हैं वैसे ही आप व्रजवासियोंकी आर्ति (जागतिक त्रिताप) हरनेके लिये प्रकट हुए हैं, यह निश्चय है । हे बन्धो ! इसलिये आप हम सेविकाओंके तप्त हृदयपर और अवनत मस्तकोंपर अपना (अभयद) करकमल रखिये ।'

इसप्रकार जो भुक्ति-मुक्ति, अनुरक्ति-विरक्ति, सबसे मुँह मोड़कर—सबसे नाता तोड़कर अपने सारे दिलको एकमात्र प्यारेका रंगमहल बना सकता है, जहाँ उस परम प्रियतमके सिवा दूसरेको प्रवेशका ही अधिकार नहीं । यदि कोई प्रवेश करना ही चाहे तो प्रियतमकी पूजा-सामग्री बनकर—प्रियतमका पुजारी बनकर, गोपी बनकर—प्रवेश कर सकता है, अन्यथा सबके लिये सदाको उसके हृदयके द्वार बन्द हो जाते हैं, वही प्रियतम-भावको प्राप्त हो सकता है ।

गोपियाँ उद्धवसे कहती हैं—

नाहिन रह्यो हियमें ठौर ।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।
हृदयतें वह स्याममूरति छिन न इत उत जात ॥
....
(सूरदासजी)

कविवर रत्नाकरजीने गोपियोंके अति सुन्दर भावका वर्णन किया है—

सरग न चाहैं, अपबरग न चाहैं सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम ।
कहै रतनाकर तिहारे जोग-रोगमाहिं
तन मन साँसनिकी साँसति प्रमानैं हम ॥
एक व्रजचन्द कृपा-मन्द-मुसकानिहींमैं
लोक परलोककौ अनंद जिय जानैं हम ।

जाके या वियोग-दुखहूमें सुख ऐसो कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुखहूमें दुख मानें हम॥

फिर उसके लिये, प्राणाधार परम प्रियतम साँवरे-के सिवा जगत्में और कोई रह ही नहीं जाता। रहीमने कहा है—

प्रीतम छबि नैननि बसी, परछबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय॥

यह बड़ी ऊँची उपासना है। यहाँ केवल इस दृश्य जगत्से ही वैराग्य नहीं है, प्रियतमके सिवा किसी भी पदार्थमें राग रह ही नहीं जाता। अपनेको ही परम प्रियतम माननेवाले ऐसे प्रियतम भक्तोंका गुणगान करते हुए स्वयं भगवान् गोपीभावको प्राप्त अपने भक्त उद्धवसे कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४-१६)

'जिसने अपना आत्मा मुझमें अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, पातालका राज्य, योगकी आठों सिद्धियाँ, अधिक क्या पुनर्जन्म मिटा देनेवाला सायुज्य-मोक्ष भी नहीं चाहता। हे उद्धव! (मुझको ही एकमात्र परम प्रियतम माननेवाले ऐसे परमानुरागी) तुम भक्त लोग मुझे जैसे प्यारे हो, वैसे प्यारे मुझे ब्रह्मा, शंकर, बलभद्र, लक्ष्मी और अपना आत्मा भी नहीं है। ऐसे निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी भक्तोंकी चरणधूलिसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा ही उनके पीछे-पीछे फिरा करता हूँ।' गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

जिन्हहि राम तुम प्रान पियारे। तिन्हके मन शुभसदन तुम्हारे॥

(शेष आगे) हनुमानप्रसाद पोद्दार



संसारकी असारता

पृथु नल जनक जजाति मानधाता ऐसे,
केते भये भूप जस छितिपर छाइगे।
काल-चक्र परे सक सैकरन होत जात,
कहाँलौं गनावौं विधि बासर बिताइगे॥
'बेनी' लाख संपति समाज साज सेना कहाँ,
पाँयन पसारि हाथ खोले मुख बाइगे।
छुद्र छितिपालनकी गिनती गिनावै कौन,
रावन-से बली तेऊ बुल्ला-से बिलाइगे॥

राम घनस्यामके न नामतें उचारैं कबौं,
काम-बस ह्वैकै बाम-गरे बाँह डाली है।
एक-एक स्वास ये अमोल कढ़े जात हाय,
लोल चित यहै ढोल फोरत उताली है॥
'ग्वाल' कवि कहै तू बिचारै बर्ष बढ़े मेरे,
एरे! घटै छिन-छिन आयुकी बहाली है।
जैसे धार दीखत फुहारेकी बढ़त आछे,
पाछे जल घटे हौज होत आवे खाली है॥

केते भये यादव सगर-सुत केते भये,
जात हू न जाने ज्यौं तरैया परभातकी।
बलि बेनु अंबरीप मानधाता प्रहलाद,
कहाँलौं गनावौं कथा रावन ययातकी॥
तेऊ न बचन पाये काल कौतुकीके हाथ,
भाँति-भाँति सेना रची घने दुख घातकी।
चार-चार दिनाको चबाउ चाहै करै कोऊ,
अंत लुटि जैहैं जैसे पूतरी बरातकी॥

संपतिके बढ़ेसौं प्रतिष्ठा बाढ़े बाढ़े सोच,
कहै 'रघुनाथ' ताके राखिवेके रुखको।
मन माँगे स्वादनि लपेटि पेट परयौ तासौं,
अंगमैं अपार संग प्रगटो कलुखको॥
दारा सुत सखाको सनेह सो सँतापकारी,
भारी है बचन यह बड़नके मुखको।
जगतको जितनो प्रपंच तितनो है दुख,
सुख इतनो जो सुख मानि लेनो दुखको॥

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

पुत्रादि प्रिय पदार्थोंका जीवन

इन्द्र—हे भगवन् ! आपने कहा कि आत्मा ही प्रिय है, सो ठीक नहीं। यद्यपि आत्मामें मुख्य प्रियता है तो भी पुत्रादिमें गौण प्रियता सम्भव है, इसलिये पुत्रादि भी प्रिय हैं। फिर आत्मा ही प्रिय है, यह कहना किसप्रकार युक्त हो सकता है ?

दध्यङ—हे इन्द्र ! श्रुतिमें आत्माके सिवा सब पदार्थोंको नाशवान् कहा है। ऐसा विचार करनेपर पुत्रादिमें गौण प्रियता सम्भव नहीं है। जो पुरुष आत्माके सिवा शरीर, पुत्र तथा धनादिको प्रिय कहता है, उसके शरीर, पुत्र तथा धनादि पदार्थ अवश्य नाशको प्राप्त होते हैं। भाव यह है कि पुत्रादि पदार्थ नाशवान् होनेके कारण उनका वियोग अवश्य होता है। कभी मनुष्यके जीवनकालमें ही पुत्रादि पदार्थोंका नाश हो जाता है और कभी उन पुत्रादि पदार्थोंके रहते-रहते ही मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। इन दोनोंमेंसे किसी-न-किसी प्रकार पुरुषका पुत्रादि प्रिय पदार्थोंसे वियोग हो ही जाता है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको पुत्रादि पदार्थोंमें कभी प्रीति नहीं करनी चाहिये। बुद्धिमान्को नाशरहित परमात्मामें ही प्रीति करनी चाहिये, इसी प्रकार केवल आत्माको ही प्रिय जाननेवाले पुरुषको आत्मामें प्रीति रखनेवाले पुरुषके पास जाकर आत्माके सिवा पुत्रादि अन्य पदार्थोंको प्रिय कहना भी उचित नहीं है। यदि कोई मूढ पुरुष सीपीको चाँदी मानकर किसी जानकार परीक्षकके पास जाकर कहे कि यह चाँदी है तो ऐसे मिथ्या वचन कहनेवालेकी बात सुनकर परीक्षक कहता है कि 'अरे! यह तो सीपी है, चाँदी नहीं है।' इतना कहते ही मिथ्या चाँदीका नाश हो जाता है। इसलिये आत्माको प्रिय जाननेवाले विद्वान्के सामने किसी भी पदार्थको प्रिय कहना उचित नहीं है, क्योंकि विद्वान्के समझानेसे प्रिय पुत्रादि पदार्थोंका नाश हो जाता है।

इन्द्र—हे भगवन् ! आत्माको प्रिय जाननेवाले विद्वान् पुरुषके वचनमात्रसे पुत्रादि अनात्म-पदार्थोंका नाश क्योंकर हो सकता है ?

दध्यङ—हे इन्द्र ! एक आत्माको ही जाननेवाला विद्वान् 'पुत्रादि विनाशी हैं' केवल इतने वचन कहकर ही उनका नाश कर सकता है।

इन्द्र—हे भगवन् ! विद्वान् तो राग-द्वेषसे रहित तथा दयालु होता है फिर वह ऐसे वचन क्यों कहेगा कि तेरे पुत्रादि नाशवान् हैं ?

दध्यङ—हे इन्द्र ! विद्वान् चाहे इसप्रकार न कहे तो भी, विद्वान्के सामने मिथ्या वचन कहना उचित नहीं है। क्योंकि श्रुतिने ब्रह्मज्ञानीको ब्रह्मस्वरूप कहा है। इसलिये जिसप्रकार परमेश्वर बिना कुछ वचन उच्चारण किये ही जीवको पुण्य-पापका फलरूप सुख-दुःख देता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी बिना ही कुछ कहे पुण्य-पापका फल सुख-दुःख देता है। जैसे गङ्गाजीके पास जानेसे पाप करनेवालेको दुःख उत्पन्न होता है और पुण्य करनेवालेको सुख उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीके पास सत्य वचनके उच्चारणसे शुभ कर्म होता है और सुख मिलता है एवं असत्य वचन कहनेसे पाप होता है और दुःख मिलता है। इसीलिये विद्वान्को निर्दयताका दोष नहीं लगता।

इन्द्र—हे भगवन् ! ब्रह्मज्ञानीके समीप जाकर

अनात्म-पदार्थको प्रिय कहनेवालेकी हानि किस-प्रकार हो सकती है ? क्योंकि शास्त्रकारोंका कथन है कि पुण्य-पापरूप कर्म इसी जन्ममें सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति नहीं कराते, वे जन्मान्तरमें फलकी प्राप्ति कराते हैं।

दध्यङ--हे इन्द्र ! यद्यपि अधिकतर प्रसंगोंमें तो ऐसा ही होता है परन्तु अत्यन्त उग्र पाप-पुण्यका फल तुरन्त भी मिल सकता है इसलिये ब्रह्मज्ञानीके समीप मिथ्या वचन कहनेसे उग्र पापका फल उसे तुरन्त ही प्राप्त होता है। जब पीपल, तुलसी तथा प्रतिमादि सीमित देवताओंके सामने मिथ्या वचन उच्चारण करनेसे उसका फल तुरन्त मिल जाता है तब बोलनेमें समर्थ ऐसे देवके सामने मिथ्या वचनके उच्चारणसे दुःख क्यों नहीं होगा ? जैसे ब्रह्मज्ञानीके समीप मिथ्या बोलनेसे पुत्रादिका नाश होता है, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीके समीप आत्माको प्रिय कहनेसे पुत्रादिकी आयु बढ़ती है, इसलिये पुत्रादि प्रिय पदार्थोंको जीवित रखनेकी इच्छावालेको भी प्रिय-रूपसे आत्माकी उपासना करनी चाहिये। ऐसा करनेसे उसके प्रिय पुत्रादि पदार्थ बहुत काल जीवित रह सकते हैं।

इन्द्र-हे भगवन् ! उपासनाका क्या स्वरूप है ?

दध्यङ--हे इन्द्र ! ध्यान करने योग्य वस्तु विद्यमान हो अथवा न हो, केवल गुरु और शास्त्रके वचनसे जो मानस-ज्ञान उत्पन्न हो, उस ज्ञानमें विश्वास करके गुरुके उपदेश किये हुए पदार्थमें सजातीय वृत्तिके प्रवाहद्वारा विजातीय वृत्तिका जो रोकना है उसीका नाम उपासना है, जिसप्रकार वेदमें स्वर्ग, मेघ, मनुष्यलोक, पुरुष और स्त्री, इन पाँचकी अग्निरूपसे उपासना कही है, इसमें यद्यपि स्वर्गादि अग्निरूप नहीं हैं तो भी गुरुके वचन-से स्वर्गादिमें पुरुषकी अग्नि-बुद्धि होती है। इसमें विश्वाससे ही स्वर्गादिमें अग्निके आकारवाली सजातीय वृत्तियोंका प्रवाह होता है और सजातीय वृत्ति-प्रवाहसे विजातीय घट आदि विषयका नाश होता है, इसका नाम उपासना है। भाव यह है कि अनुभवरूप प्रमा-ज्ञान तो प्रत्यक्षादि प्रमाण और विषयके अधीन है और उपासना प्रमाण तथा विषयके अधीन नहीं है, वह गुरुके वचनके अधीन है।

आत्माके यथार्थ अनुभवका फल

हे इन्द्र ! आनन्दस्वरूप आत्माको प्रियरूप जाननेवाला पुरुष सर्व देवतारूप होता है, आनन्द-स्वरूप आत्माके ज्ञानसे अधिकारी सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। हे देवराज इन्द्र ! एक बार चारों वेद और छओं वेदाङ्गके जाननेवाले कितने ही ब्राह्मणोंकी एक सभा हुई थी, वहाँ एक विद्वान् ब्राह्मण सब ब्राह्मणोंको सम्बोधनकर इसप्रकार कहने लगे—

ब्राह्मण—हे ब्राह्मणो ! ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्मके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, ऐसा कहनेमें आता है। इसमें मुझे एक संशय है। यदि ब्रह्मज्ञान-से अधिकारीको सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है तो क्या ब्रह्म भी किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है ? अथवा वह किसी पदार्थके ज्ञान बिना स्वतन्त्र ही सर्वात्मभावको प्राप्त हो जाता है ? यदि किसी अमुक पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता हो तो उस पदार्थका नाम क्या है ? और यदि किसी पदार्थके ज्ञान बिना ही ब्रह्म सर्वात्मभाव-को प्राप्त होता हो तो ज्ञानियोंका ज्ञान ही निष्फल है क्योंकि जैसे ब्रह्मको बिना ही ज्ञान सर्वात्मभाव-की प्राप्ति होती है, इसी प्रकार सब अधिकारियोंको भी बिना ही ब्रह्मज्ञानके सर्वात्मभावकी प्राप्ति होनी चाहिये। सर्वात्मभावके लिये ब्रह्मज्ञानका सम्पादन करना निष्फल है। ब्रह्म अपनेसे भिन्न किसी पदार्थके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है अथवा अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष स्वीकार करनेमें तो

ब्रह्मका ज्ञान निष्फल होता है क्योंकि जिस अन्य पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्मको सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, उसी अन्य पदार्थके ज्ञानसे अधिकारियोंको सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो जायगी। इसलिये ब्रह्मज्ञान सम्पादन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि ब्रह्म अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता हो तो भी ब्रह्मज्ञान निष्फल है क्योंकि जिसप्रकार ब्रह्मको अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभाव हो जाता है इसी प्रकार अन्य अधिकारीको भी अपने स्वरूपके ज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति हो जायगी, इसलिये सर्वात्मभाव प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मज्ञान सम्पादन करना निष्फल है, ब्राह्मणके इस प्रश्नको सुनकर वेदवेत्ता सभापति इसप्रकार कहने लगे—

सभापति—हे ब्राह्मणो! सर्वात्मभावकी प्राप्तिके लिये आत्मज्ञानके सिवा कोई भी दूसरा साधन नहीं है। अज्ञानसे और दूसरे किसी पदार्थके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त नहीं होता। किन्तु ब्रह्म-शब्दका तथा आत्म-शब्दका अर्थ जो अपना स्वरूप है, उसीके ज्ञानसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। ब्रह्मको आत्मज्ञानसे सर्वात्मभाव उत्पन्न होता है इसलिये सब अधिकारियोंको भी आत्मज्ञान सम्पादन करना चाहिये। ब्रह्मज्ञानके बिना केवल आत्मज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति किसप्रकार होगी? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ब्रह्म किसी भी प्राणीके आत्मासे भिन्न नहीं है। वही सब प्राणियों-का आत्मा है। इसलिये आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है और ब्रह्मज्ञान ही आत्मज्ञान है। देश, काल तथा वस्तु-परिच्छेदसे रहित जो सबसे अधिक हो, उसका नाम ब्रह्म है और देश, काल तथा वस्तु-परिच्छेदसे रहित जो सबके अन्दर व्यापक-रूपसे स्थित हो, उसका नाम आत्मा है। देश, काल और वस्तु-परिच्छेदसे रहित ब्रह्ममें जो सबसे अधिकना है, वह सबके साथ अभेदरूप होनेसे है, अभेदके सिवा कोई दूसरा अधिकपना ब्रह्ममें नहीं है। इसी प्रकार देश, काल और वस्तु-परिच्छेदसे रहित आत्मामें जो सर्व वस्तुओंमें अन्तर्यामीपना है, वह भी सबके साथ अभेदरूप होनेसे ही है। इसलिये यदि ब्रह्मका और आत्माका किसी एक देश और कालके साथ और इसी प्रकार किसी स्थूल-सूक्ष्म पदार्थके साथ भेद माना जाय तो उपर्युक्त ब्रह्म तथा आत्मा शब्दका अर्थ उनमें न घटेगा। इसलिये ब्रह्म और आत्मा भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं। जैसे 'हस्त' और 'कर' ये दोनों शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं इसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा ये दोनों शब्द सब भेदसे रहित एक अद्वितीय चैतन्यके ही वाचक हैं। लोकमें ब्रह्म और आत्मामें जो भेद दीखता है, वह वास्तविक नहीं है, उपाधिके सम्बन्धसे वह भेद दिखायी पड़ता है। जैसे आकाशमें भेद नहीं है तो भी आकाशमें रहने-वाले मेघ, बिजली आदि आकाशमें भेद उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार ब्रह्ममें वस्तुतः भेद नहीं है तो भी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ भेदरहित ब्रह्ममें भेदकी भ्रान्ति कराते हैं। भेदरहित आकाशमें कल्पित गन्धर्व-नगर, गन्धर्व-नगरमें अनेक प्रकारके घर, घरोंमें अनेक कमरे, कमरोंमें घटादि अनेक पदार्थ, इसप्रकार विचित्रता भासती है। परन्तु जैसे वह सभी कल्पित हैं, इसी प्रकार आनन्द-स्वरूप आत्मामें प्रथम आकाशादि पञ्चभूत, पञ्च-भूतोंमें स्थूल-सूक्ष्म शरीर, शरीरोंमें प्राण, बुद्धि तथा इन्द्रियादि उपाधियोंसे भेद दिखायी देता है। ऐसे कल्पित भेदसे आत्माकी एकताका नाश नहीं होता। आत्मा और ब्रह्मका परस्पर अभेद है। इस-लिये ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है, यह सत्य है क्योंकि समष्टि तथा व्यष्टि उपाधिवाला ब्रह्म, ब्रह्मज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि आत्मा सर्वत्र व्यापक है तो वह अपने व्यापक स्वरूपको क्यों नहीं जानता?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे निद्रामें पड़ा हुआ राजा

द्रा-दोषसे अपने राजापनको नहीं देखता पर पनेको स्वप्रकल्पित दरिद्री देखता है, इसी कार अज्ञानरूप मायासे ढका हुआ आत्मा अपने यापक स्वरूपको नहीं जानता किन्तु अपनेको रिच्छिन्न मानता है। जैसे भेदसे रहित आकाशमें घ, धूम तथा पवनादि उपाधियाँ अनेक प्रकार- े भेद उत्पन्न करती हैं इसी प्रकार भेदरहित शुद्ध आत्मामें भी अज्ञानरूपी माया भेद उत्पन्न करती है। जैसे रात्रिमें अन्धकार सूर्यके प्रकाशको ढक ता है, इसी प्रकार सांसारिक अज्ञानरूपी माया प्रकाशस्वरूप आत्माको ढक देती है। जैसे सब देशाओंमें महान् वनसे घिरे हुए ग्राममें रहनेवालोंको शत्रुकी सेनाका तथा सेनासे ग्राम लूटा जायगा, इसप्रकारका भय नहीं लगता। किन्तु दैवयोगसे जब शत्रु उनको लूट लेते हैं तो उनके अभयरूप अज्ञानका नाश हो जाता है और एक बार नाशको प्राप्त हुआ अज्ञान फिर उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार आत्मारूपी ब्रह्ममें रहे हुए अज्ञानका जब एक बार आत्मसाक्षात्कारसे नाश हो जाता है तो फिर अज्ञान उत्पन्न नहीं होता।

इन्द्र—हे भगवन्! अधिष्ठान आत्माके ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जाता है, यह कैसे हो सकता है? क्योंकि यदि अज्ञान घटादि पदार्थोंके समान भावरूप हो तो उसकी ज्ञानसे निवृत्ति हो सकती है परन्तु अज्ञान भावरूप नहीं है, ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान है।

दध्यङ—हे इन्द्र! ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है क्योंकि आत्मा प्रकाशस्वरूप है और वही ज्ञानस्वरूप है। आत्मासे भिन्न बुद्धि आदि जड पदार्थ ज्ञानरूप नहीं हैं। ज्ञानस्वरूप आत्मा नित्य है, इसलिये उसका अभाव सम्भव नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि एक आत्मा ही ज्ञानरूप हो तो सब लोगोंके अन्तःकरणकी वृत्तिमें 'मुझे घटका ज्ञान हुआ' 'मुझे पटका ज्ञान हुआ' इसप्रकार ज्ञानका व्यवहार कैसे होता है? क्योंकि आपके कथनानुसार आत्माके सिवा कोई दूसरा पदार्थ ज्ञानरूप है नहीं, केवल आत्मा ही ज्ञानरूप है। इसलिये घट-पटादिका ज्ञान न होना चाहिये।

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे लोहेके गोलेमें यद्यपि जलानेकी और प्रकाश करनेकी शक्ति नहीं है तो भी जब लोहेके गोलेके साथ अग्निका तादात्म्य-सम्बन्ध होता है तब वह जलाने और प्रकाश देनेमें समर्थ हो जाता है, इसी प्रकार जड अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें यद्यपि ज्ञान नहीं है तो भी ज्ञानस्वरूप आत्माका जब अन्तःकरणके साथ तादात्म्य अध्यास होता है तो अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें ज्ञान आ जाता है। अन्तःकरणमें आत्माका ही प्रकाश है इसलिये अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो ज्ञानका व्यवहार होता है, वह गौण है, मुख्य नहीं है। मुख्य ज्ञानस्वरूप तो केवल आत्मा ही है।

इन्द्र—हे भगवन्! अन्तःकरणादि जड पदार्थोंमें ज्ञान गुण नहीं है तो भी आत्माका धर्म जो ज्ञान है, उस ज्ञानके अभावको ही अज्ञान क्यों न कहा जाय?

दध्यङ—हे इन्द्र! यदि ज्ञानरूप प्रकाश आत्मासे भिन्न माना जाय तो आत्मामें और प्रकाशमें जड- भावकी प्राप्ति हो। क्योंकि भेदवाले पदार्थ विकार- रूप होते हैं और विकारी पदार्थ जडरूप ही होते हैं, जैसे घटादि पदार्थ जड हैं। यदि आत्मा और प्रकाशको जडरूप माना जाय तो आत्मा अनात्मा हो जायगा, क्योंकि जितने जड पदार्थ हैं, वे सब अनात्मा हैं। जैसे घट तथा घटमें स्थित शुक्ल आदि जड होनेसे अनात्मा हैं, वैसे ही आत्मा और प्रकाश भी जड होनेसे अनात्मा गिने जायँगे। आत्मा और प्रकाशको कोई अनात्मा नहीं मानता इसलिये आत्मासे जैसे प्रकाश भिन्न नहीं है और प्रकाशसे जैसे आत्मा भिन्न नहीं है इसी प्रकार आत्मा और

प्रकाशसे आनन्द भी भिन्न नहीं है। क्योंकि आत्मा और प्रकाश इन दोनोंसे यदि आनन्द भिन्न हो तो उपर्युक्त प्रकारसे आत्मा, प्रकाश और आनन्द ये तीनों अनात्मा हो जाते हैं इसलिये आत्मा और प्रकाशसे आनन्द भिन्न नहीं है। जैसे एक पुरुषका शरीर है, शरीरमें गोरापन है और उस शरीर तथा गोरेपनको प्रकाश करनेवाला एक दीपक है। इन तीनोंमें परस्पर भेद है इसलिये तीनोंमें अनात्मापना अनुभवसे सिद्ध है। इसी प्रकार यदि आत्मा, प्रकाश और आनन्द भिन्न हों तो इन तीनोंको अनात्मापना प्राप्त हो जायगा। इसलिये ये तीनों भिन्न नहीं हैं। केवल आत्मा ही आनन्द और प्रकाशस्वरूप है। यहाँ प्रकाशका अर्थ ज्ञान है। जो लोग ज्ञानस्वरूप आत्मामें ज्ञानधर्म मानते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि ज्ञानरूप आत्मामें जो ज्ञानधर्म है, वह ज्ञानधर्म अन्तःकरणादि जड पदार्थोंके भान होनेके लिये है अथवा आत्माके भानके लिये है। यदि अन्तःकरणादि जड पदार्थोंके भानके लिये आत्माका धर्मज्ञान मानें तो ऐसा मानना नहीं बनता क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मासे अन्तःकरणादि जड पदार्थोंका भान हो सकता है इसलिये आत्मामें ज्ञानधर्म मानना निष्फल है, इसी प्रकार आत्माके भानके लिये आत्मामें ज्ञानधर्म मानना नहीं बनता क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मामें यदि अन्य ज्ञानसे ज्ञानत्व माना जायगा तो आत्मामें जडत्व प्राप्त होगा। जो पदार्थ अन्यके प्रकाशसे प्रकाशित होता है, वह जड है। जैसे नेत्रसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यसे दीपादि पदार्थ प्रकाश्य हैं, इसलिये दीपादि जड हैं, इसी प्रकार आत्मा भी अन्य प्रकाशसे—ज्ञानसे प्रकाशित या भासित हो तो दीपकके समान जड माना जायगा। आत्माका जड होना किसीको भी स्वीकार नहीं है। इसलिये आत्मा अपनेसे भिन्न ज्ञानसे नहीं भासता। अतएव आत्माका ज्ञानधर्म नहीं है। आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। यदि ज्ञानस्वरूप अन्य ज्ञानसे भासता है तो वह ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानसे भासता है या नहीं? यदि कहो कि वह अन्य ज्ञानसे नहीं भासता, स्वयंप्रकाश है तो प्रथम आत्माको ज्ञानस्वरूप स्वयंप्रकाश माननेमें क्या हानि है? ज्ञानस्वरूप आत्माको छोड़कर अन्य ज्ञानको स्वप्रकाश माननेमें तुम्हारा श्रम व्यर्थ है। यदि कहो कि दूसरा ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानसे प्रकाश्य है और इसी प्रकार तीसरा किसी चौथेसे प्रकाश्य है तो अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होती है। इसलिये आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह अन्य किसी प्रकाशसे प्रकाशित नहीं होता। वह अपनेको और अन्तःकरणादि जड पदार्थोंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित करता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और तीनों कालमें विद्यमान है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माका अभाव किसी कालमें भी सम्भव नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! आत्मा सत्यरूप तथा प्रकाशरूप नहीं है किन्तु केवल शून्यरूप है इसलिये शून्यरूप आत्मा प्रकाशस्वरूप कैसे हो सकता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! यदि आत्माको शून्यरूप मानें तो जैसे नरके सींगमें आत्मापना नहीं है इसी प्रकार सत्य आत्मामें भी आत्मापन न रहे, और आत्मामें आत्मापनेका अभाव कोई मानता नहीं, इसलिये वह शून्यरूप नहीं है। इसी प्रकार आत्माको शून्य मानकर उसमें प्रकाश-धर्म मानना, यह भी अत्यन्त विरुद्ध है, सत्य वस्तु ही अधिष्ठान होती है। असत्य वस्तु अधिष्ठान नहीं होती। यदि असत्य वस्तु भी किसीका अधिष्ठान हो तो वन्ध्यापुत्र भी रूपादि गुणोंका अधिष्ठान बने, इसलिये सबका अधिष्ठानरूप आत्मा शून्य नहीं है। यदि आत्मा वन्ध्यापुत्रके समान असत्य हो तो जैसे 'वन्ध्यापुत्र है' ऐसे कोई नहीं मानता, इसी प्रकार आत्माकी भी 'अस्ति' रूपसे प्रतीति न होनी चाहिये। परन्तु सभी प्राणियोंको 'मैं हूँ' ऐसी आत्माकी प्रतीति निरन्तर होती है इसलिये वन्ध्यापुत्रके समान आत्मा असत्य नहीं है, वह सत्यस्वरूप है। सत्यस्वरूप आत्माका

कभी अभाव नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञानका अभाव अज्ञान नहीं है किन्तु अज्ञान भावरूप है और भावरूप अज्ञानका नाश ब्रह्मविद्यासे होता है।

ब्रह्म-विद्याके स्वरूपका वर्णन

हे इन्द्र ! सर्वभेदसे रहित, स्वयंप्रकाश, सत्यस्वरूप आत्माको विषय करनेवाले महावाक्यसे उत्पन्न हुई चैतन्यस्वरूप अन्तःकरणकी वृत्तिका नाम ब्रह्म-विद्या है। जबतक ब्रह्मविद्या उत्पन्न नहीं होती तबतक जीवके अज्ञानका नाश नहीं होता और जबतक अज्ञानका नाश नहीं होता तबतक जन्म-मरण-रूप संसारका नाश नहीं होता, जन्म-मरणरूप संसारकी निवृत्तिके लिये ब्रह्म-विद्याका अवश्य सम्पादन करना चाहिये. सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म सब जीवोंका आत्मा है, तो भी ब्रह्मविद्याके विना अज्ञानसे आवृत ब्रह्म जन्म-मरण-रूप संसारसे जीवकी रक्षा नहीं करता, ब्रह्मविद्यासे अज्ञानका नाश होनेपर आवरणरहित अनुभवके विषयवाला ब्रह्म जन्म-मरणरूप संसारसे जीवका उद्धार करता है। जैसे घरमें दबा हुआ धन, जबतक घरमें रहनेवालेको उसकी खबर नहीं होती तबतक उसको श्रीमान् नहीं बना सकता, दरिद्री ही बनाये रखता है। परन्तु जब उसको धनकी खबर हो जाती है तब उसकी दरिद्रताका नाश हो जाता है। इसी प्रकार सब जीवोंके हृदयदेशमें स्थित आनन्दस्वरूप आत्मा जबतक जीवोंके जाननेमें नहीं आता तबतक वे जन्म-मरणरूप दुःखसे मुक्त नहीं होते और जब ब्रह्मविद्याके अनुग्रहसे आनन्दस्वरूप आत्माका ज्ञान हो जाता है तब वह आत्मा जन्म-मरणरूप संसारसे जीवोंकी रक्षा करता है, जन्म-मरणादि संसारकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये अधिकारियोंको ब्रह्मविद्या अवश्य सम्पादन करनी चाहिये। जब आत्मास्वरूप ब्रह्म अपरोक्ष-ज्ञानका विषय होता है तभी जन्म-मरणरूप संसारसे जीव मुक्त होता है।

वही ब्रह्म समष्टि-कारण अज्ञानरूप उपाधिसे ईश्वरभावको प्राप्त होता है, समष्टि सूक्ष्मरूप उपाधिसे हिरण्यगर्भभावको प्राप्त होता है और समष्टि स्थूल-उपाधिसे विराट्भावको प्राप्त होता है और उन्हीं तीन व्यष्टि-उपाधियोंसे जीवभावको प्राप्त होता है। हिरण्यगर्भ अन्य जीवोंके समान गुरुके उपदेशसे ब्रह्मज्ञानको नहीं प्राप्त होते, वे स्वतन्त्र ही वेदान्तके विचारसे ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करते हैं। परमेश्वरमें तो आवरण होता ही नहीं, इतनी हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें विशेषता है। ईश्वरकी उपाधि कारण-अज्ञान है। 'मैं अज्ञ हूँ' इसप्रकारका कारण-अज्ञान अहंकारमें आरूढ़ होकर आवरणरूप मोहको उत्पन्न करता है। अहंकार हुए विना केवल अज्ञान आवरणरूप मोहको उत्पन्न नहीं करता। परमेश्वरमें अहंकार है नहीं, इसलिये आवरणरहित होनेसे सर्वज्ञ परमेश्वरको सर्वदा वेदान्तके अर्थका अनुसन्धान रहता है, समष्टि सूक्ष्मरूप कार्योपाधिवाले हिरण्यगर्भमें अहंकार होता है। इसलिये हिरण्यगर्भ आवरणका अनुभव करता है और तदनन्तर विचारपूर्वक वेदान्तके अर्थका अनुसन्धान करता है। इसलिये यद्यपि ईश्वर और हिरण्यगर्भमें विलक्षणता है तो भी हिरण्यगर्भको गुरुके उपदेशकी अपेक्षा नहीं है। जैसे अग्नि, जल, वायु, वृक्ष, अण्डआदि चार प्रकारके प्राणी, भय, व्यथा और शब्दसे सब जीवोंको निद्रामेंसे जगाते हैं और अग्नि जलादिसे रहित किसी स्थलमें सोता हुआ नाना प्रकारके स्वप्न न देखता हुआ गाढ़ सुषुप्तिमें पड़ा हुआ तथा सर्वज्ञानसे रहित कोई अपने आप ही जग जाय, इसी प्रकार समष्टि कारण अज्ञानरूप उपाधिमें रहा हुआ ईश्वर गुरुके उपदश विना स्वयं ही वेदान्तके विचारसे अपने अद्वितीय स्वरूपको प्राप्त रहता है इसलिये मायाविशिष्ट ईश्वरको और हिरण्यगर्भको गुरुके उपदेशकी अपेक्षा नहीं होती।

इन्द्र—हे भगवन् ! मायाविशिष्ट ईश्वरको और

हिरण्यगर्भको गुरुके उपदेश बिना ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, यह आपका कथन तो ठीक है परन्तु ईश्वर और हिरण्यगर्भ जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण किसप्रकार हो सकते हैं? क्योंकि ईश्वरमें जगत्‌की उत्पत्तिके अनुकूल कोई व्यापार तो है ही नहीं। इस लोकमें व्यापार करनेवाला कुम्हार घटादिका कारण होता है, व्यापाररहित कोई कारण नहीं हो सकता।

दध्यङ—हे इन्द्र! यदि शुद्धचैतन्यको जगत्‌का कारण माना जाय तब तो तुम्हारा कहना ठीक है परन्तु शुद्ध ब्रह्मको वेदवेत्ता जगत्‌का कारण नहीं मानते। मायाविशिष्ट चैतन्यको जगत्‌का कारण मानते हैं, जैसे स्वप्नावस्थाको और गाढ़ सुषुप्तिको प्राप्त हुए व्यष्टिरूप उपाधिवाले जीवमें स्वप्नके पदार्थोंकी उत्पत्तिके बीजरूप अज्ञानका अनुभवरूप कर्म और प्राणधारणरूप कर्म रहता है इसी प्रकार मायाविशिष्ट ईश्वरमें और समष्टि सूक्ष्म उपाधिवाले हिरण्यगर्भमें जगत्‌की उत्पत्तिके अनुकूल व्यापार रहता है। जैसे स्वप्नावस्था और सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव जब व्यष्टि-कारणरूप उपाधिसे भिन्न होता है, तब जीवको अपने निर्गुणस्वरूपमें कोई भी कर्म होना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार जब समष्टि कारण-अज्ञानरूप उपाधिवाले ईश्वर और समष्टि सूक्ष्म उपाधिवाले हिरण्यगर्भ समष्टि कारण-अज्ञानसे और समष्टि सूक्ष्म उपाधिसे भिन्न होते हैं तब उनके निर्गुणस्वरूपमें कोई कर्म होना सम्भव नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण है तो वह ब्रह्मविद्याको अपनेमें क्यों धारण करता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे व्यष्टि-शरीरमें अकर्ता और अभोक्तापन होनेपर भी पुरुष जो निद्रासे जागता है, तो उसका यह जागना अपने भोगके लिये नहीं होता किन्तु अन्तःकरणके भोगके निमित्त होता है। इसी प्रकार अकर्ता और अभोक्ता परमात्मा जो ब्रह्मविद्या धारण करता है, वह केवल जीवके हितके लिये धारण करता है, इसमें ईश्वरका कोई स्वार्थ नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि ईश्वरका अपना किसी प्रकारका स्वार्थ नहीं है तो जगत्‌की उत्पत्ति करनेमें ईश्वरकी प्रवृत्ति कैसे होती है? क्योंकि जिस-किसीकी जिस-जिस कार्यमें प्रवृत्ति होती है, वह सब अपने स्वार्थके लिये ही होती है, स्वार्थ बिना किसीकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। यह बात सबके अनुभवसिद्ध है। मूर्ख-से-मूर्ख भी बिना प्रयोजन किसी कार्यमें प्रवृत्त होता हुआ देखनेमें नहीं आता, फिर ईश्वर स्वार्थ बिना कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे ब्रह्मवेत्ता गुरु अपने स्वरूपका साक्षात्कार करके सब पदार्थोंकी कामना-से रहित हो जाता है, ऐसे गुरुको अपना कोई स्वार्थ नहीं होता तो भी मुमुक्षुजनोंके कल्याणके निमित्त वह उपदेशरूप कार्यमें प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार ईश्वर स्वार्थरहित है तो भी जीवोंके भोगके लिये जगत्‌की उत्पत्तिरूप कार्यमें प्रवृत्त होता है।

इन्द्र—हे भगवन्! यदि सब जीवोंके सुखके लिये ईश्वरकी प्रवृत्ति होती है तो फिर ईश्वर जीवोंको देहरूप बन्धनगृहमें क्यों डालता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे ब्रह्मवेत्ता गुरु अनेक प्रकार-के क्लेश देनेवाले ब्रह्मचर्यादि साधनोंका शिष्योंको उपदेश करता है, यह उपदेश प्रत्यक्षमें दुःखका कारण होनेपर भी वस्तुतः दुःखका कारण नहीं है, किन्तु चित्तशुद्धिद्वारा मुमुक्षुजनोंके सुखका साधन होता है। इसी प्रकार परमेश्वर भी भोगनेयोग्य कर्मके भोगनेके लिये और साधन-सम्पत्तिद्वारा मोक्षरूप सुखकी प्राप्तिके लिये जीवोंको शरीरादि देता है। जैसे गुरुके उपदेशा-नुसार चलनेवाला शिष्य अन्तमें परमानन्दको प्राप्त

होता है, इसी प्रकार ईश्वरके कहे हुए वेदको माननेवाला पुरुष परमानन्दको प्राप्त होता है। इसलिये परमेश्वरकी आज्ञारूप वेदको अवश्य मानना चाहिये।

इन्द्र—हे भगवन्! द्वैतज्ञानकी विरोधिनी ब्रह्मविद्यासे नित्यस्वरूप ईश्वर द्वैतरूप जगत्को किसप्रकार उत्पन्न करेगा?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे ब्रह्मसाक्षात्कारको प्राप्त हुआ पुरुष निद्रामें स्वप्न-सुखको देनेवाले प्रारब्धकर्मके वशसे स्वप्नमें जगत्को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार परमात्मा ब्रह्मविद्यासे अपने स्वरूपको जानता हुआ भी मायासे सर्वभूत भौतिक प्रपञ्चको उत्पन्न करता है। निद्रावाले पुरुषमें और ईश्वरमें भेद इतना है कि ब्रह्मसाक्षात्कारवाला निष्कामी पुरुष अपने कर्मानुसार स्वप्नके पदार्थोंको उत्पन्न करता है और मायाविशिष्ट परमात्मामें पुण्य-पापरूप कर्म नहीं है इसलिये अपने कर्मानुसार ईश्वर जगत्को उत्पन्न नहीं करता, किन्तु जीवोंके पुण्यपापरूप कर्मानुसार जगत्को उत्पन्न करता है।

इन्द्र—हे भगवन्! जैसे सीपीरूप अधिष्ठानके ज्ञान होनेके बाद कल्पित चाँदीकी निवृत्ति हो जाती है, इसी प्रकार मायाविशिष्ट परमात्माको अधिष्ठान ब्रह्मके साक्षात्कार होनेसे कल्पित प्रपञ्चकी निवृत्ति क्यों नहीं होती?

दध्यङ—हे इन्द्र! स्वप्नावस्थामें विद्वान् स्वप्नपदार्थोंको देखता हुआ भी अपनेको और स्वप्नपदार्थोंको भिन्नरूपसे नहीं देख सकता। किन्तु 'सर्व स्वप्न-पदार्थ मेरा स्वरूप है, मुझ अधिष्ठानसे भिन्न इन पदार्थोंकी कुछ भी सत्ता नहीं है' इसप्रकार स्वप्नमें उसको आत्माका ज्ञान होता है तो भी स्वप्नके पदार्थोंका नाश नहीं होता। किन्तु प्रारब्धके योगसे स्वप्न-पदार्थोंका विद्वान्‌को भान होता है। इसी प्रकार नित्य आत्मस्वरूप परमात्मा सर्व द्वैतप्रपञ्चको देखता हुआ भी अपने स्वरूपसे भिन्न उसको नहीं देख सकता। 'सर्व जगत् मेरा आत्मा है, मेरे आत्मासे प्रपञ्च भिन्न नहीं है' इसप्रकार परमात्माको ब्रह्मका साक्षात्कार होते हुए भी जीवोंके पुण्य-पापरूप कर्मोंसे जगत्का लय नहीं होता किन्तु मिथ्यारूपसे जगत्का भान होता है। तात्पर्य यह है कि निरुपाधि और उपाधिके भेदसे भ्रम दो प्रकारका होता है। अधिष्ठानके ज्ञान होनेके बाद कल्पित स्वरूपका नाश हो जाय, वह निरुपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे कि सीपीके ज्ञान होनेसे पीछे कल्पित चाँदीका और उसके ज्ञानका नाश हो जाता है। इसलिये सीपीमें चाँदीका भ्रम निरुपाधिक भ्रम है। अधिष्ठानके ज्ञान होनेपर भी जिसके मिथ्या स्वरूपका नाश न हो, किन्तु उसमेंसे सत्यपना निवृत्त हो जाय, वह सोपाधिक भ्रम कहलाता है। जैसे जपाकुसुमके पास रक्खा हुआ स्फटिकमणि लाल दीखता है, यह स्फटिकमणि है, ऐसा ज्ञान होनेपर भी जबतक जपाकुसुम स्फटिकके पाससे हटा न लिया जाय तबतक उसकी ललाई निवृत्त नहीं होती, यह सोपाधिक भ्रम है। प्रपञ्च-भ्रम सोपाधिक है इसलिये ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर भी जबतक प्रारब्धकर्मरूप उपाधिका नाश नहीं होता, तबतक मिथ्यारूप प्रपञ्चका ब्रह्मवेत्ताको भान होता रहता है।

इन्द्र—हे भगवन्! जब परमात्मा अद्वितीय है तो संसारमें कोई जीव बद्ध है और कोई मुक्त है, इसतरहके बन्धन और मोक्षका व्यवहार किसप्रकार होता है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे आत्मसाक्षात्कारवाला विद्वान् स्वप्नावस्थाको प्राप्त होकर अज्ञानसे कल्पित अनेक जीवोंको देखता है, कितने ही जीवोंको तो श्रवणादि साधनद्वारा मुक्त हुए देखता है और कितने ही जीवोंको बद्ध देखता है। इसी प्रकार जगत्‌के निर्वाहके लिये मायाविशिष्ट परमात्मा अद्वितीय होता हुआ भी कितने ही मुमुक्षुजनोंको श्रवणादि साधनोंद्वारा मुक्त हुए देखता है और कितने-

ही अज्ञानी जीवोंको बद्ध हुआ देखता है, इसप्रकार एक अद्वितीय आत्माको अंगीकार करके बन्ध और मोक्ष कल्पित हैं। जैसे आत्मज्ञानी विद्वान् स्वप्नमें अनेक प्रकारके चेतन जीवोंको और अनेक प्रकारके घटादि जड़ पदार्थोंको देखता है और 'यह जीव अभेददर्शी होनेसे मुक्त है और यह जीव भेददर्शी होनेसे बद्ध है' इसप्रकार जीवोंके बन्ध-मोक्षकी कल्पना करता है किन्तु वस्तुतः स्वप्न-द्रष्टाको बन्ध अथवा मोक्ष नहीं है, इसी प्रकार स्वप्नसे कल्पित इन जीवोंको भी बन्ध या मोक्ष नहीं है, केवल निद्राके दोषसे ही बन्ध-मोक्ष जाननेमें आता है, इसी प्रकार मायाविशिष्ट परमात्मामें और अन्य जीवोंमें भी बन्ध-मोक्ष नहीं है, अज्ञानसे ही बन्ध-मोक्ष जाननेमें आता है।

इन्द्र–हे भगवन्! यदि बन्ध-मोक्ष वस्तुतः नहीं हैं तो फिर बन्धकी निवृत्ति और मोक्षकी प्राप्तिके साधन बतानेवाले शास्त्रोंको व्यर्थ समझना चाहिये।

दध्यङ–हे इन्द्र! जैसे स्वप्नमें बहुत-से अज्ञानी जीव शास्त्रके उपदेशसे स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करते हैं इसलिये स्वप्नमें कल्पित जीवोंके लिये शास्त्र व्यर्थ नहीं हैं, इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें शास्त्रके उपदेशसे अज्ञानी जीव स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त होते हैं। अतएव अज्ञानी जीवोंके लिये श्रुति, स्मृति, शास्त्र कदापि व्यर्थ नहीं हैं। (क्रमशः)



भगत हरिवंशजी

(लेखक—श्रीयुत सवनाराइनजी चित्रगुप्त)

[कहानी]



इटावा ज़िलाके जयंतिपुर नामक गाँवमें, आपने एक द्विवेदी-घरानेमें, आजसे कोई पचहत्तर साल पूर्व जन्म धारण किया था। सन् १९२२ ई० में आपने समाधि ली। समस्त जीवन ज़मींदारी करके, केवल बारह सालतक आपने वह 'भगती' दिखायी कि सब जनताने कहा—'वाह वाह।'

अपने चारों पुत्रोंको बराबर-बराबर ज़मींदारी तकसीम करके, आपने गाँवमें ही फकीरी ले ली। आप सबसे बड़े लड़के पं० रामसनेहीजी द्विवेदीके घर रोटी खाया करते थे। किसीके निमन्त्रणमें कभी न जाते थे। रोटीका तरीका यह था कि परवाके दिन एक रोटीसे शुरू करते और प्रतिदिन एक बढ़ाते हुए पूर्णमासीको पूरी पन्द्रह रोटी खाते थे! उसके बाद क्रमशः एक रोटी उतारते हुए फिर एकपर आ जाते थे। इसी नियमके कारण वह किसीके निमन्त्रण-में न जा सकते थे। यह आपका पहला स्वभाव था।

आप तिलक न लगाते थे, परन्तु आपके सिरके बाल सुरक्षित थे। कुरता, कोट और धोती यह आपकी पोशाक थी। हाथमें लाठी भी रहती थी। टोपी नहीं लगाते थे।

इनका काम था—गाँवके आसपास और गाँवकी प्रत्येक चीज़के आसपास घूमना। मान लो कि, आप उस गाँवमें गये तो आपको इशारेसे वह खड़े रहनेको कहेंगे। अगर आपने इशारा न समझा या लापरवाही दिखलायी तो वह अपनी लाठी दिखाकर खड़ा कर लेंगे। इस तरह वह हर किसीको खड़ा कर लेते थे और सात चक्कर देकर उसके चरण छू लेते थे।

एक दिन गाँवका पटवारी एक मुक़दमेके लिये

अबेर हो जानेके भयसे जल्दी-जल्दी जा रहा था। उसका यह प्रण भी था कि वह अपने चरण इनको कभी नहीं छूने देगा। क्योंकि बाबाजीने गाँवके प्रत्येक नर-नारी, बालक-बालिका, पशु और जड़ पदार्थ कोई भी ऐसा न छोड़ा था कि जिसके सात चक्कर देकर चरण न छू लिये हों। सो भी, जो जब सामने आ जावे तभी उसकी यह दशा की जाती थी। मेहतरके चरण जमीनपर हाथ देकर छूते थे। यहाँतक कि गाँवका प्रत्येक कुत्ता, प्रत्येक बकरा और प्रत्येक बदमाश उनके द्वारा अनेक बार चरण छुआ चुका था और अगर कोई दूसरा उनके चरण छूनेका प्रयत्न करता तो वह क्या करते, इसका उत्तर आपको इसी पटवारीवाले मामलेमें मिलेगा।

यकायक बाबाजीको रास्तेमें सामनेसे आता देख, पटवारीने चाहा कि कतराकर निकल जाऊँ। बाबाने हाथसे इशारा किया, लाठी उठाकर भी डराया, परन्तु पटवारीने एक न सुनी और लगायी दौड़। बाबाजीने रेद लिया। गाँवसे फफूँदका कसबा एक मील है। कसबेकी मुन्सफीमें एक मुकदमेकी गवाहीमें पटवारी जा रहा था। इसलिये वह कसबेकी तरफ भागा। मालूम होता था कि भागनेका इरादा उसने पहलेसे कर लिया था। मगर बाबाजी भी धुनके पक्के थे! उसके पीछे-पीछे एक मील दौड़ते गये और मुन्सफीके दरवाजेपर पटवारीको जा पकड़ा।

बस्ता जमीनपर रखकर पटवारी खड़ा हो गया। बाबाजीने उसके सात चक्कर लगाये। ज्यों ही उन्होंने चरण छूनेको हाथ झुकाये, त्यों ही पटवारी फिर धर भागा और सीधा थानेमें थानेदारके सामने जा खड़ा हुआ। बाबाजी भी धुनके पक्के थे ही! उसका बस्ता दबाया बगलमें और पीछे-पीछे दौड़ते हुए थानेदारके सामने जा पहुँचे। पटवारीका बस्ता थानेदारके सामने रख दिया और पटवारीको उठाकर जमीनपर दे मारा! इसके बाद उसके सात बार चरण छूए। तब पटवारी भी उठा और उनके चरण छूनेका यत्न करने लगा। इस कारण दोनोंमें पहलवानों-जैसे दाँव-पेच चलने लगे।

थानेदारको मालूम था कि जयतिपुरका हरिवंश भगत, परमात्माकी भक्ति, नम्रताके द्वारा—केवल नम्रताके द्वारा करता है। इसलिये उन्होंने इस झगड़ेमें कोई बाधा न दी।

प्रायः आध घण्टेतक दोनोंमें पेच चलते रहे। इसके बाद, बाबाजीने मौका पाते ही भागना शुरू किया। तब पटवारीने उनको रेद लिया। पर चूँकि उसे अदालतमें जाना था, इसलिये वह अपनी ही हार मानकर चला गया।

भगत हरिवंशने केवल नम्रता-तत्त्वके आधारपर अपनी साधना साधी थी। लगातार बारह सालतक प्रत्येक जड़-चेतनकी सप्रणाम चरण-वन्दना करते-करते उनका हृदय एक शीशेकी तरह निर्मल हो गया था।

भगत हरिवंशजीको भविष्य दिखलायी पड़ता था। प्रत्येक ग्रामवासीकी आयी हुई मौतको वह पहले ही बतला देते थे। वह कम बोलते थे, परन्तु जो बोलते थे, सच हो जाता था। यह सिद्धि आपको नम्रताकी साधनासे शीघ्र ही प्राप्त हो गयी थी।

आप अपनी जवानीमें एक लाठी चलानेवाले थे। जब वह लाठी लेकर खड़े होते थे, तब सौ दुश्मन भी उनका नहीं घेर सकते थे। जब फकीर हो गये, तब भी उन्हें एक बार लाठी चलानी पड़ी थी। पर वह लाठी चलानेका इतिहास है बड़ा अद्भुत! उन्होंने खुद किसीको नहीं मारा और अपने चारों अभिमानी पुत्रोंकी लाठियोंको बचाते गये। बात यह

थी कि, उस गाँवमें एक नम्बरदार-घराना कायस्थ-कुलका भी है। बाबाजी तो किसीपर नाराज़ रहते ही न थे, परन्तु उनके चारों कुमार कायस्थकी जातीयतासे नफ़रत रखते आ रहे थे। एक दिन एक मामूली गलतीपर चारों लड़के लाठी ले-लेकर लाला वृन्दावनके घरपर गाली देने और लाठी चलाने आये। उस समय बाबाजी वहीं थे और वृन्दावनसे बातें कर रहे थे।

पहले तो बाबाजीने उन अपने बेख़बर लड़कोंको समझाया। फिर लाठीके-द्वारा उन चारोंकी लाठियों-का जवाब देने लगे और उस असहाय कायस्थ-कुमारकी रक्षा करने लगे। तबतक वह मौका पाकर कहीं जा छिपा। उस दिनसे बाबाजीके बड़े लड़केने उनकी उपेक्षा शुरू कर दी और उनके अन्तकाल-तक उन्हें दुःख दिया।

भगत हरिवंशजी सदा मुसकराते रहते थे। बारह सालतक अपने ही गाँवमें रहकर नम्रताकी साधना की और अन्तमें उसी नम्रताके सागरमें जा डूबे।

भगत हरिवंशजीने केवल नम्रताके गुणके द्वारा अपने वाणप्रस्थ जीवनके बारह साल जैसे व्यतीत किये, वैसे प्रत्येक तीसरेपनवाले ज़मींदारको व्यतीत करना चाहिये, यही उनकी इच्छा थी।

मोहक कौन है ?

(लेखक—पं० श्रीहरगुलालजी वशिष्ठ)



सुना जाता है कि 'यह माया ही मनुष्य-को जालमें फँसाती है। इसीके मोह-पाशमें फँसकर जीव ईश्वर और अपने आपको भूल जाता है तथा सत्-पथसे भ्रष्ट होकर अन्धकारके गर्तमें जा गिरता है।' कबीरने कहा है 'रमैया तेरी माया दुन्द मचावै' यहींतक नहीं, कितने तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं। वे तो यहाँतक कह देते हैं कि परमात्माने मायाकी रचना ही इसलिये की है कि जीव उसके मोहमें पड़कर विषयोंका दास हो जावे। पुराणोंमें इन्द्रका इन्द्रासनकी रक्षाके लिये विश्वामित्रादि ऋषियोंकी तपस्याको भ्रष्ट करनेका अनेक जगह उल्लेख है। इन आख्यायिकाओंका दार्शनिक भाव कुछ भी क्यों न हो परन्तु अनेक कवि और विद्वान् इन आख्यायिकाओंको विराट् रूप देकर परमात्मातकको इस कार्यमें लिप्त कर लेते हैं, वह मायाको मोहक बनाता है जिससे जीव उसमें फँसे रहें।

कुछका कहना है कि मायाका आकर्षक रूप ईश्वरने इसलिये बनाया है कि जिससे जीवकी परीक्षा हो।

वेद भगवान् बताते हैं 'ईश्वर हमारा सच्चा पिता, मित्र, बन्धु और हितैषी है। वह परम दयालु है।' तब हमारे सामने निम्न प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं—

(१) क्या ईश्वरकी माया (प्रकृति वा विकृति) मोहक है ?

(२) क्या ईश्वरने इसकी रचना मनुष्योंको फँसानेके लिये की है ताकि सब मुक्ति न पा सकें? कोई विरला शूरवीर ही इस मायाके अभेद्य व्यूहको तोड़कर मोक्ष-पद प्राप्त कर सके न कि सब।

(३) क्या यह माया मुक्तिकी परीक्षाका विषय है ?

जब परमात्मा हमारे सच्चे पिता, मित्र और हितैषी हैं तब वे ऐसी रचना क्यों करते हैं? वे तो हमारा अत्यन्त कल्याण चाहते हैं। यदि परमात्माकी कोई इच्छा है तो यही कि हम मोक्ष प्राप्त करें। पिता तो पुत्रके लिये मार्गको सरल बनाता है न कि जटिल। पुत्रको पिताके पास पहुँचना है। पुत्रके लिये उस अन्तरको तय करना ही यथेष्ट पुरुषार्थ है जो उसके (पुत्रके) और पिताके बीचमें है। बालक माताके पास दुग्ध-पानके लिये दौड़कर

जाता है किन्तु वह खड़ी हुई माँकी छातियोंतक नहीं पहुँच सकता तब बालक करुणाकी दृष्टिसे माँको देखता है। माँ बालककी असमर्थतासे आर्द्र होकर उसे उठाकर हृदयसे लगा लेती है। बालकका पुरुषार्थ माँके चरणोंतक पहुँचनेपर समाप्त हो जाता है। बादमें तो माताकी दया ही काम करती है। जो माता बालकके पुरुषार्थके बिना बालकको अपने चरणोंसे उठाकर हृदयसे लगा लेती है, वह माता क्या दूरसे दौड़ते हुए बालकके मार्गमें काँटे और कंकड़ बखेरेगी? काँटे और कंकड़ तो तब बखेरे जाते हैं जब बालकको माताके पासतक आनेसे रोकना हो।

जगज्जननी तो हमें अपने पास बुलाना चाहती है ताकि हम उसके हृदयका अमृत पान करें। वह तो यहाँतक स्नेहमयी है कि जब हमारी शक्ति समाप्त हो जाती है तब वह स्वयं आगे बढ़कर हमें उठाकर दूध पिलाती है। जो जगज्जननी बिना हमारे पुरुषार्थके केवल हमारी असमर्थतासे आर्द्र होकर हमें चरणोंसे उठाकर हृदयसे लगा लेती है वह विश्व-माता हमारे मार्गमें मायाके—प्रकृतिके मोहमय काँटे नहीं बखेर सकती।

'माया-मोहके काँटे केवल परीक्षाके लिये हैं' यह बात भी न्याय-संगत नहीं—तर्कमें नहीं ठहर सकती। जब व्यायामशालामें कोई व्यायाम सीखा जाता है तब वहाँका स्थान साफ कर दिया जाता है ताकि व्यायाम करनेवालेको कंकर-पत्थर कष्ट न दें। यहींतक नहीं बल्कि स्थानको सुखमय बनानेके लिये घास और रेत बिछा दिया जाता है ताकि विद्यार्थीको कष्ट न हो। शरीरकी साधना ही पुरुषार्थ तथा परीक्षाका माध्यम है न कि काँटे-कंकड़ोंको हटाकर साधना करना। विघ्न-बाधाओंके साथ युद्ध करनेकी शिक्षा और अभ्यास तथा उसमें सफलता प्राप्त करनेकी ज़रूरत तो तब होती है जब कहीं दूसरे स्थानपर वैसी विघ्न-बाधाओंसे मोरचा लेनेकी सम्भावना हो। सेनाका अश्वारोही खाई कूदनेका इसलिये अभ्यास करता है जिससे वह आगे खाई कूद सके। परीक्षक भी घोड़ेकी परीक्षा इसलिये लेता है ताकि वह यह जान ले कि घोड़ा भविष्यमें, यदि ज़रूरत पड़ी, खाई कूद जायगा या नहीं। परन्तु मुक्ति प्राप्त कर लेनेके बाद तो जीवको मायारूपी खाईके कूदनेकी ज़रूरत ही नहीं पड़ेगी। मुक्त जीवको लोकान्तरमें किसी अन्तरायके उत्तीर्ण करनेकी ज़रूरत ही नहीं। कोई भी परीक्षक ऐसे विषयकी परीक्षा नहीं लेता जो परीक्षा-उत्तीर्ण व्यक्तिके भावी जीवनके लिये न तो ज़रूरी हो और न उसका होना सम्भव ही हो। मुक्त जीवको माया-मोहसे जब सरोकार ही नहीं रहेगा तब इस माया-मोहरूपी बाधाको उत्तीर्ण करनेका अभ्यास कराना बिल्कुल निरर्थक-सा है। उस माया-मोहको भेदन करनेकी सामर्थ्य-शक्तिकी जाँचना भी व्यर्थ है।

तब क्या प्रकृति स्वयं मोहक है?

सूक्ष्म दृष्टिसे नहीं, बड़ी स्थूल दृष्टिसे देखनेसे ही मामला साफ हो जायगा कि माया मोहक नहीं। वह हमें मोहित कर ही नहीं सकती। प्रभुका विकासवाद इतना शुद्ध, स्वच्छ और प्राञ्जल है कि माया हमें लेशमात्र भी विमोहित नहीं करती।

मायाका साक्षात् हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा होता है। यह पाँचों इन्द्रियाँ ही विषयरत होकर हमें वासनामें फँसाती हैं। इन्हीं इन्द्रियोंसे पूछिये कि वे ईश्वर-विकसित किस वस्तुमें विमोहित होती हैं।

शब्द

शब्द आकाशका गुण है और कर्णेन्द्रियद्वारा जाना जाता है। प्रकृतिके जितने शब्द हैं उनमेंसे कोई भी ऐसा नहीं जिसे सुनकर मनुष्य शब्द-माधुर्यमें आसक्त हो—कनरसिया बन जावे। कवि कहते हैं कि कोयलका शब्द बहुत ही मधुर होता है परन्तु आजतक कोई भी रसिक केवल कोयलके शब्दपर मोहित होकर उसके पीछे मजनूँ नहीं बना। कवियोंकी रचनाओंका गुलाम कोई काव्यप्रेमी भले ही कोयलकी कूकपर सर्द आह भरने लगे किन्तु कोयलकी कूक स्वतः किसीको मस्त नहीं बनाती। वायु, जल, अग्नि तथा अनेक प्रकृति-प्रदत्त वस्तुओंका कोई शब्द इस संसारमें ऐसा न मिलेगा जो मनुष्यको विमोहित करके कनरसिया—इन्द्रियासक्त बना दे। प्रकृतिने अपनी रचनाओंमें शब्द-माधुर्य ऐसी कुशलतासे तथा ऐसी उचित मात्रामें उत्पन्न किया है कि वह मनुष्योंमें न राग पैदा करता है न द्वेष। न विरक्ति न आसक्ति। तब मनुष्य कनरसिया क्यों बनते हैं? इसका उत्तर है 'हज़रते इन्सानके मनमाने आविष्कारोंके कारण' कुत्ते, गधे, हाथी, मोर और कोयलके शब्दोंमें माधुर्य कहाँ है? परन्तु सरारोहीकी ईजादने, सरगमके जन्मने तथा छः राग और छत्तीस रागिनियोंने इस मनुष्यको कनरसिया

बनाकर दर-दरका भिखारी बना डाला। दुनिया कहती है गाना मोहिनी विद्या है। जो सुनता है, विमोहित हो जाता है। कितने तो घर-बार, अपने हिताहित तकको भूलकर 'सा रे गा म प ध नी' की धुनमें ऐसे मोहित होते हैं कि कुछ न पूछिये। सारंग, सितार, वीणा, बाँसुरी अनेक बाजे क्या प्रकृतिने पैदा किये ? वृक्षोंकी डालोंपर फले-फूले या सोने-चाँदीकी तरह खानसे निकले ? यह सब हज़रते इंसानकी ही करतूत तो है ? ग़रीब हरिण भी वीणावालेके पीछे लगकर वधिकका लक्ष्य बन जाता है।

पुरुष-गवैयोंपर स्त्रियाँ, स्त्री-गायिकापर पुरुष मोहित होकर क्या-से-क्या बन जाते हैं, कहाँ-से-कहाँ पहुँच जाते हैं।

गायन-कलाको जाने दीजिये। इस हज़रते इंसानने दूसरोंको विमोहित करनेके लिये, दूसरोंपर अपना प्रभाव डालनेकी कुप्रवृत्तिमें, दूसरोंको अपने प्रपञ्चमें फँसानेके खातिर भाषण-कला भी बना डाली। आज जो हजारों एजेण्ट तथा अनेक विज्ञापनदाता व्यापारिक क्षेत्रमें कार्य कर रहे हैं वे सब इसी कलाकी भित्तिपर शब्द-विन्यास करके दूसरोंको विमोहित करते हैं। यदि सब प्राञ्जल— सत्य कहते हैं तो इस कलाकी क्या जरूरत ? इसकी जरूरत तो तभी हुई जब अतथ्यको इस कलाके कौशलने तथ्यका रूप दिया। मधुर भाषण भी इस कलाका एक प्रपञ्च है— एक सुन्दर वाक्जाल है और यह सब इसलिये है कि दूसरोंपर हमारा प्रभाव पड़े, दूसरे हमारी ओर अनुरक्त हों। संसारमें जितने मृदु तथा कटु शब्द हैं, जिनके द्वारा राग-द्वेष होता है—जो रुचि और ग्लानिकी रचना करते हैं वे सब इस इंसानकी रचना हैं। हे नरशार्दूल! देख! खूब ध्यान देकर देख! संसारकी जिस वस्तुसे मधुर चित्तको मस्त कर देनेवाला शब्द निकलता है वह प्रकृतिकी नहीं, अपितु तेरी रचना है। और यदि वह वस्तु प्रकृतिकी रचना है तो हे कर्मवीर पुरुष! यह विषयी मधुर शब्द-कला उसमें तूने ही ठूस-ठूसकर भरी है। छानबीन करके देख! संसारमें तेरा जहाँ-जहाँ दख़ल हुआ है वहाँ-वहाँ मेरा यह व्यापक सत्य सिद्धान्त मिलेगा।

रूप

दूसरी वस्तु है रूप। आँख ही इसे पहचानती है। मायाकी रचनामें नदी, वृक्ष, पहाड़, हरे-भरे खेत, पशु-पक्षी और मनुष्य ही दिखायी देनेवाली वस्तु हैं। अन्तरिक्षमें आकाश, मेघ, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा भी दिखायी देते हैं। मायाकी रचनामें स्त्री-पुरुष बिल्कुल नङ्गे हैं। तेल, फुलेल (इत्र) साबुन, वस्त्रालङ्कार मायाकी रचना नहीं। मायाके स्वरचित उद्यान, वन-उपवन, सरितातट तथा चाँदनी रात किसी मनुष्यको आसक्त नहीं करते। उनमें मायाने उतना ही सौन्दर्य रक्खा है जितनेकी ज़रूरत थी, जितनेसे मानवके हृद्-पटपर वासनाके अंकित होनेकी सम्भावना न थी। आसक्तिको उत्पन्न करनेवाली तीव्रता उस सौन्दर्यमें नहीं। काश्मीर और मानसरोवरपर जाइये, मायाका अत्यन्त रमणीक दृश्य भी दर्शकके हृदयमें वासना उत्पन्न न करेगा। संसारकी अत्यन्त रूपवती कन्याको जंगली जानवरकी तरह नङ्गी ही परवरिश पाने दीजिये। उस जंगली वातावरणमें पली लैलाका (जो कभी अत्यन्त गौर वर्ण थी) कोई भी मजनू न बनेगा। मायाकी कोई भी रचना संसारमें ऐसी न मिलेगी जिससे दर्शकको राग हो—उसमें आसक्ति हो या द्वेष हो, उसके प्रति घृणा हो।

अब इस इंसानकी करतूतको देखिये। झोपड़ीसे लेकर लाखों मुद्राओंसे बनी हुई अट्टालिकाओंको निहारिये। देखते ही दर्शकके मनमें राग पैदा होता है 'मेरा भी ऐसा ही महल बने।' और यहींसे वासनाका जन्म होता है। वस्त्रालंकार, वर्तन तथा दूसरा सामान जो कुछ बाजारोंमें नजर आता है इस मनुष्यकी करतूत है जो रूपके कारण बाजारमें बिक रहा है। इन बाजारू (मनुष्यकृत) चीजोंका रूप ही दर्शकके मनमें वासना उत्पन्न करता है 'मैं भी इनका संग्रह करूँ।' जंगलकी काली-कलूटी युवती साबुन, तेल, फुलेलके संसर्गसे कोमलांगी गौर वर्ण सुन्दरी बन जाती है। वस्त्रालङ्कार और केशविन्यास उसे रमणी बना देता है। हम भी कह देते हैं 'स्त्री मायाका रूप है।' पर सच तो कहो यह सब करतूत इंसानकी है या मायाकी ? अपने चारों ओर तलाश करो कि प्रकृतिकी वह कौन-सी सुन्दर रचना है जिसके प्राप्त करनेके लिये तुम आतुर हो। तुम्हें पता लगेगा कि प्रकृतिकी कोई भी रचना तुम्हें अपनी ओर अनुरक्त करके व्यथित नहीं कर रही है।

गन्ध

तीसरी वस्तु है गन्ध। मायाकी रचनामें दुर्गन्धका कहीं पता ही नहीं। यदि कहीं है भी तो गर्भमें बिल्कुल

अव्यक्त। प्रकृतिके बगीचेके फूल सुगन्धित हैं परन्तु वे नासिकाके लिये वासना उत्पन्न नहीं करते, कोई भी इस सुगन्धपर मस्त होकर अपने कर्तव्यको तिलाञ्जलि नहीं देता। मायाने इन फूलोंमें सुगन्ध ऐसी होशियारी और इतनी उचित मात्रामें रक्खी है कि वह न तो हानिकर है और न आसक्ति ही उत्पन्न करती है। इंसानके लगाये बागोंमें मोह उत्पन्न करनेवाला सौन्दर्य है परन्तु प्रकृतिके स्वरचित बागोंमें वह भी नहीं। इस इंसानने उन्हीं फूलोंसे इत्र निकाला, सुन्दर-सुन्दर शीशियोंमें सजाया और इस इंसानको गन्धकी वासनामें डुबो दिया। वस्त्रों-में, सुन्दरियोंकी कायामें तथा खाद्य पदार्थोंमें उस गन्ध-सारको पहुँचाकर इस शैतान इंसानने वह वीभत्स व्यापार उत्पन्न कर दिया कि आज उसकी सन्तान वासनाके तापसे जली जा रही है।

स्पर्श

चौथी वस्तु है स्पर्श। प्रकृतिकी रचनामें भी कोमलता, चिकनापन है परन्तु मायाकी कृतिमें कैसा कौशल है कि वह हममें आसक्ति उत्पन्न नहीं करती। फूलकी पङ्खड़ी कितनी कोमल और चिकनी है परन्तु उससे हमारे हृदयमें ममता या आसक्ति उत्पन्न नहीं होती। कहीं ढूँढ़ लो मायाकी रचना ममत्व उत्पन्न कर ही नहीं सकती। लेकिन इस मनुष्यने अपनी कृत्रिम रचनाओंसे स्त्रीको अतिशय कोमलाङ्गी बनाकर छोड़ा, केवल स्पर्श-सुखके लिये। कोमल और चिकने वस्त्र, मुलायम गद्दे तथा दूसरी चिकनी वस्तुएँ जो कुछ हम देखते हैं सब मनुष्यकी रचना हैं जो हमारे हृदयमें वासना, ममता उत्पन्न करती हैं जिसके कारण हम अपने जीवनका ध्येय, अपना कार्य-क्रम उनका प्राप्त करना ही बना लेते हैं। इसीमें हमारा जीवन बीत जाता है और इसे ही हम कहते हैं 'मायाने हमें फँसा लिया।'

स्वाद

पाँचवीं वस्तु है स्वाद। यही सबसे मुख्य है। सच बात तो यह है कि इसीके कारण शेष चारोंकी जरूरत पड़ती है। 'पेटमें पड़ गया चारा। तब कूदन लगा बेचारा' यह कहावत बिल्कुल ठीक है। जबतक भोजन नहीं मिलता न रूप भाता है, न सुगन्ध और न ध्रुपदकी तान ही।

जब खूब सुस्वादु पौष्टिक तथा उत्तेजक भोजन किये जाते हैं तो उनसे कामज्वरका पागलपन उत्पन्न हो जाता है। उस पागलपनको तृप्त करनेके लिये जरूरत होती है मधुर सङ्गीत, सुगन्ध, रूप और स्पर्श-सुखकी। कला-कोविद इंसानने एक लावण्यमयी शृंगारयुक्त सुन्दरीमें चारों वस्तुएँ केन्द्रित कर दी हैं।

यह तो रहा विषयान्तर। मायाने जो रचना की है उसमेंसे मनुष्यके खाने लायक पदार्थोंको ढूँढ़ना है। कंकड़-पत्थर मनुष्य खा नहीं सकता। धूल, मिट्टी, लकड़ी भी नहीं खायेगा। फल और दूध ही प्रकृतिकी ओरसे मनुष्यको खानेके लिये मिलते हैं। दूध तो माता-के स्तनोंसे ही आरम्भ हो गया था। स्त्रीके दूधमें ऐसा स्वाद ही नहीं जिसके कारण मनुष्य चटोरा बने। गायके दूधको ज्यों-का-त्यों पीनेसे वह उतना ही पिया जायगा जितनेसे क्षुधा शान्त हो सके। फल भी मनुष्य उतने ही खायेगा जितनी जरूरत शरीरको होगी। मायाने अपनी रचनाओंमें स्वाद भी ऐसी होशियारी और इतनी उचित मात्रामें रक्खा है कि मनुष्य उतना ही भक्षण कर सके जितनी मानव-शरीरको जरूरत है। प्रकृतिकी रचनामें हर वस्तुमें प्रायः एक ही रस रक्खा है। आँवलेके समान जिन वस्तुओंमें एकसे अधिक रस मिश्रित हैं उनमें भी मिश्रण ऐसा कुशलपूर्ण है कि क्षुधातुर मनुष्य भी उनपर अनुरक्त नहीं हो सकता।

मनुष्यको इतना सन्तोष कहाँ? उसे तो मायाकी रचनामें अपनी करामात दिखानी थी। दूधको पकाया, उससे दही, मक्खन, मठा और मिठाइयाँ बना डालीं। स्वादमें तीव्रता और रोचकता बढ़ाता चला गया। गन्नेके रससे गुड़-खाँड अनेकों चीजें बना डालीं। अनाजके दानोंमें प्रकृतिने उतना ही स्वाद रक्खा था जितनेसे क्षुधा-निवृत्ति हो सके और मनुष्य उतना ही खावे जितनेकी जरूरत शरीरको है परन्तु मनुष्यने उन अन्नके दानोंको पीसकर भोजनोंके अनेक सात्त्विक, राजसिक और तामसिक रूप बना डाले। बिना भूख भी सेरों अन्न खाया जाने लगा। बिना जरूरत भी पौष्टिक भोजन कण्ठसे नीचे उतरने लगा और तब कहावतने जन्म लिया 'इस पापी पेटके लिये सब कुछ हो रहा है' मनुष्यकी रचनाने ही षट्रस व्यञ्जनोंके अनेक रूप बनाये जिनके मिश्रणसे मनुष्य रसनाका दास बना और माया बेचारीका मुफ्तमें नाम बदनाम हुआ।

यदि मनुष्यकृत व्यञ्जनोंको भूमण्डलसे नष्ट कर दिया जावे तो रसनाकी चखौतियाँ स्वतः नष्ट हो जावेंगी। यदि मनुष्यके लिये केवल कच्चा दूध, कच्चा अन्न और ताज़े फल ही रहें तो बहुत शीघ्र ही शेष इन्द्रियोंके लिये इस मनुष्यकी कृत्रिम रचनाएँ स्वतः नष्ट हो जावेंगी।

ध्यान देकर पूर्ण विचार करनेसे पता लगेगा कि हमारे मार्गमें जो काँटे-कंकड़ हैं, हमें विषयोंमें फँसानेवाली जो वस्तुएँ हैं वे सब हमारी ही रचना हैं मायाकी नहीं। माया तो एक बड़ा भारी जहाज है जिसके द्वारा ही हम प्रभुके देशको जा सकते हैं। यह हम ही हैं जो अपनी यात्रामें रोड़ा अटका रहे हैं। हम मायारूपी जहाजके तख्तोंको तोड़-तोड़कर अपने लिये सन्दूक और पिटारे बनाते हैं और उन पेटियोंके सौन्दर्यमें निमग्न हो जाते हैं। इष्ट-प्राप्तिको भूलकर अपनी रचनामें खो जाते हैं तब हम दोष देते हैं जहाजको कि इसने हमारी पुनीत यात्रा-में बाधा डाल दी। यह है हमारा विशुद्ध निर्णय! हमारी निर्दोष भावना!

यदि संसारसे मनुष्यके समस्त आविष्कार निर्मूल हो जायँ और यह मनुष्य निकम्मी वस्तुकी तरह निश्चेष्ट भी पड़ा रहे तब भी इसका जीवन इतना अशान्त न रहे जितना अब इसके कर्मवीरताके युगमें है।

देहातके असभ्य गँवार ग्रामीणोंका ग्राम्य-जीवन योरोप और एशियाके विद्वान् ज्ञानी सभ्योंके जीवनसे कहीं अधिक सुखद, शान्त और निर्विषय है क्योंकि उन्होंने मङ्गलमय भगवान्‌की मायाका विश्लेषण करनेकी गुस्ताख़ी नहीं की। उन्होंने भगवान्‌की रचनाओंको अपने लिये पूर्ण, विशुद्ध और निर्दोष माना। उनमें हेर-फेर करनेकी, उनका सत्त्व निकालनेकी अक़लमन्दी नहीं की और न ज़रूरत ही समझी।



प्रार्थना

(लेखक—पं० श्रीरमेशजी द्विवेदी बी० ए०, विशारद)



संसारका प्राणीमात्र किसी-न-किसी रूपमें उस परम पिताको मानता ही है। उसी पतित-पावन परम पिताके सम्मुख अपने हृदयके सरल भावोंको रखना, आर्तत्राण-परायण भगवान्‌के सम्मुख दुःखोंके बोझसे नत होकर, श्रद्धा, भक्ति और अटल विश्वासके साथ प्रेमरसरञ्जित करुणाक्रन्दन करना ही प्रार्थना कहलाती है।

प्रार्थना, संसारके प्रत्येक धर्मका एक आवश्यकीय अंग है। संसारके प्रत्येक धर्मावलम्बीने प्रार्थनाकी शत-शत मुखसे प्रशंसा की है। प्रार्थना मनुष्य-जीवनका सर्वोत्कृष्ट साधन है। असहाय-अवस्थामें तो प्रार्थनाके अतिरिक्त और कोई उपाय रह ही नहीं जाता। दुःखसागरमें डूबते हुए मनुष्यके लिये प्रार्थनासे बढ़कर सुखद, मनोहर, शान्तिमय, सन्तोष एवं तृप्ति देनेवाली कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है। प्रार्थना मनुष्य-जीवनका प्रधान तत्त्व है, इससे रहित होकर मनुष्य-जीवन साररहित हो जाता है। प्रार्थनासे विमुख मनुष्यको संसारसागरकी साधारण हिलोरें अपने निश्चित मार्गसे विचलित कर देती हैं और उसे अवनतिके उस कल्पनातीत खण्डहरमें डाल देती हैं, जिससे पुनः उठना प्रायः असम्भव हो जाता है।

प्रार्थनाकी शक्ति अनन्त है। संसारका ऐसा कोई कार्य नहीं जो प्रार्थनाकी सहायतासे न किया जा सकता हो। Prayer can move mountain प्रार्थनाद्वारा अप्राप्य प्राप्य हो जाता है, असम्भव सम्भव बन जाता है। दुःख टल जाते हैं, टल क्या जाते हैं समूल ही नष्ट हो जाते हैं।

जब प्रेमपूर्ण सच्ची प्रार्थना उस निराकारको साकारतक बना देती है, उस जगत्-नायकको नंगे-

पाँवों दौड़ा सकती है, तब फिर वह और क्या नहीं कर सकती ?

किन्तु यह अनन्त शक्ति और प्रभाव उसी सच्ची प्रार्थनामें होता है जो केवल मुखसे नहीं वरं हृदयसे की जाती है। जहाँ शब्दोंकी गुञ्जारके साथ हृदय-तन्त्रीके कोमल तारोंकी मधुर झंकार भी मिश्रित रहती है। जिस प्रार्थनामें हृदय मुखको आता है, हृदयके मञ्जुल भाव उस अपने प्यारेके चारु चरणोंपर लोटनेके लिये आतुर हो जाते हैं, वही प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना है और उसी प्रार्थनामें असीम शक्तिका समावेश रहता है।

प्रार्थना केवल शब्दोंद्वारा नहीं की जाती है। मौन रहकर भी प्रार्थना की जा सकती है। शब्द-विहीन होते हुए भी हृदयसे निकली हुई प्रेमपूर्ण कातर प्रार्थना वास्तविक प्रार्थना है। और हृदय-विहीन, किन्तु शब्दाडम्बर तथा संगीतयुक्त प्रार्थना तो कृत्रिम प्रार्थना है। दम्भ और आडम्बरयुक्त प्रार्थना, प्रार्थना नहीं, धोखेबाजी है। संसार चाहे धोखा खा जाये किन्तु वह रोम-रोममें रमा हुआ राम क्यों धोखा खायेगा ?

प्रार्थना तभी सार्थक समझनी चाहिये जब उससे शान्ति और आनन्द प्राप्त होने लगे। जिसप्रकार एक भूखे मनुष्यको भोजन मिलनेपर आनन्द मिलता है उसी प्रकार जब आत्माको भी प्रार्थनासे आनन्द और शान्ति प्राप्त होने लगे, तभी जानना चाहिये कि यह सच्ची प्रार्थना है।

प्रार्थनाके लिये समयका निश्चित होना आवश्यक है। हिन्दुओंकी नित्य त्रिकाल-सन्ध्याका यही तत्त्व है। कोई सतत प्रार्थना कर सके, उसका तो कहना ही क्या ! किन्तु हम संसारी जीव हैं, काम, क्रोध, लोभ, मोहसे ग्रसित पामर जीव हैं इसलिये सतत प्रार्थना करनेमें असमर्थ हैं। अतः प्रार्थनाके लिये एक समय निश्चित करना ही उचित और श्रेयस्कर है। उस निश्चित समयपर मनको यथाशक्ति एकाग्र करके, श्रद्धा और अटल विश्वासके साथ प्रेमपूर्ण प्रार्थना करनी चाहिये। और इसप्रकार नित्यप्रति अपने शरीर और मनमें प्रार्थनाद्वारा एक शक्तिका संचार करना चाहिये जिससे उसका प्रभाव हमारे हृदयपर दिन-रात बना रहे।

प्रार्थनाके लिये निश्चित समयपर शुद्ध होकर, यथासाध्य एकान्त, शान्त, पवित्र स्थानमें शान्त होकर बैठना चाहिये और मनमें यह भावना करनी चाहिये कि भगवान् यहाँ मेरे सामने उपस्थित हैं और मेरी प्रत्येक बातको सुन रहे हैं, सुन ही नहीं रहे हैं वरं हृदयकी आन्तरिक गतिको भी देख रहे हैं। इसप्रकार आसनपर बैठकर अपने प्यारे आराध्यदेवके सम्मुख दीनभावसे दिनभरके पापोंका स्मरण करके उनके सामने अपना सारा दोष रखना चाहिये और महान् पश्चात्ताप करते हुए आर्तभावसे क्षमा माँगकर केवल उस प्यारेके लिये ही हृदय खोलकर रोना चाहिये। और अपनी निजकी भाषामें सच्चे हृदयसे विनय करनी चाहिये। अथवा इसी आशयके पद तथा भजन गाने चाहिये। पर ध्यान रहे कि यह गान केवल मुखसे न हो, हृदयसे हो।

मनकी चञ्चलता प्रसिद्ध है। उसको शान्त करनेके उपाय तो केवल दो ही कहे जाते हैं एक तो प्रभुकी पावन प्रेरणा और दूसरा सतत अनथक अभ्यास। प्रभुकी प्रेरणापर अपना कुछ अधिकार नहीं, इस-लिये अनथक अभ्यासद्वारा ही चञ्चल मनको प्रभुके चरणोंमें लगाना चाहिये। चञ्चल मन प्रयत्न करनेपर भी अपने विषयकी वस्तुओंकी ओर दौड़ेगा। इससे घबराओ नहीं, बार-बार उसे वहाँसे लौटा-लौटाकर

उन्हीं पावन चरणोंमें लगाते रहो। इसी प्रकार अनथक प्रयास करते रहो। जब मन अपना व्यापार नहीं छोड़ता तब उसको एकाग्र करनेका उद्योग क्यों बन्द किया जाय ? इस सतत परिश्रमका यही फल होगा कि अन्तमें मनपर पूर्ण अधिकार हो जायगा। इतना होनेपर प्रार्थनामें वही आनन्द आवेगा जो एक भूखेको भोजनमें और प्यासेको शीतल जलमें प्राप्त होता है। फिर तो उस प्रार्थनामें वह आनन्द मिलता है, वह अलौकिक तृप्ति होती है, वह अनुपम शान्ति मिलती है जो वर्णनका विषय नहीं है। अनिर्वचनीय है।

यह तो हुआ मनको शान्त और एकाग्र करनेका आन्तरिक प्रयास; यद्यपि आन्तरिक प्रयासका मूल्य अधिक है किन्तु बाह्य प्रयास भी सर्वथा सहायक होता है। प्रार्थनाके समय अपने आराध्य देवका कोई मनमोहक चित्र सामने रख लो, ताकि नेत्रके सम्मुख नेत्रका भोजन हो। नेत्र बन्द रहनेपर उसी प्रभुकी मनोहर मूर्तिको अपने मन-मन्दिरमें देखते रहो और जब नेत्र खुले तो बाहर प्रभुका वही कमनीय चित्र देखो। उसीके सम्मुख प्रभुका स्मरण, उसके पावन नामका जप, कीर्तन अथवा कोई सुन्दर करुणापूर्ण पद गाकर प्रार्थना करो। परन्तु यह सारी क्रिया एकान्तमें ही करनी चाहिये।

यहाँ एक बात और जान लेनी चाहिये कि संसारी प्राणी होनेके कारण हमलोग भिन्न-भिन्न इच्छाएँ, लालसाएँ और कामनाएँ रखते हैं। हममेंसे कोई परीक्षामें उत्तीर्ण होना चाहता है, कोई पुत्र-लाभकी कामना रखता है, कोई व्यापारमें लाभकी आशा रखता है तो कोई मान-सम्मान चाहता है। कहनेका तात्पर्य यह कि हम एक नहीं अनेक कामनाएँ रखते हैं। यद्यपि प्रार्थनासे ये सारी इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं परन्तु इनकी पूर्तिके लिये प्रार्थनाका प्रयोग न करके अपने पुरुषार्थपर या प्रारब्धपर ही विश्वास रखना चाहिये। स्वार्थमय सकाम प्रार्थना परमार्थ-मार्गके साधकके लिये तो कदापि उचित नहीं है।

सच्चा साधक तो अपने आराध्यदेवके सम्मुख हृदयसे यही कहेगा—

तन मन धन अर्पण कियो 'मोहन' तुमपर आज।
मन भावे सोई करौ हाथ तुम्हारे लाज॥

जिस प्रार्थनाद्वारा 'प्रभु-प्रेम' रूपी अमूल्य रत्न पाया जा सकता है, उससे यदि क्षणिक सुखरूपी काँच लिया जाय तो इस दशामें उस प्रार्थनाका दुरुपयोग ही होगा।

अवश्य ही सकाम प्रार्थना करना बुरा नहीं है। पर अच्छा भी नहीं है। यदि कभी अपनी ओरसे प्रेमकी कमी होनेपर या भगवान्‌की दिव्यदृष्टिमें हमारी कामना सिद्ध होनेमें हमारा नुकसान होनेके कारण वह कामना पूर्ण न हुई तो प्रायः चिरसञ्चित विश्वास-पर भी धक्का लग जाता है। इसलिये प्रार्थना सदैव निष्कामभावसे ही करनी चाहिये। प्रार्थना केवल इसलिये ही की जाय कि उसके बिना किये रहा ही नहीं जाता हो। और यदि कोई कामना ही रखना चाहे तो 'उसी' के प्रेमको उससे पानेकी कामना हो। उसके मिल जानेपर क्या नहीं मिल जाता है ?

प्रार्थनाके सम्बन्धमें यह अन्तिम बात और जान लेनी चाहिये कि 'प्रार्थना' में हमें भूतकी तरह चिपटे रहना चाहिये। प्रार्थना क्यों करनी चाहिये ? प्रार्थना न करनेसे कौन-सी हानि है ? प्रार्थनासे क्या लाभ होगा ? प्रार्थनामें जीवनका अमूल्य समय क्यों नष्ट किया जाय ? आदि व्यापारसम्बन्धी प्रश्न विचारमें भी न आने देने चाहिये। सम्भव है इन प्रश्नोंके बिना उत्तर पाये प्रार्थना करनेवाले मनुष्यको

कुछ लोग बेवकूफ ठहरावें परन्तु अपनेको प्रणपर दृढ़ रहना चाहिये और अपने पावन-पथसे कभी विचलित न होना चाहिये ।

यदि प्रार्थनाद्वारा अपना सर्वस्व उस प्राण-प्यारेके ऊपर वारनेके लिये प्रस्तुत रहोगे, यदि अपने करुणाक्रन्दनद्वारा उस करुणा-निधिकी करुणा-कोरको अपनी ओर आकर्षित करनेका अनथक प्रयास करते रहोगे, यदि तुम उस परम प्यारे मन-मोहनके चरण-कमलोंको अपने प्रेमाश्रुओंसे धोनेकी कामनाको हृदयमें विहार करने दोगे, उसके विषम वियोगसे क्लान्त होकर निशिवासर अपने आँसुओंसे उसके प्रतीक्षा-पथको सींचते रहोगे, यदि तुम्हारे प्राण आतुर और अधीर होकर उसीके लिये छटपटाते रहेंगे तो वह 'गजकी पुकारपर पैदल दौड़नेवाला प्रभु' कभी शान्त होकर न बैठेगा । वह आयेगा और आयेगा उस त्रिभुवनमोहिनी कमनीय छविको लेकर, जिसके प्रकाशमें करोड़ों सूर्योंका सम्पूर्ण प्रकाश फीका पड़ जायगा, असंख्य सुधाकरोंकी ज्योत्स्नामयी सारी कलाएँ लज्जित हो जायँगी । संसारका सारा सौन्दर्य, सुमनोंका सारा उल्लासमय विकास अपना मुख छिपा लेगा ।

सम्भव है कि उस समय ये तुम्हारे बाह्य नेत्र उसे न देख पावें । इसकी चिन्ता न करना । उन्हें अपने हृदयासनपर बैठा लेना । फिर भी ध्यान रहे कि प्रार्थनाका प्रवाह, जिसके द्वारा तुम्हारा प्यारा तुम्हें मिला है, बन्द न हो जाय । जिस प्राणप्यारे प्रभुके लिये तुम इतनी प्रतीक्षा करते रहे, उसके पानेपर भी प्रार्थनाका सतत प्रवाह प्रवाहित ही रहने देना । कभी उस पावन प्रवाहमें तुम स्वयं गोते लगाना और कभी उस अपने प्यारेको निमग्न करना । बस, यही प्रेम-क्रीड़ा अनन्ततक बनी रहे ।



निपुण पात्रका नाट्यकरण

उठो, छोड़ दो अब यह रोना; माना—जीवन है निस्सार,
हम नगण्य कठपुतली भर हैं और नाचते विविध प्रकार
विश्व-नियन्ताकी इंगितपर, नहीं, हमारा कुछ अधिकार
शब्द एक, पल एक, एक रजकण पर भी तो किसी प्रकार ॥

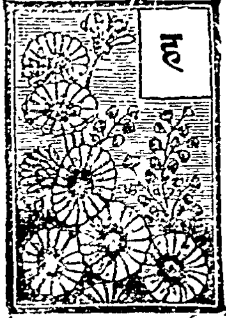
मान लिया जब सत्य इसे, तो फिर कैसा रोना-धोना ?
निश्चित अभिनय नियति-पत्रपर, तो कैसा प्रकाश खोना ?
कर्म और परिणाम सभी जब निर्धारित हैं पहिलेसे,
आँख मूँदकर हमको चलना, तो फिर क्यों चिन्तित होना ?

सुख-दुख, उन्नति-पतन, राग-विद्वेष और जागरण-मरण,
प्रेम-प्रशंसा, तिरस्कार-निन्दा, कटूक्ति या हास्य-रुदन,
शान्ति-रोष, करुणा-उपेक्षा, तुष्टि-ग्लानि या विरह-मिलन,
इन सबका अभिनय भर करना निपुण पात्रका नाट्यकरण ॥

—बालकृष्ण बलदुवा

प्राचीन आचार

(लेखक—विद्यासुधाकर पं० श्रीगोकुलदासजी शास्त्री)



हमारे हिन्दू-शास्त्रोंमें प्रत्येक क्रिया-को धर्मकी दृष्टिसे देखा गया है और छोटी-से-छोटी दीखनेवाली बातके लिये भी विधिनिषेधकी व्यवस्था की गयी है। यद्यपि आजकल लोग इन सब बातोंको गहरे नहीं जानेके कारण व्यर्थ मान लेते हैं और इनका तिरस्कारकर अपनी अदूरदर्शिताका परिचय देते हैं। परन्तु वास्तवमें जरा गम्भीर दृष्टिसे देखनेपर इन सब बातोंमें विज्ञानसिद्ध अनेकों प्रकारके लाभ दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ आज उन लाभोंपर विचार न कर हिन्दू-शास्त्रोंके आधारपर ऐसी कुछ विधि-निषेधात्मक बातें अति संक्षेपमें दिखलायी जाती हैं, जिनका प्राचीन लोग बड़ी सावधानीसे पालन करते थे और लाभ उठाते थे। ऋषियोंका यह विश्वास था कि इस आचारके पालनसे लौकिक-पारलौकिक पूर्ण सुख और अन्तमें जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा मिल सकता है। अतएव विशेष ध्यान देकर इन्हें जानना और कार्यरूपमें परिणत करना चाहिये

मलिन न रहना, शुद्ध-साफ वस्त्र पहनना, लाठी और पात्र साथ रखना, अपवित्र वस्तु अग्निमें न डालना, प्राणबाधा होनेवाला कार्य न करना, सूर्यास्त तथा सूर्योदयके समय भोजन, शयन, प्रयाण आदि न करना, भूमिको नख आदिसे न खुरेदना, जलमें न थूकना, रुधिर, विष आदि अपवित्र वस्तुओंको जलमें न डालना, सूने घरमें अकेले न सोना, सोये हुएको विना कारण न जगाना, दूध पिलाती हुई गायको न स्वयं हटाना और न किसीसे हटानेके लिये कहना, आकाशमें इन्द्र-धनुषको देखकर किसीको न दिखाना, अधर्मी तथा रोगियोंके ग्राममें न रहना, पाखण्डियोंमें कभी न रहना, अकेले दूर गमन न करना, सूने पहाड़पर अधिक न रहना, रूखा पदार्थ न खाना, वृथा चेष्टा न करना, भोजन-सामग्रीको गोदमें रखकर न खाना, वृथा नाचने, गाने, वजाने, खम्भ ठोकने, हिड़हिड़ाकर हँसने, ऊँचे स्वरसे चिल्लाने आदि क्रियाओंको न करना, काँसीके वरतनमें पैर न धोना। दूसरेके पहिने हुए वस्त्र, गहने, माला, यज्ञोपवीत, जूते आदि कभी न पहिनना। भूखे, रोगी तथा अनसधे बैल, घोड़े आदिकी सवारी न करना, नख और बालोंको न उखाड़ना, दाँतोंसे नखोंको न काटना, मिट्टीके ढेलेको वृथा न तोड़ना, नखोंसे तिनके न तोड़ना, व्यर्थ कार्य न करना, चुगली न खाना, अपवित्र न रहना, निन्दित बातें न करना, गायपर न चढ़ना, रात्रिमें वृक्षकी जडोंसे दूर रहना, जुआ न खेलना, सोते हुए नहीं खाना, हाथ तथा आसनपर रखकर न खाना, नग्न होकर न सोना, अपरिचित किले, गुफा आदिमें न घुसना, मल-मूत्रको न देखना, बहुत जीनेकी इच्छा हो तो केश, भस्म, हड्डी, कपाल, कपास, तुष—इनपर न बैठना, दोनों हाथ मिलाकर सिरको न खुजलाना, सिरके बाल न नोचना, सिर-पर प्रहार न करना, स्नान करके किसी अङ्गपर तैल न लगाना, सूर्योदयसे पहले उठना, धर्म-अर्थ और वेदके तत्त्वका विचार करना, अनजान जलाशय-में न नहाना, स्नानसे बचा हुआ जल, उबटन, रुधिर, कफ, वमन आदिको न छूना, वैरी तथा वैरीके सहायक, अधर्मी, चोर, पर-स्त्री,—इनका सहवास कभी न करना। पर-स्त्रीके सेवनसे बढ़कर आयुष्य-का नाश करनेवाला दूसरा कोई अधर्म नहीं है।

दैववशात् अपनी दुर्दशा देखकर आत्माका अपमान न करना, सम्पत्तिको बढ़ानेका उद्योग करना,

सत्य और प्रिय बोलना, अप्रिय लगनेवाली सत्य वाणी न बोलना और प्रिय लगनेवाली मिथ्या वाणी भी न बोलना, सदा शुभ वाणी बोलना, किसीके साथ व्यर्थ वैर-विवाद न करना, अङ्गहीन काने, लूले आदिकी तथा अधिक अङ्गवाले, विद्याहीन, अत्यन्त वृद्ध, द्रव्यहीन, विरूप और जातिहीन मनुष्योंकी निन्दा न करना। बिना कारण इन्द्रियों तथा रोमोंका स्पर्श न करना। हाथ, पैर, नेत्र आदि अंगोंको व्यर्थ न चलाना, सीधापन रखना, बकवाद न करना, दूसरे-से द्रोह हो ऐसे कामोंमें बुद्धि न लगाना, जिस धर्म-मार्गपर पिता-पितामह चलते आये हों उसी मार्गपर चलना। बालक, वृद्ध, आतुर, वैद्य, ज्ञातिवाले, बान्धव, माता, पिता, भाई, पुत्र, भार्या और दास इनसे विवाद न करना। दान लेनेमें अत्यन्त आसक्त न होना क्योंकि दान लेनेसे तेज क्षीण होता है। गुरु, वृद्ध, माता, पिता, अतिथि, पतिव्रता स्त्री, बालक पुत्र आदिका पोषण उचित दान लेकर भी करना। क्रोध करनेवालेपर क्रोध न करना, निन्दा करनेवालेसे भी प्रिय बोलना, नेत्रसे देखकर आगे पैर रखना, दुर्वृत्त हो तो भी किसी आश्रममें रह-कर धर्माचरण करते रहना। पर-स्त्रीको श्रीमती, बहिन, माता कहकर सम्बोधन करना, अवस्थामें छोटे होनेपर भी काका, मामा आदिका उठकर आदर करना, बड़ी भुवा (फूफी), मौसी आदिको प्रणाम करना। अतिथिका सत्कार करना, विद्वानोंकी पूजा करना। उदय, अस्त तथा ग्रहणमें सूर्यके दर्शन न करना, सूर्योदयतक प्रातःसन्ध्या तथा जप करते रहना और तारकोदयतक सायंकाल सन्ध्या तथा जप करते रहना। गौ, देवता, ब्राह्मणको दाहिनी ओर रखकर चलना, छींक तथा जम्हाई लेती हुई, काजल लगाती हुई, सन्तान उत्पन्न करती हुई, भोजन करती हुई, और उबटना करती हुई स्त्रीको न देखना। एक वस्त्र पहिने भोजन न करना। मार्ग, जल, देवमन्दिर, बामी, बोये हुए खेत आदिमें मलमूत्र त्याग न करना। अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, गौ आदिको मल-मूत्र त्यागते समय न देखना। वनादिमें पत्ते आदि-से पृथ्वीको ढककर मल त्याग करना। शरीरको वस्त्रसे ढककर मौन रखकर दिनमें उत्तर और रात-में दक्षिणकी तरफ मुख रखकर मलमूत्र त्यागना। ये धर्म गृह तथा आपत्तिकालमें नहीं हैं।

अग्निको मुखसे न फूँकना। अग्निमें अपने पैरों-को न तपाना, अग्निको अपने नीचे न रखना और उलङ्घन न करना तथा न ठुकराना। अपने गलेसे आप ही माला न उतारना। अग्निशाला, गोशाला, ब्राह्मणोंके समीप, वेदाध्ययनके समय, भोजनके समय दक्षिण हाथको उठाना। अञ्जलिसे जल न पीना। फूटे तथा मन न माने ऐसे पात्रमें भोजन न करना। बालातप, चिताका धुवाँ और टूटे हुए आसनको त्याग देना। गृह, नगर आदिमें द्वारसे होकर जाना, उलटे रास्ते न जाना। रात्रिमें तिल मिली हुई वस्तुको न खाना, उच्छिष्ट मुखसे न चलना। गीले पैरसे भोजन करना। गीले पैर न सोना। दोनों भुजाओंसे तैरकर नदी पार न जाना। उच्छिष्ट मुख हो उस समय सिरको न छूना। सिरको बिना धोये न नहाना। हीन जाति और अधर्मी राजासे दान न लेना। आवश्यक कृत्य-के बाद स्नान करके तीनों कालोंमें तीनों सन्ध्या करना क्योंकि ऋषि लोगोंने बहुत कालतक सन्ध्या-गायत्री जप करनेसे दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। भोजन करके स्नान न करना, देवमूर्त्ति, गुरु, राजा, आचार्य, कपिला गौ और दीक्षित इनकी छायाको जानकर उलङ्घन न करना। प्रातःकाल, सायङ्काल चौराहेमें अधिक समयतक न ठहरना। क्षत्रिय, साँप, वेदवेत्ता ब्राह्मण और दुर्बल दीनका अपमान न करना। अपवित्र दशामें तारा-गणोंको न देखना। मंगलाचारयुक्त, सावधान और जितेन्द्रिय रहना, नित्य जप और होम करना, श्रद्धासे दिये हुए अन्नादिका दान लेना। दान देकर किसीसे भी न कहना। शनैः-शनैः धर्म करते रहना,

लहसुन, प्याज, गाजर, धरतीके फूल आदि न खाना। वृक्षोंका गोंद, गूलरके फूल, लसोड़ा, दस दिनकी व्यायी गायका दूध और मांस आदि न खाना। जल छानकर पीना। योग-दृष्टिसे परमात्माके सूक्ष्म रूपको सर्वत्र देखते रहना। ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माकी गतिको देखते रहना।

जिन पापोंसे इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें रूप बिगड़ जाता है, उनसे बचनेके लिये उन पापोंका यहाँ वर्णन किया जाता है। सोना चुरानेवालेके नख विकट होते हैं, शराबीके दाँत काले होते हैं। ब्रह्महत्यारा क्षयरोगी और गुरु-स्त्री-गामी कोढ़ी होता है। चुगलखोरकी नाक सड़ी होती है। निन्दक सड़े मुखवाला, अन्नचोर अंगहीन, पकान्नचोर महारोगी, विद्याचोर गूँगा, वस्त्रचोर सफेद कोढ़वाला, घोड़ेका चोर लूला, दीपकचोर अन्धा और दीपक बुझानेवाला काना होता है। इसप्रकार अनेक पापोंसे अनेक रोग होते हैं।

प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये झूठ बोलना, राजासे चुगली खाना, गुरुसे झूठ बोलना—ये ब्रह्महत्याके समान पाप हैं। वेद न पढ़ना, वेदकी निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्रका वध करना, निन्दित अन्न खाना—ये मदिरापानके समान पाप हैं। धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि चुराना सोनेकी चोरीके समान है। बहिन, कन्या, चाण्डालिनी, मित्रकी स्त्री, पुत्रकी स्त्री इनसे सङ्गम करना—गुरुपत्नीसे सङ्गमके समान पाप है। गुरु, माता, पिता, पुत्र, वेद, अग्नि—इनका त्याग, व्रतलोप, तालाव, बगीचा और स्त्री-पुत्रका बेचना, हरे वृक्षका काटना, ईश्वरके निवेदनका निमित्त न विचारकर केवल अपने ही लिये भोजन बनाना, होम न करना, ऋण करना, खोटे शास्त्र देखना आदि उपपातक गिने जाते हैं। ब्राह्मणको पीड़ा देना, दुर्गन्धित वस्तुका सूँघना, कुटिलता, अप्राकृत मैथुन—ये जातिसे भ्रष्ट करनेवाले पाप हैं। खर, अश्व, उष्ट्र, मृग, गज, अजा, गाडर, मच्छी, सर्प, भैंस—इनके वधसे शुद्ध जाति भी सङ्करजाति हो जाती है। निन्दितसे धन लेना, वणिज्-व्यापार करना, शूद्रका सेवन—ये कार्य पात्र ब्राह्मणोंको अपात्र बना देते हैं।

कृमि, कीट, पक्षीकी हत्या, फल, काष्ठ, पुष्प चुराना, धीरज छोड़ना—ये अन्तःकरणको मलिन करनेवाले पाप हैं। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तोंसे मरनेके पूर्व आत्माको शुद्ध कर लेना चाहिये। ब्राह्मणका तिरस्कार, पराजय, वध तथा वधकी इच्छा और प्रहार करके उसके अंगसे रुधिर निकालना आदि सर्वथा न करे। यदि अज्ञानसे कोई पाप बन भी जाय तो उसपर सन्ताप करे और फिर आगे पाप न करनेका संकल्प करे।





भगवान्‌की चाल बन्द !

कबहुक खग मृग मीन कबहु मर्कट तनु धरिकै।
कबहुक सुर नर असुर नाग मय आकृति करिकै।
नटवत लख चौरासि रूप धरि-धरि मैं आयौ।
हे त्रिभुवनके नाथ! रीझको कछू न पायौ॥
जो हौ प्रसन्न तो देहु वर मुक्ति-दान माँगौं विहँस।
पै हौ उदास तो कहहु इमि 'मत धर रे नर स्वाँग अस'॥

—अज्ञात कवि



सत्य और प्रिय बोलना, अप्रिय लगनेवाली सत्य वाणी न बोलना और प्रिय लगनेवाली मिथ्या वाणी भी न बोलना, सदा शुभ वाणी बोलना, किसीके साथ व्यर्थ वैर-विवाद न करना, अङ्गहीन काने,लूले आदिकी तथा अधिक अङ्गवाले, विद्याहीन, अत्यन्त वृद्ध, द्रव्यहीन, विरूप और जातिहीन मनुष्योंकी निन्दा न करना। बिना कारण इन्द्रियों तथा रोमोंका स्पर्श न करना। हाथ, पैर, नेत्र आदि अंगोंको व्यर्थ न चलाना, सीधापन रखना, बकवाद न करना, दूसरेसे द्रोह हो ऐसे कामोंमें बुद्धि न लगाना, जिस धर्ममार्गपर पिता-पितामह चलते आये हों उसी मार्गपर चलना। बालक, वृद्ध, आतुर, वैद्य, ज्ञातिवाले, बान्धव, माता, पिता, भाई, पुत्र, भार्या और दास इनसे विवाद न करना। दान लेनेमें अत्यन्त आसक्त न होना क्योंकि दान लेनेसे तेज क्षीण होता है। गुरु, वृद्ध, माता, पिता, अतिथि, पतिव्रता स्त्री, बालक पुत्र आदिका पोषण उचित दान लेकर भी करना। क्रोध करनेवालेपर क्रोध न करना, निन्दा करनेवालेसे भी प्रिय बोलना, नेत्रसे देखकर आगे पैर रखना, दुर्वृत्त हो तो भी किसी आश्रममें रहकर धर्माचरण करते रहना। परस्त्रीको श्रीमती, बहिन, माता कहकर सम्बोधन करना, अवस्थामें छोटे होनेपर भी काका, मामा आदिका उठकर आदर करना, बड़ी भुवा (फूफी), मौसी आदिको प्रणाम करना। अतिथिका सत्कार करना, विद्वानोंकी पूजा करना। उदय, अस्त तथा ग्रहणमें सूर्यके दर्शन न करना,सूर्योदयतक प्रातःसन्ध्या तथा जप करते रहना और तारकोदयतक सायंकाल सन्ध्या तथा जप करते रहना। गौ, देवता, ब्राह्मणको दाहिनी ओर रखकर चलना, छींक तथा जम्हाई लेती हुई, काजल लगाती हुई, सन्तान उत्पन्न करती हुई, भोजन करती हुई, और उबटना करती हुई स्त्रीको न देखना। एक वस्त्र पहिने भोजन न करना। मार्ग, जल, देवमन्दिर, वामी, बोये हुए खेत आदिमें मलमूत्र त्याग न करना। अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, गौ आदिको मलमूत्र त्यागते समय न देखना। वनादिमें पत्ते आदिसे पृथ्वीको ढककर मल त्याग करना। शरीरको वस्त्रसे ढककर मौन रखकर दिनमें उत्तर और रातमें दक्षिणकी तरफ मुख रखकर मलमूत्र त्यागना। ये धर्म गृह तथा आपत्तिकालमें नहीं हैं।

अग्निको मुखसे न फूँकना। अग्निमें अपने पैरोंको न तपाना, अग्निको अपने नीचे न रखना और उलङ्घन न करना तथा न ठुकराना। अपने गलेसे आप ही माला न उतारना। अग्निशाला, गोशाला, ब्राह्मणोंके समीप, वेदाध्ययनके समय, भोजनके समय दक्षिण हाथको उठाना। अञ्जलिसे जल न पीना। फूटे तथा मन न माने ऐसे पात्रमें भोजन न करना। बालातप, चिताका धुआँ और टूटे हुए आसनको त्याग देना। गृह, नगर आदिमें द्वारसे होकर जाना, उलटे रास्ते न जाना। रात्रिमें तिल मिली हुई वस्तुको न खाना, उच्छिष्ट मुखसे न चलना। गीले पैरसे भोजन करना। गीले पैर न सोना। दोनों भुजाओंसे तैरकर नदी पार न जाना। उच्छिष्ट मुख हो उस समय सिरको न छूना। सिरको बिना धोये न नहाना। हीन जाति और अधर्मी राजासे दान न लेना। आवश्यक कृत्यके बाद स्नान करके तीनों कालोंमें तीनों सन्ध्या करना क्योंकि ऋषि लोगोंने बहुत कालतक सन्ध्या-गायत्री जप करनेसे दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। भोजन करके स्नान न करना, देवमूर्त्ति, गुरु, राजा, आचार्य, कपिला गौ और दीक्षित इनकी छायाको जानकर उलङ्घन न करना। प्रातःकाल, सायङ्काल चौराहेमें अधिक समयतक न ठहरना। क्षत्रिय, साँप, वेदवेत्ता ब्राह्मण और दुर्बल दीनका अपमान न करना। अपवित्र दशामें तारागणोंको न देखना। मंगलाचारयुक्त, सावधान और जितेन्द्रिय रहना, नित्य जप और होम करना, श्रद्धासे दिये हुए अन्नादिका दान लेना। दान देकर किसीसे भी न कहना। शनैः-शनैः धर्म करते रहना,

लहसुन, प्याज, गाजर, धरतीके फूल आदि न खाना। वृक्षोंका गोंद, गूलरके फूल, लसोड़ा, दस दिनकी ब्यायी गायका दूध और मांस आदि न खाना। जल छानकर पीना। योग-दृष्टिसे परमात्माके सूक्ष्म रूपको सर्वत्र देखते रहना। ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माकी गतिको देखते रहना।

जिन पापोंसे इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें रूप बिगड़ जाता है, उनसे बचनेके लिये उन पापोंका यहाँ वर्णन किया जाता है। सोना चुरानेवालेके नख विकट होते हैं, शराबीके दाँत काले होते हैं। ब्रह्महत्यारा क्षयरोगी और गुरु-स्त्री-गामी कोढ़ी होता है। चुगलखोरकी नाक सड़ी होती है। निन्दक सड़े मुखवाला, अन्नचोर अंगहीन, पक्वान्नचोर महारोगी, विद्याचोर गूँगा, वस्त्रचोर सफेद कोढ़वाला, घोड़ेका चोर लूला, दीपकचोर अन्धा और दीपक बुझानेवाला काना होता है। इसप्रकार अनेक पापोंसे अनेक रोग होते हैं।

प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये झूठ बोलना, राजासे चुगली खाना, गुरुसे झूठ बोलना—ये ब्रह्महत्याके समान पाप हैं। वेद न पढ़ना, वेदकी निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्रका वध करना, निन्दित अन्न खाना—ये मदिरापानके समान पाप हैं। धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि चुराना सोनेकी चोरीके समान है। बहिन, कन्या, चाण्डालिनी, मित्रकी स्त्री, पुत्रकी स्त्री इनसे सङ्गम करना—गुरुपत्नीसे सङ्गमके समान पाप है। गुरु, माता, पिता, पुत्र, वेद, अग्नि—इनका त्याग, व्रतलोप, तालाब, बगीचा और स्त्री-पुत्रका बेचना, हरे वृक्षका काटना, ईश्वरके निवेदनका निमित्त न विचारकर केवल अपने ही लिये भोजन बनाना, होम न करना, ऋण करना, खोटे शास्त्र देखना आदि उपपातक गिने जाते हैं। ब्राह्मणको पीड़ा देना, दुर्गन्धित वस्तुका सूँघना, कुटिलता, अप्राकृत मैथुन—ये जातिसे भ्रष्ट करनेवाले पाप हैं। खर, अश्व, उष्ट्र, मृग, गज, अजा, गाडर, मच्छी, सर्प, भैंस—इनके वधसे शुद्ध जाति भी सङ्करजाति हो जाती है। निन्दितसे धन लेना, वणिज्-व्यापार करना, शूद्रका सेवन—ये कार्य पात्र ब्राह्मणोंको अपात्र बना देते हैं।

कृमि, कीट, पक्षीकी हत्या, फल, काष्ठ, पुष्प चुराना, धीरज छोड़ना—ये अन्तःकरणको मलिन करनेवाले पाप हैं। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तोंसे मरनेके पूर्व आत्माको शुद्ध कर लेना चाहिये। ब्राह्मणका तिरस्कार, पराजय, वध तथा वधकी इच्छा और प्रहार करके उसके अंगसे रुधिर निकालना आदि सर्वथा न करे। यदि अज्ञानसे कोई पाप बन भी जाय तो उसपर सन्ताप करे और फिर आगे पाप न करनेका संकल्प करे।



भगवान्‌की चाल बन्द !

कबहुक खग मृग मीन कबहु मर्कट तनु धरिकै।
कबहुक सुर नर असुर नाग मय आकृति करिकै।
नटवत लख चौरासि रूप धरि-धरि मैं आयौ।
हे त्रिभुवनके नाथ! रीझको कछू न पायौ॥
जो हौ प्रसन्न तो देहु वर मुक्ति-दान माँगौं बिहँस।
पै हौ उदास तो कहहु इमि 'मत धर रे नर स्वाँग अस'॥

—अज्ञात कवि

सत्य और प्रिय बोलना, अप्रिय लगनेवाली सत्य वाणी न बोलना और प्रिय लगनेवाली मिथ्या वाणी भी न बोलना, सदा शुभ वाणी बोलना, किसीके साथ व्यर्थ वैर-विवाद न करना, अङ्गहीन काने,लूले आदिकी तथा अधिक अङ्गवाले, विद्याहीन, अत्यन्त वृद्ध, द्रव्यहीन, विरूप और जातिहीन मनुष्योंकी निन्दा न करना। बिना कारण इन्द्रियों तथा रोमोंका स्पर्श न करना। हाथ, पैर, नेत्र आदि अंगोंको व्यर्थ न चलाना, सीधापन रखना, बकवाद न करना, दूसरेसे द्रोह हो ऐसे कामोंमें बुद्धि न लगाना, जिस धर्ममार्गपर पिता-पितामह चलते आये हों उसी मार्गपर चलना। बालक, वृद्ध, आतुर, वैद्य, ज्ञातिवाले, बान्धव, माता, पिता, भाई, पुत्र, भार्या और दास इनसे विवाद न करना। दान लेनेमें अत्यन्त आसक्त न होना क्योंकि दान लेनेसे तेज क्षीण होता है। गुरु, वृद्ध, माता, पिता, अतिथि, पतिव्रता स्त्री, बालक पुत्र आदिका पोषण उचित दान लेकर भी करना। क्रोध करनेवालेपर क्रोध न करना, निन्दा करनेवालेसे भी प्रिय बोलना, नेत्रसे देखकर आगे पैर रखना, दुर्वृत्त हो तो भी किसी आश्रममें रहकर धर्माचरण करते रहना। परस्त्रीको श्रीमती, बहिन, माता कहकर सम्बोधन करना, अवस्थामें छोटे होनेपर भी काका, मामा आदिका उठकर आदर करना, बड़ी बुआ (फूफी), मौसी आदिको प्रणाम करना। अतिथिका सत्कार करना, विद्वानोंकी पूजा करना। उदय, अस्त तथा ग्रहणमें सूर्यके दर्शन न करना,सूर्योदयतक प्रातःसन्ध्या तथा जप करते रहना और तारकोदयतक सायंकाल सन्ध्या तथा जप करते रहना। गौ, देवता, ब्राह्मणको दाहिनी ओर रखकर चलना, छींक तथा जम्हाई लेती हुई, काजल लगाती हुई, सन्तान उत्पन्न करती हुई, भोजन करती हुई, और उबटना करती हुई स्त्रीको न देखना। एक वस्त्र पहिने भोजन न करना। मार्ग, जल, देवमन्दिर, बामी, घोये हुए खेत आदिमें मलमूत्र त्याग न करना। अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, गौ आदिको मलमूत्र त्यागते समय न देखना। वनादिमें पत्ते आदिसे पृथ्वीको ढककर मल त्याग करना। शरीरको वस्त्रसे ढककर मौन रखकर दिनमें उत्तर और रातमें दक्षिणकी तरफ मुख रखकर मलमूत्र त्यागना। ये धर्म गृह तथा आपत्तिकालमें नहीं हैं।

अग्निको मुखसे न फूँकना। अग्निमें अपने पैरोंको न तपाना, अग्निको अपने नीचे न रखना और उल्लङ्घन न करना तथा न ठुकराना। अपने गलेसे आप ही माला न उतारना। अग्निशाला,गोशाला,ब्राह्मणोंके समीप, वेदाध्ययनके समय, भोजनके समय दक्षिण हाथको उठाना। अञ्जलिसे जल न पीना। फूटे तथा मन न माने ऐसे पात्रमें भोजन न करना। बालातप, चिताका धुवाँ और टूटे हुए आसनको त्याग देना। गृह, नगर आदिमें द्वारसे होकर जाना, उलटे रास्ते न जाना। रात्रिमें तिल मिली हुई वस्तुको न खाना, उच्छिष्ट मुखसे न चलना। गीले पैरसे भोजन करना। गीले पैर न सोना। दोनों भुजाओंसे तैरकर नदी पार न जाना। उच्छिष्ट मुख हो उस समय सिरको न छूना। सिरको बिना धोये न नहाना। हीन जाति और अधर्मी राजासे दान न लेना। आवश्यक कृत्यके बाद स्नान करके तीनों कालोंमें तीनों सन्ध्या करना क्योंकि ऋषि लोगोंने बहुत कालतक सन्ध्या-गायत्री जप करनेसे दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। भोजन करके स्नान न करना, देवमूर्त्ति, गुरु, राजा, आचार्य, कपिला गौ और दीक्षित इनकी छायाको जानकर उल्लङ्घन न करना। प्रातःकाल, सायङ्काल चौराहेमें अधिक समयतक न ठहरना। क्षत्रिय, साँप, वेदवेत्ता ब्राह्मण और दुर्बल दीनका अपमान न करना। अपवित्र दशामें तारागणोंको न देखना। मंगलाचारयुक्त, सावधान और जितेन्द्रिय रहना, नित्य जप और होम करना, श्रद्धासे दिये हुए अन्नादिका दान लेना। दान देकर किसीसे भी न कहना। शनैः-शनैः धर्म करते रहना,

लहसुन, प्याज, गाजर, धरतीके फूल आदि न खाना। वृक्षोंका गोंद, गूलरके फूल, लसोड़ा, दस दिनकी व्यायी गायका दूध और मांस आदि न खाना। जल छानकर पीना। योग-दृष्टिसे परमात्माके सूक्ष्म रूपको सर्वत्र देखते रहना। ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माकी गतिको देखते रहना।

जिन पापोंसे इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें रूप बिगड़ जाता है, उनसे बचनेके लिये उन पापोंका यहाँ वर्णन किया जाता है। सोना चुरानेवालेके नख विकट होते हैं, शराबीके दाँत काले होते हैं। ब्रह्महत्यारा क्षयरोगी और गुरु-स्त्री-गामी कोढ़ी होता है। चुगलखोरकी नाक सड़ी होती है। निन्दक सड़े मुखवाला, अन्नचोर अंगहीन, पक्वान्नचोर महारोगी, विद्याचोर गूँगा, वस्त्रचोर सफेद कोढ़वाला, घोड़ेका चोर लूला, दीपकचोर अन्धा और दीपक बुझानेवाला काना होता है। इसप्रकार अनेक पापोंसे अनेक रोग होते हैं।

प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये झूठ बोलना, राजासे चुगली खाना, गुरुसे झूठ बोलना—ये ब्रह्महत्याके समान पाप हैं। वेद न पढ़ना, वेदकी निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्रका वध करना, निन्दित अन्न खाना—ये मदिरापानके समान पाप हैं। धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि चुराना सोनेकी चोरीके समान है। बहिन, कन्या, चाण्डालिनी, मित्रकी स्त्री, पुत्रकी स्त्री इनसे सङ्गम करना—गुरुपत्नीसे सङ्गमके समान पाप है। गुरु, माता, पिता, पुत्र, वेद, अग्नि—इनका त्याग, व्रतलोप, तालाव, बगीचा और स्त्री-पुत्रका बेचना, हरे वृक्षका काटना, ईश्वरके निवेदनका निमित्त न विचारकर केवल अपने ही लिये भोजन बनाना, होम न करना, ऋण करना, खोटे शास्त्र देखना आदि उपपातक गिने जाते हैं। ब्राह्मणको पीड़ा देना, दुर्गन्धित वस्तुका सूँघना, कुटिलता, अप्राकृत मैथुन—ये जातिसे भ्रष्ट करनेवाले पाप हैं। खर, अश्व, उष्ट्र, मृग, गज, अजा, गाडर, मच्छी, सर्प, भैंस—इनके वधसे शुद्ध जाति भी सङ्करजाति हो जाती है। निन्दितसे धन लेना, वणिज्-व्यापार करना, शूद्रका सेवन—ये कार्य पात्र ब्राह्मणोंको अपात्र बना देते हैं।

कृमि, कीट, पक्षीकी हत्या, फल, काष्ठ, पुष्प चुराना, धीरज छोड़ना—ये अन्तःकरणको मलिन करनेवाले पाप हैं। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तोंसे मरनेके पूर्व आत्माको शुद्ध कर लेना चाहिये। ब्राह्मणका तिरस्कार, पराजय, वध तथा वधकी इच्छा और प्रहार करके उसके अंगसे रुधिर निकालना आदि सर्वथा न करे। यदि अज्ञानसे कोई पाप बन भी जाय तो उसपर सन्ताप करे और फिर आगे पाप न करनेका संकल्प करे।





भगवान्‌की चाल बन्द !

कबहुक खग मृग मीन कबहु मर्कट तनु धरिकै।
कबहुक सुर नर असुर नाग मय आकृति करिकै।
नटवत लख चौरासि रूप धरि-धरि मैं आयौ।
हे त्रिभुवनके नाथ! रीझको कछू न पायौ॥
जो हौ प्रसन्न तो देहु वर मुक्ति-दान माँगौं बिहँस।
पै हौ उदास तो कहहु इमि 'मत धर रे नर स्वाँग अस'॥

—अज्ञात कवि



सत्य और प्रिय बोलना, अप्रिय लगनेवाली सत्य वाणी न बोलना और प्रिय लगनेवाली मिथ्या वाणी भी न बोलना, सदा शुभ वाणी बोलना, किसीके साथ व्यर्थ वैर-विवाद न करना, अङ्गहीन काने,लूले आदिकी तथा अधिक अङ्गवाले, विद्याहीन, अत्यन्त वृद्ध, द्रव्यहीन, विरूप और जातिहीन मनुष्योंकी निन्दा न करना। बिना कारण इन्द्रियों तथा रोमोंका स्पर्श न करना। हाथ, पैर, नेत्र आदि अंगोंको व्यर्थ न चलाना, सीधापन रखना, बकवाद न करना, दूसरे-से द्रोह हो ऐसे कामोंमें बुद्धि न लगाना, जिस धर्म-मार्गपर पिता-पितामह चलते आये हों उसी मार्गपर चलना। बालक, वृद्ध, आतुर, वैद्य, ज्ञातिवाले, बान्धव, माता, पिता, भाई, पुत्र, भार्या और दास इनसे विवाद न करना। दान लेनेमें अत्यन्त आसक्त न होना क्योंकि दान लेनेसे तेज क्षीण होता है। गुरु, वृद्ध, माता, पिता, अतिथि, पतिव्रता स्त्री, बालक पुत्र आदिका पोषण उचित दान लेकर भी करना। क्रोध करनेवालेपर क्रोध न करना, निन्दा करनेवालेसे भी प्रिय बोलना, नेत्रसे देखकर आगे पैर रखना, दुर्वृत्त हो तो भी किसी आश्रममें रह-कर धर्माचरण करते रहना। पर-स्त्रीको श्रीमती, बहिन, माता कहकर सम्बोधन करना, अवस्थामें छोटे होनेपर भी काका, मामा आदिका उठकर आदर करना, बड़ी भुवा (फूफी), मौसी आदिको प्रणाम करना। अतिथिका सत्कार करना, विद्वानोंकी पूजा करना। उदय, अस्त तथा ग्रहणमें सूर्यके दर्शन न करना,सूर्योदयतक प्रात.सन्ध्या तथा जप करते रहना और तारकोदयतक सायंकाल सन्ध्या तथा जप करते रहना। गौ, देवता, ब्राह्मणको दाहिनी ओर रखकर चलना, छींक तथा जम्हाई लेती हुई, काजल लगाती हुई, सन्तान उत्पन्न करती हुई, भोजन करती हुई, और उबटना करती हुई स्त्रीको न देखना। एक वस्त्र पहिने भोजन न करना। मार्ग, जल, देवमन्दिर, वामी, घेरे हुए खेत आदिमें मलमूत्र त्याग न करना। अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, गौ आदिको मल-मूत्र त्यागते समय न देखना। वनादिमें पत्ते आदि से पृथ्वीको ढककर मल त्याग करना। शरीरको वस्त्रसे ढककर मौन रखकर दिनमें उत्तर और रात-में दक्षिणकी तरफ मुख रखकर मलमूत्र त्यागना। ये धर्म गृह तथा आपत्तिकालमें नहीं हैं।

अग्निको मुखसे न फूँकना। अग्निमें अपने पैरों-को न तपाना, अग्निको अपने नीचे न रखना और उल्लङ्घन न करना तथा न ठुकराना। अपने गलेसे आप ही माला न उतारना। अग्निशाला, गोशाला, ब्राह्मणोंके समीप, वेदाध्ययनके समय, भोजनके समय दक्षिण हाथको उठाना। अञ्जलिसे जल न पीना। फूटे तथा मन न माने ऐसे पात्रमें भोजन न करना। बालातप, चिताका धुआँ और टूटे हुए आसनको त्याग देना। गृह, नगर आदिमें द्वारसे होकर जाना, उलटे रास्ते न जाना। रात्रिमें तिल मिली हुई वस्तुको न खाना, उच्छिष्ट मुखसे न चलना। गीले पैरसे भोजन करना। गीले पैर न सोना। दोनों भुजाओंसे तैरकर नदी पार न जाना। उच्छिष्ट मुख हो उस समय सिरको न छूना। सिरको बिना धोये न नहाना। हीन जाति और अधर्मी राजासे दान न लेना। आवश्यक कृत्य के बाद स्नान करके तीनों कालोंमें तीनों सन्ध्या करना क्योंकि ऋषि लोगोंने बहुत कालतक सन्ध्या गायत्री जप करनेसे दीर्घायु, बुद्धि, यश, कीर्ति तथा ब्रह्मतेज प्राप्त किया था। भोजन करके स्नान न करना, देवमूर्त्ति, गुरु, राजा, आचार्य, कपिला गौ और दीक्षित इनकी छायाको जानकर उल्लङ्घन न करना। प्रातःकाल, सायङ्काल चौराहेमें अधिक समयतक न ठहरना। क्षत्रिय, साँप, वेदवेत्ता ब्राह्मण और दुर्बल दीनका अपमान न करना। अपवित्र दशामें तारा-गणोंको न देखना। मंगलाचारयुक्त, सावधान और जितेन्द्रिय रहना, नित्य जप और होम करना, श्रद्धासे दिये हुए अन्नादिका दान लेना। दान देकर किसीसे भी न कहना। शनैःशनैः धर्म करते रहना,

लहसुन, प्याज, गाजर, धरतीके फूल आदि न खाना। वृक्षोंका गोंद, गूलरके फूल, लसोड़ा, दस दिनकी ब्यायी गायका दूध और मांस आदि न खाना। जल छानकर पीना। योग-दृष्टिसे परमात्माके सूक्ष्म रूपको सर्वत्र देखते रहना। ध्यानयोगके द्वारा अन्तरात्माकी गतिको देखते रहना।

जिन पापोंसे इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें रूप बिगड़ जाता है, उनसे बचनेके लिये उन पापोंका यहाँ वर्णन किया जाता है। सोना चुरानेवालेके नख विकट होते हैं, शराबीके दाँत काले होते हैं। ब्रह्महत्यारा क्षयरोगी और गुरु-स्त्री-गामी कोढ़ी होता है। चुगलखोरकी नाक सड़ी होती है। निन्दक सड़े मुखवाला, अन्नचोर अंगहीन, पक्वान्नचोर महारोगी, विद्याचोर गूँगा, वस्त्रचोर सफेद कोढ़वाला, घोड़ेका चोर लूला, दीपकचोर अन्धा और दीपक बुझानेवाला काना होता है। इसप्रकार अनेक पापोंसे अनेक रोग होते हैं।

प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये झूठ बोलना, राजासे चुगली खाना, गुरुसे झूठ बोलना—ये ब्रह्महत्याके समान पाप हैं। वेद न पढ़ना, वेदकी निन्दा करना, झूठी गवाही देना, मित्रका वध करना, निन्दित अन्न खाना—ये मदिरापानके समान पाप हैं। धरोहर, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि चुराना सोनेकी चोरीके समान है। बहिन, कन्या, चाण्डालिनी, मित्रकी स्त्री, पुत्रकी स्त्री इनसे सङ्गम करना—गुरुपत्नीसे सङ्गमके समान पाप है। गुरु, माता, पिता, पुत्र, वेद, अग्नि—इनका त्याग, व्रतलोप, तालाब, बगीचा और स्त्री-पुत्रका बेचना, हरे वृक्षका काटना, ईश्वरके निवेदनका निमित्त न विचारकर केवल अपने ही लिये भोजन बनाना, होम न करना, ऋण करना, खोटे शास्त्र देखना आदि उपपातक गिने जाते हैं। ब्राह्मणको पीड़ा देना, दुर्गन्धित वस्तुका सूँघना, कुटिलता, अप्राकृत मैथुन—ये जातिसे भ्रष्ट करनेवाले पाप हैं। खर, अश्व, उष्ट्र, मृग, गज, अजा, गाडर, मच्छी, सर्प, भैंस—इनके वधसे शुद्ध जाति भी सङ्करजाति हो जाती है। निन्दितसे धन लेना, वणिज्-व्यापार करना, शूद्रका सेवन—ये कार्य पात्र ब्राह्मणोंको अपात्र बना देते हैं।

कृमि, कीट, पक्षीकी हत्या, फल, काष्ठ, पुष्प चुराना, धीरज छोड़ना—ये अन्तःकरणको मलिन करनेवाले पाप हैं। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्तोंसे मरनेके पूर्व आत्माको शुद्ध कर लेना चाहिये। ब्राह्मणका तिरस्कार, पराजय, वध तथा वधकी इच्छा और प्रहार करके उसके अंगसे रुधिर निकालना आदि सर्वथा न करे। यदि अज्ञानसे कोई पाप बन भी जाय तो उसपर सन्ताप करे और फिर आगे पाप न करनेका संकल्प करे।





भगवान्‌की चाल बन्द !

कबहुक खग मृग मीन कबहु मर्कट तनु धरिकै।
कबहुक सुर नर असुर नाग मय आकृति करिकै।
नटवत लख चौरासि रूप धरि-धरि मैं आयौ।
हे त्रिभुवनके नाथ! रीझको कछू न पायौ॥
जो हौ प्रसन्न तो देहु वर मुक्ति-दान माँगौं विहँस।
पै हौ उदास तो कहहु इमि 'मत धर रे नर स्वाँग अस'॥

—अज्ञात कवि



जीवन-प्रवाह

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी शास्त्री)



जीवन-संग्राममें विजय प्राप्त करना होगा। शारीरिक मोह-पाशको तोड़ना होगा। नैसर्गिक तथा लोकोत्तर सौन्दर्यका दर्शन करना होगा। अपने वास्तविक स्वरूपको जानना होगा। इसके लिये शक्ति चाहिये। जैसा कि उपनिषद्में भी कहा है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' यह आत्मा निर्बल प्राणियोंद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। शक्ति ब्रह्मचर्यमें है। सच पूछिये तो ब्रह्मचर्य और शक्ति एक ही वस्तु है। ब्रह्मचर्यका अखण्ड व्रत पालन करनेहीसे अमोघ शक्ति सम्पादित होगी और उस शक्तिसे ही आत्मविजय होगी। देव! कमर कसकर तैयार हो जाओ। एक बार अपने अन्दर उस परम पुनीत अनन्त शक्तिका अनुभव कर लो जो सारे संसारको चला रही है। आओ, इस पवित्र आदर्शकी प्राप्तिके लिये दो-एक बातें निश्चय करें।

पवित्रताका जप करो, उसीका एकमात्र ध्यान करो। एकमात्र पवित्र विचार-धारामें अपने आपको बहा दो। पवित्रताका विचार करते-करते उसीमें तल्लीन हो जाओ। पवित्र विचारोंका अपने हृदयमें इतना ढेर लगा दो कि अपवित्र विचारोंके लिये हृदयमें स्थान ही न रह जाय। मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र बननेका प्रयत्न करो। पवित्रताका सुरम्य वायुमण्डल अपने चारों ओर तैयार कर लो। ऐसा वायुमण्डल तभी बन सकता है जब तुम परमात्माकी सृष्टिमें पवित्रता-ही-पवित्रता देखोगे। परमात्माकी सृष्टिमें कहीं अपवित्रता नहीं। अपवित्रता तो अपने अन्दर है। सबमें रामरूपकी झलक देखो। बस, पवित्रतामें रँग जाओ।

सब मनुष्योंमें, सब प्राणियोंमें अपने रूपको देखो, अपनेसे भिन्न मत समझो। 'अपना-सा हर जीवको जाने ताहि मिले अविनाशी।' अविनाशी सत्य उसीको प्राप्त होगा जो सब प्राणियोंको अपने ही जैसा समझता है।

> 'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
> तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
> (ईशोपनिषद्)

अपने हृदय-मन्दिरमें सिवा परमात्माके किसी-को स्थान न दो। यदि किसी व्यक्तिकी याद आती है तो आने दो किन्तु उसके सम्बन्धकी अच्छाइयों-का ही चिन्तन करो। उसे पवित्रताकी मूर्ति समझो। उसके सम्बन्धकी यदि कोई बुरी बात सुन रक्खी हो तो उसे सर्वथा भूल जाओ। उसे परमात्माका ही रूप समझो और यहाँतक उसमें परमात्माके रूपको देखनेका यत्न करो ताकि उसका पाञ्चभौतिक शरीर आँखोंसे ओझल हो जाय।

संसारमें यदि कोई बुरा दीख पड़ता हो तो इसका अर्थ है कि मैं स्वयं बुरा हूँ, और जो बुराई दूसरेमें दीख पड़ती है उसे अपने ही अन्दर समझकर उसके निकालनेका प्रयत्न करो। जबतक दूसरोंमें दोष देखनेकी दृष्टि होगी तबतक हमारी दृष्टि दूषित रहेगी और अन्तर्दृष्टिके खुलनेका अवसर न मिलेगा।

> 'बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
> जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥'

अपने दैनिक जीवनका कार्यक्रम पहलेहीसे निर्धारित कर लो। मनको इसप्रकार सत् कार्योंमें फँसा रक्खो कि उसे और कुछ सोचनेका अवसर ही न मिले। जिस समय जिस कार्यमें लगो, बस,

अपनेको भूल जाओ और कायमय हो जाओ। बाह्य संज्ञाशून्य हो जाओ। किसी दूसरी बातका ध्यान भी मनमें न आने दो।

दुर्बलता तथा भयको दूर करो। सत् वस्तुपर अनन्य श्रद्धा रक्खो। मैं नित्य हूँ। शाश्वत हूँ। निर्भय हूँ। निर्विकार हूँ। शक्तिमान् हूँ, ऐसा निश्चय करो। प्रणव-मन्त्र 'ॐ' का जप प्रति श्वासके साथ किया करो। बस, दुर्बलता और भयका नाम न रह जायगा।

जब किसी समय मन खाली रहे तो किसी एकान्त स्थानमें निकल जाओ और ज़ोर-ज़ोरसे भगवान्का नाम उच्चारण करो।

प्रिय! उठो, जीवन-संग्राममें कमर कसकर उतरो। संग्राम तो भयङ्कर है किन्तु यदि दृढ़ संकल्पका कवच पहन प्रभुमें प्रगाढ़ श्रद्धा रखकर मैदानमें उतरोगे तो विजयी होगे। वीरवर! उत्साहके साथ प्रेमोन्मादमें उन्मत्त रणक्षेत्रमें उतरकर आत्मविजय करो। जीवनके सारे दुःख मिट जायँगे। जीवन-प्रवाहमें बहते हुए तुम आनन्दघन सच्चिदानन्द-सागरमें मिल जाओगे। आनन्दमय हो जाओगे।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी महाराज)

[गतांकसे आगे]

७१२–जिस अंशमें विचार केन्द्रित तथा प्रेरित किये जाते हैं उसी अंशमें वह उस कार्यमें प्रभावोत्पादक होते हैं जिसके पूरा करनेके लिये उनकी प्रेरणा होती है।

७१३–तुम्हें चोर और ईमानदारकी पहचान करनी चाहिये। परन्तु चोरसे भी अन्तरमें प्रेम करना चाहिये। सांसारिक पुरुष चोरको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, उसे बाहरका समझते हैं और अपनेको पूरा-पूरा उससे अलग मानते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष अपने आपकी तरह चोरसे प्रेम करता है तथा उसको अपने आपमें देखता है।

७१४–जब तुम यह स्मरण रखते हो कि एक असभ्य तथा बेईमान आदमी भी भविष्यमें एक सन्त हो सकता है तथा उसमें भी वे सारी दिव्य शक्तियाँ बीजरूपमें वर्तमान हैं तो तुम प्रत्येक मनुष्यसे प्रेम करने लगते हो। द्वेष क्रमशः अदृश्य होने लगता है। असभ्य तथा बेईमान मनुष्यका उन्नत तथा विकसित होना (अनुकूल) समयपर निर्भर करता है।

७१५–जब तुम अपने भीतर ब्रह्म-भावनाका अनुभव करते हो और जब तुम बाह्य चक्रको जिसको हानि पहुँचायी जा सकती है, अपनेसे अलग तथा अपना एक अंश समझते हो तो तुम्हें साहस मिलता जाता है। तत्त्वतः हम समानरूपसे बलवान् हैं परन्तु विकासके दर्जे होते हैं। जब तुम्हें भय मालूम हो तो आश्रयके लिये भीतरसे, हृदयकी गुफासे (दहराकाशसे) आत्मासे शक्ति माँगो।

७१६–ब्रह्माने विचारा—'निश्चय ही यह लोक हैं, मैं लोकपालोंको रचूँगा।' उसने जल लेकर उससे हिरण्यगर्भ (पुरुष) की सृष्टि की, उसे तपसे तप्त किया। जब वह इसप्रकार तप्त किया गया, उसका हृदय फटा, हृदयसे मन निकला, मनसे मनका अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। हृदय मनका स्थान है इसलिये हृदयके फटनेसे मन निकला। समाधिमें मन अपने यथास्थान (मूलस्थान) हृदयमें चला जाता है। स्वप्नावस्थामें भी यह हृदयमें रहता है उस समय इसके और ब्रह्मके बीचमें अज्ञानका पर्दा लगा रहता है। (ऐतरेयोपनिषद् १।३-४)

७१७–साधकके मनमें साधनकालमें तीव्र वैराग्य होना चाहिये। केवल तभी वह निर्विकल्प समाधि और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। क्षुद्र वैराग्यके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लेना बहुत ही कठिन है। ऐन्द्रिय तृष्णाका मगर ऐन्द्रिय विषय तथा ऐन्द्रिय भोगके लिये साधकका गला पकड़ता है और निर्दयतापूर्वक खींचते हुए आधे रास्तेमें ही उसे डुबो देता है।

जीवन-प्रवाह

(लेखक—श्रीसत्यदेवजी शास्त्री)



जीवन-संग्राममें विजय प्राप्त करना होगा। शारीरिक मोह-पाशको तोड़ना होगा। नैसर्गिक तथा लोकोत्तर सौन्दर्यका दर्शन करना होगा। अपने वास्तविक स्वरूपको जानना होगा। इसके लिये शक्ति चाहिये। जैसा कि उपनिषद्में भी कहा है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।' यह आत्मा निर्बल प्राणियोंद्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। शक्ति ब्रह्मचर्यमें है। सच पूछिये तो ब्रह्मचर्य और शक्ति एक ही वस्तु है। ब्रह्मचर्यका अखण्ड व्रत पालन करनेहीसे अमोघ शक्ति सम्पादित होगी और उस शक्तिसे ही आत्मविजय होगी। देव! कमर कसकर तैयार हो जाओ। एक बार अपने अन्दर उस परम पुनीत अनन्त शक्तिका अनुभव कर लो जो सारे संसारको चला रही है। आओ, इस पवित्र आदर्शकी प्राप्तिके लिये दो-एक बातें निश्चय करें।

पवित्रताका जप करो, उसीका एकमात्र ध्यान करो। एकमात्र पवित्र विचार-धारामें अपने आपको बहा दो। पवित्रताका विचार करते-करते उसीमें तल्लीन हो जाओ। पवित्र विचारोंका अपने हृदयमें इतना ढेर लगा दो कि अपवित्र विचारोंके लिये हृदयमें स्थान ही न रह जाय। मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र बननेका प्रयत्न करो। पवित्रताका सुरम्य वायुमण्डल अपने चारों ओर तैयार कर लो। ऐसा वायुमण्डल तभी बन सकता है जब तुम परमात्माकी सृष्टिमें पवित्रता-ही-पवित्रता देखोगे। परमात्माकी सृष्टिमें कहीं अपवित्रता नहीं। अपवित्रता तो अपने अन्दर है। सबमें रामरूपकी झलक देखो। बस, पवित्रतामें रँग जाओ।

सब मनुष्योंमें, सब प्राणियोंमें अपने रूपको देखो, अपनेसे भिन्न मत समझो। 'अपना-सा सब जीवको जाने ताहि मिले अविनाशी।' अविनाशी सत्य उसीको प्राप्त होगा जो सब प्राणियोंको अपने ही जैसा समझता है।

'यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशोपनिषद्)

अपने हृदय-मन्दिरमें सिवा परमात्माके किसीको स्थान न दो। यदि किसी व्यक्तिकी याद आती है तो आने दो किन्तु उसके सम्बन्धकी अच्छाइयोंका ही चिन्तन करो। उसे पवित्रताकी मूर्ति समझो। उसके सम्बन्धकी यदि कोई बुरी बात सुन रक्खी हो तो उसे सर्वथा भूल जाओ। उसे परमात्माका ही रूप समझो और यहाँतक उसमें परमात्माके रूपको देखनेका यत्न करो ताकि उसका पाञ्चभौतिक शरीर आँखोंसे ओझल हो जाय।

संसारमें यदि कोई बुरा दीख पड़ता हो तो इसका अर्थ है कि मैं स्वयं बुरा हूँ, और जो बुराई दूसरेमें दीख पड़ती है उसे अपने ही अन्दर समझकर उसके निकालनेका प्रयत्न करो। जबतक दूसरोंमें दोष देखनेकी दृष्टि होगी तबतक हमारी दृष्टि दूषित रहेगी और अन्तर्दृष्टिके खुलनेका अवसर न मिलेगा।

'बुरा जो देखन मैं चला बुरा न दीखा कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय॥'

अपने दैनिक जीवनका कार्यक्रम पहलेहीसे निर्धारित कर लो। मनको इसप्रकार सत् कार्योंमें फँसा रक्खो कि उसे और कुछ सोचनेका अवसर ही न मिले। जिस समय जिस कार्यमें लगो, बस,

अपनेको भूल जाओ और कायमय हो जाओ। बाह्य संज्ञाशून्य हो जाओ। किसी दूसरी बातका ध्यान भी मनमें न आने दो।

दुर्बलता तथा भयको दूर करो। सत् वस्तुपर अनन्य श्रद्धा रक्खो। मैं नित्य हूँ। शाश्वत हूँ। निर्भय हूँ। निर्विकार हूँ। शक्तिमान् हूँ, ऐसा निश्चय करो। प्रणव-मन्त्र 'ॐ' का जप प्रति श्वासके साथ किया करो। बस, दुर्बलता और भयका नाम न रह जायगा।

जब किसी समय मन खाली रहे तो किसी एकान्त स्थानमें निकल जाओ और ज़ोर-ज़ोरसे भगवान्का नाम उच्चारण करो।

प्रिय! उठो, जीवन-संग्राममें कमर कसकर उतरो। संग्राम तो भयङ्कर है किन्तु यदि दृढ़ संकल्पका कवच पहन प्रभुमें प्रगाढ़ श्रद्धा रखकर मैदानमें उतरोगे तो विजयी होगे। वीरवर! उत्साहके साथ प्रेमोन्मादमें उन्मत्त रणक्षेत्रमें उतरकर आत्मविजय करो। जीवनके सारे दुःख मिट जायँगे। जीवन-प्रवाहमें बहते हुए तुम आनन्दघन सच्चिदानन्द-सागरमें मिल जाओगे। आनन्दमय हो जाओगे।

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी महाराज)

[गतांकसे आगे]

७१२–जिस अंशमें विचार केन्द्रित तथा प्रेरित किये जाते हैं उसी अंशमें वह उस कार्यमें प्रभावोत्पादक होते हैं जिसके पूरा करनेके लिये उनकी प्रेरणा होती है।

७१३–तुम्हें चोर और ईमानदारकी पहचान करनी चाहिये। परन्तु चोरसे भी अन्तरमें प्रेम करना चाहिये। सांसारिक पुरुष चोरको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, उसे बाहरका समझते हैं और अपनेको पूरा-पूरा उससे अलग मानते हैं। परन्तु ज्ञानी पुरुष अपने आपकी तरह चोरसे प्रेम करता है तथा उसको अपने आपमें देखता है।

७१४–जब तुम यह स्मरण रखते हो कि एक असभ्य तथा बेईमान आदमी भी भविष्यमें एक सन्त हो सकता है तथा उसमें भी वे सारी दिव्य शक्तियाँ बीजरूपमें वर्तमान हैं तो तुम प्रत्येक मनुष्यसे प्रेम करने लगते हो। द्वेष क्रमशः अदृश्य होने लगता है। असभ्य तथा बेईमान मनुष्यका उन्नत तथा विकसित होना (अनुकूल) समयपर निर्भर करता है।

७१५–जब तुम अपने भीतर ब्रह्म-भावनाका अनुभव करते हो और जब तुम बाह्य चक्रको जिसको हानि पहुँचायी जा सकती है, अपनेसे अलग तथा अपना एक अंश समझते हो तो तुम्हें साहस मिलता जाता है। तत्त्वतः हम समानरूपसे बलवान् हैं परन्तु विकासके दर्जे होते हैं। जब तुम्हें भय मालूम हो तो आश्रयके लिये भीतरसे, हृदयकी गुफासे (दहराकाशसे) आत्मासे शक्ति माँगो।

७१६–ब्रह्माने विचारा—'निश्चय ही यह लोक हैं, मैं लोकपालोंको रचूँगा।' उसने जल लेकर उससे हिरण्यगर्भ (पुरुष) की सृष्टि की, उसे तपसे तप्त किया। जब वह इसप्रकार तप्त किया गया, उसका हृदय फटा, हृदयसे मन निकला, मनसे मनका अधिष्ठातृ देवता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। हृदय मनका स्थान है इसलिये हृदयके फटनेसे मन निकला। समाधिमें मन अपने यथास्थान (मूलस्थान) हृदयमें चला जाता है। स्वप्नावस्थामें भी यह हृदयमें रहता है उस समय इसके और ब्रह्मके बीचमें अज्ञानका पर्दा लगा रहता है। (ऐतरेयोपनिषद् १।३-४)

७१७–साधकके मनमें साधनकालमें तीव्र वैराग्य होना चाहिये। केवल तभी वह निर्विकल्प समाधि और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। क्षुद्र वैराग्यके द्वारा संसार-समुद्रको पार कर लेना बहुत ही कठिन है। ऐन्द्रिय तृष्णाका मगर ऐन्द्रिय विषय तथा ऐन्द्रिय भोगके लिये साधकका गला पकड़ता है और निर्दयतापूर्वक खींचते हुए आधे रास्तेमें ही उसे डुबो देता है।

७१८–यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्संज्ञानं आज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः समाधि. संकल्पः क्रतुः असुः कामो वश इति सर्वाणि एवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । (ऐतरेयोपनिषद्)

'यह जो हृदयके नामसे जाना जाता है, यह मन, चेतना, विवेक, बुद्धि, मेधा, धृति, मति, विचार, दृष्टि, मनीषा, ज्योति, स्मृति, समाधि, संकल्प, निश्चय, शक्ति, काम और वश यह सभी बुद्धिके नाम हैं ।'

संज्ञान चेतना है, मेधा शास्त्रोंके निर्देशका अनुवाद करना है, यह शास्त्रोपदेशका समझना है, मति चिन्तन करना है, यह वेदोंके द्वारा प्रदर्शित मार्गमें श्रद्धा है—(शाण्डिल्योपनिषद्) मनीषा स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति है, यह तत्त्वदर्शियोंका आत्मिक चिन्तन है। जूतिः रोगोंमें मानसिक व्यथा है (दुःख—संवेदना)। क्रतुः चेष्टा है। असु जीवनका प्रयत्न है तथा जीवनके धारणके लिये जो चेष्टाएँ होती हैं। काम स्त्री-प्रसङ्गकी चाहना है। वशः मनका विभिन्न चेष्टाओंमें निरोध करना है।

७१९–प्रभु ईसाका दिया हुआ Sermon on the mount राजयोगके यमके अभ्यासका सार है। उपदेशोंको अभ्यासमें लाना सहज नहीं। परन्तु यदि उनका अभ्यास किया जाय तो मन बहुत ही आसानीसे वशमें किया जा सकता है। उनके उपदेशका सार नीचे दिया जाता है—

(१) दीनभाववाले धन्य हैं, क्योंकि दीनभाव ही स्वर्गका साम्राज्य है।

(२) वह धन्य हैं, जो शोक करते हैं क्योंकि वह सन्तुष्ट होंगे।

(३) शान्त पुरुष धन्य हैं क्योंकि वे इस लोकके अधिकारी होंगे।

(४) वे पुरुष धन्य हैं जो सत्यके लिये भूख-प्यास सहते हैं क्योंकि उनकी कामना पूरी होगी।

(५) दयालु पुरुष धन्य हैं, क्योंकि उन्हें दया प्राप्त होगी।

(६) शुद्ध-हृदय पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वह भगवान्‌को प्राप्त करेंगे। यह राजयोगीके ब्रह्मचर्यका साधन है।

(७) शान्ति-ग्राहक पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वह भगवान्‌की सन्तानके नामसे पुकारे जायँगे।

(८) जो सत्यान्वेषणके लिये अभियुक्त ठहराये जाते हैं वे धन्य हैं क्योंकि यही स्वर्गका साम्राज्य है।

(९) तुम धन्य हो, जब मनुष्य मेरे कारण तुम्हें तिरस्कृत करते हैं, तुम्हें अभियुक्त ठहराते हैं, तथा झूठ-मूठ तुम्हारे विरुद्ध सब प्रकारके बुरे व्यवहार करते हैं। आनन्दित हो जाओ और परम हर्ष मनाओ, क्योंकि स्वर्गमें तुम्हें महान् पारितोषिक प्राप्त होगा, क्योंकि वह सारे देवदूत तुम्हारे सामने इसी प्रकार अभियोगी ठहराये गये।

(१०) परन्तु मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम बुराईपर कायम मत रहो। परन्तु जो कोई तुम्हारे दाहिने गालपर तमाचा मारे, बायें गालको उसकी ओर फेर दो (राजयोगीके अहिंसाका साधन)

(११) और यदि कोई मनुष्य तुम्हें अभियुक्त ठहरावे और तुम्हारा कोट उतार ले तो तुम अपने लबादेको भी उसे दे दो।

(१२) अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, जो तुम्हें शाप दें उन्हें आशीर्वाद दो, जो द्वेष करें उनका उपकार करो, जो घृणापूर्वक तुम्हारे साथ बर्ताव करें तथा तुम्हें अभियुक्त बनावें उनके लिये प्रार्थना करो। (अहिंसाका साधन)

इस १२वें नम्बरका Sermon अभ्यास करनेसे सारे द्वेष ईर्ष्या निर्मूल हो जाते हैं तथा विश्वप्रेम विकसित होता है। प्रतिदिन काममें लगनेके पूर्व प्रातःकाल प्रभु ईसाका यह Sermon याद कर लो और दिनमें भी उसे एक-दो बार याद कर लिया करो; समय आनेपर तुम अपनी भावनाओं और दशाओंको नियमित कर सकोगे। धार्मिक विचारोंको उन्नत कर सकोगे तथा दोषोंको निर्मूल कर सकोगे। तुम्हें बहुत ही शान्ति और इच्छाशक्ति प्राप्त होगी।

७२०–जिस प्रकार कड़ुआ, तिक्त, कषाय, अम्ल, मधुर आदि षट्‌रस जब रसनेन्द्रिय और मनके संयोगमें आते हैं तभी उनका पूरा-पूरा उपभोग होता है, उसी प्रकार जब उपासनाके समस्त उपकरण-सन्तोष, समता प्रभृति शान्तिके साथ युक्त होते हैं तभी व्यापक ब्रह्म-भावनाका उदय होता है।

अहङ्कार मानसिक विचारोंके द्वारा विकसित होता है, 'अहं' की यह भावना अपने साथ-साथ देश, काल तथा

अन्य प्रभावोंको लाती है। इन वाह्य उपकरणोंके साथ जीव-संज्ञा गृहीत होती है। इसका अनुवर्तन करते हुए बुद्धि, स्मृति, मनका उदय होता है जो सङ्कल्पवृक्षके बीज हैं।

७२१–जब तुम 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' प्रभृति महावाक्योंके अर्थपर महावाक्यानुसन्धानकी क्रियाके द्वारा निरन्तर चिन्तन करते हो तो नेत्र-श्रोत्रादि सारी इन्द्रियांके विषय बन्द हो जाते हैं, परन्तु संस्कारोंकी शक्तिके कारण मनोराज्य बना ही रहता है। निद्रा भी बाधक होती है। परन्तु यदि तुम सावधान होकर सतत सजग चेष्टा तथा स्वरूप-चिन्तनके द्वारा इन दोनों विघ्नोंको दूर करते हो तब दृढ़ ब्रह्माकार वृत्ति तथा ब्रह्मज्ञानका उदय हो जाता है, अज्ञान अदृश्य हो जाता है। तुम सहज परमानन्द-दशामें आ जाते हो, ज्ञानाग्निमें सारे सञ्चित कर्म नष्ट हो जाते हैं।

७२२–केवल मानसिक युक्तिसे योगमें सफलता नहीं मिल सकती। मुक्तिके लिये उत्कट अभिलाषा तथा साधनके लिये उच्चतम वैराग्य और योग्यता होनी चाहिये।

७२३–सारी क्रियाएँ चाहे वह आन्तरिक हों अथवा वाह्य, तभी हो सकती हैं जब मन इन्द्रियोंसे संयुक्त होता है। विचार ही वास्तविक कर्म हैं।

७२४-तुम दृढ़ अभ्यासके द्वारा मनको वशमें कर सकते हो, यदि तुम अपनी भावनाओं और दशाओंको नियमित करते हो तो तुम मूर्खता-भरे दुष्कर्म नहीं कर सकते। ध्यान नाना प्रकारके बुरे विचार तथा बुरे कर्मोंकी भावनाओं तथा प्रवृत्तियोंको बहुत कुछ रोकता है।

७२५–यदि तुम इन्द्रियोंकी ओर तथा उनके विपरीत इच्छानुसार मनको लगाकर तथा हटाकर प्रत्याहारका अभ्यास कर सकते हो तो तुमने वस्तुतः मनपर अधिकार प्राप्त कर लिया है। तुम मनकी वाह्य प्रवाहित होनेवाली प्रवृत्ति तथा शक्तियोंको रोक सकते हो। प्रत्याहार आन्तरिक आध्यात्मिक जगत्में उतरनेकी प्रथम सीढ़ी है। जिसने प्रत्याहारपर सफलता प्राप्त कर ली है वह बहुत आसानीके साथ दीर्घकालतक मनको एकाग्र कर सकता है। प्रत्याहारके पूर्ण हो जानेपर धारणा और ध्यान स्वयमेव आ जाते हैं, साधकको प्रत्याहारके सिद्ध करनेके लिये अत्यन्त परिश्रमकी आवश्यकता होती है। प्रत्याहारमें सफलता प्राप्त करनेके लिये पूर्ण वैराग्यकी आवश्यकता होती है। कुछ वर्षोंतक लगातार चेष्टा करनेपर तुम सफलता प्राप्त कर सकते हो। 'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' उससे इन्द्रियोंपर परम अधिकार प्राप्त हो जाता है। (पातञ्जलयोग० २। ५५) यदि प्रत्याहार पूर्ण हुआ तो सारी इन्द्रियाँ पूर्णतया वशमें हो जाती हैं।

७२६–साधनाकालमें लोगोंमें अधिक न मिला करो, अधिक बातें न किया करो, न अधिक टहलो, न अधिक भोजन करो, न अधिक नींद लो। इन पाँचों निषेधोंपर खूब ध्यान रक्खो। लोगोंसे ज्यादा मिलने-जुलनेसे मन विच्छिन्न होता है। अधिक बातचीतसे मन क्षुब्ध होता है। अधिक घूमनेसे मनमें दुर्बलता उत्पन्न होती है। अधिक भोजनसे आलस्य और तन्द्रा उत्पन्न होती है।

७२७–वैदान्तिक प्रारम्भिक साधनामें मुक्तिके चार उपाय (साधनचतुष्टय) बतलाये गये हैं। इन चारोंमेंसे एक षट्सम्पत्ति है। यह सम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पद् यथार्थतः मनको वशमें करनेके यौगिक साधन हैं। वासना-त्यागके द्वारा राजयोगियोंका 'चित्तवृत्तिनिरोध' ही शम है। दम ही प्रत्याहार है। समाधान ही योगियोंकी एकाग्रता है। हंस-पक्षी (मोक्ष) के ज्ञान और योग दो पंख हैं।

७२८–भावेच्छा और वस्तु है और भावानुभव और वस्तु है। जहाँ इच्छा-तत्त्वकी प्रधानता होती है वहाँ भावेच्छा होती है और जहाँ सुखतत्त्वकी प्रधानता होती है वहाँ भावानुभव होता है। (क्रमशः)



महात्मा देवीदानजी संन्यासी

(लेखक—श्रीजगदीशसिंहजी गहलोत)

गत तारीख २२ अगस्त सन् १९३२ ईस्वीको जोधपुरमें एक प्रसिद्ध सन्यासीका देहावसान हो गया। इनका नाम ब्रह्मनिष्ट महात्मा देवीदान सन्यासी था। आप केवल मारवाड़में ही नहीं सारे राजपूतानेमें अपने यौगिक बल एवं परोपकारके लिये प्रसिद्ध थे। इनको गरीब-अमीर, राजा-महाराजा सभी मानते थे। इन्होंने आयुके शेष भागमें जनसाधारणको परमार्थके उपदेश, औषध-दान आदिद्वारा बड़ा उपकार किया। इनके अन्त्येष्टि सस्कारमें जोधपुर शहरके सब धर्मोंके और सभी स्थितिके लोग प्राय सात आठ हजारकी सख्यामें शहरसे पाँच मील दूर 'देवीदान देवस्थान' नामक स्थानमें सम्मिलित हुए थे। श्रीदरबार साहबने भी उस दिन अपने राज्यके सरकारी दफ्तरों, कचहरियों, स्कूलोंमें आम छुट्टी कर दी थी।



१९ वीं शताब्दीके मध्य कालमें मारवाड़के सुप्रसिद्ध नगर नागौरके पास अमरपुर ग्राममें एक पूरे योगी-सैनिक क्षत्रिय वशज महात्मा लिखमाजी सोलङ्की हो गये। उनके सद्गुणोंसे मोहित होकर लोग दूर-दूरसे ग्रहण करने आते और उनके शिष्य बनकर अपने आपको धन्य समझते थे। जनतापर उनका बड़ा भारी प्रभाव था। देश-देशान्तरमें उनका बहुत कुछ मान था, मुख्यकर श्रमजीवी लोग तो उनको देवता तुल्य ही समझते थे। यही कारण है कि आजतक भी राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ और सिंध प्रान्तोंमें लोग उनके पद भजन गाया करते हैं। इसी वशमें महात्मा देवीदानका जन्म जोधपुरमें ठाकुर जयकृष्णजी सोलङ्कीके यहाँ सवत् १९१३ वि० भादों बदी अष्टमी (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी) को हुआ। चार वर्षकी अवस्थामें ही इनके पिताका स्वर्गवास हो गया था। बहुत छोटी उमरमें ही इनमें विरक्ति और भक्तिके लक्षण होने लगे।

ग्यारह वर्षकी आयुमें आप जोधपुर दरबारके कोठारमें नौकर हुए और थोड़े ही समयमें अपनी योग्यतासे कोठारके नायब दारोगा हो गये। गरीब, भूखे, अनाथ और पशु पक्षी प्राणिमात्रके लिये दयाभाव दिखलाना इनका स्वभाव था। स्वय कभी-कभी जङ्गलके वृक्षोंके पत्ते खाकर रह जाते थे।

माता और दोनों बड़े भाइयोंके आग्रहसे बाल्यमन्द

(मंडोर) के श्रीहुक्मारामजी कछवाहा नामक एक सुप्रसिद्ध वयोवृद्ध ईश्वरभक्त गृहस्थकी सुशीला कन्यासे संवत् १९२९ वि० में इनका विवाह हो गया। लेकिन दो वर्ष बाद ही स्त्रीका देहान्त हो गया। इसके पश्चात् आप योग और वैद्यकका अभ्यास करने लगे। सं० १९४२ में अकालके समय अपने उपार्जित धनसे अनाथों, भूखों और पशुओंकी बड़ी सहायता की और इसी साल गृहस्थके कपड़े उतार आप सन्त-वेषसे तप करने लगे। योगाभ्यास सिद्ध करनेके लिये जोधपुरके अनेक स्थानोंमें रहे। संवत् १९६३ में आप तापड़ियों (माहेश्वरी वैश्यों) के तालावपर आ रहे। यह तालाव जोधपुर शहर और चौपासनी गाँवके बीचमें पहाड़ोंमें है। तबसे अबतक आप वहीं एक कुटिया (शाल) में निवास करते थे। आने-जानेवाले यात्रियों और रोगियोंके ठहरनेके लिये भक्तलोगोंने पास ही बागमें 'देवीदान-देवस्थान' नामक आश्रम बनवा दिया था।

इनका मुख्य कार्य प्रजाको (जो इनके दर्शनको दूर-दूरसे आती थी) सदुपदेश करना तथा ओषधियाँ देना रहता था। कण्ठमाला (Scrofula), जलन्धर (Inflammation of the blader), भगन्धर, कुष्ठ आदि जिन भयङ्कर रोगोंको सिविल सार्जन डाक्टर आराम नहीं कर सकते थे उनको आप आराम कर देते थे। इनके उपदेशोंको सुनने और आशीर्वाद लेनेके लिये बड़े-बड़े मुसाहिब और जोधपुर-नरेश प्रायः आया करते थे। स्वर्गीय जोधपुर-नरेश महाराजा सर जसवन्तसिंहजी जी. सी. एस. आई., महाराजा सर सरदारसिंहजी जी. सी. एस. आई. और महाराजा मेजर सर सुमेरसिंहजी साहिब बहादुर के. बी. ई. और वर्तमान जोधपुर-नरेश तो बड़े चावसे आपके पास आया-जाया करते थे। जोधपुरके भूतपूर्व दीवान रायबहादुर पण्डित सुखदेवप्रसाद काक बी. ए., सी. आई. ई. भी राजकाजके बाद आत्मशान्तिके लिये वहीं जाया करते थे। किशनगढ़, बूँदी, कोटा, ईडर आदि रियासतोंके राजाओंने भी आदर्श महात्माजीके दर्शनसे लाभ उठाया है।

बम्बईके सुप्रसिद्ध सेठ चरणदास चतुर्भुज मुरारजी भाटिया महात्माजीके बड़े भक्त थे। आपने सेठजीके पुत्रका यज्ञोपवीत बम्बई पहुँचकर कराया था। बम्बई-की जनताने भी बड़ी धूमधामसे इनका स्वागत किया। वहाँके सुप्रसिद्ध श्रीनर-नारायणजीके मन्दिरमें आप उपदेश किया करते थे। कुछ समय बम्बई-निवासियोंको अमृतपान कराके पूना और महाबलेश्वरमें अमृत-वर्षा करते हुए आप साढ़े तीन मास बाद संवत् १९६३ के श्रावण वदी ४ को वापिस जोधपुर लौटे थे। महात्माजीके जीवनमें यही एक अवसर था कि वे जोधपुर छोड़कर बाहर गये। जोधपुर-नगरमें भी आप बस्तीसे पाँच मीलपर रहते थे। संन्यास लेनेके बाद आप शहरमें कभी नहीं गये।

आप दिनमें एक ही बार भोजन किया करते थे, जो बहुत ही सादा होता था। आपके वस्त्रोंमें केवल एक काली कमली थी, जिसे रात-दिन लपेटे रहते थे। योगाभ्यासमें आप बड़े सिद्धहस्त थे। आप कई दिनोंकी समाधि लगाया करते थे और योगका अभ्यास करनेके लिये दूर-दूरसे आपके पास जिज्ञासु शिष्य-गण आते थे। आपकी प्रशंसामें सुप्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय कविराजा मुरारदानजी आसियाने यह कहा है—

तजियो धीठो लोभ तिरग, गह्यो मीठो ज्ञान।
अधबिटो न अलख, सु दीठो देईदान॥



भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—काव्यतीर्थ, कविरत्न, विद्याभास्कर, प० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)

धरजरमङ्गुलिभाग जलधरदेह नमामि श्रीकृष्णम् ।

नन्दयशोदानन्द मूलमनिन्द्य समस्तलोकानाम् ॥



जिनके चरण कमलोंकी सदा सेवा करनेवाले मनुष्यको सफलता शीघ्र ही स्वीकार कर लेती है उन वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको हृदयमें धारण करता हुआ मैं उनके चरित्ररूपी अमृतकी तरगोंसे अपनी वाणीको पवित्र करता हूँ ।

उद्यानोंके पुष्प, आकाशके नक्षत्र, पर्वतोंके वृक्ष, मेघोंके बिन्दु, पृथ्वीके परमाणु, समुद्रकी तरगें, सज्जनोंके गुण, सम्भव है गिने जा सकें किन्तु सर्वाधार, सर्वेश्वर, महामहिम, प्रत्यक्ष परब्रह्म, भगवान् श्रीकृष्णके अपरिमित, परमपवित्र, पाप नाशकारी, सज्जनहृदयविहारी गुणोंकी गणना अनेक कल्पोंमें भी सम्भव नहीं । अत उनके अपार गुणरत्नाकरसे कुछ रत्न उद्धृत करके पाठकोंके मनोविनोदार्थ सादर समर्पण करनेकी चेष्टा करूँगा।

इस ससारमें जितने भी जीवधारी दृष्टिगोचर होते हैं, उन सबके मनमें यह इच्छा रहती है कि हम सुखी रहें, कोई दु ख हमें न सतावे किन्तु उनमें अधिकतर सच्चे सुखकी प्राप्तिके उपायको न जाननेके कारण इधर-उधर भटकते हुए स्वप्नमें भी सुखके दर्शन विना किये ही इस असार ससारको छोड जाते हैं और अपने किये हुए कर्मोंके अनुसार बारम्बार जन्म मरणकी दारुण यातनाओंको भोगनेके लिये चौरासी लाख योनियोंमें चक्कर काटा करते हैं । ऐसी दशामें दयालु पुरुषोंने निरन्तर ध्यानावस्थित होकर सच्चे सुखका अत्यन्त सरल, परमपवित्र, सर्वोपयोगी, निष्कण्टक एक ही मार्ग ढूँढ नि[illegible] है जिसपर चलकर बालक, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष, नपु सक, बलवान्, निर्बल, रोगी, नीरोगी, धनी, निर्धन, पण्डित, मूर्ख, राजा, रक शिक्षित, अशिक्षित, ग्रामीण, नागरिक, पापात्मा धर्मात्मा, बुद्धिमान, निर्बुद्धि, एकाकी या कुटुम्बी गृहस्थ या सन्यासी इत्यादिमेंसे कोई भी क्यों न हो वह अपार, अद्भुत, अखण्ड, परम सुखका अधिकारी हो जाता है । वह सच्चे सुखका मार्ग है भगवान् श्रीकृष्णकी निष्काम भक्ति, जिसके आश्रयसे सामान्य जीव भी चराचरका पूज्य और प्रात स्मरणीय हो जाता है । स्वय तो वह सासारिक बन्धनोंसे मुक्त होता ही है किन्तु अन्योंको भी मुक्त करनेकी सामर्थ्य रखता है । वास्तवमें देखा जाय तो जीवको ईश्वर-भक्तिकी वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि मछलीको जलकी, क्योंकि जिसप्रकार जलसे अलग होकर मछली पल क्षण भी सानन्द नहीं रह सकती उसी प्रकार भगवान्से अलग होकर जीव भी कुछ भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता, क्योंकि परमात्मा अखण्ड अग्नि भण्डारके समान है और जीव उसकी एक चिनगारीके समान है । जबतक चिनगारी अग्नि भण्डारमें रहती है तबतक उसमें वह सब शक्ति रहती है जो अग्नि भण्डारमें है किन्तु ज्यों ही वह अग्नि भण्डारसे अलग हुई, कि उसकी सारी शक्ति प्रबल वायुके झोंकोंमें आकर लुप्त हो जाती है और उसका अस्तित्व मिट-सा जाता है, इसी प्रकार जीव जबतक प्रगाढ भक्तिके द्वारा ईश्वरमें मिला रहता है, तबतक वह सम्पूर्ण ईश्वरीय गुणोंसे परिपूर्ण रहता है किन्तु जहाँ वह उससे अलग हुआ अर्थात् उसने भगवद्भक्तिका त्याग किया, वहीं वह अविद्यारूपी

वायुके झोंकोंमें पड़ जानेके कारण अपनी समस्त शक्तिको खोकर अपने अस्तित्वको भी भूल-सा जाता है। ऐसी दशामें उसे जितनी ही दारुण यातनाएँ भोगनी पड़ें उतनी ही कम हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कल्याणके चाहनेवाले पुरुषोंके लिये भगवद्भक्ति अमोघ यत्न है। अतः प्रत्येक स्थिर-बुद्धि, भले-बुरेका विचार रखनेवाले मनुष्यको उसका अवलम्बन अवश्य चाहिये। अब यह सोचनेकी आवश्यकता है कि भगवद्भक्ति करनेवाले मनुष्यका क्या कर्त्तव्य है ?

संसारमें देखा जाता है कि यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्तिकी भक्ति करना चाहता है तो वह निरन्तर उसके गुणगान करता हुआ सर्वदा उसके रूपको हृदयस्थ रखता है। जिन कामोंके करनेसे उसे घृणा है, उन्हें वह स्वप्नमें भी नहीं करता और जिन कामोंमें उसको रुचि है उनको प्राणपणसे भी करनेकी चेष्टा करता है। ऐसी दशामें वह जिसकी भक्ति करता है, उसपर अनुकूल हुए बिना नहीं रह सकता, इसी प्रकार सबसे पहले भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंको यह जाननेकी आवश्यकता है कि हमारे प्रभुको कौन-से कार्य प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं। तदनन्तर उनके प्रिय काम करने और अप्रिय त्यागने चाहिये, फिर लगातार उनकी मधुर मूर्त्तिका ध्यान करते हुए निरन्तर नाम-स्मरणपूर्वक उनकी भक्ति-लताको अपनी श्रद्धारूपी सुधाकी पवित्र धारासे सदैव सींचते रहना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णको कौन-से काम प्रिय और कौन-से अप्रिय हैं, इसके निश्चय करनेमें किसी कठिनताका सामना नहीं करना पड़ता क्योंकि सर्वात्मा, सर्वाधार, जगन्नियन्ता, दयाधाम, पार्थसारथि भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें अपने अवतार लेनेके प्रयोजनकी इसप्रकार घोषणा की है कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दुष्टोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मकी रक्षाके लिये प्रत्येक युगमें शरीर धारण करता हूँ।

इससे स्पष्ट है कि शिष्टोंपर अनुग्रह, दुष्टोंका निग्रह और धर्मकी रक्षा भगवान्का प्रिय कार्य है। अतः सच्चे भगवद्भक्तोंको सर्वदा सचेष्ट होकर उपरोक्त कार्योंके परिपूर्ण करनेमें यथाशक्ति कोई बात उठा नहीं रखनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे उन भगवद्भक्ति-पथके पथिकोंपर प्रभुकी कृपा अवश्य होगी। यदि अपनेको भगवद्भक्त कहनेवाला व्यक्ति उपर्युक्त तीन कर्त्तव्योंके पालनसे विमुख है तो वह भगवद्भक्त नहीं कहला सकता। क्योंकि जो सच्चा प्रेमी है वह प्राणोंकी भी परवा न करके उसी कामको करता है जो उसके प्रेमपात्रके अनुकूल होता है। जो ऐसा नहीं कर सकता उसे प्रेमी कहलानेका कोई हक नहीं है क्योंकि प्रेमीका तन, मन, धन सब कुछ प्रेमपात्रके चरणोंपर न्योछावर करनेके लिये ही होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि सम्पूर्ण कल्याणोंके मूल भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति किसप्रकार प्राप्त होती है ? इसका उत्तर वैष्णव-शास्त्रोंके अनुसार यही है कि रागद्वेषसे रहित, आत्माराम, यथालाभसन्तुष्ट, निरभिमान, जितेन्द्रिय, दुःख-सुखको समान समझनेवाले, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरसे रहित, सर्वत्र सर्वदा उठते, बैठते, चलते, फिरते, सोते, जागते, यहाँतक कि प्रत्येक कार्यके करते समय भुवनमोहन, अशरण-शरण, सर्वलोकपालपूजित पादपद्म, भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करनेवाले और सर्वदा उनके गुणानुवादको अपने चित्तकी शान्तिका साधन समझनेवाले पुरुषोंकी सेवासे भगवद्भक्तिरूपी अनर्घ्य मणिकी प्राप्ति होती है, जिसके प्रकाश और प्रभावसे अज्ञान-तिमिर और सांसारिक समस्त बन्धन वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार।

भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र भागीरथीके समान पवित्र, कर्पूरके समान शुभ्र, मौक्तिकोंके समान उज्ज्वल, चन्दनके समान शीतल, चन्द्रमाके समान मनोहर, भगवान् शङ्करके समान कल्याण-मूल, सरस्वतीजीके समान अखिल ज्ञानदायक, समुद्रके समान अपार और अगाध, पर्वतके शिखरके समान दुरारोह, अखिल लोक-लोचन भगवान् भास्करके समान अन्धकार-नाशक है। इसके श्रवण, मनन, आचरण और प्रचारसे ऐसा कौन-सा कार्य है जो न हो सके और ऐसी कौन सी वस्तु है जो न मिल सके, किन्तु बुद्धिकी मन्दताके कारण बहुत-से मन्दभाग्य बिना पूर्वापर सोचे हुए भगवान्के चरित्रके ऊपर इसप्रकार आक्षेप करते हैं कि भगवान्ने व्रजभूमिमें रहते हुए दूध दही मक्खन-मिश्री आदि खाद्य पदार्थोंकी चोरी, व्रजाङ्गनाओंसे विहार, गोपी चीर-हरण, वृषभका वध, स्त्री होनेपर भी पूतनाका वध आदि अनेक ऐसे कार्य किये हैं जिनके कारण उनको ईश्वर समझना तो दूर, भला आदमी समझनेमें भी बाधा है। इसका उत्तर यह है कि जिन ग्रन्थोंमें उपर्युक्त चरित्रोंका वर्णन है वे सभी ग्रन्थ भगवान् श्रीकृष्णको जगन्नियन्ता, जगदाधार, प्रत्यक्ष परब्रह्म मानते हैं। ऐसी दशामें उनके चरित्रोंका यथार्थ रहस्य वे ही जान सकते हैं, क्योंकि—

पड़े भटकते हैं लाखों मुल्ला, करोड़ों पण्डित हजारों दाना।
मगर खुदा क्या किसीने जाना, खुदाकी बातें खुदा ही जाने॥

इसके अनुसार ईश्वरीय लीलाओंके विवेचनमें मनुष्य सर्वथा असमर्थ है। जब ईश्वरकी छोटी से-छोटी बातका भी रहस्य मनुष्य नहीं जान सकता, तो उनके अगाध चरित्रोंके मर्मको कैसे समझ सकता है?

१–कुछ बातोंपर ध्यान दीजिये। दाढ़ी-मूँछ न आनेसे पहले मनुष्यका मुख कितना मनोहर, कितना चिकना और कितना दर्शनीय होता है किन्तु दाढ़ी मूँछ आ जानेके पश्चात् यदि किसी कारणसे क्षौर-कर्म न हो सके तो किसप्रकार पर-दूषणका सा कुरूप चेहरा हो जाता है। अब सोचनेकी बात है कि परमात्माने ऐसा क्यों किया, जिससे मनुष्यको आये दिनकी दिक्कत खड़ी हो गयी परन्तु इसके भेदको वही जाने।

२–संसारमें ऐसा नियम है कि अपनेको सज्जन माननेवाला मनुष्य यदि अपने हाथसे विषके वृक्षको भी लगा देता है तो उसे स्वयं नहीं काटता, किन्तु बड़ा आश्चर्य है कि सज्जनोंका सिरमौर, सर्वशक्तिमान् परमात्मा देहधारियोंके देहोंको निर्माण करके चाहे जब छिन्न-भिन्न कर देता है। यदि वह यह सोचकर ऐसा करता है कि इतने जीवधारी यदि इसी प्रकार बने रहेंगे तो पृथ्वीमें कहाँ समायेंगे और खाद्यकी कमीके कारण भूखसे व्याकुल होकर मर जायगे, तो इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो परमात्माको उतने ही मनुष्य उत्पन्न करने चाहिये थे जितनोंके लिये पृथ्वीमें पर्याप्त स्थान और परिपूर्ण खाद्य होता अथवा यदि लगातार जीवधारियोंको उत्पन्न करना ही अभीष्ट था तो उसे पृथ्वीका परिमाण और खाद्यपदार्थोंमें विपुलता करनी चाहिये थी, किन्तु इसप्रकार जन्म-मरणके चक्करमें डालना उचित नहीं था पर इसका भी रहस्य वे ही जानें। जिसप्रकार इन प्रश्नोंका उत्तर हो सकता है इसी प्रकार उपर्युक्त प्रश्नोंका भी संक्षिप्तरूपमें यह उत्तर हो सकता है कि—

(१) जब सारे पदार्थ ईश्वरके रचे हुए हैं और उसीकी दयासे मनुष्योंको प्राप्त होते हैं तो ऐसी दशामें चाहे जब और चाहे जैसे उन्हें लेनेका हक उसको प्राप्त है। फिर भला यदि प्रत्यक्ष परब्रह्म भगवान्ने गोकुलवासियोंके घरसे उनके परोक्षमें यदि अपनी वस्तु ले ली तो यह चोरी कैसे हुई, क्योंकि चोरी तो परायी वस्तुके लेनेका नाम है।

(२) यदि कोई अध्यापक अचानक पाठशालामें पहुँचकर यह देखे कि विद्यार्थी पुस्तकोंको छोड़कर इधर-उधर खेलने-कूदनेको चले गये हैं, तब वह उन्हें शिक्षा देनेके उद्देश्यसे उनकी पुस्तक उठाकर कहीं छिपा दे और उनके अनुनय-विनय करनेपर वापिस दे दे तो इसमें अध्यापकका क्या दोष है? इसी प्रकार 'न नग्नः स्नायात्' इस शास्त्रीय आज्ञाको न माननेवाली गोपियोंका वस्त्रापहरण करके और उनके अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करनेके बाद श्रीकृष्णने यदि उनके वस्त्र वापिस दे दिये तो इसमें उनका क्या दोष है?

(३) यदि कोई नीच मनुष्य साधुका वेष धारण करके प्रजाकी बहू-बेटियोंका सतीत्व अपहरण करनेका उद्योग करे और उसका ऐसा करना यदि किसी धार्मिक पुरुषको ज्ञात हो जाय और वह यदि अपने सामर्थ्यसे उसे दण्ड दे दे तो इसमें उसका क्या दोष है? इसी प्रकार जब एक राक्षसने बछड़ेका रूप धारण करके ग्वालबालोंको नष्ट करनेका उद्योग किया और श्रीकृष्णने उसको मार दिया तो इसमें उनका क्या दोष है? क्योंकि उन्होंने तो पहले यह निश्चय करके ही उसके मारनेका इरादा किया था कि यह बैल नहीं है किन्तु बैलके रूपको धारण करनेवाला कोई असुर है। बैलके मारनेमें दोष है किन्तु बैलके रूप धारण करनेवाले राक्षसके मारनेमें दोष नहीं। जैसे साधुका मारना घोर दुष्कर्म है किन्तु साधु-वेषधारी किसी नीचको प्राणदण्ड देना दुष्कर्म नहीं किन्तु परमपवित्र कर्त्तव्य है।

(४) धर्मशास्त्रमें लिखा है कि मकानमें आग लगानेवाला, विष देकर मारनेकी चेष्टा करनेवाला, शस्त्र लेकर मारनेकी इच्छासे छातीपर आ चढ़नेवाला, धनका अपहरण करनेवाला, भूमिको छीननेवाला, स्त्रीको अपहरण करनेवाला, इन भेदोंसे आततायी छः प्रकारका होता है। आततायीको विना आगा-पीछा सोचे मार डालना चाहिये। ऐसा करनेसे मारनेवालेको कोई दोष नहीं लगता। यदि भगवान् श्रीकृष्णको स्तनोंमें घोर विष लगाकर मारनेकी इच्छासे आयी हुई और अपनी इच्छाको पूरी करनेकी चेष्टा करती हुई पूतनाके उन्होंने प्राण हरण कर लिये तो इसमें उनका क्या दोष है?

मैंने यथामति मोटे रूपमें भगवान् श्रीकृष्णपर होनेवाले आक्षेपोंका खण्डन कर दिया है, जिससे कि वास्तविक सुखके चाहनेवालोंकी श्रीकृष्णके चरित्रमें श्रद्धा हो और वे श्रीकृष्णकी आज्ञानुसार चलकर अपने जीवनको सुखमय बनावें एवं उनकी भक्तिके द्वारा मुक्तिको भी हस्तगत करें, किन्तु ध्यान रहे कि भगवद्भक्तोंको श्रीकृष्णके उन्हीं चरित्रोंके अनुसरण करनेकी आज्ञा है जो कि उनके उपदेशके अनुसार हैं। शास्त्रोंमें कहा भी है कि—

ईश्वराणां वचः सत्यं क्वचिदाचरितं तथा।
यत्तेषां स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्तदाचरेत्॥

'ईश्वरोंका वचन ही कल्याणकारक है, कहीं-कहीं उनके आचरणका अनुसरण भी लाभदायक है। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि ईश्वरोंका जो आचरण उनके उपदेशके अनुसार है उसीका अनुसरण करे, अन्यका नहीं।'

ऐसी दशामें तो किसी शंका-समाधानकी आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णने कहींपर भी परद्रव्यापहरण, परस्त्रीगमन, दासीरति, वृषभमारण, नारीहत्या आदिकी आज्ञा नहीं दी है प्रत्युत इनके विरुद्ध ही घोर प्रयत्न किया है। इतना सब उन आस्तिक पुरुषोंके लिये लिखा गया है जो भगवान् श्रीकृष्णको ईश्वर तो मानते हैं किन्तु उनके उपर्युक्त आचरणोंका सन्तोषजनक समाधान न जाननेके कारण अव्यवस्थित-बुद्धि रहा करते हैं। जो नास्तिक हैं उनके लिये तो यही उत्तर पर्याप्त है कि जब आपलोग सात वर्षके बालकका सात दिन-राततक पर्वतको उँगलीपर

उठाये रखना, सौ फणवाले साँपके सिरपर बालकका नाचना, सोलह हजार स्त्रियोंके पास एक ही समय एक पुरुषका निवास करना, अपनी सामर्थ्यसे सूर्यको छिपाकर ठीक समयपर पुन प्रकट कर देना, एक शाकका पत्ता खाकर दस हजार मनुष्योंको तृप्त कर देना आदि कार्य असम्भव मानते हैं तो उपर्युक्त चरित्रोंको भी असम्भव क्यों नही मान लेते ? क्योंकि असंख्य गायोंके अधिपति नन्दका पुत्र घी, दूध आदिकी चोरी नहीं कर सकता, ग्यारह बारह वर्षका बालक सम्भोगका नाम भी नहीं जान सकता, बैलका सीग पकड़कर मारना तो दूर रहा किन्तु नन्हा सा बालक लट्ठी लेकर उसके सामने जा भी नही सकता, महीनेभरका बालक दूध पीते-पीते किसी स्त्रीका प्राण हरण नहीं कर सकता और ऐसा कहकर क्यों नही इन चरित्रोंको भी बिना हुआ ही समझ लेते हैं। इन परमगम्भीर, दुर्विज्ञेय, परमपावन चरित्रोंके अतिरिक्त सारा श्रीकृष्ण-चरित्र परम सरल, सबके अनुकरण करनेयोग्य और सर्वाभीष्टदायक है। मेरे खयालमें तो संसारभरमें कोई भी ऐसा महापुरुष नही हुआ, जिसका चरित्र भगवान् श्रीकृष्णके चरित्रकी टक्करका हो।

मैं इस विषयको अपने किसी अन्य लेखमें पल्लवित करनेकी चेष्टा करूंगा। अब श्रीकृष्ण चरित्रसे मिलनेवाली कुछ शिक्षाओंको उद्धृत करता हूँ—

(१) भगवान श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने मक्खन, मिश्री, दूध, दही आदि सात्त्विक आहारको स्वीकार करके हमलोगोंको दिखला दिया है कि इसप्रकारके आहारसे प्रेम करनेवाला मनुष्य 'गीता' जैसा लोकोपकारी लोकोत्तर ग्रन्थरत्न रच सकता है।

(२) चराचरके अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने स्वयं तन, मन, धनसे गौवोंकी सेवा करके सिद्ध कर दिया कि गौवोंकी शुद्ध अन्तःकरणसे सेवा करनेवाला मनुष्य सदा सुखी, हृष्ट पुष्ट, नीरोग, नि शोक, यशस्वी और सर्वप्रिय होता है।

(३) वृन्दावनविहारी, यमुनाकूलचारी, पीताम्बरधारी, भक्तभयहारी, दयाधाम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने कन्दुक क्रीडाके मिससे 'कालिय' नामधारी महाभयकारी दारुण विषधरका मद चूर्ण करके शिक्षा दी है कि अपने देशवासियोंके हितार्थ प्राणोंकी भी ममता छोड़कर उद्योग करना चाहिये।

(४) दुराचारी कंसकी सेवामें रहकर भी सदाचारकी रक्षा करनेवाली 'कुब्जा' के दिये हुए अनुलेपनसे प्रसन्न होकर गोवर्धनधारी, मारमदहारी, मुनिमानसचारी, प्रणतवत्सल, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने उसकी सुन्दरताको न्यून बनानेवाले उसके कूबको सर्वथा दूर करके दिखला दिया है कि अभिमानसे रहित, सदाचारपरायण, परमात्मामें विश्वास रखनेवाले, समदर्शी, नित्यसन्तुष्ट, सात्त्विक जीवोंके सब अनिष्ट इसप्रकार अनायास दूर हो जाते हैं जिसप्रकार सूर्यके उगनेपर घोर अन्धकार दूर हो जाता है।

(५) *न्यायमूर्ति भगवान् यदुनन्दनने* अपने सगे मामा कंसका वध करके शिक्षा दी है कि अन्याय करनेवाला, वेदमार्गको लुप्त करनेवाला, वर्णाश्रम-धर्मको छिन्न भिन्न करनेवाला, दुष्टोंकी सहायता करनेवाला, शिष्टोंको दण्डित करनेवाला, देवमन्दिरोंको तोड़नेवाला, वाममार्गका प्रचार करनेवाला मनुष्य चाहे अपना कितना ही घनिष्ठ सम्बन्धी क्यों न हो, लोकहितके लिये उसका वध परमावश्यक है। साथ ही प्रभुने इस चरित्रके द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि अन्यायीका वध न्यायसंगत, धर्मानुकूल और परमपावन कर्त्तव्य है।

(६) प्रातःस्मरणीय, पूज्यपाद, पवित्रयशा, धर्ममूर्त्ति, धर्मावतार, भगवद्भक्तितरङ्गिणी-पवित्रीकृतान्तःकरण, ज्येष्ठ पाण्डव, महात्मा युधिष्ठिरजीके राजसूय-यज्ञमें वेदज्ञ, तपस्वी, यथालाभसन्तुष्ट, परोपकारी, जितेन्द्रिय, सहनशील, धृतव्रत, ब्राह्मण-अभ्यागतोंके पादप्रक्षालनका सेवा-कार्य सहर्ष स्वीकार करके प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजने दिखला दिया कि 'सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ।' अभ्यागत सबके गुरु हैं ।

(७) भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण आदि लोक-विश्रुत धर्मज्ञ वीररत्नोंके समक्ष भरी सभामें दुराचारी उद्दण्ड दुर्योधनकी आज्ञासे पापात्मा दुःशासनने प्रातःस्मरणीया, भारतकी एकमात्र साम्राज्ञी श्रीद्रौपदीको भगवान् विष्णुके बहुदण्डोंके समान अजेय देव-देव पिनाकपाणि भगवान् शंकरके समान दुर्धर्ष, तारकनिकन्दन कार्त्तिकेयके समान अप्रतिहत शक्तिसम्पन्न परम आदरणीय धर्मप्राण पाँच पाण्डवोंकी विद्यमानतामें उनके प्रतिज्ञाबद्ध होनेके कारण निःशंक होकर विवस्त्रा करनेका उद्योग किया, उस समय दावाग्निमें पड़ी हुई मृगीके समान कातर-दृष्टिसे चारों ओर देखकर सतायी कुररीके सदृश करुण-क्रन्दन करती हुई पाञ्चालीने पाषाणको भी द्रवीभूत कर सकनेवाले शब्दोंसे सभामें उपस्थित सभी वीरपुङ्गव नर-रत्नोंसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की, किन्तु दुर्योधनके भयसे कर्त्तव्य करनेमें असमर्थ उन लोगोंने उसकी पुकार-पर कोई ध्यान नहीं दिया । तब उसने सब ओरसे निराश होकर, अनाथोंके नाथ, अशरणके शरण, निरालम्बके अवलम्ब, दुखियोंके सहायक, पतित-पावन, दीनबन्धु, सर्वव्यापक, जगन्नियन्ता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजका शुद्ध अन्तःकरणसे ध्यान करके उनसे अपने उद्धारकी प्रार्थना की, तो दयामय, लीला-पुरुषोत्तम, आपन्न-उद्धारक श्रीप्रभुने तत्क्षण वस्त्ररूप होकर परमभक्ता द्रुपद-नन्दिनीकी लज्जा-की रक्षा करके पापात्मा दुर्योधन आदिके गर्वको खर्व कर दिया और संसारको दिखला दिया कि अनन्यभावसे चिन्तन करनेवालोंसे मैं किञ्चित् भी दूर नहीं हूँ ।

(८) दुर्योधनकी सेवासे प्रसन्न होकर सुलभ-कोपा, दुर्धर्ष, परम तेजस्वी, तपोनिष्ठ, ब्रह्मतेज-सम्पन्न महर्षि दुर्वासा जब उसके समक्ष महारानी श्रीद्रौपदीजीके भोजनके पश्चात् दश सहस्र शिष्यों-सहित पाण्डवोंका अतिथि होना स्वीकार करके धर्मावतार श्रीयुधिष्ठिरजी महाराजके सम्मुख उपस्थित हुए तो उस समय सच्चे क्षत्रिय, परम धार्मिक पाँचों पाण्डव चिन्तारूपी समुद्रमें बारम्बार गोते खाते हुए अपने उद्धारका कोई मार्ग न देखकर प्राणान्तसे भी अधिक दुःखका अनुभव करने लगे । तब साध्वी द्रौपदीजीने निःस्वार्थ सहायक, दीनोंके आधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजका आर्त्तभावसे स्मरण किया, तो उन्होंने तत्काल ही प्रकट होकर अन्नपात्रमें असावधानीसे अवशिष्ट एक शाकपत्रका कुछ अंश भक्षण करके शिष्योंसहित दुर्वासाको आकण्ठ तृप्त करके अपने सर्वव्यापकत्व और आर्त्तपरित्राणकारित्वका पूर्ण परिचय दे दिया।

(९) पाण्डवोंका अज्ञातवास समाप्त होनेके अनन्तर कौरव और पाण्डवोंमें मनमुटावकी भीषणताके कारण युद्धकी सम्भावना देखकर स्वयं राजराजेश्वर होकर भी एक दूतकी हैसियतसे कौरवोंकी सभामें जाकर शान्ति-स्थापनकी भरपूर चेष्टा करके प्रभुने दिखला दिया कि सज्जन मनुष्य-को चाहिये कि अपने मानापमानका ध्यान छोड़कर जाति और देशके हितके लिये परस्पर बढ़ती हुई कलहाग्निको शान्त करनेका यथासाध्य भगीरथ प्रयत्न करे ।

(१०) धृतराष्ट्र, दुर्योधन, द्रोण, कर्ण, भीष्म आदिके भोजनके निमन्त्रणको अस्वीकार करके प्रभुने दिखला दिया कि अभिमानी और अन्यायी

मनुष्योंके उत्तम-से-उत्तम भोजनसे मनुष्यको सर्वथा बचना चाहिये।

(११) इसी अवसरपर शान्त, दान्त, निरभिमानी, भगवद्भक्त, परोपकारी, परमत्यागी, दीन विदुरजीके घरपर भोजन स्वीकार करके प्रभुने बतला दिया कि प्रेमी सज्जनोंका दिया हुआ सामान्य द्रव्य भी सहर्ष स्वीकार करना चाहिये।

(१२) भारतीय युद्धके आरम्भमें अर्जुनको 'किंकर्त्तव्यविमूढ़' देखकर गीताके उपदेशके द्वारा कर्त्तव्य-पथपर आरूढ़ कराके भगवान्‌ने दिखला दिया कि सच्चे मित्रका कर्त्तव्य अपने मित्रको अकर्त्तव्यसे हटाकर कर्त्तव्यमें लगाना है।

(१३) भीष्मके साथ युद्ध करते समय अर्जुनकी उपेक्षाके कारण अपने भक्त युधिष्ठिरकी सेनाका भीषण संहार होते देखकर 'मैं युद्धमें शस्त्र नहीं उठाऊँगा' इस अपनी प्रतिज्ञाकी परवा न करके भीष्मके यथार्थ रथका चक्र उठाकर प्रभुने दिखला दिया कि अपने आश्रितोंकी रक्षाके सम्मुख मेरी प्रतिज्ञाका कोई मूल्य नहीं।

(१४) नारदजीके शापसे यदुवंशके नाश होनेकी सम्भावना देखकर भी प्रभुने यदुवंशियोंकी रक्षाका कोई उपाय न करके यह दिखला दिया कि अभिमानी, असत्यवादी, दुराग्रही, अपने कुलवालोंको भी अन्यायका दण्ड मिलनेपर किसी प्रकार उनकी सहायता न करे।

(१५) बाल्यावस्थाके मित्र, सहाध्यायी, बहुत दिनके बिछुड़े हुए, परम दरिद्र, गुरुभाई सुदामाजीका सीमाधिक आदर करके और उसके बिना कहे भी उसे अपने तुल्य समृद्धिमान् बनाकर प्रभुने दिखला दिया कि सच्चा मित्र कैसा होता है?



अभ्यास

(१)

श्रीराम-नाम जप रे मन मूढ़ मेरे।
क्यौं पाद-पंकज-परेम न होहिं तेरे॥
आतंक-औगुन-अगार अरूप खारो।
अभ्यासतें अति लगै अहिफेन प्यारो॥

(२)

व्हाँ तो मिठास गुन रूप अपार नीको।
पीकै सुधा-सगुन-रूप सुधार जीको॥
वाकी रटी विषयके रस-नासनी है।
सानंद सांत-रसतें रसना सनी है॥

(३)

जो तो भया अमर है नर वो सयाना।
ताके हृदै भ्रम रहै न भया बिगाना॥
संसार-त्रास त्रय तापनकों भगावै।
है जौन पाप-छयता-पन कौन गावै॥

(४)

जान्यौ नहीं तनिक ताहि गये न नेरे।
वे तो बखान करते फिरते घनेरे॥
वा रूपकों भजनतें जब जीव जानैं।
ह्वै एकता तब 'कुमार' कहा बखानैं॥



—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

श्रीमद्गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्राचार्य महाप्रभुजीके उपदेश

(प्रे०—श्रीहितरूपलालजी गोस्वामी)

(सवैया) (नीचग्रह)

द्वादश चन्द्र कृतस्थल मंगल बुद्ध विरुद्ध सुरूगुरु बंक।
यदि दशम्म भवन्न भृगूसुत मंद सुकेतु जनमके अंक॥
अष्टम राहु चतुर्थ दिवामणि तौ हरिवंश करत्त न संक।
जो पै कृष्ण चरण मन अर्पित तौ करिहैं कहा नवग्रह रंक॥

अर्थात् जन्मकुण्डलीमें तन, धन, वन्धु, सुहृद्, पुत्र, शत्रु, स्त्री, आयु, मृत्यु, भाग्य, राज्यलाभ और व्यय—ये बारह स्थान कहे जाते हैं। सूर्यादि नवग्रह इन्हीं बारह स्थानोंमें अच्छे पड़े होते हैं तो वृद्धि, और बुरे होते हैं तो हानि करते हैं। ऐसा ज्योतिषियों और संसारियोंका विश्वास है। इस पदमें श्रीमहाप्रभुजीने यह उपदेश किया है कि तन, धन आदिको जो तुमने लाभ समझ रक्खा है, यह बड़ी भूल है। तुम्हारा वास्तविक लाभ तो श्रीकृष्णचरणमें मनका अर्पित होना ही है। यदि तुम्हारी यह निधि तुम्हारे पास है तो नवग्रह सब-के-सब खोटे पड़े होनेपर भी तुम्हारा क्या बिगाड़ सकते हैं।

(सवैया) (उच्चग्रह)

भानु दशम्म जनम्म निशापति मंगल बुद्ध शिवस्थल लीके।
जो गुरु होयँ धरम्म भवन्नके तौ भृगुनंद सुमंद नवीके॥
तीसरौ केतु समेत विधुग्रस तौ हरिवंश मनक्रम फीके।
गोविंद छाँडि भ्रमंत दशौं दिश तौ करिहैं कहा नवग्रह नीके॥

अर्थात् प्रथम पदमें लाभ समझाकर इसमें हानि बतलाते हैं। श्रीकृष्णचरणसे विमुख होकर तन, धन आदि प्रपञ्चमें मन लगाना ही बड़ी हानि है। नवग्रह सब-के-सब अच्छे पड़े हों तो वे क्या भलाई करेंगे? तन, धन आदि प्रपञ्चको बढ़ाकर उलटे राग-द्वेष, मद-मत्सरमें डुबो देंगे, जिससे संसारमें आसक्ति बढ़ जायगी और बार-बार जन्म-मरण तथा नरक आदि भोगने पड़ेंगे। अतएव—

'हानि, हरिवंशके नाम अंतर पड़ैं लाभ हरिवंश उच्चरत बानी'

इस सिद्धान्तको समझकर तन, धन आदि मायिक विषयोंसे मनको खींचकर प्रभुके चरणोंमें ही अर्पण करना चाहिये। और विषयोंकी प्राप्तिके लोभ या नष्ट हो जानेके डरसे नवग्रह या किसी भी देवी-देवकी आराधना नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करना परम हानि है। यहाँ श्रीकृष्णचरणमें तन, मन दोनोंकी पूर्ण अनन्यता तथा सब प्रकारके अन्याश्रयके त्यागका उपदेश है। और संसारसे सच्चे वैराग्यका स्वरूप दिखाकर अनन्यभक्ति करनेकी आज्ञा है।

(छप्पय)

ना जानौं छिन अंत कवन बुधि घटहिं प्रकाशित।
छुटि चेतन जु अचेत तेउ मुनि भये विषवासित॥
पाराशर[1] सुर इन्द्र कलप कामिनि मन फंधा।
परिव देह दुख द्वंद कौन क्रम काल निकंधा॥
यहि डरहिं डरप हरिवंश हित, जिनव भ्रमहिं गुन सलिलपर।
जिहि नामनि मंगल लोक तिहुँ सु हरि पद भज न विलम्ब कर॥

अर्थात् उपर्युक्त दो सवैयोंमें संसारके तन, धन आदि पदार्थोंको केवल अनर्थका रूप बतलाया है। इनमें आसक्त होकर प्रभुसे विमुख होना हानि है और प्रभुका भजन ही लाभ है। ऐसा समझ लेनेपर फिर क्या करना चाहिये, इसका उपदेश इस छप्पयमें है। देहकी क्षणभंगुरता दिखाकर देहासक्तिका निराकरण किया और संसारके भोगोंकी तुच्छता दृढ़ की

१—पाराशर-से उग्र तपस्वी और इन्द्र-से ऐश्वर्यशाली जब मोहित हो गये तब औरोंकी क्या गिनती है? कल्प=समान। पाठान्तर इन्दु भी है इस पाठसे पाराशर इन्द्र चन्द्रमा इनकी कथाओंकी सूचना है।

तथा पाराशर आदिके दृष्टान्तसे यह दिखलाया कि मतिका भी कोई ठिकाना नहीं है। अतएव जो काल बीत गया सो तो बीत गया, जो क्षण आगे आवेगा उसका कोई ठिकाना नहीं, तबतक यह शरीर और ऐसी मति रहे या न रहे। इससे जो क्षण वर्तमान है उसीको अपना समझकर भजनमें लगाना चाहिये—

बीतीको जिन सोचकर होनहार न विचार।
वर्तमान आस्वाद कर नाम गिरा आधार॥

त्रिगुणका प्रवाह बहते पानी-सा है, यहाँ न भलाई स्थिर है न बुराई। इसलिये भलाई-बुराई (गुण-दोष) की तरफ न देखकर प्रभुका भजन करो। यह क्षणमात्र जीवन भी वृथा न जावे, क्योंकि—

गुण और दोषको देखबौ सर्व दोषकी खान।

(सवैया)

तू बालक नहिं भयौ सयानप काहे कृष्ण भजत नहिं नीकैं।
अतिव सुमिष्ट तजिव सुरभिन पय मन बंधत तंदुल जल फीकैं॥
हितहरिवंश नरक गति दुरभर यम द्वारै कटियत नक छीकैं।
भव अज कठिन मुनीजन दुर्लभ पावत क्यों जु मनुज तन भीकैं॥

अर्थात् विषयको छुड़ाकर भजनका उपदेश करके अब प्रेमपूर्वक भजनकी आज्ञा करते हैं। भजन भी, ज्ञान-माहात्म्य या ऐश्वर्यके निमित्तसे न करो। मनकी वृत्ति रुकनेके लिये नाम रटना, मोक्षके लिये अथवा नाम-माहात्म्य सुनकर फलके लोभसे भजन करना, अथवा ईश्वर अपना आराध्य है, उसका भजन करना अपना कर्तव्य है इस बुद्धिसे भजन करना अच्छी प्रकारसे श्रीकृष्ण नामका कहना नहीं है। 'कृष्ण' शब्द 'कृष्' धातुसे बना है, इसलिये प्रेमसे चित्तके आकर्षण होनेपर जो स्नेहविवश होकर नाम रटना है वही 'नीके' कृष्ण नामका कहना है! अतएव फल या मोक्षके लोभको छोड़कर प्रेमपूर्वक भजन करो। दूध छोड़कर चावलका धोवन मत पियो। श्रीहितप्रभु आज्ञा करते हैं कि यह जितने भोग और मोक्ष आदि हैं सब हमे नरककी प्राप्तिके समान दुर्भर (असह्य) हैं और जरा भी चूकनेसे यमके द्वारको देखना पड़ता है। श्रेष्ठ आचार्य परम्परासे प्राप्त (मनु) मन्त्रद्वारा जो दिव्य भावमय तनु अभी मिला है, वह महादेव और ब्रह्माको भी कठिन और मुनियोंको दुर्लभ है। इस अवसरपर चूक गये तो फिर यह कैसे मिलेगा?

व्यंग्य वचन

कबै आप गए थे बिसाहन बजार बीच,
कबै बौलि जुलहा बुनाए दरपटसे।
नंदजीकी कामरी न काहू वसुदेवजीकी,
तीन हाथ पटुका लपेटे रहे कटिसे॥
'मोहन' भनत यामैं रावरी बड़ाई कहा,
राखि लीन्ही आनि-बानि ऐसे नटखटसे।
गोपिनके लीन्हे तब चीर चोरि-चोरि अब,
जोरि-जोरि दैन लागे द्रोपदीके पटसे॥

—मोहन

मानव-जीवनमें ईश्वरका स्थान

(लेखक—डा० श्रीयतीन्द्रकुमार मजूमदार एम० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला)



जीवन स्रोतकी भाँति बहा चला जा रहा है। मनुष्यका यही विशेषत्व है कि वह जडके सदृश केवल इस प्रवाहके साथ बह नहीं जाता। उसके अन्दर एक अद्भुत शक्ति है, जिसको चिन्ता-शक्ति कहते हैं और जो मनुष्यको उसके जीवन-स्रोतके सम्बन्धमें दिन-रात विचार करनेके लिये प्रयुक्त करती रहती है। इसीलिये प्रायः सभी मनुष्योंको जीवनके विषय-में न्यूनाधिकरूपसे विचार करते देखा जाता है और इसी-लिये मनुष्यमात्रको विशेष व्यापक अर्थमें दार्शनिक कहा जाता है। इस चिन्ता-शक्तिकी विद्यमानताके कारण ही मनुष्य जगत्के अन्यान्य जीवोंसे श्रेष्ठ है। परन्तु साधारण मनुष्य जीविकाके क्षुद्र कार्योंमें इतना अधिक लिप्त रहता है,—उसकी दृष्टि बाहरकी ओर इतनी लगी हुई होती है कि वह जीवनके गूढ़ तत्त्वकी खोजमें बहुत ही कम आगे बढ़ सकता है। इसका कारण यही है कि उसमें गम्भीर साधनाका अभाव है। यथार्थ दार्शनिक इस मार्गपर बहुत आगे बढ़ सकता है, इसीलिये साधारण मनुष्यसे वह ऊँचा समझा जाता है। इस विषयमें जिसकी साधना जितनी अधिक होती है, वह उतना ही आगे बढ़ सकता है और उच्च कीर्तिके योग्य होता है। मनुष्यकी इस गम्भीर चिन्ताशीलताने जीवनके वास्तविक तत्त्वका बहुत कुछ पता युगों पहले ही बतला दिया था, यद्यपि उसके चरम ज्ञानकी प्राप्ति अन्तर्द्रष्टा ऋषियोंके द्वारा हुई थी। इसी बातसे प्राचीन हिन्दुओंका श्रेष्ठत्व और विशेषत्व सिद्ध होता है। अनेक युगों पूर्व हिन्दू ऋषियोंने इस पहेलीको सुलझा-कर अन्तिम तत्त्व बतला दिया था। गम्भीर अन्तर्ज्ञान और प्रत्यक्षानुभूतिके द्वारा ऋषियोंने इन बातोंको भली भाँति समझ लिया था कि मानव-जीवनकी गति किस ओर है,—जीवनका उद्देश्य क्या है और जीवनका आदि कहाँ है। जगत्की सम्पूर्ण सत्ताके पीछे एक परम सत्ता है, ऋषियोंने ईश्वर या ब्रह्मके रूपमें उसकी उपलब्धि की थी और वे इस बातको भली भाँति जान गये थे कि जीवन-की सम्पूर्ण गति या उद्देश्योंकी परिसमाप्ति उस ईश्वर या ब्रह्मकी प्राप्तिमें ही है। इसीलिये उन्होंने ईश्वरको जीवनका केन्द्र बना लिया था। हिन्दूशास्त्रने जीवनकी सम्पूर्ण व्यवस्थाओंमें ईश्वरको केन्द्र माना है और यहीं हिन्दू-जातिकी श्रेष्ठ प्रतिभाका विकास दृष्टिगोचर होता है।

बड़े ही दुःखका विषय है कि एक दिन जिस साधनाने मानव-जीवनके सभी क्षेत्रोंपर अपना प्रभाव फैला रक्खा था, आज वह विलुप्तप्राय है! जीवनके दैनिक कार्यक्रम-से ईश्वरको उड़ा देना ही मानो आज बहादुरीकी बात हो गयी है। वर्तमान युगमें आन्दोलनकी विशेषता है। ईश्वर-विरोधी आन्दोलन भी आज अनेकों चिन्ताशील पुरुषोंके हृदयपर चोट पहुँचा रहा है और उसे क्षुब्ध कर रहा है। इस आन्दोलनकी लहर पहले-पहल विशेषरूपसे गत रूसी विद्रोहके समय उठी थी और आज इसका प्रभाव ईश्वर-प्राण भारतको भी दुखी कर रहा है। नवयुवकोंकी कल्पना-को ही इसने विशेषरूपसे आकर्षित किया है और वे ही आज इसके प्रधान पृष्ठपोषक हैं। नवयुवकोंकी विचारहीनता और साधनाके अभावने इसके लिये क्षेत्रको पहलेसे ही तैयार कर रक्खा था, परन्तु बिना सोचे-समझे अपने भावोंको छोड़कर दूसरोंका भाव ग्रहण करनेमें बुद्धिमत्ता-की अपेक्षा उनके लड़कपनका ही अधिक परिचय मिलता है। इससे उनका अपना तथा सम्पूर्ण भारतवर्षका सर्वनाश हो जायगा, प्रत्येक विचारशील सत्पुरुषके मुखसे आज चारों ओर यही शब्द निकल रहे हैं। इसी विषयपर कुछ आलोचना करना इस लेखका उद्देश्य है।

मनुष्य-जीवन कर्ममय है। मनुष्य जो कुछ भी कर्म करता है वह प्रवृत्तिके वश होकर करता है और यह प्रवृत्ति सहजात है। इस सहजात प्रवृत्तिको अंग्रेज़ीमें Instinct कहते हैं। मनुष्यकी ये प्रवृत्तियाँ अनेक हैं और सबका एक-एक उद्देश्य या आदर्श रहता है। आदर्श ही मनुष्य-जीवनकी सर्वापेक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न वस्तु है; क्योंकि वही मनुष्यकी इच्छाको जाग्रत् और प्रवृत्तियोंको एक समञ्जस-समष्टिके रूपमें सुव्यवस्थित करता है। आदर्शके बिना मनुष्य-जीवन अव्यवस्थित और परस्पर विवाद करती हुई प्रवृत्तियोंके प्रभावसे छिन्न-विच्छिन्न रहता

है। वह आदर्श क्या है? एक वाक्यमें इसका उत्तर यह है कि पूर्णताकी प्राप्ति ही वह आदर्श है। कोई भी क्षेत्र हो, उस क्षेत्रकी दृष्टिसे जिसको पूर्णता कहते हैं, वह पूर्णता जिससे प्राप्त हो, उसीको उस क्षेत्रका आदर्श कहा जाता है। दर्शन अर्थात् तत्त्व-ज्ञानकी बात छोड़ दीजिये, मनोविज्ञान अथवा मानव-जीवनकी सहज दृष्टिसे देखने और आलोचना करनेपर भी इसी सिद्धान्तको मानना पड़ता है। पूर्णता-लाभका आदर्श ही मनुष्य-जीवनमें सर्वप्रधान वस्तु है, यही मानव-जीवनको सञ्चालित करके ले जाता है। पूर्णता-लाभ ही मानव-जीवनका अन्तिम उद्देश्य है। देह और आत्मा दोनोंकी दृष्टिसे यही सत्य है। पूर्णता-प्राप्तिकी अज्ञात क्षुधा ही जीवनकी अपूर्णताका बोध कराती और कर्म-चेष्टाको उद्दीप्त करती है। देह, मन, नीति, धर्म—सभी क्षेत्रोंमें पूर्णता-लाभका आदर्श ही काम कर रहा है। देहके क्षेत्रमें पूर्णता-लाभको स्वास्थ्य कहते हैं; नीतिके क्षेत्रमें इसीको परम उत्कर्ष (Perfection) कहा जाता है; धर्म क्षेत्रमें यही पवित्रता (Holiness) कहलाता है और आध्यात्मिक क्षेत्रमें इसीको आत्मज्ञान कहते हैं।

देहक्षेत्रमें देखा जाता है कि प्रत्येक देहमें पूर्णता-प्राप्तिका नियम ही काम कर रहा है। यदि किसी प्राणीका कोई अंग काट लिया जाय तो वहाँ पूर्णता-प्राप्तिकी प्रवृत्ति इतनी प्रबल देखी जाती है कि उसका समस्त देह-यन्त्र उसी क्षण कर्ममें लग जाता है और जबतक उस कटे अंगके स्थानमें दूसरे नये अङ्गका सृजनकर उसे पूर्ण नहीं कर लेता, तबतक उसके कर्मकी निवृत्ति नहीं होती। हमारे देहमें यदि कोई घाव हो जाता है तो उसी क्षण शरीरके सारे अंग उस घावको भरनेके लिये—क्षतिकी पूर्तिके लिये कर्ममें लग जाते हैं और क्षतिकी पूर्तिके द्वारा देहको पूर्णता प्रदान करके ही वे कर्मसे विराम लेते हैं। देह तत्त्वविद् लोग इस बातको जानते हैं कि किस अद्भुत रीतिसे देहका प्रत्येक अंग-प्रत्यंग काम करने लगता है

धर्मक्षेत्रमें भी पूर्णता प्राप्त करनेकी आकांक्षा और अपूर्णताका बोध स्पष्ट दिखायी देता है। यही वस्तुतः धर्मका आधार है। हमारे अन्दर यदि इस अपूर्णताका बोध नहीं होता तो भगवान्‌का भय, भगवान्‌की आवश्यकता या भगवान्‌में प्रीति—इनमेंसे कोई सी बात न होती। अमरत्वका विश्वास, जो समस्त धर्मों अथवा विश्वासोंका मूल आधार है, इस अपूर्णताके बोधसे ही उत्पन्न होता है। इस विश्वासमें पूर्णता प्राप्त करनेकी आशा निहित है। स्वर्गके सम्बन्धमें जो विभिन्न धर्मसम्प्रदायोंके मत हैं उनसे भी यही भाव प्रतिफलित होते हैं। हम सभी इस बातका अनुभव करते हैं कि इस लोकमें हमारा जीवन अपूर्ण है और यह विश्वास होता है कि स्वर्गमें उसकी पूर्णता होगी। वहाँ इस जीवनके समस्त अन्यायोंका संशोधन होगा और जो न्यायके लिये व्यग्र हैं उनकी आशा पूर्ण होगी। बहुत-से लोगोंके लिये तो स्वर्गका स्वप्न भी मानो कमीको पूरा करनेवाला होता है। इस जगत्‌के अभाव स्वर्गके स्वप्नमें मिट जाते हैं।

इसी प्रकार मानसिक क्षेत्रमें पूर्णता-प्राप्तिकी प्रेरणा हमारी प्रवृत्तियोंमें स्पष्टरूपसे दृष्टिगत होती है। मनुष्यकी प्रत्येक प्रवृत्ति प्रकाशके लिये उत्सुक है। जो प्रवृत्ति प्रकाशको प्राप्त कर लेती है, उद्देश्य सिद्ध हो जानेके कारण उसकी निवृत्ति हो जाती है और जिस प्रवृत्तिका प्रकाश रुक जाता है उसका वेग और भी बढ़ जाता है तथा साक्षात् या असाक्षात्‌रूपसे किसी भी तरह वह बलपूर्वक प्रकाशकी प्राप्तिके द्वारा अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहती है।

इसप्रकार जैसे प्रत्येक देहयन्त्र और प्रत्येक प्रवृत्ति आदि पूर्णता प्राप्त करना चाहती हैं वैसे ही प्रत्येक मानवात्मा भी अपनी पूर्णता चाहता है। मानवात्माकी यह पूर्णता-प्राप्तिकी आकांक्षा ही उसके स्वप्नमें, स्नायविक रोगविशेषमें (Neurosis) और आत्मज्ञान-प्राप्तिकी चेष्टामें दृष्टिगोचर होती है।

पहले स्वप्नपर विचार कीजिये। हम जाग्रत् जीवनमें जिस वस्तुको प्राप्त नहीं कर सकते उसे स्वप्नमें प्राप्त करते हैं। स्वप्नमें ही मानो हम अपनी पूर्णता लाभ करते हैं। मनुष्यका स्वप्न-जीवन मानो उसके जाग्रत् जीवनका पूर्तिकारक (Complement) है। जाग्रत् जीवनमें हम जिन प्रवृत्तियोंके प्रकाशका द्वार बन्द कर रखते हैं, स्वप्नराज्यमें मानो उन्हींकी ताण्डवलीला होती रहती है, इसी प्रकार मानो आत्मा अपने अपूर्ण जीवनको पूर्ण करना चाहता है। यूरोपीय नवीन मनोविज्ञान आज स्वप्नके अनेक तत्त्वोंका आविष्कारकर मानव-चरित्रके बहुत-से रहस्योंको खोलनेमें समर्थ हुआ है और उसके द्वारा मानव-जीवनका बहुत कुछ कल्याण हो रहा है।

दूसरे, हम यदि मनुष्यके विविध प्रकार स्नायविक रोगोंपर विचार करते हैं तो मालूम होता है कि जो बात स्वप्नके सम्बन्धमें सत्य है वही रोगके सम्बन्धमें भी है। जीवनमें जिन वृत्तियोंका प्रकाश रुक जाता है स्नायविक-रोगोंमें उन्हींका प्रकाश देखनेमें आता है। जबतक वृत्तियों-का स्फुरण नहीं होता, तबतक मानवात्मा असम्पूर्ण है, इसीलिये मनुष्यका मस्तिष्क विकृत होनेपर उसमें जो लक्षण प्रकट होते हैं वे उन प्रतिरुद्ध वृत्तियोंका ही स्फुरण-विशेष है। यह बात देखनेमें असङ्गत प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें सत्य तत्त्व है। हमारी पूर्णता-प्राप्तिकी अदम्य चेष्टासे इसकी पुष्टि होती है।

तीसरे, आत्मज्ञानको प्राप्त करनेकी चेष्टामें भी हमें इसी एक सत्यका आभास मिलता है। मनुष्यकी सारी वृत्तियाँ और भाव आदिकी एक समञ्जस-समष्टिके उत्पन्न होनेमें ही आत्माकी पूर्णता है। इसीको मनोविज्ञानकी दृष्टिसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति कहते हैं और इसके द्वारा जो मानसिक अनुभूति होती है उसीका नाम सुख है। जो लक्ष्य हमारी वृत्तियोंको उनके क्षुद्र उद्देश्योंसे छुड़ाकर एक उच्च और महान् उद्देश्यकी ओर सञ्चालित कर सकता है, उसीको हम आदर्श कह सकते हैं और उस आदर्शकी प्राप्तिके लिये होनेवाली चेष्टाका नाम ही इच्छा (Will) है। पूर्णता-लाभ या आत्मज्ञानकी क्षुधा ही मनुष्यको सारी क्षुद्रताओं-से मुक्त करके एक उच्च आदर्शकी ओर दौड़ा देती है; अतएव जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें पूर्णता-प्राप्तिकी यह इच्छा ही प्रबलतम शक्तिरूपमें कार्य करती है और जबतक आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तबतक इस शक्तिका विराम नहीं होता।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, यूरोपीय नवीन मनो-विज्ञान अब इस सिद्धान्ततक पहुँच गया है। सहज दृष्टि-से धीरताके साथ मनकी गतिकी ओर देखनेसे और उस-पर विचार करनेसे इसमें भी पूर्वोक्त ऋषि-सिद्धान्तका ही आभास मिलता है। परन्तु इस विषयके तत्त्वको भली भाँति समझनेके लिये मनोविज्ञानके राज्यको लाँघकर दर्शनके राज्यका आश्रय लेना पड़ेगा। पूर्णता-प्राप्तिका यथार्थ और चरम अर्थ क्या है, इस प्रश्नका उत्तर मनो-विज्ञान नहीं दे सकता। मनोविज्ञान इतना ही कह सकता है कि वृत्तियोंका पूर्ण स्फुरण ही पूर्णता है। परन्तु इस बातको समझनेके लिये वृत्तियोंके वास्तविक स्वरूपको समझना आवश्यक है। यहींपर अतीन्द्रिय-ज्ञानकी बात आ जाती है। वृत्तियोंके मूल प्रवाहको समझनेके लिये ऋषियोंके अन्तर्ज्ञानलब्ध सत्यका आश्रय लेना पड़ता है। पहले ही कहा जा चुका है कि जगत्‌की प्रत्येक वस्तु इसी सत्तासे उत्पन्न है, इसीके आधारपर टिकी हुई है और इसीमें सबकी गति या परिणति है। यह ब्रह्म या ईश्वर सभी वस्तुओंके अन्तरमें अन्तरात्मारूपसे स्थित है। यही सबका नियन्ता है। ईश्वर ज्ञान और इच्छाशक्ति-सम्पन्न पुरुष है—उसने अपनी इच्छासे इस जगत्‌का सृजन किया है और इन सारी विचित्रताओंके अन्दरसे वही मानो अपने स्वरूपकी उपलब्धि कर रहा है। अवश्य ही इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर आदिमें अपूर्ण था और पीछेसे पूर्णताको प्राप्त हुआ है; यह तो समझानेके लिये कहा जाता है, क्योंकि मानवीय भाषामें सृष्टिके रहस्यको समझानेके लिये इसके सिवा अन्य उपाय नहीं है। इसीलिये शास्त्रमें इसको ईश्वरकी लीला कहा गया है। सुप्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक हेगल भी मानो वेदान्तकी प्रतिध्वनि करता हुआ ईश्वरके सृष्टिरहस्यके सम्बन्धमें कहता है—

The absolute goes out of himself and returns upon himself as a fully realised being.

अर्थात्—'ईश्वर इस विचित्र जगत्‌को चलाकर इसीके अन्दरसे अपने पूर्ण स्वरूपकी उपलब्धिद्वारा पुनः अपनेमें ही लौट आता है।' इससे यही बात सिद्ध होती है कि जगत्‌की जो सब वस्तुएँ अथवा जीवके अन्दर जो गति, इच्छा या वृत्ति दीखती हैं, वास्तवमें उन सबके मूलमें ईश्वरकी आत्मोपलब्धि-वृत्तिके सिवा और कुछ भी नहीं है। ईश्वर ही सब वस्तुओंका तथा जीवोंका अन्तरात्मा है, इसलिये इनमें जो कुछ भी गति या वृत्ति दिखलायी देती है, उसका प्रकृत स्वरूप उस ईश्वरकी आत्मोपलब्धि-की चेष्टा ही है। अतएव मनुष्यके हृदयमें जितनी वृत्तियाँ हैं, उन सबके मूलमें यह एक ही वृत्ति काम कर रही है और मनुष्यकी नाना चेष्टाओंमें यह एक ही अनेकरूप होकर दिखलायी देती है। मनोविज्ञानके अनुसार वृत्तिके पूर्ण स्फुरणमें ही मनुष्यकी पूर्णता है, इस बातको उपर्युक्त

तत्त्व-ज्ञानके द्वारा समझना चाहिये । समस्त वृत्तियोंका केन्द्र ईश्वर है और इस ईश्वरसे ही सबकी परिणति है । इसीलिये आर्य-ऋषियोंने जीवनका प्रत्येक कर्म ईश्वरको केन्द्र बनाकर करनेका उपदेश दिया है । गृहस्थ भी ब्रह्म-निष्ठ और तत्त्व-ज्ञान-परायण होकर जो कुछ भी कर्म करे,सब ब्रह्मके अर्पण करे । शास्त्रकी यह वाणी हिन्दू-भारतकी प्राणस्वरूपा है और इसीके ऊपर हिन्दूकी सारी साधनाएँ प्रतिष्ठित हैं । गीतामें जो निष्काम कर्मका वर्णन है,—वह इसीकी प्रतिध्वनि है ।

यूरोपीय नवीन मनोविज्ञानने वृत्तिके विषयमें उपर्युक्त जिस तथ्यको प्रकट किया है, उससे ऋषियोंकी वाणीकी दृढ़ पुष्टि होती है । वृत्तिपर विचार करते हुए पाश्चात्य मनोविज्ञानवादियोंने देखा है कि मनुष्यकी वृत्तियाँ अपने-अपने क्षुद्र आवर्तमें बँधकर नहीं रह सकतीं । कारण, इसमें उनका अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, इनको एक उच्च और साधारण आदर्शकी ओर बढ़ा देना होगा । इसीको Sublimation या वृत्तिकी ऊर्ध्व-गति कहते हैं । इस विषयमें रामकृष्ण परमहंसदेवने बहुत सुन्दर कहा है। वे कहते हैं, 'मनुष्यकी प्रवृत्तिको भगवान्‌की ओर मोड़ दो' इसमें वस्तुतः उपर्युक्त ऋषि-वाक्योंकी ही प्रतिध्वनि है । यूरोपीय मनोविज्ञान इतनी दूरके सत्यतक न पहुँचने-पर भी उससे आभास इसीका मिलता है ।

विचार करनेपर हमें अपने व्यावहारिक जीवनमें भी क्या इसी सत्यका आभास नहीं मिल रहा है ? ऋषियोंने जिस सत्यका उद्घाटन किया था—वह किसीसे छिपा नहीं है; जीवनके प्रत्येक कार्यमें ही उसका विकास देखनेमें आता है । जगत्‌के सभी क्षेत्रोंमें जितने बड़े-बड़े कर्मी हुए हैं, उन सभीमें प्रबल आत्म-विश्वास देखा जाता है । इस आत्म-विश्वासका आधार क्या है ? वास्तविक रूपसे देखने-पर पता लगता है कि ईश्वर-विश्वास ही इस आत्म-विश्वासका मूल आधार है । इस सम्बन्धमें हमारा देश तो प्रधानरूपसे साक्षी दे रहा है । पाश्चात्य जातिकी ओर देखनेमें कुछ सन्देह होता है, परन्तु इतना सत्य है कि साधारणतः उनमें ईश्वरका साक्षात् विश्वास न होनेपर भी उन्होंने अपने स्वार्थकी क्षुद्र सीमाको लाँघकर एक उच्च आदर्शका आभास प्राप्त किया है और यही उनके आत्म-विश्वासका आधार है । इस उच्च आदर्शको ईश्वरकी अज्ञात प्रेरणा कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है । यह प्रेरणा—जानमें हो या अनजानमें—मनुष्यकी सभी कर्म-चेष्टाओं-को जागरित करती है । जीवन-स्रोतके निम्न स्तरमें यह स्रोत बह रहा है—यही आधार-भूमि है । मनुष्य जिस समय अपनेको भूल सकेगा, उसी समय इसका वास्तविक स्पर्श प्राप्त करेगा और इसके साथ युक्त हो जायगा । जर्मन दार्शनिक हेगलने तो 'Die to live' इस वाक्यद्वारा बड़ी सुन्दरताके साथ इसी सत्यको प्रकट किया है । अपने जीवनमें क्या हम यह नहीं देखते कि जिस क्षण हम वस्तुतः अपने स्वार्थ या क्षुद्रताको भूल जाते हैं उसी क्षण उस अज्ञात सत्ताके स्पर्शसे हृदयमें एक अद्भुत शक्तिके दर्शन होते हैं ? ऐसे क्षण जीवनमें बहुत स्वल्प होनेपर भी सत्य हैं । इस सत्यकी खोज न करने अथवा इसपर विचार न करनेके कारण ही तो हम जीवनके असली उद्देश्यको खोकर मोहित हो रहे हैं । परन्तु प्राणोंको भली भाँति जाग्रत् करने, वृत्तियोंको यथार्थरूपसे तृप्त करनेका और कोई उपाय ही नहीं है । मनुष्यकी सम्पूर्ण कर्म-चेष्टाओंके मूलमें ईश्वर विद्यमान है, यही सबका मूल निर्झर है । कर्मकी गतिको उसीकी ओर मोड़ देना होगा, तभी यथार्थ तृप्ति होगी । इस सत्यकी उपलब्धि वर्तमान युगमें विशेष आवश्यक है । 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्नि-बोधत'—उठो, जागो और अबतक इस सत्यका पता न लगे, निवृत्त न होओ । ईश्वर हमें इस साधनामें शक्ति प्रदान करें ।

'नारायन' संसार मैं, भूपति भए अनेक ।
मैं मेरी करते गए, लै न गए तृन एक ॥
भुज-बल जीते लोक सब, निरभय सुख धन धाम ।
'नारायन' तिन भूपनको, लिख्यौ रहि गयौ नाम ॥

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)



सलनरेन्द्र भगवान् श्रीरामचन्द्र अथाह वानरवाहिनी लिये दक्षिण-सागरके तटपर विराज रहे हैं। सेनाको समुद्र-पार किस तरह पहुँचाया जाय, इसका विचार किया जा रहा है। उधर लङ्कामें त्रिलोक-विख्यात राक्षसेन्द्र रावण भी सभा जोड़कर मन्त्रियोंसे सलाह कर रहे हैं कि अब क्या करना चाहिये। विश्व-विख्यात-पराक्रम बाली (जिसने स्वयं रावणको भी बग़लमें दबा लिया था) और उसके भाई सुग्रीवकी सेना लेकर श्रीरामचन्द्र लङ्काके समीप ही पहुँच चुके हैं। ठकुरसुहाती मानी जाय चाहे सच्चा प्रभाव-वर्णन समझा जाय, किन्तु प्रहस्तादि सभी सचिवोंने लङ्काधिपतिका त्रिलोककम्पन प्रभाव दिखलाकर आश्वासन दिया कि आपका अवश्य विजय होगा। इसमें अधिक चिन्ता करनेकी कोई बात ही नहीं है। कुछ योद्धाओंने तो जोशमें आकर वहीं तलवार खींच ली और वीरताके ज़ोममें आकर वे कहने लगे—'ज्यादा सोच-विचारकी बात ही नहीं होनी चाहिये। हमलोग जाते हैं और अभी राम तथा सुग्रीवको समाप्त करके सारा झगड़ा मिटाये देते हैं।'

लङ्केश्वरके छोटे भाई, धीर-प्रकृति, शास्त्रतत्त्वज्ञ (भगवान्‌के अनुग्रहके अधिकारी, दैवजीव) विभीषण भी वहाँ मौजूद थे, क्योंकि वह भी लङ्केश्वरके मन्त्र-सचिवोंमेंसे एक थे। वह चुपचाप सब कुछ सुनते रहे। पर यह झूठी उछल-कूद उन्हें बहुत बुरी लग रही थी। वह श्रीरामचन्द्रको केवल एक पराक्रमी राजा ही नहीं, भक्तोंके उद्धारार्थ भूतलमें उतरे हुए साक्षात् भगवान् समझते थे। वह किसी तरह मनको रोके हुए भगवद्विमुख साक्षात् राक्षसोंके समाजमें बड़े कष्टसे अबतक निवास कर रहे थे। गोसाईंजीने उस दशाका अच्छा आभास दिया है कि *'जिमि दसननमें जीभ बेचारी।'* वह श्रीरामचन्द्रके प्रभावको जानते थे। केवल यही नहीं, उनका लङ्केश्वरके साथ भाईका नाता था। स्नेह ही क्या, सच्ची बात तो यह है कि हृदयगत सौजन्यके कारण उनसे यह झूठी शेखी अधिक नहीं सुनी गयी। उन्होंने उन लोगोंको शान्त करके बैठाया। लङ्केश्वरको उत्तम-मध्यम सब तरह समझाया कि 'श्रीरामचन्द्रके साथ युद्ध करना किसी कारणसे भी ठीक नहीं। सुग्रीवादिका साथ देना राजनीतिके अनुसार एक बड़ा रहस्य है। अतएव इसीमें कल्याण है कि सीताको श्रीरामचन्द्रके पास पहुँचा दिया जाय।' किन्तु घनघोर वीरोंके सामने विभीषणकी सलाह न जमी।

लङ्केश्वर इस मन्त्रपर कुछ विचार किये बिना ही सभासे उठ खड़े हुए। किन्तु विभीषण हृदयसे उनका भला चाहते थे। दूसरे दिन प्रातःकाल बिना बुलाये ही वह रावणके महलमें पहुँचे। बहुत कुछ समझाया, किन्तु होनहार नहीं टलती। लङ्केश्वरने सलाह तो मानी ही नहीं, प्रत्युत व्यङ्ग्य-बाणोंसे विभीषणके हृदयको छेद दिया। कहा कि—'रामचन्द्रको मदद देनेवाले मुझसे छिपे नहीं हैं। मुझे शत्रुसे अधिक ऐसे गुप्त शत्रुओंका अधिक भय है। सच है, नमकहराम किसीके साथी नहीं होते।' खैर, रावण बड़े भाई थे। किसी तरह यह इसे पी भी जाते, किन्तु भतीजे इन्द्रजित्‌ने भी मर्यादा लाँघकर उन्हें बुरी तरह फटकारा। कहा कि—'वीर्य, बुद्धि, पराक्रम आदि

सबसे हीन तुम्हीं इस कुलमें उत्पन्न हुए हो इत्यादि।' निष्कपट-हृदय विभीषणको इससे बड़ी भारी वेदना हुई। उनका हृदय इस अपमानके कारण एकदम रो उठा।

बस, यहींसे वह भगवान्‌की शरणमें जानेके अधिकारी बनने लगे। जबतक निर्वेद नहीं होता, भगवान्‌की भक्ति हृदयमें स्थान नहीं पाती। गीताके ठाकुरने भी भक्तिके अधिकारियोंकी लिस्ट बनाते हुए सबसे पहले उसीका नाम लिखा है जिसके हृदयको दुनियाके दुःखोंकी असह्नीय चोट पहुँच चुकी हो। वह कहते हैं कि 'मेरा भजन करनेवाले प्रधानतः ये हैं—*'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।'* (दुःखपीड़ित, भगवन्माहात्म्यको जाननेकी इच्छा करनेवाला, प्रयोजन रखनेवाला तथा पूर्ण ज्ञानी) बात यह है कि जिज्ञासु आदिकी अपेक्षा आर्तका भगवान्‌की तरफ स्वाभाविकरूपसे अधिक खिंचाव होता है। भगवान्‌को भी औरोंकी अपेक्षा उसपर शीघ्र दया आ जाती है। भक्तको दुःखी देखकर भक्तोंके प्रणयी भगवान्‌से रहा नहीं जाता। आर्त गजेन्द्रकी पुकार सुनकर भगवान् वैकुण्ठसे गरुड छोड़कर स्वयं पैदल ही दौड़े थे। बस, इसीलिये महर्षि वाल्मीकिने विभीषणको *'अर्थार्थी, ज्ञानी'* आदि समझते हुए भी आर्तके रूपमें पहले-पहल अधिक चित्रित किया है।

विभीषण लङ्काधिपतिको कालवशीभूत समझकर वहाँसे उठ खड़े हुए। उनके हृदयमें भगवान्‌की तरफ पहलेसे कुछ खिंचाव था ही, इधर इस सहकारी कारणने उसको और भी प्रबल बना दिया। उन्होंने ज्येष्ठ भ्रातासे खटपट करनेकी अपेक्षा लङ्काको छोड़ देना ही उचित समझा। और वह अपना साथ देनेवाले चार अनुगामियोंके साथ वहाँसे चल पड़े। हृदयमें बड़ा हर्ष हो रहा था कि आज बहुत कालसे जिनका गुण श्रवण करता आया हूँ, उन श्रीरामचन्द्रका दर्शन करूँगा। आर्त-वीरने फिर एक बार रावणको समझाया और अन्तमें कहा कि—'अच्छी बात है, आप मुझे बुरा समझते हैं तो मैं चला जाऊँगा। मैं अपने हृदयसे चाहता हूँ कि आप सुखी हों, किन्तु आपके सुखी होनेमें मैं ही यदि बाधक हूँ तो मैं चला जाता हूँ। आप सुखी हों। मैंने आपको बड़ा भाई समझकर स्नेहके कारण आपकी हितचिन्तासे जो कुछ कहा-सुना हो, उसे क्षमा कर दें। किन्तु आप अपनी और राक्षसों सहित इस पुरीकी सावधानीसे रक्षा करें।' व्यङ्ग्य-मर्यादासे उन्हें सूचित कर दिया कि यदि आप श्रीरामचन्द्रसे सन्धि करना नहीं चाहते तो अब आपकी और इस पुरीकी खैर नहीं। महर्षि वाल्मीकिके अक्षर हैं—

'तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धितमिच्छता।
आत्मानं सर्वथा रक्ष पुरीं चेमां सराक्षसाम्॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना॥'

बस, वह लङ्कासे विदा होकर समुद्रके दूसरे तटकी तरफ चले, जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्र वानर-चमूपति सुग्रीव, हनूमान् आदिकी मन्त्रणासभा जोड़कर समुद्र-लंघनका उपाय सोच रहे थे। महर्षि वाल्मीकि भी *यहींसे भगवच्छरणागतिका आरम्भ करते* हैं। उसका प्रथम पद्य है—

'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणं रावणानुजः।
आजगाम मुहूर्तेन यत्र रामः सलक्ष्मणः॥'

'रावणानुज विभीषण *'इति'* इस तरह (पहले सर्गोंमें जिसप्रकार कहा जा चुका है), रावणके प्रति कठोर वाक्य कहकर जहाँ लक्ष्मणसहित रामचन्द्र थे, वहाँ मुहूर्तमात्रमें (अति शीघ्रतासे) *'आजगाम'* आये।'

यह श्लोकका अक्षरार्थ है। इसमें शरणागतिका जो कुछ साम्प्रदायिक रहस्य है तथा आदिकवि

भगवान् वाल्मीकिके अक्षरोंमें जो कुछ गाम्भीर्य है, उसे भी अब अवधानसे सुनिये—

शरणागतिके छः अङ्ग हैं—'मैं सदा अनुकूल रहूँगा यह संकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान् मेरी रक्षा करेंगे यह अटल विश्वास, अब आप ही मेरे रक्षक हैं इस तरह वरण करना, अपनी आत्माका भगवान्‌को समर्पण कर देना तथा दीनता।'[1]

इन छः अङ्गोंमेंसे भगवान्‌के अनुकूल हो जाना, प्रतिकूलताका त्याग करना उसी समय दिखला दिया, जिस समय राक्षसकुलप्रसूत होनेपर भी विभीषण श्रीरामचन्द्रजीको अच्छा मानने लगे थे और उनके लिये लङ्कासे चल पड़े थे। विश्वविख्यात पराक्रमशाली बाली आदिके निग्रहको देखकर भगवान्‌के रक्षकत्वपर भी उनका विश्वास जम चुका था। किन्तु शरणागतिका सबसे प्रधान अङ्ग जो दीनता है, उसका प्रकाशन अभीतक नहीं हुआ था। उसी अङ्गको लेकर महर्षि वाल्मीकि शरणागतिका आरम्भ करते हैं। कहते हैं—*'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यम्'* (इस तरह कठोर वाक्य कहकर)।

जिस उग्रशासन रावणके डरसे वायुतक जनानेमें डरता हुआ चलता था कि ऐसा न हो जो स्त्रियोंके अञ्चल उड़नेसे बेअदबी करनेके अपराधमें मैं पकड़ा जाऊँ। उस जगद्विजयी रावणको छोटा होकर भी 'मौत तुम्हारे सिरपर खेल रही है' इत्यादि कह देना और जीनेकी आशा करना, यह असम्भव है। अतएव अब तो लङ्कासे चला जाना ही पड़ेगा। किन्तु यहाँसे चले जानेपर भी क्या रावणसे छुटकारा मिल जायगा? सिवा श्रीरामचन्द्रजीके और कोई नहीं बचा सकता, यों अपनेमें दीनता लाते हुए विभीषण आगे बढ़ते हैं। इसलिये कहा कि*'इत्युक्त्वा परुषं वाक्यम्'*

'इति' (इस तरह) यों *'इति'* से कहनेके प्रकारको सूचित किया गया है। वह यह कि *'प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली'* (श्रीरामचन्द्रजीके पास सीताको लौटा दो) यह कर्तव्यमें सुभीता दिखलाया। *'यावन्न गृह्णन्ति शिरांसि बाणाः'* (यदि नहीं लौटाओगे तो मस्तक देकर प्रायश्चित्त करना पड़ेगा) यह भय भी दिखाया। यों 'सब प्रकारसे' समझाया गया था, इस बातको सूचित करनेके तात्पर्यसे कहा कि *'इति'*।

'इति' से महर्षिका और भी तात्पर्य है। आगे जाकर यह कलङ्क आ सकता है कि 'हितको जाननेवाले मर्यादानुगामी सहोदर भ्राता विभीषणने ही सङ्कटमें पड़े हुए भाईका साथ न दिया' यह अपयश आगे न मिले *'इति'* इसप्रकार (बहुत अच्छी तरह) *'उक्त्वा'* कहकर।

विभीषण-सदृश शान्त-प्रकृति भगवद्भक्तके वाक्यको *'परुषम्'* कठोर कहनेका तात्पर्य यह है कि वह वाक्य 'हित' था, परन्तु रावणरूप ग्राहकके दोषसे वह कठोर हो गया। मलयपवन विलासियोंका आन्तरिक सन्ताप दूर करता है किन्तु विरही उससे जले जाते हैं। इसलिये आधार-दोषसे वाक्यके कठोर बन जानेका हेतु महर्षि साथ ही सुझा रहे हैं—*'रावणम्'* प्रबल-दुर्बलका विचार न कर जो सब जगत्‌को 'रुलानेवाला' है, उसके सामने शत्रुका बल वर्णन करना अवश्य ही उसे कठोर प्रतीत होगा। किन्तु विभीषणके लिये भी महर्षि विशेषण देते हैं *'रावणानुजः'* रावणका सामना करनेवाला भी कोई सत्त्व-प्रधान व्यक्ति ही होना चाहिये। वह उस पराक्रमीके छोटे भाई ही तो थे। इसलिये सत्त्वाधिक्य-

---

१ 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यसीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥'

के कारण अपना वक्तव्य उन्होंने अच्छी तरह कह दिया। दूसरे उनको तो 'हितम्' हित कहना था। इसलिये इसमें डरनेकी भी कोई बात न थी। *'रावणानुजः'* छोटे भाई होकर ज्येष्ठ भ्राताको समझा रहे थे, यह शङ्का भी हट जाती है। क्योंकि हित-कथनमें ज्येष्ठ होना ही आवश्यक नहीं। मनु तो कहते हैं—महर्षि आङ्गिरस बालक ही थे। उन्होंने अपने पिताओंको पढ़ाया और पढ़ाते समय ज्ञानवृद्ध होनेके कारण उनको 'पुत्रो !' यह सम्बोधन किया।

'पितॄनध्यापयामास शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रकामिति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥'

स्मृति तो यहाँतक कहती है कि—'अज्ञ पुरुषको बालक, और मन्त्र देनेवालेको पिता कहना चाहिये।'

'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम्।'

अब आता है *'आजगाम'*। जब लङ्कासे विभीषण श्रीरामके पास गये थे तब *'जगाम'* (गये) यों कहना चाहिये; आनेका क्या प्रसङ्ग ? जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ महर्षि *'जगाम'* ऐसा ही कहते आये हैं। और तो क्या, भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें भी कहते आ रहे हैं *'जगाम मनसा सीताम्'* फिर यहाँ *'आजगाम'* कहाँसे आजगाम (आया !) सुनिये—

महर्षि दिखलाते हैं कि विभीषण दैवजीव थे। वह तो लङ्कासे वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। सदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको ही अपना घर समझते आ रहे थे। और घर आनेमें सदा यों ही कहा जाता है कि हम कल रात्रिको दस बजे घर आये, न कि गये। कहावतमें भी यों ही कहा गया है कि 'सबेरेका भूला शामको भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहलाता।' भक्त भगवान्‌की ही विभूति हैं। भगवान् ही उनका आश्रय है। आश्रयके पास लौटनेमें आना ही कहा जायगा, जाना नहीं। इसीलिये तो 'शरणागति' शरणमें 'आगति' आना कहा जाता है न कि 'गति' जाना। इसी तात्पर्यसे जानेके प्रसङ्गमें भी महर्षि कहते हैं *'आजगाम'*।

'आजगाम' के साथ कहा है *'मुहूर्तेन'*। क्या विभीषण ज्योतिषियोंसे मुहूर्त शोधन करवाकर चले थे ? नहीं नहीं। इसका अर्थ है, मुहूर्तमात्रमें, जल्दीसे। इसके द्वारा भगवद्भक्त विभीषणकी मानसिक अवस्थाका सूचन किया है। वह चिरकालसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनको बड़ी उतावली लग रही थी कि कब लङ्कासे छुटकारा पाऊँ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँ। वह जब दुबारा रावणको समझाने उसके महलमें गये थे तो भीतर-ही-भीतर यह भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी कि अब यदि समझानेसे लङ्कापति रास्तेपर आ गये तो श्रीरामचन्द्र-चरण-दर्शन नहीं हो सकेगा। खैर, ज्येष्ठ भ्राताका तो कल्याण होगा। मैं मनके द्वारा तो चरणोंकी शरणागति स्वीकार कर ही चुका हूँ। फिर और कोई उचित अवसर देखकर शरणमें चला जाऊँगा। किन्तु जब रावणने उचित सलाहको ठुकरा दिया और विभीषणका घोर अपमान किया, उस समय उन्हें लङ्का छोड़ना निश्चित करना पड़ा। अब उन्हें भगवच्छरणमें जानेके बीचका विलम्ब कैसे सहन होता ?

जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि बछडा देखता रहता है कि कब दोहनेका समय आवे और मैं माताके पास पहुँचूँ और स्तनपान करूँ। जैसे ही गौको चरनेके लिये छोड़नेका समय आया और दुहनेवाला दुहाली (दोहनी)लेकर पास आने लगा कि बच्छा अपने खूँटेसे बँधा ही खुलनेके लिये तड़फड़ाने लगता है। रस्सीको खूँटेसे खोलते समय तो वह यहाँतक खींचातान मचाता है कि ग्वाला भी तङ्ग आ जाता है। आप-

ही देखिये—जैसे ही रस्सी खुली कि वह माताके पास पहुँचनेतक रास्तेमें कितना समय लगाता होगा? उस समय रास्तेकी चीजोंपर उसकी दृष्टितक नहीं पड़ती। वह एकदम दौड़कर, माताके स्तनतक पहुँचकर ही दम लेता है। ठीक इसी तरह विभीषण-को भी हड़बड़ाहट लग रही थी कि कब दूसरे पार पहुँचूँ और भगवान्‌का दर्शन करूँ। जो मनसे भगवान्‌के भक्त हुआ करते हैं, उन्हें भगवद्विमुखोंका सङ्ग कितना अखरता होगा, यह अपने आप सोचने-की बात है, समझानेकी ज़रूरत नहीं। किन्तु वह सङ्ग निपट परवश रहनेके कारण मन मारकर सहना ही पड़ता था। परन्तु जब वहाँसे छुटकारा मिल रहा है, तब देरी कैसी? जिस तरह जलते हुए अँगारोंके मार्गमें पैर रखना जितना ही कम हो उतना ही अच्छा, उसी तरह मार्गमें जितने पैंड कम रखने पड़ें उतना ही अच्छा, यह विभीषणकी लालसा थी। भक्तोंके विषयमें क्या अच्छा कहा है—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तरवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥

'अग्निकी लपटोंके अन्दर रहना अच्छा, किन्तु हरिविमुखोंके साथ निवास अच्छा नहीं, वह तो 'वैशस' है, बड़ी कठोरता है।' इसीलिये विभीषणके हृदयकी व्याकुलताको सूचन करनेवाली जल्दीको प्रकाश करनेके लिये महर्षि कहते हैं—*'मुहूर्तेन।'*

आगे कहते हैं *'यत्र रामः'* जहाँ राम थे (वहाँ आये)। कहना चाहिये *'रामम् आजगाम'* रामके पास पहुँचे। जहाँ शरणागतिका निरूपण किया जा रहा है, वहाँ 'शरण' जो भगवान् उनके पास *'आगति'* यों साक्षात् भगवान्‌का उपसर्पण ही वर्णन किया जाता है। फिर यहाँ *'यत्र रामः'* कहकर रामके निवास-देशका अङ्गा क्यों लगाया? इसका भी तात्पर्य है—विभीषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका मन-ही-मन ध्यान करते हुए इतने अनुरक्त हो गये थे कि चित्तमें सोचते आ रहे थे—अहा! वह (स्थान) कितना पवित्र है, जहाँ भगवान् इस समय विराज रहे हैं। अतएव उनकी दृष्टिमें श्रीरामकी अपेक्षा भी उनके चरणारविन्दोंसे पवित्र हुए उस स्थानका बड़ा सम्मान था। भक्तगण भगवच्चरणार्चित स्थानको दूरसे देखकर ही गद्‌गद् हो उठते हैं। आहा—

'सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने॥

'समस्त पर्वतोंमें राजाके समान इस चित्रकूटका बड़ा सौभाग्य है, जहाँ नन्दनवनमें कुबेरकी तरह भगवान् श्रीरामचन्द्र निवास करते हैं।'

अथवा—लङ्कानिवासके 'वैशस' से घबराये हुए विभीषण जल्दी-जल्दी उड़े आ रहे थे। उन्हें समुद्र-की लम्बाई इस समय बेढब खटक रही थी। किन्तु जैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके निवास-स्थानकी सीमापर पहुँचे कि उन्हें शान्ति मिल गयी। इसलिये उन्हें तो श्री-रामचन्द्रजीके निवाससे पवित्र हुआ वह देश ही बड़ा अच्छा लग रहा था। अतएव उनके हृदयानुसार महर्षिने कहा—*'यत्र रामः'*

किंवा—रामके पास पहुँचना ही अभी कहाँ? कोसलराजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्र इस समय विचारसभा एकत्रकर युद्धके विषयमें अत्यन्त गुप्त और गभीरतम विचार कर रहे हैं। चारों ओर बड़े-बड़े वानर-चमूपति शिविरका खड़ा पहरा दे रहे हैं। किसीको अन्दर जानेकी आज्ञा नहीं। नये आये विभीषणको *'रामम् आजगाम'* यों कहवाकर रामके पास पहुँचनेका अवसर कौन देगा? वह तो आगे जाकर राम-दरबारकी ड्योढ़ीपर पहुँचकर पहरेदारोंसे स्वयं अपनी अर्जी पहुँचवाते हैं—

के कारण अपना वक्तव्य उन्होंने अच्छी तरह कह दिया। दूसरे उनको तो 'हितम्' हित कहना था। इसलिये इसमें डरनेकी भी कोई बात न थी। *'रावणानुजः'* छोटे भाई होकर ज्येष्ठ भ्राताको समझा रहे थे, यह शङ्का भी हट जाती है। क्योंकि हित-कथनमें ज्येष्ठ होना ही आवश्यक नहीं। मनु तो कहते हैं—महर्षि आङ्गिरस बालक ही थे। उन्होंने अपने पिताओंको पढ़ाया और पढ़ाते समय ज्ञानवृद्ध होनेके कारण उनको 'पुत्रो!' यह सम्बोधन किया।

'पितॄनध्यापयामास शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रकानिति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥'

स्मृति तो यहाँतक कहती है कि—'अज्ञ पुरुषको बालक, और मन्त्र देनेवालेको पिता कहना चाहिये।'

'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम्।'

अब आता है *'आजगाम'*। जब लङ्कासे विभीषण श्रीरामके पास गये थे तब *'जगाम'* (गये) यों कहना चाहिये; आनेका क्या प्रसङ्ग? जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ महर्षि *'जगाम'* ऐसा ही कहते आये हैं। और तो क्या, भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें भी कहते आ रहे हैं *'जगाम मनसा सीताम्'* फिर यहाँ *'आजगाम'* कहाँसे आजगाम (आया?) सुनिये—

महर्षि दिखलाते हैं कि विभीषण दैवजीव थे। वह तो लङ्कासे वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। सदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको ही अपना घर समझते आ रहे थे। और घर आनेमें सदा यों ही कहा जाता है कि हम कल रात्रिको दस बजे घर आये, न कि गये। कहावतमें भी यों ही कहा गया है कि 'सवेरेका भूला शामको भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहलाता।' भक्त भगवान्‌की ही विभूति हैं। भगवान् ही उनका आश्रय है। आश्रयके पास लौटनेमें आना ही कहा जायगा, जाना नहीं। इसीलिये तो 'शरणागति' शरणमें 'आगति' आना कहा जाता है न कि 'गति' जाना। इसी तात्पर्यसे जानेके प्रसङ्गमें भी महर्षि कहते हैं *'आजगाम'*।

'आजगाम' के साथ कहा है *'मुहूर्तेन'*। क्या विभीषण ज्योतिषियोंसे मुहूर्त शोधन करवाकर चले थे? नहीं नहीं। इसका अर्थ है, मुहूर्तमात्रमें, जल्दीसे। इसके द्वारा भगवद्भक्त विभीषणकी मानसिक अवस्थाका सूचन किया है। वह चिरकालसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनको बड़ी उतावली लग रही थी कि कब लङ्कासे छुटकारा पाऊँ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँ। वह जब दुबारा रावणको समझाने उसके महलमें गये थे तो भीतर-ही-भीतर यह भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी कि अब यदि समझानेसे लङ्कापति रास्तेपर आ गये तो श्रीरामचन्द्र-चरण-दर्शन नहीं हो सकेगा। खैर, ज्येष्ठ भ्राताका तो कल्याण होगा। मैं मनके द्वारा तो चरणोंकी शरणागति स्वीकार कर ही चुका हूँ। फिर और कोई उचित अवसर देखकर शरणमें चला जाऊँगा। किन्तु जब रावणने उचित सलाहको ठुकरा दिया और विभीषणका घोर अपमान किया, उस समय उन्हें लङ्का छोड़ना निश्चित करना पड़ा। अब उन्हें भगवच्छरणमें जानेके बीचका विलम्ब कैसे सहन होता?

जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि बछड़ा देखता रहता है कि कब दोहनेका समय आवे और मैं माताके पास पहुँचूँ और स्तनपान करूँ। जैसे ही गौको चरनेके लिये छोड़नेका समय आया और दुहनेवाला दुहाली (दोहनी) लेकर पास आने लगा कि बच्छा अपने खूँटेसे बँधा ही खुलनेके लिये तड़फड़ाने लगता है। रस्सीको खूँटेसे खोलते समय तो वह यहाँतक खींचातान मचाता है कि ग्वाला भी तङ्ग आ जाता है। आप-

ही देखिये—जैसे ही रस्सी खुली कि वह माताके पास पहुँचनेतक रास्तेमें कितना समय लगाता होगा ? उस समय रास्तेकी चीजोंपर उसकी दृष्टितक नहीं पड़ती। वह एकदम दौड़कर, माताके स्तनतक पहुँचकर ही दम लेता है। ठीक इसी तरह विभीषण-को भी हड़बड़ाहट लग रही थी कि कब दूसरे पार पहुँचूँ और भगवान्‌का दर्शन करूँ। जो मनसे भगवान्‌के भक्त हुआ करते हैं, उन्हें भगवद्विमुखोंका सङ्ग कितना अखरता होगा, यह अपने आप सोचने-की बात है, समझानेकी ज़रूरत नहीं। किन्तु वह सङ्ग निपट परवश रहनेके कारण मन मारकर सहना ही पड़ता था। परन्तु जब वहाँसे छुटकारा मिल रहा है, तब देरी कैसी ? जिस तरह जलते हुए अँगारोंके मार्गमें पैर रखना जितना ही कम हो उतना ही अच्छा, उसी तरह मार्गमें जितने पैंड कम रखने पड़ें उतना ही अच्छा, यह विभीषणकी लालसा थी। भक्तोंके विषयमें क्या अच्छा कहा है—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तरवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥

'अग्निकी लपटोंके अन्दर रहना अच्छा, किन्तु हरिविमुखोंके साथ निवास अच्छा नहीं, वह तो 'वैशस' है, बड़ी कठोरता है।' इसीलिये विभीषणके हृदयकी व्याकुलताको सूचन करनेवाली जल्दीको प्रकाश करनेके लिये महर्षि कहते हैं—*'मुहूर्तेन।'*

आगे कहते हैं *'यत्र रामः'* जहाँ राम थे (वहाँ आये)। कहना चाहिये *'रामम् आजगाम'* रामके पास पहुँचे। जहाँ शरणागतिका निरूपण किया जा रहा है, वहाँ 'शरण' जो भगवान् उनके पास *'आगति'* यों साक्षात् भगवान्‌का उपसर्पण ही वर्णन किया जाता है। फिर यहाँ *'यत्र रामः'* कहकर रामके निवास-देशका अड्ङ्गा क्यों लगाया ? इसका भी तात्पर्य है—विभीषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका मन-ही-मन ध्यान करते हुए इतने अनुरक्त हो गये थे कि चित्तमें सोचते आ रहे थे—अहा! वह (स्थान) कितना पवित्र है, जहाँ भगवान् इस समय विराज रहे हैं। अतएव उनकी दृष्टिमें श्रीरामकी अपेक्षा भी उनके चरणारविन्दोंसे पवित्र हुए उस स्थानका बड़ा सम्मान था। भक्तगण भगवच्चरणार्चित स्थानको दूरसे देखकर ही गद्‌गद् हो उठते हैं। आहा—

'सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने॥

'समस्त पर्वतोंमें राजाके समान इस चित्रकूटका बड़ा सौभाग्य है, जहाँ नन्दनवनमें कुबेरकी तरह भगवान् श्रीरामचन्द्र निवास करते हैं।'

अथवा—लङ्कानिवासके 'वैशस' से घबराये हुए विभीषण जल्दी-जल्दी उड़े आ रहे थे। उन्हें समुद्र-की लम्बाई इस समय वेढब खटक रही थी। किन्तु जैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके निवास-स्थानकी सीमापर पहुँचे कि उन्हें शान्ति मिल गयी। इसलिये उन्हें तो श्री-रामचन्द्रजीके निवाससे पवित्र हुआ वह देश ही बड़ा अच्छा लग रहा था। अतएव उनके हृदयानुसार महर्षिने कहा— *'यत्र रामः'*

किंवा—रामके पास पहुँचना ही अभी कहाँ ? कोसलराजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्र इस समय विचारसभा एकत्रकर युद्धके विषयमें अत्यन्त गुप्त और गभीरतम विचार कर रहे हैं। चारों ओर बड़े-बड़े वानर-चमूपति शिबिरका खड़ा पहरा दे रहे हैं। किसीको अन्दर जानेकी आज्ञा नहीं। नये आये विभीषणको *'रामम् आजगाम'* यों कहवाकर रामके पास पहुँचनेका अवसर कौन देगा ? वह तो आगे जाकर राम-दरबारकी ड्योढ़ीपर पहुँचकर पहरेदारोंसे स्वयं अपनी अर्जी पहुँचवाते हैं—

के कारण अपना वक्तव्य उन्होंने अच्छी तरह कह दिया। दूसरे उनको तो 'हितम्' हित कहना था। इसलिये इसमें डरनेकी भी कोई बात न थी। *'रावणानुजः'* छोटे भाई होकर ज्येष्ठ भ्राताको समझा रहे थे, यह शङ्का भी हट जाती है। क्योंकि हित-कथनमें ज्येष्ठ होना ही आवश्यक नहीं। मनु तो कहते हैं—महर्षि आङ्गिरस बालक ही थे। उन्होंने अपने पिताओंको पढ़ाया और पढ़ाते समय ज्ञानवृद्ध होनेके कारण उनको 'पुत्रो!' यह सम्बोधन किया।

'पितॄनध्यापयामास शिशुराङ्गिरसः कविः।
पुत्रकानिति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥'

स्मृति तो यहाँतक कहती है कि—'अज्ञ पुरुषको बालक, और मन्त्र देनेवालेको पिता कहना चाहिये।'

'अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव च मन्त्रदम्।'

अब आता है *'आजगाम'*। जब लङ्कासे विभीषण श्रीरामके पास गये थे तब *'जगाम'* (गये) यों कहना चाहिये; आनेका क्या प्रसङ्ग? जहाँ-जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ महर्षि *'जगाम'* ऐसा ही कहते आये हैं। और तो क्या, भगवान् श्रीरामचन्द्रके विषयमें भी कहते आ रहे हैं *'जगाम मनसा सीताम्'* फिर यहाँ *'आजगाम'* कहाँसे आजगाम (आया!) सुनिये—

महर्षि दिखलाते हैं कि विभीषण दैवजीव थे। वह तो लङ्कासे वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं रखते थे। सदा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंको ही अपना घर समझते आ रहे थे। और घर आनेमें सदा यों ही कहा जाता है कि हम कल रात्रिको दस बजे घर आये, न कि गये। कहावतमें भी यों ही कहा गया है कि 'सबेरेका भूला शामको भी घर आ जाय तो भूला नहीं कहलाता।' भक्त भगवान्‌की ही विभूति हैं। भगवान् ही उनका आश्रय है। आश्रयके पास लौटनेमें आना ही कहा जायगा, जाना नहीं। इसीलिये तो 'शरणागति' शरणमें 'आगति' आना कहा जाता है न कि 'गति' जाना। इसी तात्पर्यसे जानेके प्रसङ्गमें भी महर्षि कहते हैं *'आजगाम'*।

'आजगाम' के साथ कहा है *'मुहूर्तेन'*। क्या विभीषण ज्योतिषियोंसे मुहूर्त शोधन करवाकर चले थे? नहीं नहीं। इसका अर्थ है, मुहूर्तमात्रमें, जल्दीसे। इसके द्वारा भगवद्भक्त विभीषणकी मानसिक अवस्थाका सूचन किया है। वह चिरकालसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके दर्शनके लिये उत्सुक हो रहे थे। उनको बड़ी उतावली लग रही थी कि कब लङ्कासे छुटकारा पाऊँ और भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन करूँ। वह जब दुबारा रावणको समझाने उसके महलमें गये थे तो भीतर-ही-भीतर यह भी धुकड़-पुकड़ लग रही थी कि अब यदि समझानेसे लङ्कापति रास्तेपर आ गये तो श्रीरामचन्द्र-चरण-दर्शन नहीं हो सकेगा। खैर, ज्येष्ठ भ्राताका तो कल्याण होगा। मैं मनके द्वारा तो चरणोंकी शरणागति स्वीकार कर ही चुका हूँ। फिर और कोई उचित अवसर देखकर शरणमें चला जाऊँगा। किन्तु जब रावणने उचित सलाहको ठुकरा दिया और विभीषणका घोर अपमान किया, उस समय उन्हें लङ्का छोड़ना निश्चित करना पड़ा। अब उन्हें भगवच्चरणमें जानेके बीचका विलम्ब कैसे सहन होता!

जैसे ही प्रातःकाल हुआ कि बछड़ा देखता रहता है कि कब दोहनेका समय आवे और मैं माताके पास पहुँचूँ और स्तनपान करूँ। जैसे ही गौको चरनेके लिये छोड़नेका समय आया और दुहनेवाला दुहाली (दोहनी)लेकर पास आने लगा कि बच्चा अपने खूँटेसे बँधा ही खुलनेके लिये तड़फड़ाने लगता है। रस्सीको खूँटेसे खोलते समय तो वह यहाँतक खींचातान मचाता है कि ग्वाला भी तङ्ग आ जाता है। आप-

ही देखिये—जैसे ही रस्सी खुली कि वह माताके पास पहुँचनेतक रास्तेमें कितना समय लगाता होगा ? उस समय रास्तेकी चीजोंपर उसकी दृष्टितक नहीं पड़ती। वह एकदम दौड़कर, माताके स्तनतक पहुँचकर ही दम लेता है। ठीक इसी तरह विभीषण-को भी हड़बड़ाहट लग रही थी कि कब दूसरे पार पहुँचूँ और भगवान्का दर्शन करूँ। जो मनसे भगवान्के भक्त हुआ करते हैं, उन्हें भगवद्विमुखोंका सङ्ग कितना अखरता होगा, यह अपने आप सोचनेकी बात है, समझानेकी जरूरत नहीं। किन्तु वह सङ्ग निपट परवश रहनेके कारण मन मारकर सहना ही पड़ता था। परन्तु जब वहाँसे छुटकारा मिल रहा है, तब देरी कैसी ? जिस तरह जलते हुए अँगारोंके मार्गमें पैर रखना जितना ही कम हो उतना ही अच्छा, उसी तरह मार्गमें जितने पैंड कम रखने पड़ें उतना ही अच्छा, यह विभीषणकी लालसा थी। भक्तोंके विषयमें क्या अच्छा कहा है—

वरं हुतवहज्वालापञ्जरान्तरवस्थितिः।
न शौरिचिन्ताविमुखजनसंवासवैशसम्॥

'अग्निकी लपटोंके अन्दर रहना अच्छा, किन्तु हरिविमुखोंके साथ निवास अच्छा नहीं, वह तो 'वैशस' है, बड़ी कठोरता है।' इसीलिये विभीषणके हृदयकी व्याकुलताको सूचन करनेवाली जल्दीको प्रकाश करनेके लिये महर्षि कहते हैं—*'मुहूर्तेन।'*

आगे कहते हैं *'यत्र रामः'* जहाँ राम थे (वहाँ आये)। कहना चाहिये *'रामम् आजगाम'* रामके पास पहुँचे। जहाँ शरणागतिका निरूपण किया जा रहा है, वहाँ 'शरण' जो भगवान् उनके पास *'आगति'* यों साक्षात् भगवान्का उपसर्पण ही वर्णन किया जाता है। फिर यहाँ *'यत्र रामः'* कहकर रामके निवास-देशका अड़ङ्गा क्यों लगाया ? इसका भी तात्पर्य है—विभीषण भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका मन-ही-मन ध्यान करते हुए इतने अनुरक्त हो गये थे कि चित्तमें सोचते आ रहे थे—अहा ! वह (स्थान) कितना पवित्र है, जहाँ भगवान् इस समय विराज रहे हैं। अतएव उनकी दृष्टिमें श्रीरामकी अपेक्षा भी उनके चरणारविन्दोंसे पवित्र हुए उस स्थानका बड़ा सम्मान था। भक्तगण भगवच्चरणार्चित स्थानको दूरसे देखकर ही गद्गद् हो उठते हैं। आहा—

'सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः।
यस्मिन्वसति काकुत्स्थः कुबेर इव नन्दने॥

'समस्त पर्वतोंमें राजाके समान इस चित्रकूटका बड़ा सौभाग्य है, जहाँ नन्दनवनमें कुबेरकी तरह भगवान् श्रीरामचन्द्र निवास करते हैं।'

अथवा—लङ्कानिवासके 'वैशस' से घबराये हुए विभीषण जल्दी-जल्दी उड़े आ रहे थे। उन्हें समुद्रकी लम्बाई इस समय बेढब खटक रही थी। किन्तु जैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके निवास-स्थानकी सीमापर पहुँचे कि उन्हें शान्ति मिल गयी। इसलिये उन्हें तो श्री-रामचन्द्रजीके निवाससे पवित्र हुआ वह देश ही बड़ा अच्छा लग रहा था। अतएव उनके हृदयानुसार महर्षिने कहा— *'यत्र रामः'*

किंवा—रामके पास पहुँचना ही अभी कहाँ ? कोसलराजाधिराज भगवान् श्रीरामचन्द्र इस समय विचारसभा एकत्रकर युद्धके विषयमें अत्यन्त गुप्त और गभीरतम विचार कर रहे हैं। चारों ओर बड़े-बड़े वानर-चमूपति शिबिरका खड़ा पहरा दे रहे हैं। किसीको अन्दर जानेकी आज्ञा नहीं। नये आये विभीषणको *'रामम् आजगाम'* यों कहवाकर रामके पास पहुँचनेका अवसर कौन देगा ? वह तो आगे जाकर राम-दरबारकी ड्योढ़ीपर पहुँचकर पहरेदारोंसे स्वयं अपनी अर्जी पहुँचवाते हैं—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥

'प्राणिमात्रको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको जल्दीसे मालूम कर दीजिये कि यह विभीषण उपस्थित हुआ है।' यह अक्षरार्थमात्र है। इसका *वास्तविक तत्त्व शरणागतिमें आगे आवेगा।*

वह आकाशसे नीचे उतरे, उसके पहले ही अपने अङ्गीकारके विषयमें सङ्कल्प-विकल्प कर ही रहे थे कि सुग्रीवने इन्हे देखनेमात्रमें ही शत्रु-पक्षका समझकर ठौर-की-ठौर ठण्डा कर देनेका विचार कर लिया। विभीषण भी इस बातको नहीं समझते थे, सो नहीं था। वह भी जानते थे कि मेरा अङ्गीकार कर लेना सहज तो है नहीं। सुग्रीव-सरीखे विक्रान्त वीर मुझे देखते ही उबल पड़ेंगे। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रकी दयालुताका दृढ विश्वास अटलरूपसे उनके हृदयपर जमा हुआ था। इसलिये शिविरमें पहुँचते ही यकायक साक्षात् श्रीरामचन्द्रके पास ही अपने नामका 'जुबानी विजिटिङ्ग कार्ड' पहुँचा दिया—'*विभीषणमुपस्थित राघवाय निवेदयत।*' अब जबतक भीतर आनेकी परवानगी न मिले तबतक उस शिविरदेशमें ही तो ठहरना पड़ा था। इसलिये यह धुकधुकी लिये ठहरना जिस देश (स्थान) में हो रहा था, उसीको प्रधानतया निर्देश करते हुए वाल्मीकि कहते हैं—'*यत्र रामः तत्राजगाम*।

यहाँ एक गूढ बात और रह गयी। वैयाकरण पण्डितोंके इसपर कई दाव पेंच चल सकते हैं। '*यत्र राम*.' यो खाली कर्तृपद कह दिया, क्रिया नहीं। ('*यत्र न्यवसत्*' रहते थे, ('*सैन्यसनिवेशमकरोत्*' कैम्प डाले हुए थे) किंवा (*सभामध्यतिष्ठत्*' सभा कर रहे थे) इत्यादि कुछ तो क्रियापदका निर्देश होना चाहिये था। वास्तवमें यह शङ्का ठीक है। किन्तु महर्षि इस समय शरणागतिके लिये आते हुए विभीषणके हृदयका चित्र खींच रहे हैं। किसी भी बड़े आदमीके पास आनेवाला पुरुष पहले उसका समय और कार्य देखता है कि वह क्या कर रहे हैं। इस समय मुझे मिलनेकी आज्ञा दी जा सकेगी कि नहीं। किन्तु विभीषणको भगवान्‌की दयालुताका दृढ विश्वास हो चुका है जो शरणागतिमें अत्यन्त आवश्यक है। वह जानते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कुछ भी कर रहे हों, जहाँ आपको मालूम हुआ कि मेरी शरण चाहनेवाला दीन आया है, वहीं आपका चित्त दयार्द्र हो उठता है। फिर आपसे विलम्ब सहा नहीं जाता। शरणागति-रहस्यमें स्वय भगवान् आज्ञा करेंगे—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम॥

'जो एक बार भी मनसे मेरी शरण आ जाता है, 'मैं आपका हूँ' यह मुखसे कह देता है, उसे मैं प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ। यह मेरा व्रत है। व्रत जिस तरह छोड़ा नहीं जाता, छोडनेपर अपराधभागी होना पडता है, इस तरह मैं भी इस अपने नियमको नहीं छोड सकता।' यह अक्षरार्थ है। इसका भी रहस्य आगे आवेगा।

यह भगवान्‌का स्वभाव दैवजीव विभीषण अच्छी तरह जानते थे। और यह भी उन्हें मालूम था कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको मालूम होनेके पहलेतक मेरे ऊपर जो भी सन्देह लोगोंको होंगे, हो सकते हैं। यहाँतक कि मेरा तिरस्कार, वधतक हो सकता है, किन्तु भगवान्‌को जहाँ विदित हुआ कि कोई शरणागत खडा है वहाँ मुझे फिर कोई भय नहीं। इसीलिये आकाशमें खडे रहकर बड़े ऊँचे स्वरसे (जिससे स्वय भगवान् श्रवण कर लें) वह सूचना देते हैं—'*निवेदयत मा क्षिप्र राघवाय महात्मने। सर्वलोक-*

शरण्याय' सब लोगोंको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको जल्दी मेरी खबर कर दीजिये' यहाँ *'सर्वलोकशरण्याय'* कहनेसे स्पष्ट प्रकाशित कर दिया कि 'आप सबको शरण देते हैं ।' जहाँ आपने 'शरण' शब्द सुना कि फिर उसकी पुकार सुननेमें विलम्ब नहीं करते । इसलिये 'शरण्यके पास शरणागत आया है' यह सूचितमात्र कर दीजिये । फिर मेरी पहुँच अपने आप हो जायगी । चाहे श्रीमान् कुछ ही करते हों । श्रीरामचन्द्रकी सत्तामात्र (वहाँ मौजूद रहना-मात्र) अपेक्षित है । बस, इसीलिये यहाँ और क्रिया-पद न लगाकर *'यत्र रामः'* यों केवल कर्तृपद ही दिया । सत्तावाचक क्रिया-पदका तो अपने आप ऊपर-से आक्षेप हो जाता है—*'यत्र काचिदपि क्रिया नास्ति तत्र अस्ति भवतीत्याद्याक्षिप्यते'* 'जहाँ और कोई क्रिया नहीं रहती वहाँ 'है' इत्यादि सत्ता-द्योतक क्रिया जोड़ दी जाती है ।'

'यत्र रामः' के आगे रामका एक विशेषण दिया है *'सलक्ष्मणः'* लक्ष्मणसहित । यहाँ शुद्ध साहित्यज्ञ पण्डित तो कदाचित् अपने शास्त्रके अनुसार 'साहचर्य' का *अनुगम* जोड़ें कि लक्ष्मण-पदके साहचर्यसे 'राम' पदका राघव ही अर्थ है, परशुरामादि नहीं । परन्तु यहाँ विशेषणका अभिप्राय कुछ गूढ़ है । अपने मतलबकी ओर झुकता हुआ है । वह कहते हैं—मैं शरण चाहनेवाला होकर राम-दरबारमें हाजिर हुआ ही हूँ और भगवान् श्रीरामचन्द्र भी शरणागतका अङ्गीकार करनेवाले स्वयं ही हैं । किन्तु यह सब अब-तक भगवान्‌के दयालुत्वपर ही निर्भर करता है । भगवान् शरणागतको अभय देते हैं यह रिआयत भगवान्‌की तरफ़से ही दी हुई है । मेरा तो इसमें कुछ पुरुषार्थ नहीं । किन्तु वह व्यङ्ग्य-मर्यादासे सूचित करते हैं—नहीं, मेरी तरफसे भी उद्योगका द्वार है । भगवान् अकेले थोड़े ही विराजे हैं, *'सलक्ष्मणः'* सौमित्रेय श्रीमान् लक्ष्मण भी तो साथ हैं । सुमित्रा-नन्दन *शरणागतोंकी दशाको जाननेवाले हैं ।* क्योंकि सर्वविभूतिसम्पन्न अयोध्या यहाँतक, कि जननी और अपनी प्रियतमातकको छोड़कर वह भगवान्‌की चरण-शरणमें रह रहे हैं । प्रथम तो भगवान्‌की दयासे कोई 'किन्तु' उपस्थित ही नहीं होगा । यदि कदाचित् मेरे ही दुर्दैवसे कोई सन्देह आ उपस्थित हो तो, श्रीलक्ष्मण, जो अत्यन्त दयालु हैं और साथ ही अपने आग्रहके पक्के भी हैं, मेरी विकालत कर सकते हैं । यकायक मामला डिसमिस नहीं हो सकता । इसी आशयसे महर्षि कहते हैं *'यत्र रामः सलक्ष्मणः'*

यों यह शरणागतिकी भूमिका इस प्रथम पद्यसे आरम्भ होती है । शरणागतिका पूर्ण निरूपण लम्बा हो जायगा, इसलिये इसका विभाजन अनुचित न होगा । भक्तिसाहित्यमर्मज्ञ, जो इसका आग्रह रखते हों, इस प्रतीक्षाकालके लिये क्षमा करेंगे ।

(क्रमशः)



केवटका कथन

देत महेस-जटा-निकसी न किसी तपसीनतें लेत हौं पाई ।
जैसो करै तिहिं तैसो मिलै यह राउरी बान पुरानन गाई ॥
पार करौं भव-सागरतें करि चौगुनी चाकरी चाहौं चुथाई ।
लेत मलाह मलाहतें हौं सोइ चाहत हौं तुमतें रघुराई ! ॥

—अर्जुनदास केडिया

श्रीभगवन्नाम

(एक दीनका अनुभव)

'अणोरणीयान्महतो महीया-
न्नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥'

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥'

प्रिय सज्जनवृन्द ! उपर्युक्त श्रुतिवाक्योंसे यह स्पष्ट सिद्ध है कि सर्वत्र व्याप्त, सर्वभूताशयस्थित श्रीप्रभुका साक्षात्कार वही कर सकता है जिसपर उनकी अहैतुक कृपा होती है। इसमें मेधा, वेदाध्ययन, वेदश्रवण, या अन्य किसी भी साधनकी शक्ति नहीं है। मेरे क्षुद्र विचारमें 'भगवन्नाम तथा भगवान्में भेद नहीं है, भगवन्नाममें भगवान्की पूर्ण शक्ति सञ्चारित है'—इन महावाक्योंमें श्रद्धा और विश्वास होना भी श्रीप्रभुकृपा-सापेक्ष है। भगवत्कृपा स्वतन्त्र है, उसका अधिकार यदि किसीको प्राप्त हो सकता है तो निष्किञ्चन दीनजनोंको ही हो सकता है, अन्यको नहीं। यथा—

'जन्मैश्वर्यश्रुतिश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम् ॥'

इस श्रीशुकवाक्यसे कोई ऐसा न समझ ले कि उच्च कुलमें जन्म, ऐश्वर्य, विद्वत्ता, धन इत्यादिसे परमात्माने जिसको सम्पन्न कर रक्खा है वे भगवत्कृपा-पात्र नहीं हो सकते। वे भी हो सकते हैं, परन्तु शर्त है अभिमानसे अत्यन्त शून्य होकर उन सामग्रियों-का सद्व्यवहार करते हुए अन्तर्हृदयसे, निष्कपट हो-कर भगवत्कृपा बिना अपनेको अकिञ्चन, महादरिद्र अनुभव करे। क्योंकि वेद, शास्त्र, पुराण, सद्ग्रन्थ, ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा—सब-के-सब एक स्वरसे भगवान्को 'दीनबन्धु' ही कहते आ रहे हैं और यही भगवान्की भगवत्ता है। समृद्धिशालियोंको बन्धुओंकी कमी नहीं। संसारमें बन्धुहीन कोई हैं तो अकिञ्चन दरिद्र ही हैं। जिसके कोई नहीं, जिसको कुछ भी नहीं, यदि अपार करुणासिन्धु भगवान् उसके नहीं हो रहें तो उनमें और साधारण जीवमें अन्तर ही क्या रहा ?

मेरी समझमें भगवन्नाम दीन, अकिञ्चनोंका ही परम धन है और हो सकता है। अपने बल, शक्ति और पौरुषमें विश्वास रखनेवालोंका नहीं। जबतक अपने कड़ुए अनुभवद्वारा जीव अपनी क्षुद्रता और अकर्मण्यता भलीभाँति नहीं जान लेता, तबतक उसको क्या पड़ी है कि वह 'रा+म' इन दो अक्षरोंको सच्चे हृदयसे अपना उद्धारक और तारक समझे ! अतएव नाम-साधनसे पूरा लाभ वही उठा सकता है जो अपने उद्धारमें अपनी असमर्थताका अनुभव करने लगा है। तभी तो सङ्कीर्तन-यज्ञ-भुक्, उसकी प्रतिष्ठा-स्वरूप, कलिपावनावतार, स्वयं भगवान् महाप्रभु भगवच्छ्रीकृष्ण-चैतन्यदेवने स्पष्ट शब्दोंमें उपदेश किया था कि—

'तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥'

भगवन्नाममहौषधिके अनुपानस्वरूप सच्चा विनय, सच्ची निरभिमानता तथा सच्ची कष्टसहिष्णुताके बिना उस महौषधिका सेवन कम-से-कम आशु फलप्रद नहीं होता। भवरोगकी इस महौषधिसे तभी पूरा-पूरा और शीघ्र लाभ होता है जब कि श्रीमन्महाप्रभु-रूपी

धन्वन्तरिकी आज्ञानुसार सच्ची दीनता, दुःख-सहिष्णुता और अमानित्वका पूरा-पूरा विकास मानव-हृदयमें हो जाय ।

दूसरी बात यह है कि—

'सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर ! नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम'

'भाव कुभाव अनख आलसहूँ । नाम लिये मङ्गल दिशि दशहूँ ॥'

इन महाजनी उक्तियोंका ऐसा अर्थ करके उसके अनुसार चलना कि संसार-तारकता और माङ्गलिकता भगवन्नामके यदि वस्तुगुण हैं तो बिना आदर, सद्भाव और श्रद्धाके भी जपने और कीर्त्तन करनेसे भगवन्नाम लाभ-प्रद होगा ही । इसकी कोई आवश्यकता नहीं कि श्रद्धा, आदर और नियमितता इत्यादि सद्भावोंको अपने हृदयमें जगानेका प्रयास किया जाय । यह एक नामापराध है । इसमें सन्देह नहीं कि चुम्बकमें लोहेको अपनी ओर खींच लेनेकी शक्ति मौजूद है परन्तु जबतक लोहेमें मल लगा हुआ है तबतक चुम्बककी आकर्षणी शक्ति उसपर काम नहीं कर सकती, परन्तु इससे यह समझ लेना भारी भूल है कि चुम्बकमें आकर्षणी शक्ति है ही नहीं । शक्ति तो है, परन्तु उसके क्रियाशील होनेके लिये, उसके प्रयोगके लिये लोहेको मल-मुक्त कर लेना परमावश्यक है । उसी प्रकार भगवन्नामकी अमोघ शक्तिके क्रियाशील होनेके लिये हृदयसे अश्रद्धा, उच्छृङ्खलता, पापमें प्रवृत्ति इत्यादि विकट मलोंको निकाल फेंकना अनिवार्य है । उसके पूर्व भगवन्नामकी उपयोगिताका अनुभव बड़ी कठिनतासे होगा । पूछा जा सकता है, फिर इसका क्या उपाय है ? श्रीशुकाचार्यने इसका भी उत्तर दे रक्खा है—

'सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥'

निष्कर्ष यह निकला कि सत्सङ्ग अर्थात् सत्पुरुष, अनुभवी, यथार्थ भक्तोंका सङ्ग ही जीवके कल्याणकी पहली सीढ़ी है, परन्तु यह भी प्रभुकी निर्हेतुक कृपासे ही प्राप्य है । अतएव हमलोग हरिनाम लेते हुए श्रीब्रह्माजीकी निम्न उक्तिके अनुसार ही वर्तनेकी चेष्टा करें । बस, एकमात्र प्रभुकृपा ही उपाय है, दूसरा नहीं ।

'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥'

बोलो, श्रीप्रभुकृपाकी जय ! जय !! जय !!!

चार दिननकी चाँदनी, यह सम्पति संसार ।
'नारायन' हरि-भजन कर, यासौं होइ उबार ॥
तेरै भावैं कछु करौ, भलो बुरो संसार ।
'नारायन' तू बैठिकै, अपनो भवन बुहार ॥
बहुत गई थोरी रही, नारायन अब चेत ।
काल-चिरैया चुगि रही, निसदिन आयू खेत ॥

विवेक-वाटिका

मैं कौन हूँ ? कितना हूँ ? और कैसा हूँ ? इस बातको जानते अथवा न जानते हुए भी जो अनन्य भावसे मेरा भजन करते हैं, मेरी सम्मतिमें वे मेरे परम भक्त हैं।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

जो मूढ लोग बाहरकी कामनाओंमें लगे रहते हैं, वे विषयासक्त पुरुष आधि-व्याधिरूपसे फैले हुए मृत्युके पाशमें बँधते हैं। इसलिये धीर पुरुष नित्य अमृततत्वको जानकर अनित्य वस्तुओंकी इच्छा नहीं करते। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले भोग विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासनेपर भी वस्तुतः आदि-अन्तवाले और दुःखके ही हेतु हैं। अतएव हे अर्जुन ! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें प्रीति नहीं करते। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

शान्त स्वभाव रहो, किसीके द्वारा अपनेपर कैसा भी दोष लगाये जानेपर भी अपने मनको मत बिगाड़ो।

—भगवान् बुद्धदेव

❀ ❀ ❀ ❀

जो लोभी विषयोंकी आशाके दास बने हुए हैं, वे तो सभीके गुलाम हैं। जिन्होंने भगवान्में विश्वास करके आशाको जीत लिया है, वे ही भगवान्के सच्चे सेवक हैं।

—गो० तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

बाहरी स्वांगमें और सच्चे साधुमें उतना ही अन्तर है जितना पृथिवी और आकाशमें ! साधुका मन राममें लगा रहता है और स्वांगधारीका जगत्के विषयोंमें।—महात्मा दादूजी

❀ ❀ ❀ ❀

जो फलके लिये भगवान्की सेवा करते हैं और मनसे कामनाका त्याग नहीं करते, वे चीजका चौगुना दाम चाहनेवाले लोग सेवक नहीं हैं। —कबीरजी

❀ ❀ ❀ ❀

जिसका मन परमात्मामें रहता है, परमात्मा उसकी सँभाल रखते हैं। —राल्फ वाल्डो ट्राइन

❀ ❀ ❀ ❀

मनुष्य जब किसी उत्तम कार्यमें लग जाता है, तब उसके नीची श्रेणीके कार्य दूसरे लोग आप ही सँभाल लेते हैं। इसी प्रकार मनुष्य ज्यों-ज्यों अपने ध्येयकी ओर आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसके सांसारिक और शारीरिक कार्य कुदरतके नियमसे उलटे अच्छी तरह होने लगते हैं।

—स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

जिस विद्यासे लोग जीवन-संग्राममें शक्तिमान् नहीं होते, जिस विद्यासे मनुष्यके चरित्रका विकास नहीं होता और जिस विद्यासे मनुष्य परोपकारप्रेमी और पराक्रमी नहीं बनता, उसका नाम विद्या नहीं है। —स्वामी विवेकानन्द

❀ ❀ ❀ ❀

बदला लेनेका खयाल छोड़कर क्षमा करना अन्धकारसे प्रकाशमें आना है और जीते-जी नरककी जगह स्वर्गका सुख भोगना है। —जेम्स एलन

❀ ❀ ❀ ❀

असली सत्त्वगुणी भक्त लोग रातको मसहरीमें पड़े-पड़े ध्यान किया करते हैं। लोग समझते हैं कि वे सोते हैं, परन्तु जिस समय सब लोग सोते हैं, उस समय वे परलोकका काम बनाया करते हैं। वे बाहरका दिखावा बिल्कुल ही पसन्द नहीं करते। —श्रीरामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀ ❀

इस जगत्में करोड़ों आदमी प्रभुके उपासक कहलाते हैं परन्तु सच्चे उपासक कौन हैं तथा प्रभु किनके साथ हैं ? जो ईश्वरसे डरकर चलते हैं तथा अपने स्वार्थका नाश करके भी दूसरोंका हित करते हैं, वे ही सच्चे उपासक हैं और भगवान् भी उन्हींके साथ हैं। —अबू इसाक इब्राहीम

❀ ❀ ❀ ❀

आन्तरिक रोगकी पाँच ओषधियाँ हैं। १-सत्संग, २-धर्मशास्त्रका अध्ययन, ३-अल्प आहार-विहार, ४-रातकी और प्रातःकालकी उपासना और ५-प्रत्येक कार्य मनकी एकाग्रता और पूरी शक्ति लगाकर करना।

—अहमद अन्ताकी

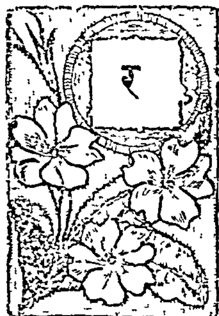
❀ ❀ ❀ ❀

जगत्की प्रभुता कैसी है जैसा सपनेमें मिला हुआ पराया खजाना। जागनेपर जैसे उस खजानेका कुछ भी नहीं रहता वैसे ही जगत्की प्रभुता भी वास्तवमें कुछ भी नहीं है। —सूरदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

भक्त-गाथा

भक्त रघु केवट



घु जातिका केवट था । श्रीजगन्नाथपुरीसे दस कोसपर बसे हुए पिपलीचटी गाँवमें रहता था । उसके घरमें बूढ़ी माँ और जवान पत्नीके सिवा और कोई न था । रघु रोज सवेरे उठकर जाल लेकर जाता और मछलियोंको पकड़कर उन्हें बाजारमें बेचता । जो पैसे मिलते, उनसे खाने-पीनेका सामान लेकर वह घर लौट आता । पूर्व-संस्कार अच्छे थे, इससे धीवर-जातिका होनेपर भी उसका मन बार-बार भगवान्‌की ओर खिंचता रहता और वह मन-ही मन बार-बार सर्वशक्तिमान् अनाथ-नाथ प्रभुका स्मरण किया करता ।

मछलियाँ जब उसके जालमें आतीं और तड़पने लगतीं, तब वह बड़े ध्यानसे उनकी ओर देखता । उसके मनमें दयाका सञ्चार होता, अपने कार्यपर ग्लानि होती परन्तु जीवन-निर्वाहका और कोई साधन न सोचकर वह इन भावोंको भुलानेकी चेष्टा करता । 'सभी तो ऐसा करते हैं, भगवान्‌ने मछलियोंको बनाया ही इसीलिये है, नहीं तो ये खानेके काममें क्यों आतीं । मछलियोंके स्पर्शेन्द्रिय नहीं होती, इससे इन्हें काटनेमें दुःख नहीं होता ।' इस तरहकी मछलीमारोंकी दलीलोंको यह मनमें लाता, परन्तु फिर भी उसे सन्तोष नहीं होता । धीरे-धीरे रघुके मनमें वैराग्य उत्पन्न होने लगा । उसने एक दिन एक सुयोग्य गुरुसे दीक्षा ली । तुलसीकी माला गलेमें पहन ली । रोज प्रातःकाल स्नान करके भगवान्‌के नामका जप करना, भागवत सुनना और सत्संग करना उसका काम हो गया । यों करते-करते उसका अन्तःकरण शुद्ध होने लगा, उसको स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि जीवमात्रमें भगवान् विराज रहे हैं । अब जीव-हिंसासे उसका मन बहुत ही हट गया । उसने पहले बहुत जीव-हिंसा की थी और अब भी जातिके नाते तथा उदर-पूरणार्थ उसे मन मारकर थोड़ी-बहुत हिंसा करनी ही पड़ती थी, इसके लिये उसके हृदयमें पश्चात्तापकी आग जल उठी । उसने सोचा 'मैं कितना बड़ा पापी हूँ, जिसका जन्म ही जीवोंको कष्ट पहुँचानेके लिये हुआ माना जाता है ।' वह एकान्तमें रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा—हाय दीनानाथ ! तुमने मुझे क्यों इस धीवर-जातिमें पैदा किया ? जीवहत्या ही मेरी जीविका है । हाय हाय ! मेरी क्या गति होगी ? बेचारी गरीब मछलियाँ, जब मैं उन्हें जालमें पकड़ता हूँ और काटता हूँ, तब कितनी व्याकुल होती हैं । मैं निर्दय ज़रा भी उनकी दशापर विचार नहीं करता । हे दयामय ! पता नहीं, मेरा कौन-से भयानक दुःखदायी नरकोंमें निवास होगा । क्या मेरे इस हिंसाकलुषित हृदयमें तुम्हारा निवास कभी नहीं हो सकता ? क्या तुम इस पापीपर दया नहीं कर सकते ? प्रभो ! तुम पतितपावन हो, कृपा करो, इस अधमको पापसे छुड़ाकर अपनाओ ।'

रघु पश्चात्ताप-भरे हृदयसे बार-बार इसी प्रकारकी करुण प्रार्थना करता । सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल होता है । रघुके अन्तःकरणमें दैवी भाव आ-आकर जुड़ने लगे । अब मछली पकड़नेका काम उसके लिये दूभर हो गया । धीरे-धीरे वह काम उससे छूट-सा गया । जीवोंके दुःखसे दुखी हुआ रघु अपने तथा परिवारके भूखों मरनेकी बातको भूल गया ।

कुछ दिन तो पहलेके सञ्चित अनाजसे रघुका काम चला; पर वह सञ्चय था ही कितना ? थोडे ही दिनोंमे भोजनका अभाव हो गया । उपवास होने लगे । परन्तु उपवासपर कितने दिन मनुष्यका जीवन टिक सकता है ? घरमें त्राहि-त्राहि मच गयी । रघु पेटकी ज्वाला और माता तथा पत्नीके तिरस्कारसे जलने लगा । माता तथा पत्नीका दु ख उसके हृदयको पिघलानेमें कारण हो गया । बेचारा क्या करता । हारकर उसने वज्र-सा हृदय करके जाल उठाया और चला तालाबकी ओर। मनमें बडा ही कष्ट हो रहा था— उसने भगवान्से मन-ही मन कहा—'हाय प्रभु ! क्या इस अधम केवटके लिये जीवन-निर्वाहका दूसरा कोई धन्धा नहीं हो सकता ? हे दीनबन्धु ! मै क्या करूँ ? मुझे अपनी फिक्र नहीं है—वृद्धा माता और निरपराधा अबला स्त्रीका दु ख मुझसे नहीं देखा जाता । उनका त्याग भी मै होश रहते कैसे कर दूँ ? आपने ही तो शास्त्रोमे परिवारके भरण-पोषणकी आज्ञा दी है । हमलोगोंका भरण-पोषण जीवहिंसा बिना होता नहीं, अब मैं क्या करूँ ?'

यों प्रार्थना करते करते रघु एक तालाबपर पहुँचा और इच्छा न रहनेपर भी माता और स्त्रीके दु खसे दु खी होनेके कारण उसने भगवान्का नाम लेकर जाल पानीमें फेंका । कुछ देरमें जालमें एक बडी-सी लाल मछली आकर तडपने लगी । उसे तडपते देखकर रघुके दु खका पार नहीं रहा । वह सिरपर हाथ रखकर सोचने लगा—'हाय मै बडा पापी हूँ । पापी पेटके लिये जीवोंको कितना दु ख देता हूँ ।' इतनेमें ही उसको यह बात याद आ गयी कि सभी जीवोंमें भगवान् व्याप्त हैं । वह भावमग्न हो गया । उसे मछलीमें भगवान् दीखने लगे । उसने कहा, 'यह तो शंखासुरको मारनेवाले साक्षात् मत्स्य भगवान् हैं, भला इनका वध कोई कैसे कर सकता है ?' इसी अवसर-पर फिर उसी भूखी मा और स्त्रीकी करुणमूर्ति मानो उसकी आँखोंके सामने आ गयी । वह उनके दु खको देखकर व्याकुल हो गया । उसने दृढ हृदयसे मछलीको जालसे बाहर निकाला और सूखी जमीनपर डालकर कहने लगा—'हे मत्स्यरूपधारी ! मेरे दु खकी एक बात सुन ! मैं धीवर हूँ, मछली मारना मेरा स्वभाव है, वह किसी प्रकार बदलता नहीं । इसीसे आज तुझे मारना पडता है । तू चाहे मत्स्यावतार लेनेवाला हरि हो या और कोई; मेरे हाथसे आज बच नहीं सकता । मेरा यह स्वभाव तैंने ही बनाया है और तुझ-सरीखे जीवोंको मारकर पेट भरनेकी व्यवस्था भी तो तेरी ही की हुई है ।'

इतना कहकर रघु दोनों हाथोंसे जोरसे मछलीका मुँह फाडने लगा । उसी समय एक अद्भुत चमत्कार हुआ । रघुको उसके अन्दरसे स्पष्ट सुनायी दिया—'रक्षा कर, नारायण रक्षा कर' रघु चकित हो गया। उसका मन बदल गया, अपूर्व आनन्दसे उसका हृदय भर गया । वह मछलीको उठाकर गहन वनकी ओर चला । वहाँ एक पहाड था । पहाड़मेंसे छोटे बडे सैकडों झरने बह रहे थे । उन झरनोंके जलसे वहाँ बहुत-से जलके कुण्ड भरे थे । रघुने वहाँ जाकर एक बडे-से कुण्डमें मछलीको छोड दिया । जलके मिलनेसे मछलीको जितना आनन्द हुआ, उससे कहीं अधिक आनन्द और सन्तोष रघुको हुआ । रघु भगवान्के प्रेममें पागल-सा हो गया, वह इस बातको भूल गया कि मैं माता और स्त्रीको भूखसे तड़पती हुई घरमें छोड़कर आया हूँ । रघु वहीं बैठ गया और हाथ जोडकर कहने लगा—'मछलीके अन्दरसे यह प्रिय नारायणका नाम मुझको किसने सुनाया ? वह एक बार मुझे दर्शन क्यों नहीं देता ? केवल शब्द-रूप दर्शनसे ही काम नहीं चलेगा । साक्षात् अपनी दिव्य मूर्तिके दर्शन कराने पडेंगे । तुम्हारे अमृतमय स्वरोंको सुनकर मैं

समझ गया हूँ कि तुम बहुत ही सुन्दर हो, अब तुम कृपा करके अपनी असीम सौन्दर्यमयी छबि मुझे शीघ्र दिखलाओ। एक बार तो दिखला ही दो, मैं यह प्रण करता हूँ कि बिना तुम्हारा दर्शन पाये मैं यहाँसे नहीं उठूँगा।' इसप्रकार कहकर रघु 'नारायण' मन्त्रका जप करने लगा। तीन दिन बीत गये परन्तु रघु नामस्मरणमें इतना अधिक तल्लीन था कि उसे समयका कुछ पता ही नहीं लगा। रात-दिन भूख-प्याससे बेखबर रघु नारायणके ध्यानमें तन्मय हो गया। अन्तर्यामी भगवान्‌से कुछ भी छिपा नहीं रहता। वे भावके भूखे हैं। जहाँ असली भाव देखते हैं, वहीं चले आते हैं। आज 'नारायण' एक वृद्ध ब्राह्मणके रूपमें रघुके सामने प्रकट होकर रघुको पुकारकर कहने लगे—'अरे तपस्वी! तू कौन है? इस घोर वनमें अकेला किस बातके लिये तपस्या कर रहा है, तेरा नाम क्या है? तू किस जातिका है और कहाँ रहता है? यहाँ कबसे और क्यों बैठा है?'

भगवान्‌के वचन सुनते ही रघुकी आँखें खुल गयीं। उसने अपने पास एक वृद्ध ब्राह्मणको खड़े देखकर प्रणाम करके कहा—'ब्राह्मण देवता! आपके चरणोंमें यह दास प्रणाम करता है। मैं कौन हूँ, क्यों बैठा हूँ, इन सब बातोंके जाननेसे आपको क्या प्रयोजन है? आप अपने कामसे पधारिये। बातें करनेसे मेरे कार्यमें विघ्न पड़ता है, अतः क्षमा कीजिये।' रघुकी बात सुनकर ब्राह्मणवेशी भगवान्‌ने कहा—'भाई! मैं तो चला जाऊँगा, परन्तु तू इतना तो विचार कर, कहीं मछलीके अन्दरसे भी कोई बोल सकता है? मछलीकी बोली भी तो मनुष्यकी-सी नहीं। तुझे भ्रम हो गया होगा। जब कोई चीज ही नहीं, तब दर्शन किसके होंगे? तू यहाँ व्यर्थ ही क्यों बैठा है?' 'रघुको ब्राह्मणके वचन सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने सोचा, 'इन्होंने मछलीकी घटना क्योंकर जान ली, यदि जान ही ली तो फिर यह ऐसी बातें क्यों कर रहे हैं? शायद मेरी परीक्षा कर रहे हों।' कुछ सोचकर रघुने कहा—'महाराज! मैं क्या इस बातको जानता नहीं कि एक प्रभु ही सब जीवोंमें व्याप्त हैं। व्याप्त ही क्यों, वही अनेक रूपोंसे प्रकट हो रहे हैं। माना कि मैं बड़ा पापी हूँ। जीवोंके खूनसे मेरे हाथ और मेरा हृदय रँगा हुआ है, पर क्या मुझ-जैसे पापीपर भगवान् दया नहीं करते? आप कहते हैं मछलीकी बोली मनुष्यकी-सी नहीं, सो ठीक है। परन्तु यह तो बतलाइये, मछलीके शरीरमेंसे कौन बोल रहे हैं? वह बोलनेवाले तो मेरे प्रभु ही हैं। वे कौन-सी बोली नहीं बोल सकते? क्या आप मेरी परीक्षा कर रहे हैं? प्रभो! कृपा करके मुझे ऐसा उपाय बताइये जिससे मुझे उन सर्वव्यापक करुणामय भगवान् नारायणके प्रत्यक्ष दर्शन हों। आप ही तो वे नारायण नहीं हैं, जो मुझे छल रहे हैं? नाथ! प्रकट होइये, अब क्यों इस अधमको तरसाते हैं?

भक्तकी अचल भक्ति देखकर भगवान् बहुत ही प्रसन्न हुए। उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये और रघु केवटको कृतार्थ करनेके लिये वे गम्भीरस्वरसे बोले—'बेटा रघु! तेरी एकनिष्ठाको धन्य है। मैं तेरे लिये ही वैकुण्ठको छोड़कर यहाँ निर्जन वनमें दौड़ा आया हूँ। मैंने ही मछलीके अन्दरसे तुझे 'नारायण' नाम सुनाया था—बता, अब तुझे विश्वास हुआ या नहीं?'

रघुने कहा—'भगवन्! आप जो कुछ कहते हैं सो सत्य है, परन्तु मैं निपट निर्बोध हूँ। मुझे अभी आपकी भक्तिके प्रतापसे वे दिव्य नेत्र नहीं मिले हैं कि मैं प्रत्येक रूपमें आपको पहचान सकूँ। मेरे सामने तो आप अपने उसी शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-धारी चतुर्भुज स्वरूपसे प्रकट होइये। हे दयानिधे! मैं अन्धा हूँ, पाप-कलुषित-हृदय हूँ; मुझे भक्तिरूपी आँखें दीजिये और परदा उठाकर अपने दिव्य दर्शन

कराइये । आपने मछलीके वेशमें दर्शन देकर मुझे अपने घर-बार, कुटुम्ब देश, आहार-निद्रा आदिके बन्धनसे छुडा दिया । अब ब्राह्मण-वेशमें दर्शन देकर क्या प्राण भी छुडाना चाहते है ? अच्छी बात है, जबतक आपके वैकुण्ठविहारी स्वरूपके दर्शन नहीं होंगे, तबतक मै अन्न, जल ग्रहण नहीं करनेका । हे करुणामय ! जब आपने स्वाभाविक करुणाकी प्रेरणासे जाति, कुल, शौच, सदाचार और पुण्य आदि-का विचार न करके इस अधमको अपनालिया है, तब फिर अपनी भुवनमोहिनी मूरतिके दर्शन करानेमें क्यों हिचकते हैं ?' यों कहते-कहते रघु भगवान्‌के चरणोंमें लिपट गया ।

भक्तकी प्रेमभरी वाणी सुनते ही भगवान्‌ने अपने दिव्य चतुर्भुज स्वरूपसे प्रकट होकर उसे दर्शन दिये और वर माँगनेके लिये कहा । भक्तवत्सल भगवान्‌के दिव्य दर्शन पाकर रघु कृतार्थ हो गया । मुग्ध हृदयसे वह टकटकी लगाये दिव्य रूपसुधाका पान करने लगा । वरदान क्या माँगे ? उसने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहाते हुए गद्‌गद्-वाणीसे कहा—'अहा ! मै बहुत ही बडभागी हूँ । मेरे समान भाग्यवान् जगत्-में दूसरा कौन है ? देवता भी जिनके दर्शनको तरसा करते हैं वे ही वैकुण्ठनाथ प्रभु आज मुझ अधम हिंसाजीवी धीवरके लिये कुश-कण्टकोंसे भरे इस घोर जङ्गलमे खड़े हैं । इससे बढकर दया और क्या हो सकती है ? धन्य है प्रभु आपकी करुणाको और भक्त-वत्सलताको ! अब मेरे लिये और क्या माँगना और पाना बाकी रह गया ? आप आशीर्वाद दें जिससे मेरा हृदय निरन्तर आपके ध्यानमे ही तल्लीन रहे और ये नेत्र सदा सर्वदा सर्वत्र आपकी दिव्य मूर्तिके दर्शन किया करें ।'

भगवान्‌ने और भी वर माँगनेको कहा । अब वेचारा रघु क्या करे ? उसने सोचा, भक्ति तथा भगवान्‌के दर्शनसे बढकर वरदान और क्या हो सकता है ? ये दोनो चीजें तो भगवान्‌ने दया करके दे ही दीं । अब क्या माँगूँ ? हाँ, मेरा जीव-हिंसाका स्वभाव पलट जाय, यह बात आवश्यक है । यद्यपि आज मेरे मनमे जीव हिंसाकी भावना भी नहीं है, परन्तु जाति-स्वभाव तथा पूर्वाभ्याससे कदाचित् फिर कभी कोई कुकर्म बन जाय, इसलिये यह स्वभाव ही बदल जाना चाहिये । यह सोचकर उसने कहा—'प्रभो ! माँगनेको तो कुछ भी नहीं रह गया—परन्तु आपके आग्रहसे मैं एक बहुत छोटी-सी चीज माँगता हूँ । जाति-का धीवर होनेके कारण मछली मारना ही मेरा पैतृक स्वभाव है । हमलोगोंको दूसरी बात सूझती ही नहीं । जो बेचारे भूले हुए लोग आपके नामपर या आपकी ही मातृ-मूर्ति जगज्जननीके नामपर यज्ञ या पूजामें मूक पशुओंको मारते हैं, वे तो कामनाके वशीभूत हो वह पापाचरण करते हैं । वे इस बातको भूल जाते हैं कि अपना ही अग काटनेसे ही कोई प्रसन्न होता हो तो भगवान् भी जीवोंकी हत्यासे प्रसन्न हो सकते हैं । इसीलिये वे जीव-हत्या करते हैं । परन्तु हमलोगोंका तो धन्धा ही ऐसा है। प्रभो ! मेरा यह स्वभाव ही छूट जाय; भोजनके लिये मुझे कभी जीव-हिंसा न करनी पडे और अन्तकालमें यह जीभ आपका नाम रटती रहे तथा उस समय आपके दिव्य स्वरूपको नेत्रोंके सामने देखते ही देखते मेरे प्राण निकलें । बस, यही वरदान दीजिये ।' भगवान्‌ने भक्त रघुके मस्तकपर हाथ रखकर 'तथास्तु' कहा । भक्त हरि हरि पुकारता हुआ बेसुध हो गया । भगवान् भी अन्तर्धान हो गये ।

प्रभुके अन्तर्धानसे भक्तको एक बार तो बड़ा दुःख हुआ; परन्तु उसको तो अब सर्वत्र ही प्रभु दीखने लगे । जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सोना हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌के स्पर्शसे रघु आनन्दमय बन गया । वह हरिका नामोच्चारण करता हरिमय बना हुआ

भगवान्‌की प्रेरणासे घर पहुँचा। घरपर पहुँचते ही गाँवके लोगोंने उसे कोसना शुरू किया। लोग कहने लगे—'तू बड़ा ही मूर्ख और निर्दयी है। बेचारी अबलाओंको छोड़कर कहाँ मरने चला गया था? हरि-हरि चिल्लाता है; देखेंगे हरि तेरा पेट भर देंगे। बेचारे जमींदार साहेब न होते तो ये दोनों स्त्रियाँ भूखों मर जातीं। तेरे मनमें जरा भी दया नहीं है। देख तो सही, तेरे लिये रोते-रोते इन अबलाओंकी क्या दशा हो गयी है।' रघुने ईश्वरको धन्यवाद दिया। उसने सोचा, मैं घरमें रहता तो जमींदार साहेब मुझे कभी पूछते भी नहीं। मेरे पीछेसे उन्होंने दोनों अबलाओंके लिये अन्नका यथेष्ट प्रबन्ध कर दिया, यह सब मेरे प्रभुकी प्रेरणासे ही हुआ है। रघुने किसीकी बातका कोई जवाब नहीं दिया। लोग अपने-अपने मनका उभारा निकालकर वहाँसे चले गये। रघुने माताके चरणोंमें प्रणाम किया। माता और पत्नी खोये हुए प्यारे पुत्र और पतिको पाकर आनन्दसे अधीर हो गयीं। रघु हरि-स्मरण करने लगा और उन्हें भी भगवान्‌का नाम जपनेके लिये कहा। रघुका इस समय पूरा परिवर्तन हो गया था। माता और पत्नीपर भी उसके वचनोंका बहुत प्रभाव पड़ा। वे भी श्रीभगवान्‌के नामका जप करने लगीं।

रघु प्रतिदिन बहुत सवेरे उठकर शौच-स्नान करता और भगवान्‌का भजन करता। फिर कीर्तन करता हुआ गाँवमें घूमता। किसीसे कुछ भी माँगता नहीं। परन्तु लोग स्वाभाविक ही उसकी ओर आकर्षित होकर उसे बुला-बुलाकर देना चाहते। यह उस अन्तर्यामीकी ही प्रेरणा थी। रघुको प्रतिदिन बिना माँगे तीनोंके भोजन-जितनी सामग्री अनायास मिल जाती। रघु उसे ले जाकर माताको दे देता। पुत्रको इसप्रकार उस छोटे-से गाँवमें प्रतिदिन बिना माँगे आवश्यक भोजन-सामग्री मिलते देखकर माताके मनमें बड़ा आश्चर्य होता। आनन्द भी होता। माता और पत्नी मिलकर भोजन बनातीं। ठाकुरजीके भोग लगाकर प्रसादरूपमें तीनों उसे पाकर प्रसन्नतापूर्वक भगवान्‌का भजन करते।

(शेष आगे)

कान्त कल्पना

(लेखक—पु० श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न')

(१)

अखिलानन्द-कन्द-रघुनन्दन! हे जगवन्दन! विश्वाधार!
अपरम्पार! तुम्हारा अबतक पाया नहीं किसीने पार।
जो चाहो सो कर सकते तुम मनमानी घरजानी नाथ!
सभी शक्तियोंको, नियमोंको रखते हो तुम अपने हाथ॥

(२)

बहुत बड़े पर्वतको पलमें करते तुम परमाणु-समान!!
तुम्हीं बना देते हो स्वामिन्! लघुतम अणुको शैल महान!!
भला बुरा कैसा ही हो वह, करते हो जो कुछ तुम काम—
वही न्याय है, वही कर्म है, वही धर्मका मर्म ललाम॥

(३)

लीला करते रहते हो तुम अपनी इच्छाके अनुसार।
शङ्काधार हो गया इससे है मेरा यह एक विचार।
जो तुम रूठ गए तो मैं फिर किसे बनाऊँगा भगवान?
मेरा कौन सहायक होगा, कौन करेगा मेरा मान?

(४)

इससे नाथ! अभी तुम कर दो एक और ईश्वर-निर्माण,
क्योंकि इस समय तुम ईश्वर हो, सभी सिद्धियोंकी हो खान।
हूँ मैं सच्चा भक्त तुम्हारा और भक्तके हो तुम वश्य—
इससे तुमने इस इच्छाको कर दी होगी पूर्ण अवश्य॥

(५)

मेरे भी अब दो ईश्वर हैं, सुनिए मेरी लीलाधाम!
एक तुम्हीं हो और दूसरा एक तुम्हारा ही है नाम।
भक्तिभावसे भजकर उसको पाऊँगा मैं पद निर्वाण।
निराकार तुम, महा-कठिन है नाथ! तुम्हारा होना ज्ञान॥

दो सन्त पुरुषोंका देहत्याग

वयोविद्यावृद्ध सन्तोंका इधर कुछ समयसे भारतवर्षमें लगातार देहावसान हो रहा है। यद्यपि इस असार संसारमें कुछ भी सार नहीं है, अनित्य और क्षणभंगुर देहका नाश अवश्यम्भावी है परन्तु इस समय कुछ ऐसी दशा हो रही है कि जगत्‌की दृष्टिसे, जो जाता है उसकी स्थानपूर्ति करनेवाला कोई नहीं दिखायी पड़ता। गत मासमें ऐसे दो पुरुषोंका देहपात हो गया। एक थे हृषीकेशके सन्त श्रीकल्याणदेवजी महाराज और दूसरे पूनाके पण्डित विष्णुशास्त्रीजी बापट। स्वामी कल्याणदेवजी बरसोंसे हृषीकेशमें निवास करते थे और बहुत ही अच्छे साधु समझे जाते थे। इधर शास्त्रीजी महाराज तो एक दृष्टिसे सनातन-धर्म और शंकरसम्प्रदायके स्तम्भ-से थे। शास्त्रीजीने स्वामी प्रज्ञानन्दजीसे वेदान्तकी शिक्षा पायी थी—और लगभग ८० ग्रन्थोंका मराठी भाषान्तर किया था। भगवान् शंकराचार्यके अधिकांश ग्रन्थोंका मराठी भाषान्तर आपने किया है और यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न भाषाओंके भाषान्तरोंमें इनके भाषान्तर सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। आचार्यके कट्टर अनुयायी होनेके कारण इन्होंने लोकमान्य तिलकके गीता-रहस्यके खण्डनमें रहस्य-परीक्षण नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा है जिसमें भाष्यके अनुवादके साथ ही गीता-रहस्यकी समालोचना की गयी है। शास्त्रीजी मराठी भाषामें 'आचार्य और वर्णाश्रम-धर्म' नामक एक सनातन धर्मका पाक्षिक पत्र निकालते थे। इस पत्रमें उनके सनातन-धर्मपर मार्मिक लेख रहते थे। इसके सिवा आप 'आचार्य-कुल' नामक एक संस्था चलाते थे, जिसमें प्राचीन पद्धतिके अनुसार श्रीशंकराचार्यके सिद्धान्तानुकूल प्रस्थानत्रयीकी नियमित शिक्षा दी जाती थी। एक वर्ष पूर्व इन्हें लकवा हो गया था। परन्तु इनकी लगन अपूर्व थी। शिक्षा, स्वाध्याय और ब्रह्म-चिन्तनका कार्य इनका बन्द हुआ ही नहीं। रोगकी अवस्थामें ही इन्होंने ईश्वरांकके लिये लेख लिखा था। आचार्यकुलका सञ्चालन और आचार्यका सम्पादन बराबर जारी था। मृत्युके दिन भी प्रातःकाल आपने शिष्योंको पाठ दिया और पत्रका प्रूफ देखा था। स्नान करनेके समय दो लोटे जल इन्होंने शरीरपर डाले। इतनेहीमें लोटा हाथसे गिर पड़ा और इनके आधे अङ्गपर लकवा मार गया, इसी दिन, दुपहरको इनका देहावसान हो गया। ऐसे कार्यक्षम कर्तव्यपरायण सिद्धान्ती पुरुष जगत्‌में बिरले ही होते हैं। 'कल्याण' पर इन दोनों महानुभावोंकी बड़ी कृपा थी और हर तरहसे ये सदा निष्काम सहायता करते रहते थे।



पण्डित विष्णुशास्त्रीजी बापट

ऐसे पुरुषोंके देहावसानसे हमलोगोंको चेतना और भगवान्‌के स्मरणमें अधिकाधिक चित्त लगाना चाहिये।

'नारायन' निज हियेमें, अपने दोष बिचार।
ता पीछे तू औरके, औगुन भले निहार॥



राम-रावण-युद्ध

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७	गोरखपुर, फाल्गुन १९८९ मार्च १९३३	संख्या ८ पूर्ण संख्या ८०

राम राम

रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत ।
सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत ॥
बिनु श्रम कलि-कलुष-जाल कटु कराल कटत ।
दिनकरके उदय जैसे तिमिर-तोम फटत ॥
जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत ।
बाँधिबेको भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत ॥
परिहरि सुर-मुनि सुनाम गुञ्जा लखि लटत ।
लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहिं हटत ॥

—गो० तुलसीदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके उपदेश

कुछ भी हो, बिना संयमके कुछ भी नहीं हो सकता। संयमके द्वारा ही दिव्य-दृष्टिकी प्राप्ति होती है। संयमरहित जीवन व्यर्थ है। दृढ अभ्यासकी निरन्तर आवश्यकता है। शिथिल अभ्याससे कुछ नहीं होनेका। सावधान चित्तसे निरन्तर अभ्यासमें लगे रहो। यह पुस्तकी विद्या नहीं है। यह अनुभवका पथ है।

× × ×

प्रकृतिकी आदिम उच्छृङ्खल अवस्था और नरकका गम्भीरतम हाहाकार चाहे क्यों न हो, चाहे प्रलय हो रही हो, समुद्र सूख रहा हो, पहाड़ टूक-टूक हो रहे हों, विश्वकी प्रत्येक चीजोंमें, अपने नाशके लिये—घोर संग्राम क्यों न छिड़ा हो, आत्मदर्शीके चित्तमें किसी प्रकारका भी विकार नहीं उत्पन्न होता।

× × ×

अभ्यासके द्वारा चित्तको शान्त करो, विषयोंका चिन्तन करना मनको आहार प्रदान करना है। सकल्पपुरके पदार्थ-स्मरणसे ही पतन हो जाता है।

मनोराज्यकी कामिनीके स्मरणमात्रसे भी मनमें विकार उत्पन्न हो जाता है। इसीलिये गीतामें कहा है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

× × ×

किसीके सम्बन्धमें स्मरण करना, विचार करना उसका संग करना है। संगसे वस्तु समीपताका रूप धारण कर लेती है। संगका त्याग करनेसे त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं।

चित्तमें शुभ विचारोंको भरो, शुभ विचारोंके साथ खेल करो। उसके साथ जीवन बिताओ।

सारा अभ्यास मनसे सम्बन्ध रखता है। भगवत्तत्त्व समझनेके लिये मनका अभ्यास अपेक्षित है। केवल शारीरिक तपसे कुछ नहीं होगा। शारीरिक तपसे देह-बुद्धि कम होती है। देहकी आसक्ति कम होती है, यह स्थूल चित्तवालोंके लिये है।

वाणीका तप भी आवश्यक है। प्रायः लोग अभ्यासमें वाणीकी साधना भूल जाते हैं। मैं तो कहता हूँ केवल 'सत्य भाषण' से ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। किन्तु सत्यमें सरलता भी निहित है। सरलता सत्यसे पृथक् नहीं।

ऐसे अभ्यासकी आवश्यकता है, जिसमें वाणीका उद्वेग न हो। जिस वाणीमें कटुता है, उद्विग्नता है, चञ्चलता है, वह वाणी अभ्याससे रहित है। जो व्यक्ति वाणीद्वारा चित्तमें विक्षोभ पैदा कर देता है वह सत्यके यथार्थ स्वरूपसे बहुत दूर चला जाता है।

इसलिये आवश्यकता है कि यदि किसीको समझाया भी जाय तो मधुर वाक्योंसे ही समझाया जाय। यदि शत्रुको किसी प्रकारकी सूचना देनी हो तो मीठे शब्दोंसे ही सूचना देनी चाहिये।

शारीरिक तपद्वारा देह-बुद्धिका नाश कर दो। वाणीके तपद्वारा सरलता, सुशीलता, पवित्रता एवं मधुरता आदि कोमल एवं शान्त सद्गुणोंकी प्राप्ति करो।

मानस तपद्वारा मनमें भरे हुए सारे संकल्पोंका नाश कर दो। सारी वासनाओंका क्षय कर दो। कोई भी वासना क्यों न हो, उसका तिरस्कार कर दो। वासनारत मनुष्योंके संसर्गमें भी मत जाओ।

× × ×

जिसे राग है, भय है, अपमानका खयाल है, वह साधु, भक्त, ज्ञानी नहीं कहा जा सकता।

प्रतिकूलताका नाश

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)



प्रतिकूलताके अनुभवमें ही दुःख है, अतएव दुःखोंके आत्यन्तिक अभावके लिये प्रतिकूलताका त्याग करना चाहिये । इसके लिये भक्ति और ज्ञान ये दो उपाय हैं एवं दोनों ही उत्तम हैं । अधिकारी-भेदके अनुसार ज्ञानियोंके लिये ज्ञानयोग और भक्तोंके लिये कर्मयोग भगवान्‌ने (गीता अध्याय ३ श्लोक ३ में) बतलाया है । तथापि ज्ञानकी अपेक्षा सर्वसाधारणके लिये भक्तिका उपाय ही सुगम है । ईश्वर-भक्तिके प्रतापसे सम्पूर्ण दुःखोंके मूल प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है । ईश्वर-भक्तकी किसी भी जीवमें और किसी भी पदार्थमें प्रतिकूलता नहीं रहती, क्योंकि वह समझता है कि ईश्वर ही सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान हो रहे हैं, अतएव किसीसे भी द्वेष करना परमेश्वरसे ही द्वेष करना है । इसके अतिरिक्त वह सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें भी ईश्वरकी अनुकूलताका ही दर्शन करता है। इस हालतमें वह किससे कैसे द्वेष करे ? जीवोंके कर्मोंके अनुसार ही उनके सुख-दुःख-भोगके लिये परमेश्वर सम्पूर्ण पदार्थोंको रचते हैं । जो पुरुष इसप्रकार समझता है, वह ईश्वरके किये हुए प्रत्येक विधानमें वैसे ही प्रसन्नचित्त रहता है, जैसे मित्रके किये हुए विधानमें मित्र और पतिके विधानमें उत्तम स्त्री रहती है । उत्तम पतिव्रता स्त्री पतिकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता जानती है । अर्थात् पतिकी अनुकूलता ही उसके लिये अपनी अनुकूलता है । पति जो भी कुछ भली-बुरी चीज लाता है अथवा जो कुछ भी चेष्टा करता है, वह उसीमें प्रसन्न रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌का भक्त भी, भगवान् जो भी कुछ करते हैं हमारे अच्छेके लिये करते हैं, यह समझकर उनकी की हुई प्रत्येक चेष्टामें, एवं पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें सदा प्रसन्नचित्त रहता है; यानी परेच्छा या अनिच्छासे जो भी कुछ अच्छे-बुरे पदार्थोंकी एवं सुख-दुःखोंकी प्राप्ति होती है वे सब ईश्वरकी इच्छासे होनेके कारण ईश्वरकी लीला हैं, इसप्रकार समझकर वह हर समय आनन्दमें मग्न रहता है । वस्तुतः पतिव्रता स्त्रीका उदाहरण भी ईश्वरके साथ लागू नहीं हो सकता । क्योंकि मनुष्यमें स्वार्थ रहता है, एवं ज्ञानकी कमी होनेके कारण उससे भूल भी हो सकती है किन्तु ईश्वर निर्भ्रान्त हैं, इसलिये उनकी लीला न्याय और ज्ञानसे पूर्ण है, और उसमें जीवोंका हित भरा हुआ है ।

विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो सांसारिक पदार्थोंमें होनेवाली अनुकूलता भी त्याज्य है, क्योंकि सांसारिक सुख क्षणिक, नाशवान् एवं परिणाममें दुःखरूप होनेके कारण सांसारिक अनुकूलतामें होनेवाला सुख भी वस्तुतः दुःख ही है । जहाँ संसारके पदार्थोंमें अनुकूलता होती है, वहीं उनके प्रतिपक्षमें प्रतिकूलता रहती है और जहाँ अनुकूलता प्रतिकूलता है, वहीं राग-द्वेष पैदा होते हैं। राग-द्वेषसे काम-क्रोधादि अनेक प्रकारके विकार उत्पन्न होकर महान् दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, अतएव सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंहीको अनन्त दुःखोंका कारण समझकर त्याग करना चाहिये । इसीलिये भगवान्‌ने गीता अ० १३ श्लोक ९ में लिखा है कि इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा-सर्वदा समचित्त रहना चाहिये ।

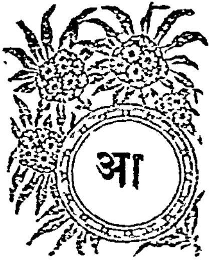
इसप्रकारकी समता ईश्वरकी शरण होनेसे अनायास ही प्राप्त हो जाती है । ईश्वर सुहृद् हैं, दयालु हैं, प्रेमी हैं और ज्ञानस्वरूप हैं, इसप्रकार समझने-

वाला पुरुष अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग करके केवल एक ईश्वरकी इच्छाके ही परायण हो जाता है। वह अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको ईश्वरके अर्पण कर देता है, ईश्वरकी कठपुतली बन जाता है। ईश्वर ज्यों कराता है त्यों ही करता है, अपनी इच्छासे कुछ भी नहीं करता एव ईश्वरके किये हुए विधानमें सदा-सर्वदा प्रसन्नचित्त रहता है। इसीका नाम शरण है।

सुखकारक पदार्थमें अनुकूलता और दु खकारक पदार्थमें प्रतिकूलता स्वभावसिद्ध है। विचार करनेसे ससारका कोई भी पदार्थ वास्तवमें सुखकारक नहीं है। परम आनन्दस्वरूप एव परम आनन्ददायक परम हितकारी केवल एक परमात्मा ही हैं, इसलिये वास्तवमें परमात्मामें ही अनुकूलता होनी चाहिये। जो इस रहस्यको समझता है वह परमात्माके अनुकूल बन जाता है और उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ परमात्माके अनुकूल हो जाती हैं। वह उन लीलामयकी प्रत्येक लीलामें उन लीलामयका दर्शन करता रहता है, इससे उसके लिये प्रतिकूलताका एवं सम्पूर्ण दु खोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह उन लीलामयकी लीलाको और प्रेमास्पद परमात्माको अपने परम अनुकूल देखकर प्रतिक्षण मुग्ध होता रहता है।

ज्ञानकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो सासारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता वास्तवमें कोई वस्तु ही नहीं ठहरती, क्योंकि ससार स्वप्नवत् है और स्वप्नके पदार्थ सब मायामय हैं, इसलिये उससे उत्पन्न होने-वाली अनुकूलता और प्रतिकूलता भी मायामयी ही हैं। जब मनुष्य स्वप्नसे जागता है तब स्वप्नके किसी पदार्थ-को भी नहीं देखता और स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंको मायामय समझता है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष ससारके सम्पूर्ण पदार्थोंको मायामय समझता है। इसप्रकार जब मनुष्य सम्पूर्ण पदार्थोंको स्वप्नसदृश मायामय समझ लेता है तब अनुकूलता और प्रतिकूलताकी कुछ भी सत्ता नहीं रह जाती। फिर एक चेतन विज्ञानानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसको प्रतीत नहीं होती। उसकी दृष्टिमें एक सर्वव्यापी नित्य विज्ञानानन्दघन ही रहता है और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है। इसलिये जिसकी स्थिति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे हो जाती है, उसकी दृष्टि भी सम्पूर्ण ससारमें सम हो जाती है और सासारिक अनुकूलता और प्रतिकूलताकी दृष्टिका अत्यन्त अभाव हो जाता है। जब अनुकूलता और प्रतिकूलताका अत्यन्त अभाव हो जाता है तब राग द्वेषादि सम्पूर्ण अनर्थोंका एव सम्पूर्ण दु खोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, एव उसे परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। वास्तवमें वह परम आनन्द ब्रह्म ही परम अनुकूल है एव वही सब-का आत्मा होनेसे अपना आत्मा है। जब इसप्रकार-का ज्ञान हो जाता है तब फिर उसकी प्रतिकूल बुद्धि कहीं नहीं हो सकती क्योंकि अपने आपमें प्रतिकूलता नहीं होती। इसप्रकारके ज्ञानके द्वारा या उपर्युक्त ईश्वर भक्तिद्वारा सम्पूर्ण दु खोंके मूल प्रतिकूलताका सर्वथा नाश करना चाहिये।

कल्याण



आजकल शिक्षा-प्रचारकी ओर लोगोंका ध्यान लगा है, लगना भी चाहिये। शिक्षासे ही जीवन यथार्थ मनुष्य-जीवन बनता है परन्तु जितना ध्यान परीक्षामें उत्तीर्ण होने तथा करानेका रहता है, उतना यथार्थ योग्यता बढ़ानेका नहीं। यही कारण है कि आजकल बहुत-से उपाधिधारी सज्जन उक्त विषयकी यथार्थ जानकारीसे शून्य ही पाये जाते हैं। परीक्षाके समय पाठ रटकर उत्तीर्ण होनेसे वास्तविक योग्यता नहीं बढ़ती, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

× × ×

परन्तु यथार्थ सच्चा जीवन तो कोरी योग्यतासे भी नहीं बनता। आजकल कलाओंपर बड़ा ज़ोर है; लेखन-कला, वक्तृत्व-कला और काव्य-कला आदिमें निपुण होनेकी बड़ी चेष्टा होती है। मेहनत करनेवाले पुरुष सफल भी होते हैं। किसी भी विषयपर लेख लिखकर, वक्तृता सुनाकर या काव्य-रचनाकर वे लोगोंको कुछ कालके लिये मुग्ध और प्रभावित कर सकते हैं। परन्तु वास्तविक अनुभव बिना केवल कला उनके जीवनका केवल बाह्य प्रदर्शनमात्र होती है, निर्जीव शरीरकी भाँति उससे कोई प्रकृत लाभ नहीं होता।

× × ×

वेदान्तके परीक्षोत्तीर्ण विद्वान् वेदान्तपर लिखने और बोलनेमें प्रत्येक प्रक्रियाका सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम विवेचन कर देंगे। परन्तु क्रियारूपमें उनके पास कुछ भी नहीं मिलेगा, वे स्वयं शोक-सागरमें डूबे हुए मिलेंगे। उनका वेदान्त केवल अध्ययन, शास्त्रार्थ या लोक-प्रदर्शनकी वस्तु होगा। यही हाल भक्तिकी उपाधि धारण करनेवाले वक्तृत्व और लेखन-कलामें कुशल भक्त नामधारियोंका मिलेगा। कार्यक्षेत्रमें भक्ति विषयोंमें ही मिलेगी परन्तु वक्तृता या लेखमें भक्तिका स्रोत बह जायगा। यह बाह्य जीवन है।

× × ×

तुलसी, सूर, दादू, कबीर, मीरा आदिकी रचनाओंमें और केवल कविताके भाव और सौन्दर्यकी दृष्टिसे काव्य-रचना करनेवालोंके महाकाव्योंमें यही बड़ा भारी अन्तर है। सम्भव है, इनकी कविता कलाकी दृष्टिसे तुलसी, सूरके टक्करकी हो, या दादू, कबीर, मीरा आदि सन्तोंकी कविताओंसे बहुत बढ़ी-चढ़ी हो, परन्तु दादू, कबीर, मीराका-सा हृदय और अनुभव उनमें कहाँसे मिलेगा?

× × ×

ज्ञान, भक्ति, योग, वैराग्य, धर्म और विज्ञान आदि विषयोंमें इसीलिये गुरु और शिष्य दोनोंके अधिकारकी प्रधानता है। ये बाजारू चीजें नहीं हैं। इसीलिये यह सब विषय गुरु-मुखसे पढ़नेके माने जाते हैं। लेख या व्याख्यानबाजीके नहीं। जबसे अनुभवरहित लोगोंने केवल किताबी ज्ञानके आधारपर इधर-उधरसे मसाला एकत्र करके लिखना और उपदेश देना शुरू किया, जबसे ये बाजारकी वस्तुएँ हो गयीं, तभीसे इनका महत्त्व कम हो गया। क्योंकि अनुभवशून्य लेखों और व्याख्यानोंके अनुसार आचरण करनेवालोंको कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, इससे उनकी श्रद्धा घट गयी।

× × ×

वर्षों तपस्या और साधना करके गुरु-कृपा और भगवत्कृपासे जिन्होंने तत्त्वकी उपलब्धि की है वे ही उस तत्त्वका उपदेश देनेके अधिकारी हैं, और जो तप और साधनाके द्वारा उस तत्त्वको पानेका सच्चा अभिलाषी है वही गुरु और हरिका भक्त मनुष्य

सुननेका अधिकारी है। आज प्रायः इन दोनोंका अभाव है, इसीसे असली लाभ नहीं होता।

× × ×

सभी बातोंमें दिखोआपन आ जानेसे लोग केवल ऊपरकी बातें देखते हैं, क्योंकि वे भी भीतर प्रवेश करना नहीं चाहते। कौन कैसा बोल सकता है, कैसा लिख सकता है, किसकी रचना कैसी होती है, इसी ओर लोगोंका ध्यान है, सच्चे अनुभवी-हृदयकी खोज नहीं है। परन्तु यह नियम है कि *सच्चे अनुभवी बिना यथार्थ तत्त्वका पता नहीं लग सकता।* जो जिस विषयका तत्त्वज्ञ होता है, वह चाहे दूसरे विषयमें बिल्कुल अनभिज्ञ हो, चाहे वह कलाकी दृष्टिसे दूषित भाषामें ही बोलता हो, परन्तु उस तत्त्वका पता उसीसे लग सकता है। चित्रकार या स्वर्णकार अथवा अन्य कोई कलाकार चाहे शुद्ध संस्कृत या अंगरेजीमें अपने विषयका प्रतिपादन न कर सकते हों, चाहे उन विषयोंपर सुन्दर कविता न लिख सकते हों, परन्तु उनकी विद्या सीखनेके लिये बड़े-बड़े विद्वानोंको भी उन अनुभवियोंके पास ही जाना पड़ेगा। बड़े-से-बड़े महाराजा और महान् कवि भी रोगकी चिकित्साके लिये अनुभवी वैद्यकी ही शरण लेंगे। वस्तुतः अनुभव ही बड़ा है; विद्या या कला उसके साथ हो तो सोना और सुगन्ध दोनों है। तुलसी, सूर आदिमें दोनों बातें थीं।

× × ×

परन्तु जिसको अनुभव हो और विद्या न हो तो, चाहे वह दूसरोंको उतना लाभ न पहुँचा सके, चाहे वह दूसरोंको आकर्षित न कर सके, पर उसको तो उस तत्त्वकी उपलब्धि हो ही गयी। अनुभवहीन विद्या या कला प्राणहीन शरीरके समान निरर्थक होती है। इसीलिये भगवान् श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥
(११।११।१८)

जो पुरुष वेदको पूरा पढ़ गया—वेदमें पारंगत हो गया, परन्तु जिसने परब्रह्मको नहीं जाना, उसे बाँझ गौको पालनेवालेके समान केवल परिश्रम ही हाथ लगता है। यही हाल अनुभवहीन विद्याका है। विद्या न होकर भी जिसके पास अनुभव हो—वस्तु हो, उसीकी सेवा करके, आदर करके उससे उक्त वस्तुके प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। कलाहीन समझकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

× × ×

मनुष्यको अनुभवकी प्राप्तिके लिये—तत्त्वकी उपलब्धिके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये और वास्तविक तत्त्वकी उपलब्धिके बाद ही उस तत्त्वके सम्बन्धमें कुछ बोलना या लिखना चाहिये। तभी उस बोलनेवालेका यथार्थ प्रभाव पड़ता है और उससे काम होता है। यदि ऐसा नहीं होगा और केवल कलाके नामपर अनुभवरहित लेखों, उपदेशों, वक्तृताओं और कविताओंकी शब्दाडम्बरभरी बाढ़ यों ही बहती रहेगी तो इसीके साथ अनुभवी पुरुषोंके वचनोंकी भी कोई कीमत नहीं रह जायगी और इसलिये उनका प्राप्त होना, पहचानना तथा समझना भी कठिन हो जायगा।

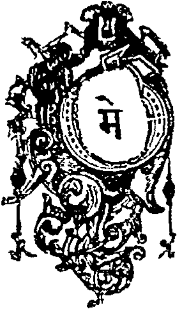
× × ×

हर एक विषयपर हर एकके बोलनेका अधिकार इसीलिये नहीं माना जाता था। परन्तु आजकी दशा विपरीत है। आज तो महान् मिथ्यावादी सत्यपर, विषयी वेदान्तपर, कायर शूरतापर, व्यभिचारी ब्रह्मचर्यपर, असती पातिव्रतपर, स्वेच्छाचारी मर्यादापर, भोगी वैराग्यपर, असाधु साधुतापर और नास्तिक भक्तिपर लिखते तथा बोलते हैं। सभी क्षेत्रोंमें यही गड़बड़झाला हो रहा है। इसीलिये आज सब धान बाईस पसेरी हो रहे हैं और अच्छे-बुरेकी पहचान प्रायः नष्ट हो चली है।

"शिव"

मानव-संस्कृति-विज्ञान

(लेखक—साधु श्री टी० एल० वास्वानीजी)



मेरी समझमें प्राचीन भारतीय महर्षियोंके आश्रम ज्ञान एवं संस्कृतिके आधुनिक केन्द्रोंमेंसे बहुतोंकी अपेक्षा अधिक समुन्नत एवं श्रेष्ठ थे। वे आश्रम प्रकृतिके सम्पर्कमें रहते थे। अंग्रेजीके महाकवि शेली (Shelly) ने एक स्थानपर कहा है—हमें काव्यमय जीवन चाहिये (We want the poetry of life), इन महर्षियोंका जीवन वैसा ही—काव्यमय—था। आधुनिक सभ्यता अशान्तिमय है; क्योंकि उसमें विश्व-भावना (Cosmic sense) का अभाव हो गया है। भारतीय महर्षियोंका जीवन विश्वबन्धुताका जीवन था। अहा! वेदों एवं उपनिषदोंके मन्त्र एवं ऋचाएँ कैसी उल्लासपूर्ण हैं! कई पाश्चात्य समीक्षक यह कहते हैं कि ये महर्षि निराशावादी (Pessimistic) थे, किन्तु मैं तो नम्रतापूर्वक यह निवेदन करूँगा कि उनकी यह धारणा भ्रममूलक है। वे महान् आशावादी थे, आनन्दकी सजीव मूर्ति थे। यही नहीं, वे आध्यात्मिक नैष्कर्म्यका मर्म समझते थे। आधुनिक सभ्यता कई प्रकारकी नयी-नयी बातोंके समावेश एवं अपने क्षेत्रके विस्तारके कारण जटिल हो गयी है। इधर आर्थिक सङ्कट भी कम नहीं है। हमारा अधिकांश समय तो जीवनकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही व्यतीत हो जाता है। ऋषिकालीन सभ्यता सादगीसे पूर्ण, सुसंस्कृत एवं सौन्दर्यकी भावनासे युक्त थी। उनके पास समयका अभाव नहीं था। अवकाश (Leisure) का अर्थ निठल्लापन नहीं है, किन्तु आन्तरिक शक्तियोंको जीवनके गहन तत्त्वोंकी खोजमें लगाना है।

इसप्रकार उन ऋषियोंने एक ऐसे विज्ञानकी पुष्टि की जो वर्तमान युगकी जनताके लिये भी महत्त्वपूर्ण एवं उपदेशप्रद है। आजकल जहाँ-तहाँ कृषि-विज्ञान (Agriculture), रेशमके कीड़े पालनेकी विद्या (Seficulture), उद्यानविद्या (Horticulture) इत्यादिकी चर्चा सुननेमें आती है, परन्तु एक विद्या ऐसी है जो इन सारी विद्याओंमें सर्वोपरि है। उस विद्याका नाम है—मानव-संस्कृति-विज्ञान (The science of man-culture) ऋषियोंकी प्रकाशयुक्त बुद्धिके अनुसार मानव-संस्कृतिकी समस्या मनुष्यको दिव्य मानव (Superman) बनानेकी समस्या थी। किन्तु वह दिव्य मानव कैसा? पाश्चात्य दार्शनिक निट्शे (Nietzsche) की कल्पनाका अहंकारपूर्ण एवं मदोन्मत्त पुरुष नहीं, अध्यात्मप्रधान पुरुषपुङ्गव सम्राट् सीज़र (Caesar) अथवा नेपोलियन (Napolean) की कोटिका नररत्न नहीं, किन्तु श्रीकृष्ण, गौतमबुद्ध एवं ईसामसीहकी श्रेणीका दिव्य पुरुष।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि मानव-संस्कृति-विज्ञानका तात्पर्य उस विज्ञानसे नहीं है जिसे आजकल अंग्रेजीमें Anthropology (मानव-विज्ञान) के नामसे पुकारते हैं। इस समय उपर्युक्त विज्ञान (Anthropology) की दो शाखाएँ प्रचलित हैं। एकका नाम है—Physical Anthropology (मानव-शरीर-विज्ञान) जिसमें अन्य जीवधारियोंकी भाँति मानव-शरीरपर विचार किया गया है। दूसरी शाखा Cultural Anthropology (संस्कृति-प्रधान मानव-विज्ञान) कहलाती है, जिसमें सभ्यताकी नींव डालनेवालेके रूपमें मनुष्यकी अवस्थाओंपर विचार किया गया है।

परन्तु ऋषियोंके मानव-संस्कृति-विज्ञानमें आत्माकी प्रधानता है। 'आत्मा' शब्दका यौगिक अर्थ प्राण अथवा उच्छ्वास है। प्राचीन समयके लोगोंने उच्छ्वास-के आधारपर सृष्टि-विकास-क्रम (Cosmic process) की व्याख्या की है। ऋषियोंकी दृष्टिमें ब्रह्मका श्वास (Breathing in) एवं उच्छ्वास (Breathing out)– विश्वकी जीवन-सरणि (Life process) के ये दो रूप हैं।

इसप्रकार ऋषियोंकी जागरूक बुद्धिने सामञ्जस्य-के तत्त्वको खोज निकाला था जो मेरी समझसे विकासका मूल है। मैं एक बार फिर कहूँगा कि ऋषियोंके मानव-संस्कृति-विज्ञान-सिद्धान्तका आधार आत्मा है। प्राचीन भारतकी विदुषीशिरोमणि मैत्रेयीके प्रश्नका महर्षि याज्ञवल्क्यने इसी भावको लिये हुए उत्तर दिया था। याज्ञवल्क्यजीने कहा—जिसप्रकार वीणा एवं तूतीमेंसे शब्द निकलता है उसी प्रकार वेद-शास्त्रोंकी उत्पत्ति आत्मासे हुई है। अहा! कैसी भाव-हृदयङ्गम उक्ति है कि वेद-शास्त्र आत्माके ही निःश्वास हैं।

मानव-संस्कृति-विज्ञानके लिये तीन बातें आवश्यक हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(१) *ब्रह्मचर्य*—ब्रह्मचर्यका अर्थ केवल अविवाहित जीवन अथवा स्त्री-प्रसङ्गका त्याग ही नहीं है, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं। मैं ब्रह्मचर्यका अर्थ उत्पादक-शक्तिके प्रति सम्मानका भाव समझता हूँ। ऋषिलोग मानव-देहको ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति मानते थे। श्रीकृष्ण प्राकृतिक सौन्दर्यके उपासक थे। जबसे भारतवासियोंको प्रकृतिसे वैराग्य होने लगा तभीसे उसका पतन प्रारम्भ हो गया। ब्रह्मचर्यके सिद्धान्तसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमें अपने शरीरको आत्माका मन्दिर समझकर उसका आदर करना चाहिये, प्रत्येक मनुष्यमें उत्पादक-शक्ति होती है। वह शक्ति दिव्य है। जीवन-शक्तिकी दिव्यताका जितना ही अधिक अनुभव किया जायगा उतना ही अधिक मनुष्य ब्रह्मचर्यकी भावनामें अग्रसर होगा। ब्रह्मचर्यके कई अङ्ग होते हैं। एक ब्रह्मचर्य नेत्रोंका होता है, जिसका अभिप्राय है, किसीको विकारयुक्त दृष्टिसे न देखना। दूसरा ब्रह्मचर्य श्रवणेन्द्रियका है, जिसका अर्थ है किसीके प्रति घृणा अथवा द्वेषके शब्द न सुनना। इसी प्रकार रसनेन्द्रियका भी ब्रह्मचर्य होता है, जिसका तात्पर्य जिह्वाके स्वादको वशमें करना है। इसी तरह विचारोंका ब्रह्मचर्य होता है, जिसके द्वारा अपने विचारोंको संयत करके उन्हें सेवाके कार्यमें नियुक्त करना होता है। इन सबके ऊपर हार्दिक अर्थात् मानसिक ब्रह्मचर्य है जिससे काम-क्रोध एवं हर्ष-शोकादि विकारोंका दमन किया जाता है। किसी अंग्रेज विद्वान्‌ने कहा है कि हृदयसे ही प्राणोंकी पुष्टि होती है (Out of the heart are the tissues of life)। ज्यों-ज्यों हमारे अन्दर ब्रह्मचर्यकी भावना दृढ़ होती है, त्यों-ही-त्यों हमारे शरीरका क्रमशः रूपान्तर होता जाता है। हम उस परमात्माके दिव्यालोककी रश्मि बन जाते हैं, आत्मा हमपर विजय कर लेती है। हमारी मुखमुद्रा जगमगा उठती है। हमारे अन्दरसे अपने प्रियतमकी ज्योति झलमलाने लगती है।

(२) *आत्मविद्या*—आत्म-संस्कृति-विज्ञानका दूसरा आवश्यक अङ्ग आत्मविद्या है। आत्मविद्याका अर्थ यथार्थ ज्ञान है। जिसे हमलोग आजकल ज्ञान कहते हैं वह तो निरा उपयोगितामूलक अथवा कामचलाऊ ज्ञान है, वह वस्तुविषयक ज्ञान है, वह किसी पदार्थ-को केन्द्र बनानेवाला ज्ञान है, स्वयं उसका परिधि-रूप है। यथार्थ ज्ञान अपने विषयके अन्दर ओतप्रोत होकर रहता है। वह अभ्यन्तरप्रसूत होता है, केन्द्रसे प्रादुर्भूत होता है। वह सरल-सीधी क्रियाके

रूपमें होता है। वह ज्ञान ऐसा होता है जो सीधा हमारे जीवन-स्रोतमें जाकर प्रवाहित होता है। वह जीवनकी वह गति है जिसकी ज्ञेयके रूपमें अभिव्यक्ति होती है। ऋषियोंका, कलाकोविदोंका, कवियोंका तथा अन्य प्रतिभासम्पन्न महापुरुषोंका ज्ञान प्रायः इसी प्रकारका होता है, वह केन्द्रसे प्रस्फुटित होता है। उस ज्ञानमें भक्तिका पुट रहता है, वह प्रेमसे अनुस्यूत रहता है। विज्ञान (Science) तथा अनुकम्पा (Sympathy) इन दोनोंका भेद बतलाना उचित ही है; किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि वह भेद पार्थक्यका पर्यायवाचक है।

(३) योग—जिसका पहला अर्थ है प्रकृतिके साथ संयोग। उपनिषदोंमें जिस प्रकृति-योग (Nature-mysticism) का वर्णन है उसका बीज यही है। इस योगकी स्थितिमें प्रवेश करना इस बातका अनुभव करना है कि यह शरीर भी हमारा गुरु है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति भी परमात्मासे ही है; इस संसारमें जन्म लेना ईश्वरीय प्रादुर्भाव है, न कि आत्माका पतन, और प्रकृति उस नित्य तत्त्व-का ही आभास (Apparition) है।

योगका दूसरा अर्थ है जीवनका इतिहास तथा मानव-जातिके साथ संयोग। इस योगमें आरूढ़ होना मत-प्रवर्तकों (पैगम्बरों) और अन्य पथ-प्रदर्शकों, (Pioneers) आचार्यों एवं कलाकोविदों, तथा सन्तों एवं जनसमाजके सेवकोंके साथ समानताका अनुभव करना है। इसप्रकारकी समानताका अनुभव करना इस बातको जानना है कि सारे धर्मों एवं धर्म-ग्रन्थोंमें आत्माके विचित्र (Many coloured) ज्ञानका ही विकास है।

योगका तीसरा अर्थ है अन्तरात्माके साथ संयोग। वह अन्तरात्मा प्रभुओंका प्रभु, सनातन सद्गुरु है। वह सबकी हृदय-गुहामें सन्निविष्ट है। कुरानमें एक स्थानपर लिखा है कि मुस्लिमों (आस्तिकों) के हृदय खुदाके सिंहासन हैं। इसप्रकारके योगमें स्थित होना प्रेमके साथ घुल-मिल जाना एवं इस बातका अनुभव करना है कि प्रेम ही उत्सर्ग है, यज्ञ है। आत्म-साक्षात्कारका नाम ही यज्ञ है और आत्मोत्सर्ग ही आत्माका साक्षात्कार है।

ऐसे योगी कुरानके शब्दोंमें परमात्मामें लीन हो जाते हैं, उनकी स्थिति सदा परमात्मामें ही रहती है। ऋषियोंके सूक्तोंमें भी बार-बार जगह-जगहपर यज्ञ अर्थात् आत्मोत्सर्गका ही महान् राग अलापा गया है। यह यज्ञ दो प्रकारका है—एक तो मानसिक यज्ञ, जिसका अर्थ है मनकी अधोमुखी वृत्ति अर्थात् हिसाब-किताब करने (Calculation) तथा विवेक (दूरदर्शिता) की शक्तिका संयम अथवा हवन। दूसरा यज्ञ है मानसिक प्रकृति अर्थात् वासना-तत्त्वका हवन। इस द्विविध यज्ञका अर्थ है अहङ्कार (Egoism) अथवा व्यक्तित्वका हवन करना। प्रत्येक व्यष्टि चेतनके पीछे परमपुरुष (Super-purusha) का निवास रहता है। अहङ्कार-का पर्दा हट जानेपर श्रीकृष्णका प्रकाश, प्रभुकी ज्योति जगमगाने लगती है। इस निम्नवृत्तिका हवन हुए बिना प्रेमके तत्त्वकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होती। अहङ्कारशून्य हो जाना ही प्रेमके द्वारमें पदार्पण करना है।

बस, आत्म-समर्पण, आत्मोत्सर्ग ही मानव-संस्कृति-विज्ञानका चरम लक्ष्य है। आत्म-समर्पण-विज्ञान ही मानव-संस्कृति-विज्ञानकी पूर्ण स्थिति है। आत्म-समर्पित जन ही यथार्थ दिव्य मानव (Super-man) है। आत्म-समर्पणका स्थान मुक्तिसे भी ऊँचा है और उस आत्म-समर्पणका स्वरूप है प्रियतमके साथ तादात्म्य हो जाना, अपनेको इसप्रकार नगण्य, नाचीज़ बना देना जिससे कि सर्वत्र बाहर-भीतर एक प्रियतम ही रह जाय, उसके अतिरिक्त और कुछ रहे ही नहीं।

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

परम पुरुषार्थ क्या है ? इस बातको चाहे सब लोग न जानते हों, पर इतना तो किसीको समझाना नहीं होगा कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्त परमानन्दकी प्राप्ति तो सभी (अज्ञ और विद्वान्) चाहते हैं। वास्तवमें इसीका नाम परम पुरुषार्थ है। इसकी सिद्धिके लिये जगत्में अनेक साधन हैं और उन साधनोंमें बहुत कुछ मतभेद भी देखा जाता है। यहाँ इस विषयका बहुत विस्तार न करके संक्षेपमें ही अपने विचार प्रकट किये जाते हैं। कल्याण-कामी सज्जन अपने-अपने विचारानुसार साधन करते ही हैं और वे सभी वन्दनीय हैं। यदि नीचे लिखे विचार किसीके कुछ कामके होंगे तो आनन्दकी बात होगी। प्रायः ऐसा कहा जाता है कि साधन तेज नहीं होता अथवा इच्छा रहते हुए भी साधन बिलकुल ही नहीं बनता। विचार करना चाहिये कि इसका क्या कारण है ? मेरी समझसे साधनका रहस्य न समझनेके कारण ही ऐसा होता है। यहाँ साधनके चार प्रकार लिखे जाते हैं, यदि कुछ गम्भीरतासे विचार किया जायगा तो चार प्रधान भेद स्पष्ट दिखलायी देंगे। इनको जानकर अपनी रुचि और अधिकारानुसार इनका अलग-अलग या यथाक्रम समुच्चय करके प्रयोग करना चाहिये।

१–*क्रिया-साध्यसाधन*–उसको कहते हैं जिसको करना अपने अधिकारमें हो। जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध या अन्य किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं रखता हो, तथा जिसको सभी केवल इच्छामात्रसे कर सकते हैं। जैसे–सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, भगवत्-नाम-जप इत्यादि।

२–*अभ्यास-साध्यसाधन*–उसको कहते हैं, जो विद्या, धन, बल, प्रारब्ध आदिकी अपेक्षा तो नहीं रखता, पर जिसमें पुनः-पुनः आवृत्तिकी आवश्यकता है। जैसे–निरन्तर जप, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंका सहन, अक्रोध इत्यादि।

३–*बोध-साध्यसाधन*–उसको कहते हैं जो विचार और समझके आधारपर किया जा सके। यह साधन विचार और समझके बिना नहीं बन सकता, जैसे परमात्माकी सर्वव्यापकताका अनुभव, सबमें भगवद्-दर्शन, ध्यान, संसारकी अनित्यताका ज्ञान, भगवान्के सुहृदता, दयालुता आदि गुणोंका जानना इत्यादि।

४–*भगवत्-कृपा-साध्यसाधन*–उसको कहते हैं जिसमें साधनकी अपनी कुछ भी स्वतन्त्रता नहीं रहती। यह साधन अपनी इच्छामात्रसे नहीं बनता। केवल प्रभुकृपासे ही बनता है, यही चरम-साधन है, परम पुरुषार्थ-प्राप्तिका यही साक्षात् साधन है। इसीको श्रीनन्दनन्दनने इन शब्दोंमें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको (मैं) वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।'

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

'उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपक-द्वारा नष्ट करता हूँ।'

जिस कालमें यह साधन होने लगता है, उस कालमें बिना ही परिश्रम सब साधन अपने आप होने लगते हैं, बिना ही समझाये सब तत्त्व समझमें आने लगते हैं, अपार प्रेमका प्रवाह बहने लगता है और साधक अहर्निश प्रभुके प्रेममें निमग्न रहता है।

साधन-तत्त्वसे अनभिज्ञ साधक क्रिया-साध्य साधनको भगवत्-कृपा-साध्य मानकर अविवेकसे निश्चिन्त हो बैठते हैं। अभिमानके नाशके लिये सभी अवस्थाओंमें भगवत्-कृपाका मानना सर्वसम्मत है और इसकी आवश्यकता भी है। परन्तु ऐसे लोग तो अकर्मण्यता, आलस्य और प्रमादजन्य दोषसे सदाचार और सत्क्रियाओंको करनेकी सामर्थ्य और स्वतन्त्रता रहते हुए भी उन्हें नहीं करते। जैसे गोस्वामीजीने कहा है—*'कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय'* साधन-सम्बन्धमें स्वयं कुछ भी नहीं करना चाहते। सांसारिक कर्मोंमें पूर्ण कुशल और उद्योगी रहते हैं परन्तु अपने हितकर कल्याणकारी कामोंमें प्रभु-कृपाका बहाना बतलाकर उदासीनता, असमर्थता प्रकट करते हैं। ऐसे ही लोग *'सो परत्र दुख पावही सिर धुनि धुनि पछिताय'* गोस्वामीजीके इन वचनोंको चरितार्थ करते हैं। ऐसे मनुष्योंको कुछ लाभ नहीं होता, वरं इनका अधःपतन ही होता देखा जाता है।

अभ्यासजन्य साधनके विषयमें पतञ्जलि ऋषिने कहा है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

'यह साधन दीर्घकाल निरन्तर और सत्कार-पूर्वक करनेपर दृढ़ होता है।' जल्दी ही सिद्धि पानेकी उमंगमें जो साधक यह साधन करता है, वह आगे चलकर अपने मन-इच्छित समयमें यथार्थ लाभ न देखकर हताश हो जाता है। एक मन्दबुद्धि मनुष्यने किसीके खेतमें गेहूँसे लदे हुए पौधोंको देखकर अपने खेतमें भी वैसे ही गेहूँ पैदा करनेके लालचसे उससे पूछा कि 'भैया! मेरे खेतमें गेहूँ कैसे हो सकते हैं?' उक्त मनुष्यने कहा कि जमीनमें अच्छी तरह अन्न छींटकर उसे पानीसे सींचते रहो। आप ही अन्नसे भरे पौधे तैयार हो जायँगे। उसने अपने खेतमें अन्न छींट दिया और जल भी सींच दिया पर मन्दबुद्धिवश उचित समयकी बाट न देखकर एक-ही-दो दिनोंके बाद खेतमें गेहूँके वैसे पौधे न देखकर हताश हो गया और जल सींचना बन्द कर दिया तथा पश्चात्ताप करता रहा। इसी प्रकार शीघ्रतासे फल चाहनेवाले लोग अभ्यासजन्य साधन नहीं कर पाते।

क्रिया-साध्यसाधन और अभ्यास-साध्यसाधन होनेपर भी कभी-कभी साधकके हृदयमें समत्व और उदार भाव प्रकट नहीं होते। इसका कारण है बोध-साध्यसाधनका अभाव। यह साधन विचारसे प्राप्त होता है, चाहे वह विचार किसीके समझानेसे या शास्त्रोंके गम्भीर विचारसे उदय हो। इस-प्रकार जब बोध-साध्यसाधन होने लगता है तब किसी पक्षविशेषका आग्रह नहीं रहता। वह साधक भगवत्-तत्त्वमें हर समय सावधान रहता है।

प्रभु-कृपा-साध्यसाधन प्रभुकी अनन्यशरणको ही कहते हैं। परन्तु आजकल इसके चाहे जैसे मनमाने अर्थ लगाये जाते हैं, अन्याय-दुराचार करते हुए भी लोग अपनेको प्रभुशरण कहते रहते हैं और प्रभु-आज्ञाका किञ्चित्मात्र भी पालन नहीं करते। इन्हीं सब कपट-व्यवहारोंके कारण वे लोग प्रभु-कृपासे वञ्चित रहते हैं। जो लोग अपनी शक्तिके अनुसार क्रिया-साध्यसाधन करते हैं, बुद्धिके अनुसार विचार करते हैं तथा दीर्घकालतक इसीमें लगे रहते हैं और सब साधनोंको प्रभुके ही आश्रित मानते हैं उनके कल्याणका जिम्मेवार स्वयं भगवान्‌को होना पड़ता है। गीता अ० ९। २२ और १२। ७



ईश्वर-कृपा

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—हे बहिन ! लोकोक्ति है कि ईश्वरको किसीने आँखोंसे देखा नहीं है। ईश्वर बुद्धिसे जाननेमें आता है। श्रुति कहती है कि ब्रह्म—ईश्वर मन-वाणी-का विषय नहीं है यानी मनसे जाना नहीं जाता और वाणीसे कहा नहीं जाता। श्रुति यह भी कहती है कि सूक्ष्म बुद्धिसे ईश्वर जाननेमें आता है। गीतामें भगवान्‌का वचन है कि मैं योगमायासे ढका हुआ होनेसे सबका प्रकाश नहीं हूँ यानी सबके जाननेमें नहीं आता, यह मूढ लोक मुझ अजन्मा और अव्ययको नहीं जानता। बहुत-से बहिन-भाई ईश्वरको मानते भी नहीं हैं। इन सब बातोंसे सिद्ध है कि ईश्वर दुर्विज्ञेय है यानी ईश्वरको जानना कठिन है, इसलिये हे बहिन ! यद्यपि तू कई बार समझा चुकी है, फिर भी आज मैं तेरे मुखसे ईश्वरका स्वरूप समझना चाहती हूँ और यह भी जानना चाहती हूँ कि ईश्वरकी मनुष्यपर कब कृपा होती है।

कोकिला—हे बहिन ! इस दीखनेवाले जगत्‌का और जगत्‌के अभावका जो साक्षी है और जो सबका आत्मा है, उसको वेदवेत्ता ब्रह्म अथवा ईश्वर कहते हैं। यदि कोई कहे कि इस जगत्‌को तो आँख देखती है, तो यह बात नहीं है, क्योंकि आँख जगत्‌को नहीं देखती, आँखके द्वारा कोई अन्य ही इस जगत्‌को देखता है। जो आँखके द्वारा इस जगत्‌को देखता है यानी सब इन्द्रियोंके द्वारा जो इस जगत्‌को देखता है, वह ईश्वर है। तब कोई कहे कि मन इन्द्रियोंद्वारा इस जगत्‌को देखता है, क्या मन ईश्वर है, तो मन ईश्वर नहीं है, क्योंकि मन भी किसीका दृश्य है, इसलिये मन ईश्वर नहीं है किन्तु मनका देखनेवाला ईश्वर है। यदि कोई कहे कि मनको तो बुद्धि जानती है, क्या बुद्धि ईश्वर है, तो बुद्धि भी दृश्य है, इसलिये ईश्वर नहीं है, बुद्धिका देखनेवाला ईश्वर है। यदि कोई कहे कि बुद्धिका देखनेवाला अहंकार है, क्या अहंकार ईश्वर है, तो अहंकार भी दृश्य है, दृश्य होनेसे अहंकार ईश्वर नहीं है, किन्तु अहंकारका साक्षी ईश्वर है। अहंकारका ही साक्षी ईश्वर नहीं है किन्तु अहंकार करनेवालेका भी साक्षी ईश्वर है। जैसे एक देहमें अहंकार करनेवालेका साक्षी ईश्वर है, वैसे ही सब देहोंमें अहंकार करनेवालेका साक्षी ईश्वर है। सारांश यह है कि समस्त दृश्य, दर्शन और द्रष्टाका साक्षी और उन तीनोंके अभावका जो साक्षी है, वह ईश्वर है और वही सबका आत्मा है।

हे बहिन ! यह ईश्वर जगत्‌का स्वामी है, करुणा-का समुद्र है, ईश्वर सब जीवोंके ऊपर महती कृपा करता है और समान ही कृपा करता है। ईश्वरकी यह कृपा भोगके लिये नहीं है क्योंकि भोगसे किसीको कुछ लाभ नहीं है। विचारकर देखा जाय तो भोग तो रोग है। भला ! करुणासागर जगदीश्वर अपने भक्तोंको रोग क्यों देगा ? इसलिये श्रेयाभिलाषीको चाहिये कि भोगकी इच्छा छोड़कर जगदीश्वरकी भक्ति करे। भक्ति ही जन्म-मरणरूप संसारकी ओषधि है, ईश्वरकी भक्ति करनेसे ईश्वर प्रसन्न होता है और जन्म-मरणरूप संसारसे भक्तको मुक्त करके अपना धाम ही दे देता है। ऐसे करुणासिन्धु जगदीश्वरको छल-कपट छोड़-कर जो नहीं भजते, उन भाई-बहिनोंका दुर्भाग्य ही है।

हे बहिन ! ईश्वरने ही सब किया है, ईश्वर ही सब कुछ करता है, मैं कुछ नहीं करता या कुछ नहीं करती, इस कथनको विद्वान् ज्ञान कहते हैं, क्योंकि ऐसा ज्ञान ही भव-बन्धनसे मुक्त करनेवाला है। यह

जगत् ईश्वरके अधीन है, स्त्री-पुरुषोंको उसकी कृपाका ही बल है। उस जगदीश्वरकी कृपा ही संसाररूप रोगकी ओषधि है। विश्वनाथ महादेवका सर्वदा सर्व इन्द्रियोंसे पूजन करना चाहिये अर्थात् कानोंसे भगवदवतारोंके चरित और भगवत्-तत्त्वका निरूपण सुनना चाहिये, नेत्रोंसे भगवत्की मूर्तिके और भगवद्भक्तों-के दर्शन करने चाहिये, जिह्वासे भगवद्गुणगान और सत्शास्त्रोंका पठन-पाठन कर्तव्य है। सारांश यह है कि मनसे, वाणीसे और कर्मसे भगवत्परायण होना चाहिये। गीतामें भगवान्‌का अर्जुनके प्रति वचन है कि 'हे अर्जुन! जो कुछ तू करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ तू होमता है, जो कुछ तू दान देता है, जो कुछ तू तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर अर्थात् मेरी प्रीतिके लिये कर, ऐसा करनेसे तू पुण्य-पापसे छूट जायगा और मुझको ही प्राप्त होगा।' हे बहिन! भगवत्के इस वचनसे सिद्ध है कि भगवत्के लिये कर्म करनेसे कर्म बन्धनके हेतु नहीं होते, प्रत्युत मोक्षका कारण होते हैं, इसलिये कल्याणकी इच्छावाले-को सब कर्म भगवत्की प्रीतिके लिये करने चाहिये, किसी फलकी कामनासे नहीं।

हे कल्याणी! ईश्वर जगत्‌रूप है और जगत् ईश्वररूप है, ईश्वरके सिवा अन्य कुछ नहीं है, चराचर जो कुछ देखनेमें आता है, सब ईश्वर ही है, वही दाता है, वही ग्रहीता है, वही विश्वेश्वर कर्ता है, वही भोक्ता है, वही पाता है यानी रक्षक है और वही इस जगत्‌का आश्रय यानी अधिष्ठान है। उस नित्यमें यह समस्त जगत् स्थित है, वह एक ही सब विश्वका कारण है, उसी नित्य पूर्ण पर-से-परमें यह सब जगत् प्रलयमें लीन हो जाता है। वह स्वयं-ज्योति यानी स्वयंप्रकाश है, वह अपने आप ही प्रकाशता है, उसका प्रकाश करनेवाला कोई दूसरा नहीं है। वह मायाका पति होकर भी मायातीत है, निर्गुण होता हुआ भी अपने भक्तोंपर अनुकम्पा—कृपा करने-के लिये दिव्य विग्रह—मूर्ति धारण करके सगुण हो जाता है।

हे सुशीले! उस परमेश्वरका कोई नाम नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य, गुण, जाति आदिसे हीन है, फिर भी भक्तोंने अपनी-अपनी भावनाओंके अनुसार उसके अनेक नाम रक्खे हैं। हे बहिन! माया सबसे बड़ी है, ईश्वर मायासे भी बड़ा है, इसलिये भक्त उसको 'परंब्रह्म' कहते हैं। काल, वायु, अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि देवता श्रेष्ठ हैं, ईश्वर इन सबसे श्रेष्ठ है, इस-लिये भक्त ईश्वरको 'परात्पर' कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त-पुराणमें भगवान्‌का वचन है कि हे देवियो! मैं काल-का काल हूँ, विधाताका विधाता हूँ, संहारकर्ताका संहारकर्ता हूँ और रक्षकका रक्षक हूँ, इसलिये परात्पर परसे पर हूँ। कोई ईश्वरको परा संवित् कहते हैं क्योंकि वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंको प्रकाशित करता है। कोई ईश्वरको परम शिव कहते हैं, क्योंकि वह कल्याणस्वरूप है अथवा अशुभका नाश करता है। कोई ईश्वरको परमात्मा कहते हैं, क्योंकि वह चैतन्यात्मा है। एक आत्मा ही चैतन्य है। कोई ईश्वरको महाविष्णु कहते हैं क्योंकि वह विश्वमें प्रवेश करता है और विश्वको व्याप्त करता है, अथवा विश्व-को धारण करता है, सींचता है और लय करता है अथवा भक्तोंको मायासे या संसारसे विमुक्त करता है, अथवा वह सब भूतोंमें प्रवेश करता है और सब भूत उसमें प्रवेश करते हैं। कोई ईश्वरको भगवान् कहते हैं क्योंकि वह ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री और शक्ति छः गुणोंसे युक्त है अथवा भूतोंकी उत्पत्ति, प्रलय, गति, अगति, विद्या और अविद्याको जानता है। कोई ईश्वरको कृष्ण कहते हैं क्योंकि वह सब-को अथवा सबके हृदयको खींचता है अथवा सदानन्द-रूप है। कोई ईश्वरको राम कहते हैं क्योंकि वह

सबके मनका जाननेवाला है अथवा भक्तोंके साथ, प्रकृतिके साथ, ब्रह्माण्डके साथ रमण करता है अथवा प्रकृतिका और जीवोंका रमण-स्थान है । कोई ईश्वरको शिव कहते हैं, क्योंकि वह कल्याणका देनेवाला है । कोई ईश्वरको नारायण कहते हैं, क्योंकि वह नारका यानी सारूप्य मुक्तिका अयन—स्थान है । हे बहिन ! इसप्रकार ईश्वरके अनेक नाम भक्तोंने रक्खे हैं । उस हृषीकेश, परेश, सच्चिदानन्द, अव्यय ईश्वरका पवित्र होकर आस्तिक-बुद्धिसे पूजन करना चाहिये, क्योंकि उसकी कृपासे मुक्ति और भुक्ति दोनों हाथमें आ जाती हैं, इसलिये भक्तोंके अनुग्राहक उस देवका अनन्य बुद्धिसे पूजन करना चाहिये ।

हे बहिन ! उस देवकी कृपा-दृष्टिसे गुणहीन भी गुणवाला हो जाता है, जिसके ऊपर उसकी लेश भी कृपा हो जाय, वही धन्य है और वही प्रशंसनीय है, हे बहिन ! जिस दिन शिवका पूजन न किया जाय और कथामृत सुननेमें न आये, वह दिन निश्चय ही दुर्दिन है और निष्फल ही चला गया, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि यह मनुष्य-शरीर देवताओंको भी दुर्लभ है । ऐसे मनुष्य-शरीरको पाकर जो भगवान्का अर्चन नहीं करते और भगवान्की कथा नहीं सुनते उनका जीवन पशुओंके समान है । उनके लिये विद्वान् शोक करते हैं । यदि एक मुहूर्त्त भी भगवत्-स्मरण बिना चला जाय, तो उसके लिये पश्चात्तापपूर्वक रोदन करना चाहिये । जिन लोगोंको संसाररूपी सर्पने डस रक्खा है, उनके लिये हरि-चिन्तन ही सर्वोत्तम भेषज अथवा गारुडी-मन्त्र है, इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है । विद्वानोंका कथन है कि एक क्षण भी भगवद्भजन बिना नहीं जाना चाहिये । भगवत्का नाम उच्चारण करे, भगवत्को भजे, भगवत्का श्रवण करे, भगवत्का चिन्तन करे । अन्यका उच्चारण, भजन, श्रवण, चिन्तन न करे । सदा, सर्वत्र, सर्वथा भगवन्मय हो जावे । जो कोई सर्वाधार, निराधार, पूर्ण प्रेमस्वरूप मुकुन्द भगवान्का चिन्तन करता है, वह भगवान्की करुणाके प्रभावसे भगवान्, सर्वेश्वर, परमात्माकी भक्ति प्राप्त करता है । जहाँ भगवान्की भक्ति प्राप्त हुई कि भाग्यवान् अधिकारीकी समस्त इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं और उसको परम प्रेम-समुद्र शम्भुमें अनन्य ममता प्राप्त होती है । शम्भुमें अनन्य ममता बड़े भाग्यसे प्राप्त होती है, यही मनुष्योंके लिये संसारसे पार होनेका एकमात्र अवलम्बन है, यही परम अवलम्बन है । इस अवलम्बनके बिना परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं होती और परमेश्वरकी प्राप्ति बिना शान्ति नहीं हो सकती । जैसे भोजन बिना भूखकी निवृत्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति बिना जीवोंके दुःखका अन्त नहीं होता । जैसे अग्निकी समीपतासे छाछ जल जाती है, इसी प्रकार ईश्वरकी समीपतासे समस्त दोष लीन हो जाते हैं । दोष ही दुःखका कारण है, जहाँ दोष निवृत्त हुए कि प्राणी परम सुखी हो जाता है । जैसे जलती हुई अग्निसे सूखा काठ शीघ्र ही भस्म हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मके दर्शनरूप अग्निसे शोक, मोह आदि समस्त दोष जल जाते हैं । हे बहिन ! जगत्की चिन्ताको छोड़कर जो विद्वान् नित्य ब्रह्मका चिन्तन करता है, वह गोपदके समान इस संसार-शोक सागरसे तर जाता है । अतएव भगवद्भजनमें कभी प्रमाद न करना चाहिये । सर्वदा सावधान होकर भगवच्चिन्तन करना चाहिये । भगवत् अद्भुत रसके समुद्र हैं, जो कोई भगवत्का ध्यान करता है, वह परमानन्दका अनुभव करता है इसमें संशय नहीं है ।

हे बहिन ! जबतक ईश्वरकी कृपा नहीं होती, तबतक प्राणीको संसारसे वैराग्य और ईश्वरमें प्रेम नहीं होता । यद्यपि ईश्वरकी कृपा प्रत्येक प्राणीपर सर्वदा ही है परन्तु अविवेकके कारण उसको ईश्वरकी कृपाका भान नहीं होता, इसलिये वह ईश्वरकी शरण

नहीं लेता और स्त्री, पुत्र, धन, धाम आदिमें ही रत होता है, परन्तु स्त्री-पुत्रादि स्वयं ही नाशवान् हैं, ऐसे नाशवान् स्त्री-पुत्रादिसे सुखकी आशा ही नहीं की जा सकती। सुख तो अविनाशी पदार्थमें ही हो सकता है और वह अविनाशी पदार्थ सबका आत्मा ईश्वर ही है। हे बहिन! अब तेरे उस प्रश्नका उत्तर देती हूँ कि मनुष्यको कब समझना चाहिये कि मुझपर ईश्वरकी कृपा है।

हे बहिन! जब कोई बहिन या भाई अपने हाड़-मांसके पुतले शरीरसे घृणा करने लगे, क्योंकि वह अपवित्र पदार्थोंका बनाया हुआ शरीर ही सब अनर्थोंकी जड़ है। भूख-प्यास, आधि-व्याधि, शोक-चिन्ता, आये दिन इस शरीरको लगे ही रहते हैं, दुर्गन्धिवाला और कुरूप तो यह प्रत्यक्ष है ही, यदि ऐसा न हो, तो इसको चन्दन-इत्र आदि लगाकर सुगन्धवाला कोई न बनावे और सुन्दर-सुन्दर वस्त्र और उत्तम-उत्तम भूषणोंसे इसको कोई अलंकृत न करे। सब इसको पुष्प-माला आदि पहिनाकर सुगन्धित बनाते हुए और वस्त्राभूषणों आदिसे सुसज्जित करते हुए देखनेमें आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शरीर दुर्गन्धवाला और कुरूप है, उसकी दुर्गन्धि और कुरूपता ढकनेके लिये ही सब उसको सजाते हैं। इसलिये जब इस अपवित्र और अनर्थकारक शरीरपर जिस किसीको वैराग्य हो, तो समझना चाहिये कि उसपर ईश्वरकी कृपा है।

हे बहिन! जब कोई बहिन-भाई सब कर्म ईश्वरकी प्रीतिके लिये करने लगे यानी खाना, पीना, सोना, बैठना, उठना आदि स्वाभाविक कर्म; यज्ञ, दान, तप आदि शास्त्रविहित कर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पाँच यम और शौच, सन्तोष आदि नियम, ये सब फलकी कामनासे रहित अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये जो कोई करने लगे, तो समझना चाहिये कि उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है। जिस किसीको कुल, जाति, वर्ण, आश्रम, धन, जन, विद्या आदिका अभिमान नहीं है, इन्द्रियोंके विषयोंमें राग नहीं है, जन्मनेमें, मरनेमें, बुढ़ापेमें अनेक प्रकारके दोष दिखायी देते हैं, उसको समझना चाहिये कि मुझपर ईश्वरकी कृपा है।

हे बहिन! जो कोई बड़ोंका सम्मान करता है, छोटोंको प्यार करता है, बराबरीवालोंके साथ यथायोग्य बर्तता है, आप किसीसे सम्मान कराना नहीं चाहता, सरल सीधा व्यवहार करता है, छल-कपट, दम्भ-पाखण्डसे रहित है, मनसे, वाणीसे, कर्मसे किसीको पीड़ा नहीं देता, किसीकी चोरी करना तो दूर रहा, बिना दामकी किसीकी वस्तु नहीं लेता, इन्द्रियोंको वशमें रखता है, पराया धन धूलके समान और परायी स्त्री माताके समान समझता है, न किसीसे राग करता है, न द्वेष करता है, सबमें एक ईश्वरको देखता है, निन्दा-स्तुतिसे रहित होता है यानी न किसीकी निन्दा करता है, न किसीकी स्तुति करता है, उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है।

हे कल्याणी! जो बहिन ईश्वरमें प्रीति करती है, ईश्वरके भक्तोंका आदर-सत्कार करती है, बड़े-बूढ़ोंकी यथायोग्य सेवा करती है, अधिक नहीं बोलती, कठोर नहीं बोलती, झूठ नहीं बोलती, सच्ची, मधुर, सरल वाणी बोलती है, ईश्वर-सम्बन्धी ग्रन्थोंका पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण करती है, ईश्वरका नाम उच्चारण करती है, सब वस्तुएँ ईश्वरकी समझकर किसीमें आसक्ति नहीं करती, सबसे प्रेम करती है, वस्त्राभूषणोंमें प्रेम नहीं करती, भोजन भी सादा करती है, चटपटे, मीठे, खट्टे भोजनोंकी इच्छा नहीं करती, यथाप्राप्तमें सन्तुष्ट रहती है, ईश्वरके भजन गानेके सिवा अन्य संसारी गीत नहीं गाती, सब काम नियमसे करती है, आलस्य नहीं करती, लड़के-बालों-

को साफ-सुथरे रखती है, नियममें उनको चलाती है, वृथा खेलने, कूदने और वृथा सोने नहीं देती, समय-पर सुलाती है और समयपर जगाती है, ईश्वर-भजन स्वयं करती है और लड़के-बालोंको सिखाती है, शोक, मोह, चिन्ताके वश नहीं होती, सदा प्रसन्न-मन रहती है, हानिमें खिन्न नहीं होती और लाभमें मन ऊँचा नहीं करती और सबके बच्चोंको अपने बच्चोंके समान प्यार करती है, उस बहिनके ऊपर ईश्वरकी कृपा है ।

हे बहिन ! माताके उदरमें यह जीव नव मास-तक उलटा लटका रहता है और वहाँ नरकसे भी अधिक दुःखका अनुभव करता है, अन्तमें जब इसको अपने अनेक जन्मोंकी याद आती है, तब वह पश्चात्ताप करता है कि मैं बड़ा मूर्ख हूँ, जो इस नश्वर देहका भजन करके बारम्बार जन्मता-मरता रहता हूँ और अनेक प्रकारके कष्ट पाता रहता हूँ । अब मैं इस कारागृहसे मुक्त हो जाऊँ, तो ईश्वरका भजन करूँगा जिससे इस देहसे छूटकर ईश्वरके परम-धामको प्राप्त हो जाऊँ, जहाँसे लौटकर फिर जीव इस जन्म-मरणरूप संसारमें नहीं आता किन्तु सर्वदा-के लिये अजर-अमर हो जाता है । पेटसे बाहर आते ही यह जीव अपनी पूर्व-वासनाओंके कारण ईश्वरकी मायासे मोहित होकर अपनी प्रतिज्ञाको भूल जाता है। ईश्वरका भजन नहीं करता, देहका ही भजन करने लग जाता है यानी *'सोऽहम्' 'सोऽहम्'* भजनेके बदले **'देहोऽहम्' 'देहोऽहम्'** भजने लगता है । जो जिसको भजता है, वह उसीको प्राप्त होता है, ऐसा ईश्वरका नियम है। इसलिये देहका भजन करने-से यह जीव बारम्बार ऊँच-नीच योनियोंमें जन्मता हुआ कष्ट पाता रहता है, सुखी नहीं होता। इसलिये वेद-वेत्ता इसको गर्भमें की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण कराते हैं, यदि किसी जीवको ब्रह्मवेत्ताओंके कथनसे उस प्रतिज्ञाका स्मरण हो जाय तो समझना चाहिये कि उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है ।

हे बहिन ! ईश्वर सबका आत्मा है यानी सबका अपना आप है, उसके खोजनेके लिये कहीं बाहर जाना नहीं पड़ता, क्योंकि वह सबके हृदयमें ही विद्यमान है, फिर भी वह किसीको दिखायी नहीं देता यानी किसीके जाननेमें नहीं आता, क्योंकि जीवकी दृष्टि बाहरकी ओर हो रही है । ईश्वरके न जाननेसे ही जन्म-मरणरूप अनेक प्रकारके अनर्थरूप संसारकी प्रतीति होती है और जीव महान् कष्ट पाता है । यदि जीव प्रेमपूर्वक ईश्वरके नामका जप करने लगे तो उसकी दृष्टि तुरन्त ही अन्तर्मुखी हो जाय और उसे ईश्वरके दर्शन हो जायँ, परन्तु जीवोंको दुर्भाग्यवश ईश्वर-नामके ऊपर विश्वास नहीं होता । यदि किसी जीवको यह विश्वास हो जाय कि ईश्वर-नाम जपनेसे मेरा निश्चय कल्याण हो जायगा, तो समझना चाहिये कि उसके ऊपर ईश्वरकी कृपा है ।

हे बहिन ! जीव और ईश्वरमें भेद नहीं है, परन्तु अहंता-ममताकी आड़ आ जानेसे जीव अपनेको कर्ता-भोक्ता समझकर दुःखी होता है, यदि कोई बहिन या भाई अहंता-ममताका त्याग कर दे यानी 'मैं' और 'मेरा' ऐसा अभिमान न करे, तो समझना चाहिये कि उस बहिन या भाईके ऊपर ईश्वरकी बहुत ही कृपा है । सच कहा है—

कु०–'मैं' 'मेरा' संसार है, अन्य नहीं संसार।
'मैं' 'मेरा' जाता रहे, बेड़ा है भव पार॥
बेड़ा है भव पार, जहाँ ना दुःख जरा है।
सुखसागर भरपूर, एक-सा नित्य भरा है॥
जयदेवी ! तज मोह, देह भी नाहीं तेरा।
क्यों करती अभिमान गेह मेरा, धन मेरा॥



पूर्ण समर्पण

(गतांकसे आगे)

५—जबतक प्रभुपर पूर्ण विश्वास नहीं होता, जबतक उनकी अतुलनीय गुणावलिपर श्रद्धा नहीं होती, तबतक मनुष्य उनकी तुलनामें सबको नीचा समझकर केवल उन्हींको भजनेके लिये प्रयत्न नहीं कर सकता। विश्वास और श्रद्धा ही भगवत्-प्राप्तिके मार्गके प्रधान संबल हैं। इस पाथेयको साथ लिये विना मनुष्य परमार्थके मार्गपर दो चार पैंड भी आगे नहीं बढ़ सकता। भगवान् ऐसी वस्तु नहीं हैं जो अपनी सिद्धिके लिये हम-सरीखे जन्तुओंसे प्रमाणपत्र लेनेकी इच्छा रक्खें। जिसकी सिद्धिसे हम सबकी सिद्धि है, जिसके प्रमाणसे हम सब प्रमाणित हैं, जिसके अस्तित्वसे हम सबका अस्तित्व है, उस प्रभुको हमारी सीमाबद्ध बुद्धिके प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी चेष्टा वातुलता और वाचालतामात्र है। जिन स्वाभाविक दैवी-सम्पदासम्पन्न सन्त आप्त पुरुषोंने प्रबल साधन करके भगवत्कृपासे भगवान्‌को जान लिया है, उनके वचनोंपर परम विश्वास करने और उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेसे ही परमात्माका साक्षात्कार हो सकता है। विश्वास ही सारे साधनोंकी जड़ है, लौकिक कार्योंमें भी जब श्रद्धा-विश्वास बिना कार्य सिद्ध नहीं होता,—सिद्ध होना तो दूर रहा, उसके करनेमें मन ही नहीं लगता, तब मानवीदृष्टिसे सर्वथा अदृष्ट परमात्माकी प्राप्ति और प्राप्तिके मार्गपर गति बिना श्रद्धा-विश्वासके कैसे हो सकती है। पहले यह ध्रुव विश्वास करना होगा कि परमात्मा हैं, फिर उन निर्गुणकी महान् गुणावलिपर इतना अधिक विश्वास करना होगा कि उनके समस्त सद्‌गुणोंका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, सन्त और शास्त्र जो कुछ वर्णन करते हैं, सो तो समुद्रकी तुलनामें एक जलकणके बराबर भी नहीं है। उनकी दया, करुणा, शक्ति, प्रेम, ज्ञान आदि सभी अनन्त और अनिर्वचनीय हैं।

परमात्माके मिलनेमें देर नहीं है, जो कुछ देर है सो हमारे यथार्थ विश्वास करके उन्हें चाहने और पुकारनेमें ही है। परमात्माका विश्वासी भक्त और किसकी आशा करेगा? और किससे अपनी रक्षा या मनोरथकी पूर्ति चाहेगा? सर्वलोकमहेश्वर, सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्याधार, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी, सर्वतोचक्षु, सर्वोपरि, सहजसुहृद्, करुणावरुणालय प्रभुको पाकर वह किसके सामने हाथ फैलायेगा? जबतक वह दूसरेको स्वामी मानता है, दूसरेसे सुखकी आशा करता है, दूसरेके सामने हाथ फैलाता है, तबतक उसे परमात्माके स्वरूप और गुणोंपर विश्वास ही नहीं है। रामचरितमानसमें महात्मा कागभुशुण्डिजीने कहा है—

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।
बिनु हरिभजन न भवभय नासा॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
राम-कृपा बिनु सपनेहु, जीव कि लहइ बिश्राम॥
असि बिचारि मति धीर, तजि कुतर्क संशय सकल।
भजहिं राम रघुबीर, करुनाकर सुन्दर सुखद॥

भगवान्‌के वचन हैं—

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहाँ बिस्वासा॥

विश्वास होनेसे अनन्य भजन होता है और भजनसे भगवान्‌की कृपाका प्रसाद प्राप्त होता है जिससे यह आधार परमात्माका नित्यक्रीडानिकेतन बन जाता है। अनन्य विश्वासी भक्तके हृदयमें ही भगवान् बसते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

जाति पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ लय लाई। तेहिके हृदय बसो रघुराई॥

६—जो परमात्माको सर्वोपरि, सर्वज्ञानमय, सर्व-

शक्तिमान् और परमहितैषी मानकर उनके शरण होना चाहेगा उसके लिये परमात्माके अनुकूल आचरण करना अनिवार्य है। इस स्थूल संसारमें भी मनुष्य जिसको शक्ति, बुद्धि और सुहृदतामें अपनेसे बढ़कर मानकर जिसका सहारा ले लेता है, स्वाभाविक ही उसके अनुकूल आचरण करने लगता है, तब जो परमात्माके शरण है, वह परमात्माके प्रतिकूल आचरण कैसे कर सकता है? उससे स्वाभाविक ही प्रभुके अनुकूल कर्म होते हैं। जबतक अनुकूलाचरणका स्वभाव नहीं बन जाता, तबतक वह बड़ी सावधानीके साथ मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली प्रत्येक चेष्टा, संकल्प और भावको प्रभुकी प्रतिकूलतासे बचाकर अनुकूल बनानेका दृढ़ प्रयत्न करता रहता है। यह सावधानी ही साधना है। उसे प्रतिक्षण इस बातकी चिन्ता बनी रहती है कि मुझसे कोई भी चेष्टा स्वामीकी रुचिके प्रतिकूल न बन जाय। मेरा प्रत्येक श्वास स्वामीकी रुचिके अनुसार ही चले। जिस बातमें स्वामी प्रसन्न होते हैं, उसी बातमें वह परम प्रसन्न रहता है। जगत्के सुख-दुःख, हानि-लाभकी कुछ भी चिन्ता न कर वह प्रतिक्षण प्रभुकी आज्ञा और अनुकूलताका ध्यान रखता है। बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी वह धीर पुरुष स्वामीकी अनुकूलताके पथसे—धर्ममार्गसे विचलित नहीं होता। और जो प्रभुके अनुकूल आचरण करता है, उसीको प्रभु अपना परम प्यारा समझते हैं।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानहिं जोई॥

अनुकूलताका संकल्प शरणागतिका प्रधान अंग माना गया है।

७—मनुष्यकी बुद्धि ममतारूपी रातमें सो रही है, इसीसे वह जगत्के पदार्थोंको अपना समझता है और उनकी रक्षा तथा प्राप्तिके लिये सदा प्रयत्न करता रहता है। संसारमें जो कुछ भी है सो सब परमात्माका ही है। वस्तुतः तो एक परमात्मा ही हैं, उनसे अभिन्न कुछ है ही नहीं। मनुष्यकी जड़-बुद्धि ही चिन्मय परमात्मामें जड़-जगत्का आरोप करती है। परन्तु कम-से-कम इतना तो मनुष्यको अपनी परमात्माभिमुखी स्थूल दृष्टिसे भी देखना ही चाहिये कि यहाँ जो कुछ भी है, सब परमात्माकी सम्पत्ति है। वही मायाधीश्वर सुनिपुण नटराज अपनी मायासे जगन्नाटकका अभिनय कर रहे हैं। हम सब मनुष्य उनके इङ्गितपर खेल करनेवाले पात्र हैं। उन सूत्रधारके इशारेपर नाचना ही हमारा काम है, इसीमें मनुष्यत्व है। जो मनुष्य अपनी पात्रताको भूलकर नाटकके स्वांगको और खेलको सत् और नित्य, एवं खेलकी सामग्रीको अपनी मान लेता है, वह बड़ी भूल करता है। नाटकके अभिनयमें स्वांग धारण किये हुए पात्रोंके स्वांगका सम्बन्ध स्टेजतक ही है। जबतक वे स्टेजपर रहते हैं तभीतक परस्पर स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, राजा-प्रजाका यथायोग्य अभिनय करते हैं, स्टेजसे हटकर पर्देके अन्दर जाते ही उनका सारा दिखाऊ सम्बन्ध मिट जाता है। यहाँतक कि उनकी पोशाकतक बदल दी जाती है या उतार देनी पड़ती है। इसी प्रकार इस जगन्नाटकमें भी हमारे सारे नाते तथा सारे खेल केवल मालिककी प्रसन्नताके लिये—उसके खेलको पूर्ण करनेके लिये हैं। इसीलिये स्वामीने हमें ये स्वांग देकर अपने-अपने स्वांगके अनुसार नियमित अभिनय करनेकी आज्ञा दी है। यदि हम इस खेलको और खेलकी सामग्रियोंको उनकी लीला और सम्पत्ति न मानकर अपनी मान लेते हैं तो वैसे ही मूर्ख और अपराधी सिद्ध होते हैं, जैसे नाटकका पुरुषपात्र नाटकके अभिनयमें बनी हुई स्त्रीको अपनी सगी पत्नी और नाटककी सामग्रियोंको अपनी सम्पत्ति मान लेनेपर होता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह जगत्के समस्त पदार्थोंको परमात्माकी सम्पत्ति समझे। और सेवाके लिये

अपनेको मिले हुए समझकर विना आसक्ति और फल-कामनाके केवल प्रभुकी लीला सम्पन्नकर—उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उचित रीतिसे उन पदार्थोंकी—स्वजन, परिवार, गृह आदिकी सच्चे मनसे, वेगार न मानकर सेवा और सँभाल करे तथा आवश्यकतानुसार प्रभुकी आज्ञाके अनुकूल प्रभुकी उन चीजोंको प्रभुके ही कार्यमें समर्पण करता रहे ।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'

—में भक्तका यही भाव दिखलाया गया है। इस-प्रकार जो नाट्य-निपुण विवेकी पुरुष है, वही मनुष्य है; शेष माया-मुग्ध दर्शकश्रेणीके पशु हैं जो वात-बातमें अनुकूलता और प्रतिकूलताका अनुभव कर हर्ष-शोकके प्रवाहमें ही निरन्तर बहा करते हैं । उनके हँसने-रोनेकी अज्ञानसम्भूत क्रिया कभी बन्द होती ही नहीं । दिन-रात उसीमें रचे-पचे रहना उनके जीवन-का स्वरूप होता है । ऐसे लोग परमात्माका यथार्थ भजन नहीं कर सकते । परन्तु जो लोग सब कुछ परमात्माका जानते हैं, वे लौकिक योगक्षेमकी परवा न कर निष्कामभावसे परमात्माका भजन किया करते हैं । वे परमात्मासे कभी कुछ माँगते ही नहीं । असलमें तो उस अवस्थामें माँगनेकी बुद्धि ही उदय नहीं हो सकती, क्योंकि वे सारे विश्वप्रपञ्चको भग-वान्‌की लीला समझकर अपनी पात्रतामें ही परम सुखी रहते हैं । उनकी दृष्टिमें परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रह ही नहीं जाती । फिर परमात्माके इशारेपर नाचनेमें उन्हें जो दिव्य सुख मिलता है, उसकी तुलनामें जगत्‌का कोई पदार्थ रक्खा भी नहीं जा सकता । इसके अतिरिक्त यदि बचे-खुचे मोहवश कभी संसारके पदार्थ सत् भी प्रतीत होते हैं तो सर्वज्ञ परम दयालु भगवान्‌के शरणागत भक्त भगवान्‌से उनको माँगते नहीं। क्योंकि वे इस बातको जानते हैं कि भगवान् सर्वज्ञ हैं, तथा हमारे परम हितैषी हैं; हमारा यथार्थ हित कौन-सी बातमें है, इसको वे भलीभाँति जानते हैं । हम अदूरदर्शी हैं, निर्बोध बालकके साँप माँगनेकी भाँति हम अज्ञानवश परिणाममें महान् दुःखदायिनी आपातरमणीय वस्तुको माँग सकते हैं, परन्तु प्रभु हमारा सच्चा हित देखकर हमारे लिये जो वस्तु उप-योगी होगी, वह आप ही दे देंगे । वास्तवमें बात भी यही है । प्रभुसे माँगना तो ठगाना ही है । क्योंकि हम अपने हितकी उतनी दूरतककी कल्पना ही नहीं कर सकते, जितनी दूरतकका हमारा हित भगवान् समझते हैं । इसीलिये भक्तगण भगवान्‌की सेवा-भजन-को छोड़कर मोक्षतककी इच्छा नहीं करते । वे यदि कभी माँगते हैं तो भक्त प्रह्लादकी भाँति बस यही कि—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १० । ७)

हे स्वामिन् ! हे वरदानियोंमें श्रेष्ठ ! यदि आप मुझे मनमाना वर देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि मेरे हृदयमें कभी कुछ माँगनेका अङ्कुर ही न पैदा हो । मैं यही वर माँगता हूँ । अथवा यह कि—

बार बार बर माँगौ, हरषि देहु श्री रङ्ग ।
पदसरोज अनपायिनी भगति सदा सत्सङ्ग ॥

८—ऐसे शरणागत भक्त भगवान्‌के प्रत्येक मङ्गल-मय विधानमें सतत सन्तुष्ट होते हैं । उनका यह दृढ़ निश्चय है कि भगवान् कभी अमङ्गल-विधान कर ही नहीं सकते, शिव कभी अशिव नहीं हो सकते । सद्वैद्यकी कड़वी दवा या डाक्टरद्वारा चीर-फाड़की भाँति उनका कठोर-से-कठोर भी प्रत्येक कार्य जीवके कल्याणार्थ ही हुआ करता है । वैद्य या डाक्टर तो हितैषी होनेपर भी भूल कर सकते हैं, परन्तु सर्वज्ञ भगवान्‌से कभी भूल नहीं होती । वैद्य-डाक्टरोंके पास ऐसे जहर भी रहते हैं जिनके प्रयोगसे आदमी मर सकता है, परन्तु भगवान्‌के अमृत-भण्डारमें जहर है

ही नहीं। उनके किसी भी प्रयोगसे किसीका परिणाममें अनिष्ट हो ही नहीं सकता। लौकिक जहर भी यदि उनके स्पर्श हो जाता है तो वह भी 'मीराके जहरके प्याले' की भाँति अमृत बन जाता है। अवश्य ही उनकी कृपाका स्वरूप कभी बड़े मधुर, कोमल, मृदुरूपमें प्रकट होता है, तो कभी भयानकरूपमें। यह भयानकता और मधुरता भी हमें अपने भावके अनुसार ही दीखती है वस्तुतः भगवत्कृपा सदा ही कोमल और मधुर है। विश्वासी शरणागत भक्त सुदर्शन हाथमें लिये मारनेको प्रस्तुत भगवान्‌की भयावनी मूर्तिमें भी उनकी कोमलता और मधुरताके दर्शन पाकर उनका स्वागत करते हैं। हाथमें चक्र लेकर मारनेको सामने आते हुए कालरूप भगवान्‌को देखकर भक्तवर भीष्मजी कहते हैं—

एह्येहि पुण्डरीकाक्ष ! देवदेव नमोऽस्तु ते।
मामद्य सात्त्वतश्रेष्ठ ! पातयस्व महाहवे॥
त्वया हि देव संग्रामे हतस्यापि ममाऽनघ।
श्रेय एव परं कृष्ण ! लोके भवति सर्वतः॥
संभावितोऽस्मि गोविन्द ! त्रैलोक्येनाद्य संयुगे।
प्रहरस्व यथेष्टं वै दासोऽस्मि तव चानघ॥

'आओ, आओ ! हे पुण्डरीकाक्ष ! आओ ! हे देवदेव ! तुम्हें नमस्कार है। हे सात्त्वतश्रेष्ठ ! आज इस महायुद्धमें मेरा वध करो ! हे परमात्मन् ! हे कृष्ण ! हे गोविन्द ! तुम्हारे हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण हो जायगा। मैं आज त्रैलोक्यमें सम्मानित हो गया। हे निष्पाप ! मुझपर मनचाहा प्रहार करो। मैं तुम्हारा दास हूँ।'

भगवान्‌के इस भक्तवत्सल परमप्रिय कालरूपको भीष्मजी जीवनमें नहीं भूले। प्राण छोड़ते समय भी उन्होंने इसी रूपमें दर्शन देनेकी प्रार्थना की। भक्त सूरदासने भीष्मके भावका वर्णन यों किया है—

वा पटपीतकी फहरान।
कर धरि चक्र चरनकी धावनि, नहिं बिसरति वह बान॥
रथतें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच-रजकी लपटान।
मानौं सिंह सैलतें निकस्यौ, महामत्त गज जान॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेटि बेदकी कान।
सोई सूर सहाय हमारे, निकट भये हैं आन॥

भगवान्‌के विधानको बदलनेमें असमर्थ और निरुपाय होनेके कारण सन्तुष्ट रहना दूसरी बात है और उसमें पहले प्रतिकूल रहनेपर भी, भगवान्‌का दिया हुआ दान समझकर उसमें सहज अनुकूलताका अनुभव करके परम सन्तुष्ट होना दूसरी बात है। भक्त वास्तवमें निरुपाय होनेके कारण मन मारकर सन्तुष्ट नहीं रहता, बल्कि प्रत्येक प्रतिकूल-से-प्रतिकूल विधानमें मङ्गलरूप भगवान्‌का मङ्गलमय हाथ देखकर अनुकूलताका प्रत्यक्ष अनुभव करता हुआ परम प्रसन्न होता है। उसे उसमें वस्तुतः अतिशय आनन्द मिलता है। वह प्रभुकी रङ्ग-विरङ्गी आकृति और लीलाओंको देख-देखकर पद-पदपर प्रमुदित होता है। यह भी शरणागतिका एक प्रधान साधन है।

९—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

हे अर्जुन ! इस समस्त जगत्‌का धारण करनेवाला और कर्मफलोंको देनेवाला, पिता, माता, पितामह, जाननेयोग्य पवित्र ओंकार-तत्त्व, ऋक्, साम और यजुर्वेद, सबकी परम और चरम गति, सबका भरण-पोषण करनेवाला, सबका एकमात्र स्वामी, सबके समस्त शुभाशुभका द्रष्टा, सबका मूल निवासस्थान, सबका शरण्य, सबका सुहृद्, सबको अपनेसे उत्पन्न और अपनेमें लीन करनेवाला, सबका आधार, सबके सूक्ष्म शरीरोंका निधान और अव्यय-बीज (कारण) मैं ही हूँ।

जो भगवान्‌को इसप्रकार जान लेता है, वह भगवान्‌का ही भजन (नाम-गुण-श्रवण, कीर्तन, स्मरण)

करता है। और पद-पदपर भगवान्‌के इन स्वरूपोंका अनुभव करता हुआ विलक्षण आनन्द प्राप्त करता है। ऐसे भक्तका हृदय भगवान्‌का निवासस्थान बन जाता है। महर्षि वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे यही बात कही थी—

स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम तात।
मनमन्दिर तिनके बसहु, सीयसहित दोउ भ्रात॥

भक्त एक ओर भगवान्‌में इन सब सम्बन्धोंको स्थापित करता है, दूसरी ओर इन सम्बन्धोंमेंसे, जिन सम्बन्धोंके सम्बन्धी उसके होते हैं, उनमें भगवान्‌का स्वरूप देखता है। इसप्रकार दोनों ओरसे भगवान्‌में ही मन रमाता हुआ कभी उन्हें पिता समझकर अपनेको उनकी गोदमें देखता है, कभी स्नेहमयी जननी जानकर उनका मधुर स्तन पान करता है, कभी स्वामी समझकर उनकी सेवामें लग जाता है, कभी परम गुरु समझकर उनका सेवापरायण शिष्य बन जाता है, कभी सखा समझकर उनके साथ निःशङ्क खेलता है, कभी पति मानकर पत्नीभावसे अपना तन, मन उनके अर्पणकर उनके नाम-गोत्रको ग्रहण कर लेता है, कभी पुत्र समझकर वत्सल-भावसे उनके लालन-पालनकी लीला करता है और कभी उन्हें परम धन समझकर प्राणपणसे हृदयमें रक्षा करता है। इसप्रकार उसका मन नित्य-निरन्तर श्रीपरमात्मामें ही लगा रहता है। वह उन्हींके पवित्र नामका उच्चारण करता है, उन्हींके गुण-नामका गान करता है, उन्हींका गुण-श्रवण करता है, उन्हींके ध्यानमें रहता है और पल-पलमें उन प्रभुकी दया और प्रेमका प्रत्यक्ष अनुभवकर उन्मत्तकी भाँति प्रभुकी महिमामें मग्न हुआ नाचता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे भगवत्-सर्वस्व प्रेमी भक्तका गुण वर्णन करते हुए श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥
यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम्।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्॥

जिसकी वाणी गद्गद् हो जाती है, चित्त प्रेमसे पिघल जाता है, जो (मेरा) स्मरण करके कभी जोर-जोरसे रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गुणगान करने लगता है और कभी नाच उठता है। ऐसा मेरा परम भक्त तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है। जैसे अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्यागकर अपने निर्मल स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार मेरे (प्रेमयुक्त भजन-कीर्तनरूप) भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मजालसे छूटकर अपने स्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

१०—यों तो जगत्‌की प्रवृत्तिमात्र ही भगवान्‌की सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। प्रत्येक स्फुरणा और क्रियाके मूल-सूत्र वे ही हैं परन्तु यह सिद्धान्त समझमें आना बहुत कठिन है। कहीं-कहीं तो इस सिद्धान्तका मर्म न समझनेके कारण सभी शुभाशुभ कर्मोंमें भगवान्‌को प्रत्यक्ष सञ्चालक और प्रेरक मानकर और अपनी जिम्मेवारी भूलकर मनुष्य पाप-कर्मोंमें लग जाते हैं। इसीलिये सन्त पुरुषोंने केवल शुभ कर्मोंमें भगवान्‌को सञ्चालक और प्रेरक माना है! और यह सिद्धान्त युक्तियुक्त होनेके साथ ही सर्वथा निरापद भी है। मनुष्यके हृदयमें आत्माकी जो प्रेरणा होती है, वह स्वाभाविक ही शुभ होती है। जिनके आचरण बुरे होते हैं, उनके अन्दरसे भी आत्माकी आवाज बुरे आचरणोंके विरुद्ध और सत्कर्मोंके लिये प्रेरक आती है। परन्तु कुसंगति तथा आसक्तिवश मनुष्य उस आत्मध्वनिकी अवहेलना कर कुकर्म कर बैठता है। इससे

यह सिद्ध होता है कि मनुष्यके अन्दर आत्मा—क्षेत्रज्ञ-रूपसे विराजमान प्रभु सदा ही शुभ प्रेरणा करते रहते हैं। जो लोग सत्-सगके प्रभावसे परमात्माकी कृपाका विशेष अनुभव करते हैं, वे प्रेरणाके साथ शुभ ही कर्मोंमें प्रभुका सञ्चालन भी देख पाते हैं। प्रभु ही उनके हृदयमें शुभ कर्मकी प्रेरणा करते हैं और प्रभु ही अपनी शक्तिसे उसका सञ्चालन भी करते हैं। भक्त साधकके हृदयमें यह बात प्रत्यक्ष-सी भासती है। वह इसका अनुभव करता है और बार-बार कृतज्ञ हृदयसे प्रभुको धन्यवाद देता है। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू॥
रामभगत प्रिय लागहि जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥

अतएव मनुष्यको यह निश्चय करना चाहिये कि मेरेद्वारा जो कुछ भी शुभ कर्म होते हैं, वे सब भगवान्‌की कृपासे उनकी प्रेरणा तथा सञ्चालनमें ही होते हैं।

११—जो कार्य प्रभुके प्रतिकूल है, उसे प्रभुका शरणागत भक्त कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार जो वस्तु प्रभुके प्रतिकूल है, वह भी उस भक्तको प्रतिकूल ही भासती है। यही नाता भक्तसे भगवान्‌का है। भगवान्‌ने महाभारतमें यह स्पष्ट कहा है कि जो पाण्डवोंके मित्र हैं वे मेरे मित्र हैं और जो उनके शत्रु हैं, वे मेरे शत्रु हैं। अपने प्रियतमके मनसे प्रतिकूल कार्य प्रेमी कैसे कर सकता है ? और कैसे वह उस वस्तुसे ही प्रेम कर सकता है जो प्रियतमको दुःख देनेवाली होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रियतमके प्रतिकूल किसी वस्तुविशेषकी तो बात ही क्या है, जीवनकी भी बलि चढ़ा देता है। हमारे लिये जीवन बहुत ही मूल्यवान् और प्रिय पदार्थ है परन्तु यदि प्रियतमकी प्रसन्नता हमारे इस जीवनकी बलि लगनेमें ही है तो इस अवस्थामें क्या हम प्रियतमके मनके प्रतिकूल जिन्दा रहना चाहेंगे ? अपने प्रियतमकी रुचिपर जीवन और जीवनके सारे सुखोंको न्योछावर कर देना तो सच्चे प्रेमियोंका स्वभाव ही होता है। ऐसे असख्य प्रेमी हो गये हैं जिन्होंने अपने प्रियतमके प्रतिकूल समझकर, जीवनको सुख देनेवाले समस्त भोगोंका तृणवत् नहीं, विषवत् त्याग कर दिया है। धन-मान परिवार किसको अच्छे नहीं लगते ? परन्तु उनमें जब प्रेमीको प्रियतमके प्रतिकूलताकी गन्ध आने लगती है तो फिर वे सब उसे सुहाते नहीं। इसीसे स्त्री पुत्र, धन-धान्य और स्वजन परिवारसे भरे हुए घरको छोड़कर प्रेमी लोग फकीरीका बाना धारण कर लेते हैं। तरुणी पत्नी, इकलौते बच्चे और धन-सम्पत्तिसे पूर्ण राज्यको छोड़कर बुद्धदेव भिक्षु बन गये। महाप्रभु चैतन्यदेव माता और पत्नीके स्नेह-बन्धनको तोड़कर फकीरीका बाना धारण करनेके लिये माघके जाड़ेमें सूर्योदयसे पहले ही गगामें कूदकर उस पार जा पहुँचे। क्या ये सब पागल थे ? अवश्य ही जिनके हृदयमें प्रियतम परमात्माका स्थान विषयने ग्रहण कर रक्खा है, उनकी दृष्टिमें पागल ही थे। परन्तु वस्तुत वे ही सच्चे सयाने थे, वे इस बातको जान गये थे कि इस ससारके प्रपञ्चमें पड़े रहना उस प्रियतमके प्रतिकूल है, इसीसे वे सब कुछ छोड-छाडकर सन्यासी हो गये। इधर प्रभु नित्यानन्दजी महाप्रभु चैतन्यदेवके मनके प्रतिकूल होनेके कारण चिरकालके सन्यास धर्मको त्यागकर पुन गृहस्थी बन गये। भक्त भीलकुमार एकलव्यने गुरु द्रोणके मनके प्रतिकूल होनेके कारण प्रसन्नताके साथ अपने दाहिने हाथका अगूठा काटकर दे दिया था।

साराश यह कि प्रभु या प्रियतमके प्रतिकूल कार्य करना या प्रतिकूल वस्तुमें प्रेम रखना सेवक या प्रेमीके लिये असम्भव है। इसीलिये भक्तगण भगवान्‌के प्रतिकूल कोई कार्य भूलकर भी नहीं करते।

१२—शरणागतिके यथार्थ रहस्यका उद्घाटन भगवान्-

के शरण-प्राप्त सन्त ही कर सकते हैं, इसीलिये सत्सङ्गकी इतनी महिमा है । सच्चे सन्तोंका क्षणभरका सङ्ग भी बहुत अधिक लाभदायी हुआ करता है । सभी शास्त्रों और अनुभवी पुरुषोंने तथा स्वयं भगवान्‌ने भी सत्सङ्गकी बड़ी महिमा गायी है । यथार्थमें है भी यह सच्ची बात । सत्सङ्गके बिना भगवान्‌का महत्व नहीं जाना जाता, महत्व जाने बिना उनकी शरणके साधन नहीं होते । शरणागति बिना जीवका उद्धार सहजमें नहीं होता । परमार्थके साधनमें तो श्रद्धाके बाद दूसरा नम्बर सत्सङ्गका ही है परन्तु सच्ची श्रद्धा भी सत्सङ्गसे ही प्राप्त होती है । सत्सङ्गमें दो बातें खास ध्यान देनेकी हैं । १—जिनका सङ्ग किया जाय वे सच्चे सन्त पुरुष हों । और २—आचरणमें लानेके लिये तत्त्व जाननेकी सच्ची जिज्ञासाके साथ निष्कपट भावसे श्रद्धापूर्वक उनका सङ्ग किया जाय । इन दोनोंमेंसे किसी एकका अभाव होनेसे शीघ्र यथार्थ लाभ नहीं होता । यद्यपि इस जमानेमें भगवान् श्रीकृष्ण-सरीखे उपदेशक गुरु और भक्त अर्जुन-उद्धव-सरीखे जिज्ञासु शरणागत शिष्य मिलने असम्भव हैं, तथापि जहाँतक सम्भव हो, तत्त्वज्ञानी, शक्तिसम्पन्न, सच्चे सद्‌गुरुकी खोज की जाय और सच्चे अधिकारी पात्रको ही तत्त्वका उपदेश किया जाय, तो बड़ा लाभ हो सकता है । साधारणतः सन्तके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९—३१)

जो सब जीवोंपर कृपा करता है, किसीसे भी द्रोह नहीं करता, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें तितिक्षु है, सत्यव्रती है, शुद्ध-चित्त है, समदर्शी है, सबका उपकार करनेवाला है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे घिरी हुई नहीं है, जो जितेन्द्रिय है, कोमल-हृदय है, बाहर और भीतरसे पवित्र है, जो सर्वस्व परमात्माके अर्पण करके अकिञ्चन हो चुका है, निरपेक्ष है, मिताहारी है, शान्तचित्त है, मुझ परमात्मामें स्थिर-बुद्धि है, मेरी एकमात्र शरणको प्राप्त है, नित्य मेरे मननमें लगा रहता है, मेरी भक्तिमें कभी प्रमाद नहीं करता, गम्भीर-हृदय है, बड़ी-से-बड़ी विपत्तिमें भी जिसका धैर्य नहीं छूटता, जिसने (भूख-प्यास, सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु इन प्राण, बुद्धि और देहके) छः गुणोंको जीत लिया है, जो स्वयं सर्वथा मानरहित है, दूसरोंको मान देता है, चतुर है, सबका मित्र है, दीनोंपर दया करनेवाला है और परमात्माके तत्त्वका ज्ञाता कवि है ।

ऐसे सन्तोंके सङ्गसे अवश्य ही लाभ होता है परन्तु शीघ्र सच्चा लाभ उन्हींको होता है, जो निष्कपट-हृदयसे लाभकी इच्छासे सत्सङ्ग करते और तदनुकूल आचरण करते हैं, और जैसे वर्षाका जल यथास्थान ग्रहण करनेके लिये किसान खेतको भली-भाँति तैयार रखता है, वैसे ही हृदयरूपी खेतको सन्तवचनरूपी अमृत-धाराके ग्रहण करनेके लिये शुद्ध करके तैयार रखते हैं । ग्राहक-भाव-शून्य विकारी और पूर्ण विश्वासरहित हृदयमें शक्तिका सञ्चार सहजमें नहीं होता । गुरु चाहता भी है और शक्तिका प्रयोग भी करता है, परन्तु यदि शिष्य-का हृदय उसे ग्रहण नहीं करता तो वह शक्ति बार-बार वहाँसे प्रतिहत होकर लौट आती है । आधारकी योग्यतासे ही शक्तिका ग्रहण हो सकता है । इसीलिये गुरुमें श्रद्धा करके उसकी सेवामें लगे रहनेकी विधि है । परीक्षाके लिये, कौतूहल-निवृत्तिके लिये या मनोरञ्जनके लिये जो लोग सत्सङ्ग करते हैं,

बहुत ही कम लाभ होता है। सद्‌गुरुकी परीक्षा साधारण मनुष्य अपनी विद्या-बुद्धि या योग्यतासे कदापि नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी विद्या-बुद्धि और योग्यता गुरुके गुणों तथा शक्तियोंकी छायाको भी छूनेकी योग्यता नहीं रखती। ऐसी हालतमें श्रद्धायुक्त सच्ची जिज्ञासा ही लाभदायक होती है। जो पुरुष गुरुमें दोष देखा करते हैं या उनके कार्यों-को अपनी कसौटीपर कसकर उनके अच्छे-बुरे होने-की मीमांसा किया करते हैं, वे प्रायः कोरे ही रह जाते हैं। यद्यपि आजकल ऐसे महात्मा पुरुषोंका मिलना बहुत ही कठिन है, परन्तु असम्भव नहीं है। भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर भगवान् स्वयं सच्चे जिज्ञासुके लिये ऐसे सद्गुरुकी व्यवस्था कर देते हैं जो शिष्यके समस्त अज्ञानको हरनेमें समर्थ होता है।

१३—जो मनुष्य अपनेको प्रभुका दास मानता है अर्थात् जो दास्यरतिसे प्रभुके चरणोंमें आत्म-समर्पणकर प्रभुका बन जाता है, प्रभु उसपर बड़ी भारी कृपा करते हैं। श्रीहनूमान्‌जी, श्रीभरतजी प्रभृति महान् भक्त इस दास्यरतिके ही परम उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इसीलिये श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

इस साधनमें साधकको भ्रमवश गिरनेका भय नहीं है। वह स्वामीके असीम बलसे सदा सुरक्षित और बलवान् रहता है। स्वामीके भयसे पाप-ताप उसके समीप नहीं आ सकते। काम-क्रोधादि चोर-डाकू उसका पीछा नहीं कर सकते। सरकारका छोटा-सा नौकर भी जैसे सरकार समझा जाता है, उसके अपमानसे सरकारका अपमान, उसके तिरस्कारसे सरकारका तिरस्कार, उसके कार्यमें हस्तक्षेप करनेसे सरकारी कार्यमें हस्तक्षेप करना माना जाता है, तथा उसके कार्योंकी जिम्मेवारी सरकारपर रहती है, इसी प्रकार भगवान्‌के सेवक भक्तका अपमान या तिरस्कार भगवान्‌का अपमान या तिरस्कार माना जाता है। अतएव कोई भी पाप-ताप आदि भगवान्‌के भयसे उसको नहीं सता सकते। उसके कार्यकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर रहती है, क्योंकि वह बिना किसी वेतन या पुरस्कारके सङ्कल्पके दिन-रात तन-मनसे प्रभुकी सेवामें लगा रहनेके कारण उन्हींका स्वरूप या खास प्रतिनिधि-सा बन जाता है। '*मालिकको गोत गोत होत है गुलामको।*' गुसाईंजी महाराजका यह कथन देवर्षि नारदजीके इस सूत्रसे भी समर्थित होता है—

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्'

अर्थात् भगवान्‌में और उनके सेवकमें भेदका अभाव होता है। दोनों एक रूप ही हो जाते हैं। यह स्थिति उसी सेवककी हो सकती है, जो सेवाके लिये ही सेवा करता है, सेवाके बदलेमें देनेपर भी कुछ नहीं लेता, सेवाको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहता। सेवामें ही उसे परम आनन्द मिलता है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं अपने ऐसे सेवककी स्थिति बतलाते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

वे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर मेरी दी हुई सालोक्य (भगवान्‌के लोकमें वास), सार्ष्टि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य-प्राप्ति), सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना), सारूप्य (भगवान्‌के समान स्वरूप प्राप्त होना) और सायुज्य (ब्रह्ममें आत्माका मिल जाना) इन पाँचों प्रकारकी मुक्तिको भी ग्रहण नहीं करते।

भगवान्‌ने जब प्रह्लादजीसे वर माँगनेको कहा तो उन्होंने जवाब दिया—'हे स्वामिन्! मालूम होता है आप चाकरकी परीक्षाके लिये ही इन कामनाओंकी ओर मुझे प्रेरणा कर रहे हैं जो कामनाएँ संसारकी बीज और हृदयकी ग्रन्थिरूप हैं। नहीं तो हे जगद्-

गुरो ! आप करुणामय, अपने भक्तोंको अनर्थरूप विषयोंकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सकते । प्रभो ! जो मनुष्य आपके दर्शन पाकर आपसे सांसारिक सुख चाहता है, वह तो सेवक नहीं, लेन-देन करनेवाला बनिया है । स्वामीसे जो पुरुष सेवाके बदलेमें लाभकी आशा करता है वह सेवक नहीं है । और जो अपने प्रभुत्वकी इच्छासे सेवकका भला करता है वह प्रभु नहीं है । मैं आपका बिना मोलका चाकर हूँ और आप मेरे अभिसन्धिशून्य दयालु स्वामी हैं । अतएव दूसरे साधारण मालिक और नौकरोंकी तरह मुझको और आपको किसी भी अभिसन्धिका प्रयोजन नहीं है ।' उन निष्काम सेवकोंकी यह स्थिति होती है । वे लेनेकी तो बात भी नहीं सुनना चाहते परन्तु सेवा करनेमें एक क्षणके लिये भी विराम नहीं लेते । आलस्य और प्रमाद छोड़कर सदा स्वामीकी सच्ची और अनुकूल सेवामें लगे रहना ही उनका सहज स्वभाव होता है । भगवान् कहते हैं, मैं ऐसे सेवकका ऋणी बन जाता हूँ । बदलेमें मोक्ष ले ले, तब भी किसी तरह ऋण उतर जाता है, पर जो कुछ लेता ही नहीं, और सेवा भी छोड़ता नहीं, उसका ऋण कैसे उतरे ? भगवान् श्रीरामने हनूमान्‌जीसे कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर-नर-मुनि तनुधारी॥
प्रतिउपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

भगवान्‌के सच्चे दासकी क्या चाह रहती है, इस विषयपर, मरते हुए भक्तराज दैत्यपति वृत्रासुरके उद्गार पढ़िये—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक्कर्म करोतु कायः ॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २४-२६)

हे हरे ! मैं मरकर भी फिर आपके दोनों चरण ही जिनके आश्रय हैं उनके दासोंका दास ही होऊँ । हे प्राणनाथ ! मेरा मन आपके गुणोंके स्मरणमें, वाणी गुण-कीर्तनमें और शरीर आपकी सेवामें ही लगा रहे । हे सर्वसौभाग्यनिधि ! मैं आपके दासत्वको छोड़कर स्वर्गका राज्य, ब्रह्माका पद, सार्वभौमराज्य, पातालका राज्य, योगसिद्धि, यहाँतक कि अपुनर्भव-मोक्ष भी नहीं चाहता । जैसे पक्षियोंके बिना पाँखके बच्चे भूखसे व्याकुल हो माताके आनेकी बाट देखा करते हैं, जैसे रस्सीमें बँधे छोटे भूखे बछड़े गौका दूध पीनेके लिये छटपटाया करते हैं और जैसे कामपीड़िता स्त्री परदेश गये हुए पतिको पानेके लिये व्याकुल होती है । हे कमलनयन ! वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनकी अभिलाषा करता है ।

सेव्य-सेवक-भावके आचार्य गोसाईं तुलसीदासजी महाराज अपनी मनोकामना प्रकट करते हैं—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं ।
और आस बिस्वास भरोसो, हरौ जीव-जड़ताई ॥
चहौं न सुगति, सुमति, सम्पति कछु, रिधि-सिधि बिपुल बड़ाई ।
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई ॥
कुटिल करम लै जाइ मोहि जहँ, जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़िये, कमठ अण्डकी नाँई ॥
या जगमें जहँलगि या तनुकी, प्रीति प्रतीति सगाई ।
ते सब तुलसिदास प्रभुहीसों, होहिं सिमिटि इक ठाँई ॥

भक्तकवि कुलशेखर कहते हैं—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नव कामोपभोगे
यद्यद्भाव्यं भवतु भगवन्! पूर्वकर्मानुरूपम् ।

एतत् प्रार्थं मम बहुमतं जन्मजन्मान्तरेऽपि
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु ॥

१४–मनुष्यके द्वारा जितने पाप होते हैं, उनमें आसक्ति ही प्रधान कारण है । यद्यपि सञ्चित और प्रारब्धके कारण पापकी स्फुरणाएँ मनमें हो सकती हैं, परन्तु आसक्ति न होनेसे अथवा महान् सत्संगके प्रभावसे वे स्फुरणाएँ क्रियारूपमें परिणत नहीं हो सकतीं । भगवान्से अर्जुनने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥

(गीता ३ । ३६)

हे भगवन् ! पाप करनेकी इच्छा न रहनेपर भी यह मनुष्य, मानो कोई बलात्कारसे उसे पाप करनेके लिये बाध्य करता है, ऐसे बाध्य होकर किसकी प्रेरणासे पाप करता है ?

भगवान्ने उसी क्षण स्पष्ट कहा—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

(गीता ३ । ३७)

'(आसक्तिरूप) रजोगुणसे उत्पन्न काम ही क्रोध है, यही महअशन (अग्निकी भाँति भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) पापी शत्रु है, (जिसकी प्रेरणासे मनुष्य पाप करता है ।) हे अर्जुन ! तुम इसीको बैरी समझो ।'

'जैसे धुएँसे अग्नि, मलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका जाता है, वैसे ही यह काम ज्ञानको ढक लेता है । यह ज्ञानका नित्यवैरी काम इन्द्रियों, मन और बुद्धिमें रहता है और उन्हींके द्वारा ज्ञानको ढककर जीवको मोहमें डालकर पाप करवाता है; इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान-विज्ञानके नाशक पापी कामका वध करो । यह न समझो कि इन्द्रियाँ तुमसे बलवान् हैं । इन्द्रियाँ बलवान् हैं; परन्तु इनसे बलवान् मन है और मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है एवं तुम आत्मा तो बुद्धिसे भी अति श्रेष्ठ हो । तुम्हारा बल अप्रतिम है । इसप्रकार अपनेको बुद्धिकी अपेक्षा श्रेष्ठ और बलवान् जानकर बुद्धिके द्वारा मन और इन्द्रियोंको वश करके हे महाबाहो ! इस दुर्जय कामरूपी शत्रुको मार डालो ।'

दयामय भगवान्के इस उपदेशसे यह सिद्ध हो गया कि पाप होनेमें आसक्तिसे उत्पन्न काम ही प्रधान कारण है और इसका नाश मनुष्य चाहे तो कर सकता है । नहीं करता तो, यह आसक्तिके वश होकर अपने कर्तव्यको भूल रहा है । इसीसे पापका कर्ता और उसके फलका भोक्ता मनुष्य माना जाता है । जो मनुष्य इस सिद्धान्तको न समझकर पापमें प्रभुको प्रेरक मानकर पापकी जिम्मेवारी भगवान्पर मँढ़ना चाहते हैं, वे अभक्त और मूढ़-धी हैं । भक्तको तो ऐसा ही मानना चाहिये कि मुझसे जो कुछ भी पाप-कर्म बनते हैं, उनका कर्त्ता मैं हूँ । और भगवान्से बलकी प्रार्थना करके भगवत्कृपा प्राप्त करके पापोंसे छूटना चाहिये ।

१५–भगवान्की सच्ची प्रार्थनामें बड़ा बल है। प्रार्थना दो तरहकी होती हैं । एक भगवान्के गुणोंका निष्काम गान और दूसरी कष्ट-निवारणार्थ या शक्ति प्राप्त करनेके लिये आर्त्त-करुण-क्रन्दन । इनमें पहलीको स्तुति कहते हैं और दूसरीको प्रार्थना । दोनों भावोंका मिश्रण भी कहीं-कहीं हो जाता है । प्रार्थना सच्ची होनी चाहिये, फिर उसका फल तत्काल होता है । भगवान् सबकी सच्ची पुकार सुनते हैं । अपनी साधारण भाषामें सच्ची आर्त्तिके साथ भगवान्की प्रार्थना करनेसे जैसे माता बच्चेका करुण क्रन्दन सुनकर सारे काम छोड़ उसके हितार्थ दौड़ी आती है, इसी प्रकार भगवान् भी दौड़े आते हैं । प्रार्थनामें प्रधान बातें दो होनी चाहिये—भगवान्पर पूरा भरोसा

और अपनेमें यथार्थ आर्तता। जहाँ ये दोनों बातें होती हैं, वहाँ प्रार्थनामें हाथोंहाथ सफलता मिलती है। यह अनुभूत सत्य है। पापसे बचनेके लिये, पापनाशके लिये, किसी कामनाके लिये, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये, शरणके साधन बननेके लिये, शरणप्राप्तिके लिये, आत्म-शक्तिकी प्राप्ति और विकासके लिये या अन्य किसी भी सद् हेतुसे प्रार्थना की जा सकती है। दूसरेके अनिष्ट या पाप-कर्ममें सफलता पानेके लिये कभी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये। सकाम भावसे भी बचता रहे तो अति उत्तम है। परन्तु यदि नहीं रहा जाय तो सकाम प्रार्थना भी करे। भगवान्‌में प्रयुक्त होनेवाला सकाम भाव भी भगवत्कृपासे अन्तमें प्रेमके रूपमें परिणत हो जाता है और भगवत्प्राप्तिका कारण बनता है। भगवान्‌ने श्रीगीतामें कहा है। मुझको कोई कैसे भी भजे अन्तमें मुझको ही पाता है।, *'मद्भक्ता यान्ति मामपि'* यही भगवद्भजनकी विशेषता है।

श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

जग जाँचिय कोउ न जाँचिय तो
जिय जाँचिय जानकि-जानहि रे।
जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाय
जो जारत जोर जहानहि रे॥
गति देखु बिचारि बिभीषणकी
अरु आनि हिये हनुमानहि रे।
तुलसी भजु दारिद-दोष-दवानल
संकट कोटि कृपानहि रे॥

(कवितावली)

अतएव प्रभु-प्रार्थनामें विश्वास रखकर प्रार्थना करनी चाहिये।

इसप्रकार शरणागतिके पन्द्रह साधनोंका यह संक्षिप्त वर्णन है। विशेष बातें सुयोग्य और विज्ञ गुरुसे जानकर तदनुकूल आचरण करने चाहिये। ज्यों-ज्यों आधार शुद्ध होकर समर्पणके योग्य होगा, त्यों-ही-त्यों अशान्ति, विषाद, शोक, अहंता और ममता आदि नाश होते दिखायी देंगे। प्रत्येक स्थितिमें प्रभुके मंगलमय विधानका प्रत्यक्ष अनुभव होनेसे चित्त सदा प्रफुल्लित रहने लगेगा। धीरे-धीरे प्रत्येक कार्यमें भी प्रभुकी प्रेरणा भासने लगेगी, तदनन्तर सञ्चालनमें भी प्रभुका हाथ दिखलायी देगा। इसके बाद प्रत्यक्ष यह प्रतीत होगा कि मानो भागवती शक्ति स्वयं इस आधारमें अवतीर्ण होकर अपना काम करने लगी है। बस, इस स्थितिके अनन्तर ही प्रभु इस आधारपर पूर्ण अधिकार जमा लेंगे। सब कुछ स्वयमेव समर्पण हो जायगा। यही दिव्य जीवन है। ऐसे भगवान्‌के क्रीड़ाकेन्द्र पुरुषके कर्म ही दिव्य-कर्म हैं। उसीकी वाणी शास्त्र है। वह तो तर ही गया, पर वह उन सबको भी तार सकता है जो किसी प्रकारसे भी उसके सम्बन्धमें आकर उसके हृदयका स्पर्श पा जाते हैं। उसका जन्म, जीवन, कर्म, आचार सर्वथा धन्य है! उसके निवाससे भूमि पवित्र और धन्य होती है। उसके स्नानसे तीर्थ तीर्थ बन जाते हैं। उसके गुणगानसे वाणी पवित्र होती है। उसके जन्मसे कुल और देश कृतार्थ हो जाते हैं। उसके आदर्श जीवनकी लीलाओंसे पीढ़ियोंको प्रकाश मिलता है और उस प्रकाशके सहारे शताब्दियों और युगोंतक लोग जगत्‌के अन्धकारमय गहन वनसे निकलकर नित्यनिकेतन प्रभुके धाममें पहुँचकर सुखी हो सकते हैं।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

ब्रह्मवेत्ताको शास्त्रकी व्यर्थता।



जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा विद्वान्के लिये शास्त्र व्यर्थ है इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुषोंके लिये जाग्रत्में शास्त्र व्यर्थ है क्योंकि श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्रसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे जीवोंके जिस अज्ञानका नाश होता है, वह अज्ञान विद्वान्को नहीं होता। इसलिये ज्ञानीके लिये शास्त्र व्यर्थ है। यदि सब जीवोंके उपदेशमें शास्त्रकी साधारण प्रवृत्ति हो तो श्रुति, स्मृति-शास्त्रमें व्यर्थता प्राप्त हो परन्तु सबके लिये शास्त्रकी साधारण प्रवृत्ति नहीं है। अनधिकारी पुरुषको त्यागकर अधिकारी पुरुषके उपदेशमें शास्त्रकी प्रवृत्ति होती है। जैसे वैश्यष्टोम नाम यज्ञ करनेका वैश्यको अधिकार है, ब्राह्मण क्षत्रियको नहीं। बृहस्पतिसव नामका यज्ञ करनेका ब्राह्मणको अधिकार है, क्षत्रिय वैश्यको नहीं। और राजसूय-यज्ञ करनेका क्षत्रियको अधिकार है, ब्राह्मण वैश्यको नहीं है। इसप्रकार जिस वर्णको जिस यज्ञके करनेका अधिकार है, उसीके करनेसे उसकी कामना पूर्ण होती है। इसप्रकार अधिकारीके लिये शास्त्र व्यर्थ नहीं है, अनधिकारीके लिये व्यर्थ है। इसी प्रकार मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र सब जीवोंके लिये सार्थक नहीं हैं, आत्मज्ञानसे रहित विवेकादि-सम्पन्न मुमुक्षुओंके लिये सार्थक हैं। जैसे विराट् भगवान् आदि ब्रह्मविद्यासे सर्वात्मभावको प्राप्त हुए हैं इसी प्रकार वर्तमान कालमें बहुत-से महात्मा सर्वात्मभावको प्राप्त हुए हैं और आगे भी कई मुनि प्राप्त होंगे।

ब्रह्मविद्यामें विलक्षणता

हे इन्द्र! जैसे पक्षियोंको आकाशमें उड़नेकी और मछलियोंको जलमें चलनेकी चतुराई जन्मसे ही होती है, किसी यत्नसे प्राप्त नहीं होती, इसी प्रकार विराट् भगवान्, कपिलमुनि तथा सनत्कुमारादिको अदृष्टादि कारणके बिना ही ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है, और वाल्मीकि तथा वामदेवादिमें तो फलको उत्पन्न करनेवाले पुण्य-पापरूप निमित्तसे ही ब्रह्मविद्या उत्पन्न होती है। जैसे यौवन-कालमें किसी एक पुरुषको अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्मसे यश, धन तथा पुत्रादि प्राप्त हो जाते हैं इसी प्रकार वामदेवादिको अपने पूर्वके पुण्य-कर्मोंसे ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है। जैसे नेत्रसे सबको रूपका ज्ञान होता है, इसी प्रकार गुरुके उपदेश किये हुए शास्त्रसे सब अधिकारियोंको ब्रह्मविद्या प्राप्त होती है।

इन्द्र-हे भगवन्! पूर्वमें आपने विराटादिमें स्वभावसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कही, और वर्तमानमें सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याको शास्त्रकी कारणता कही, इसलिये आपके कथनमें विरोध है, इसका क्या कारण है?

दध्यङ-हे इन्द्र! मैंने जो पहले विराटादिमें स्वभावसे और वामदेवादिमें पुण्य-कर्मके प्रभावसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कही है, उसका कारण इतना ही है कि जैसे अस्मदादि जीवोंको ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये गुरुके समीप निवास करनेकी और अध्ययन आदिकी आवश्यकता है, इसप्रकार विराट् और कपिलादिको नहीं है। वामदेवादिके समान उनको शास्त्र-अध्ययनकी भी आवश्यकता नहीं है। जैसे पक्षी स्वभावसे ही उड़ने लगता है, यह तो ठीक है

परन्तु उसे पंखोंकी तो जरूरत पड़ती ही है, इसी प्रकार शास्त्र-अध्ययनकी सबको जरूरत पड़ती है। विराट् भगवान्को और कपिलादि मुनियोंको स्वभावसे, वामदेवादिको अपने पुण्य-कर्मके प्रभावसे और सब अधिकारियोंको गुरुके उपदेश किये हुए वाक्यसे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है, इन सबमें शास्त्र मुख्य कारण है और शास्त्रका श्रवण भी कारण है। जिसप्रकार भूखेकी भोजनके बिना किसी अन्य प्रकारसे तृप्ति नहीं होती, इसी प्रकार श्रवण बिना किसीको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं होती। विराटादिको भी श्रवणसे ही उसकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मविद्याका स्वरूप

हे इन्द्र! 'ब्रह्म' शब्दसे, 'आत्म' शब्दसे और 'ब्रह्म' तथा 'आत्म' शब्दसे उत्पन्न हुए वृत्तिरूप ज्ञानसे रहित 'ब्रह्म' तथा 'आत्म' शब्दका सबसे अधिक और अन्तर्व्यापकरूप जो अर्थ है, वह 'मैं ही हूँ', इसप्रकारके अभेद-ज्ञानको ब्रह्मविद्या कहते हैं, इसप्रकारकी अभेद-ज्ञानरूप ब्रह्मविद्या जब उत्पन्न होती है तब सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्ति होती है, सर्वात्मभावरूप फलमें ब्राह्मणादि उत्तम जातिकी कोई आवश्यकता नहीं है, ब्रह्मविद्यासे जैसे ब्रह्म सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार देव, दानवादि सभी श्रवणादि साधनोंद्वारा जो ब्रह्मविद्याको प्राप्त होते हैं, वे भी सर्वात्मभावको प्राप्त होते हैं, 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारके अभेद-ज्ञानसे अनेक ब्राह्मण, मुनि तथा अनेक असुर सर्वात्मरूप ब्रह्मको प्राप्त हुए हैं। ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंको ब्रह्मविद्याका फल परोक्ष नहीं है, उनके अनुभवसे सिद्ध है। हे इन्द्र! पूर्वमें एक वामदेव नामका मुनि था, वह मुनि माताके गर्भमें ही ब्रह्मज्ञानको प्राप्त होकर ब्रह्मविद्याके फलमें विश्वास करानेके लिये अधिकारीजनोंपर कृपा करके इसप्रकार कहने लगा—

वामदेव-हे अधिकारी ब्राह्मणो! ब्रह्मविद्याके प्रभावसे माताके गर्भमें ही मुझे सर्वात्मभावकी प्राप्ति हुई है। इसलिये ब्रह्म-विद्याके फलरूप सर्वात्मभावमें विश्वास करानेके लिये मैं तुमसे जो कुछ कहता हूँ, उसको सुनो—'तुम्हारी दृष्टिमें तुममेंका एक वामदेव नामका मैं पूर्वके शरीरको त्यागकर अब माताके गर्भमें हूँ। यद्यपि मैं सर्वात्मारूप हूँ और पूर्वमें मुझको और अन्य सब अधिकारियोंको सनकादि मुनियोंने एक ही समान ब्रह्म-विद्याका उपदेश किया था परन्तु उस समय विषयासक्त होनेके कारण मैं आत्माको जान न सका। जैसे जन्मका अन्धा मनुष्य अपने हाथमें रक्खी हुई अत्यन्त प्रकाशयुक्त मणिको देख नहीं सकता इसी प्रकार विषयासक्तिके दोषसे हृदयमें स्थित आत्माका मैं नहीं जान सका। इसलिये उस समय मुझको आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ और इसी कारण अब मुझको बन्धनरूप शरीरकी प्राप्ति हुई है। जैसे इस शरीररूप बन्धनकी मुझे प्राप्ति हुई है इसी प्रकार दूसरोंको प्राप्ति न हो, इसका उपाय आत्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई नहीं है, इसलिये आत्मज्ञान-प्राप्तिके लिये सब अधिकारियोंको यत्न करना चाहिये। ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे मैंने गर्भमें ही सर्वात्मभावका अनुभव किया है इसलिये इस ब्रह्म-विद्यामें तुममेंसे किसीको सन्देह करना उचित नहीं है। चारों युगोंमें ब्रह्म-विद्यासे सर्वात्मभावकी प्राप्ति होती है। हे ब्राह्मणो! मैं तुमसे ब्रह्मविद्याका फल कहता हूँ, सुनो। हे अधिकारी ब्राह्मणो! मनुष्यादि सृष्टिका कारण स्वायम्भू मनु मैं ही हूँ, सारे जगत्का प्रकाश करनेवाला सूर्य मैं ही हूँ, कक्षी नामका मुनि मैं ही हूँ और सूर्यको प्रकाश करनेवाला चैतन्य भी मैं ही हूँ, इसप्रकार मुझमें सब प्रकारसे ईश्वर-भाव है। अब मैं अपनेमें जीव-भाव बताता हूँ, उसको सुनो। चौदह लोकमें जितने शरीर हैं, वे सब मुझको प्राप्त हो चुके हैं। तात्पर्य यह कि जन्म-मरणसे रहित होनेपर भी शरीरादिकी उपाधिसे मैं अपनेमें जन्म-मरण मानता था। भृगुका पुत्र शुक्र मैं ही हूँ, मैंने ही परशुरामका अवतार धारण करके

कश्यपके समान ब्राह्मणोंको पृथिवी दानमें दी थी। पुण्य-पापरूप कर्मसे जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके जीवोंको मेघरूप होकर मैं जल देता हूँ। यह वृष्टि पुण्य-पापरूप फलसे ऊँच-नीच शरीरोंकी तथा सर्व जीवोंके सुख-दुःखकी कारण है। मैं तीनों लोकोंमें रहकर सूर्यरूप होकर जलका आकर्षण करता हूँ। जैसे क्षुधातुर बालक अपनी माताके शरण जाता है इसी प्रकार दैत्यादिसे अभिभवको प्राप्त हुए इन्द्रादि देवता मेरे ही शरणमें आते हैं। तारकासुरके पक्षवाले शङ्खासुर नामके असुरकी मायासे रची हुई नव्वे पुरियोंका मैं कार्तिकेयरूप धारण करके इसप्रकार नाश करता हूँ, जैसे कि मुमुक्षुजन प्रणवरूप मन्त्रसे हृदयके अज्ञानका नाश करते हैं।

दध्यङ—हे इन्द्र! इसप्रकारके वचनोंसे वामदेव नामक ऋषिने सब ब्राह्मणोंसे सर्वात्मभावकी प्राप्तिरूप ब्रह्म-विद्याका फल कहा। वामदेवके वचन श्रुतिमें विद्यमान हैं। सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्तिका साधन एक ब्रह्म-विद्या ही है। इसलिये अधिकारियोंको ब्रह्म-विद्याका सम्पादन अवश्य करना चाहिये। हे इन्द्र! ब्रह्म तथा आत्माके अभेदरूप ज्ञानसे सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्ति होती है। जिसको यह ब्रह्म-विद्या प्राप्त हुई है, उसको देवता भी वश नहीं कर सकते; क्योंकि देवता देवताओंको वश नहीं कर सकते। भाव यह है कि जैसे अग्नि काष्ठादिको जला देती है परन्तु अपनेको नहीं जला सकती, इसी प्रकार देवता अपनेसे भिन्न पुरुषोंको वश करनेमें समर्थ हैं, अपनेको वश करनेमें समर्थ नहीं हैं। जो विद्वान् ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है, वह देवताओंसे भिन्न नहीं रहता, उनका आत्मा ही हो जाता है।

इन्द्र—हे भगवन्! हम देवता अपने आपको वश नहीं कर सकते, पर अपनेसे भिन्न विद्वान्को वश क्यों नहीं कर सकते?

दध्यङ—हे इन्द्र! विद्वान् ब्रह्म-विद्याके प्रतापसे सर्वात्मभावको प्राप्त हो जाता है इसलिये विद्वान् देवताओंसे भिन्न नहीं है, वह सब देवताओंका आत्मा है अतएव तुम देवतालोग अपने आत्मारूप विद्वान्को वश नहीं कर सकते। यदि तुम ऐसा मानो कि विद्वान् स्थूल शरीरसे बाहर दीखता है इसलिये वह हमारा आत्मा नहीं हो सकता तो यह तुम्हारा मानना ठीक नहीं है क्योंकि जैसे घटाकाश सर्वत्र व्यापक नहीं है तो भी घटरूप उपाधिसे भिन्न होकर सबके हृदयमें स्थित है, इसी प्रकार ब्रह्म-विद्याके प्रभावसे देहाभिमानरहित विद्वान् तुम सबका आत्मा है। यदि तुम सर्वात्मभावको प्राप्त हुए विद्वान्के अनुकूल या प्रतिकूल कुछ करोगे तो तुम्हारा किया हुआ वह तुम्हींको प्राप्त होगा, क्योंकि उस असङ्ग विद्वान्को अनुकूलता या प्रतिकूलता स्पर्श नहीं कर सकती, जैसे कोई एक मनुष्य दूसरेका मस्तक धारण करके अपने मस्तकपर मारे तो उसीके मस्तकमें चोट लगती है, इसी प्रकार विद्वान् सबका आत्मा होनेसे उसको मारनेसे अपनेको ही चोट लगती है। प्राणिमात्रमें सम्बन्ध और असम्बन्ध दो प्रकारके रूप हैं, विद्वान् प्राणिमात्रसे असम्बन्धरूप है और अविद्यासे अपनेको भोक्ता माननेवाले जीव सम्बन्धरूप हैं। असम्बन्धरूप विद्वान्का यदि कोई मूढ़ पुरुष किसी प्रकार प्रतिकूल करे तो वह प्रतिकूलता उस सम्बन्धवाले मूढ़ जीवको ही होती है, विद्वान्को स्पर्श नहीं कर सकती। जैसे किसी मूढ़ बालकके सामने दर्पण रक्खा हो और वह मन्द-मन्द मुस्करा रहा हो तो वह ऐसा मानता है कि सामने दूसरा बालक मुस्करा रहा है। यदि वह प्रतिबिम्बके बालकमें कुछ विलक्षणता करना चाहे तो उसे पहले अपने मुखमें फेरफार करना पड़ता है, तभी प्रतिबिम्बमें विलक्षणता होती है, ऐसा करनेसे असम्बन्ध प्रतिबिम्बवाले मुखको किसी प्रकारका दुःख नहीं होता परन्तु उस फेरफार करनेवालेको

ही दुःख होता है। इसी प्रकार ताड़नादि करनेसे विद्वान्‌को प्रतिकूलता नहीं होती और पूजनादि करनेसे अनुकूलता नहीं होती। वह अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता कर्ता-भोक्ता माननेवाले तुम देवताओंको ही होती है।

इन्द्र—हे भगवन्! देवताओंसे अभिन्न विद्वान्‌को दुःख नहीं होता किन्तु हम देवताओंको दुःख होता है, इसका क्या कारण है?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे शरीरको अलंकृत करनेसे प्रतिबिम्बित शरीर अलंकृत दीखता है, इसी प्रकार विद्वान् तुम्हारा शरीररूप है और तुम उसके प्रतिबिम्बरूप हो, इसलिये विद्वानको सुख-दुःख पहुँचानेसे तुम्हींको सुख-दुःख होता है। इसी प्रकार जो कोई विद्वान्‌का पूजन करता है, उसको पूजन करनेसे सुख होता है, जैसे कोई सूर्यको धूलसे ढाँक दे तो सूर्य धूलसे नहीं ढकता, धूल डालनेवाला आप ही ढक जाता है, इसी प्रकार पूजनादि-सम्बन्धसे रहित विद्वान्‌को पूजनादिका स्पर्श नहीं होता। उस पूजनादिका फल करनेवालेको ही होता है।

अविद्याका स्वरूप

हे इन्द्र! जो पुरुष अपनेसे भिन्न मानकर तुम देवताओंकी उपासना करता है, उस उपासकके तुम स्वामी हो, क्योंकि अज्ञानी जीव देवताओंके पशुओंके समान हैं। जैसे गौशाला काष्ठ तथा मृत्तिकाकी बनी हुई होती है इसी प्रकार अज्ञानरूपी मृत्तिका और काष्ठसे ब्रह्माने इस संसारको उत्पन्न किया है, यह संसाररूपी गौशाला भेददर्शी अज्ञानी जीवोंके रहनेका स्थान है। अज्ञानी जीव तुम देवताओंको हव्य-कव्यादि देते हैं। इसलिये वे तुम्हारे आश्रयमें हैं। जैसे दूध देनेवाली एक गौको धनी अपने आश्रय मानता है, इसी प्रकार सब अज्ञानी जीवोंको तुम देवता अपने आश्रय मानते हो। जैसे गौशालामें अनेक खूँटे होते हैं, उन खूँटोंमें एक मोटा रस्सा और अनेक छोटी रस्सियाँ बँधी हुई होती हैं और उनमें गायें बँधी रहती हैं, इसी प्रकार इस संसाररूपी शालामें काम-क्रोधादि अनेक खूँटे हैं और 'यज्ञ-यागादि करना' यह विधि-वाक्य और 'ब्राह्मणकी हिंसा न करना' आदि निषेध-वाक्य, ये दो प्रकारके वाक्य एक मोटा रस्सा है। यह रस्सा काम-क्रोधादि खूँटोंमें बँधा हुआ है। और 'अग्निहोत्रादि करना' इसप्रकारका बोध करानेवाले ब्राह्मण छोटी रस्सीरूप हैं। ब्राह्मणादिरूप छोटी डोरीविधिनिषेधरूप मोटे रस्सेके साथ बँधी हुई हैं। एक-एक छोटी डोरीके साथ एक-एक अज्ञानी जीव पशु बँधा हुआ है। यद्यपि ब्राह्मणरूपी डोरीसे बँधे हुए सभी अज्ञानी जीव पशु हैं तो भी जो अज्ञानी गृहस्थ यज्ञ-यागादि करते हैं, वे सब कामधेनुके समान हैं क्योंकि वे तुम सब देवताओं, पितरों, अतिथियों और सर्व मुनियोंका पालन करते हैं इसलिये वे अज्ञानी गृहस्थ तुम देवताओंकी कामधेनु नामकी गाय हैं। जैसे इस लोकमें एक-एक कुटुम्बी गृहस्थके घर अनेक पशु होते हैं, इस प्रकार देवताओंके पास अनेक पशु नहीं हैं। एक अज्ञानी गृहस्थ ही कामधेनुके समान तुम्हारा पालन करता है। जैसे एक गाय चोरी चली जाय तो गायके धनीको महान् दुःख होता है और बहुत-सी जाती रहें तो और भी अधिक दुःख होता है। इसी प्रकार जब यह अज्ञानी जीव ब्रह्म-ज्ञानद्वारा तुम्हारे पाससे चोरी चला जाता है तो तुमको बड़ा दुःख होता है। जैसे चोरी जानेके डरसे गोपाल रात-दिन गायोंकी रक्षा करता है इसी प्रकार ब्रह्मचर्यादि साधन करनेवालोंके प्रति तुम अनेक उपद्रव करते हो, किन्तु तुम उसकी हानि नहीं चाहते, इसलिये ब्रह्म-विद्याकी इच्छावालोंको प्रथम श्रद्धापूर्वक तुम्हारी आराधना करनी चाहिये, यदि तुम इन साधनोंसे प्रसन्न होते हो तो तुम अधिकारीको सद्बुद्धि देते हो और बन्धनमेंसे उसकी रक्षा करते हो। शास्त्रमें कहा है—

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यं हि रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम् ॥

अर्थात् जैसे पशुपाल पुरुष हाथमें डण्डा लेकर हिंसकादिसे पशुकी रक्षा करता है, इस प्रकार हाथमें लकड़ी लिये देवता जीवोंकी रक्षा नहीं करते, वे सद्बुद्धि देकर उनकी रक्षा करते हैं। इसलिये प्रतिबन्धके नाशके लिये मुमुक्षुओंको देवताओंकी आराधना अवश्य करनी चाहिये। जो मुमुक्षु प्रथम देवोंकी आराधना नहीं करते उनको देवता अनेक विघ्न करते हैं। जैसे कुटुम्बीको गायका चोर प्रिय नहीं लगता इसी प्रकार ब्रह्म-विद्याको प्राप्त करनेवाला विद्वान् चोर देवताओंको प्रिय नहीं लगता। यद्यपि सबके आत्मारूप विद्वान्पर देवताओंका द्वेष नहीं होता, तो भी चित्त-शुद्धिसे रहित, कर्मके अधिकारी, कर्मसे रहित जीवपर देवताओंका द्वेष होता है, इसलिये चित्त-शुद्धिके अर्थ कर्मके अधिकारी जीवको विद्वान् कर्मसे निवृत्त नहीं करके उसको शुभ कर्ममें ही प्रवृत्त करता है। सारांश यह है कि ब्रह्म-विद्याकी उत्पत्तिसे पूर्व यद्यपि देवता विघ्न करते हैं परन्तु ब्रह्म-विद्याकी उत्पत्ति होनेपर वे विघ्न नहीं कर सकते। विद्वान् सबका आत्मा है, अद्वितीय रूप है और देवताओंसे भी अधिक है।

पुत्रादि अनात्म-पदार्थोंसे आत्मा अधिक प्रिय है, ऐसा न जाननेवालेको आनन्द-स्वरूप आत्मा जन्म-मरणसे रक्षा नहीं करता। गुरु तथा ग्रन्थ पास हों, तो भी गुरु-मुखसे वेदाध्ययन किये बिना वे वेद पवित्र नहीं कर सकते। गुरु-मुखसे अध्ययन करनेके बाद ही वेद ब्राह्मणकी रक्षा करते हैं। गुरु-मुखसे प्राप्त किये हुए शास्त्र उपदेशद्वारा आत्मा जीवकी रक्षा करता है। जैसे यज्ञादि कर्म जाननेपर भी यज्ञका अनुष्ठान किये बिना कर्मफल नहीं मिलता, इसी प्रकार गुरु-मुखसे शास्त्र जाननेपर भी पुरुषार्थ किये बिना पुरुषको आत्म-ज्ञानका फल नहीं मिलता, यदि कोई पुरुष आत्माको जाने बिना अश्वमेधादि यज्ञ करता है तो उस यज्ञके पुण्यसे वह थोड़े समय स्वर्गमें रहकर पुण्यके क्षय होनेपर परम दुःखको प्राप्त होता है। इसलिये जिस पुरुषको नित्य आनन्दकी प्राप्तिकी इच्छा हो उसको अन्य सब उपाय त्यागकर आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये। आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ पुरुषको उपासना और निष्काम कर्म करने चाहिये। उपासना और निष्काम कर्मके प्रभावसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होनेसे इस लोकमें अथवा ब्रह्मलोकमें उपासकको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है क्योंकि उपासनाका मुख्य फल ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति है।

उपासक संसारमें रहता हुआ भी हिरण्यगर्भके समान ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। भाव यह है कि जैसे हिरण्यगर्भ भगवान्को जिस पदार्थकी इच्छा होती है, उस पदार्थको वे अपनी इच्छामात्रसे उत्पन्न कर लेते हैं। इसी प्रकार उपासक भी उपासनाके प्रभावसे सब पदार्थोंको अपनी इच्छामात्रसे उत्पन्न कर लेता है। जिस पुरुषको 'मैं ब्रह्म हूँ' इसप्रकारकी बुद्धिसे आनन्द-स्वरूप आत्माका साक्षात्कार करना हो उसको सर्व अनात्म-पदार्थोंका त्याग करना चाहिये। जैसे वमन किया हुआ अन्न त्याग दिया जाता है इसी प्रकार अनात्म-पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये। आनन्दस्वरूप आत्माको न जानकर जो दूसरे अनात्म-पदार्थोंको जानता है, उसको शास्त्रवेत्ता अनात्मज्ञ कहते हैं, जैसे बालाकि ब्राह्मण आत्माके वास्तविक स्वरूपको न जानकर प्राणको ही आत्मा जानता था, इसलिये उस अनात्मज्ञ बालाकिको काशीमें अजातशत्रु राजाका शिष्य होना पड़ा था। श्रेयाभिलाषीको आनन्द-स्वरूप आत्माके सिवा दूसरे किसी अनात्म-पदार्थको जानना योग्य नहीं है।

आत्माके सिवा सभी अनात्मा है

हे इन्द्र! इस स्थूल शरीरके अभिमानी जीवको

नेत्रादि इन्द्रियोंसे जो पदार्थ दीखते हैं, उसको जाग्रदवस्था कहते हैं। जाग्रत्-अवस्था ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय और ध्याता, ध्यान तथा ध्येय, इन तीन प्रकारके स्वरूपवाली है। चैतन्यद्वारा भासनेवाले सभी पदाथ दृश्यरूप हैं, ये दृश्यरूप सभी पदार्थ अनात्मा हैं। जैसे घटादि पदार्थ दृश्य होनेसे अनात्मा हैं इसी प्रकार त्रिपुटीरूप जाग्रत् प्रपञ्च भी दृश्य होनेसे अनात्मरूप है। स्वप्नके पदार्थ मायामात्र हैं, क्योंकि रथादि पदार्थोंकी उत्पत्तिके लिये देश-काल आदिकी अपेक्षा है। देश-कालादिके अभाव होनेपर भी पूर्वकी वासनावाला मन अनेक प्रकारके पदार्थ स्वप्नमें उत्पन्न करता है। स्वप्नके पदाथ भी मिथ्या हैं। अर्थात् जैसे देश-काल बिना आकाशमें दीखनेवाला गन्धर्वनगर मिथ्या है, इसी प्रकार स्वप्नके पदार्थ भी मिथ्या हैं। ये स्वप्नके पदाथ उत्पत्ति-नाशवाले होनेसे अनात्मारूप हैं। इस शरीररूप पुरीकी हृदयरूप गुफामें नाड़ियाँरूपी मार्गद्वारा सुषुप्ति-अवस्थामें यह जीव प्रवेश करता है। यह अज्ञानयुक्त जीव शुद्ध आत्मासे भिन्न है इसलिये वह भी घटादिके समान अनात्मा है। इससे सिद्ध हुआ कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके सब पदार्थ मिथ्या होनेसे अनात्मा हैं।

इन्द्र—हे भगवन्! जब जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओंके सब पदार्थ आत्मा नहीं हैं तो इन सबसे भिन्न आत्माका क्या स्वरूप है? यह आप कहिये।

दध्यङ—हे इन्द्र! आत्मा स्वप्रकाश है। स्वप्रकाश होनेसे अपने प्रकाशके लिये अथवा दूसरे पदार्थको प्रकाश करनेके लिये आत्मा किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता। आत्माके सिवा अन्य सब पदार्थ पर-प्रकाशरूप हैं यानी अपने प्रकाशके लिये अन्य प्रकाशकी अपेक्षा रखते हैं।

इन्द्र—हे भगवन्! स्वप्रकाशरूप आत्माके लक्षणकी सूर्यादि भौतिक प्रकाशमें अतिव्याप्ति होती है क्योंकि सूर्यादि प्रकाश भी अपने प्रकाशके लिये अथवा घटादि पदार्थोंके प्रकाशके लिये अन्य किसी प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करते। जो लक्षण अपने लक्ष्यके सिवा अन्य लक्ष्यमें भी रहे, वह लक्षण अतिव्याप्ति-दोषवाला होता है।

दध्यङ—हे इन्द्र! सूर्यादि भौतिक प्रकाश अपने और अन्य पदार्थोंके प्रकाशके लिये दूसरे किसी भौतिक प्रकाशकी अपेक्षा तो नहीं करते, परन्तु चैतन्यरूप अलौकिक प्रकाशकी अवश्य अपेक्षा रखते हैं। इसलिये सूर्यादि प्रकाशमें स्वप्रकाश आत्माके लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं है। शास्त्रमें सुषुप्ति-अवस्थामें आत्माका निवास हृदय-देशमें, स्वप्नावस्थामें मन-देशमें और जाग्रदवस्थामें स्थूल शरीरमें कहा है। इसप्रकारके स्वप्रकाश आत्माका निषेधमुख-वाक्योंसे मैं तुमको उपदेश करता हूँ। 'यह पदार्थ ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है' इसप्रकार जिस वाक्यसे किसी पदार्थका वर्णन किया जाता है, उस वाक्यको निषेधमुख-वाक्य कहते हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें जीवकी श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और गुदा पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार चार अन्तःकरण, इन सबका अज्ञानमें लय हो जाता है, सुषुप्ति-अवस्थाके नाश होनेपर इन्द्रियोंसहित अन्तःकरण उस अज्ञानमेंसे उत्पन्न हो जाता है। उत्पत्ति और नाशवाले सब पदार्थ घटादिके समान असत्य होते हैं। इसलिये उत्पत्ति और नाशवाला होनेसे इन्द्रियोंसहित अन्तःकरण असत्य है। सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होनेपर भी प्राण लय नहीं होता और सुषुप्तिके नाश होनेपर प्राणकी उत्पत्ति भी नहीं होती, इसलिये प्राण सत्य है। प्राण सत्य होनेपर भी वस्तुतः सत्य नहीं है, आनन्दस्वरूप आत्मा ही परमार्थसे सत्यस्वरूप है इसलिये आत्मा सत्य प्राणसे भी अत्यन्त सत्य है। प्राण जड और अनात्मारूप है इसलिये आनन्दस्वरूप

प्राण निकृष्ट समझा जाता है। इसीलिये श्रुतिमें ब्रह्मको सत्यका भी सत्य कहा है। प्रथम सत्य शब्दसे प्राणसहित सर्व भौतिक प्रपञ्च समझना चाहिये, इस प्रपञ्चरूप कार्यका आनन्दस्वरूप आत्मा उपादान-कारण है इसलिये परमात्मा सत्यका भी सत्य है।

इन्द्र—हे भगवन्! जब प्राणसहित सर्व प्रपञ्च अनित्य है, तो उसको सत्य कैसे कह सकते हैं? जिस वस्तुका तीनों कालमें भी नाश न हो, वह वस्तु सत्य कहलाती है, प्राणसहित प्रपञ्च ऐसा सत्य नहीं है, फिर उसको सत्य कैसे कहा जाय?

(क्रमशः)

प्रत्येक भक्तका महत्व पृथक् है

(लेखक—श्रीसबनाराइनजी चित्रगुप्त)

[कहानी]



सत्ययुगका जमाना था। महात्मा नारदजी, जो अमरमण्डलके एक सदस्य हैं, घूमते-घामते एक किसानके दरवाजेसे होकर जा निकले। किसान धनीराम चौपालमें बैठा चिलम सुलगा रहा था। बाबाजीको जाता देख, चिलम रखकर, उनके चरणोंमें जा लिपटा। महात्माजी उसके साथ उसकी चौपालमें आ बैठे। किसानोंमें महात्माओंके प्रति श्रद्धा विशेष परिमाणमें हुआ करती है। धनीराम एक कलसा पानी और एक बड़ी मिठाई लाया। महात्माके चरण धोये और उनको जलपान कराया। महात्माजीने सोचा कि इसका कोई स्वार्थ होगा तभी तो इसने इतनी सेवा की? स्वार्थहीन सेवक तो महावीरकी तरह अधिक नहीं हो सकते।

महात्मा—तुम क्या चाहते हो?

किसान—कुछ नहीं, बाबा!

महात्मा— नहीं, कुछ तो?

किसान—मेरे पास सौ बीघा पक्की मारूसी जमीन है। एक हजार मन गेहूँ खत्तीमें भरे हैं। बारह गाय और पाँच भैंसें लगती हैं और तीन भैंसें गाभिन हैं। घरमें औरत भी लक्ष्मी है। गुप्त-दान दिया करती है और सीतारामका नाम हर समय रटा करती है। मुझे किसी चीजकी दरकार नहीं है, महात्माजी!

महात्मा—और पुत्र?

किसान—पुत्रसे तो हाथ धो बैठा हूँ। ज्योतिषीने भी कहा है और हम दोनोंका भी निश्चय है कि इस जीवनमें पुत्रका सुख देखनेको नहीं मिलेगा। विवाह हुए बीस साल हो गये। कभी सपनेमें भी अपने लालको नहीं देखा। पुत्रकी चरचा बेकार है, बाबा!

महात्मा—मैं ब्रह्मा, विष्णु और शंकर तीनों देवताओंके दरबारमें आया-जाया करता हूँ। महात्मा है भी वही कि जो इन तीनों दरबारोंसे पूर्ण परिचित हो। मैं किसी समय विधातासे पूछकर तुमको सन्तानके विषयमें बताऊँगा।

किसान—अच्छी बात है, महाराज!

× × ×

विधाता—उस किसान धनीरामका रजिस्टर मैंने देख लिया है। नारदजी! आप बार-बार उसके लिये

पुत्रका सवाल न किया करें । तकदीरवाला हाकिम, जिस जीवके लिये जो कर्मफल बनाकर भेजता है उसको मैं उसी जीवकी मिसिलमें दर्ज कराता हूँ और उसीके अनुसार जीवोंको दुःख-सुख दिया करता हूँ ।

नारद—प्रारब्ध-विधायक अफ़सरके खिलाफ़ आप उसको एक पुत्र मेरे अनुरोधसे नहीं दे सकते ?

विधाता—नहीं !

नारद—ऐसी नौकरीसे आपको क्या लाभ कि जिसमें ज़रा भी स्वतन्त्रता न हो ? आप इस्तीफ़ा लिखिये ।

विधाता—आप भगवान् विष्णुजीके पास जायँ । उनको विशेष अधिकार है । वह अगर चाहें तो लेखपर भी मेख मार सकते हैं ।

× × ×

नारद—यदि आप मुझे 'भक्त' मानते हों तो मेरा एक अनुरोध स्वीकार कीजिये !

विष्णु—कहिये ।

नारद—शिवपुरके धनीराम किसानको एक पुत्र दीजिये ।

विष्णु—उसको सात जन्मतक पुत्र नहीं है ।

नारद—आप अपने विशेष अधिकारद्वारा उसको एक पुत्र दे सकते हैं । मैं उसे वचन दे आया हूँ ।

विष्णु—मैं लाचार हूँ । अकारण विशेष अधिकारका उपयोग मना है । कृपया इस विषयको हटाइये । मैं कुछ भी नहीं कर सकता ।

× × ×

एक दिन महात्माजी फिर उसी धनीराम किसानके द्वार होकर निकले । वह अपनी एक बछियाके गलेमें एक घण्टी बाँध रहा था । उसने बाबाजीको सादर बैठाया । महात्माजीने विधाता और भगवान् विष्णुजीकी बातचीत उसको कह सुनायी । किसान बोला—'मैंने तो पहले ही कहा था ।'

(२)

भादोंके दिन थे । मचानपर बैठा हुआ धनीराम अपने मक्काके खेतकी रखवाली कर रहा था । तबतक एक साधुने आकर कहा—'तुम मुझे मीठे पुआ खिलाओ तो तुम जो माँगो सो पाओगे !' धनीराम हँसा । मेरी माँग जब देवता नहीं पूरी कर सके तब यह कैसे पूरी करेंगे ? धनीरामने कहा—'इस मचानपर आकर विराजमान हो । मैं घरपर जाकर अभी पुए कराये लाता हूँ । माँगना मुझे आपसे कुछ भी नहीं है ।'

बाबाजी मचानपर बैठ गये और धनीराम आध घण्टेमें थालीभर गरम-गरम पुए करा लाया । जब बाबाजी भोजन कर चुके तब उन्होंने झोलीमेंसे थोड़ी-सी राख निकाली और उसे बायीं हथेलीपर रखकर दहिने हाथके अँगूठे और पासकी अँगुलीसे एक चुटकी भरी और बोले—'जल्दी माँगो तुम क्या चाहते हो ?

किसान—पुत्रके सिवा मुझे कुछ नहीं चाहिये ।

बाबाने चुटकी खोल दी । फक्से राख ऊपरको उड़ गयी । बाबा बोले 'एक' । दूसरी चुटकी भरकर खोली । फक्से वह राख भी ऊपरको उड़ गयी । बाबा बोले 'दो' । फिर तीसरी चुटकी वैसे ही उड़ायी, उन्होंने कहा 'तीन' । पर चौथी चुटकी भरकर खोली तो राख नीचे गिर पड़ी । बाबाने कहा—बस । और तुरन्त मचानसे कूदकर किसी तरफ राह पकड़ी !

(३)

एक दिन महात्मा नारदजी फिर उसी किसानकी चौपालसे होकर निकले । देखा कि धनीराम तीन बच्चोंको खिला रहा है । महात्माजीका माथा ठनका !

समझा—किसी पड़ोसीके बच्चे होंगे। धनीरामने उनको सादर बैठाया और जलपान कराया। महात्माजीके पूछनेपर किसानने कहा कि बाबा गरीबदासके आशीर्वादसे यह तीन बच्चे तीन सालमें पैदा हुए हैं। नारदजी सनाका खा गये। वहाँसे उठकर उन्होंने सीधे विष्णुलोकका रास्ता लिया। भगवान्‌के सामने जाकर अपनी वीणा पटक दी।

भगवान्—कहिये महात्मन्! आज आप क्रोधित-से क्यों हैं?

नारद—आपने तो कहा था कि धनीरामको सात जन्म पुत्र न होगा?

भगवान्—कहा तो था।

नारद—फिर उसे इसी जन्ममें तीन पुत्र कैसे मिल गये?

भगवान्—वह मैंने नहीं दिये हैं। भक्त गरीबदासने दिये हैं।

नारद—हूँ! भक्त गरीबदास नारदसे भी बढ़कर भक्त हो गया? आपने मेरा अनुरोध न माना और उसका मान लिया!

भगवान्—आपको तो मैं अपना ही एक स्वरूप मानता हूँ और गरीबदासको अपना भक्त मानता हूँ। मेरी इच्छा चाहे रह जावे पर भक्तकी इच्छा मुझे पूरी करनी ही पड़ती है।

नारद—इसी समय मेरे साथ चलकर भक्त गरीबदासकी भक्तिकी परीक्षा लीजिये। मैं भी तो जानूँ कि वह कितना गहरा भक्त है।

भगवान्—प्रत्येक भक्तकी भक्तिका मोल पृथक्-पृथक् होता है।

नारद—यही तो मैं जानना चाहता हूँ कि उसकी भक्तिका मोल, मेरी भक्तिसे कैसे ज्यादा माना गया?

× × ×

जमालपुरके जङ्गलमें गरीबदासकी कुटी थी। किसानोंने मिट्टीके द्वारा एक कोठरी बना दी थी और पत्थरोंसे छत पाट दी थी। कुटीमें किवाड़ न थे। उस समय कुटीमें लकड़ी और कण्डी भी न थी। एक अहीरनी आज बाबाजीको एक सेर घी दे गयी थी। उसने मनौती मानी थी कि मेरी भैंस जब बच्चा देगी तो पहले पहलका एक सेर घी बाबाजीको दूँगी। हाँडीमें वही घी रक्खा था और धूनीमें दो पतली लकड़ियाँ जल रही थीं। बरसातके दिन थे और बादलोंकी सेना लिये हुए राजा इन्द्र देख रहे थे कि कहाँपर पानी बरसाना मुनासिब है। थोड़ी देरमें बिजली चमकी और मूसलधार पानी बरसने लगा। यह पानी भगवान् विष्णुजीके हुक्मसे बरस रहा था, क्योंकि भक्त गरीबदासकी परीक्षा लेनी थी। पानीसे तर और थर-थर काँपते हुए एक महात्माने आकर गरीबदाससे कहा—'देखो! मेरा नाम नारद है। भगवान् विष्णु और मैं दोनों कहीं जा रहे थे कि घनघोर बरसात शुरू हो गयी। हम दोनों भीग गये और जाड़ेसे काँप रहे हैं। तुम जल्दी आग जलाओ। मैं अभी भगवान्‌को लेकर आता हूँ।' नारदने वही किया कि जो भगवान्‌ने उनको सिखाकर भेजा था। थोड़ी देर बाद भगवान् और नारदजी दोनों गरीबदास-की कुटीके द्वारपर जा पहुँचे।

वहाँका हाल देखकर नारदजीके होश उड़ गये। *देखा कि लकड़ी न होनेके कारण, गरीबदासने सारा घी अपने शरीरमें लपेट लिया और आग लगा दी।* नारदजीने देखा कि गरीबदासका शरीर जल रहा है और भगवान् खड़े-खड़े ताप रहे हैं। नारदजीने

सजल-नयन होकर कहा—'अब अपनी लीला बन्द कीजिये। प्रभो! मुझे मालूम हो गया कि गरीबदासकी भक्तिका कितना मूल्य है।'

भगवान्ने भक्तके ऊपर हाथ फेरा। आग बुझ गयी। वर्षा भी बन्द हो गयी। गरीबदासके झुलसे हुए अङ्ग भगवान्के अमृतमय हाथोंके स्पर्शसे पुनः स्वस्थ हो गये। मानो कुछ भी न हुआ था। नारदजी और भगवान् वहाँसे अन्तर्धान हो गये। गरीबदास अपनी परीक्षामें पास हो गये।

सच है—भक्त-भक्तका दरजा अलग है।



वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी भट्ट, कविरत्न)

[गतांकसे आगे]

धर्मज्ञ होकर विभीषणने ज्येष्ठ भ्राताको कैसे छोड़ दिया?

शरणागतिका निरूपण हो, इसके पहले एक शंका यह आती है कि आप विभीषणको 'भक्त' और 'धर्मज्ञ' बताते हैं, फिर उन्होंने पिताके समान अपने बड़े भाईका संकटके समय साथ कैसे छोड़ दिया? आज-कल प्रत्येक ग्रन्थमें पात्रोंके 'चरित्र' को सँभालनेवाले करेक्टरके 'कलेक्टर' समालोचक महोदय साथ-ही-साथ रहते हैं। विशेषतः रामचरित्रपर तो आलोचनाओं-का स्रोत अनन्त-सा मालूम हो रहा है। कोई लक्ष्मणपत्नी 'ऊर्मिला' को वाल्मीकिने भुला दिया, कहते हैं। कोई भगवान् श्रीरामको कूटनीतिज्ञ और भरतको उदारचरित सिद्ध करते हैं। अस्तु, यहाँ इस प्रसंगको नहीं लेना है, किन्तु चरित्रके आधारको पकड़कर यह उन लोगोंकी शङ्का जोरदार-सी मालूम होती है कि विभीषणका चरित्र ठीक धार्मिकके-जैसा नहीं मालूम होता। वह राक्षसकुलोत्पन्न थे इसलिये हजार अच्छे होनेपर भी उनसे धर्मानुगमन नहीं हो सका, यह भी उत्तर नहीं हो सकता। क्योंकि स्वयं महर्षिने विभीषणको अपने पितामह विश्रवाका वरदान दिलाया है कि 'इसको धर्मतत्त्व मालूम होंगे।' जगह-जगह उनकी प्रशंसा भी रामायणमें आती है—*'विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः'* 'विभीषण धर्मात्मा थे, उनकी चेष्टा राक्षसोंके समान न थी।' फिर यह किसके समान चेष्टा हुई कि बड़े भाईको मृत्युमुखमें जाते देखकर भी मदद देना तो दूर रहा, उसको छिटका कर चले गये?

बड़ा भाई पिताके समान होता है यह केवल शास्त्रानुरोध ही न था। जन्मसे रावणके आश्रयमें वह पले भी तो थे। फिर अपने पोपकको संकटके समय छोड़कर चले जाना किसकी-सी चेष्टा है? पोपकको भी तो पिताके समान ही माना जाता है। अगर भाईको छोड़ भी दिया था तो कम-से-कम अपने बड़े भाईके शत्रुसे तो जा मिलना उचित न था। शत्रुसे जा भी मिले थे तो अपने भाईका स्थान तो स्वीकार नहीं करना था। खैर, सोनेकी लंका-जैसे स्थानका ही इतना लोभ छातीपर चढ़ बैठा था तो कम-से-कम इतना तो न करते जो अपने बड़े भाई और उसके कुटुम्बके मरनेके सब उपाय स्वयं चला-चलाकर बतलाते। इस विपयमें उनका चरित्र तो यहाँतक सर्टीफिकेट पा चुका है कि आजतक भी यह कहावत जारी है—*'घरका भेदी लंका ढावै'*

ठीक है । आपकी शंका है कि धर्मात्मा होकर भी विभीषणने अपने आवश्यक धर्मका त्याग कैसे किया ? और वह धर्मत्याग उचित कोटिमें कैसे गिना गया ? इस धर्मकी शंकाका धर्मसे ही समाधान सुनिये—

जिस धर्मकी आप दुहाई देते हैं, उसीमें कहा है कि—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ॥'

'जो पिता या 'गुरु' घमण्डके कारण कार्य-अकार्यको नहीं जाने, फिर केवल अज्ञान ही नहीं, खोटे रास्तेपर चलने भी लग जाय तो धार्मिक पुरुषको उसका परित्याग कर देना चाहिये ।' यहाँ *'विधीयते'* कहा है अर्थात् परित्याग कर देना ही विधिवाक्य है । इस फैसलेकी नजीर भी पहलेकी मौजूद है । ध्रुव, प्रह्लाद आदिने सौतेली माता और सगे पिताका साथ कहाँ दिया था ?

भक्तिसम्प्रदाय ही क्यों, धर्मशास्त्रकी व्यवस्थानुसार भी समाधान सुनिये—

आप जान चुके हैं कि विभीषणको पितामहके वरदानसे ज्ञान, विज्ञान, सब धर्मका तत्त्व मालूम था । *उन्होंने विज्ञानदृष्टिसे जान लिया था कि भगवान् श्री*रामचन्द्रजी सर्वलोकशरण्य, सर्वलोकेश्वर साक्षात् नारायण ही हैं । भक्तोंके उद्धारार्थ अवतार लेकर यहाँ पधारे हैं । मन्दोदरी आदिको भी यह अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो चुकी थी । धर्मतत्त्वोंका यथावद्विवेक करनेवाले विभीषण जानते थे कि सामान्य धर्मकी अपेक्षा विशेष धर्म प्रबल हुआ करता है । ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन करना यह शास्त्रोक्त सामान्य धर्म है । सबके लिये लागू है । जो कार्य त्रैवर्गिक फल अर्थात् धर्म-अर्थ-काम इनके साधनभूत हुआ करते हैं वह सामान्य धर्मके अन्तर्गत गिने जाते हैं । ज्येष्ठ भ्राताके अनुगमन करनेसे धर्म-सिद्धि होकर, तद्द्वारा उत्तम अदृष्ट बनकर, फिर उसके साधकको परमात्माका लाभ होगा । यों परम्परासे परमात्माके आराधनमें यह (ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन) सहायक होगा । और तो क्या, इसके द्वारा यदि मोक्ष भी हो जाय तो भी यह परमात्माकी उपासनाका एक अङ्ग ही गिना जायगा । इसके विरुद्ध, भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरणमें जाना तो साक्षात् परमात्माराधन है, इसलिये यह विशेष धर्म हुआ । क्योंकि यज्ञादि करना जो धर्मकोटिमें गिना जाता है, उसको करके भी लोग यही चाहते हैं कि सर्वेश्वर भगवान् प्रसन्न हों । फिर यहाँ जब साक्षात् भगवान्का ही सेवन हस्तगत है, तो फिर सामान्य धर्मके पीछे कौन पड़े ?

सामान्य धर्मका अनुष्ठान शास्त्रोक्त है । उसका पालन अवश्य करना चाहिये । किन्तु जहाँतक वह सामान्य धर्म विशेष धर्मका विरोधी न हो, वहींतक । अर्थात् अविरोध-दशामें दोनोंका सेवन करना शास्त्रोक्त है । परन्तु जब सामान्य धर्म विशेष धर्मका विरोधी हो पड़े, उस समय उसका त्याग कर देना ही शास्त्रकी अनुमति है । विभीषण कष्ट पाते हुए भी, मन मारकर भी, लङ्कामें रह रहे थे । अर्थात् ज्येष्ठ भ्राताके अनुवर्तनरूप सामान्य धर्मका सेवन कर रहे थे । जिस समय सागरतटपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका पधारना सुना, उस समय वह सोच रहे थे कि देखिये ज्येष्ठ भ्राताका अनुवर्तन करते हुए भी मुझे श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें जानेका अवसर मिलता है कि नहीं ? इसी आशासे उन्होंने रावणको बहुत कुछ समझाया । अपमान सहकर भी, भय-प्ररोचना देकर भी, इस सङ्कटसे बचानेका बार-बार प्रयत्न किया । किन्तु जब देख लिया कि यह भगवान्की ही इच्छा है कि रावणको हितमार्ग इस समय नहीं दीखता । आसुर-प्रकृति

होनेके कारण यह कलुषभाव इसके हृदयसे नहीं जा सकता। तब लाचार होकर वहाँसे हट जाना ही उनको कल्याणकर प्रतीत हुआ। यों विशेष धर्मके साथ विरोध होनेपर ही सामान्य धर्म छोड़ा गया है। यह सभी जानते हैं कि सामान्यकी अपेक्षा विशेष बलवान् हुआ करता है।

और भी देखिये—सबसे पहले मनुष्य अपनी आत्माका भला सोचता है। जिस समय घरमें अग्नि लग जाती है, उस समय अपनी सारी प्यारी चीज़ोंको छोड़कर मनुष्य एकदम घरसे बाहर निकल खड़ा होता है। यहाँतक कि पुत्र-पत्नीतककी फिक्र पीछे होती है। पहले आप अपनेको बचाता है, फिर चाहे सर्वस्व देकर भी लोगोंसे मदद चाहे कि—'जो कोई मेरे पुत्रको मकानके अन्दरसे निकाल लाये, उसे मैं इतने हजार वा लाख रुपये इनाम दूँगा।' किन्तु आप अपनी आत्माको आँच लाना नहीं चाहता। विस्तारकी जरूरत नहीं। बम्बई आदि प्रदेशोंमें ऐसे शतशः दृष्टान्त देखे गये हैं। ठीक है। पुत्र आदि भी अपने सुखके लिये ही प्रिय प्रतीत हुआ करते हैं—*'आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।'* इसी तरह जब विभीषणने देखा कि रामसे वैर करके रावणका अकल्याण तो अवश्यम्भावी है, फिर मैं प्रभुका विद्वेषी बनकर क्यों आत्म-नाश करूँ?

अब जो यह कलङ्क लगाया जाता है कि 'राज्यकी लालसासे रामके पास गये' यह भी रामायणसे तो सिद्ध नहीं होता। शरणागतिके समय *'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः'* (मैं स्त्री-पुत्रादि सब कुछ छोड़कर श्रीरामचन्द्रकी शरणमें आया हूँ) यों अन्य विषयका वैराग्य स्वयं विभीषण कण्ठरवसे कहते हैं। बल्कि जिस समय श्रीरामचन्द्रकी शरणमें जाकर प्रार्थना करने लगे, उस समय यही कहा कि 'मैं तो सर्वविध पुरुषार्थ आपमें ही समर्पण कर चुका हूँ। आप ही मेरे राज्य हैं। आप ही मेरे जीवित हैं। आप ही मेरे सुख हैं। मैं तो लङ्का, सुहृत्, सम्बन्धी तथा धनादि सब कुछ छोड़ चुका हूँ।'

'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च।
भवद्गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च॥'

फिर यह किस तरह कहा जाय कि राज्यके लोभसे वह श्रीरामके पास गये थे और यह पहलेसे माळूम भी कहाँ था कि श्रीरामचन्द्र जाते ही मुझे लङ्काका राजा ही बना देंगे। उन्हें तो अपने अङ्गीकार कर लेनेतककी फिक्र पड़ रही थी।

हाँ, यह जरूर है कि विभीषणके नहीं चाहनेपर भी भगवान् श्रीरामचन्द्रने बिना सोच-विचारके ही उन्हें लङ्काका राज्य दे दिया था। बात यह थी कि—विभीषणके पहुँचनेपर भगवान् श्रीरामने बातचीतका प्रसङ्ग छेड़कर विभीषणकी शङ्काको हटाना चाहा था। इसलिये वे उनसे लङ्का और राक्षसोंका वृत्तान्त पूछने लगे। विभीषणने एक-एकका ऐसा प्रभाव दिखलाया कि जिसकी सीमा नहीं। इन्द्रजित्के लिये कहा कि वह जिस समय अच्छेद्य कवचको धारणकर, धनुष ले युद्धमें आता है, अदृश्य हो जाता है। उसे अग्निका वरदान है। वह अन्तर्हित हुआ ही सबको मार डालता है। प्रहस्तके लिये कहा कि उसने कुबेरके सेनापति मणिभद्रको कैलासमें ही पछाड़ दिया था। वही रावणका सेनापति है। अभिप्राय यह कि, उन्होंने रावणका वह प्रभाव बतलाया कि जो दूसरा होता तो लङ्काके फतह करनेकी आशा ही छोड़ बैठता। किन्तु जिस जोशसे विभीषणने रावणका बल-विक्रम वर्णन किया उसी स्वरमें श्रीरामचन्द्रने भी दिखलाया कि मुझपर इस प्रभावका कुछ भी असर नहीं हो सकता। मैं सब कुछ समझ गया हूँ। मैं उसी रावणको प्रहस्त और इन्द्रजित् प्रभृति बन्धु-बान्धवोंसहित मारकर तुम्हें ही राजा बनाऊँगा,

जिससे तुम्हें उसके उस प्रभावका प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाय । मैं यह सत्य-सत्य कहता हूँ—

'अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सबान्धवम्।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥'

इसके पहले विभीषणने कोई बातचीत ही नहीं की थी कि जिससे राज्य-प्रार्थना जानी जाती । भगवान् श्रीरामचन्द्रने ही अपनी तरफसे विभीषणको लङ्का-का राज्य दे डाला । यहींतक भी नहीं, श्रीकोसलेन्द्रने सुमित्रानन्दनको तत्काल हुकुम भी दिया कि इसी समय राज्याभिषेक भी हो जाना चाहिये । समुद्रमें सब नदियाँ मिलती हैं, इसलिये इसीके जलसे अभी राज्याभिषेक हो जाना उचित है । इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् विभीषणको यह दिखाना चाहते हैं कि तुम रावणका इतना प्रताप बतलाते हो किन्तु मैं उसके प्रभावको कितना समझता हूँ, यह यों ही समझ लो कि मैं पहलेसे ही तुम्हें लङ्काका राज्यतक दे देता हूँ इसीलिये तो '*करिष्यामि*'(करूँगा) कह कर, फिर सोचते हैं 'शायद विभीषणको भविष्यत्पर भरोसा न हो' अतएव उसी समय अभिषेक भी कर देते हैं । यह रावण-प्रभावको '*न किञ्चित्*' दिखानेके लिये ही है, विभीषणकी लालसासे जल्दी नहीं है ।

बात तो यह है कि जब विभीषण श्रीरामचन्द्रजीकी शरणमें आ चुके और उनपर भगवान्का अनुग्रह हो चुका तो बेचारी लङ्काका ही राज्य क्या, सम्पूर्ण त्रैलोक्यका राज्य उनके नीचे था । भगवान्की प्रसन्नता होना ही कठिन है, फिर राज्य-भोगादि तो क्या, यावन्मात्र वैभवकी उपलब्धि अपने-आप हो जाती है । परन्तु भक्त उसपर नजरतक नहीं डालते । समुद्रका प्रवाह जब किसी तरफ चल निकलता है तब क्या वह रास्तेमें आये हुए वृक्षादिको चलाकर बहा ले जानेकी चेष्टा थोड़े ही करता है । वह तो अपने-आप टूट-टूटकर बहते चले जाते हैं । इसी तरह जब भगवान्की प्रीतिका प्रवाह किसी भाग्यवान्-के अभिमुख हो जाता है तब त्रैलोक्यकी विभूति अपने-आप उसके पीछे-पीछे चली आती है । क्या अच्छा कहा है—

'आयुरारोग्यमर्थांश्च भोगांश्चैवानुषङ्गिकान्।
ददाति ध्यायतां नित्यमपवर्गप्रदो हरिः ॥'

'भगवान् तो पुन पुनर्जन्म-मरणरूप भवबन्धसे छुड़ानेवाले हैं, वह अपने भजन करनेवालोंको दीर्घायु, नीरोगता तथा अर्थ और काम-भोगोंको आनुषङ्गिक-रूपसे अपने-आप दे डालते हैं' फिर विभीषण चलाकर लङ्काका राज्य क्यों माँगने लगे ?

बल्कि जिस समय श्रीरामने '*राजानं त्वां करिष्यामि*' कहकर लङ्काका राज्य उन्हें दिया, उस समय उसका प्रतिवचन न देकर विभीषणने सेवा करनेके अधिकारकी ही प्रार्थना की । कहा कि—'हे प्रभो ! मैं लङ्काके प्रधर्षणमें आपकी सहायता करूँगा और जबतक प्राण हैं सेनाका सञ्चालन करूँगा ।'

'राक्षसानां वधे साह्यं लङ्कायाश्च प्रधर्षणे।
करिष्यामि यथा प्राणं प्रवक्ष्यामि च वाहिनीम् ॥'

उत्तर-काण्डमें तो स्पष्ट दिखलाया है कि विभीषणकी लङ्का-राज्य-स्वीकारकी जरा भी इच्छा न थी । श्रीरामचन्द्रजीने अपनी मित्रताकी शपथ देकर जबरदस्ती उनसे राज्य स्वीकार कराया है—

यावत्प्रजा धरिष्यन्ति तावत्त्वं वै विभीषण।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थस्त्वं धरिष्यसि ॥
शापितस्त्वं सखित्वेन कार्यं वै मम शासनम्।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि ॥

'तुम मुझसे यदि मित्रता रखते हो तो उसीकी तुम्हें शपथ है । और यदि तुम मुझे बड़ा समझते हो तो मेरी आज्ञा तुम्हें माननी पड़ेगी । तुम धर्मपूर्वक

प्रजाकी रक्षा स्वीकार करो । अब इसका कुछ उत्तर सुननेका मैं अवकाश देना नहीं चाहता ।'

श्रीरामचन्द्रजीने धर्म-स्थापनार्थ अवतार लिया है, यह वह जानते थे । जब श्रीरामकी ही धर्म-राज्य चलानेकी आज्ञा हो गयी तब उन्हें लाचार चुप होना पड़ा । फिर यह भी तो उन्हें विचार था कि जिस लङ्कामें भगवद्विमुख ही जीव रहते आये हैं वह यदि किसी तरह सन्मार्गपर आ जाय तो कितनोंका उद्धार हो जायगा । श्रीराम यदि अपनी मित्रताकी ही शपथ दिलाते तो भी विभीषण शायद टाल देते किन्तु जब *'कार्यं वै मम शासनम्'* ('मेरी आज्ञाका पालन करना पड़ेगा') कहा तब विभीषणसे जवाब नहीं बना । जो विभीषण श्रीरामको आरम्भसे ही अपने सर्वस्वके स्वामी मान चुके थे, उनकी आज्ञाका उल्लंघन वह कैसे करते ? यह स्वीकार लालचसे न था, किन्तु अपनेको भगवत्किङ्कर मानकर उनकी आज्ञाको शिरोधारण करना था ।

यही पितृ-त्यागका सवाल लक्ष्मणपर भी एक बार आ चुका है । वह जिस समय श्रीअयोध्यासे भगवान् श्रीरामचन्द्रकी सेवकतामें वनको जाने लगे तब कहा गया कि पिताको छोड़कर आपका जाना कैसे ठीक होगा ? उसपर श्रीसुमित्रानन्दनने कहा—

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।
भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥

'मैं महाराजमें अपना पितृभाव उपलक्षित नहीं करता । मेरे भ्राता समझिये, स्वामी समझिये, बन्धु समझिये, पिता समझिये, सब कुछ श्रीरामचन्द्र हैं ।'

श्रीसौमित्रेय श्रीरामके अनन्य भक्त थे । वह उनकी महिमाको जानते थे । इसलिये शरीर-सम्बन्धसे सोपाधिक पिता दशरथको छोड़कर निरुपाधिक सकल प्राणीमात्रके बन्धु श्रीरामसे ही आपने प्रार्थना की—

'अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानमकुतोभयम् ।'
'अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥'

'मैं वनके रास्तेमें निर्भय होकर आपके आगे-आगे चलूँगा । आपके शयन करनेपर, जगनेपर आपकी सब सेवा करूँगा ।'

यों श्रीरामचन्द्रकी परिचर्यारूपी फलकी ही लक्ष्मणने प्रार्थना की । श्रीरामने जब उन्हें अयोध्यामें ही छोड़नेका अभिप्राय प्रकट किया उस समय लक्ष्मणने आतुर होकर, ज़ोरसे श्रीरामके चरण पकड़कर शरणागति स्वीकार की ।

'स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः'

यहाँ विभीषण भी सोपाधिक बन्धु अपने भ्राताको छोड़कर श्रीरामचन्द्रके दास्यभावकी आशासे ही शरणमें आये थे, यह स्पष्ट दीख रहा है । यही कारण है कि जब विभीषण उदास होकर रावणको खरी बात सुनाते हुए उसकी सभासे उठ खड़े हुए, उस समय महर्षि वाल्मीकि भी ध्वनि-मर्यादासे उनकी तारीफ़ करते हैं । वे उन्हें 'श्रीमान्' कहकर अभिनन्दन करते हैं—*'अन्तरिक्षगतः श्रीमान् ।'* अन्यथा जो विभीषण *'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च'* (मैंने लङ्का, मित्र, धन सब छोड़ दिये हैं) । यों सब 'श्री' को छोड़कर जो आ रहे हैं वह कहाँसे श्रीमान् हुए ? पर नहीं, अबतक श्रीरामके प्रतिकूल संसर्गमें थे । आज उनके सम्मुख जानेके लिये वह आकाशमें चढ़ रहे हैं, इससे बढ़कर और कौन-सा सौभाग्य होगा ? इसीलिये महर्षि प्रहृष्ट होकर बधाई देते हैं *'अन्तरिक्षगतः श्रीमान् ।'*

अन्यान्य स्थलोंमें भी महर्षि जहाँ-जहाँ प्रशंसा सूचित करना चाहते हैं, वहाँ उसका कुछ चिह्न रख देते हैं । जैसे—*'स तु नागवरः श्रीमान् ।'* *'लक्ष्मणो लक्ष्मसम्पन्नः ।'*

इस तरह जब श्रीरामकी किङ्करता ही विभीषणका लक्ष्य है, तब उनपर अधर्मकी शंका कैसे ठहर सकती है ?

महात्मा दादूदयालजी

(लेखक—श्रीसूर्यप्रसादसिंहजी 'विशारद')



संसारके साहित्यमें सन्त-महात्माओंकी कृतियोंको समाज बड़े आदर और भक्तिकी दृष्टिसे देखता चला आ रहा है और भविष्यमें भी देखते रहनेकी आशा है; इसका कारण यही है कि सन्त-महात्मा अपने समयके प्रतिनिधि होते हैं और सांसारिक बन्धनोंमें लिप्त मनुष्योंके उद्धारार्थ उन दिव्य सन्देशोंको लेकर समय समयपर प्रकट हुआ करते हैं, जिनसे मानव-जीवन सुख-शान्तिमय बन सके। इनके साहित्यमें अन्यान्य कवियोंकी भाँति नरेशोंकी झूठी प्रशंसा, लौकिक प्रपञ्चोंके नीच पचड़े, कोरी कलाका कौशल और मनोविनोदकी क्षणिक सामग्री नहीं रहती, बल्कि वह परोक्ष सत्ताके अगम्य भावनाओंसे सर्वथा ओतप्रोत रहता है। इसीलिये समाज उनके दिव्य सन्देशोंका हृदय खोलकर स्वागत करता है और उनका पालनकर कष्टोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। यह लेख आज एक ऐसे ही परम सन्तकी जीवन-चर्चाके लिये लिखा है। हिन्दी-साहित्यका इतिहास देखनेसे ज्ञात होता है कि जिस समय हिन्दू-समाजकी अधोगति असहनीय हो गयी थी, चारों ओर यवनोंका हृदय-विदारक आतंक छाया हुआ था; उस समय सान्त्वना देनेवाली कोई ऐसी शक्ति न थी जो हिन्दू-जातिके मुरझाये हुए जीवनको प्रफुल्लता प्रदान करती। यद्यपि उस समयके कतिपय उदार मुसलमान कवियोंने अपनी प्रौढ़ रचनाओंसे एकता स्थापित करनेके लिये यथासाध्य प्रयत्न किया, किन्तु उनका यह प्रयास धर्मान्ध विचारोंमें कुछ विशेष परिवर्तन न कर सका। ऐसी अवस्थामें यदि कोई शक्ति सहायक हो सकती थी, तो वह भगवान्‌की अनन्त शक्ति और करुणा ही थी, जो भगवान्‌के प्रतिनिधिरूप सन्तोंद्वारा समाजपर बरसती थी। महात्माओंके शुभागमनने ही भगवान्‌की उपासनापर लोगोंका ध्यान आकर्षित किया। सुतरां इसी भावनासे हिन्दी-साहित्यमें सन्त-साहित्यकी सृष्टि हुई। आचार्योंके अतिरिक्त महात्मा श्रीरामानन्दजी, कबीरजी, तुलसीदासजी, धर्मदासजी, गुरु नानकदेवजी, सुन्दरदासजी, चरणदासजी, मलूकदासजी, मीराबाई, सहजोबाई आदि सन्त पुरुषों और महिलाओंने जो कुछ अपनी वाणीसे कहा, वही उस समय लोगोंका पथप्रदर्शक बन गया और उसे पाकर हिन्दू-जाति शक्तिशालिनी हो गयी। महात्मा श्रीदादूदयालजी भी इन्हीं महात्माओंमेंसे एक हैं।

लोक-परिचय

आपका जन्म सं० १६०१ वि० में हुआ बतलाते हैं। आप अहमदाबादके रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनकी जातिके विषयमें मतभेद भी है; कोई इन्हें गुजराती ब्राह्मण बताता है, तो कोई धुनियाँ। गुजराती ब्राह्मण बतानेवाले लोग महात्मा कबीरकी भाँति इनको साबरमती-नदीमें बहते लोदीराम नामक नागर-ब्राह्मणको मिलना बताते हैं। कुछ भी हो 'जाति न पूँछै साधुकी पूँछ लीजिये ज्ञान।' इनके गुरु परम पुरुष थे, जिन्होंने एक बूढ़े साधुके भेषमें इन्हें दर्शन दिया था। इन्होंने साखीमें कहा है—

> गैब माँहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
> मस्तक मेरे कर धरया, दीषा अगम अगाध॥
> सतगुरु सौं सहजैं मिल्या, लीया कंठ लगाइ।
> दाया भई दयालकी, तब दीपक दिया जगाइ॥

इनमें क्षमा और दयाका इतना आधिक्य था कि लोग इन्हें दादूदयाल कहते थे।

चमत्कार

अन्य सन्त-महात्माओंकी तरह इनका जीवन-

चरित्र भी चमत्कारपूर्ण और अद्भुत है। इनकी योगशक्ति इतनी प्रबल थी कि कितने ही मनुष्य इनकी दृष्टिमात्रसे ही आकर्षित होकर आत्मानन्दमें मस्त हो जाते थे। रज्जबजी और बखनाजीका वर्णन इसका प्रमाण है। रज्जबजी घोड़ेपर सवार होकर अपने विवाहमें जा रहे थे कि मार्गमें महात्माकी दृष्टि उनपर पड़ी; दृष्टि पड़नी ही थी कि रज्जबजी घोड़ेपरसे उतरकर इनके चरणोंमें गिर पड़े और सिरका मौर उतारकर अपने छोटे भाईको विवाह करनेके लिये पहना दिया और आप आजन्म यति रहनेका निश्चयकर आनन्दमें निमग्न हो गये।

जिस समय बखनाजी निराणां ग्राममें (फुलेराके पास) जाकर होली गा रहे थे, उस समय दादूजीने कहा—

ऐसी देह रची रे भाई। राम निरञ्जन गावो भाई॥

इस शब्दने बखनाजीको इतना तन्मय कर दिया कि वह तत्काल उनके शरणागत हो गये। महात्मा दादूजीकी ख्याति जब सुदूर स्थानोंमें फैलने लगी तब एक बार बादशाह अकबरने भी इन्हें फतहपुर सीकरी बुलाया और चालीस दिनतक इनसे ज्ञान-चर्चा करनेके पश्चात् इलाही कलमा चलाया जो उनके सिक्कोंसे प्रमाणित होता है।

विचार-धारा

निर्गुणवादियोंमें महात्मा कबीर और दादूदयालका हिन्दी-साहित्यमें विशेष स्थान है। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि इस भावके पोषक अन्यान्य सन्तजनोंका अभाव था। पर यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो महात्मा कबीरजी और दादूजीमें भी कबीरकी अपेक्षा इनकी विचार-धारा अधिक सरस और लोकप्रिय सिद्ध होती है।

महात्मा कबीरका ज्ञान इतना उच्चकोटिका था कि साधारण समाज उस ज्ञानतक पहुँच ही नहीं सकता था। उनके वचनमें रामानन्दजीका निर्गुणवाद, सूफियोंका प्रेम और वैष्णवोंके अहिंसा-मिश्रित भावोंने निरुपाधि, निर्गुण, सववाद और भेदयुक्त ईश्वरके तीन वादोंकी सृष्टि की थी, इससे जनता उनका पूरा अनुकरण नहीं कर सकी।

परन्तु दादूदयालकी निर्गुण उपासना-विधि इतनी सरल और सुविधापूर्ण हुई कि प्रायः सभी उसके अनुयायी हो गये। इनका उपासना-मार्ग बहुत ही शुद्ध, उच्च और वेदानुकूल था और इसका निर्माण भी इसी दृष्टिसे किया गया था कि सब श्रेणीके लोग इसे सरलता और सुगमतासे ग्रहण कर सकें। इनके पवित्र विचारोंको देखिये—

भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पखरहित पंथ गह पूरा, अबरन एक अधारा।
वाद विवाद काहुसौं नाहीं, माँहि, जगततें न्यारा॥
समदृष्टी सुभाइ सहजमें, आपहि आप विचारा।
में, तैं, मेरी यह मति नाहीं, निरवैरी निरकारा॥
काम कल्पना कदे न कीजे, पूरन ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा॥

रहन-सहनकी सुन्दर रीति, कुरीतियोंका त्याग, परस्पर समानभाव, ईश्वरीय ज्ञानके सब अधिकारी आदि उच्चादर्श और उपयोगी भावनाएँ समाजके लिये बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हुईं। इनकी दिव्य भावना और विचारोंने ही इन्हें पथप्रदर्शक बनानेको बाध्य किया। इनकी चेतावनी वास्तविक और सच्ची चेतावनी थी। न तो उनमें अहम्मन्यताकी गन्ध थी और न व्यंगका ही पुट था। यही विशेषता थी कि सभी सम्प्रदायवालोंने इनके उपदेशामृत-वचनोंको पढ़कर स्वर्गीय शान्तिका अनुभवकर इनके विचारोंका स्वागत किया। अब ज़रा इनकी हृदयानुभूत भावनाओंको पढ़कर आनन्द उठाइये। संसारी भावनाओंसे मनको हटाइये और उस ब्रह्मके चरणोंमें चित्त लगाइये। सन्त-साहित्यमें प्रायः दो प्रकारके विषय होते हैं। एक साखी और दूसरे शब्द। साखी दोहोंमें कही जाती है और शब्द भिन्न-भिन्न छन्दोंमें। यहाँपर मैं कुछ साखियोंका ही दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ—

हिन्दू-मुसलमानोंमें एकता स्थापित करनेके लिये—

दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मुसलमान॥

उपास्यदेवकी सर्वव्यापकता और उसकी अटूट भक्तिके विषयमें—

घीव दूधमें रमि रह्या, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
दादू देख दयालको, सकल रह्या भरपूर।
रोम रोममें रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगेका गुड़ खाइ॥
(दादू) जबतें हम निरपख भये, सबै रिसाने लोक।
सतगुरके परसादतें, मेरे हरष न सोक॥
(दादू) बल तुम्हारे बापजी, गिणत न राणा राव।
मीर मलिक परधानपति, तुम बिन सब ही बाव॥

अब ज़रा उस अनन्त ज्योतितक पहुँचनेके लिये जिन-जिन उपादेय साधनोंकी आवश्यकता होती है, उन्हें देखिये—

सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हार्थो निस दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
(दादू) सब बातनकी एक है, दुनिया ते दिलदूर।
साँई सेती संगकर, सहज सुरति ले पूर॥
एक मुहूरत मन रहे, नाम निरंजन पास।
दादू तब ही देखता, सकल करमका नास॥
(दादू) पंचोंसे परमोद ले, इनहींको उपदेश।
यो मन अपणे हाथ कर, तो चेला सब देश॥
दादू दुखिया तबलग, जबलग नाँव न लेइ।
तब ही पावन परम सुख, मेरा जीवन येइ॥

कर्ता

जाती नूर अलाहका, सिफ़ाती अरवाह।
सिफ़ाती सिजदा करै, जाति बे परवाह॥
वार पार नहिं नूरका, दादू तेज अनन्त।
कीमत नहिं करतारकी, ऐसा है भगवन्त॥
जीयें तेल तिल्हीनमें, जीयें गंध फुलिंघ।
जीयें माषण पीरमें, जीयें रब रूहिंघ॥

सार गहनी

दादू हंस परेखिये, उत्तिम करणी चाल।
बगुला बैसे ध्यान धरि, परतषि कहिये काल॥
गऊ बच्छका ग्यान गहि, दूध रहै लौ लाइ।
सींग पूँछ पग परिहरै, अस्थन लागै धाइ॥

सुमिरन

हरि भज साफल जीवना, पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहँ भला, जहँ पसु पंखी खाइ॥
सब सुख सरग पयालके, तोल तराजू बाय।
हरि सुख एक पलकका, ता सम कह्यो न जाय॥

लय

जहँ आतम तहँ राम है, सकल रह्या भरपूर।
अंतर गति ल्यौ लाइ रहु, दादू सेवग सूर॥
दीन दुनी सदकै करौं, टुक देखण दे दीदार।
तन मन भी छिन छिन करौं, भिस्त दोजख भी वार॥
कर बिन सर बिन कमाण बिन, मारै खैंचि कसीस।
लागी चोट सरीरमें, नख सिख सालै सीस॥

प्रेम

ज्यूँ अमलीके चित अमल है, सूरेके संग्राम।
निरधनके चित धन बसै, यौं दादूके राम॥
जबलग सीस न सौंपिये, तबलग इस्क न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ॥
इस्क मुहब्बत मस्त मन, तालिब दर दीदार।
दोस्त दिल हरदम हजूर, यादगार हुसियार॥
इस्क अलहकी जाति है, इस्क अलहका अंग।
इस्क अलह मौजूद है, इस्क अलहका रंग॥

पतिव्रता

प्रेम प्रीति इस नेह बिन, सब झूँठे सिंगार।
दादू आतम रस नहीं, क्यों मानै भरतार॥
हूँ सुख सूती नींदभरि, जागे मेरा पीव।
क्योंकरि मेला होइगा, जागै नाहीं जीव॥
तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिंड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादूका ग्यान॥

सूरमा

काइर काम न आवई, यहु सूरेका खेत।
तन मन सौंपै रामकौं, दादू सीस सहेत॥

काया कबज कमान करि, सार सबद करि तीर।
दादू यहु सर साँधि करि, मारै मोटे मीर॥

विनय

तिल तिलका अपराधी तेरा, रती रतीका चोर।
पल पलका मैं गुनही तेरा, बकसौ औगुण मोर॥
तुमकूँ हमसे बहुत हैं, हमकूँ तुमसे नाँहि।
दादूकूँ जनि परिहरौ, तूँ रहु नैनहुँ माँहि॥

कथनी

दादू कथणी और कुछ, करणी करैं कुछ और।
तिनतैं मेरा जिव डरै, जिनके ठीक न ठौर॥

चेतावनी

दुख-दरिया संसार है, सुखका सागर राम।
सुख-सागर चलि जाइये, दादू तजि बेकाम॥
आपा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लागि।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि॥

निश्चय

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम।
दादू महल बारीक है, दुइको नाहीं ठाम॥

इन विचारोंसे पाठक यह स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि उनकी अनन्त-वेदनाकी अनुभूति और उनके आनन्दका अनुभव किस चरम सीमाका था! वास्तवमें महात्माओंकी ही अमर कृतियाँ साहित्य-भण्डारका स्थायी साहित्य हो सकती हैं।

साहित्य

हिन्दी-साहित्य-भण्डार भरनेका श्रेय जैसे नामदेवजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, नानकजी, रैदासजी, हरिदासजी, कबीरदासजी और अन्यान्य सन्तों तथा वैष्णव-सम्प्रदायके प्रेमी महात्माओंको प्राप्त है, उसी प्रकार हमारे महात्मा दादूजीको भी अतुल सामग्रीसे साहित्य-काननके अलंकृत करनेका श्रेय प्राप्त है। महात्मा दादूजीकी इस दूरदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है जब यह देखा जाता है कि उन्होंने अपने उत्तमोत्तम विचार उस समयकी प्रचलित हिन्दी-भाषाद्वारा ही बतलाये, जिसकी पुष्टि उनके साम्प्रदायिक विद्वान् स्वामी निश्चलदासजीके इस वचनसे होती है।

ब्रह्मरूप है ब्रह्मविद्, ताकी वाणी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेदभ्रम छेद॥

मैं अन्यान्य महात्माओंकी साहित्य-सामग्रीसे दादू-सम्प्रदायके साहित्यको कम नहीं समझता। यद्यपि उनकी सब साखियाँ उपलब्ध नहीं, किन्तु प्राप्य साहित्य भी उनको उच्च स्थान देनेके लिये कम नहीं है। यदि देखा जाय तो इस सम्प्रदायकी सारी कृतियाँ एक लाख पद्योंसे कम नहीं हैं। इस अतुल साहित्यका श्रेय दादूजीके मान्य शिष्योंको प्राप्त है जिनमें मोहनदासजी, सुन्दरदासजी, कुम्भारी पाव योगेन्द्र, जगन्नाथजी, गरीबदासजी, माधोदास-जी, जगजीवनजी, राघवदासजी, निश्चलदासजी, रज्जबजी और बखनाजी आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनकी ज्ञान-गर्भित साहित्यिक साखियोंसे दादूजीके पवित्र विचारोंको सर्वत्र फैलनेमें बड़ी भारी सहायता मिली!

मरणासन्नके प्रति

गायौ नहिं राम-नाम जनम गमायौ वृथा, तू न सुरझाइ पायौ माया-उरझन है।
आँखि फारि दोऊ दीन बदन बिलोकै कहा, कोऊ है न तेरो अबै मेरो ही मरन है॥
कहत 'कुमार' हैं गुलाबनके बन तेरे? सोमन सदन है कि सुन्दरी सजन है?
आतनके गन हैं कि तन हैं कि पूतनके, तनके रतन हैं कि तन है कि मन है?

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

हिन्दू-मुसलमानोंमें एकता स्थापित करनेके लिये—

दोनों भाई हाथ पग, दोनों भाई कान।
दोनों भाई नैन हैं, हिन्दू मूसलमान॥

उपास्यदेवकी सर्वव्यापकता और उसकी अटूट भक्तिके विषयमें—

घीव दूधमें रमि रहा, व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
दादू देख दयालको, सकल रहा भरपूर।
रोम रोममें रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
केते पारिख पचि मुए, कीमत कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं, गूँगेका गुड़ खाइ॥
(दादू) जबतैं हम निरपख भये, सबै रिसाने लोक।
सतगुरके परसादतैं, मेरे हरष न सोक॥
(दादू) बल तुम्हारे बापजी, गिणत न राणा राव।
मीर मलिक परधानपति, तुम बिन सब ही बाव॥

अब ज़रा उस अनन्त ज्योतितक पहुँचनेके लिये जिन-जिन उपादेय साधनोंकी आवश्यकता होती है, उन्हें देखिये—

सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
(दादू) सब बातनकी एक है, दुनियाते दिल दूर।
साँई सेती संगकर, सहज सुरति ले पूर॥
एक मुहूरत मन रहे, नाम निरंजन पास।
दादू तब ही देखता, सकल करमका नास॥
(दादू) पंचोंसे परमोद ले, इनहींको उपदेश।
यो मन अपणे हाथ कर, तो चेला सब देश॥
दादू दुखिया तबलग, जबलग नाँव न लेइ।
तब ही पावन परम सुख, मेरा जीवन येह॥

कर्ता

जाती नूर अलाहका, सिफ़ाती अरवाह।
सिफ़ाती सिजदा करै, जाति बे परवाह॥
वार पार नहिं नूरका, दादू तेज अनन्त।
कीमत नहिं करतारकी, ऐसा है भगवन्त॥
जीयें तेल तिलीनमें, जीयें गंध फुलिन्न।
जीयें माखण खीरमें, जीयें रब रूहिन्न॥

सार गहनी

दादू हंस परेखिये, उत्तिम करणी चाल।
बगुला बैसे ध्यान धरि, परतषि कहिये काल॥
गऊ बच्छका ज्ञान गहि, दूध रहै लौ लाइ।
सींग पूँछ पग परिहरै, अस्थन लागै धाइ॥

सुमिरन

हरि भज साफल जीवना, पर उपगार समाइ।
दादू मरणा तहँ भला, जहँ पसु पंखी खाइ॥
सब सुख सरग पयालके, तोल तराजू बाय।
हरि सुख एक पलकका, ता सन कह्यो न जाय॥

लव

जहँ आतम तहँ राम है, सकल रहा भरपूर।
अंतर गति ल्यौ लाइ रहु, दादू सेवग सूर॥
दीन दुनी सदकै करौं, टुक देखण दे दीदार।
तन मन भी छिन छिन करौं, भिस्त दोजख भी वार॥
कर बिन सर बिन कमान बिन, मारै खैंचि कसीस।
लागी चोट सरीरमें, नख सिख सालै सीस॥

प्रेम

ज्यूँ अमलीके चित अमल है, सूरेके संग्राम।
निरधनके चित धन बसै, यों दादूके राम॥
जबलग सीस न सौंपिये, तबलग इस्क न होइ।
आसिक मरणै ना डरै, पिया पियाला सोइ॥
इस्क मुहब्बत मस्त मन, तालिब दर दीदार।
दोस्त दिल हरदम हज़ूर, यादगार हुसियार॥
इस्क अलहकी जाति है, इस्क अलहका अंग।
इस्क अलह मौजूद है, इस्क अलहका रंग॥

पतिव्रता

प्रेम प्रीति इस नेह बिन, सब झूँठे सिंगार।
दादू आतम रत नहीं, क्यों मानै भरतार॥
हूँ सुख सूती नींदभरि, जागै मेरा पीव।
क्योंकरि मेला होइगा, जागै नाहीं जीव॥
तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिंड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यह दादूका ज्ञान॥

सूरमा

काइर काम न आवई, यहु सूरेका खेत।
तन मन सौंपै रामकौं, दादू सीस सहेत॥

काया कबज कमान करि, सार सबद करि तीर ।
दादू यहु सर साँधि करि, मारै मोटे मीर ॥

विनय

तिल तिलका अपराधी तेरा, रती रतीका चोर ।
पल पलका मैं गुनही तेरा, बकसौ औगुण मोर ॥
तुमकूँ हमसे बहुत हैं, हमकूँ तुमसे नाँहि ।
दादूकूँ जनि परिहरौ, तूँ रहु नैनहुँ माँहि ॥

कथनी

दादू कथणी और कुछ, करणी करैं कुछ और ।
तिनतैं मेरा जिव डरै, जिनके ठीक न ठौर ॥

चेतावनी

दुख-दरिया संसार है, सुखका सागर राम ।
सुख-सागर चलि जाइये, दादू तजि बेकाम ॥
आपा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लागि ।
दादू औसर जात है, जागि सकै तो जागि ॥

निश्चय

जहाँ राम तहँ मैं नहीं, मैं तहँ नाहीं राम ।
दादू महल बारीक है, दुइको नाहीं ठाम ॥

इन विचारोंसे पाठक यह स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि उनकी अनन्त-वेदनाकी अनुभूति और उनके आनन्दका अनुभव किस चरम सीमाका था ! वास्तवमें महात्माओंकी ही अमर कृतियाँ साहित्य-भण्डारका स्थायी साहित्य हो सकती हैं ।

साहित्य

हिन्दी-साहित्य-भण्डार भरनेका श्रेय जैसे नामदेवजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, नानकजी, रैदासजी, हरिदासजी, कबीरदासजी और अन्यान्य सन्तों तथा वैष्णव-सम्प्रदायके प्रेमी महात्माओंको प्राप्त है, उसी प्रकार हमारे महात्मा दादूजीको भी अतुल सामग्रीसे साहित्य-काननके अलंकृत करनेका श्रेय प्राप्त है। महात्मा दादूजीकी इस दूरदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनी पड़ती है जब यह देखा जाता है कि उन्होंने अपने उत्तमोत्तम विचार उस समयकी प्रचलित हिन्दी-भाषाद्वारा ही बतलाये, जिसकी पुष्टि उनके साम्प्रदायिक विद्वान् स्वामी निश्चलदासजीके इस वचनसे होती है ।

ब्रह्मरूप है ब्रह्मविद्, ताकी वाणी वेद ।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेदभ्रम छेद ॥

मैं अन्यान्य महात्माओंकी साहित्य-सामग्रीसे दादू-सम्प्रदायके साहित्यको कम नहीं समझता । यद्यपि उनकी सब साखियाँ उपलब्ध नहीं, किन्तु प्राप्य साहित्य भी उनको उच्च स्थान देनेके लिये कम नहीं है । यदि देखा जाय तो इस सम्प्रदायकी सारी कृतियाँ एक लाख पद्योंसे कम नहीं हैं । इस अतुल साहित्यका श्रेय दादूजीके मान्य शिष्योंको प्राप्त है जिनमें मोहनदासजी, सुन्दरदासजी, कुम्भारी पाव योगेन्द्र, जगन्नाथजी, गरीबदासजी, माधोदास-जी, जगजीवनजी, राघवदासजी, निश्चलदासजी, रज्जबजी और बखनाजी आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, जिनकी ज्ञान-गर्भित साहित्यिक साखियोंसे दादूजीके पवित्र विचारोंको सर्वत्र फैलनेमें बड़ी भारी सहायता मिली !

मरणासन्नके प्रति

गायौ नहिं राम-नाम जनम गमायौ वृथा, तू न सुरझाइ पायौ माया-उरझन है ।
आँखि फारि दोऊ दीन बदन बिलोकै कहा, कोऊ है न तेरो अबै नेरो ही मरन है ॥
कहत 'कुमार' हैं गुलाबनके बन तेरे ? सोमन सदन हैं कि सुन्दरी स्वजन हैं ?
मातनके गन हैं कि तन हैं कि पूतनके, तनके रतन हैं कि तन है कि मन है ?

—शिवकुमार केडिया 'कु-

७४२—आत्मा ही एक शाश्वत तत्त्व है। इसमें एक आन्तरिक इन्द्रियके अस्तित्वको मानना पड़ेगा जिसके अवधान तथा अनवधानके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

७४३—बृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य मनके अस्तित्वके विषयमें दो प्रमाण देते हैं। पहला यह है कि मनके द्वारा ही ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा समस्त ज्ञान सम्भव होते हैं। इसे 'सर्वकर्मविषययोगी' कहते हैं। दूसरा प्रमाण निर्णय करनेकी क्षमता है जो हम सबमें होती है। कोई मनुष्य, जिसे हम देखते नहीं, आकर हमें छू देता है और हम अनुमानके द्वारा जान लेते हैं कि छूनेवाला एक मनुष्य है। केवल स्पर्शसे ही हम इस तथ्यको नहीं जान सकते। वह गुण, जिसके द्वारा हम यह अनुमान निकालते हैं, मन है।

७४४—प्रत्यक्ष ज्ञानके अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार आन्तरिक चेतनाके द्वारा ही प्रत्यक्ष सम्भव होता है। हमारी आन्तरिक चेतना विषय-गत चेतनासे मिलती है और परिणाम प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। इसलिये इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मन और इन्द्रियाँ निरर्थक हैं; तत्तद्विषयोंके प्रत्यक्षको ग्रहण करनेके लिये इन्द्रियोंकी आवश्यकता है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है—इससे यह नहीं निकलता कि इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं क्योंकि वह प्रत्येक अपने-अपने विशिष्ट विषयोंके निश्चय करनेका काम करती हैं।

७४५—आत्मा अथवा ब्रह्मका स्वभाव क्या है? वह सत्-चित्-आनन्द है, आत्मा व्यापक है। तब वैयक्तिक आत्मदृष्टिको परिच्छिन्न कौन करता है? यह केवल मनके द्वारा होता है। इससे एक अन्तरिन्द्रिय मनका अस्तित्व सिद्ध होता है।

७४६—यदि गुरुवारकी रात्रिमें तीन दृढ़ विचार तुम्हारे मनमें उठे हैं तो शुक्रवारके प्रातःकाल पहले वही क्रियारूपमें उपस्थित होंगे। जितने ही दृढ़ विचार होंगे उतना ही शीघ्र उनका परिपाक होगा।

७४७—वृत्ति ही ज्ञानीके भीतर कुण्डलिनीको अग्निचक्रमें खोलती है और उसे सहस्रारचक्रसे मिलाती है यह एकमार्ग है।

७

७४८—मन ही माया है। मन ही जगत् है। जब मन शुद्ध हो जाता है तो केन्द्रमें एक रन्ध्र हो जाता है जिसके द्वारा पवित्रता, प्रकाश और ज्ञान ब्रह्मकी ओरसे प्रवाहित होने लगते हैं।

७४९—जब हवाके वेगसे दीपककी ज्योति झिलमिलाती रहती है तब तुम्हें वस्तुएँ साफ-साफ नहीं दीखतीं। इसी प्रकार जब बुद्धि द्वेषके द्वारा क्षुब्ध रहती है तो उसमें अस्तव्यस्तता उत्पन्न होती है और तुम विषयोंको ठीक-ठीक समझने और देखनेमें समर्थ नहीं होते। बुद्धि ही प्रकाश है।

७५०—मन भौतिक पदार्थ है। यह विचार इस सिद्धान्तपर अवलम्बित है कि आत्मा ही ज्ञानका एकमात्र स्रोत है। यह स्वयंसिद्ध है, स्वयंज्योति है। परन्तु मन और इन्द्रियाँ अपनी क्रियाशीलता तथा जीवन आत्मासे ही प्राप्त करती हैं। स्वयं तो वह निर्जीव होती हैं। अतः आत्मा सदा विषयी है, विषय नहीं; मन आत्माका विषय हो सकता है। और वेदान्तका यह मुख्य सिद्धान्त है कि जिसका अस्तित्व दूसरेके लिये है, तथा जो किसी विषयीका विषय है वह जड है। यहाँतक कि अहंप्रत्ययविशेषत्व अर्थात् अहंकारका सिद्धान्त भी अचेतन है, वह अपनी ज्योतिसे प्रकाशित नहीं होता। यह आत्माके स्व-ज्ञानका कारणभूत है।

७५१—दृढ़ सुषुप्तिमें मनका स्थान हृदय होता है, सुप्तावस्थामें मन गलेमें निवास करता है और जाग्रत्-अवस्थामें वह दाहिनी आँख अर्थात् अग्निचक्रमें रहता है। ध्यान दो कि आलोचना करते समय तुम्हें क्या करना पड़ता है? अपनी अंगुली तुम ठुड्डीपर रखते हो, गर्दनको दाहिनी ओर घुमाते हो, भृकुटीके ऊपर ध्यान जमाते हो और तब अपने दिमागमें आये हुए विषयपर गम्भीरतापूर्वक सोचते हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनका स्थान अग्निचक्र है।

एक राजा, यद्यपि अपने सम्पूर्ण राज्यपर अपना अधिकार रखता है, यद्यपि सम्पूर्ण राज्य उसका है तथापि वह अपने रहनेके लिये एक विशेष महल रखता है। राजधानीमें उसका एक भव्य महल होता है और ग्रीष्ममें रहनेके लिये दूसरा एक सुन्दर महल मंसूरी या आबू पर्वतपर होता है। इसी प्रकार यद्यपि मन समस्त

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

(गतांकसे आगे)

७२९–यद्यपि चेतना (सर्वत्र) एक ही है तथापि बिच्छूके डंक मारनेपर केवल जगन्नाथको ही व्यथा होती है, समीपमें खड़े हुए उसके मित्र विश्वनाथको नहीं। अन्तःकरण अथवा मन प्रत्येक व्यक्तिके अलग-अलग होते हैं। केवल अन्तःकरण ही मनुष्यको परिच्छिन्न बनाता है, अविद्याके आवरणके दूर होनेपर वह वस्तुतः ब्रह्मके साथ तादात्म्य हो जाता है।

७३०–मेरे मित्र, नारायण, जो मेरे सामने खड़े हैं मेरी निजी मानसिक सृष्टि हैं। हिरण्यगर्भ भी मेरी अपनी मानसिक सृष्टि है।

७३१–आदर्शवाद-सिद्धान्तके अनुसार यथार्थमें जगत् है ही नहीं; सब कुछ मानसिक कल्पना है। यह बौद्धोंका विज्ञानवाद है।

७३२–सत्कार्यवाद-सिद्धान्तके अनुसार जगत् एक मौलिक तत्त्व है। यहाँतक कि मध्वाचार्यके द्वैतवाद, श्रीरामानुजके विशिष्टाद्वैतवाद तथा महर्षि पतञ्जलिके राजयोगके अनुसार जगत् सत्य है।

७३३–कुण्डलिनीके जागृत होनेपर प्राण, मन और अग्निके साथ सुषुम्ना अथवा ब्रह्म-नाड़ीके द्वारा ऊर्ध्वमुखी होता है। योगी भौतिक चेतनासे मुक्त हो जाता है। कुण्डलिनीके जागृत करनेके बाद तुम्हें इसको कार्य-कारण, शक्तिचलन, अश्विनीमुद्रा, ताड़न,-प्रचरणके द्वारा उठाना होगा, यह सभी कुण्डलिनीके जगानेमें सहायक होते हैं। महाभेद कुण्डलिनीको उच्च स्थानमें उठानेमें सहायक होता है।

७३४–वृत्ति कहाँसे उठती है? चित्त या मनसे। वृत्ति क्यों उठती है? यह अन्तःकरणका स्वभाव ही है। इसका परिणाम क्या होता है? यह आवरण-भङ्गका हेतु है, (अर्थात् वस्तुओंको आच्छन्न करनेवाले स्थूल अविद्याके पर्देको हटाती है।) मनुष्यको पूर्णत्वकी प्राप्तितक यह सहायता पहुँचाती है।

७३५–चेतना (संविद्) सदा एकरस बनी रहती है। स्वप्नसे जगनेपर तुम्हें मालूम होता है कि तुम सुषुप्तावस्थामें भी थे। तुम्हें अनुभव होता है कि तुम सदा स्थित रहते हो। यह आन्तरिक भावना है।

७३६–परिच्छिन्न मन जो देश-काल-पात्रपर अवलम्बित है, जगत्‌के मूल उद्देश्य और कारणको नहीं जान सकता। यह तो उसकी शक्तिके परेकी बातें हैं। इस प्रश्नका उत्तर तो आजतक न किसी मनुष्यने, न शास्त्रोंने और न तत्त्वदर्शी आचार्योंने ही दिया है। इस विषयपर अपने मनको व्यर्थ न लगाओ। इस साध्यकी सिद्धि तुम्हें कभी नहीं प्राप्त हो सकती। यह तो ब्रह्मकी मौज है जिसके द्वारा यह सृष्टि होती है। यह उसका लीला-विलास है, यह उसकी माया है, यह उसका स्वभाव है।

७३७–विषय तुम्हें बन्धनमें नहीं डालते। वृत्तियाँ तथा उनके सम्बन्ध ही बन्धन और आसक्तिके कारण हैं।

७३८–आसन शरीरको स्थिर करता है, मुद्राओंसे शरीर दृढ होता है। प्राणायामसे शरीर हलका होता है। नाड़ी-शुद्धिसे मनकी साम्यावस्था प्राप्त होती है। इन विशेषताओंके प्राप्त करनेपर तुम ब्रह्ममें मनको लगा सकोगे। तब ध्यान सुखपूर्वक निर्विघ्न हो सकेगा।

७३९–एक वैज्ञानिक अपने मनको एकाग्रकर अनेकों आविष्कार करता है। ध्यानके द्वारा वह स्थूल मनके तहोंको खोलता है तथा मनके उच्चतम प्रदेशमें खूब गम्भीरतापूर्वक प्रवेशकर अति गम्भीर ज्ञानको प्राप्त करता है। वह अपनी सारी मानसिक शक्तिको एक केन्द्रमें केन्द्रीभूत करता है और उनको उस सामग्रीमें लगाता है जिसका वह विश्लेषण कर रहा है और इसप्रकार उनके रहस्यका ज्ञान प्राप्त करता है।

७४०–जिस मनुष्यने मनको स्वेच्छानुसार चलाना सीख लिया है वह समस्त प्रकृतिको वशीभूत कर सकता है।

७४१–मन समस्त पदार्थोंको विषय करता है और भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्कालमें व्याप्त होता रहता है। मन एक ही है परन्तु इसके परिणाम विभिन्न हैं।

७४२—आत्मा ही एक शाश्वत तत्त्व है। हमें एक आन्तरिक इन्द्रियके अस्तित्वको मानना पड़ेगा जिसके अवधान तथा अनवधानके द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

७४३—बृहदारण्यक उपनिषद्के भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्य मनके अस्तित्वके विषयमें दो प्रमाण देते हैं। पहला यह है कि मनके द्वारा ही ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा समस्त ज्ञान सम्भव होते हैं। इसे 'सर्वकर्मविषययोगी' कहते हैं। दूसरा प्रमाण निर्णय करनेकी क्षमता है जो हम सबमें होती है। कोई मनुष्य, जिसे हम देखते नहीं, आकर हमें छू देता है और हम अनुमानके द्वारा जान लेते हैं कि छूनेवाला एक मनुष्य है। केवल स्पर्शसे ही हम इस तथ्यको नहीं जान सकते। वह गुण, जिसके द्वारा हम यह अनुमान निकालते हैं, मन है।

७४४—प्रत्यक्ष ज्ञानके अद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार आन्तरिक चेतनाके द्वारा ही प्रत्यक्ष सम्भव होता है। हमारी आन्तरिक चेतना विषय-गत चेतनासे मिलती है और परिणाम प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। इसलिये इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मन और इन्द्रियाँ निरर्थक हैं; तत्तद्विषयोंके प्रत्यक्षको ग्रहण करनेके लिये इन्द्रियोंकी आवश्यकता है। ज्ञान आत्माका स्वभाव है—इससे यह नहीं निकलता कि इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं क्योंकि वह प्रत्येक अपने-अपने विशिष्ट विषयोंके निश्चय करनेका काम करती हैं।

७४५—आत्मा अथवा ब्रह्मका स्वभाव क्या है? वह सत्-चित्-आनन्द है, आत्मा व्यापक है। तब वैयक्तिक आत्मदृष्टिको परिच्छिन्न कौन करता है? यह केवल मनके द्वारा होता है। इससे एक अन्तरिन्द्रिय मनका अस्तित्व सिद्ध होता है।

७४६—यदि गुरुवारकी रात्रिमें तीन दृढ़ विचार तुम्हारे मनमें उठे हैं तो शुक्रवारके प्रातःकाल पहले वही क्रियारूपमें उपस्थित होंगे। जितने ही दृढ़ विचार होंगे उतना ही शीघ्र उनका परिपाक होगा।

७४७—वृत्ति ही ज्ञानीके भीतर कुण्डलिनीको अग्निचक्रमें खोलती है और उसे सहस्रारचक्रसे मिलाती है यह एकमार्ग है।

७४८—मन ही माया है। मन ही जगत् है। जब *मन शुद्ध हो जाता है तो केन्द्रमें एक रन्ध्र हो जाता है* जिसके द्वारा पवित्रता, प्रकाश और ज्ञान ब्रह्मकी ओरसे प्रवाहित होने लगते हैं।

७४९—जब हवाके वेगसे दीपककी ज्योति झिलमिलाती रहती है तब तुम्हें वस्तुएँ साफ-साफ नहीं दीखतीं। इसी प्रकार जब बुद्धि द्वेषके द्वारा क्षुब्ध रहती है तो उसमें अस्तव्यस्तता उत्पन्न होती है और तुम विषयोंको ठीक-ठीक समझने और देखनेमें समर्थ नहीं होते। बुद्धि ही प्रकाश है।

७५०—मन भौतिक पदार्थ है। यह विचार इस सिद्धान्तपर अवलम्बित है कि आत्मा ही ज्ञानका एकमात्र स्रोत है। यह स्वयंसिद्ध है, स्वयंज्योति है। परन्तु मन और इन्द्रियाँ अपनी क्रियाशीलता तथा जीवन आत्मासे ही प्राप्त करती हैं। स्वयं तो वह निर्जीव होती हैं। अतः आत्मा सदा विषयी है, विषय नहीं; मन आत्माका विषय हो सकता है। और वेदान्तका यह मुख्य सिद्धान्त है कि जिसका अस्तित्व दूसरेके लिये है, तथा जो किसी विषयीका विषय है वह जड है। यहाँतक कि अहंप्रत्ययविशेषत्व अर्थात् अहंकारका सिद्धान्त भी अचेतन है, वह अपनी ज्योतिसे प्रकाशित नहीं होता। यह आत्माके स्व-ज्ञानका कारणभूत है।

७५१—दृढ़ सुषुप्तिमें मनका स्थान हृदय होता है, सुप्तावस्थामें मन गलेमें निवास करता है और जाग्रत्-अवस्थामें वह दाहिनी आँख अर्थात् अग्निचक्रमें रहता है। ध्यान दो कि आलोचना करते समय तुम्हें क्या करना पड़ता है? अपनी अंगुली तुम ठुड्डीपर रखते हो, गर्दनको दाहिनी ओर घुमाते हो, भृकुटीके ऊपर ध्यान जमाते हो और तब अपने दिमागमें आये हुए विषयपर गम्भीरतापूर्वक सोचते हो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनका स्थान अग्निचक्र है।

एक राजा, यद्यपि अपने सम्पूर्ण राज्यपर अपना अधिकार रखता है, यद्यपि सम्पूर्ण राज्य उसका है तथापि वह अपने रहनेके लिये एक विशेष महल रखता है। राजधानीमें उसका एक भव्य महल होता है और ग्रीष्ममें रहनेके लिये दूसरा एक सुन्दर महल मंसूरी या आबू पर्वतपर होता है। इसी प्रकार यद्यपि मन

शरीरमें व्याप्त है तथापि तीनों अवस्थाओंमें जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्तिमें अक्षिचक्र-कण्ठ हृदय तीन स्थानोंपर रहता है। जहाँ प्राण रहता है, मन भी वहीं रहता है। यहाँतक कि प्रश्वासमें बाह्य श्वासके साथ मन युक्त होता है।

७५२-मनकी शुद्धिसे स्वयमेव ब्रह्म ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो जाती। शुद्ध होनेपर मन दिव्य प्रकाश और आनन्दके प्राप्त करनेके योग्य होता है। मनके शुद्ध हो जानेपर तुम्हें श्रवण मनन और निदिध्यासनका आश्रय लेना पड़ेगा।

७५३-जीवन्मुक्त जीते हुए भी जन्म और मृत्युके पाशसे मुक्त होता है। व्यवहार दशामें वह अपने मन और शरीरको करणके समान प्रयोग करता है। यदि तुम कहो कि ज्ञानके प्राप्त होते ही उसका मन पूर्णतया विनष्ट हो जाता है तो जीवन्मुक्त दशा असम्भव है। राजा जनकके समान जीवन्मुक्त पुरुषोंके उदाहरण पाये जाते हैं जिन्होंने ज्ञान प्राप्तकर अपने मन और शरीरको मानव-जातिके हित-साधनमें लगाया था।

७५४-जीवन्मुक्त पुरुषको यद्यपि असीम शक्ति प्राप्त होती है तथापि वह अपने अवच्छिन्न मनके द्वारा अपनी समस्त सिद्धियोंका प्रकाश नहीं कर पाता।

७५५-विचार और कर्मके प्रभावोंकी समीचीन व्याख्या (Detailed explanation) करना बहुत ही कठिन है। प्रत्येक कर्मके दो प्रकारके प्रभाव होते हैं—एक तो वैयक्तिक मनपर और दूसरा जगत्के ऊपर।

७५६-तुम्हारे विचार वाणीके अनुरूप होने चाहिये। यही आर्जव कहलाता है। इसका अभ्यास करो, तुम्हें विलक्षण लाभ प्राप्त होगा।

७५७-यदि तुम बारह वर्षतक सत्यका अभ्यास करो तो तुम्हें वाक्सिद्धि प्राप्त हो जायगी। जो कुछ तुम कहोगे वह हो जायगा, चिन्ता दूर हो जायगी। सत्य भाषणके द्वारा तुम बहुतेरे दोषोंसे बच जाओगे।

७५८-भौतिक शरीर और वाणीका पहले संयम करो। तब धीरे-धीरे विचारोंको वशमें करनेके लिये आगे बढ़ो। दूसरेका दोष मत देखो। वागिन्द्रियका संयम पहले करो। धीरे-धीरे मन दूसरोंमें दोष-दृष्टि छोड़ने लगेगा। मन स्वयमेव कहेगा-'जब वाणी प्रकट करनेके लिये तैयार नहीं है तो मैं ही क्यों दूसरोंके दोषोंका चिन्तन करूँ?' आचार शुद्ध होनेहीसे कर्मोंपर तुम्हारा अधिकार हो सकेगा। जब तुम किसी मनुष्यके दोषोंको प्रकट करते हो तो कितने मनुष्योंके मनको तुम विषाक्त कर देते हो। दूसरोंका दोष दिखलाना बड़ा ही घृणित कर्म है। परन्तु यथासमय निष्पक्ष आलोचना की जा सकती है।

७५९-मनके अभिनय-कृत्योंको देखो, परन्तु उसमें रत न हो जाओ।

७६०-यदि एक नादमें तुम पानी पीना चाहते हो तो तुम्हें अपने शरीरको झुकाना पड़ेगा। इसी प्रकार एक उन्नत मनके सामने एक तुच्छ मनको झुकना ही होगा, यदि वह उसके गुणोंको अपनाना चाहता है।

७६१-गङ्गा तथा नर्मदाका तट, हिमालयके सुरम्य दृश्य, सुन्दर पुष्पोंकी वाटिकाएँ, पवित्र मन्दिर—ये ऐसे स्थान हैं जो मनको ध्यान तथा एकाग्रताके लिये उठाते हैं। उनके ही शरणापन्न होओ।

७६२-एकान्त स्थान, उत्तर काशी, ऋषिकेश, बद्रीनारायण-जैसे आध्यात्मिक भावोंको उत्तेजन देनेवाले स्थान, शीतप्रदेश और अनुकूल जलवायु—ये अवस्थाएँ मनको एकाग्र करनेके लिये अत्यन्त ही आवश्यक हैं।

७६३-वासना क्षय, मनोनाश तथा तत्त्वज्ञानका जब दीर्घकालतक अभ्यास होता है तभी वह फलीभूत होते हैं। इनका क्रमशः अभ्यास होना चाहिये। इन तीनोंका जबतक बारम्बार अभ्यास नहीं होता तबतक सैकड़ों वर्ष बीत जानेपर भी परम तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यहाँतक कि इनमेंसे एकका ही बहुत समयतक अभ्यास किया जाय तो उससे फलीभूत होनेकी आशा नहीं रहती। चिरकालतक इन तीनोंके अभ्याससे निस्सन्देह कमल-दण्डके युग्म खण्डके जोड़नेवाले तन्तुके टूटनेके समान हृदयकी दृढ़ ग्रन्थि कट जाती है। (क्रमशः)



तिगरानेवाले परमहंसजी

(लेखक–पं० श्रीवालकृष्णजी शर्मा)

आज जिस सौम्य-मूर्तिका दर्शन कल्याण-प्रिय पाठकोंको कराया जाता है वे भिवानी-नगरीके समीप-वर्ती तिगराना नामक ग्रामको पवित्र करनेवाले परमात्माके परम प्यारे परमहंसकी है । इनके तेजोमय ललाट, प्रताप-पूर्ण मुखमण्डल, हृष्ट-पुष्ट शरीरको देखकर वड़ा ही आनन्द प्राप्त होता है । इनके दिव्य-दर्शनोंको नित्य सैकड़ों मनुष्य दूर-दूरसे आया करते थे, और पूर्णमनोरथ होकर लौटते थे ।



कोई तीस-चालीस वर्ष हुए ये महापुरुष तिगरानेके समीप वनमें पूलियोंके झोरोंमें रहा करते थे । एक समय तिगरानेमें प्लेगका प्रकोप हुआ और लोग अपने-अपने प्राण लेकर ग्रामसे भागने लगे। किसी सज्जनको इनका भी स्मरण हो आया और वह इनके पास जाकर इनसे भी चले जानेकी प्रार्थना करने लगा । पहले तो आपने उसकी वात सुनी-अनसुनी कर दी, परन्तु जव और भी लोगोंने कहा, तव आप उठ खड़े हुए और 'कूँ-कूँ' करते हुए उसी तिगरानेकी ओर चल दिये, जहाँ महामारी फैल रही थी । आगे-आगे आप, और पीछे-पीछे जनता चली आ रही थी । जव आप मूलचन्दजी पटवारीकी हवेलीके पास आये, उसमें घुसकर कोठेपर जा चढ़े । उसी दिनसे प्लेग तिगराना छोड़कर भाग गयी ।

जिस दिन आप उस हवेलीके कोठेपर चढ़े, तवसे शरीर त्यागनेतक वहीं रहे । कहते हैं आप कोई पन्द्रह सोलह वर्षतक उस कोठेपर रहे और उस भाग्यशाली पटवारीके घरको आपने पवित्र तीर्थ वना दिया । उसने भी समझ लिया कि मानो साक्षात् भगवान्‌ने मेरे घरमें पदार्पण किया है । वह और उसके कुटुम्वी वड़े प्रेमसे आपकी सेवा करने लगे । आप विल्कुल नग्न रहते थे और खड़े-खड़े ही मल-मूत्र भी त्यागा करते थे, परन्तु धन्य है मूलचन्द पटवारीको कि जिन्होंने पिताके समान

इनकी सेवा करना, नित्य स्नान कराके तिलक-चन्दन लगाना, आरती उतारना और जो कुछ रूखा-सूखा आप खाना वही पहले इन्हें खिलाना, इतने दिनों-तक अपना परम कर्तव्य समझा। इन महात्माका भी यह हाल था कि जिस प्रेमसे उस प्रीति-प्रसादको पाकर आप प्रसन्न होते थे, अमीरोंके मिष्टान्न, पक्वान्न-से वैसा न होते थे।

आपका स्वभाव था कि कोई भी मिलने आता था तो आप 'दारिका, दारिका, दारिका' कहते हुए उसकी ओर दौड़ते और यदि पकड़ लिया, तो भींच डालते अथवा कोई वस्तु हाथ लग गयी तो उसे ही दे मारते थे। कई विश्वस्त साक्षियोंकी जबानी ज्ञात हुआ है कि इसप्रकारके प्रसाद पानेवालेका भाग्य खुल जाता था। एक बार उस पटवारीकी गर्भवती स्त्री भोजन लेकर आयी। आपने उसे ऊपरसे चौकमें धक्का दे दिया। स्त्रीके जरा भी चोट न आयी और दो-ही-चार दिनों बाद उसके पुत्र हुआ।

आपको दही-बड़े बहुत भाते थे और दर्शना-भिलाषी जन भेंटके लिये प्रायः ये ही ले जाया करते थे। परन्तु दही-बड़ोंका पात्र इनके हाथमें पहुँचा कि बालक इनपर टूट पड़ते थे और छीन-झपटकर खाने लगते थे। यह लीला दर्शनीय हुआ करती थी।

कुछ वर्ष हुए इन महात्माने इस नश्वर शरीरको त्याग दिया।

वह विभूति

क्षितिजके कूलपर ऊषाका कल्लोल यह,
मन्द मन्द मलय समीरका महकना।
प्रणयी विरहमें विहङ्गोंका प्रणय-गान,
कोयलका कलित निकुञ्जमें कुहकना॥
नृत्य बालरविका सलिल-वीचियोंके सङ्ग,
चूमना प्रसून और मोतीका ढुलकना।
रङ्गमञ्च सुन्दर प्रकृतिका बताता किसी
परदकी ओट नाट्यकारका झलकना॥
प्रकृतिकी क्रोडमें, वनस्थलीके अञ्चलमें,
विकसित फूलोंकी विमल मुसकानमें।
मधुर पराग-मदिराकी मनमोहिनीमें,
झरनोंके निर्झरमें, सरिताके गानमें॥
कविताके जीवनमें, चित्रकी सजीवतामें,
नायकके नेह और गायककी तानमें।
वही एक सुन्दर विभूति राजती है नित्य,
जल, थल, अनल, अनिल, आसमानमें॥

—सत्यप्रसाद वर्मा

ब्रह्मविद्या-रहस्य

(अनुवादक तथा लेखक—श्रीनृसिंहदासजी वर्मा)

[अर्थात् ईशावास्योपनिषद्के शांकरभाष्यसहित प्रथम मन्त्रका अक्षरशः अनुवाद तथा विस्तारपूर्वक भाष्य-रहस्य-निरूपण]

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

भवसागरसे तरनेके लिये शास्त्रोंमें दो मार्गोंका विधान किया गया है—एक कर्ममार्ग और दूसरा ज्ञानमार्ग । तीसरा जो उपासनामार्ग बतलाया गया है वह तो एकमात्र ध्येयको ही विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिका परिणामरूप व्यापार होनेके कारण एक प्रकारका मानसिक कर्म ही है । इसप्रकार जो शारीरिक चेष्टाद्वारा किया जाता है उसे कायिक कर्म और उपासनाको मानसिक कर्म कहते हैं । अतः कर्ममार्ग कहनेसे उपासनामार्ग उसके भीतर ही आ जाता है । इस समय हमें ब्रह्मविद्यापर विचार करना है; इसलिये कर्म और उपासनाका ज़िक्र न करते हुए हम अपने अभिधेय विषयका ही प्रतिपादन करते हैं ।

ब्रह्मविद्या—इन शब्दोंमें ही ऐसी मधुरता, ऐसी लावण्यता, ऐसी चित्ताकर्षकता, ऐसी मादकता और ऐसी महत्त्वपूर्णता पायी जाती है कि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य जिसे अपने त्रिविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिकी उत्कण्ठा हो, नाना प्रकारके द्वन्द्व सहकर भी इसे येन-केनोपायेन सम्पादन किये बिना नहीं रह सकता । उसपर भले ही आपत्तियोंके पहाड़ टूट पड़ें, उसका सर्वस्व छिन जाय, शरीर काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाय, तो भी वह धीर और मतिमान् पुरुष ब्रह्मविद्या सम्पादनकर अपने प्रियतम आत्मदेवरूप भगवान् श्यामसुन्दरका साक्षात्कार किये बिना नहीं रह सकता । वह प्राणप्रिय मनमोहन ही इस ब्रह्मविद्याका चरम लक्ष्य तथा इसका वेद्य है ।

इस ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें केवल हिन्दू-शास्त्रोंमें वर्णित महात्माजन ही कटिबद्ध नहीं हुए, वरं अन्य मतानुयायी धीर महानुभावोंने भी इस परम पावनी गङ्गाकी धारामें डुबकी लगानेके लिये भरसक प्रयत्न करनेमें कसर नहीं छोड़ी । शम्स तबेज़की खाल खींची गयी, मन्सूर सूलीकी भेंट हुए, सर्मदका सिर उतारा गया—ये सब बातें इन मुसलमान फकीरोंने खुशीसे स्वीकार कीं परन्तु ब्रह्मविद्या-मात्रैकगम्य उस प्रियतम प्यारेको अपना आत्मस्वरूप बतलानेसे एक तिलभर भी नहीं हटे । यह है ब्रह्मविद्याकी महत्ता जाननेवालोंका सिद्क् (औदार्य) । इस आनन्दको वही तो अनुभव कर सकता है जो ब्रह्मशरका घायल हो चुका है; दूसरे विषयलम्पट पुरुष इसे क्या जानें ?

शास्त्रोंमें इस परम पुनीत ब्रह्मविद्यासे बढ़कर और किसी वस्तुकी प्रशंसा नहीं पायी जाती । उदाहरणके लिये कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

> स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ता च सर्वाऽवनि-
> र्यज्ञानां च सहस्रमिष्टमखिला देवाश्च सम्पूजिताः ।
> संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरः त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
> यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि स्थैर्यं मनः प्राप्नुयात् ॥
>
> (वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलिः)

अर्थात् जिस मनुष्यका चित्त ब्रह्मचिन्तनमें एक क्षणके लिये भी स्थिर हो गया उसने सारे तीर्थोंके जलमें स्नान कर लिया, समग्र पृथिवीका दान कर दिया, हजारों यज्ञ कर लिये, अखिल देवताओंका पूजन किया तथा अपने पितरोंका संसारसे उद्धार कर दिया और वही तीनों लोकका पूजनीय है ।

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावलिमें कहा है—

> कुलं पवित्रं जननी कृतार्था
> वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
> अपारसच्चित्सुखसागरेऽस्मि-
> ल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥

अर्थात् जिसका मन अपार सच्चिदानन्दसमुद्र परब्रह्ममें लीन हो गया है, उसका कुल पवित्र हो जाता है, माता

कृतार्थ हो जाती है और उसके कारण पृथिवी भी पुण्यवती हो जाती है ।

शास्त्रमें ऐसे एक नहीं, अनेक प्रमाण पाये जाते हैं । इसी प्रकार एक उच्च कोटिके मुसलमान फकीर ख्वाजा मुईनुद्दीन साहिब चिश्ती जिनका अजमेरमें बड़ा भारी मकबरा बना हुआ है, जिन्हें मुसलमान लोग पीराने-पीर कहते हैं, अपने दीवानमें लिखते हैं—

दमे ज हस्तिये खुद बिगुजरा वह अज सद साल ॥
के राज राजा बदारी या शब निमाज कुनी ।

अर्थात् जितनी देर साँस लेनेमें लगती है उतनी देर भी यदि तू तल्लीन होकर प्यारेका चिन्तन करे और अपनी हस्तीसे अर्थात् देहात्मबुद्धिसे दृष्टि उठा ले, तो वह एक दमभरका समय सैकड़ा वर्षोंकी दिन रातकी नमाजों तथा प्रतिदिनके रोजोंसे कहीं बढ़कर है । इसप्रकार सारे ससारमें किसी न किसी रूपमें ब्रह्मविद्याकी उच्चता अङ्गीकार की गयी है ।

ब्रह्मविद्या प्रतिपादक उपनिषद्–ब्रह्मविद्याके यथार्थ तथ्य प्रतिपादक है उपनिषद् । इन्हीं उपनिषदोंसे दुग्धरूप गीतामृत दुहनेके लिये परब्रह्म, सच्चिदानन्द उपनिषदैक प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दोग्धारूपसे अवतीर्ण हुए और *इन्हीं उपनिषदोंके मन्त्ररूप मणियोंको उत्तरमीमांसा* रूप वेदान्तदर्शनके सूत्रोंमें पिरोनेके लिये कृष्णद्वैपायन भगवान् वेदव्यासका आविर्भाव हुआ । अत इन तीनों को यानी उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीगीताजीको 'वेदान्त प्रस्थानत्रयी' भी कहते हैं । इन उपनिषदोंके मन्त्रोंका ही श्लोकोंमें कथारूपसे हम जैसे मन्दबुद्धि पुरुषोंके उपकारके *लिये पुराणमें संग्रह किया गया है । तात्पर्य यह है कि* ब्रह्मविद्याका भण्डार तथा आदिस्रोत सबने उपनिषदोंको ही माना है । उपनिषद्के महावाक्यरूप शरसे बिना बिंधे आत्मोपलब्धि प्राय असम्भव ही बतलायी गयी है । उपनिषदोंका सर्वोच्च महत्त्व केवल शास्त्रसम्मत ही नहीं बल्कि पाश्चात्य विद्वानोंने भी मुक्तस्वरसे स्वीकार किया है । पाठकोंके अवलोकनार्थ यहाँ कुछ यूरोपियन विद्वानोंकी सम्मतियाँ उद्धृत की जाती हैं । प्रोफेसर मैक्समूलर (Prof Maxmuller) लिखते हैं—

I spend my happiest hours in reading Vedantic books They are to me like the light of the morning, like the pure air of the mountains,—so simple, so true, if once understood

'The Upanishads are the sources of the Vedanta philosophy, a system in which human speculation seems to me to have reached its very acme '

अर्थात् मैं अपने सबसे अधिक आनन्दके घण्टे *वेदान्त ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें व्यतीत करता हूँ । मेरेलिये वे* प्रात कालीन प्रकाश तथा पर्वतोंकी शुद्ध वायुके समान हैं । यदि एक बार समझमें आ जायं तो वे बड़े ही सरल और बड़े ही सच्चे हैं ।

उपनिषद् वेदान्त फिलॉसफीका आदिस्रोत हैं । और यह एक ऐसा निबन्ध है जिसमें मेरे विचारसे मानवी भावना उच्चतम शिखरपर पहुँच गयी मालूम होती है ।

एक और विद्वान् विक्टर कजन (Victor Cousin) कहते हैं—

'When we read with attention the poetical and philosophical monuments of India, we discover there so many truths and truths so *profound*, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genious has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before that of the east, and to see in this cradle of the human race the native-land of the highest philosophy '

अर्थात् जब हम दार्शनिक तथा मार्मिक भारतीय ग्रन्थोंको ध्यानसे पढ़ते हैं तो हमें पता चलता है कि इनमें कितने सत्य भाव भरे हुए हैं और वे सत्य भाव भी इतने गहरे हैं कि जिनके सामने वे सारे परिणाम जिनपर कि कभी-कभी यूरोपियन फिलॉसफर उन्हें ही अन्तिम समझकर

ठहर गये हैं अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ते हैं। हमें भारतके ऐसे उच्च भावोंको देखकर उनके आगे घुटने टेकनेके लिये मजबूर होना पड़ता है और मानव-जातिकी इस आदि भूमिको हमें फिलॉसफीका जन्म-स्थान मानना पड़ता है।

शोपेनहर (Schopenhauer) साहबके शब्द पढ़िये—

'From every sentence (of the Upanishads of the Vedant) deep, original and sublime thoughts arise, and the whole is pervaded by a high, holy and earnest spirit.........In the whole world there is no study.........so beneficial, and so elevating as that of the Upanishads (the Vedant).........(they) are a product of the highest wisdom.........it is destined sooner or later to become the faith of the people.'

अर्थात् वेदान्त-प्रतिपादक उपनिषदोंके प्रत्येक वाक्यसे अत्यन्त गम्भीर, सत्य और शिक्षाप्रद मार्मिक भाव टपकते हैं। वे सभी अति उच्च, पवित्र और तत्परतापूर्ण मर्मोंसे पूर्ण हैं। सारे विश्वमें ऐसा कोई स्वाध्याय नहीं है, जो उपनिषदोंके समान लाभदायक अथवा आत्मोन्नतिके शिखरपर ले जानेवाला हो। वे उच्चतम बुद्धिकी उपज हैं। यह अटल बात है कि वे एक-न-एक दिन सब मनुष्योंकी श्रद्धाका विषय बन जायँगे।

डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) की सम्मति है—

'The Vedant is the sublimest machinery set into motion by oriental thought.'

अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जेका यन्त्र है जिसे पूर्वीय विचारधाराने प्रवृत्त किया है।

इसप्रकार उपनिषदोंका अत्यन्त भावपूर्ण एवं सर्वोच्च होना अन्यान्य धर्मियोंको भी स्वीकृत है, जैसा कि उनके शब्दोंसे साफ-साफ मालूम होता है। वे पश्चिमी विद्वान् इससे बढ़कर और लिख भी क्या सकते हैं?

अस्तु, ऐसे अत्युच्च कोटिके वेदशिरोभाग उपनिषद्के और उनमें भी जो वेदके मन्त्रभागान्तर्वर्तिनी होनेके कारण सबसे मुख्य मानी जाती है, उस (ईशोपनिषद्) के मन्त्रोंकी व्याख्या करना या उसके भाष्यके अर्थका जो साक्षात् शङ्करने ही अवतार लेकर लिखा है, निरूपण करनेका साहस करना मेरे जैसे अल्पज्ञ और क्षुद्रबुद्धिके अधिकारसे सर्वथा परे है और यद्यपि मेरा यह साहस विद्वानोंके उपहासका पात्र हो सकता है, तथापि मैंने जो *बालवत् धृष्टतासे अपने अधिकारसे बढ़कर क़दम रखा है* उसके लिये मैं आशा करता हूँ कि विज्ञ महानुभाव मुझे इस मार्गका धृष्ट एवं अनजान पथिक समझकर क्षमा करेंगे और इस भाष्यकी हिन्दी-व्याख्या एवं रहस्यनिरूपण करनेमें जो त्रुटि रही होगी उसके लिये मुझ अनुचरको क्षमा करके स्वयं उसकी पूर्ति करनेकी कृपा करेंगे। आशा है यदि भगवान्की कृपा रही तो शायद इस उपनिषद्के शेष मन्त्रोंका अर्थ भी कल्याणके आगामी अङ्कोंमें सुज्ञ पाठक महानुभावोंको दृष्टिगोचर कराया जा सकेगा। मेरा यह प्रयत्न यदि कल्याणके एक भी पाठकके लिये लाभकारी सिद्ध हुआ तो मुझे अत्यन्त आनन्द होगा। नहीं तो इस अनुवाद तथा रहस्यादिमें श्रीनन्दनन्दन भगवान् मुरलीमनोहरके ईशादि अनेक नामोंका ही इतनी बार आ जाना मेरी सफलताका कम सूचक नहीं होगा।

इस अनुवादमें पहले मूल-मन्त्रपर शाङ्करभाष्य मूल लिखकर भाष्यका भावार्थ लिखा गया है। तदनन्तर भाष्यरहस्यमें, भाष्यमें आये हुए क्लिष्ट शब्दोंको एक-एक करके भलीभाँति खोला गया है। उसके पश्चात् जिसप्रकार वैष्णव-सम्प्रदायाचार्यचरणोंने इस मूल-मन्त्रकी व्याख्या की है वह दिखलायी गयी है। फिर अन्वयसहित पदोंका अर्थ लिखा गया है। जहाँ-तहाँ उपयुक्त टिप्पणी भी दी गयी है। अस्तु,

अब हम ईशोपनिषद्के पहले मन्त्रका मूल शाङ्करभाष्य नीचे लिखकर भाष्य-व्याख्या प्रारम्भ करते हैं—

हरिः ॐ। ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥१॥

शांकरभाष्यम्

ईशा वास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्तास्तेषाम् कर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात्।

याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्वसर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्।

तच्च कर्मणा विरुद्ध्येतेति युक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात्।

सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात्

गीतानां मोक्षधर्माणां चैवम्परत्वात्।

तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वपापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि।

यो हि कर्मफलेनार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्य-

भाष्यार्थ

इस संहितो[1]पनिषद्के ईशा वास्यमित्यादि मन्त्रोंका विनियोग कर्ममें नहीं हो[2] सकता, क्योंकि वे अकर्मशेष आत्मदेवके यथार्थ स्वरूपका प्रकाश करनेवाले हैं।

और उस आत्मदेवका यथार्थ स्वरूप जैसा कि आगे मन्त्रोंमें विधान करेंगे—शुद्ध, पापरहित, एक, नित्य[3], अशरीरी[4] और सर्वगत[5] (सबमें ओतप्रोत—विभु) इत्यादि है।

और वह कर्मसे विरुद्ध सिद्ध होता है। अतः इन मन्त्रोंका कर्ममें विनियुक्त न होना (अर्थात् कर्मपरक न होना ही शास्त्रसम्मत और) युक्तियुक्त है।

और न आत्माका ऐसे लक्षणोंवाला स्वरूप, उत्पत्ति[6]शील, विकारी[7] (परिवर्तनशील), दूसरोंसे ग्रहण किये जाने-योग्य, संस्कार योग्य अथवा कर्ता भोक्तारूप[8] ही है (अर्थात् आत्मा उत्पत्त्यादि विकारयुक्त नहीं है) जिससे कि वह कर्मका शेष (अंग) बन सके।

क्योंकि सब-की सब उपनिषदें आत्मदेवके यथार्थ स्वरूपका निरूपण करनेमें ही समाप्त होती हैं।

गीता और मोक्षधर्म भी इसी बातको जनाते हैं।

अतः साधारण जनताकी बुद्धिको दृष्टिगोचर रखकर ही इस (परम पुनीत) आत्मदेवमें अनेकता[9], कर्ता-भोक्तापन तथा अशुद्धता और पापविद्धता आदि (दोषों) की कल्पना (आरोप) करके (जिज्ञासुके हितार्थ पूर्वमीमांसादि शास्त्रोंमें) विविध कर्मों[10]का प्रतिपादन किया गया है।

जो मनुष्य कर्मके ब्रह्मवर्चसादि दृष्ट फलके तथा स्वर्ग प्राप्त्यादि अदृष्ट फलके इच्छुक होते हैं और जो (देहाध्यास[11]वश) अपने-आपको ऐसा मानते हैं कि 'मैं

१—यजुर्वेदसंहितारूप मन्त्रभागका चालीसवाँ अध्याय होनेके कारण इसे संहितोपनिषद् तथा ब्रह्मविद्या विधायक होनेके कारण ब्रह्मविद्योपनिषद् और ईशावास्योपनिषद् कहते हैं। २—ब्रह्मका स्वरूप-लक्षण—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', तथा तटस्थ लक्षण 'जन्माद्यस्य यतः' अथवा 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि। ३—'नित्यो नित्यानाम्' (श्रुति) 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो' (गीता) ४—'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (गीता) 'अकायमव्रणम्' (श्रुति) ५—'सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं' नित्यः' तथा 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' (श्रुति) ६—'अजो नित्यः' (गीता) ७—'अविकार्योऽयमुच्यते' (गीता) ८—'न कर्ताहं न भोक्ताहं' (श्रुति) ९—'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' (श्रुति) १०—पूर्णमाससे लेकर अश्वमेधपर्यन्त नाना कर्म। ११—रज्जौ सर्पवत् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः रज्जुमें सर्पके समान वस्तुमें अवस्तुका आरोप अध्यारोप कहलाता है। उसीका नाम अध्यास है।

नधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति ।

द्विज हूँ, कानापन, कुबड़ापन आदि अनधिकारप्रयोजक धर्मवाला नहीं हूँ' उन्हींका कर्ममें अधिकार है (अन्यका नहीं)—ऐसा कर्माधिकारके जाननेवाले (पूर्वमीमांसक) कहते हैं ।

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनात्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्ति ।

अतः ये (अठारह) मन्त्र आत्माका यथार्थस्वरूप प्रकाशित करके आत्मविषयक स्वाभाविक अज्ञानकी निवृत्ति करते हुए शोक-मोहादिक सांसारिक धर्मके मूलोच्छेदके[१] साधनभूत आत्मज्ञानको ही उत्पन्न करते हैं (अर्थात् जीवात्मपरमात्मैकत्व विज्ञानको उत्पन्न करते हैं)।

इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान्मन्त्रान्संक्षेपतो व्याख्यास्यामः ।

इसप्रकार अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजनरूप अनुबन्धचतुष्टययुक्त इन मन्त्रोंकी हम संक्षेपसे व्याख्या करते हैं ।

हरिः ॐ । ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

ईशा वास्यमित्यादि । ईशा ईष्ट इतीट् तेनेशा । ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य । स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्प्रत्यगात्मतया तेन स्वेन रूपेणात्मनेशा वास्यमाच्छादनीयम् ।

ईशा वास्यमिति[२]। (ईशऐश्वर्येऽस्य क्विबन्तं तृतीयान्तं रूपमीशेति, इष्ट इतीट् तेनेशा ।) जो पूर्ण ऐश्वर्यशाली सबका नियमन और शासन करता है, उसे 'ईश' कहते हैं । उसी ईशका तृतीयान्त रूप 'ईशा' है । परमात्मा परमेश्वर ही सबका ईशन (नियमन) करनेवाला है, वही सब प्राणियोंका आत्मा होकर प्रत्यगात्मभावसे सबका नियमन करता है। उस अपने आत्मभूत ईश्वरके द्वारा (यह सब) आच्छादन किये जानेयोग्य है ।

किम्—

प्रश्न—क्या आच्छादन किये जानेयोग्य है ?

इदं सर्वं यत्किञ्च यत्किञ्चिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्मनेशेन प्रत्यगात्मतयाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना ।

उत्तर—यह सब-का-सब, जो कुछ भी पृथिवीपर दिखायी देनेवाला (दृश्य प्रपञ्चरूप) जगत् है (जो लोकान्तररूप अदृश्य प्रपञ्चका भी उपलक्षण है) इस सबको अपने आत्मारूप परमेश्वरसे—ऐसा भाव रखकर कि अपने परमार्थसत्यस्वरूपसे सबका अन्तरात्मा होनेके कारण यह सब कुछ मैं ही हूँ और यह समस्त स्थावर-जंगम-रूप प्रपञ्च असत्य है—आच्छादन करना चाहिये ।

यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं

जिसप्रकार चन्दन और अगरु आदिमें जलादिके सम्पर्कसे उत्पन्न हुई आर्द्रता (गीलापन) आदिके कारण होनेवाली औपाधिक दुर्गन्ध उन (चन्दनादि) के स्वरूपके घिसनेसे उनकी स्वाभाविक गन्धसे ढँक जाती है उसी प्रकार जिस समय यह भावना दृढ़ हो जाती है कि परमा-

१–'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (श्रुति)　२–वस आच्छादने । ऋहलोर्ण्यदिति ण्यत्प्रत्ययो णित्वात्स्वरितः ।

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद् द्वैतरूपं जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

चैतया आत्मा ही सत्य है उसी समय आत्मामें जो स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि लक्षणवाला द्वैतरूप जगत्का अध्यास है वह निवृत्त हो जाता है (अर्थात् अधिष्ठानका ज्ञान हो जानेपर अध्यस्त वस्तुका पूर्णतया अभाव हो जानेकी भाँति प्रवाहरूपसे आनेवाले इस अनादि सान्त संसारका ज्ञानीकी दृष्टिमें बाध हो जाता है। अतः अज्ञानीकी दृष्टिमें पूर्ववत् रहनेपर भी ज्ञानीको सर्वत्र ब्रह्मका ही अनुभव होनेके कारण यह प्रतीत ही नहीं होता)। 'जगत्याम्' (पृथिव्याम्) से यहाँ तात्पर्य समस्त नामरूप-कार्यात्मक विकारजात (दृश्य और अदृश्य प्रपञ्च) से है जो ईश्वरात्मैकत्व-भावके उदय होनेपर ज्ञानीको मिथ्या (मरुमरीचिकावत्) प्रतीत होने लगता है।

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः ।

इसप्रकार ईश्वरात्मभावनासे युक्त मनुष्यको पुत्रादि एषणात्रयके[1] संन्यास अर्थात् परित्यागमें ही अधिकार है कर्मोंमें[2] नहीं । इसलिये 'तेन त्यक्तेन'—त्यागेन अर्थात् एषणात्रयके त्यागपूर्वक 'आत्मरक्षा करे'।

न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो वा भृत्यो वाऽऽत्मसम्बन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः । भुञ्जीथाः पालयेथाः ।

परित्यक्त अर्थात् मरा हुआ पुत्र या सेवक आत्माके साथ सम्बन्धका अभाव हो जानेके कारण आत्माकी रक्षा नहीं करता, अतः 'त्यागेन' अर्थात् एषणात्रयके त्यागपूर्वक (आत्माका) भोग अर्थात् पालन करे (क्योंकि निष्क्रिय आत्मतत्त्वके अनुकूल होनेके कारण त्यागद्वारा ही आत्माकी रक्षा की जा सकती है।) यही वेदका तात्पर्य है।

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः, गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविषयाम् ।

इसप्रकार पुत्रादि एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा[3], लोकैषणा) का त्याग करनेवाला तू धनविषयक आकांक्षा मत कर । (गृधु अभिकांक्षायामिति)

कस्यस्विद्धनं कस्यचित्परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः ।

किसीके अर्थात् अपने या पराये धनकी इच्छा न कर । *यहाँ स्वित् अर्थहीन निपात है ।*

अथवा मा गृधः । कस्मात् । कस्यस्विद्धनम् इति आक्षेपार्थो न कस्यचिद्धनमस्ति यद् गृध्येत ।

अथवा इच्छा न कर क्योंकि धन किसका हो सकता है ? अर्थात् यह धन, जिसकी चाहना की जाती है किसीका नहीं है । इसप्रकार स्वित्का आक्षेपसूचक अर्थ भी हो सकता है । (यहाँ धन कहनेसे पुत्र-कलत्रादि समस्त प्रपञ्च समझना चाहिये ।)

आत्मैवेदं सर्वमिति ईश्वरभावनया सर्वं त्यक्तमत

यह सर्व प्रपञ्च आत्मारूप[4] ही है। इस ईश्वरभावना-द्वारा यह नाम-रूपात्मक सारा मिथ्या संसार निरस्त हो

१—'ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति' (श्रुति) २—*कर्मणा बध्यते जन्तुः* विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति पण्डिताः तत्त्वदर्शिनः ॥ (मोक्षधर्म महा० भा०)
३—धन कहनेसे समस्त विषय समझने चाहियें । ४—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (श्रुति) 'वासुदेवः सर्वमिति' (गीता)

आत्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥ १ ॥

गया। अतः यह सब आत्माका ही (पसारा) है और यह सब आत्मा ही है। इसलिये मिथ्या पदार्थोंकी आकांक्षा न कर। यह मन्त्रका अर्थ है।

भाष्य-रहस्य

भावार्थ—सब वेदोंका पर्यवसान ब्रह्ममें ही होता है अर्थात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' ऐसा अद्वैत तत्त्ववेत्ताओंका कथन है। और उस ब्रह्मका उपदेश यथोक्त अधिकारीको ही करना उचित है। उपनिषद्में कहे मन्त्रानुसार अधिकारी वही है जो शान्तचित्त तथा जितेन्द्रिय हो और निष्काम कर्मोंके करनेसे जिसके मल और विक्षेपरूप अन्तःकरणके दोष निवृत्त हो चुके हों, जो गुरुके कथनानुसार चलनेवाला हो तथा गुणयुक्त और गुरुका अनुकरण करनेवाला यानी उसके श्रेष्ठ मार्गको उल्लंघन करनेवाला न हो और मोक्षका तीव्रतर इच्छुक हो। निम्नलिखित श्रुति भी इसीका विधान करती है—

'प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय
प्रहीनदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय नित्यं
प्रदेयमेतत् सततं मुमुक्षवे ॥

किन्तु यह अधिकार चित्तशुद्धि बिना सिद्ध नहीं होता। चित्तकी शुद्धि स्ववर्णाश्रमोचित कर्मकाण्डसे होती है। 'कर्मणा शुद्धचित्तस्य' इत्यादि। अतः वेद भगवान्‌ने, जिस शुक्ल यजुर्वेदका यह चालीसवाँ अध्याय है, पहले उनतालीस अध्यायोंमें दर्शपूर्णमासाद्यश्वमेधान्तकर्मकाण्डका ही विस्तारपूर्वक निरूपण किया है और उसके पीछे अब यथोक्त गुणवान् शुद्धचित्त अधिकारीके लिये, जो विवेकादि साधनचतुष्टयसम्पन्न हो, इस अन्तिम अध्यायमें ज्ञानकाण्ड आरम्भ किया है।

इस उपनिषद्‌का नाम ब्रह्मविद्योपनिषद् भी है। क्योंकि यह ब्रह्मविद्यापरायण मनुष्योंके संसारबन्धनका, उसके कारण अविद्याके सहित मूलोच्छेद करके परमानन्दकी प्राप्ति करानेवाली है। निम्नलिखित प्रमाणके अनुसार उपनिषद् शब्दका अर्थ भी यही है—

'उपनीयेममात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं पुनः॥ निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषन्मतेति वचनाच्च'। अन्तर्भावितण्यर्थस्य विशरणार्थस्य सद् घातोः क्विपि रूपम् ॥ 'उपनितरां सादयति संसारहेतुभूतामविद्यां नाशयति ॥ गत्यर्थस्य वा ब्रह्म प्रापयतीति ॥'

सारांश यह है कि जो आत्माको ब्रह्मकी सन्निधिमें ले जाकर एकीभाव करा दे तथा अविद्या और उसके कार्यका बाध कर दे वह उपनिषद् कहलाती है।

इस ईशोपनिषद्‌में पाये जानेवाले मन्त्रोंका विनियोग कर्ममें नहीं है। यदि कर्ममें होता तो 'इषेत्वोर्जे' मन्त्रवत् पूर्वमीमांसा आदि कर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंमें जैसे दूसरे मन्त्रोंके विषयमें आता है कि अमुक मन्त्रसे अमुक कर्म करना चाहिये उसी प्रकार इन ईशा वास्यादि मन्त्रोंका भी प्रयोग किसी कर्मविशेषमें दिखलाया गया होता। परन्तु ऐसा कहीं भी देखनेमें नहीं आता। अतः इनको कर्मपरक समझना अयुक्त एवं असङ्गत है। दूसरे पुत्रेष्टि तथा श्येनादि याग और इष्टापूर्त्तादि कर्म प्रायः कर्ता-भोक्तापनके अभिमानी, आसक्त एवं रागयुक्त मनुष्य ही करते देखे जाते हैं। किन्तु यह ज्ञानमार्ग अनासक्त और रागरहित मनुष्यका है।

आत्मा कर्मका शेष भी नहीं है। क्योंकि शेष वह होता है जो उत्पाद्यादि छः विकारोंवाला तथा जड और दुःखरूप हो अथवा ऐसा समझिये कि जिसके करनेसे किसी वस्तुविशेषकी प्राप्ति हो वह 'शेषी' और जिस वस्तुकी प्राप्ति हो वह 'शेष' कहलाती है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे—यहाँ स्वर्ग उत्पाद्य तथा आप्य है अतः वह यज्ञरूप कर्मका शेष है और यज्ञरूप कर्म उत्पादक तथा प्रापक है इसलिये उसे स्वर्ग-प्राप्तिका शेषी समझना चाहिये। इसी प्रकार अन्य शेष-शेषी-सम्बन्ध भी समझने चाहिये। इसके सिवा पहले अप्राप्त और अब प्राप्त होनेवाले इन स्वर्गादिमें उपर्युक्त अन्य दोष भी प्राप्त हो जायँगे। उनका दिग्दर्शन कराया जाता है—

स्वर्ग पहले अप्राप्त था अब प्राप्त किया, अतः 'उत्पाद्य' हुआ, उसकी प्राप्तिकी कामना थी जो अब निवृत्त हो गयी। अतः वह 'आप्य' हुआ; पुण्य क्षीण होनेपर वह छिन जायगा, इसलिये 'विकारी' हुआ; मैंने यह स्वर्ग अपने शुभ कर्मोंसे प्राप्त किया है और अब इसका आनन्द भोग रहा हूँ, इसलिये 'कर्ता-भोक्तारूप अभिमानका विषय' हुआ; प्रति

इन्द्र इसकी घटना भी विलक्षण होती है, अतः 'संस्कार्य' भी है। इसप्रकार जो भी वस्तु कर्मशेष होगी; उसीमें ये दोष बलात्कारसे आ प्राप्त होंगे। आत्मा नित्य और सबका अपना-आप होनेसे सदा प्राप्त है, इस नित्य-प्राप्तकी प्राप्तिके लिये प्रतीक्षा भी नहीं करनी पड़ती। अतः यह उत्पाद्य या आप्य नहीं है; सदा एकरस रहता है इसलिये 'विकारी' भी नहीं है; वह विभु है और उसके अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इसलिये उसमें कर्त्ता-भोक्तापन भी नहीं पाया जाता, स्वयं शुद्ध और सबका अन्तर्यामी है, अतः 'संस्कार्य' भी नहीं है। इसप्रकार इन सब दोषोंसे मुक्त होनेके कारण आत्मा कर्मशेष नहीं हो सकता। सारे-के-सारे दृश्य पदार्थ बिना हुए भी हुएकी भाँति इसीमें झलक मार रहे हैं। अतः यही सबका अधिष्ठान तथा शेषी है। फिर, स्वयं शेषी शेष कैसे हो सकता है? सारे पदार्थ इसीके शेष हैं, यही सर्वशास्त्र-सम्मत मत है।

अब प्रश्न यह होता है कि कर्मोंका विधान क्यों किया गया? जिसका उत्तर यही है कि साधारण मनुष्योंकी बुद्धिके अनुकूल बिना हुएकी भी कल्पना करके उस आरोपित प्रपञ्चका धीरे-धीरे अपवाद करनेके लिये ही कर्मकाण्डकी रचना हुई है, क्योंकि प्राप्त होनेपर ही निषेध किया जाता है—यह शास्त्रकी विधि है। इसीलिये शास्त्रने पहले अध्यारोप करके फिर उसका निषेध किया है 'जैसा रोगी वैसी चिकित्सा' इस कहावतके अनुसार ही शास्त्रने अप्राप्त-आत्मसाक्षात्कार मनुष्योंके लिये, जिनकी संख्या बहुत अधिक है, कर्म और उपासनामार्गका विधान किया है, जो प्रायः सबके लिये अत्यावश्यक है, और जिसके बिना उन्नतिके शिखरपर चढ़ना अत्यन्त कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है।

इसके सिवा कर्मविधायक शास्त्रोंमें यह भी विधि पायी जाती है कि अमुक कर्म केवल ब्राह्मणको और अमुक केवल क्षत्रियको ही करने चाहिये तथा अमुक-अमुक गुण ब्राह्मण या क्षत्रियके शरीरमें होने चाहिये। अमुक गुण तथा अमुक जातिसे हीन अन्य पुरुष अमुक कर्म नहीं कर सकता। ऐसा नियम है। परन्तु इन ब्रह्मविद्याप्रतिपादक मन्त्रोंमें धारणा करनेके लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। अपने वर्णाश्रम-धर्ममें तत्पर, साधनचतुष्टयसम्पन्न, श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाला तथा त्वंपद और तत्पदके शोधनद्वारा आत्महितका इच्छुक (ऐसा ज्ञानके आठ साधनोंसे युक्त) द्विजमात्र इसमें सुदृढ़ निष्ठा करनेपर परमानन्दका आस्वादन कर सकता है। इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि ये उपनिषद्-मन्त्र किसी भी तरह कर्ममें विनियुक्त नहीं हैं; केवल आत्माके यथार्थ स्वरूपको ही प्रकाशित करनेवाले हैं।

शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायरूप इस ईशोपनिषद्का दृष्यङ्ङाथर्वण ऋषि है, अनुष्टुप् आत्मदेवत्य छन्द है और आत्मा देवता है। तथा देशिक आचार्यने अथवा स्वयं गुरुरूपा भगवती श्रुतिने इसका उपदेश किसी ऐसे पुत्र या शिष्यके प्रति किया है जो गर्भाधानादि संस्कारोंसे संस्कृत हो, वेदविद्या पढ़कर पुत्रोत्पादन कर चुका हो, 'कौन वस्तु नित्य है और कौन अनित्य'—इस विवेकसे युक्त हो, इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोकतकके सभी भोगोंको तुच्छ समझनारूप वैराग्यसे सम्पन्न हो, शम-दमादि षट् सम्पत्तिसे सम्पन्न हो और मोक्षकी तीव्रतर इच्छावाला हो।

शास्त्रोंका सङ्केत है कि अनुबन्धचतुष्टयसे अलङ्कृत ग्रन्थ ही जिज्ञासुको उपादेय है। यह उपनिषद् उक्त गुणसे भी युक्त है जैसा कि संक्षेपसे नीचे दिखलाते हैं—

अनुबन्ध चार प्रकारका है—१ अधिकारी, २ सम्बन्ध, ३ विषय, ४ प्रयोजन। विवेकादि चार साधनोंसे युक्त मनुष्य इस उपनिषद्का अधिकारी है, इसी कारण श्रुतिने मन्त्रमें अधिकार-सूचक 'त्यक्तेन' शब्दका प्रयोग किया। प्राप्तव्य ब्रह्मविद्याके साथ इसका प्रतिपादक-प्रतिपाद्य-सम्बन्ध है। तथा जिज्ञासुके साथ इसका पाठक-पाठ्य या देशिक-शिष्य-सम्बन्ध है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति इसका प्रयोजन है, जिसकी सूचना 'को मोहः कः शोकः' द्वारा श्रुतिने दी है और ब्रह्मात्मैक्य-निरूपणरूप अभेद-प्रदर्शन इसका 'विषय' है, जिसका ज्ञापक 'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं' यह मन्त्र है। इसप्रकार इन अनुबन्धचतुष्टयसे अलंकृत यह ग्रन्थ जिज्ञासुको परम हितकर और भवसागरसे पार करनेवाला है।

क्योंकि श्रुति-षड्लिङ्गके जाने बिना ऐसे गम्भीर, भावपूर्ण, सर्वोच्च, क्लिष्ट, वेदशिरस्क और श्रेयःमार्ग-प्रदर्शक इस मन्त्रभागरूप यजुर्वेदीय उपनिषद्के अभिप्रायको जानना अत्यन्त कठिन है इसलिये प्रसङ्गवश यहाँ उसका भी निरूपण करते हैं—

शास्त्रोंमें यह बात पुनः-पुनः आती है कि फल उसी कार्यका होता है जो शास्त्रोक्त विधिसे किया जाय। अतः उपनिषदोंका अर्थ निर्णय करनेके लिये भी षड्लिङ्गोंका जानना शास्त्रने अत्यावश्यक बतलाया है; जैसा कि कहा है—

'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥'

अर्थात् उपक्रम और उपसंहार इन दोनोंकी एकता, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—यह छः तात्पर्य-निर्णयमें लिङ्ग हैं। इन सबकी भिन्न-भिन्न व्याख्या अन्यत्र करेंगे, यहाँ विस्तारभयसे नहीं करते। अब इन्हें संक्षेपसे इस ईशोपनिषद्में लगाते हैं।

१ उपक्रम और उपसंहार–'ईशा वास्यमित्यादि' अर्थात् समस्त प्रपञ्च ईश्वर करके आच्छादन करनेयोग्य है इस पहले मन्त्रसे उपक्रम करके 'स पर्यगाच्छुक्रम्' अर्थात् वह सब प्रपञ्चके चारों ओर फैला हुआ है; यानी आकाशवत् व्यापी है–इस मन्त्रद्वारा उपसंहार किया गया है।

२ अभ्यास–'अनेजदेकं' (अचञ्चल)—इस मन्त्र अथवा 'तदन्तरस्य सर्वस्य' (वह सबके अन्तर है)—यह अद्वैतका अभ्यास है।

३ अपूर्वता–'नैनद्देवाप्नुवन्' (इसको चक्षु आदि इन्द्रिय नहीं पहुँच सकीं) इससे प्रत्यक्षादि प्रमाणकी अगम्यतारूप अपूर्वता सिद्ध होती है।

४ फल–'को मोहः कः शोकः' इस मन्त्रसे फलवत्ता निरूपण की गयी है।

५ अर्थवाद–'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस मन्त्रसे भेद-दर्शी जीवितेच्छु अपक्वकषाय मनुष्यके लिये कर्मका अनुवाद करनेके अनन्तर श्रुतिने 'असुर्या नाम' इस मन्त्रद्वारा अन्धतामिस्र लोकोंकी प्राप्ति कथन करके भेदज्ञान-की निन्दा और अभेद-ज्ञानकी प्रशंसा की है। इसीको अर्थवाद कहते हैं।

६ उपपत्ति–'तस्मिन्नपो' इस मन्त्रसे युक्तिविधान-द्वारा श्रुतिने इस उपनिषद्को एकात्मतत्त्व अर्थात् अभेद-परक सिद्ध किया है। इन लिङ्गोंसे भी यह उपनिषद् जीवब्रह्मैकत्वनिरूपणपरक और समस्त प्रपञ्चको कल्पित तथा मिथ्या निरूपण करनेवाली सिद्ध होती है, कर्मकाण्ड विधान करनेवाली सिद्ध नहीं होती।

इस उपनिषद्के निरन्तर स्वाध्यायरूप अभ्याससे अवश्य ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है। अतः मुमुक्षुको ब्रह्मविद्या-सम्पादनके लिये इसका पुनः-पुनः अवलोकन तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके इसमें निष्ठा करनी चाहिये। क्योंकि 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'—इस मन्त्रसे उस ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त होना उपनिषद्द्वारा सिद्ध होता है और यह श्रुतिवाक्य सर्वथा प्रामाण्य एवं अकाट्य है।

इस ईशा वास्यादि मन्त्रका रहस्य दो शब्दोंमें यह है कि यदि विधिमुखसे विचारा जाय तो सब-का-सब प्रपञ्च ब्रह्मसे ही आच्छादित है; जैसे लोहेके हथियार लोहेसे और सुवर्णके आभूषण सुवर्णसे ही सर्वथा आच्छादित होते हैं और यदि निषेधमुखसे देखा जाय तो यह नाम-रूप-क्रियात्मक विकारजात (संसार) प्रागभाव तथा प्रध्वंसा-भावका प्रतियोगी और आगमापायी होने तथा ब्रह्मसत्तासे पृथक् स्वयं सत्ताहीन होनेके कारण तीनों कालमें है ही नहीं। नामरूप केवल कल्पनामात्र है। अस्ति, भाति और प्रियरूपसे केवल ब्रह्म ही सत्य है। जिसप्रकार लोहा और सुवर्णके निकाल लेनेपर हथियार और आभूषणोंकी कोई स्थिति ही नहीं रहती; और विचारदृष्टिसे अर्थात् एक दार्शनिककी दृष्टिसे देखा जाय तो लोहे या स्वर्णमें नाम और रूप तो किसी कालमें थे ही नहीं। वे अज्ञान-कालमें ही भ्रान्तिसे प्रतीत होते हैं। किन्तु 'प्रामाणिकी न भवति भ्रान्त्या मोहितकल्पना' अर्थात् भ्रान्तिकालमें मोहवश जो कल्पना की जाती है वह प्रामाणिकी नहीं होती।

इसप्रकार दोनों रीतिसे यानी विधि और निषेध दोनों प्रकारसे संसार है ही नहीं, इस तत्त्वको जानकर अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषको ब्रह्म-दृष्टिद्वारा मिथ्या और भ्रान्त दृष्टिका निरास करना ही उचित है परन्तु यह हो उसीसे सकता है जो पुत्रादि एषणात्रयको त्याग चुका है। जो एषणा-त्रयमें फँसा हुआ है वह तो उपर्युक्त युक्तियोंके अनुसार भ्रान्तदर्शी तथा असत्य, तुच्छ, अनृत और अध्या-रोपित पदार्थको ग्रहण करनेवाला है। झूठी आजीविका-

द्वारा टुकड़े माँगकर खानेवाला भिखमंगा भला चक्रवर्ती राजाके ऐश्वर्यजन्य सुखका आस्वादन कब कर सकता है ? अतः सांसारिक पदार्थोंसे विरक्त और अनासक्त होकर सर्वदा ब्रह्मदृष्टि रख जीवनकालमें ही ब्रह्मानन्दके अथाह और अगाध क्षीरसागरमें गोते लगाता हुआ जीवन्मुक्तिकी स्थिति प्राप्त करे और देहपातके अनन्तर जन्म-मरणकी फाँसी काटकर विदेहमुक्तिको प्राप्त हो जाय। मिथ्या-भ्रान्ति-कल्पित, जड और दुःखरूप प्रपञ्चमें कदापि चित्त न लगावे। यही इस मन्त्रके भाष्यका रहस्य है और यही श्रुतिका तात्पर्य है। ऐसा ज्ञानी मनुष्य सदा मुक्त ही है। '*न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति*' '*तत्रैव समवलीयन्ते*' '*न च पुनरावर्तते*' यह श्रुतियोंकी घोषणा है। इसी सम्बन्धमें श्रीगीताजीमें भी '*यद्गत्वा न निवर्तन्ते*' '*मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*' इत्यादि सर्वोच्च और अकाट्य प्रमाण पाये जाते हैं। इसलिये अपने स्वरूपमें स्थित होना ही मनुष्य-शरीरका एकमात्र ध्येय है।

यह भगवान् भाष्यकार शङ्करावतार श्री १०८ स्वामी शङ्कराचार्यजीके ईशावास्योपनिषद्भाष्यरूप महोदधिके पहले मन्त्रके रहस्यका एक बिन्दुमात्र है, जो श्रीभाष्यकारके दासानुदासोंके चरणरेणु मुझ मन्दमतिने अपनी तुच्छ बुद्धिके अनुसार अपने मनोविनोद और कल्याणकामियोंको खद्योतके समान श्रेयःपथ प्रदर्शित करनेके लिये लिपिबद्ध किया है। मुझे भय है कि कहीं मेरा यह प्रयास विद्वानोंके उपहासका विषय न बन जाय। विशेष भाष्यपरिचयके लिये विज्ञ महानुभाव दूसरी भाष्यानुगामिनी संस्कृत व्याख्याएँ देख सकते हैं। अलमतिविस्तरेण।

दूसरी प्रकारकी भाष्य-व्याख्या।

ऊपर शङ्करभाष्यकी व्याख्या करनेके अनन्तर भाष्य-रहस्य दिखलाया गया है। अब इसी मन्त्रके केवल मूलमात्रकी दूसरी प्रकार व्याख्या करते हैं।

यह जितना ब्रह्माण्ड है सारेका सारा ईश्वरसे व्याप्त तथा निवासनीय है (वस निवासे) अर्थात् ब्रह्मद्वारा ही उत्पादित, स्थापित तथा नियमित है। इसलिये उसके प्रदान किये हुए (*त्यागेन त्यक्तेन विसृष्टेन प्रदत्तेन*) सांसारिक पदार्थोंको भोगो। अर्थात् मुझे इससे अधिक प्राप्त हो ऐसी कामना मत करो। अपने और पराये धन (विषयों) की लालसा मत करो, क्योंकि सब बातें ईश्वराधीन हैं इसलिये तुम्हारा यदृच्छाप्राप्त पदार्थोंसे अधिकके लिये उत्कण्ठित होना अन्यथासिद्ध और व्यर्थ है। ये धनादि काम्य पदार्थ भला किसके हैं ? अर्थात् किसीके नहीं। अतः अपने अदृष्टानुसार जो कुछ प्राप्त हुआ है उससे अधिक पानेकी आकाङ्क्षा न करे। तथा प्राप्त वस्तुओंमें 'मैं-मेरा' ऐसा स्वस्वामित्वभाव त्यागकर वैराग्यपूर्वक योगमें स्थित हो। पूज्यपाद वैष्णव आचार्य महानुभावोंने इस मन्त्रकी ऐसी ही व्याख्या की है। मुमुक्षुके लिये दोनों ही प्रकारके अर्थ हितकर और उपादेय हैं। इसलिये जिसमें जिज्ञासुकी अधिक रुचि हो उसे ही धारण करे। सभी ईश्वररूप हैं या यह सब ईश्वरका या ईश्वरसे है—ये दोनों पथ तुल्य महिमावाले हैं, दोनोंका लक्ष्य एक ही है। अतः इन दोनों मार्गोंमें कुछ भी भेद नहीं है। दोनोंहीका प्रयोजन भगवत्प्राप्ति है, जैसा कि भगवान् स्वयं श्रीमुखसे श्रीगीताजीमें कहते हैं—

> 'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
> एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥'
> (५।४)

इसलिये आत्मान्वेषीके लिये ये दोनों ही पुष्पवाटिकाएँ खुली हुई हैं जिसमें इच्छा हो यथेष्ट भ्रमण करे, परन्तु लक्ष्यच्युत न हो। बल्कि भगवच्चरणारविन्दका भृङ्ग बनकर अपने जीवात्माको, जो वास्तवमें ईश्वररूप ही है, परमात्मामें लय कर दे।

अन्वय और पदार्थ

अब इसी मन्त्रका अन्वय और पदार्थ दिखलाते हैं। (*जगत्याम्*) नामरूप क्रियात्मक विकारजात, प्रत्यक्षगम्य तथा सावरण ब्रह्माण्डमें (यत्किञ्च) जो कुछ भी (जगत्) चराचरात्मक नश्वर प्रपञ्च (अस्ति) है (इदम्) यह (सर्वम्) सारा (ईशा) परमात्माद्वारा (वास्यम्) व्याप्त आच्छादनीय अथवा निवासनीय (है) (तेन) उस समस्त प्रपञ्चसे (या दूसरी प्रकार अर्थ करना हो तो इस 'तेन' का अर्थ ईश्वरसे) (त्यक्तेन) अपनेपनके सम्बन्धको छोड़कर (या दूसरी प्रकार अर्थ करना हो तो 'त्यक्तेन' का अर्थ '*विसृष्टेन प्रदत्तेन*' दिये हुए) (आत्मानम्) आत्माको (अथवा दूसरी तरह अर्थ करें तो '*भोगान्*'—भोगोंको) (भुञ्जीथाः) भोग अर्थात् अनुभवकर (कस्यस्वित्) किसीके (धनम्) धन अर्थात् विभूतिको (मा गृधः) मत आकाङ्क्षा कर।

ब्राह्म-मुहूर्त

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)


इस विश्वमें ऐसा कोई कर्म, दृश्य अथवा अदृश्य पदार्थ नहीं है जिसका उपयुक्त परिणाम न हो। किन्तु परिणामकी मात्रा रूप, समय और कर्मकी कुशलतापर निर्भर है। यह कुशलता कर्मकी मात्रा, देश, काल, उद्देश्य, शक्ति-आदिकी उपयोगितापर निर्भर रहती है। इसी निमित्त गीताका वचन है *'योगः कर्मसु कौशलम्।'* एक ही प्रकारका कर्म उपयुक्त समय अथवा स्थानमें करनेसे सफल होता है किन्तु वही अनुपयुक्त समय और देशमें करनेसे विफल हो जाता है। देशसे भी काल प्रवल है। इसी कारण लिखा है कि काल सब कर्मोंका मुख्य कारण है। चारों युगोंमें जो वहुत बड़ा भेद पाया जाता है वह केवल कालकी ही विभिन्नताके कारण है। जैसे प्रत्येक मन्वन्तरमें चारों युग आते जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक दिनमें भी चारों युग बीतते हैं। प्रत्येक दिनमें रात्रिका शेष और दिनका प्रारम्भ-भाग, जो ब्राह्म-मुहूर्त कहा जाता है, दिनकी चौ-युगीका सत्य-युग है। इसी कारण शास्त्रका वचन है कि ब्राह्म-मुहूर्तमें केवल धर्म-चिन्तन, ब्रह्मोपासना आदि परमार्थ-सम्वन्धी कार्य ही करने चाहिये। उक्त समयको सांसारिक स्वार्थ-सम्वन्धी कार्योंमें बिताकर उसका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये। देखा जाता है कि ब्राह्म-मुहूर्तमें पाठ याद करनेवाले विद्यार्थी जितना शीघ्र उसे हृदयस्थ और कण्ठस्थ कर लेते हैं अन्य समय अधिक कालमें भी उतना कदापि नहीं कर पाते। कारण यह है कि जितने ऋषि, महर्षि, सिद्ध और देव आदि हैं, वे सब-के-सब ब्राह्म-मुहूर्तमें ही ब्रह्म-चिन्तन करते हैं। उनके चिन्तनका प्रभाव तेजरूपमें उस समय विश्वभरमें छाया रहता है। जो लोग उस समय उपयुक्त प्रकारसे उपयुक्त मानसिक-भावमें स्वयं ब्रह्म-चिन्तनमें नियुक्त रहते हैं वे उस तेजको यथायोग्य प्राप्त करते हैं। यह नियम है कि समान समानको आकर्षित करता है और इसी नियमके अनुसार वेतारके तारका और दूरके शब्दका सुनना सम्भव हो गया। इसी समानाकर्षणके कारण इस तेजकी प्राप्ति होती है। प्रातःकाल जन-समुदाय किसी विशेष कार्यमें नियुक्त न होकर प्रायः स्थिरभावमें रहता है, जिससे जन-समुदायकी भावनाके द्वारा जो एक दूसरेके मनमें विक्षेपभाव आता है, वह उस ब्राह्म-मुहूर्तमें न रहनेके कारण मनकी स्थिरतामें विशेष बाधा नहीं होती।

अनेक लोग निरन्तर भजन-स्मरण करते हैं किन्तु दीर्घकालतक करनेपर भी अपनेमें कुछ विशेष परिवर्तन नहीं पाते, इस कारण उनमेंसे बहुतोंको भजन-स्मरणके प्रभावमें अविश्वास हो जाता है और वे उसे छोड़ देते हैं। सकाम भजन-स्मरण उत्तम पक्ष तो नहीं है किन्तु सकाम अथवा निष्काम दोनोंका परिणाम कर्मकी कुशलताके अनुसार कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। निष्काम साधकमें भी शान्ति आती है, श्रद्धा-विश्वास बढ़ता है और यह बोध होता है कि वह जो कुछ क्षुद्र और तुच्छ सेवा करता है, वह स्वीकृत है। इसका प्रमाण किसी-न-किसी रूपमें उसे अवश्य मिल जाता है। किन्तु यह परमावश्यक है कि निष्काम साधकको भी कर्मकी कुशलताकी ओर अवश्य ध्यान देना चाहिये, नहीं तो अकुशलताके कारण विलम्ब अवश्यम्भावी है। इस कुशलतामें उपर्युक्त ध्यान-स्मरणके उपयुक्त समयकी कुशलता भी आवश्यक है। अभिप्राय यह कि साधकको नाम-स्मरण और ध्यान

आदि ब्राह्म-मुहूर्तमें अवश्य करना चाहिये । उस अपूर्व और अमूल्य पवित्र सत्य-युगी समयको भगवच्चिन्तनमें न बिताकर आलस्यके कारण व्यर्थ निद्रा अथवा सांसारिक स्वार्थके कार्योंमें कदापि व्यय नहीं करना चाहिये । सबके लिये यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्म-मुहूर्तका भगवच्चिन्तन स्नान करके ही किया जाय । बिना स्नानके भी किया जा सकता है । किसी प्रकार भी हो, इस अमूल्य समयको जो केवल भगवच्चिन्तनके निमित्त ही नियत है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद अथवा इन्द्रियके व्यापार आदि अनात्मीय कार्योंमें कदापि नहीं लगाना चाहिये । इस समयको इन कामोंमें लगाना ऐसा ही है जैसे कोई चिन्तामणि-रत्नको काँच लेकर बदल ले । यदि सायं-सन्ध्याके समय भी, जो सूर्यास्तके पूर्वसे प्रारम्भ होती है, ब्राह्म-मुहूर्तका भजन-स्मरण दोहराया जाय, तो वह सोनेमें सुगन्ध हो जायगा । प्रायः सभी अच्छे-अच्छे विरक्त और उदासी लोग, सूर्योदयके पूर्व ही भजनमें प्रवृत्त हो जाते हैं । देखा गया है कि जिन निष्काम साधकोंने नियमसे ब्राह्म-मुहूर्तमें स्मरण-ध्यान किया, उनको भगवत्कृपाका प्रमाण अवश्य मिल गया । अवश्य ही धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये ।

ब्राह्म-मुहूर्तके विषयमें यह एक बात भी स्मरण रहे कि ब्राह्म-मुहूर्तमें सोते रहना स्वास्थ्य और परमार्थ दोनों दृष्टिसे ही बड़ा हानिकर है । इसीसे शास्त्रमें सूर्योदयके समय सोते रहनेको बहुत ही निन्दनीय कहा है । सूर्योदयके समय सोनेसे कफकी अधिकता होकर तमोगुणकी वृद्धि होती है जो एक अत्यन्त हानिकर गुण है और जिसका बुरा प्रभाव चित्तपर भी पड़ता है । तमोगुणकी वृद्धिसे व्याधि भी होती है । इसके विरुद्ध सूर्योदयके समय जगे रहनेसे उस समयकी उत्तम वायु मिलती है जिसमें शक्ति-प्रदायक अंश अधिक रहता है । उससे केवल स्वास्थ्यका ही सुधार नहीं होता, चित्त भी किसी अंशमें शान्त हो जाता है । ऐसे समयमें भगवच्चिन्तन करनेके प्रभावका तो कहना ही क्या है !

तमोगुणके आलस्य-स्वभावके कारण ब्राह्म-मुहूर्तमें जागने, शीत-कालमें शीतके भयसे और गर्मीमें प्रातः-कालकी निद्रा ठण्डकके कारण प्रिय होनेसे उस समय बिछौनेसे उठनेमें बड़ी अनिच्छा होती है किन्तु इन बातोंकी परवा न कर जो कर्तव्य-पालनके निमित्त ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर अपने प्रातःकृत्य भगवच्चिन्तनमें प्रवृत्त हो जाता है, वह तमोगुणको अपने वशमें कर लेता है और शीघ्र ही उससे मुक्त हो जाता है । प्रातःस्मरणका यह भी एक बड़ा लाभ है ।



प्रभुका व्रत

अरि होय मीत होय मीठो चाहे तीत होय, मेरो अवलम्ब तो विलम्ब ना लगाऊँ मैं ।
पातक प्रचुर होय चाहे धर्मधुर होय, मेरो होन चाहे ताहि आपनो बनाऊँ मैं ॥
'द्विजश्याम' धर्म कर्म मेरो यही जानो सत्य, मर्मबात आपने स्वभावकी बताऊँ मैं ।
कौनहू बरन होय कैसो आचरन होय, आवै जो सरन ताहि सद्य अपनाऊँ मैं ॥
स्वपच किरात होय अघ ना अघात होय, नीच हू सों नीच ढिग आपने बिठाऊँ मैं ।
कीट औ पतंग होय दुर्मद मतंग होय, ताके हित आवत मैं देर ना लगाऊँ मैं ॥
कैसहू अधम सों अधम होय चाहे ताहि, अंक भरि लाऊँ मनो रंक धन पाऊँ मैं ।
साँची कहौं प्यारे रेख खाँची कहौं 'द्विजश्याम' साँचे चित आवै ताहि आपनो बनाऊँ मैं ॥

तुलसीकृत रामायणमें करुणा-रस

(३)

भरत और हैमलेट

[गतांकसे आगे]

१—प्रस्तावना

(लेखक—श्रीराजबहादुरजी लमगोड़ा एम० ए०, एल-एल० बी०)

डा० मिलरका कथन है कि 'शेक्सपियरकी रचनाओं-मेंसे 'हैमलेट' ही सबसे अधिक उस महाकविके मस्तिष्कमें बस रहा था। कारण कि वह उसे लगभग अपने रचना-कालके अन्तिम अवस्थातक बराबर संशोधित करता रहा' (Of all his works Hamlet dwelt most in Shakespeare's mind, since he continued to touch and retouch it down probably to the close of his career of authorship.) अब यदि हम इसकी तुलना तुलसीकृत रामायणके 'वनवास' वाले भागसे, जो दुःखान्त नाट्य-कविताका एक अपूर्व नमूना है, करें तो संसारके इन दोनों महाकवियोंमेंसे किसीके प्रति तनिक भी अनौचित्य न होगा। फिर ब्रेडली (Bradly) महोदयके कथनानुसार भी कि 'हैमलेटकी सम्पूर्ण कथा नायकके चरित्रकी विशेषता-पर निर्भर है······वह विशेषता ऐसी है जिसने स्वयं कदाचित् समस्त संसारके साहित्यमें अधिकतम आकर्षण उत्पन्न किया है और वह निश्चय ही सबसे अधिक वाद-विवादका विषय रही है। (The whole story of Hamlet 'turns upon the peculiar character of the hero......the character itself has probably exerted a greater fascination and certainly has been the subject of more discussion than any other in the whole literature of the world.') जब हम यह देखते हैं कि चित्रकूटमें रानी सुनैनासे भेंट करते समय स्वयं महारानी कौशल्याके मुखसे तुलसीदासजी यह कहलाते हैं कि महाराज दशरथ 'जानेहु सदा भरत कुलदीपा' ही कहा करते थे तो हमें अनुभव होने लगता है कि तुलसीदासजी भी अपनी रामायणके इस भागका केन्द्र भरतको ही समझते हैं। तुलसीजी परखनेके लिये पहले हमें यह कसौटी देते हैं कि—

'कनक कसे मणि पारिख पाये। पुरुष परखिये समय सुभाये॥'

और फिर भरतके चरित्रके अङ्ग-अङ्गको इस सुन्दरतासे, ऐसी भावपूर्ण आत्माको हिला देनेवाली और हृदयको विदीर्ण करनेवाली भाषामें रखते हैं कि, देखते ही बनता है। भरत प्रत्येक अवस्था एवं घटनापर विजय पाते हैं और दुःखान्त-कविताको सुखान्त-कवितामें परिवर्तित कर देते हैं। साथ ही वह अयोध्यामें बहुत-सी ऐसी बहुमूल्य सामग्रीको बचा लेते हैं जो डेन्मार्क (Denmark) में 'हैमलेट' की दुःखान्तक-घटनाओंके भँवरमें पड़कर नाश हो गयी थी। इस कसौटीपर कसनेसे भरतजी अवश्य ही हैमलेटसे खरे उतरते हैं। चूँकि हमें दोनोंके चरित्रोंकी प्रत्येक दृष्टिकोणसे तुलनात्मक आलोचना करनी है अतः यहाँ इतना ही कहना अलम् है कि स्वयं तुलसीदासजीने भरतके प्रति समष्टिरूपेण यह कह दिया है कि—

सिय-राम-प्रेम पियूष पूरन होत जन्म न भरतको,
मुनि मन अगम यम नियम शम दम विषम व्रत आचरत को।
दुख दाह दारिद दम्भ दूषण सुयश मिसु अपहरत को,
कलिकाल तुलसी-से सठहि हठि राम सन्मुख करत को॥

क्या अब भी यह प्रत्यक्ष नहीं होता कि तुलसीजीके हृदय एवं मस्तिष्कपर भरतजीके चरित्रका ही साम्राज्य था और उसीने दिशासूचक यन्त्रकी सुईकी तरह तुलसीजीके जीवनको रामरूपी ध्रुवताराकी ओर फेर दिया था? साहित्य-मर्मज्ञोंद्वारा की गई शताब्दियोंकी खोजके पश्चात् भी ब्रेडली महोदयको स्वीकार करना पड़ता है कि हैमलेट-के पूर्ण रहस्यको कोई समझ नहीं सका। कुछ ऐसी ही धारणा हमारे महापुरुषोंकी भरतके विषयमें भी रही है। जब गुरु वशिष्ठने चित्रकूटमें कठिन समस्याको हल करनेके लिये यह प्रस्ताव पेश किया कि—

तुम कानन गौनहु दोउ भाई। फेरिय लखन सीय रघुराई॥

तो उन्हें स्वयं यह सन्देह था कि कदाचित् भरत इसे स्वीकार न करेंगे, परन्तु भरतने उसे इस शीघ्रता, दृढ़ता और उत्साहके साथ इन शब्दोंमें स्वीकार कर लिया कि 'कानन करउँ जन्मभर बासू' वशिष्ठजी हैरान रह

गये । तुलसीजीने गुरु वशिष्ठजीकी तात्कालीन मानसिक अवस्थाका वर्णन इन शब्दोंमें किया है—

'भरत महा महिमा जलरासी । मुनि-मति ठाढि तीर अबलासी ॥'

महाराज जनकने भी जिन्हें स्वयं भगवान् कृष्ण अपनी गीतामें एक अपूर्व कर्मयोगी मानते हैं, यह स्वीकार किया है कि—

धर्म राजनै ब्रह्मविचारू । यहाँ यथामति मोर प्रचारू ॥
सो मति मोर भरत महिमाही । कहौं काह छल छुवत न छाहीं ॥

हम इस लेखमें यह दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि भरतके विषयमें उनके उपर्युक्त दोनों समकालीन महापुरुषोंने जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य ही है—विशेषतः इस कारण कि उनके कथनोंकी प्रतिध्वनि शताब्दियोंसे उसी तरह बराबर गूँजती चली आ रही है और भरतजी कर्मयोगियों, भक्तों तथा त्यागियों, सभीके लिये सदा ही आदर्शवत् बने रहे हैं ।

हमें यह हमेशा याद रखना चाहिये कि तुलसीदासजीके प्रति न्याय करनेमें हम कहीं महाकवि शेक्सपियरके प्रति अन्याय न कर बैठें । इसी विचारसे मैं प्रथम ही अपने प्रिय पाठकोंसे कुछ शब्द चेतावनीकी रीतिपर कहना चाहता हूँ । बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) ने सत्य ही कहा है कि इस संसारका साहित्य 'हैमलेट' तथा 'डानजुआन' के चारों ओर चक्कर लगा रहा है जिसका अभिप्राय यह है कि संसारके बड़े-बड़े लेखकोंने या तो हैमलेट-जैसे आदर्शवादी या डानजुआन-जैसे इन्द्रियारामीके चरित्रोंकी ही व्याख्या की है—चाहे नाम अथवा श्रेणी जो भी हो । मैं तो यहाँतक कहूँगा कि मानव-जीवनके इन्हीं दोनों दृश्यपटोंकी व्याख्यामें संसारका सारा ज्ञान संलग्न रहा है । यदि एक समुदाय त्यागका प्रचार करता है जो आदर्शवादका दूसरा नाम ही है, तो दूसरा समुदाय 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के सिद्धान्तका समर्थक है । संस्कृत-साहित्यमें इसका वर्णन एक सुन्दर उपाख्यानके रूपमें यों पाया जाता है । एक समय देव और दानव-समुदाय दोनों ब्रह्माजीके पास गये । उन्होंने यह प्रार्थना की कि 'भगवन्, आप हमें एक ऐसा साधारण उपदेश दें जिसे हम सरलतापूर्वक अपने जीवनमें चरितार्थ कर सकें ।' ब्रह्माजीने उत्तर दिया कि 'अपनेको पहचानो ।' उन्होंने फिर पूछा 'हम कौन हैं ?' तो ब्रह्माजीने एक प्यालेमें जल भरकर कहा कि 'अपनेको इसमें देखो ।' दोनों समुदाय सन्तुष्ट हो गये । परन्तु दोनोंके दृष्टिकोण पृथक् रहे । दानव समुदायने केवल अपना बाह्य रूप देखा और अपने शरीरके पालन-पोषणमें लगकर इसीको अपना सर्वस्व जाना । इसप्रकार वह केवल प्रकृतिवादी रह गया । इसके विरुद्ध देव-समुदाय मननशील था और उसने सोचा कि यह आत्मा है जो आँखोंसे देखता और कानोंसे सुनता है और जिसका प्रकटीकरण कभी मुसकानमें, कभी रोमचिह्नोंमें और कभी चिन्ताजनित ललाट-रेखाओंमें होता है । वह केवल इतनेहीसे सन्तुष्ट नहीं हुआ, प्रत्युत उसने अपनी अन्तरात्मामें और गहरी डुबकी लगायी और उस सर्वव्यापी आत्माको ढूँढ़ निकाला जो असंख्य आत्माओंद्वारा प्रकट होता है । एक समुदाय कहता है कि 'आक़बतकी ख़बर ख़ुदा जाने, अब तो आरामसे गुज़रती है ।' पर दूसरेका कथन है—

शक्ले इन्साँमें ख़ुदा है हमें मालूम नहीं ।
चाँद बदलीमें छुपा है हमें मालूम नहीं ॥

और मानो हमसे फ़ारसी-भाषाके प्रसिद्ध रहस्यवादी कविके शब्दोंमें यह कहता है—

कि बचश्मान दिल मुबीं जुज़ दोस्त ।
हरचि बीनी बिदाँ कि मज़हरे ओस्त ॥

दिलकी आँखोंसे दोस्तके सिवा और किसीको न देखो और जो कुछ देखो उसे उसका ही उदय-स्थान समझो । एक बातका स्मरण मुझे बार-बार हो आता है अतः उसे ज्यों-की-त्यों, बिना किसी विस्तृत व्याख्याके लिखे देता हूँ । तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (Comparative philology) के मर्मज्ञोंका कथन है कि 'डेन' (Dane) और 'दानव' धातुरूपसे एक ही हैं । कौन जाने कि भगवान्ने ही शेक्सपियरकी अन्तरात्माको प्रेरित किया हो कि वह अपनी कवितामें उन दुःखात्मक परिणामोंका निरीक्षण करे, जिन्हें मानवी-जीवनको अत्यन्त भौतिक बना देनेके फलस्वरूप समझना चाहिये । हैमलेटकी असफलताका कारण केवल उसकी आत्मिक दुर्बलता ही न थी प्रत्युत वह सड़न भी थी जो डेन्मार्क-देशकी व्यवस्थामें फैल रही थी । (Something rotten in the state of Denmark)

बेचारे हैमलेटका तो एक ही सच्चा मित्र है वह भी केवल उसकी प्रतिध्वनिमात्र है, जिसमें उसका व्यक्तित्व

बहुत कम जान पड़ता है। वशिष्ठजीके स्थानमें, जिनकी विद्वत्ता तपस्याद्वारा शुद्ध हो चुकी थी और सहृदयतासे ओतप्रोत थी, हमें 'हैमलेट' में प्रोनियस (Polonius) मिलता है जिसकी पुस्तकीय लोकोक्तियाँ हमारे कानोंमें खटकती हैं। भरतकी विजय 'अयोध्या' में स्पष्ट है। कौन अयोध्या? जिसका अर्थ ही शान्ति-नगर है और जो उस शान्ति-नगर 'अयोध्या' की प्रतीक-सी जान पड़ती है जिसका उल्लेख वेदोंमें हुआ है। इस विजयका कारण यह था कि लगभग सब लोगोंको भरतके साथ सहानुभूति थी। अब रही उनकी माताकी कुटिलता, सो वह भी केवल नष्ट ही नहीं हो गयी थी प्रत्युत उसके स्थानमें उनकी अन्ततः आत्म-शुद्धि ही हो गयी थी। शेक्सपियर हमारे समीप एक ऐसी महान् आत्माका हृदय-विदारक चित्र पेश करता है जो स्वार्थपूर्ण भौतिक जगत्‌की कठिनाइयोंमें पड़कर पागल-सी हो गयी थी। आह, भौतिक जगत्‌में आदर्शवादका कैसा दुःखमय परिणाम होता है? तुलसीदासजी हमारे समीप उन कठिनाइयोंका चित्रण अवश्य करते हैं जो आदर्शवादको संसाररूपी अग्नि-कुण्ड (Flaming forge of life) में झेलनी पड़ती हैं, परन्तु उनके आदर्शवादमें पर्याप्त शक्ति है और उनके जगत्‌में भी पर्याप्त आध्यात्मिकता और सहानुभूति है। इसीसे तो भरतका आदर्शवाद जीवनकी उस त्रुटिपर विजय पाता है जो उनकी माताके जीवनमें निहित थी। भरतमें नैराश्यकी वह अन्तिम दशा कभी नहीं पायी जाती जिसका प्रकटीकरण 'हैमलेट' के इन शब्दोंमें होता है—'समय अस्त-व्यस्त है। ऐ निन्दनीय विग्रह! अच्छा होता कि मैं तेरे सुधारके लिये पैदा ही न होता।' (The time is out of joint; O cursed spite that I was born to set it right) जहाँ एक कवि पाश्चात्य भौतिकताका दुःखान्त-रोना रोता है वहाँ दूसरा कवि पौर्वात्य आदर्शवादके विजयका सरस गान सुनाता है। या यों कहो कि शेक्सपियर निराशारूपी (Melancholy) रुग्णताके मर्मोंकी व्याख्या करता है जो हैमलेटमें इस कारण पैदा हो गयी थी कि उसका मननशील आदर्शवाद ऐसी परिस्थितियोंमें उत्पन्न हुआ था जिनपर विजय पानेकी क्षमता उसमें न थी। इसके विपरीत तुलसीदासजी निराशारूपी परिस्थितियोंके साथ-साथ उनपर विजय पानेके साधन भी प्रस्तुत करते हैं। वे साधन आन्तरिकरूपमें भरतकी इच्छा-शक्तिका प्रयोग और बाह्यरूपमें वशिष्ठ, कौसल्या, एवं श्रीरामका सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार है। इसप्रकार सांसारिक समस्याको हल करनेके लिये इन दोनों महाकवियोंकी आवश्यकता है और दोनों एक दूसरेकी सम्पूर्ति करते हैं। परन्तु यह जरूर मानना पड़ेगा कि रोगका केवल मार्मिक निरीक्षण—चाहे वह कितना ही विद्वत्तापूर्ण हो—इतना लाभदायक नहीं है जितना निरीक्षणके साथ ही उसके निराकरण एवं उपचारका परिचय भी देना। जान पड़ता है सरस्वतीजी दोनोंको एक दूसरेका पूरक बनाना चाहती थीं, क्योंकि उन्होंने दोनोंकी आत्माओंमें अपनी स्फूर्तिका लगभग एक ही समयमें प्रादुर्भाव किया था। कालचक्रके प्रभावसे अब यह दोनों महाकवि भारतमें एकत्रित हो गये हैं। परन्तु हमें शीघ्रतासे इस बातको ले न भागना चाहिये कि भौतिक जीवनमें कोई लाभ ही नहीं है। देखिये न, भौतिक-विज्ञान कितना लाभदायक है। हाँ, साथ ही यह स्मरण रखना चाहिये कि शेक्सपियरने स्वयं ही 'पाइन्ट्‌समैन' के रूपमें पाश्चात्य जगत्‌को खतरेका 'सिगनल' इसलिये दिया है कि वह भौतिकताके दुष्परिणामोंसे सुरक्षित रहे। इधर गत योरपीय महायुद्धने पाश्चात्य जगत्‌की आत्माको एक बार फिर आन्दोलित कर दिया है और अब वहाँ आध्यात्मिकताकी कुछ-न-कुछ सुनाई फिर होने लगी है। अब देखना है कि उसकी वह पुरानी सड़न (Rottenness) कब दूर होती है।

डा० मिलरका कथन है कि 'हैमलेट' में ईसाके पूर्वकी पाशविकताका वर्णन है (The days of pre-christian ferocity) निस्सन्देह ही महाकवि शेक्सपियर-जैसे शीघ्र प्रभावित होनेवाले ईसाई महाकविके हृदयपर उस पाशविकतासे, जिसमें हिंसा, स्वार्थ एवं सुरा-सुन्दरीकी कोलाहल-पूर्ण विलासिताका उन्माद भरा था, कड़ी ठेस लगी होगी। उसी ठेसने उसको कुछ समयके लिये तो अवश्य ही बहुत कुछ निराशावादी बना दिया था। कारण, ईसाने शुद्ध आध्यात्मिकतावाले उच्च कोटिके भाव अवश्य छोड़े, परन्तु आदर्श-पूर्तिके हेतु किसी मार्गको निर्धारित नहीं किया था, इसके विपरीत योगवाशिष्ठ (जिसे रामायणके तत्त्वका सार कहना चाहिये) और गीता (जिसे समस्त हिन्दू-धर्मके तत्त्वका सार कहना चाहिये) इत्यादि हमें अपने आत्मिक उन्नतिके मार्गपर अग्रसर

होनेके लिये कुछ निश्चित नियमोंकी ओर सकेत करते हैं। यही कारण था कि ईसाई-जगत्का ऐसा बड़ा कवि भी आदर्शवादको पाश्चात्य जगत्की ओर भौतिकताके वातावरणमें सफल न बना सका। इसके विपरीत तुलसीदासजीको पूर्ण सफलता प्राप्त हुई।

हमें यह भी न भूलना चाहिये कि शेक्सपियरने अपनी कविताके लिये यह आदर्श चुना था कि कविता भौतिकताका दर्पण है (Holding mirror to nature) यद्यपि अब उसके प्रसिद्ध समालोचक जान मेसफील्ड उस आदर्शकी व्याख्या इसप्रकार करते हैं कि 'जब हम किसी दर्पणमें गौरसे देखते हैं, तो उसमें अधिकतर अपना ही प्रतिबिम्ब पाते हैं।' मैं जहाँतक समझता हूँ, इस व्याख्याका यही अर्थ है कि महाकविके मानसिक विचारोंका प्रतिबिम्ब उसकी कवितामें पाया जाता है। तब भी समालोचक महोदय यह दावा कदापि नहीं कर सकते कि महाकवि शेक्सपियर उस गहराईतक पहुँच सका था जहाँ वह जगन्नियन्ता परमात्माके मानसिक विचारोंका प्रतिबिम्ब देख सके। कहीं-कहीं केवल अस्पष्ट सकेतके रूपमें यह कहना कि 'एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता है जो हमारे अन्तिम परिणामोंकी व्यवस्था करती है' (There's a divinity that shapes our ends) पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त हम रामायणमें विश्वकी समस्याओंका हल बहुत साफ-साफ पाते हैं और रामचरित मानसमें ईश्वरीय शक्तियोंका विकास बहुत ही स्पष्ट दीखता है। तब यह प्रश्न होता है कि तुलसीदासजीसे तुलना करनेके लिये वैसे कविकी रचनाओंको ग्रहण ही क्यों करें? कारण स्पष्ट है। महाकवि मिल्टन इतना शुष्क है और उसमें नाटकीय कौशल इतना कम है और उसकी कविता शृङ्गारी गान-कला एवं हास्यरससे इतनी शून्य है कि वह तुलसीदासके साथ तुलना करनेमें तनिक भी नहीं ठहर सकता। महाकवि शेक्सपियरकी रचनाओंमें धार्मिक आदर्शवादका इतना अभाव नहीं है जितना सर्व-साधारण समझते हैं। ब्रेडली महोदय भी यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि हैमलेट किसी विशेष अर्थमें एक धार्मिक नाटक नहीं कहा जा सकता परन्तु उन्हें भी मानना पड़ता है कि इस नाटकमें साधारण धार्मिक सिद्धान्तोंका प्रचुर प्रयोग हुआ है। साथ ही इस नाटकमें महाकविके अन्य दुःखान्त नाटकोंकी अपेक्षा ऐसे अधिक काव्योपम संकेत मिलते हैं जिससे उस ईश्वरीय सत्ताका अनुभव होता है जो मानवी जीवनकी भलाई-बुराईको व्यवस्थित करती है। (There is in it nevertheless both a free use of the popular religious ideas and a more decided though always imaginative intimation of a Supreme Power concerned in human evil and good than can be found in any of the Shakespeare's tragedies.) डा० मिल्टरने कदाचित् भारतवर्षके आध्यात्मिक परिस्थितियोंसे प्रभावित होकर महाकवि शेक्सपियरके विषयमें और भी बड़ा दावा किया है। उनका कथन है कि शेक्सपियरकी रचनाओंमें महान् अलौकिक शक्ति (Power beyond the world) का साफ पता लगता है। डाक्टर महोदयका कहना है कि हमें शेक्सपियरकी रचनाओंमें यह साफ दीखता है कि 'किसप्रकार बुराई और गलती दुःख और लज्जासे सम्बद्ध है, और सदाचरणसे वास्तविक सुखकी प्राप्ति होती है।' (How evil and error by their very nature are linked with shame and sorrow, while right doing tends towards the true weal) परन्तु यह कथन शेक्सपियरकी अपेक्षा तुलसीपर अधिक लागू होता है। शेक्सपियरकी एक विवशता यह भी थी कि जैसा पहले लेखमें बतलाया जा चुका है, वह अरस्तूके दुःखान्त नाटककी संकुचित परिभाषाके अनुसार ही सीमित रहकर काम करता था, यद्यपि हमें यह मानना पड़ेगा कि ऐसा करते हुए भी उसने यवन-देशके आदर्शको बहुत कुछ उदार बनाया। इन्हीं सब कारणोंसे हमें ईश्वरीय सत्ताका वैसा अगाधपूर्ण एवं स्पष्ट दर्शन नहीं मिलता, जैसा रामायणके इन शब्दोंमें—

सीयराममय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

पाठकोंको ये बातें स्वयं ही स्मरण रखनी चाहिये और आगेकी तुलनात्मक व्याख्यामें आवश्यकतानुसार ख़याल कर लेना चाहिये। कारण, अब हम हैमलेट और भरतकी हर बातपर तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे और उपर्युक्त सिद्धान्तोंको दुहरा न सकेंगे।

(क) आकृति (Appearance)

हैमलेटके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसका रंग स्कैन्डीनेविया (Scandinavia) वाला साफ रंग था

और उसका शरीर कुछ स्थूल (Phlegmatic) जिसके अन्तर्गत शरीरकी स्थूलताके साथ कफ तथा जलप्रधान प्रकृति और सुस्त स्वभावका होना शामिल है। वह सुशील और सुन्दर था। उसकी माता उसे देख-देखकर जीती थी (Lived upon his looks)। और आकर्षणवश द्रष्टाओंकी दृष्टि उसपर तुरन्त ही पड़ जाती थी (The observed fall observers)। स्थूल शरीरमें आदर्शवादी आत्माका होना विरोधाभासपूर्ण ही है। मेरी समझमें शेक्सपियरकी यह मंशा थी कि उसके चरित्तनायक-की देह एवं आकृति उसके स्वभावकी पूर्ण परिचायक बनें। ठीक जिसप्रकार आदर्शवादीका जीवन ठोस भौतिक परिस्थितियोंमें होकर असङ्गत-सा जान पड़ता है और उसकी दशा 'जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी' के अनुसार ही होती है, वैसे ही आदर्शपूर्ण आत्माका ठोस स्थूल शरीरमें होना उसकी उड़ानको पृथिवीकी ओर झुका देता है। महाकवि बाइरन (Byron) ने ठीक ही कहा है कि एक शृङ्खला ऐसी है जो हमारी आत्माको नीचे घसीटती है, यद्यपि उसकी झङ्कार सुनायी नहीं देती। हैमलेटका पूरा नाटक ही उस रुग्ण परिस्थितिकी व्याख्या है जिसमें *हमारे पार्थिव अस्तित्व और उस आत्माके बीच संघर्षण* होता है जो आकाशकी ओर जाना चाहती है। शेक्सपियर-ने उस बाह्य एवं आन्तरिक आत्मासम्बन्धी संघर्षणको ऐसी सूक्ष्म एवं करुणजनक भाषामें व्यक्त किया है कि विवशतः उसके चरणोंपर आँसुओंकी श्रद्धाञ्जलि चढ़ानी ही पड़ती है। टालसटाय (Tolstoy) का भी कहना है कि एक ओर त्यागकी बातें करना और दूसरी ओर जीवन-पर्यन्त शरीरको खान-पानद्वारा स्थूल बनानेकी ही फ़िक्र में रहना पारस्परिक विरोधके ही सूचक हैं। अतः हम उस महापुरुषके लेखों एवं पत्रों (Essays and Letters) में यह देखते हैं कि उसने आत्मासम्बन्धी उत्थानके लिये उपवास और जितेन्द्रियता—इन दो श्रेणियोंका होना आवश्यक बतलाया है।

समूचे पूर्वी साहित्यमें आदर्शवादी आत्माके लिये सदा कृश शरीरका होना ही उचित समझा गया है जो ठीक ही है। कोई मनुष्य 'मजनूँ' या 'फ़रहाद' जैसे आदर्श प्रेमिकोंकी कल्पना भी बड़े पेटवाले शरीरोंके साथ नहीं कर सकता। इसी बातपर जोर देनेके लिये हमारे यहाँ यह व्यंगपूर्ण कहावत है कि (बनावटी) प्रेमिक 'घुल घुलके हो गया हाथी'। महाकवि तुलसीदासने भी आदर्श-वादी भरतको कृश शरीरकी ही उपमा दिया है और साँवला वर्ण बताया है—यद्यपि उनके कर्मवीर क्षत्रिय होनेके कारण वह कृश तनु भी पक्के फौलादका बना हुआ है। वह कोई प्रेमाक्रान्त 'मजनूँ' नहीं है, अपितु इतनी शक्ति रखता है कि हनूमान्-जैसे योद्धाको आकाशमार्गसे जाते देख और उसे रावण-पक्षका सिपाही समझ अपने 'बिनु फर सायक' से ही उसे धराशायी कर देता है। इससे भरतकी सावधानी-का पता चलता है। यदि 'बिनु फर सायक' न होता तो हनूमान्‌के साथ लक्ष्मण और लक्ष्मणके साथ कितने ही और लोगोंकी मृत्यु होकर परिणामस्वरूप वही दुःखान्तक दृश्य उपस्थित हो जाता जैसा सहसा 'हैमलेट' की कटारसे पोलोनियसकी मृत्यु और तत्पश्चात् कितने ही मृतपुरुषोंका दृश्य उपस्थित हो गया था। परन्तु इस बातको इस समय अप्रासङ्गिक होनेके कारण, केवल संकेतरूप ही समझना चाहिये। हाँ, यह अवश्य स्मरण रखना चाहिये कि आदर्शवादका अर्थ न तो 'सहसा करि पाछे पछिताहीं' है और न ऐसी एकाङ्गी तन्मयताका होना ही जिसमें परिणामका कुछ विचार ही न हो। इसमें सन्देह नहीं कि आदर्शवाद, ध्येयके हेतु, ऐसी लगनके होनेका नाम है जिसमें दुःख-सुखरूपी परिणामोंका कोई विचार न हो परन्तु भरत-जैसे महापुरुषोंके ज्ञानमय आदर्शवादके यह विपरीत नहीं है कि ध्येय-प्राप्तिके निमित्त प्रत्येक प्रकारके सुगम उपायका शनैः-शनैः प्रयोग किया जाय।

तुलसीदासजीने तपस्वी आदर्शवादी भरतका अत्यन्त ही सुन्दर चित्र खींचा है। भरतका यह तपस्वी जीवन किसी वनमें नहीं व्यतीत होता, जहाँ वैसा होना बहुत सुगम है किन्तु वह ऐसे नगरमें व्यतीत होता है जो रामकी राजधानी है और जहाँ भरत राज्यका प्रबन्ध एक सुपुर्ददारकी रीतिपर ही करते हैं। हमें आशा है कि वह साम्राज्यवादी भी, जो बात-बातमें 'सुपुर्ददारी' का दावा करते हैं, तनिक इन बातोंपर विचार करेंगे—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साथरी सँवारी॥
असन बसन आसन ब्रत नेमा। करत कठिन ब्रत धर्म सप्रेमा॥
भूषण बसन भोग सुख भूरी। मन तनु बचन तजे तृण तूरी॥
अवधराज सुरराज सिहाहीं। दसरथ धन लखि धनद लजाहीं॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

भरतकी 'सुपुर्ददारी' के जीवनका चित्र उपर्युक्त सरल पंक्तियोंमें किस सुन्दरतासे किया है। भोगकी सामग्रीसे परिवेष्टित होते हुए विरागी भरतकी उपमा चंपक बागके चंचरीकसे देना कितना भावपूर्ण है। कारण भी स्पष्ट ही है जैसा तुलसीदासजीने स्वयं कहा है—

राम प्रेम भाजन भरत बड़ी न यह करतूत।
चातक हंस सराहियत टेक बिबेक बिभूति॥

हाँ, भरतके आदर्शवादमें एक ओर चातककी टेक है तो दूसरी ओर हंसका विवेक। तुलसीदासजी आगे फिर कहते हैं—

देह दिनहि दिन दूबरि होई। बढ़त तेज बल मुखछबि सोई॥

शरीरके साधारण कष्टोंको देखते हुए स्वेच्छापूर्ण तप-जनित कष्टोंमें यही विशेषता है कि तपके कष्टसे आत्माकी शुद्धि होती और तज्जनित आनन्दका विकास 'कृश तनु' में भी 'मुख छबि' रूपमें झलकता रहता है। तुलसीदास-जी एक बार फिर राम और भरतकी तपस्याओंका तुलना करते हुए भरतको प्रधानता देते हैं और कहते हैं—

लखनरामसिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दुइ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सबबिधि भरत सराहन जोगू॥

यही कारण है कि भरतकी प्रशंसा करते हुए तुलसी-जी कहते हैं कि भरत वह है कि—

जग जपु राम राम जपु जेही।

(क्रमशः)

—•—

योगवाशिष्ठ-सार

(लेखक-श्रीकन्हैयालालजी मास्टर)

१—वैराग्य-प्रकरण



उस ईश्वर सच्चिदानन्दघन परमात्माको धन्यवाद है कि जिसकी कृपासे हमें मनुष्यका वह शरीर प्राप्त हुआ जिसके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है। कर्म और ज्ञान दोनोंसे मोक्षकी सिद्धि होती है। अच्छे कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, फिर ज्ञान उपजता है और ज्ञानसे मुक्ति होती है।

महारामायण अर्थात् श्रीवशिष्ठजी और श्रीराम-चन्द्रजीका संवाद सुनने और उसके तात्पर्यको हृदयमें धारण करनेसे मनुष्य जीवन्मुक्त होकर विचरता है। इस महारामायणका विषय है कि यह सत् चित्-आनन्दरूप और अचिन्त्यचिन्मात्र आत्मा-को जताना। परमानन्द आत्माकी प्राप्ति प्रयोजन है और ब्रह्म विद्या एवं मोक्ष उपायसे आत्म पद-प्रतिपादन सम्बन्ध है। इसके पढ़नेका अधिकारी वही मनुष्य है जो अपनेको इस संसारके बन्धनसे छुड़ाना चाहता है। इस संसारको भ्रममात्र जानकर सर्वथा विस्मरण करना ही मुक्ति है। इसके बन्धनका कारण वासना है जिसके क्षय होनेसे परम पदकी प्राप्ति होती है।

मन वासनाका पुतला है। जब ज्ञान होता है तब संसारकी सत्यता निवृत्त हो जाती है, मन नष्ट हो जाता है और परम कल्याण होता है अर्थात् परम पदकी प्राप्ति होती है। मन मूर्खतासे भोगोंकी इच्छा करता है। भोग भी आगमापायी हैं। जो मनुष्य भोगोंके यत्नमें अपना जन्म खो देता है, वह सदा आवागमनमें पड़ा रहता है और कभी सुखी नहीं हो सकता।

यह लक्ष्मी भी परम अनर्थकारिणी है। जब लक्ष्मी प्राप्त होती है तब यह शील, सन्तोष, धर्म, उदारता, कोमलता, वैराग्य, विचार और दया आदि-का नाश कर देती है। लक्ष्मीरूपी अग्निकी प्राप्ति

होनेपर सब शुभ गुण जल जाते हैं। लक्ष्मीकी इच्छा ही मूर्खता है। यह क्षणभङ्गुर है। इससे भोग उपजते और नाश होते हैं। पुरुषमें शुभ गुण तभीतक हैं, जबतक तृष्णाका स्पर्श न हो। लक्ष्मी देखनेमात्रको ही सुन्दर है पर आत्मानन्दका नाश करनेवाली है। जब लक्ष्मीकी प्राप्ति होती है तब वह बड़े भोग भुगताती है और उसीसे तृष्णारूपी काजल उपजता रहता है। जब उसका अभाव होता है तब वह तृष्णाकी वासनाको छोड़ जाती है, जिसके कारण जीवको बारम्बार जन्म और मरणकी प्राप्ति होती है। वह कभी शान्ति नहीं पाता। तृष्णारूपी सर्पका विष बढ़ानेके लिये लक्ष्मीरूपी दूध है और वैराग्यरूपी कमलिनीका नाश करनेके लिये लक्ष्मीरूपी बरफ़ है।

यह जीवन तभी श्रेष्ठ है, जब आत्म-पदकी प्राप्ति हो, नहीं तो सर्वथा व्यर्थ है। जिस पुरुषने मनुष्य-शरीर पाकर आत्म-पद पानेका यत्न नहीं किया, उसने स्वयमेव अपना नाश कर लिया। वही आत्म-हत्यारा है। इस जगत्को असत्‌रूप जानकर वासना-रहित होनेकी इच्छा करनी चाहिये।

अहङ्कार अज्ञानसे उदय हुआ है और यह सब दुःखोंकी खान है। जीव अहङ्कारसे जो कुछ भजन-पूजन, दान-पुण्य करता और लेता-देता है, वह सभी व्यर्थ है। विवेक उत्पन्न होनेपर अहङ्कारका अभाव होता है और तभी तृष्णाका नाश होता है जो कि परम दुःखकी कारण है। वैराग्य, विचार, धैर्य और सन्तोष महापुरुषोंके गुण हैं। चित्त भोगके पदार्थोंसे कभी सन्तुष्ट नहीं होता। बल्कि अन्तःकरणमें सदा तृष्णा बढ़ती रहती है। यह चित्त सङ्कल्प-विकल्पसे सदा खेद पाता है। मनुष्य अज्ञानके कारण आत्माको अनात्मासे भिन्न नहीं कर सकता। आत्माके ज्ञान बिना मनुष्य मृतक-समान है। चित्तका जीतना महा कठिन है। यह सदा ही चलायमान रहता है, कदापि स्थिर नहीं होता। चित्तके उदयसे ही तीनों लोकोंकी उत्पत्ति है और इसके लीन होनेसे जगत् भी लीन हो जाता है। चित्त जब सुख जानकर भोगोंको भोगने लगता है, तब तृष्णारूपी खाईमें गिर पड़ता है। तृष्णा परम दुःखका मूल है। इसीने स्त्री, पुरुष, पुत्र और कुटुम्बका जाल बिछाया है, जिसमें फँसा हुआ मनुष्य निकल नहीं सकता। आशारूपी फाँसीमें बँधा हुआ वह कभी ऊपरको जाता है और कभी उसका अधःपात होता है। तृष्णारूपी बादल आत्मरूपी सूर्यके आगे आवरण करता है। जब ज्ञानरूपी पवन चले, तब तृष्णारूपी बादलका नाश होकर आत्मपदका साक्षात्कार हो। जब तृष्णा आती है तब सत्य-असत्यका विचार नहीं रहता। तृष्णारूपी वृद्धा स्त्री है। जो पुरुष इसका त्याग करता है यह उसके पीछे लगी ही रहती है। कभी त्याग नहीं करती। तृष्णारूपी डोरीमें जीव-रूपी पशु बँधे फिरते हैं। सिवा वैराग्यके और किसी भी उपायसे यह तृष्णा निवृत्त नहीं होती।

यह अमङ्गलरूप शरीर जो जगत्में उत्पन्न हुआ है, बड़ा अभाग्यरूप है। इससे कुछ भी अर्थ सिद्ध नहीं होता। इस शरीरको जड़ नहीं कह सकते, क्योंकि इससे कार्य भी होता है। और यह चैतन्य भी नहीं है क्योंकि इसको अपने आप कुछ ज्ञान नहीं होता। यदि ज्ञान होता तो चैतन्य आत्मा जो इसमें व्याप रहा है, प्राप्त हो जाता। इसमें जो अहंभावकी स्फुरणा होती है, वही दुःखका कारण है। अहंकारसे रहित पद ही उत्तम है और सब व्यर्थ है। शरीररूपी नौका भोगरूपी रेतमें पड़ी है इसका पार होना कठिन है। जब वैराग्यरूपी जल बढ़े और अभ्यासरूपी पतवारका बल लगे, तब कहीं यह संसारके उस पार किनारेपर पहुँचे। जब मनुष्य

अपने परिवार अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदिसे अहंभाव और ममत्वका त्याग करे तब मुक्ति हो। शरीररूपी गृहमें तृष्णारूपी चण्डी स्त्री रहती है, वह इन्द्रियरूपी द्वारसे देखती रहती है और नित्य नयी-नयी कल्पना करती रहती है, जिससे शम-दमादिरूप सम्पदाका प्रवेश ही नहीं होता। उस घरमें सुषुप्तिरूप शय्या है, जब जीव उसके ऊपर विश्राम करता है, तब कुछ सुख पाता है परन्तु तृष्णाका परिवार अर्थात् काम क्रोधादि उसे विश्राम नहीं करने देते। जिस पुरुषने काष्ठरूपी शरीरको ज्ञानाग्निसे जला डाला उसका परम अर्थ सिद्ध हो गया, जिसने नहीं जलाया उसीने परम दुःख पाया। जितने दुःख हैं, सब शरीरके संयोगसे होते हैं। जिसको देहका अभिमान नहीं है वही मनुष्योंमें उत्तम और वन्दना करने योग्य है और उसीको समस्त सम्पदा भी प्राप्त है। जो शरीरकी आस्था करके अहंकार करते हैं और जगत्के पदार्थोंके निमित्त यत्न करते हैं वे महामूर्ख हैं। जैसे स्वप्न मिथ्या है वैसे ही यह जगत् भी मिथ्या है। जो इसको सत्य जानता है वह अपने बन्धनके निमित्त यत्न करता है। शरीरका अभिमान परम दुःख देनेवाला है।

इस जीवको संसारमें जन्म पानेपर पहले बाल-अवस्था प्राप्त होती है जो परम दुःखका मूल है। इसमें अशक्तता, मूर्खता, इच्छा, चपलता, दीनता, दुःख, सन्ताप आदि बहुत से अवगुण होते हैं। इस अवस्थामें बालक भिन्न भिन्न पदार्थोंकी ओर दौड़ता है, उसे किसी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं होती। बाल्यावस्थामें स्वरूपके अज्ञानसे कष्ट होता है। यह अवस्था विवेक रहित और अपवित्र है। जैसे स्त्रीके नयन चञ्चल हैं, वैसे ही मन और बालक चञ्चल रहते हैं। जब बालक गुरुके यहाँ विद्या पढ़ने जाता है, तब वह बहुत ही भयभीत होता है। जब शरीरमें कोई कष्ट प्राप्त होता है तो उस दुःखको निवारण नहीं कर सकता और दुखी होता है, यह महामूढ़-अवस्था है।

इसके अनन्तर युवावस्था आती है जो और भी दुःखदायक है। इस अवस्थामें कामरूपी पिशाचका आवेश होता है जो चित्तको भ्रमाता है। भोग देखनेमात्रको सुन्दर भासते हैं परन्तु जीव जब इनको भोगता है तब तृष्णासे उन्मत्त और पराधीन हो जाता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार आदि चोर युवारूपी रात्रिको देखकर आत्मरूपी धन लूटने लगते हैं। इससे जीव दीन हो जाता है। विषयकी तृष्णा निवृत्त नहीं होती, जिसके कारण वह जन्म जन्मान्तरोंतक दुःख पाता है। युवावस्था जीवकी परम शत्रु है। वह बुद्धिमान् पुरुषकी बुद्धिको भी मलिन कर डालती है। युवावस्था वैराग्य सन्तोषादि गुणोंका अभाव करती है। वह शास्त्र और लोककी मर्यादाको मेटकर चलती है। उसको अपना विचार भी नहीं रहता। जिसको विचार नहीं रहता उसको शान्ति कहाँसे हो? मनुष्य-जन्म महान् उत्तम है परन्तु विषयासक्तिके कारण इसमें आत्मपदकी प्राप्ति नहीं होती। युवावस्थामें निर्दोष रहना कठिन है। इस अवस्थामें वैराग्य, विचार, शान्ति और सन्तोष होना बड़ा कठिन है। जिस काम विलासके निमित्त पुरुष स्त्रीकी वाञ्छा करता है वह स्त्री अस्थि, मांस, रुधिर, मूत्र और विष्ठासे पूर्ण है और इन्हींकी पुतली बनी हुई है। यह नागिनिकी भाँति कोमल मालूम होती है परन्तु इसका स्पर्श काटकर मार डालता है। इस चित्तरूपी हाथीपर जब महावतरूपी गुरु उपदेशरूपी अंकुशका बारम्बार प्रहार करता है तब कहीं यह निर्बन्ध हो पाता है। युवावस्थाको नाश करनेवाली स्त्रीरूपी अग्नि है, जो इसकी इच्छा करते हैं वे महामूर्ख और अज्ञानी हैं। जिसने स्त्रीकी आसक्तिका त्याग किया

है, उसने संसारका त्याग किया है और वही सुखी है। संसारका बीज स्त्री है जिससे जरा-मृत्यु आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

बाल्यावस्था और युवावस्थाके अनन्तर जब वृद्धावस्था आती है, तब शरीर जर्जरीभूत हो जाता है। इसीके बाद मनुष्य मृत्युको पाता है। वृद्धावस्थामें स्त्री-पुत्रादि सब उस वृद्धका त्याग कर देते हैं। जरावस्था दुःखका घर है। इस अवस्थामें तृष्णा उन्मत्त होकर बढ़ जाती है। इसप्रकार शरीरकी तीनों अवस्थामें कोई भी सुखदायी नहीं है। बाल्यावस्था महामूढ़ है, युवावस्था महा विकारी है और जरावस्था महान् दुःखसे पूर्ण है। जरावस्थाको मृत्यु ग्रास कर लेती है। संसाररूपी गड़हा है उसमें अज्ञानी गिर गया है। संसाररूपी गड़हा तो छोटा है और अज्ञानी बड़ा हो गया है। सङ्कल्प विकल्पकी अधिकतासे वह बढ़ गया है। जो ज्ञानवान् पुरुष है वह संसारको मिथ्या जानकर संसाररूपी जालमें नहीं फँसता।

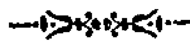
यह काल बड़ा बलिष्ठ है, सबको खा जाता है। काल किसीसे जाना नहीं जाता, क्योंकि कालकी मूर्ति प्रकट नहीं है। जगत्‌रूपी गूलरका फल है। उसमें जीवरूपी बहुत कीड़े रहते हैं और काल उस फलको भक्षण करता है। काल किसीपर दया नहीं करता। सबको चट कर जाता है। जैसे मृग सब कमलोंको खा जाता है वैसे ही काल भी सबको खाता है। परन्तु एक कमल बचता है जिस कमलके शान्ति ओर मैत्री अंकुर हैं और चेतनामात्र प्रकाश है इसी कारण वह बचा है क्योंकि कालरूपी मृग वहाँतक पहुँच नहीं सकता। बल्कि इसमें प्राप्त हुआ काल भी लीन हो जाता है। कालकूपका चक्र जीवरूपी हँड़ियाको शुभ-अशुभ कर्मरूपी रस्सीसे बाँधकर फिराता है और जीवरूपी वृक्षको रात्रि और दिनरूपी कुल्हाड़ेसे छेदता है। जीवरूपी अन्नके दाने जगत्‌रूपी तौलीमें पड़े हुए रागद्वेषरूपी अग्निपर चढ़े हैं और कर्मरूपी करछीसे कभी ऊपर जाते हैं और कभी नीचे आते हैं। यह काल प्रलयमें सबका प्रलय कर डालता है और इसकी जो चण्डिका शक्ति है उसका बड़ा उदर है। वह कालिका सबका ग्रास करके पीछे नृत्य करती है। महाकालरूप काली है। उसका बड़ा भयानक आकार है। कालके हाथमें त्रिशूल और मूसल आदि शस्त्र हैं और कालिकाके हाथमें तन्द्रारूपी फाँसी है, उससे वह जीवोंको मारती है। ऐसी कालिकादेवी सब जीवोंको ग्रास करके महाभैरवके आगे नृत्य करती है। स्थावर-जङ्गम जगत् सब कालके मुखमें हैं।

इस जगत्‌में जितने भोग हैं सभी रोग हैं। जिसको सम्पदा कहते हैं वह आपदा है। जिसको सत्य कहते हैं वह असत्य है। जिन सम्बन्धियोंको मित्र मानते हैं वे सब बन्धनके कर्ता हैं। इन्द्रियाँ महा शत्रु हैं। देह विकाररूप है। मन महा चञ्चल और अशान्तरूप है। और अहङ्कार महा नीच है। इसीने दीनताको प्राप्त किया है। विचार बिना जीव अपना नाश आप ही करता है। इसका कल्याण करनेवाला बोध है। जब यह सत्य बोधके शरण जाता है तो कल्याण होता है। जब तृष्णा आती है तब आनन्द और धीरजका नाश कर देती है। तृष्णारूपी एक बड़ी नदी है, उसमें राग-द्वेषादि बड़े-बड़े मगर-मच्छ रहते हैं, उनसे जीव बहुत ही दुःख पाता है। इन्द्रियरूपी समुद्रमें जो मनोवृत्तिरूपी तरङ्ग उठते हैं उस समुद्रके तर जानेवालेको शूर समझना चाहिये। तृष्णारूपी नदीमें बड़ा प्रवाह है, उसके किनारेपर वैराग्य और सन्तोष दो वृक्ष खड़े हैं। तृष्णा-नदीके प्रवाहसे इन दोनोंका नाश होता है।

ऐसे विरक्तात्मा दुर्लभ हैं जिनको भोगकी इच्छा नहीं और जो सर्वदा ब्रह्मकी स्थितिमें रहते हैं । स्त्री-पुत्रादिमें स्नेह करना मूर्खता है । जिनकी बुद्धि देह और इन्द्रियोंके साथ बँधी हुई है, उनको आत्मपदकी प्राप्ति होना अति दुष्कर है । जब मनुष्य आत्मपदकी ओर आता है तब संसार उसको बहुत ही नीरस लगता है । जैसे बालकका चित्त स्थिर नहीं रहता वैसे ही जगत्का एक भी पदार्थ स्थिर नहीं रहता । जो पुरुष दीर्घदर्शी है उसको तो जगत्के सभी पदार्थ नीरस मालूम होते हैं । वह किसी पदार्थकी इच्छा नहीं करता । वह अपनी आयुको बिजलीकी चमकके समान देखता है । जिसको अपना मरना सम्मुख भासता है उसको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं रहती । जो पुरुष जगत्को सत्यरूप विचारता रहता है, उसे यह जगत् रमणीय भासता है, वह इसे रमणीय जानकर नाना प्रकारके संकल्प और कर्म करके जगत्में भटकता है। जिसको आत्म-विचारकी प्राप्ति है, उसको यह जगत् भ्रमरूप भासता है ।

इस संसारमें भोगरूपी अग्नि लगी है, जिसमें सब जलते हैं और दीन हो जाते हैं । काम, क्रोध और दुराचारसे शुभ गुण नष्ट हो जाते हैं । इस जीवको भोगकी इच्छा ही बन्धनका कारण है, उसीसे यह भटकता है और शान्ति नहीं पाता । सुख आत्मज्ञानसे होता है, अन्य किसी भी पदार्थसे नहीं होता । विषयरूपी सर्प जिसको काटता है वह अनेकों जन्मपर्यन्त मरता ही चला जाता है । अतएव विषय-भोग ही परम दुःखका कारण है । संसाररूपी गड्ढे और मोहरूपी कीचड़में मूर्खका मन गिर जाता है, जिससे वह दुःख ही पाता है । शान्तिको प्राप्त कभी नहीं होता । जिस पुरुषने अपने सुखके निमित्त देह और इन्द्रियादिका आश्रय लिया है वह मूर्ख संसाररूपी अन्धकूपमें गिरता है और कभी निकल नहीं सकता । अज्ञानीका चित्त भोगका त्याग कदापि नहीं करता ।

मनुष्यको चाहिये कि संसारकी चीजोंसे चित्तको हटाकर परमानन्द परमात्म-पदके पानेका यत्न करे । आत्मज्ञानके प्रकाशसे मोहरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है । आत्मज्ञानरूपी चन्द्रमाके प्रकाशसे बुद्धिरूपी कमलिनी खिल उठती है और अमृतरूपी किरणोंसे तृप्तवृत्ति होती है । जब अज्ञानरूपी मेघ वर्षा करता है तब दुःखरूपी मञ्जरी बढ़ने लगती है । लोभरूपी बिजली क्षण-क्षणमें प्रकट हो-होकर नष्ट हो जाती है और तृष्णारूपी जालमें फँसे हुए जीवरूपी पक्षी महान् दुःख पाते हैं । चित्तरूपी चन्द्रमामें कामरूपी कलङ्क लगा है इससे वह उज्ज्वल नहीं भासता । यह चित्त पारेकी भाँति कभी स्थिर नहीं रहता । सदा विषयकी ओर दौड़ता है । मनुष्य-शरीरका यही फल है कि इसमें संसार-समुद्रके पार होनेकी इच्छा करे और पुरुषार्थ करके ब्रह्मपदको प्राप्त करनेका यत्न करे।



मुखमें

आन नँदरानी सौं कह्यो है काहू टेरि आज, माटी खात देख्यो सुत तेरो या सदन मैं ।
सुनिकै रिसाइ सुत बोलि मुख खोलि देख्यौ, एक ब्रह्म दोऊ भेद तीनौं देवतन मैं ॥
चारौं बेद पाँचौं भूत छहौं ऋतु सातौं ऋषि, आठौं बसु नवौं ग्रह दसहौं दिसन मैं ।
ग्यारहौं महेस औ दिनेस बारहौ बिलोकि, तेरहौ रतन लोक चौदहौं बदन मैं ॥

शङ्कर कवि

भक्त-गाथा

भक्त रघु केवट

(गतांकसे आगे)



भक्त रघु अब पूर्ण साधु-स्वभावको प्राप्त है। किसीसे कुछ भी कहना-सुनना नहीं, किसीके मनमें उद्वेग हो, ऐसी कोई भी चेष्टा करनी नहीं। दिन-रात श्रीहरिका नाम-कीर्तन करना और भगवान्‌में मनको लगाये रखना, यही उसका काम था। नाम-कीर्तन करते-करते रघुको प्रेम-समाधि हो जाया करती। गाँवके कुछ दुष्ट बालक रघुको छेड़ते, उसके पीछे-पीछे दौड़ते, परन्तु रघु कुछ भी जवाब नहीं देता। इससे लड़कोंका साहस बढ़ गया। कुछ बदमाश लड़के गालियाँ देने लगे और एक-दोने तो ढेले फेंकने भी शुरू कर दिये। रघु पहाड़के सदृश अचल था। कोई कुछ भी करे, उस प्रेम-सिन्धुमें डूबे हुएको तो कुछ पता ही नहीं था। रघुकी ऐसी स्थिति हो गयी थी कि उसको जब बाह्य ज्ञान रहता था, तब भी उसपर गालियोंका और मारका कोई असर नहीं होता था। क्रोध, क्षोभ और दुःख मानो उसके हृदयसे सदाके लिये बहिष्कृत हो गये थे। फिर प्रेम-समाधिकी अवस्थामें, जब कि बाहरी होश बिलकुल ही नहीं रहता, तो क्रोध या क्षोभ होता ही कहाँसे ? परन्तु रघुकी इस उदासीनतासे लड़कोंका उपद्रव बहुत बढ़ गया। बिना ही कारण रघुको सताना और मारना गाँवके आवारा लड़कोंके मनोरञ्जनका सहज साधन बन गया। रघु कहीं भी जाता तो लड़कोंकी टोली अपना काम करती हुई उसके पीछे रहती। भले लड़के तो केवल हँस-हँसाकर ही रह जाते—परन्तु बदमाशोंको धूल फेंके और ढेला मारे बिना आनन्द नहीं आता। गाँवके भले लोग लड़कोंको ऐसा करनेसे रोकते, तब जो अच्छे लड़के होते वे तो अलग हो जाते परन्तु ढीठ लड़के किसीकी भी नहीं मानते। एक दिन रघु गाँवसे भीख लेकर अपने घरकी ओर जा रहा था, इतनेमें ही पीछेसे आकर एक दुष्ट लड़केने उसकी पीठपर एक काँटोंवाला डण्डा मार दिया। रघुने कुछ भी नहीं कहा। अब तो लड़का बार-बार घुमा घुमाकर डण्डा मारने लगा। रघुका शरीर लहूलुहान हो गया। खूनकी धारा बह निकली। तो भी रघुने अपने मुँहसे एक शब्द नहीं कहा। परीक्षा हो चुकी। अब भक्तोंके योग-क्षेमका वहन करनेवाली भगवती-शक्तिने अपना कार्य शुरू किया। रघु कुछ ही आगे बढ़ा था कि उसे मारनेवाला लड़का बेहोश होकर धड़ामसे गिर पड़ा और गिरते ही उसके प्राणपखेरू उड़ गये। लोग एकत्र हो गये। कुछ लोगोंने उसके घर जाकर माँ-बापको खबर दी। घरके लोग दौड़े आये। लड़केको बार-बार उठाकर बैठानेकी चेष्टा की गयी। आखिर नाकके पास रूई रखकर देखा गया तो मालूम हुआ कि श्वास ही नहीं है। माँ-बाप रोने लगे। हाहाकार मच गया। परन्तु इससे क्या होता ? माता-पिताको अपने लड़केके दुष्टस्वभाव और निर्दय आचरणोंका पता पहले ही लग चुका था। उन लोगोंने सोचा अवश्य ही यह निरपराध भक्त रघुको मारनेका फल है। गाँवके लोगोंने भी एकस्वरसे यही कहा। अन्तमें सर्वसम्मतिसे यही निश्चय हुआ कि 'रघुके घर चलकर उससे प्रार्थना की जाय। भक्त बहुत ही कोमल-हृदय होते हैं, उनका चित्त दूसरेका दुःख देखकर सहज ही पिघल जाता है। रघु महान्

भक्त है, वह यदि बालकका अपराध क्षमा कर देगा तो लड़का जी उठेगा, इसमें सन्देह नहीं है।' यह विचारकर बालकके माता-पिता घरके अन्यान्य लोगोंके साथ मृत-शरीरको लेकर रोते-कराहते रघुके घरपर आये और दोनों वृद्ध स्त्री-पुरुष रघुके चरणोंमें पड़कर दीन-वाणीसे कहने लगे—'भक्त रघु! हम आज बड़े ही दुखी हैं। हम जानते हैं कि हमारा लड़का बहुत ही दुष्ट था और उसने तुमको जो तकलीफें दी हैं वे कभी क्षमाके योग्य नहीं हैं। परन्तु माँ बापके नाते हम आज सर्वथा निराश्रय हो गये हैं। हम अन्धोंकी तो यही एकमात्र लकड़ी था। उसकी दुष्टताकी ओर देखते तो हम तुम्हें मुँह भी नहीं दिखला सकते, परन्तु तुम्हारी दयालुतापर भरोसा करके हम तुम्हारे सामने रो रहे हैं। अब तुम अपनी ओर देखकर इस अज्ञान बालकका अपराध क्षमा करो और हमें प्राणदान दो। यह बचा नहीं जीयेगा तो हम दोनों भी नहीं जी सकेंगे। तुम भक्त हो, तुम्हारे कोई शत्रु मित्र नहीं है, फिर इस बालकपर इतनी कठोरता क्यों की गयी ?'

रघु वृद्ध दम्पतिको चरणोंमें पड़ते देखकर और उनका करुण क्रन्दन सुनकर चकित-सा रह गया। उसे अभीतक यह नहीं मालूम था कि उसको मारनेवाला लड़का मर गया है। अब सारी बात समझकर रघुने कहा—'हैं, हैं, आप क्या करते हैं, मैं अधम केवट हूँ, मेरे पैरोंके हाथ न लगाइये।' यों कहकर बड़ी ही विनयके साथ रघुने उन्हें उठाकर बैठाया और कहा—'आप क्या कह रहे हैं? मैंने तो कभी नहीं चाहा कि आपका बालक मर जाय। यदि मेरे कारण ही उसकी मृत्यु हुई है तो वस्तुतः मैं बड़ा ही अपराधी हूँ। मेरा इस अपराधसे कैसे छुटकारा होगा? यह सच है कि उसने मुझको मारा था, परन्तु इसमें उसका क्या कसूर था! निजकृत कर्मरूपी कारण हुए बिना ईश्वरके राज्यमें किसीको कोई दण्ड नहीं मिल सकता। मुझे जो यह शारीरिक दण्ड मिला, यह अवश्य ही मेरे किसी पूर्वकृत कर्मका ही फल है। यह तो बेचारा केवल मूर्खतावश निमित्त बन रहा था। हा! परमेश्वर, मैं कैसा अन्यायी और पापी हूँ कि आज मुझ अधमके कारण इन वृद्ध स्त्री-पुरुषोंपर महान् संकट पड़ रहा है। यदि वास्तवमें मेरे मनमें उस बालकके प्रति उसके द्वारा मुझपर मार पड़ते समय भी कोई द्वेष न उपजा हो तो हे प्रभु! दयाकर बालकको जीवन-दान दीजिये।' यों कहते-कहते रघुकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली। उसने प्रेमावेशमें कहा—'भाइयो,! आओ, हम सब मिलकर श्रीहरिनामकी धुन लगावें और बालकसे उठ बैठनेके लिये कहें।' इतना सुनकर सबने मिलकर हरिकीर्तन आरम्भ कर दिया। मृत बालकके चारों ओर घूम-घूमकर गाँवके सब लोग कीर्तन करने लगे। रघु केवट प्रेममें पागल होकर नाचने लगा और सब लोग मिलकर बालकको पुकार-पुकारकर उठ बैठनेके लिये कहने लगे। भक्तकी दृढ़ भावना, भगवन्नामके माहात्म्य और भक्तवत्सल भगवान्‌की कृपासे देखते ही देखते बालक अंग मरोड़कर नींदसे जागनेकी भाँति उठ बैठा। बालकको जीवित देखकर माता-पिताको जो आनन्द हुआ, उसकी कोई सीमा नहीं है। अब सभी लोग प्रेम मतवाले होकर परमोल्लासके साथ हरि-हरिकी ध्वनि करने लगे। दुष्ट बालककी भी मति बदल गयी, वह भी हरि-कीर्तनमें मत्त हो गया। आनन्दका सागर उमड़ उठा। सब लोग प्रेमानन्द सुधाका पान करके मस्त हो गये। कुछ समय बाद रघुने सबको भगवत्-प्रेमका उपदेश प्रदान करके अपने-अपने घर जानेको कहा। लोग विस्मय और आनन्दमें डूबे हुए घरोंको लौटे। इधर रघु भगवान्‌के भजनमें तल्लीन हो गया।

भगवत्-भजनके प्रतापसे रघुमें इतनी शक्ति आ गयी कि उसके मुँहसे जो कुछ भी निकल जाता, वही

सत्य हो जाता। होते-होते देशभरमें रघु केवटकी ख्याति फैल गयी। सभी लोग उसे महान् भक्त और वचन-सिद्ध महात्मा मानने लगे। ख्याति बढ़नेके साथ ही भिन्न-भिन्न कामनावाले दर्शनार्थी स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ उनके घरपर रहने लगी। रघु इस प्रपञ्चसे घबरा गया। वास्तवमें प्रतिष्ठा और प्रसिद्धि भजनके प्रधान शत्रु हैं। जो प्रभुको भजना चाहते हैं, प्रभुको प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिये तो ये महान् हानिकारक प्रतिबन्धक हैं ही, परन्तु सिद्ध पुरुषोंके लिये भी *प्रतिष्ठा और प्रसिद्धिका त्याग ही परम आदर्श* माना गया है। जो साधक प्रतिष्ठाके चक्करमें पड़ जाते हैं, उनका भजन-ध्यान बिल्कुल छूट जाता है, वे भगवत्प्राप्तिके मार्गसे सर्वथा गिरकर बहुत दूर चले जाते हैं। रघु केवट बड़ा भाग्यवान् था, इससे उसने इस लोक-प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठाके समान समझकर सर्वथा त्याग कर दिया। वह घर छोड़कर निर्जन एकान्त स्थानमें रहने लगा। अब उसके चौबीसों घण्टे केवल श्रीभगवान्के भजनमें ही बीतने लगे। अपने प्राणाराध्य प्रभुके प्रेममें निमग्न हुआ रघु सब प्रकारसे निश्चिन्त हो गया।

एक दिन रघुको ऐसा भान हुआ मानो नीलाचलनाथ भगवान् श्रीजगन्नाथजी उससे कुछ खानेको माँग रहे हैं। उसके मनमें इससे बड़ा आनन्द हुआ। वह एकान्त स्थानमें भोजन-सामग्री लेकर भगवान्को निवेदन करने लगा। भगवान् तो भक्तके अधीन हैं। जहाँ प्रेम देखते हैं, अपना ऐश्वर्य भूलकर प्रकट हो जाते हैं। जहाँ रघुने शुद्ध अन्तःकरणसे भगवान्का आह्वान किया, वहीं आप प्रकट होकर हँसते-हँसते उसका दिया हुआ भोग पाने लगे।

इधर ठीक उसी समय पुरीके महाराजने श्रीप्रभुके भोगके लिये नाना प्रकारके उत्तमोत्तम पक्वान्न भोग-मण्डपमें भेजे थे। भोग-मण्डपसे प्रभुका मूल-मन्दिर कुछ दूर है, इससे भोगमण्डपके रक्खे हुए दर्पणमें प्रभु-विग्रहका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसीके नैवेद्य चढ़ाया जाता है। जब सब सामग्रियाँ आ गयीं, तब पण्डे भगवान्को भोग निवेदन करने लगे, परन्तु आश्चर्य कि दर्पणमें उस समय उन्हें प्रभुका प्रतिबिम्ब नहीं दीख पड़ा। दर्पण जहाँ-का-तहाँ था, बीचमें कोई आड़ भी नहीं थी। पण्डाजीने आश्चर्यचकित होकर राजासे कहा कि 'महाराज! इस नैवेद्यमें कुछ-न-कुछ दोष *होना चाहिये। नहीं तो प्रभु इसे अङ्गीकार क्यों नहीं* करते? आज प्रभुका प्रतिबिम्ब ही दर्पणमें नहीं पड़ता। अब क्या उपाय किया जाय?' श्रद्धालु राजा पण्डाजीकी बात सुनकर उदास हो गये और गरुड़-स्तम्भके पास जाकर पड़ रहे। पड़े-पड़े बड़े ही खिन्न चित्तसे वे मन-ही-मन प्रभुसे प्रार्थना करने लगे—'हाय प्रभु! मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध बन गया कि जिससे आप मेरा चढ़ाया हुआ नैवेद्य स्वीकार नहीं करते? क्या मेरे अपराधसे यह सारी सामग्री ही दूषित हो गयी है? यदि ऐसा ही है तो प्रभु! कृपा करके मुझे प्रायश्चित्त बताइये! हे दीनबन्धो! मुझे किसी प्रकार भी अपराध मुक्त करके आप नैवेद्य स्वीकार कीजिये।'

यों प्रार्थना करते-करते राजाको तन्द्रा-सी आ गयी। उन्होंने स्वप्नमें देखा प्रभु प्रकट होकर कह रहे हैं—'राजा! तू इतना दुखी क्यों होता है? क्या मैं इस समय नीलाचलमें था जो मेरा प्रतिबिम्ब पड़ता? मैं तो इस समय पिपली ग्रामके समीप रघु केवटकी कुटियामें भोजन कर रहा हूँ। यद्यपि वह जातिका धीवर है परन्तु उसका मुझपर अकृत्रिम प्रेम है। वह सबसे बढ़कर मुझसे ही प्रेम करता है। मेरे लिये उसने मनसे सर्वस्वका त्याग कर दिया है। वह जबतक मुझे नहीं छोड़ता, तबतक मैं यहाँ आकर तेरा प्रसाद स्वीकार नहीं कर सकता। तू जानता है, मैं पक्वान्न

का नहीं, पर सच्चे अनन्य प्रेमका भूखा हूँ। मैंने गीतामें स्पष्ट कहा है कि जो भक्त हृदयके प्रेम भावसे मुझे पत्र-पुष्प-फल-जल कुछ भी अर्पण करता है, मैं स्वयं प्रकट होकर उस प्रेमोपहारको सानन्द स्वीकार करता हूँ। भक्तका भाव ही मुझे खींचनेकी प्रबल डोरी है। यदि तू मुझे अभी यहाँ बुलाना चाहता है तो पीपलीचटीमें जाकर एकान्तवासी मेरे प्रिय भक्त रघुको उसकी पत्नी तथा मातासहित नीलाचलक्षेत्र-में ले आ।'

भगवान् अन्तर्धान हो गये, राजाका सपना भंग हुआ। वह उसी समय घोड़ेपर सवार होकर पीपली-चटी पहुँचे और किसी प्रकार पूछ ताछकर रघुकी कुटियाका पता लगाया। राजा कुटियाके बाहर खड़े होकर पुकारने लगे। परन्तु वहाँ सुनता कौन? रघु तो इस समय भक्त वत्सल प्रभुकी सेवाके आनन्दमें मतवाला हो रहा है। वह तन मनकी सुध भुलाकर प्रभुके प्रेमानन्दका पान कर रहा है, बाहरकी आवाज कौन सुने?

जब बाहरसे पुकारते-पुकारते राजा थक गये, उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला, तब निरुपाय होकर राजाने कुटियामें प्रवेश किया। राजा देखते हैं रघु रोमाञ्चित शरीरसे बैठा है, हाथमें ग्रास लेकर मानो किसके मुखमें दे रहा है। ग्रासका देना तो दीखता है, परन्तु ग्रास ग्रहण करनेवाला मुख राजाको नहीं दीखता। वह मानो किसी आवरणसे ढका है। जब-तक वह आवरण दूर नहीं होता, तबतक उस मुखको कोई भी नहीं देख सकता। और आवरण दूर करना किसीके हाथमें भी नहीं है। यह प्रभुके हाथकी बात है। प्रभुके देव दुर्लभ दिव्य मुखड़ेके यथार्थ दर्शन उसीको होते हैं, जिसको प्रभु कराते हैं—जिसके नेत्रोंसे आवरण हटा लेते हैं। यह मानव-पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाला कार्य नहीं है। जो महानुभाव भक्त ... सुख दुःखोंका देखना छोड़कर सर्वथा सर्व-भावसे प्रभुपरायण हो रहते हैं, उन्हींको कभी दया करके भगवान् अपना दिव्य दर्शन देते हैं। अस्तु।

कुछ ही देरमें प्रभु अन्तर्धान हो गये। अब रघु-की विचित्र दशा हो गयी। वह जलसे निकाली हुई मछलीके सदृश तड़पने लगा। 'अरे प्रभु! कहाँ चले गये, कहाँ चले गये?' यों पुकारता हुआ रघु रो पड़ा। उसकी आँखोंसे चौधार आँसू बहने लगे। इस दृश्यको देखकर राजा चकित हो गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा, 'ठीक ही तो है। ऐसा न होता तो प्रभु नीलाचलका राज-भोग त्यागकर धीवरके घर क्यों पधारते?' राजाने आगे बढ़कर रघुको उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया और धीरेसे कहा—'धन्य रघु दास, तुम्हें धन्य है! अहा! तुमने प्रभुको वश करनेवाला यह मन्त्र कहाँ सीखा? अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। चलो, अपनी भाग्यवती पत्नी और धन्यजीवन जननीको साथ लेकर नीलाचल चलकर रहो। तुम्हारी कृपासे नीलाचलनाथकी दया होगी तो मैं भी कृतार्थ हो जाऊँगा।'

अब रघुको होश हुआ। वह अपनेको पुरीनरेशकी गोदमें बैठा देखकर चकित हो गया। वह जल्दीसे उठकर राजाको प्रणाम करने लगा। परन्तु राजाने उसे रोककर स्वयं उसके चरणोंमें प्रणाम किया और अबतकका सारा हाल सुनाया। तथा प्रभुकी आज्ञा सुनाकर उससे सपरिवार नीलाचल चलनेकी प्रार्थना की। प्रभुकी आज्ञा समझकर रघु भी अस्वीकार न कर सका। राजाकी आज्ञासे उसी समय सवारीकी उत्तम व्यवस्था हो गयी। श्रद्धालु भक्त राजा भक्त-परिवारको लेकर नीलाचलमें पधारे। इसी समय भोग मण्डपके दर्पणमें प्रभुका प्रतिबिम्ब दिखायी दिया। पण्डाजीने आनन्द विह्वल होकर नैवेद्य निवेदन किया। भक्त-वत्सल भगवान्की जय-ध्वनिसे मन्दिर गूँज उठा।

पुरीनरेशने श्रीमन्दिरके दक्षिणकी ओर रघुके

लिये आवश्यक सामग्रियोंसे पूर्ण सुन्दर घरकी व्यवस्था कर दी। रघु अपनी माता और पत्नीके साथ प्रभुका भजन करता हुआ वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगा और अन्तमें प्रभुकी प्रेरणासे इस लोकका त्यागकर तीनों परमधामको पधार गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!

भगवत्-प्रेमकी वृद्धिका एक सहज साधन

(लेखक—स्वामी श्रीशान्तयोगानन्दजी)



मैं अपने एक वर्षके अनुभवसे लाभ उठाकर भगवत्प्रेमी सज्जनोंको एक सम्मति देना चाहता हूँ, वह यह कि सबलोग अपने-अपने निवास-स्थानोंको भगवान्के विविध प्रकारके सुन्दर-सुन्दर चित्रोंसे सुशोभित करें। आत्माकी उन्नति चाहनेवाले प्रत्येक पुरुषके लिये यह एक बहुत ही अच्छा सहायक साधन है। जिस कमरेमें भाँति-भाँतिके प्रभु-लीलाका स्मरण करानेवाले धार्मिक चित्र लगे रहते हैं, वह कमरा प्रतिदिन समय-समयपर भगवत्प्रेमकी वृत्ति जाग्रत् करता रहता है। बड़े कठिन साधनोंसे अथवा महान् विचारोंसे मालिकके प्रति जो मुहब्बत पैदा की जाती है, वह इस उपायसे सहज ही हो सकती है। अतएव भगवान्के और भगवद्भक्त ज्ञानी महात्माओंके रमणीय चित्रोंसे कमरेकी दीवारोंको भक्तिवर्द्धक बनाना चाहिये। जिन स्थानोंमें भगवान्के और महात्माओंके मनहरण चित्र लगे होते हैं, उनका शुद्ध पुरुषोंके हृदयपर तो तत्काल प्रत्यक्ष असर पड़ता है। दूसरे पुरुषोंपर भी सूक्ष्म रीतिसे प्रभाव अवश्य पड़ता है। एक बार कुछ अर्थ व्यय करके सारी आयुपर्यन्त इस साधनसे मनुष्य न केवल अपना ही कल्याण करता है परन्तु अपने सम्बन्धी मित्रोंके (जो घरपर मिलने आते हैं) हृदयोंमें भी परमात्माके प्रति प्रेम पैदा करनेका कारण बनता है। और इसप्रकार परोपकारकी पदवीको प्राप्त करता हुआ वह भगवान्की विशेष कृपाका अधिकारी बनता है।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि घरोंके कमरोंमें खुले अङ्गोंवाली रूपवती औरतोंके चित्र लटकाये जाते हैं। यह बहुत ही बुरी बात है। इससे मनुष्य विषय-परायण होता है। परमार्थमार्गी जीवको भूलकर भी ऐसे चित्र कमरेमें तो रहने ही नहीं देने चाहिये, देखने भी नहीं चाहिये। जो लोग ऐसी तसवीरोंका प्रचार करते और उन्हें कमरोंमें लगाते हैं, वे लोगोंकी मनोवृत्ति बिगाड़नेके पापके भागी बनते हैं। ऐसी तसवीरोंसे पहले बहुत सूक्ष्मरूपसे मनपर प्रभाव पड़ता है और आगे चलकर इनसे वह शैतानी शक्ति उत्पन्न होती है जो भगवान्से मनको खींचकर जीवको चौरासीके चक्करमें भरमाती है।

इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्में प्रेम होना पूर्वके और इस जन्मके महान् शुभ कर्मोंका फल है। दीर्घ कालसे विषयभोगोंमें फँसे रहनेके कारण जिनकी बुद्धि पशुवत् हो गयी है, उन लोगोंको तो भगवद्भक्ति एक झूठा विषय प्रतीत होता है। ऐसे लोगोंके लिये भी पहली सीढ़ी प्रतिमा-दर्शन या पूजन ही है। इससे शनैः-शनैः भगवान् उत्तम बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे जीव महाकल्याणका अधिकारी बन जाता है।

अन्तमें मैं पुनः जोरसे निवेदन करता हूँ कि भगवान्के चित्रोंको लोग अपने-अपने स्थानोंमें अवश्य ही लगावें। इससे सहजहीमें परमार्थ कमाया जा सकता है और शुद्धभावोंका प्रचार हो सकता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

विवेक-वाटिका

जिसको लोग सत्-असत्, अव्यक्त-व्यक्त और अक्षर-क्षर कहते हैं, वह सब मेरा ही रूप है। सत्-असत् तथा असत् और सत् एवं असत्से भी परे जो विश्व है, वह सब मुझ सनातन देव-देवके सिवा और कुछ भी नहीं है।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे एक ही अग्नि भिन्न-भिन्न काठोंमें प्रवेश करके अनेक प्रकारके रूपवाला हो जाता है, इसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका हो जाता है।

—उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे एक ही सूर्य इस समस्त ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, वैसे ही एक ही आत्मा समस्त शरीरोंको प्रकाशित करता है।

—श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀ ❀

अहंकारके कारण ही आत्माको 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि होती है। और उसीके कारण यह सुख-दुःखादिके देनेवाले जन्म-मरणरूप संसारकी प्राप्त होता है। —अध्यात्मरामायण

❀ ❀ ❀ ❀

यदि कोई पिता या पुत्र मर जाता है तो मूढ़ लोग ही उसके लिये छाती पीटकर रोया करते हैं। ज्ञानियोंके लिये तो इस असार संसारमें किसीका वियोग होना वैराग्यका कारण होता है और वह सुख-शान्तिका विस्तार करता है।

—वशिष्ठ मुनि

❀ ❀ ❀ ❀

कछुएकी पीठपर चाहे बाल उग जायँ, बन्ध्याका पुत्र किसीको मार डाले, आकाशमें फूल फूल जायँ, मृग-जलसे प्यास मिट जाय, खरगोशके सींग आ जायँ, अन्धकार सूर्यका नाश कर दे और बर्फमें अग्नि प्रकट हो जाय परन्तु रामसे विमुख मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता।

—गोसाईं तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

ज्ञानीकी बुद्धिमें फल और हेतुसे आत्माकी पृथक्ता प्रत्यक्ष है, इसलिये उसके मनमें अनात्म-पदार्थोंमें 'मैं यह हूँ' ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता।

—श्रीशंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

गोविन्द-विरहमें मेरा निमेषकाल भी युगके समान बीतता है। मेरी आँखोंने वर्षा-ऋतुका रूप धारण किया है और समस्त जगत् मुझे शून्य-सा प्रतीत होता है।

—श्रीचैतन्य महाप्रभु

❀ ❀ ❀ ❀

प्रभुको प्राप्त करनेका पहला साधन है—प्रभुको प्राप्त करनेका निश्चय! यह निश्चय होनेपर ही इन्द्रियोंको अपने वशमें रखनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। कुविचार क्षीण हो जाते हैं और उच्च अवस्था प्राप्त हो जाती है।

—सहल तस्तरी

❀ ❀ ❀ ❀

अरी बुद्धि चकई! तू भगवान्के चरण-सरोवरमें जा बस, जहाँ न तो कभी प्रेम-वियोग होगा और न रोग, दुःख या शोक ही है, तथा रात-दिन 'राम-राम' की वर्षा हो रही है।

—सूरदासजी

❀ ❀ ❀ ❀

कल करना हो सो आज ही कर लो और जो आज करना हो, उसे अभी कर लो, पलमें मृत्यु हो जायगी, फिर कब करोगे। लोग कैसे बावले हैं जो झूठे सुखको सुख कहते हैं और मनमें मोद मानते हैं। अरे, यह जगत् तो कालका चबेना है, कोई कालके मुखमें है, तो कोई गोदमें।

—कबीर

❀ ❀ ❀ ❀

जगत्का जीवन पानीके बुद्बुदेके समान है, एक उठता है तो दूसरा बिला जाता है।

—जायसी

❀ ❀ ❀ ❀

लोगोंके सामने अपने दोष स्वीकार करनेमें जिसको जरा भी संकोच नहीं होता, बल्कि जो इसमें अपना कल्याण मानता है; और जो अपने अच्छे कार्य लोगोंको जनाना नहीं चाहता, तथा जो दृढनिश्चयी है, वही सत्यनिष्ठ और सच्चा साधक है।

—हारस महसबी

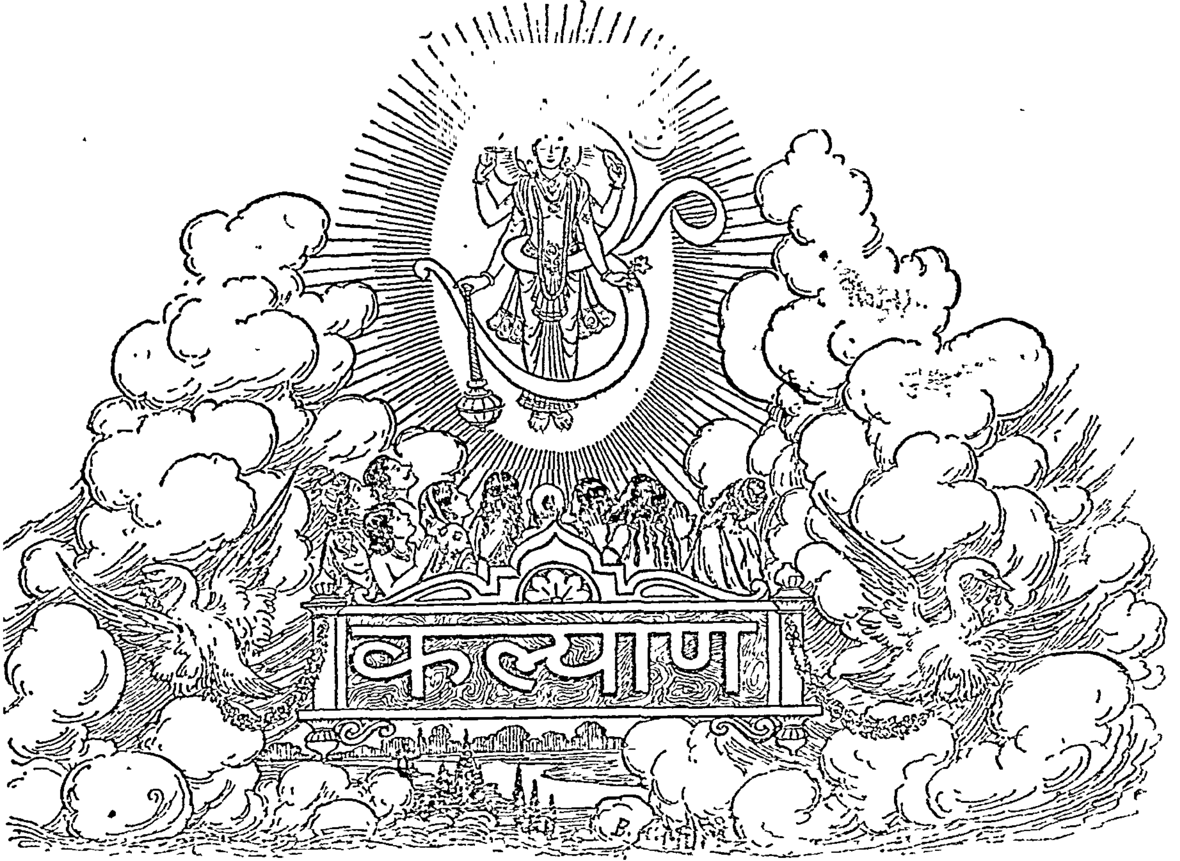
❀ ❀ ❀ ❀





निमाई-निताई

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७	गोरखपुर, चैत्र १९९० अप्रैल १९३३	संख्या ९ पूर्ण संख्या ८१

गिरधर-छबि

मो मन गिरधर-छबिपै अटक्यो ।
ललित त्रिभंग चालपै चलिकै
चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ॥
सजल स्यामघन बरन लीन ह्वै
फिर चित अनत न भटक्यो ।
कृष्णदास किये प्रान निछावर
यह तन जग सिर पटक्यो ॥

—कृष्णदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

मैंने इस प्रान्तके एक बहुत विद्वान् पण्डितसे पूछा—'पण्डितजी ! आपने शास्त्रोंका पूर्ण अध्ययन किया है, कुछ अपना अनुभव भी बताइये ।'

पण्डितजीने कहा—'निरन्तर अभ्यास करते रहने तथा पूर्णरूपेण वासनारहित होनेपर ही अनुभव होता है, शास्त्रके केवल पद लेनेसे नहीं । जबतक वासना है, चित्तमें शान्ति आ नहीं सकती । वासनाका नाश करते ही चित्तमें शान्तिका उदय होता है । वासनारहित चित्त ही परमतत्त्वके चिन्तनका अधिकारी है ।'

× × ×

एक बारकी बात है । मैं एक बूढ़े विद्वान् पण्डितके घर भिक्षा करने गया । भिक्षा पा लेनेके उपरान्त मैंने पण्डितजीसे कहा—'पण्डितजी ! आप वृद्ध हो गये, घरमें पुत्र-पौत्र सभी हैं । घरकी कोई चिन्ता नहीं । अब आप कहीं श्रीगङ्गा-तटपर एकान्त-शान्तमें निवास करें !'

पण्डितजीने कहा—'गंगा कहती है,—जिसने परस्त्री, परद्रव्य, परनिन्दासे अपनेको पृथक् रक्खा है, उसके लिये मैं प्रतीक्षा करती रहती हूँ, अपनेको पवित्र करनेके लिये ।'

गंगाजीका माहात्म्य बहुत विचित्र है । एक बारकी बात है । गंगाजीने भगीरथसे कहा—'श्रीमन् ! मैं पुण्यकी सदैव प्यासी रहती हूँ, कलियुगमें पापकी ही प्रधानता रहेगी तो बताइये मैं क्या करूँगी ?'

भगीरथने कहा—'तुम्हारे दिव्यतटपर घोर कलियुगमें भी विरक्त, विद्वान्, भक्त, तत्त्वदर्शी विचरण करते रहेंगे । इससे तुम्हारा तट सदैव पवित्र रहेगा । वे तुममें स्नान करेंगे, तुम पवित्र रहोगी ।

यथार्थमें गंगाका तट अलौकिक है । किसी समयमें भी गंगा-तट विरक्तोंसे रहित न होगा ।

देखो न ! गंगा-तटपर व्यभिचारियोंका नाश हो जाता है । यदि कोई ढोंगी साधु (उटपटाङ्ग जीवन बितानेवाला) गंगा-तटपर आ जाता है तो कोई-न-कोई विघ्न हो जाता है । या तो वह बीमार हो जायगा या चित्तमें उद्विग्नता पैदा हो जाती है । चोरी हो जाती है, पीटा जाता है, इसी तरहके विघ्न हो जाया करते हैं ।

गंगा-तटपर तत्त्वदर्शी विरक्त लोग ही ठहर सकते हैं ।

× × ×

पढ़ने-पढ़ानेसे कुछ नहीं होता । पढ़ना-पढ़ाना एक कला है, ईश्वरसे सम्बन्ध नहीं रखता । यह जरूर है कि जड़वादियोंकी अपेक्षा पढ़ने-पढ़ानेवालोंका जीवन अच्छा है । कम-से-कम शुभ संस्कार ही होते हैं ।

इसीलिये शास्त्रकारोंने अभ्यासके ऊपर बहुत जोर दिया है । अभ्यास करो, सफलता होगी । निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे ही परमतत्त्वकी उपलब्धि होती है । वासनायुक्त जीवनमें अभ्यास नहीं हो सकता । अतः आवश्यकता है, प्रथम वासना त्याग करनेकी ।

मरनेके पश्चात् तो कुत्ते भी शान्त हो जाते हैं । इस जीवनमें ही अन्तिम तत्त्व, अन्तिम पदकी प्राप्ति करनी है । जीवन्मुक्त होनेका निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये ।

यह जरूर है कि तुम्हें नित्यप्रतिके अभ्यासमें, इस संघर्षणमय नियन्त्रणमें कठिनाई होगी, बड़ी-बड़ी असुविधाओंका सामना करना पड़ेगा; किन्तु तुम्हें सावधान रहना पड़ेगा ।

कल्याण



जिनके मनमें भगवत्प्रेमकी इच्छा जाग उठी है, उन्हें दूसरी सारी इच्छाओंका सहज ही त्याग करना पड़ेगा। ऐसी वस्तुमात्रका ही संग छोड़ना पड़ेगा, जो भगवत्प्रेमके पथमें बाधक हों। फिर, चाहे वे वस्तु लौकिक दृष्टिसे कितने ही गौरवकी और परम सुखदायिनी ही क्यों न समझी जायँ। जो प्रियतमके पथका कण्टक है वह चाहे कितना ही आवश्यक या कीमती क्यों न हो, प्रेमीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

ऊँचे-से-ऊँचा पदगौरव, बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति, दुनियाभरका सम्मान, अटल कीर्ति, अत्यन्त गौरवमयी विद्या, लौकिक विज्ञानका अद्भुत आविष्कार, साहित्यकी सरस मार्मिकता, नैसर्गिक कवित्वशक्ति, मनचाहा सुखद परिवार और स्नेहमय हृदयसे पालन-पोषण करनेमें समर्थ माता-पिता आदि, कोई भी सहज आकर्षक या परम आवश्यक प्रिय वस्तु यदि भगवान्के प्रेमसे रहित है, यदि भगवत्प्रेममें सहायक नहीं है, तो उसके त्यागमें ही भगवत्-प्रेमीको सुख मिलता है। जगत्का कोई पदार्थ रहे तो प्रभु-प्रेमको बढ़ानेवाला होकर रहे—प्रभुके पूजनकी सामग्री होकर रहे, नहीं तो उसकी कोई भी आवश्यकता नहीं। जितना शीघ्र उसका संग छूटे, उतना ही मंगल है।

जो देश, स्थान, समाज, व्यक्ति, संयोग, वियोग, वेष, भाषा, साहित्य, विज्ञान, भोजन, वस्त्र भगवान्के प्रेमको जगानेवाला है, भगवत्प्रेमको बढ़ानेवाला है, भगवत्प्रेमसे पूर्ण है, बस, प्रेमी अपना सब कुछ खोकर, किसी भी बातकी तनिक भी परवा न करके उसीको चाहता है, उसीको ग्रहण करता है, उसीमें रमण करता है। वह प्रियतमकी प्रिय स्मृति दिलानेवाला होनेके कारण उसके मनको परम प्रिय है, फिर चाहे लौकिक दृष्टिसे वह पदार्थ कितना ही हीन और दुःखदायी क्यों न माना जाता हो।

जिसके हृदयमें प्रभुके प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया, जो हृदय निर्मल प्रेमके कारण भगवान्के विरह-तापसे तप्त हो उठा, उसमें दूसरी वस्तु रह नहीं सकती—समा नहीं सकती। वहाँ अन्यके लिये गुंजायश ही नहीं रह जाती। जिनका हृदय ऐसा अनन्य प्रभु-प्रेममय हो गया है, उन्हींका जीवन सार्थक है, वे धन्य हैं।

ऐसे प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमें प्रभुकी अहैतुकी दया और उनकी सुहृदता ही प्रधान उपाय है। यों तो प्रभुकी दया सभीपर है, प्रभु जीवमात्रके नित्यसुहृद् हैं, परन्तु उनकी दया और सुहृदताका लाभ वही भाग्यवान् लोग उठाते हैं, जो प्रत्येक अनुकूल और प्रतिकूल स्थितिमें उनकी दया ढूँढ़ते हैं और दया देखनेका यत्न करते हैं। उनकी दयाका रहस्य समझमें आ जानेपर कोई प्रतिकूलता रह ही नहीं जाती। प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक पदार्थ प्रभुसे व्याप्त दीखनेके कारण उसके लिये सभी कुछ अनुकूल हो जाता है। न वह प्रतिकूल स्थितिका अनुभव करता है और न कोई इन्द्रिय या मन आदि ही उसके प्रतिकूल होते हैं। जिनपर भगवान्की दया होती है, उनपर सबको दया करनी पड़ती है। सबको भगवत्प्रेरणासे स्वाभाविक ही उनके अनुकूल बन जाना पड़ता है। बाधक साधक हो जाते हैं और विघ्न पथप्रदर्शकका काम देते हैं।

असलमें भगवत्कृपा असीम है, इतनी है कि मनुष्य अपनी बुद्धिसे उसकी कल्पनातक नहीं कर सकता।

परन्तु वह जितना-जितना अधिक देखता है, उतना-ही-उतना उसे शान्ति और आनन्दकी लहरोंका स्पर्श मिलता है। कुछ आगे बढ़नेपर तो वह आनन्दके असीम सागरमें एकरूप होकर निमग्न हो जाता है।

सत्संग, सद्बुद्धि, सद्ग्रन्थ, सदाचार आदि मनुष्यको भगवत्कृपासे ही प्राप्त होते हैं, बड़ी-बड़ी विपत्तियोंसे और पापोंके गड्हेमें गिरनेसे मनुष्य भगवत्कृपासे बचता है। भगवत्कृपा इतनी है कि मनुष्य तो भूल करनेमें नहीं थकता और भगवत्कृपा उसकी रक्षा करनेमें नहीं चूकती।

कभी-कभी मनुष्यको ऐसा अवसर प्राप्त होता है, जब कि वह महान् दुःखोंसे घिर जाता है, चारों ओरसे आफतोंके पहाड़ टूटने लगते हैं, उस समय भी वास्तवमें भगवान्की दयाका ही कार्य हो रहा है। भगवान्का दण्डविधान भी दयासे पूर्ण होता है। उस दण्डसे ही मनुष्य विषयोंके दुःखमय स्वरूपको समझकर सुखमय सच्चिदानन्दकी ओर अग्रसर होता है।

भगवान् अपने प्रति शत्रुता करनेवालेके साथ भी स्नेहमयी जननीका-सा बर्ताव करते हैं। माताके दण्डविधानमें हृदयका स्नेह सन्निहित रहता है। जब माता ही कभी अपने बच्चेके प्रति निर्दय नहीं हो सकती, तब संसारकी सारी भूत, भविष्यत्, वर्तमानकी माताओंका स्नेह जिन श्यामसुन्दरके स्नेह-सागरकी एक नन्हीं-सी बूँद है, वे भगवान् जीवोंके प्रति कैसे निर्दय हो सकते हैं!

भगवान्की दयाका अवलम्बन जीवके लिये परम अवलम्बन है। इससे बड़ा सहारा और कोई हो ही नहीं सकता। दयापर विश्वास करनेवाले मनुष्योंको तो इसके प्रमाणकी आवश्यकता ही नहीं होती। जिसने भगवान्की दयाका आश्रय लिया, वही स्नेहमयी जननीकी सुखद गोदकी भाँति भगवान्की निरापद गोदमें सदाके लिये जा बैठा। परन्तु विश्वास बिना ऐसा नहीं हो सकता।

विश्वास हुए बिना भगवान्की दयाका मनुष्य आश्रय नहीं लेता, भगवान्की दया बिना मनुष्यके मनसे जगत्के विषयोंका आश्रय नहीं छूटता और जबतक विषयोंका आश्रय है तबतक किसी प्रकार भी सच्चे सुख और सच्ची शान्तिकी झाँकी नहीं हो सकती। विषयोंका आश्रय तो दूरकी बात है, विषयोंकी सूक्ष्म वासना भी वास्तविक शान्तिका उदय नहीं होने देती।

वासना-नाशका सर्वोत्तम उपाय है, मनका भगवत्प्रेमकी कामनासे सर्वथा भर जाना और इसका प्रथम साधन भगवान्की दयापर विश्वास करना ही है।

"शिव"

जय असरन-सरन

तिलक भाल बनमाल अधिक राजत रसाल छबि।
मोरमुकुटकी लटक छटक बरनत अटकत कबि॥
पीताम्बर फहराय मधुर मुसुकान कपोलन।
रच्यो रुचिर मुज पान तान गावत मृदु बोलन॥
रति कोटि काम अभिराम अति दुष्ट निकंदन गिरिधरन।
आनन्दकन्द ब्रजचन्द प्रभु जय जय जय असरन-सरन॥

—अज्ञात कवि

चित्त-निरोधके उपाय

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)



किसी भाईका प्रश्न है कि 'चित्त बड़ा चञ्चल एवं प्रमादी है। इसे रोकना बड़ा कठिन है, यद्यपि शास्त्रकारोंने इसके निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उन उपायोंको पढ़ने, सुनने और समझनेकी चेष्टा भी की जाती है एवं उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार साधन करनेका यत्किञ्चित् प्रयत्न भी किया जाता है; किन्तु फिर भी मन स्थिर नहीं होता। अतः इसके निरोधका सुगम उपाय क्या है?'

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिके लिये चित्तका निरोध आवश्यक है। श्रुति, स्मृति तथा शास्त्रोंमें बतलाये हुए साधनोंके अनुसार तत्पर होकर चेष्टा करनेसे इसका निरोध हो सकता है किन्तु असल बात तो यह है कि साधकगण इसके लिये यथेष्ट प्रयत्न तो करते नहीं, केवल सुगम उपाय ही पूछते रहते हैं। इसीलिये अधिक मनुष्योंकी प्रायः यही शिकायत रहती है कि मन स्थिर नहीं होता। शास्त्रकारोंने चित्त-निरोधके अनेक उपाय बतलाये हैं। उनमेंसे किसीके लिये कोई उपाय सुगम पड़ता है और किसीके लिये कोई। स्वभावकी विभिन्नताके कारण महर्षियोंने अधिकारी-भेदसे नानाविध साधनोंका उल्लेख किया है। उनमेंसे मुझे अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो सुगम प्रतीत होता है, वही बतलाया जाता है।

सबसे पहले इस बातको ध्यानमें रखनेकी आवश्यकता है कि मन वशमें हुए बिना उसका निरोध होना कठिन है और पवित्र हुए बिना मनका वशमें होना कठिन है। इसलिये सर्वप्रथम मनको शुद्ध बनाना चाहिये। उसकी शुद्धिके लिये महात्माओंने एवं स्वयं भगवान्‌ने अनेक साधन बतलाये हैं। महर्षि पतञ्जलिने सुखी पुरुषोंसे मित्रता, दुखियोंपर दया, पुण्यात्माओंको देखकर हर्ष और पापियोंके प्रति उदासीनता रखनेको चित्त-शुद्धिका साधन बतलाया है और चित्तके शुद्ध होनेसे ही प्रसन्नता होती है।

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(योग० १।३३)

भगवान् श्रीकृष्णने गीता अध्याय ५ श्लोक ११ में मन-शुद्धिके लिये आसक्तिको त्यागकर कर्म करनेकी आज्ञा दी है। अन्य सभी साधु-महात्माओंने भी लगभग इसी प्रकार कहा है।

इन सबका निचोड़ यही निकलता है कि सब भूतोंके हितमें रत रहकर निरभिमान एवं निःस्वार्थभावसे सबकी आत्माको सुख पहुँचाना ही अन्तःकरण-शुद्धिका उत्तम उपाय है। किन्तु इससे भी बढ़कर एक और उपाय है और वह है हरिके नाम-गुणका कीर्तन।

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
यदृच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥

बिना इच्छाके स्पर्श करनेपर भी जिसप्रकार अग्नि निश्चय ही जला देती है, उसी प्रकार दुष्ट-चित्तवाले मनुष्योंद्वारा भी स्मरण किये हुए हरि पापोंको हर लेते हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९ । ३०-३१)

अर्थात् कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ, निरन्तर मुझे भजता है वह साधु ही माना जानेयोग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।

उपर्युक्त साधनोंसे पापोंका नाश हो जानेपर मन शुद्ध और स्वाधीन हो जाता है। फिर एकाग्र और स्थिर हो जाना तो अत्यन्त ही सहज है। इसप्रकार शुद्ध और स्वाधीन हुआ मन परमानन्दप्राप्तिके योग्य बन जाता है।

प्रथम यह समझ लेनेकी आवश्यकता है कि मनका स्वरूप क्या है? इस सम्बन्धमें शास्त्रकारोंने अनेक बातें बतलायी हैं।

महर्षि पतञ्जलिने भी—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः
(योग० १।६)

अर्थात् प्रमाण, विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), विकल्प (कल्पना), निद्रा और स्मृति चित्त (मन) की ये पाँच वृत्तियाँ बतलायी हैं। इनके निरोधका नाम ही योग है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग० १।२)

किसी महात्माने चित्तकी क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच अवस्थाएँ या भूमियाँ बतलायी हैं और किसीने केवल सङ्कल्पको ही इसका स्वरूप कहा है। अपने-अपने सिद्धान्तोंके अनुसार सभीकी मान्यता ठीक है। अतः साररूपसे यह कहा जा सकता है कि सङ्कल्पोंका आधार अर्थात् संकल्प जिसमें उत्पन्न होते हैं उसका नाम मन है। सङ्कल्पोंका आधार होनेके कारण मन सङ्कल्परूप भी कहा जा सकता है। अब विचारणीय विषय यह है कि सङ्कल्पोंका निरोध किस सहज और सुगम उपायसे हो सकता है। किन्तु इससे भी पूर्व यह जान लेनेकी आवश्यकता है कि सङ्कल्पोंके बार बार उठने तथा साधनके लिये रुचि न होनेमें प्रधान हेतु कौन से हैं? इसके साथ ही साधनकालमें उपस्थित होनेवाले विघ्नोंको भी समझ लेना नितान्त आवश्यक है।

इन विघ्नोंके विषयमें महर्षि पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें इसप्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः। (१।३०-३१)

अर्थात् रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा), आलस्य, वैराग्यका अभाव, भ्रम, चित्तकी चञ्चलता, चित्तका विशेष समयतक स्थिर न रहना—ये नव चित्तके विक्षेप हैं।

दुःख, क्षोभ, अङ्गोंका फड़कना और श्वासोंका आना-जाना—ये सभी उपर्युक्त नव विक्षेपोंके साथ रहनेवाले हैं। अन्य शास्त्रकारोंका भी न्यूनाधिकरूपसे प्रायः यही कहना है। इन सब विघ्नोंमें व्याधि, अकर्मण्यता, प्रमाद, आलस्य, आसक्ति और स्फुरणा—ये छः प्रधान हैं और इनमें भी आलस्य और स्फुरणा विशेष बाधक हैं।

अन्तःकरणमें अनेक सङ्कल्पोंके उत्पन्न होनेमें पूर्वार्जित सञ्चित एवं प्रारब्ध कर्मोंका संस्कार और

विषयोंकी आसक्ति तथा साधनकी ओर रुचि न होनेमें पूर्वकृत पाप-कर्मोंका समुदाय एवं संशय, भ्रम और अश्रद्धा ही प्रधान हेतु हैं।

आसक्तिके नाशके लिये इस संसारके अनित्य, नाशवान् और क्षणभङ्गुर सम्पूर्ण पदार्थों और विषय-भोगोंमें दोष और दुःखोंका बार-बार विचारकर उनमें वैराग्य एवं उनका यथोचित त्याग करना चाहिये।

प्रारब्ध कर्मका क्षय तो प्रायः भोगसे ही होता है और सञ्चित कर्मो एवं सम्पूर्ण पापोंका नाश निष्काम-भावसे दुःखी मनुष्योंकी सेवा तथा ईश्वरके नाम-जप-से होता है।

संशय, भ्रम और अश्रद्धाके नाशके लिये सत्पुरुषों-का सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका विचार ही विशेष लाभप्रद है।

मन-निरोधके विषयमें गीता अ० ६। ३४ में लगभग इसी प्रकारका प्रश्न अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्ण-से किया था। अर्जुनकी शङ्काको स्वीकारकर उन्होंने यही उपदेश दिया कि यद्यपि मन चञ्चल और अस्थिर है तथापि अभ्यास और वैराग्यसे वह स्थिर हो सकता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

हे अर्जुन! निस्सन्देह मन चञ्चल है; पर अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें होता है।

महर्षि पतञ्जलिका भी यही कथन है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।
(योग० १। १२)

अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे उसका निरोध होता है।

सांख्यके रचयिता भगवान् कपिलदेवने भी अभ्यास और वैराग्यको चित्त-निरोधका साधन बतलाया है—*'वैराग्याभ्यासात्'* अन्य सभी शास्त्रकारोंका भी इस विषयमें प्रायः यही सिद्धान्त है। किसी भक्तका कहना है—

मन फुरनासे रहित कर, जौने विधिसे होय।
चहै भक्ति चहै योगसे, चहै ज्ञानसे खोय॥

उपर्युक्त विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि अभ्यास और वैराग्य ही चित्त-निरोधके उत्तम उपाय हैं। इसलिये विषयोंसे वैराग्य करके मनके निरोधार्थ कटिबद्ध होकर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रसङ्ग-पर अभ्यास और वैराग्यका स्वरूप समझ लेनेकी आवश्यकता है। त्रिगुणात्मक संसारके विषय-भोगों और समस्त पदार्थोंमें तृष्णा और आसक्तिके आत्यन्तिक अभावका नाम ही वैराग्य है। इस सम्बन्ध-में अन्य शास्त्रोंकी भी प्रायः यही मान्यता है। अभ्यास एक व्यापक शब्द है। उसकी व्याख्या विस्तृत है किन्तु विस्तार न कर केवल सार बातें ही बतलायी जाती हैं। इस विषयमें महर्षि पतञ्जलिजीका कहना है—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः (योग० १। १३)

अर्थात् परमात्मामें स्थितिके लिये यत्न करनेका नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
(योग० १। १४)

वह अभ्यास निरन्तर दीर्घकालतक आदरपूर्वक किया हुआ दृढभूमि स्थितिवाला होता है। भगवान् श्रीकृष्णका भी प्रायः यही कहना है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६। २६)

अर्थात् स्थिर न रहनेवाला यह चञ्चल मन जिस-

जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है उस-उससे रोककर बार-बार परमात्मामें ही निरोध करे। समस्त विघ्नोंके नाश एवं मनकी स्थिरताके लिये सबसे उत्तम और सहज उपाय ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन ही है। महर्षि पतञ्जलिका भी यही कथन है—

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (योग० १।२३)

ईश्वरकी भक्तिसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है।

तस्य वाचकः प्रणवः।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥

(योग० १।२७, २८, २९)

अर्थात् उस ईश्वरका नाम ॐकार है। उस ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये। फिर उससे समस्त विघ्नोंका अभाव और आत्माका साक्षात्कार भी हो जाता है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(गीता ८।१४)

अर्थात् हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मुझे स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ। इसलिये ईश्वरके नामका जप और स्वरूपका चिन्तन निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर करना चाहिये।

अभ्यासके विषयमें और भी अनेक युक्तियाँ शास्त्रोंमें मिलती हैं। उनमेंसे किसी एकके अनुसार साधन करनेपर मन स्थिर होना सम्भव है। उनमेंसे कतिपय प्रधान युक्तियाँ आगे लिखी जाती हैं। (क्रमशः)

नँदलाल सुनिसिदिन गाइये

कलह कलपना काम कलेस निवारनो।
परनिन्दा परद्रोह न कबहुँ विचारनो॥
जगप्रपंच चटसाल न चित्त चढ़ाइये।
ब्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइये॥
अन्तर कुटिल कठोर भरे अभिमानसों।
तिनके घर नहिं रहैं सन्त सनमानसों॥
उनकी संगति भूलि न कबहुँ जाइये।
ब्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइये॥
कहूँ न कबहूँ चैन जगत दुखकूप है।
हरि-भगतनको संग सदा सुखरूप है॥
इनके ढिग आनन्दित समै बिताइये।
ब्रजनागर नँदलाल सुनिसिदिन गाइये॥

—नागरीदासजी

तन्त्र-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

तन्त्र किसे कहते हैं ?

तन्त्र एक प्रकारकी कला है जिसके द्वारा एक ऐसा दृश्य उपस्थित किया जाता है जिसका कारण आसानीसे समझमें नहीं आता और जिसे देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित हो जाता है। वह मनुष्य जो इसप्रकारकी कलामें प्रवीण हो जाता है, समाजमें आदर और सम्मानकी दृष्टिसे देखा जाता है। लोग उसे प्रकृतिकी अव्यक्त शक्तियोंका अधिकारी अथवा आध्यात्मिक पुरुष समझकर उसकी प्रतिष्ठा करते हैं।

मुझे सन्देह होता है कि अंग्रेजीका Magic शब्द जो तन्त्रका पर्याय है संस्कृतके मह् धातुसे ही निकला है, जिसका अर्थ होता है प्रतिष्ठा और महानता। और मेरे इस विचारकी सत्यता और भी दृढ़ हो जाती है जब मैं Magic शब्दकी व्युत्पत्तिको अंग्रेजी-डिक्शनरियोंमें इसप्रकार देखता हूँ—Magic—L. magicus, from magia; Gr. mageia, the theology of the magians, magic, magi. Magi शब्दकी व्युत्पत्ति इसप्रकार मिलती है—L. magus, from Gr. magos, a magian, from Per. Mag, a priest, same root as L. magnus, great. प्राचीन कालके पारसियोंमें मैजी (Magi) शब्द पुरोहित वर्णके लोगोंके लिये प्रयुक्त होता था, इसलिये Magi शब्दका अर्थ है प्राच्य देशके महात्मा या पुण्यात्मालोग।

अब यह स्पष्ट हो गया कि तन्त्र एक कला है, जिसके द्वारा अलौकिक और अव्यक्त प्राकृतिक शक्तियोंका निदर्शन किया जाता है। इसप्रकार मेरे इस तन्त्र-सिद्धान्त-सम्बन्धी लघु निबन्धमें इतनी ही बातोंका समावेश होता है—'अव्यक्त शक्तियाँ कौन-सी हैं, उनका फल कैसे उत्पन्न होता है, उनके फलीभूत होनेका सामान्य सिद्धान्त क्या है, वे किस रूपमें फलीभूत होती हैं, उन स्वरूपोंका प्रभाव क्या होता है, विभिन्न प्रकारके यन्त्र, उन यन्त्रों तथा उनके अन्तर्गत रहनेवाले अंकों और अक्षरोंका अर्थ क्या है, एवं उनका उपयोग तथा उनके प्रमाण क्या हैं इत्यादि। तन्त्र-सिद्धान्तके आठ भाग हैं, जिनका आगे वर्णन किया जाता है।

२

अव्यक्त शक्तियाँ कौन-सी हैं और वह किसप्रकार काम करती हैं ?

संसारमें ऐसी नाना प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो प्रतिदिन प्राणियोंके अनुभवमें आती हैं और कुछ इसप्रकारकी भी शक्तियाँ हैं जिनका न तो हमें ज्ञान है और न जिनका अनुभव ही होता है। उष्णता, प्रकाश, ध्वनि और विद्युत् एक रूपमें अनुभूत होते हैं और इनका हमें ज्ञान भी होता है, परन्तु इन्हीं शक्तियोंके कुछ ऐसे भी रूप हैं जिनका हमें अनुभव नहीं होता। बेतारके तारवाले यन्त्रोंमें विद्युत्का प्रवाह, चुम्बककी शक्ति तथा ऐसे ही अन्य रूप हमें अनुभूत नहीं होते।

जीवन एक शक्ति है और प्रकृतिके ऊपर जीवनी-शक्ति किसप्रकार काम कर रही है, अबतक यह बात अज्ञेय ही है, और मैं समझता हूँ यह सदाके लिये अज्ञेय ही रहेगी। इन्हीं गुप्त शक्तियोंको हम अव्यक्त शक्तियोंके नामसे पुकारते हैं। कौन जानता है कि किसप्रकार जीवनी-शक्ति प्रकृतिके ऊपर काम कर रही है ? इसके काम करनेके ढंग असंख्य और अनन्त हैं। अव्यक्त शक्तियोंकी गिनती हो ही नहीं सकती। अव्यक्त शक्तियाँ ब्रह्माण्ड और पिण्ड, जगत् और मनुष्य एवं ईश्वर और जीवमें समान रूपसे व्याप्त हैं।

विशिष्ट क्रियायोगके साधनके द्वारा मनुष्य बहुतेरी अव्यक्त शक्तियोंको प्राप्त कर सकता है और उसके द्वारा वह छोटे रूपमें अपने जीवनमें दैवी शक्तियोंका प्रदर्शन कर सकता है। वह प्रकृतिका प्रभु बन जाता है तथा उसपर अधिकार प्राप्त करता है। फिर किसी प्रकार-की बाधा उसके मार्गमें नहीं आती। वह पास और दूरकी प्रत्येक वस्तुको अपनी इच्छानुसार देख सकता है, सुन सकता है तथा अनुभव कर सकता है। बिना किसी कठिनाईके वह जहाँ चाहे जा सकता है। उसे शारीरिक या मानसिक कोई रोग नहीं होता। अपनी शक्तिके प्रयोग-से वह दूसरोंके रोग और पीड़ाका शमन कर सकता है। वह सदा प्रसन्न रहता है। इसप्रकारकी ईश्वरमें रहनेवाली

अव्यक्त शक्तियोंका प्रमाण सिद्ध योगी अपने उदाहरणके द्वारा दे सकता है।

वह मनुष्य जो ईश्वरके समीप पहुँच जाता है अथवा जो अपनी व्यक्तिगत आत्माको परमात्मामें लीन कर देता है, उसकी आत्मा दिव्य, अव्यक्त शक्तियोंसे प्रकाशित हो जाती है। अव्यक्त शक्तियोंके विषयमें तो इतना कहा जा सकता है, परन्तु यह शक्तियाँ कैसे प्रयुक्त होती हैं? यह प्रश्न आसान नहीं, क्योंकि यदि इन शक्तियोंके प्रयोगोंको स्पष्ट किया जाय तो इनकी अव्यक्तता ही जाती रहती है। तथापि हम कह सकते हैं कि मन, शरीर और आत्माकी शुद्धिके द्वारा अव्यक्त शक्तियाँ जागृत की जाती हैं और तब वे स्वयमेव स्वभावतः उन उपकरणोंको उपस्थित करती हैं जिनके द्वारा उनकी उत्पत्ति या प्राप्ति होती है। यद्यपि यह विषय अज्ञात-सा है, तथापि हम उनके फलीभूत होनेके मुख्य सिद्धान्तोंका निरूपण कर सकते हैं।

अव्यक्त शक्तियोंके फलीभूत होनेके मुख्य सिद्धान्त

अँधेरी रातमें एक बिजलीके प्रकाशको देखो। तुम्हें उसके चारों ओर एक प्रकाशमय वृत्त दिखलायी देगा। जो वस्तु उस वृत्तके अन्दर आयगी वह प्रकाशित हो उठेगी। इसी प्रकारका प्रभाव एक सिद्ध पुरुषका होता है। जिसने प्रकाशको प्राप्त कर लिया है, वही औरोंको प्रकाश प्रदान कर सकता है। जिसने अपनी अव्यक्त शक्तियोंको जागृत किया है, वही दूसरोंके अन्दर भी उन्हें जागृत कर सकता है। यह जागृति ही अव्यक्त शक्तिका फल है।

साधनके स्वरूप

कोई भी शक्ति उसकी किसी विशेष स्वरूपके बिना नहीं अनुभूत हो सकती। एक विशेष स्वरूपके द्वारा एक विशिष्ट शक्तिकी एक विशेष क्रियाका भान होता है। योगी और तान्त्रिक सब प्रकारकी अव्यक्त शक्तियोंके स्वरूपको पाँच भागोंमें विभक्त करते हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश। वह स्वरूप जिसमें हम स्थायित्व और दृढ़ताका अनुभव करते हैं, पार्थिव शक्तिकी क्रियाओंका परिणाम है। अपके द्वारा हम उस स्वरूपको प्राप्त करते हैं जिसमें हमें शान्ति, प्रेम और सौन्दर्यकी प्राप्ति होती है। तेजके द्वारा शरीरमें हमें आकर्षण, प्रकाश और दीप्तिकी प्राप्ति होती है। वायुके द्वारा हमें गति, शक्ति और शुष्कताकी प्राप्ति होती है। सबके प्रति सहानुभूति, सब भूतोंके अन्दर अपनी ही आत्माको देखना उस शक्तिका परिणाम है, जो आकाशके द्वारा प्राप्त होती है।

जहाँ इन शक्तियोंका सामञ्जस्य होता है वहाँ हर्ष, तथा जहाँ इनका संघर्ष होता है वहाँ शोककी प्राप्ति होती है। इन ऊपर कहे हुएमेंसे किसीके द्वारा भी अव्यक्त शक्तियोंकी अथवा आत्माकी अनुभूति होती है। तान्त्रिकोंका सारा प्रयत्न शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा सब प्रकारके अव्यक्त स्वरूपोंका सामञ्जस्य करना होता है।

उन स्वरूपोंका परिणाम

मुख्य संस्कार तेरह हैं, जिनके द्वारा शरीर और मनकी शुद्धि होती है। वह हैं गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, चूडाकर्म, उपनयन, वेदाध्ययन, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ और संन्यास। इनसे मन, शरीर और आत्माकी शुद्धि होती है। विभिन्न तन्त्रोंमें इनकी संख्या विभिन्न ही पायी जाती है।

शुद्ध होकर किसी भी जाति या धर्मका माननेवाला पुरुष या स्त्री इस महान् शक्तिके अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्तिके लिये तान्त्रिक अनुष्ठानका अधिकारी हो सकता है। तन्त्रशास्त्र कहते हैं कि जो मनुष्य इस क्षेत्रमें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें धार्मिक और मन-वचन-कर्मसे सत्यनिष्ठ होना चाहिये। उनका ब्रह्मचारी तथा सब प्राणियोंके प्रति प्रेम होना आवश्यक है। उन्हें मद्य, मांस, मीन, मैथुन और तुच्छ पाशविक वृत्तियोंसे बचना चाहिये। तन्त्र योगशास्त्रकी ही व्याख्या है। योग-साधन करनेवाले यथासमय मानसिक विकारोंपर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु महानिर्वाणतन्त्रमें हमें दो परस्पर-विरोधी स्थल प्राप्त होते हैं। उसके प्रथम और छठे उल्लासमें हमें स्पष्टरूपसे मद्य, मांस और मीनके ग्रहण करनेका आदेश मिलता है। उल्लास १।१७ का अभिप्राय यह है कि योग पञ्च मकारके बिना असम्भव है। इसप्रकार यह निश्चित किया गया है कि जो मनुष्य महानिर्वाणतन्त्रके अनुसार योग-साधन करता है, उसे पाप नहीं लगता और उसे संसारसे मुक्ति मिल जाती है। परन्तु उसी तन्त्रके उल्लास २।१७७, ५१ में हम देखते हैं कि यहाँ

पन्द्रह गुणोंका पुष्पके रूपमें वर्णन किया गया है और उन्हें देवी अथवा शक्तिके शृङ्गारके लिये अर्पण करनेके लिये कहा गया है। इन पुष्पोंमें एक अत्यन्त लुभावना पुष्प है अहिंसा अर्थात् प्राणियोंके प्रति प्रेम। आगे पञ्च मकारोंको भौतिक रूपसे नहीं, बल्कि आध्यात्मिक रूपसे वर्णन किया गया है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसका जो भाग पञ्च मकारोंको भौतिक रूपसे वर्णन करता है वह प्रक्षिप्त है। हमारा यह विचार स्वामी तारानन्द तीर्थके द्वारा संग्रहीत 'तन्त्र-तत्त्व-प्रकाश' पुस्तकके पढ़नेसे और भी दृढ़ हो जाता है। वह भैरव-यामलतन्त्रके अनुसार पञ्च मकारोंकी व्याख्या बड़े ही सुन्दर ढंगसे करते हैं। हम अपनी ओरसे कुछ न जोड़कर उनके ही शब्दोंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

तारारहस्यतन्त्रे तु ताराराधनहेतवे।
दिव्यभावः प्रधानश्च गृहीतो वै क्रियान्वितः ॥ ४३ ॥
वीरभावात्कुलं दिव्यं तस्माद्दिव्यः प्रशस्यते।
अशक्तत्वाद्भवेद्वीरो न पशुस्तु कदाचन ॥ ४४ ॥
संगृहीतमिदं वाक्यं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा।
अतो दिव्येन भावेन तारामाराधयेत्सुधीः ॥ ४५ ॥
तस्मात्तेऽहं प्रवक्ष्यामि दिव्यभावे शृणु प्रिय।
मकाराः पञ्च सम्प्रोक्ताः यथा भैरवयामके ॥ ४६ ॥

ब्रह्मस्थानसरोजयन्त्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा।
सा हाला पिबतामनर्थफलदा[1] श्रीदिव्यभावाश्रिते
यामित्वा मुनयः परार्थसुकुला निर्वाणमुक्तिं गताः ॥४७॥
कामक्रोधसुलोभमोहपशुकांश्छित्त्वा विवेकासिना
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधाः।
ते विज्ञानपरा धरातलसुरास्ते पुण्यवन्तो नराः
नाश्नीयात्पशुमांसमात्मविमतेर्हिंसापरं सज्जनः ॥४८॥

अहंकारो दम्भो मदपिशुनतामत्सरद्विषः
षडेतान्मीनान्वै विषयहरजालेन विधृतान्।
पचन्सद्विद्याग्नौ नियमितकृतिर्धीवरकृतिः
सदा खादेत्सर्वान् न च जलचराणां तु पिशितम् ॥ ४९ ॥

आशातृष्णाजुगुप्साभयविशदघृणामानलज्जाप्रकोपाः
ब्रह्माग्नावष्टमुद्राः परसुकृतिजनः पाच्यमानाः समन्तात्।
नित्यं सम्भक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा ॥५०॥
या नाडी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्ना
सा कान्ताऽऽलिङ्गनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित्।
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम् ॥
इति मे दिव्यभावानां मकाराः पञ्चकाः शुभाः।
कथिताः शङ्करेणापि तारिणीचक्रपूजने ॥ ५२ ॥

दिव्य भावसे सम्बन्ध रखनेवाले पञ्च मकार

तारारहस्यतन्त्रमें ताराकी अर्चाके लिये अर्थात् ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये परम अनुष्ठानके साथ-साथ दिव्यभावका होना आवश्यक माना गया है। भावकी महानतापर यहाँ क्यों जोर दिया गया है? और यह महानता ही क्या वस्तु है? ये प्रश्न यहाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। हम जानते हैं कि तन्त्रमें 'कुल' एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। महानिर्वाणतन्त्रमें 'कुल' शब्दके द्वारा नौ वस्तुओंका बोध होता है, वे हैं—जीव, प्रकृति, दिक्, काल, पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश। वैशेषिकदर्शनमें कुछ अन्तरके साथ इनको द्रव्यके नामसे पुकारा गया है। वहाँ इनका इसप्रकार उल्लेख हुआ है—

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव।
(तर्कसंग्रह)

पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। यह संसार इन्हीं नौ तत्त्वों अर्थात् कुलोंकी सृष्टि है। वस्तुतः यह अखिल जगत् उस महाशक्तिकी छाया है। जब साधक शक्ति और सृष्टिकी एकताका अनुभव करता है, तभी वह कुलाचारमें दीक्षित होता है। एकताकी इस अनुभूतिको दिव्य भावके नामसे पुकारते हैं। इस दिव्य भावकी सहायतासे साधक पशुभावको नष्ट करता है। इसीलिये वह 'वीर' कहलाता है। वीरभावके बिना 'कुल' दिव्य नहीं हो सकता, एकताका दिव्य भाव प्रशंसनीय है। वह पशु जिसने अपने पाश* या बन्धनको नष्ट नहीं किया है, वह शक्तिहीन है और 'वीर' नहीं कहला सकता। इसलिये दिव्य भावसे युक्त साधकके द्वारा ही ताराकी अर्चा होनी चाहिये।

इस दिव्य भावमें पञ्च मकारोंका प्रमुख स्थान है। इन

१ अनर्थफलदा= अयाचितफलदा, बिना माँगे हुए फलको प्रदान करनेवाली।

* घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

अव्यक्त शक्तियोंका प्रमाण सिद्ध योगी अपने उदाहरणके द्वारा दे सकता है।

वह मनुष्य जो ईश्वरके समीप पहुँच जाता है अथवा जो अपनी व्यक्तिगत आत्माको परमात्मामें लीन कर देता है, उसकी आत्मा दिव्य, अव्यक्त शक्तियोंसे प्रकाशित हो जाती है। अव्यक्त शक्तियोंके विषयमें तो इतना कहा जा सकता है, परन्तु यह शक्तियाँ कैसे प्रयुक्त होती हैं? यह प्रश्न आसान नहीं, क्योंकि यदि इन शक्तियोंके प्रयोगोंको स्पष्ट किया जाय तो इनकी अव्यक्तता ही जाती रहती है। तथापि हम कह सकते हैं कि मन, शरीर और आत्माकी शुद्धिके द्वारा अव्यक्त शक्तियाँ जागृत की जाती हैं और तब वे स्वयमेव स्वभावतः उन उपकरणोंको उपस्थित करती हैं जिनके द्वारा उनकी उत्पत्ति या प्राप्ति होती है। यद्यपि यह विषय अगाध-सा है, तथापि हम उनके फलीभूत होनेके मुख्य सिद्धान्तोंका निरूपण कर सकते हैं।

अव्यक्त शक्तियोंके फलीभूत होनेके मुख्य सिद्धान्त

अँधेरी रातमें एक बिजलीके प्रकाशको देखो। तुम्हें उसके चारों ओर एक प्रकाशमय वृत्त दिखलायी देगा। जो वस्तु उस वृत्तके अन्दर आयगी वह प्रकाशित हो उठेगी। इसी प्रकारका प्रभाव एक सिद्ध पुरुषका होता है। जिसने प्रकाशको प्राप्त कर लिया है, वही औरोंको प्रकाश प्रदान कर सकता है। जिसने अपनी अव्यक्त शक्तियोंको जागृत किया है, वही दूसरोंके अन्दर भी उन्हें जागृत कर सकता है। यह जागृति ही अव्यक्त शक्तिका फल है।

साधनके स्वरूप

कोई भी शक्ति उसकी किसी विशेष स्वरूपके बिना नहीं अनुभूत हो सकती। एक विशेष स्वरूपके द्वारा एक विशिष्ट शक्तिकी एक विशेष क्रियाका भान होता है। योगी और तान्त्रिक सब प्रकारकी अव्यक्त शक्तियोंके स्वरूपको पाँच भागोंमें विभक्त करते हैं—पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश। वह स्वरूप जिसमें हम स्थायित्व और दृढ़ताका अनुभव करते हैं, पार्थिव शक्तिकी क्रियाओंका परिणाम है। अपके द्वारा हम उस स्वरूपको प्राप्त करते हैं जिसमें हमें शान्ति, प्रेम और सौन्दर्यकी प्राप्ति होती है। तेजके द्वारा शरीरमें हमें आकर्षण, प्रकाश और दीप्तिकी प्राप्ति होती है। वायुके द्वारा हमें गति, शक्ति और शुष्कताकी प्राप्ति होती है। सबके प्रति सहानुभूति, सब भूतोंके अन्दर अपनी ही आत्माको देखना उस शक्तिका परिणाम है, जो आकाशके द्वारा प्राप्त होती है।

जहाँ इन शक्तियोंका सामञ्जस्य होता है वहाँ हर्ष, तथा जहाँ इनका संघर्ष होता है वहाँ शोककी प्राप्ति होती है। इन ऊपर कहे हुएमेंसे किसीके द्वारा भी अव्यक्त शक्तियोंकी अथवा आत्माकी अनुभूति होती है। तान्त्रिकोंका सारा प्रयत्न शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा सब प्रकारके अव्यक्त स्वरूपोंका सामञ्जस्य करना होता है।

उन स्वरूपोंका परिणाम

मुख्य संस्कार तेरह हैं, जिनके द्वारा शरीर और मनकी शुद्धि होती है। वह हैं गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, चूडाकर्म, उपनयन, वेदाध्ययन, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ और संन्यास। इनसे मन, शरीर और आत्माकी शुद्धि होती है। विभिन्न तन्त्रोंमें इनकी संख्या विभिन्न ही पायी जाती है। '

शुद्ध होकर किसी भी जाति या धर्मका माननेवाला पुरुष या स्त्री उस महान् शक्तिके अव्यक्त स्वरूपकी प्राप्तिके लिये तान्त्रिक अनुष्ठानका अधिकारी हो सकता है। तन्त्रशास्त्र कहते हैं कि जो मनुष्य इस क्षेत्रमें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते हैं, उन्हें धार्मिक और मन-वचन-कर्मसे सत्यनिष्ठ होना चाहिये। उनका ब्रह्मचारी तथा सब प्राणियोंके प्रति प्रेम होना अत्यावश्यक है। उन्हें मद्य, मांस, मीन, मैथुन और तुच्छ पाशविक वृत्तियोंसे बचना चाहिये। तन्त्र योगशास्त्रकी ही व्याख्या है। योग-साधन करनेवाले यथासमय मानसिक विकारोंपर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु महानिर्वाणतन्त्रमें हमें दो परस्पर-विरोधी स्थल प्राप्त होते हैं। उसके प्रथम और छठे उल्लासमें हमें स्पष्टरूपसे मद्य, मांस और मीनके ग्रहण करनेका आदेश मिलता है। उल्लास १।६७ का अभिप्राय यह है कि योग पञ्च मकारके बिना असम्भव है। इसप्रकार यह निश्चित किया गया है कि जो मनुष्य महानिर्वाणतन्त्रके अनुसार योग-साधन करता है, उसे पाप नहीं लगता और उसे संसारसे मुक्ति मिल जाती है। परन्तु उसी तन्त्रके उल्लास २।१४७, ५१ में हम देखते हैं कि यहाँ

पन्द्रह गुणोंका पुष्पके रूपमें वर्णन किया गया है और उन्हें देवी अथवा शक्तिके श्रृङ्गारके लिये अर्पण करनेके लिये कहा गया है। इन पुष्पोंमें एक अत्यन्त लुभावना पुष्प है अहिंसा अर्थात् प्राणियोंके प्रति प्रेम। आगे पञ्च मकारों-को भौतिक रूपसे नहीं, बल्कि आध्यात्मिक रूपसे वर्णन किया गया है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इसका जो भाग पञ्च मकारोंको भौतिक रूपसे वर्णन करता है वह प्रक्षिप्त है। हमारा यह विचार स्वामी तारानन्द तीर्थके द्वारा संग्रहीत 'तन्त्र-तत्त्व-प्रकाश' पुस्तकके पढ़नेसे और भी दृढ़ हो जाता है। वह भैरव-यामलतन्त्रके अनु-सार पञ्च मकारोंकी व्याख्या बड़े ही सुन्दर ढंगसे करते हैं। हम अपनी ओरसे कुछ न जोड़कर उनके ही शब्दोंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

तारारहस्यतन्त्रे तु ताराराधनहेतवे ।
दिव्यभावः प्रधानश्च गृहीतो वै क्रियान्वितः ॥ ४३ ॥
वीरभावात्कुलं दिव्यं तस्माद्दिव्यः प्रशस्यते ।
अशक्तत्वाद्भवेद्वीरो न पशुस्तु कदाचन ॥ ४४ ॥
संगृहीतमिदं वाक्यं ब्रह्मानन्देन भिक्षुणा ।
अतो दिव्येन भावेन तारामाराधयेत्सुधीः ॥ ४५ ॥
तस्मात्तेऽहं प्रवक्ष्यामि दिव्यभावे शृणु प्रिय ।
मकाराः पञ्च सम्प्रोक्ताः यथा भैरवयामले ॥ ४६ ॥

ब्रह्मस्थानसरोजयन्त्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पानयोग्या सुरा ।
सा हाला पिबतामनर्थफलदा[1] श्रीदिव्यभावाश्रिते
यामित्वा मुनयः परार्थसुकुला निर्वाणमुक्तिं गताः ॥४७॥
कामक्रोधसुलोभमोहपशुकाञ्छित्त्वा विवेकासिना
मांसं निर्विषयं परात्मसुखदं खादन्ति तेषां बुधाः ।
ते विज्ञानपरा धरातलसुरास्ते पुण्यवन्तो नराः
नाश्नीयात्पशुमांसमात्मविमतेर्हिंसापरं सज्जनः ॥४८॥
अहंकारो दम्भो मदपिशुनतामत्सरद्विषः
षडेतान्मीनान्वै विषयहरजालेन विधृतान् ।
पचन्सद्विद्याग्नौ नियमितकृतिर्धीवरकृतिः
सदा खादेत्सर्वान् न च जलचराणां तु पिशितम् ॥ ४९ ॥
आशातृष्णाजुगुप्साभयविशदघृणामानलज्जाप्रकोपाः
ब्रह्माग्नावष्टमुद्राः परसुकृतिजनः पाच्यमानाः समन्तात् ।
नित्यं सम्भक्षयेत्तानवहितमनसा दिव्यभावानुरागी
योऽसौ ब्रह्माण्डभाण्डे पशुहतिविमुखो रुद्रतुल्यो महात्मा ॥५०॥
या नाडी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्ना
सा कान्ताऽऽलिङ्गनार्हा न मनुजरमणी सुन्दरी वारयोषित् ।
कुर्याच्चन्द्रार्कयोगे युगपवनगते मैथुनं नैव योनौ
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमयभवने तां परिष्वज्य नित्यम् ॥
इति मे दिव्यभावानां मकाराः पञ्चकाः शुभाः ।
कथिताः शङ्करेणापि तारिणीचक्रपूजने ॥ ५२ ॥

दिव्य भावसे सम्बन्ध रखनेवाले पञ्च मकार

तारारहस्यतन्त्रमें ताराकी अर्चाके लिये अर्थात् ब्रह्मविद्या-की प्राप्तिके लिये परम अनुष्ठानके साथ-साथ दिव्यभावका होना आवश्यक माना गया है। भावकी महानतापर यहाँ क्यों जोर दिया गया है? और यह महानता ही क्या वस्तु है? ये प्रश्न यहाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। हम जानते हैं कि तन्त्रमें 'कुल' एक पारिभाषिक शब्द माना गया है। महानिर्वाण-तन्त्रमें 'कुल' शब्दके द्वारा नौ वस्तुओंका बोध होता है, वे हैं—जीव, प्रकृति, दिक्, काल, पृथिवी, अप, तेज, वायु और आकाश। वैशेषिकदर्शनमें कुछ अन्तरके साथ इनको द्रव्यके नामसे पुकारा गया है। वहाँ इनका इसप्रकार उल्लेख हुआ है—

तत्र द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव ।
(तर्कसंग्रह)

पृथिवी, अप, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। यह संसार इन्हीं नौ तत्त्वों अर्थात् कुलोंकी सृष्टि है। वस्तुतः यह अखिल जगत् उस महाशक्ति-की छाया है। जब साधक शक्ति और सृष्टिकी एकताका अनुभव करता है, तभी वह कुलाचारमें दीक्षित होता है। एकताकी इस अनुभूतिको दिव्य भावके नामसे पुकारते हैं। इस दिव्य भावकी सहायतासे साधक पशुभावको नष्ट करता है। इसीलिये वह 'वीर' कहलाता है। वीरभावके बिना 'कुल' दिव्य नहीं हो सकता, एकताका दिव्य भाव प्रशंसनीय है। वह पशु जिसने अपने पाश[*] या बन्धनको नष्ट नहीं किया है, वह शक्तिहीन है और 'वीर' नहीं कहला सकता। इसलिये दिव्य भावसे युक्त साधकके द्वारा ही ताराकी अर्चा होनी चाहिये।

इस दिव्य भावमें पञ्च मकारोंका प्रमुख स्थान है। इन

1 अनर्थफलदा= अयाचितफलदा, बिना माँगे हुए फलको प्रदान करनेवाली।

* घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी ।
कुलं शीलं तथा जातिरष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

मकारोंमें मद्यका प्रथम स्थान है। यहाँ मद्यका अर्थ मदिरा नहीं है। साधक अपने सहस्रदलकमलचक्रमें शक्तिका ध्यान करता है और वहाँ वह दिव्य भावमें मत्त करनेवाले रसका आस्वादन करता है, जो रस चन्द्रगर्भसे स्रवित होता है।

दूसरा मकार मांस है। साधकके लिये किसी भी प्राणीका मांस भक्षण करना अत्यन्त ही निषिद्ध है। उसे तो अज्ञानावस्थामें भी मांस नहीं खाना चाहिये, क्योंकि मांस जीवित प्राणियोंके मारनेसे प्राप्त होता है। ज्ञानी पुरुष निर्विषयताके मांसका आस्वादन करते हैं जिससे आत्माको परमानन्दकी प्राप्ति होती है। वह मांस काम, क्रोध, लोभ, मोहरूपी पशुओंको विवेकके कृपाणसे मारने-पर प्राप्त होता है।

तीसरा मकार मीन है। इस सम्बन्धमें छः प्रकारके मीनोंका वर्णन मिलता है। वे हैं क्रमशः—मद, वञ्चना, पाखण्ड, दर्पातिरेक, पिशुनता, ईर्ष्या और द्वेष। इन छहों मीनोंको (मछलियोंको) साधक सांसारिक विषयोंसे बचानेवाले जालमें पकड़ता है और इन्हें सत्यज्ञानकी अग्निमें भूनता है। इसप्रकारसे एक प्रवीण मछुएके द्वारा मछलियाँ खायी जाती हैं और वह जलमें रहनेवाले जीवोंके मांससे बचता है।

चतुर्थ मकार मुद्रा है। मुद्राका अर्थ है बन्द करना। मुद्राएँ आठ प्रकारकी हैं, जिन्हें ब्रह्माग्निमें पचाना चाहिये। त्यागी पुरुष इन आठ प्रकारकी मुद्राओंको पकाता है और उन्हें सावधानीके साथ प्रतिदिन खाता है। वह पशुहिंसासे सदा अलग रहता है। यह आठ मुद्राएँ हैं—आशा, कामना, निन्दा, सन्देह, आलस्य, द्वेष, अहङ्कार और लज्जा।

पाँचवाँ मकार मैथुन है। मेरुदण्ड स्नायुसूत्रसे ग्रथित है। मेरुदण्ड ही एक सुन्दर रमणी है। वह आलिङ्गन करनेयोग्य है। जब श्वासप्रश्वास दोनों नासिका-छिद्रोंमें समान होते हैं तभी उस रमणीसे सम्भोग करनेका ठीक समय आता है। यही सम्भोग साधकोंके लिये विहित है और मानवी स्त्रीके साथ सम्भोग करना अत्यन्त निषिद्ध है। इस सम्भोगके पश्चात् साधकको अवर्णनीय आनन्दका अनुभव होता है और वह जगत्में पूज्य बनता है तथा योगियोंकी उच्चतम अवस्थाको पहुँचता है।

इसप्रकार दिव्य भावसे सम्बन्ध रखनेवाले पञ्च मकारों-की व्याख्या की गयी है, यहाँतक कि शङ्करने भी तारिणी अर्थात् ब्रह्मविद्याकी आराधनाके लिये इनका प्रयोग करने- . . . किया है। अब यह स्पष्ट हो गया कि पञ्च मकार शुद्धि तथा योगसिद्धिकी प्राप्तिके लिये प्रमुख साधन हैं।

योग किसे कहते हैं ?

साधक और साध्य वस्तुकी अभेद एकताको योग कहते हैं। एकताकी प्राप्ति अथवा योगकी सिद्धिके लिये साधकको कुछ विशेष अनुष्ठान करना पड़ता है। यह अनुष्ठान बाह्य और आभ्यन्तर शुद्धिके द्वारा दो प्रकारका होता है। बाह्य शुद्धि आभ्यन्तर शुद्धिपर अवलम्बित होती है। अन्तर्शुद्धि मुख्य है और बाह्य शुद्धि गौण। इसलिये यहाँ हम दिव्य शक्तिकी आराधनाके लिये कुछ आन्तरिक लक्षणोंका वर्णन करेंगे। इससे हमारा तन्त्र-सिद्धान्त भी स्पष्टरूपसे समझ-में आ जायगा। दिव्य शक्ति मेरुदण्डसे लेकर मस्तिष्कतक भरी हुई होती है। इसका प्रमुख स्थान मस्तिष्कमें है। वहाँसे ही वह समस्त शरीरका नियन्त्रण करती है। उसका काम तीन भागोंमें बँटा हुआ है—वही शरीरजाल-की रचना करती है, रचना करनेके बाद इसका पालन करती है, तत्पश्चात् यथाकाल और यथावसर उसमें परि-वर्तन करती है। वह एक होते हुए भी कर्मके अनुसार अनेक नामसे पुकारी जाती है। सृजनशक्तिके कारण वह ब्रह्मा कहलाती है, पालनशक्तिके कारण विष्णु और संहार-शक्तिके कारण वह शङ्कर कहलाती है। सृष्टि, पालन और संहारका काम प्रत्येक क्षण शरीरमें होता रहता है। ये क्रियाएँ परस्परापेक्षित हैं, सबकी गति एक साथ होती रहती है। जिनका प्रमुख होता है वह दीख पड़ती हैं और दूसरी अज्ञातावस्थामें पड़ी रहती हैं।

शरीररचनाशास्त्रके अनुसार हम उस दिव्य शक्तिके कामको दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—केन्द्रीय स्नायु-जाल और क्रियात्मक स्नायुजाल। केन्द्रीय स्नायुजालमें शक्ति चेतनावस्थामें रहती है। ज्ञानतन्तुओं और क्रिया-तन्तुओंसे इस जालका निर्माण होता है। ज्ञानतन्तुके द्वारा वह चैतन्य रहती है और क्रियातन्तुके द्वारा अपने सङ्कल्पको क्रियान्वित करती है। उसकी यह क्रिया शिव कहलाती है। वह शिव समस्त घटनाओंको जानता है और इच्छानुसार उनमें परिवर्तन करता है। दूसरा भाग है क्रियात्मक स्नायुजाल। इसके दो भाग हैं—पहला असंवेद-नीय और दूसरा सवेदनीय। क्रियात्मक स्नायुजालमें व्याप्त होकर शक्ति अनिच्छापूर्वक काम करती है। हमारे शरीर-में बहुतसे काम अज्ञातरूपसे ही हो रहे हैं। असंवेदनीय

जालके स्नायु हृदय और उदरगत अँतड़ियोंको संकुचित करते हैं और संवेदनीय जालके स्नायु उन्हें बढ़ाते हैं। असंवेदनीय जालके लिये दूसरा नाम क्रैनिओ-सैक्रल (Cranio-sacral) स्वयंशासित प्रणाली कह सकते हैं क्योंकि इस प्रणालीमें कुछ स्नायु शिरोस्थिके ऊपरी (cranium) भागसे उठते हैं और कुछ उसके निचले भागसे उठते हैं और पीठस्थ अस्थिके प्रथम हृद्ग्रन्थिसे लेकर तीसरी ग्रन्थितक, इस सीमाके भीतर संवेदनीय स्नायु उठते हैं। क्योंकि संवेदनीय प्रणाली असंवेदनीय प्रणालीके मध्यभागसे उठती है, इसलिये असंवेदनीय प्रणालीको विष्णु और संवेदनीय प्रणालीको ब्रह्मा कह सकते हैं। यह नाम उनकी क्रियाओंसे भी सिद्ध हो सकते हैं।

इस विषयमें अनावश्यक विवरण बढ़ाकर हम लेखके कलेवरको बढ़ाना नहीं चाहते। परन्तु इस सम्बन्धमें कुछ और कह देना चाहते हैं, जिससे आगे आनेवाले विषयके समझनेके लिये कुछ आधार मिल जाय। इन स्नायुओंके बहुतेरे शिरोभाग होते हैं। और यह शिरोभाग उन स्नायुरन्ध्रके भाण्डार होते हैं। इन शिरोभागसे जो स्नायु निकलते हैं, वह नाडीजालका निर्माण करते हैं। यह नाडीजाल बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। इन्हें चक्र कहते हैं, क्योंकि शक्ति इनमें घूमती रहती है और इनके द्वारा प्रत्येक इन्द्रियोंका व्यापार करती है। इन इन्द्रियोंके साथ शिरोभाग शक्तिके भाण्डार होते हैं। यदि शिरोभागको हटा दें तो उस इन्द्रियका विकास बन्द हो जायगा, चाहे उसको प्रचुर परिमाणमें रक्त प्राप्त क्यों न होता हो। इसलिये शिरोभाग और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले नाडीजाल शरीरके विकास और क्रियाशील बनानेके लिये बहुत ही उपयोगी हैं।

योगी और तान्त्रिक उस दिव्य शक्तिके ध्यानके द्वारा शिरोभागकी क्रियाको सदा नियमित करनेकी चेष्टा करते हैं। इस छोटेसे लेखमें हम नाडीजालका पूर्ण विवरण नहीं दे सकते। केवल ग्रे महाशय (Grey) के अङ्गशास्त्र (Anatomy) के अनुसार उसका सङ्केतमात्र कर देते हैं और इसके पूर्ण विवरणके लिये पाठकोंको उस पुस्तकका अवलोकन करनेकी प्रार्थना करते हैं। वे नाडीजाल जिनका यहाँ उल्लेख किया गया है गिनतीमें सत्रह हैं, परन्तु योगियोंके कथनानुसार उनमेंसे यह सात प्रधान हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। शक्ति सुषुम्नानाडीमें होकर सञ्चार करती है और महान् सहस्रार-चक्रमें निवास करती है। तान्त्रिक साहित्यमें केवल शक्तिकी आराधनापर ही ज़ोर दिया गया है। शक्तिके काली, दुर्गा, चण्डी, सरस्वती, ब्रह्मविद्या, तारा तथा अन्य अनेक नाम हैं। यह अखिल विश्व उसका अपना स्वरूप है। संसारकी प्रत्येक वस्तु आकृतिविशेषमें किसी गुणको परिलक्षित करती है जिसमें वह वस्तु हमारे सामने दीखती है। प्रत्येक मनुष्य, पशु अथवा प्राणी अपना एक विशेष रूप रखते हैं जिनमें शक्तिका एक गुणविशेष प्रकट होता है। जगत्‌के विकास-प्रवाहमें प्रत्येक वस्तुका एक विशेष नाम और संख्या होती है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक नाम और संख्याका एक रूपविशेष होता है जो प्रकृतिमाता अर्थात् शक्तिके एक गुणविशेषको प्रकट करता है। क्योंकि जगत्‌के समस्त दृश्य कम्पनसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये प्रत्येक नाम, अङ्क और आकृति कम्पनके परिणाम हैं। पतञ्जलिने इस सिद्धान्तका अच्छा निरूपण किया है।*

उन्होंने ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य वही है जैसा वह सङ्कल्प करता है।' आत्मा स्वयमेव मनुष्यके सङ्कल्पके द्वारा प्रकाशित होती है। सङ्कल्प उसकी शक्ति है और वह इसको एक रूपविशेषमें व्यक्त करता है। रूपविशेष मनको एक आकारविशेषमें बदलता है। वह आकारविशेष एक प्रवृत्ति है। वह प्रवृत्ति अपने स्वभावके अनुसार शारीरिक उष्णताको विशेष आघात पहुँचाती है। और वह आघात प्राण या स्नायवीय शक्तिको हृदयमें प्रवृत्त करता है और उस स्नायवीय प्रवृत्तिसे एक विशेष कम्पनात्मक ध्वनि होती है।

इसप्रकार नाम, अङ्क और आकृतिके समस्त दृश्य कम्पनके द्वारा ही प्रकट होते हैं और वह कम्पन वे विशेष भाव हैं जिनका निवास परब्रह्म अथवा दिव्य शक्तिके ज्ञानमें होता है।

नाम, अङ्क और आकृति क्या वस्तुएँ हैं?

योगी या तान्त्रिक एक विशेष दृष्टिकोणसे नाम और

---

* आत्मा बुद्धया समेत्यर्थान्मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयते स्वरम्।
(महाभाष्य)

अङ्कोंको पाँच मूल-तत्त्वोंमें विभाजित करते हैं, जैसा उन्हें विकास क्रमके अनुकूल जान पड़ता है। नाम अक्षरों-से बनते हैं और पाणिनिके अनुयायी वैयाकरणोंके अनुसार अक्षर विभिन्न शक्तिसम्पन्न ध्वनियाँ हैं। सतत पुनरा-वृत्तिके द्वारा अक्षर स्पष्ट कम्पनोंको उत्पन्न करते हैं और अक्षर स्वयमेव कम्पनोंमें उत्पन्न होते हैं। भ्रमर अपने निरन्तरके गुञ्जारके द्वारा तितलीके डिम्भ (अण्डे) को अपनी आकृतिका बना लेता है।

यथा ध्यानस्य संसर्गात्कीटको भ्रमरायते।
तथा समाधियोगेन ब्रह्मीभूतो भवेन्नरः॥
(कर्पूरस्तव श्लो० ८)

उपवीतके समय गुरु मन्त्रशक्तिसे शिष्यको पवित्र करता है, जिसमें मन्त्रगत अक्षरोंके कम्पनकी शक्तिका प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वे अक्षर प्रयोजनविशेषके द्वारा परस्पर संयुक्त होते हैं। मन्त्र देनेके बाद वह शिष्यको अपना स्वरूप बना लेता है और इसके बाद उसे समयानुसार नियमपूर्वक उस मन्त्रके जपका आदेश करता है। एक विशिष्ट तालयुक्त ध्वनिके सतत प्रयोगके द्वारा रोग दूर हो जाते हैं। इस-प्रकार यहाँ मन्त्रके सिद्धान्तका संक्षेपमें वर्णन किया गया। अब मैं इसे विशेष बढ़ाना नहीं चाहता, परन्तु मन्त्रसारके एक कोष्ठकद्वारा यहाँ अक्षरोंका उनके अनुरूप तत्त्वोंके साथ सम्बन्ध दिखलानेकी चेष्टा की जाती है—

अ वात	आ मरुत्	ए चर	क प्राण	च वायु	ट नाद	त रयः	प जवी	य व्यासम्	ष स्पर्शः
इ अग्नि	ई वह्नि	ऐ शुचि	ख तेज	छ प्रभा	ठ दाव	थ शिखी	फ द्युति	र दाह	स प्रासः
उ धरा	ऊ क्ष्मा	ओ क्षोणी	ग ज्या	ज कु	ड गोत्रा	द भूमि	ब रत्ना	ल स्थिरा	ळ इला
ऋ जल	ॠ वारि	औ वनम्	घ वाः	झ कम्	ढ पाथः	ध तोयम्	भ रसम्	व अम्बु	श हुत
ऌ विभु	ॡ स्वम्	अं खम्	ङ द्यौः	ञ रम्भुः	ण व्योम	न शून्यम्	म नभः	श विपत्	ह हंसः

यहाँ एक और मुख्य विषय विचारणीय है। अंक-विज्ञानके प्रायः सभी लेखक नामों और अंकोंका सम्बन्ध ग्रहोंसे मिलाते हैं। उनका विचार है कि समस्त नाम, अंक और आकृति उन कम्पनोंके परिणामसे बनते हैं जो सूर्य, चन्द्र तथा तारोंसे आते हैं। इसप्रकार अक्षरोंका सम्बन्ध उनके अनुरूप ग्रहोंसे स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक अक्षरकी एक विशेष ध्वनि होती है, प्रत्येक ध्वनिका एक विशेष कम्पन होता है और प्रत्येक कम्पनमें एक विशेष नाम और अंक होते हैं। प्रत्येक अक्षरके अपने एक विशेष संख्याके कम्पन होते हैं, यह कम्पन ग्रहोंके प्रकाशके द्वारा आते हैं और वे उन्हें सूर्यसे प्राप्त करते हैं, जो विशेष गुणोंसे पूर्ण होते हैं। उनके सम्पर्कसे प्रकाश कम्पन या ध्वनिको उत्पन्न करता है जिसे हम विभिन्न दृश्यों, स्वरों, अक्षरों, नामों और आकृतियोंमें प्रत्यक्ष करते हैं। ध्वनि और प्रकाश सापेक्ष वस्तुएँ हैं। दीपक रागमें हम जानते हैं कि ध्वनिविशेषके द्वारा प्रकाश उत्पन्न होता है।

ग्रहोंका हमारे ऊपर प्रभाव पड़ता है, इसे इस-प्रकार समझा जा सकता है कि सूर्यमण्डलका अखिल ब्रह्माण्डके साथ वही सम्बन्ध है जो एक परिवारका जगत्के साथ है, उसी प्रकार ग्रहका वही सम्बन्ध सूर्यलोकसे है जो सम्बन्ध एक मनुष्यका उसके कुटुम्बके साथ होता है। जिसप्रकार एक परिवारमें मनुष्य अपने साथ रहनेवाले प्राणियोंसे अच्छे-बुरे नाना प्रकारसे

प्रभावित होता है उसी प्रकार हमारी पृथिवी हमारे साथ-साथ अपने सम्बन्ध रखनेवाले ग्रहों और अन्यान्य तारकोंसे प्रभावित होती है। यह प्रभाव केवल प्रकाशके कम्पनके रूपमें होते हैं। सूर्यमण्डलकी रङ्गभूमिमें ग्रहोंका एक विशेष स्थान होता है और इस विचित्र प्रकृति-नाट्यशाला-के दर्शक—हम लोगोंके ऊपर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है। उनकी प्रत्येक क्रिया हमारे हृदयपटपर तथा पृथिवीके प्रत्येक वस्तुके आकारपर अङ्कित है।

जिसप्रकार पृथिवीपर आकृतियाँ हैं, वैसे ही कल्पनामें भी आकृतियाँ होती हैं। इसप्रकारकी अनेक आकृतियोंका वर्णन तन्त्रशास्त्र तथा अंकशास्त्रमें प्राप्त होता है। क्योंकि ये आकृतियाँ ग्रह-सम्बन्धी बुरे अथवा अच्छे प्रभावोंका निदर्शन करती हैं। इसलिये इन शास्त्रोंका ज्ञाता स्वयमेव अपनी तथा औरोंकी अवस्थाके विषयमें चाहनेपर सूचना दे सकता है। तन्त्र और अङ्क-शास्त्रके ग्रन्थ ऐसी अनेकों आकृतियोंका वर्णन करते हैं, जिन्हें यन्त्र कहते हैं। ये यन्त्र चाहे हुए अच्छे या बुरे परिणामके उत्पन्न करनेकी युक्तियाँ हैं। ये यन्त्र उन अक्षरोंकी सहायतासे जो दिव्य-शक्तिसे प्रभावित होते हैं, साधकके मन या शरीरपर अच्छा या बुरा प्रभाव डाल सकते हैं। यन्त्रोंमें अंकोंका भी प्रयोग किया जाता है क्योंकि उनमें भी विभिन्न प्रकृतिके मनुष्योंके ऊपर विभिन्न प्रकारके प्रभाव डालनेकी शक्ति होती है। वे अक्षर 'बीज' कहलाते हैं अर्थात् वह कारण हैं जिनके द्वारा आचारका बीज बढ़ता है। इसे हम सारांशमें इसप्रकार कह सकते हैं कि यन्त्र तान्त्रिक क्रियाके सम्पादन करनेका एक साधन है, अंक उस क्रियाका मूल्य है जो सम्पादन की जानेवाली है और अक्षर एक सम्भाव्य शक्ति है जिससे जाना जाता है कि वह क्रिया कैसे सम्पादित होती है। हम यहाँ अंकोंका अर्थ अथवा कम्पन-का संक्षिप्त उल्लेख करते हैं *—

* The science of Numerology by walter B. Gibson.

अंक	ग्रह	चिह्न	अर्थ
१	सूर्य	एकता; केन्द्रका चिह्न	सरल और शक्तिमान्, निर्दिष्ट प्रयोजन, दृढ़ कर्म, यश, पराक्रम, आक्रमण, अभिलाषा।
२	चन्द्र	नीति; तुलाका चिह्न	द्वैधी प्रकृति, विरोध, तुलना, विरोध दिखलाना, प्रकाश-अन्धकार, अच्छा-बुरा, उष्ण-शीत, धन-दरिद्रता, जीवन-मृत्यु, न्यायप्रियता।
३	मंगल	चपलता; त्रिकोणका चिह्न	स्वतन्त्रता, शक्तिमान्, बलवान्, निर्भय, योग्यता।
४	बुध	दृढ़ता; वर्गका चिह्न	कार्यका निर्दिष्टक्षेत्र, दृढ़ता, सहनशीलता, नियमनिष्ठता और विचार।
५	बृहस्पति	अनिश्चयता; पञ्चभुजक्षेत्र-का चिह्न	उत्साह और अस्थिरता; अवर्ण्य, साहस, आसानीसे नये मित्र बना लेना।
६	शुक्र	तारतम्य; षट्भुजक्षेत्र-का चिह्न	विश्वासपात्रता, ईमानदारी, प्रसन्नता, सुखवाद, उत्साह-हीनता।
७	शनि	रहस्य; एक प्रकारके तुलाका चिह्न तीन-तीनके दो जोड़ोंका एक केन्द्रीय संयोग	रहस्य, अध्ययन, ज्ञान, प्रोत्साह, ध्यान, सुन्दरता, अप्रसन्नता।
८	राहु	भौतिक उन्नति; अष्ट-भुजक्षेत्र अथवा सम-बहुभुजक्षेत्र-का चिह्न	भौतिक सफलता; महान् व्यावहारिक ज्ञान।
९	केतु	सार्वजनिक प्रभाव; त्रिगुण किये हुए त्रिशूलका चिह्न	पूर्णता; मानसिक और आध्यात्मिक विकास।

ध्वनि और अङ्कोंके नियमके प्रधान सङ्केत

१ नाम	'नाम' उसके अधिकारी (नामी) की क्रियाओं और गुणोंका विभेदक है।
२ अंक और अक्षर	अक्षर अंकोंकी ही प्रतिमा है, क्योंकि दोनों प्रकृतिकी क्रियात्मिका शक्ति और उसके गुणोंके चिह्न हैं। केवल नामके उच्चारणमें ध्वनित होनेवाले अक्षर ही संख्याके द्वारा निर्णीत होते हैं, मूक अक्षर नहीं।
३ सांकेतिक नाम	सांकेतिक नाम, नामके संख्यात्मक परिमाणके सामने उतने महत्त्वपूर्ण नहीं होते, परन्तु उस परिमाणके साथ तारतम्यमें आनेसे उनकी शक्ति द्विगुणित हो जाती है।
४ ध्वनि (ग्रहसम्बन्धी)	ग्रहसम्बन्धी ध्वनियाँ ग्रहोंकी गतिसे उत्पन्न होती हैं। उनकी विभिन्न गति और परिमाणसे ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं, जो अक्षरों और अंकोंके तारतम्यसे मिलकर एक-ताल हो जाती हैं।
५ समय	समय एक नियोजक है जो अंकों, अक्षरों और ध्वनियोंके विभिन्न शक्तियों और प्रभावोंको नियन्त्रित करता है।
६ कारण	प्राकृतिक दृश्य एक जलाशयके समान है, जिससे अंकोंके द्वारा आविद्ध होकर जीवनके कारण प्रवाहित होते हैं। समयके वैज्ञानिक विभाजनके लिये भी इनसे स्वभावतः सहायता मिलती है।

इसके साथ हम इतना और कहेंगे कि पाणिनिने* प्रत्येक अक्षरकी ध्वनिमें स्थान और समयके सम्बन्धको भलीभाँति समझाया है और यह सम्बन्ध तन्त्र-सिद्धान्तके विचारके लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लेखके बहुत बड़ जानेके भयसे हम पाठकोंके विचार करनेके लिये इस विषयको यहाँ ही छोड़कर विश्राम लेते हैं। (क्रमशः)

* वर्णोच्चार-शिक्षा

भगवान् किसपर प्रसन्न रहते हैं ?

जो मनुष्य दूसरोंकी निन्दा, चुगली अथवा मिथ्या-भाषण नहीं करता तथा ऐसा वचन भी नहीं बोलता जिससे दूसरोंको खेद हो, उससे निश्चय ही भगवान् केशव प्रसन्न रहते हैं। हे राजन् ! जो पुरुष दूसरोंकी स्त्री, धन और हिंसामें रुचि नहीं करता उससे सर्वदा ही भगवान् केशव सन्तुष्ट रहते हैं। हे नरेन्द्र ! जो मनुष्य किसी प्राणी अथवा (वृक्षादि) देहधारीको पीड़ित अथवा नष्ट नहीं करता उससे श्रीकेशव सन्तुष्ट रहते हैं। जो पुरुष देवता, ब्राह्मण और गुरुजनोंकी सेवामें सदा तत्पर रहता है, हे नरेश्वर ! उससे गोविन्द सदा प्रसन्न रहते हैं। जो व्यक्ति स्वयं अपने और अपने पुत्रोंके समान ही समस्त प्राणियोंका भी हितचिन्तक होता है वह सुगमतासे ही श्रीहरिको प्रसन्न कर लेता है। हे नृप ! जिसका चित्त रागादि दोषोंसे दूषित नहीं है उस विशुद्ध-चित्त पुरुषसे भगवान् विष्णु सदा सन्तुष्ट रहते हैं।*

(विष्णुपुराण अंश ३, अ० ८। १३-१८)



* श्रीविष्णुपुराणका मूल श्लोक और हिन्दी-अनुवाद-सहित एक सुन्दर संस्करण गीताप्रेसमें छप रहा है। यह उसीके एक अध्यायका कुछ अंश है। —सम्पादक

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

अद्वितीय ब्रह्मके दो रूप

दध्यङ–हे इन्द्र ! श्रुतिमें अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार करनेके लिये ब्रह्मके दो रूप कहे हैं। उन दोनोंमेंसे एक रूप सत्य, स्थितिमान्, मूर्त और मर्त्य—इन चार प्रकारके विशेषणोंसे युक्त है। प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय होनेसे यह रूप सत्य कहलाता है, देशकालादि परिच्छेदवाला होनेसे स्थितिमान् कहलाता है, अवयवोंसे रचा हुआ होनेसे मूर्त कहा जाता है और नाशवान् होनेके कारण मर्त्य कहलाता है। इस प्रथम प्रत्यक्ष सत्य रूपका सार सूर्यमण्डलमें स्थित है, क्योंकि वह सर्व रूपादिका प्रकाशक है और प्रमाणसे सिद्ध है। ब्रह्मका दूसरा रूप त्यत्, गतिमान्, अमूर्त और अमृत—इन चार विशेषणोंसे युक्त है। यह रूप परोक्ष होनेसे शास्त्रके प्रमाणसे जाना जाता है इसलिये त्यत् कहलाता है, सर्वत्र व्यापक होनेसे गतिमान् कहलाता है, दृश्यमान अवयवोंकी रचनासे रहित होनेसे अमूर्त कहलाता है और नाशरहित होनेसे अमृत कहलाता है। सूर्यमण्डलमें स्थित हिरण्यगर्भ त्यत् अर्थके साररूप हैं क्योंकि हिरण्यगर्भके शरीरको आरम्भ करनेके लिये सूक्ष्म भूतोंकी उत्पत्ति है। अध्यात्मरूप संघातमें स्थित ब्रह्मके दो रूप हैं। वे दोनों साररूप हैं। चक्षु सत् पदार्थका साररूप है और दक्षिण नेत्रमें स्थित अभिमानी पुरुष त्यत् शब्दका साररूप है, उन दोनों रूपोंसे भिन्न पञ्चभूत असाररूप हैं। इन पञ्चभूतोंमें पृथिवी, जल और तेज प्रत्यक्ष-ज्ञानके विषय हैं, इसलिये सत् कहलाते हैं। वायु और आकाश परोक्ष-ज्ञानके विषय हैं, इसलिये त्यत् कहलाते हैं। सूर्यमण्डल और पुरुषका दक्षिण नेत्र ये दोनों पृथिवी, जल और तेजरूप हैं इसलिये परस्पर भिन्न नहीं हैं। सूर्यमण्डलमें और दक्षिण नेत्रमें स्थित अमूर्त पुरुष एक ही है, इसीको आत्मा कहते हैं।

इन्द्र–हे भगवन्! यदि स्थूलको पृथिवी, जल और तेजरूप माना जायगा, और सूक्ष्मको वायु तथा आकाशरूप माना जायगा तो स्थूल-सूक्ष्मको शरीररूप मानना नहीं बनेगा क्योंकि श्रुतिमें सब शरीरोंको पञ्चभूतरूप कहा है। इसलिये श्रुतिसे विरोध होगा।

दध्यङ–हे इन्द्र! पञ्चीकरणकी क्रियाकी रीतिसे पृथिवी, जल और तेज–इन तीन स्थूल भूतोंमें आकाश और वायु सूक्ष्मभूतस्थित हैं इसलिये स्थूलकी शरीररूपता बनती है। इसी प्रकार वायु तथा आकाश इन दोनों सूक्ष्म भूतोंमें पृथिवी, जल और तेज ये तीनों सूक्ष्मरूपसे स्थित हैं इसलिये अमूर्त सूक्ष्मकी भी शरीररूपता सम्भव है। पूर्व-पूर्वकी वासनाओंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीरोंमें अनेक प्रकारके रूप होते हैं, उनमेंसे कुछ मैं कहता हूँ, उनको तुम सुनो! जब रजोगुणयुक्त पुरुष स्त्री आदि पदार्थोंको देखता है तब वह पुरुष हल्दीसे रँगे हुए वस्त्रके समान पीले रंगवाला हो जाता है। जब सत्त्वगुणके प्रभावसे पुरुष श्रद्धादि गुणवाला होता है तब वह श्वेत रूपवाला हो जाता है। जब पुरुष रजोगुणके प्रभावसे एकान्त स्थलमें विषयोंका स्मरण करता है तब वह इन्द्रगोप—बीरबहूटीके समान रक्त वर्णवाला हो जाता है। जब सत्त्वगुणके प्रभावसे विद्यावाला होकर भी रजोगुणके कारण ईर्षावाला होता है तब वह दाह और प्रकाश-शक्ति-

वाली अग्निकी ज्वालाके समान रूपवाला हो जाता है। जैसे श्वेत कमल स्वभावसे ही शुद्ध और कोमल होता है इसी प्रकार कभी-कभी सत्त्वगुणके प्रभावसे पुरुष जन्मसे ही शम-दमादि गुणवाला तथा कोमल स्वभाववाला होता है। जब पुरुष शुद्ध स्वभाववाला होता है तो वह बिजलीके समान सर्वप्रकाशक ज्ञानवाला होता है। जैसे हिरण्यगर्भ सर्वपदार्थ-विषयक ज्ञानवाले हैं, इसी प्रकार शुद्ध स्वभाववाला पुरुष सर्वविषयक ज्ञानवाला होता है। सकामी पुरुषको उपासनाके प्रभावसे हिरण्यगर्भके समान सर्वज्ञता प्राप्त होती है किन्तु वह सर्वज्ञता उपासना-रूप मानसिक कर्मसे उत्पन्न हुई होनेसे अनित्य होती है इसलिये मुमुक्षुओंको सर्वज्ञताकी भी इच्छा रखनी उचित नहीं है। भाव यह है कि सर्वपदार्थोंकी कामना आनन्दस्वरूप आत्माके जाननेमें प्रतिबन्धक है। इसलिये मुमुक्षुओंको सब कामनाओंका त्याग ही करना चाहिये। इसप्रकार पुण्य-पापरूप कर्मसे और जन्म-जन्मान्तरकी वासनाओंसे उत्पन्न होनेवाले हजारों सूक्ष्म अमूर्त रूप पुरुषमें हैं, उन सब रूपोंका मैं और श्रुति भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है।

मूर्तादि रूपोंमें अविद्याका कारणपन

हे इन्द्र! तन्तुओंके कार्यरूप पटमें जैसे तन्तु जुड़े रहते हैं इसी प्रकार अविद्यासे उत्पन्न हुए स्थूल-सूक्ष्मरूप प्रपञ्चमें कारणरूप अविद्या संयुक्त रहती है। जैसे पटादि पदार्थ और उनका कारण तन्तु दृश्य होनेसे अनात्मा हैं इसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च और उसका कारण अविद्या दृश्य होनेसे अनात्मरूप है

इन्द्र—हे भगवन्! स्थूल-सूक्ष्मरूप प्रपञ्च तथा उसका कारण माया दृश्य होनेसे आत्मारूप न सही, परन्तु उन दोनोंका अभावरूप निषेध आत्मा-रूप क्यों नहीं हो सकता?

दध्यङ—हे इन्द्र! जैसे प्रपञ्चरूप कार्य तथा अविद्या-रूप कारण आत्मा नहीं हैं, इसी प्रकार उनका अभाव-रूप निषेध भी आत्मारूप नहीं है क्योंकि जैसे सत्ता प्रतियोगीकी है वैसी ही सत्ता उसके अभावकी है। जैसे सीपीमें माना हुआ रूपा कल्पित है, इसी प्रकार कल्पित रूपेका अभाव भी कल्पित है। इसी प्रकार अनात्म-प्रपञ्चका अभाव भी कल्पित होनेसे अनात्मा ही है। अनात्म-प्रपञ्चके निषेधद्वारा मैंने तुमको जिसप्रकार आनन्दस्वरूप आत्माका उपदेश किया है, उससे अधिक कोई भी ब्रह्मवेत्ता गुरु शिष्यको उपदेश नहीं करता। सर्वब्रह्मवेत्ता गुरु सर्व-प्रपञ्चका निषेध करके ही आनन्दस्वरूप आत्माका अपने शिष्योंको उपदेश करते हैं।

इन्द्र—हे भगवन्! प्रपञ्चके निषेध किये बिना विधि-मुख-वाक्योंसे आनन्दस्वरूप आत्माका उपदेश गुरु अपने शिष्योंको क्यों नहीं करते?

दध्यङ—हे इन्द्र! यह आनन्दस्वरूप आत्मा मन-वाणीका विषय नहीं है। इसलिये विधि-मुख-वाक्योंसे आत्माका उपदेश करनेमें कोई समर्थ नहीं है। सर्व-ब्रह्मवेत्ता गुरु अनात्म-प्रपञ्चका निषेध करके ही आत्माका उपदेश कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मका उपदेश दो प्रकारका है—एक विधिमुख-उपदेश और दूसरा निषेध-मुख-उपदेश। अन्तर्यामी, आत्मा, ब्रह्मस्वरूप, सत्यरूप, ज्ञानरूप, आनन्दरूप तथा परिपूर्णरूप है। यह विधि-मुख-उपदेश है। और आनन्दस्वरूप आत्मा कार्यरूप नहीं है, कारण-रूप नहीं है, स्थूल नहीं है, सूक्ष्म नहीं है, यह निषेध-मुख-उपदेश कहलाता है। इन दोनोंमें निषेध-मुख-उपदेश श्रेष्ठ है, यही बात अब स्पष्ट करके समझाता हूँ, ध्यान देकर सुन—

निषेध-मुखकी श्रेष्ठता

हे इन्द्र! 'तुम ब्रह्मरूप हो' और 'मैं ब्रह्मरूप हूँ' इसप्रकारके विधि-मुख-वाक्य कहनेसे विधि-ज्ञान उत्पन्न होता है। ऐसे ज्ञानसे मन तथा वाणीके अविषय आत्मामें विधि-मुख-वाक्योंसे बोध नहीं हो सकता। और 'तत्त्वमसि' तू ब्रह्म है, इसप्रकार विधि-

मुखसे किये हुए उपदेशमें तत्पदके अर्थका और त्वं-पदके अर्थका भेद प्रतीत होता है, इसलिये विधि-मुख-वाक्यसे बोध होना असम्भव है क्योंकि तत्पदार्थके अर्थरूप मायाविशिष्ट ईश्वरमें सर्वज्ञपना और परोक्षपना है, और त्वं-पदके अर्थरूप अविद्यावाले जीवमें अल्पज्ञपना, अपरोक्षपना और दुःखीपना है। इसलिये निषेधी धर्मवाले तत् और त्वं-पदार्थका परस्पर अभेद नहीं हो सकता किन्तु जैसे अग्नि और बर्फ परस्पर विरुद्ध धर्मवाले हैं इसलिये उनका परस्पर भेद है, इसी प्रकार तत् और त्वं-पदार्थ परस्पर-विरुद्ध धर्मवाले हैं इसलिये उनमें भेद है। इस शंका-के निवारण करनेके लिये तत् और त्वं-पदार्थका अभेद सिद्ध करनेको तत् और त्वं—इन दोनों पदोंमें भागत्यागलक्षणा माननी पड़ेगी। जहाँ पदके वाच्य अर्थके एक देशका त्याग करके एक देशका ग्रहण किया जाय, वह भागत्यागलक्षणा कहलाती है। तत्पदके वाच्य अर्थ ईश्वरमें दो भाग हैं, एक चैतन्य, दूसरा माया और मायासे किया हुआ सर्वज्ञत्वादि भाग। इन दोनोंमेंसे माया और सर्वज्ञत्वादि धर्मरूप दूसरे भागका त्याग करनेसे प्रथम चैतन्य-भागमें लक्षणा करनी पड़ती है, इसी प्रकार त्वं-पदके वाच्य अर्थ जीवके दो भाग हैं। एक चैतन्य और दूसरा अविद्या। अविद्याके किये हुए अल्पज्ञत्वादि धर्म उनमेंसे अविद्या और अल्प-ज्ञत्व आदि धर्मरूप दूसरे भागका त्याग करके प्रथम भागमें त्वं-पदकी लक्षणा करनी पड़ती है। इसप्रकार लक्षणासे दोनों चैतन्यका परस्पर अभेद हो सकता है। यों लक्षणावृत्ति माननेसे विधि-मुख-उपदेश होता है और यह उपदेश केवल क्लेशका कारण है, इसके सिवा विधि-मुखसे आत्माका उपदेश करने-में अनुमान-प्रमाणकी अपेक्षा होती है, यह और भी दूषण है, क्योंकि सच्चिदानन्दरूप जो त्वं-पदका अर्थ है, उस अर्थका जैसे अधिकारी पुरुषके स्वरूपमें भेद नहीं है, इसी प्रकार सर्वजीवोंके आत्मामें और तत्पदार्थमें भी उसका भेद नहीं है। इस-प्रकारका अर्थ सिद्ध करनेमें अनुमान-प्रमाणकी जरूरत पड़ती है। त्वं-पदका अर्थरूप जीव परमात्मासे भिन्न नहीं है, क्योंकि वह अधिकारी पुरुषके आत्माके समान सत्, चित् और आनन्दस्वरूप है। इसप्रकारके विधि-मुख-उपदेशको अनुमान-प्रमाणकी अपेक्षा है इसलिये वह युक्त नहीं है। विधि-मुख-उपदेशमें तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थके शोधन बिना उन दोनोंका परस्पर अभेद नहीं हो सकता, इसलिये तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थका शोधन अवश्य करना पड़ता है। देहादि जड पदार्थोंकी व्यावृत्ति —बाध किये बिना तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थका शोधन नहीं होता इसलिये देहादि जड पदार्थोंकी व्यावृत्तिके लिये अनेक प्रकारके अनुमानोंकी जरूरत पड़ती है। इस कारणसे भी विधि-मुख-उपदेश कनिष्ठ है। इसके सिवा विधि-मुख-उपदेशमें जो-जो अनुमान लगाने पड़ते हैं, वे अनुमान भी स्वतन्त्र रीतिसे किसी अर्थकी सिद्धि नहीं करते किन्तु अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा रखते हैं। जो अनुमान-प्रमाण अन्य प्रमाणकी अपेक्षा न रखता हो, वह अनुमान-प्रमाण ही नहीं है क्योंकि अनुमानका अर्थ पीछे होने-वाला प्रमाण है। जीव सच्चिदानन्दरूप होनेसे अधिकारी पुरुषके आत्माके समान ब्रह्मसे अभिन्न है, इसप्रकार जीव और ब्रह्मका अभेद करनेवाला एक अनुमान है। और देहादि घटादिके समान जड, दृश्य और परिच्छिन्न होनेसे अनात्मा हैं, यह दूसरा अनुमान है। इन दोनों अनुमानोंका कोई मूलरूप प्रमाण कहना चाहिये कि जिस मूलरूप प्रमाणकी सहायतासे विधि-मुख-उपदेशमें अनुमान सहायक हो। उन दोनों अनुमानोंका प्रत्यक्ष-प्रमाण मूल नहीं है क्योंकि हम अपने घरमें प्रत्यक्ष-प्रमाणसे देखते हैं कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है। इस प्रत्यक्ष-प्रमाण-के पीछे पर्वतपर धूम होनेके कारण अग्नि है, ऐसा अनुमान होता है, इसमें प्रत्यक्ष-प्रमाण पर्वतमें

अग्निके अनुमानका मूलरूप है इसलिये इस अनुमानमें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी अपेक्षा है। इसी प्रकार प्रसंगमें देहादिमें अनात्मता सिद्ध करनेके लिये अन्य प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत है। यहाँ तो प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमानका मूल हो ही नहीं सकता, क्योंकि यद्यपि घटादिमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जडत्व सिद्ध होता है तो भी घटादिमें अनात्मता प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आत्माके भेदका नाम अनात्मता है और यह आत्माका भेद अन्योन्याभावरूप है। प्रतियोगीके ज्ञान बिना अभावका ज्ञान नहीं होता इसलिये प्रतियोगीरूप आत्माके प्रत्यक्ष बिना उसके भेदका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। इसलिये पूर्वोक्त अनुमानका प्रत्यक्ष-प्रमाण मूल नहीं हो सकता। जडत्वरूपसे देहादिमें अनात्मता सिद्ध करनेके लिये घट एक दृष्टान्त है किन्तु घटादिमें प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जो अनात्मता सिद्ध होती है, वह घटादिसे भिन्न देहादिमें सिद्ध नहीं होती। जैसे घटको विषय करनेवाला 'यह घ है' इसप्रकारका ज्ञान घटमें स्तम्भपनेके धर्मका विषय नहीं करता तो भी यह स्तम्भपनेका धर्म स्तम्भमेंसे निवृत्त नहीं करता। किन्तु स्तम्भमें स्तम्भपना है ही, इसी प्रकार घटादिमें आत्माका धर्म चाहे न हो तो भी 'आत्माका धर्म देहादिमें है' ऐसे विपरीत अर्थको माननेमें कोई भी बाधक तर्क नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! आत्मा चैतन्य होता है, यदि देह आत्मा हो तो देहमें जडता नहीं होनी चाहिये और देहमें जडता प्रत्यक्ष दिखायी देती है इसलिये देह आत्मा नहीं है, यह तर्क देहके आत्मापनेका बाध करनेवाला है।

दध्यङ—हे इन्द्र! चार्वाक जो आत्माका वास्तविक धर्म देहका ही स्वभाव मानते हैं, उनके सामने तुम्हारा यह तर्क चल नहीं सकता क्योंकि जैसे घटादिमें रहनेवाला प्रत्यक्ष धर्म जडत्व घटादिके स्वभावको नाश नहीं कर सकता, इसी प्रकार देहमें रहनेवाले जडत्व और दृश्य आदि धर्म भी देहके आत्मपनेके स्वभावको नाश नहीं कर सकते, नैयायिकोंके मतानुसार सत्ता नामकी जाति द्रव्य, गुण तथा कर्म, इन तीनों पदार्थोंमें रहती है तो भी वह सत्ता द्रव्यादिके स्वभावका नाश नहीं करती। इसी प्रकार जडत्व तथा दृश्यादि धर्म आत्मा और अनात्मा दोनोंमें रहते हैं, किन्तु वे आत्मा और अनात्माके स्वभावको अन्यथा नहीं करते। इसप्रकारसे माननेमें देहात्मवादी चार्वाकके मतका बाधक कोई भी तर्क नहीं है कि जिस बाध करनेवाले तर्कके भयसे जडत्व, दृश्यत्व आदि धर्म आत्मामें अंगीकार न किये जायँ।

तात्पर्य यह है कि जहाँ धूमरूप हेतुसे अग्निका अनुमान होता है, वहाँ धूमरूप हेतु कार्यरूप है और अग्नि धूमका कारण है। यदि अग्नि बिना धूमकी स्थिति मानी जाय तो धूम और अग्निका कार्य-कारण-भाव ही न रहे। इसप्रकारका तर्क इसमें बाध करनेवाला है। और प्रसङ्गमें अनात्मता सिद्ध किये बिना जडत्वादि धर्म माने जायँ तो उसमें बाध नहीं है क्योंकि यदि जडत्व-धर्म अनात्म-धर्मका कारण हो तब तो अनात्म-धर्म सिद्ध किये बिना जडत्व आदि धर्म न रहें, परन्तु जडत्व-धर्म अनात्मताके कारण नहीं हैं। इसलिये जडत्व-धर्म बिना भी अनात्मता रह सकती है अतएव आत्मामें जडत्वादि-धर्म माननेमें देहात्मवादीको किसी प्रकारकी रोक नहीं है। आत्मा तो सर्वत्र चैतन्यरूपसे अनुभवमें आता है इसलिये जड देहको आत्मा मानें तो इसमें विरोध क्यों न आवे? इस शङ्काका समाधान चार्वाक इसप्रकार करता है कि आत्माके चैतन्यरूप अनुभव करनेमें नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ साधनरूप हैं अथवा मन साधनरूप है? यदि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ अन्दरके आत्माका विषय करती हों तो वे बाह्य ही न कहलायें इसलिये नेत्रादि आत्माके अनुभवमें साधन नहीं हैं, आत्मा-

को मन चैतन्यरूपसे ग्रहण करता है, यह मानना भी युक्त नहीं है क्योंकि आत्माका जडत्व आदि धर्मोंसे विरोध है इसलिये मन आत्माको चैतन्यरूपसे ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु 'मैं हूँ' ऐसी आत्माकी सत्तामात्रको ही मन ग्रहण करता है इसलिये आत्मामें जडत्व आदि धर्मोंका निवारण नहीं हो सकता।

इन्द्र–हे भगवन् ! यद्यपि 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान चैतन्यरूपसे आत्माको विषय नहीं करता तो भी 'मैं जानता हूँ' ऐसा ज्ञान आत्माका चैतन्यरूपसे अनुभव क्यों नहीं करता ?

दध्यङ–हे इन्द्र ! जैसे ताम्बूल चबानेसे पुरुषके मुखमें लाली उत्पन्न होती है इसी प्रकार मनके योगसे आत्मामें उत्पन्न होनेवाले चैतन्यपनेको 'मैं जानता हूँ' ऐसा अनुभव विषय करता है; शुद्ध आत्माकी चैतन्यताका अनुभव विषय नहीं करता इसलिये आत्माके जडत्व आदि धर्मके विरोधी चैतन्यको कोई प्रत्यक्ष-प्रमाण विषय नहीं करता। जब आत्माके चैतन्यपनेमें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं है तो नित्य तथा परोक्ष ऐसे आत्माके धर्ममें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी प्रवृत्ति किसप्रकार हो ? प्रत्यक्ष प्रमाणका अभाव होनेसे आत्माके निर्णयमें अनुमानकी भी प्रवृत्ति नहीं होती। श्रुति-प्रमाण ही प्रत्यक्षरूपसे मानना पड़ता है। श्रुति कहती है 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, आनन्दो ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्त तथा आनन्दस्वरूप है। इसप्रकारके श्रुतिके मूल-प्रमाणको माननेसे विधि-मुखमें अनुमान सहायता करता है परन्तु जिस श्रुति-प्रमाणमें अनुमान विधि-मुख-उपदेशका सहायक है, वह श्रुति-वाक्य भी निषेध-मुखसे प्रथम उसका बोध कराता है क्योंकि सत्यादि पदोंकी शक्ति-वृत्तिसे शुद्ध ब्रह्ममें प्रवृत्ति किसी विद्वान्‌ने नहीं मानी है किन्तु भागत्याग-लक्षणासे सत्यादि शब्द ब्रह्मको बतलाते हैं। सत्य शब्द असत्यकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मको जताता है, ज्ञान-शब्द अज्ञानकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मका बोधन करता है, अनन्त शब्द देश, काल तथा वस्तुके परिच्छेदद्वारा ब्रह्मका लक्ष्य कराता है और आनन्द-शब्द दुःखकी व्यावृत्ति करके ब्रह्मको बताता है। इसप्रकार सर्वसत्यादि शब्द असत्यादि धर्मके निषेधद्वारा शुद्ध ब्रह्मको समझाते हैं इसलिये सब श्रुति-वाक्य निषेध-मुख-उपदेशसे ब्रह्मका बोधन करते हैं। श्रुति-वाक्य निषेध-मुखसे ब्रह्मको क्यों जतलाते हैं ? इस शङ्काके समाधानमें कहा है कि अद्वितीय ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे रहित अपनी महिमामें स्थित है। ऐसे निर्गुण ब्रह्मको यदि किसी गुणविशिष्टरूपसे बताया जायगा तो श्रुति-वाक्यमें अप्रमाणता-दोषकी प्राप्ति होगी। जैसे सर्पत्व-धर्मसे रहित रज्जुको कोई सर्प नहीं मानता, इसी प्रकार सर्वधर्मसे रहित निर्गुण ब्रह्मको गुणवाला जतानेवाला विधि-वाक्य अप्रमाण-रूप है। अप्रमाणताका दोष निवारण करनेके लिये सर्वसत्यादि वाक्य निर्गुण ब्रह्मका निषेध-मुखसे बोध कराते हैं। लोकप्रसिद्ध वस्तुको ही शास्त्र जनावे, ऐसा नियम सर्वत्र नहीं है। जैसे यूप-शब्दका अर्थ लोकमें प्रसिद्ध नहीं है तो भी 'यूपं तक्षति' ऐसे वेद-वचनमें यूप-शब्द संस्कारविशिष्ट काष्ठविशेष यूप-शब्दका अर्थ प्रतीत होता है, इसी प्रकार लोकमें अद्वितीय ब्रह्म प्रसिद्ध नहीं है तो भी 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वेद-वचनोंपर विश्वास करनेसे बुद्धिमान् पुरुष ब्रह्मका साक्षात्कार करता है।

विधि तथा निषेध-मुखका वर्णन

आनन्दस्वरूप आत्माके बोध करानेको विधि तथा निषेध-मुख दो प्रकार वचनोंकी प्रवृत्ति है। जैसे 'मेरी गाय कहाँ है ?' इसप्रकार पूछनेपर ग्वाला गायकी टोलीमेंसे गायका सींग पकड़कर बता देता है, इसप्रकार आत्मा बताया नहीं जाता। विधि-वाक्यसे आनन्दस्वरूप आत्माको कोई जान नहीं सकता, क्योंकि आत्मा मन तथा वाणीका अविषय है, इस-

लिये 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि विधि-वाक्य भी असत्यादिकी व्यावृत्तिद्वारा शुद्ध आत्मामें प्रवृत्त होते हैं। भ्रान्त पुरुषके लक्ष्यरूप माने हुए अनेक पदार्थोंके निषेधद्वारा जो वाक्य सच्चे लक्ष्य-पदार्थका बोधन करे, वह निषेध-मुख-वाक्य कहलाता है। जैसे कि रथ-अश्वादिसे युक्त राजाको न पहचानकर कोई मूढ़ बालक पूछे कि इनमें राजा कौन है तो उसका पिता इसप्रकार कहता है—हे पुत्र! यह वृक्ष जो तू देखता है वह राजा नहीं है, यह अश्व भी राजा नहीं है, यह हाथी, रथ, पैदल आयुध धारण करनेवाले पुरुष, छत्र-चामर धारण करनेवाले पुरुष, काले, पीले, रक्त, विचित्र वस्त्र पहननेवाले और धनुष धारण करनेवाले पुरुष भी राजा नहीं हैं इत्यादि वचनोंसे पिता राजासे भिन्न सर्वपदार्थोंका निषेध करता है और कहता है कि इन सब निषेध किये हुए पदार्थोंसे परिशेष रहे हुए विलक्षण रूपवाले पुरुषको तू राजा जान। इसी प्रकार निषेध-मुख-वाक्य आत्माके सिवा अन्य सब स्थूल पदार्थोंका निषेध करते हैं और सूक्ष्म प्रपञ्चका निषेध करते हैं। निषेध करनेके बाद अधिकारी पुरुष सर्वप्रपञ्चसे विलक्षणरूप आत्माको जानता है। यह निषेध-मुख-उपदेश ही आत्माका बोध करानेमें श्रेष्ठ उपाय है। यदि निषेध-मुख-उपदेश न अङ्गीकार किया जाय तो भाव तथा अभावसे रहित निर्गुण परमात्माका बोध नहीं हो सकता। निषेध-मुख-उपदेशके सिवा निर्गुण परमात्माका बोध करानेमें कोई भी वाक्य समर्थ नहीं है। महावाक्यका लक्ष्यरूप अद्वितीय आत्मा मन, वाणीका विषय नहीं है। जाति, गुण तथा क्रियादिसे रहित है, शब्दकी प्रवृत्ति उसमें नहीं होती। इस कारण श्रुति-वाक्य भी आत्माका साक्षात् उपदेश नहीं कर सकते। ऐसे अद्वितीय आत्माको कौन पुरुष मनसे विषय कर सकता है? कोई भी पुरुष मनसे आत्माको जाननेमें समर्थ नहीं है। जब निषेध-मुख अद्वितीय आत्माका बोध करानेके लिये स्थूल, सूक्ष्म सर्वप्रपञ्चका निषेध करते हैं तब आनन्दस्वरूप आत्मा अपने-आप ही अधिकारीके हृदयमें प्रकाशता है। जैसे दीपक आँखोंसे दीखनेवाले अन्धकारका ही नाश करता है और अन्धकार नाश होनेके बाद नेत्रवाला पुरुष स्वयं घटादि पदार्थोंको देखता है, इसी प्रकार भावाभाव-रूप स्थूल-सूक्ष्मरूप तथा कार्य-कारणरूप यह जगत् आत्मा नहीं है। इसप्रकारके निषेध-वाक्यसे अधिकारी स्वयं ही आत्माका साक्षात्कार करता है अद्वितीय आत्माके बोधके लिये निषेध-मुख ही श्रेष्ठ है क्योंकि जैसे विधि-मुख-उपदेशमें तत्त्व-पदार्थोंके शोधनके लिये अनुमानकी आवश्यकता है, इसप्रकार निषेध-मुख-उपदेशमें किसी अनुमानकी आवश्यकता नहीं है।

इन्द्र—हे भगवन्! 'नेति-नेति' यह श्रुति मूर्त और अमूर्त प्रपञ्चका निषेध करती है, किन्तु प्रपञ्चसे भिन्न जड पदार्थोंका निषेध नहीं करती, इसलिये जड पदार्थ और आत्माका तादात्म्याध्यास होनेसे अधिकारीको शुद्ध आत्माका भान किसप्रकार होगा?

ब्रह्म—हे इन्द्र! कारण-अज्ञानवाला मूर्त तथा अमूर्त प्रपञ्च जड है, इसके सिवा अन्य कोई पदार्थ जड प्रपञ्च नहीं है इसलिये उस जड प्रपञ्चका निषेध करनेसे आत्मसाक्षात्कार होता है। इसी लिये 'नेति-नेति' यह श्रुति अद्वितीय आत्माके सिवा सब जड पदार्थोंका निषेध करती है। प्रथम नकारसे कार्य-कारणरूप स्थूल-सूक्ष्म सर्व-भाव-प्रपञ्चका निषेध होता है और दूसरे नकारसे भाव-प्रपञ्चके अभावका निषेध होता है। जब भावा-भावरूप जड प्रपञ्च आनन्दस्वरूप आत्मासे भिन्न हो जाता है तब स्वप्रकाश बच रहता है। जैसे अग्निके विशेष भावका कारण काष्ठ जब अग्निसे जल जाता है तब काष्ठरहित अग्नि विशेषरूपको त्यागकर अपने सामान्य स्वरूपमें स्थित हो जाता है, इसी प्रकार जब आत्माके विशेषरूप कारण-

भाव और अभावरूप जड प्रपञ्चका नाश हो जाता है तब आनन्दस्वरूप आत्मा उपाधिकृत विशेपरूपको त्यागकर अपने सामान्य सच्चिदानन्द स्वरूपमें स्थित होता है। 'यह मैं', 'यह तू', 'यह दृश्य प्रपञ्च', 'यह जीव' यह सब भेद जो मूर्त-अमूर्त उपाधिके भेदसे हैं, वह आनन्दस्वरूप आत्मामें नहीं बनते। जैसे भेदसे रहित आकाशमें धूम, विद्युत्, तथा मेघ नाना प्रकारके भेद उत्पन्न करते हैं, इसी प्रकार भेदरहित आत्मामें स्थूल-सूक्ष्म शरीर नाना प्रकारके भेद उत्पन्न करते हैं। आकाशमें भेद दिखलानेवाले कारण मेघादि हैं परन्तु भेदका उपादान-कारण आकाश नहीं है, परन्तु आत्मामें भेद दिखलानेवाले स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चका कारण आत्मा ही है।

इन्द्र–हे भगवन् ! असङ्ग आत्मामें जगत्का कारणत्व सम्भव नहीं है।

दध्यङ–हे इन्द्र ! असङ्ग आत्मामें जगत्की कारणता सम्भव नहीं है, यह बात सत्य है। असङ्ग आत्मामें जगत्की कारणता हम नहीं मानते किन्तु मायाविशिष्ट परमात्मामें जगत्की कारणता मानते हैं इसलिये स्थूल-सूक्ष्मरूप सर्वप्रपञ्च परमेश्वरकी मायासे कल्पित है और कल्पित होनेसे मिथ्या है।

इन्द्र–हे भगवन् ! मायासे सब जगत्की रचना है, माया तो मायाकी रची हुई है नहीं, इसलिये माया सत्य होनी चाहिये। यदि एक माया दूसरी मायासे रची हुई हो तो दूसरी तीसरीसे रची हुई हो, इसप्रकार अनवस्था-दोष आता है। वेदान्तमें मायाको अनादि माना है इसलिये मायामें मायाका कार्यपना सम्भव नहीं है।

दध्यङ–हे इन्द्र ! जो मायाका कार्य होता है, वह मिथ्या होता है। मिथ्या प्रपञ्चका जो लक्षण कहा है, वह लक्षण केवल कार्य-प्रपञ्चका नहीं है किन्तु वह मिथ्यारूप लक्षण कारणरूप मायाका भी है। कार्य-प्रपञ्चके समान माया भी मिथ्या है इसलिये अधिष्ठान-चैतन्यमें जो माया रहती है, वह भी मिथ्या है। मिथ्यापनेका लक्षण माया और मायाके कार्य दोनोंमें है क्योंकि जैसे स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च अधिष्ठान-चैतन्यमें रहता है इसप्रकार माया भी रहती है इसलिये दोनों मिथ्या हैं। जादूगरकी फैलायी हुई माया और मायासे उत्पन्न हुए पदार्थ जैसे मिथ्या हैं इसी प्रकार माया और मायासे रचा हुआ सर्व-प्रपञ्च मिथ्या है। जैसे मायावी जादूगरके रचे हुए स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ सब लोगोंको दीखते हैं, इसी प्रकार मायावी इन्द्रका रचा हुआ मायिक प्रपञ्च सब जीवोंको दीखता है।

इन्द्र तथा श्वानकी समानता

इन्द्र–हे भगवन् ! तीनों लोकोंमें मैं ही इन्द्ररूप हूँ, मेरे सिवा दूसरा कोई इन्द्र नहीं है।

दध्यङ–हे इन्द्र ! सर्वात्मरूपसे आत्माको जाननेवाले परमात्माने इन्द्र-शब्दसे तुमको स्थापित किया है परन्तु तुमको अपने सर्वात्मरूप आत्माका ज्ञान नहीं है, इसलिये तुम इन्द्र नहीं हो। और इन्द्र शब्दका अर्थ भी सर्वात्मज्ञानसे युक्त परमात्मामें ही घटता है, तुममें नहीं घटता क्योंकि जिस ऐश्वर्यके समान तथा जिससे अधिक ऐश्वर्य न हो, उस ऐश्वर्यको परम ऐश्वर्य कहते हैं। ऐसा परम ऐश्वय तुम्हारा नहीं है क्योंकि तुम्हारे ऐश्वर्यसे हजारगुणा ऐश्वर्य हिरण्यगर्भ भगवान्का है इसलिये सर्वात्म-भावसे युक्त परमात्मा ही इन्द्र है और वही सर्व-जगत्का कारण है। स्थूल-सूक्ष्म शरीरके साथ तादात्म्याध्यास होनेसे परमात्मारूप इन्द्रसे तुम उत्पन्न हुए हो, इसलिये तुममें इन्द्रत्व नहीं है।

इन्द्र–हे भगवन् ! यदि मैं इन्द्र नहीं हूँ तो सब लोग मुझे इन्द्र क्यों कहते हैं ?

दध्यङ–हे इन्द्र ! सब लोगोंके पास जो ऐश्वर्य है, उससे अधिक ऐश्वर्य तुम्हारे पास है, इसलिये सब लोग तुमको इन्द्र कहते हैं परन्तु सम्यक विचारने-

से तो ब्रह्मात्म-साक्षात्कारवाला ही इन्द्र कहलाता है। अज्ञानसे हुए देहाभिमानके समयमें तो तुम्हारा और कुत्तेका ऐश्वर्य समान है क्योंकि जैसे तुम्हारी आसक्ति नाना प्रकारके ऐश्वर्यमें, अपने देवताके शरीरमें तथा स्वर्गकी स्त्रियोंमें है इसी प्रकार कुत्तेकी भी अपने ऐश्वर्यवाले पदार्थोंमें आसक्ति होती है।

इन्द्र–हे भगवन्! जो पदार्थ सुन्दर होता है, उसको रमणीक समझनेसे आसक्ति होती है, असुन्दर पदार्थमें रमणीक-बुद्धि नहीं होती, इसलिये उसमें आसक्ति नहीं होती। मेरे पास सुन्दर पदार्थ हैं इसलिये उन पदार्थोंमें मेरी आसक्ति है। श्वानके पास सुन्दर पदार्थ नहीं हैं इसलिये श्वानको आसक्ति न होनी चाहिये।

दध्यङ–हे इन्द्र! 'मेरे पास सुन्दर पदार्थ हैं, श्वानके पास सुन्दर पदार्थ नहीं हैं' यह केवल तुम्हारा अभिमान है क्योंकि निरपेक्ष ऐश्वर्य आदि पदार्थ न तो तुम्हारे पास हैं और न श्वानके पास हैं। अस्मदादि जीवोंकी समझमें तुम महान् ऐश्वर्यवाले हो, इसी प्रकार कीट, पतङ्गादि क्षुद्र जन्तुओंकी समझसे श्वान भी महान् ऐश्वर्यवाला है। जैसे अस्मदादि जीवोंकी अपेक्षासे तुम्हारा शरीर कोमल है इसी प्रकार शूकरादिकी अपेक्षासे श्वानका शरीर भी कोमल है। जैसे तुम्हारे शरीरपर इन्द्राणी तथा अप्सराओंकी प्रीति है इसी प्रकार कुत्तेके शरीरमें कुतियोंकी प्रीति है, जैसे देवताओंको अमृत प्रिय लगता है इसी प्रकार श्वानको वमन किया हुआ अन्न प्रिय लगता है। जैसे अपने उपकार करनेवालेपर तुम प्रीति करते हो इसी प्रकार श्वान भी अपने स्वामीपर प्रीति करता है। जैसे अपने अपकार करनेवालेपर तुम क्रोध करते हो इसी प्रकार श्वान भी क्रोध करता है। 'मैं तीनों लोकोंका पालन करता हूँ इसलिये मैं तीनों लोकोंपर उपकार करता हूँ किन्तु श्वान किसीपर उपकार नहीं करता' ऐसा अभिमान करना तुमको युक्त नहीं है क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य वाक्य, मनुष्यत्वादि जाति, मन, बुद्धि, प्राणादिरूप हिरण्यगर्भ, विराट् भगवान्का शरीर, चिदाभास और सर्वस्थूल-सूक्ष्म पदार्थ सर्वप्राणियोंपर उपकार करते हैं। श्वानादि प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म शरीर भी अदृष्टद्वारा पृथिवी आदि सर्वपदार्थोंपर उपकार करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ जिस प्राणीके सुखका कारण होता है, वह पदार्थ उस प्राणीके पुण्यरूप अदृष्टसे उत्पन्न होता है और जो पदार्थ जिस प्राणीके दुःखका कारण होता है, वह पदार्थ उस प्राणीके पापरूप अदृष्टसे उत्पन्न होता है, ऐसा शास्त्रका नियम है। इसलिये श्वानादि सर्वप्राणी अपने पुण्य-पापरूप अदृष्टद्वारा पृथिवी आदिके कारण हैं अतएव वे सब प्राणी पृथिवी आदिपर उपकार करते हैं। इसी प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ भी श्वानादि सर्वप्राणियोंको सुखादि देते हैं इसलिये पृथिवी आदि पदार्थ भी श्वानादि प्राणियोंपर उपकार करते हैं। अतएव सबपर उपकार करनेका धर्म तुममें और श्वानमें समान है इसलिये तुमको यह अभिमान कभी न करना चाहिये कि मैं सबपर उपकार करता हूँ। (क्रमशः)



श्यामसे

उतरी थी यह बूँद किसी दिन, बोध-धामसे। मिलन हुआ फिर नहीं, आजतक, उसी श्यामसे॥
माया धूल समेट, बूँद नीचेको ढरकी। बीता समय अनन्त, सुरति भी बिसरी घरकी॥
मुझे सजग कर, विकल कर विरह-सिन्धुमें डाल दो।
जा पहुँचूँ फिर आपमें ऐसी एक उछाल दो॥

नयनजी

ब्रह्मचर्यकी परमोपयोगिता और उत्तम सन्तति

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)



शास्त्रोंमें कहा गया है कि कलियुगमें ब्रह्मचर्य और गृहस्थ केवल दो ही आश्रम रहेंगे। पर आजकल इन दोनोंमें भी चतुर्वर्गके मूल कारण ब्रह्मचर्याश्रमका लोप-सा ही दीख रहा है। ब्रह्मचर्यका अर्थ सारी इन्द्रियोंका निग्रह करना है परन्तु सब इन्द्रियोंमें जननेन्द्रिय बहुत बलवान् है एवं इसके निग्रह न होनेसे सर्वनाशकी सम्भावना है, इसलिये ब्रह्मचर्यका प्रधान अर्थ जननेन्द्रियका निग्रह ही किया जाता है।

जननेन्द्रियका निग्रह केवल विद्यार्थियोंके लिये ही नहीं है, इसकी आवश्यकता बाल, युवा, वृद्ध आदि सभी आश्रमोंको है। गृहस्थाश्रममें भी इसकी विशेष जरूरत है। विद्यार्थी-अवस्थाको तो ब्रह्मचर्याश्रम केवल इसीलिये कहा जाता है कि इस प्रारम्भिक किशोरावस्थामें ब्रह्मचर्य पालन न होनेसे फिर इसकी प्राप्ति असम्भव है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यका नाश हुआ तो मानो जीवनका ही सर्वनाश हो गया। क्योंकि फलयुक्त नवजात वृक्षोंमें मञ्जरी लगनेपर वह इसीलिये तोड़ दी जाती है कि छोटे वृक्षमें फल लगनेसे वह फल खराब होगा और वृक्ष भी बिल्कुल निकम्मा हो जायगा। अब सोचनेकी बात है कि जब ब्रह्मचर्यके अभावसे जड वृक्षकी ऐसी दुर्दशा होती है तो फिर चेतन मनुष्यकी क्या दशा होगी? पर दुःख है, यह सब देखकर भी आज ब्रह्मचर्यके महत्त्वकी ओर उसके नाशसे होनेवाली बहुत बड़ी हानियोंकी ओर लोगोंका कुछ भी खयाल नहीं है। बाल, युवा, वृद्ध सभी बेधड़क ब्रह्मचर्यका नाश कर रहे हैं। महाभारत अनुशासनपर्वमें कहा है—

'आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप॥'
(७५। ३५)

'हे राजन्! जो आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करता है उसे कुछ भी अप्राप्य नहीं है।'

छान्दोग्य उपनिषद्के अष्टम अनुवाकके १-५ में कहा है कि 'ब्रह्मचर्यसे यज्ञ, इष्ट, आत्माका लाभ और ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है।' धर्मशास्त्रका कथन है कि गृहस्थ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ऋतुकालमें वर्जित तिथि और पर्वदिनोंको छोड़कर स्त्री-सहवास करे तो उसका ब्रह्मचर्य नाश नहीं होता। वह ब्रह्मचारी ही बना रहता है।

ब्रह्मचर्य-पालनसे ही भीष्मपितामहको अपरमित पौरुष, अमोघ ज्ञान और इच्छा-मृत्यु प्राप्त हुई थी, श्रीलक्ष्मणजीने ब्रह्मचर्यके बलसे ही मेघनादका वध किया था। ब्रह्मचर्यके प्रभावसे ही श्रीशुकदेवजी पिता वेदव्यासजीसे भी उच्च समझे गये थे। कुमार-गण और नारदका ब्रह्मचर्यके कारण ही उच्च स्थान है। इस समय भी ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जिस गृहस्थने युवावस्थामें ब्रह्मचर्यके विरुद्ध चलकर भी पीछे सचेत होकर ब्रह्मचर्यका पालन किया वह सर्व प्रकारसे बड़ा प्रभावशाली होकर लोकनायक बन गया।

भारतवर्षकी वर्तमान अवनतिका प्रधान कारण भारतवासियोंका शरीर, मन, बुद्धि और शक्तिमें हीन होना है। अधिकांश भारतवासी आज रोगग्रस्त हैं। यदि किसीको बड़ा रोग नहीं है तो वह शरीरसे कमजोर है। किसीका शरीर बाहरसे कुछ ठीक भी है

तो उसके अन्दर मेधा और बुद्धि-बल नहीं है, और न कार्य करनेकी और सोचनेकी शक्ति ही है। इस-प्रकार आज जो अधिकांश भारतवासी जीते हुए ही मुर्देके तुल्य बने हुए हैं, इसका प्रधान कारण ब्रह्मचर्यका नाश है। यह अटल और निश्चित बात है कि ब्रह्मचर्य-पालनके बिना हजार चिल्लानेसे या दूसरे प्रकारकी उन्नतियोंसे समाजका यथार्थ अभ्युदय और कल्याण कभी सम्भव नहीं। अतएव बालक-बालिकाओंके ब्रह्मचर्य-रक्षाकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये एवं इसके लिये विद्यालयोंका भलीभाँति निरीक्षण करना चाहिये। सत्संगसे ब्रह्मचर्य-पालन और कुसङ्गसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है। बालकोंको अच्छी सङ्गतिका विशेष ध्यान होना चाहिये।

सन्तान हृष्ट-पुष्ट और मेधावी कैसे हो ?

यदि हमलोग विवाह-संस्कारको कामाचार न समझकर परम यज्ञ और पवित्र संस्कार समझें एवं स्त्री-सहवासको भी पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सुसन्तानकी उत्पत्तिका साधन समझकर परम यज्ञ मानें तो सुसन्तान अवश्य ही उत्पन्न हो सकती है।

स्त्री-सहवासको भोग-लिप्सा बनानेसे स्त्री-पुरुष दोनोंके स्वास्थ्य खराब होते हैं और आन्तरिक वृत्तियाँ कलुषित हो जाती हैं। ऐसे सहवाससे उत्पन्न सन्तान भी कलुषित भावोंवाली ही होती है। पर यज्ञ समझकर कर्तव्यरूपसे अनासक्त होकर स्त्री-सहवास करनेसे उत्तम, प्रभावशाली और तेजस्वी सन्तानका उत्पन्न होना सहज और अवश्यम्भावी है। खोजसे यह सिद्ध हो गया है कि दम्पतिके सहवास-समयके मानसिक भाव एवं गर्भाधानसे लेकर जन्मतकके मानसिक भावोंका अच्छा या बुरा प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर बहुत ज्यादा पड़ता है और वह आजन्म उसमें रहता है। अतएव यह पूर्ण निश्चित है कि यदि गर्भाधानसे प्रसवपर्यन्त दम्पति अपने चित्तमें कोई काम-वासना न आने दें, वैसी कोई क्रिया न करें एवं गर्भकालमें कभी सहवास न करें; दोनों स्त्री-पुरुष खासकर माता केवल उत्तम भावनाओंको ही मनमें स्थान दे, उत्तम् कामोंमें लगी रहे, सत्सङ्ग और उत्तम बातें करे, उत्तम पुस्तकोंको पढ़े या सुने, साधु, सज्जन और धर्मवीरोंके चरित्रोंका पठन-पाठन एवं उन्हींकी आलोचना करे और सदा-सर्वदा श्रीभगवान्के गुण, यश, नाम और सामर्थ्यका स्मरण करे तो सन्तान अवश्य ही शरीरसे पुष्ट और बलिष्ठ होगी। उसे कभी कोई रोग नहीं होगा। वह निश्चय ही दीर्घायु होगी। वह मेधा, बुद्धि, विवेक, धर्म और नीतिके भाव आदि सद्गुणोंसे युक्त होगी। उसे विद्या, बुद्धि, बल, धर्म, भाव, ज्ञान, भक्ति आदिकी प्राप्तिमें कोई कठिनता नहीं पड़ेगी। वह अनायास ही बड़ी सुगमतासे इन्हें अवश्य प्राप्त करेगी। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि गर्भवती स्त्रीसे सहवास करनेवाला मातृ-सङ्गमके पापका भागी होता है यानी गर्भिणी स्त्रीको प्रसवके पूर्वतक मातृवत् समझना चाहिये। क्योंकि उस समय उसकी और गर्भस्थ सन्तानकी एकता है इसलिये उसके साथ सहवास करना मातृ-सङ्गमके समान है। इसका परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है—क्योंकि उस समयकी माता-पिताकी काम-चेष्टाका प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर अङ्कित हो जाता है एवं इसके कारण वह सन्तान शक्तिहीन, कमजोर और अल्पायु ही नहीं होती, उसमें काम-वासनाका प्रबल बीज भी अङ्कुरित हो जाता है एवं माता-पिताके दोषसे उसे इसका दुष्परिणाम जन्मभर भोगना पड़ता है।

लेखकको ऐसे बहुत उदाहरण ज्ञात हैं कि जिनमें माता-पिताके गर्भावस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे जो सन्तान उत्पन्न हुई उसे कभी कोई रोग ही नहीं हुआ। वह बहुत पुष्ट, दीर्घायु और नीरोग हुई। विद्या-बुद्धिमें भी उसने सहजहीमें बहुत उन्नति की।

अतएव प्रार्थना है कि अन्य समयमें ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो बहुत ही उत्तम है, पर कम-से-कम गर्भावस्थामें तो गर्भिणीको माता समझकर इस नियमका पालन अवश्य ही करना चाहिये। आवश्यक तो यह भी है कि सन्तान जबतक माताका दूध पीती रहे तबतक ब्रह्मचर्यकी रक्षा की जाय, क्योंकि भावनाका प्रभाव माताके दूधपर पड़ता है और उस दूधका प्रभाव दूध पीनेवाली सन्तानपर असर करता है। पर इसके लिये सन्तानका दूध जल्दी नहीं रोकना चाहिये, क्योंकि सन्तानको माताका दूध जितने अधिक दिन मिलेगा, वह उतनी ही पुष्ट और नीरोग होगी।



वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट कविरत्न)

(गतांकसे आगे)



पहले पद्यमें—दैन्य, दृढ़ विश्वास, आत्मसमर्पण आदि कल्याण-गुण शरणागतिके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उनसे सम्पन्न, लङ्कानिवासरूप प्रतिकूल प्रपञ्चसे घबराये हुए दैवजीव विभीषण भक्तवत्सल भगवान्‌के भावी अनुग्रहकी प्रेरणासे लंकाको छोड़कर 'यत्र रामः तत्र आजगाम'—'जहाँ श्रीरामचन्द्र विराजते थे, वहाँ आये' यह कहकर शरणागतिकी भूमिका आरम्भ की गयी।

आगे महर्षि कहते हैं—

'तं मेरुशिखराकारं दीप्तामिव शतह्रदाम्।
गगनस्थं महीस्थास्ते ददृशुर्वानरोत्तमाः॥'

'मेरुके शिखरकी तरह उन्नत, चमकती हुई बिजलीकी तरह कान्तियुक्त, आकाशमें स्थित उन विभीषणको भूमिमें स्थित उन वानरश्रेष्ठोंने देखा।'

ऊँचे पूरे थे, हृष्ट-पुष्ट थे, त्रैलोक्यविभवाधिष्ठाता लंकेश्वरके भाई, भरी लंकाको छोड़कर आ रहे थे इसलिये रत्नाभूषणादियुक्त भी थे, इन कारणोंसे तो 'मेरुशिखराकारम्' सुमेरुके शिखरसदृश कहना ठीक ही है, किन्तु सुवर्णमय सुमेरुके शिखर-सदृश कहनेसे यह भी ध्वनित होता है कि तपाया हुआ सोना ठण्ढे पानीमें बुझाया जाकर जिस तरह शीतलता प्राप्त करता है, वनाग्निसे तपा हुआ मेरुशिखर तापसे गलकर जिस तरह शीतल ह्रद (झील) में गिरना चाहता हो, इसी तरह सन्तप्त विभीषण शान्तिकी लालसासे इस तरफ आ रहे थे, अतएव महर्षिने कहा 'तं मेरुशिखराकारम्।'

'मेरु' पदसे यह भी सूचित होता है कि विभीषण अबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रके प्रतिपक्षसमूहमें थे, अतएव बालिवधादिसे प्रकट-पराक्रम भगवान् श्रीरामचन्द्रके सम्मुख स्थिरताकी आशा ही क्या थी? कौन-सा भगवद्विरोधी स्थिर रह पाया है? किन्तु अब 'यत्र रामस्तत्राजगाम' अर्थात् भगवान्‌के अभिमुख हुए हैं, इसलिये अब विभीषणको सब प्रकार स्थिरता मिल गयी। अस्थिरताकी कोई शङ्का न रही। पातालतक जड़ जम गयी। अतएव स्थिरतासे गगनमें स्थित हैं। इस बातको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'मेरुशिखराकारम्'। मेरुशिखरकी उपमासे यह भी ध्वनित करते हैं कि मेरुशिखर जिसप्रकार अचलतया कुछ करनेमें समर्थ नहीं, वैसे मैं भी यहाँ आ तो गया हूँ, पर मेरे पास कौन-सा ऐसा

तो उसके अन्दर मेधा और बुद्धि-बल नहीं है, और न कार्य करनेकी और सोचनेकी शक्ति ही है। इस-प्रकार आज जो अधिकांश भारतवासी जीते हुए ही मुर्देके तुल्य बने हुए हैं, इसका प्रधान कारण ब्रह्मचर्यका नाश है। यह अटल और निश्चित बात है कि ब्रह्मचर्य-पालनके बिना हजार चिल्लानेसे या दूसरे प्रकारकी उन्नतियोंसे समाजका यथार्थ अभ्युदय और कल्याण कभी सम्भव नहीं। अतएव बालक-बालिकाओंके ब्रह्मचर्य-रक्षाकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये एवं इसके लिये विद्यालयोंका भलीभाँति निरीक्षण करना चाहिये। सत्सगसे ब्रह्मचर्य-पालन और कुसङ्गसे ब्रह्मचर्यका नाश होता है। बालकोंको अच्छी सङ्गतिका विशेष ध्यान होना चाहिये।

सन्तान हृष्ट-पुष्ट और मेधावी कैसे हो ?

यदि हमलोग विवाह-संस्कारको कामाचार न समझकर परम यज्ञ और पवित्र संस्कार समझें एवं स्त्री-सहवासको भी पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सुसन्तानकी उत्पत्तिका साधन समझकर परम यज्ञ मानें तो सुसन्तान अवश्य ही उत्पन्न हो सकती है।

स्त्री-सहवासको भोग-लिप्सा बनानेसे स्त्री-पुरुष दोनोंके स्वास्थ्य खराब होते हैं और आन्तरिक वृत्तियाँ कलुषित हो जाती हैं। ऐसे सहवाससे उत्पन्न सन्तान भी कलुषित भावोंवाली ही होती है। पर यज्ञ समझकर कर्तव्यरूपसे अनासक्त होकर स्त्री-सहवास करनेसे उत्तम, प्रभावशाली और तेजस्वी सन्तानका उत्पन्न होना सहज और अवश्यम्भावी है। खोजसे यह सिद्ध हो गया है कि दम्पतिके सहवास-समयके मानसिक भाव एवं गर्भाधानसे लेकर जन्मतकके मानसिक भावोंका अच्छा या बुरा प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर बहुत ज्यादा पड़ता है और वह आजन्म उसमें रहता है। अतएव यह पूर्ण निश्चित है कि यदि गर्भाधानसे प्रसवपर्यन्त दम्पति अपने चित्तमें कोई काम-वासना न आने दें, वैसी कोई क्रिया न करें एवं गर्भकालमें कभी सहवास न करें, दोनों स्त्री-पुरुष खासकर माता केवल उत्तम भावनाओंको ही मनमें स्थान दे, उत्तम कामोंमें लगी रहे, सत्सङ्ग और उत्तम बातें करे, उत्तम पुस्तकोंको पढ़े या सुने, साधु, सज्जन और धर्मवीरोंके चरित्रोंका पठन-पाठन एवं उन्हींकी आलोचना करे और सदा-सर्वदा श्रीभगवान्‌के गुण, यश, नाम और सामर्थ्यका स्मरण करे तो सन्तान अवश्य ही शरीरसे पुष्ट और बलिष्ठ होगी। उसे कभी कोई रोग नहीं होगा। वह निश्चय ही दीर्घायु होगी। वह मेधा, बुद्धि, विवेक, धर्म और नीतिके भाव आदि सद्गुणोंसे युक्त होगी। उसे विद्या, बुद्धि, बल, धर्म, भाव, ज्ञान, भक्ति आदिकी प्राप्तिमें कोई कठिनता नहीं पड़ेगी। वह अनायास ही बड़ी सुगमतासे इन्हें अवश्य प्राप्त करेगी। इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें लिखा है कि गर्भवती स्त्रीसे सहवास करनेवाला मातृ-सङ्गमके पापका भागी होता है यानी गर्भिणी स्त्रीको प्रसवके पूर्वतक मातृवत् समझना चाहिये। क्योंकि उस समय उसकी और गर्भस्थ सन्तानकी एकता है इसलिये उसके साथ सहवास करना मातृ-सङ्गमके समान है। इसका परिणाम बड़ा भयङ्कर होता है—क्योंकि उस समयकी माता पिताकी काम-चेष्टाका प्रभाव गर्भस्थ सन्तानपर अङ्कित हो जाता है एवं इसके कारण वह सन्तान शक्तिहीन, कमजोर और अल्पायु ही नहीं होती, उसमें काम-वासनाका प्रबल बीज भी अङ्कुरित हो जाता है एवं माता पिताके दोषसे उसे इसका दुष्परिणाम जन्मभर भोगना पड़ता है।

लेखकको ऐसे बहुत उदाहरण ज्ञात हैं कि जिनमें माता-पिताके गर्भावस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे जो सन्तान उत्पन्न हुई उसे कभी कोई रोग ही नहीं हुआ। वह बहुत पुष्ट, दीर्घायु और नीरोग हुई। विद्या-बुद्धिमें भी उसने सहजहीमें बहुत उन्नति की।

अतएव प्रार्थना है कि अन्य समयमें ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय तो बहुत ही उत्तम है, पर कम-से-कम गर्भावस्थामें तो गर्भिणीको माता समझकर इस नियमका पालन अवश्य ही करना चाहिये। आवश्यक तो यह भी है कि सन्तान जबतक माताका दूध पीती रहे तबतक ब्रह्मचर्यकी रक्षा की जाय, क्योंकि भावनाका प्रभाव माताके दूधपर पड़ता है और उस दूधका प्रभाव दूध पीनेवाली सन्तानपर असर करता है। पर इसके लिये सन्तानका दूध जल्दी नहीं रोकना चाहिये, क्योंकि सन्तानको माताका दूध जितने अधिक दिन मिलेगा, वह उतनी ही पुष्ट और नीरोग होगी।



वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट कविरत्न)

(गतांकसे आगे)



हले पद्यमें—दैन्य, दृढ़ विश्वास, आत्मसमर्पण आदि कल्याण-गुण शरणागतिके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। उनसे सम्पन्न, लङ्कानिवासरूप प्रतिकूल प्रपञ्चसे घबराये हुए दैवजीव विभीषण भक्तवत्सल भगवान्‌के भावी अनुग्रहकी प्रेरणासे लंकाको छोड़कर 'यत्र रामः तत्र आजगाम'—'जहाँ श्रीरामचन्द्र विराजते थे, वहाँ आये' यह कहकर शरणागतिकी भूमिका आरम्भ की गयी।

आगे महर्षि कहते हैं—

'तं मेरुशिखराकारं दीप्तामिव शतह्रदाम्।
गगनस्थं महीस्थास्ते ददृशुर्वानरोत्तमाः॥'

'मेरुके शिखरकी तरह उन्नत, चमकती हुई बिजलीकी तरह कान्तियुक्त, आकाशमें स्थित उन विभीषणको भूमिमें स्थित उन वानरश्रेष्ठोंने देखा।'

ऊँचे पूरे थे, हृष्ट-पुष्ट थे, त्रैलोक्यविभवाधिष्ठाता लंकेश्वरके भाई, भरी लंकाको छोड़कर आ रहे थे इसलिये रत्नाभूषणादियुक्त भी थे, इन कारणोंसे तो 'मेरुशिखराकारम्' सुमेरुके शिखरसदृश कहना ठीक ही है, किन्तु सुवर्णमय सुमेरुके शिखर-सदृश कहनेसे यह भी ध्वनित होता है कि तपाया हुआ सोना ठण्डे पानीमें बुझाया जाकर जिस तरह शीतलता प्राप्त करता है, वनाग्निसे तपा हुआ मेरुशिखर तापसे गलकर जिस तरह शीतल ह्रद (झील) में गिरना चाहता हो, इसी तरह सन्तप्त विभीषण शान्तिकी लालसासे इस तरफ आ रहे थे, अतएव महर्षिने कहा 'तं मेरुशिखराकारम्।'

'मेरु' पदसे यह भी सूचित होता है कि विभीषण अबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रके प्रतिपक्षसमूहमें थे, अतएव वालिवधादिसे प्रकट-पराक्रम भगवान् श्रीरामचन्द्रके सम्मुख स्थिरताकी आशा ही क्या थी? कौन-सा भगवद्विरोधी स्थिर रह पाया है? किन्तु अब 'यत्र रामस्तत्राजगाम' अर्थात् भगवान्‌के अभिमुख हुए हैं, इसलिये अब विभीषणको सब प्रकार स्थिरता मिल गयी। अस्थिरताकी कोई शङ्का न रही। पातालतक जड़ जम गयी। अतएव स्थिरतासे गगनमें स्थित हैं। इस बातको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'मेरुशिखराकारम्'। मेरुशिखरकी उपमासे यह भी ध्वनित करते हैं कि मेरुशिखर जिसप्रकार अचलतया कुछ करनेमें समर्थ नहीं, वैसे मैं भी यहाँ आ तो गया हूँ, पर मेरे पास कौन-सा ऐसा

साधन है जिससे आपकी मुझे किंकरता मिल जाय। मैं तो यहाँ आकर अचल स्थित हूँ। अब आपकी वत्सलता—दयालुताका ही भरोसा है। विभीषणके इस मनोभावको सूचित करते हुए कहते हैं—'मेरुशिखराकारम्'

मेरुशृंगाकार विभीषण श्रीरामके पास आये, इससे रावणकी तरफ शृंग-भङ्ग और श्रीरामकी तरफ शृंग-लाभ भी सूचित किया गया है।

इस प्रथम उपमासे विभीषणकी कान्ति सूचित हो चुकी थी, फिर भी दूसरी उपमा दी है 'दीप्तामिव शतह्रदाम्' 'चमकती हुई बिजलीके सदृश।' इससे यह तो सूचित होता ही है कि प्रतिकूल संसर्गसे व्याकुल हुए विभीषण श्रीरामकी शरणमें आनेके लिये आकाशमें इतनी तेजीसे चले आ रहे थे कि उनके शरीरकी कान्तिसे आकाशमें एक श्वेत प्रकाशकी लीक-सी बँध गयी थी। अतएव उनके लिये दूसरी उपमा देनी पड़ी 'जैसे चमकती हुई बिजली।' विभीषणमें स्वाभाविक तेज और रत्नाभूषणादिकी कान्ति तो थी ही और फिर वह आकाशमें आ रहे थे, तब बिजलीसे बढ़कर कौन-सी सुन्दर उपमा होती? तेज चलना बिजलीसे बढ़कर हो भी किसका सकता है? किन्तु 'तम्' इस पुँल्लिङ्गके साथ 'दीप्तामिव शतह्रदाम्' यों स्त्रीलिङ्ग बिजलीकी उपमा देना शायद कुछ लोगोंको खटके। पुराने कवियोंके प्रयोग देकर समाधान भी कर दिया जा सकता है कि तेजीके कारण आकाशमें कान्तिकी लीक-सी बाँधकर आनेमें दूसरी उपमा ठीक बैठती ही नहीं, फिर किया क्या जाय? परन्तु बिजलीकी उपमासे ध्वनिका जो प्रयोजन महर्षि सूचित करते हैं, वह बड़ा अद्भुत और अनुपम है। बिजलीमें तड़पन (कम्पविशेष) और शीघ्रता दोनों साथ-साथ रहती हैं। यहाँ भी 'ददृशुर्वानरोत्तमाः' वन्दरोंने विभीषणको जैसे ही देखा वैसे ही उन्हें शङ्का हुई कि ये लोग रामभक्त हैं, मुझ अपरिचितको उनके पास कब जाने देंगे। हाय, यहाँ आकर भी शरणमें पहुँचनेका सौभाग्य न मिला। यों विरहोज्जृम्भित एक तड़पन हुई। तथा अब बहुत शीघ्र इसका कोई उपाय होना चाहिये, अन्यथा चैन कहाँ! यह त्वरा। यह दोनों बातें विभीषणमें थीं, उन्हींको ध्वनित करनेके लिये महर्षि उपमा देते हैं—'दीप्तामिव शतह्रदाम्'

'तं गगनस्थं' ददृशुः' 'आकाशमें स्थित उन्हें देखा।' वह वानरचमूपति इतने सावधान होकर शिबिर (कैम्प) रक्षाका कार्य कर रहे थे कि नीचे उतरकर आना तो कैसा, जिस समय चले आ रहे थे और दूर (आकाशमें ही) थे, उसी समय अत्यन्त दूरसे ही उन्हें देख लिया, इसी तात्पर्यसे कहा—'गगनस्थम्'

अस्तु, विभीषण और उनके वे चारों अनुचर अभी आकाशमें ही थे कि—

'तमात्मपञ्चमं दृष्ट्वा सुग्रीवो वानराधिपः।
वानरैः सह दुर्धर्षश्चिन्तयामास बुद्धिमान्॥'

महापराक्रमी और बुद्धिमान् वानरसेनापति सुग्रीव आत्मासे पाँचवें अर्थात् चार अनुचर और स्वयं पाँचवें उन विभीषणको देखकर वानरोंके साथ विचार करने लगे।

'दुर्धर्ष' पदका अर्थ है जो किसी प्रकार भी दबाया न जा सके। इस पदसे भी महर्षि विभीषणकी हृदयदशाका स्पर्श करते हैं। शरणागतवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्र आगे स्वयं आज्ञा करते हैं कि 'जो शरण आनेकी बुद्धिसे एक बार भी मेरी ओर आ जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ यह मेरा व्रत है।' इस उदारदीक्षाका मैंने गण्डा बँधवाया है। अतएव भगवान् श्रीरामचन्द्रके पास तो रोक होनेका डर नहीं था, किन्तु सुग्रीवने तो अभयदानदीक्षाका कंकण नहीं बँधवाया है। वह तो सेनापति हैं। अपना हो चाहे पराया। वह अपनी सेनाध्यक्षताकी ड्यूटीपर अविचल

हैं। उन्हें डराकर दबा लेना तो दूर रहा, कोई रो-गाकर भी पिघला नहीं सकता। वह किसी भी लोभसे दबनेवाले नहीं। अतएव शरणागतिके इस पुण्यमय पर्वपर आये हुए शरणाकांक्षीका भी अगर पीछा पैर हटानेवाला कोई है तो वह है सुग्रीव। क्योंकि उनके पास कोई दया-माया नहीं चलती। विभीषणके इसी करुणभावको सूचित करनेके लिये कहा—'दुर्धर्षः।'

कहते हैं, 'सुग्रीव' पद भी विशेष अभिप्रायको सूचित करनेके कारण बड़े सुन्दर अवसरपर आया है। साहित्यवाले तो 'परिकर' का 'अङ्कुर' खोज निकालें या 'निरुक्ति' का अलङ्कार जड़ दें। गगन-स्थित विभीषणको देखनेके लिये शीघ्रतासे मस्तकको ऊँचा करके रामपरिचर्यामें सावधान, हितानुप्राणित वह जिस उत्सुकतासे देख रहे थे, उस दर्शन-व्यतिकरमें उनकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर भङ्गीसे उठी हुई थी इसीलिये कहते हैं 'सुग्रीवः'।

इसका दूसरा विशेषण है 'वानराधिपः'। इसकी भी कुछ दूरसे 'ध्वनि' आ रही है। सुनिये—सेनाधिप। 'सेना' लड़ने-मारनेका साधन होनेके कारण सतर्कताका स्थान है। उसीका चाहे 'अधिप' क्यों न हो, पर है वह एक 'अधिप' ही। अतएव 'अफसर' होनेकी हैसियतसे उसके सब काम अधिकारोचित गाम्भीर्यसे ही होने चाहिये। परन्तु सुग्रीव हैं 'वानराधिप'। जातिका गुण कहाँ जा सकता है? अतएव बड़ी जल्दीसे उछलकर ऊपर देखने लगे। इसीसे कहा—'वानराधिपः'।

'अधिप' पदसे भी सूचित किया कि वानरसेना श्रीरामकी अत्यन्त प्रीतिपात्र है। महर्षिने इसके विषयमें कहा है—'राघवार्थे पराक्रान्ताः' वानर भगवान् श्रीरामके लिये जी-जानसे लड़े हैं, इसलिये भगवान् भी उन्हें अत्यन्त प्रणयभाजन मानते हैं। किन्तु यह उनके भी 'अधिप' हैं। अतएव यह भगवान्के और भी अधिक प्रीतिपात्र हैं। इसीलिये श्रीरामके हितानुचिन्तनमें अतिसावधान होकर देख-भाल कर रहे हैं। अथवा—जो सेना भगवान् श्रीरामकी रक्षारूप परिचर्या करनेसे श्रीरामकी दृष्टिमें पूर्ण गौरव पा चुकी है उस सेनाकी भी अच्छी तरह रक्षा करनेवाले 'अधिकं पातीति' यही हैं। अतएव उस गौरवका सब श्रेय सुग्रीवको ही है। इसलिये अपनी बड़ी भारी जिम्मेवारी समझनेके कारण वह अति सतर्कतासे देख रहे थे इसीलिये कहा-'वानराणाम् अधिपः।'

'बुद्धिमान्'। सेनामें रात-दिन मार-काटके संसर्गसे वह केवल वीरताश्रय ही हों, सो नहीं, बुद्धिमान् भी थे। विभीषणका निर्भयतासे आगमन देखा, मुखपर भी एक उल्लास दिखायी दे रहा था जो प्रतिपक्षीमें नहीं हुआ करता। इन लक्षणोंसे वह जान तो गये थे कि यह निर्दोष हैं, किन्तु श्रीरामविषयक हितचिन्ताके कारण उन्होंने अपने अधीनस्थ वानरोंके साथ इसपर फिर भी विचार कर लेना उचित समझा। इसीसे उनकी प्रशस्त बुद्धिको सूचित करते हुए महर्षिने कहा—'बुद्धिमान्'

अस्तु। श्रीहनूमत्प्रमुख वानरोंसे यह बोले—

'एष सर्वायुधोपेतः कश्चिद्राक्षसः अस्मान् हन्तुमभ्येति, पश्यध्वम्।'

सम्पूर्ण शस्त्रोंको लिये हुए यह कोई राक्षस हम लोगोंको मारनेके लिये सामने आ रहा है, देखो। यहाँ 'सर्वायुधोपेतः' पर पण्डितोंमें आयुध चल गये! विभीषण सन्तप्त होकर शरण लेने आ रहे थे या श्रीरामसे दो-दो हाथ करने, जो सब हथियारोंसे सज-धज कर आये। स्वयं महर्षि भी पहले कह चुके हैं—'उत्पपात गदापाणिः' विभीषण गदा हाथमें लिये ही 'उत्पपात' आकाशमें उड़े। 'गदापाणिः' के स्वारस्यपर भी दृष्टि दीजिये। 'गदाम् आदाय' (गदा लेकर) कहनेसे

इरादा रखकर गदा लेना प्रतीत होता है, किन्तु 'गदापाणि' में बात ही और है। उन दिनों लङ्कामें रणचण्डीकी प्रचण्ड भेरी बज उठी थी। सभी राजकीय पुरुष शस्त्र लेकर ही इधर-उधर आना-जाना कर रहे थे। विभीषण लङ्केश्वरके अनुज थे। वह स्वय इस फौजी आर्डरको कैसे न मानते? विशेषत, वह स्वयं लङ्काधिपतिसे मिलने, उन्हें समझाने राजभवनमें जब जा रहे थे तब भला कुछ भी शस्त्र न रखते, यह कहाँ-तक ठीक था? अतएव इच्छा न होनेपर भी बल-*गाम्भीर्य*सूचक एक *गदामात्र हाथमें लिये रावणके* पास गये थे। समझानेके समय जब रावणकी समझका ही टोटा देखा, तब वहाँ ठहरना ठीक न समझा। उन्हें श्रीरामकी शरणमें जानेकी लौ तो पहलेसे ही लग रही थी, मनमें उनके चरणदर्शनकी उत्कण्ठा बढ़ ही रही थी, अतएव अन्यमनस्कताके कारण सरम्भवश उसी हालतमें विभीषण आकाशमें उड़ चले। इसीलिये महर्षिने कहा था 'गदापाणि'। परन्तु यह यहाँ 'सर्वायुधोपेत' कैसे हो उठे? कोई तो इसपर कहते हैं कि सुग्रीवको रामहित-व्यग्रताके कारण लङ्काकी तरफसे जो भी आता था, वही महान् शङ्काजनक प्रतीत होता था। अनुकूल भी विभीषण उन्हें प्रतिकूल दीख पड़े। इसालिये प्रेमान्ध होनेके कारण एक शस्त्र क्या था, उन्हें तो यह सब शस्त्रोंसे भी बढ़कर दीखा। इसलिये कहा—'सर्वायुधोपेत'।

दूसरे कहते हैं—'नहीं, जब इसने एक शस्त्र बड़े चातुर्य, और लेनेकी रीतिके अनुसार ले रक्खा है तब प्रतीत होता है जरूर यह युद्धनिपुण है। इसे सभी शस्त्र चलानेमें क्या बाधा पड़ेगी। अतएव इसे 'एकायुधयुक्त' न कहकर 'सर्वायुधोपेत' कहना चाहिये।'

किन्तु आप और भी थोड़े अन्त प्रविष्ट होइये। ...व श्रीरामचन्द्रके स्वभावको नहीं जानते थे, यह तो था ही नहीं। वह श्रीरामकी दया, भक्तवात्सल्य आदिका पूर्ण अनुभव कर चुके थे। यों कहिये, वह स्वय श्रीरामकी दयाके प्रत्यक्ष नमूने थे। जिस दिन उन्होंने श्रीहनुमान्‌की सलाहसे श्रीरामकी शरण ग्रहण की, उसी दिन बल्कि उसी समय श्रीरामने उन्हें केवल विश्वास ही नहीं दिया, मैत्रीग्रहणपूर्वक किष्किन्धाराज्यका वचन दिया और शीघ्र ही किष्किन्धाधिपति बना भी दिया। ऐसी दशामें क्या वह श्रीरामके हृदयको नहीं जान पाये होंगे? वह *जानते थे कि श्रीरामके पास कैसा भी दोषी–अहित–*प्रतिकूल चला आवे, वह उसे दु ख-व्यग्र देखकर अवश्य दया करेंगे। अतएव जब यह निर्भय चला आ रहा है तब अवश्य ही शरणार्थी है। फिर इसके हाथमें तो श्रीरामको वशीभूत करनेवाला '*शरणागति*' ही एक ऐसा ब्रह्मास्त्र है जिसमें सब आयुधोंसे बढ़कर शक्ति है। अतएव विभीषणके लिये उन्होंने कहा—'एष सर्वायुधोपेत ।'

'कश्चिद्राक्षस' कोई राक्षस। राक्षसपदसे उसकी नैसर्गिक क्रूरता सूचित की है। 'बदला लेनेमें यह तो सर्प है' यहाँ 'सर्प' पदसे जिस तरह अन्योंसे बढ़कर क्रूरता सुझायी जाती है इसी भाँति 'राक्षस' पदसे *अत्यन्त क्रूरता दिखायी गयी है*। निर्दयता सूचित करनेके लिये जब दूसरोंको राक्षसकी उपमा दी जाती है तब यहाँ तो यह साक्षात् राक्षस ही आ रहा है। अतएव सावधान होनेका अवसर है यह सुग्रीवने कहा। यह सुनते ही, वे सब वानर तो थे ही, वृक्ष और पर्वतोंको हाथोंमें ले-लेकर कहने लगे—हमें हुक्म दीजिये, हम इन्हें अभी मार गिरायें। इनका दम ही कितना है? 'अल्पचेतना'

इस तरह 'अन्योऽन्य सम्भाषमाणाना तेषाम्' आपसमें बातचीत करते रहनेपर भी विभीषण समुद्रके दूसरे तटपर पहुँचकर '*स्वस्थ एव व्यतिष्ठत*' स्वस्थ ही,

निःशंकचित्त ही अवस्थित रहे । यहाँ 'तेषां सम्भाषमाणानाम्' में वैयाकरण लोग कारकके 'षष्ठी चानादरे' सूत्रकी चादर हटाकर देख लें, यह अनादर अर्थमें षष्ठी है । अर्थात् 'यह बन्दर हैं जो चाहें सो कहते रहें, परन्तु सर्वज्ञ परमदयालु सर्वलोकैकशरण्य श्रीरामचन्द्र अवश्य मेरी रक्षा करेंगे । यह उन्हें दृढ़ विश्वास था । इसलिये छोटे-मोटेपर तो शायद दृष्टि न भी पड़े परन्तु पहाड़पर तो सबकी दृ॰ पड़ती ही है, किन्तु यहाँ पहाड़ हाथमें लिये इन दूसरे पहाड़ बन्दरोंपर भी अनादरके कारण दृष्टि न डालते हुए विभीषण दूसरे तटपर उनके सामने आ ही पहुँचे । वे तो मार-काटके लिये तैयार थे, किन्तु यह 'स्वस्थः' निर्विकार स्वस्थचित्त थे । इनको कोई भय-संशय न था । यहाँ 'स्वस्थः' की जगह 'खस्थः' ऐसा भी पाठ है । उन बन्दरोंकी उपेक्षा करते हुए छिपना तो कैसा, निडर रहकर सबको अपना आना सूचित करनेके लिये आकाशमें ही खड़े रहे । यहाँ *'खस्थः व्यतिष्ठत'* यों 'स्था' धातुका दो बार कहना बहुतोंको अखरेगा । 'खे व्यतिष्ठत' 'आकाशमें खड़े रहे' यही पर्याप्त था, किन्तु यहाँ कुछ विशेष अभिप्राय है । 'खस्थः' के प्रथम 'स्था' धातुसे साधारण 'अवस्थान' खड़े रहना अर्थ हुआ । और दूसरी बार उसी 'स्था' धातुके कथनसे अवस्थान-विशेष अर्थात् निर्भयावस्थान सूचित हुआ । मारनेके लिये पहाड़ोंको लिये हुए कुछ क्रुद्ध उन बन्दरोंके इस तरह बोलते रहनेपर भी वह आकाशमें निर्भय-निष्कम्प खड़े रहे अर्थात् विचलन होनेसे उनका अवस्थान नहीं टूटा । इसीको सूचित करनेके लिये कहा— *'खस्थ एव व्यतिष्ठत'* (कुछ भी विचलित न होनेसे उनके अवस्थानमें अन्तर नहीं पड़ा ।)

विभीषण उत्तर-तीरपर पहुँचकर निर्भयतासे आकाशमें खड़े ही न रहे, महर्षि कहते हैं—'उवाच च, च' (और) बोले—

'उवाच च महाप्राज्ञः स्वरेण महता महान् ।
सुग्रीवं तांश्च सम्प्रेक्ष्य सर्वान्वानरपुङ्गवान् ॥'

'च' का पूर्वसे सम्बन्ध है । *'खस्थ एव व्यतिष्ठत उवाच च'* 'आकाशमें खड़े रहे और बोले ।' इसलिये पूर्वार्थसम्बद्ध इस पद्यका यह शब्दार्थ हुआ कि 'महाबुद्धिमान् और गभीराशय विभीषण सुग्रीव और उन सब वानरश्रेष्ठोंको देखकर कुछ देरतक आकाशमें ही खड़े रहे और फिर ऊँचे स्वरसे बोले ।'

यहाँ 'च' कार पूर्व अर्थका सम्बन्ध दिखाता हुआ ही एक अपूर्व (अद्भुत) अर्थको भी सूचित करता है । उसपर कुछ ध्यान दीजिये—'उवाच च' 'और बोले भी ।' महर्षि सूचित करते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी आगे प्रतिज्ञा है कि—

'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥'

जो एक बार भी मेरी तरफ आ जाता है, अर्थात् 'प्रपत्ति' स्वीकार कर लेता है, उसको मैं प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ यह मेरा व्रत है, इस प्रतिज्ञाके अनुसार एक बार भगवान्‌के पास आ जाना ही स्वीकारके लिये, सर्वाभय-प्राप्तिके लिये, पर्याप्त है किन्तु यहाँ तो विभीषण शरणमें आये और 'उवाच च ।' बोले भी । बड़ा भारी एहसान हो गया । अहा हा ! भगवान् आज्ञा करते हैं कि मुझसे संकटमें पड़े हुए भक्तका दुःख देखा नहीं जाता । कोई मुझे कितना ही अटकावे परन्तु मुझसे रुका नहीं जाता । यह मेरा स्वभाव ही है, मैं क्या करूँ । जिस समय दुःखमें पड़ा हुआ दीन मेरा स्मरणमात्र कर लेता है, मैं स्वयं वहाँ जाता हूँ और उसको उसी समय दुःखसे छुड़ाता हूँ । देखिये—यहाँ 'प्रपत्ति' की रस्म भी पूरी नहीं

की जाती । यों कहिये भक्तकी तरफसे कोई चेष्टा ही नहीं होती । वह तो पड़ा-पड़ा स्मरणमात्र कर लेता है। जाडेके दिनोंमें हम पलगपर लेटे हैं। उस कड़ाकेकी सर्दीमें भी प्यास तो लगती ही है। इच्छा हुई पानी पियें। पर उस समय उठा किससे जाय। चुप हो गये। फिर तकाजा हुआ। पानीकी बहुत जरूरत है। कोई दूसरा पिला जाय तो बड़ा अच्छा हो। चाहिये था हमें कि उठकर पानीके पास जाते और पी आते, परन्तु आलस्यने पैर तोड दिये। लालसा हुई हमारी आत्मतृप्ति भी दूसरा ही कर जाय। इसके लिये बडे-से-बडे बादशाहतकको अपनी आवश्यकता सूचन करनेके लिये मुखसे तो बोलना ही पड़ता है। अर्थात् हम नौकरको आवाज देते हैं—'थोडा पानी पिला जाना!' किन्तु हमको तो जुबान हिलाना भी परिश्रम माळूम होता है। ऐसी अवस्थामें खूब प्यासकी हालतमें यदि नौकर बिना कहे ही आकर हमें पानी पिला जाय तो कैसा आनन्द आता है? इसीके अनुसार भगवान्ने अपनी भक्तवत्सलतासे भक्तोंको इतना सिर चढा दिया है, इतना अलस बना दिया है कि वे अपनी तरफसे कुछ भी चेष्टा नहीं करते। पडे-पडे यादमात्र कर लेते हैं। जैसे हम पलगपर पड़े-पड़े जलका स्मरणमात्र कर लेते हैं। अब स्मरण-मात्र करते ही कोई वैज्ञानिक या चतुरचूडामणि भृत्य स्वय ही आकर जैसे पानी पिला देता है, उसी तरह भगवान् भी स्मरणमात्र करते ही स्वय वहाँ जाकर उनकी रक्षा करते हैं। क्योंकि—

'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'

—सबको भयसे बचाना इसका भगवान्ने गण्डा बँधा रक्खा है।

इसकी नजीर भी लीजिये—सकटमें पड़े गजेन्द्रने, जिस समय उसकी तिलमात्र सूँड बाहर थी, भगवान्का स्मरण किया। ध्यान रहे, यहाँ स्तोत्र पाठादिसे अथवा 'वाचा' वाणीसे ही स्मरणका अवकाश न था। केवल हृदयमें ध्यान किया था। बस, भगवान् आतुर होकर, जल्दीके मारे गरुड़को भी ढकेलकर स्वय पधारे और उसकी रक्षा की। इसलिये भगवान् आज्ञा करते हैं—'मैंने सैकड़ों बार देख लिया है कि मुझे ही ऐसे अवसरपर जाना पड़ता है।' किन्तु यहाँ तो विभीषण स्वयं इतनी दूर चलकर आये। यह क्या थोड़ा एहसान है? उनको बडा भारी कष्ट हुआ। आप आज्ञा करते हैं—'आगमनमपि भाराय' दुःख पीडितका मेरे पास अपने पैरोंसे चलकर आना भी मेरे ऊपर बड़ा भार चढ़ा देता है। उसपर भी जले-पर नमक यह छिड़का जा रहा है कि यह आकर मुझसे प्रार्थना भी कर रहे हैं। हद हो गयी। मुझे रक्षा करनेके लिये स्वय इतनी दूर जाना चाहिये था, उसपर तो यह स्वयं यहाँ आ गये। अब तो यहाँ आते ही मुझे स्वय सँभाल लेना था परन्तु बोलना भी इन्हींको पडा। यह तो स्पष्ट ही मेरे लिये 'क्षते क्षार-प्रयोग' 'कटेपर खार छिड़कना है।' बस, इसी भक्त-वत्सलताके कारण विभीषणका परम उपकार ध्वनित करते हुए महर्षि कहते हैं 'च उवाच' और बोले।

विभीषणके लिये एक विशेषण दिया है 'महाप्राज्ञ' 'महाबुद्धिमान्।' क्योंकि विभीषणको यद्यपि दृढ विश्वास था कि मैं कैसी भी दशामें होऊँ, भगवान् मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे तो भी भगवान्के अन्तरङ्ग सेवकोंकी सहायता लेना आवश्यक है। राजा चाहे जितना दयालु हो परन्तु चतुर लोग राजाके पास रहनेवाले अन्तरङ्ग लोगोंसे मिलकर ही राजासे परिचय बाँधते हैं, क्योंकि उसमें फिर विघ्नकी शंका नहीं रहती। इसी प्रकार विभीषणने भी सोचा कि श्रीरामके जो पार्श्ववर्ती हैं उनके द्वारा ही मैं अपनी प्रार्थना पहुँचाऊँ, जिससे बाधाकी शका ही न रहे।

मान लीजिये, भगवान् श्रीरामचन्द्रने स्वीकार कर भी लिया और सेवक अनुकूल न हुए तो कठिनता पड़ेगी । 'जलमें रहना और मगरमच्छसे वैर ।' इसलिये पहले अन्तरङ्गोंकी प्रार्थना करूँ, यही मेरा पुरुषार्थ है । इसी सोच-विचारमें वह क्षणभर आकाशमें खड़े रहे । सुग्रीव और सब बन्दरोंको पहले देखा । अर्थात् उन्होंने पहले राम-दरबारकी परिस्थितिको जान लेना उचित समझा । पासमें रहनेवाले कौन-कौन हैं, उन्हींको अनुकूल करके प्रार्थना पहुँचानी चाहिये । यह भी उनकी बुद्धिमत्ता ही है कि इतनी ही देरमें जान गये कि यह सेनापति हैं, श्रीरामके विश्वासी हैं और ये वानर इनके अधीन हैं । अतएव पहले 'सुग्रीवम्' गिनाया और फिर 'सर्वान् वानरपुङ्गवान्' से सबका 'साकल्य' कर दिया । अन्यथा 'सर्वान् वानरपुङ्गवान्' से बचकर वह कहाँ गये थे ?

यह भी वह हृदयमें जानते थे कि ये बन्दर लोग जो मेरेपर पहाड़ ढानेको तैयार हैं, कोई द्वेषके कारणसे नहीं । श्रीराममें इनकी एकान्त प्रीति है इसीके कारण ऐसा कर रहे हैं । अतएव यह इन लोगोंका गुण है, दोष नहीं । इन सब बातोंको थोड़ी देरके ठहरनेमें विभीषणने देख लिया और जान लिया था । अतएव महर्षिने यहाँ कहा—'सम्प्रेक्ष्य,' 'सम्' अच्छी तरह । केवल उन्हें ऊपरसे देखमात्र न लिया किन्तु भीतरी नज़रसे जाँच लिया था, इसी बुद्धिमानीको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'महाप्राज्ञः ।'

आगे है 'महता स्वरेण ।' ऊँचे स्वरसे अर्थात् बड़े जोरसे बोले । कारण यह था कि जिन पार्श्ववर्तियों-को मैं अपने अनुकूल करना चाहता हूँ वह सब सुन लें । न जानें उनमेंसे मेरा कौन सहायक बन जाय और वह इस समय न जाने कहाँ बैठा हो ! अथवा यदि कोई पार्श्ववर्ती सहायताको तैयार न भी हों तो स्वयं भक्तवत्सल ही मेरा आर्त-स्वर सुन लें । फिर मुझे क्या करना है । बस, इसलिये वह वीरोचित ऊँचे स्वरसे बोले ।

यहाँ 'महाप्राज्ञः' यह विशेषण देकर भी महर्षि एक विशेषण विभीषणके लिये और देते हैं—'महान् ।' क्या 'महाप्राज्ञः' कम था ? 'महाप्राज्ञः' के आदिका आधा टुकड़ा ही तो 'महान्' है । फिर यह दुबारा 'महान्' क्यों ? सुनिये, महर्षि सूचित करते हैं—यह 'महाप्राज्ञः' ही क्या हैं, यह तो सब तरहके महत्त्वके भाजन हैं । 'महाबुद्धिमान्' से बुद्धिकृत महत्त्व ही प्रतीत होता है किन्तु महान् कहनेसे यावन्मात्र महत्त्व आ गया । जबसे विभीषणने श्रीरामको अच्छा मानकर यहाँ आनेकी हृदयमें धारणा की थी तभीसे वह बड़े बड़भागी थे, परन्तु आज यहाँ वह शरणमें आ गये और उसपर इस तरह ऊँचे स्वरसे अपना आर्त-निवेदन भगवान्को सुना रहे हैं, इनसे बढ़कर भला और कौन भाग्यवान् होगा ? जिनके अच्छे भाग होते हैं वही तो सब कुछ रहते भी उन्हें छोड़कर, अकिञ्चनता स्वीकार करके भगवान्की शरणमें आया करते हैं । आहा, क्या कहा है—

'आकिञ्चन्यैकशरणाः केचिद्भाग्याधिकाः पुनः ।
मामेव शरणं प्राप्य मामेवान्ते समश्नुते ॥'

निष्किञ्चनता ही जिनका एक अवलम्बन है, ऐसे होकर भी बड़े भाग्यवान्, 'केचित्' कोई असंख्योंमें एक, दुर्लभतम केवल मेरी ही शरण लेकर अन्तमें मुझहीको प्राप्त होते हैं । बस, शरणागतिके इसी गूढ़ तात्पर्यको सुझाते हुए महर्षि विभीषणको बधाई देते हैं 'महान् ।'

वह 'महान्' 'विभीषणः' 'किम् उवाच' क्या बोले, वह उनका वक्तव्य 'रावणो नाम दुर्वृत्तः' इत्यादि

बारहवें पद्यसे लेकर 'निवेदयत मा क्षिप्रम्' इत्यादि १७ वें पद्यतक ६ पद्योंमें बतलाया गया है। यह विभीषणका वक्तव्य ही शरणागतिका आरम्भ है। इसलिये विचारकी दृष्टिसे यह बडा महत्त्व रखता है। या यों कहिये कि जब कोई मुकदमा दायर होता है, तो उसमें पहले मुद्दईका जो बयान होता है उसीपर सारे मुकदमेका दारमदार रहता है। शरणागतिके भी जो छ अग पहले कह आये हैं उनका भी इन छ पद्योंमें बीजरूपसे सूचन कर दिया गया है। बात यह है कि ऊपर कहे हुए 'आनुकूल्यस्य सकल्प' आनुकूल्यका सकल्प इत्यादि शरणागतिके अंकुर जब किसी भाग्यवान्की उर्वरा हृदय-भूमिमें फूट आते हैं और वह प्रतिकूल संसर्गसे छूटकर साधु-समागमादि अनुकूल संसर्गके द्वारा भगवान्के अभिमुख आने लगता है तो उसके पहले ही उसका हृदय स्वच्छ (कपटादि दोषोंसे शून्य) हो चुका है यह मानना पडेगा। अन्यथा अशुद्ध क्षेत्रमें पूर्वोक्त बीज उगेंगे ही कैसे ? और जब उसका हृदय स्वच्छ हो चुका है तो शरणागतिके प्रारम्भिक बयानमें वह उसकी स्वच्छ-हृदयता अवश्य सूचित होनी चाहिये। इसीके अनुसार विभीषण अपने प्रारम्भिक वक्तव्यमें अपनी हृदय शुद्धिको सूचित कर रहे हैं। उसका यह स्वरूप है कि अभियोक्ता (मुद्दई) अपने दोषोंको अपने मुखसे सत्य-सत्य कह दे। किसी मनुष्यसे कोई बड़ा अपराध बन गया और वह धार्मिक बुद्धिसे उसका प्रायश्चित्तादिद्वारा शोधन करना चाहता है तो धर्म शास्त्रोंमें उसकी शुद्धिके लिये पहले अनुताप (मैंने यह अपराध क्यों किया यों हृदयसे पछताना) बताया है। फिर वह निरभिमान-भावसे अपने दोषका उद्‌घोषण करता हुआ प्रतीकारका प्रार्थी हो। इसीलिये प्रायश्चित्ती शोधन-व्यवस्था देनेवालोंमेंसे एक एकके पास स्वयं जाता है और बड़ी नम्रतासे प्रार्थना करता है। अपना दोष सत्य सत्य कहता है। यहाँ विभीषण भी अपने स्वरूपको छिपाते नहीं। अपना दोष स्वयं सत्य-सत्य कह रहे हैं। इसलिये गर्व हानि होकर कार्पण्य (दीनता) प्रदर्शनरूप शरणागतिका अंग सूचित होता है। उसीको वक्तव्यके आरम्भमें कहते हैं—

'रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वर।
तस्याहमनुजो भ्राता विभीषण इति श्रुतः॥'

'दुष्ट आचरणवाला, जातिसे राक्षस और राक्षसों का ही स्वामी, रावण नामका है। मैं विभीषण नामसे प्रसिद्ध उसका छोटा भाई हूँ।'

यहाँ 'रावण.' (रुलानेवाला) पदसे सब लोगोंको पीड़ा पहुँचाना, 'दुर्वृत्त' पदसे अकार्य करना, 'राक्षस' पदसे जातिगत क्रूरता, 'राक्षसेश्वर' पदसे नौकर-चाकर भी सब उसके क्रूर हैं यों दुष्टपरिकरता, रावणकी सूचित की गयी। 'रावण इस तरहका दुष्ट है' इस कथनसे यह सब दोष रावणमें सिद्ध होते हैं, होने दो। तुम्हें इससे क्या ? उसपर कहते हैं— 'तस्याहमनुजो भ्राता' मैं उसका 'छोटा' भाई हूँ। ऐसे घोर अपराधीके भाई होनेसे अपनेमें पूर्ण दोष सिद्ध हो गया। धर्मशास्त्रकी गद्दीपर बैठकर प्रायश्चित्त-की व्यवस्था देते समय 'सहया नासनाशनात्' एक यानमें चलना, एक स्थानमें बैठना, साथ भोजन, इत्यादिसे ही जब ससर्गप्रायश्चित्तका दण्ड देना आवश्यक हो पड़ता है तब यहाँ तो यह खास भाई ही हैं। भाई भी 'छोटा'! बडा भाई होता तो मुझे उसकी आज्ञामें चलनेकी क़ैद न रहती। देखिये— कुबेर रावणके भाई ही हैं परन्तु बड़े हैं, वह अलग रहते हैं, उनके दोषोंसे बचे हैं। किन्तु यह कहते हैं कि मैं छोटा हूँ। इच्छा अथवा अनिच्छासे उसके किये अपराधोंमें मुझे योग देना ही पड़ता है।

'उस दुर्वृत्तने जनस्थानसे जटायुको मारकर सीताको हरण किया। सीता इस समय बड़ी दीन-दशामें है। उसे कठिन स्थानमें रोक रखा है।' कदाचित् इससे भगवती सीताके चारित्र्यपर सन्देह हो जाय इसलिये वहीं आगे कह देते हैं कि 'राक्षसीभिः सुरक्षिता' अकेली नहीं, क्रूर राक्षसियाँ उसपर कड़ा पहरा दे रही हैं। यदि चारित्र्यपर कोई धब्बा आ जाता तो राक्षसियोंद्वारा उसपर इस तरह क्रूरता करवानेकी क्या आवश्यकता रहती ? अस्तु, आगे कहते हैं कि मैंने उसे उपपत्तियुक्त वाक्योंसे बार-बार समझाया कि सीताको श्रीरामके पास लौटा दो, किन्तु मरनेवाला जिस तरह औषध नहीं लेता उस तरह कालप्रेरित रावणने इस बातको स्वीकार नहीं किया। प्रत्युत उसने मुझको बहुत 'परुष' असहनीय कठोर बातें कहीं और 'दासवच्चापमानितः'। उच्छिष्ट-भोजी दासको जिस तरह ठुकराते हैं, मेरा अपमान किया। अपमान अपमानमें अन्तर है। बड़ा भाई अभिमानी छोटे भाईको दो कड़ी बात कहकर उस भाईकी दृष्टिमें अपमान कर सकता है परन्तु वह अपमान सीमाके भीतर है। भाईने भाईके भाईपनको स्मरणमें रखते हुए वह अपमान किया है, अतएव वह भाई सहन कर जाता है। किन्तु यदि जुठखोरे तुच्छ दासको जिस तरह सरेबाज़ार ठुकराते हैं, हम छोटे भाईको वैसे ठुकरायेंगे तो वह अपमान भाईकी दृष्टि रखते हुए न होनेके कारण असहनीय हो जायगा। इसी दुःखवेदनाको सूचित करते हुए वह कहते हैं, 'दासवच्चापमानितः।'

अब यहाँ दृष्टि दीजिये। इस अपमान होनेके कारण प्रतिकूल संसर्गपर वैराग्योत्पत्ति दिखायी है जो शरणागतिमें आवश्यक है। भक्ति-ग्रन्थोंमें कहा है कि जब भगवान्‌की किसीपर निर्हेतुक कृपा हो जाती है, तब वह उसपर कोई ऐसा घोर दुःखजनक अपमानादि डाल देते हैं जिससे वह दुनियाँके सब प्रयोजनोंसे विरक्त हो जाता है और उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्‌के अभिमुख हो जाता है। यहाँ विभीषण भी भगवान्‌का अनुग्रह होनेके कारण इस दासवत् अपमानसे विरक्त हो उठते हैं। यहाँतक—शरणागतिके लिये आवश्यक जो वैराग्य है उसका निरूपण हुआ। अब इस दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम क्या करना चाहते हो ? यज्ञ-याग, तन्त्र-मन्त्रसे, उसे उड़ाना चाहते हो या और कुछ ? इसपर—'प्रयोजनान्तरसे विमुख होकर परम पुरुषार्थस्वरूप भगवान् श्रीरामकी ही शरण लेना मैं चाहता हूँ' यह आगे प्रकट करते हैं—

'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः ॥'

'स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीरामकी शरण आया हूँ' श्रीरामकी शरण आये हो तो शायद जिन दुनियावी कामनाओंसे खिन्न हुए हो, उन मनोरथोंको पूर्ण करना चाहते होगे। तो कहते हैं—'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च' मैंने स्त्री-पुत्रादि सबको छोड़ दिया है। यहाँ 'पुत्रांश्च दारांश्च' यह उपलक्षणमात्र है। यावत् लङ्काकी विभूति छोड़ दी है यह उनका अभिप्राय है। क्योंकि विभीषणकी जो दूसरी प्रार्थना श्रीरामके सामने आगे चलकर होगी, उसमें उन्होंने साफ ही कहा है—

'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च ॥'

'मैंने सम्पूर्ण लङ्का, मित्र और सब प्रकारकी विभूतियाँ छोड़ दी हैं।'

यह दरख़्वास्त तो नायबोंके द्वारा हाकिमके पास पहुँचायी जा रही है, परन्तु जहाँ स्वयं विभीषणका बयान साक्षात् श्रीरामके दरबारमें होगा वहाँ उन्होंने अपना वक्तव्य खुलकर साफ़-साफ़ कहा है। अतएव यह उन्होंने स्पष्ट ही सूचित कर दिया है कि मुझे दुनियावी प्रयोजन नहीं, क्योंकि उनको तो मैं स्वयं

छोड़कर आया हूँ । अब तो—'राघवं शरणं गतः' परमपुरुषार्थ श्रीभगवान् रामचन्द्रका आश्रय लेना ही मेरा प्रधान प्रयोजन है ।

हाकिमसे प्रयोजनकी अर्ज करनेवाले लोग दरवाजे-पर तो कह जाते हैं कि—'नहीं हमें तो सिर्फ़ सलाम ही करना है' जिससे कि दरवान उन्हें न रोके किन्तु भीतर जाकर फिर अपने मतलबकी बात छेड़ बैठते हैं । इसी तरह शायद विभीषण भी पहले निःस्वार्थता दिखाते हैं फिर कोई प्रयोजन माँग बैठें, सो नहीं है । उन्होंने श्रीरामचन्द्रके सम्मुख भी, जिस समय श्रीराम उन्हें लङ्काका राज्य देने लगे, उसपर ध्यान ही नहीं दिया । उन्होंने तो यही कहा है कि 'राक्षसानां वधे लङ्कायाश्च प्रधर्षणे ते साह्यं करिष्यामि' 'मैं राक्षसों-के वधमें तथा लङ्काविजयमें आपके साथ-साथ रहकर परिचर्या करूँगा' इस तरह रामपरिचर्याको ही वह फलस्वरूप मानते हैं । इस बातसे विभीषणपर जो स्वार्थिताका दोष लगाया जाता है वह बिल्कुल निर्मूल हो जाता है । (क्रमशः)



मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

७६४—ब्रह्मभावनाके द्वारा तुम जितना ही वासनाको क्षीण बनाओगे, उतना ही निर्मल होते जाओगे । वासना जिस परिमाणमें क्षीण होगी मन भी उसी परिमाणमें क्षीण होता जायगा । मन केवल वासनाओंकी एक गठरी है ।

७६५—भ्रमात्मक सांसारिक वासना जो सैकड़ों जीवन-के अभ्यासद्वारा निर्मित हुई है केवल चिरकालीन यौगिक क्रियाके द्वारा ही नष्ट हो सकती है । इसलिये साधक विवेकके द्वारा भोगकी कामनाको दूर हटा उपर्युक्त तीनों साधनाओंका आश्रय लेते हैं । ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि वासनामय मन बन्धनकी ओर ले जाता है, तथा वासना-हीन मन मोक्षरूप कहा जाता है । मनको वासनाहीन करनेका अभ्यास करो । विचार, ब्रह्मध्यान, वैराग्य और त्यागके द्वारा वासनाका नाश होता है ।

७६६—वासनाके क्षय होनेपर स्नेहहीन दीपकके समान मन शान्ति प्राप्त करता है ।

७६७—छः वर्ष बाद अपने प्रिय मित्रसे मिलनेपर जो आनन्द तुम्हें प्राप्त होता है वह उस मनुष्यसे नहीं मिलता बल्कि तुम्हारी अपनी अन्तरात्माकी ओरसे आता है । कुछ समयके लिये मन एकाग्र हो जाता है और तुम्हें अपनी अन्तरात्माकी ओरसे आनन्दकी प्राप्ति होने लगती है ।

७६८—जब मनकी किरणें विभिन्न विषयोंपर बिखरी होती हैं तो तुम्हें कष्ट मिलता है, जब वही किरणें अभ्यासके द्वारा सञ्चित की जाती हैं तो मन एकाग्र हो जाता है और तुमको भीतरसे आनन्द मिलने लगता है ।

७६९—सुखकी कामना मनमें जड़ जमाये हुए है, तुम्हें बहुत ही सावधान रहना होगा । मन सुखाभिलाषी, सुखान्वेषी तथा सुखावलम्बी है । तुम्हें उसके इस स्वभावको रोकना होगा ।

७७०—जब मन बढ़ता है तो तुम्हारा मानसिक प्रवाह तथा समीप और दूरके मृत और जीवित पुरुषोंके मनके साथ चेतनात्मक सम्बन्ध होता है ।

७७१—विचारोंके प्रत्येक परिवर्तनके साथ विचारद्रव्यमें (मानसिक) कम्पन होता है । शक्तिके समान विचार-को भी क्रियाशील होनेके लिये सूक्ष्म द्रव्यकी आवश्यकता होती है ।

७७२—जिस प्रकार नमक पानीमें घुल-मिल जाता है उसी प्रकार सात्त्विक मन ध्यानावस्थामें अपने अधिष्ठान ब्रह्ममें घुल-मिल जाता है ।

७७३–विचारमें प्रत्येक परिवर्तनके साथ मानसिक शरीरमें कम्पन उठता है और जब यह भौतिक शरीरको प्रेषित होता है तो तुम्हारे मस्तिष्कके स्नायु-तत्त्वोंमें क्रिया उत्पन्न करता है। स्नायु-कोषों (Nervous Cells)में इस क्रियाके द्वारा अनेकों वैद्युत और रासायनिक परिवर्तन होते हैं। विचार-क्रियाके द्वारा ही यह परिवर्तन होते हैं।

७७४–विभिन्न पुरुषोंमें मानसिक शरीर विभिन्न प्रकारके होते हैं। इसके साथ सम्बन्धित अधिक या कम विकसित चेतनाकी आवश्यकताके अनुसार यह सूक्ष्म या स्थूल तत्त्वोंसे निर्मित होता है। शिक्षित पुरुषमें यह सुस्पष्ट और क्रियात्मक होता है तथा संकुचित हृदयके पुरुषमें यह धुँधला और अस्पष्ट होता है।

७७५–क्रोधावेशमें मन पूर्णतः ईर्ष्या और द्वेषके काले रंगसे लबालब भरा होता है जिससे वह कालिमामय उद्घोष प्रकट होता है जिसके द्वारा क्रोधके अग्निवाण छूटने लगते हैं और उसको हानि पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं जिसके ऊपर क्रोध उत्पन्न होता है।

७७६–दार्शनिक ग्रन्थोंका अध्ययन, सम्यक् चिन्तन, शुभ और भद्र भावोंका अभ्यास, प्रार्थनाएँ और दयाके प्रयत्न और सबसे बढ़कर नियमित और अनवरत ध्यानके द्वारा मानसिक उन्नति होती है। इनसे मनका शीघ्रातिशीघ्र विकास होता है।

७७७–समस्त दूषित विचार मनको गन्दा करते हैं और हानि पहुँचाते हैं और यदि उन्होंने घर किया तो नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न करेंगे जिससे मनकी वह दुर्गति होगी कि जिससे जीवनपर्यन्त छुटकारा न मिलेगा।

७७८–नवीन जन्म लेनेपर प्रत्येक व्यक्तिके लिये एक नवीन मानसिक शरीर निर्मित होता है।

७७९–मनकी गठन दैनिक नहीं, वल्कि प्रति घण्टे बनती जाती है। प्रतिक्षण यह गिरगिटके समान अपना रंग और रूप बदला करता है। यह बहुत ही चञ्चल और अस्थिर होता है।

७८०–भोजनका सूक्ष्मतम भाग ऊपर हृदयमें पहुँचता है और वहाँसे Hita नामक प्रणालियोंमें प्रवेशकर वागिन्द्रियको उत्तेजित करता है तथा मनके रूपमें परिवर्तित हो उसे वर्द्धित करता है। अतः भोजनके द्वारा वर्द्धित मन भौतिक पदार्थ है, वैशेषिक सिद्धान्तके अनुसार नित्य नहीं।

७८१–उच्च और सात्त्विक अभिलाषायें करुणा तथा सर्वप्रियताकी प्रवृत्ति और दया–यह सब मनके सात्त्विक अंशको अत्यधिक उन्नत करते हैं। इनसे उच्चतम मनका विकास होता है।

७८२–अमूर्त्त-चिन्तन और तर्क, नियमित ध्यान, ब्रह्मचिन्तन, उपनिषद्, योगवाशिष्ठ तथा ब्रह्मसूत्रके अध्ययनके द्वारा विज्ञानमय कोष विकसित होता है।

७८३–शिशु अपने संस्कारोंके साथ उत्पन्न होता है। शिशु अतीत अनुभवोंको मानसिक तथा आचार-सम्बन्धी प्रवृत्ति और शक्तिके रूपमें परिणतकर जन्म लेता है। बौद्धिक विशेषताओंमें भौतिक अनुभवोंका पर्यवसान होता है।

७८४–जो लोग सामने आयी हुई किसी वस्तुसे सन्तुष्ट नहीं होते वह दुर्बल मनके होते हैं। सन्तोष परम सुख है। सन्तोष महान् धर्म है। मुक्तिके विस्तृत साम्राज्यके चार द्वारोंमें एक यह भी है। यदि सन्तोष होगा तो उससे तुम्हें सत्संग, विचार और शान्तिकी प्राप्ति होगी।

७८५–निर्दोष मनका निर्णय वाणी, मुखाकृति और नेत्रोंके द्वारा हो सकता है। इन लक्षणोंके द्वारा निर्दोष मनके मनुष्योंके विषयमें सम्मति दी जा सकती है।

७८६–सुखद या दुःखद अनुभवोंके द्वारा मनुष्य वह सामग्री एकत्रित करता है जिसके द्वारा मानसिक और सदाचार-सम्बन्धी तत्त्वोंका निर्माण किया जाता है।

७८७–अधःचेतनावाले मनकी चित्त-संज्ञा है। चित्त अधिकांशमें अतीत अनुभवों तथा स्मृतियोंमें ही सन्निहित रहता है जो परोक्षमें रहते हुए भी ग्राह्य हो सकती हैं।

७८८–जिसप्रकार एक व्यापारी गतवर्षके खातेको बन्दकर नये वर्षका खाता खोलते समय पुराने खातेका समस्त विवरण नये खातेमें नहीं शामिल करता बल्कि केवल बाकी रकमें ही उतारता है, उसी प्रकार जीव गतजीवनके अनुभवों, प्राप्त परिणामों, स्थिर निश्चयोंको अपने नये जीवनके मस्तिष्कमें स्थान देता है। यही सामग्री वह नवजीवनको हस्तान्तरित करता है, जो नये महल–यथार्थ स्मृतिके लिये मानसिक उपकरणके रूपमें है।

७८९–ब्रह्मानुभव केवल मनके द्वारा ही हो सकता है, जब वह सङ्कल्प-विकल्पसे रहित होता है। इस

उद्भव और प्रलय, जो केवल चेतनाकी एक दशा है, मनके सङ्कल्पोंके उद्भव और प्रलयके साथ-साथ होती रहती है। मनके सङ्कल्प ही समस्त चराचर जगत्को व्यक्त करते हैं।

७६०—मन जो इच्छाओंके उत्थान और पतनके साथ उठता और गिरता है अपनी अज्ञानताके कारण इस मायात्मक जगत्को सत्य कल्पना करता है। परन्तु जगत्की वास्तविक दशाका ज्ञान होते ही यह स्वयं ब्रह्मरूप हो जायगा—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

७६१—मन मनुष्यके बन्धन और मोक्षका कारण है। मन ही मनुष्यको इस संसारसे बाँधता है। जहाँ मन नहीं है, वहाँ बन्धन भी नहीं है। मन अज्ञान और अविवेकके द्वारा कल्पना करता है कि आत्मा इस शरीरमें आबद्ध और निवसित है और इसप्रकार उसे बद्ध मानता है। मन जीवात्माके साथ अपना अभेद अनुभव करता है और इसप्रकार अपनेको 'अहम्' कहते हुए सोचता है कि 'बद्धोऽहम्'। अहंकार बन्धनका कारण है। निरहंकार मोक्षका मूल है। मन अपने अज्ञान और अविवेकके द्वारा अपनी असत्य व्यक्तिको सत्य समझता है और अपनेको समस्त कर्मोंका कर्त्ता समझता हुआ अहंकार-रूप हो जाता है। वह अपनेको बन्धनमें मानता है। जीवात्माके साथ तादात्म्य अनुभव करता हुआ वह स्वयं जीवात्मा हो जाता है तथा शुभाशुभ कर्मोंके करनेका एवं उनके सुख दुःखरूप फलोंका उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेता है।

७६२—मन कर्मोंका कर्ता है और उनका उत्तरदायित्व भी उसीके ऊपर है।

७६३—मन और जीवात्मा सदा एक साथ रहते हैं। वे कभी अलग नहीं किये जा सकते। मन जीवात्माको विषयोंमें घसीटता है। मनमें जीवात्मा आभास-चैतन्यरूप है।

७६४—तुम केवल विषयोंको देख सकते हो परन्तु साक्षी या कूटस्थ ब्रह्म मनको, उसके रूपोंको, जीवात्माको तथा जगत्के विभिन्न विषयोंको भी देखता है।

७६५—मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही बनता है, और इसप्रकार वह अपने आचारका निर्माण करता है। वह दूसरोंके ऊपर अपने कर्मोंके प्रभावके द्वारा अपने भावी जीवनकी परिस्थितियोंका निर्माण करता है। यदि तुम सौम्य विचार करते हो तो तुम क्रमशः एक सौम्य आचारका निर्माण करोगे; परन्तु यदि तुम तुच्छ विचार करते हो तो उससे एक तुच्छ आचारका निर्माण होगा। मनुष्य विचारोंके द्वारा निर्मित होता है। एक जीवनमें उसके जैसे विचार होते हैं दूसरे जीवनमें वह वैसा ही बन जाता है।

७६६—यदि मन सतत एक प्रकारके विचारोंके ऊपर लगा रहता है तो उससे एक ऐसी प्रणालीका निर्माण होता है जिसमें विचार-शक्ति यन्त्रवत् प्रवाहित होती है। और इस प्रकारके विचार-साधनसे मृत्युपर भी विजय प्राप्त हो सकती है। तथा अहङ्कार-युक्त होनेके कारण यह विचार-प्रवृत्ति तथा क्षमताके रूपमें अग्रिम भौतिक जीवनमें पदार्पण करता है।

७६७—मन आत्माका नाश करनेवाला है। यह एक चोर है। श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा आत्माके नाश करनेवाले मनको मार डालो।

७६८—सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माके अतिरिक्त दूसरा कौन मनकी विलक्षण प्रगतिको सहज ही ठीक-ठीक समझ सकता है?

७६९—शरीर-इन्द्रियोंके साथ दूसरी वस्तु नहीं, मन ही है। मन शरीरका चिन्तन करते स्वयं शरीर बन जाता है और तब उसमें मिला हुआ वह उसके द्वारा दुःख भोगता है।

८००—मनकी क्रियाएँ ही वास्तविक क्रियाएँ हैं, परन्तु शारीरिक क्रियाएँ वैसी नहीं।

८०१—जब मन खूब गहरा किसी वस्तुमें आसक्त रहता है तो शरीरके नाशकी आशङ्का होनेपर भी उसे कष्टकी अनुभूति नहीं होती। जब मन पूर्णतया किसी विषयमें मग्न होता है तो शरीरकी चेष्टाओंके द्वारा दूसरा कौन अनुभव करता तथा प्रत्यक्ष करता है?

८०२—समस्त शरीरोंका अवस्थान केवल मनमें ही होता है। क्या पानीके विना वनका अस्तित्व रह सकता है? मन ही समस्त व्यवहारोंका सञ्चालक है और यह सब शरीरोंसे श्रेष्ठ है। यहाँतक कि भौतिक शरीरके नष्ट होते ही बहुत शीघ्र यह अपने अनुकूल नवीन शरीर धारण कर लेता है, यदि मनके चेतनाशून्य होनेसे शरीर हमारे ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं करता।

८०३—अमूर्त-सिद्धान्तोंके सतत अध्ययनका परिणाम दूसरे भौतिक जीवनमें पड़ता है। अमूर्त-चिन्तन संवर्द्धित शक्तिके रूपमें तथा अस्थिर और शीघ्रतापूर्वक चिन्तनके द्वारा आनेवाले जीवनमें एक अशान्त और असंयत मनकी सृष्टि होती है।

८०४–दूसरोंकी अधिकृत वस्तुपर स्वार्थवश जो प्रलोभित होता है वह चाहे इस जन्ममें क्रियात्मकरूपमें उस वस्तुके लिये ठग न बने, परन्तु दूसरे जन्ममें उसे चोर बनना ही पड़ता है तथा ईर्ष्या-द्वेषको हृदयमें बराबर स्थान देनेसे मनुष्य दूसरे जन्ममें हत्यारा बन जाता है। उसी प्रकार परोपकारी पुरुष दूसरे जन्ममें विश्वप्रेमी सन्त बन जाते हैं तथा उनके प्रत्येक दयाके विचार सर्वजीवोंके हित करनेवाले सुन्दर और करुणामय आचार-का रूप धारण करते हैं।

८०५–इस मनका विस्तार ही संकल्प है; और संकल्प अपने भेदभावनाकी शक्तिद्वारा इस जगत्‌को उत्पन्न करता है। अपनेको सर्वसंकल्पशून्य करके निर्विकल्प बनो, तब तुम पूर्ण शान्ति और आनन्द प्राप्त करोगे।

८०६–प्रत्येक कर्मका कुछ अदृष्ट होता है जो उसे वहाँ पहुँचाता है। प्रत्येक कर्मका भविष्य होता है जो उससे उत्पन्न होता है। एक कर्मके लिये एक इच्छाकी आवश्यकता होती है जो उसे उकसाती है और एक विचारकी आवश्यकता होती है जो उसे रूप देती है। प्रत्येक कर्मके साथ एक अनादि कार्य-कारणकी शृंङ्खला लगी हुई है। प्रत्येक कारण कार्यका रूप धारण किये हुए है और प्रत्येक कार्य कारणका रूप। और अनन्त शृंङ्खला-की प्रत्येक लड़ इच्छा, विचार और क्रियारूप तीन विशेषणोंसे सुसज्जित होती है। इच्छा विचारको उत्तेजित करती है और विचार कर्मका रूप धारण करते हैं।

८०७–'जैसा मनुष्य सोचता है, वैसा ही वह है।' 'मनुष्य विचारोंके द्वारा सृजा जाता है।' 'मनुष्य जो सोचता है वही हो जाता है।' यदि तुम साहसका विचार करते हो, तो तुम अपने आचारमें साहसको क्रियान्वित करते हो। यही बात शुचिता, सन्तोष, निःस्वार्थता तथा आत्मशासनकी भी है। दृढ़ चेष्टासे युक्त विचार मनको एक विशेष अभ्यासमें लगाता है और वह अभ्यास स्वयं आचार-सम्बन्धी एक गुणके रूपमें व्यक्त होता है। नियमानुकूल कार्य करते हुए तुम भी निश्चय-पूर्वक अपने आचारका उसी प्रकार निर्माण कर सकते हो जैसे एक राजगीर एक दीवालका निर्माण करता है।

८०८–श्रद्धा होनेसे मन ज्ञेय वस्तुपर आसानीके साथ जमाया जा सकता है; और तब ज्ञान शीघ्रतापूर्वक प्राप्त होता है।

८०९–केवल वृत्तियाँ तुम्हें विषयोंके साथ बाँधती हैं। यह रहस्य है। मनकी वृत्तियोंके साक्षी बनो और तब अधिक समयतक बन्धन न रह जायगा।

८१०–हे शिव! तुम काम-क्रोधादिसे क्यों डर रहे हो? वे तुम्हारे दास हैं। तुम सच्चिदानन्द आत्मा हो। आत्माके ऐश्वर्य और महत्ताका अनुभव करो।

८११–ध्येय विषयमें मनकी अल्पकालिक स्थिति मनोलय कहलाती है। जब तुम भगवान् श्रीकृष्णके रूपका ध्यान करते हो तो तुम्हारा मन कुछ समयके लिये भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें लय हो जाता है। मनोलय तुम्हें बन्धनसे नहीं बचा सकता। मनोलय तुम्हें मुक्ति नहीं प्रदान कर सकता। मनोनाशहीसे तुम्हें मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। वह मनोनाश ब्रह्मज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है।

८१२–ब्रह्मभावना और विचारके द्वारा वासना-क्षय होता है। वैराग्य और त्याग भी उसके नाशमें सहायक होते हैं। ब्रह्ममें वासना नहीं होती। वासनाओंका पूर्ण उच्छेद केवल निर्विकल्प समाधिमें ही होता है।

८१३–ज्ञानकी प्राप्तिके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन तीन वेदान्तिक क्रियाएँ होती हैं। यदि तुम श्रुतिका श्रवण करते हो तो दस बार उसका मनन करो और सौ बार निदिध्यासन करो। तभी श्रवणका यथार्थ फल मिलेगा।

८१४–मानसिक और नैतिक गुणोंमें विचारके सूत बुने गये हैं। इन्हीं गुणोंकी समष्टिको आचार कहा जाता है।

८१५–जब मनुष्य किसी विशेष विचारकी ओर मुड़ता है और उसके ऊपर जमता है तो एक विशिष्ट प्रकारका तत्त्व-कम्पन होने लगता है और जितना ही यह कम्पन बढ़ता है उतना ही अधिक यह अभ्यास तथा यान्त्रिक-रूप धारण करनेके लिये प्रवृत्त होता जाता है। शरीर मनका अनुसरण करता है तथा उसके परिवर्तनका अनुकरण करता है; यदि तुम अपने विचारको केन्द्रीभूत करो तो आँखें दृढ़ हो जाती हैं।

८१६–स्वेच्छानुसार यदि तुम अपने आचारको बनाना चाहते हो तो तुम्हें उन गुणोंको चुनना होगा जिनका समावेश उस आचारमें होता है और तब दृढ़तापूर्वक उन्हीं गुणोंके विषयमें चिन्तन करना होगा। चिरकालमें तुम्हें उन गुणोंके अनुभव करनेकी प्रवृत्ति होगी और फिर कुछ ही दिनोंमें तुम्हारा साधन अभ्यसित हो जायगा। विचार ही आचारका निर्माण करते हैं। तुम विचाररूपी सूतके द्वारा अपने भाग्यको बुनते हो।

अभ्यास-वैराग्य

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

श्यामा–हे बहिन कोकिला ! जबसे मुझे तेरे साथ सहवास करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है और तूने मुझे गीता पढ़ायी है तबसे मैं नित्यप्रति गीताका पाठ किया करती हूँ और उसके अर्थका भी विचार करती रहती हूँ । ऐसा करनेसे मेरा मन पूर्वकी अपेक्षा बहुत ही शान्त रहता है । विष्णुसहस्रनामका पाठ करनेका तो मेरा नित्य नियम ही है, यह बात तो तू जानती ही है । ऊपरके गीताके श्लोकका अर्थ बहुत-से टीकाकारोंने विस्तारसहित समझाया है, फिर भी हे बहिन ! उसका अर्थ मैं तेरे मुखसे सुनना चाहती हूँ, क्योंकि समझानेकी तेरी शैली बहुत ही उत्तम है, तेरा समझाया हुआ तुरन्त मनमें बैठ जाता है और फिर कभी उसकी विस्मृति नहीं होती, इसलिये उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए अभ्यास और वैराग्यका अर्थ विस्तारसे और रोचक वाणीमें मुझे समझानेकी कृपा कर ! यह तो मैं जानती हूँ कि ज्ञान, वैराग्य, भक्ति-सम्बन्धी प्रश्नोंके उत्तर देनेमें तुझे विक्षेप नहीं होता और आलस्य भी नहीं होता, उलटे ऐसे प्रश्नोंके उत्तर देनेमें तेरी बुद्धि विनोद मानती है, इसीलिये मैं भी संकोचरहित होकर बारम्बार तुझसे ऐसे प्रश्न करती ही रहती हूँ ।

कोकिला–(प्रसन्न होकर) बहिन ! तेरी-सी सहेली पाकर मैं अपनेको धन्य समझती हूँ, क्योंकि तू स्वयं भगवद्भजनमें लगी रहती है और मुझे भी भगवत्का स्मरण कराती रहती है । तेरे प्रश्न करनेसे मुझे भगवत्का स्मरण हो आता है । वृद्धाओंका कथन है कि जिस घरमें हरिचर्चा न हो वह घर भूतोंका निवासस्थान है, जो जिह्वा भगवत्-कीर्तन नहीं करती, वह मेंढककी जिह्वाके समान निरर्थक है । जो बहिनें भगवत्की कथा छोड़कर संसारी दन्तकथाओंमें लगी रहती हैं, उनका जन्म निष्फल ही है, क्योंकि ऐसोंके जीनेसे न तो अन्य किसीको लाभ है और न स्वयं उनको किसी प्रकारका लाभ है । इसलिये पशुओंके समान अथवा लोहारकी धौंकनीके समान उनका जीवन निरर्थक ही है । जो बहिनें आप भगवत्-कथामें लगी रहती हैं और दूसरोंको भी लगाये रहती हैं, उन्हींका जीवन सफल है, क्योंकि वे अपना और दूसरोंका कल्याण करनेवाली हैं । भगवत्-सम्बन्धी प्रश्न करनेसे तू मुझे बहुत ही प्यारी है, मुझे तेरा प्रश्न सुनकर बहुत ही आनन्द होता है, क्योंकि तेरा प्रश्न सुनते ही आनन्दस्वरूप भगवान् साक्षात् मेरे हृदयमें आ जाते हैं । भगवान्‌के हृदयमें आनेसे काम-क्रोधादि सब दूर भाग जाते हैं और अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है । स्वच्छ अन्तःकरणमेंसे निकले हुए शब्द श्रोता और वक्ता दोनोंको पवित्र कर देते हैं । तेरा प्रश्न मुझे बहुत प्यारा है, क्योंकि यह सभी भाई-बहिनोंका हित करनेवाला है । इसको सुनकर मुझे अपनी कुमारावस्थाका एक वृत्तान्त स्मरण हो आया है, उसीको सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन—

जब मैं कोई नौ-दस वर्षकी थी, तभी मेरी माताने मुझे गीता कण्ठ करा दी थी । मैं गीताका नित्य पाठ किया करती थी, कुछ-कुछ अर्थ भी समझ लेती थी । एक दिन मेरी माता श्रीमद्भागवतका प्रवचन कर रही थी, बहुत-सी बहिनें सुन रही थीं, मैं भी माताके पास बैठी हुई थी । माता देवहूति और कपिल

भगवान्‌का संवाद था । भगवान्‌ने अपने सगुणस्वरूप-का ध्यान बताते हुए जब मकराकार कुण्डलोंका वर्णन किया, तो मैंने अपनी बालक-बुद्धिसे अपनी मातासे इसप्रकार प्रश्न किया—

मैं—माताजी ! आप भगवान्‌के कुण्डलोंको बिजली-की-सी कान्तिवाले बताती हैं, क्या किसी बहिन या भाईके कानोंमें ऐसे कुण्डल हैं ? मैं भी ऐसे कुण्डल पहनना चाहती हूँ ।

माता—(हँसकर) बेटी ! भगवान्‌के कुण्डल तो दिव्य हैं । ऐसे कुण्डल इस लोकमें नहीं मिल सकते, जो भगवान्‌के सच्चे भक्त हैं, वे भगवान्‌से कुण्डल माँगते भी नहीं हैं । वे तो भगवान्‌को ही प्रत्यक्षमें अथवा ध्यानमें चाहते हैं, जब भगवान् मिल जाते हैं, तो कुण्डल आप ही मिल जाते हैं । हे बेटी ! तुझे तो भगवान्‌ने दोनों कुण्डल दे ही रक्खे हैं, यदि तू उन्हें सँभालकर उत्साहसहित धारण करेगी, तो तुझे भगवान्‌का ज्ञान और दर्शन बहुत ही शीघ्र हो जायगा और भगवान्‌की प्राप्ति भी हो जायगी ।

मैं—(आश्चर्य करती हुई) माताजी ! मेरे पास कुण्डल कहाँ है ? मेरे तो बाली भी नहीं है । आप तो कभी झूठ नहीं बोलतीं और दूसरोंको भी झूठ न बोलनेका और सर्वदा सत्य बोलनेका उपदेश दिया करती हैं, फिर आज झूठ क्यों बोलती हैं ?

मेरी बातको सुनकर सब बहिनें एक साथ ठहाका मारकर हँसने लगीं । एक कहने लगी ।

एक बहिन—हाँ ! लड़की सच तो कहती है ! बेचारीके कानोंमें लोहेतककी भी तो बाली नहीं है, आप कहती हैं कि भगवान्‌ने तुझे कुण्डल दे रक्खे हैं, बताइये, कहाँ दे रक्खे हैं ?

माता—हे भावुकाओ ! हे बेटी ! सांख्य और योग—ये ही दोनों भगवान्‌के कुण्डल हैं, (देखो भागवत १२ । ११ । १२) ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं । ये दोनों सभी भक्तोंको भगवान्‌ने दे रक्खे हैं और हे बेटी ! तुझे तो प्रत्यक्ष ही दे दिये हैं, क्योंकि तू गीतामें दोनोंको देखती है, कुछ-कुछ उनका स्वरूप समझने भी लगी है, यदि ऐसा ही करती रही, तो तुझे भगवान्‌की प्राप्ति होनेमें कुछ सन्देह नहीं है ।

मैं—हाँ ! माताजी ! समझ गयी, सांख्य और योग—ये दोनों भगवान्‌के मकराकार कुण्डल हैं, ऐसा आपने एक दिन और भी कहा था, और इन दोनोंके अभ्यास और वैराग्य दो मोती बताये थे, इन दोनों मोतियोंका स्वरूप भी बताया था, परन्तु मुझे स्मरण नहीं रहा । आज इन दोनोंका स्वरूप फिर समझाइये !

माता—हे कल्याणियो ! क्षयीरोग (तपेदिक) असाध्य रोग है, ऐसा चिकित्सक कहते हैं । इस रोगकी कोई ओषधि नहीं है, केवल एक उपाय है कि यदि कोई रोगी हजार दिनतक यानी तीन वर्ष-तक मूँग और अरहरकी मिली हुई दाल और गेहूँकी बिना चुपड़ी रोटी खाता रहे और इसके सिवा कुछ न खाय, तो यह असाध्य रोग भी साध्य हो सकता है । जैसे यह क्षयीरोग असाध्य रोग है, इसी प्रकार यह संसार असाध्य रोग है । क्षयीरोग तो एक जन्मका रोग है और संसार अनादि और अनन्त-रोग है । क्षयीरोगसे संसार-रोगमें यह विशेषता है कि क्षयीरोग तो एक बार ही मारता है और संसार-रोग जन्म-जन्मान्तरमें मारता ही रहता है, इसलिये संसार-रोग महान् दारुण रोग है । जैसे क्षयीरोगकी निवृत्ति-का उपाय केवल गेहूँकी रोटी और मूँग-अरहरकी मिली हुई दाल है, इसी प्रकार इस संसाररूप रोगकी निवृत्तिका उपाय केवल एक ईश्वर-भजन है । जैसे क्षयीरोगमें दाल-रोटीके सिवा अन्य सब कुपथ्य है, इसी प्रकार संसार-रोगमें ईश्वर-भजनके सिवा अन्य कुपथ्य है । परन्तु इतना निश्चय है कि क्षयीरोग तो चाहे

उक्त साधनसे न भी मिटे पर ईश्वर-भजनसे संसार-रोग जरूर नष्ट हो जाता है ।

हे भावुकाओ ! किसी कार्यको बारम्बार करनेका नाम अभ्यास है और किसी कार्यमें राग न करनेका नाम वैराग्य है । यहाँ ब्रह्मविद्याका प्रसंग है, इसलिये ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये ईश्वर-भजन बारम्बार करना अभ्यास है और संसारके भजनमें राग न करनेका नाम वैराग्य है । भाव यह है कि जैसे क्षयी-रोगके दूर करनेको तीन वर्षतक दाल-रोटी खानी पड़ती है और दाल-रोटीके सिवा अन्य वस्तुएँ त्यागनी पड़ती हैं, इसी प्रकार संसाररूप रोग दूर करनेके लिये ब्रह्मका साक्षात्कार होनेतक ईश्वर-भजनरूप ओषधि करनी चाहिये और संसारके भजनरूप कुपथ्यका त्याग करना चाहिये । जैसे ईश्वर-भजन-रूप ओषधि सेवन करनेयोग्य है और संसार-भजन-रूप कुपथ्य त्याज्य हैं, इसी प्रकार ईश्वर-भजनरूप ओषधिके अंग भी सेवन करनेयोग्य हैं और संसार-भजनरूप कुपथ्यके अंग भी त्यागनेयोग्य हैं, क्योंकि अंग बिना अंगी नहीं रहता, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको क्या सेवन करना चाहिये यानी किसका अभ्यास करना चाहिये और क्या त्याग करना चाहिये यानी किससे वैराग्य करना चाहिये, यह बतलाती हूँ—

हे बहिनो ! श्रेयाभिलाषी भाई-बहिनोंको सबसे पहले दुर्जनोंका संग छोड़ना चाहिये और सत्पुरुषोंका संग करना चाहिये, क्योंकि *'जैसा संग, वैसा रंग'* यह कहावत लोकमें प्रसिद्ध है । जैसे चमारकी दूकान-पर बैठनेसे दुर्गन्धकी और गन्धीकी दूकानपर बैठनेसे सुगन्धकी प्राप्ति होती है, इसी प्रकार दुर्जनोंका संसर्ग करनेसे दोषकी प्राप्ति होती है और सज्जनोंका संग करनेसे गुणोंकी प्राप्ति होती है, इसलिये बहिन-भाइयों-को दुर्जनोंके संगसे सदैव बचना चाहिये और सज्जनों-का संग आदरपूर्वक सदा करना चाहिये । विद्वानों-का वचन है कि दुर्जनके पास जानेसे, उससे भाषण करनेसे, उसके साथ भोजन करनेसे और बैठनेसे मनुष्यको पाप लगता है । कुसंगको, कुचिन्ताको, कुपुस्तकको, कुकथाको, कुदृश्यको, कुकर्मको, कुमित्रको, शीघ्र ही त्याग दे । दुराचारियोंका संग जैसे भयदायक है, वैसे ही सदाचारियोंका संग संसार-दुःखकी ओषधि है ।

हे बहिनो ! हम सबको सज्जनोंका संग करना, सत्-शास्त्रोंका अवलम्बन लेना, सत्यका विचार करना और सुकृति—सत्कर्म सर्वदा करने चाहिये । कायासे, मनसे, वाणीसे पुण्यकर्मपरायण होना चाहिये । धर्म-कर्ममें कभी आलस्य न करना चाहिये, क्योंकि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सज्जनों और सत्-शास्त्रोंके अवल-म्बनसे ही प्राप्त होते हैं । सज्जनों और सत्-शास्त्रोंकी सहायता बिना न तो कोई लौकिक अथवा पारलौकिक ज्ञान ही होता है और न कोई कार्य ही होता है । सज्जन और सत्-शास्त्र ये दो नेत्र हैं, जो इन दो नेत्रोंसे हीन हैं, वे जहाँ जाते हैं, ठोकरें ही खाते हैं । आप गड्ढेमें गिरते हैं और अपने साथियोंको भी गिराते हैं, जो लोग सज्जन और सत्-शास्त्ररूप नेत्रवाले हैं, उनको सर्वदा विजय प्राप्त होती है, कहीं उनकी पराजय नहीं होती और कहीं उनको दुःख भी नहीं प्राप्त होता ।

हे कल्याणियो ! सत्पुरुषों और सत्-शास्त्रोंके सम्बन्धमें विद्वानोंका ऐसा कथन है कि सत्संग और सत्-शास्त्र ये दो नीरोग नेत्र हैं, जो इन दोसे हीन है, वह निश्चय अन्धा है । जो केवल बाहरके नेत्रोंसे हीन है, वह निश्चय अन्धा नहीं है, क्योंकि वह अपना हिताहित समझता है परन्तु जो सत्संग और सत्-शास्त्ररूप नेत्रोंसे हीन है, वह निश्चय अन्धा है, क्योंकि वह अपना हिताहित नहीं जानता । जो अपना हिताहित ही नहीं जानता, वह दूसरोंका हित तो कर ही कैसे सकता है ? इसलिये वही निश्चय अन्धा है । यह संसार-

रूप वन अन्धकारसे घिरा हुआ है, जो लोग काम और कर्मकी रस्सीसे बँधे हुए हैं और कालरूप व्याल-ने जिनको डस रक्खा है, उनके लिये इस संसारमें सज्जन और सत्-शास्त्र ये ही दो मार्गदर्शक हैं ।

हे सुशीलाओ ! यह संसार महा भयानक सागर है, इसमें काम-क्रोधादि अनेक नाके भरे हुए हैं, जो दिन-रात इस जीवको कष्ट देते रहते हैं, इन्द्रियोंके अनेक थपेड़े लगते रहते हैं । ऐसे संसार-सागरसे पार करने-वाला सज्जन ही है ।

प्रश्न—हे देवि ! सज्जनका क्या लक्षण है ?

उत्तर—हे भावुकाओ ! जो सिवा एक ब्रह्मके दूसरा कभी नहीं देखता, उसी सज्जनका सर्वदा सेवन करना चाहिये, क्योंकि वही महामोहको निवारण कर सकता है । चाहे वह बहिन हो या भाई हो, वही सज्जन है जो भगवान् विष्णुके प्रेममें डूबा हुआ हो, तप और वैराग्यसे युक्त हो, वही चित्तकी एकाग्रता-के लिये सेवन करनेयोग्य है । जो सर्व प्राणियोंपर दया करनेवाला हो, सर्व भूतोंसे कपटरहित व्यवहार करनेवाला हो, सदा सत्यपरायण हो, स्वधर्ममें प्रीति करनेवाला हो, निःस्वार्थ भक्त हो, निर्मल अन्तःकरण-वाला हो, उसीका नाम सज्जन है, वही सेवा करने-योग्य है, उसीके समागमसे शुभ इच्छाकी वृद्धि होती है ।

प्रश्न—हे देवि ! सत्-शास्त्र किसको समझना चाहिये ?

उत्तर—हे बहिनो ! जो सब आश्रमवासियोंपर कृपासे नित्य शासन करे और सब पापोंसे तार दे, वही शास्त्र कहलाता है । जिस शास्त्रमें ईश्वर-तत्त्वका निरूपण हो, ईश्वरावतारोंका वर्णन हो, ईश्वरके भक्तों-की कथाओंका वर्णन हो और जो ज्ञान, वैराग्य, भक्तिका उपदेश दे, वही शास्त्र ग्राह्य है । जिस ग्रन्थमें ईश्वरका प्रतिपादन न हो, वह शास्त्र दूरसे ही त्यागने-योग्य है यानी उसका दर्शन करना भी उचित नहीं है । सारांश यह है कि जिससे धर्मकी वृद्धि हो, वही सज्जन सेवन करनेयोग्य है और वही शास्त्र पढ़ने-योग्य है ।

प्रश्न—हे शुभशासिके ! धर्म क्या है और अधर्म क्या है ?

उत्तर—हे बहिनो ! धर्मके लक्षण शास्त्रकारोंने अनेक कहे हैं, परन्तु जो कर्म मनुष्यको ईश्वरके समीप ले जाय, वह धर्म है और जो मनुष्यको ईश्वर-से दूर ले जाय, वह अधर्म है । जो मनुष्यको ब्रह्मके समीप ले जाय, वह ग्राह्य है और जो मनुष्यको संसाररूप नरकमें ले जाय, वह त्याज्य है । स्त्री-पुरुषोंको सर्वदा वही करना चाहिये, जिससे चित्तकी निर्मलता बढ़े और वही त्यागना चाहिये, जिससे दुःखकी वृद्धि होती हो । प्रायश्चित्त-तत्त्वमें कहा है कि विषयोंमें अत्यन्त राग मनका मल कहलाता है और विषयोंमें विराग निर्मलता कहलाती है । निर्मल बुद्धि सत्य-असत्यका निर्णय कर सकती है, विषया-सक्त बहिन-भाइयोंकी बुद्धि निर्मल नहीं होती, इस-लिये वे जडबुद्धि होनेसे दुःख-सागरको सामने आया हुआ देखकर भी नहीं देखते और शोक-सागरमें डूब-कर आत्मघात कर लेते हैं । ऐसे आत्मघाती, शोक-समुद्रमें डूबते हुओंका उद्धार करनेके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और शुभ शास्त्रके सिवा कौन समर्थ है ? कोई समर्थ नहीं है, इसलिये मोक्षाभिलाषी बहिन-भाइयों-को संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये और ईश्वरकी प्राप्ति-के लिये सज्जन और सत्-शास्त्रका यत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये । दुर्जन और कुशास्त्रसे दूर रहना चाहिये । ऐसा करनेसे मनुष्यके विवेकरूप नेत्र खुल जाते हैं, विवेकरूप नेत्र खुल जानेसे उसे संसारकी असारता और ईश्वरकी सारता मालूम हो जाती है, फिर वह ईश्वरकी प्राप्तिके लिये अभ्यास और

संसारसे वैराग्य करने लगता है और ऐसा करनेसे देर-सबेर ईश्वरको प्राप्त करके सदाके लिये सुखी हो जाता है । हे बेटी ! सारांश सबका यह है कि ईश्वर-भजन सार और संसार असार है। ईश्वरके निर्गुण-सगुण-स्वरूपका ध्यान करना, ईश्वरावतारोंकी कथा सुनना, ईश्वरके नामका जप करना, ईश्वर-सम्बन्धी परस्पर वार्तालाप करना इत्यादि ईश्वर-प्राप्तिके लिये निरन्तर यत्न करना अभ्यास है और ईश्वर-भजनके विरोधी जितने व्यापार हैं, जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, परनिन्दा, विषयभोगकी इच्छा, संसारासक्त स्त्री-पुरुषोंके पास बैठना इत्यादिसे दूर रहना वैराग्य है।

हे बहिन ! इसप्रकार मेरी माताने अभ्यास और वैराग्यके सम्बन्धमें बहुत कुछ समझाया था किन्तु मुझे जितना स्मरण हो आया है, उतना सुना दिया है। हे बहिन ! मनका हठसे रोकना कठिन है, हठसे मन नहीं रुक सकता। हाँ, क्रमसे मन रोका जा सकता है। मन रोकनेके अभ्यास और वैराग्य दो उपाय हैं। ईश्वर-सम्बन्धी किसी भी उपायका बारम्बार करना अभ्यास है और ईश्वरका जिसमें वर्णन न हो किन्तु संसारकी ही जिसमें चर्चा हो, ऐसा कोई व्यापार न करना, इसका नाम वैराग्य है। अथवा ईश्वरकी प्राप्तिमें जो गुण उपयोगी हैं, उनका धीरे-धीरे प्राप्त करना और ईश्वरकी प्राप्तिमें जो अवगुण विरोधी हैं, उनका त्याग करना वैराग्य है यानी शुभ गुणोंका बढ़ाना अभ्यास है और दुर्गुणोंका यत्नपूर्वक कम करना वैराग्य है। श्रेयाभिलाषीको धैर्य धारण करके शुभ गुण प्रतिदिन बढ़ाने चाहियें और अशुभ गुण दिन-प्रतिदिन घटाने चाहियें ।

हे बहिन ! ईश्वरावतारोंकी कथाओंके पठन-पाठनसे ये दोनों अभ्यास और वैराग्य एक साथ होते हैं और बहुत ही शीघ्र सिद्ध होते हैं, ऐसा मेरा अनुभव है। ईश्वरावतारोंमें शान्ति, सन्तोष, विवेक, शम, दम, तितिक्षा, उदारता, धैर्य, वीरता, वैराग्य आदि गुण स्वाभाविक होते हैं, जबतक ये ईश्वरीय गुण प्राप्त न हों, तबतक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती । ईश्वरीय गुण प्राप्त होनेपर ईश्वरकी प्राप्ति कठिन नहीं है। ईश्वरावतारोंकी कथा निरन्तर पाठ करनेसे अथवा श्रवण करनेसे धीरे-धीरे कल्याणकारक गुण आते रहते हैं और अकल्याणकारक गुण निवृत्त होते जाते हैं। इसप्रकार ईश्वरावतारोंकी और ईश्वरके भक्तोंकी कथा पढ़ने-पढ़ानेसे अधिकारी सहजमें ही भवसागरसे पार होकर अक्षय विष्णुके परमधामको प्राप्त कर लेता है।

हे बहिन ! सजातीय वृत्तिकी यानी 'मैं ब्रह्म हूँ', इस वृत्तिकी बारम्बार आवृत्ति करना अभ्यास है और विजातीय वृत्तिका यानी 'मैं देह हूँ' इस वृत्तिका तिरस्कार करना वैराग्य है, ऐसा विद्वानोंका कथन है, परन्तु हे बहिन ! मैं तो भगवान्‌की कथा कहने-सुननेमें और भगवान्‌का नाम प्रेमपूर्वक लेनेमें ही अभ्यास और वैराग्यकी सफलता समझती हूँ । मैंने तो सबका यही सार निकाला है ।

कुं०—हरि-चर्चा अभ्यास है, हरि-चर्चा वैराग्य ।
हरि-चर्चा जो नित करैं, तिनका अति सौभाग्य ॥
तिनका अति सौभाग्य, शान्ति अक्षय हैं पाते ।
तरते भवसे आप, तार साथिन ले जाते ॥
जयदेवी ! सब छोड़, नहीं श्रम नाहीं खर्चा ।
प्रेमसहित कर नित्य, शोकहारिणि हरि-चर्चा ॥



प्रच्छन्न भक्त पुण्डरीक विद्यानिधि

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताऽथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥*

(श्रीमद्भा० २ । ३ । २४)



नके हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्ति उत्पन्न हो गयी है, जिनका हृदय श्याम-रङ्गमें रँग गया है, जिनकी भगवान्‌के सुमधुर नामों तथा उनकी जगत्-पावनी लीलाओंमें रति है, उन बड़भागी भक्तोंने ही यथार्थमें मनुष्य-शरीरको सार्थक किया है। प्रायः देखा गया है, कि जिनके ऊपर भगवत्-कृपा होती है, जो प्रभुके प्रेममें पागल बन जाते हैं, उनका बाह्य जीवन भी त्यागमय बन जाता है, क्योंकि जिसने उस अद्भुत प्रेमासवका एक बार भी पान कर लिया, उसे फिर त्रिलोकीके समस्त संसारी सुख फीके-फीके-से प्रतीत होने लगते हैं। संसारी सुखोंमें तो मनुष्य तभीतक सुखानुभव करता है, जबतक उसे असली सुखका पता नहीं चलता। जिसने एक क्षणको भी सुख-स्वरूप प्रेमदेवके दर्शन कर लिये, फिर उसके लिये सभी संसारी पदार्थ तुच्छ-से दिखायी देने लगेंगे। इसीलिये प्रायः देखा गया है, कि परमार्थके पथिक भगवत्-भक्तों तथा ज्ञाननिष्ठ साधकोंका जीवन सदा त्यागमय ही होता है। वे संसारी भोगोंसे स्वरूपतः भी दूर ही रहते हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी भक्त देखनेमें आते हैं, कि जिनका जीवन ऊपरसे तो संसारी लोगोंका-सा प्रतीत होता है किन्तु हृदयमें अगाध भक्ति-रस भरा हुआ होता है जो ज़रा-सी ठेस लगते ही छलककर आँखोंके द्वारा बाहर बहने लगता है। असलमें भक्तिका सम्बन्ध तो हृदयसे है, यदि मन विषय-वासनाओंमें रत नहीं है, तो कैसी भी परिस्थितिमें क्यों न रहें, हृदय सदा प्रभुके पाद-पद्मोंका ही चिन्तन करता रहेगा। यही सोचकर महाकवि केशव कहते हैं—

कहूँ 'केशव' भीतर जोग जगै
इत बाहिर भोगमयी तन है।
मन हाथ भयो जिनके तिनके
बन ही घर है घर ही बन है॥

प्रायः देखा गया है, कि त्यागमय जीवन बितानेसे साधकके मनमें ऐसी धारणा-सी हो जाती है, कि बिना स्वरूपतः बाह्य त्यागमय जीवन बिताये भगवत्-भक्ति प्राप्त ही नहीं होती। भक्तिमार्गमें यह बड़ा भारी विघ्न है। त्यागमय जीवन जितना भी बिताया जाय उतना ही श्रेष्ठ है, किन्तु यह आग्रह करना कि स्वरूपतः त्याग किये बिना कोई भक्त बन ही नहीं सकता, यह एक प्रकारका त्यागजन्य अभिमान ही है। भक्तको तो तृणसे भी नीचा बनकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको भी मनसे नहीं, किन्तु शरीरसे दण्डकी तरह पृथ्वीपर लेटकर प्रणाम करना चाहिये, तभी अभिमान दूर होगा। भक्तोंके विषयमें कोई क्या कह

* श्रीहरि भगवान्‌के मधुर नामोंके श्रवणमात्रसे जिनके हृदयमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न न हो, अथवा जिनके शरीरमें स्वेद, कम्प, अश्रु तथा रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंका उदय न होता हो, तो समझना चाहिये कि उन पुरुषोंका हृदय फौलादका बना हुआ है।

सकता है, कि वे किस रूपमें रहते हैं ! नाना परिस्थितियोंमें रहकर भक्तोंको जीवन बिताते देखा गया है, इसलिये जिसके जीवनमें बाह्य त्यागके लक्षण प्रतीत न हों, वह भक्त ही नहीं, ऐसा कभी भी न सोचना चाहिये ।

पुण्डरीक विद्यानिधि एक ऐसे ही प्रच्छन्न भक्त थे । उनके आचार-व्यवहारको देखकर कोई नहीं समझ सकता था, कि ये भक्त हैं । सब लोग उन्हें विषयी ही समझते थे । लोग समझते रहें किन्तु पुण्डरीक महाशय तो सदा प्रभु-प्रेममें छके-से रहते थे, लोगोंको दिखानेके लिये वे कोई काम थोड़े ही करते थे, उन्हें तो अपने प्यारेसे काम था । वैसे उनका बाह्य व्यवहार संसारी विषयी लोगोंका-सा ही था । उनका जन्म एक कुलीन वंशमें हुआ था, वे देखनेमें बहुत ही सुन्दर थे, शरीर राजपुत्रोंकी भाँति सुकुमार था, अत्यन्त ही चिकने और कोमल उनके काले-काले घुँघराले बाल थे, वे उनमें सदा बहुमूल्य सुगन्धित तैल डालते, शरीरको उबटन और तैल-फुलेलसे खूब साफ रखते । बहुत ही महीन रेशमी वस्त्र पहिनते । कभी गङ्गा-स्नान करने नहीं जाते थे । लोग तो समझते थे कि इनकी गङ्गाजीमें भक्ति नहीं है, किन्तु उनके हृदयमें गङ्गामाताके प्रति अनन्य श्रद्धा थी, वे इस भयसे स्नान करने नहीं जाते थे कि माताके जलसे पादस्पर्श हो जायगा । लोगोंको गङ्गाजीमें मल-मूत्र तथा अस्थि फेंकते, तैल-फुलेल लगाते और बाल फेंकते देखकर उन्हें बड़ा ही मार्मिक दुःख होता था। देवार्चनसे पूर्व ही वे गङ्गाजल पान करते, इसप्रकार उनकी सभी बातें लोकबाह्य ही थीं । इसीलिये लोग उन्हें घोर संसारी कहकर उनकी सदा उपेक्षा ही करते रहते ।

एक दिन प्रभु भावावेशमें आकर जोरोंसे 'हा पुण्डरीक विद्यानिधि' 'ओ मेरे बाप विद्यानिधि' कहकर जोरोंसे रुदन करने लगे । 'पुण्डरीक' 'पुण्डरीक' कहते-कहते वे अधीर हो उठे और बेहोश होकर पृथ्वीपर गिर पड़े । भक्त आपसमें एक-दूसरेकी ओर देखने लगे । सभीको विस्मय हुआ । पहले तो भक्तोंने समझा 'पुण्डरीक' कहनेसे प्रभुका अभिप्राय श्रीकृष्णसे ही है, फिर जब पुण्डरीकके साथ विद्यानिधि पदपर ध्यान दिया, तब उन्होंने अनुमान लगाया, हो-न-हो इस नामके कोई भक्त हैं । बहुत सोचनेपर भी नवद्वीपमें 'पुण्डरीक विद्यानिधि' नामके किसी वैष्णव भक्तका स्मरण उन लोगोंको नहीं आया । थोड़ी देरके अनन्तर जब प्रभुकी मूर्छा भङ्ग हुई तो भक्तोंने नम्रतापूर्वक पूछा—'प्रभु जिनका नाम लेलेकर जोरोंसे रुदन कर रहे थे, वे भाग्यवान् पुण्डरीक विद्यानिधि कौन परम भागवत महाशय हैं ?'

प्रभुने गम्भीरताके साथ कहा—'वे एक परम प्रच्छन्न वैष्णव भक्त हैं । आप लोग उन्हें देखकर नहीं जान सकते कि वे वैष्णव हैं । उनके बाह्य आचार-विचार प्रायः सांसारिक विषयी पुरुषोंके-से हैं । वे चटगाँव-निवासी एक परम कुलीन ब्राह्मण हैं, उनका एक घर शान्तिपुरमें भी है, गङ्गासेवनके निमित्त वे कभी-कभी चटगाँवसे शान्तिपुर भी आ जाते हैं, वे मेरे अत्यन्त ही प्रिय भक्त हैं । वे मेरे आन्तरिक सुहृद् हैं, उनके दर्शनके बिना मैं अधीर हूँ । वह कौन-सा सुदिवस होगा जब मैं उन्हें प्रेमसे आलिंगन करके रुदन करूँगा ?' प्रभुकी ऐसी बात सुनकर सभीको परम प्रसन्नता हुई और सब-के-सब पुण्डरीक विद्यानिधिके दर्शनके लिये परम उत्सुकता प्रकट करने लगे । सबने अनुमान लगा लिया, कि जब प्रभु उनके लिये इसप्रकार रुदन करते हैं, तो वे शीघ्र ही नवद्वीपमें आनेवाले हैं । प्रभुके स्मरण करनेपर अपने घरमें ठहर ही कौन सकता है, इसीलिये सब भक्त विद्यानिधिके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे ।

एक दिन चुपचाप पुण्डरीक महाशय नवद्वीप पधारे। किसीको भी उनके आनेका पता नहीं चला। बहुत-से भक्तोंने उन्हें देखा भी, किन्तु उन्हें देखकर कौन अनुमान लगा सकता था, कि ये परम भागवत वैष्णव हैं? भक्तोंने उन्हें कोई सांसारिक धनी-मानी पुरुष ही समझा, इसीलिये भक्त उनके आगमनसे अपरिचित ही रहे।

पाठकोंको मुकुन्द दत्तका नाम स्मरण ही होगा। ये चटगाँव-निवासी एक परम भागवत वैष्णव विद्यार्थी थे, इनका कण्ठ बड़ा ही सुमधुर था। अद्वैताचार्यके समीप ये अध्ययन करते थे और उनकी सत्सङ्ग-सभामें अपने मनोहर गायनसे भक्तोंको आनन्दित किया करते थे। जबसे प्रभुका प्रकाश हुआ है, तबसे वे इन्हींकी शरणमें आ गये हैं और प्रभुके साथ मिलकर श्रीकृष्ण-कथा और संकीर्तनमें ही सदा संलग्न रहते हैं। विद्यानिधि इनके गाँवके ही थे। दोनों ही समवयस्क तथा परस्परमें एक दूसरेसे भलीभाँति परिचित थे। मुकुन्द दत्त और वासुदेव पण्डित ही विद्यानिधिके भक्तिभावको जानते थे। प्रभुके परम अन्तरङ्ग भक्त गदाधरसे मुकुन्द बड़ा ही स्नेह करते थे। इसलिये एक दिन एकान्तमें उनसे बोले—'गदाधर! आजकल नवद्वीपमें एक परम भागवत वैष्णव ठहरे हुए हैं, चलो, उनके दर्शन कर आवें।'

प्रसन्नता प्रकट करते हुए गदाधरने कहा—'वाह! इससे बढ़कर और अच्छी बात क्या हो सकती है? भगवत्-भक्तोंके दर्शन तो भगवान्‌के समान ही हैं। अवश्य चलिये, जिनकी आप प्रशंसा करते हैं, वे कोई महान् ही भागवत वैष्णव होंगे!' यह कहकर दोनों मित्र विद्यानिधिके समीप चल दिये। विद्यानिधि नवद्वीपके एक सुन्दर भवनमें ठहरे हुए थे। उनका रहनेका स्थान खूब साफ था। उसमें एक बहुत ही बढ़िया शय्या पड़ी हुई थी, उसके चारों पाये व्याघ्र-मुखकी भाँति कई मूल्यवान् धातुओंके बने हुए थे, उसके ऊपर बड़ा ही सुकोमल विस्तर बिछा था। पुण्डरीक महाशय स्नान-ध्यानसे निवृत्त होकर उस शय्यापर आधे लेटे हुए थे। उनके विस्तृत ललाटपर सुन्दर, सुगन्धित चन्दन लगा हुआ था, बीचमें एक बड़ी ही बढ़िया लाल बिन्दी लगी हुई थी। सिरके घुँघराले बाल बढ़िया-बढ़िया सुगन्धित तैल डालकर विचित्र ही भाँतिसे सजाये हुए थे। कई प्रकारके मसालेदार पानको वे धीरे-धीरे चबा रहे थे, पानकी लालीसे उनके कोमल पल्लवोंके समान दोनों अरुण अधर और भी अधिक लाल हो गये थे। सामने दो पीकदान रखे थे। और भी बहुत-से बहुमूल्य सुन्दर बर्तन इधर-उधर रखे थे। दो नौकर मयूरपिच्छके कोमल पङ्खोंसे उनको हवा कर रहे थे। देखनेमें बिल्कुल राजकुमार-से ही मालूम पड़ते थे। गदाधरको साथ लिये हुए मुकुन्द दत्त उनके समीप पहुँचे और दोनों ही प्रणाम करके उनके बताये हुए सुन्दर आसनपर बैठ गये। मुकुन्द दत्तके आगमनसे प्रसन्नता प्रकट करते हुए पुण्डरीक महाशय कहने लगे—'आज तो बड़ा ही शुभ दिन है, जो आपके दर्शन हुए। आप नवद्वीपमें ही हैं, इसका मुझे पता तो था, किन्तु आपसे अभीतक भेंट नहीं कर सका। आपसे भेंट करनेकी बात सोच ही रहा था, सो आपने स्वयं ही दर्शन दिये। आपके जो ये साथी हैं, उनका परिचय दीजिये।'

मुकुन्द दत्तने शिष्टाचार प्रदर्शित करते हुए गदाधरका परिचय दिया—'ये परम भागवत वैष्णव हैं। बाल्यकालसे ही संसारी विषयोंसे एकदम विरक्त हैं, आप मिश्रवंशावतंस पं० माधवजीके सुपुत्र हैं और महाप्रभुके परम कृपापात्र भक्तोंमेंसे प्रधान अन्तरङ्ग भक्त हैं।'

गदाधरजीकी प्रशंसा सुनकर पुण्डरीक महाशयने

परम प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—'आपके कारण इनके भी दर्शन हो गये।' इतना कहकर विद्यानिधि महाशय मुस्कुराने लगे। गदाधर तो जन्म-से ही विरक्त थे। वे पुण्डरीक महाशयके रहन-सहन और ठाट-बाटको देखकर विस्मित-से हो गये। उन्हें सन्देह होने लगा कि ऐसा विषयी मनुष्य किसप्रकार भगवद्-भक्त हो सकता है? जो सदा विषय-सेवनमें ही निमग्न रहता है, वह भगवद्भक्ति कर ही कैसे सकता है?

मुकुन्द दत्त श्रीगदाधरके मनोभावको ताड़ गये, इसीलिये उन्होंने पुण्डरीक महाशयके भीतरी भावोंको प्रकट करानेके निमित्त श्रीमद्भागवतके दो बड़े ही मार्मिक श्लोकोंका अपने सुकोमल कण्ठसे स्वर और लयके साथ धीरे-धीरे गायन किया। उनमें परम कृपालु श्रीकृष्णकी अहैतुकी कृपाका बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। वे श्लोक सम्पूर्ण भागवतके दो परम उज्ज्वल रत्न समझे जाते हैं। वे श्लोक ये थे—

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयाऽपाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥*
(श्रीमद्भा० ३।२।२३)

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्॥†
(श्रीमद्भा० १०।६।३५)

मुकुन्द दत्तके मुखसे इन श्लोकोंको सुनते ही विद्यानिधि महाशय मूर्छित होकर शय्यासे नीचे गिर पड़े। एक क्षण पहले जो खूब सजे-बजे बैठे हँस रहे थे, दूसरे ही क्षण श्लोक सुननेसे उनकी विचित्र हालत हो गयी। उनके शरीरमें स्वेद, कम्प, अश्रु, विकृति आदि सभी सात्त्विक विकार एक साथ उदय हो उठे। वे जोरोंके साथ रुदन करने लगे। उनके दोनों नेत्रोंमेंसे निरन्तर दो जल-धारा-सी बह रही थी। घुँघराले कढ़े हुए केश इधर-उधर बिखर गये। सम्पूर्ण शरीर धूलि-धूसरित-सा हो गया। दोनों हाथों वे अपने रेशमी वस्त्रोंको चीरते हुए जोर-जोरसे मुकुन्दसे कहने लगे—'भैया, फिर पढ़ो, फिर पढ़ो। इस अपने सुमधुर गायनसे मेरे कर्ण-रन्ध्रोंमें फिरसे अमृत-सिञ्चन कर दो।' मुकुन्द फिर उसी लयसे स्वरके साथ श्लोक-पाठ करने लगे, वे ज्यों-ज्यों श्लोक-पाठ करते, त्यों-ही-त्यों पुण्डरीक महाशयकी बेकली और बढ़ती जाती थी। वे पुनः-पुनः श्लोक पढ़नेके लिये आग्रह करने लगे, किन्तु उनके साथियोंने उन्हें श्लोक-पाठ करनेसे रोक दिया। पुण्डरीक विद्यानिधि बेहोश पड़े हुए अश्रु बहा रहे थे।

इनकी ऐसी दशा देखकर गदाधरके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। क्षणभर पहले जिन्हें वे संसारी विषयी समझ रहे थे, उन्हें अब इसप्रकार प्रेममें पागलोंकी भाँति प्रलाप करते देखकर वे भौंचक्के-से रह गये। उनके त्याग, वैराग्य और उपरतिके भाव न जाने कहाँ विलीन हो गये, अपनेको बार-बार धिक्कार देने लगे, कि ऐसे परम वैष्णवके प्रति मैंने

* अहो, कितने आश्चर्यकी बात है, दुष्ट स्वभाववाली पूतना अपने स्तनोंमें कालकूट विष लगाकर, उन्हें मारनेकी इच्छासे आयी थी और इसी असद्विचारसे उसने भगवान्‌को स्तन-पान कराया था। उस ऐसे क्रूर-कर्मवालीको भी प्रभुने अपनी पालन-पोषण करनेवाली माताके समान सद्गति प्रदान की। ऐसे परम कृपालु भगवान्‌को छोड़कर और किसकी शरणमें हमलोग जायँ?

† पूतना लोगोंके बालकोंको मारनेवाली, रुधिरको पीनेवाली नीच योनिकी राक्षसी थी। वह मारनेकी इच्छा रखकर स्तन पिलानेसे भी सद्गतिको प्राप्त हो गयी। (अर्थात् दुष्टबुद्धिसे भगवत्-संसर्गका इतना माहात्म्य है फिर जो श्रद्धा-बुद्धिसे उनका स्मरण-पूजन करते हैं उनका तो कहना ही क्या!)

ऐसे कलुषित विचार रखकर घोर पाप किया है। वे मन-ही-मन अपने पापका प्रायश्चित्त सोचने लगे। अन्तमें उन्होंने निश्चय किया कि वैसे तो हमारा यह अपराध अक्षम्य है। भगवदपराध तो क्षम्य हो भी सकता है, किन्तु वैष्णवापराध तो सर्वदा अक्षम्य है। इसके प्रायश्चित्तका एक ही उपाय है। हम इनसे मन्त्र-दीक्षा ले लें, इनके शिष्य बन जायँ, तो गुरु-भावसे ये स्वयं ही क्षमा कर देंगे। ऐसा निश्चय करके इन्होंने अपना भाव मुकुन्द दत्तके सम्मुख प्रकट किया। इनके ऐसे विशुद्ध भावको समझकर मुकुन्द दत्तको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने इनके विमल भावकी सराहना की।

बहुत देरके अनन्तर पुण्डरीक महाशय प्रकृतिस्थ हुए। सेवकोंने उनके शरीरको झाड़-पोंछकर ठीक किया। शीतल जलसे हाथ-मुँह धोकर वे चुपचाप बैठ गये। तब विनीत भावसे मुकुन्दने कहा—'महाशय, ये गदाधर पण्डित कुलीन ब्राह्मण हैं, सत्पात्र हैं, परम भागवत वैष्णव हैं। इनकी हार्दिक इच्छा है, कि ये आपके द्वारा मन्त्र ग्रहण करें। इनके लिये क्या आज्ञा होती है?'

कुछ संकोच और नम्रताके साथ विद्यानिधि महाशयने कहा—'ये तो स्वयं ही वैष्णव हैं, हममें इतनी योग्यता कहाँ है, जो इन्हें मन्त्र-दीक्षा दे सकें? ये तो स्वयं ही हमारे पूज्य हैं।'

मुकुन्द दत्तने अत्यन्त ही दीनताके साथ कहा—'इनकी ऐसी ही इच्छा है। यदि आप इनकी इस प्रार्थनाको स्वीकार न करेंगे तो इन्हें बड़ा भारी हार्दिक दुःख होगा। आप तो कृपालु हैं, दूसरेको दुखी देखना ही नहीं चाहते। अतः इनकी यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये।'

मुकुन्द दत्तके अत्यधिक आग्रह करनेपर इन्होंने मन्त्र-दीक्षा देना स्वीकार कर लिया और दीक्षाके लिये उसी दिन एक शुभ मुहूर्त भी बता दिया। इस बातसे दोनों मित्रोंको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बहुत रात्रि बीतनेपर प्रेममें निमग्न हुए अपने-अपने स्थानोंके लिये लौट आये।

इसके दूसरे-तीसरे दिन गुप्तभावसे पुण्डरीक महाशय अकेले ही एकान्तमें प्रभुके दर्शनके लिये गये। प्रभुको देखते ही ये उनके चरणोंमें लिपटकर फूट-फूटकर रुदन करने लगे। विद्यानिधिको अपने चरणोंमें पड़े हुए देखकर प्रभु मारे प्रेमके बेसुध-से हो गये। उन्होंने पुण्डरीक विद्यानिधिका जोरोंके साथ आलिङ्गन किया। पुण्डरीकके मिलनेसे उनके आनन्दका पारावार नहीं रहा। उस समय उनकी आँखोंसे अविरल अश्रु प्रवाहित हो रहे थे। सम्पूर्ण शरीर पुलकित हो रहा था। वे पुण्डरीककी गोदीमें अपना सिर रखकर रुदन कर रहे थे, इसप्रकार दो प्रहरतक विद्यानिधिके वक्षःस्थलपर सिर रक्खे निरन्तर रुदन करते रहे। पुण्डरीक महाशयके सभी वस्त्र प्रभुके अश्रुओंसे भीग गये थे। पुण्डरीक भी प्रेममें बेसुध हुए चुपचाप प्रभुके मुखकमलकी ओर एकटक दृष्टिसे देख रहे थे। उन्हें समयका कुछ ज्ञान ही नहीं रहा, कि कितना समय बीत गया है। दोपहरके अनन्तर प्रभुको ही कुछ-कुछ होश हुआ। उन्होंने उसी समय भक्तोंको बुलाया और सभीसे पुण्डरीक महाशयका परिचय कराया। पुण्डरीक महाशयका परिचय पाकर सभी भक्त परम सन्तुष्ट हुए और अपने भाग्यकी सराहना करने लगे। विद्यानिधिने अद्वैत आदि सभी भक्तोंकी पदधूलि लेकर अपने मस्तकपर चढ़ायी और सभीको श्रद्धा-भक्तिके साथ प्रणाम किया। इसके अनन्तर पुण्डरीकको बीचमें लेकर सभी भक्त चारों ओरसे संकीर्तन करने लगे। श्रीकृष्ण-संकीर्तनको सुनकर पुण्डरीक महाशय फिर बेहोश हो गये। भक्तोंने संकीर्तन बन्द कर दिया और भाँति-भाँतिके उपचारों-

द्वारा पुण्डरीकको होश कराया। कुछ सावधान होनेपर प्रभुकी आज्ञा लेकर पुण्डरीक अपने स्थानके लिये चले गये।

शामको आकर गदाधरने पुण्डरीकके समीप मन्त्र-दीक्षा लेनेकी अपनी इच्छा प्रभुके सम्मुख प्रकट की। इस बातको सुनकर प्रभु अत्यन्त ही प्रसन्न हुए और गदाधरसे कहने लगे—'गदाधर, ऐसा सुयोग तुम्हें फिर कभी नहीं मिलेगा। पुण्डरीक-जैसे भगवत्-भक्तका मिलना अत्यन्त ही दुर्लभ है। तुम इस काममें अब अधिक देरी मत करो। यह शुभ काम जितना भी शीघ्र हो जाय उतना ही ठीक है।'

प्रभुकी आज्ञा पाकर नियत शुभ तिथिके दिन गदाधरजीने विधानिधिसे मन्त्र-दीक्षा ले ली।

जिनके लिये महाप्रभु गौराङ्ग स्वयं रुदन करते हों, जिनकी प्रशंसा करते-करते प्रभु अधीर हो जाते हों, गदाधर-जैसे परम त्यागी और महान् भक्त जिनके शिष्य बननेमें अपना सौभाग्य समझते हों, ऐसे भक्ताग्रगण्य श्रीपुण्डरीक विद्यानिधिकी विशद विरुदावलीका बखान कौन कर सकता है? सचमुच विद्यानिधिकी भक्ति परम शुद्ध और सात्त्विक कही जा सकती है, जिसमें दिखावट या बनावटीपनका लेश भी नहीं था। ऐसे प्रच्छन्न भक्तोंकी पदधूलिसे पापी-से-पापी पुरुष भी परम पावन बन सकता है।*

द्वन्द्वातीत

(लेखक—काव्यरत्न पं० श्रीभगवत्प्रसादजी शुक्ल 'सनातन')



वह सर्वसम्पन्न था। सांसारिक भोग-उपभोगोंकी उसके लिये कोई न्यूनता न थी। उसकी छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी कोई भी उपभोग-आकांक्षा अतृप्त नहीं रहती थी। विशाल साम्राज्यपर उसका एकछत्र शासन था। उसकी शासन-सत्ता स्थिर एवं प्रबल थी। उसके राज्यके स्वामी, कोष, सुहृद्, बल आदि सब अङ्ग विकाररहित, सबल एवं परिपुष्ट थे। वह प्रजावत्सल था और उसकी प्रजा थी विशुद्ध राजभक्त।

अपने उस स्वर्ग-सम साम्राज्यमें कभी शान्ति-भङ्ग एवं विद्रोहकी चिन्तनीय कल्पना करना भी उसके लिये कोरी कल्पनामात्र थी। प्रारम्भसे अन्ततक किसी अन्य राष्ट्रकी शक्तिने उसपर क्रियात्मक आक्रमण तो दूर, मानसिक आक्रमणका भी दुःसाहस नहीं किया था। उसके समीप जो आया, मित्र बनकर आया और बड़े सम्मानके साथ उसकी साम्राज्य-व्यवस्था एवं कर्मपरायणताका अनुकरणीय भाव लेकर लौटा। सारांश, उसका साम्राज्य भूलोकका इन्द्र-साम्राज्य था और वह था इस भूस्वर्गका इन्द्र।

उसकी पारिवारिक परिस्थिति भी उसके लिये सन्तोष, शान्ति एवं परमाह्लादसे परिपूर्ण थी। साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा गृहस्वामिनीको प्राप्तकर वह स्वयं लक्ष्मीपतिके समकक्ष था। उसके सर्वगुणसम्पन्न सुत विनीत एवं उसके वशवर्ती आज्ञापालक थे, जिनसे वह अपनेको अनन्य सौभाग्यशाली पिता अनुभव करता था। अन्य पारिवारिक परिचायक, सेवक-सेविकाएँ उसके तनिक-से संकेतपर अपना तन, मन न्यौछावर करनेको सदा सहर्ष प्रस्तुत थे।

* गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीश्रीचैतन्य-चरितावलीके द्वितीय खण्डसे।

मृदुता और मधुरता ही उसके जीवनकी चिर-अनुभूतिके विषय बने हुए थे। कठोरता और कटुता-की अनुभूतिका प्रसङ्ग उसके मनको स्पर्श भी न कर पाया था। इसप्रकार पूर्ण अनुकूल परिस्थिति एवं परिचारकोंसे अनुलालित, पालित एवं सेवित उसका कमनीय कलेवर और आन्तरिक हृदय सर्वातिशायी सौख्यपूर्ण साम्राज्यका सुखोपभोग कर रहा था।

× × × ×

समय किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता, अपितु संसारके सञ्चालनके लिये समय ही सर्वथा अपेक्षित होता है। ठीक इसी समयचक्रके कारण उसके भाग्यने पलटा खाया। कर्मानुसार प्रकृतिकी नाटक-शालाका पट-परिवर्तन हुआ और रङ्गमञ्चपर अचानक एक-दूसरे ही कल्पनातीत दृश्यमें नायकका आविर्भाव हुआ जो पहलेकी अपेक्षा नितान्त विपरीत एवं महाभयङ्कर था।

सहसा उसके साम्राज्यके चारों ओर विद्रोहकी वह्नि उद्दीप्त हो उठी, जिसकी उसे कभी आशङ्का भी न थी। उसके साम्राज्यके बहिर्भूत अन्य राष्ट्रोंकी उसके प्रति स्वाभाविक ईर्ष्या जाग उठी। समय पाकर उसने सङ्गठनका रूप धारण किया और पारस्परिक सहयोगने उस सङ्गठनको परिपुष्ट बना दिया। विरोधियोंकी सङ्गठित शक्तिके कारनामोंसे साम्राज्यमें आतङ्क छा गया।

उसके साम्राज्यमें यह अश्रुतपूर्व घटना थी। दमनका दौर-दौरा प्रारम्भ हुआ। विप्लवकारियोंके प्रतिकारके लिये सेनाएँ भेजी गयीं पर फल वही हुआ जो दुर्दैवके सामने होनेपर हुआ करता है। साम्राज्यकी ओरसे ज्यों-ज्यों प्रतिपक्षियोंको दबानेकी चेष्टा की गयी, त्यों-ही-त्यों घृतकी आहुतियोंसे प्रदीप्त हुई होमाग्निके तुल्य प्रतिकूल बल बढ़ता ही गया।

अधिकारियोंने भयभीत हो इस भयङ्कर परिणामसे उसे सूचित किया। यह सब कुछ सुननेपर भी न उसे उद्विग्नता थी, न मनोमालिन्य! नाटकके कला-कुशल अभिनेताकी भाँति वह कर्तव्यपरायणताके साथ अपनी विपुल वाहिनी लेकर रणक्षेत्रमें कूद पड़ा। उसके उस कुसुम-शय्याशायी शरीरकी कोमलता कर्कशतामें परिणत हो गयी। प्रतीत होता था मानो उसे मृदुलताने कभी स्पर्श ही नहीं किया। कर्तव्यकी कराल मूर्ति बनकर वह कठोरताका चिर-अभ्यासी-सा दृष्टिगोचर हो रहा था।

रण-चण्डिका चेती और पक्षद्वयके उन्मत्त वीरोंके तप्त रुधिरसे अपना खप्पर भर-भर विकराल अट्टहासके साथ पान करने लगी। विजय-लालसामें अन्धी हुई पक्ष और प्रतिपक्षकी पारस्परिक शक्तियोंके संघर्षसे सुदूरवर्ती जनसमूह भी भयभीत हो उठा।

होनहार प्रबल होती है। उसके सामने अच्छे-अच्छे अनुभवियोंकी अनुमान-प्रणाली भी विफल हो जाती है। कार्यका कारण बनते कुछ भी देर नहीं लगती। उसके साम्राज्यका चिर-विलासाभ्यासी अधिकारी-वर्ग विपक्षमें अगणित राष्ट्रोंके शक्ति-सञ्चयको देख त्रस्त हो उठा। कुछने विपक्षियोंकी शरण ली और साम्राज्यका अन्तर्रहस्य विस्फोटनकर उसे विनाशके गहरे गर्तकी ओर बढ़ाया। आन्तरिक और बाह्य दोनों ओरकी चोटें पड़नेपर भला कौन शक्तिशाली साम्राज्य स्थिर रह सकता है? प्रति-द्वन्द्वी राष्ट्र-संघने उसके अन्तर्जर्जरित साम्राज्यपर अपनी विजय-पताका फहरा दी।

अब वह सम्राट् नहीं, बन्दी था; शासक नहीं, शासित था। उसकी अशन-वसन-क्रिया भी

विपक्षियोंके अधीन थी, पर अपने जीवनमें इतना पृथिवी-आकाश-सम विपर्यय होनेपर भी वह सर्वथा शान्त, अविचल था। उसकी शान्त और गम्भीर मुद्रामें कोई विकृति नहीं आ पायी। शोक और विषाद उसके सदानन्दपूर्ण हृदयका स्पर्शतक नहीं कर सके। वह गीताके *'समदुःखसुखं धीरं'* का मूर्तिमान् उदाहरण था। देहाध्यासी जनता उसे देख अवाक् रह गयी।

× × × ×

संसार संसृति-शक्ति है, सृजन और संहार इसके अध्यवसाय हैं। लीलामयके इस लीला-निकेतनमें नाटकशालाकी भाँति क्षण-क्षणमें दृश्य-परिवर्तन होते रहते हैं। विवेकी पुरुष इसे समझते हुए आनन्द और मुक्तिका अनुभव करते हैं और अविवेकी-समुदाय दुःख और बन्धनका।

परसोंका सम्राट् कल बन्दी था। आज वह बन्दी भी न रहा। नवीन शासन-सत्ताकी ओरसे उसे देश-निर्वासनका दण्ड दिया गया और जनताको उससे किसी भी प्रकारकी सहानुभूति न दिखानेका कठोर आदेश।

कलतक जिन राज-मार्गोंपर उसकी शाही शानसे सवारी निकलती थी, आज वह उन्हीं मार्गोंसे एकाकी और पदातिके रूपमें गमन कर रहा है। कल जिसके पथमें पाँवड़ोंके स्थानपर अपने नेत्र-कमल बिछा देनेको उद्यत रहनेवाले राजभक्तोंकी कमी न थी, आज उसकी ओर आँख उठाकर देखनेवाला भी कोई नहीं!

त्रिगुणमयी प्रकृतिका पुजारी संसार आश्चर्य, कौतहल, उपहास और दयाके विभिन्न भावोंसे आवेशित हो उसकी आलोचनामें तल्लीन था। पर वह अथाह सागर-सम अन्तर्लीन था। उसे न लज्जा थी, न सङ्कोच, न मोह और न विषाद!

राजासे रङ्करूपमें परिणत कर देनेवाली विकट परिस्थितिका तूफान उसके मानस-सागरको तरङ्गित न कर सका। उसकी प्रज्ञा स्थिर थी। वह गीताके *'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः'* का प्रत्यक्ष उदाहरण था।

आजसे जनशून्य बीहड़ वन ही उसका असीम साम्राज्य था और त्रिगुण-मूर्ति जाङ्गलिक जीव-जन्तु ही उसकी प्रिय प्रजा। गिरि-गह्वरोंके उच्च राज-प्रासादोंमें प्राकृतिक राजसेवक वन वृक्षोंसे सादर समर्पित कन्द-फल-पत्रादि अनुपम अशन-वसन-सामग्री ही उसके जीवन-यापनका साधन था। सम्राट्कालीन प्रत्येक समयके विभिन्न वाद्य-वादनका स्थान करि, केसरी आदि भयानक जीवोंके चीत्कार-रवने ले लिया था।

उसकी आन्तरिक राज-सभा आत्म-ज्योतिके अविरल प्रकाशसे प्रकाशित थी। वह हृदयके न्यायासनपर विराजमान था और प्रज्ञारूप मन्त्रीके सहयोगसे अपने अन्तर्जगत्के गुण-दोषरूप पारस्परिक शत्रु-मित्रोंके द्वन्द्वका यथावत् न्याय करता था।

बाह्य जगत्के प्राणियोंमें उसके बनने और बिगड़नेकी पर्याप्त चर्चा थी। उसके सुख और दुःख-की कल्पना एक नागरिक गाथा बन गयी थी, पर वह अपनी भूत और वर्तमान स्थितिमें कोई अन्तर नहीं देखता था।

उसे न गत-वैभवका पश्चात्ताप था और न वर्तमान-स्थितिमें असन्तोष। वह गीताके *'द्वन्द्वातीतो विमत्सरः'* का ज्वलन्त उदाहरण था।

मोक्षका सहज साधन

(लेखक—श्रीहरिस्वरूपजी जौहरी एम० ए०)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

श्रीभगवान् कहते है कि 'ॐ जो एकाक्षर ब्रह्म है, उसको मुखसे बोलता हुआ और मुझको स्मरण करता हुआ जो व्यक्ति शरीर-त्याग करता है वह परमगति अर्थात् मोक्षको प्राप्त होता है।' यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या भगवान्ने मोक्षको इतना सुलभ कर दिया है ? कहाँ तो यह कहते हैं कि, '*अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्*' अर्थात् अनेक जन्मोंकी संसिद्धिसे परमगतिकी प्राप्ति होती है और कहाँ यह कि, 'केवल मृत्युके समय ॐकारका जप करता हुआ शरीर-त्याग करनेवाला परमगतिको प्राप्त होता है।' दोनोंमें कितना अन्तर दीख पड़ता है ?

परन्तु वास्तवमें इसमें रहस्य है और वह गूढ़ है। मृत्युका समय जीवनमें सबसे बड़ा भयानक समय होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संसारमें लिप्त होता है, मृत्युकालकी भयानकता भी उसके लिये उतनी ही बड़ी होती है। विचार कीजिये, एक कंजूस, जिसने जीवनपर्यन्त धन बटोर कर उसमें प्रगाढ़ आसक्ति कर ली है, उससे यदि कोई बलात्कार वह धन छीनने लगे तो उसे कितना दुःख होगा ? ऐसे अवसरोंपर कहीं-कहीं तो ऐसा होता है कि मनुष्य जिस पदार्थमें आसक्त रहता है उससे वियोग होते ही उसका प्राणान्त हो जाता है। उसी प्रकार जब संसारमें कुछ समयतक रहकर मनुष्य एक नहीं अनेक बन्धनोंमें फँस जाता है, अनेक प्राणियोंसे गाढ़ अनुराग कर लेता है तथा अनेक वस्तुओंमें आसक्त रहता है, उस समय जब उसे अचानक संसारसे खाली हाथ कूच करनेकी आज्ञा मिलती है, सब प्रेमकी वस्तुएँ छोड़नी पड़ती हैं, सारे सम्बन्ध तोड़ने पड़ते है, तब उसको कैसा मर्मान्तिक दुःख होता होगा, उसका वर्णन करना लेखनीकी शक्तिके बाहर है।

कहा जाता है कि प्राण निकलते समय जीवको एक सहस्र बिच्छूके डंक मारनेके बराबर पीड़ा होती है। साथ ही पापी जीवोंके जन्मभरके पाप भी भयानक रूप धारणकर उसके सामने उपस्थित होते हैं। वस्तुतः जब मरणकालमें प्राणीकी ऐसी असहाय अवस्था हो जाती है और साथ ही वह शरीर, जिसका उसने जन्मभर लालन-पालन किया था, जवाब देने लगता है, कफ-वात-पित्त घोर शत्रुकी तरह अपना जोर दिखाने लगते हैं, ऐसी वर्णनातीत मर्मान्तिक वेदनाकी अवस्थामें 'ॐ' शब्दब्रह्मका उच्चारण तथा मनमें भगवान्का स्मरण कैसे सम्भव हो सकता है ? इसीलिये तो एक भक्त भगवान्से प्रार्थना करता है—

कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते
अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः
कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते॥

'अर्थात् हे कृष्ण! आपके चरणकमलरूपी पिञ्जरमें मेरा मनरूपी राजहंस आज ही प्रवेश कर जाय; क्योंकि प्राण निकलते समय कफ-वात-पित्तसे कण्ठ रुँध जानेपर आपका स्मरण कैसे हो सकता है ?'

इससे यह विदित होता है कि प्राणोंके निकलते समय ॐका उच्चारण तथा भगवान्का स्मरण करना कोई सहज बात नहीं है, वरं असम्भव-सा है। यह केवल तभी सम्भव हो सकता [illegible]ने जीवन-

भर इसका अभ्यास किया हो। आजीवन भगवान्‌का नाम-स्मरण होनेसे मृत्युकालमें भी उसका होना नितान्त सम्भव है, इसी कारण भक्तोंको निरन्तर भगवच्चिन्तन तथा भगवत्-स्मरणकी आज्ञा है।

अच्छा, इस मोक्षप्रद साधनका रहस्य क्या है? देखिये, भगवान् कहते हैं कि केवल उच्चारण ही नहीं, बल्कि एकाक्षर ब्रह्मका उच्चारण तथा मेरा स्मरण मोक्षके साधन हैं। ॐ (प्रणव) का कितना बड़ा महत्त्व है, इसे भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे कह दिया है। 'प्रणवः सर्ववेदेषु'—मैं सब वेदोंमें 'प्रणव' हूँ। बिना प्रणवके सब मन्त्र सम्पूर्ण वेद प्राणहीन हैं। 'प्रणव' का इतना महत्त्व क्यों है, यह रहस्य समझने-योग्य है। इसका प्रत्येक अंश सारपूर्ण है। यह एकाक्षर होकर भी अ, उ, म्—इन तीन अक्षरोंसे बना हुआ है। इसे एकाक्षर इस अर्थमें कहा जाता है कि तीनों अक्षरोंके संयोगसे इसकी ध्वनि एक अक्षरके समान ही होती है। इसके प्रत्येक अक्षरपर किञ्चित् विचार करना चाहिये। यहाँ इन अक्षरोंकी व्युत्पत्ति अथवा व्याख्याके चक्करमें न पड़कर सीधा-सीधा अर्थ लिखा जाता है।

अकारका अर्थ है जगत्‌का स्रष्टा तथा रक्षक परमात्मा, मकारका अर्थ है ज्ञानयुक्त, ज्ञानस्वरूप जीवात्मा, उकारका अर्थ है 'एव' ही। अर्थात् 'ज्ञानस्वरूप जीवात्मा मैं जगत्‌के रचयिता तथा रक्षक परमात्माका ही हूँ, अन्यका नहीं। मेरा एकमात्र सहाय केवल परमात्मा है।'

इसप्रकार मेरा (भगवान्‌का) स्मरण करता हुआ यदि जीव देहत्याग करे तो परमगतिको प्राप्त होगा। वस्तुतः ॐकारका ऐसा चिन्तन होनेसे परमगतिकी प्राप्ति सुलभ ही है। क्योंकि अन्तकालमें जीव जैसा-जैसा चिन्तन करता है वैसी ही उसकी आगे गति होती है। फिर जो जीव अपनेको, 'परमात्माका ही हूँ' ऐसा चिन्तन करता है उसे परमात्माकी प्राप्ति हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि मृत्युकालमें इसप्रकारका चिन्तन उसी जीवको हो सकता है, जिसने जीवनभर इसका अभ्यास किया है, यही इस उक्तिका रहस्य है। यह जैसा देखने-सुननेमें सहज है, वैसा ही करनेमें कठिन है।

अतएव जिज्ञासुओंको उचित है कि भगवान्‌के बतलाये हुए इस मोक्षसाधनको सहज समझ 'खाओ, पीओ, मौज करो' का आचरण करते हुए इस आशामें न रहें कि अन्तकालमें ॐकारका उच्चारणकर परम-गतिको प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि इसप्रकारकी आशा आकाशपुष्पके समान असम्भव है। अतएव मुमुक्षुमात्र-का यह कर्तव्य है कि भगवान्‌के इस मोक्षसाधन-के रहस्यको गुरुद्वारा श्रवणकर उसका मनन करते हुए अभ्यासके द्वारा परमपदके पथपर अग्रसर हों।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत !





जिनके मनमें रमि रह्यो भोगरूप रमनीय।
तिनके मन प्रगटत नहीं कृष्णरूप कमनीय॥
बिनु बिराग उपजै नहीं कृष्ण-चरण अनुराग।
हरि-पद-रति बिनु जगतमें जीवन निपट अभाग॥
बड़भागी ते नर परम जिनके मन बैराग।
स्याम-चरन बढ़तो रहै नित नव नव अनुराग॥



सौन्दर्यकी मीमांसा

(लेखक—श्रीप्रसन्नवदन छबीलारामजी दीक्षित)



सौन्दर्यका आदर्श क्या है ? वस्तुतः मनुष्य-मात्रको अविनाशी और चिरन्तन सौन्दर्यके प्राप्त करनेकी तीव्र आकांक्षा होती है। किसीको भी अपनी सम्पादन की हुई अमूल्य सम्पत्तिका अपहरण सह्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें वह यथार्थ सौन्दर्य क्या है, जो अविनाशी और चिरन्तन बना रहता है ? वह सौन्दर्य बाह्य है या आभ्यन्तर ? यह मनुष्यका कलेवर, जो हड्डी, मांस, रुधिर प्रभृति अनेक अपवित्र, मलिन और दुर्गन्धयुक्त पदार्थोंसे बना हुआ है तथा जो बुद्‌बुदकी भाँति क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाला है, इसको सुन्दर वस्त्र-आभूषण तथा बाह्य आडम्बरसे सजाकर सौन्दर्यकी प्राप्ति मानना कहाँकी बुद्धिमानी है ? इन्हीं प्रश्नोंके सम्बन्धमें यहाँ विचार करना है। हमारी समझसे आडम्बरहीन सौन्दर्य आडम्बरपूर्ण सौन्दर्यसे कहीं श्रेष्ठ है। इसी बातका समर्थन एक अंग्रेजीभाषाका कवि इसप्रकार करता है—

'Beauty unadorned is adorned the most.'

आभूषण-विमुक्त सौन्दर्य ही सबसे अधिक विभूषित होता है। कविकुलगुरु कालिदासने भी *'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'*—इसप्रकारके स्पष्ट शब्दोंके द्वारा इसी आशयको परिपुष्ट किया है। भला प्रतिक्षण अभिनव रूप धारण करनेवाली, नवीनताका स्वाङ्ग रचनेवाली कृत्रिमता कभी अविनाशी नैसर्गिक सौन्दर्यका पराभव कर सकती है ? कदापि नहीं। भड़कीले वस्त्र और आभूषण तथा अन्यान्य बाह्य आडम्बर कृत्रिम और अगण्य सौन्दर्यसे युक्त होनेके कारण कभी मनुष्य-शरीरके यथार्थ अलङ्कार नहीं बन सकते। यही नहीं, बल्कि विलासमय और वैभवयुक्त होनेसे जीवनमें वासनाओंकी और भी अभिवृद्धि होती जाती है।

इसी आशयको लक्ष्यमें रखकर अंग्रेजीभाषाके सुप्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथने सौन्दर्यकी इसप्रकार विशद व्याख्या की है—

'Handsome is that handsome does'

अर्थात् 'सुन्दर वही है जो सुन्दर काम कर दिखाता है।' जिस मनुष्यके कर्म निर्मल और सुन्दर हैं, यथार्थमें वही सुन्दर कहा जा सकता है। सदा ही नवीन बनी रहनेवाली निर्मल और विशुद्ध हृदयकी दिव्य और सुसंस्कृत सद्‌बुद्धिमें ही यथार्थ सौन्दर्य—वास्तविक अविनाशी सुन्दरताका चिरन्तन निवास-स्थान हो सकता है। भर्तृहरिने भी इसी आशयका समर्थन करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर सौन्दर्यका भेद स्पष्ट करते हुए सूत्ररूपसे कह दिया है कि उत्कृष्ट संस्कार-युक्त निर्मल वाणी और पुनीत सुसंस्कृत ज्ञान ही मनुष्यके लिये जन्म-जन्मान्तरमें हितकारक और श्रेयस्कर एकमात्र साधनरूप होनेके कारण संसारमें आदर्श सौन्दर्यरूप कहा जा सकता है।

संसाररूप विषवृक्षके जो दो फल निरूपित किये गये हैं वे दोनों ही इस सुसंस्कृत, श्रेयस्कर ज्ञानके सम्पादन करनेमें विशेष सहायक होते हैं। ये फल अलभ्य किंवा दुष्प्राप्य नहीं हैं। अमृततुल्य सुसंस्कृत ज्ञान और सज्जनोंकी संगति—इन दोनोंके आदर्श और उज्ज्वल प्रकाशके सामने वस्त्रालङ्कारादिके बाह्य और कृत्रिम सौन्दर्य नगण्य और निस्तेज हो जाते हैं। साधक पुरुषको उत्कृष्ट सात्त्विक गुणोंकी सहायतासे ही चिरन्तन और अविनाशी सौन्दर्यकी

उपलब्धि होती है, क्योंकि शरीर और गुणोंके बीचमें महान् अन्तर होता है। शरीरके क्षणध्वसी होनेके कारण तद्गत सौन्दर्य अविनाशी नहीं कहा जा सकता और उत्कृष्ट संस्कृतिको सुशोभित करनेवाले उदात्त सद्गुणोंका अस्तित्व कल्पान्ततक बना रहता है। इसी कारण भारतीय संस्कृति निरन्तर संशुद्ध-किल्बिष होनेके लिये प्रयत्नशील रहनेका उपदेश करती है।

गुर्जर कविश्रेष्ठ कलापीने कहा है कि, 'सौन्दर्य पामतां पहेला सौन्दर्य बनवुं पडे।' अर्थात् 'सौन्दर्यकी उपलब्धि होनेके पहले ही उसकी प्राप्तिके लिये सौन्दर्यरूप बन जाना पड़ता है।' उपनिषद् भी 'देवो भूत्वा देव यजेत्' इस वाक्यके द्वारा इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। आदर्शके परिशीलन, स्थिर चिन्तन और एकाग्र मननद्वारा आदर्शमय, आदर्शरूपकी सिद्धि हो जानेपर यथार्थ और अविनाशी आदर्शकी प्राप्ति सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु आदर्शकी प्राप्ति सहज वस्तु नहीं है, वह अत्यन्त दुर्लभ और दुःसाध्य है। अवश्य ही उसे असम्भव नहीं कह सकते। लार्ड बेकनने तो इस दुःसाध्यताके कारण यहाँतक कह डाला है कि—

'An ideal is that which can never be fully realised'

अर्थात् 'जिसकी पूर्णतया प्राप्ति नहीं हो सकती उसी तत्त्वको आदर्श कहते हैं।' इसी आदर्शकी प्राप्तिके लिये भगवान् गीतामें कहते हैं—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

तथा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।

अर्थात् 'यत्नपूर्वक चेष्टा करता हुआ निर्धूतपाप योगी अनेक जन्मोंके अन्तमें परमगति (आदर्श) को प्राप्त होता है।' तथा—'ज्ञानी पुरुष अनेक जन्मोंके अन्तमें मुझको प्राप्त होता है।'

जिसप्रकार कीट अहर्निश भ्रमरके गुञ्जारको श्रवण करके स्वस्वरूपका त्याग करता हुआ भ्रमरके समान उदात्त, सुसंस्कृत शरीरको सम्पादन करता है, उसी प्रकार आदर्शके अहर्निश जागृत मनन, निदिध्यासनके द्वारा साधक, उपासक अपने आदर्श (साध्य, उपास्य) के यथार्थ स्वरूपको प्राप्त कर सकता है। इसप्रकारके आदर्श स्वरूपके सम्पादन करनेमें ही तत्त्वज्ञानी पुरुषोंने आदर्श सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति मानी है। इसी प्रकार सुभाषितकार कहते हैं—

'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे'

अर्थात् 'महान् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके सत्त्वमें ही रहती है, उपकरणमें नहीं।'

इसप्रकारके उत्कृष्ट सत्त्व (स्वरूप) के सम्पादन कर लेनेपर ही समस्त महत्कार्योंकी सिद्धि महापुरुषोंको सुलभ हो जाती है। अतः मानना पड़ेगा कि सौन्दर्यका फलितार्थ विभूतिमत्ता अर्थात् जीवनको आदर्श बनाना है और उसीके द्वारा आन्तरिक सत्त्वका यथेष्ट विकास हो सकता है। यही आन्तरिक सत्त्वका विकास मनुष्यकी महत्ताका द्योतक है। भवभूतिने भी कहा है—'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु'। इसी मूर्तिमान् आदर्शके कारण वीरपूजा, आदर्शोपासना-जैसी उन्नत भावनाओंका उदय होता है। वस्तुतः सौन्दर्यपूजाके ही यह सब रूपान्तर हैं, क्योंकि गौरव-गुणानुरागिता ही इसमें प्रधान कारण होती है।

सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेसे प्रतीत हो जायगा कि जिसप्रकार आत्मा अविनाशी है उसी प्रकार आत्माका सौन्दर्य—आन्तरिक ओजस्—भी उतना ही अचल और अमर है। इसी आशयको हृदयमें रखकर भार-

तीय आर्योंने विवाहकी भावनाको पति-पत्नीके स्थूल देहके एकीकरणमात्रमें ही आबद्ध नहीं रक्खा; प्रत्युत उनके मन, प्राण, हृदय आदिके आध्यात्मिक ऐक्यको ही उन्होंने विवाहका स्वरूप दिया। सूक्ष्म आध्यात्मिक भावनाके सामने स्थूल पार्थिव भावनाका पराजय स्वतःसिद्ध है, क्योंकि पार्थिव सौन्दर्य नाशवान् है और एकमात्र आध्यात्मिक किंवा आन्तरिक सौन्दर्य ही अविनाशी है। अतएव यही सौन्दर्यका यथार्थ आदर्श सिद्ध होता है। श्रीभर्तृहरिजीने पार्थिव सौन्दर्यके नाशक अविनाशी कालका स्तवन करते हुए इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की है—

भ्रातः कष्टमहो महान्स नृपतिः सामन्तचक्रं च तत्
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत्ताश्चन्द्रबिम्बाननाः।
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते वन्दिनस्ताः कथाः
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपदं कालाय तस्मै नमः॥

'हे भाई! कैसी दुःखकी बात है कि वह महाराजा, उनके चतुर्दिक बैठनेवाले वह सामन्तगण, पास रहनेवाले वह राज्यपरिषद्के सभासद, वह चन्द्रमा-सी सुन्दर मुखवाली ललनाएँ, वह सुन्दर राजपुत्र-समूह, वह वन्दीजन और वे कथाएँ; यह सब जिनके कारण आज स्मृतिके विषय हो रहे हैं उस काल-भगवान्को नमस्कार है।' कालका अर्थ '*कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः*' ही मानना पड़ेगा।

अतएव आदर्श सौन्दर्यको प्राप्त करनेके लिये विवेकशील साधकको उस सौन्दर्यके निधानरूप तथा परोपकार, दया, वात्सल्यादि उदात्त आदर्शोंके मूर्तिमान् स्वरूप भगवान् वासुदेवका ध्यान, भजन, स्थिर चिन्तन और निदिध्यासन करना परमावश्यक है। आदर्शका सतत परिशीलन करनेसे ही साधकको उसकी प्राप्ति हो सकती है। इसी हेतुको सामने रखकर भक्तके लिये शास्त्रोंने '*तस्यैवाहम्*' अर्थात् मैं उसका ही हूँ, '*ममैवासौ*' अर्थात् वह सौन्दर्य-निधान परमात्मा मेरा ही है—इसप्रकारकी क्रमिक कक्षाका विधान करके अन्तमें '*स एवाहम्*' अर्थात् मैं तद्रूप ही हूँ, उस अन्तर्यामी परमात्मासे भिन्न या अतिरिक्त तत्त्व नहीं हूँ—इसप्रकारकी उपास्य-उपासकमें सम्पूर्ण अभेद-भावकी उच्चतम स्थितिका निरूपण किया है। इससे यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि आदर्श सौन्दर्यका उपासक सौन्दर्यके इसी आदर्शको सतत परिशीलन करते हुए अन्तमें हस्तामलकवत् परमपदको प्राप्त होता है।

भारी भूल

हुई थी कैसी भारी भूल!

हार बनाया जिसे समझ कर सुखसुषमामय फूल,
आह! हृदयमें चुभ-चुभ कर वह जान पड़ा अब 'शूल'।
जिसे मोह-वश मैं माना था निज रुचिके अनुकूल,
कितनी विषम वेदना सह कर जाना वह 'विष-मूल'॥१॥

भ्राता, पुत्र, कलत्र आदिका पाकर मिथ्या स्वाँग,
भूल गया उस सच्चे प्रियतमसे करना अनुराग।
हंस-निवास-योग्य मानसमें रहा बसाया काग,
यह विस्मृति है मुझे जलाती बन चिन्ताकी आग॥२॥

अन्तस्तल की किसी शक्तिने मुझको किया सचेत,
जान गया वह मेरे प्रियका ही था शुभ संकेत।
त्याग रसाल-डाल जब अबतक घेरे रहा बबूल
तो वह मधु-फल मिले कहाँसे की मैंने ही भूल॥३॥
हुई थी कैसी भारी भूल॥

—रामनारायण दत्त पाण्डेय 'राम' शास्त्री

श्रीश्रीजगन्नाथदेवका प्राकट्य-रहस्य

(लेखक—व्रजके एक महात्मा*)



मन् माध्वगौडेश्वराचार्यवर्य श्रीश्रीजीवगोस्वामिचरणके मतमें एक अद्वय ज्ञान-तत्त्व ही ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् संज्ञामें संज्ञित हुआ है और भगवत्-तत्त्वने ही ब्रह्म एवं परमात्मा इन दोनों तत्त्वोंको क्रोडीकृत कर रक्खा है। इस अति विशाल भगवत्ताको समझनेके लिये सम्पूर्ण अपारगताप्रयुक्त अल्पबुद्धि जीव विशेष चेष्टा करते हुए भी कुछ भी धारण नहीं कर सकता। इसीलिये महाकरुणापारावार श्रीभगवान् स्वकरुणावश होकर स्वयं जीव-समुदायके समक्ष लीलामनुजविग्रहधारणपूर्वक अवतीर्ण होते हैं। श्रीभगवान् जब-जब जैसी-जैसी लीला प्रकट करनेकी इच्छा करते हैं, तब-तब तदनुयायी देशकालपात्र अवक्षेपनपूर्वक सांगोपांगास्त्रपार्षद स्वयं अवतीर्ण होते हैं। सर्वशास्त्रप्रसिद्ध है कि यद्यपि श्रीभगवान्के असंख्य अवतार हैं और प्रत्येक अवतार असमोर्ध्व रूपगुणमाधुर्यसम्पन्न हैं, तथापि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूपमें ही यह रूपगुणलीलामाधुरी महाप्रेमरसमाधुरी महाभावसारसम्पुटसम्पुटित महामहारसराजत्व चरम अवधिको प्राप्त हुआ है। इसीसे तो श्रीमद्भागवतमें '*एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्*' कहा गया है। श्रीभगवदवतारके सम्बन्धमें कहा गया है कि यद्यपि श्रीभगवान् असंख्य रूपमें अपनेको प्रकाशित करते हैं तथापि उन रूपोंमें श्रीनामी, नाम एवं अर्चाविग्रह रूप ही प्रधान हैं। श्रीभगवान्की मंगलविहारभूमि भारतवर्षमें अनेक मंगलस्थान श्रीअर्चाविग्रह-रूपी प्रभुके मंगलमय प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। उन सबमें श्रीलीलापुरुषोत्तम स्वरूप श्रीश्रीजगन्नाथदेव विशेष प्रसिद्ध हैं। निविड़ निगूढ़ता एवं सुमहान् भावगाम्भीर्यप्रयुक्त अति चमत्कार रहस्यातिरहस्य श्रीश्रीजगन्नाथदेवके प्राकट्यकी कथा जनसाधारणको सुविदित नहीं है। अतएव सेवाकाम यह महापतित आज उसी सुमहान्, अति गोपनीय रहस्यको कल्याणकल्पद्रुमाश्रित कल्याणपाठकोंकी सेवामें उपस्थित करता है।

एक समय श्रीधाम द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा प्रभृति प्रधाना षोडश राजमहिषियोंके मध्यवर्ती शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे!, हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरणसंवाहनपूर्वक जागृत किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभंग होनेपर किञ्चित् लज्जित हुए और उन्होंने अति सन्तर्पणपूर्वक अपना भाव गोपन कर लिया। महारानियोंके द्वारा इसप्रकारके विषादका कारण पूछे जानेपर श्रीकृष्णचन्द्र यह कहते हुए कि, 'मुझे तो कुछ स्मरण नहीं' पुनः निद्रित हो गये। परन्तु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं, 'देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं हैं, तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मय-

* इनके लेखक श्रीश्रीराधाकृष्णचरणरजसे पवित्र परम पावनी व्रजभूमिमें यदृच्छा विचरण करनेवाले श्रीश्रीगौडीयसम्प्रदायके एक प्रसिद्ध महात्मा हैं। आज्ञा न होनेसे नाम प्रकाशित नहीं किया जा सका।—सम्पादक

की बात है ! रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी न मालूम कितनी रूप-गुणवती होगी !' इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं, 'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधानाम्नी एक गोपकुमारी है, उसके प्रति हमारे प्राणेश्वर अत्यन्त आकृष्ट हैं, इसीलिये रूपलावण्यवैदग्धिपुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हमसबद्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षकचित्ताकर्षिणीके अलौकिक गुण-ग्राम भूल नहीं सके हैं ।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं, 'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो और कुछ नहीं; फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं ? अस्तु । जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें श्रीरोहिणीमाताको पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं ।' यह प्रस्ताव सबको रुचा । रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ । श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्यसमापन करके राज-सभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादिसमाधानपूर्वक भोजन करने बैठे । राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया । इस अवसरको पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा । माताजी कहने लगीं, 'प्यारी पुत्रियो ! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किन्तु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी ।' इसपर महिषीगण कहने लगीं, 'माताजी ! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी ।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो, कह दो, किसीको अन्दर न आने दे, फिर मैं निःसंकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी ।' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा 'सुभद्रे ! यदि राम-कृष्ण आवें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना ।' माताजीका आदेश पालन किया गया । सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं । महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीला वर्णन करना आरम्भ किया ।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे । जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठितचित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े । आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं । उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा, 'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो ? द्वार छोड़ दो, हम लोग भीतर जायँ ।' श्रीमती सुभद्रादेवीने कहा, 'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रक्खा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे ।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्त्ता उन्हें सुनायी दी । वह वार्त्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत, मङ्गलरासविहारात्मक थी । सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गमें अद्भुत प्रेमविकारके लक्षण दिखायी देने लगे । क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये । अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षस्थलको प्लावित

लगी। यह देखकर श्रीमती सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्यावस्था वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इसप्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्तपद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ विलास वर्णन करने लगीं तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर श्रीमती सुभद्रादेवीकी भी यही दशा हो गयी। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपारावार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल-स्थावर प्रतिमूर्ति-स्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल, निर्वाक्, स्पन्दरहित महाभावावस्था! अतिशय मनोभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपदावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया। पाठक! महाभावमयी अशेषनायिकाशिरोमणि श्रीमती वृन्दावनेश्वरीजीके महाभावगौरवका तनिक विचार करें। कुछ कहनेको नहीं है, वाणी विराम प्राप्त होती है, सर्वात्मा गम्भीरतम महाभावजलधिमें डूब जाता है।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही; अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए, उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इसप्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनर्बार कोई एक रसान्तरका प्रसङ्ग उठाया तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्य लाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव-स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा, 'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है, कहिये मैं आपका क्या प्रीति-सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने करजोड़ प्रार्थना की, 'हे प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किसप्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्मा आप्यायित करते हुए इसप्रकार वचनामृत वर्षण करने लगे, 'देवर्षे! प्रातः तथा मध्याह्न-कृत्यसमापन पूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणद्वारा पूछे जानेपर माता श्रीरोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपारमाधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रजलीला-वार्त्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके यह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं।

उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रज-लीलामाधुरीने कर्णपथगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये । तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है । मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके ।' इतना कहकर भगवान्‌ने जब देवर्षिजीसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे, 'भगवन् ! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ, निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावावेशमूर्त्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें । माया-सन्निपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासञ्जीवनीरसायन स्वरूप-चतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें ।' करुणा-यतन भक्तवाञ्छापूरणकारी श्रीभगवान्‌ने कहा, 'देवर्षे ! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परम भक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ— एक भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्तिस्वरूपिणी श्रीविमलादेवी । निखिलप्राणि-कल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचलक्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ; तथा महा-विद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महा-तपस्यासे प्रसन्न होकर उनको प्राणिमात्रको अविचारमें महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ । अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्रतटवर्त्ती नीलाचलक्षेत्र-में अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे ।' सर्वजीव-कल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छा गमन किया । श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् सङ्कोच-की आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया । ये ही मूर्त्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपमें श्रीनीलाचलक्षेत्र विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं ।

सहृदय पाठकवृन्द ! दासका निवेदन तो समाप्त हो चुका । अब आप इस मूर्त्तिचतुष्टयके महा-गौरवशाली स्वरूपपर विचार करें । यदि कोई महानुभाव इस प्रसङ्गको किसी एक विशेष आख्या-द्वारा आख्यायित करनेको कहें तो मैं निवेदन करूँगा कि इसका नाम 'महाभावविजय' रखनेसे कुछ-कुछ सुसङ्गत हो सकता है ।

श्रीजगन्नाथदेव—श्रीराधामहाभावसम्पुटित श्री-मन्नन्दनन्दन ।

संवित्‌शक्तिसार श्रीबलराम—दारुब्रह्मरूपमें प्रतीय-मान निकुञ्जभावविमुग्ध महाभावबलीयान् श्रीबलराम ।

श्रीसुभद्राजी—पुरपरिजन श्रीसुभद्रा, व्रजभाव-संलुब्धा चिरभद्रा श्रीसुभद्रा ।

श्रीसुदर्शन—द्वारकापरिकर अस्त्रराज श्रीसुदर्शन, आज महाभावद्रवित सुखदर्शन सुदर्शन ।

पाठक महोदयगण ! अन्तमें श्रीमहाभावग्रसित श्रीमन्नन्दनन्दन श्रीजगन्नाथदेवको जीवनसर्वस्व करके

जो अद्वितीय रसराजमहाभावात्मकस्वरूप निज-कनकाचलकान्तिकन्दली पराभवकारिणी महाप्रभासे अपने प्राणनाथको स्तम्भित एवं दशों दिशाओंको आलोकित करते हुए श्रीजगन्नाथक्षेत्रमें अचल-अटल विराज रहे हैं और श्रीनीलाचलधाममें व्रजमाधुरी-परिणतिको प्रकाशित करके निजजनोंको सुखातिशाय्यसमुद्रमें निमज्जित कर रहे हैं, मैं उन श्रीश्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुके अभयचरणारविन्दयुगल हृदयमें धारणपूर्वक एवं जीवनसर्वस्व श्रीगुरुचरणनखचन्द्र-चन्द्रिकापिपासुचकोरायितभावधारणपूर्वक 'जय श्री-गुरुगौराङ्ग जय' उच्चारण करते हुए आप सबके श्री-चरणारविन्दमें कोटि साष्टाङ्ग प्रणिपात करता हूँ। क्या आप भी उस महाध्वनिको उच्चारण करते हुए इस महापतितको हृदयसे लगा लेंगे, अपना लेंगे?

जड और चेतन

(लेखक—श्रीओङ्कारानन्दजी परमहंस)

पुरुष एवेद॰ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥
(यजु० ३१। २)

भूत, भविष्यत् और वर्तमान—सब कुछ परमात्मा ही है। एक वही अमरपद कैवल्यका विधाता है और जो अन्नके द्वारा पुष्ट होता है उसका स्वामी है अर्थात् उस परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है।

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतर-मन्वेति।
(प्रश्न० ५। २)

(उस) सत्यकाम ऋषिसे पिप्पलाद मुनिने कहा कि हे सत्यकाम! यह जो प्रसिद्ध प्रणव है यही पर और अपर ब्रह्म है, इसलिये इस प्रणवको ही आश्रय करके उपासक पर या अपर ब्रह्मको प्राप्त होता है।

ओङ्कार एवेद॰ सर्वमोङ्कार एवेद॰ सर्वम्॥
(छा० २। २३। ३)

इसलिये यह सब जगत् ओङ्काररूप ही है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।
(छा० ३। १४। १)

सारा जगत् वास्तवमें ब्रह्म ही है क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, ब्रह्ममें स्थित है और ब्रह्ममें ही लय होता है। शान्त होकर इसकी उपासना करे।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। १९)

बहुत जन्मोंके अन्तमें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् भगवान् वासुदेव के सिवा अन्य कुछ है ही नहीं, इसप्रकार जानकर मुझको भजता है वह महात्मा अति दुर्लभ है। यही परमतत्त्व भगवान् वासुदेव सब कुछ हो रहे हैं, क्योंकि परमार्थावस्थामें जड, चेतन अलग-अलग नहीं हैं। दोनोंकी एक वृत्ति है, न कभी जड अलग-अलग देखा गया और न चेतन। व्यवहारावस्थामें ये द्वन्द्व हैं। जैसे वृक्ष और बीज दोनों एक ही चक्रके दो अंश हैं, वैसे ही जड और चेतन विशेष गुण और स्वरूप हैं। वास्तवमें दोनोंकी एक सत्ता है। ब्रह्माण्डमें केवल एक परमतत्त्व है, जो चेतन और जड दोनों है। क्योंकि दोनोंका मूल-कारण ब्रह्म है, दोनोंका आधार परम सूक्ष्म है, जो दोनोंकी आत्मा है। उसके स्वभावका परिणाम ऐसी

सृष्टि है कि जिसमें जड और चेतन दोनों प्रकारके पदार्थ हैं, इन दोनोंको भगवान्‌ने गीतामें अपरा और परा प्रकृतिके रूपमें वर्णन किया है। जैसे अन्धकार और प्रकाश एक ही ज्योतिके दो विकास हैं और दोनोंका कारण सूर्य है, वैसे ही जड और चेतन एक ही परमतत्त्वके दो विकास हैं, अर्थात् एक ही पदार्थके दो भाव हैं, दो मूल रूप या गुण हैं और दोनोंका कारण एक परमतत्त्व है। जैसे सूर्यने अँधेरा कभी स्वप्नमें नहीं देखा। दिन और रात, अँधेरा और उजाला भूमिके लिये है। सूर्यमें न कभी रात होती है और न कभी दिन चढ़ता है। सूर्यमें प्रातः और सायं नहीं होता। परन्तु अँधेरा और उजाला दोनोंका कारण एक सूर्य ही है और अँधेरा तथा उजाला भी एक ही वस्तु है केवल मात्राका अन्तर है अर्थात् न्यून प्रकाशका नाम अन्धकार है। वैसे ही परमात्मावस्थामें जड, चेतन अलग-अलग नहीं हैं, जीव अवस्थामें ये द्वन्द्व हैं। दोनोंका कारण एक परमतत्त्व है और दोनोंकी एक ही सत्ता है। केवल मात्रा, गुण और दर्जेका अन्तर है, दोनोंका केन्द्र एक है और न्यून चेतन, सामान्य चेतनका नाम जड है। दोनों भगवान्‌के विभाव या प्रकारमात्र हैं। अर्थात् ब्रह्म, जीव और प्रकृति—ये तीनों एक ही परमतत्त्वके तीन भाव हैं। वास्तवमें पर-अपर, जीव-ईश्वर, जड-चेतन, प्रकृति-पुरुष इत्यादि सभी सापेक्ष शब्द या अवस्थाएँ हैं। और यह प्रसिद्ध नियम है कि सापेक्ष पदार्थ या अवस्थाएँ स्वतन्त्र नहीं होती हैं, वे अन्योऽन्याश्रित होती हैं। इनका आधार इन दोनोंसे भिन्न और इनमें ओतप्रोत होता है और इनका वास्तविक रूप एक निरपेक्ष पदार्थ होता है। जैसे शीत और उष्ण—ये दोनों सापेक्ष हैं, उष्णत्वकी अधिक मात्राका नाम उष्ण है और उष्णत्वकी कम मात्राका नाम शीत है। एक ही आधार उष्णत्वके ये दोनों आधेय हैं और भिन्न-भिन्न मात्राओंके कारण भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप पाते हैं और इनका आधार उष्णत्व स्वयं निरपेक्ष इन दोनों रूपों या भावोंसे भिन्न तथा इनमें ओतप्रोत और इनका वास्तविक स्वरूप होता है। इसी तरह यह जड-चेतन, पर-अपर इत्यादि सापेक्ष अवस्थाएँ हैं, वास्तवमें स्वतन्त्र नहीं। इनका आधारभूत इनका वास्तविक स्वरूप परब्रह्म है। वह इन सबमें ओतप्रोत तथा इनका वास्तविक प्राण एवं इनका परम आश्रय है, उससे परे कोई भी आश्रय नहीं है। क्योंकि बिना अन्धकारके प्रकाश और बिना प्रकाशके अन्धकार कहीं नहीं रहता, दोनों दोनोंमें अनुस्यूत होते हैं। इसलिये दोनों एकरूप माने जाते हैं। दोनों एक ही ज्योतिके दो विकास हैं। यदि अन्धकारमें प्रकाशका कुछ अंश न हो या न रहे तो अन्धकारका प्रत्यक्ष ही न हो सके। वैसे ही बिना जडके चेतन और बिना चेतनके जड कहीं नहीं रहता, दोनों दोनोंमें अनुस्यूत हैं। इसलिये दोनों एकरूप हैं, एक ही परम सत्ताके दो विकास हैं। यदि जडमें चेतनका कुछ अंश न रहे तो जडका प्रत्यक्ष ही न हो सके। अर्थात् यदि जड चेतनसे पूर्णतया विरुद्ध होता तो हम किसी जड आकार और रूपवाली वस्तुकी कल्पना नहीं कर सकते। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(१३। ५-६)

पञ्चमहाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, अव्यक्त, महत्तत्त्व, मन, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (शरीर), चेतना (ज्ञानात्मक अन्तःकरणकी वृत्ति) और धैर्य—ये सब क्षेत्रके विकार

हैं अर्थात् इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, धैर्य और प्रयत्नादि जो ज्ञानकी दूसरी अवस्थाएँ हैं, अचेतन जडसे कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। जडमें जो चेतन है उसीसे ये उत्पन्न हुई हैं। अतः मानसिक और शारीरिक सब द्रव्यों और गुणोंका प्राणरूपी विशिष्ट चेतनयुक्त जो समुदाय है उसीको क्षेत्र कहते हैं। यह प्रत्येक जड तथा चेतन पदार्थमें अवतीर्ण है। इसीसे जड और चेतनमें कुछ-न-कुछ समानता है। वास्तवमें दोनों एक ही हैं, केवल नाम-का भेद है। मैं कुछ सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ। यह सोचना या स्मरण करना आत्माका व्यापार नहीं। आत्माको तो केवल यह ज्ञान है कि मैं यह सोच रहा हूँ या स्मरण कर रहा हूँ, शुद्ध चेतनका लक्षण यही है। केवल वृत्तिका नाम ज्ञान नहीं है और केवल चेतनका नाम भी ज्ञान नहीं है, किन्तु चेतनसहित वृत्तिका नाम ज्ञान है अथवा वृत्तिसहित चेतनका नाम ज्ञान है। दोनों मिलकर ब्रह्म कहलाता है। एक परमतत्त्वमें ज्ञानरूपी जो बल है वह चेतनका बोधक है और उसमें जो क्रिया है वह जड प्रकृतिका बोधक है और दोनों मिलकर एक परमतत्त्व, अपरिमित अपरिच्छिन्न तत्त्व है। चैतन्यमें परमार्थतः दर्जे नहीं हैं। मूल प्रकृतिके साथ अध्यस्त होनेसे उसकी दृष्टिसे दर्जे माने जाते हैं। अतः व्यवहारमें दर्जे अवश्य हैं और वह मूल-प्रकृति नानात्वके कारण हैं। जैसे आधिभौतिक शास्त्रकारोंने पूर्णतः सिद्ध कर दिया है कि मूलमें एक सूर्य प्रकाशका विकार है और सूर्यका प्रकाश स्वयं एक प्रकारकी गति है। गति मूलमें एक ही है पर कान उसे शब्द और आँख उसीको रंग बतलाती है। वैसे ही परब्रह्म एक परम-तत्त्व है जो बल और क्रिया अर्थात् चेतन और जडके द्वारा बोध हो रहा है, वास्तवमें तत्त्व सर्वथा एक ही है।

शुद्धाद्वैतवाद न तो वह भूतवाद है जो आत्माका अस्तित्व अस्वीकार करता और जगत्को जड परमाणुओंका ढेर बतलाता है और न वह अध्यात्मवाद है जो भूतोंका अस्तित्व नहीं मानता और जगत्को अभौतिक शक्तियोंके विधानका समाहारमात्र बतलाता है। सिद्धान्त यह है कि न तो द्रव्यकी स्थिति और क्रिया आत्माके बिना हो सकती है और न आत्माकी द्रव्यके बिना। द्रव्य (जड) और आत्मा (चेतन) दोनों विभु परमतत्त्वके दो मूलरूप या गुण हैं। ब्रह्माण्डमें केवल एक परमतत्त्व है जो ईश्वर और प्रकृति दोनों है। शरीर और आत्मा अथवा जड और चेतन परस्पर अभिन्न या अनवच्छेद हैं, दोनों आपसमें ओतप्रोत हैं, सर्ववादकी भावना विज्ञानके अनुकूल है। एक ही द्रव्य है जो विभु अपरिच्छिन्न और अद्वितीय है। वह जगत्में अन्तर्व्यापी तथा ओतप्रोतभावसे शक्तिरूपसे उसका सञ्चालन करने-वाला है। द्रव्यके नामके विषयमें कोई विवाद नहीं। सामान्यतः ईश्वर शब्दसे इसका बोध होता है। सर्वगत जो सामान्य सत्ता है वही ईश्वर है। इसका आधुनिक वैज्ञानिकोंके तत्त्वाद्वैतवाद या सर्ववादके साथ पूरा मेल हो जाता है। सच पूछिये तो ये दोनों एक ही हैं, केवल नामका भेद है। विज्ञान बतलाता है कि सर्दी, गर्मी दोनों हरारतके नाम हैं। केवल दर्जेका अन्तर है। अँधेरा और उजाला भी एक ही प्रकाशके अलग-अलग दर्जोंके नाम रक्खे हुए हैं। रात मनुष्योंके लिये अँधेरा है परन्तु बिल्ली, चमगादड आदिके लिये उजाला है।

वैज्ञानिकों और आत्मदर्शी महात्माओंके अनुभवमें जड और चेतनकी भिन्न सत्ता नहीं है और श्रुति भी कहती है कि—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। (मा० १)

जो यह वाच्य-वाचक अथवा शब्द शब्दार्थरूप है वह सब ओंकार ही है, उसी प्रणवके विशेष ज्ञान-द्वारा परब्रह्मकी प्राप्तिका कथन किया जाता है। जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान प्रत्यक्षका विषय कथन किया जाता है अर्थात् जो दृश्यमान प्रपञ्च जड-चेतन जगत् है, वह सब ओंकाररूप ही है और जो कालत्रयसे अलग अव्याकृति आदि मूल-प्रकृति है, वह भी ओंकाररूप ही है।

सर्वं सर्वमयम्।

यह सारा जगत् ब्रह्मरूप ही है। यह प्रपञ्च सारा ब्रह्मरूप ही है।

आत्मैवेद॰ सर्वम्, ब्रह्मैवेद॰ सर्वम्, पुरुष एवेद॰ सर्वम्।

आत्मा ही यह सब है, ब्रह्म ही यह सब है, पुरुष ही यह सब है।

अब प्रश्न होता है कि जडमें चेतन विदित क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यह है कि जैसे आग-की लपटमें प्रकाश और गर्मी दोनों साथ-साथ हैं, दोनों एक जाति होकर लपटकी सूरतमें प्रकट होती हैं, वैसे ही सत्, चित्, आनन्द साथ-साथ हैं। अब आगके सम्मुख पत्थर रखिये तो गर्मी मालूम होगी, प्रकाश नहीं। परन्तु शीशेमें प्रकाश और गर्मी दोनों विदित होंगे। ठीक इसी तरह पत्थरादिमें सत्का, वनस्पतिमें सत्-चित्का, पशुओंमें सत्-चित् किञ्चित् आनन्दका और मनुष्योंमें सत्-चित्-आनन्द तीनोंका विकास होता है। अथवा जैसे काष्ठादिमें अग्निकी उष्णता और प्रकाश दोनों विदित नहीं होते हैं वैसे ही पाषाणादि-में चित् और आनन्द विदित नहीं होते। अर्थात् शान्त सत्त्वगुणवृत्तिमें सुख और चैतन्य दोनों ज्ञात होते हैं, सत्त्वगुणप्रधान पदार्थ और शान्तरूप बुद्धिकी वृत्तिमें सत्, चित्, आनन्द तीनों व्यक्त होते हैं। रजोगुणप्रधान पदार्थ और बुद्धिकी घोर और मूढ़ वृत्तियोंमें सत्ता (सत्) और चित् दो ही व्यक्त होते हैं और तमोगुणप्रधान पदार्थ मृत्तिका और पाषाणादिमें केवल सत्ता (सत्) मात्रकी प्रतीति होती है। जैसे सूर्यका प्रकाश सर्वत्र समान है परन्तु सब जगह प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता केवल जहाँ जल और दर्पणरूप उपाधिकी प्राप्ति होती है वहाँ बिम्बरूपमें प्रत्यक्ष होता है अथवा जैसे सूर्यका प्रकाश सर्वत्र समान है परन्तु वस्त्र-कपासादिको जलाता नहीं परन्तु जहाँ सूर्यकान्त-मणिरूप उपाधि प्राप्त होती है वहाँ विशेषतः अग्नि-रूपमें प्रकट होकर वस्त्र-कपासादिको जला डालता है, वैसे ही सामान्य चैतन्य अस्ति, भाति, प्रियरूपमें सर्वत्र समान है परन्तु उससे बोलना, चलना आदि विशेष व्यवहार नहीं होते और जहाँ अन्तःकरणकी उपाधि है वहाँ चिदाभासरूपसे विशेष चैतन्यके बोलना, चलना, कर्त्तापना, भोक्तापना, इहलोक-परलोकमें गमनागमन इत्यादि विशेष व्यवहार होते हैं। अन्तःकरण और अन्तःकरण-वृत्तिमें जो सामान्य चैतन्य ब्रह्मका प्रतिबिम्बरूप चिदाभास है सो विशेष चैतन्य है। यहाँ चिदाभास उसे कहते हैं जो चैतन्य ब्रह्मके लक्षणसे रहित हो और चैतन्यकी तरह भासित हो। जो अल्पदेशमें हो उसे विशेष कहते हैं।

पाषाणादि तमोगुणप्रधान पदार्थ हैं। उनमें अन्तः-करण नहीं है, इसीसे उन पदार्थोंमें चित् और आनन्द-का भान नहीं होता। जिसप्रकार चुम्बक लोहेको ही आकर्षण करता है, मिट्टीको नहीं आकर्षित करता, उसी प्रकार चित्त या जीवमें साक्षात् चेतनका बोध होता है, जडमें नहीं होता। इसप्रकार स्पष्ट हो जाता है कि जड और चेतन दो भिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, बल्कि एक ही परम सत्ताकी दो बुद्धिजन्य पर-स्पर सापेक्ष्य अवस्थामें हैं, जिसके विषयमें श्रुति कहती है—

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्, तदेषाऽभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

(तैत्ति० २ । १)

ब्रह्मवेत्ता निरतिशय ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। उस ब्रह्मके ज्ञानमें यह ऋचा वेदने कही है कि वह ज्ञानस्वरूप त्रिविध परिच्छेद-शून्य अर्थात् काल, देश, वस्तुके अवधिसे रहित अनन्तस्वरूप ब्रह्म हृदयाकाशमें साक्षीरूपसे स्थित है।

द्वैतसिद्धान्तानुसार चेतनके अभावका नाम जड है अर्थात् दोनों विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ हैं। एक साथ दो विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ नहीं रह सकते। जड और चेतन एक द्वन्द्व है। अब प्रश्न होता है कि ये दोनों आपसमें अव्यक्तरूपसे एक स्वरूप करके हैं या भिन्न-भिन्न करके हैं? यदि एक स्वरूप करके हैं तो द्वैतके सिद्धान्तके प्रतिकूल हैं और यदि भिन्न-भिन्न करके हैं तो दो विरोधी पदार्थ एक साथ कैसे हैं? चेतन और जडको भिन्न-भिन्न माननेसे कुछ व्यवधान रहेगा अर्थात् दो भिन्न-भिन्न सत्ता माननेसे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अन्तर अवश्य होगा और अन्तर होनेपर ब्रह्म सर्वव्यापक, अनन्त, अखण्ड और सर्वरूप न रहेगा। जडके स्वरूपसे खण्डित हो जायगा अर्थात् कुछ स्थान ऐसा होगा कि जहाँ चेतन नहीं रहेगा, इससे देश और वस्तु-परिच्छेद-दोष भी होगा और ऐसा मानना श्रुतिविरुद्ध भी है। श्रुति कहती है कि—

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥

(तैत्ति० ३ । ६)

ऐसा जानता हुआ कि आनन्द ही ब्रह्म है क्योंकि निश्चय करके आनन्दसे ही ये सर्वभूत उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हुए आनन्द करके ही जीते हैं, बढ़ते हैं और विनाशकालमें आनन्दमें प्रवेश करते हैं एवं तन्मय हो जाते हैं ॥ ॐ शम् ॥

सुमरन

संपति प्रमाद, पद प्रभुता समात मद, ममता कुटुम्ब, मान रूप सुबरन में।
कहत 'कुमार' रोग-जोग होत भोगन में, भूमि भले आतन लगावत लरन में॥
खाली हाथ जात एक पात हू न जात साथ, फलकी न बात इन बातन परन में।
एकौ उतपात नाहिं ताके जम-जातना न, जाके दिन-रात जात वाके सुमरन में॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

झाँकी

सखि! नंदके द्वारसिंगार-समै सब गोप-कुमार खरे हि तकै।
वह सूरत ईठ निहारन कों सब दीठि लगाइ रहे चित दै॥
पुनि खोलत ही पट, मोहनकी छबि देखत ही इक बार सबै।
चहुँ ओरतें ग्वार पुकारि उठे, ब्रज-दूलह नंद-किसोरकी जै॥

—अज्ञात कवि

तपस्वी अहमद हर्व

(अ०—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)



तपस्वी अहमद हर्व महान् साधक, विरागी और ज्ञानी पुरुष थे। निशापुरमें ये अपना जीवन विताते थे। महात्मा ईहाने एक बार कहा था कि मेरी मृत्युके समय मेरा मस्तक महात्मा अहमद हर्वके चरणोंमें झुका हुआ हो, ऐसी मेरी इच्छा है।

निशापुरमें एक व्यापारीका नाम भी अहमद था। महात्मा अहमद हर्व जहाँ परम धार्मिक थे, वहाँ व्यापारी अहमद संसारके झंझटोंमें डूबा हुआ था। धर्मपरायण अहमद हर्व प्रभुके ध्यान और भजनमें इतने मस्त थे कि उनको अपने शरीरकी भी सुधि नहीं रहती थी। एक बार एक नाई उनकी हजामत बनानेको आया। महात्माजी सदा 'सुभान अल्लाह' का जप किया करते थे और उससे उनके दोनों होंठ हिला करते थे। हज्जामने विनती की—'आप थोड़ी देरके लिये अपने होंठोंको हिलनेसे रोकिये, ताकि मैं आपकी मूँछोंके बाल कतर लूँ।'

यह सुनकर तपस्वी बोले—'तू अपना काम किये जा, मैं अपना काम करता जाता हूँ। हजामतके लिये मैं प्रभु-नामका जप करना नहीं छोड़ूँगा।' आखिर ईश्वरका नाम जपनेमें उनके होंठ हिलते ही रहे, जिससे बाल काटते समय उनके होंठोंपर कई जगह टाँचे पड़ गये।

एक बार आपके एक मित्रने आपको पत्र लिखा। उसमें यह लिखा कि—'भाई! मैंने आपको बहुत-से पत्र लिखे, पर आपने एकका भी उत्तर नहीं दिया। अब कृपा करके एक बार तो उत्तर लिखिये।'

ऐसे पत्र-व्यवहारकी तरफ आपका ध्यान नहीं रहता था। एक दिन नमाज़ पढ़ते समय आपको इस पत्रकी याद आयी, जिससे ऐसे पत्र-व्यवहारके सम्बन्धको भी आपने प्रभुके मार्गमें विघ्नकारक समझा। इसी वजहसे एक दिन आपने अपने एक शिष्यके द्वारा उस मित्रको यह उत्तर लिखाया कि—'अब आप कृपा करके मुझे पत्र न लिखा करें; क्योंकि ईश्वरका स्मरण रोककर मैं आपको पत्रोत्तर देनेका अवकाश नहीं निकाल सकता। मैं चाहता हूँ कि आप भी ईश्वरके भजनमें ही लीन रहें। बस सलाम!'

एक दिन अहमदकी माता भोजन बनाकर उनके पास लायीं और कहा कि—'बेटा! यह भोजन अपने घरका ही बना हुआ है, इसलिये बिना सन्देहके इसे खा ले।'

अहमद बोले—'नहीं, एक दिन मैंने देखा था कि आपके अन्नमें पड़ोसीका अन्न भी मिला हुआ है। यह पड़ोसी अन्यायसे द्रव्य इकट्ठा करता है। अतः इसका अन्न इस अन्नमें मिला होनेसे इस भोजनके खानेमें मुझे बहुत सङ्कोच होता है।'

अब व्यापारी अहमदकी तरफ देखिये। धनपर उसकी अपार ममता थी। एक दिन उसने रसोई करनेवाली स्त्रीको बुलाकर कहा—'जीमनेका थाल एकदम ले आ।' इतना कहकर वह पैसोंका हिसाब लगाने लगा। रसोईदारिन थाल लायी। देखा कि सेठ हिसाब जोड़नेमें लगे हुए हैं। उसने चार-पाँच बार कहा कि यह थाल ले आयी हूँ, पर सेठका चित्त पैसेमें इतना तल्लीन था कि इन शब्दोंपर उसका ध्यान ही नहीं गया। इससे बेचारी भोजनका थाल वापस ले गयी। थोड़ी देर बाद अहमदको भान हुआ। उसने रसोईदारिनको फिर पुकारा। वह थाल लेकर फिर आयी, पर इसी बीचमें सेठजी तो फिर

विचारमें डूब गये। सेठजीको इस तरह बाह्यज्ञानशून्य देखकर इस बार भी बेचारी थाल पीछा ले गयी। इस-प्रकार तीन बार हो चुका। चौथी बार भी सेठने आवाज़ दी। थाल लेकर दासी आयी और देखा कि इस बार भी सेठ हिसाबमें मशगूल हैं। इसलिये उसने सेठजीका ध्यान खींचनेके लिये थोड़ा-सा पतला पदार्थ उनके होंठों-पर लगा दिया। इतना होनेपर भी सेठजीका ध्यान नहीं फिरा। दासी वापस लौट गयी। थोड़ी देरके बाद जब सेठको चेत हुआ तो देखा कि होंठोंपर अन्न लगा हुआ है। समझा कि मैंने भोजन कर लिया है। यह समझकर वह उठा और मुँह धोकर पुनः हिसाब लगाने बैठ गया।

एक बार निशापुरके कुछ इज्ज़तदार सज्जन महात्मा अहमदसे मिलनेको आये। महात्माके एक तूफ़ानी और दुराचारी पुत्र था। इस समय वह सुरापानसे मस्त होकर गाता हुआ घरमेंसे निकला और उन सज्जनोंकी तरफ उसने ज़रा भी दृष्टिपात नहीं किया। महात्माके पुत्रकी यह हालत देखकर उन सज्जनोंने मनमें बड़ा अचरज माना। उनके मनो-भावको समझकर महात्मा बोले—

'एक दिन रात्रिके समय पड़ोसीके यहाँसे कुछ मिठाई आयी थी। हम दोनोंने उसको खाया था। खानेके बाद मालूम हुआ कि वह राजदरबारसे आयी थी। उसी रातको यह बालक पेटमें पड़ा था। राज्यके रजोगुणी अन्नसे इसकी उत्पत्ति हुई है, इसी-से यह पुत्र दुराचारी हुआ है।'

बहराम नामक एक व्यक्ति महात्मा अहमदका पड़ोसी था। परदेशमें लाखों रुपयेका माल वह व्यापारके लिये भेजता था। एक बार उसका बहुत-सा धन लुटेरों-ने लूट लिया। यह बात सुनकर अपने मित्रोंके साथ महात्मा अहमद भी बहरामके घर आश्वासन देनेको गये। बहुत ही सत्कारपूर्वक बहरामने उनको बैठाया और सबके भोजनके लिये तैयारी करना शुरू किया। इस समय अकाल पड़ रहा था; इसलिये बहरामने सोचा कि 'यह महात्मा अकालके कारण सबको साथ लेकर मेरे यहाँ भोजन करने आये होंगे।'

महात्मा अहमदने कहा—'भाई! तुम इस बातकी फिकर न करके शान्त रहो। मैं जीमनेको नहीं आया हूँ। मैंने सुना है कि तुम्हारा धन जाता रहा है, इसलिये तुमको आश्वासन देनेके वास्ते आया हूँ।'

बहराम बोला—'हाँ, ऐसा हुआ है, लेकिन उससे मुझको अफ़सोस नहीं हुआ। इसके लिये तो उलटा मुझे ईश्वरका उपकार मानना चाहिये; क्योंकि पहले तो मेरा धन दूसरे भले ही लूट ले जायँ पर मैंने किसी-का धन नहीं लूटा है। दूसरे, लुटेरोंने अभी मेरी आधी ही सम्पत्ति लूटी है, आधी बाकी बची है! तीसरे, सांसारिक जो अनित्य धन है वही लुटाया है, धर्मरूपी सच्चा धन तो बाकी बचा है!'

यह बात सुनकर महात्मा बहुत ही प्रसन्न हुए और अपने साथियोंसे बोले कि—'सुनो, इन वाक्यों-में धर्म-प्रेमकी कितनी ज़्यादे सुगन्ध भरी हुई है!'

महात्मा अहमद रातको प्रभु-स्मरण किया करते थे। एक बार उनके एक मित्रने उनसे पूछा—'अगर आप बीच-बीचमें एकाध रात्रि सोवें तो क्या हर्ज है?'

महात्माने जवाब दिया—'जिस मनुष्यके नीचे नरकाग्नि तेज़ीसे जल रही हो और जिसे ऊपरका स्वर्गराज्य बुलाता हो तो वह निद्राके पीछे क्यों अपना वक्त खोवे?' *

* गुजराती 'मुस्लिम महात्माओ' से।

भक्त-गाथा

भक्त परमेष्ठी दर्जी



कोई भी मनुष्य इस जन्ममें नीच वर्णसे उच्च वर्ण नहीं बन सकता परन्तु भक्तिके प्रतापसे भगवत्प्रेमको अथवा भगवान्‌को प्राप्तकर सर्वपूज्य महान् सन्त बन सकता है। सामाजिक सम्बन्ध दूसरी चीज है और भगवान्‌के साथ जीवका आत्मिक सम्बन्ध दूसरी। यह आत्मिक सम्बन्ध सभीका है, जो इस सम्बन्धको पहचानकर भगवान्‌को अपना परम सुहृद्, परम उपास्य, परम गति, परम आश्रय, परम धन, परम पिता जान लेता है वही भगवान्‌का जन है। ऐसा भगवज्जन किसी भी जातिका हो, कुछ भी पेशा करता हो, वह अपनी जातिमें रहता हुआ, अपने उसी पेशेके द्वारा भगवान्‌की पूजा करता है; न उसे जाति बदलनेकी आवश्यकता है और न पेशा बदलनेकी। जाति बदली भी नहीं जा सकती। भक्तका प्रत्येक कर्म भगवदर्थ होता है और भगवान्‌के प्रेममें मस्त हुआ वह उसीमें परम सन्तुष्ट और परम तृप्त रहता है। यह हरिभक्तिरूपी कल्पलता जाति, कुल, विद्या और वैभव आदि विषयोंमें अपनेको पहाड़से भी ऊँचा माननेवाले मनुष्यके हृदयको स्पर्श नहीं करती। यह उसीको प्राप्त होती है जो किसी भी बाहरी स्थितिमें रहकर भी अभिमानशून्य हो। अकिञ्चनताके निम्नप्रदेशमें ही इसे आनन्द मिलता है। यह वहीं अङ्कुरित होती और फ़लती-फलती है। संसारमें ऐसे बहुत ही थोड़े मनुष्य हैं, जो इस भक्तिकल्पलताकी शोभा देखते और इसे प्राप्त करते हैं। अधिकांश प्राणी तो इसकी कल्पना नहीं कर सकते। आज एक भगवत्-रसिक दर्जीकी जीवन-कथा लिखी जाती है।

अबसे प्रायः चार सौ वर्ष पहले दिल्लीमें परमेष्ठी नामका एक दर्जी रहता था। उसका शरीर कुबड़ा और काले रङ्गका था, पर गुणमें वह पूरा था। हृदयमें भगवद्भक्ति भरी थी और हाथमें कारीगरी। वह सिलायीका काम करता था। उसमें और भी अनेक सन्तोचित गुण थे। वह शूद्र होनेपर भी जितेन्द्रिय था, दरिद्र होनेपर भी उदार था, श्रमजीवी होनेपर भी सदा आनन्दमें रहनेवाला था। कभी झूठ नहीं बोलता था। जीवहिंसा भूलकर भी नहीं करता था और सारे जगत्‌में भगवान् वासुदेवको व्याप्त समझकर सबसे प्रेम करता था।

परमेष्ठी भगवान्‌की अपार महिमापर विचार करता-करता कभी प्रेमावेशमें बेसुध हो जाता। कपड़े सीनेके समय ऐसी दशामें उसके हाथमें सूई, सूत और कपड़ा ज्यों-का-त्यों रह जाता। वह देहसे मर्त्यलोकमें रहनेपर भी आत्मासे पवित्र वैकुण्ठलोकमें विचरता। उसकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती। इसप्रकार, जलमें खिले हुए नवीन कमलकी भाँति घण्टोंतक वह निश्चल बैठा रहता।

परमेष्ठीकी स्त्री विमला धर्मपरायणा, रूप-गुणसम्पन्ना तथा बड़ी ही पतिव्रता थी। उसके एक पुत्र और दो कन्याएँ थीं। पुत्र-कन्याओंमें भी माता-पिताके गुण उतर आये थे। इससे परमेष्ठीके मनमें तनिक भी सांसारिक अशान्ति नहीं थी। इसप्रकार यद्यपि उसे समस्त सांसारिक सुख प्राप्त थे तथापि वह उनमें आसक्त नहीं था। भगवान्, भगवद्भक्त तथा भगवन्नामस्मरणमें उसे अपार प्रीति थी। भगवान्‌का नाम-संकीर्तन तो उसे बहुत ही अच्छा लगता। उसे जब कभी कुछ समय मिलता, वह तुरन्त भगवान्‌के भजन-

में रत हो जाता। थोड़ा-सा अवसर पाते ही वह भगवान्‌का पवित्र कीर्तन करने लगता, गाते-गाते उसका गला रुँध आता, वह स्तम्भित होकर पसीने-पसीने हो जाता और उसकी आँखोंसे आनन्दाश्रुकी धारा बहने लगती। प्रेमके इन सात्त्विक भावोंसे उसका शरीर पूर्ण हो जाता। अहा! उस समय उसकी आनन्दमयी मूर्ति देखकर कोई नहीं कह सकता था कि वह दर्जी है। उस समय तो सभी लोग उसे धन्यवाद देते, उसकी प्रशंसा करते तथा उसका कृपा-पात्र बननेका प्रयत्न करते।

भगवद्भक्त होनेके साथ-साथ वह अपने जातीय धन्धेमें भी बड़ा दक्ष था। उसके तैयार किये हुए कपड़े जो कोई देखता, अवश्य प्रशंसा करता। वह सिलायीका काम इतना महीन और सफाईके साथ करता था कि उस समय उसकी बराबरीका कारीगर दिल्ली शहरमें दूसरा नहीं था। इससे शहरके सभी अमीर-उमरा तथा स्वयं बादशाह उससे हर एक प्रकारके कपड़े सिलवाकर उसे मन-चाहा इनाम देते थे।

एक बार ऐसा हुआ कि बादशाहके सुवर्ण-सिंहासनके ऊपर दोनों ओर दो गलीचे बिछाये गये। बादशाह अपने दोनों पैर उनके ऊपर रखकर बैठता। परन्तु वह उसको पसन्द नहीं आये। इसलिये उसने दो बढ़िया तकिये तैयार करानेके लिये बेशकीमती कपड़ा बनवाया तथा उसमें सोनेके तारे, हीरे, माणिक और मोती जड़वाये। बादशाहको वह कपड़ा बहुत पसन्द आया और वह उसे बारम्बार देखकर मन-ही-मन कारीगरकी प्रशंसा करने लगा।

पहले कहा जा चुका है कि परमेष्ठी एक सुनिपुण दर्जी था और स्वयं बादशाहका उसके ऊपर बहुत विश्वास था, इसलिये उसने शीघ्र ही उसे बुलवा भेजा। परमेष्ठी बादशाहके पास आया और सलाम करके सामने खड़ा हो गया। बादशाहने उससे कहा कि—'ओ दर्जी! तू यह बेशकीमत हीरे-मोतियोंसे जड़ा हुआ कपड़ा ले जा और इसका दो तकिये बना ला, देखना कारीगरीमें किसी तरहकी कमी न रहने पावे और इसके ऊपरका एक भी फूल दब न जाय। जा, इसे जल्दी तैयार करके ले आ, यदि मुझे तेरा काम पसन्द आया तो मैं तुझे निहाल कर दूँगा।'

परमेष्ठीने 'जहाँपनाह! जो हुक्म' कहकर झुककर सलाम किया और वहाँसे घर आया। स्नान-भोजनसे फुरसत पाकर वह बादशाहके तकिये सीने बैठा और थोड़े ही समयमें उसने दोनों खोल तैयारकर बढ़िया इत्रकी सुगन्ध-भरी रूई उसमें भर दी और तकिये तैयार कर दिया। बहुत ही बढ़िया इत्र होनेके कारण परमेष्ठीका सारा घर सुगन्धसे भर गया। उसके ऊपर जड़े हुए सोनेके तारे और जवाहिरात खिल उठे, हीरे-माणिकोंसे वह जगमगा उठे! ऐसे तकियोंको रखनेके लिये परमेष्ठीके घरमें स्थान कहाँ था? वह इन्हें शीघ्र बादशाहके यहाँ ले जानेके लिये उठा, परन्तु तुरन्त ही एक दूसरे नवीन विचारमें पड़ गया।

जैसे-जैसे तकियोंमें मनोहर सुवास आने लगी और जैसे-जैसे उनके ऊपरकी हीरे-माणिककी अपूर्व जगमगाहट उसकी आँखोंमें आने लगी, वैसे-ही-वैसे वह सोचने लगा—'अहा! क्या ऐसे अपूर्व तकिये एक सामान्य मनुष्यके उपभोगमें आने लायक हैं! इनके उपभोगके अधिकारी तो एकमात्र देवाधिदेव भगवान् वासुदेव ही हैं। अहा! ऐसी वस्तु जो उन्हें अर्पित न हो तो फिर कारीगरी ही किस कामकी? परन्तु हे प्रभो! यह मेरी अपनी चीज तो है नहीं, फिर मैं क्या करूँ?' इसप्रकार विचार करते-करते वह सुध-बुध भूल गया, उसकी देहात्मबुद्धि विलुप्त हो गयी। इन्द्रियाँ भी शान्त हो गयीं। अब वह न

तो कुछ देखता था, न कुछ सुनता था और न कुछ करता ही था। उसका शरीर इस लोकमें था परन्तु आत्मा इस मृत्युलोकके सुख-दुःखसे अतीत किसी और ही स्थितिमें पहुँच गयी थी। ऐसी अवस्थामें परमेष्ठीने एक चमत्कार देखा। कई वर्ष पहले एक बार वह जगन्नाथपुरीमें रथयात्रा देखनेके लिये गया था, उस समय उसने श्रीजगन्नाथजीके रथका दर्शन किया था। आज भी वह उसी दर्शनमें लीन हो गया। सेवकगण श्रीजगन्नाथजीको लेकर उल्लसित हो चले जा रहे हैं, चारों ओर 'जय-जय हरि' की ध्वनि छा रही है, आगे-आगे हजारों उजले घोड़े नाचते-कूदते चले जा रहे हैं। सेवकगण आनन्दपूर्वक एकके बाद एक वस्त्र बिछाते चले जा रहे हैं, श्रीजगन्नाथजी एक वस्त्रसे दूसरे वस्त्रपर पधारते हैं, कठिन आघातसे बिछाये हुए वस्त्र फटे जाते हैं।

दैवयोगसे इसी दिन रथयात्रा-उत्सवका दिन था और जिस समय परमेष्ठी दिल्लीमें बैठा-बैठा श्रीजगन्नाथजीकी रथयात्राका दर्शन कर रहा था, ठीक उसी समय श्रीजगन्नाथपुरीमें भी श्रीजगन्नाथजीकी उपर्युक्त रथयात्रा चल रही थी। भगवत्कृपासे भावनाके आवेशमें परमेष्ठी उस लीलामें इतना लीन हो गया था कि उस समय वह मानो नीलाचलमें बैठा हुआ ही प्रभुका दर्शन करता हो।

इतनेमें नीलाचलमें ऐसा हुआ कि श्रीजगन्नाथजीके नीचे बिछाया हुआ एक वस्त्र फट गया। सेवक दूसरा वस्त्र लानेके लिये मन्दिरकी ओर दौड़े, परन्तु उनको लौटनेमें बहुत विलम्ब हो गया। दिल्लीमें बैठे परमेष्ठीने इस दृश्यको देखा, उससे रहा नहीं गया, उसने शीघ्र ही अपने पासके दो तकियोंमेंसे एक श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया। श्रीजगन्नाथजीने परम प्रीतिपूर्वक उसे स्वीकार किया, इसे देखकर परमेष्ठीके आनन्दका ठिकाना न रहा। वह प्रभुके पादपद्ममें दण्डवत् करके दोनों हाथ जोड़कर उठ खड़ा हुआ और उन्मत्तकी भाँति दोनों हाथोंको ऊपर उठा नाचने लगा। श्रीजगदीश्वरकी रथयात्रामें बहुत भीड़ हुई है। धक्का-मुक्की हो रही है। इसीमें परमेष्ठी लोगोंके झुण्डसे कुछ पीछे रह गया इससे उसे श्रीहरिका दर्शन नहीं हुआ और वह ऐसी भारी भीड़में आगे बढ़ भी नहीं सकता था। बस, इसी समय अचानक उसकी स्थिति पलट गयी और वह चैतन्यावस्थामें आ गया। चैतन्य होते ही आँखें खोलकर देखता है तो कुछ भी नजर नहीं आया। इससे वह गम्भीर विचारमें पड़ गया, उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ! वह मन-ही-मन विचार करने लगा—'अहा! क्या यह स्वप्न था? नहीं, नहीं; ऐसा नहीं हो सकता, स्वप्न होता तो मेरे हाथका एक तकिया कहाँ चला जाता? अहा! सर्वान्तर्यामी जगन्नाथ! क्या तुमने मेरे हृदयकी बात जान ली थी? क्या तुमने मेरा एक तकिया स्वीकार कर लिया? अहो! मेरा कैसा भाग्य! कैसा सद्भाग्य है!!'

इसप्रकार विचार करते-करते कुछ समयके बाद जब उसको शरीरकी सुधि हुई तो उसे आनन्दके साथ-ही-साथ भय भी होने लगा। वह तुरन्त ही विचारने लगा—'अरे! मैंने यह क्या किया? यह तो बादशाहका तकिया था। अहा! उसे बादशाहको न देकर श्रीजगन्नाथजीको दे डाला। अरे, अब मैं बादशाहको क्या जवाब दूँगा?' दूसरे ही क्षण उसने सोचा—'छिः, भला श्रीजगन्नाथजीके सामने दिल्लीश्वर किस गिनतीमें है?'

इसप्रकार परमेष्ठी भय और अभयके संग्राममें झूल रहा था, उसी समय बादशाहके सिपाही उसके घरके सामने आकर पुकारने लगे—'अरे दर्जी! बादशाहके तकिये तैयार हुए कि नहीं? जहाँपनाहने दोनों तकिये लेकर जल्दी-से-जल्दी बुला लानेको कहा है, इसलिये चल, जल्दी कर।'

'हाँ, हाँ, हो गये हैं, चलो, चलो।' कहता हुआ परमेष्ठी बाहर आया और सिपाहियोंके साथ एक तकिया लेकर दरबारमें आ पहुँचा और दूरसे ही बादशाहको सलाम करके बादशाहके पास जाकर एक तकिया वहाँ रख दिया और दोनों हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। तकियेकी कारीगरी देखकर बादशाह बहुत प्रसन्न हुआ, परन्तु उसने एक ही तकिया क्यों दिया यह बात उसकी समझमें नहीं आयी। वह मुस्कराता हुआ बोला—'भाई! तू एक ही तकिया क्यों लाया? दूसरा क्या हुआ? उसे क्या अबतक तैयार नहीं किया? सच-सच बतला।'

परमेष्ठी बादशाहके पैरोंपर गिरकर कहने लगा—'जहाँपनाह! दोनों तकिये तैयार हुए थे, परन्तु उनमेंसे एक नीलाचलनाथ श्रीजगन्नाथने स्वीकार कर लिया है, इसलिये यह एक ही आपके पास ला सका हूँ। गरीबपरवर! मैं कभी झूठ नहीं बोलता।' इस बातको सुनकर बादशाह हँस पड़ा और कुछ रुष्ट-सा होकर बोला—'अरे! पागलकी तरह क्या बक रहा है? कहाँ वह नीलाचल और कहाँ यह दिल्ली। तूने यहाँसे तकिया कैसे दिया और उन्होंने वहाँसे उसे कैसे लिया? अरे, क्या तुझे खबर नहीं कि मैं दिल्लीश्वर हूँ? मेरी दिल्लीमें आकर मेरा तकिया ले जाय, ऐसा दूसरा कौन है? यह ढोंग-ढाँग छोड़ दे और जो कुछ दूसरी बात हो सच-सच कह दे, नहीं तो तेरा बुरा हाल होगा।'

बादशाहकी इस धमकीपर परमेष्ठी हाथ जोड़कर बोला—'जहाँपनाह! मैं सच कह रहा हूँ। एक तकिया नीलाचलनाथ श्रीजगन्नाथजी ले गये हैं और दूसरा आपके लिये लाया हूँ। हुजूर! मैं सच कहता हूँ। अब आप मुझे मारिये या जिलाइये, यह आपके हाथमें है। परन्तु हे गरीबपरवर! जगन्नाथजीने यहाँसे ही तकिया ले लिया इसमें आपको आश्चर्य ही क्यों हुआ? इसको आपने असम्भव क्यों समझा? श्रीजगन्नाथजी इस अखिल विश्वके नाथ हैं। क्या आपकी यह दिल्ली जगत्‌के बाहर है? वे विभु हैं, कोई स्थान नहीं, जहाँ वे न हों। उनका निवास और उनका धाम भी सर्वदा सर्वत्र है। तब दिल्लीमें उन्होंने तकिया ले लिया, इस बातको आप मिथ्या क्यों मान रहे हैं? बल्कि हे बादशाह! वे प्राणिमात्रके भीतर व्याप रहे हैं और सबके हृदयकी बातको जानते हैं। हम अपने मनमें जो कुछ सोचते हैं उसे भी वे जानते हैं। उसी प्रकार जो अपने शुद्ध अन्तःकरणसे मनके साथ जिस सामग्रीको उन्हें अर्पण करनेकी इच्छा करता है उसे वे परम आनन्दपूर्वक ग्रहण करते हैं। हे जहाँपनाह! सच कहता हूँ, आपका तकिया देखकर मेरा मन बहुत ही व्याकुल हो गया था। उसे देखकर मैं उसे अपने प्रभुको अर्पण करनेके लिये अस्थिर हो उठा था, इसीलिये उन्होंने दया करके उसे स्वीकार कर लिया। हुजूर! आपके मनमें जैसा रुचे वैसा कीजिये, परन्तु श्रीजगन्नाथजीने आपका तकिया स्वीकार किया, इससे आप बहुत ही भाग्यवान् हैं।'

इसपर बादशाह अत्यन्त ही क्रोधित हो उठा। वह लाल-लाल आँखें किये अत्यन्त कर्कश स्वरमें बोला—'रे दर्जी! मैं तुझे अब भी कहता हूँ कि तू सोच ले। मैं दिल्लीश्वर हूँ। क्या सारे मुल्ककी भक्ति एक तेरे-जैसे मलिन दर्जीमें ही आ गयी है? अरे! कोई है? इस दुष्ट दर्जीको हथकड़ी-बेड़ी डालकर अँधेरी कोठरीमें डाल दो और मेरा हुक्म है कि इसे खानेके लिये भी मत दो और इसकी कोठरीका ताला भी मत खोलो। देखता हूँ कि कौन इसका बाप आकर इसे बचाता है? जो जगन्नाथ आकर इसके पाससे मेरा तकिया ले गया है वही आकर इसे बचावेगा और खाना-पीना भी देगा।'

बादशाहके मुँहसे इतना निकलते ही पहरेदारोंने आकर परमेष्ठीको पकड़ लिया और हथकड़ी-बेड़ी देकर कैदखानामें ले जाकर एक अँधेरी कोठरीमें उसे डाल दिया और उसके बाहर ताला देकर वहाँ पहरा बैठा दिया। बेचारा परमेष्ठी इस विपदवस्थामें एकमात्र मधुसूदनका ध्यान करने लगा। उसके सामने न कोई दूसरी बात थी और न दूसरा विचार। चिन्तामणिके दरबारमें यह बात एक पलमें पहुँच गयी। भक्तवत्सल तुरन्त ही भक्तकी रक्षा करनेके लिये तैयार हो गये और नीलाचलसे दिल्ली शहरमें आ पहुँचे।

आधीरात बीत गयी है, कैदखानेके पहरेदार अभी जग ही रहे हैं, इसी समय महाप्रभु श्रीजगन्नाथजी परमेष्ठीके कैदखानेके दरवाजे पर आ पहुँचे। पहरेदारोंको मोह-निद्रामें डालकर भगवान्ने अन्दर प्रवेश किया। परमेष्ठीकी कोठरीका द्वार खुल गया परन्तु परमेष्ठीको इसकी क्या खबर? वह तो तन्मय हुआ भगवान्के नामका मनन करता हुआ रुदन कर रहा था। प्रभुने उस कोठरीमें प्रवेशकर अमृतमय स्वरसे परमेष्ठीको पुकारा।

अहाहा! कैसा मीठा, कैसा मधुर था वह स्वर! अहा! शिशुके कण्ठसे पहले-पहल निकला हुआ 'बा-बा, मा-मा' शब्द भी माता-पिताको उतना प्रिय नहीं लगता! उस सुमधुर स्नेह-सम्बोधनको सुनकर परमेष्ठी चकित हो उठा। वह आश्चर्यमें पड़ कह उठा—'अहा! इस दानवपुरीमें देवताओंके अमृतका सञ्चार कहाँसे हो गया?' वह आँखें खोलकर देखता है तो नीलकान्तमणिके दिव्य प्रकाशसे उसकी अँधियारी कोठरी प्रकाशमयी हो रही है। देखते ही उसके मुँहसे निकल पड़ा—'अरे अहा! यह क्या?' देखते-ही-देखते उस दिव्य प्रकाशमेंसे श्रीजगन्नाथजीकी मूर्ति दिखलायी देने लगी। परमेष्ठीने अपने चर्म-चक्षुओंसे देखा कि उसके प्राणाराध्य प्रभु प्रसन्नतासे अपने एक वरदहस्तके द्वारा अभयमुद्रासे उसे अभयदान दे रहे हैं और दूसरे हाथसे सुदर्शनचक्र फेर रहे हैं। सुदर्शनचक्र भी आज अतिशय घोर, भीषण स्वरूप धारण कर रहा है और जैसे-जैसे वह घूमता है जान पड़ता है कि प्रलयाग्नि बरस रही है। प्रभुकी कमनीय मूर्तिको देखकर परमेष्ठी परमानन्दमें निमग्न हो गया। सचेत होते ही वह भगवान्के चरणकमलोंमें लोटने लगा और उनके सामने करुणापूर्ण मुखाकृतिसे रोने लगा। प्रभुकी कृपादृष्टिसे परमेष्ठीके बन्धन टूट गये, आनन्द और विस्मयके तरङ्गोंमें वह तरङ्गायमान होने लगा। वह कौन है और यह क्या हो रहा है, इसकी उसे सुधि न रही। उसका शरीर स्तम्भित हो गया, उसकी सारी गति बन्द हो गयी। भगवान्से उसकी कोई बात छिपी नहीं थी। भगवान्के बिम्बोष्ठकी धारामें, कमल-नयनके कोनोंमें मिष्ट—मधुर हास्यके जो परमाणु खेल कर रहे थे, वह सब एकत्रित होकर मानो एक बड़े फव्वारेके रूपमें फूट पड़े। श्रीभगवान् एकाएक हँस पड़े और परमेष्ठीको सम्बोधित करते हुए बोले—'परमेष्ठी! जिसको मेरी सहायता है उसे क्या भय है? देख, देख, हे वत्स! जबतक मेरे हाथमें यह सुदर्शनचक्र है तबतक भक्तको लेशमात्र भी भय नहीं हो सकता। दूसरा कोई कितना ही बलवान् क्यों न हो पर याद रख कि मेरा भक्त सबसे बढ़कर बलवान् है। आ बेटा! आ, मेरे पास आ!!'

परमेष्ठी उनके पास क्या आता? वह तो उनकी करुणाकी विमल धाराके प्रवाहको देखकर अवाक् हो गया और बारम्बार प्रणाम करके रोने लगा। वह अपनी स्वाभाविक दीनताके वश हो मनमें विचार

करने लगा कि—'अहा ! मैं तो महापापी, महा-अधम हूँ । क्या मैं भगवान्‌के समीप जानेयोग्य हूँ !'

भक्तकी दीनता देखकर भक्तवत्सलको विशेष आनन्द हुआ, इससे वे स्वयं उसके पास जाकर अपना वरदहस्त उसके मस्तकपर फेरने लगे । श्री-प्रभुके श्रीअङ्ग-स्पर्शसे परमेष्ठीका अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त सुन्दर और मनोहर हो गया । और वह आनन्द-सागरमें निमग्न होकर अपनेको और अपने प्रभुको भी भूल गया ।

इधर भगवान् भी परमेष्ठीको कृतार्थ और बन्धन-मुक्त करके बादशाहके शयनमन्दिरमें जाकर उसे स्वप्नमें ताड़न करके श्रीनीलाचल चले गये । तुरन्त ही बादशाह उठ बैठा । उसने चारों ओर देखा परन्तु कोई दिखायी नहीं दिया, इससे वह चकित हो विचारने लगा—'अरे ! क्या यह स्वप्न है ? नहीं, ऐसा किसप्रकार कहा जा सकता है ? मेरा अङ्ग अभीतक धूज रहा है, उसके किये प्रहारके चिह्न अबतक दिखायी देते हैं ! अहा ! यहाँसे वह क्या हो गया ? आश्चर्य ! आश्चर्य !! यह तो बड़ी ही विलक्षण घटना दीख पड़ती है !!'

क्रमशः प्रभात हुआ, बादशाहको चैन कहाँ ! उसने तुरन्त ही अपने विश्वासी मित्रोंको बुलवाया और उनसे अपने स्वप्नकी बात कह सुनायी । उसके बाद सभी कैदखाने पहुँचे । जाकर क्या देखते हैं कि सभी पहरेदार अभी निद्रामें पड़े हुए हैं और सभी दरवाजे खुले हुए हैं । परमेष्ठीके हाथ-पैरमें बन्धन नहीं है । उसका वह रूप भी नहीं है । उसके शरीरसे दिव्य प्रकाश चमक रहा है । मुख-मण्डलमें अपूर्व लावण्य झलक रहा है और वह प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणारामके ध्यानमें मग्न है ।

परमेष्ठीका जब ध्यान टूटा तो वह अपने प्रभुको न देखकर बहुत ही व्याकुल हो गया और प्रभुका नाम-रटन करने लगा ।

परमेष्ठीकी यह अवस्था देखकर दिल्लीपतिको बहुत ही आश्चर्य हुआ । उसके बाद वह उसे नाना प्रकारसे प्रसन्न करने लगा तथा अमूल्य वस्त्राभूषणोंसे उसे विभूषित कर अपने खास हाथीपर बैठाकर बाजे-गाजेके साथ शहरमें ले गया । पश्चात् बहुत-सा धन-रत्न देकर उससे क्षमा माँगी । इस अलौकिक घटनाको सुनकर सब मनुष्य आश्चर्यचकित हो उठे । भक्तकी जय-जय-ध्वनिसे सारा शहर गूँज उठा, परन्तु यह मान-सम्मान भक्त परमेष्ठीको बिल्कुल नहीं रुचा । उसे बहुत लज्जा हुई और प्रतिष्ठाके भयसे वह तुरन्त ही दिल्ली शहरको छोड़कर दूसरे देशको चला गया । एवं भगवान्‌के भजन-पूजनमें जीवन व्यतीत करता हुआ अन्तमें परमगति-को प्राप्त हुआ ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !

श्रीभगवन्नाम

कल्याणमें प्रकाशित सूचनाके अनुसार अबकी बार बहुत स्थानोंमें नाम-जप-यज्ञ हुआ है। सूचनाएँ लगातार आ रही हैं। अबतक २८ करोड़से ऊपर मन्त्र-जपकी सूचनाएँ आ चुकी हैं। स्थानोंके नाम तथा अन्य विवरण आगामी वैशाखके अंकमें प्रकाशित करनेका विचार है।

निवेदक

नाम-जप-विभाग

विवेक-वाटिका

परमात्मादेवको जान लेनेपर सारे बन्धनोंका नाश हो जाता है। क्लेशोंके क्षीण हो जानेसे जन्म-मृत्युका अभाव हो जाता है। परमात्माका ध्यान करनेसे तीनों देहोंका भेदन हो जाता है और वह केवल आप्तकाम विश्वके ऐश्वर्यको प्राप्त होता है। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀ ❀

मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी हूँ, लोग मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जाननेके कारण ही गिरते हैं। जो अनन्य भक्त मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए मुझे भजते हैं उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। —भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀ ❀

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन इन्द्रियोंके विषयोंमें कामनासे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये और मनसे उनके विरुद्ध भावना करके यानी विषय मिथ्या हैं और परिणाममें नरकोंमें ले जानेवाले हैं, ऐसा विचार करके उनके प्रति प्रसंगको छोड़ देना चाहिये। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀ ❀

यह समस्त विश्व भगवान्‌का ही विस्तृत रूप है अतएव बुद्धिमानोंको चाहिये कि सबको अभेद-दृष्टिसे अपने ही समान देखे। —भक्तराज प्रह्लाद

❀ ❀ ❀ ❀

रागके समान संसारमें दुःखका अन्य कोई कारण नहीं है। राग ही सबसे बढ़कर दुःख देनेवाला है और त्यागके समान कोई सुखदाता नहीं है। —देवर्षि नारद

❀ ❀ ❀ ❀

साधुओंके संगसे श्रीभगवान्‌के पराक्रमका यथार्थ ज्ञान करानेवाली, हृदय और कानोंको सुख देनेवाली कथाएँ सुननेको मिलती हैं, उन कथाओंसे मोक्षरूप भगवान्‌में श्रद्धा होती है, श्रद्धासे रति और रतिसे भगवान्‌में भक्ति होती है। —श्रीमद्भागवत

❀ ❀ ❀ ❀

बुद्धिमान् धीर पुरुषको चाहिये कि और सब कर्मोंको छोड़कर आत्माके विचारमें तत्पर रहकर संसार-बन्धनसे छूटनेका यत्न करे। —शंकराचार्य

❀ ❀ ❀ ❀

धन चुराया गया, रोता क्यों है? क्या चोर ले गये? रो अपनी इस समझपर। प्यारे! लेने—ले जाने—वाला दूसरा कोई नहीं है, वह एक ही है जो नये-नये बहानोंसे तेरा दिल लिया चाहता है। गोपियोंके इससे बढ़कर और क्या भाग्य होंगे कि श्रीकृष्ण उनका मक्खन चुरावें। धन्य है वह जिसका सब कुछ चुरा लिया जाय। मन और चित्ततक भी बाकी न रहे। —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀ ❀

हे प्रभो! तेरे सामने हाथ जोड़कर सच्चे हृदयसे मैं इतनी ही प्रार्थना करता हूँ कि मैं माँगूँ या न माँगूँ, मुझे ऐसी कोई चीज कभी न देना जो मुझे अच्छी लगनेपर भी मेरा बुरा करनेवाली हो और मेरी बुद्धिको कुमार्गपर ले जानेवाली हो। —साक्रेटीज़

❀ ❀ ❀ ❀

वैराग्यके तीन प्रकार हैं—(१) अपवित्र वस्तुओंका त्याग करना साधारण वैराग्य है, (२) आवश्यकतासे अधिक प्राप्त हुई पवित्र वस्तुओंका भी त्याग करना विशेष वैराग्य है और (३) ईश्वरसे दूर हटानेवाली वस्तुमात्रका त्याग करना सन्तोंका वैराग्य है। —इमाम अहमद

❀ ❀ ❀ ❀

जिसप्रकार पारसके साथ छूते ही लोहा सोना हो जाता है, समुद्रमें बूँद गिरते ही उसमें मिल जाती है और गंगामें कोई नदी मिलते ही वह गंगा हो जाती है उसी प्रकार सावधान, उद्योगी और दक्ष पुरुष सन्तोंकी संगति करते ही मोक्षको पा जाता है। —समर्थ रामदास स्वामी

✲ ✲ ✲ ✲

अहंकार करना व्यर्थ है। जीवन, यौवन कुछ भी यहाँ नहीं रहेगा। सब तीन दिनोंका सपना है। —रामकृष्ण परमहंस

✲ ✲ ✲ ✲



कृपालु लेखकों और चित्रकारोंसे प्रार्थना



इस बार कल्याणका ईश्वराङ्क निकला था। ईश्वराङ्ककी १८२५० प्रतियाँ छपी थीं परन्तु इसकी माँग इतनी अधिक रही कि प्रकाशित होनेके चार ही महीने बाद २५०० प्रतियोंका दूसरा संस्करण छापना पड़ा। इस समय साधारण अङ्कोंकी २०५०० प्रतियाँ छप रही हैं। हम लोगोंमें योग्यता, शक्ति और कार्य-सञ्चालन-पटुताका सर्वथा अभाव होनेपर भी कल्याणका जो इतना आशातीत प्रचार हो रहा है, इसमें भगवत्प्रेरणा ही प्रधान कारण है। अपनी क्षुद्र शक्ति और योग्यताका पता रहनेके कारण यह सत्य मुक्तकण्ठसे स्वीकार करना पड़ता है। इस समय भगवत्कृपासे कल्याणका प्रचार भारतके प्रायः सभी प्रान्तों और सभी क्षेत्रोंमें है। अन्य भाषा-भाषी अनेक भावुक सज्जन और देवियाँ 'कल्याण' पढ़नेके लिये ही हिन्दी सीखते हैं। जनता इससे थोड़ा-बहुत आध्यात्मिक लाभ भी प्राप्त कर रही है, यह बात भी सप्रमाण सिद्ध है। यह सब सर्वशक्तिमान् परम दयामय प्रभुकी दयासे ही हो रहा है। अपना पुरुषार्थ मानना तो मिथ्या अभिमानमात्र है।

अब इसके बाद तीन अंक और निकलनेपर आगामी आषाढ़में कल्याणका सातवाँ वर्ष पूरा हो जायगा। आगामी वर्षके प्रथमांकके लिये कल्याण-प्रेमी गण्य मान्य महानुभावोंने कई विषय बतलाये थे। अधिकांश सज्जनोंकी सम्मति श्रीशिवांक निकालनेके लिये रही। भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णसे सम्बन्ध रखनेवाले अंक निकल भी चुके थे, इससे भगवान् श्रीशिव-सम्बन्धी अंक प्रकाशित होनेकी आवश्यकता समझी गयी और तदनुसार आठवें वर्षका प्रथमांक—

श्रीशिवाङ्क

—प्रकाशित करना निश्चित किया गया है। 'कल्याण' भगवान् श्रीशिव, भगवान् श्रीविष्णु और भगवान् श्रीराम एवं श्रीकृष्णमें कोई खास भेद नहीं समझता। एक ही परमात्माके ये भिन्न-भिन्न नाम-रूप हैं। उनके इन विभिन्न महान् नाम-गुणोंका गुण गानेमें ही कल्याण और मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि शिवांक वैष्णवोंके कामका नहीं होगा या श्रीरामायणांक आदि शिव-भक्तोंके कामका नहीं था। शिवतत्त्व तो ऐसी चीज़ है, जो सबके कामकी और लाभकी चीज़ है। इससे शैव और वैष्णव दोनोंको लाभ होनेकी आशा है। अतएव इस बार सभीको विशेषरूपसे कल्याणके साथ प्रेम बढ़ाना चाहिये। पिछले विशेषांकोंकी भाँति इस अंकमें भी अनेक सन्त-महात्मा और सम्माननीय विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण लेख संग्रह करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। इस अंकके लिये नीचे लिखे विषयोंमेंसे किसी विषयपर या अन्य किसी श्रीशिव-सम्बन्धी उपयोगी विषयपर निबन्ध लिखनेके लिये पूज्यपाद सम्मान्य सन्त-महात्मा और विद्वान् महानुभावोंसे प्रार्थना की जाती है। लेख आ रहे हैं। हम अपने पूज्य और प्रेमी सन्तों और विद्वानोंसे प्रार्थना करते हैं कि वे इस अंकके लिये निबन्ध भेजकर श्रीभगवान्‌की सेवामें सहायता करें। लेख या कविता यथासम्भव आगामी वैशाख शुक्ला १ तक भेजनेकी कृपा करें। लेख बहुत बड़ा न हो, लेखमें किसी सम्प्रदायके सिद्धान्तोंपर तथा आचार्योंपर आक्रमण न हो; तथा हासिया छोड़कर साफ अक्षरोंमें कागजकी एक पीठपर लिखा हुआ रहे। लेख हिन्दी, संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगला, अंगरेजी और उर्दूमेंसे किसी भी भाषामें भेज सकते हैं।

द्वादश ज्योतिर्लिंगोंके, श्रीशिवजीके खास-खास मन्दिरों तथा तीर्थोंके चित्रोंकी आवश्यकता है। जिन महाशयोंके पास ऐसे चित्र हों या जो फोटो लेकर भेज सकें वे कृपापूर्वक पत्र-व्यवहार करें। श्रीशिवजीकी लीला-सम्बन्धी सुन्दर, रंगीन चित्र किन्हीं योग्य चित्रकारके पास या किसी शिवभक्त महानुभावके पास हो और वह ब्लाक बनानेके लिये देनेकी कृपा करना चाहें तो कृपया पत्र लिखें। इस सहायताके लिये हम उनके बड़े ही कृतज्ञ होंगे। लेखके साथ भी चित्र भेज सकते हैं। श्रीशिव-सम्बन्धी किसी चमत्कारपूर्ण घटनाका विवरण और चित्र भी कोई भेज सकें तो बड़ी कृपा हो।

प्रार्थी,

हनुमानप्रसाद पोद्दार }
चिम्मनलाल गोस्वामी एम० ए० } सम्पादक

लेख-सूची

१–शिव-तत्त्व
२–परम परात्पर शिव
३–सत्य और सुन्दर शिव
४–मृत्युञ्जय शिव
५–योग-प्रवर्तक शिव
६–जगद्गुरु शिव और योगाचार्योंके अधिपति
७–बालयोगी शिव
८–परम कल्याणके आलय शिव
९–योग, ज्ञान, भक्ति और मुक्तिके दाता शिव
१०–आशुतोष शिव
११–ऋद्धि-सिद्धि-दाता शिव
१२–दण्डपाणि-संहारकारी शिव
१३–अन्नपूर्णाके स्वामी और भिक्षुक शिव
१४–ताण्डवनृत्यकारी नटराज शिव
१५–जीवात्माके कारण शिव
१६–अहंकारके कारण शिव
१७–संन्यासियोंके इष्ट शिव
१८–मौजी शिव
१९–मदनमर्दन शिव
२०–अर्धनारी-नटेश्वर शिव
२१–योगीश्वर शिव
२२–श्मशानेश्वर शिव
२३–सावरमन्त्रके प्रवर्त्तक शिव
२४–प्रमथनाथ शिव
२५–परम त्यागी शिव
२६–भक्तराज और भक्तिसम्प्रदायके आचार्य शिव
२७–शिवोपासनाकी प्राचीनता
२८–वेदोंमें शिव-तत्त्व
२९–उपनिषदोंमें शिव-तत्त्व
३०–पुराणोंमें शिव-तत्त्व
३१–शिव और दर्शनशास्त्र
३२–आगम-दीक्षाके प्रवर्तक शिव और शैवागम
३३–तन्त्रशास्त्र और शिव तथा शैव-तन्त्र
३४–संस्कृत-साहित्यमें शिव
३५–हिन्दी-साहित्यमें शिव
३६–त्रिमूर्तिमें शिव और त्रिदेवोंकी एकता
३७–शिव और विष्णुकी एकता
३८–लक्ष्मी और पार्वतीकी एकता
३९–वैष्णव हर और शैव हरि
४०–शिवसाधन
४१–शिव, सदाशिव, महाशिव, महेश्वर और ईशान
४२–शिवके अवतार
४३–त्र्यम्बक और त्रिपुरारि
४४–रुद्रावतार और मारुति
४५–शतरुद्री
४६–रुद्रकी सृष्टि या रुद्र-रहस्य
४७–एकादश रुद्र
४८–रुद्रकी आयुका परिमाण
४९–शिवका पार्थिव पूजन
५०–रुद्राभिषेककी विधि और रहस्य
५१–लिंग-रहस्य
५२–प्राचीन कालमें भारतेतर देशोंमें लिंगपूजा
५३–द्वादश ज्योतिर्लिंग
५४–शिव-विवाह
५५–शिव और सती
५६–दक्ष और शिव
५७–पार्वतीके पिता हिमाचल
५८–शिवके पुत्र आदिगणेश
५९–शिव-परिवार
६०–शिवका वाहन
६१–शिवके गण
६२–शिवका हलाहल-पान
६३–शिव और शक्ति
६४–पार्वती और विद्याशक्ति
६५–उमा-महेश्वर या ब्रह्मविद्या ब्रह्म
६६–शवरूप शिवपर कालीका नृत्य
६७–भस्म और रुद्राक्ष-धारणका रहस्य
६८–शिवके डमरू-शब्दसे व्याकरणोत्पत्ति
६९–खट्वांग और मुण्डमालाका रहस्य
७०–भंग-धतूरे आदिका रहस्य
७१–शिव और सर्प
७२–शिव और गंगा

क्या करूँ ? जो कुछ करते हो वह सब तुम्हारा ही करना है और सब न करना भी तुम्हारा ही है ।

हे प्रभु ! तुम्हारे बिना क्या मैं, और क्या मेरा ? बस, सब कुछ तुम-ही-तुम, तू-ही-तू और तेरा-ही-तेरा ! और यह जो 'मै, मेरा' बनाया है यह तो तुमने अपना एक खेल रचाया है । अब मैं तुम्हारे इस खेलमें तुम्हारे साथ ही खेलता रहूँ, अथवा मैं और करूँ ही तो क्या करूँ ? हे मेरे प्रभु ! तुम मेरा खेल बनाओ अथवा तुम मेरा रंग रचाओ, मैं तो तुम्हारे साथ-ही-साथ हूँ । संसारमें जो कुछ 'मैं, मेरा' है सब तेरा ही है । सब तेरे साथ है, सब तेरी गाथा है ।

हे मेरे प्रभु ! तुम-ही-तुम हो और तू-ही-तू है और तेरा-ही-तेरा है । हे मेरे प्रभु ! हे मेरे प्रभु ! प्रभु ही प्रभु ! हे प्रभु ! हे प्रभु !!

गंगा और नर्मदा-प्रेमियोंसे निवेदन

सम्मान्य मित्र पं० श्रीदयाशंकरजी दुबे एम० ए०, एल-एल० बी० महोदय श्रीगंगाजी और नर्मदाजी-पर दो बड़े ग्रन्थ लिख रहे हैं । ग्रन्थ महत्त्वके होंगे । अतएव श्रीगंगाजी और नर्मदाजीके प्रेमियोंसे नम्र निवेदन है कि—

(१) यदि वे इन नदियों तथा इनकी सहायक-नदियोंके किनारेके किसी ग्राम या महत्त्वपूर्ण स्थानोंसे परिचित हों तो उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे लिखे पतेसे भेजनेकी कृपा करें । इस वर्णनमें प्राकृतिक दृश्यों, घाटों, देवस्थानों, प्राचीन और नवीन मन्दिरों तथा ऐतिहासिक बातोंको स्थान देना आवश्यक है । साथमें यह भी बतलाना आवश्यक है कि वह स्थान किस जिलेमें है, किसी बड़े नगरसे कितनी दूर है, नदीके किस किनारेपर है और रेलद्वारा तथा सड़कसे उस स्थानको किस-प्रकार पहुँच सकते हैं ।

(२) यदि उनके पास श्रीगंगाजी या नर्मदाजीके सम्बन्धमें कोई प्रकाशित या अप्रकाशित कविता या स्तोत्र हो तो उसे नीचे लिखे पतेपर भेज दें ।

(३) यदि उनके पास इन नदियों या इनकी सहायक नदियोंके किनारेके किसी दर्शनीय स्थान (मन्दिर, घाट, प्राकृतिक दृश्य) का फोटो या चित्र हो तो उसे अवश्य भेज देनेकी कृपा करें । फोटो या चित्रोंमें किनारेके दृश्योंका महत्त्व प्रकट होना आवश्यक है ।

(४) यदि उनके पास श्रीगंगाजी और नर्मदाजीके किनारे निवास करनेवाले किसी साधु, सन्त या वीर पुरुषका फोटो हो तो वे उसे भी उनके संक्षिप्त जीवन-चरित्रसहित भेजनेकी कृपा करें ।

(५) इन पुस्तकोंको उत्तम तथा और भी अधिक उपयोगी बनानेके लिये योग्य सम्मति भी देनेकी कृपा करें ।

श्रीदुबेजी महाराज लिखते हैं कि जो सज्जन इन पुस्तकोंके लिखनेमें उपर्युक्त किसी भी तरहसे सहायता देनेकी कृपा करेंगे उनका शुभनाम पुस्तकमें सधन्यवाद प्रकाशित कर दिया जायगा और प्रकाशित होनेपर पुस्तक भी उनको बिना मूल्य भेज दी जायगी । जो सज्जन फोटो या चित्र भेजनेकी कृपा करेंगे उनको, यदि वे लेना स्वीकार करेंगे, तो उसका उचित खर्च भी भेज दिया जायगा । यदि वे चाहेंगे तो ब्लाक बन जानेपर फोटो या चित्र सधन्यवाद वापस भी कर दिये जायँगे ।

पता—

पं० दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०, अर्थशास्त्र-अध्यापक, प्रयाग-विश्वविद्यालय, प्रयाग ।



मन मोहनकी तिरछी चितवन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, वैशाख १९९० मई १९३३ | संख्या १० पूर्ण संख्या ८२

टेर

टेर सुनो व्रजराजदुलारे ।
दीन मलीन हीन सब गुनते आय परयो मैं द्वार तिहारे ॥
काम क्रोध अरु कपट लोभ मद, सोइ जाने निज प्रीतम प्यारे ।
भ्रमत रह्यो सँग इन विषयनके तुव पदकमल न मैं उर धारे ॥ १ ॥
कौन कुकर्म कियो नहिं मैंने जो गये भूल सो लिये उधारे ।
यहाँ लौं खेप भरी रचि पचिकै चकित भये लखिकैं बनिजारे ॥ २ ॥
अब तो एक बार कहो हँसिकै आजहिं ते तुम भये हमारे ।
याहि कृपाते नारायनकी बेगि लगेगी नाव किनारे ॥ ३ ॥

—नारायणस्वामी

पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके उपदेश

सबसे प्रबल विघ्न तो तुम्हारी वासनाओंका स्फुरण ही है। वासनाक्षयसे अध्यासकी कमी होती जायगी। ज्यों-ज्यों वासनाका क्षय होता जायगा, त्यों-ही-त्यों देहाध्यासकी कमी होती जायगी। देहाध्यास घोर जडता है। इस घोर जडताको दूर किये बिना आध्यात्मिक क्षेत्रमें उतरना कठिन होगा। न तो मनके साथ लड़ाई करनी होगी और न उसे किसी वस्तुका प्रलोभन देकर फुसलाना ही होगा; किन्तु एक आवश्यक काम पूरा करना होगा, वह है—'मनमें भरे हुए नाना तरहके संकल्पोंका नाश।'

ज्यों ही तुम्हें इस कार्यमें सफलता होगी, त्यों ही संसारी प्रलोभन नितान्त सुलभ हो जायँगे।

जीवनके प्राथमिक अभ्यासकी क्षीण सफलतामें ही संसारके सारे पदार्थ तुम्हारी ओर आकर्षित होने लगेंगे। निरन्तर छः मासकी निर्बल साधनामें भी संसारके प्रलोभन आने लगते हैं। इस अवस्थामें खूब सावधान रहना चाहिये।

× × ×

प्रकृति-जगत्‌के सत्यासत्यके निर्णयके लिये तर्क अपेक्षित है; किन्तु भगवद्भक्तके लिये नहीं। भक्ति-तत्त्वके लिये पूर्ण श्रद्धा और पूर्ण विश्वास ही आवश्यक है। भक्ति-तत्त्व ही परमतत्त्व है। इस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपनेको पूर्णरूपेण समर्पण करना होगा। राग-द्वेषरहित जीवनमें ही भक्ति-तत्त्वके भाव जागृत होते हैं। जो व्यक्ति निन्दा, स्तुति, पैशुन्य (चुगली), परस्त्रीगमन और परद्रव्यसेवनसे युक्त है, वह भक्ति-तत्त्वसे बहुत दूर है।

× × ×

ब्रह्मचर्यमय जीवन बिताना परम पुरुषार्थमय जीवन बिताना है।

चित्त-निरोधके उपाय

(लेखक-श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

[गताङ्कसे आगे]

(१) मन जहाँ जाय वहाँसे हटाकर उसको अपने अधीन करके परमात्मामें लगानेकी अपेक्षा भी, मन जहाँ-जहाँ जाय वहीं परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करना और भी सहज तथा सुगम उपाय है। अतएव चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करनेके लिये इस युक्तिको काममें लानेकी कोशिश करनी चाहिये। ईश्वर सब जगह व्यापक है ही, अपनी समझके अनुसार श्रद्धा और प्रेमसे उस परमेश्वरका सर्वत्र चिन्तन करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है।

(२) भगवान् शिव या विष्णुकी अथवा अपनेको जो देव इष्ट हो उसीकी मूर्ति या चित्रको सम्मुख रखकर श्रद्धा और प्रेमसे उस भगवान्‌के मुखारविन्दपर नेत्रोंकी वृत्तिको स्थिर स्थापन करके अपने ऊपर भगवान्‌की अपार दया और प्रेमका अनुभव करता हुआ उस आनन्दमय परमेश्वरके मुखकमलपर मनरूपी भँवरको स्थिर स्थापन करनेसे भी चित्तकी वृत्तियाँ एकाग्र हो सकती हैं।

(३) प्रातःकाल सूर्यके सम्मुख खड़े होकर

नेत्र मूँदकर सूर्यकी ओर देखनेसे एक महान् प्रकाश-का पुञ्ज सर्वत्र समभावसे प्रतीत होता है, उसको लक्ष्य करके, उससे हजारों गुना अधिक एक प्रकाश-का पुञ्ज आकाशकी तरह सर्वत्र समानभावसे परिपूर्ण हो रहा है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, वही परमात्माका तेजोमय स्वरूप है, इसप्रकार समझकर सम्पूर्ण संसारको भूलकर उस तेजोमय परमात्माके स्वरूपमें चित्तकी वृत्तियोंको लगानेसे भी चित्त स्थिर हो सकता है।

(४) दधीचि, ऋषभदेव, जडभरत, शुकदेव आदि विरक्त मुनियोंके चरित्रोंकी ओर लक्ष्य जानेसे स्वाभाविक ही वैराग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये जो वीतराग मुनि हैं, संसारमें जिनकी आसक्ति बिल्कुल नहीं है, ऐसे ज्ञानी महात्माओंका ध्यान करनेसे भी चित्तमें वैराग्य होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो सकता है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोध करनेका यह भी एक सरल उपाय है। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (योग० १।३७)

'अथवा वीतराग पुरुषोंके चिन्तनसे चित्त स्थिर होता है।'

(५) हृदयदेशमें एक सुषुम्ना नामकी नाड़ी है, उसी नाड़ीमें परमानन्द विराजमान है। गीतामें लिखा है—*'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो'* 'मैं सबके हृदयमें स्थित हूँ।' परमात्मा विज्ञानानन्दरूप हैं इसलिये उस नाड़ीमें चेतन और आनन्दकी भावना करनी चाहिये। उस नाड़ीका शरीरकी सम्पूर्ण नाड़ियोंसे सम्बन्ध है। इसलिये उसके बन्द हो जानेसे सारी नाड़ियाँ बन्द हो जाती हैं। उस नाड़ीकी चाल साधारणतया एक मिनिटमें ७५ या ८० बार समझी जाती है। उसी नाड़ीकी चालपर हमारे हाथोंकी और मस्तककी नाड़ियाँ टकराती हैं। उसकी प्रत्येक चालके साथ ॐ का जप करते हुए विज्ञानानन्दघन परमात्माकी भावना उस नाड़ीमें की जाय तो चित्तकी वृत्तियाँ स्थिर होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यह साधन कुछ कठिन अवश्य है परन्तु शब्दरहित—जहाँ विशेष बाधा देनेवाले शब्द न सुनायी दें, ऐसे एकान्त स्थानमें एकाकी रहकर प्रयत्न किया जाय तो सिद्ध हो सकता है। महर्षि पतञ्जलिने भी लिखा है—

विशोका वा ज्योतिष्मती। (योग० १।३६)

'अथवा शोकरहित प्रकाशमय चित्तकी अवस्था-विशेष भी मनको स्थिर करनेवाली होती है।' यह अवस्था उपर्युक्त प्रकारसे सुषुम्ना-नाड़ीमें ध्यान लगानेसे प्राप्त होती है।

(६) जहाँपर बाधा पहुँचानेवाली बाहरकी जोरकी ध्वनि न सुनायी दे, ऐसे एकान्त और पवित्र स्थानमें अकेला स्वस्तिक आदि किसी आसनसे सुख-पूर्वक बैठकर दोनों अँगुलियोंसे कानोंके दोनों छिद्रों-को बन्दकर अपने भीतर अपने आप ही होनेवाले अनहद शब्द सुननेमें ध्यान लगावे। प्रथम तो उसको अनेक प्रकारके शब्द सुनायी देंगे। आगे चलकर जेब-घड़ीके खटकेके समान सूक्ष्म शब्द सुनायी देगा, उसकी संख्या एक मिनिटमें करीब ७५ या ८० के लगभग हो सकती है। उस शब्दमें 'राम' 'शिव' या 'ॐ' की भावना करनेसे भावनाके अनुसार ही ध्वनि सुनायी देने लगेगी। उस शब्दमें ब्रह्मकी भावना करने-से चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होकर मनुष्यको विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। यह साधन देखनेमें कुछ कठिन-सा प्रतीत होता है परन्तु रात्रिके मध्यमें या उषाकालमें तत्पर होकर साधन करनेसे कोई विशेष दुर्गम नहीं है।

(७) भ्रमरके गुञ्जारकी तरह एकतार ॐकारकी ध्वनि करते हुए उसमें परमेश्वरके स्वरूपकी भावना करने-

से चित्तकी वृत्तियाँ परमात्मामें स्थिर हो सकती हैं।

(८) जिस स्वरूपमें अपनी श्रद्धा और प्रेम हो उसका ध्यान करनेसे भी चित्तकी वृत्तियाँ रुक जाती हैं। महर्षि पतञ्जलिने भी कहा है—

यथाभिमतध्यानाद्वा। (योग० १। ३९)

'जिसका जो अभीष्ट हो उसीमें ध्यान लगानेसे भी चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो सकता है।'

(९) ॐकारका स्मरण करते हुए श्वासको बाहर निकालकर उसे यथाशक्ति सुखपूर्वक बाहर ही बारम्बार स्थिर करने और उसमें परमेश्वरकी भावना करनेसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (योग० १। ३४)

'अथवा प्राणोंको बाहर फेंकने और ठहरानेसे चित्तका निरोध होता है।'

(१०) पवित्र एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक आसनसे बैठकर नेत्रोंको बन्द करके और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको विषयोंसे रोककर सम्पूर्ण कामनाओं और संकल्पोंका त्याग करके विज्ञानानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये। कोई स्फुरणा चित्तमें हो तो उसी समय उसका त्याग कर देना चाहिये अर्थात् वैराग्ययुक्त चित्तसे संसार और शरीरको इसप्रकार विस्मरण कर देना चाहिये मानो वे हैं ही नहीं। इसप्रकार करना ही वैराग्यरूपी शस्त्रके द्वारा संसार-वृक्षको काटना है। परन्तु खयाल रखना चाहिये कि शरीर और संसारके विस्मरण करनेवालेकी वृत्तियाँ प्रकृतिमें लय होकर उसे निद्रा आनेका डर रहता है। इसलिये शरीर और संसारका विस्मरण करनेके साथ-साथ विज्ञानानन्दघन परमात्माका ध्यान करना चाहिये और दृढ़ताके साथ उसमें स्थित रहना चाहिये। यही उस परमात्माके स्वरूपकी शरण है। इसप्रकार अभ्यास करनेसे परमात्माके स्वरूपमें चित्तकी स्थिर स्थिति हो जाती है।

(११) विवेक-बुद्धिके द्वारा साम, दाम, दण्ड और भेद-नीतिसे मनको समझानेसे भी परमात्मामें चित्तकी एकाग्रता होकर परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। यह भी परमात्माकी प्राप्तिका एक बहुत उत्तम उपाय है।

(क) मनको मित्र समझकर प्रेमसे समझानेका नाम साम-नीति है। जैसे कोई समझदार मनुष्य अपने भोले मित्रको समझाता है वैसे ही मनको भी समझाना चाहिये कि 'प्यारे मित्र! तुम्हारा स्वभाव चञ्चल है, तुम बिना विचारे हर काममें पड़ जाते हो और फँस जाते हो, इससे बहुत हैरान होना पड़ता है इसलिये तुम मेरी सलाहके बिना कोई काम न किया करो। विचार करके देखो, जब-जब तुम मेरी सम्मतिके बिना गये, तब-ही-तब भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा और करना पड़ रहा है। इसलिये तुम्हें अपनी इस मूढ़ता और चञ्चल स्वभावका त्याग करना चाहिये और मेरी सम्मतिके बिना एक क्षण भी तुम्हें न तो कहीं जाना चाहिये तथा न कुछ करना ही चाहिये। हे मन! जिस संसारके विषयोंको तुम सुखरूप समझकर चिन्तन करते हो, वास्तवमें उनमें सुखका लेशमात्र भी नहीं है, भ्रान्तिसे ही तुमको उनमें सुख प्रतीत होता है। इसलिये तुमको विचार करना चाहिये, नहीं तो, आगे चलकर बड़ा भारी पश्चात्ताप करना पड़ेगा।'

(ख) मनको लोभ देकर समझानेका नाम दाम-नीति है। जैसे—हे मन! विषयोंमें जो सुख है वह देश और कालद्वारा परिमित होनेके कारण अनित्य और क्षणभंगुर है। जैसे स्वादु भोजन जिह्वाको प्रिय होता है किन्तु श्रोत्र-त्वचादिको नहीं, सो भी थोड़े

ही कालके लिये, सदा नहीं । ऐसे ही रुचिकर सङ्गीतसे श्रोत्रकी तृप्ति होती है; किन्तु जिह्वा, नासिकादिकी नहीं, वह भी अल्पकालके लिये ही । इससे यह समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक सांसारिक सुख देश और कालके द्वारा परिमित होनेके कारण नाशवान् और क्षणभंगुर है ।

परमानन्द परमात्माकी प्राप्तिके सामने तो यह सांसारिक सुख सूर्यके सम्मुख खद्योतके सदृश भी नहीं है । विषयोंमें जो सांसारिक सुखोंकी प्रतीति होती है वह वास्तवमें सुख नहीं है, सुखका आभास है । क्योंकि जब असली सुखकी प्राप्ति होती है तब यह सांसारिक सुख, सूर्यके उदय होनेपर तारोंके समान छिप जाते हैं । ऐसे इन नाशवान्, क्षणभंगुर सांसारिक सुखोंकी ओरसे वृत्तियोंको हटाकर नित्य शान्तमय और परमानन्दमय सुखके लिये ही चेष्टा करनी चाहिये ।

सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिमें जितना परिश्रम होता है, परमानन्दकी प्राप्तिमें उतना परिश्रम भी नहीं है । ज्यों-ज्यों इसका रहस्य समझमें आता है त्यों-ही-त्यों साधनकालमें भी उत्तरोत्तर सात्त्विक सुखकी वृद्धि होती चली जाती है । इसलिये इन सांसारिक भोगोंकी ओरसे हटकर तुम्हें उस सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये कटिबद्ध होकर परमात्मामें ही अपनेको लगाना चाहिये ।

(ग) यदि मन साम या दाम-नीतिसे नहीं माने तो फिर उसे दण्ड-नीतिसे रोकनेकी चेष्टा करनी चाहिये । भय दिखलाकर वशमें करनेका नाम दण्ड-नीति है । जिसप्रकार राजा शत्रुको भय दिखलाकर उसको अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार मनको अपने अधीन करना चाहिये । यथा—

हे मन ! यदि तू संसार और विषयोंका चिन्तन करेगा तो मैं सम्पूर्ण भोगोंको त्यागकर वनमें या गिरिगुहामें जाकर व्रत-उपवासादि तपसे वृत्तियोंका शमन करूँगा । भूखके कारण मेरे प्राण भले ही चले जायँ, उनकी परवा नहीं, किन्तु तेरा मूलोच्छेद अवश्य कर दूगा । संसारके चिन्तनसे तेरी और मेरी इतनी भयानक दुर्दशा हुई और हो रही है । मूर्खता और चपलताके कारण तू इस बातको नहीं समझता । इसलिये यम-नियमादि साधनोंद्वारा जिस किसी प्रकारसे भी हो, तेरे नाशके लिये उपाय किया जायगा । क्योंकि जब मैं ईश्वरका ध्यान करने बैठता हूँ तभी तू नाना प्रकारके सांसारिक चित्रोंको लाकर उच्चाटन पैदाकर मुझे ईश्वर-चिन्तनसे वञ्चित कर देता है, और जब मैं जप या पाठ करता हूँ तब उसमें संसारके मिथ्या कामोंकी आवश्यकता दिखलाकर जप और पाठमें शीघ्रता कराता है, जिससे मैं कृतकार्य नहीं हो पाता । जब मैं नित्यकर्म और ईश्वरकी भक्तिको धैर्यके साथ करना चाहता हूँ तब तू निद्राका आश्रय लेकर मुझको मोहित कर देता है । विचार करनेसे माॡम होता है कि तू ही मेरा महान् शत्रु है । इसलिये जिस किसी प्रकारसे हो, तेरा नाश ही करना उचित है । यदि तू ऐसा नहीं चाहता तो इस दुःखमय संसारका चिन्तन छोड़कर शीघ्र अमृतमय परमात्माका चिन्तन कर, जिससे तेरा-मेरा दोनोंका कल्याण हो ।

(घ) अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये दो मित्रोंमें या सम्बन्धियोंमें परस्पर दोष दिखलाकर उनमें वैमनस्य उत्पन्न करा देनेका नाम भेद-नीति है । विषय-भोगोंको लेकर मन और इन्द्रियोंकी जो परस्परकी प्रीति है, उसे तोड़नेके लिये इस भेद-नीतिसे भी काम लेना चाहिये ।

पहले इन्द्रियोंको यों समझाना चाहिये—

मन लोभी मन लालची, मन चञ्चल मन चोर ।
मनके मते न चालिये, पलक-पलक मन और ॥

हे इन्द्रियो ! यह मन बड़ा चञ्चल, लोभी एवं मूर्ख है, मनकी बात सुनकर बिना विचारे हठात् किसी कार्यमें नहीं लगना चाहिये । यदि काम, क्रोध और लोभके पञ्जेमें फँसे हुए मनकी बात सुनकर झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार और हिंसादि कर्म किये जायँगे तो इस लोक और परलोकके भारी दुःखोंका सामना करना पड़ेगा । जैसे झूठ, कपट करनेसे राजदण्ड, इज्जतकी हानि एवं नरककी प्राप्ति होती है वैसे ही चोरी और व्यभिचार आदिके करनेसे भी गाली, मार, अपकीर्ति और राजदण्ड होता है और फिर घोर नरकोंकी प्राप्ति होती है । अतएव तुम यदि अपना हित चाहते हो तो पापाचार और विषयोंके सेवनका त्याग करो एवं बुद्धिका आश्रय ग्रहण करके अपने कल्याणके लिये सदाचार और परमेश्वरकी सेवा-पूजादि कार्यमें लग जाओ ।

मनको समझाना चाहिये कि ये इन्द्रियाँ अपना मतलब गाँठनेके लिये तुम्हारी सहायतासे विषयोंका सेवन करती हैं और अपना मतलब निकालकर तुम्हें बड़े भारी दुःखके गड्ढेमें गिरा देती हैं । जैसे जिह्वा-इन्द्रियकी प्रेरणासे कुपथ्यको पथ्य मानकर उसे खानेमें और स्पर्शेन्द्रियकी प्रेरणासे स्त्री-सहवासके समय क्षणिक और नाशवान् विषयसुखमें आनन्दका अनुभव होता है । परन्तु परिणाममें अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि होकर नाना प्रकारकी पीड़ा और भारी दुःखोंका सामना करना एवं सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है एवं बल, वीर्य, तेज, कीर्ति, पुण्य और आयुका नाश हो जाता है । वैसे ही अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयमें भी समझना चाहिये । कहनेका तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके वशमें हुआ तू नाना प्रकारके पाप करके नरककी घोर यातनाका पात्र बन जाता है । इसलिये हे मन ! यदि तू असावधानीके कारण अपनेको नहीं सँभालेगा तो करोड़ों जीवोंकी जो दशा होती है वही दशा अपनी होगी । आज पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि जीव जो घोर कष्ट पा रहे हैं वह उनके मनुष्य-जन्ममें समझकर न चलनेका ही तो परिणाम है । इसलिये इस बार तू चेत जायगा तो बहुत उत्तम है, नहीं तो महान् हानि है । अतएव तू सावधान हो । एवं मनुष्यके अमूल्य जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न बिता । मनुष्य-जीवनका एक पल भी ईश्वर-चिन्तनके बिना बिताना अपने आपको मृत्युके मुखमें ढकेलना है । क्योंकि अन्तकालमें मनुष्य जिसका चिन्तन करता हुआ जाता है उसीको प्राप्त होता है । और सदा जैसा अभ्यास करता है प्रायः अन्तकालमें उसीका चिन्तन होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि इस नाशवान् संसारका चिन्तन करना ही पुनः-पुनः मृत्युके मुखमें पड़ना है । अतएव संसारके चिन्तनको मृत्युके समान समझकर उससे हटकर हर समय ईश्वरका चिन्तन करना चाहिये । व्यवहार-कालमें भी जब वृत्तियाँ संसारके पदार्थोंकी ओर जायँ, सर्वत्र ईश्वरका ही चिन्तन करना चाहिये । गीतामें कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
(६ । ३०)

'जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है ।' इसप्रकार मनको समझाकर नित्य-निरन्तर भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेसे वह स्थिर हो जाता है और साधकको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।



धर्मका सनातन आदर्श

नित्यधर्मका व्यवहारिक रूप

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत-कालेज, काशी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

जिज्ञासु-अबतक जो कुछ बातें हुई हैं उनसे यह समझमें आ गया कि धर्मका नित्यस्वरूप प्रकृतिको आश्रय किये विना प्राप्त नहीं हो सकता। प्रकृतिके आश्रयसे यह धर्म पहले प्रवृत्तिरूपमें और उसके पीछे निवृत्तिरूपमें प्रकट होकर पूर्णताको प्राप्त होता है। यही ऐश्वरिकधर्मका पारमार्थिक रूप है। किन्तु व्यवहारिक जगत्में हम जिसे धर्म कहते हैं वह पुरुषार्थके बिना अनुष्ठित नहीं हो सकता। अभिमानके नाश हो जानेपर व्यवहारिक धर्मके आचरणकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। अब मुझे यह पूछना है कि नित्यधर्मका अधिकार प्राप्त करनेके लिये व्यवहारिक धर्मका अनुष्ठान किसप्रकारसे होना चाहिये? क्या सभी प्रचलित धर्मोंमें इस लक्ष्यका निर्देश प्राप्त हो सकता है?

वक्ता—मैं पहले ही कह चुका हूँ कि पारमार्थिक धर्म एक और अभिन्न है और वही वास्तविक सनातन-धर्म है। क्योंकि वह देश, काल और पात्रकी अपेक्षा न रखते हुए सर्वत्र समानरूपसे प्रकाशित होता है। परन्तु व्यवहारिक धर्म सांसारिक अवस्थाके परिवर्तनके साथ-साथ न्यूनाधिकरूपमें परिवर्तित हुए बिना नहीं रहता। परन्तु इस अवश्यम्भावी परिवर्तनके होते हुए भी जो व्यवहारिक धर्म नित्यधर्मकी उपलब्धिमें अधिक सहायक होता है, वही श्रेष्ठ धर्म है। अर्थात् जिस धर्मका आचरण करते-करते जीव अज्ञातरूपसे परन्तु नियमपूर्वक आत्माभिमान और देहाध्यासका त्याग करनेमें समर्थ होता है, जिस धर्मके अनुष्ठानके फलस्वरूप जीव धीरतापूर्वक परिशुद्ध होकर नित्य-प्रवाहित प्रकृतिके स्रोतमें आत्मसमर्पण करनेमें समर्थ होता है, वही धर्म व्यवहारिक धर्मोंमें सर्वापेक्षा उत्कृष्ट गिने जाने योग्य है। जगत् कर्मका ही रूप है। इसलिये जगत्में अनन्त प्रकार कर्म-वैचित्र्यका होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। किन्तु वास्तविक कर्म वही है जिसके करते-करते जीव सदाके लिये कर्मजालसे छूट जाता है। इसी प्रकार जगत्में देशभेदसे, कालभेदसे तथा जातीय संस्कारभेदसे जितने प्रकारके धर्मोंका अभ्युत्थान हुआ है, वे सब एक ही भूमिमें हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता। जिसप्रकार दर्पण जितना ही स्वच्छ होता है उतना ही अधिक उसमें प्रतिबिम्ब उद्भासित होता है, उसी प्रकार जिस लौकिक धर्ममें जितना ही अधिक नित्य और पारमार्थिक धर्मके आदर्शका विकास होता है वह उतना ही उत्कृष्ट है।

जिज्ञासु-आजकल जगत्में जिन धर्मोंका विशेष प्रचार है, उनमें हिन्दू, बौद्ध, जैन प्रभृति भारतीय धर्म तथा इसलाम, ईसाई और पारसी प्रभृति वैदेशिक धर्म प्रधान हैं। आपने व्यवहारिक धर्मकी श्रेष्ठताके निदर्शन जो बतलाये हैं, उसके अनुसार इन सब धर्मोंमें किसको सर्वश्रेष्ठ पद प्रदान किया जा सकता है? यही जाननेकी मेरी इच्छा होती है। आपके निष्पक्ष निर्णयको जानकर मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

वक्ता—मैं नाम लेकर किसी भी धर्मपर विचार करना नहीं चाहता। और कई कारणोंसे इसप्रकारका विचार उचित भी नहीं है। परन्तु किसप्रकारके लौकिक धर्मके आचरणसे अलौकिक दिव्य धर्मका आश्रय ग्रहण करना सम्भव होता है, इसकी आलोचना अवश्य करूँगा। तुम प्राचीन, मध्य किंवा वर्तमान युगके समस्त धर्मोंके प्राप्य शास्त्रीय ग्रन्थोंकी आलोचना करके मेरे बतलाये हुए लक्षणोंके साथ उनका मिलान कर लोगे तो फिर उनके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट होनेका विचार अपने आप ही कर सकोगे।

प्रचलित धर्ममें भी आदर्श और आचारकी विभिन्नता सदासे देखी जाती है। किसी धर्मके दोष-गुणका विचार करते समय पहले यह देखना आवश्यक है कि उसका आदर्श क्या है? जो लोग लोकमें किसी एक धर्मका आचरण करनेवाले माने जाते हैं परन्तु जो कार्यक्षेत्रमें उस धर्मके आदर्शका सम्यक्रूपसे आचरण नहीं करते, उन लोगोंके इन भ्रष्ट आचरणोंके आधारपर उस धर्मके गुण-दोषके विषयमें सिद्धान्त स्थिर करना उचित नहीं है। व्यवहारिक

धर्मकी आलोचना करते समय भी इस साधारण नीतिको सामने रखना होगा। ऐसा न करनेसे सत्यसिद्धान्त तक पहुँचना असम्भव है।

जिज्ञासु-आप जिस नीतिका अवलम्बन करना चाहते हैं, वही श्रेष्ठ नीति है, क्योंकि जिसप्रकार जीवनके आदर्श-द्वारा ही मनुष्यकी आकांक्षाके महत्त्वका अनुमान होता है, उसी प्रकार धर्मकी उत्कृष्टता भी उसके अन्दर रहनेवाले आदर्शकी महत्ताके द्वारा ही निरूपित हो सकती है।

वक्ता-जिस उपायसे मनुष्य सहजमें तथा अल्प समयमें नित्य प्राकृतिक धर्ममें प्रवेश कर सकता है, वही श्रेष्ठ उपाय है। यदि यह निश्चय हो जाय कि एकमात्र गङ्गा-प्रवाहके सहारे ही समुद्रतक पहुँचना सम्भव है तो अपने निवास-स्थानसे जो मार्ग अल्प समयमें तथा सहजमें गङ्गाके किनारे ले जाता है, वही समुद्रयात्रीके लिये श्रेष्ठ मार्ग कहा जा सकता है। व्यवहारिक धर्मके विचारमें भी प्रकृतिका अनुसरण करके देश, काल तथा पात्रके अनुसार पुरुषार्थको यथासम्भव प्राकृतिक स्रोतमें विलीन करनेकी व्यवस्था किस धर्ममें किस परिमाणमें रहती है, यही वस्तुतः विचारणीय विषय है।

जिज्ञासु-जिन आधारोंपर व्यवहारिक धर्म प्रतिष्ठित होता है, उनकी भी कुछ आलोचना धर्मतत्त्वके समझनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। मेरी प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक एक-एक करके इन सभी विषयोंकी आलोचना करें।

वक्ता-व्यवहारिक क्षेत्रमें सभी जगह अधिकारका विचार करना आवश्यक है। जिसका जैसा अधिकार है, उसके लिये उसी प्रकारके धर्मका उपदेश उत्तम मालूम होगा और अधिकारका तारतम्य पूर्वजन्मके कर्म, उनके संस्कार तथा योग्यताके ऊपर भी निर्भर करता है। उच्च अधिकार प्राप्त न होनेपर उच्च पदके कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे केवल वे कर्म निष्फल ही नहीं होते, बल्कि उनसे भविष्यकी सिद्धिका मार्ग भी विघ्नपूर्ण हो जाता है।

जिज्ञासु-क्या इससे आपका यह तात्पर्य है कि आदर्श व्यवहारिक धर्ममें अधिकारका विचार होना अत्यन्त ही आवश्यक है?

वक्ता-इसमें सन्देह ही क्या है? व्यष्टि और समष्टि-भावसे देखनेपर संसारमें सर्वत्र ही अधिकारका विचार पाया जाता है और इसीपर सब प्रकारकी अवस्थाएँ प्रतिष्ठित हैं। जो मनुष्य जिस कार्य अथवा जिस फलका अधिकारी नहीं है, उसे उस कार्यमें प्रवृत्त होने अथवा उसे उस फलके भोगके लिये सुविधा देनेसे कभी परिणाम शुभ नहीं हो सकता। योग्यता और अयोग्यताका निर्णय किये बिना अधिकारका निर्णय नहीं किया जा सकता। योग्यता भी सब मनुष्योंमें समान नहीं होती और न हो सकती है। प्रत्येक मनुष्यके अथवा मनुष्य-समाजके कर्म-जीवन-सम्बन्धी अतीत इतिहासकी आलोचना करनेसे पता लग सकता है कि इस योग्यताकी विभिन्नता अपने कर्मके फलके रूपमें ही उत्पन्न होती है। इसके लिये किसीको दोष नहीं दिया जा सकता। इस विषमताके लिये ईश्वर अथवा बाह्य प्रकृति उत्तरदायी नहीं है। अतः प्राकृतिक नीतिके अनुसार क्रमशः उन्नतिकी सीढ़ीपर चढ़ना हो तो शिक्षा अधिकारमूलक ही होनी चाहिये। जो अत्यन्त कठिन दार्शनिक सिद्धान्तके अनुशीलनके योग्य है उसे जिसप्रकार साधारण सरल उपदेश देनेसे उसकी शिक्षाका उत्कर्ष नहीं होता, इसी प्रकार ज्ञानकी निम्नतम भूमिमें रहनेवालेको उच्च भूमिके दुरूह तत्त्वका उपदेश देना व्यर्थ है। जिसकी जैसी पाचनशक्ति होती है उसके लिये वैसा ही आहार शरीरकी पुष्टिमें सहायक होता है। यह अधिकार अनेकों प्रकारसे आलोचनीय है। सूक्ष्म दृष्टिसे किसीको भी योग्यताका निरूपण करते समय उसके उपादानमें जितनी विशेषताएँ हों उन सबको धीरतापूर्वक जानना होगा। इससे यह समझना चाहिये कि, यदि कोई व्यवहारिक धर्म अधिकारका विचार न कर सबको समान उपदेश देनेकी व्यवस्था करता है तो उसको सर्वांशमें प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। प्रकृतिके रङ्गमञ्चपर अधिकारकी विषमता निश्चित दीख पड़ती है। ऐसी अवस्थामें अधिकारगत वैषम्यकी उपेक्षा करनेसे व्यवहारिक धर्मसे प्राकृतिक धर्ममें प्रविष्ट होनेकी सम्भावना कभी नहीं हो सकती।

जिज्ञासु-आपके इस उपदेशसे जान पड़ता है कि स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध इत्यादिके अवस्थाभेदसे प्रत्येक व्यक्तिका धर्म पृथक्‌रूपसे निर्दिष्ट होना चाहिये। परन्तु बहुधा देखा जाता है, कि जिसे हम निकृष्ट समझते हैं वह अनेकों उत्कृष्ट कहे जानेवाले व्यक्तियोंसे भी उच्च स्थानमें बैठने योग्य होता है। दूसरी ओर जिसे साधारणतः उच्च स्थान दिया जाता है, योग्यताकी दृष्टिसे वह अनेकों

साधारण लोगोंकी स्थितिसे भी नीचेकी भूमिका अधिकारी होता है। ऐसी अवस्थामें अधिकारके विचारका मूल-आधार क्या है, इसका पता लगाना सहज नहीं होता। इस विषयमें कुछ और स्पष्ट जाननेकी इच्छा होती है।

वक्ता—वत्स ! तुम्हारे सन्देहको मैंने कुछ-कुछ समझ लिया है, किन्तु मेरी बातको ठीक-ठीक समझनेपर तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि यहाँ संशयका कोई भी कारण नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे धर्मका आचरण और प्रचार दोनों ही अधिकार-सम्पत्तिपर निर्भर करते हैं। इस विषयमें भी किसीको सन्देह करनेका अवकाश है, ऐसा मैं नहीं समझता। कोई तो अखिल विश्वके अन्तरालमें निहित तथा सर्वत्र व्यापक एवं अखण्ड सत्ताको ध्यानयोगके द्वारा उपलब्ध करनेमें समर्थ होता है, किन्तु किसीके लिये नेत्र मूँदकर एक साधारण मूर्तिका ध्यान करना भी कठिन होता है। किसीका चित्त स्वभावतः भोगोन्मुख होता है, और किसीके हृदयमें वैराग्यका भाव अधिकतर प्रबल होता है। इसप्रकारसे नाना वैषम्य सर्वत्र ही जगत्‌में देखे जाते हैं। ऐसी अवस्थामें एक ही प्रकारका आचार और साधन सब प्रकारकी प्रकृतिसे युक्त मानव-समाजके लिये कभी उपयोगी नहीं हो सकता। इस अधिकारका विचार करना अत्यन्त ही कठिन है। केवल स्थूल दृष्टिसे इस योग्यताका निरूपण नहीं किया जा सकता। ऐसे-ऐसे सूक्ष्म तत्त्व हैं जो स्थूल दृष्टिके विषय कभी नहीं हो सकते। किन्तु स्थूलदर्शी साधारण लोगोंकी दृष्टिमें वे तत्त्व नहीं आते, इसीलिये वे उपेक्षणीय नहीं होते। अतः जिन कर्मोंके संस्कारसे स्थूल देह उत्पन्न होता है उनके तारतम्यके अनुसार ही स्त्री-पुरुष आदिके देहगत भेद भी उत्पन्न होते हैं।

जिज्ञासु—अतएव अधिकारका निर्णय करनेके लिये केवल वर्तमान जन्मपर ही ध्यान रखना यथेष्ट नहीं है। परन्तु जगत्‌में ऐसे कितने मनुष्य हैं जो जन्मान्तर-रहस्यको प्रत्यक्ष कर प्रत्येक व्यक्तिके कर्म एवं पूर्वप्रज्ञाको साक्षात्‌रूपमें प्राप्त कर सकते हैं ?

वक्ता—तुम्हारा कहना ठीक है। इन्द्रियातीत विषयोंके देखनेवाले योगी महापुरुष सभी युगोंमें दुर्लभ होते हैं। वर्तमान समयमें भी इसप्रकारके पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। कालधर्मके कारण यह दुर्लभता क्रमशः बढ़ती ही जा रही है। किन्तु दुर्लभ होनेपर भी इस घोर दुर्दिनमें भी ऐसे पुरुषोंका एकान्त अभाव नहीं होता। जिज्ञासु एवं तत्त्वान्वेषी पुरुषके लिये भगवत्कृपासे दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है, पर यहाँ इस सम्बन्धमें बात नहीं हो रही है। इन्द्रियातीत विषयोंके द्रष्टा, प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेवाले दिव्य-ज्ञानसम्पन्न महापुरुष शास्त्रके रूपमें जो उपदेश दे गये हैं, उनके पीछे उत्पन्न होनेवाले श्रद्धालु पुरुषोंके लिये उनका प्रतिपालन करनेसे ही श्रेयोमार्गकी प्राप्ति हो सकती है। यहाँ मेरा केवल यही वक्तव्य है कि जिस धर्म-शास्त्रमें धर्मानुष्ठानके सम्बन्धमें सूक्ष्मतया अधिकार और योग्यताका विचार नहीं किया गया, व्यवहारिक रूपमें वह धर्म श्रेष्ठ नहीं कहला सकता।

जिज्ञासु—कुछ लोगोंका मत है कि मनुष्यकी क्रमिक उन्नतिको समझनेके लिये एक ओर जहाँ वंशगत संस्कारको मानना आवश्यक है वैसे ही दूसरी ओर पारिपार्श्विक अवस्थाओंके प्रभावको भी बिना माने काम नहीं चलता। वैज्ञानिक लोग Laws of Heredity तथा Environment के नामसे इसकी व्याख्या किया करते हैं। यदि यह सत्य है तो वर्तमान जन्मकी शक्तिगत तथा संस्कारगत विशेषताओंको सिद्ध करनेके लिये जन्मान्तर स्वीकार करना आवश्यक नहीं जान पड़ता। अतएव आप जो अधिकार-भेदके प्रसङ्गमें जन्मान्तरवादको खींच लाते हैं, वह नितान्त अप्रासङ्गिक जान पड़ता है।

वक्ता—यह कभी अप्रासङ्गिक नहीं है। पूर्वजन्मके न माननेसे वर्तमान जन्मकी विषमता तो सिद्ध होती ही नहीं—कर्मप्रवाहके आपेक्षिक मूलसूत्रका भी पता नहीं चल सकता। कर्म और जन्मान्तर-तत्त्वकी आलोचना करते समय इस विषयको विस्तृतरूपसे समझनेकी चेष्टा करेंगे। परन्तु तुम्हें अभी इतना याद रखना चाहिये कि व्यक्तिगत प्राक्तन कर्मके विना केवल वंशगत संस्कार अथवा शिक्षा-संसर्ग प्रभृति पारिपार्श्विक अवस्था (परिस्थिति) के द्वारा किसीके चरित्रमें विशेषता नहीं आ सकती। तुम्हें शेक्सपियरके विषयमें ज्ञात है, जिस अलौकिक प्रतिभा एवं प्रज्ञाने उसको संसारमें इतने सुदीर्घ कालतक अतुलनीय बना रक्खा है वह क्या उसके अल्पशिक्षित एवं ग्राम्य-भावसे युक्त पुरखोंकी बुद्धि-सम्पत्तिके द्वारा अथवा उसकी व्यक्तिगत क्षुद्र-शिक्षा और संसर्गके द्वारा कभी

सम्भव मानी जा सकती है ? अधिकारका विचार करते समय प्राक्तन कर्मोंका अनुसन्धान नितान्त ही आवश्यक है। आगे चलकर जब कर्म-विज्ञानकी आलोचना की जायगी तब तुम समझ सकोगे कि सैकड़ों प्रदेशोंमें सैकड़ों नये-नये शरीरोंके द्वारा मनुष्य-जीवनके प्रकट होनेपर भी वे समस्त असंख्य विभक्त जीवन एक अखण्ड मानव-जीवनका ही आंशिक प्रकाशमात्र है। सृष्टिके आदिसे लेकर मुक्तिपर्यन्त प्रत्येक मनुष्यका जीवन एक अविच्छिन्न-धारामें प्रवाहित होता रहता है। कर्मके अनुसार विभिन्न युगोंमें, विभिन्न देशोंमें एवं विभिन्न प्रकारकी योनिमें मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इन समस्त विभिन्नताओंके अन्दर एक निर्दिष्ट जीवनकी धारा जड़भाव एवं मोहसे आच्छन्न अस्पष्ट अचेतन-राज्यसे क्रमशः उन्नति करती हुई पूर्णताकी ओर अग्रसर होती रहती है। जिस प्रकार यह जगत् आज कहाँ और किस रूपमें है इसे ठीक-ठीक जाननेके लिये, 'यह कल कहाँ और किस रूपमें था,' यह जानना अत्यन्त आवश्यक होता है, उसी प्रकार मनुष्यको वर्तमान जन्ममें प्राप्त शरीर, योग्यता, संस्कारादिका कारण जाननेके लिये उसकी पूर्वावस्थाका प्रत्यक्ष ज्ञान आवश्यक है। एक साधारण-सा कार्य भी असंख्य परस्पर संश्लिष्ट विभिन्न जटिल शक्तिपुञ्जके घात-प्रतिघातके बिना सम्पन्न नहीं हो सकता। यदि यह सत्य है तो इसे अवश्य ही मानना पड़ेगा कि मनुष्यका जन्म भी विभिन्न प्रकारकी प्राकृतिक शक्तियोंकी परस्पर क्रिया और प्रतिक्रियाके द्वारा संघटित होता है। केवल रजोवीर्यके संयोगसे ही मनुष्यकी उत्पत्ति नहीं होती। जिस शक्तिके द्वारा यह संयोग नियन्त्रित होता है, जिस सत्ताके प्रभावसे संयुक्त रजोवीर्य सञ्जीवित होकर प्राणमय रूप धारण करता है, जो संस्कार इस जीवभावापन्न बिन्दुमें अपनेको प्रकाशित करते हैं, उन सब कारणोंके हुए बिना किसी भी देहकी उत्पत्ति एवं विकास सम्भव नहीं है।

जीवन-पथमें चलते-चलते मनुष्य जो-जो कर्म करता है तथा जिन-जिन विचित्र सुख-दुःखोंका सम्भोग करता है, उसीके सारांशसे नित्य-जीवन पुष्टि लाभ करता है, अन्तर्दृष्टिके द्वारा देखनेसे यह बात समझमें आ सकती है। सभी मनुष्योंमें यह पुष्टता समान नहीं होती। कोई सुदीर्घ कालतक कर्म करते-करते थककर तथा नाना प्रकारकी तीव्र भोगनेपर कहीं वैराग्य अथवा निर्वेदको प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु जिसका जीवन अब भी अतृप्त वासनासे परिपूर्ण है उसका चित्त स्वभावतः ही विषय-प्रवण तथा भोगलोलुप रहता है। मनुष्यकी प्रकृति-भेदका यही कारण है। इससे समझा जा सकता है कि अल्प वयस्में वैराग्यका होना तथा वृद्ध-अवस्थामें भी भोग-लोलुपताका रहना दोनों एक ही प्राकृतिक शृङ्खलाके अन्तर्गत हैं। देह, मन, प्राण, बुद्धि, प्रभृति प्रत्येक क्षेत्रमें प्रकृतिकी विभिन्नताका यही एकमात्र कारण है। अतएव केवल वर्तमान जन्मसे ही अधिकार-भेद ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, इस बातको मानना ही होगा। जिस धर्ममें यह प्राकृतिक अधिकार-वैचित्र्य नहीं माना गया है, वह स्वाभाविक धर्मके अनुकूल नहीं हो सकता।

जिज्ञासु—क्या जन्मान्तरमूलक अधिकारका विचार ही व्यवहारिक रूपसे सनातन-धर्मके निर्णयका एकमात्र निदर्शन है ?

वक्ता—नहीं, और भी अनेक प्रकारके निदर्शन हैं। उनमेंसे कुछकी आलोचना करके समझनेकी चेष्टा करेंगे। परन्तु इस अधिकार-तत्त्वके समझ लेनेपर सनातन-धर्मके कुछ अङ्ग अपेक्षाकृत स्पष्टभावसे समझे जा सकते हैं। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' कालिदासका यह कथन तुमने अवश्य सुना होगा। परन्तु इसका गूढ़ रहस्य कदाचित् तुमने अबतक नहीं समझा है। तुम इससे क्या समझते हो ?

जिज्ञासु—मैं समझता हूँ कि शरीरके स्वस्थ न रहनेसे किसी प्रकारका धर्मानुष्ठान नहीं किया जा सकता। किसी भी प्रकारका धर्मानुष्ठान करनेके लिये सबसे पहले शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षा करनी उचित है। शरीर ठीक न रहनेपर वह धर्म-साधनमें सहायक नहीं हो सकता और इसलिये धर्मकी अन्यान्य साधन-सम्पत्ति भी फल उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होती। कालिदासके इस वाक्यका यह साधारण अर्थ ही मेरी समझमें आता है, यदि इसके अतिरिक्त भी कोई तात्पर्य हो तो उसको मैं नहीं जानता।

वक्ता—तुमने जो कुछ कहा है, वह किसी अंशमें ठीक है। तथापि वास्तविक सत्यका स्वरूप इसकी अपेक्षा और भी गम्भीर है। धर्म-साधनके साथ शरीरका क्या सम्बन्ध है, इस विषयमें मैंने जो कुछ समझा है उसीसे दो-एक

बातें संक्षेपमें तुमसे कहता हूँ, इन्हें समझ लेनेपर सनातन-धर्मके कुछ अङ्गोंको तुम सहज ही समझ सकोगे। याद रक्खो कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन प्रकारके शरीर मनुष्यमात्रके हैं। परन्तु वर्तमान स्थलमें शरीर शब्दसे हमारा अभिप्राय स्थूल शरीरसे ही होगा। तुम जानते हो कि, उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज–इन चार प्रकारकी योनियोंके अन्तर्गत चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्ययोनि सर्वश्रेष्ठ है। इसके अनेक कारण हैं, जिनका विस्तृत विवरण करना अभी सम्भव नहीं है। भगवान् शङ्कराचार्य विवेक-चूडामणिमें जिन तीन वस्तुओंको अत्यन्त दुर्लभ बतलाते हैं उनमेंसे मनुष्य-देह प्रधान है। बौद्ध-धर्ममें भी यही बात मानी गयी है। संसारके सब धर्मों-के अन्तस्तत्त्वके ज्ञाता आचार्योंने इसकी यथार्थता स्वीकार की है। अतएव इस मनुष्य-देहको धर्म-जीवनका उपयोगी बनाकर व्यवहार करना ही युक्तिसङ्गत है। शरीरके साथ अन्तःकरण एवं व्यवहारिक आत्माका घनिष्ट सम्बन्ध है, इसलिये चित्तशुद्धि एवं आत्मकल्याण चाहनेवालोंके लिये शरीरके तत्त्व और व्यवहारका जानना अत्यन्त आवश्यक है। शरीर बिन्दुसे उत्पन्न होता है, इसलिये बिन्दुकी आपेक्षिक शुद्धिके बल और स्थितिके अनुसार शरीरमें भेद होना अवश्यम्भावी है। जो विन्दु नाभिचक्रको भेद करके शुद्ध और ज्योतिर्मय रूप धारणकर सहस्रदल पद्मकी कर्णिका-पर विष्णुपदमें स्थित हो चुका है, सङ्कल्पके द्वारा उसे नीचे उतारनेपर उसके द्वारा जिस शरीरकी उत्पत्ति होती है, उसमें और नाभिके निम्नस्थ बिन्दुके सञ्चारसे उत्पन्न शरीर-संगठनमें अवश्य ही विभिन्नता होगी, इसमें सन्देह नहीं। स्वाभाविक वर्णभेदके रहस्यकी आलोचना करनेपर यह बात समझमें आ सकेगी। उससे यह स्पष्ट हो जायगा कि सभी मनुष्य-शरीर धर्म-साधनके लिये उपयोगी होनेपर भी एक प्रकारके नहीं हैं। शरीर प्रारब्ध-कर्मसे उत्पन्न होता है, अतः प्रारब्ध-कर्मके तारतम्यके अनुसार स्वभावतः शरीरका भी तारतम्य संघटित होता है। यह शारीरिक विभिन्नता संस्थानगत एवं गर्भसञ्चारके बादसे ही आविर्भूत होती है। इसकी उपेक्षा करनेपर धर्मका अनुशासन सम्भव नहीं होता। इस प्राकृतिक भेदके ऊपर ही विभिन्न आचारोंकी प्रतिष्ठा हुई है। जिन लोगोंको सूक्ष्म तत्त्वोंका पता नहीं है वे भी जानते हैं कि शारीरिक अवस्था तथा स्थूल जगत्की विशिष्टताके अनुसार विभिन्न आचारोंका प्रवर्तन हुआ है। अतएव स्थूल शरीरधारीके लिये आचार-का प्रतिपालन भी गौणरूपसे धर्मसाधनका ही अङ्ग है।

जिज्ञासु–क्या यही सदाचार है? सदाचारका लक्षण क्या है?

वक्ता–सत् अर्थात् साधुजनके द्वारा प्रतिपालित आचार-को सदाचार कहते हैं और साधु-आचारको भी सदाचार कहा जा सकता है। दूसरोंका साधु-आचरण धर्म-निर्णय-का उपायस्वरूप होता है। परन्तु अपना साधु-आचरण साधनका एक आवश्यक अङ्गविशेष है। यद्यपि आचार शरीरकी अपेक्षा रखता है तथा धर्मका बहिरङ्ग स्वरूप है, तथापि साधकको इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। आचारकी विशुद्धतासे शारीरिक पवित्रता, दीर्घ आयु, आरोग्य तथा चित्तकी स्थिरता आदिमें सहायता मिलती है। जो लोग उच्च तत्त्वोंका विचार करते हैं परन्तु अपने व्यक्तिगत जीवनमें उनका आचरण नहीं करते, वे कभी सत्य धर्मका पता नहीं पा सकते।

जिज्ञासु–बहुतोंका ऐसा विचार है कि धर्मसाधना हृदयका एक व्यापारविशेष है, उसके साथ बाह्य आचार-के अनुष्ठानका सम्बन्ध किसी प्रकार नहीं हो सकता। यदि कोई शुद्धचित्त हो तो उसका आचरण चाहे जिसप्रकारका हो, उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। दूसरी ओर, यदि कोई आचारवान् होनेपर भी भाव शुद्ध रखनेमें समर्थ नहीं है तो उसकी कोई भी प्रशंसा नहीं कर सकता। सुनते हैं, शास्त्रमें भी 'भावग्राही जनार्दनः' कहा गया है। इसलिये बाहरी आचरणोंका विचार न कर जिससे भाव-शुद्धि हो वही मनुष्यको करना चाहिये। आप इस विषय-में क्या निर्णय करते हैं, यह जाननेकी इच्छा है।

वक्ता–वत्स, तुम जो कहते हो वह एक प्रकारसे ठीक है तथापि इसका अनुशासन ठीक नहीं। शरीरशुद्धि चित्तशुद्धिका द्वारस्वरूप है। शरीरके शुद्ध न होनेसे चित्त कैसे शुद्ध हो सकता है, यह बात मेरी समझमें नहीं आती। चित्त और शरीरके परस्पर पृथक् होनेपर भी सांसारिक जीवनमें ये दोनों इसप्रकार जुड़े हुए हैं कि शरीरके बिना चित्तका कोई स्थायी संस्कार सम्भव नहीं है। इसी कारण तान्त्रिक साधनामें चित्तशुद्धिके साथ-साथ भूत-शुद्धिका भी विधान है। पञ्चभूतके शुद्ध हुए बिना चित्त निर्मल हो ही नहीं सकता। मलिन चित्तमें आत्म-

ज्ञानका विकाश ही किसप्रकार सम्भव होगा ? जिस धर्ममें शरीरके सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म भेदका अनुसरणकर भिन्न-भिन्न आचारोंकी व्यवस्था निश्चित हुई है वही प्रकृत सनातन-धर्मका व्यावहारिक रूप है । तुम जो कहते हो कि शुद्ध-चित्त व्यक्ति आचारहीन होनेपर भी माननीय है एवं कलुषित प्रकृतियुक्त व्यक्ति आचारवान् होते हुए भी निन्दनीय है, यह अवश्य ही सत्य है । ऐसा क्यों होता है, यह विशेषरूपसे विचारणीय है । यदि गर्भाधानसे ही समस्त संस्कार ठीक-ठीक सम्पादित हों तो उससे कुछ अंशमें यह असामञ्जस्य दोष निवारित हो सकता है । पूर्वकालमें व्यवस्था भी इसी प्रकारकी थी । परन्तु चित्त और शरीर इन दोनोंमें चित्तका आपेक्षिक प्राधान्य स्वीकार कर लेनेपर भी शारीरिक संस्कारकी आवश्यकता अस्वीकार नहीं की जा सकती । प्रारब्ध-कर्मके तारतम्यके कारण स्थूल शरीरकी पृथकूता हुआ करती है । अतएव प्राकृतिक नियमोंके अनुसार कर्मके अपकर्षके कारण वर्तमान जन्ममें हीन शरीरकी प्राप्ति होती है, यह बात सहज ही समझी जा सकती है। परन्तु शरीरके हीन होनेपर भी चित्तकी प्रकृति उच्चावस्थाकी हो सकती है। ऐसी अवस्थामें शारीरिक धर्मका आचरण तथा शारीरिक उपादान निकृष्ट होनेपर भी चित्तमें उत्कृष्ट भावका उदय होना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं । दूसरी ओर, विशिष्ट कर्मोंके फलस्वरूप उत्कृष्ट शरीर प्राप्त करके सदाचारी होनेपर भी चित्तकी आपेक्षिक मलिनताके कारण चित्तकी निकृष्टता अक्षुण्ण बनी रह जाती है। यहाँ यद्यपि एक प्रकारसे चित्तकी *प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है* तथापि दैहिक आचारकी सार्थकताकी उपेक्षाकी दृष्टिसे देखनेसे काम नहीं चलता । प्रत्येक यन्त्रका ही एक निर्दिष्ट कार्य होता है । उसे नहीं करनेसे अथवा किसी कारणवश इसके *स्थगित* हो जानेसे यन्त्रकी सार्थकता जाती रहती है । *मान लो,* नेत्र एक यन्त्र है और दर्शन *करना* इसका *कार्य* है । दर्शन करनेके लिये ही इस यन्त्रका उद्भव हुआ है । 'रूपरागाद्भवेच्चक्षु' यही *शास्त्रीय* सिद्धान्त है । अतएव निर्माणके पश्चात् रूप-दर्शन ही इसका स्वाभाविक कार्य माना जा सकता है । यह कार्य कर सकनेपर ही नेत्र-यन्त्रकी सार्थकता सिद्ध हो सकती है । किन्तु यदि किसी कारणसे यह यन्त्र दर्शन-कार्य सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं हो तो इससे दीर्घ कालके पश्चात् इसकी केवल दर्शन-शक्ति ही नहीं नष्ट होगी, बल्कि यह यन्त्र क्रमशः *विकृत* होते-होते अन्तमें लुप्त हो जायगा । घोर अन्धकारमय *गुफाके भीतर* दीर्घकालसे रहते-रहते *एक जातिकी मछलियाँ* अन्धी होकर *क्रमशः* नेत्रहीन हो *गयी थीं, यह बात प्राणितत्त्ववेत्ता पण्डितोंको अज्ञात नहीं* है । इससे समझ सकते हो कि प्रत्येक जातिके शरीरका एक स्वाभाविक स्पन्दन होता है, यही उसका छन्द है । इसकी रक्षा न कर सकनेसे वह अकर्मण्य होकर क्रमशः विकृत हो जाता है, तथा अधोगतिको प्राप्त होता है । इसी कारण धर्मसाधनके लिये देहका विचार करना इतना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि देह भी कार्य सिद्ध करने-वाला एक यन्त्रविशेष है । इससे ठीक-ठीक कार्य न करा सकनेसे प्राकृतिक नियमोंके अनुसार इसका अपकर्ष अनिवार्य है । इसी कारण शरीरको धर्मसाधनका प्रथम अङ्ग कहा गया है । ऐसा न समझो कि देहकी उपेक्षा करके अथवा उसे पीछे छोड़कर तुम धर्मके मार्गपर आगे बढ़ सकोगे । शारीरिक तत्त्वको शुद्धकर चित्तके साथ-साथ यदि उसे नहीं उठाया जायगा तो चित्त उच्च पदको पहुँचकर भी माध्याकर्षणके प्रभावसे कभी न-कभी भूमिसात् हो ही पड़ेगा । इसमें बहुतेरे गम्भीर रहस्य भरे पड़े हैं । जो लोग अल्पदर्शी हैं वही स्थूलरूपसे मोहित होकर इसके *रहस्यको समझनेमें समर्थ नहीं होते* । प्राचीन कालमें ऋषियोंने देहतत्त्वकी आलोचना अत्यन्त सूक्ष्मभावसे की थी । इसीसे उन्होंने गर्भाधानसे लेकर उपनयन-संस्कार-तक विभिन्न संस्कार-क्रियाओंकी व्यवस्था करके बीजगत और गर्भगत दोषोंको हटाते हुए शरीरके शुद्ध करनेकी प्रक्रियाका प्रचार किया था ।

(क्रमशः)



तन्त्र-सिद्धान्त

(लेखक–श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

[गतांकसे आगे]

यन्त्र-रहस्य



न्त्रशास्त्रमें लिखा है कि शक्तियाँ अपने गलेमें मनुष्यकी अस्थियोंकी माला धारण किये रहती हैं। उनका निवासस्थान मेरु अथवा सुषुम्णा अर्थात् पृष्ठवंश (Spinal column) बतलाया गया है। उपर्युक्त विवरणसे हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि उनकी माला पृष्ठवंशकी अस्थियाँ (Vertebrae) की बनी हुई है और उनके सारे स्वरूप पृष्ठवंशमें ही पाये जाते हैं।

पृष्ठवंशके सहारे अनेक शिराओंके जाल (Plexuses) ग्रथित हैं जो शक्तिके विभिन्न रूपोंको अभिव्यक्त करते हैं। उनकी सारी अभिव्यक्तियाँ पाँच समुदायोंमें विभक्त हैं। ये समुदाय आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी इन पाँच तत्त्वोंके समुच्चयसे बने हुए हैं। इनमेंसे प्रत्येक तत्त्वका सृष्टिके विकासमें एक विशिष्ट स्वरूप होता है।*

आकाशका स्वरूप बिन्दु (शून्य) है। वायु गोलाकार (circle) है। अग्निका आकार त्रिभुज (triangle) का-सा है। जल अर्धचन्द्राकृति है। कुछ विद्वानोंके मतमें जलका आकार व्यावृत्त त्रिभुज (inverted triangle) के सदृश है। पृथ्वी समचौरस (Square) अथवा बहुभुज (many-sided) है। ग्रे साहब (Grey) के शरीरव्याकृतिविज्ञान् (Anatomy) के ग्रन्थमें १७ शिराजाल बतलाये गये हैं। ये सारे-के-सारे पाँच विभागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। सारी वस्तुएँ तत्त्वोंसे बनी हुई हैं। वस्तुओंका आकार उनके मूल तत्त्वोंके आकारका समुच्चय होता है। ये आकार अनेक प्रकारके स्पन्दनों (Vibrations) के परिणाम होते हैं। कोई भी आकार एक विशेष प्रकारकी स्पन्दनविधिका लक्ष्य कराता है। ये आकार प्रकाशके प्रतिक्षेप (reflection) के द्वारा हम लोगोंके प्रति स्पन्दन फेंकते हैं और इसप्रकार हमें प्रभावित करते हैं। हम उन स्पन्दनोंका उत्तर देते हैं और उनसे राग अथवा द्वेष करते हैं। जगत्के प्रत्येक पदार्थका प्रत्येक आकार एक प्रकारका यन्त्र अथवा रेखाचित्र (diagram) होता है। तान्त्रिक लोग किसी एक यन्त्रको लेकर उसका अपने कार्यमें उपयोग करते हैं। यही यन्त्रका रहस्य है। यहाँतक हम यन्त्र, मन्त्र एवं बीजकी व्याख्या कर चुके। जो इनके रहस्यको जानता है एवं इनका किसी उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रयोग करनेमें सिद्धहस्त है वह न केवल अपना ही अपितु दूसरोंका भी उपकार कर सकता है।

चरित्र-गठनमें तन्त्रकी उपयोगिता

तन्त्रशास्त्रका अभ्यास करनेपर यह पता लगता है कि हमारे दैनिक जीवनके साधारण-से-साधारण वाह्य आचरण (expression) में उसका किसप्रकार निदर्शन हुआ है। हमारा प्रत्येक विचार एक सृष्टि है। उस विचारके अनुरूप प्रत्येक क्रिया एक अनुभव है, उस क्रियाकी प्रत्येक आवृत्ति हमारे आचरणका एक बाह्य रूप है, और जब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो हम उस सृष्टिको किसी दूसरी सृष्टिके लिये उत्सर्ग करते हैं उस समय वह हमारा आभ्यन्तर स्वरूप (Inclusion) बन जाती है—सदाके लिये हमारे चरित्रका एक अङ्ग बन जाती है।

'विचार' शब्दसे हम यहाँ मन्त्रका ग्रहण करते हैं। मन्त्रका अर्थ है गोपनीय वाक्य और उसका अर्थ है विचार। इसलिये विचारका अर्थ मन्त्र हुआ। जो कुछ हम सोचते हैं वह हमारी सृष्टि होती है। उस विचारके अनुरूप क्रिया करके हम एक अनुभव प्राप्त करते हैं। इस-प्रकारके अनुभवको विनियोग कहते हैं, जिसका अर्थ है उस विचारकी क्रियाके अनुरूप विचार अथवा मन्त्रका प्रयोग करना। विचारकी सरणिको स्थिर करनेवाला कर्म होम कहलाता है। विचारको कार्यान्वित करनेका नाम होम है। उस क्रियाकी प्रत्येक आवृत्ति एक आचार है। आवृत्तिका नाम जप है। मन्त्र अथवा विचारकी आवृत्ति होती है। वाणीद्वारा आवृत्ति निम्न श्रेणीकी है। आवृत्ति-का मानसिक व्यापार उसकी अपेक्षा ऊँचा है। आवृत्तिके द्वारा विचार शक्तिसम्पन्न हो जाता है। शक्तिसम्पन्न

* देखिये त्रिपुरब्राह्मणोपनिषद्।

(७) पुष्पका अर्थ है ध्यानका विकास होकर अपने ही चित्तमें शान्तिका सञ्चार होना ।

(८) धूप–अर्थात् नीरव एवं प्रयत्ननिरपेक्ष श्वासोच्छ्वास ।

(९) दीप–अर्थात् परमात्मस्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये अग्निके सूक्ष्म तत्त्वका उपयोग ।

(१०) नैवेद्य–अर्थात् विरोध, विवाद एवं सङ्घर्षके अभाव तथा शान्तिके सञ्चारके लिये जलतत्त्वका उपयोग।

(११) घण्टा–अर्थात् हृदयके स्पन्दनमें घण्टारवकी भावना करना ।

(१२) चामर–अर्थात् निद्राको रोकनेके लिये वायु-तत्त्वका उपयोग।

(१३) तृप्ति–अर्थात् सारी विषय-वासनाओंकी पूर्ति।

(१४) दशपुष्प–अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके दस लक्षण जो निम्नलिखित हैं—

१–अमाया अर्थात् निश्चलता ।

२–अनहङ्कार अर्थात् विनय ।

३-अराग अर्थात् आसक्तिका अभाव।

४–अमद अर्थात् घमण्डका अभाव।

५–अमोह अर्थात् सदसद्विवेक ।

६–अदम्भ अर्थात् ऋजुता अथवा बाहर-भीतरकी एकता ।

७–अद्वेष अर्थात् सबके प्रति प्रेमभाव ।

८–अक्षोभ अर्थात् व्यर्थ अथवा निष्फल चेष्टाओंका अभाव ।

९–अमात्सर्य अर्थात् ईर्ष्याका अभाव ।

१०–अलोभ अर्थात् लालचका अभाव ।

(१५) पञ्चपुष्प जो निम्नलिखित हैं—

१–अहिंसा ।

२–इन्द्रियनिग्रह ।

३–दया ।

४–क्षमा ।

५–ज्ञान ।

(१६) सुधा, मद्य जिसका अर्थ है अतिशय आनन्द ।

(१७) मांसशैल अर्थात् आवश्यकतासे अधिक भोजन कर लेना ।

(१८) भर्जितमीन पर्वत अर्थात् भवसागरकी क्रीडामें भूल जाना ।

(१९) मुद्राराशि अर्थात् मौन ।

(२०) घृताक्त सुभक्त अर्थात् स्वादु भोजन ।

(२१) पायस अर्थात् खीर ।

(२२) कुलामृत अर्थात् पञ्चभूतोंके सूक्ष्म तत्त्व ।

(२३) कुलपुष्प अर्थात् भूतोंका क्रमिक विकास ।

(२४) पीठक्षालनवारि अर्थात् अन्तरात्माकी शुद्धि अथवा मानव जातिके प्रति प्रेम ।

(२५) वलि अर्थात् काम एवं क्रोधका दमन ।

(२६) जप अर्थात् बहिर्मुख विचारकी आवृत्ति ।

(२७) समर्पण अर्थात् अपनेको दूसरेके अधीन बना देना ।

(२८) साष्टाङ्ग प्रणाम अर्थात् परमात्मामें लीन हो जाना ।

काली अर्थात् शक्तिकी आभ्यन्तर अर्चाके ये २८ उपचार हैं। बाह्य अर्चाके १६ उपचार हैं जो षोडशोपचार* के नामसे विख्यात हैं। इसके बाद केवल पाँच† ही उपचारोंका विधान है। उक्त दो प्रकारके उपचारोंमें पहला प्रकार तन्त्रों तथा पुराणोंको अधिक मान्य है। महानिर्वाण-तन्त्र ‡ में तो लिखा है कि चित्तशुद्धि ही अभीष्ट सिद्धिका एकमात्र उपाय है।

बीज और उनका महत्त्व

अतः ये सब यत्न चित्तशुद्धिके लिये ही हैं। शुद्धिकी प्रक्रियामें एक सोपान जप अर्थात् मन्त्र अथवा सङ्कल्पकी आवृत्ति है। सङ्कल्पोंकी अभिव्यक्ति जपसे होती है। वर्ण-मालाके सारे वर्ण मातृकाएँ कहलाती हैं। मातृकाएँ बीजकी जननी होती हैं। भिन्न-भिन्न मातृकाओंकी उत्पत्ति पञ्चभूतोंकी शक्तिसे होती है। इसीलिये सारी मातृकाएँ पञ्चभूतोंके वर्गमें विभक्त हैं और हमारे शरीरके अन्दर महान् शिराजालोंमें अवस्थित बतलायी जाती हैं। इनके स्थानको तन्त्रशास्त्रमें 'न्यास'§ कहते हैं।

जप मालाके द्वारा होता है। यहाँ हमारा प्रयोजन 'वर्णमाला' से है और इस मालाकी मणियाँ 'कुण्डली'

---

* षोडशोपचार ये हैं–पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वसन, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, अमृत, ताम्बूल, तर्पण, नमस्कार ।

† पञ्चोपचार ये हैं–बलिदान, होम (विसर्जन, अछिद्राव-धारण, भस्मतिलक), जप, प्राणायाम, आत्मसमर्पण ।

‡ 'चित्तसंशुद्धिरेवात्र मन्त्रिणां फलदायिनी' । अ० ७ श्लो० ९१ ।

§ देखिये गोतमीयतन्त्र २ । ८६–९४; महानिर्वाणतन्त्र आदि।

अर्थात् पृष्ठवंश (Spinal cord) के धागेमें पिरोयी हुई हैं। इस मालाके द्वारा 'अ' से लेकर 'ल' तक और फिर 'ल' से लेकर 'अ' तक जप होता है। दोनों आवृत्तियों-के बीचमें 'क्ष' का उच्चारण किया जाता है। 'क्ष' का मध्यभाग 'मेरु' कहलाता है। जपमें प्रत्येक वर्णके साथ बीज-मन्त्रका उच्चारण किया जाता है। उदाहरणार्थ एक बीजमन्त्र है-'ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा।' इसके अन्दर 'परमेश्वरि' शब्दसे पराशक्तिका सम्बोधन किया गया है। 'ह्रीम्' 'श्रीम्' 'क्रीम्' ये तीन बीज एक ही शक्तिके तीन स्वरूपोंका बोध कराते हैं। 'ह्रीम्' मायाका वाचक है, 'श्रीम्' लक्ष्मीका और 'क्रीम्' शक्तिका बोधक है। ये तीन देवियाँ क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। मायाका दूसरा नाम प्रकृति है जो जगत्का उपादानकारण है। लक्ष्मी धन अथवा सर्ग (creation) का नाम है। शक्ति सर्गकी उस नैसर्गिक शक्तिका नाम है जो परिस्थितिके अनुसार प्रत्येक वस्तुका रूपान्तर करती रहती है। ब्रह्मा माया अथवा प्रकृतिकी सहायतासे विश्वका सृजन करते हैं। अतः सृजनशक्तिका नाम ही ब्रह्मा है। विष्णु सारे भूतोंका प्राण धारण करते हैं। इसलिये विष्णु पालन अथवा रक्षणशक्तिका नाम है। शिवका कार्य रूपोंका परिवर्तन करना अथवा संहार करना है। अतः संहार-शक्तिका नाम शिव है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये एक ही ब्रह्मके तीन स्वरूप हैं। अतः उक्त तीनों स्वरूपोंके सम्पूर्ण ज्ञानको ब्रह्मविद्या, सरस्वती, वेद, तारा इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। ब्रह्मज्ञानका बोधक वर्ण 'ऐं' है। पञ्च-विध उत्पादक कारणोंके रूपमें माया विश्वका सृजन करती है। ये पञ्चविध उत्पादक कारण आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी पञ्चभूत हैं। ये ही प्रत्येक जीवकी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये पदार्थोंकी रचना करते हैं। ये हमारी इच्छा अथवा कामको जाग्रत करते हैं। इसीलिये इन सबके समुदायका नाम 'कामबीज' कहा गया है। 'काम-बीज' एक प्रतीक (symbol) है। वह प्रतीक 'क्लीं' इस वर्णसे भिन्न और कुछ नहीं है। गौतमीयतन्त्रमें 'क्लीं' को पञ्चतत्त्वोंका बोधक माना गया है। वहाँ यह लिखा है कि परमात्माने 'क्लीम्' से सृष्टि, ('ल' से पृथ्वी, 'क' से जल, 'ई' से अग्नि, शब्दसे वायु और बिन्दुसे 'आकाश') उत्पन्न की। इस रीतिसे हमें वेदों और उपनिषदोंमें जहाँ सृष्टिसे पूर्व कामके अस्तित्वका उल्लेख मिलता है वहाँ हमें 'काम' शब्दसे यथासम्भव पञ्चभूतोंका ही ग्रहण करना चाहिये।

'ह्रीं श्रीं क्रीं परमेश्वरि स्वाहा' इस मन्त्रमें एक शब्द और है जिसकी व्याख्या अपेक्षित है, वह है 'स्वाहा'। यह शब्द 'स्वा' और 'हा' इन दो वर्णोंके संयोगसे बना है। 'स्वा' का अर्थ है आत्मा और 'हा' समष्टि जीवन, शाश्वत एवं अनन्त चेतन—परमेश्वरी—का वाचक है। अतः 'स्वाहा' का अर्थ हुआ समष्टिचेतनके साथ जीवात्मा की एकता अथवा अभेद। 'स्वाहा' शब्दका उच्चारण करते एवं ध्यान करते समय साधक अथवा तान्त्रिक पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है, विश्वात्माके अन्दर अपनेको पूर्णतया विलीन कर देता है। दूसरे शब्दोंमें हमें इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि साधक अथवा तान्त्रिकको ध्यानके पूर्वकालमें आत्मसमर्पणके लिये, विश्वात्माके अन्दर अपनेको सर्वथा विलीन कर देनेके लिये, 'स्वाहा' शब्दसे उत्साह मिलता है।

बीजमन्त्रोंका यौगिक अर्थ

'कर्पूरस्तव' (श्लोक ५) में 'लज्जाद्वन्द्वम्' इस पद-का प्रयोग हुआ है। टीकाकार कृष्णभट्टने इसका अर्थ 'ह्रीङ्कारद्वयम्' (अर्थात् 'ह्रीम्' इस बीजकी दो बार आवृत्ति) इसप्रकार किया है। इसी प्रकार 'फेत्कारिणी-तन्त्र' में एक कामद मन्त्रका विन्यास मिलता है जो इसप्रकार है—

'ॐ क्रीं क्रीं क्रीं हूं हूं-ह्रीं ह्रीं दक्षिणे कालिके स्वाहा।'

उपर्युक्त मन्त्रकी व्याख्यामें 'ह्रीम्' इस बीजकी द्विरावृत्तिको 'लज्जायुग्मम्' (अर्थात् लज्जाका जोड़ा) कहा गया है। इसीलिये 'ह्रीं' को लज्जाबीज कहते हैं। पाणिनिके धातुपाठमें 'ह्री' धातुका भी पाठ मिलता है जिसका अर्थ है लज्जा करना। माया और लज्जा दोनोंसे ही ब्रह्म—अर्थात् सृष्टिकी सर्वोपरि, शाश्वत एवं सर्वव्यापक शक्तिकी बड़ी रोचक व्याख्या होती है, सृष्टिका आरम्भ करते समय ब्रह्माको लज्जा होती है और वह अपनेको मायाकी झीनी चादरसे अवगुण्ठित कर लेता है। योगी अथवा तान्त्रिक मायाके इस आवरणको हटाकर ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं। इसप्रकार 'ह्रीं' इस बीजके गर्भमें सृष्टितत्त्वका निरूपण सूत्ररूपसे भलीभाँति सन्निविष्ट हुआ है।

इसी प्रकार 'श्रीम्' का यौगिक अर्थ भी सृष्टितत्त्वके अनुकूल है। जब पदार्थ तैयार हो जाते हैं तब उनका जीवनके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये उपयोग होता है। वस्तुओंके उपयोगको 'सेवन' अथवा 'सेवा' कहते हैं। धातुपाठमें 'श्रि' भी एक धातु है। उसका ठीक यही अर्थ है—सेवा करना। प्राणीमात्र वस्तुओंका सेवन करके संसारमें जीवन धारण करते हैं। यह धारणका कार्य विष्णुका है। इसप्रकार 'श्री' का यौगिक अर्थ विष्णुके कार्यसे खूब मेल खाता है।

तीसरा बीज है 'क्रीम्।' 'क्री' धातुका अर्थ है वस्तु-विनिमय, बीती हुई वस्तुओंके निकम्मे भागका विनिमय-की क्रियाके द्वारा सदा पुनर्नवीकरण होता रहता है। पुनर्नवीकरण अथवा यों कहिये कि संहारका कार्य शिवका है। इसप्रकार 'क्रीम्' इस बीजमें 'क्री' धातुका भाव विद्यमान है।

तन्त्रशास्त्रमें पदार्थोंके सङ्केत

हम ऊपर बतला चुके हैं कि कुछ बीजोंका यौगिक अर्थ भी है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि सारे ही बीजोंका इसप्रकारका अर्थ है। कुछ बीज बिल्कुल मनोनिर्णीत हैं। कहीं-कहीं किसी शब्दका उसके पहले वर्णसे बोध कराया गया है। जैसे सत्त्वके लिये 'स' का, रजस्के लिये 'र' का और 'तमस्के लिये 'त' का प्रयोग केवल मनःकल्पित है। इनके अतिरिक्त और भी अनेकों शब्द हैं जिनके लिये केवल उन शब्दोंके प्रथम वर्णका प्रयोग किया जाता है। इस शैलीका प्रयोग तन्त्रमें ही नहीं अपितु अन्य शास्त्रोंमें भी मिलता है। 'ओम्' एक ऐसा बीज है जो 'अ' 'उ' और 'म्' इन तीन वर्णोंके संयोगसे बना है। माण्डूक्य-उपनिषद्में इन तीनों वर्णों-की विशदरूपसे व्याख्या की गयी है। उक्त उपनिषद्के ऋषिने दो शब्द—'आदि' और 'आप्ति' चुने हैं जो बिल्कुल ठीक हैं। इन दोनों शब्दोंका प्रथम वर्ण 'अ' है। 'ओम्' इस बीजमें अवर्ण 'आदि' और 'आप्ति' के अर्थका बोध कराता है। इसी प्रकार उन्होंने 'उ' से 'उत्कर्ष' और 'उभय' इन दोनोंका ग्रहण किया है। और 'म्' से उन्होंने 'मिति' यह अर्थ लिया है। माण्डूक्योपनिषद्के प्रतिपादनकी हम विस्तारपूर्वक आलोचना नहीं करना चाहते। किन्तु फिर भी हम पाठकोंका ध्यान इस बातकी ओर दिलाना चाहते हैं कि उक्त उपनिषद्के ऋषिने 'अ', 'उ' और 'म्' इन तीन वर्णोंके अन्दर अन्य कई शब्दोंका बोध करानेकी शक्ति होनेपर भी उनसे उपर्युक्त शब्दोंका ही ग्रहण किया है इससे यह बात प्रकट होती है कि सङ्केतका सिद्धान्त इसी आधारपर अवलम्बित है कि शब्द और अर्थका परस्पर नित्य सम्बन्ध है। परात्पर शिवके साथ अभेदकी सिद्धिके मार्गमें योगी जिन-जिन भूमिकाओंमें आरूढ़ होता है शब्दके आरोहमें भी करीब-करीब वैसी ही और उतनी ही श्रेणियाँ हैं। भूमिकाओंकी इस समानताके कारण उपर्युक्त ऋषिने माण्डूक्योपनिषद्में उस पद्धतिका अनुसरण किया है जिसके अनुसार उन्होंने 'ओम्' का विश्लेषण अ+उ+म् इसप्रकार किया है।

'ओम्' के सम्बन्धमें इतना ही वक्तव्य अलम् नहीं है। गोरखसंहिता* के पढ़नेसे विदित होता है कि संसारमें इच्छा, क्रिया और ज्ञान—ये तीन शक्तियाँ हैं। 'ओम्' के अन्तर्गत तीन वर्ण (अ, उ और म्) इन तीन शक्तियों-का लक्ष्य कराते हैं। इन्हीं तीन शक्तियोंका नाम तम, रज और सत्त्व है जिनसे विश्वकी उत्पत्ति होती है और सङ्केतसिद्धान्तके द्वारा सत्त्व, रज और तमके द्योतक बीजोंकी सहेतुकता सिद्ध की जा सकती है। फिर भी हमारा कथन यह है कि महानिर्वाणतन्त्र† इत्यादि ग्रन्थोंमें बहुत-से बीज केवल मनःकल्पित हैं, हेतुगर्भ नहीं। तन्त्रशास्त्रके लिये यह कोई दूषण नहीं है, क्योंकि व्याख्याके संक्षेपके लिये तथा रहस्यके गोपनके लिये यह प्रणाली उपयोगी है। (क्रमशः)

* इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु वैष्णवी।
त्रिधा शक्तिः स्थिता लोके तत्परं ज्योतिरोमिति ॥

† पं पूर्णशैलाय पीठाय नमः, उं उड्डीयानाय पीठाय नमः, जां जालन्धराय पीठाय नमः, कां कामरूपाय पीठाय नमः (महानिर्वाणतन्त्र ६। २२)



भगवदर्चा

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड एम० ए०)

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ (गीता ९।२६)

अर्जुनके यह पूछनेपर कि सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारकी उपासनाओंमें कौन-सी श्रेयस्कर है, भगवान्‌ने श्रीमुखसे सगुण उपासनाको ही श्रेष्ठ बताया है। उपासना-विधिके सम्बन्धमें यह आदेश है कि 'जो मेरे परायण हुए भक्तजन सभी कर्मोंको मेरेमें अर्पणकर मुझ सगुणरूप परमात्माको अनन्य योगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं—जो इस तरह मुझमें चित्त लगाये हुए हैं—उनको मृत्यु-संसार-सागरसे शीघ्र ही निकालनेवाला हो जाता हूँ। तू मेरेमें ही मन और बुद्धिको लगा दे तो तू मुझे ही प्राप्त करेगा और मुझमें ही रहेगा। मनको न लगा सके तो अभ्यास कर, अभ्यास न बने तो केवल मेरे लिये कर्म कर, यह भी न बने तो सभी कर्मोंके फलोंका त्याग कर। अभ्याससे ज्ञान बढ़कर है, ज्ञानसे ध्यान अच्छा है और ध्यानसे कर्मफलोंका त्याग अच्छा है।' बारहवें अध्यायके आठवेंसे लेकर बारहवें श्लोकतकका यही भाव है। क्रमपर विचार करनेसे ऐसा ज्ञान पड़ता है कि भगवान्‌के लिये कर्म करनेमें ज्ञान और ध्यान दोनोंका समावेश है। भगवान्‌के लिये सभी कर्म करनेकी इच्छा जिसे होगी वह कर्म और अकर्म तथा विकर्मपर पूरा विचार करेगा। कर्म और अकर्मका विवेचन हँसी-ठट्ठा नहीं है, 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः'। इसीलिये शास्त्रज्ञान इसके लिये परमावश्यक है। हम जब भगवदर्पणके लिये कर्म करते हैं तो हमें कार्य-कर्म और पवित्र कर्म करने चाहिये। हमारे हाथों खोटा कर्म हो तो वह भगवदर्पण कैसे हो सकता है? इसलिये शास्त्रोंसे, विद्वानोंसे, आचार्यसे पूछना पड़ेगा और कर्माकर्मविवेककी ग्रन्थियोंको जिस-तिस तरहसे सुलझवाना पड़ेगा। सदसद्-विवेचना तत्त्वज्ञान बिना होगी नहीं और वह भी मिलेगी 'प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।'

ज्ञान या कर्माकर्मविवेक हो जानेपर भी भगवदर्पण योग्य कर्म करते रहना सहज नहीं है। अब अभ्यासकी बारी फिर आती है। पहले तो अभ्यास मन और बुद्धिको भगवच्चरणोंमें लगानेमात्रका था, कर्मोंकी ओरसे मन और बुद्धिको हटा लेना था और यह भावना रखनी थी—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्।

इसी धारणाके साथ कि इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें रहती हैं, रहें, मुझसे क्या सरोकार। 'दिलबयार दस्तबकार' मन जब अपने प्यारेमें लीन है फिर शरीर चाहे जो करे, जैसे रहे। परन्तु यह अभ्यास नहीं होता। मन बड़ा प्रमाथी है, बलवान् है, दृढ़ है, चञ्चल है। जब दिन-रात, सवेरे-संझा, हर घड़ी, हर क्षण कर्म होता ही रहता है, कभी यह मशीन रुकती ही नहीं—

न तु कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

—तो मन कभी-न-कभी खिंचकर आ ही जायगा और भगवान्‌के चरणारविन्दसे दूर होकर संसारके अपावन पङ्कमें पतित हो ही जायगा। जब अभ्यासकी ऐसी असमर्थता है और निरन्तर कर्मकी मशीनके चलते रहनेकी ऐसी विवशता है, तो अच्छा रे मन! लग तू कर्ममें परन्तु अब बेसरोकारीकी बात न रहेगी। भगवान्‌के लिये कर्म करना है अतः खोटे कर्म नहीं करने होंगे। अच्छे कर्म करके उन्हें अर्पण करने होंगे। जब कर्मकी चक्की निरन्तर चलेगी तो भगवान्‌के लिये चले, सत्यके लिये चले, कल्याणके लिये चले, इसकी चाल खोटी न होने पावे। यह तो हुआ 'ज्ञान' साथ ही यह निरन्तर 'ध्यान' रखना पड़ेगा कि कोई कर्म हम भगवदर्पण किये बिना न रहें। अब हर क्षण कर्म होता रहता है तो हर क्षण यह बुद्धि बनी रहे कि यह भगवान्‌के लिये है। 'इदं भगवते इदं न मम'

पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
(गीता ५।८-९)

भगवदर्थ कर्म करते रहनेमें यह ज्ञान और ध्यान दोनों अनिवार्य हैं। यह कितना कठिन है, आचरणपर

कितना भारी अङ्कुश है, मनपर कैसा कठोर निग्रह है ! साथ ही कैसी मृदुता है कि प्रत्येक क्षण अपने स्वामी, अपने प्राणप्यारे, अपने सर्वस्वका ध्यान बना रहे, उन्हींपर मन-वचन-कर्म निरन्तर निछावर होता रहे, आचरणकी कैसी पवित्रता है कि कलुषकी छाँह नहीं छू जाती, मनपर कैसी दया है कि त्रितापमय घोर कण्टकाकीर्ण मार्गसे उसे हटाकर शान्त, शीतल, सुकोमल मञ्जु राजमार्गपर लगा देते हैं। उस कठिनताको देखिये और इस मृदुताको, दोनोंमें कितना भारी अन्तर है और फिर भी साथ-ही-साथ कैसी सुन्दर सुसङ्गति !

जब सभी कर्म भगवदर्पण होने चाहिये तो भक्तको उचित है कि अपने पार्थिव जीवनके समस्त कर्मोंका पूरा विश्लेषण कर डाले और तब यह देखे कि हम कितने कर्म किस-किस तरहके करते हैं और किसलिये करते हैं। क्या सभी कर्म हम भगवान्‌के लिये कर सकते हैं ? कितने काम हम परार्थ करते हैं, कितने स्वार्थ ? कितने काम स्वार्थ और परार्थ दोनों ही हैं ? फिर इनमेंसे कितने काम हम ऐसे करते हैं जिनसे जीवनकी रक्षा होती है, जिन्हें हम कभी छोड़ नहीं सकते। कितने ही इस तरहके हैं कि जीवनरक्षार्थ अनिवार्य तो नहीं हैं परन्तु उनका त्याग भी नहीं हो सकता। कितने ही ऐसे हैं जिनका त्याग हो सकता है, केवल मोहवश हम इनमें लिप्त हैं। यह तो स्वार्थ और परार्थ-विभाग हुए। फिर इन्द्रियोंके विचारसे भी हम कर्मोंका विभाग कर सकते हैं। इनमें भी अनेक कर्म जीवनके लिये अपरिहार्य हैं। अनेक ऐसे हैं जो वासना-तृप्तिमात्रके लिये हम करते हैं। असंख्य कर्म ऐसे हैं कि जो कर्त्तव्योंकी दृष्टिसे अनिवार्य हैं। अब हमें यह विचारना चाहिये कि जब सभी कर्म हमें भगवदर्थ करने हैं तो प्रत्येक प्रकारके कर्मको भगवदर्थ करनेका प्रयत्न हम कैसे करें, इसे विस्तारसे समझना होगा।

स्वार्थ-कर्म भगवदर्थ कैसे करें ?

वह सभी स्वार्थ-कर्म हैं जो अपने इन्द्रियों और मनकी तृप्तिके लिये अथवा अपनी संसारयात्राके लिये हम करते हैं। संसारयात्राके लिये पहले तो योगक्षेम आवश्यक है। धनको प्राप्त करना और उसकी रक्षा वा उपयोग। योगक्षेम हमें भगवदर्थ ही करना उचित है। हम मजूरी करें वा व्यवसाय करें और उसके द्वारा धन प्राप्त करें तो इसीलिये कि हम उसे अपने प्रभुकी सेवामें अर्पण करें, उन्हें ही हम सब-का-सब दे डालें, क्यों ? क्योंकि वह स्वामी हैं हम दास हैं, वा वह प्यारे सखा हैं और हम उनके सखित्वको ही अपना जीवन मानते हैं, उन्हींके सखित्वमें ही हम सब कुछ स्वभावसे ही अर्पण करते हैं, वा वह हमारे प्रियतम हैं, जीवन-सर्वस्व हैं, हमारा अपना सब कुछ उनपर ही निछावर है, फिर हम उन्हींके लिये तो योगक्षेम करते हैं, वा वह हमारे माता-पिता हैं, हमारी कमाईके वे ही मालिक हैं, वा वह हमारे पुत्र हैं, वारिस हैं, सब कुछ उन्हींका है अथवा वह भगवान् हैं सर्वेश्वर हैं, 'सो प्रभु मोर चराचर स्वामी' उनका ही सब कुछ है, उनका ही मैं हूँ और उनकी ही सम्पत्ति है, *'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'*

मम नाथ ! यदस्ति योऽस्म्यहं
सकलं तद्धि तवैव माधव !
नियतः स्वमिति प्रबुद्धधी-
रथवा किन्नु समर्पयामि ते ॥

यह तो हुई अर्पणकी बात। परन्तु हम कमाई जब करेंगे तभी तो वह अर्पण होगी। इसलिये भगवदर्थ हमें मेहनत, मजूरी, व्यवसाय कुछ तो करना चाहिये। अच्छा, तो हम जब भगवान्‌के लिये ही धन जोड़नेको उठे हैं तो भगवान्‌के नामपर तो हमको बिना परिश्रम किये भिक्षासे ही बहुत कुछ मिल जायगा। हरे ! हरे ! यह कामचोर मन सेवासे भागकर भगवान्‌के नामपर पेट भरना चाहता है !

'ऐसे सेवाचोरको लाख-लाख धिक्कार !'

अरे ! भगवान्‌के नामपर जिसने दिया, उसने सेवा की, उसने भगवदर्थ धन जोड़ा तूने क्या किया ? क्षेम ! (ओ, क्षेम !) 'ऐसेहू साहेबकी सेवासों होत चोर रे ?' तू तो बिना भजन किये प्रसादका अधिकारी बना चाहता है ! जबतक बन पड़े, भगवदर्थ धन-संग्रहके लिये परिश्रम कर। भगवदर्थ परिश्रम बिना एक कौड़ी किसीसे न ले। नीयत खोटी न कर। तेरे भगवदर्थ परिश्रमपर कोई धनका त्याग करता है उसे ही भगवदर्थ ग्रहण कर।

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
(शु० यजु० ४०। १)

भिक्षाका अधिकार अत्यन्त असमर्थको है। समर्थको नहीं।

इसीलिये हम जो कुछ मेहनत, मजूरी धनसंग्रहार्थ करते हैं यह भगवदर्थ करते हैं। प्रोफेसर लेक्चर देता है भगवदर्थ। व्यवसायी रोजगार करता है भगवदर्थ। लेखक लिखता है भगवदर्थ। सेवक सेवा करता है भगवदर्थ। निदान जिस किसी विधिसे जीविका चलती है वह सब भगवदर्थ है।

कमाई करके उसका सञ्चय और सदुपयोग भी भगवदर्थ ही होना चाहिये। सञ्चयमें तो कोई बात नहीं। धनका सञ्चय और उसकी रक्षा तो अपना कर्त्तव्य है। स्वामीके धनकी रक्षाके लिये पहरुवे तो हमीं हैं। साथ ही उसका सदुपयोग भी हमारा ही कर्त्तव्य है। स्वामीकी सेवामें ही सारा धन लगना चाहिये। स्वामीकी सेवासे जो बचे, प्रसादरूपसे सेवकको ग्रहण करनेमें कोई बाधा नहीं है, वरं अन्य सेवकोंको प्रसाद बाँटना कर्त्तव्य है। हम जो उपभोग करें, जो लें, जो खायँ, जो पहनें सब कुछ प्रभुका, प्रियतमका, सखाका, परम पिताका, परमात्माका प्रसाद ही हो। अन्य कुछ नहीं।

जब योग और क्षेम दोनों ही भगवदर्थ हैं, तो कर्मकी मर्यादा सहज ही बँध जाती है। भगवदर्थ खोटा कर्म हम नहीं कर सकते। जगत्‌की दृष्टिमें, कानूनकी दृष्टिमें वह कर्म भले ही खोटा क्यों न हो, परन्तु हम नेकनीयतीसे, शुद्ध हृदयसे और सत्कर्म समझकर भगवदर्थ करते हैं तो वह कार्य-कर्म है, फिर चाहे वह धन संग्रहका हो और चाहे उसके उपयोगका, क्योंकि हमें केवल भगवद्‌का ही ध्यान है, अन्यका हमारे मन-वचन-कर्ममें स्थान ही कहाँ है ?

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

सम्प्रदान सम्बन्धका द्योतक है। हम जिसे देते हैं उससे अवश्य कोई-न-कोई सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। भगवदर्पण करनेके लिये पूर्वनिर्दिष्ट कोई-न-कोई सम्बन्ध स्थापित करनेमें ही सुभीता है। यह सुभीता उत्तरोत्तर विस्तारमें बढ़ता जाता है। योगक्षेमका रूप तो तब खड़ा होता है जब मनुष्य कमाने लायक होता है। परन्तु कर्मकी चक्की तो गर्भाधानसे शरीरान्तपर्यन्त चलती रहती है, फिर चाहे कर्म स्त्री करे चाहे पुरुष। सभी सभी अवस्थामें योगक्षेमके पचड़ेमें नहीं पड़ते। परन्तु कर्मसे तो एक क्षण भी कोई बचा नहीं। अतः निरन्तर होते रहनेवाले कर्मोंको तो भगवदर्थ करना भक्तके लिये जरूरी है। अतः वह अपनी दिनचर्याका आरम्भ भगवदर्थ-कर्मसे करेगा। वह अपने शरीर-सम्बन्धी शौचाचार इसीलिये करेगा कि शुद्ध होकर भगवत्-कैंकर्यके योग्य हो। वह अपने स्वास्थ्यकी रक्षाके सारे उपाय ईमानदारीके साथ इसीलिये करेगा कि प्रभुकी ओरसे यह शरीर उसे इसीलिये मिला है कि वह कैंकर्य यथोचिततरीक्या कर सके। इस थातीको सँभालकर रखना उसका परम धर्म है। इसीलिये वह हित-मित समुचित आहार-विहार करेगा। विश्राम भी उचित मात्रामें करेगा। व्यवसाय भी वह भगवदर्थ ऐसा करेगा कि कैंकर्यमें बाधक न हो। वह अपना नित्य-कर्म भी भगवदर्थ ही करेगा। यहाँतक कि वह शयन भी इसीलिये करेगा कि कैंकर्यके लिये शरीर समुद्यत रहे। सोनेके बाद वह स्वप्न भी भगवत्‌के लिये ही कर्म करनेका देखेगा। इसप्रकार सोते-जागते वह जितने कर्म करेगा सबमें यही पुनीत भावना रहेगी कि यह कर्म भगवदर्थ कर रहा हूँ। यह सब तो वह भगवत्-कैंकर्यके लिये करेगा, परन्तु कैंकर्य क्या होगा, उसका रूप क्या होगा ? 'भजन' कहते हैं सेवाको, तो वह प्रभुकी सेवा कौन-सी होगी जो वह करेगा ?

सेवा केवल मनसे, या मन और वचन दोनोंसे, या मन-वचन-कर्म तीनोंसे की जा सकती है। मन यदि सेवामें दृढ़ रहे तो वचन और कर्म कुछ भी हो और कैसा ही हो सेवामें व्याघात नहीं पड़ सकता। गीताका उपदेश भी यही है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

अपने कर्त्तव्यका यथोचित पालन ही स्वयं अर्चा है। अलग पूजा-अर्चाकी आवश्यकता नहीं। परन्तु यह जबरदस्त शर्त उसके साथ-साथ लगी हुई है कि श्वास भी ले तो मनसे भगवदर्थ, जितने कर्म करे शुद्ध सच्चे मनसे भगवदर्थ, इसप्रकार निरन्तर तन मन भगवान्‌के लिये कर्म करनेमें रत है तो यह स्वयं भगवत्-कैंकर्य है। अलगसे प्रभु कोई कैंकर्य चाहते भी नहीं।

बलि पूजा चाहत नहीं, चाहत एकहि प्रीति।
सुमिरत ही मानइ भलो, पावन है अति रीति॥

यदि अपने सभी कर्म सच्चे मनसे प्रभु-प्रीत्यर्थ ही करे, जो कठिन शर्त है। चञ्चल मन कहाँ ऐसी दृढ़तासे भगवदर्थ कर्ममें सदा रत रह सकता है?

वचन और मन दोनोंका योग निरन्तर रहना और भी कठिन है, परन्तु यदि दोनों अभ्यासमें निरन्तर न लगे रह सकें तो एक तो लगा रहे। केवल मनका अभ्यास उसकी सहज चञ्चलताके कारण दृढ़ नहीं हो सकता। परन्तु मन भाग जाय तब भी वचन भगवदर्थ लगा रहे, यह लाभकी ही बात है। वचनसे हम यह संकल्प करते जायँ कि हम जो करते हैं रामके लिये अथवा लाघवार्थ केवल नाम-जप ही करता रहे, मन न लगे तब भी वचनसे नाम रटता ही रहे, तब भी भगवदर्थ-कर्म करनेका भाव आरम्भमें रहनेसे वचनका संकल्प भी सार्थक होता है।

कर्म, वचन और मन तीनोंका योग निरन्तर बना रहना बहुत ही कठिन है। यदि तीनोंसे भगवदर्थ ही कर्म हों तो क्या कहने हैं। यह वह अलभ्य अवस्था है जिसके लिये महामुनि तरसते हैं। परन्तु तीनोंके एकीकरण-के सतत प्रयत्नमें मन भाग भी खड़ा हो तो वचन और कर्मकी एकता क्या थोड़ी है? पूर्वसंकलिपत मनोभावके अनुकूल वचन और कर्म रहें तो भी गनीमत है। यदि ठीक कार्य-कर्मकी ऐसी बान पड़ जाय कि भगवदर्थ ही हो, उसमें ममता वा स्वार्थ-बुद्धि छू भी न जाय तो वह कर्म भी भगवदर्चा है। यह सात्त्विक देवार्चा है, इसमें सन्देह नहीं है। परन्तु ऐसा अभ्यास भी सुगम नहीं है।

भगवदर्थ कर्म करनेकी सुगमता-सम्पादनके लिये प्रभुसे अपना अधिक घनिष्ट सम्बन्ध करके उनके लिये कर्म करना और भक्तिके पाँचों रसोंका अनुसरण ही सबसे अच्छा उपाय है। परन्तु अव्यक्त उपासनाकी अपेक्षा सगुण ब्रह्मकी इस तरहकी व्यक्त उपासना 'सुसुखं कर्तु-मव्ययम्' होते हुए भी अवतारोंका मानसिक रूप फिर भी कठिन है। मानसिक पूजा भी मनके बड़े अभ्यासका काम है। वचन और कर्मकी सहायता चञ्चल, प्रमाथी, बलवान् मनको जब नहीं मिलती होती तब वह मानसिक पूजा-जैसे कठिन कामपर कितना टिकता है? इसीलिये भक्ति या उपासनाका सुगम मार्ग भगवद्-विग्रहकी अर्चा है। भक्तिके रहस्यको न समझनेवाला भले ही प्रतिमा-पूजन कहकर हँस ले। उसके लिये प्रतिमा-पूजन निरर्थक है। वह इसका अधिकारी भी नहीं है। परन्तु प्रभुके अर्थ कर्म करनेवालेके लिये तो विग्रह-पूजाद्वारा उपासना सबसे सरल विधि है।

जिस मूर्त्ति या भावकी उपासना हो वैसा ही सुन्दर प्रतिमाका निर्माण कराके वैदिक विधिसे प्राण-प्रतिष्ठा करा ले अथवा यदि प्रतिष्ठित विग्रह किसी प्रकार सुलभ हों तो उनकी उपासनाद्वारा (पास बैठाने) वा सान्निध्य-प्राप्ति-के द्वारा भजन (सेवा) करे। अमूर्त्तकी सेवाका प्रकार और है और मन टिकता भी नहीं। मूर्त्तकी मानसिक पूजामें भी वैसी ही कठिनाई है। परन्तु प्रभुको पास बैठाकर षोडशोपचार पूजा प्रत्यक्ष रीतिसे करना कैसा आनन्ददायक है, यह वही जानते हैं जिनको अनुभव है। प्रभुके प्रसादपर भूषणको धारण करना, प्रभुके प्रसाद *चन्दनादिका लेपन, प्रभुके प्रसाद सुन्दर सुगन्धमय फूलों*-से आमोदित होना, प्रभुके प्रसादका ही भोजनपान, प्रभुके चरित वा विनयके गान सुनना, प्रभुके कामविनिन्दित सुन्दर रूपोंका दर्शन, निदान ज्ञान और कर्मकी समस्त इन्द्रियोंका व्यापार अपने उपास्यदेवके ही आश्रित हो करना, प्रभुके सान्निध्य प्रभुकी उपासनाके सुगम उपाय हैं। नित्यकी कई बारकी मूर्त्ति-पूजाके अभ्याससे उपासना-में मन लगना सुगम हो जाता है। ऐसी मनोहर चिन्ता मनमें हो जाती है कि प्रभुके लिये अमुक वस्तु चाहिये, शृङ्गारके लिये अमुक सामग्री प्रस्तुत करनी है, उनके वस्त्र-के लिये ओटना, धुनना, पूनियाँ बनानी, सूत कातना है, अमुक कपड़े सीकर तैयार करना है, फूल चुनकर लाना है, मन्दिरको सजाना है, उत्सवका प्रबन्ध करना है, इत्यादि-इत्यादि इतने काम हैं कि भक्त इस उपासनामें ही अहर्निश फँसा रह सकता है। फिर तो भगवदर्थ कर्मके सिवा उसे कुछ रह ही नहीं जाता। सुग्रीवने कैसी अच्छी प्रार्थना की है—

त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्ति-
स्त्वन्नामसङ्गीतकथासु वाणी।
त्वद्भक्तसेवानिरतौ करौ मे
त्वदङ्गसङ्गं लभतां मदङ्गम्॥
त्वन्मूर्तिभक्तान् स्वगुरुं च चक्षुः
पश्यत्वजस्रं स शृणोतु कर्णः।
त्वज्जन्मकर्माणि च पादयुग्मं
व्रजत्वजस्रं तव मन्दिराणि॥
अङ्गानि ते पादरजोविमिश्र-
तीर्थानि बिभ्रत्वहिशत्रुकेतो।

शिरस्त्वदीयं भवपद्मजाद्यै-
र्जुष्टं पदं राम ! नमत्वजस्रम् ॥
(अ० रा० ४ । १ । ९१–९२)

सुग्रीवके स्वरमें स्वर मिलाकर अजस्र उपासनाका सौभाग्य उसी तरह कौन न चाहेगा जैसे निर्गुण वा अव्यक्तका उपासक अजस्र और सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म देखना चाहता है और संसारको खो देनेका अभिलाषी रहता है । परन्तु यह आदर्श बड़े भाग्यसे क्वचित् ही किसीको अनुभवगम्य होता है । निरन्तर उपासनामें लगे रहनेके लिये अपनेको अहर्निशका पुजारी बना देना और प्रभुको विग्रहोंके रूपमें—माता, पिता, भाई, बन्धु, सखा, पुत्र, कलत्र, पति, स्वामी आदिके रूपमें देखते रहना, निदान धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए—

निज प्रभुमय देखहि जगत का सन करहि विरोध ।

अनन्य भक्तिके लक्षणोंका प्रादुर्भाव भी ऐसे ही उपासकमें हो सकता है । अनन्यकी परिभाषा रामचरितमानसमें इसप्रकार हुई है—

सो अनन्य असि जाहिकै मति न टरइ हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ॥

जब चराचरमें अपने स्वामीको छोड़ किसीको नहीं देखता तो इस विश्वकी सारी मूर्त्तियाँ भगवद्-विग्रह बन जाती हैं और सारा विश्व हरिमन्दिर बन जाता है । उपासना अत्यन्त सरल हो जाती है क्योंकि भागवतको भगवद्-सान्निध्य सतत सुलभ हो जाता है । तब तो—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(गीता ९ । २७)

उसके लिये सहज-स्वाभाविक हो जाता है । फिर शुभाशुभ फलरूप कर्म-बन्धनसे वह सहज ही मुक्त हो जाता है और वह भगवत्को प्राप्त हो जाता है । भगवदर्थ कर्म करनेवाला इसप्रकार जीतेजी भगवद्-प्राप्तिका आनन्द भोगता है ।

ऐसे ही अनन्यके लिये कहा है कि—

'साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥'
'कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥'
(गीता ९ । ३०-३१)

अनन्य भक्त धन्य है जिसके लिये प्रभुकी ऐसी प्रतिज्ञा है ।

कृपालु लेखक और प्रेमी पाठकोंसे निवेदन

यह जानकर कल्याण-प्रेमियोंको प्रसन्नता होगी कि शिवाङ्कके लिये बहुत बड़े-बड़े सन्त, महात्मा और विद्वान् लेख लिख रहे हैं, बहुत-से लेख आ गये हैं । चित्र भी एक-से-एक बढ़कर बन रहे हैं । इस बार शिवाङ्क बहुत ही सुन्दर और उपादेय होगा । नीचे लिखे विषयोंपर विद्वान् महानुभाव लेख भेज सकते हैं । लेख बहुत शीघ्र आने चाहिये । छपाई जल्दी ही आरम्भ होगी ।

१—एक ही रुद्रके अनेक रूप हैं, रुद्र अनेक नहीं हैं ।
२—सावरमन्त्र
३—शिव और तन्त्र
४—शिव और योगशास्त्र
५—शिव और स्वरोदयविद्या
६—शिव और रश्मिविज्ञान
७—शिवके नामोंका वैज्ञानिक और यौगिक अर्थ
८—वेदोंमें शिव-तत्त्व
९—त्रिपुण्ड् और ऊर्ध्व-पुण्ड्रके विषयोंमें विदेशियोंका अज्ञान ।
१०—वासुकि और शिवका सम्बन्ध
११—काशीधाम
१२—शिवके विविध अवतार
१३—शिव और न्यायदर्शन
१४—शैवोंके विभिन्न सम्प्रदाय
१५—शिव-भक्तिसे लाभकी सच्ची घटनाएँ ।
१६—महारुद्रयाग

मन्दिरोंके तथा हस्तलिखित सुन्दर चित्र भी कृपापूर्वक भेज सकते हैं । दक्षिणके कुम्भकोणम्, चिदम्बरम् आदि शिव-मन्दिरोंके चित्रोंकी विवरणसहित आवश्यकता है ।

सुख-दुःख-विवेचन

(लेखक—श्रीयुत ज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।'

कीट-पतङ्गादिसे लेकर देवतातक जगत्के समस्त जीव सुख-दुःखके उलझनोंमें फँसे हुए हैं। जिधर देखिये उधर ही सभी इसी चक्रमें भ्रमित हैं कि हमें सुख मिलें, हम सुखी होवें, हमें दुःख न मिलें, दुःखोंसे हमारा बिल्कुल छुटकारा हो जाय। परन्तु फल यह हो रहा है कि सुख तो मिलता नहीं है, उलटे लोग दुःख-ही-दुःखके समुद्रमें गोते खा रहे हैं। यह बड़ा ही आश्चर्यमय खेल है कि जिसे हम सुख समझते हैं और सुखरूप जानकर अपनाते हैं वही फिर दुःखकी मूर्ति दिखलायी देने लगता है। हा! मन्दभाग्य जीव! इस मृगतृष्णामें पड़कर बहुत समय बिताया, पर तुझे सच्चे सुखकी बूँद भी न मिली। पूज्यपाद गोस्वामीजी-ने सच कहा है—

ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ-से प्रभु तजि सेवत चरन बिराने॥
सुख-हित कोटि उपाय निरन्तर करत न पायँ पिराने।
सदा मलीन पन्थके मरु ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने॥
यह दीनता दूरि करिबेको अमित जतन उर आने।
तुलसी चित-चिन्ता न मिटै बिनु चिन्तामनि पहिचाने॥

सांसारिक जीवन सुख और दुःख इन दो वस्तुओंके अन्दर ही सीमाबद्ध हो रहा है। हमारे सम्पूर्ण उद्योग, परिश्रम या क्रियाका परिणाम स्वेच्छासे या अनिच्छासे जो कुछ भी होता है उसको हमलोग कभी सुख कहते हैं और कभी दुःख कहते हैं। यही हमलोगोंकी आदत पड़ गयी है, इसपर हम कभी गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते।

'सर खनत ही जनम गयो, कबहुँ न तृपत भयो।'

'तालाब खोदते-खोदते उमर बीत गयी, पर जल पीकर कभी तृप्त नहीं हुए।' यही दशा हमारी हो गयी है।

जो मनुष्य इन दोनों (सुख-दुःख) के फन्देसे छुटकारा पा जाता है वही कल्याण-पदका या अनन्त शाश्वत सुखका अधिकारी होता है। सुख यद्यपि वाञ्छनीय है तथापि ऊपर जिस सुखके त्यागकी बात कही गयी है वह सुख कुछ और वस्तु है और वाञ्छनीय सुख कुछ और ही है। इसीका विवेचन यहाँ संक्षेपमें करना है।

संसारासक्त लोगोंका सुख क्या है? कोई आपात-रमणीयताको, कोई आपात आह्लादको, कोई प्राकृतिक विषय-जन्य परिणामको, कोई प्राकृतिक विषयोंमें अभ्यासजनित परिणामको सुख मानते हैं। जैसे (१) सुन्दर स्त्रीके सौन्दर्य-रूप रमणीयताको सुख मानना। यह आपात इसलिये कहा जाता है कि शारीरिक रूप-लावण्य कुछ कालके बाद उस दूसरे रूपमें परिणत होनेवाला है जिसे लोग सुन्दर न कहकर कदर्य कहते हैं और उससे घृणा करते हैं। (२) भोजनकालमें भोजन प्रिय लगना अथवा खेल, तमाशे आदिका सुख यह उतने ही कालतक प्रतीत होता है जबतक कि उसका संग रहता है, पीछे वह सुख नहीं रहता—ऐसे सुखको आपात आह्लाद कहते हैं। (३) मेहनत करके धनोपार्जन, व्यायाम करके बलोपार्जन आदिमें जो सुख होता है, वह प्रकृतिविषयजन्य परिणाम-का सुख कहलाता है। (४) मादक वस्तु आदिके सेवनमें सुख मानना; जिसमें सांसारिक सुखके न होते हुए भी केवल अभ्यासमात्रसे सुखकी प्रतीति होती है, वह प्राकृतिक विषय-अभ्यासजनित सुख कहलाता है। इस-प्रकार सांसारिक सुखोंके कुछ भेदोंका वर्णन किया गया, परन्तु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' (२ । १५)

जिसका परिणाम दुःख है, जो ताप देनेवाला है और जहाँ गुण-वृत्तियोंका विरोध रहता है वह सब ही विवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें दुःखरूप ही है।

महर्षिके इस कथनको और भी स्पष्ट समझिये। उदाहरणके लिये एक वस्तुका भेद दिखलाया जाता है। धन आजकल संसारमें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, अतएव इस धनमें ही उपर्युक्त सूत्रके अर्थको समझनेकी चेष्टा कीजिये।

धनका परिणाम—प्रायः धनका परिणाम कलह, कष्ट, मामला, मुकदमा, वैर, द्वेष, चोर-डाकुओंका भय, प्राणनाश और अनेक प्रकारके प्रमादोंका उत्पादन है। अन्तमें धनका वियोग भी होता है। भर्तृहरिजी कहते हैं—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यात् अतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

बहुत कालसे सेवन किये हुए विषयादि अवश्य जानेवाले हैं, उनके वियोग होनेमें कुछ भी सन्देह नहीं है, पर फिर भी मनुष्य स्वयं उनका त्याग नहीं करते। जब विषयादि मनुष्यको स्वयं त्याग कर चले जाते हैं तो उसे बहुत दुःख होता है। जो मनुष्य इस विषयमें सदा सावधान रहता है कि एक दिन विषय-भोग हमें अवश्य त्याग देंगे (इसलिये इनका सङ्ग नहीं करना चाहिये) वह अनन्त सुख और शान्तिको प्राप्त होता है। गोस्वामीजी भी जीवको चेतावनी देते हुए कहते हैं—

मन पछितैहै अवसर बीते।
अन्तहु तोहि तजैंगे पामर क्यों न तजे अबहींते॥

अब धनके तापको समझिये। जिसके पास धन रहता है, वह उसको सुरक्षित रखनेके लिये सदैव चिन्तित रहता है। धन कम न हो जाय, चोर-डाकू उसे न ले जायँ, हानि न हो, कहीं धन किसीमें डूब न जाय—इत्यादि सन्ताप धनवालेको सदैव अन्तःकरणमें जलाया करते हैं।

धनके संस्कार भी दुःखदायी होते हैं। धनी पुरुष जब निर्धन हो जाता है तब वह अपनी पहली धनकी अवस्थाका स्मरण करके अति दुखी होता है। अब गुण-वृत्ति-विरोधको देखिये। धनके द्वारा अन्तःकरणमें विभिन्न प्रकारके सुख-भोगकी वृत्तियाँ पैदा होती हैं। कभी सात्त्विक सुखके लिये धन-व्ययकी इच्छा होती है, कभी राजस-सुखके लिये और कभी तामस-सुखके लिये। इससे बहुधा अन्तःकरणमें इन वृत्तियोंमें युद्ध भी हुआ करता है। वृत्तियाँ अपनी-अपनी ओर मन, बुद्धिको खींचने लगती हैं। क्या करें और क्या न करें, इस बातके निर्णय करनेमें बड़ी कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। इसीको गुण-वृत्ति-विरोध कहते हैं।

इसप्रकार महर्षि पतञ्जलिके सूत्रको समस्त सांसारिक वस्तुओंपर घटाकर यदि हम देखें तो सबका स्वरूप दुःखरूप ही प्रतीत होगा। सुख-दुःखका एक और विवेचन पाठकोंके सामने रक्खा जाता है। वस्तुतः समस्त प्राकृतिक वस्तुएं न सुखरूप हैं और न दुःखरूप। वस्तुओंमें सुख-दुःखकी भावना अपने-अपने कल्पित भावोंसे सम्बन्ध रखती है। उदाहरणार्थ अग्निको लीजिये। शीतकालमें अग्नि सुखद मालूम होती है, परन्तु अत्यधिक मात्रामें वह शीतकालमें भी सुखद नहीं होती। ग्रीष्म-ऋतुमें तो वह कष्टदायक ही हो जाती है। इसी प्रकार मलिन-से-मलिन वस्तु भी एकके लिये दुःखरूप है तो दूसरेके लिये वही सुखरूप देखी जाती है। एक ही रूप एक कालमें दुःखरूप, दूसरे कालमें सुखरूप, कम मात्रामें सुखरूप तो अधिक मात्रामें दुःखरूप, अथवा कम मात्रामें दुःखरूप तो अधिक मात्रामें सुखरूप, एक जीवको दुःखरूप तो दूसरेको सुखरूप होता है। जगत्में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सबको सब कालमें, सब रूपमें, सब अवस्थामें सुखरूप ही हो अथवा सब काल, सब रूप, सब अवस्थामें सबको दुःखरूप हो। यह भी कहना ठीक नहीं कि एक ही वस्तु दुःखरूप है और सुखरूप भी है। अतएव यह कहना पड़ता है कि प्राकृतिक कोई भी वस्तु या क्रिया न सुखरूप है और न दुःखरूप। वस्तुएँ केवल काल्पनिक भावनासे सुखरूप या दुःखरूप भासती हैं। गम्भीरतापूर्वक विचार करनेसे समस्त जागतिक पदार्थोंकी यही दशा प्रतीत होगी। जो इस सुख-दुःखके तत्त्वको समझकर अनुभवमें लाता है वह कभी सुख-दुःखोंके उलझनोंमें नहीं पड़ता। न कभी सुखी या दुःखी ही होता है। उसका सच्चा आनन्दमय जीवन हो जाता है। जैसा गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

'जो पुरुष प्रियको प्राप्तकर हर्षित नहीं होता और अप्रियको प्राप्तकर उद्विग्न नहीं होता, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके एकीभावमें सदा स्थित है।'

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

'जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है, तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है।'

वास्तविक सच्चे सुखका विवेचन फिर कभी अवसर मिलनेपर किया जा सकता है। इस समय केवल इतना ही निर्देश करना पर्याप्त होगा कि जो सच्चा सुख है वह सबको, सब कालमें, सब अवस्थामें सुखरूप होता है, उसमें अल्पता या अधिकता नहीं होती, वह सदा परिपूर्ण है, नित्य है। उस सुखके रहते न तो किसी भी प्रकारका दुःख आ सकता है और न किसी अभावकी ही अनुभूति होती है।

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री भट्ट कविरत्न)

[गतांकसे आगे]



सके आगे १७ वाँ श्लोक विभीषणके वक्तव्यमें सबसे प्रधान है। यों कहना चाहिये कि उनकी प्रार्थनाके शरीरका मेरु-दण्ड (रीढ़की हड्डी) है। वही तो उनका 'बयान-दावा' है। उसीमें तो वह अपना सब कुछ प्रार्थनीय कहते हैं। और दूसरे—इतनी दूर यहाँ आकर '*स्वस्थ एव व्यतिष्ठत*' आकाशमें ही क्यों खड़े हो ? क्या प्रयोजन है ? वह प्रयोजन भी कैम्प-के दरवाजेपर खड़े फौजी अफसरके द्वारा कोसलनरेन्द्र श्रीरामके पास यही तो पहुँचाया गया है कि—'मैं शरण आया हूँ, श्रीरामचन्द्रजीके पास मेरी खबर पहुँचा दीजिये।' अतएव, जगच्छरण्य श्रीरामचन्द्र-से मिलनेके लिये अपरिचित विभीषण अपना जवानी 'विज़िटिङ्ग-कार्ड' (नामाङ्कित लघु पत्र) भेजते हुए सुग्रीवादिसे प्रार्थना करते हैं कि—

निवेदयत मां क्षिप्रं राघवाय महात्मने।
सर्वलोकशरण्याय विभीषणमुपस्थितम्॥

यही पद्य 'शरणागति' को आरम्भ करता है, इसलिये पहले इसका वाच्यार्थ (सामान्य शब्दार्थ) खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। इसके अनन्तर ध्वन्यर्थमें जो भक्ति-रहस्य भरा है उसे सूचित किया जायगा। पद्यका अन्वय होगा—'*सर्वलोकशरण्याय महात्मने राघवाय मां विभीषणम् उपस्थितं क्षिप्रं निवेदयत।*' शब्दार्थ पहले भी कह आया हूँ कि—'सब लोगोंको आश्रय देनेवाले महात्मा श्रीरामचन्द्रके प्रति मुझ विभीषणको उपस्थित हुआ (इस स्थानपर आया हुआ) शीघ्र सूचित कर दीजिये।'

पहला पद है '*सर्वलोकशरण्याय*'। इसमें 'शरण्य' का अर्थ है—'*शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः*' '*तत्र साधुः*' इस तद्धितके सूत्रसे 'यत्' प्रत्यय हुआ है रक्षा करनेमें जो उत्कृष्ट हो वह 'शरण्य'। इसकी शब्दार्थ निरुक्ति हुई—'*शरणं भवितुमर्हः*' 'शरण बनने लायक।' '*शरण*' *शब्दके कोषमें अर्थ हैं*—'*शरणं गृहरक्षित्रोः*' घर और रक्षक। इसके अनुसार जो रक्षक बनने लायक हो वह 'शरण्य'। महर्षि वाल्मीकि तो यहाँ बड़े चक्करसे बोलते हैं। जब शरण पदका अर्थ रक्षक है तब सीधा यों ही क्यों नहीं कह दिया—'*सर्वलोकशराय*' 'सब लोगोंके रक्षक' (श्रीरामचन्द्रजी-के प्रति सूचित कर दीजिये)। नहीं। 'सब लोगोंके रक्षक बनने लायक' इस कथनमें जो स्वारस्य है वह 'सब लोगोंके रक्षक' इस कथनमें नहीं। इन्द्र, वरुण, कुबेर, कौन-सा देवता रक्षक नहीं है ? वह तो कहलाते ही 'लोकपाल' हैं। 'इन्द्र' '*इदि परमैश्वर्ये*' जो खूब ऐश्वर्ययुक्त हो वह इन्द्र। यों प्रत्येक देवता रक्षक हैं। आप इन्द्रको रक्षकत्वेन वरण करेंगे, प्रार्थना करेंगे तो क्या वह आपकी रक्षा नहीं करेंगे ? करेंगे। परन्तु महर्षि वाल्मीकिका तात्पर्य है कि चाहे रक्षक सभी हो जायँ किन्तु असलमें रक्षक बनने लायक कोई है तो वह परम दयालु भगवान् श्री-रामचन्द्र ही हैं। लोकमें कहा भी तो जाता है कि 'भाई, यों तो जो हाकिमकी गद्दीपर बैठ जाय वही हाकिम है, परन्तु सच पूछो तो हाकिम बनने लायक तो 'अमुक' व्यक्ति ही है।' इसी तरह जिस देवताका आप स्मरण करेंगे यदि आपकी भावना सच्ची है

तो वही अवश्य रक्षा करेगा। परन्तु दीन-हीन, चाहे कैसा भी क्यों न हो, सब लोगोंकी रक्षा करने लायक यदि वास्तवमें कोई हो सकता है तो वह हैं दयावतार श्रीरामचन्द्र।

भगवान् श्रीरामचन्द्रमें गुण ही इस तरहके हैं कि और देवताओंके रहनेपर भी भावुकोंका हृदय अपने-आप आपकी तरफ खिंचा चला आता है। कविगण कहते हैं—

स्वसूक्तीनां पात्रं रघुतिलकमेकं कलयतां
कवीनां को दोषः स तु गुणगणानामवगुणः॥

और नायकोंके रहनेपर भी नाटकोंमें प्रायः अधिकांश श्रीरामचन्द्रको ही प्रधान नायक बनाया जाता है। श्रव्य काव्योंमें भी जहाँ देखिये, श्रीरामचन्द्रके ही गुणगान हो रहे हैं। इसमें कवियोंका दोष नहीं है, यह तो भगवान् श्रीरामचन्द्रमें रहनेवाले गुण-गणोंका दोष है, जिनके कारण कवि उनका ही वर्णन करते हैं।

रक्षा करनेका काम पड़ता है संकट पड़नेपर। अतएव आवश्यक हुआ कि भक्तके संकटको देखकर रक्षकके हृदयमें दया होनी चाहिये। दीन, हीन, अधम, कैसा भी हो, उसे संकटसे बचा ले; यही रक्षकका काम होना चाहिये। भगवान् श्रीरामचन्द्रके दयाके उदाहरण जगत्प्रसिद्ध हैं। 'शबरी' जिस जातिकी थी उस जातिको स्पर्श करनेतकमें भी लोग घृणा करते हैं। परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र ऋषियोंसे बढ़कर, अपने सुहृद्, भाई-बन्धुओंसे बढ़कर उसे ऊँचा दर्जा दे चुके हैं। हार्दिक प्रेमसे निवेदन किये हुए उच्छिष्ट कदर्य बेरतक भगवान्ने आस्वादन किये, यहाँतकके अनुग्रहकी कथा लोग कहते हैं। खैर, शबरी मनुष्य तो थी परन्तु जटायु गीध, जो पक्षियोंमें भी अमंगल गिना जाता है उसे भगवान्ने पितृतुल्य आदर दिया है। आप आज्ञा करते हैं—

राजा दशरथः श्रीमान् पिता मम महायशाः।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः॥

'महायशस्वी मेरे पिता राजा दशरथ मेरे जिस तरह पूजनीय थे इसी तरह यह पक्षिश्रेष्ठ भी मेरा माननीय और पूजनीय है।' भगवान्ने अपने हाथसे उसका और्ध्वदैहिक संस्कार किया जो साक्षात् पिता दशरथके भाग्यमें भी न था। जिसको भगवच्चरण स्पर्श हो जाता है वही कितनी ऊँची भूमिकाको पहुँच जाता है, फिर यहाँ भगवान्ने अपने हाथसे जिसका संस्कार किया क्या उसका उद्धार नहीं हुआ! परन्तु इसपर भी भगवान्का प्रेम देखिये कि आप जटायुका अग्नि-संस्कार करके स्वयं अपने मुखसे वह मन्त्रजाप करते हैं जिससे प्रेतको दिव्यलोककी प्राप्ति हुआ करती है। महर्षिने कहा है—

यत्तत्प्रेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः।
तत्स्वर्गगमनं क्षिप्रं तस्य रामो जजाप ह॥

'मृत मनुष्यके स्वर्गगमनके लिये जो मन्त्र ब्राह्मण बोला करते हैं, उन्हें बड़ी जल्दीसे श्रीरामने जपा।'

श्रीरामकी रक्षकताकी क्या पूछते हैं! श्रीरामचन्द्र जानकीके वियोगमें जिस करुण दशाका अभिनय करते आ रहे हैं यह क्या किसीसे छिपी हुई है! भवभूति कहते हैं—उस करुण दृश्यको देखकर—*'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'* (पत्थर भी रोने लगते हैं, वज्रका भी हृदय फटता है) परन्तु दयालु श्रीरामने जिस समय जटायुकी वह दशा देखी, आप उस अपने दुःखको भी भूल गये। आप कहते हैं—

सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथा गतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप॥

हे सौमित्रे! यह पूर्वानुभूत सीताहरणका दुःख

मुझे उतना नहीं व्यापता है जितना इस गृध्रके मरनेका, सो भी 'मत्कृते' ! 'मेरे लिये !'

कहिये, फिर ऐसा करुणामूर्ति रक्षा करने लायक माना जा सकता है या और कोई ?

दानके कामपर यदि कोई ऐसे बद्धमुष्टि महापुरुष विराज जायँ तो फिर देखिये कितने आदमियोंको दान मिलता है ? सब अपनी विद्या, बुद्धि, चतुराई उस गरीब ब्राह्मणकी परीक्षामें ही खर्च कर देते हैं जिसे केवल ब्राह्मणजातिमात्र न सही पुण्याहवाचनके मन्त्र बोलनेपर तो कुछ दे देना चाहिये था । पर वह उससे उन मन्त्रोंका अर्थ पूछते हैं, विनियोग पूछते हैं, वेद पौरुषेय हैं या अपौरुषेय, इसकी मीमांसा कराते हैं । उनका यदि शास्त्रोंका प्रचार, धर्मरक्षा यही उद्देश्य होता तब भी यह किसी तरह क्षम्य हो जाता । परन्तु उनकी इच्छा है कि किसी तरह यह ब्राह्मण फेल हो जाय तो पैसा बच जाय । यह पैसा किसी महामहोपाध्यायको ही देंगे जो इससे कहीं बढ़कर योग्य है । देना है आपको चार आने पैसे और पातालतक पहुँचकर विद्याकी परीक्षा कर रहे हैं ! ऐसेको दानाध्यक्ष बनाकर पैसोंको चाहे बचा लीजिये परन्तु आपको आशीर्वाद कितनोंसे मिलेगा ? इसी प्रकार रक्षकके स्थानपर और भी देवता विराजते हैं परन्तु वह हिसाब कर-करके लोगोंको फल देते हैं । जिसका जितना पुण्य, जितना सत्कार्य होता है उसे काँटेमें तौलकर उसी मूल्यका उन्हें स्वर्गादि विनाशी फल देते हैं । फिर वह फल भी मिल ही जाता हो, सो भी निश्चित नहीं । जरा-सी भी आपसे भूल हो गयी तो फल मिलना कैसा, पड़े-पड़े नरकोंमें सड़ते रहिये । अग्निकार्य करते समय पद्धति कहती है कि *'दर्भान् स्पृष्ट्वा'* 'हाथसे कुशोंको छूकर' आगे कार्य करे । यदि इतना-सा भी कार्य भूलसे रह गया तो बस, कर्ममें वैगुण्य हो गया । सब करा-कराया मिट्टी । प्रत्युत राजा नृगकी तरह गिरगिट बनकर कुएँमें पड़ना पड़ेगा !

आपने श्रीभैरवका अनुष्ठान किया और विधिमें यदि जरा-सी भी कुछ कमी रह गयी तो बस, लेनेके देने पड़ गये । सिद्धि करने चले थे, रही-सही सुध-बुध भी खो बैठे । पागल हो गये । 'तन्त्र' कहते हैं, अन्य देवता फल देते हैं परन्तु परिमित । पर दयासमुद्र श्रीरामचन्द्रके यहाँ रक्षाका, अभयदानका दरवाजा खुला है । दरवाजेपर आपने डुग्गी पिटवा रक्खी है कि—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥

'जो एक बार भी मेरी तरफ आ जाता है, मैं तुम्हारा हूँ यह कह देता है, उसे सब प्राणिमात्रसे अभय दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है ।'

कहिये, फिर ऐसे दयावतारको रक्षा करनेके स्थानपर वरण कर लिया जाय तब अधिक लोगोंकी रक्षा हो सकती है या फलके लिये बाँट-तराजू बगलमें दबाये देवताओंको रक्षक बनानेसे ? श्रीरामने अपने यहाँ रक्षा करनेके विषयमें कोई शर्त ही नहीं रक्खी । कोई कार्य करें या न करें, प्रत्युत अकार्य करें परन्तु यदि भगवान्की तरफ *'सकृदेव प्रपन्नाय'* एक दफा भी मुड़ गये तो बस बेड़ा पार है । फिर आपको कोई भय नहीं । श्रीशुक कहते हैं *'मृत्युरस्मादपैति'* भय कैसा ! भयमूर्ति मृत्यु भी डरकर उससे भागती है !

इन्हीं गुणोंके कारण महर्षि वाल्मीकि गद्गद होकर कहते हैं *'शरण्यः' 'शरणं भवितुमर्हः कश्चिदस्ति चेत् स श्रीराम एव'* 'रक्षक बनने लायक' कोई है तो वह हैं श्रीरामचन्द्र ।' यही महर्षिका गूढ़ अभिप्राय था ।

इसीलिये 'शरणाय' न कहकर आप कहते हैं 'शरण्याय'।

शब्दके अर्थके विषयमें मैं समझता हूँ शब्दशास्त्रको ही आप प्रमाण मानेंगे। आप देख ही चुके हैं कि शब्दशास्त्रने 'शरण्य' शब्दका *'शरणे रक्षणे साधुः'* यह अर्थ किया है। अर्थात् रक्षक सभी देवता हैं परन्तु रक्षणमें 'साधुः' अच्छे उत्कृष्ट श्रीराम हैं। *'शरणं भवितुमर्हः'* 'रक्षक होने लायक' इस अर्थमें और देवताओंकी रक्षकतापर 'लायकी नहीं है' कहकर शायद आक्षेप भी समझा जाता हो परन्तु *'रक्षणे साधुः'* इस व्युत्पत्तिमें तो किसीको भी विप्रतिपत्ति (दलील) न होनी चाहिये। 'रक्षा करनेमें उत्कृष्ट' ऐसा कहनेसे किसी देवताकी रक्षकतापर आघात नहीं पहुँचा। सभी देवता रक्षण करते हैं परन्तु श्रीराम *'रक्षणे साधुः'* 'रक्षा करनेमें उत्कृष्ट हैं'। इससे रक्षाका 'तारतम्य' दिखाया। और देवता रक्षा करते अवश्य हैं परन्तु श्रीरामकी रक्षकता उत्कृष्ट है। वह उत्कर्ष यही है कि श्रीराम रक्षा करनेके आसनपर बैठकर भी अपनी अतुल दयाको नहीं भूलते। विरोधीसे भी विरोधी क्यों न हो, उसपर भी रक्षा करनेकी दीक्षा आपको जबरदस्ती खींच ले जाती है। श्रीरामने विभीषणको स्वीकार करनेके विषयमें सुग्रीव, हनूमान् आदि सभीके मत सुने। उन मतोंका बड़े धैर्यसे, अभिमानसे नहीं, बड़े आदरके साथ, एक-एकको प्रशंसापूर्वक—

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥

'शास्त्रोंको बिना पढ़े, वृद्धोंकी सेवा बिना किये कोई इस तरहकी बात कह ही नहीं सकता जो उत्तम बात सुग्रीवने कही है।' यों उत्साह दे-देकर उनका आपने समाधान किया। यों कहिये उनका खण्डन किया। इस खण्डन-मण्डनमें कुछ समय तो लगना ही था। श्रीरामको यह विलम्ब बहुत अखर रहा था। आपका यह स्वभाव ही न था कि किसीकी उक्ति काटकर अथवा रोककर उसे असन्तुष्ट करते। परन्तु इस उत्तर-प्रत्युत्तरमें जो विलम्ब हो रहा था उसे भगवान् शरणागतके विषयमें अत्यन्त अनुचित समझते थे। अतएव जब बहुत-कुछ वाद-विवाद हो चुका तो कुछ हृदयमें खीझकर अन्तमें भगवान् बोले— 'अब अधिक दलीलकी क्या जरूरत है—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

'हे हरिश्रेष्ठ! वह कोई भी क्यों न हो 'एनम्' 'उसको लाओ।' उसको मैंने अभय दे दिया। वह चाहे विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न हो।

कहना चाहिये था *'अभयं दास्यामि'* 'अभय दूँगा' परन्तु आप आज्ञा करते हैं *'अभयं दत्तम्'*। तुम्हारे अब दलील करनेसे क्या होता है! मैं तो उसे पहले ही अभय दे चुका। तुम वहाँ जाकर तलाश करो और तुम्हें विदित हो कि वह दगा करनेकी नीयतसे स्वयं रावण ही विभीषणका रूप बनाकर आया है तो भी मैं तुम्हें कहता हूँ कि चाहे वह स्वयं रावण ही क्यों न हो, फिर मुझसे पूछने न आना कि यह तो रावण है लाऊँ कि न लाऊँ? जाओ, *'आनयैनं हरिश्रेष्ठ'* 'हे हरिश्रेष्ठ! उसको लाओ।' जिस दयासागरके हृदयमें इतनी गुंजाइश है कि वैरीके लिये भी खुल्लमखुल्ला कहते हैं *'दत्तमस्याभयं मया'*। मेरा व्रत है कि जो एक बार भी मेरी ओर आ जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ। अब यह साक्षात् रावण मेरा वैरी ही क्यों न हो, अपनी प्रतिज्ञानुसार इसे *'अभयं दत्तम्'*। विचार करनेके लिये अब अवसर ही कहाँ रह गया है जो मैं कहूँ कि

'दास्यामि' 'दूँगा'। आप तो कहते हैं 'दत्तम्' 'दे दिया'। इसी रक्षकताके उत्कर्षको सूचित करते हुए महर्षि 'शरणाय' न कहकर शरण्याय' कहते हैं।

'शरण्याय' के आदिमें 'सर्वलोक' शब्द और लग रहा है। *'लोकस्तु भुवने जने'* के अनुसार लोक शब्दके दो अर्थ हैं, स्वर्ग-मर्त्य-पातालादि भुवन और मनुष्य। पहला अर्थ 'भुवन' यह लिया जाय तो इसका अर्थ हुआ 'ऊपरके दिव्यलोक, मध्यम मर्त्यलोक, अधोभुवन अतलादि, इन सबके 'शरण्य' रक्षक होने लायक।

भगवान् दिव्यस्वरूप, दिव्यगुण, दिव्यविभूति हैं। यों तो *'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा'* के अनुसार इस सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चमें जो कुछ विभूति है वह साक्षात् भगवान्की है ही। परन्तु दिव्यलोकोंमें वह विभूति प्रकट रहती है। मर्त्यलोककी वस्तुओंमें वह विभूति दिव्यलोकादिकी अपेक्षा कुछ विचार-दृष्टिसे गम्य होनेके कारण उतनी प्रकट नहीं रहती। दिव्यलोकवासियोंकी शक्ति, गति (पहुँच) हम लोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक है। वह दिव्य ज्ञान-सम्पन्न हैं। वह यदि चाहें तो दिव्यविभूति भगवान्को हमारी अपेक्षा आसानीसे प्राप्त कर सकते हैं और करते हैं। सनकादि महर्षि इच्छा होते ही वैकुण्ठादि लोकोंमें जाकर भगवान्का दर्शन कर आते हैं। हमलोगोंके लिये पहले दिव्यलोकमें ही पहुँचना कठिन है। वहाँ पहुँच होनेके लिये पुण्य-तपश्चर्यादि अनेक कठिन-कठिन साधनोंकी वज्र-परीक्षाएँ पास करनी पड़ती हैं, तब कहीं दिव्यलोकके रास्तेसे भगवद्दर्शनकी चर्चा भी चला सकते हैं। किन्तु दिव्य-लोकवासियोंके लिये यह बात नहीं। कालिदास क्या अच्छा कहते हैं—

प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे पुण्याभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलागृहेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमो
यद्वाञ्छन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी॥

'जहाँ अच्छे-अच्छे कल्पवृक्ष (जो चाही हुई वस्तुको तत्काल देते हैं) हैं उस वनमें वह (दिव्य-मुनि) पवनमात्र भोजनकर जीते हैं। स्वर्णकमलोंके परागसे विच्छुरित दिव्य नदियोंके जलमें स्नान करते हैं। रत्नशिलाओंसे बने गृहोंमें रहकर भगवद्ध्यान करते हैं। देवाङ्गनाओंके पास रहकर संयम (इन्द्रिय-विजय) रखते हैं।' अतः कविका कहना है कि जिस स्थानको भूमिष्ठ महर्षि तपस्याओंके द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं उस स्थानमें रहते हुए यह महर्षि और भी आगे बढ़नेके लिये तपस्या कर रहे हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्को उपनिषद् 'दिव्योपसृप्य' दिव्य लोकोंसे प्राप्तव्य कहती हैं। अतएव भगवत्साक्षात्कार, भगवान्के द्वारा की हुई रक्षासे लाभ, दिव्यलोकनिवासी ही उठा सकते हैं।

और दूसरे वहाँ ब्रह्मादि देवता भी तो रहते हैं। थोड़ा-सा भी संकट पड़नेपर वहाँकी प्रजा उनके पास जा पुकारती है। तारकासुरकी मारका बाजार जरा ही गर्म होने लगा था कि देवता लोग—*'तुरासाहं पुरोधाय धाम स्वायंभुवं ययुः'* 'इन्द्रको आगे करके ब्रह्माजीके स्थानपर जा पहुँचे'। जो काम ब्रह्माजीके साध्य हुआ वह उन्होंने निबटा दिया और जो उनसे भी नहीं बन पड़ता उसके लिये ब्रह्माजीको साथ लेकर त्रैलोक्यनाथ नारायणके पास जा पहुँचते हैं। यों दिव्यलोकोंमें तो रक्षाके द्वार कई खुले हैं परन्तु इस मर्त्यलोकमें क्या उपाय है जो हम अपनी रक्षाकी पुकार भगवान् नारायणतक पहुँचा सकें? परन्तु आप दयाके सागर हैं। वास्तवमें आप 'सर्वतश्चक्षुः' (सब

तरफ नेत्रवाले) हैं। अतएव हमारी भी दीन दशा आपसे छिपी नहीं रहती। हम-सरीखे निरुपाय जीवोंके उद्धारके लिये भी आप कृपा करते हैं। अवतार लेकर इस मर्त्यलोकमें पधारते हैं। चाहे ऊपरसे और-और कारण दिखायी देते हों परन्तु आपका यहाँ अवतार लेनेका प्रधान प्रयोजन यही है कि भक्तोंको लीला गुणानुवादसे विनोद हो और निरुपाय जीवोंका उद्धार हो। जब यह आपका अनुग्रह है तब हमको निश्चय हो गया कि आप केवल दिव्यलोकनिवासियोंको ही आश्रय देनेवाले नहीं, मर्त्यादिलोकोंपर भी वही आपकी दीनसञ्जीवनी करुणादृष्टि है। इसी आशयको लेकर विभीषण सुग्रीवादिके द्वारा सूचित कराते हैं—'*सर्वलोक-शरण्याय*' 'चतुर्दशभुवनोंको रक्षा करने लायक' श्रीरामचन्द्रसे मेरी खबर कर दीजिये।

दूसरा अर्थ होता है—'*सर्वलोकशरण्याय*' 'सब मनुष्योंके लिये शरण्य, शरण जाने योग्य'। किसी भी देवताके पास जाना हो तो पासमें पहले पुण्यकी पूँजी होनी चाहिये। अन्यथा वहाँ पहुँच ही नहीं हो सकती। सत्कार्यानुष्ठानके लिये अधिकारकी भी जरूरत है। पहले यों ही देखिये न—वेद पढ़नेके लिये बालकको गुरुके पास ले गये। गुरुजीने पूछा—'क्यों, इसका उपनयन तो हो गया है न?' कहा—'नहीं'। गुरुजीने लौटा दिया कि 'यज्ञोपवीत-संस्कारके बिना वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है'। महर्षि विश्वामित्रके तप प्रभावकी क्या पूछते हैं? ब्रह्माजीको अलग करके उन्होंने दूसरी सृष्टि रचना ही करना शुरू कर दिया था। ब्रह्मा भी अपने अधिकार छिननेके भयसे काँपने लगे थे। उन्हीं विश्वामित्रने अपने तपस्याके बलसे त्रिशङ्कको सदेह स्वर्ग भेजना चाहा किन्तु दरवाजेपर ही रुकावट हो गयी कि तुमको स्वर्गमें जानेका अधिकार नहीं! महर्षिने तो बहुत ही चाहा था परन्तु बेचारा त्रिशङ्कु न स्वर्गका रहा, न मर्त्यका। सदाके लिये बीचमें लटकता हुआ दुनियाके लिये दृष्टान्त बन गया कि—

त्रिशङ्कोरुपभोगाय न द्यौरपि न गौरपि।

'त्रिशङ्कु न भूमिका उपभोग कर सका, न स्वर्गका।'

अधिकारके बिना हरएक देवताका आराधन भी तो नहीं होता। और बिना आराधनाके, बिना साधनाके देवता प्रसन्न नहीं होते। सार बात यह है कि तुम अच्छे होगे तो तुम्हारी वहाँ पहुँच होगी, अन्यथा नहीं। तुमने पुण्य किये हैं तो देवता तुमको उसके अनुसार फल दे देंगे, अन्यथा '*अपनी करनी पार उतरनी*'। बुरा माने चाहे भला, देवता तो एक तरहके व्यापारी हैं व्यापारी, वह भी फलोंके। (यानी माली) जो पुण्यका सिक्का परखकर पीछेसे फल देते हैं। उनकी तो यहाँतक लीला बढ़ी हुई है कि योग्यता देखे बिना, अधिकारके बिना, अपने मन्दिर-तकमें नहीं चढ़ने देते। वह तो क्या, उनके पैरोकार-तक ऐसे हैं जो दरवाजेकी सीढ़ीपरसे ही अनधिकारी लोगोंको ढकेल देते हैं। देवताओंमें यह जाति-पाँतिका झगड़ा आजका थोड़े ही है। सदासे देवताओंकी पञ्चायतमें जाति और कर्मोंका टण्टा चलता आया है। यहाँतक कि देवताओंमें दलबन्दीतक हो जाती थी। 'अश्विनीकुमार' देवताओंके वैद्य हैं। वैद्य होनेके कारण सब देवताओंकी पञ्चायतमें इनकी यज्ञाहुति बन्द थी। जब इन्होंने महर्षि च्यवनका इलाज किया और वह प्रसन्न हो गये तब उनके तपोबलसे यज्ञभाग पानेका उपक्रम किया गया था।

यही क्यों, सब देवताओंके स्वामी इन्द्रतक स्वयं इस कर्मबन्धनमें पड़े हुए हैं। उनके हाथसे विश्वरूप मारा गया, तब देवताओंने उन्हें अपने समाजसे अलग कर दिया, यहाँतक कि वह स्वर्गसे हटा दिये गये। जब देवता जाति-पाँति-कर्मोंकी कैदमें स्वयं इस

तरह घुटे हुए हैं तब उनसे क्या आशा की जाय कि जो सब भाँतिसे हीन, दीन, असहाय हैं उनका वह उद्धार करेंगे। किन्तु विभीषण कहते हैं मुझे दृढ़ विश्वास है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र कुल, विद्या, आचरण आदि किसीकी भी ओर न देखकर अपने व्रतकी तरफ देखेंगे, जो आपने लिया है। आपका प्रतिज्ञावाक्य है—

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

निषाद गुह कौन-सी उन्नत जातिके थे, जो उनपर यहाँतक कृपा की कि उनसे आप छाती-से-छाती लगा कर मिलते हैं। गृध्रादिमें ऐसा कौन-सा विद्या-वैभव था जिसके कारण जो सम्मान महाराज दशरथको भी नहीं मिला, वह दिया और जिनके कष्टको विचारकर आपके घण्टों आँसू नहीं रुके। मैं श्रीरामके स्वभावको जानता हूँ। आप जाति, गुण, आचरणादि किसीका विचार न कर, जो आपकी तरफ एक बार भी अभिमुख हो जाते हैं उन सब मनुष्योंको आश्रय देनेवाले हैं। इसी दृढ़ विश्वाससे विभीषण कह रहे हैं '*सर्वलोकशरण्याय*' 'सब मनुष्योंके लिये शरण देनेवाले'।

आगे पद है 'राघवाय' (रघुवंशमें उत्पन्न हुए श्रीरामके लिये)। भगवान्का साक्षान्नामनिर्देश न कर वंशका नाम लेना भी प्रयोजनसे है। विभीषण व्यञ्जनासे सूचित कर रहे हैं कि आप उस कुलमें उत्पन्न हुए हैं जिस कुलके एक-एक बच्चेको भी यह अभिमान है कि—

किं त्वर्थिनामर्थितदानदीक्षा
कृतव्रतश्लाघ्यमिदं कुलं नः।

'हमारा कुल वह है जो अर्थी चाहे कैसा भी प्रयोजन लेकर आवे उसके मनोरथकी पूर्ति कर देना, इस दानदीक्षाके व्रतको लिये हुए है और इसीसे अपनी प्रशंसा भी समझे हुए है।'

महाराज रघुके पास जिस समय कौत्स ऋषि कुछ माँगने आये थे उसके पहले ही वह यज्ञमें अपने सम्पूर्ण राज्यका धन दान कर चुके थे। यह दशा थी कि जहाँ सोनेके पात्रोंमें अर्घ्य दिया जाता था वहाँ किसी धातुपात्रकी भी क्या कथा, मिट्टीके पात्रमें ऋषिके लिये अर्घ्य आया। अर्घ्यपात्र देखकर ही ऋषि समझ गये कि यहाँ मनोरथ-पूर्तिकी आशा नहीं। मामला उनका थोड़ा-बहुत न था। वह चौदह करोड़ अशर्फी चाहते थे। ऋषि जिस समय दूसरे स्थानपर जानेके लिये तैयार हुए उस समय रघु बोले—'रघुके पाससे निराश होकर याचक दूसरेके पास माँगने जाय, मेरे लिये इससे बढ़कर कलङ्क नहीं। आप ठहरिये, आपका मनोरथ चाहे जितना बड़ा हो, उसे मैं ही पूर्ण कर दूँगा*।'

विभीषण कहते हैं उसी प्रसिद्ध कुलमें आप उत्पन्न हुए हैं। अतएव आपके दरबारसे अर्थी विमुख लौट जाय, यह आशङ्का ही नहीं इसीको। सूचित करते हुए महर्षिने कहा 'राघवाय'।

शरणागतिमें 'शरण्य' (शरण देनेवाले) के दो गुण देखे जाते हैं—सुलभत्व और परत्व। शरण देनेकी प्रतिज्ञा तो कर रक्खी है परन्तु वह सुलभ ही न हुए, उनतक किसीकी पहुँच ही न हो सकी तो रक्षा करनेके अवसर ही कितने मिलेंगे? सुमेरु सोनेका है परन्तु उसतक कौन-कौन पहुँच सके हैं?

---

* गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा
रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे
मा भूत्परीवादनवावतारः॥
—कालिदास

अतएव आवश्यक है कि वह सुलभ हो। और सुलभ तो हुए परन्तु पूर्ण सामर्थ्य न हुआ तो हम उनकी शरण लेकर ही क्या करेंगे? मिट्टीके ढेले जहाँ चाहे मिल जायँगे परन्तु वे सोनेका काम कहाँसे देंगे? इसलिये शरण्यमें दूसरा गुण होना चाहिये 'परत्व' (उत्कर्ष, सामर्थ्य)। वाल्मीकि भगवान् श्रीरामचन्द्रमें दोनों गुण दो पदोंसे बताते हैं। वे पद हैं 'राघवाय', 'महात्मने'। भगवान् श्रीरामचन्द्र 'महात्मा' हैं, महान् (परम) आत्मा हैं। निखिल हेय प्रत्यनीक हैं 'हेय' 'त्याग करने लायक' जो सब दोष हैं उनसे दूर हैं। और ज्ञान-भक्ति आदि जो अनन्त कल्याण-गुण हैं उनके एकमात्र स्थान हैं। वेदान्त जिसे 'यत्तदनिर्देश्यम्' किसी तरह भी निर्देश नहीं कर सकने लायक कहते हैं—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

जहाँ वाणी और मनतककी पहुँच नहीं, वही साक्षात्परमात्मस्वरूप हैं।

किन्तु ऐसे परमात्माकी शरणमें जानेका अवसर ही नहीं मिलता था, इसलिये सबको शरण देनेके लिये आप अवतार लेकर रघुकुलमें उत्पन्न हुए हैं। इस तरह शरण्यके दोनों गुण स्पष्ट सूचन करनेके लिये कहा—'राघवाय', 'महात्मने'।

'महात्मा' का लोकमें प्रसिद्ध अर्थ है 'जिसके अन्तःकरणमें बड़ी गुंजाइश हो।' जो सबको निर्वैर-दृष्टिसे देखता हो, और तो क्या जिसके निवासस्थानके आस-पास भी हिंसा-भावकी पहुँच न हो, जहाँ सिंह और गौ प्रेमभावसे रहते हों। श्रीरामकी भी हृदयकी उदारता देखिये। आप कहते हैं—'जो मेरी तरफ चला आयेगा, चाहे कोई क्यों न हो, यहाँतक कि *'यदि वा रावणः स्वयम्'* स्वयं जगत्पीडक सीतापहारी रावण भी आ जाय तो उसके लिये भी अभयका द्वार खुला है। महर्षि सूचित करते हैं कि दयालु श्रीरामचन्द्रके दरबारमें प्राणिमात्रके लिये अभयदानका दरवाजा खुला है। चाहे कैसा भी अपराधी क्यों न हो, वह भी उनके आश्रयमें शान्ति पानेका अधिकारी है। प्राणिमात्रके नातेसे रावणको भी उस आश्रय पानेका अधिकार था परन्तु उसको उसे प्राप्त करनेकी रुचि न थी। सूर्य सबको समानरूपसे अपना प्रकाश पहुँचाता है परन्तु यदि कोई उल्लू उसे पसन्द न कर अन्धकारमें ही पड़ा रहना चाहे तो क्या इसमें सूर्यकी कृपणता समझी जायगी? श्रीराम तो किञ्चिन्मात्र अभिमुख होनेकी प्रतीक्षा करते हैं। अतएव उनकी उदारताको सूचन करनेके लिये विशेषण दिया—'महात्मने'।

आगे है 'माम्' मुझ विभीषणको। 'विभीषण उपस्थित हुआ है', केवल इतना कहनेसे कदाचित् यह समझा जाय कि 'पहले किसी दूसरेको भेजा है, आप मनोभाव जानकर पीछेसे आयेगा।' सो नहीं। 'माम्'। मैं स्वयं हाजिर हूँ।

'विभीषण' कहनेका तात्पर्य यह था कि मैं रावणकी तरह प्रतिकूल नहीं। *'विभीषणस्तु धर्मात्मा'* इत्यादि मेरे सम्बन्धकी बातें आपलोगोंसे क्या छिपी हैं। कम-से-कम श्रीमारुतिने तो अवश्य ही मेरा कुछ परिचय दिया होगा।

'उपस्थितम्' से यह सूचन किया कि श्रीरामके दरबारमें तो उपस्थित होनामात्र अंगीकारके लिये पर्याप्त है, गुण-दोषकी परीक्षा आवश्यक नहीं। क्योंकि आप कहते हैं *'सकृदेव प्रपन्नाय'* जो एक बार भी 'आ जाता है' उसे। अतएव मेरी तरफका जो कर्तव्य 'उपस्थान' था, वह मैं कर चुका। अब आगे अपने कर्तव्यकी आप जानें। इसी अभिप्रायसे विशेषण दिया 'उपस्थितम्'।

आगे कहते हैं—'निवेदयत' 'मुझ विभीषणका आना सूचित कर दीजिये'। वाह! सुग्रीवादि क्या आँख मूँदे बैठे थे जो उन्होंने आगमन न देखा हो। उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया था कि कोई आया है। फिर ऐसे स्थलपर तो विभीषणके नाममात्र सूचनकी आवश्यकता थी, आना तो प्रत्यक्ष ही था। परन्तु इस आगमन-निवेदनसे ध्वनिद्वारा प्रयोजन सूचित किया जाता है कि 'मैं आ गया हूँ' मेरे यावदपराधों-को न देखकर, अपनी प्रतिज्ञानुसार मुझको अपनी शरणमें लें, अपनी किंकरताका अधिकार दें।' धोवी दरवाजेपरसे कहलाता है कि 'अन्दर खबर कर दीजिये मैं आ गया हूँ।' इसका क्या आप यह अर्थ नहीं समझ लेते हैं कि 'वह कहता है धोनेके लिये कपड़े दे दीजिये।' इसी अपने गूढ़ स्वार्थको सूचित करते हुए कहते हैं—'निवेदयत'।

'सूचयत' 'ज्ञापयत' इत्यादि न कहकर 'निवेदयत' कहनेसे और भी ध्वनित होता है कि—'मैंने जिस दिनसे भगवान् श्रीरामचन्द्रके अलौकिक गुण श्रवण किये उसी दिनसे मेरा मन उनकी तरफ झुक गया था। मैं अवसर देख रहा था कि किसी दिन श्रीरामके दर्शन करूँ। जैसे ही लंकाधिपतिने मेरा तिरस्कार किया, मैंने भी हितकी भावनासे ही सही, उनको अकथ्य बातें कहीं, उसी समय मैंने सोचा अब लंकेशके क्रोधसे बचनेका यही उपाय है कि श्रीराम-की शरण चला जाऊँ। बस, वहीं मैंने तो श्रीरामको 'आत्मनिवेदन' कर दिया। इस हिसाबसे मैं तो रामका हो ही चुका। और श्रीरामने तो आश्रय देनेका व्रत ही ले रक्खा है। अब आपलोग आगे होकर यदि मेरे इस 'आत्मनिवेदन' को निवेदन कर देंगे तो आपका भी अहसान रह जायगा। इस बहती गंगामें आप भी हाथ पखार लीजिये। इसी 'आत्म-निवेदन' को सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं *'निवेदयत मां क्षिप्रम्।'* भक्तिकी गणनामें साफ ही गिनाया है *'सख्यमात्मनिवेदनम्।'*

'निवेदयत' के साथ है 'क्षिप्रम्' (बहुत जल्दी)—घोर ग्रीष्मके मध्याह्नमें दूरसे चलकर जिस समय हम आते हैं और रास्तेकी भयंकर प्यासको किसी तरह रोककर जब सामने शीतल, सुगन्ध, स्वच्छ, मिष्ट जल देखते हैं तब उसके लिये हमको कितनी तड़-फड़ाहट होती है। ज्यों-ज्यों देर होती है हमारी व्याकुलता कितनी बढ़ जाती है! बस, इसी तरहके विभीषणके हार्दिक सन्ताप और उत्कण्ठाको सूचित करते हुए महर्षि कहते हैं—'क्षिप्रम्' 'जल्दीसे निवेदन कीजिये।'

अथवा—मैं तो आत्मनिवेदन पहले ही कर चुका हूँ। और भगवान्‌का यह व्रत ही है कि जो कोई मेरी तरफ आता है उसे मैं आश्रय देता हूँ। अतएव शरणागतवत्सल भगवान्‌ने जहाँ मेरे इस आर्तस्वरको सुन पाया कि फिर मेरे बुलानेमें क्षण-का भी विलम्ब न होगा। परन्तु उस दशामें आप-लोगोंका कोई अहसान नहीं रहेगा। अतएव जहाँ-तक श्रीरामचन्द्र न बुलावें, उससे पहले ही जल्दीसे जाकर निवेदन कर दीजिये जिसमें कि मैं आपके इस मित्रकर्तव्यको जन्मभर न भूलूँ। इसी अभिप्राय-से विभीषण कहते हैं 'क्षिप्रम्'।

(क्रमशः)

'सुन्दर' जो गाफिल हुआ, तौ यह साईं दूर। जो बंदा हाजिर हुआ, तौ हाजराँ हजूर॥
लौन पूतरी उदधिमैं, थाह लेनकौं जाइ। 'सुन्दर' थाह न पाइये, बिच ही गई बिलाइ॥

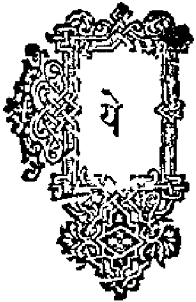
परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

सब भूतोंका परस्पर उपकार



ये सर्वभूत परस्पर उपकार करते हैं क्योंकि सर्व प्रपञ्चका एक मायाविशिष्ट परमात्मा ही कारण है और वह मायाविशिष्ट परमात्मा सर्व जड-प्रपञ्चमें तादात्म्य-सम्बन्धसे रहकर सबपर उपकार करता है। पृथिवी आदि पदार्थ अथवा मनुष्यादि प्राणी कोई किसीपर उपकार नहीं करते, किन्तु 'नेति-नेति' इस श्रुतिमें कथित नाशरहित तथा स्वप्रकाश परमात्मा ही पृथिवी आदि पदार्थों तथा स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें तादात्म्य-सम्बन्धसे रहकर सबके ऊपर उपकार करता है। परमात्मा पृथिवीमें रहकर सर्व प्राणियोंके भोगके साधनरूप शरीरोंको उत्पन्न करता है, इसलिये पृथिवी सर्व प्राणियोंपर उपकार करती है। इसी प्रकार आधाररूप पृथिवी बिना जीवमें सुख-दुःखका भोग नहीं हो सकता, इसलिये परमात्मा सर्व प्राणियोंके शरीरोंमें रहकर पुण्य-पापरूप अदृष्टद्वारा पृथिवीकी वृद्धि करता है इसलिये सर्व प्राणी पृथिवीपर उपकार करते हैं। हे इन्द्र! पृथिवी तथा सर्व प्राणियोंका कार्य-कारण-भाव तथा भोक्ता-भोग्य-भाव समान है। जड अंशकी प्रधानतासे पृथिवी और सर्व प्राणियोंमें कार्यपना और भोग्यपना है, और चैतन्यकी प्रधानतासे पृथिवी और सर्व प्राणियोंमें कारणपना और भोक्तापना है। इसी प्रकार जलादिमें भी जान लेना चाहिये। यह परमात्मा जलमें रहकर जीवोंके शरीरोंमें वीर्य उत्पन्न करता है, इसलिये जल सर्व प्राणियोंपर उपकार करता है। परमात्मा जीवोंके वीर्यमें रहकर शरीरोंकी उत्पत्तिद्वारा पुण्य-पापरूप अदृष्टसे जलकी वृद्धि करता है, इसलिये प्राणी जलपर उपकार करते हैं। यह परमात्मा अग्निमें रहकर सब जीवोंकी वाक्-इन्द्रियोंको शब्द-उच्चारणरूप व्यापारमें प्रवृत्त करता है और रुधिरादि धातुओंको पकाता है इसलिये अग्नि सर्व प्राणियोंपर उपकार करता है। परमात्मा सर्व प्राणियोंकी वाक्-इन्द्रियोंमें रहकर मन्त्र-उच्चारणद्वारा अग्निको संस्कारसम्पन्न करता है, इसलिये प्राणी अग्निपर उपकार करते हैं। परमात्मा वायुमें रहकर सब जीवोंके प्राणको चलाता है इसलिये वायु प्राणियोंपर उपकार करता है। परमात्मा प्राणमें रहकर पुण्य-पापरूप अदृष्टद्वारा वायुको चलाता है इसलिये प्राणी वायुपर उपकार करते हैं। परमात्मा सूर्यमें रहकर सब जीवोंके नेत्रादिको रूपादि विषयोंमें प्रवृत्त करता है, इसलिये सूर्य सब जीवोंपर उपकार करता है। परमात्मा सब प्राणियोंके नेत्रोंमें रहकर 'यह सूर्य है' इसप्रकार सूर्यको सिद्ध करता है, इसलिये सर्व प्राणी सूर्यपर उपकार करते हैं। परमात्मा पूर्वादि दिशाओंमें रहकर सब प्राणियोंकी श्रोत्र-इन्द्रियोंपर उपकार करता है, इसलिये दशों दिशाएँ प्राणियोंपर उपकार करती हैं। परमात्मा सर्व प्राणियोंकी श्रोत्र-इन्द्रियोंमें रहकर दिशाओंके प्रतिध्वनिरूप शब्दको जानता है यानी भेरी आदिके शब्दसे और प्रतिध्वनिरूप शब्दसे दिशाओंका ज्ञान होता है, इसलिये सर्व प्राणी दिशाओंपर उपकार करते हैं। परमात्मा चन्द्रमामें रहकर सब जीवोंके मनको प्रवृत्त करता है, इसलिये चन्द्रमा सर्व प्राणियोंपर उपकार करता है। इसी प्रकार परमात्मा सब जीवों-

के मनमें रहकर मनके संकल्पसे किये हुए कर्मसे चन्द्रलोककी वृद्धि करता है, इसलिये सर्व प्राणी चन्द्रपर उपकार करते हैं। परमात्मा बिजलीमें रहकर सर्व प्राणियोंके अन्धकारका नाश करता है, इसलिये बिजली सर्व प्राणियोंपर उपकार करती है। परमात्मा सब जीवोंकी त्वचामें रहे हुए उज्ज्वलतारूप तेजके अभिमानमें रहकर सर्व स्थलोंपर रहनेवाले बिजलीके तेजको जानता है, इसलिये सर्व प्राणी बिजलीपर उपकार करते हैं। परमात्मा मेघमें रहकर सबको आनन्द देता है, इसलिये मेघ सब जीवोंपर उपकार करते हैं, परमात्मा जीवोंके ध्वनिरूप शब्दमें रहकर गर्जनासहित मेघको श्रेष्ठ मानता है, इसलिये सब प्राणी मेघपर उपकार करते हैं। परमात्मा आकाशमें रहकर सब प्राणियोंके हृदयरूप छिद्रकी प्राप्ति करता है इसलिये आकाश सब प्राणियोंपर उपकार करता है। परमात्मा हृदयाकाशमें रहकर सर्वत्र व्यापक आकाशको जानता है, इसलिये सर्व प्राणी आकाशपर उपकार करते हैं। परमात्मा धर्ममें रहकर सब जीवोंको सुख देता है, इसलिये धर्म सब जीवोंपर उपकार करता है। परमात्मा धर्मात्मा जीवोंमें रहकर फिर धर्म करता है, इसलिये जीव धर्मपर उपकार करते हैं। परमात्मा सत्य वाक्यमें रहकर जीवोंको यथार्थ बोध कराता है, इसलिये सत्य वाक्य सब जीवोंपर उपकार करता है, परमात्मा सत्यवक्ता पुरुषमें रहकर सत्य वाक्य उच्चारण करता है, इसलिये सब जीव सत्य वाक्यपर उपकार करते हैं। परमात्मा मनुष्यादि जातिमें रहकर अधिकारसम्पादनद्वारा जीवोंको सुख देता है, इसलिये जाति जीवोंपर उपकार करती है। परमात्मा मनुष्य आदि व्यक्तियोंमें रहकर मनुष्य आदि जातिकी सिद्धि करता है इसलिये सब प्राणी जातिपर उपकार करते हैं। परमात्मा देहादि संघातमें रहकर विज्ञानमय भोक्ताको जन्म-मरणादि देता है, इसलिये संघात विज्ञानमय भोक्तापर उपकार करता है। परमात्मा बुद्धिवृत्तिमें रहकर विषयसहित बुद्धिको प्रकाश देता है, अतएव विज्ञानमय संघातपर उपकार करता है।

इसप्रकार जो आत्मा पृथिवी आदिमें रहकर सबके ऊपर उपकार करता है, वह आत्मा तुम्हारा और श्वानका एक समान ही है। जैसे मधुकर सब पुष्पोंमेंसे रस लेकर मधुरूप रसको एकत्र करता है इसलिये मधुमक्खीपर मधु उपकार करता है। इसप्रकार मधु और मधुमक्खी परस्पर दोनों उपकार करते हैं। इसी प्रकार पृथिवीसे लेकर जितना चराचर जगत्-मण्डल है, उसमें जो-जो पृथिवी आदि जिस-जिस प्राणीपर उपकार करता है, वह प्राणी उस-उस पृथिवी आदिपर भी उपकार करता है। एक धनी जैसे अपने नौकरको पैसेसे उपकृत करता है, इसी प्रकार नौकर भी सेवा-चाकरीसे धनीका उपकार करता है। पृथिवी आदिके जितने उपकार मैंने तुमसे कहे, वे सब दृष्टान्तमात्र जाननेके लिये कहे हैं, वस्तुतः तो उपकार अनेक प्रकारके हैं। ब्रह्मवेत्ताओंका कथन है—

सर्वं सर्वस्य कार्यं स्यात् सर्वः सर्वस्य भोजकः ।
इत्येषा मधुविद्यात्र वैषम्यक्लेशहारिणी ॥

अर्थात् सब पदार्थ सब पदार्थोंके कार्य हैं और सब पदार्थ सब पदार्थोंके भोक्ता हैं, इसप्रकारकी मधुविद्या विषम क्लेशको दूर करनेवाली है। पृथिवी आदि पदार्थोंमें एक-एक पदार्थ अपनेसे भिन्न सर्व पदार्थोंपर जैसे उपकार करता है, इसी प्रकार पृथिवीसे भिन्न सर्व जलादि पदार्थ भी पृथिवीपर उपकार करते हैं अर्थात् पञ्चीकरणकी रीतिसे पृथिवी अपना भाग देकर जलादिको पूर्ण करती है और जलादि अपना भाग देकर पृथिवीको पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र जान लेना चाहिये। जैसे एक शरीरके हस्त-पादादि अवयव परस्पर उपकार करते हैं, इसलिये उन अवयवोंका एक ही आत्मा है, इसी प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ भी पूर्वोक्त रीतिसे

परस्पर उपकार करते हैं, इसलिये पृथिवी आदिका भी एक ही परमात्मा मानना चाहिये।

परमात्मा स्वप्रकाश तेजसे शोभित है, जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित है, परम अमृतरूप है और सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर बुद्धिकी सर्व वृत्तियोंका प्रकाश करता है। परमात्मा वस्तुतः अंगोंसे रहित है तो भी स्थावर-जङ्गमरूप सब शरीरोंमें अस्ति, भाति और प्रियरूपसे स्थित है। वही परमात्मा भगवान् तुम्हारा और श्वानका भी समान ही है। जैसे घट-मठादि-भेद असंग आकाशको स्पर्श नहीं करते, इसी प्रकार शरीररूप उपाधिमें रहे हुए भेद असंग आत्माको स्पर्श नहीं करते। हे इन्द्र ! सबके हृदयमें स्थित जन्म-मरणसे रहित, सब भेदसे रहित और सबका आत्मारूप ब्रह्म, जो मैंने तुमको समझाया, वह अपने आत्म-ज्ञानसे सर्वात्मभावको प्राप्त होता है। इस विषयमें पूर्वमें ब्राह्मणोंका परस्पर विचार मैंने तुमसे कहा है। वही परमात्मा सब जीवोंको अपने वश करके उनका पालन करता है, इसलिये तुम्हारा यह अभिमान व्यर्थ है कि मैं जीवोंका पालन करता हूँ। जैसे सूर्य भगवान् ब्रह्माण्डमें रहकर सब लोकोंको प्रकाश देते हैं इसी प्रकार परमात्मा सब भूतोंके अन्तरमें रहकर सबको प्रकाशित करता है। इसलिये परमात्मा सबका राजा है, तुम इन्द्र सबके राजा नहीं हो। जैसे रथके चक्रमें नेमि, नाभि तथा अरा रहते हैं। उनमें अरा स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वे नेमि और नाभि दोनोंके आश्रय रहते हैं, इसी प्रकार पृथिवीके अभिमानी आत्माका अंश नेमिके समान है और शरीरके अभिमानी अंश नाभिके समान है और सब शरीर और पृथिवी अरोंके समान हैं। प्रपञ्चके अभिमानी आत्माके अंशका आश्रय करके ही शरीर तथा पृथिवी रहते हैं, स्वतन्त्र नहीं रह सकते क्योंकि आत्माके ऊपर दिखलाये हुए दो अंश सर्व भूत-प्रपञ्चका उपकार करनेको पृथिवी आदिमें रहते हैं। जैसे रथके चक्रमें रहा हुआ एक ही शीशमका लट्ठा नेमि, नाभि तथा अरा—ये तीन रूप धारण करके उपकारक-उपकार्य, आधार और आधेय सब भावोंको प्राप्त होता है, इसी प्रकार एक ही परमात्मा पृथिवी आदि अधिभावको, शरीरादि अध्यात्मभावको और पृथिवी आदिके अभिमानी पुरुषभावको प्राप्त होकर सर्वत्र उपकार करता है। तुम देव तथा पृथिवी आदि सर्व पदार्थ किसीपर उपकार नहीं करते। इसलिये 'मैं उपकार करता हूँ' यह तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है।

इन्द्र—हे भगवन् ! यद्यपि परमात्मा सबमें रहकर उपकार करता है यह ठीक है, तो भी वह परमात्मा उत्कृष्ट शरीरोंमें रहकर उपकार करता है। श्वानादि नीच शरीरोंमें रहकर किसीपर उपकार नहीं करता।

दध्यङ्—हे इन्द्र ! 'उत्कृष्ट शरीरमें रहकर मैं उपकार करता हूँ' यह तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है क्योंकि परमात्मा जैसे तुम्हारे शरीरमें रहकर उपकार करता है, इसी प्रकार श्वानके हृदयमें रहकर भी वह सबपर उपकार करता है। सत्त्व-गुणयुक्त ऋषियों, रजोगुणयुक्त देवताओं और तमोगुणयुक्त श्वानादि प्राणियोंमें परमात्मा तो एक समान ही है।

इन्द्र—हे भगवन् ! श्वानकी सब लोग निन्दा करते हैं, देवताओंकी निन्दा नहीं करते इसलिये देवताओंका शरीर उत्कृष्ट है।

दध्यङ्—हे देवराज इन्द्र ! यह तुम्हारा अभिमान व्यर्थ है। जैसे देवता और मनुष्य श्वानके जन्मकी निन्दा करते हैं, इसी प्रकार हमको विषयासक्त देखकर ब्रह्मवेत्ता विरक्त पुरुष हमारी निन्दा करते हैं। जैसे देवता और मनुष्योंको अपने शरीरमें उत्कृष्टताबुद्धि है, इसी प्रकार श्वानको भी अपने शरीरमें उत्कृष्टताबुद्धि है। जिस आत्माके तादात्म्य-सम्बन्धसे निकृष्ट शरीरमें उत्कृष्टता दीखती है,

वही आत्मा अधिकारी पुरुषको जानना चाहिये। इस आनन्दस्वरूप आत्माके ज्ञानमें 'मैं' और 'मेरा' यह अभिमान प्रतिबन्धक है इसलिये शरीरका 'मैं' ऐसा अभिमान छोड़कर तुम आत्माका निश्चय करो। जिस शरीरमें लोग 'मैं' ऐसा अभिमान करते हैं, वह शरीर श्वानकी विष्ठाके समान दुर्गन्धयुक्त है, इसलिये बुद्धिमानोंको उसमें अभिमान करना उचित नहीं है। जबतक जीवको शरीरादिमें 'अहं' बुद्धि है और स्त्री-पुत्र-धनादिमें 'मम' बुद्धि है, तबतक जीवको आनन्दस्वरूप आत्माकी प्राप्ति और जन्म-मरणादि दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती। हे इन्द्र! शरीरके 'मैं' ऐसे अभिमानको त्यागकर और अप्सराओंसहित स्वर्गमें 'मम' ऐसे अभिमानको त्यागकर तुम आनन्दस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करो!

इन्द्रको संशय

ऋषि–हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार तुम्हारे गुरु दध्यङ अथर्वणने अनेक प्रकारकी युक्तियोंसे अनधिकारी होनेपर भी अपना वचन पालनेके लिये इन्द्रको ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया, परन्तु उनकी आनन्ददायिनी वाणी सुनकर इन्द्र आनन्दको प्राप्त नहीं हुआ, उलटा क्रोधमें भर गया। जैसे कोई दयालु पुरुष सर्पपर दया करके उनको दूधका पान करावे तो भी वे उसपर क्रुद्ध जायँ, इसी प्रकार इन्द्र भी दध्यङ ऋषिकी अमृतमय वाणी सुनकर क्रोधको प्राप्त हो गया। भाव यह है कि जैसे लोकमें जिसकी जिस पदार्थमें आसक्ति होती है, यदि उस पदार्थकी कोई निन्दा करता है तो वह पुरुष निन्दा करनेवालेपर क्रोध करता है, इसी प्रकार स्वर्गादि भोगोंकी निन्दा सुनकर इन्द्र अत्यन्त क्रोधमें भर गया। वह अपने मनमें इसप्रकार विचारने लगा—

इन्द्र–(मनमें) ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे शत्रु असुरोंने मेरा राज्य लेनेके लिये इस ब्राह्मणको मेरे पास भेजा है। तीनों लोकोंके पति मुझको यह ब्राह्मण श्वान कहता है इसलिये यह कोई धूर्त है। पूर्व जन्ममें ब्रह्महत्या करनेवालेको श्वानका शरीर प्राप्त होता है और सौ अश्वमेध-यज्ञ करनेसे इन्द्रपदकी प्राप्ति होती है। मैं इन्द्र सर्वदा अमृतका पान करता हूँ। बहुत कालतक कठिन तपस्या करनेसे लोगोंको मेरे दर्शन होते हैं, इसलिये देवशरीर यज्ञ करनेसे भी प्राप्त होना दुर्लभ है, उस देवशरीरको यह ब्राह्मण श्वानके समान कहता है। मैं अकेला इन्द्र वज्रसे सारे जगत्को वशमें कर सकता हूँ। ब्राह्मणरूपसे यह कोई असुर मेरा राज्य लेने आया है। देव और ब्राह्मणोंकी बुद्धि भ्रष्ट करना चाहता है। यदि यह ब्राह्मण भी हो, तो भी देवताओंका पक्षपाती ब्राह्मण नहीं है। दैत्योंका गुरु शुक्राचार्य अथवा शुक्रके पण्डामर्क नामके पुत्रोंमेंसे यह कोई होना चाहिये। इस दुरात्माके ब्राह्मणत्वका विचार करना व्यर्थ है। मैं इसको मार डालूँ अथवा यहाँसे निकाल दूँ तो ठीक है परन्तु ऐसा करनेसे मेरी लोकमें निन्दा होगी इसलिये कोई अन्य उपाय करना उचित है। अश्विनीकुमार-जैसे विद्वानोंको भी इसीने मुझसे विमुख किया है। ऐसा विचारकर इन्द्र कहने लगा—

इन्द्र–(प्रत्यक्ष) हे ब्राह्मण! जिस ब्रह्मविद्याका तुमने मुझको उपदेश किया है, यदि उस विद्याका तुम किसी दूसरेको उपदेश करोगे तो मैं उसी समय वज्रसे तुम्हारा शिर धड़से अलग कर दूँगा।

हे अश्विनीकुमारो! इतना सुनकर तुम्हारे गुरु दध्यङ ऋषि इसप्रकार विचारने लगे—

दध्यङ–(मनमें) ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है। इन्द्रकी आज्ञा पालन करनेसे मुझे दो प्रकारके दोष नहीं लगेंगे। एक तो ब्रह्मविद्याके उपदेश न करनेसे निष्ठुरतारूप दोषकी निवृत्ति होगी और दूसरे अनधिकारीको ब्रह्मविद्याके दानरूप दोषकी निवृत्ति होगी, इसलिये मुझे इन्द्रकी आज्ञाका पालन करना योग्य है। जैसे गुरुके पाससे

विद्याध्ययन करनेके बाद, शिष्य गुरुको दक्षिणा देता है, इसी प्रकार इन्द्र मुझसे ब्रह्मविद्याका उपदेश लेकर मुझको आज्ञारूपी दक्षिणा देता है। यह दक्षिणा मेरे लिये परम अनुकूल है क्योंकि इस आज्ञासे मैं अनधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं दूँगा। काम, क्रोधादियुक्त अनधिकारीको ब्रह्मविद्या देना निष्फल है। जैसे चाण्डालको गाय देना अथवा नपुंसकको सुन्दर कन्या देना निष्फल है, इसी प्रकार अनधिकारीको ब्रह्मविद्या देना व्यर्थ है। जो कोई विद्वान् स्नेहसे अथवा धनसे मोहित होकर विषयासक्तको ब्रह्मविद्याका उपदेश करता है, वह अपना, ब्रह्मविद्याका और श्रोताका नाश करता है। क्योंकि ब्रह्मविद्या देनेवाला स्वयं द्वेषको प्राप्त होता है, अनधिकारी उभय लोकोंसे भ्रष्ट होता है और दी हुई ब्रह्मविद्या निष्फल जाती है, क्योंकि विद्वानोंका कथन है—

यश्चाधर्मेण वै ब्रूयात् यश्चाधर्मेण पृच्छति।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति॥

अर्थात् जो अधर्मसे ब्रह्मविद्या कहता है और जो अधर्मसे ब्रह्मविद्या सुनता है, उन दोनोंमेंसे एक नष्ट होता है अथवा द्वेषभावको प्राप्त होता है। इसलिये अनधिकारीको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे पाप लगता है। अब इन्द्रकी आज्ञारूपी कृपासे यह पाप मुझसे कभी नहीं होगा। मनुष्य, देव और असुर, जिनके संगसे अनन्त प्रकारकी भेद-बुद्धि प्राप्त होती है और जिनका चित्त बहिर्मुख है, उनसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है। उलटे ऐसोंके संगसे मेरा चित्त बहिर्मुख होता है। बहिर्मुखताके कारण जाग्रत्-अवस्थामें जिस-जिस पदार्थका अनुभव होता है, उस अनुभवसे उत्पन्न हुए संस्कारोंसे वह पदार्थ जैसे स्वप्नमें प्राप्त होता है इसी प्रकार मरणकालमें भी प्राप्त होता है। भेदबुद्धि ही जीवके जन्म-मरणरूप संसारका कारण है। मुझमें भेद-बुद्धिके होनेका अन्य कोई कारण नहीं है किन्तु शिष्यको ब्रह्मविद्याका उपदेश करना, यही मुझमें भेदबुद्धि होनेका कारण है। अज्ञानी जीवके समान मुझे भी उपदेशात्मक भेदबुद्धिसे जन्म-मरणादिकी प्राप्ति होना सम्भव है। 'मैं गुरु हूँ, यह शिष्य है' इसप्रकारकी भेदबुद्धि अविद्या बिना नहीं होती, इसलिये उपदेशके समय अविद्या बिना भेदबुद्धिका होना अयोग्य होनेपर भी ब्रह्मवेत्तामें भी अविद्याका लेश उत्पन्न होता है अतः उपदेशके समय मैं अज्ञानी पामर पुरुषके समान गिना जाऊँगा। 'यह मैं' 'यह मैं नहीं' 'यह मेरा है' 'यह मेरा नहीं है' जीवका इसप्रकारका भेददर्शन जबतक नाश नहीं होता तबतक देहरूपी कारागृहसे उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। भेद ही बन्धनका मुख्य कारण है। मेरे उस भेदका इन्द्रने नाश कर दिया इसलिये दैवअथर्वण नामके मेरे गुरुसे भी इन्द्र अधिक है। यह इन्द्र मेरा परम गुरु है अर्थात् आत्मसाक्षात्कारके बाद जीवन्मुक्तिके सुखके लिये मनोनाश और वासनानाशकी आवश्यकता है। यह बात दैवअथर्वण गुरुने मुझे बतायी थी इसलिये दैवअथर्वण मेरे गुरु हैं परन्तु इन्द्रने तो साक्षात् मेरा मनोनाश और वासनानाश किया है क्योंकि शिष्यको उपदेश देनेके समय गुरुका चित्त बहिर्मुख होता है। इन्द्रने मुझे ऐसी आज्ञा दी है कि जिससे चित्त बहिर्मुख हो ही नहीं। न मैं ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा और न चित्त बहिर्मुख होगा, इसलिये इन्द्र मेरा परम गुरु है। हे अश्विनीकुमारो! ऐसा विचारकर तुम्हारे गुरुने इन्द्रपर क्षमा-दृष्टि की।

अश्विनीकुमार—हे ऋषे! हमारे गुरुने गुरुका द्रोह करनेवाले इन्द्रको शाप क्यों नहीं दिया?

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! तुम्हारे गुरुने विचारा कि श्वान-सर्पादि तामसी जीव अपने अपकार करनेवाले जीवोंपर क्रोध करते हैं। यदि विद्वान भी अपकारीपर क्रोध करे तो वह भी श्वान-सर्पादिके समान गिना जाय। अपकार करनेवालेपर

उपकार करना, यह विद्वान्का लक्षण है। यदि कोई कहे कि विद्वान् भी अपकार करनेवालेपर क्रोध करता है तो उससे पूछना चाहिये कि किसका अपकार करनेसे क्रोध करता है? कूटस्थ आत्माके अपकारसे अथवा शरीरादि जड पदार्थोंके अपकारसे? उनमेंसे प्रथम पक्ष बनता नहीं क्योंकि कूटस्थ आत्मा अविकारी और असंग है इसलिये अपकाररूप विकारसे उसका सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी नहीं बनता क्योंकि विद्वान् जड पदार्थोंसे आत्माको भिन्न जानता है; इसलिये शरीरके अपकारसे विद्वान्की कोई हानि नहीं है। जैसे एक पत्थरसे दूसरे पत्थरपर मारनेसे चैतन्ययुक्त पुरुषको दुःख नहीं होता इसी प्रकार दण्डादि जड पदार्थोंसे देहादि जड पदार्थोंका अपकार होनेसे विद्वान्को दुःख नहीं होता।

अश्विनीकुमार—हे ऋषे! यद्यपि शरीर पाषाणके समान जड है तो भी शरीर आत्माके सुखदुःखका साधन है इसीलिये जैसे भृत्यका अपकार होनेसे राजाको दुःख होता है इसी प्रकार शरीरके अपकारसे विद्वान्को भी क्रोध हो सकता है।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! जैसे एक पुरुष अपने एक हाथसे दूसरे हाथका, पैरका अथवा मस्तकका ताड़न करता है तो उस ताड़नसे उस पुरुषको क्रोध नहीं आता, क्योंकि एक शरीरमें स्थित हस्तपदादिका एक ही आत्मा है, इसी प्रकार एक शरीरको दूसरे शरीरके मारनेसे विद्वान्को क्रोध नहीं होता क्योंकि शास्त्र और युक्तिप्रमाणसे और अपने अनुभवके प्रमाणसे विद्वान् सब शरीरोंमें एक ही आत्मा मानता है इसलिये विद्वान्को जैसा अपना शरीर सुखका साधन है, इसी प्रकार सब शरीर सुखके साधन हैं, अतएव विद्वान् किसीपर क्रोध नहीं करता। जो अपकार करनेवालेपर क्रोध करता है, वह आत्मवेत्ता नहीं है, वह आत्माका नाश करनेवाला है और इसीसे वह नास्तिक और सर्व भूतोंकी हिंसा करनेवाला भी है। तात्पर्य यह है कि असङ्ग आत्माका अपकार नहीं होता, अपकार शरीरादि जड पदार्थोंका होता है, शरीरादिमें जिसकी आत्मबुद्धि है, उसको शरीरादिके अपकार करनेवालेपर क्रोध आता है। इससे सिद्ध है कि शरीरादिमें जो आत्मबुद्धि है, वही क्रोधका कारण है। चार्वाक और नास्तिक शरीरको आत्मा मानते हैं इसलिये उनमें और क्रोध करनेवालेमें भेद नहीं है। क्रोधसे ही पुरुष मन, वाणी तथा शरीरसे जीवोंकी हिंसा करता है। इसलिये क्रोधी मनुष्य सब जीवोंकी हिंसा करनेवाला है। जिसको अद्वितीय आत्माका ज्ञान हुआ है, वह किसी प्राणीपर क्रोध नहीं करता। जो पुरुष किसी प्राणीपर क्रोध करता है, वह पुरुष आत्मवेत्ता नहीं है। जिसको अद्वितीय आत्माका ज्ञान नहीं हुआ है, उसको अपने पुण्य-पापरूप कर्मसे सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। इसप्रकार जाननेवाला भी अपकार करनेवालेपर क्रोध नहीं करता, फिर सर्वात्मदर्शी तत्त्ववेत्ता पुरुष तो अपकारीपर कैसे क्रोध करेगा? जो शास्त्र जाननेपर भी क्रोध करता है, वह विद्वान् नहीं कहलाता, मूढ पुरुषोंमें गिना जाता है। जो क्रोध नहीं करता, वही विद्वान् है। सब प्राणियोंका हित चाहना, यही विद्याका फल है। यह फल क्रोधीको नहीं हो सकता। जैसे गदहा मिट्टीके भारको ही उठाता है, इसी प्रकार क्रोधी पुरुष शास्त्ररूप भारको उठानेवाला है। अतएव चाहे थोड़ा ही शास्त्र पढ़े, श्रवण करे या न करे, किन्तु सर्व प्राणियोंमें आत्माको परिपूर्ण जानकर शरीर, मन तथा वाणीसे किसी प्राणीपर क्रोध न करे। वही विद्वान् कहलानेका अधिकारी है। श्रुतिमें कहा है—

आत्मानं चेद्विजानीयात् सर्वभूतगुहाशयम्।
श्लोकेन यदि वार्धेन क्षीणं तस्य प्रयोजनम्॥

अर्थात् जो पुरुष एक अथवा आधे श्लोकसे सब भूतोंमें व्यापक एक आत्माको जान ले, उस पुरुषका

सब प्रयोजन सिद्ध है। स्मृतिमें भी ऐसा ही कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! जैसे अपनेको सुख प्रिय और दुःख अप्रिय होता है इसी प्रकार जो पुरुष सर्व प्राणियोंके सुखको प्रिय मानता है और दुःखको अप्रिय मानता है, वह पुरुष परम योगी है। जो पुरुष शरीर, मन या वाणीसे प्राणियोंका द्रोह करता है, वह पुरुष इस लोकमें अथवा परलोकमें आनन्दस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं होता, इसलिये जीवोंका द्रोह करना महान् अनर्थका कारण है।

हे अश्विनीकुमारो ! इसप्रकार विचारकर तुम्हारे गुरु दध्यङ ऋषि इन्द्रको शाप न देकर कहने लगे—

दध्यङ—हे इन्द्र ! तुमने मुझे जो आज्ञा दी है, मैं उस आज्ञाका अवश्य पालन करूँगा। यदि मैं तुम्हारी आज्ञाका उल्लंघन करूँ तो तुम मेरा सिर उड़ा देना! ब्रह्मविद्याका किसीको उपदेश न करनेमें मुझे किसी प्रकारका दुःख नहीं है। उलटा जीवन्मुक्तिके सुखका कारण है। परन्तु सर्व लोकोंके अधिपति तुम स्वर्गलोकसे चलकर मेरे आश्रममें आये हो इसलिये मुझे तुमको प्रसन्न करनेके लिये कोई पदार्थ देना चाहिये। मैं चाहता हूँ कि धन, शरीर अथवा दूसरे किसी पदार्थसे मैं तुमको प्रसन्न करूँ।

हे अश्विनीकुमारो ! इसप्रकारके तुम्हारे गुरु दध्यङ ऋषिके वचन सुनकर इन्द्र सात्त्विक भावको प्राप्त हो गया। मुनिका शान्त स्वभाव देखकर इन्द्र प्रसन्न होकर कहने लगा—

इन्द्र—हे ब्राह्मण ! अपने वर्णाश्रमधर्मको पालनेवाले किसी ब्राह्मणका मैं कभी द्रोह नहीं करता, फिर तुम-समान सबपर उपकार करनेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणका तो मैं किसप्रकार द्रोह करूँ ? मैंने पूर्वमें विश्वरूपादि ब्राह्मणों और संन्यासियोंका उनके दुष्ट स्वभावके कारण ही वध किया था। बिना अपराध मैं किसीको नहीं मारता, इसलिये यदि तुम मेरी आज्ञा नहीं मानोगे तो मैं विश्वरूपादिके समान तुम्हारा सिर काट डालूँगा। प्रथम तुमने मेरे कहनेसे ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। ब्रह्मविद्याके उपदेशसे मेरी इच्छा पूर्ण हुई, अब कोई दूसरा कार्य तुम्हारे करनेयोग्य नहीं है, तुम्हारा कल्याण हो ! मैं अपने स्वर्गलोकको जाता हूँ।

ऐसा कहकर इन्द्र स्वर्गलोकको चला गया और तुम्हारे गुरु दध्यङ क्षोभरहित आनन्दपूर्वक अपने आश्रममें रहने लगे।

अश्विनीकुमार—हे ऋषे ! इन्द्रने हमारे गुरुसे जो यह कहा कि ब्रह्मविद्याके उपदेशसे मेरी इच्छा पूर्ण हुई, यह कहना कैसे उचित हो सकता है ? क्योंकि यदि इन्द्रको ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई होती तो वह उनपर क्रोध न करता।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो ! तुम्हारे गुरुने इन्द्रको सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश किया था, नाना प्रकारके कर्म और उपासनाओंका उपदेश किया था और अनेक प्रकारकी जगत्की उत्पत्तिका भी वर्णन किया था। किन्तु इन्द्रमें रागादि दोष थे इसलिये ब्रह्मविद्याके सिवा अन्य सब विद्या उसने ग्रहण की थी। इसलिये इन्द्रने अपनी इच्छाकी पूर्णता कही। हे अश्विनीकुमारो ! इसप्रकार इन्द्रके चले जानेके बाद तुम्हारे गुरु दध्यङने मौन धारण किया और कुछ समयके पीछे तुम दोनों वैराग्यादि साधनसम्पन्न होकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये दध्यङ ऋषिके पास गये और उनको प्रणाम करके कहने लगे—

हे भगवन् ! हमने पूर्वमें आपसे ब्रह्मविद्याका उपदेश देनेके लिये प्रार्थना की थी और आपने प्रतिज्ञा की थी कि जब तुम वैराग्यादि साधनसम्पन्न होकर आओगे तो मैं तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा। अब हम वैराग्यादि साधन-सम्पन्न होकर आपके चरण-कमलोंकी शरणमें आये हैं इसलिये हे कृपालो ! अपनी प्रतिज्ञा सत्य करनेके लिये आप हमको ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये। (क्रमशः)

भक्त और अभक्तके लक्षण

यमराजका अपने दूतोंके प्रति उपदेश

यम उवाच

न चलति निजवर्णधर्मतो यः
समममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः
स्थितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥
कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम् ॥
कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यस्समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥
स्फटिकगिरिशिलामलः क्व विष्णु-
र्मनसि नृणां क्व च मत्सरादिदोषः।
न हि तुहिनमयूखरश्मिपुञ्जे
भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः॥
विमलमतिरमत्सरः प्रशान्त-
श्शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः।
प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः॥
वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः।
क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः
कथयति चारुतयैव शालपोतः॥

यमराज बोले—जो पुरुष अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंके प्रति समान भाव रखता है, किसीका द्रव्य हरण नहीं करता तथा किसी जीवकी हिंसा नहीं करता उस अति उदार और स्थितचित्त व्यक्तिको ही भगवान् विष्णुका भक्त जानो । जिस निर्मल-मतिका चित्त कलि-कलुषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें श्रीजनार्दनको बसा रक्खा है उस मनुष्यको भगवान्‌का अतीव भक्त समझो । जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके सोनेको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिद्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्‌का अनन्यभावसे चिन्तन करता है उस नर-श्रेष्ठको विष्णुका भक्त जानो । कहाँ तो स्फटिक गिरिशिलाके समान अति निर्मल भगवान् विष्णु और कहाँ मनुष्योंके चित्तमें रहनेवाले राग-द्वेषादि दोष ? (भगवान्‌के हृदयमें आते ही दोष नष्ट हो जाते हैं) भला हिमकर (चन्द्रमा) के किरणजालमें अग्नि-तेजकी उष्णता कभी रह सकती है । जो व्यक्ति निर्मल-चित्त, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्ध-चरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितवादी तथा अभिमान एवं मायासे रहित होता है उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सर्वदा विराजमान रहते हैं । उन सनातन भगवान्‌के हृदय-में विराजमान होनेपर पुरुष सौम्यमूर्ति हो जाता है, जिस प्रकार नवीन शाल-वृक्ष अपने सौन्दर्यसे ही भीतर भरे हुए अति सुन्दर पार्थिव-रसको बतला देता है ।

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम्॥
हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा।
तदघमघविघातकर्तृ भिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के॥
हरति परधनं निहन्ति जन्तून्
वदति तथाऽनृतनिष्ठुराणि यश्च।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः
कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः॥
न सहति परसम्पदं विनिन्दां
कलुषमतिः कुरुते सतामसाधुः।
न यजति न ददाति यश्च सन्तं
मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य॥
परमसुहृदि बान्धवे कलत्रे
सुततनयापितृमातृभृत्यवर्गे।
शठमतिरुपयाति योऽर्थतृष्णां
तमधमचेष्टमवेहि नास्य भक्तम्॥
अशुभमतिरसत्प्रवृत्तिसक्त-
स्सततमनार्यकुशीलसङ्गमत्तः।
अनुदिनकृतपापबन्धयुक्तः
पुरुषपशुर्न हि वासुदेवभक्तः॥
सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान्परमेश्वरस्स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात्॥
कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥

हे दूत! यम और नियमके द्वारा जिनकी पापराशि धुल गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही आसक्त रहता है, तथा जिनमें अभिमान, अहंकार और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है उन मनुष्योंको तुम दूरहीसे त्याग देना। यदि खड्ग, शङ्ख और गदाधारी अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पापनाशक भगवान्‌के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। सूर्यके रहते हुए भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है? जो पुरुष दूसरोंका धन हरण करता है, जीवोंकी हिंसा करता है तथा मिथ्या और कटुभाषण करता है उस अशुभ कर्मोन्मत्त दुष्ट-बुद्धिके हृदयमें भगवान् अनन्त नहीं टिक सकते। जो कुमति दूसरोंके वैभवको नहीं देख सकता, जो दूसरोंकी निन्दा करता है, साधुजनोंका अपकार करता है तथा न तो श्रीविष्णुभगवान्‌की पूजा ही करता है और न (सम्पन्न होकर भी दीनोंको) दान ही देता है उस अधमके हृदयमें श्रीजनार्दनका निवास कभी नहीं हो सकता। जो दुष्टबुद्धि अपने परम सुहृद्, बन्धु-बान्धव, स्त्री, पुत्र, कन्या, माता, पिता तथा भृत्यवर्गके प्रति अर्थ-तृष्णा प्रकट करता है उस पापाचारीको भगवान्‌का भक्त न समझो। जो दुर्बुद्धि पुरुष असत्कर्मोंमें लगा रहता है, नीच पुरुषोंके आचार और उन्हींके संगमें उन्मत्त रहता है तथा नित्यप्रति पापमय कर्मबन्धनसे ही बँधता जाता है वह पशु ही है; वह भगवान् वासुदेवका भक्त नहीं हो सकता। यह सकल प्रपञ्च और मैं एक परम पुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेसे जिनकी ऐसी स्थिरबुद्धि हो गयी हो, उन्हें तुम दूरसे ही छोड़कर चले जाना। 'हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणिधर! हे अच्युत! हे शङ्खचक्रपाणे! आप हमें शरण दीजिये'—जो लोग इसप्रकार पुकारते हों उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना।

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते।
तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः॥
(तृ० अं० ७। २०-३४)

जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराजते हैं उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है वहाँतक भगवान्‌के चक्रके प्रभावसे अपना बल-वीर्य नष्ट हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं हो सकती। वह (महापुरुष) तो अन्य (वैकुण्ठादि) लोकोंका पात्र है। *

वह दिन कब आवेगा ?

(लेखक—श्रीप्रेम-पथ-पथिक)

प्यारे नटनागर! तुम्हीं बताओ कि मेरा चिरवाञ्छित वह सुदिन कब आवेगा? दुलारे चित-चोर! तुम्हीं कहो कि वह शुभ घड़ी, वह सुहावना सरस समय, वह परम प्रिय अनमोल पल, वह भाग्योदयका मुहूर्त कब होगा जब ये चिरतृषित नेत्र उस अनूप रूप-माधुरीका पानकर अन्य किसी भी छविको न देख सकेंगे? अहा! वह समय बड़ा ही अनमोल होगा जब प्रियतमका करोड़ों चन्द्रमाओंको लजानेवाला मोहन मुखड़ा घनश्याम मेघसे निकल पड़ेगा और अपनी विश्वविमोहिनी चटकीली चाँदनीसे विश्वको चमका देगा। उस समय कोयल पञ्चम स्वरसे 'कुहू, कुहू' की ध्वनिसे अपने प्राणाधारको पुकार उठेगी। पपीहा 'पी कहाँ' की रटसे प्रेमिकाको अधीर कर देगा। मोरके शोरसे सहसा हृदयमें चोट लग जायगी। योगी चञ्चल चितवनसे उस नवीन चन्द्रकी ओर त्राटक लगा लेंगे और प्रकृतिदेवी उस अलौकिक सौन्दर्यकी झाँकीकर थिरक-थिरक नाचने लगेगी।

भक्त-मन-चोर! सच कहना यह चोरीकी कला तुमने किससे और कब सीखी? सुनते हैं, तुम व्रजललनाओंसे बड़े इठलाते हो, उनका माखन चुरा लेते हो और कोई-कोई तो यहाँतक कहते हैं कि उनका सर्वस्व लूट लेते हो! यदि बात सत्य है तो क्या मैं भी तुम्हरी इस लूट-पाटका एक नवीन पात्र बन सकता हूँ? क्या मैं भी तुमसे यह कह सकता हूँ कि ऐ अनोखे चोर! मेरा भी 'चित्त' चुरा लो? क्या मेरी ओरसे तुम्हारा नाम 'मन-चोर' न पड़े?

मेरे राम! वह दिन कब आवेगा जब मैं भी मुनि-शापसे शिला हो जाऊँगा और तुम्हारे चरण-रज-स्पर्शसे मुझे उस परमानन्दकी प्राप्ति होगी जिसके लिये योगिजन लाखों वर्षतक निराहार रहकर तुम्हारी उपासना किया करते हैं। भवभयहारी राम! वह शुभ घड़ी कब आवेगी कि जब नटखट केवटकी नाईं मुझे भी कठौतेमें तुम्हारे कोमल चरण-कमलको अपने इन कठोर हाथोंसे खूब मल-मलकर धोनेकी अनुमति मिल जायगी?

हे गोपीकुमार! वह समय कब आवेगा जब मैं तुम्हें कदम्बपर मन्द-मन्द हास्य करते हुए बाँसुरीके मधुर स्वरोंको गाते सुनूँगा, जिन्हें सुनकर व्रजललनाएँ अपने घर-द्वार, पति-पुत्र-परिवारको परित्यागकर तुम्हारी ओर बलात्कार खिंच जाती थीं। खिलाड़ी! सुना है तुम्हारी मुरलीमें अजीब आकर्षण है! उसके स्वरोंमें अपार अनोखापन है। बाँसुरी तो मैंने बहुत सुनी है पर तुम्हारी बाँसुरी तो गजब कर देती है। देवता और मनुष्योंकी कौन कहे, पशु-पक्षीतक उस ध्वनिको सुनकर स्तब्ध होकर खाना-पीना भूल जाते हैं।

* यह गीताप्रेससे शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाले विष्णुपुराण अंश ३, अध्याय ७ का कुछ भाग है। जो पुस्तक छापी जा रही है, उसमें मूल श्लोकोंके टाइप इससे कुछ बड़े और सुन्दर हैं।

सुना है अब भी तुम वृन्दावनकी कुञ्जोंमें वही राग तान छेंडते हो और भाग्यवान् भक्तोंको अब भी तुम्हारी वशीकी ध्वनि साफ-साफ सुनायी देती है। यदि तुम्हारी कृपा दृष्टि हो गयी तो तुम उन्हें अपने मोहन मुखड़ेका दर्शन दे कृतकृत्य कर देते हो। हे पतितपावन ! क्या मुझे प्रेमके प्यालेकी एक बूँद पान करनेका भी अवसर न मिलेगा ? क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि तुम्हारा एक प्रेम पथ पथिक तुम्हारे प्रेम पथसे गुमराह हो जाय और कँटीले जगलोंमें भटकता रहे ? यह तो बिल्कुल सही है कि मेरे अन्दर ब्रजललनाओंका सा प्रेम नहीं, केवटके-से प्रेम लपेटे अटपटे बैन नहीं, गजका-सा आर्त्तनाद नहीं, प्रह्लादकी सी अनन्यता और निष्कामता नहीं, ध्रुवका-सा विश्वास नहीं, द्रौपदीकी सी पुकार नहीं, सूरदास-की-सी लगन नहीं और गोस्वामी तुलसीदासका-सा भरोसा नहीं, फिर भी तुम ठहरे पतितपावन और मैं ठहरा तुम्हारा एक पतित। यदि तुम्हारा दावा है कि मैं पतित-से-पतितका भी उद्धार करता हूँ तो मैं इसी नाते तुमसे कहता हूँ और करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि वह दिन कब आवेगा जब तुम इस पतितका उद्धारकर अपने पतितपावन नामको सार्थक करोगे।

मेरे हृदयके राजा ! वह दिन कब आवेगा जब मैं सांसारिक झञ्झटोंको छोड, विषयोंसे मुख मोड़, सोनेकी बेडी तोड, तुम्हारे पाद पद्मोंसे सम्बन्ध जोड़ूँगा ? कब तुम्हारे चरणोंका स्पर्शकर शान्ति लाभ करूँगा, तुम्हारे कमल नयनोंको देखकर तृषित नेत्रों-को शान्त करूँगा, तुम्हारे मुखकञ्जको निरख निरख कलेजेकी कसकको मिटाऊँगा और तुम्हारी सुखमयी गोदमें बैठकर तुम्हारे शीतल कर-स्पर्शसे उस आनन्द-का अनुभव करूँगा जिसका करोड़ों जिह्वाएँ भी मिल-कर वर्णन नहीं कर सकतीं।

वह दिन कब आवेगा जब मैं भी सूरदासकी नाईं कहूँगा कि—

बाँह छुड़ाये जात हो, निबल जानिकै मोहि।
हृदयसे जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

तुम आगे-आगे भागते जाओगे और मैं पीछे-पीछे दौड़ता रहूँगा और तबतक नहीं छोड़ूँगा जबतक तुम पकड़ न जाओगे।

मेरे जीवनाधार! अब न तरसाओ। बस, बहुत हो चुका। सभी बातोंकी एक हद होती है, सभी कामोंका एक अन्त होता है। *'का वर्षा जब कृषी सुखाने।'* अगर मिलना ही है तो अभी मिलो, इसी क्षण मिलो, मैं कबसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। देखते देखते आँखें फूट गयीं। रोते-रोते आँसू सूख गये। पुकारते-पुकारते गला बैठ गया पर तुम न आये! हृदय-कपाट हर समय तुम्हारे लिये खुले पड़े हैं और प्रेम शय्या भी बिछी है, तुम जब चाहो उसपर शयन कर सकते हो। तुम्हें यह कहनेका भी मौका नहीं मिलेगा कि 'द्वार खटखटाया पर उत्तर न मिला। द्वार खुला रहनेसे चोर-डाकू बड़ा तग करते हैं पर तुम्हारे ही कारण मैंने उन्हें खोल रक्खा है और तबतक खुला रक्खूँगा जब-तक उनका तनिक भी अस्तित्व रह जायगा। यदि मैं यह समझ लूँ कि तुम नहीं आओगे तब भी मुझे विश्वास नहीं हो सकता क्योंकि तुम्हें आना ही पड़ेगा। अवश्य ही अब मैंने समझा, तुम्हारे कर्णरन्ध्रतक मेरी करुण पुकार नहीं पहुँची है, नहीं तो तुम अपना वाहन छोड पैदल ही दौड़े चले आते।

याद रक्खो यदि देर करके आये तो तुम मुझे नहीं पा सकते।

प्राण तृषातुरके रहे, थोरेहु जलदान।
पीछे जल भर सहस घट, डारेहु मिले न प्रान॥

ईश्वर-भजन कैसे हो

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा—अरी विलक्षणमति बहिन! ऋषि, मुनि और शास्त्रोंकी वाणी सुन-सुनकर मैं तो चकित और अत्याश्चर्यान्वित होती हूँ। सब कहते हैं कि ईश्वर-भजन करो, ईश्वर-भजन करो! किसी भी महात्मासे कल्याणका उपाय पूछा जाय, वह यही उत्तर देते हैं कि ईश्वर-भजन ही संसारके तापसे मुक्त करनेवाला है, इसके सिवा संसारके दलदलमें फँसे हुए लोगोंके लिये और कोई उपाय नहीं है। परन्तु बहिन! जबतक कोई वस्तु जानी न जाय तबतक उसका भजन तथा प्रेम कैसे हो? प्रेम बिना भजन होना कठिन है और वस्तुको बिना जाने उसमें प्रेम कैसे हो? कोई ईश्वरको जन्मवाला मानते हैं, तो कोई उसे अजन्मा कहते हैं। कोई सर्वव्यापक कहते हैं, तो कोई एकदेशी। कोई विकारी, तो कोई अविकारी। कोई सर्वगुणसम्पन्न, तो कोई निर्गुण। कोई सब लोकोंका आधार, तो कोई सर्वथा निराधार। कोई मायाविशिष्ट, तो कोई मायारहित। कोई आकाशके समान निर्लेप, तो कोई सर्वव्यापक। कोई साक्षी, तो कोई सर्व इन्द्रियोंका प्रेरक। कोई दशरथसुत रामको ईश्वर कहते हैं और कोई नन्दनन्दन वासुदेव ही ईश्वर है, ऐसा कहते हैं। कोई ईश्वरको परब्रह्म, कोई शिव, कोई परमात्मा, कोई महाविष्णु, कोई परासंवित्, कोई परमेश्वर, कोई नारायण, कोई अनन्त, कोई शेषनाग, कोई गणेश, कोई जनार्दन, कोई मुकुन्द और कोई प्रज्ञान इत्यादि अनेकानेक संज्ञा और प्रकारोंसे युक्ति-प्रयुक्तिद्वारा ईश्वरका वर्णन करते हैं। अब मुझ-जैसी अबला यह कैसे जाने कि ईश्वर कैसे हैं और उनका कहाँ स्थान है तथा कैसा वर्ण-आकार है। कोई तो ईश्वरको वर्ण-आकारोंसे रहित कहते हैं और कोई समस्त वर्ण-आकार उन्हीं ईश्वरके बतलाते हैं। इन भिन्न-भिन्न प्रकारोंसे वर्णित ईश्वरको मैं नहीं जान सकती। कोई ईश्वरको आत्मा है, ऐसा कहते हैं, फिर आत्माको अणु, मध्यम और महान् भी कहते हैं। भला, एक ईश्वर इतने प्रकारका कैसे हो गया? ऐसा विचारकर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और किसी प्रकार भी मैं शान्तिको प्राप्त नहीं करती! शान्ति बिना सुख कैसा? यदि एक वस्तुका एक ही प्रकारसे वर्णन हो, तब तो बुद्धि कुछ ग्रहण करनेमें समर्थ भी हो और तभी उसपर विश्वास भी हो सकता है। कहाँ एक ईश्वर और कहाँ अनेक! कहाँ अजन्मा और कहाँ जन्म लेनेवाला! कहाँ सर्वव्यापक और कहाँ एकदेशी! कहाँ अकर्ता और कहाँ सर्व जगत्-कर्ता! कहाँ भोक्ता और कहाँ द्रष्टा! कहाँ निर्गुण, कहाँ गुणवाला! कहाँ निराधार, कहाँ सर्वाधार! कहाँ आत्मा, कहाँ परात्मा! कहाँ मायाविशिष्ट, कहाँ मायारहित! कहाँ गुणातीत, कहाँ सर्वगुणसम्पन्न इत्यादि। कहाँतक गिनाऊँ, ईश्वरके सम्बन्धमें लोगोंके इसप्रकार परस्पर-विरुद्ध वर्णनका कहीं अन्त ही दिखायी नहीं देता। वाह री शास्त्र-वाणी, बलिहारी! यदि तू ऐसे ही ईश्वरको गाती रही तो बिना यथार्थ जाने मुझ-जैसी स्त्रियोंसे तो भजन बनना ही दुस्तर है। परन्तु बिना भजन कल्याण भी नहीं। अब बहिन! आप ही मेरी शंकाका निवारण करो कि मैं ईश्वरको कैसे जानूँ? कुछ तो उसका रहस्य बताओ कि ईश्वर ऐसा है, जिससे मुझे विश्वास हो और उसमें चित्त लगे। बिना किसीका भेद जाने उसका कैसे स्मरण-भजन किया जाय? मुझे पल-पलमें यही चिन्ता सताती रहती है कि

ईश्वरको कैसा मानूँ, वह तो अनेक प्रकारका है। किसमें मन लगाऊँ, यह सत्य कि वह सत्य है, क्या कहूँ, कहाँ जाऊँ। बड़ी ही व्याकुल हूँ। किसको छोड़ूँ, किसको ग्रहण करूँ? फिर यह भी सुनती हूँ कि बिना एकको पकड़े गति नहीं है। इसपर एक दृष्टान्त भी सुना था।

एक ब्राह्मण बड़ा ही ईश्वर-भक्त था, वह अनेक नामोंसे ईश्वरका भजन किया करता था। एक बार कहीं यात्राको जा रहा था, रास्तेमें एक नदी पड़ी, और थोड़ा जल समझकर उसने नदीमें प्रवेश किया। परन्तु आगे बढ़ा तो देखा कि जल अथाह है। यह देखकर उसके प्राण संकटमें आ गये! कोई मल्लाह इत्यादि वहाँपर नहीं था। अब सिवा ईश्वर-पुकारके और क्या हो सकता था? उसने ईश्वरको पुकारना प्रारम्भ किया और कभी राम, कभी कृष्ण, कभी शिव, कभी विष्णु इत्यादि नाम ले-लेकर वह भगवान्‌को पुकारने लगा। परन्तु कोई भी नहीं आया और वह बेचारा डूब गया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिमेंसे कोई न आया! ब्रह्मा चले तो शिवका नाम सुनकर रह गये, शिव विष्णुका नाम सुन ठहर गये, विष्णु रामका नाम सुनकर लौट गये, राम कृष्णका नाम सुनकर न आये। इसप्रकार सब रुक गये, कोई न आया और उसका काम तमाम हो गया। अतएव ठीक-ठीक जाने बिना ऐसी गति होती है। इसी कारण मैं ईश्वरका यथार्थ रूप जानना चाहती हूँ! आप दयासागर हैं। दयाकी दृष्टि करके मुझे संशय-सागरसे पार करो।

*कोकिला—*बहिन! जिसप्रकार शास्त्र कहता है, ईश्वर वैसा ही है, यह दूसरी बात है कि तुम्हारी बुद्धि उसको ग्रहण न करे। इसमें शास्त्र और ऋषि-मुनियोंका क्या दोष है? वे तो जैसा ईश्वर होगा वैसा ही बतावेंगे। नयी उक्ति कहाँसे लावेंगे? यह सब गाथा परम्परासे चली आ रही है, नयी तो कभी कुछ होती ही नहीं। सृष्टिके आदिमें ईश्वर जो रच देता है उसीको सब गाया करते हैं। यह ठीक है कि बिना जाने किसी भी वस्तुका स्मरण नहीं हो सकता, फिर मन-बुद्धिसे अगम उस परम पुरुषका तो स्मरण हो ही कैसे? अब ध्यान देकर सुनो, मैं ईश्वरप्रेरणासे उस ईश्वरका किञ्चित् वर्णन करती हूँ। वह जाननेमें नहीं आता इसीलिये अपने जतानेके लिये एकसे अनेक हो जाता है। अजन्मा होकर जन्म लेता है, निर्विकार होकर विकारी होता है, साक्षी होकर इन्द्रिय-प्रेरक होता है, अवयवरहित होकर अवयववाला बनता है, इन्द्रियातीत होकर इन्द्रिययुक्त होता है, निराधार होकर सबका आधार होता है, निर्गुण होकर गुणवाला होता है। मायारहित होकर मायाविशिष्ट होता है, अणु होकर महान् और महान् होकर अणु होता है। इसी प्रकार सबसे पृथक् और सबके अन्तःकरणमें व्यापक होकर वही ईश्वर स्थित है। उसमें सर्वसामर्थ्य है, सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर अपनी मायाशक्तिद्वारा चाहे जो बन जाय और चाहे जो करे। अखण्ड सुखस्वरूप परमात्मा ज्ञानस्वरूप होनेसे स्वतन्त्र है। सर्वसामर्थ्ययुक्त होनेसे ही तो उसको ईश्वर कहते हैं। ईश्वर नाम ही उसका है जिसमें सर्वसामर्थ्य हो। वह एक ही समर्थ प्रभु अपनी मायाशक्तिद्वारा युग-युगमें अनेकों रूपोंसे अवतार लेता है। जहाँ जैसी आवश्यकता देखता है, वैसा ही बन जाता है। भक्तजनोंकी रक्षा करने और दुष्टोंका संहार करनेके लिये, कभी हयग्रीवावतार, कभी मत्स्यावतार, कभी वराहावतार, कभी कच्छपावतार, कभी मोहिनी-अवतार, कभी नरसिंहावतार, कभी वामनावतार, कभी रामावतार, कभी कृष्णावतार इत्यादि अनेकों अवतार धारण करता है।

जब ईश्वरकी आज्ञासे ब्रह्माने सृष्टि उत्पन्न की, तब यह प्रश्न आया कि सृष्टि कहाँ बसे? पृथिवी तो कहीं-

पर थीं नहीं। ब्रह्मा विचारने लगे। भगवान् अन्तर्यामी हैं, शीघ्र ही वराह-अवतार धारण करके हिरण्याक्ष दैत्यको मारकर पृथिवीको रसातलसे ऊपर ले आये। मत्स्यावतारमें प्रलयके समय राजा सत्यदेवसहित सप्तऋषि और ओषधियोंको पृथिवीपर रखकर प्रलयके जलमें आप मत्स्यमुखसे पृथिवीको पकड़े रहे। कच्छप-अवतारमें जब कि अमृत निकालनेके लिये सुमेरु पर्वतकी रई बनाकर समुद्रको मन्थन करने लगे तब सुमेरु समुद्रमें डूबने लगा, देवताओंमें हाहाकार मच गया, तब कच्छपरूप धारणकर भगवान्ने अपनी पीठपर सुमेरुको धारण कर लिया। फिर भली प्रकार समुद्रका मन्थन किया गया। सुमेरुकी रगड़ भगवान्को खाज खुजलायी जानेके समान प्रतीत हुई। क्या भगवान्के बिना किसी औरमें ऐसा साहस और बल हो सकता है? इसी प्रकार अनेक रूप धारण करके अनेक पराक्रम भगवान्ने दिखाये। श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारोंकी आपकी लीलाएँ प्रसिद्ध हैं। भगवान् इसी कारण अवतार लेते हैं कि मायामें फँसकर मनुष्य ईश्वरको भूल जाते हैं और मायामें मोहित हुए मनुष्य ईश्वरपर विश्वास नहीं करते। शास्त्र, गुरुकी शिक्षा न सुनकर अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार तर्क करते ही रहते हैं। तर्कशीलोंको इस लोक तथा परलोकमें कुछ भी फल नहीं मिलता, क्योंकि तर्करहित परमात्मा तर्कोंसे प्राप्त नहीं हो सकता।

ईश्वर प्रकाशस्वरूप है, उसीके उजियालेमें सर्व-जगत् कार्य कर रहा है। सूर्य उसीके प्रकाशसे सबको प्रकाश तथा उष्णता दे रहा है। चन्द्रमा उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हो सर्वदा शीतलता दे रहा है। अग्नि उसीके प्रकाश तथा शक्तिसे ब्रह्माण्डभरको अपना भक्ष्य बना लेता है। बिजली तथा तारे सब उसीके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। वायु उसीके प्रकाशसे वहन करता है, जल उसीके प्रकाशसे द्रवित होता रहता है। आकाशमें उसीका अवकाश है। जब ये आदिभूत उसीकी सत्तासे शक्तिमान् हैं और नियमबद्ध हो अपने-अपने कार्य नियमपूर्वक चला रहे हैं तब औरोंका क्या कहना? वही एक ईश्वर ब्रह्म ही पिण्ड-ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टि-व्यष्टिरूप होकर जगत्के कार्य कर रहा है। वही ब्रह्मा होकर जगत् उत्पन्न करता है, वही विष्णु होकर जगत्की रक्षा करता है, वही रुद्ररूप होकर जगत्का संहार करता है, वही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंका स्वामी है। वही ईश्वर विराट्रूपसे समष्टि-जाग्रत्का अभिमानी, हिरण्यगर्भरूपसे समष्टि-स्वप्नका अभिमानी और ईश्वर अन्तर्यामीरूपसे समष्टि-सुषुप्तिका अभिमानी है। वही विश्वरूपसे जाग्रत्-व्यष्टिका अभिमानी, तैजसरूपसे व्यष्टि-स्वप्नका अभिमानी, प्राज्ञरूपसे व्यष्टि-सुषुप्तिका अभिमानी है। वही मातारूपसे जगत्को उत्पन्न करता है। वही पितारूपसे वीर्य प्रदान करता है। श्रुतिमें कहा है कि वही ब्रह्म सृष्टिको रचकर जीवरूपसे आप ही प्रवेश कर गया। इसलिये सब रूप ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अन्तर्यामीरूपसे उसी ब्रह्मकी उपासना अन्तर्यामी ब्राह्मणमें इसप्रकार बतायी है। जो पृथिवीमें रहता है और पृथिवी जिसका शरीर है, पृथिवी जिसको नहीं जानती, जो पृथिवीको जानता है, वही अन्तर्यामी ब्रह्म तेरा आत्मा है। जो जलमें रहता है और जल जिसका शरीर है, जल जिसको नहीं जानता, जो जलको शासन करता है, वही अन्तर्यामी ब्रह्म तेरा आत्मा है। जो सब भूतोंमें रहता है, सर्वभूत जिसका शरीर है, सर्वभूत उसको नहीं जानते और वह सब भूतोंको नियममें चला रहा है, वह अन्तर्यामी ब्रह्म तेरा आत्मा

है । वही ब्रह्म सर्वभूतोंकी बुद्धिरूप गुहामें शयन कर रहा है इसलिये ब्रह्म पाससे भी पास है और सर्वत्र है । परन्तु स्थूल दृष्टिवालोंको अति पास होते हुए भी ईश्वर दिखायी नहीं देता । जिनको संसारसे वैराग्य नहीं, जो अनात्मा संसार, देह, गेह, स्त्री-पुत्रादि-को ही सच्चा मानते हैं, अर्थात् यही हमारे आत्मा हैं, ऐसा जिनको दृढ़ ज्ञान हो रहा है, उनको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् अन्तर्यामी परमात्मा कैसे दिखायी दे ? जबतक संसारसे घृणा न होगी अर्थात् विषय विषवत् न लगेंगे, तबतक कभी भी उस परमात्माका स्वरूप जाननेमें नहीं आवेगा । ईश्वरका घर एक देशमें भी है और सारे ही देश उसके घर हैं । सूक्ष्म दृष्टिवालोंको ईश्वर सर्वत्र है और स्थूल दृष्टिवालोंको एक देशवाला प्रतीत होता है । इसी प्रकार ईश्वर निर्गुण और सगुण है, सूक्ष्म दृष्टिवालोंके लिये निर्गुण और स्थूल दृष्टिवालोंको सगुण ब्रह्म है, ऐसा प्रतीत होता है । ऐसे ही स्थूल दृष्टिवालोंको ईश्वरका जन्म होता दिखायी देता है, सूक्ष्म दृष्टिवालोंके लिये तो ईश्वरका जन्म न कभी हुआ, न होगा । क्योंकि अजन्माका जन्म कैसा ? निर्गुण सगुण कैसे ? परन्तु मायामें सब सामर्थ्य है, जन्म न लेनेवालेका भी जन्म करके दिखा देती है । माया अघटनघटनापटीयसी है । वास्तवमें तो जीवका ही जन्म-मरण नहीं, तब ईश्वरका जन्म कैसा ?

श्यामा—फिर जन्म कैसे हो गया ? यदि जन्म न होता हो तो सब यम-नियम साधन मिथ्या हो जायँगे क्योंकि जब जन्म ही नहीं तो साधन कौन करे ?

कोकिला—उपाधियोंसे जीव-ईश्वरका जन्म होना निश्चित है । उपाधि जन्मती है, उपाधि मरती है, [illegible] ऐसा प्रतीत होता है कि जीव जन्मा, अवतार भी है । स्वरूपसे जीव-ईश्वरका अभेद है, उपाधिसे ही दोनोंका भेद दीखता है । स्वरूपसे भेद नहीं है । इसलिये ईश्वर सर्वत्र और सर्वव्यापक है । चाहे जहाँ भजन कर सकती हो । जब सब भूतोंमें और सर्वत्र ईश्वर है तब उसके जाननेमें क्या सन्देह है ? जैसे पट यानी वस्त्र तन्तुका शरीर है, वैसे ही सर्व नाम-रूप ईश्वरका शरीर है । ईश्वर ही सब प्राणियोंमें ओतप्रोत है । जैसे पटमें तन्तु ओतप्रोत हैं, यदि तन्तु निकाल लिये जायँ तो वस्त्र-की सत्ता ही नहीं रह सकती, इसी प्रकार ईश्वर बिना जगत्की सत्ता नहीं रह सकती । ये जो सब पदार्थ दिखायी देते या देखनेमें आते हैं, सब ईश्वर-आत्माके मन्दिर हैं ।

श्यामा—जब कि वह एक ही ईश्वर सबमें प्रवेश किये है, तब वह छोटा, बड़ा, नीच तथा ऊँच कैसे हो गया ? क्या उसके खण्ड भी हो जाते हैं ?

कोकिला—नहीं, उसके खण्ड नहीं हो सकते, और न वह छोटा-बड़ा, नीच-ऊँच होता है । वह तो एकरस, अखण्ड, अद्वितीय, निरवयव आत्मदेव है । उपाधियोंके भेदसे ईश्वर छोटा, बड़ा, नीचा तथा ऊँचा प्रतीत होता है; जैसी उपाधि या वस्तु होती है, वह वैसा हुआ सा दीखता है, वास्तवमें वैसा हुआ नहीं । जैसे काष्ठमें वर्तमान अग्नि काष्ठके संयोगसे टेढ़ा-सीधा, छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा इत्यादि प्रतीत होता है, अग्निमें कोई विकार नहीं है यह सब अग्निकी उपाधि काष्ठका भेद है । काष्ठ सीधा तो अग्नि सीधा, काष्ठ टेढ़ा तो अग्नि टेढ़ा प्रतीत होता है—स्वरूपसे अग्नि एकरस है, वैसे ही ईश्वर, आत्मा ज्यों-का-त्यों है, वह न किसीसे कम है, न किसीसे अधिक है, न ऊँचा, न नीचा है । यह सर्व उपाधि ही है । वास्तवमें उसका न कोई नाम है, न रूप है । उस नामविहीन परमात्माके भक्तोंने अपनी-अपनी

भावनाओंके अनुसार अनेकों नाम रख लिये हैं। परब्रह्म परमात्मा, परासंवित्, परमशिव, परमदेव, परमेश्वर, महाविष्णु, भगवान्, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, वासुदेव, हरि, हर, नारायण, जनार्दन, अनन्त, शेष, गणेश, प्रज्ञान इत्यादि अनेकों नाम उस ईश्वरके वाचक हैं। उस परे-से-परे अविनाशी ईश्वरका पवित्र होकर भाग्यवान् अधिकारी सर्वदा मन, कर्म, वाणीसे पूजन-ध्यान करे। श्रद्धासहित गुरु-शास्त्रमें विश्वास करके जो जन ईश्वरको जान जाता है, उसके लिये समस्त विश्व शान्तिमय हो जाता है। न उसका कोई शत्रु रहता है न मित्र, क्योंकि उसको सर्वत्र ईश्वर-आत्मा सम भासता है। लेकिन जिन मूढ़ मनुष्योंकी दृष्टि मिथ्या देह, गेह, जड नाम-रूपपर मोहित होकर उसीको आत्मा मानकर उसीके लालन-पालनमें आसक्त है, उनको बुद्धिमें बसा हुआ सत् ईश्वर कैसे दिखायी दे? जैसे कण्ठगत मणि भ्रम चित्तवालोंको नहीं दिखायी देती इसी प्रकार देह-व्यवहार सत्य माननेवालोंको हृदयमें स्थित ईश्वर दिखायी नहीं देता। ईश्वरके जाननेमें शरीर ही आड़ है, नाम-रूपवाले होनेसे तीनों शरीर असत्, मिथ्या और आगमापायी हैं। ईश्वर सत् है, जगत् मिथ्या, असत् है। सत् और असत्का मेल कैसा? परन्तु लोगोंको, जिनकी आँखोंपर नाम-रूप मायाका परदा पड़ा हुआ है, उनका मेल हुआ-सा दीखता है। बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें तो नाम-रूप कोई वस्तु नहीं है, सर्व विकार-मात्र हैं। जैसे सुवर्णके विकार कड़े-कुण्डल आदि हैं, मिट्टीके विकार घड़े-शरावे इत्यादि बनते-बिगड़ते रहते हैं। मिट्टी, सुवर्ण ही अन्तमें शेष रहते हैं। वैसे ही नाम-रूप जगत्‌रूप विकार उत्पन्न तथा लय होता रहता है, ईश्वर ही अन्तमें शेष रहता है। पाँच भूत तीनों गुणोंमेंसे एक सत् ईश्वरको निकाल लिया जाय तो पञ्चभूत तीन गुण रह ही नहीं सकते, क्योंकि ये सब उसीमें अध्यस्त हैं अर्थात् कल्पित हैं। जैसे रज्जु बिना सर्पकी कल्पना नहीं हो सकती, ऐसे ही ईश्वर बिना जगत्‌की कल्पना नहीं हो सकती। इस कारण सब ईश्वर ही है, ईश्वरके सिवा कुछ भी नहीं है, वही सबका आत्मा तथा अपना आप है। बुद्धिरूप गुफा-में उसको खोजना चाहिये, बाह्यसे मन-वृत्तियोंको हटाकर अन्तरात्मामें लगाना चाहिये। यही ईश्वर-प्राप्तिका साधन है। मनकी समस्त वृत्तियोंका संसारसे हटाकर अन्तरात्मामें लगाना ही मनुष्यके लिये श्रेयस्कर है।

कुं०—ईश्वरको जाने बिना, भवसे होय न पार।
भूँठे सब धन-धाम हैं, सत्य एक कर्तार॥
सत्य एक कर्तार, ध्यान नित उसका धर री।
क्यों आयू खो रही, आपमें आप विचर री॥
धन-दौलत सब त्याग, त्याग दे निज तन नश्वर।
जयदेवी! भज नित्य, शुद्ध शाश्वत अज ईश्वर॥



रोड़ा होइ रह बाटका, तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृस्ना तजै, ताहि मिलै भगवान॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथीको दुख देह।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पैंड़ेकी खेह॥
कथा कीरतन रात दिन, जाके उद्यम येह।
कह कबीर ता साधुके, हम चरननकी खेह॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारीसे नेह।
कह कबीर ता साधुके, हम चरननकी खेह॥



है। वही ब्रह्म सर्वभूतोंकी बुद्धिरूप गुहामें शयन कर रहा है इसलिये ब्रह्म पाससे भी पास है और सर्वत्र है। परन्तु स्थूल दृष्टिवालोंको अति पास होते हुए भी ईश्वर दिखायी नहीं देता। जिनको संसारसे वैराग्य नहीं, जो अनात्मा संसार, देह, गेह, स्त्री पुत्रादिको ही सच्चा मानते हैं, अर्थात् यही हमारे आत्मा हैं, ऐसा जिनको दृढ़ ज्ञान हो रहा है, उनको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् अन्तर्यामी परमात्मा कैसे दिखायी दे? जबतक संसारसे घृणा न होगी अर्थात् विषय विषवत् न लगेंगे, तबतक कभी भी उस परमात्माका स्वरूप जाननेमें नहीं आवेगा। ईश्वरका घर एक देशमें भी है और सारे ही देश उसके घर हैं। सूक्ष्म दृष्टिवालोंको ईश्वर सर्वत्र है और स्थूल दृष्टिवालोंको एक देशवाला प्रतीत होता है। इसी प्रकार ईश्वर निर्गुण और सगुण है, सूक्ष्म दृष्टिवालोंके लिये निर्गुण और स्थूल दृष्टिवालोंको सगुण ब्रह्म है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे ही स्थूल दृष्टिवालोंको ईश्वरका जन्म होता दिखायी देता है, सूक्ष्म दृष्टिवालोंके लिये तो ईश्वरका जन्म न कभी हुआ, न होगा। क्योंकि अजन्माका जन्म कैसा? निर्गुण सगुण कैसे? परन्तु मायामें सब सामर्थ्य है, जन्म न लेनेवालेका भी जन्म करके दिखा देती है। माया अघटनघटनापटीयसी है। वास्तवमें तो जीवका ही जन्म-मरण नहीं, तब ईश्वरका जन्म कैसा?

श्यामा—फिर जन्म कैसे हो गया? यदि जन्म न होता हो तो सब यम नियम साधन मिथ्या हो जायँगे क्योंकि जब जन्म ही नहीं तो साधन कौन करे?

कोकिला—उपाधियोंसे जीव-ईश्वरका जन्म होना निश्चित है। उपाधि जन्मती है, उपाधि मरती है, उसीके संयोगसे ऐसा प्रतीत होता है कि जीव जन्मा, जीव मरा, ऐसे ही ईश्वरका अवतार भी है। स्वरूपसे जीव-ईश्वरका अभेद है, उपाधिसे ही दोनोंका भेद दीखता है। स्वरूपसे भेद नहीं है। इसलिये ईश्वर सर्वत्र और सर्वव्यापक है। चाहे जहाँ भजन कर सकती हो। जब सब भूतोंमें और सर्वत्र ईश्वर है तब उसके जाननेमें क्या सन्देह है? जैसे पट यानी वस्त्र तन्तुका शरीर है, वैसे ही सर्व नाम-रूप ईश्वरका शरीर है। ईश्वर ही सब प्राणियोंमें ओतप्रोत है। जैसे पटमें तन्तु ओतप्रोत हैं, यदि तन्तु निकाल लिये जायँ तो वस्त्रकी सत्ता ही नहीं रह सकती, इसी प्रकार ईश्वर बिना जगत्‌की सत्ता नहीं रह सकती। ये जो सब पदार्थ दिखायी देते या देखनेमें आते हैं, सब ईश्वर-आत्माके मन्दिर हैं।

श्यामा—जब कि वह एक ही ईश्वर सबमें प्रवेश किये है, तब वह छोटा, बड़ा, नीच तथा ऊँच कैसे हो गया? क्या उसके खण्ड भी हो जाते हैं?

कोकिला—नहीं, उसके खण्ड नहीं हो सकते, और न वह छोटा-बड़ा, नीच-ऊँच होता है। वह तो एकरस, अखण्ड, अद्वितीय, निरवयव आत्मदेव है। उपाधियोंके भेदसे ईश्वर छोटा, बड़ा, नीचा तथा ऊँचा प्रतीत होता है, जैसी उपाधि या वस्तु होती है, वह वैसा हुआ सा दीखता है, वास्तवमें वैसा हुआ नहीं। जैसे काष्ठमें वर्तमान अग्नि काष्ठके संयोगसे टेढ़ा-सीधा, छोटा बड़ा, ऊँचा-नीचा इत्यादि प्रतीत होता है, अग्निमें कोई विकार नहीं है यह सब अग्निकी उपाधि काष्ठका भेद है। काष्ठ सीधा तो अग्नि सीधा, काष्ठ टेढ़ा तो अग्नि टेढ़ा प्रतीत होता है—स्वरूपसे अग्नि एकरस है, वैसे ही ईश्वर, आत्मा ज्यों-का-त्यों है, वह न किसीसे कम है, न किसीसे अधिक है, न ऊँचा, न नीचा है। यह सर्व उपाधि ही है। वास्तवमें उसका न कोई नाम है, न रूप है। उस नामविहीन परमात्माके भक्तोंने अपनी-अपनी

भावनाओंके अनुसार अनेकों नाम रख लिये हैं। परब्रह्म परमात्मा, परासंवित्, परमशिव, परमदेव, परमेश्वर, महाविष्णु, भगवान्, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, वासुदेव, हरि, हर, नारायण, जनार्दन, अनन्त, शेष, गणेश, प्रज्ञान इत्यादि अनेकों नाम उस ईश्वरके वाचक हैं। उस परे-से-परे अविनाशी ईश्वरका पवित्र होकर भाग्यवान् अधिकारी सर्वदा मन, कर्म, वाणीसे पूजन-ध्यान करे। श्रद्धासहित गुरु-शास्त्रमें विश्वास करके जो जन ईश्वरको जान जाता है, उसके लिये समस्त विश्व शान्तिमय हो जाता है। न उसका कोई शत्रु रहता है न मित्र, क्योंकि उसको सर्वत्र ईश्वर-आत्मा सम भासता है। लेकिन जिन मूढ़ मनुष्योंकी दृष्टि मिथ्या देह, गेह, जड नाम-रूपपर मोहित होकर उसीको आत्मा मानकर उसीके लालन-पालनमें आसक्त है, उनको बुद्धिमें बसा हुआ सत् ईश्वर कैसे दिखायी दे ? जैसे कण्ठगत मणि भ्रम चित्तवालोंको नहीं दिखायी देती इसी प्रकार देह-व्यवहार सत्य माननेवालोंको हृदयमें स्थित ईश्वर दिखायी नहीं देता। ईश्वरके जाननेमें शरीर ही आड़ है, नाम-रूपवाले होनेसे तीनों शरीर असत्, मिथ्या और आगमापायी हैं। ईश्वर सत् है, जगत् मिथ्या, असत् है। सत् और असत्का मेल कैसा ? परन्तु लोगोंको, जिनकी आँखोंपर नाम-रूप मायाका परदा पड़ा हुआ है, उनका मेल हुआ-सा दीखता है। बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें तो नाम-रूप कोई वस्तु नहीं है, सर्व विकार-मात्र हैं। जैसे सुवर्णके विकार कड़े-कुण्डल आदि हैं, मिट्टीके विकार घड़े-शरावे इत्यादि बनते-बिगड़ते रहते हैं। मिट्टी, सुवर्ण ही अन्तमें शेष रहते हैं। वैसे ही नाम-रूप जगत्‌रूप विकार उत्पन्न तथा लय होता रहता है, ईश्वर ही अन्तमें शेष रहता है। पाँच भूत तीनों गुणोंमेंसे एक सत् ईश्वरको निकाल लिया जाय तो पञ्चभूत तीन गुण रह ही नहीं सकते, क्योंकि ये सब उसीमें अध्यस्त हैं अर्थात् कल्पित हैं। जैसे रज्जु बिना सर्पकी कल्पना नहीं हो सकती, ऐसे ही ईश्वर बिना जगत्‌की कल्पना नहीं हो सकती। इस कारण सब ईश्वर ही है, ईश्वरके सिवा कुछ भी नहीं है, वही सबका आत्मा तथा अपना आप है। बुद्धिरूप गुफा-में उसको खोजना चाहिये, बाह्यसे मन-वृत्तियोंको हटाकर अन्तरात्मामें लगाना चाहिये। यही ईश्वर-प्राप्तिका साधन है। मनकी समस्त वृत्तियोंका संसारसे हटाकर अन्तरात्मामें लगाना ही मनुष्यके लिये श्रेयस्कर है।

कुं०—ईश्वरको जाने बिना, भवसे होय न पार।
झूँठे सब धन-धाम हैं, सत्य एक कर्तार॥
सत्य एक कर्तार, ध्यान नित उसका धर री।
क्यों आयू खो रही, आपमें आप विचर री॥
धन-दौलत सब त्याग, त्याग दे निज तन नश्वर।
जयदेवी! भज नित्य, शुद्ध शाश्वत अज ईश्वर॥



रोड़ा होइ रह बाटका, तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृस्ना तजै, ताहि मिलै भगवान॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथीको दुख देह।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पैंड़ेकी खेह॥
कथा कीरतन रात दिन, जाके उद्यम येह।
कह कबीर ता साधुके, हम चरननकी खेह॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहि नारीसे नेह।
कह कबीर ता साधुके, हम चरननकी खेह॥



है। वही ब्रह्म सर्वभूतोंकी बुद्धिरूप गुहामें शयन कर रहा है इसलिये ब्रह्म पाससे भी पास है और सर्वत्र है। परन्तु स्थूल दृष्टिवालोंको अति पास होते हुए भी ईश्वर दिखायी नहीं देता। जिनको संसारसे वैराग्य नहीं, जो अनात्मा संसार, देह, गेह, स्त्री पुत्रादिको ही सच्चा मानते हैं, अर्थात् यही हमारे आत्मा हैं, ऐसा जिनको दृढ ज्ञान हो रहा है, उनको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् अन्तर्यामी परमात्मा कैसे दिखायी दे? जबतक संसारसे घृणा न होगी अर्थात् विषय विषवत् न लगेंगे, तबतक कभी भी उस परमात्माका स्वरूप जाननेमें नहीं आवेगा। ईश्वरका घर एक देशमें भी है और सारे ही देश उसके घर हैं। सूक्ष्म दृष्टिवालोंको ईश्वर सर्वत्र है और स्थूल दृष्टिवालोंको एक देशवाला प्रतीत होता है। इसी प्रकार ईश्वर निर्गुण और सगुण है, सूक्ष्म दृष्टिवालोंके लिये निर्गुण और स्थूल दृष्टिवालोंको सगुण ब्रह्म है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे ही स्थूल दृष्टिवालोंको ईश्वरका जन्म होता दिखायी देता है, सूक्ष्म दृष्टिवालोंके लिये तो ईश्वरका जन्म न कभी हुआ, न होगा। क्योंकि अजन्माका जन्म कैसा? निर्गुण सगुण कैसे? परन्तु मायामें सब सामर्थ्य है, जन्म न लेनेवालेका भी जन्म करके दिखा देती है। *माया अघटनघटनापटीयसी है।* वास्तवमें तो जीवका ही जन्म-मरण नहीं, तब ईश्वरका जन्म कैसा?

श्यामा—फिर जन्म कैसे हो गया? यदि जन्म न होता हो तो सब यम नियम साधन मिथ्या हो जायँगे क्योंकि जब जन्म ही नहीं तो साधन कौन करे?

कोकिला—उपाधियोंसे जीव-ईश्वरका जन्म होना निश्चित है। उपाधि जन्मती है, उपाधि मरती है, उसीके संयोगसे ऐसा प्रतीत होता है कि जीव जन्मा, जीव मरा, ऐसे ही ईश्वरका अवतार भी है। स्वरूपसे जीव-ईश्वरका अभेद है, उपाधिसे ही दोनोंका भेद दीखता है। स्वरूपसे भेद नहीं है। इसलिये ईश्वर सर्वत्र और सर्वव्यापक है। चाहे जहाँ भजन कर सकती हो। जब सब भूतोंमें और सर्वत्र ईश्वर है तब उसके जाननेमें क्या सन्देह है? जैसे पट यानी वस्त्र तन्तुका शरीर है, वैसे ही सर्व नाम रूप ईश्वरका शरीर है। ईश्वर ही सब प्राणियोंमें ओतप्रोत है। जैसे पटमें तन्तु ओतप्रोत हैं, यदि तन्तु निकाल लिये जायँ तो वस्त्रकी सत्ता ही नहीं रह सकती, इसी प्रकार ईश्वर बिना जगत्‌की सत्ता नहीं रह सकती। ये जो सब पदार्थ दिखायी देते या देखनेमें आते हैं, सब ईश्वर-आत्माके मन्दिर हैं।

श्यामा—जब कि वह एक ही ईश्वर सबमें प्रवेश किये है, तब वह छोटा, बड़ा, नीच तथा ऊँच कैसे हो गया? क्या उसके खण्ड भी हो जाते हैं?

कोकिला—नहीं, उसके खण्ड नहीं हो सकते, और न वह छोटा बड़ा, नीच-ऊँच होता है। *वह तो एकरस, अखण्ड, अद्वितीय, निरवयव आत्मदेव है।* उपाधियोंके भेदसे ईश्वर छोटा, बड़ा, नीचा तथा ऊँचा प्रतीत होता है; जैसी उपाधि या वस्तु होती है, वह वैसा हुआ सा दीखता है, वास्तवमें वैसा हुआ नहीं। जैसे काष्ठमें वर्तमान अग्नि काष्ठके संयोगसे टेढ़ा-सीधा, छोटा बड़ा, ऊँचा-नीचा इत्यादि प्रतीत होता है, अग्निमें कोई विकार नहीं है यह सब अग्निकी उपाधि काष्ठका भेद है। काष्ठ सीधा तो अग्नि सीधा, काष्ठ टेढ़ा तो अग्नि टेढ़ा प्रतीत होता है—स्वरूपसे अग्नि एकरस है, वैसे ही ईश्वर, आत्मा ज्यों का-त्यों है, वह न किसीसे कम है, न किसीसे अधिक है, न ऊँचा, न नीचा है। यह सर्व उपाधि ही है। वास्तवमें उसका न कोई नाम है, न रूप है। उस नामविहीन परमात्माके भक्तोंने अपनी-अपनी

भावनाओंके अनुसार अनेकों नाम रख लिये हैं। परब्रह्म परमात्मा, परासंवित्, परमशिव, परमदेव, परमेश्वर, महाविष्णु, भगवान्, राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, वासुदेव, हरि, हर, नारायण, जनार्दन, अनन्त, शेष, गणेश, प्रज्ञान इत्यादि अनेकों नाम उस ईश्वरके वाचक हैं। उस परे-से-परे अविनाशी ईश्वरका पवित्र होकर भाग्यवान् अधिकारी सर्वदा मन, कर्म, वाणीसे पूजन-ध्यान करे। श्रद्धासहित गुरु-शास्त्रमें विश्वास करके जो जन ईश्वरको जान जाता है, उसके लिये समस्त विश्व शान्तिमय हो जाता है। न उसका कोई शत्रु रहता है न मित्र, क्योंकि उसको सर्वत्र ईश्वर-आत्मा सम भासता है। लेकिन जिन मूढ़ मनुष्योंकी दृष्टि मिथ्या देह, गेह, जड नाम-रूपपर मोहित होकर उसीको आत्मा मानकर उसीके लालन-पालनमें आसक्त है, उनको बुद्धिमें बसा हुआ सत् ईश्वर कैसे दिखायी दे ? जैसे कण्ठगत मणि भ्रम चित्तवालोंको नहीं दिखायी देती इसी प्रकार देह-व्यवहार सत्य माननेवालोंको हृदयमें स्थित ईश्वर दिखायी नहीं देता। ईश्वरके जाननेमें शरीर ही आड़ है, नाम-रूपवाले होनेसे तीनों शरीर असत्, मिथ्या और आगमापायी हैं। ईश्वर सत् है, जगत् मिथ्या, असत् है। सत् और असत्का मेल कैसा ? परन्तु लोगोंको, जिनकी आँखोंपर नाम-रूप मायाका परदा पड़ा हुआ है, उनका मेल हुआ-सा दीखता है। बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें तो नाम-रूप कोई वस्तु नहीं है, सर्व विकार-मात्र हैं। जैसे सुवर्णके विकार कड़े-कुण्डल आदि हैं, मिट्टीके विकार घड़े-शरावे इत्यादि बनते-बिगड़ते रहते हैं। मिट्टी, सुवर्ण ही अन्तमें शेष रहते हैं। वैसे ही नाम-रूप जगत्‌रूप विकार उत्पन्न तथा लय होता रहता है, ईश्वर ही अन्तमें शेष रहता है। पाँच भूत तीनों गुणोंमेंसे एक सत् ईश्वरको निकाल लिया जाय तो पञ्चभूत तीन गुण रह ही नहीं सकते, क्योंकि ये सब उसीमें अध्यस्त हैं अर्थात् कल्पित हैं। जैसे रज्जु विना सर्पकी कल्पना नहीं हो सकती, ऐसे ही ईश्वर विना जगत्‌की कल्पना नहीं हो सकती। इस कारण सब ईश्वर ही है, ईश्वरके सिवा कुछ भी नहीं है, वही सबका आत्मा तथा अपना आप है। बुद्धिरूप गुफा-में उसको खोजना चाहिये, बाह्यसे मन-वृत्तियोंको हटाकर अन्तरात्मामें लगाना चाहिये। यही ईश्वर-प्राप्तिका साधन है। मनकी समस्त वृत्तियोंका संसारसे हटाकर अन्तरात्मामें लगाना ही मनुष्यके लिये श्रेयस्कर है।

कुं०—ईश्वरको जाने विना, भवसे होय न पार।
झूँठे सब धन-धाम हैं, सत्य एक कर्तार॥
सत्य एक कर्तार, ध्यान नित उसका धर री।
क्यों आयू खो रही, आपमें आप विचर री॥
धन-दौलत सब त्याग, त्याग दे निज तन नश्वर।
जयदेवी! भज नित्य, शुद्ध शाश्वत अज ईश्वर॥



रोड़ा होइ रह बाटका, तजि आपा अभिमान।
लोभ मोह तृस्ना तजै, ताहि मिलै भगवान॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथीको दुख देह।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पैंड़ेकी खेह॥
कथा कीरतन रात दिन, जाके उद्यम येह।
कह कबीर ता साधुके, हम चरननकी खेह॥
गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारीसे नेह।
कह कबीर ता साधुके, हम चरननकी खेह॥

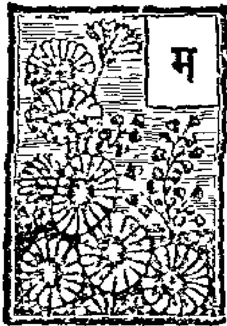


योगवाशिष्ठ-सार

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी मास्टर)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

२—मुमुक्षु-प्रकरण



मनुष्यको चाहिये कि यह विचार करे कि यह संसार कैसे उत्पन्न हुआ और कैसे शान्त होगा। तभी उसका भ्रम निवृत्त हो सकता है। यह संसार चित्तके संवेदनसे हुआ है। जब चित्त स्फुरणासे रहित होता है तब भ्रम निवृत्त हो जाता है। आत्मतत्त्व नित्यशुद्ध परमानन्दस्वरूप केवल चैतन्य है। जब उसका अभ्यास करोगे तब विश्राम पाओगे। मनुष्यको चाहिये कि अपनी इच्छाको संसारकी चीजोंसे हटावे, तब ब्रह्मपदकी प्राप्ति हो और निर्वाणपद प्राप्त हो। विश्राम पानेके निमित्त मनुष्यको मार्जनकी आवश्यकता है। ज्ञानवान्को आध्यात्मिक दुःख स्पर्श नहीं करते।

भोगकी इच्छाका नाम बन्धन है और भोगकी वासनाके क्षय हो जानेका नाम मोक्ष है। जब आत्मानन्द प्राप्त होता है तब विषय-वासना बिल्कुल नहीं रहती। जीव अपनी वासनाके अनुसार असंख्य सृष्टिमें जन्मता और मरता है। जीवको भ्रमसे यह लोक परलोक भासता है। वास्तवमें जगत् उपजा ही नहीं। एक अद्वैत परमात्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है। अविद्यासे उसमें द्वैतभ्रम भासता है। अज्ञानीको अपनी कल्पना जगत्‌रूप होकर भासती है, विचार करनेपर कुछ भी नहीं रहता। जो पुरुष आत्मसत्तामें जगा है उसको द्वैतभ्रम नहीं भासता। वह आत्मदर्शी सदा शान्तात्मा परमानन्दस्वरूप और इच्छासे रहित होता है।

जबतक ज्ञानीको उसका शरीर भासता है तबतक जीवन्मुक्ति कहते हैं और जब शरीर अदृश्य होता है तब विदेहमुक्ति कहते हैं। पर ये दोनों समान हैं। जो कुछ सिद्ध होता है, अपने पुरुषार्थसे होता है। पुरुषार्थ बिना कुछ भी सिद्ध नहीं होता। लोग जो कहते हैं कि दैव करेगा सो होगा, यह मूर्खता है। मनुष्य जिस अर्थके लिये प्रार्थना और यत्न करे तथा उससे न हटे तो उसे जरूर पाता है। सन्तजन और सत्-शास्त्रके उपदेशरूप उपायसे उसीके अनुसार चित्तका विचरना पुरुषार्थ—प्रयत्न है। केवल चैतन्य आत्मतत्त्व है, उसमें चित्त-संवेदन स्पन्दरूप है। यह चैतन्य-संवेदन अपने पुरुषार्थसे बड़ी-से-बड़ी पदवीको प्राप्त कर सकता है।

पुरुषार्थ दो प्रकारके हैं—एक शास्त्रके अनुसार और दूसरा शास्त्र-विरुद्ध। जो शास्त्रको त्यागकर अपनी इच्छाके अनुसार विचरता है वह सिद्धि नहीं पाता। जो शास्त्रके अनुसार पुरुषार्थ करता है वह सिद्धिको प्राप्त होता है। जिसके पूर्वके संस्कार बलवान् होते हैं उसीकी जय होती है। यह जीव सत्संग करता है और सत्-शास्त्रको भी विचारता है, फिर भी संसारकी ओर दौड़ता है। इसमें पूर्वका संस्कार बलवान् है जो उसे स्थिर नहीं होने देता। परन्तु यदि लगातार सत्संग करे और सत्-शास्त्रका भी दृढ़ अभ्यास

करता रहे तो पूर्वके संस्कारको पुरुष अपने प्रयत्नसे जीत लेता है। ज्ञानवान् सन्त, सत्-शास्त्र और ब्रह्मविद्याके अनुसार प्रयत्न करनेका नाम पुरुषार्थ है। और पुरुषार्थसे पाने योग्य आत्मा है, आत्माकी प्राप्तिसे ही मनुष्य संसार-समुद्रसे पार हो सकता है।

मनुष्यको प्रथम अपने वर्णाश्रमके शुभ आचारोंको ग्रहण करना और अशुभका त्याग करना चाहिये। फिर सन्तोंका सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका विचार करना और उनके द्वारा अपने गुण-दोषोंपर ध्यान देना चाहिये। फिर सन्तोष, धैर्य, विचार, विराग और अभ्यास आदि गुणोंको बढ़ाना और विपरीत दोषोंका त्याग करना चाहिये। जब साधक ऐसे पुरुषार्थको अङ्गीकार करेगा तभी परमानन्दरूप आत्मतत्त्वको पावेगा। स्त्री, पुत्र, बान्धव, धनादिसे विरक्त होकर संसार-समुद्रके पार होनेका यत्न करना चाहिये। सन्तजनोंका सङ्ग करना और बोधरूपी कलम और विचाररूपी स्याहीसे सत्-शास्त्रोंके अर्थ हृदयरूपी पत्रपर लिखना ही पुरुषार्थ है। जब साधक ऐसा पुरुषार्थ करेगा तब संसाररूपी जालमें न गिरेगा। जो पुरुष व्यवहारमें आलसी होकर और परमार्थको त्यागकर मूढ़ हो रहते हैं वह दीन होकर पशुओंके सदृश दुःखको प्राप्त होते हैं। शास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचारकर दृढ़ अभ्यास करनेसे मनुष्य शीघ्र ही आनन्दको प्राप्त होता है।

पूर्वजन्ममें मनुष्य जो सुकृत कर आया है, वही सुकृत सुखरूप होकर सामने आता है। जिसके पूर्वका सुकृत बलवान् होता है उसीकी जय होती है। परन्तु पूर्वका दुष्कृत बलवान् होनेपर भी जो शुभका पुरुषार्थ करता है और सत्संग तथा सत्-शास्त्रका अनुसरण करता है वह पूर्वके संस्कारको जीत लेता है। श्रेष्ठ पुरुष अपने पुरुषार्थसे परमानन्दपदको प्राप्त होते हैं। जिससे कुछ अर्थ सिद्ध हो, उसीका नाम पुरुषार्थ है। मनुष्यको सत्-शास्त्र और सत्सङ्गसे शुभ गुणोंको पुष्ट करके दया, धैर्य, सन्तोष और वैराग्यका अभ्यास करना चाहिये। ज्ञानवान् पुरुषों और ब्रह्मविद्याके अनुसार संवेदन, मन और इन्द्रियोंका विचार रखना चाहिये और जो इनसे विरुद्ध हों उनको नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे संसारका राग-द्वेष स्पर्श नहीं करेगा। सब कल्पनाओंको त्यागकर अपने पुरुषार्थको अङ्गीकार करना, जिससे जन्म-मरणका भय निवृत्त हो जाय। यही मोक्षका उपाय है।

दैव नाम अपने पुरुषार्थका है। पुरुषार्थ कर्मका नाम है और कर्म नाम वासनाका है। वासना मनसे होती है और मनरूपी पुरुष जिसकी वासना करता है वही उसे प्राप्त होता है। श्रेष्ठ मनुष्य जब अपने पुरुषार्थसे पूर्वके मलिन संस्कारोंको शुद्ध करता है तब उसके मल दूर हो जाते हैं। श्रेष्ठ पुरुषको चाहिये कि प्रथम पाँचों इन्द्रियोंको वश करे, फिर शास्त्रके अनुसार उनको चलावे। शुभ वासनाको इकट्ठा करे और अशुभका त्याग करे। जब शुद्ध वासनाके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध होगा तब सन्तों और सत्-शास्त्रोंके सिद्धान्तका विचार उत्पन्न होगा और उससे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होगी। इसी ज्ञानके द्वारा आत्मसाक्षात्कार होगा। फिर क्रिया और ज्ञानका भी त्याग हो जायगा और केवल शुद्ध अद्वैतरूप अपना आप शेष रह जायगा।

मनुष्यको प्रथम शम और दमको धारण करना चाहिये। सम्पूर्ण संसारकी वासना त्याग करके उदारतासे तृप्त रहनेका नाम शम है। बाह्य इन्द्रियोंके वश करनेको दम कहते हैं। इनके धारण करनेपर परमतत्त्वका विचार आप ही उत्पन्न होता है। विचारसे विवेकद्वारा उस परमपदकी प्राप्ति होती

है, जिसको पाकर फिर कभी दुःख नहीं होता और अविनाशी सुख प्राप्त होता है ।

शुद्ध चिदाकाश एक है और अनन्त, अविनाशी, परमानन्दरूप, चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म है उसमें संवेदन स्पन्दरूप होता है । वही विष्णु होकर स्थित हैं । वे भगवान् विष्णु स्पन्द और निस्पन्दमें एकरस हैं । वे कभी अन्यथा भावको नहीं प्राप्त होते । उन विष्णुजीके नाभिकमलसे ब्रह्माजी प्रकट हुए । ब्रह्माजी-ने ऋषि और मुनीश्वरों सहित स्थावर-जङ्गम प्रजा उत्पन्न की और उस मनोराज्यसे जगत्को उत्पन्न किया । जगत्के जीवोंके सुखके निमित्त तप, धर्म, दान, तीर्थादि पुण्य-क्रिया उत्पन्न की, परन्तु उनसे जीवोंको सुख नहीं हुआ । तब ब्रह्माजी आत्मतत्त्वका ध्यान करने लगे । ध्यान करनेसे शुद्ध तत्त्वज्ञानकी मूर्त्ति होकर वशिष्ठजी प्रकट हुए । ब्रह्माजीने उन्हें आज्ञा दी कि तुम संसारमें जाकर ज्ञानका उपदेश करो । जिस मनुष्यको संसारके सुखकी इच्छा हो उसको कर्ममार्गका उपदेश करना, जिससे वह स्वर्गादि सुख भोगे और जो संसारसे विरक्त हो तथा आत्मपदकी इच्छा रखता हो उसको ज्ञान-उपदेश करना । श्रेष्ठ पुरुष अपने वैराग्य और अभ्यासके बलसे संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं । जिस पुरुषने पुरुषार्थसे इस बन्धनको नहीं तोड़ा, उसको राग-द्वेषरूपी अग्नि सदा जलाया करती है । जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे शास्त्रों और गुरुके प्रमाणसे ज्ञान साधन करता हो, वही उस पदको प्राप्त होता है ।

आत्मपदके प्राप्त होनेका उपाय यह है कि, प्रथम असत्य युद्धिका सङ्ग त्याग करे और मोक्षद्वारके चारों द्वारपालों अर्थात् शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्गसे मित्र-भावना करे । उनसे मित्रता होनेपर ये शीघ्र ही मोक्षरूपी द्वारके अन्दर प्रवेश करा देते हैं । इन चारोंमेंसे यदि एक भी वश हो जायगा तो चारों वश हो जायँगे । इन चारोंका परस्पर ऐसा स्नेह है कि जहाँ एक आता है वहाँ शेष तीनों स्वयमेव आ जाते हैं । मनुष्यको चाहिये कि वैराग्य और अभ्यासके बलसे मनको अपनेमें लीनकर शान्तात्मा हो । जिसने बाल्यावस्थासे अभ्यास किया है वही मनका उपशम करके आत्मपदको प्राप्त होगा । जिसने देहका अभिमान त्याग दिया है वही सुखी रहता है । संसाररूप सर्प योगरूपी गरुड़-मन्त्रसे नष्ट होता है । सर्पके विषसे मनुष्य एक जन्ममें मरता है और संसरणरूपी विषसे अनेक जन्मोंमें मरता चला जाता है । जिसने ज्ञानरूपी कवच पहना है, उसको संसारका दुःख स्पर्श नहीं कर सकता । ऐसे पुरुषके मनकी वृत्ति जहाँ जाती है वहीं उसे आत्मसत्ता भासती है । ज्ञानवान् परमानन्दसे पूर्ण रहता है । आत्मज्ञानकी प्राप्ति होनेपर सब दुःख नष्ट हो जाते हैं । यदि आत्मतत्त्वकी जिज्ञासामें हाथमें ठीकरी लेकर चाण्डालके घरकी भिक्षा ग्रहण करनी पड़े तो वह भी अन्य ऐश्वर्योंसे अति श्रेष्ठ है । इसके विपरीत मूर्खतासे जीना व्यर्थ है ।

इस जीवका कल्याण किसप्रकार होता है, सो सुनिये । जब ज्ञानवान् गुरु सत्-शास्त्रोंका उपदेश करे और शिष्य अपने अनुभवसे ज्ञानको प्राप्त करे अर्थात् गुरु, अनुभव और शास्त्र—जब ये तीनों इकट्ठा मिलें, तब कल्याण होता है । मनुष्यको चाहिये कि संसारके क्षणमात्रके भोगोंका त्याग करे क्योंकि विषय-के परिणाममें अनन्त दुःख हैं । ज्ञानवानोंका सङ्ग करे । उनके वचनोंपर विचार करनेसे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं । आत्माका प्रमाद जीवको दीन करता है । जिस पुरुषने परमार्थ-मार्ग त्याग दिया है और जो संसारके खान-पान आदि भोगोंमें मग्न हो रहा है उसको मेंढक समझना चाहिये, जो कीचड़में पड़ा

हुआ टर्र-टर्र किया करता है। यह संसार बड़ी भारी आपदाका समुद्र है। श्रेष्ठ पुरुष सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रके विचारसे इस समुद्रको लाँघ जाता है और परमानन्द निर्भय पदको प्राप्त होता है। जो संसार-समुद्रके सम्मुख हो रहा है वह महान् दुःख और कष्ट पाता है। जो पुरुष आत्मपदसे विमुख है पर उसे कल्याणरूप जानता है और उसके अभ्यासका त्यागकर संसारकी ओर दौड़ता है उसका नाश होगा और वह जन्म-मरणको प्राप्त होगा। संसारका निवारण करनेवाले गुरु-शास्त्र विद्यमान हैं, जो उनकी शरण नहीं जाता, वह मूर्ख है।

यह संसार मनके संसरणसे उपजा है। जीवका कल्याण बान्धव, धन, प्रजा, तीर्थ, देवद्वार और ऐश्वर्यसे नहीं होता। केवल एक मनके जीतनेसे ही होता है।

मोक्षके चारों द्वारपालोंमेंसे शम जीवके परम विश्रामका कारण है। शम ही परमआनन्द, परमपद और शिवपद है। जिस पुरुषने शमको पाया है वही संसार-समुद्रसे पार होता है, उसके सब ताप मिट जाते हैं और वह शान्तिमान् होता है। जैसा आनन्द शमवान्को होता है वैसा अमृतके पीनेसे भी नहीं होता। वह सदा निर्भय, शान्तरूप रहता है, कभी चलायमान नहीं होता। उसके हृदयमें सब शुभ गुण और सम्पदा आप ही आकर उपस्थित हो जाते हैं। जिस पुरुषने शमरूपी कवच पहन रक्खा है, उसपर आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंका कोई असर नहीं हो सकता।

जिस पुरुषको शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-क्रियाके विषयोंके इष्ट-अनिष्टमें राग-द्वेष नहीं होता, उसको शान्तात्मा कहते हैं। जो संसारके रमणीय पदार्थमें बँधता नहीं और जो आत्मानन्दसे पूर्ण है, उसीको शान्त कहते हैं। ऐसा पुरुष सदा निर्लेप रहता है। वह इष्ट विषयकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होता और अनिष्टकी प्राप्तिमें शोकयुक्त नहीं होता। वह अन्तःकरणसे सदा शान्त रहता है। उसको कोई दुःख स्पर्श नहीं करता। वह सदा परमानन्दरूप रहता है। ज्ञानी इसीको परमपद कहते हैं।

अब विचारका निरूपण सुनिये। जब हृदय शुद्ध होता है तब विचार होता है और शास्त्रार्थके विचार-द्वारा बुद्धि तीक्ष्ण होती है। विचार और पुरुषार्थसे ही सिद्धि प्राप्त होती है। इन्द्रियोंका जीतना, बुद्धिका आत्मव्यापिनी होना और तेजःपदार्थकी प्राप्ति विचार-से होती है। विचार और पुरुषार्थयुक्तकी सब क्रियाएँ सिद्धिका कारणरूप होती हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष विचारकी दृढ़तासे ही सिद्ध होते हैं। शुद्ध ब्रह्मका विचार ग्रहण करनेसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है। विचारवान् उसीको कहते हैं जो असत्यको त्यागकर सत्यकी ओर यत्न करता है। विचाररूपी सूर्यके उदय होनेपर अविचाररूपी रात्रि और तृष्णा-रूपी पिशाचिनी नष्ट हो जाती है।

जहाँ आत्मविचार उत्पन्न होता है, वहीं सुख देनेवाले शुभ गुण स्थित होते हैं। अविचारसे जीव पाप-क्रियाको इकट्ठा करता है और उससे विपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। अविचार उसका नाम है जिसमें शुभ और शास्त्रानुसार क्रिया न हो। विचारसे जीव ऐसे पदको प्राप्त होता है जो नित्य, स्वच्छ, अनन्त और परमानन्दरूप है। यह जगत् अपने मनके मोह-से उपजता है और अविचारसे दुःखदायी दीखता है। जब ब्रह्मविचारकी प्राप्ति होती है तब जगत्का भ्रम नष्ट हो जाता है। विचारसे समता आती है। जिससे अर्थ सिद्ध हो उसीका नाम विचार है और जिससे अनर्थ सिद्ध हो उसका नाम अविचार है।

जिस पुरुषने विचारद्वारा परमार्थ-सत्ताका आश्रय पा लिया वह परमशान्त हो जाता है। वेद और वेदान्तके सिद्धान्तको पढ़ने, सुनने और भली प्रकार मनन करनेसे विचार प्राप्त होता है, विचारकी दृढ़तासे आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, गुरु और शास्त्रके वचनोंसे तत्त्वज्ञान होता है।

मनुष्यको विचारना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ?' 'यह जगत् क्या है?' 'इसकी उत्पत्ति कैसे हुई?' और 'यह लीन कैसे होता है?' इसप्रकार सन्तों और शास्त्रोंके अनुसार विचार करके असत्‌को त्याग करे और सत्‌में स्थित हो। इस विचारसे आत्मपदकी प्राप्ति होती है। जबतक इच्छा होती है तबतक शरीरकी चेष्टा करता है फिर शरीरका त्यागकर केवल शुद्धरूप हो जाता है। विचारसे तत्त्वज्ञान होता है और तत्त्वज्ञानसे विश्राम होता है तथा विश्रामसे चित्त-का उपशम होकर दुःखका नाश होता है।

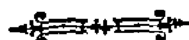
जिस पुरुषको सन्तोष प्राप्त हुआ है वह परमानन्दको प्राप्त होकर त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तृणके सदृश तुच्छ जानता है। जब सन्तोष-सूर्य उदय होता है तब इच्छारूपी रात्रि हृदयरूपी कमलको सकुचा देती है। सन्तोष उसीका नाम है जिससे अप्राप्त वस्तुकी इच्छा नहीं होती और प्राप्तमें इष्ट-अनिष्ट-भावसे राग-द्वेष नहीं होता। जैसा आनन्द सन्तोषीको होता है वैसा आनन्द अष्ट-सिद्धिके ऐश्वर्य और अमृतके पान करनेवालेको भी नहीं होता। सन्तोषी सदा शान्तरूप और निर्मल रहता है। जिस पुरुषको सन्तोषकी प्राप्ति हुई है, वह उदारात्मा सर्वदा आनन्दसे तृप्त रहता है। सन्तोषके प्राप्त होनेपर सब इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं।

आत्मपदकी प्राप्ति दान और तीर्थादि साधनसे नहीं होती। वह केवल साधुसङ्गसे ही होती है। जो पुरुष साधुसङ्ग करता है उसको अनुभवरूप फल मिलता है। जो पुरुष आत्मानन्दसे रहित है वह सत्सङ्ग करके आत्मानन्दसे पूर्ण हो जाता है। जो अज्ञानसे मृत्युको पाता है वही सन्तके सङ्गसे ज्ञान पाकर अमर हो जाता है। सत्सङ्गसे ही उस आत्म-बुद्धिकी प्राप्ति होती है जिससे मृत्यु नहीं होती और सब दुःखोंसे छूटकर साधक परमानन्दको प्राप्त होता है। संसार-समुद्रके पार उतारनेमें सन्तजन पुलके समान हैं। जिसने सत्सङ्गरूपी गङ्गामें स्नान किया है उसको फिर तप, दान आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं है। मुमुक्षुको सदा सत्सङ्गकी खोज करनी चाहिये। सत्सङ्गसे ही मनुष्य अविनाशी-पदको प्राप्त होता है, जिसके पा जानेपर फिर कुछ भी पानेकी इच्छा नहीं रहती।

जिस पुरुषमें ये चारों साधन हैं उसे परमश्रेष्ठ जानना चाहिये। मोक्षकी प्राप्तिके ये चार परम-साधन हैं—

सन्तोषः परमो लाभः सत्सङ्गः परमं धनम्।
विचारः परमं ज्ञानं शमश्च परमं सुखम्॥

(शेष आगे)



एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो गहि सेवै मूलको, फूलै फलै अघाय॥
बन्दे तू कर बन्दगी, तौ पावै दीदार।
औसर मानुष-जन्मका, बहुरि न बारम्बार॥

ईश्वरानुभूति

(लेखक—पं० श्रीमदनगोपालजी गोस्वामी)



मानव-सृष्टिका आध्यात्मिक विकासक्रम प्रायः दो मार्गोंसे अग्रसर हुआ करता है। एक मस्तिष्कसे और दूसरा हृदयसे। दोनोंमें सम्बन्ध है किन्तु दोनों एक वस्तु नहीं। मस्तिष्क ज्ञानका केन्द्र है और हृदय प्रेमका। दोनोंमें किसका दर्जा ऊँचा है, यह कहना सहज नहीं। किन्तु अनुभूति प्रायः अन्तरमें प्रवेश कर जाती है। जब तर्क अपने सन्दिग्ध-नेत्रोंसे 'हाँ' और 'नहीं' के बीच दोल्हापाँती खेलता रहता है, तबतक अनुभूति पदार्थोंके अन्तस्तलमें प्रवेशकर उनसे हिल-मिल जाती है। अनुभूति सूक्ष्मतम पदार्थोंके प्रत्यक्षीकरणमें सिद्धहस्त है।

सृष्टिके आदिकालसे ये ही दो प्रवृत्तियाँ प्रायः परमात्माकी ओर अग्रसर होती रही हैं। एक परमात्माको अपने तर्कद्वारा जाननेकी चेष्टा करती है और दूसरी हृदयके स्पर्शद्वारा। एक अनन्त निराकार ब्रह्मका अनुमान किया करती है और दूसरी उसका अनुभव। मस्तिष्क दृश्यादृश्यके अनन्त जलधिमें अपने तर्कका जाल फेंककर परमात्माकी सत्ता (existance) को मछलियोंकी भाँति फँसानेका उद्योग किया करता है किन्तु वह प्रायः इस उद्योगमें असफल होता है। कभी-कभी तो मछलियोंके स्थानपर केकड़े, घोंघे इत्यादि भयप्रद जल-जन्तुओंको देखकर भयभीत हो जाता है और फिर उसे जाल फेंकनेका साहस ही नहीं होता। यहींपर प्रायः नास्तिकताका प्रारम्भ हुआ करता है। किन्तु हृदयकी प्रगति दूसरी है। यह तो अविरल सरित्-प्रवाह-सा समतल-स्थलों तथा दुर्गम पर्वतीय प्रान्तोंसे अपना स्वाभाविक मार्ग काटता हुआ उस अनन्त जलधिमें जाकर मिल जाता है।

यही मस्तिष्क-शक्ति जब जगत्-यातनासे ऊबकर उसके निवारणार्थ अदृश्य परब्रह्मके अन्वेषणमें अग्रसर होती है तब मीमांसा, सांख्य, न्याय, वैशेषिक इत्यादिका प्रादुर्भाव होता है, उनका निर्माण होता है। मीमांसा अपने स्वर्गके खयाली पुलाव पकानेमें मस्त रहता है। सांख्य प्रकृति-पुरुषके उलझनोंको सुलझाया करता है। न्याय प्रमाण-प्रमेय, संशय-प्रयोजन इत्यादि सोलह पदार्थोंके ज्ञानको ही कैवल्य-पद मान उसके साथ निरन्तर मायापची किया करता है। वैशेषिक दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवायके ही ज्ञानमें हवाईमहल बनाया करता है। वेदान्त घटाकाश और पटाकाशकी ठठोलियोंमें दाँत खटखटाया करता है। किन्तु प्रेम, वह तो निराकार निर्गुण ब्रह्मका प्रत्यक्ष अनुभवकर दिन-रात उसकी ओर अज्ञातरूपसे अग्रसर हुआ करता है।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इन्हीं दो प्रवृत्तियोंको दार्शनिकोंने ज्ञानमार्ग और प्रेम अथवा भक्तिमार्गके नामसे पुकारा है। भगवद्-गीताके ज्ञानयोग तथा भक्तियोगमें ये ही दो समस्याएँ हल की गयी हैं। एक मार्ग नीरस है, दूसरा सरस; एक दुर्गम है, दूसरा सुगम; एककी गति उच्छृङ्खल है, दूसरेकी अविरल; ज्ञान प्रज्वलिताग्निका प्रखर-प्रकाश है और भक्ति सुन्दर चिन्तामणिका स्निग्ध आलोक। भक्त-शिरोमणि तुलसीदासजी कहते हैं—

ज्ञानक पन्थ कृपानके धारा । परत खगेश न लागै बारा ॥
राम भगति चिन्तामणि सुन्दर । बसै गरुड़ जाके उर अन्तर ॥
परम प्रकाश जोति दिन-राती । नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती

ढाई अक्षर प्रेमका पढ़े सो पण्डित होय । —कबीर
भगति बिनु बैल बिराने ह्वै हो । —सूर
मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई । —मीरा
प्रेमते प्रगट होहिं भगवाना''''''''''''—तुलसी

परमात्मा मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे परे है। मनुष्यकी बुद्धि चकरा गयी है, शक्तियाँ कुण्ठित हो गयी हैं, इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी हैं उस निराकारके अन्वेषणमें ! प्रमाण फीके पड़ गये हैं, दलीलें दब गयी हैं उस निर्गुण-सत्ताके अनुमानमें ! वह अचिन्त्य अगोचर है । तर्कसे उसका ज्ञान असम्भव है ।

'अचिन्त्याः खलु ये भावास्तान्न तर्केण चिन्तयेत्।'

तभी तो अध्यात्मके आचार्य अपनी सारी दलीलें लेकर उस अनन्त सत्ताके अणुमात्रका भी सम्यक् अनुभव नहीं कर सके और निरक्षरा मीरा उसके साथ रात-दिन खेला करती है ।

औरोंके पिया परदेश बसत है लिख-लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हृदय बसत है रोल करूँ दिन-राती ॥

यही है प्रत्यक्ष ईश्वरानुभूति । इसीको पाकर भक्त-शिरोमणि सूरदासजी अपने बाल-गोपालके साथ बालकों-का-सा खेल किया करते हैं ! भक्तराज तुलसीदासजी अपने रामके राज्यमें निश्चिन्त पैर पसारकर सोते हैं ! प्रेमोन्मादिनी मीरा अपने गिरिधर गोपालसे नाता जोड़ती है ! और सन्तश्रेष्ठ कबीर 'अविनाशीके गोदमें' विहार किया करते हैं ! भगवान् भी लड़कोंके साथ लड़के हो जाते हैं ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

इसप्रकार दोनों प्रवृत्तियाँ परमात्माके अन्वेषणमें निरन्तर अग्रसर हुआ करती हैं । दोनोंका एकमात्र लक्ष्य ब्रह्मज्ञान है किन्तु अनुरागको इसकी आवश्यकता नहीं । वह पहले उस अखण्ड सत्ताका पूर्ण अनुभव कर लेता है तब उसकी ओर अग्रसर होता है । दार्शनिक इसे भले ही अन्धविश्वास कह बैठें किन्तु ईश्वरानुरागी तो ईश्वरका सम्यक् अनुभव करता है । उसे उस महान् ब्रह्मकी पूर्ण अनुभूति होती है । वह उसके साथ हँसता है, खेलता है ! उसके साथ नाता जोड़ता है ! वह विश्वके कण-कणमें अपने प्रियतमका करुणा-कण देखता है और प्रेमसे विह्वल हो उसे पुनः-पुनः प्रणाम करता है । यही प्रत्यक्ष ईश्वरानुभूति है । भक्त हरिश्चन्द्रने इस अनुभूतिको किन सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया है—

'मजा न पाया इस शयका ज्यों गूँगेका गुड़ खाना ।'

यह है गूँगेका गुड़ । इसमें केवल मिठास है । खाते ही बनता है, कहते नहीं ।

प्रेमस्वरूपमनिर्वचनीयम्
मूकास्वादनवत् (नारदभक्तिसूत्र)





क्या मुख ले बिनती करौं, लाज आवत है मोहिं ।
तुम देखत औगुन करौं, कैसे भावौं तोहिं ॥
अवगुन मेरे बापजी, बकसु गरीबनिवाज ।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिताको लाज ॥
बिनवत हौं कर जोरिकै, सुनिये कृपा-निधान ।
साधु सँगति सुख दीजिये, दया गरीबी दान ॥



मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

८१७–गम्भीर रजोगुणके बाद सत्त्व गुणकी बारी आती है। रत्नाकर नामक ठग ऋषि वाल्मीकि बन जाता है। जगाई और मधाई जो नितान्त राजसी-तामसी स्वभावके थे तथा जिन्होंने चैतन्य महाप्रभुके साथी श्रीनित्यानन्दको मारा था, उनके प्रथम शिष्य हुए।

८१८–जबतक तुम ध्यानके नये अभ्यासी हो, ध्यानमें बैठनेके बाद दस मिनटतक ऊँचे स्वरसे स्तोत्रोंका पाठ करो। इससे मनका विकास होगा। मन सांसारिक विषयोंसे आसानीसे हटाया जा सकेगा। तब इस-प्रकारके चिन्तनको भी बन्द कर दो और मनको बारम्बार सतत चेष्टा करते हुए केवल एक ही भावनापर जमाओ। तब निष्ठाकी प्राप्ति होगी।

८१९–मनको नाना प्रकारका पूर्वज्ञान होता है। जब कोई चित्रकार एक चित्र अंकित करने लगता है तो वह मनके द्वारा पूर्व ही प्रत्यक्ष किये विषयोंका चित्रण करता है।

८२०–ध्यान करनेके पूर्व तुम्हें ब्रह्मकी एक मानसिक मूर्ति बनानी होगी।

८२१–जब तुम भगवान् श्रीकृष्णकी साकार मूर्ति देखते हो और उसका ध्यान करते हो तो इसे साकारो-पासना कहते हैं। जब तुम अपनी आँखोंको बन्द करके भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिका ध्यान करते हो तो यह भी साकारोपासना होती है, परन्तु उससे यह अधिक अमूर्त होती है। जब तुम अनन्त अमूर्त प्रकाशका ध्यान करते हो, तो यह और अधिक अमूर्त ध्यान होता है। पहलेके दो रूप सगुणोपासनाके हैं और अन्तिम निर्गुणोपासनाका है। निर्गुणोपासनामें भी प्रारम्भमें मनको जमानेके लिये एक अमूर्त रूप होता है। पीछे यह रूप मिट जाता है और ध्याता तथा ध्येय एक हो जाते हैं। ध्यान मनसे ही होता है।

८२२–विचार एक महान् शक्ति है, इसमें विलक्षण बल होता है। अतः यह एक अत्यन्त महत्त्वकी बात हो जाती है कि इस शक्तिका यथासम्भव उच्च-से-उच्च रीतिसे परमोच्च लाभके लिये किसप्रकार उपयोग किया जा सकता है। ध्यानाभ्यासके द्वारा ही यह उद्देश्य आसानीसे सिद्ध हो सकता है।

८२३–अपने आचारकी परीक्षा करो। उसमेंसे कुछ स्पष्ट दोषोंको चुनो, उसके विपरीत गुणका पता लगाओ। उदाहरणार्थ तुम्हारे अन्दर चिढ़ उठनेकी आदत है। चिढ़नेका विपरीत गुण है सन्तोष। सन्तोषके अमूर्त गुणोंके विषयमें चिन्तन करते हुए इसको बढ़ाओ। आधे घण्टेतक एक कोठरीमें अकेले पद्मासन या सिद्धासनमें चार बजे प्रातःकाल बैठ जाओ और सन्तोष और इसके गुणोंपर विचारो और खूब दृढ़तापूर्वक एक विषयको एक दिन, दूसरेको दूसरे दिन विचारते हुए मनको भटकनेसे रोककर अभ्यास करो। अपनेको पूर्ण सन्तुष्ट, सन्तोषकी मूर्ति समझो और अन्तमें यह प्रण कर लो—'इस सन्तोषको, जो मेरा वास्तविक स्वरूप है, आजसे मैं अनुभव करूँगा और दिखलाऊँगा।'

सम्भवतः कुछ दिनतक तो कुछ परिवर्तन नहीं जान पड़ेगा, तुम्हें रह-रहकर उत्तेजना हो उठेगी। परन्तु प्रतिदिन दृढ़तापूर्वक अभ्यास करते जाओ, पश्चात् तुम जैसे ही एक उत्तेजक वस्तु देखोगे, तुम्हारे मनमें अनायास विचार उठेगा—मुझे सन्तोष (धैर्य) धारण करना चाहिये। फिर भी अभ्यासमें लगे रहो। शीघ्र ही धैर्यके विचार उत्तेजक भावनाके साथ-साथ उठेंगे और बाह्य लक्षणको दबा देंगे। और भी अभ्यास करते जाओ। उत्तेजक भाव क्षीण होते जायँगे, अन्तमें तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि उत्तेजना नष्ट हो गयी है और प्रतिकूल अवस्थाके लिये भी धैर्य अभ्यस्त हो गया है। इसी प्रकार तुम सहानुभूति, आत्मसंयम, शौच, नम्रता, परोपकार, उदारता, दयालुता प्रभृति विभिन्न शुभ गुणोंका विकास कर सकते हो।

८२४–मनके दो रूप होते हैं—एक विवेचनात्मक और दूसरा कल्पनात्मक। विवेचनात्मक अवस्थामें मन अपनेको बन्धनसे छुड़ाकर मुक्ति प्राप्त करता है और

कल्पनात्मक अवस्थामें यह अपने आपको जगत्से बाँधता है।

८२५-विपद्ग्रस्त पुरुषको तुम आश्वासनके विचारों-द्वारा सहायता पहुँचा सकते हो और तत्त्वान्वेषीको अपने जाने हुए सत्य-सम्बन्धी स्पष्ट और निर्दिष्ट विचारोंके द्वारा। तुम वातावरणमें ऐसे विचारोंको भेज सकते हो जो पवित्रताका विकास कर सकते हैं और उन लोगोंको उत्साहित कर सकते हैं, जिनका उनकी ओर ध्यान है।

८२६-दूषित विचारोंसे युक्त मन दूसरोंसे समान विचारोंको आकर्षित करनेमें चुम्बकका काम करता है और इसप्रकार मौलिक दोषको दृढ बनाता है।

८२७-मानसिक वातावरणमें फेंके हुए दूषित विचार अन्तःकरणको विषाक्त कर देते हैं। एक दूषित विचारपर लगातार लगे रहनेसे मनकी स्वच्छता जाती रहती है और मनुष्य तदनुकूल कर्म करनेके लिये विवश होता है।

८२८-एक राजयोगी निर्विकल्प अथवा निर्बीज समाधिके द्वारा मनपर विजय प्राप्त करता है और मनोजय-के द्वारा भूतजय भी प्राप्त करता है। ऐसे योगीको आग जला नहीं सकती, जल डुबो नहीं सकता। काशीके महापुरुष श्रीतैलंग स्वामीने, जिन्हें मरे ८० वर्ष हो गये, तथा आलन्दी (पूनाके समीप) के श्रीज्ञानदेवने अपने मन तथा पञ्चभूतोंपर विजय प्राप्त की थी। उन्होंने नाना प्रकार-की सिद्धियोंका दिग्दर्शन कराया था। श्रीज्ञानदेवने श्री-चांगदेवके स्वागतके लिये, जो एक व्याघ्रपर आ रहे थे, अपने घरकी दीवालको आगे बढ़ाया था। उन्होंने मस्जिदको चला दिया था। तैलंग स्वामी छः महीने गंगाके नीचे रहते थे।

८२९-सात्त्विक और राजसिक मन बिल्कुल विपरीत दिशामें अग्रसर होते हैं। सात्त्विक मन एकान्त स्थान, मौनावलम्बन, सरल जीवन, उच्च चिन्तन, आत्मज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकोंका अध्ययन, दार्शनिक विवाद, मनकी एकाग्रता, साधु, महात्मा और संन्यासियोंका संग अधिक पसन्द करता है। और राजसिक मन नगरमें रहना, बहुत वार्तालाप, विलासितामय जीवन, क्षुद्र चिन्तन, स्त्रीसंग, सांसारिक प्रेम-सम्बन्धी उपन्यासोंका अध्ययन, भोजन और स्वार्थमय कर्मोंको पसन्द करता है।

८३०-शरीर मनका अनुसरण करता है। यदि मन ऊँचे स्थानसे गिरनेका विचार करता है तो शरीर शीघ्र ही तैयार हो जाता है और बाह्य चिह्न दिखलाता है। भय, शोक, चिन्ता, हर्ष, आह्लाद, क्रोध इन सबके विभिन्न संस्कार चेहरेपर दीख पड़ते हैं।

८३१-मनकी क्रियाओंको ही यथार्थमें कर्म कह सकते हैं। मनकी निर्बन्धतासे ही यथार्थ मुक्ति प्राप्त होती है। जो लोग अपने मनकी क्षुब्धतासे अपनेको बचाते हैं वे परम सिद्धाके अधिकारी होते हैं। मन यदि अपने समस्त दोषोंसे मुक्त हो जाय तो वह बहुत शान्त हो जायगा और उसके जन्म-मृत्यु-सम्बन्धी समस्त सांसारिक भ्रम नष्ट हो जायँगे।

८३२-जगत्के विभिन्न भोगरूपी क्षेत्रमें सङ्कल्पमय मनोरथोंके बीज महान् मायिक भ्रमरूपी विषाक्त वृक्षके रूपमें लहलहाते हैं।

८३३-जो लोग विषयोंसे निष्काम हो उनका त्याग करते हैं वही अपने मनके विजेता कहलाते हैं।

८३४-जो लोग अपने आन्तरिक सुखद वैराग्यको सहज ही आनन्दपूर्वक नहीं उन्नत करते, वह मनुष्यरूपमें कीड़े ही हैं।

८३५-यदि मन 'अहं' के सङ्कल्पसे विमुक्त होता है तो साधक गुरुसे दीक्षा लेने तथा वेदोंके तात्पर्यके ज्ञान लेनेपर आत्म-ध्यानके द्वारा विभिन्न कष्टोंसे छुटकारा पा केवल आनन्दरूप आत्मामें निवास करता है।

८३६-जैसे एक लोहा दूसरे लोहेको गढ़ता है उसी प्रकार एक मनुष्यका शुद्ध मन जो धार्मिक पथमें यत्नशील रहता है दूसरेकी मानसिक अशुद्धिको सुधारता और सवारता है।

८३७-मनका स्थान मस्तिष्कमें रहता है। यह भौतिक जगत्के विषयमें मस्तिष्कके कम्पनके द्वारा ही अनुभव प्राप्त करता है। मस्तिष्क मन नहीं है जैसा कि पाश्चात्य लोग समझते हैं। इसकी विभिन्न शक्तियाँ तथा केन्द्र होते हैं और तदनुकूल यह मस्तिष्कमें स्थित केन्द्रोंके द्वारा क्रियाशील होता है।

८३८-मन वाणीसे परे है। जिसप्रकार बन्द मुट्ठीमें दो आँवले या अखरोट होते हैं उसी प्रकार मनमें वाणी और नाम रहते हैं। जब मनुष्यके मनमें वेद पढ़नेको होता है तब वह उसे पढ़ता है। जब मनुष्यके मनमें कर्म

करनेका विचार उठता है तब वह कर्म करता है। जब उसे पुत्र-पशु आदिकी कामनाका विचार उठता है, तब वह उनकी कामना करता है। और जब उसे इहलोक तथा परलोककी अभिलाषाका विचार उठता है, तो वह उनकी इच्छा करता है। मन ही वस्तुतः जीव है। मन ही संसार है और मन ही भ्रम है। मनका ही ध्यान करो।

'मनो हि आत्मा, मनो हि लोकः, मनो हि ब्रह्म, मन उपास्स्वेति।' (छान्दोग्य० ७।३।१)

८३९—मुमुक्षु पुरुषोंके लिये, जिनमें अजेय कामनाका नाश हो गया है और जो अपने प्रयत्नद्वारा मुक्ति प्राप्त करना चाहते हैं, अशुद्ध मनका सहज त्याग ही आध्यात्मिक पथ है और तब उन्हें अनुभव होगा कि उनके सिरसे एक बोझ उतर गया है। इसके अतिरिक्त दूसरा पथ वस्तुतः उपयोगी नहीं है।

८४०—मनसे प्रत्येक वस्तुका त्याग करो और आत्मज्ञानकी प्राप्तिके द्वारा मनको नष्ट करो। आत्मनिष्ठ ब्रह्मावस्थामें विश्राम करो, अथक परिश्रमके द्वारा ही मोक्षकी आनन्दनिधि प्राप्त हो सकती है।

८४१—मनोनाशके साथ ही भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों शून्यमें लय हो जाते हैं।

८४२—यदि मोह उत्पन्न करनेवाले सब विषय कटु प्रतीत होने लगें और पूर्वभावनाओंके बिल्कुल विपरीत जान पड़ने लगें तो समझ लो कि मन नष्ट हो गया। जब मन परिवर्तित हो जाता है तो वह विषय, जो पहले सुख देता था, तुम्हें कष्ट देने लगेगा। यही मनोनाशका लक्षण है।

८४३—यदि ब्रह्मज्ञानके द्वारा समस्त संशय नष्ट हो जायँ, तब मन नष्ट हो जायगा, समस्त विघ्न-विपदाएँ, दुःख, शोक मनके नाशके साथ ही नष्ट हो जायँगे।

८४४—'अस्मत् और युष्मद्' 'मैं और तू', इस भेद-भावनाकी सृष्टि केवल मनसे ही होती है। अभावनाकी तलवारसे मनका काम तमाम कर डालो। जिसप्रकार प्रचण्ड तूफान घने बादलोंको छिन्न-भिन्नकर उड़ा देता है उसी प्रकार कल्पनाके निर्मूल होनेके साथ ही मन चेतनामें (चित्में) मग्न हो जायगा।

८४५—सिद्धासन अथवा पद्मासनमें बैठो। आँखोंको मूँद लो। त्रिपुटीकी ओर एकटकसे देखो और पाँच मिनट-तक जोरसे प्रणवका जप करो। इससे मनका विक्षेप दूर हो जायगा, फिर ध्यान लगेगा। अब ब्रह्मभावनाके साथ भीतर-ही-भीतर मनसे ॐका जाप करो। जब कभी मन भटकने लगे, ॐका उच्चारण करो। जैसे मन शान्त हो, ॐका मानसिक जप करो। सगुण-ध्यानमें भी यही क्रिया ग्रहण की जा सकती है।

८४६—अन्तःकरणसे अहङ्कार दूर हो जाय तभी तुम्हें आन्तरिक शान्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है। तभी तुम्हें मोक्ष, परमज्ञान तथा परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

८४७—आत्माका शत्रु यही अपवित्र मन है, जो अनन्त विचारों तथा अत्यन्त भ्रमसे भरा होता है। इस जगत्में विभिन्न सुखोंके भोगके द्वारा यह मनरूपी शत्रु तुम्हें नाना प्रकारसे बर्बाद करता रहेगा, इसलिये आध्यात्मिक प्रकाश तथा परमानन्दकी प्राप्तिकी आशासे इसका नाश करो।

८४८—यथार्थतः ऐसे मनका पाना बहुत ही कठिन है जो क्षुब्धताके प्रभावमें न आ सके। जिसप्रकार उष्णता अग्निसे अलग नहीं की जा सकती उसी प्रकार क्षुब्धता जो मनको नीच बना देती है उससे अलग नहीं हो सकती। क्षुब्धता नष्ट हुई कि मन भी नष्ट हो जायगा। सतत आत्मज्ञान-जिज्ञासाके द्वारा तुम्हें इस मनकी क्षुब्ध प्रकृतिको नष्ट करना होगा।

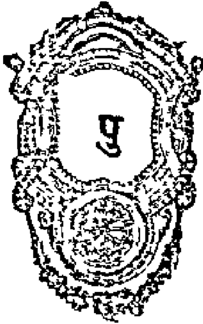
८४९—यदि मन अपने सुखों अर्थात् समस्त ऐन्द्रिय विषयोंके केन्द्रसे वञ्चित किया जाय तो यह वैराग्य और त्यागका आश्रय लेता है और स्वभावतः आत्माकी ओर अग्रसर होता है।

८५०—आध्यात्मिक दिशामें दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करनेपर मनका ज्ञान-स्वभाव हो जाता है। परन्तु अज्ञानके द्वारा वही सांसारिक हो जाता है।

८५१—केवल अपने प्रयत्नोंके द्वारा मन जिस विषयपर एकाग्र होता है उसीका रूप धारण करता है। स्त्रीका चिन्तन करते समय यह स्त्रीका रूप धारण करता है। इसीको तदाकार-वृत्ति कहते हैं। ब्रह्मका चिन्तन करते समय यह ब्रह्मरूप धारण करता है और तब ब्रह्माकार-वृत्ति उन्नत होती है। पहले उदाहरणमें मनमें रजोगुणका विकास होता है और दूसरेमें सत्त्वगुणका। (क्रमशः)

श्रीगंगा-अवतरण

(लेखक--श्रीलक्ष्मणरावजी)



पुण्यश्लोक महाराज भगीरथजी जिस गङ्गाजीको मृत्युलोकमें लाये, वह आकाशगङ्गा गगनमें अखण्ड लहरा रही है। 'गगने गच्छतीति विहरतीति गङ्गा' अर्थात् गङ्गा उसे कहते हैं जो गगनमें नित्य विहार करती है। 'गङ्गा' शब्दसे केवल इक् प्रत्ययका वर्णन किया जाता है। परन्तु इस गङ्गाकी लहरें इतनी सूक्ष्म और सर्वव्यापिनी हैं कि इससे रहित कोई स्थान ही नहीं दिखायी देता। जिस वस्तुकी ओर हम देखते हैं पहले इस गङ्गाजीके ही दर्शन होते हैं। सब संसार गङ्गामय होकर अपने व्यवहारमें लगा हुआ है, परन्तु वह जानता नहीं कि गङ्गाजी क्या हैं और कैसी हैं? संसारमें भीतर-बाहर चारों ओर गंगाजी बह रही हैं, तरंगित हो रही हैं, परन्तु संसारके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनस्तरङ्गमें तथा स्थूल-से-स्थूल झञ्झावातके आडम्बरमें कुछ भी बाधा नहीं पड़ती। बड़े-बड़े तूफान, भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वतोंका भड़क उठना, महायुद्ध, प्रलयवृष्टि इत्यादिके समान महाभयानक घटनाओंके साथ असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं तथा नष्ट होते जाते हैं, परन्तु इससे गङ्गाजीके सूक्ष्म प्रवाहमें न तनिक भी क्षोभ होता है और न विक्षेप। यह अखिल विश्व जिससे मानव-जाति परिचित हो चुकी है, गङ्गाजीके एक बिन्दुके समान है। ऐसा कोई ठोस पदार्थ नहीं है जिसके भीतर-से गङ्गाजीका प्रवाह न जा सके। परन्तु यह प्रवाह इतना सघन है कि उसमें दूसरा एक परमाणु भी प्रवेश नहीं कर सकता। अर्थात् गङ्गाजी अनन्त विश्वका आश्रय हैं तथापि उनमें विश्वका अस्तित्व सिनेमाके छायापटके चित्रोंके समान केवल आभासमात्र है। श्रीगङ्गाजीका प्रवाह मर्यादा-हीन है, उसका न कोई तट है, न घाट है, न उद्गम है और न सङ्गम है। तथापि इसे सौभाग्य ही समझना चाहिये कि आत्मानुभवी और प्रत्यक्षदर्शी गङ्गापुत्रोंकी वाणीको गङ्गाजीके उद्गम तथा उनकी दृष्टिको गङ्गाजीके घाटके समान होनेका महत्त्व प्राप्त है।

श्रीगङ्गाजी प्रत्यक्षावगम्य अर्थात् दर्शनीय, श्रवणीय तथा मननीय हैं तथा उनका निदिध्यासन भी हो सकता है। विश्वका मूल कारण यही गङ्गाजी हैं। गङ्गाजीका गुण, स्वभाव अथवा प्रकृति ज्ञान है। गङ्गाजीकी ही एक वास्तविक सत्ता है, असंख्य ब्रह्माण्डोंकी रचना तो उनके ज्ञानका प्रकाश (radiation) मात्र है। ज्ञानके प्रकृति-सिद्ध होनेके कारण उसीके साधनसे इस ज्ञानमय विश्वका निर्माणकर स्वयं गङ्गाजी कर्त्ता, भोक्ता, द्रष्टा और ज्ञाता बन रही हैं। ज्ञानका उदय होनेके पश्चात् प्रकाशमें प्रापञ्चिक और पारमार्थिक रचनाएँ होती हैं। ज्ञानका अस्त होते ही जल-बुद्बुदकी भाँति समस्त प्रपञ्च तथा परमार्थ श्रीगङ्गाजीमें विलीन हो जाते हैं। एवं कर्त्ता-कार्य-कर्म, भोक्ता-भोग्य-भोग, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन, ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान इत्यादि त्रिपुटियाँ श्रीगङ्गाजीके ज्ञानका विलास-मात्र हैं इसलिये परमार्थतः श्रीगङ्गाजी स्वतः ही अपने शुद्ध स्वरूपको त्रिपुटीके रूपमें जानती हैं तथा देखती हैं। अर्थात् ज्ञानोदयके पूर्व तथा ज्ञानास्तके पश्चात् श्रीगङ्गाजी हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता और नहीं हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि होने और नहीं होनेकी पहचान ज्ञानमें ही होती है। उस अवस्थामें श्रीगङ्गाजी न सत्य हैं, न असत्य; न मर्त्य हैं, न अमृत; न एक हैं, न अनेक; न ज्ञाता हैं, न ज्ञेय; न विश्व हैं, न भोक्ता। हैं तो सही, किन्तु कुछ कहा नहीं जा सकता। श्रीगङ्गाजी-के शुद्ध तथा अखण्ड सलिल अथवा जलरूपका ज्ञान भी ज्ञानोदयके पश्चात् ज्ञानप्रकाशमें ही है।

ऋग्वेदके सुप्रसिद्ध नासदीय सूक्तमें भी आदि-तत्त्व अथवा ब्रह्मका ऐसा ही वर्णन पाया जाता है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास॥

अर्थात् 'उस समय न असत् था न सत् था, न परमाणु थे न व्यापक आकाश था, न कोई आवरण था न

कोई आधार था, उस समय गहन-गम्भीर सलिल (अम्भः) अथवा जलरूप भी क्या था? (कुछ नहीं कहा जा सकता) उस समय न मृत्युका अस्तित्व था न अमृतत्व था, न दिवस था न रात्रि थी, उस समय एक चैतन्य प्रकाशके अतिरिक्त अन्य कुछ भी न था, प्रवाहरूप भी अव्यक्त था।' मनु भगवान्‌ने भी कहा है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

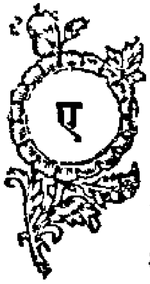
अर्थात् 'नार संज्ञा आप अथवा सलिल (जल) की है, इस नारकी उत्पत्ति पुरुषसे होती है, तथापि वह (नार) पूर्वमें इस (पुरुष) का अधिष्ठान भी रहता है। इसलिये वह नार (सलिल) नारायण नामसे प्रसिद्ध है।' यह नार अथवा नारायण वही अनुभव है जो महाराज भगीरथके द्वारा गङ्गावतरण-संज्ञाको प्राप्त हुआ है। मनु भगवान्‌ने ठीक ही कहा है कि यह नारायण अथवा श्रीगङ्गाजी प्रथम पुरुषका अधिष्ठान आश्रय है। तात्पर्य यह है कि पुरुषकी ज्ञानमय उत्पत्ति, स्थिति और लय इसी श्रीगङ्गाजीके सलिलमें है। तथापि पुरुष जब परमार्थको प्राप्त करके श्रीगङ्गाजीके सलिलका साक्षात् अनुभव करता है तभी श्रीगङ्गाजीका अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः गङ्गाजीकी उत्पत्ति पुरुषसे भी है। पुरुष गङ्गा-का पुत्र है और गङ्गा पुरुषकी पुत्री है। प्रपञ्चकी दृष्टिसे इस असम्भव सम्बन्धद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारका, श्रीगङ्गा-वतरणका केवल वर्णनमात्र होता है।

'गंगावतरण' शब्दमें जिसप्रकार 'गंगा' पदका नारायण किंवा सलिलरूपमें विशेष अनुभविक अर्थ होता है उसी प्रकार 'अवतरण' पदका भी तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे विशेष अर्थ होता है। 'अवतार' शब्दको धार्मिक तथा तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी पुरुष जानते हैं। दृष्टिकोणके भेदसे इस शब्दके अनेक अर्थ पण्डितोंने किये हैं, तथापि इसका व्युत्पत्तिजनक अर्थ ही सामान्यतः ग्रहण किया जाता है। 'अवतरण' का अर्थ है उतरना, इसप्रकार तत्त्वज्ञान-की दृष्टिसे 'अव्यक्त स्थितिसे व्यक्त स्थितिमें आना और लाना' इस अर्थमें अवतरण शब्दका प्रयोग होता है। अर्थात् श्रीगंगाजीके अव्यक्त सलिल अथवा नारायणरूपको व्यक्त करना ही गंगावतरण है। ब्रह्मसाक्षात्कारके संस्कारसे बने हुए भाग्यरूपी रथपर जो मनुष्य चढ़ता है वही भगीरथ है। अनादिकालसे ऐसे भगीरथ होते आये हैं, वर्तमानकालमें भी हैं और अनन्त भविष्यकालमें होते रहेंगे। इसी कारण गंगावतरणका स्मृतिदिवस 'दशाहरा-पर्वणी' का महत्त्व है।

बायस्कोपके यन्त्रमेंसे जिस समय प्रकाशके किरणोंका स्रोत निकलता है, उस समय वह अव्यक्त ही रहता है, किन्तु जैसे ही वह किरणें छायापटपर टकराती हैं, व्यक्त हो जाती हैं। उनमें जो किरणें सोपाधिक होती हैं, वे चित्ररूपसे व्यक्त होती हैं और जो निरुपाधिक होती हैं, वे शुद्ध प्रकाशरूपमें व्यक्त होती हैं। इसी प्रकार श्रीगंगाजी जब स्वज्ञानमय प्रकृतिरूपमें व्यक्त होती हैं तो अपने दोनों स्वरूपों (अर्थात् १—शुद्ध, अव्यक्त, निरुपाधिक सलिलरूप और २—सोपाधिक विश्वरूप) को व्यक्त करती हैं। जिसप्रकार जलाशयमें भँवर अथवा बुदबुद उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार श्रीगंगाजीमें अहंभावनामय ज्ञान-केन्द्र उदय होते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानने विश्वकी रचनाके विषयमें एक आवर्तन-शक्ति-सिद्धान्त (Theory of Vortex force) की स्थापना की है। जिसका सारांश यह है कि आदि भौतिक तत्त्व (Materia Prima) आकाश (Ether) में केन्द्रीय गति उत्पन्न होती है और उससे V इस आकारके भँवर उत्पन्न होते हैं तथा इस भँवर-गतिके कारण ही यह समस्त जड-सृष्टि बनती है। परन्तु जड-सृष्टिके साथ ज्ञान-सृष्टिका क्या सम्बन्ध है, इसका पता लगानेमें भौतिक विज्ञान अभी समर्थ नहीं हुआ। इसलिये आवर्तन-शक्ति-सिद्धान्तकी सत्यता सर्वमान्य नहीं हुई और विश्व-रचनाका रहस्य अज्ञात ही रह गया। परन्तु श्रीगंगाजीका प्रवाह नित्य ज्ञानमय होनेके कारण कोई रहस्य गुप्त नहीं रह जाता। भौतिक आवर्तन-शक्ति-सिद्धान्तके समान ज्ञानमय वृत्ति-सिद्धान्त श्रीगंगाजीके प्रवाहमें परिणत होता है और नित्य विश्व-रचनाका कार्य करता है। श्रीगंगाजीके सलिलमें एक कल्पनाका उदय होता है और ज्ञान-प्रवाहके अत्यन्त चञ्चल होनेके कारण वह तत्काल ही अस्त भी हो जाता है। परन्तु वही कल्पना पुनः-पुनः उठती और मिटती है। यह उदयास्त इतनी द्रुत गतिसे होता है कि प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली कल्पनाका अस्तित्व, चक्राकार घूमनेवाला भँवरा जिसप्रकार स्थित जान पड़ता है उसी प्रकार सतत (Continuous) ज्ञात होता है। अस्तित्वके इस

सद्गुरुका दिव्योपदेश

(लेखक—स्वामी श्रीसुतीक्ष्णजी उदासीन)



एक दिन सन्ध्याके समय सद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजी महाराज सुलतानपुर-नामक नगरमें विराजमान थे। भगवान् भुवन-भास्कर अंशुमाली अपनी दिनभरकी यात्रा पूरी करके अस्ताचलपर विश्राम करना ही चाहते थे कि इतनेमें एक ब्रह्मदासजी उदासीन नामक वृद्ध महात्मा उनके सामने आ पहुँचे। सद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजी महाराजने उनका बड़े प्रेमपूर्वक स्वागत करते हुए उन्हें अपने समीप बैठाया और कुशल-वार्ताके पश्चात् उन्हें भोजन कराया। तत्पश्चात् महात्मा ब्रह्मदासजी श्रीसद्गुरुके समीप बैठे। कुछ प्रश्न करनेका मनमें सङ्कल्प कर ही रहे थे कि श्रीसद्गुरुने उनके मनके अभिप्रायको जानकर मन्द-मन्द मुसकराते हुए इसप्रकार मधुर वचनोंमें कहा—'हे महात्मन्! कुछ ऐसा प्रसङ्ग चलाइये जिसके श्रवणसे हमारा तथा सर्वसाधारणका कल्याण हो। क्योंकि साधु-महात्मा जगत्के कल्याण करनेवाले होते हैं, संसारचक्रका धुरा आप-जैसे महात्माओंके ही हाथमें रहता है, आप उसे जिधर चाहें घुमा सकते हैं।'

सद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजी महाराजके प्रेमभरे इन सरल वचनोंको सुनकर महात्मा ब्रह्मदासजीका हृदय-पटल, जो प्रथम ही ज्ञानद्वारा खुला हुआ था, प्रकाशमान हो उठा। वह कहने लगे, 'हे भगवन्! मेरी क्या शक्ति है जो मैं आपके समक्ष कुछ कह सकूँ। मै तो स्वयं अपने हृदयका सन्देह आपसे दूर कराना चाहता हूँ, इसलिये कृपा करके समझाइये कि वह श्रेष्ठ व्यवहार कैसे किया जाता है, जिसके द्वारा परमार्थकी सिद्धि अर्थात् भगवद्भक्तिकी प्राप्ति हो।' महात्मा ब्रह्मदासजी-के इस प्रश्नको सुनकर सद्गुरु श्री श्रीचन्द्रजी महाराज कहने लगे—'हे ब्रह्मदासजी! भगवद्भक्ति प्राप्त करनेके लिये जिन श्रेष्ठ आचरणोंके विषयमें आपने पूछा है, उन्हें सुनिये। भगवद्भक्तिकी इच्छा करनेवाले साधकको पहले सब प्रकारके कष्टोंके सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये, क्रोधका बदला क्षमासे देना चाहिये, वैरके बदले प्रेम करना चाहिये, अपने साथ जो बुराई करे, उसके साथ भलाई करनी चाहिये, परमात्मा यदि धन, गुण, बल और प्रभुता दे तो उससे लेशमात्र भी अभिमान मनमें नहीं लाना चाहिये, दूसरोंके अवगुणोंपर कभी दृष्टि न डालनी चाहिये, सदा उनके गुणोंको ही देखते रहना चाहिये। परायेकी स्त्री चाहे कैसी भी रूपवती क्यों न हो, उसको अस्थि, मांस, रुधिरकी थैली समझ उसपर कभी कुदृष्टि न डालनी चाहिये; आहार विहारमें संयम रखना चाहिये, अनावश्यक किसीसे एक शब्द भी न बोलना चाहिये, सदा सत्य, मीठे वचन बोलने चाहिये और वह भी परिमित ही; यथासाध्य सबकी सेवा करनेमें सदा उद्यत रहना चाहिये, दूसरेकी भलाई करके उससे बदला पानेकी इच्छा न रखनी चाहिये। अपनेसे बड़े माता, पिता, गुरु, साधु-महात्मा, वयोवृद्ध, जातिवृद्ध, आश्रमवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदिको सदैव नम्रतापूर्वक उठकर प्रणाम करना और उनकी आज्ञा माननेमें अपने भले-बुरेका विचार न करना चाहिये, क्योंकि—

उचित कि अनुचित किये विचारू। सुकृत जाय सिर पातक भारू॥

प्रतिष्ठा और मानको मदिरा और विषके समान त्याग देना चाहिये। दम्भाचरण छोड़कर सरल और सादा आचरण रखना चाहिये। अपनी आयसे सदा

कम खर्च करना चाहिये; इत्यादि सब श्रेष्ठ आचार हैं। इनमें साधक जितना ही अधिक उन्नति करेगा उतना ही परमार्थ-साधनमें अग्रसर होगा। साधकको अपना जीवन दैवीसम्पत्तिके अनुकूल बनाना चाहिये और उसे आसुरीसम्पत्तिसे सदा बचना चाहिये। (दैवी-सम्पत्ति और आसुरीसम्पत्तिके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णजीने गीताके सोलहवें अध्यायमें उपदेश किया है) भक्त वही है जो सदा छोटे-से-छोटे पापोंसे भी सावधान रहता है। मनुष्यको भगवान्ने भले-बुरेका विचार करनेकी शक्ति प्रदान की है। इसीलिये भगवान्ने गीतामें आज्ञा दी है कि 'हे मनुष्य! काम-क्रोध तथा लोभ यह तीनों अपना नाश करनेवाले तथा नरकके द्वार हैं इनका त्याग कर और समस्त पापोंके निवास-स्थान कामरूप शत्रुका नाश कर।'

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गीता १६ । २१)

जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

(गीता ३ । ४३)

यह कामादि प्रबल शत्रु कुसङ्गसे उत्पन्न होते हैं। जिनका मन वशमें नहीं होता उनको विषयोंके किञ्चित् ध्यान करते ही यह शत्रु आप-से-आप आक्रमण कर बैठते हैं। गीतामें श्रीभगवान्का उपदेश है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२ । ६२-६३)

अर्थात् 'विषयोंका ध्यान करते रहनेसे पुरुषको उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्तिसे काम उत्पन्न होता है, कामसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे मोह उत्पन्न होता है, मोहसे स्मृतिका नाश होता है, तत्पश्चात् बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश होनेसे वह सर्वनाशको प्राप्त होता है।'

हे महात्मा ब्रह्मदासजी! जो मनुष्य दुर्लभ मानव-जीवन पाकर केवल कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये चञ्चला लक्ष्मीकी प्राप्तिमें ही इसे बिता देता है और इन्द्रियोंके वशीभूत हो अहंभावमें पड़ा रहता है वह मृत्युके समय महान् पीड़ाको प्राप्त होता है तथा उसके पश्चात् नाना योनियोंमें भ्रमण करता हुआ निरन्तर दुःख उठाता है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।

इसलिये साधकको कभी भी साधन-पथसे विचलित नहीं होना चाहिये। तथा इसके लिये सदा परमात्मासे प्रार्थना करते रहना चाहिये। जो भगवान्-के भरोसेपर अपनी जीवनयात्रा छोड़कर अपना मन उसके ध्यानमें लगा देता है वही सच्चा भक्त बनने-का अधिकारी होता है। इसी बातका सङ्केत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने प्यारे सखा उद्धवके प्रति किया है—

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥

(श्रीमद्भा० ११ । १२ । १५)

अर्थात् 'हे उद्धव! समस्त देहधारियोंके आत्म-स्वरूप एक मुझको ही सर्वभावसे अपना आश्रय बनाओ, मेरी शरणमें आनेसे मनुष्य सब प्रकारके भयसे छूट जाता है।' हे महात्मा ब्रह्मदासजी! भगव-च्चरणोंमें अपने आपको सौंप देना ही सारे शास्त्रोंका गुप्त रहस्य है तथा यही समस्त साधनोंमें अन्तिम साधन है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भी अपने प्यारे सखा सुग्रीवसे कहते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(वा० रा० ६ । १८ । ३३)

प्रवेश नहीं करती, वैसे ही ध्यानशील चित्तमें राग नहीं घुसता।

१५-पाप करनेवाला यहाँ शोक करता है और परलोकमें शोक करता है; दोनों जगह शोक करता है, अपना बुरा काम देखकर वह शोक करता है, सिर पीटता है।

१६-पुण्य करनेवाला यहाँ आनन्द पाता है और परलोकमें आनन्द पाता है; दोनों स्थानोंमें वह आनन्द पाता है। अपना अच्छा काम देखकर वह आनन्द पाता है—प्रमोद प्राप्त करता है।

१७-पाप करनेवाला यहाँ दुखी होता है और परलोकमें दुखी होता है, दोनों स्थानोंमें वह दुखी होता है। मैंने पाप किया, यह सोचकर वह दुखी होता है, बुरी गति पाकर वह और दुखी होता है।

१८-पुण्य करनेवाला यहाँ सुखी होता है और परलोकमें सुखी होता है, दोनों स्थानोंमें वह सुखी होता है। मैंने पुण्य किया, यह सोचकर वह सुखी होता है, अच्छी गति पाकर वह और सुखी होता है।

१९-जो आदमी वेद बहुत कहता है, परन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करता, वह श्रमणत्वका भागी नहीं होता; जिसप्रकार दूसरोंकी गायोंको गिननेवाला ग्वाला उनका भागी नहीं होता।

२०-जो थोड़ा भी वेद कहता है परन्तु धर्मके अनुसार चलता है, राग, द्वेष और मोहको छोड़कर जिसका चित्त मुक्त हो गया है, जो अच्छी तरह जागृत है, जिसकी यहाँ या परलोकमें कुछ भी वासना नहीं है, वही श्रमणत्वका भागी होता है।

(यमकवर्ग सम्पूर्ण)

ईश्वर-पूजन

(लेखक—श्रीरामसहायजी)



मनुष्यके लिये परमात्माको प्रसन्न एवं साक्षात् करनेका एक बहुत उत्तम उपाय यह है कि वह *दीनोंकी सेवा करे अर्थात् अपनी* शक्तिके अनुसार भूखेको भोजन, प्यासेको जल, वस्त्रहीनको वस्त्र, धनहीनको धन, विद्याहीनको विद्या, रोगीको ओषधि, दुर्बलको बल और अज्ञानीको ज्ञान देकर सन्तुष्ट करे। मध्याह्नके समय यदि कोई भूखा-प्यासा मनुष्य आपके पास आवे और अन्न-जलकी याचना करे, और यदि आप उसकी क्षुधा-पिपासा निवारण कर दें तो आपने भगवान्‌की एक ऐसी सेवा की कि जिससे आपकी आत्मा अवश्यमेव उन्नत होगी। यदि एक दीन हीन वृद्ध पुरुष, जिसके स्त्री-पुत्रादि सब नष्ट हो गये हैं, जो चिथड़ोंसे अपने अंगको ढके हुए है आपके सामने आकर भिक्षाके लिये गिड़गिड़ावे और यदि आप थोड़ा-सा भी दान उसको दे दें तो समझिये कि उसके मुखका एक आशीर्वाद ही परमेश्वरकी प्रसन्नताका सूचक है। एक असहाय मनुष्य पृथिवीपर पड़ा हुआ किसी कठिन शूलकी पीड़ासे तड़प रहा है और यदि आप उसके लिये ओषधिका प्रबन्ध कर दें तो निस्सन्देह आपने परमेश्वरकी ही यह एक महती एवं सन्तोषजनक सेवा की। यदि एक लकड़हारा लकड़ियोंका बोझा सिरपर लादे ज्येष्ठ मासकी कड़ी धूपसे मूर्छित होकर गिर पड़े और यदि आप उसको अपनी सेवासे स्वस्थ कर दें तो निश्चय ही आपने भगवान्‌की एक बड़ी पूजा सम्पादन की।

यदि हमलोग अपने समस्त कर्म सदा ईश्वर-पूजाके भावसे करें तो अवश्य ही यह भाव हमारी आत्मिक उन्नति एवं यथार्थ आनन्दकी प्राप्तिमें परम सहायक होगा । वस्तुतः ऐसे अभावपीडित मनुष्य ही यथायोग्य दानके अधिकारी हैं ।

'दरिद्रान्भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।'

अर्थात् निर्धनोंका भरण-पोषण करो, धनीको धन न दो । इस दीन-सेवाके फलस्वरूप शीघ्र ही आपका अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मज्ञान लाभ करेगा । शास्त्रमें अनेक ऐसी कथाएँ पायी जाती हैं कि मनुष्य तो क्या दीन पशु-पक्षियोंका उपकार करके बड़भागी मनुष्योंने आत्मसाक्षात्कारका पूर्णानन्द प्राप्त किया है । इसी परम लाभके लिये ईशोपनिषद् भी मनुष्योंको कैसा हितकर उपदेश करती है—

ईशा वास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

अर्थात् 'लोकमें जो कुछ भी है यह सब ही ईश्वर (अन्तर्यामी) आत्मा है, इस भावनासे नाम-रूपात्मक दृश्य-बुद्धि त्यागकर व्यवहारका पालन करो और किसीके भी धनकी इच्छा न करो (अर्थात् जैसे नाट्य-लीलामें राग-द्वेष-रहित व्यवहारका पालन होता है वैसे ही संसारमें करो) ।'

इसी भावको लेकर भगवान्‌के अनन्य भक्त भगवान्‌के समस्त सांसारिक लीला-कार्योंमें सहयोग करते हैं । परम भक्तिमती कैकेयीने भगवान् श्रीरामके लीला-कार्यमें इसी भावसे क्रूरातिक्रूर भागका अभिनय करके सांसारिक दृष्टिसे सदाके लिये निन्दा, कलंक, क्रूरता एवं कुलनाशकताका टीका लगवानेसे मुख नहीं मोड़ा, वरं उसको भगवान्‌की परम सेवा और अपना अहोभाग्य समझा । इसी भावको लेकर भगवती परम सती सीताने मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामको लोकापवादसे बचानेके लिये पति-परित्यागरूपी विष-की घूँट पी ली थी । इसी भावसे भक्तराज भीष्म-पितामहने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा भंग कराकर अपनी प्रतिज्ञाका पालन किया था । उन्हींके शब्दोंमें इस अद्भुत चरित्रका आनन्द लीजिये ।

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा-जननीको, सान्तनु-सुत न कहाऊँ ॥
स्यन्दन खण्डि महारथ खण्डौं, कपिध्वजसहित डुलाऊँ ।
इती न करौं सपथ मोहिं हरिकी, छत्रिय-गतिहिं न पाऊँ ॥
पाण्डव-दल सनमुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।
सूरदास रनभूमि विजय बिनु, जियत न पीठ दिखाऊँ ॥

यह त्रिगुणात्मिका माया उस परम लीलाकारी राजराजेश्वर अखिलभुवनेश्वर भगवान्‌का शीशमहल है, जिसमें नाना प्रकारके रंग-विरंगे शीशे लगे हुए हैं । कोई उभरा हुआ है, तो कोई पिचका हुआ । सृष्टि-के आदिमें वह सर्वेश्वर आप ही इस मायारूपी शीश-महलमें प्रवेश करके नाना नाम-रूपात्मक जगत्‌के रूपमें भास रहा है । ज्ञानी ईश्वरभावसे समस्त सांसारिक व्यवहार चलाते हुए चराचर जीवोंकी सेवा करके भगवद्रूप ही हो जाते हैं और भगवान्‌के नित्य विहारके असीम अनुपम आनन्दका रसास्वादन करते हैं किन्तु अज्ञानी जीव राग-द्वेषके वश होकर परस्पर द्रोह करके इस ईश्वरमय आनन्दरूप जगत्‌को नरक बना डालते हैं और सदा आवागमनके चक्रमें पड़कर अवर्णनीय दुःखोंका अनुभव करते हैं । अतः बुद्धिमान् मनुष्योंको सदा ईश्वरभाव रखते हुए संसार-के समस्त व्यवहारको चलाना चाहिये । इस ईश्वर-भाव और वास्तविक ईश्वरप्रेम प्राप्त करनेके लिये अपने परिवार एवं इष्ट-मित्रोंके साथ सदा उच्च स्वरसे तन्मय होकर सगुण भगवान्‌के रूप-गुण-शक्तिद्योतक नामों (गिरिधारी, वासुदेव, मुरलीधर, श्यामसुन्दर इत्यादि) का कीर्तन करना चाहिये ।

जय मुरलीधर जय गिरधारी । जय शारँगधर राम खरारी ॥

धर्म और अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन शुरू किया । कुछ दिनोंके पश्चात् आपको सद्‌गुरु स्वामीजी श्रीभगवान्‌दासजीका समागम प्राप्त हुआ । फिर तो अध्ययनके साथ-साथ भजन भी खूब चलने लगा ।

इसी प्रकार काशीमें कुछ कालक्षेप करनेके बाद आप महात्मा भगवान्‌दासजीके साथ तीर्थाटनमें निकले और घूमते-घूमते रास्तेमें अहमदाबादनिवासी महात्मा स्वामी श्रीसरयूदासजी तथा श्रीमोहनदासजी-से इनकी भेंट हो गयी और उनके साथ यात्रा करते-करते आप अहमदाबाद आ गये । यहाँ आकर आपने परम पावन खड्गधारेश्वरमें निवास किया । तदनन्तर भावुक भक्तोंके विशेष आग्रहके कारण आप प्रेमदर्वाजा-मन्दिरमें आ गये और कई वर्षोंतक यहीं भगवत्-भजन और उपदेश करते रहे ।

शास्त्राध्ययनकी इच्छासे आप पुनः काशी गये और वहाँ बारह वर्षोंतक शास्त्रोंका अध्ययन और साधन करते रहे । पीछे स्वामी श्रीसरयूदासजीके आग्रहसे आप अहमदाबाद लौट आये और तबसे जीवनपर्यन्त यहीं रहे । देह-त्याग करनेके सात वर्ष-पूर्व आप बहुत बीमार पड़े और उसी अवस्थामें स्वामी श्रीसदानन्दजी सरस्वतीसे आपने आतुर संन्यास-दीक्षा ली । उसके बाद ईश्वरेच्छासे आपका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधरने लगा और आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये । गत पौष-शुक्ल त्रयोदशीको आपने एक सौ दस वर्षकी अवस्थामें गुजरातके राजनगर अहमदाबादमें इहलीला संवरण की ।

महात्मा स्वामी श्रीआत्मारामजी एक उच्चकोटिके पहुँचे हुए महात्मा थे । आप अखण्ड बालब्रह्मचारी, परम विरक्त, परम विद्वान् और परमार्थपथके सच्चे मार्गदर्शक थे । आपका जीवन बहुत ही सादा था, आप केवल टिक्कड़ और तरकारीका ही भोजन करते थे । छोटे-बड़े सबके ऊपर समान दृष्टि रखते थे । आपके चेहरेपर एक दिव्य तेज झलकता था । जो ही आप-के सामने आता, श्रद्धासे शिर अवनत कर लेता था । धर्मगुरुओं और संन्यासियोंके कैसे आचार-विचार होने चाहिये, इसके आप साक्षात् आदर्श थे । प्रति-दिन प्रातःकाल आप हजारों भक्तवृन्दको धर्मका रहस्य समझाते तथा ज्ञानामृतका पान कराते थे । ऐसे परम पवित्र पुण्यात्माके परमधामवाससे अहमदा-बादकी जनताको गहरी पारमार्थिक हानि पहुँची है । आपके शवको स्पेशलट्रेनद्वारा नर्मदामें ले जाकर जल-समाधि करायी गयी थी ।

ऊधो !

ऊधो ! योग योग हम नाहीं ।
अबला सार ज्ञान कहा जानै कैसे ध्यान धराहीं ॥
ते ये मूँदन नैन कहत हैं हरि-मूरति जा माहीं ।
ऐसी कथा कपटकी मधुकर हमतें सुनी न जाहीं ॥
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु ये दुख कौन समाहीं ।
चंदन तजि अँग भस्म बतावत बिरह-अनल अति दाहीं ॥
योगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो है अपुमाहीं ।
'सूरदास' ते न्यारे न पल-छिन ज्यों घटते परिछाहीं ॥

—सूरदासजी

परमहंस स्वामी श्रीआत्मारामजी

(लेखक—श्रीयुक्त त्रिभुवनदास हरगोविन्ददास)

भगवान्‌के चिन्तनमें अपने जीवनको यापनकर स्वय मनुष्य-शरीरको सफल करनेवाले तथा अपने सदुदाहरणोंके द्वारा जन-समाजको इस ससार-समुद्रसे पार होनेका मार्ग दिखलानेवाले महात्मा इस सुख-दु ख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे व्यथित जगत्‌को बडे ही भाग्यसे मिलते हैं। वह देश और ग्राम धन्य है जहाँ ऐसे महात्माओंका निवास होता है, और वे पुरुष धन्य हैं जो इन महात्माओंके दर्शन, इनकी सेवा तथा इनके उपदेशोंसे लाभ उठाकर अपने-आपको कृतकृत्य करते हैं। परन्तु जहाँ सासारिक जनोंको ऐसे विरक्त महात्माओंका समागम परमानन्दका प्रदान करनेवाला होता है वहाँ इनका वियोग—और वह भी सदाके लिये वियोग तो—उसी प्रकार परम दु खका कारण होता है। इससे कितने हतभाग्य जीव निराश्रित हो जाते हैं और उनकी अवस्था उस नौकाके समान हो जाती है जो बिना नाविकके, महासमुद्रके मध्यमें पडी उत्ताल तरङ्गोंके थपेडे खाती, इधर-उधर निरर्थक सङ्कटापन्न दशामें घूमती रहती है। आज यहाँ एक ऐसे ही महात्माका जीवन अत्यन्त सक्षेपमें पाठकोंकी जानकारीके लिये दिया जाता है। महात्माओंका चरित पाठ करनेसे जीवका कल्याण होता है, इस विचारसे यह चरित्र अत्यन्त सक्षिप्त होनेपर भी कल्याणजनक है, यही आशा मुझे इस चरित्रके लिखनेके लिये प्रेरित करती है।



महात्मा स्वामी श्रीआत्मारामजीका—जन्म गुजरात-प्रान्तके चोलोग नामक ग्राममें हुआ था। आप जातिके औदीच्य ब्राह्मण थे। बचपनसे ही इनमें विरक्तिके चिह्न दिखलायी देने लगे थे। सत्तरह वर्षकी अवस्थामें आपके माता-पिताने बहुतेरा प्रयत्न किया कि इनका ब्याह करके गृहस्थाश्रमके बन्धनमें डाल दें, परन्तु जिसकी लगन भगवान् श्यामसुन्दरसे लग गयी, वह भला सासारिक प्रलोभनोंमें क्योंकर फँस सकता है? हुआ भी ऐसा ही, महात्मा आत्मारामजी घरको सदाके लिये छोडकर विरक्त हो काशीधाम चले गये। वहाँ आकर इन्होंने

धर्म और अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन शुरू किया। कुछ दिनोंके पश्चात् आपको सद्‌गुरु स्वामीजी श्रीभगवान्‌दासजीका समागम प्राप्त हुआ। फिर तो अध्ययनके साथ-साथ भजन भी खूब चलने लगा।

इसी प्रकार काशीमें कुछ कालक्षेप करनेके बाद आप महात्मा भगवान्‌दासजीके साथ तीर्थाटनमें निकले और घूमते-घूमते रास्तेमें अहमदाबादनिवासी महात्मा स्वामी श्रीसेरयूदासजी तथा श्रीमोहनदासजी-से इनकी भेंट हो गयी और उनके साथ यात्रा करते-करते आप अहमदाबाद आ गये। यहाँ आकर आपने परम पावन खड्गधारेश्वरमें निवास किया। तदनन्तर भावुक भक्तोंके विशेष आग्रहके कारण आप प्रेमदर्वाजा-मन्दिरमें आ गये और कई वर्षोंतक यहीं भगवत्-भजन और उपदेश करते रहे।

शास्त्राध्ययनकी इच्छासे आप पुनः काशी गये और वहाँ बारह वर्षोंतक शास्त्रोंका अध्ययन और साधन करते रहे। पीछे स्वामी श्रीसरयूदासजीके आग्रहसे आप अहमदाबाद लौट आये और तबसे जीवनपर्यन्त यहीं रहे। देह-त्याग करनेके सात वर्ष-पूर्व आप बहुत बीमार पड़े और उसी अवस्थामें स्वामी श्रीसदानन्दजी सरस्वतीसे आपने आतुर संन्यास-दीक्षा ली। उसके बाद ईश्वरेच्छासे आपका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सुधरने लगा और आप शीघ्र ही स्वस्थ हो गये। गत पौष-शुक्ल त्रयोदशीको आपने एक सौ दस वर्षकी अवस्थामें गुजरातके राजनगर अहमदाबादमें इहलीला संवरण की।

महात्मा स्वामी श्रीआत्मारामजी एक उच्चकोटिके पहुँचे हुए महात्मा थे। आप अखण्ड बालब्रह्मचारी, परम विरक्त, परम विद्वान् और परमार्थपथके सच्चे मार्गदर्शक थे। आपका जीवन बहुत ही सादा था, आप केवल टिक्कड़ और तरकारीका ही भोजन करते थे। छोटे-बड़े सबके ऊपर समान दृष्टि रखते थे। आपके चेहरेपर एक दिव्य तेज झलकता था। जो ही आप-के सामने आता, श्रद्धासे शिर अवनत कर लेता था। धर्मगुरुओं और संन्यासियोंके कैसे आचार-विचार होने चाहिये, इसके आप साक्षात् आदर्श थे। प्रति-दिन प्रातःकाल आप हजारों भक्तवृन्दको धर्मका रहस्य समझाते तथा ज्ञानामृतका पान कराते थे। ऐसे परम पवित्र पुण्यात्माके परमधामवाससे अहमदा-बादकी जनताको गहरी पारमार्थिक हानि पहुँची है। आपके शवको स्पेशलट्रेनद्वारा नर्मदामें ले जाकर जल-समाधि करायी गयी थी।

ऊधो !

ऊधो ! योग योग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कहा जानै कैसे ध्यान धराहीं॥
ते ये मूँदन नैन कहत हैं हरि-मूरति जा माहीं।
ऐसी कथा कपटकी मधुकर हमतें सुनी न जाहीं॥
स्रवन चीर अरु जटा बँधावहु ये दुख कौन समाहीं।
चंदन तजि अँग भस्म बतावत बिरह-अनल अति दाहीं॥
योगी भरमत जेहि लगि भूले सो तो है अपुमाहीं।
'सूरदास' ते न्यारे न पल-छिन ज्यों घटते परिछाहीं॥

—सूरदासजी

की कथा आयी। पौराणिक महाराज श्रीसीताजीके हरणका वर्णन करने लगे। अब तुलसीदासके दुःखका पारावार न रहा। प्रथम तो वह श्रीरामचन्द्रजीके वनवासकी कथा सुनकर ही शोक-सागरमें डूबे हुए थे अब माताका हरण सुनते ही फूट-फूटकर रोने लगे। जब रावण संन्यासीका वेष धरकर छल करके बलात्कार-से उन्हें हरणकर लङ्काकी ओर ले चला, तब तुलसीदास-से नहीं रहा गया। वह एकदम उछलकर खड़े हो गये, क्रोधसे उनका शरीर थर-थर काँपने लगा, आँखें लाल हो गयीं और सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया। दो युगों पहलेका दृश्य मानो आज उनके सामने प्रत्यक्ष हो गया। उस समय वह तीव्र स्वरसे बोल उठे—'अरे! इतना साहस! मेरे सामने ही माताजीका अपहरण! दुष्ट रावण! मैं तेरे इस दुष्कर्मके लिये तुझे उचित दण्ड दूँगा और अपनी माताजीको छुड़ाकर श्रीरामचन्द्रजीके वाम अंगमें बैठाऊँगा। अरे, रावण! तू कहाँ भागा जा रहा है? दुष्ट! खड़ा रह, खड़ा रह!'

इसप्रकार बोलते-बोलते वह अपने घरकी ओर चले। अत्यन्त क्रोधित होनेके कारण उनका स्वर अस्पष्ट हो गया था, अतः उनकी बात ठीक-ठीक किसीकी समझमें न आयी। उनके घोर गर्जन, विकराल आँखें और भयङ्कर भृकुटिको देखकर किसीको उनके पास जानेका भी साहस नहीं हुआ। तुलसीदास अपनी धुनमें सीधे घर जाकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो तेज घोड़ेपर सवार हुए और रावणको मारकर सीतादेवीका उद्धार करनेके लिये चल पड़े। घोड़ेकी तेज चालके सामने तीरकी गतिकी भी कोई गिनती नहीं थी। देखते-ही-देखते वह क्षणभरमें सबकी नजरोंसे ओझल हो गये।

इसप्रकार तुलसीदास दौड़े, परन्तु क्या वह अकेले ही थे? नहीं, नहीं; ऐसा क्योंकर होता? उनके साथ एक दूसरा साथी भी चला। वह कौन था? वह था वही जिसे वह प्राणपणसे चाहते थे, जिसको उन्होंने अपना तन-मन-धन अर्थात् सर्वस्व समझ रक्खा था।

अस्तु, तुलसीदासको दिशाका ज्ञान नहीं है, वह समुद्रके किनारेकी ओर बढ़ते जा रहे हैं। तुलसीदासके साथीने भी वही दिशा पकड़ी। तुलसीदास पवनके वेगसे चलनेवाले घोड़ेपर सवार थे, तो उनका साथी मनसे भी अधिक वेगसे चलनेवाले घोड़ेके ऊपर सवार होकर जा रहा था। तुलसीदासके समुद्र-तीरपर पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ पहुँचकर वह किनारेपर खड़ा हो गया। तुलसीदासको शरीरकी बिल्कुल सुध न थी। उनका मन तो एकमात्र सीतादेवीके उद्धारके विचारमें ही लगा हुआ था। उनके विलक्षण साथी यह पहले-हीसे जानते थे कि तुलसीदास सीधे आकर समुद्रमें कूद पड़ेंगे; इसलिये वह मानो पहलेसे ही वहाँ पहुँचकर समुद्रसे मार्ग देनेको कहने लगे। तुलसीदासके साथीकी धारणा गलत नहीं थी। समुद्रका गम्भीर गर्जन, उसकी उछलती हुई लहरें और शुभ्र फेनका विकट हास्य इनमेंसे कुछ भी तुलसीदासको नहीं दीख पड़ा। दीखता भी कैसे? उनका लक्ष्य ही तो इनके ऊपर न था। वह तो लङ्कामें जाकर रावणको मार श्रीसीताजी-को लाकर श्रीरामचन्द्रजीके साथ उनका मिलाप करवाना चाहते थे।

उनके साथीने उनको वहीं रोकनेका विचार किया। परन्तु वह काम बिना स्थूल आकार धारण किये हो नहीं सकता था। इसलिये आपने मनुष्य-देहके आवरणमें अपनेको ढकनेका निश्चय किया और तुरन्त एक वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणका वेश धारणकर पीछेसे तुलसीदासको बार-बार पुकारकर कहने लगे—'अरे! खड़े रहो, खड़े रहो! उतावले होकर समुद्रमें मत कूदो, मत कूदो!'

भक्त-गाथा

दक्षिणी भक्त तुलसीदासजी



दक्षिणमें समुद्रके किनारे बसे हुए विजया-पट्टण नामके नगरमें तुलसीदास निवास करते थे। वह जातिके क्षत्रिय थे। वह जैसे देखनेमें सुन्दर थे, वैसे ही उनका हृदय भी सुन्दर था। उनमें शारीरिक और मानसिक बल असाधारण था। साथ ही वह दाता भी बड़े भारी थे। प्राणदान करनेकी भी उनमें शक्ति थी। घुड़सवारीके लिये वह सारे प्रान्तमें प्रसिद्ध थे। उनकी उम्र भी अधिक न थी, परन्तु पूर्वजन्मके पुण्यके प्रभावसे थोड़ी उम्रमें ही उन्हें विषयोंकी अपेक्षा भगवान्में अधिक प्रीति लग गयी थी। घरमें रूप गुण शीला युवती स्त्री, अत्यन्त सुन्दर छोटे छोटे दो बालक और एक कन्या थी, अवस्था भी अच्छी थी, परन्तु इतना सब होनेपर भी इनपर उनकी आसक्ति नहीं थी। कर्त्तव्य-पालनके भावसे ही उन्होंने संसारके साथ अपना सम्बन्ध बना रक्खा था। उनका मन सदा सर्वदा भगवत्-कथामें, साधु-महात्माओंके सत्सङ्गमें और देव-दर्शनमें ही लगा रहता था। गाँवमें जहाँ कहीं भजन कीर्तन या देव-महोत्सव होता, वहीं वह चले जाते और अपना सारा समय उसीमें ही बिता देते। भगवत् कथा सुनकर उन्हें अपूर्व आनन्द होता था। इसके सिवा भगवत्सेवाके भावसे ही विपत्तिमें पड़े हुए लोगोंकी सहायता करना भी उनके जीवनका एक प्रधान कार्य था।

तुलसीदास-जैसे सरल हृदय तथा शास्त्रमें अटल श्रद्धा रखनेवाले मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं। वह भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके अनन्य उपासक थे। उनका धन, प्राण, मन सब कुछ भगवान् श्रीरामचन्द्रमें ही समाया था। श्रीरामचन्द्रजीकी कथा सुनते और सेवा करते समय वह इस संसारको बिल्कुल भूल जाते थे। भगवत्कथा बाँचते अथवा सुनते समय उनके मनपर इतना अधिक असर होता कि वह उनके शरीरपर हाव-भावके रूपमें स्पष्ट झलकने लगता था। वह जब जिस भावकी कथा बाँचते या सुनते, तब उसी भावके चिह्न उनके चेहरेके ऊपर स्पष्टरूपसे स्फुरित हो उठते थे। इस कारण वह कभी हर्षमें तो कभी शोकमें डूबे रहते थे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके जन्मसे लेकर विवाह पर्यन्तकी विहारकी कथा सुनते समय उनके आनन्दका पार नहीं रहता। वनवासादिकी कथा सुनकर वह शोक सागरमें डूब जाते। उनकी आँखें कभी आनन्दाश्रुसे तो कभी शोकाश्रुसे भरी ही रहतीं, आँखोंके आँसू कभी सूखते ही नहीं। इसप्रकार भगवान् रामचन्द्रके माहात्म्यकी कथाएँ बाँचने और सुननेमें वह अपने दिन सुखपूर्वक व्यतीत करते थे।

एक समय उनके गाँवमें रामायणकी कथा हो रही थी। गाँवके बहुतेरे मनुष्य कथा सुनने जाते थे, परम भक्त तुलसीदास भी वहाँ जाते और दूसरे लोगोंके साथ बैठे-बैठे कथा सुनते। सुनते सुनते श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर प्रेम होनेके कारण उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा बहा करती। वह सुननेमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि कभी तो बड़े जोरसे ठहाका मारकर हँस पड़ते थे, कभी फूट-फूटकर रोने लगते थे। कभी आनन्दमें आकर कूदने लगते थे तो कभी खड़े होकर हाथ और जंघाके ऊपर हाथसे थापी देकर छलाँग मारते थे। इसप्रकार रामायणमें जब जो विषय आता था उसी विषयके अनुसार उनके हृदयमें रौद्र और करुण रस तुरन्त ही उत्पन्न हो जाता था। एक दिन सीताहरण-

की कथा आयी। पौराणिक महाराज श्रीसीताजीके हरणका वर्णन करने लगे। अब तुलसीदासके दुःखका पारावार न रहा। प्रथम तो वह श्रीरामचन्द्रजीके वनवासकी कथा सुनकर ही शोक-सागरमें डूबे हुए थे अब माताका हरण सुनते ही फूट-फूटकर रोने लगे। जब रावण संन्यासीका वेप धरकर छल करके बलात्कार-से उन्हें हरणकर लङ्काकी ओर ले चला, तब तुलसीदास-से नहीं रहा गया। वह एकदम उछलकर खड़े हो गये, क्रोधसे उनका शरीर थर-थर काँपने लगा, आँखें लाल हो गयीं और सारा शरीर पसीने-पसीने हो गया। दो युगों पहलेका दृश्य मानो आज उनके सामने प्रत्यक्ष हो गया। उस समय वह तीव्र स्वरसे बोल उठे—'अरे! इतना साहस! मेरे सामने ही माताजीका अपहरण! दुष्ट रावण! मैं तेरे इस दुष्कर्मके लिये तुझे उचित दण्ड दूँगा और अपनी माताजीको छुड़ाकर श्रीरामचन्द्रजीके वाम अंगमें बैठाऊँगा। अरे, रावण! तू कहाँ भागा जा रहा है? दुष्ट! खड़ा रह, खड़ा रह!'

इसप्रकार बोलते-बोलते वह अपने घरकी ओर चले। अत्यन्त क्रोधित होनेके कारण उनका स्वर अस्पष्ट हो गया था, अतः उनकी बात ठीक-ठीक किसीकी समझमें न आयी। उनके घोर गर्जन, विकराल आँखें और भयङ्कर भृकुटिको देखकर किसीको उनके पास जानेका भी साहस नहीं हुआ। तुलसीदास अपनी धुनमें सीधे घर जाकर अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित हो तेज घोड़ेपर सवार हुए और रावणको मारकर सीतादेवीका उद्धार करनेके लिये चल पड़े। घोड़ेकी तेज चालके सामने तीरकी गतिकी भी कोई गिनती नहीं थी। देखते-ही-देखते वह क्षणभरमें सबकी नजरोंसे ओझल हो गये।

इसप्रकार तुलसीदास दौड़े, परन्तु क्या वह अकेले ही थे? नहीं, नहीं; ऐसा क्योंकर होता? उनके साथ एक दूसरा साथी भी चला। वह कौन था? वह था वही जिसे वह प्राणपणसे चाहते थे, जिसको उन्होंने अपना तन-मन-धन अर्थात् सर्वस्व समझ रक्खा था।

अस्तु, तुलसीदासको दिशाका ज्ञान नहीं है, वह समुद्रके किनारेकी ओर बढ़ते जा रहे हैं। तुलसीदासके साथीने भी वही दिशा पकड़ी। तुलसीदास पवनके वेगसे चलनेवाले घोड़ेपर सवार थे, तो उनका साथी मनसे भी अधिक वेगसे चलनेवाले घोड़ेके ऊपर सवार होकर जा रहा था। तुलसीदासके समुद्र-तीरपर पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ पहुँचकर वह किनारेपर खड़ा हो गया। तुलसीदासको शरीरकी बिल्कुल सुध न थी। उनका मन तो एकमात्र सीतादेवीके उद्धारके विचारमें ही लगा हुआ था। उनके विलक्षण साथी यह पहले-हीसे जानते थे कि तुलसीदास सीधे आकर समुद्रमें कूद पड़ेंगे; इसलिये वह मानो पहलेसे ही वहाँ पहुँचकर समुद्रसे मार्ग देनेको कहने लगे। तुलसीदासके साथीकी धारणा गलत नहीं थी। समुद्रका गम्भीर गर्जन, उसकी उछलती हुई लहरें और शुभ्र फेनका विकट हास्य इनमेंसे कुछ भी तुलसीदासको नहीं दीख पड़ा। दीखता भी कैसे? उनका लक्ष्य ही तो इनके ऊपर न था। वह तो लङ्कामें जाकर रावणको मार श्रीसीताजी-को लाकर श्रीरामचन्द्रजीके साथ उनका मिलाप करवाना चाहते थे।

उनके साथीने उनको वहीं रोकनेका विचार किया। परन्तु वह काम बिना स्थूल आकार धारण किये हो नहीं सकता था। इसलिये आपने मनुष्य-देहके आवरणमें अपनेको ढकनेका निश्चय किया और तुरन्त एक वृद्ध विद्वान् ब्राह्मणका वेश धारणकर पीछेसे तुलसीदासको बार-बार पुकारकर कहने लगे—'अरे! खड़े रहो, खड़े रहो! उतावले होकर समुद्रमें मत कूदो, मत कूदो!'

परन्तु उनकी आवाज तुलसीदासको सुनायी नहीं दी। तुलसीदासका घोड़ा तेजीसे समुद्रकी ओर बढ़ा चला जा रहा था, इससे विप्ररूपधारी साथी विचारमें पड़ गये। पीछे रहनेसे कार्य सिद्ध होनेकी सम्भावना न थी इसलिये उन्होंने उनके आगे—सम्मुख जानेका विचार किया। उन मनोगामीको तुलसीदाससे आगे निकल जानेमें जरा भी देर न लगी। देखते-देखते वह तुलसीदासके सामने पहुँचकर कहने लगे—'अरे भाई! यह क्या करते हो? समुद्रमें कूदकर क्यों प्राण देनेके लिये तैयार हो रहे हो?'

तुलसीदास उनकी ओर बिना देखे ही क्रोधमें भरकर कहने लगे—'अरे, तुम यह क्या कह रहे हो! जगज्जननी सीतादेवीको रावण हर ले जाय और मैं प्राण धारण किये यह दृश्य देखा करूँ? मैं अभी लङ्कामें जाकर रावणका उसके सारे कुटुम्बके साथ नाश करके जानकी माताका उद्धारकर उन्हें जगत्-पिता श्रीरामचन्द्रजीके वामाङ्गमें बैठा दूँगा।'

तुलसीदासके साथीने देख लिया कि वह किसी ऐसे भुलावेमें पड़नेवाले नहीं हैं। तथापि और भी एक-दो प्रयत्न करके देखनेका और इसपर भी यदि वह न समझें तो शीघ्र अपने दर्शन देकर भी उन्हें रोकनेका विचार किया। तत्पश्चात् उन्होंने तुलसीदासको पुकारकर पुनः कहा—'अरे, तुम तो पागल जान पड़ते हो, जान पड़ता है कि तुम्हारी सुध-बुध जाती रही है; लङ्कामें जाकर रावणको तो मारोगे परन्तु पहले यह तो बताओ कि इस समुद्रको कैसे पार करोगे? पागलपन छोड़कर वापस घर लौट जाओ। व्यर्थ ही प्राण देनेसे क्या होगा?'

इतना सुननेपर भी तुलसीदास रुके नहीं। वह चले ही जा रहे हैं, सामने भी नहीं देखते।

अब वृद्ध ब्राह्मण-वेष-धारी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भक्तकी दृढ़तापर गद्गद् होकर विचार किया, 'यह मेरा परमभक्त है। यों माननेवाला नहीं है, परन्तु एक बार और भी प्रयत्न करके देखा जाय, नहीं तो पीछे इसको साक्षात्कार कराना ही पड़ेगा।' ऐसा विचार-कर वह तुलसीदासके पास जा पहुँचे और बोले—'वीर! तू धन्य है! धन्य है! तेरी वीरताकी बलिहारी है! परन्तु भाई, तू अब लङ्कामें जाकर क्या करेगा? किसको मारेगा? रावणको मारकर तेरे राम श्रीसीताजीको तो कभीके अपने घर ले आये।'

इतनेपर भी तुलसीदास पीछे न लौटे, उनका लौटनेका मन भी नहीं हुआ। वह पहलेके ही समान चलते हुए कहने लगे—'महाराज! क्षमा करो। मैं तुम्हारी बातपर विश्वास नहीं कर सकता। मुझे वापस लौटानेका व्यर्थ प्रयास क्यों कर रहे हो? चाहे अचलपर्वत चलायमान हो जाय, अग्नि शीतलता धारण कर ले, रातमें सूर्योदय हो जाय, जड पदार्थ बोल उठें और चन्द्रमासे अंगारे झड़ने लगें परन्तु यह निश्चय समझो, कि तुलसीदास यों कदापि नहीं लौट सकता। हाँ, एक उपाय है, यदि मेरे श्रीराम सीताजीको घर ले आये हों तो वे यहीं मेरे सामने प्रकट हो जायँ। मैं यहीं श्रीरामचन्द्रजीके वामभागमें जानकी माताको विराजमान तथा श्रीलक्ष्मणजीको हाथमें धनुष-बाण धारण किये देखूँ। इतना हो जाय तब मैं तुम्हारी बात मानकर घोड़ेको वापस फिरा सकता हूँ।'

भगवान्‌ने देखा कि भगवद्दर्शनके लिये जितनी दृढ़ता और एकाग्रता होनी चाहिये, उतनी तुलसीदास-ने सम्पादन कर ली है। यह दर्शनका अधिकारी हो चुका है। यों विचार करके भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने तुलसीदासको उसके इच्छित स्वरूपमें दर्शन देनेका विचार करके कहा—'तुलसी! तुलसी! देख! तुझको जो देखना है सो देख ले! देख ले!!'—इस-प्रकार कहते हुए भगवान् तुलसीदासको पुकारने लगे।

इन शब्दोंमें बड़ा आकर्षण था । अब तुलसीदाससे इस ओर देखे बिना न रहा गया । वृद्ध ब्राह्मणको एकाएक इसप्रकार श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें बदले हुए देखकर उनके आश्चर्यका पार न रहा । वह घोड़ेसे उतरकर बारम्बार लक्ष्मण और सीतासहित श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम करने लगे और नृत्य करते हुए अपने भाग्यको सराहने लगे । आज अपने इष्टदेवके दर्शनसे तुलसीदासके मनमें आनन्द नहीं समाता । वह नाचते हुए पुकार रहे हैं—'अहो ! अहो ! मेरा कैसा धन्य भाग्य ! धन्य भाग्य ! आज मुझे अखिल ब्रह्माण्डके नाथका दर्शन हो गया । अहा ! मुझपर स्वामीकी कितनी बड़ी करुणा है । प्रभु ! कितनी दया ! अहा ! कौन जानता है कि पूर्वजन्ममें मैंने कितना तप किया था ! कितने पुण्यतीर्थोंमें स्नान किया था और कितने दान-धर्मका व्रतानुष्ठान किया था कि जिसके पुण्यप्रभावसे इस जन्ममें आज मुझे श्रीरघुवीरका दर्शन हुआ है ! नहीं, नहीं, पुण्यकर्मोंके फलसे प्रभु-दर्शन नहीं हो सकता । यह तो प्रभु-कृपासे ही होता है । प्रभो ! आपने बड़ी कृपा की । प्रभु ! प्रभु ! धन्य है ! धन्य है ! धन्य है प्रभु ! बलिहारी है ! मैं आपके ही शरणमें हूँ ! मैं आपके ही अधीन हूँ ।'

इसप्रकार कहते हुए तुलसीदास श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें लोट गये । श्रीभगवान् मुसकराते हुए बोले—'बेटा तुलसीदास ! सच है सकाम पुण्यकर्मोंसे मेरा दर्शन नहीं होता । कामना तो मनुष्यके मनका भ्रम है । भ्रमसे किये हुए कार्यद्वारा यथार्थ वस्तु नहीं मिलती । जो निष्कामभावसे केवल अनन्य भक्तिपूर्वक मेरा भजन करता है उसीको मेरे दर्शन होते हैं । वत्स ! मेरे लिये जब तू अपने-आपको भूलकर अपार महासागरमें आत्मसमर्पण करनेको तैयार हो गया, तब मैं तुझे दर्शन कैसे न दूँ ? तुलसी ! मैं तुझपर बहुत ही प्रसन्न हूँ । अब तेरी इच्छा हो सो माँग ले । मैं निःसन्देह तुझे वही दूँगा ।'

श्रीप्रभुके दिव्य विग्रहका दर्शन करने तथा उनके श्रीमुखके अमृतमय वचनोंको सुननेसे तुलसीदासका मन तृप्त हो गया था । उनकी समस्त इच्छाएँ आप ही पूरी हो गयीं । अब और क्या चाहिये ? वह क्या माँगे ? वह रो पड़े और रोते-रोते श्रीप्रभुको साष्टाङ्ग प्रणामकर कहने लगे—'प्रभु ! दीनदयालु ! वरदानका लोभ देकर क्या मेरी परीक्षा कर रहे हो ? मैं तो गिरा ही पड़ा हूँ, मेरी परीक्षा कैसी प्रभु ! ललचाओ मत ! इतनेपर भी यदि वरदान देना ही हो तो मुझे यही वरदान दो कि सोते-जागते, चलते-फिरते जब कभी आपके दर्शनके लिये मेरा मन व्याकुल हो तभी आपका साक्षात्कार हो । शुद्धि-अशुद्धि अथवा कालाकालका विचार न कर जब मैं स्मरण करूँ, तभी आप सम्मुख प्रकट होकर मुझे कृतार्थ करें । इसके सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये ।

तुलसीदास ! ऐसा ही होगा, ऐसा ही होगा ।' इसप्रकार कहकर प्रभु अन्तर्धान हो गये ।

तुलसीदास भी हृदयमें श्रीहरिको जगाकर जगत्को श्रीहरिकी विभूतिका ज्ञान करानेके लिये तीर्थयात्राको चल पड़े । अनेक तीर्थोंमें घूमते-घामते वह प्रेमधाम श्रीवृन्दावनमें आये । वृन्दावनमें वह वन-वन घूमने लगे । वनके हरिण और मोर उनके पास आकर प्रेमसे खेलने लगते । यह देखकर उनके आनन्दका पार नहीं रहता । उनका मन सदा आनन्दमय रहता और आँखें प्रेमाश्रुसे भींगी रहतीं । व्रजके बालक जब उनके पास आकर ताली बजा-बजाकर इसप्रकार गाते—

श्यामकुण्ड राधाकुण्ड गिरि-गोवर्द्धन ।
मधुर-मधुर वंशी बाजे एई वृन्दावन ॥

—तो उन्हें बहुत ही आनन्द होता । उन्हें अनुभव होने लगता मानो श्यामसुन्दरकी मुरलीकी

मधुरध्वनि उनके कानोंमें प्रवेशकर अन्तःकरणको जागृत कर रही है।

इसप्रकार भ्रमण करते हुए वह एक दिन किसी कुञ्जमें जा पहुँचे। वहाँके महन्तजीका नाम गोपालदास था। महन्तजी बहुत अच्छे थे। देव-सेवा और अतिथि-सेवामें उनका दृढ़ अनुराग था। साधन-भजनमें भी प्रवीण थे। परन्तु इन सद्गुणोंके होते हुए उनमें एक बड़ा दोष रह गया था। वह दूसरे सम्प्रदायके वैष्णवोंको समान दृष्टिसे नहीं देखते थे और न समान रूपसे उनका आदर-सत्कार ही करते थे। जो 'राधाकृष्ण' कहता हुआ आता उसके लिये उत्तम भोजन तैयार कराया जाता और 'सीताराम' कहनेवालेको सिर्फ रूखा भात और रोटी दी जाती। तुलसीदास वैष्णव तो थे, परन्तु वह श्रीरामभक्त थे। इसलिये वह 'जय राम जय जय सीताराम' कहते हुए कुञ्जमें घुसे। इससे उनको भी प्रसादमें रूखा-सूखा भात और रोटी ही मिली।

पता नहीं, वृन्दावनेश्वरी श्रीराधारानीकी क्या इच्छा थी। गोपालदास उनके राज्यमें रहकर इस-प्रकारकी भेदबुद्धि रक्खें, यह शायद उन्हें ठीक नहीं लगा हो, इसीसे उन्होंने गोपालदासकी बुद्धि शुद्ध करनेके लिये ही अनन्य भक्त तुलसीदासको वहाँ जानेकी प्रेरणा की होगी।

साधारणतः तुलसीदासजी प्रायः उपवास किया करते, इच्छा होनेपर उन्हें जो कुछ मिलता, उसीपर सन्तोषकर वह अपना काम चला लेते थे। इसलिये यह बात नहीं थी कि वह सूखा भात न खा सकें। परन्तु श्रीराधारानीकी प्रेरणासे आज उनसे बोले बिना न रहा गया। वह हँसते-हँसते गोपालदाससे कहने लगे-'महन्तजी महाराज! मुझे क्या यह सूखे भात ही खाने पड़ेंगे? इतना घी, अन्न और दूसरे पदार्थ रखे हैं, ये किसके लिये हैं?

गोपालदासजी बोले-'भाई! जो श्रीराधाकृष्णके नामका कीर्तन करता है उसीके लिये यहाँ उत्तम स्थान और उत्तम भोजनकी व्यवस्था है। दूसरोंको केवल भात और रोटी ही दी जाती है।'

यह सुनकर तुलसीदासको बड़ी हँसी आयी। और वह हँसते-हँसते बोले-'अच्छी बात है महन्तजी! मैं आपके यहाँ 'सीताराम' कहता हुआ ही उत्तम भोजन करूँगा।'

तुलसीदासकी यह बात गोपालदासको बिल्कुल ही नहीं रुची, वह एकाएक क्रोधित हो कहने लगे-'अरे जाओ, जाओ! इतना गर्व अयोध्यामें दिखलाना। हाँ एक बात है, यदि तुम अपने सीतारामको हमें दिखला दो तो समझा जाय कि तुम्हारा गर्व करना अनुचित नहीं है। यों तो तुम-जैसे व्यर्थ गर्व करनेवाले और लम्बी-चौड़ी डींग हाँकनेवाले बहुतेरे साधु आते हैं। केवल डींग हाँकनेसे कुछ नहीं होता।'

महन्तकी बात सुनकर तुलसीदास पहले तो खूब हँसे। फिर बोले-'ठीक, महाराजजी! आप यथार्थ कहते हैं। अच्छा, मुझे एक बार श्रीमन्दिरमें जानेकी अनुमति देंगे?'

महन्त बोले-'क्यों नहीं? एक बार नहीं, हजार बार जा सकते हो। परन्तु तुमको अपना सीताराम हमें दिखाना पड़ेगा। इसके बाद तुम जैसा कहोगे वैसा ही किया जायगा।'

तुलसीदासने इस बार कुछ न कहकर सिर्फ हँस-कर अपनी सम्मति बतलायी। श्रीमन्दिरमें प्रवेश करके उन्होंने मन्दिरका द्वार बन्द कर लिया, तत्पश्चात् वह श्रीराधाकृष्णकी युगलमूर्तिके समीप अपना दुःख निवेदन करने लगे और रोते हुए बोले-'हे नाथ! मुझे दृढ़ निश्चय है कि तुम्हीं कौशल्यानन्दन श्रीदशरथजीके पुत्र हो और तुम्हीं देवकीके पुत्र तथा नन्दनन्दन भी हो।

तुम्हीं महाबलवान् धनुर्धारी श्रीरामचन्द्रजी हो और तुम्हीं इस जगत्को मोहित करनेवाले मुरलीधर श्रीकृष्ण हो। तुम्हीं अनादि, अनन्त जानकीवल्लभ हो और तुम्हीं भक्तोंके जीवनस्वरूप श्रीराधारमण हो। प्रभो! तुम जगत्के मनुष्योंके कल्याणके लिये अनेक रूप धारण करते हो और अनेक प्रकारसे जगत्का प्रतिपालन करते हो। मेरे प्रभु! तुम्हारे-जैसा दयालु कोई भी नहीं। अब मुझपर दया करो और एक बार श्रीरामावतारकी मूर्ति धारणकर अपना प्रबल प्रताप दिखलाओ।'

सच्चे भक्तकी सच्ची प्रार्थना भगवान् कभी अस्वीकार नहीं करते! देखते-ही-देखते श्रीराधाकृष्णकी प्रतिमा श्रीसीतारामजीकी प्रतिमाके रूपमें बदल गयी। उसे देखकर तुलसीदासने अत्यन्त आनन्दपूर्वक—'जय जय सीताराम' कहते हुए मन्दिरका द्वार खोल दिया। इस अद्भुत घटनाको देखकर सब विस्मय-सागरमें डूब गये। महन्तका मुँह फीका पड़ गया। एक भी शब्द उसके मुँहसे न निकल सका। आनन्दित होकर सबने श्रीमूर्तिका दर्शन किया और साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणाम किया। महन्तकी प्रार्थनासे तुलसीदासने फिर श्रीमन्दिरमें प्रवेश किया और श्रीप्रभुसे पहले-जैसा श्रीराधाकृष्णका रूप धारण करनेकी प्रार्थना की। अविरत अश्रु-प्रवाहसे उनका मुँह तथा वक्षःस्थल भींग गया। तुलसीदास आँखें मूँदकर श्रीप्रभुके चरण-कमलोंमें प्रार्थना करने लगे। कुछ देरके बाद अश्रु-वेग कम होनेपर उन्हें दीख पड़ा, 'अहो! श्रीसीताराम-रूप अब नहीं है, अब तो पहलेके समान श्रीराधा-कृष्ण ही सिंहासनके ऊपर विराजमान हैं। भगवान्-के मुसकराते हुए मुखकमलको देखकर तुलसीदास-को परम आनन्द हुआ। उन्होंने दोनों हाथ उठाकर श्रीप्रभुकी करुणाका जय-जयकार करते हुए मन्दिरके द्वार खोल दिये। श्रीसीतारामकी मूर्तिको पुनः श्री-राधाकृष्णके स्वरूपमें परिणत देखकर गोपालदास और अन्य वैष्णवोंके आनन्दकी सीमा न रही। आनन्दकी अधिकतासे किसीके मुखसे एक शब्द भी न निकल सका। इसी भावमें, इसी मौन स्थितिमें बहुत समय बीत गया। तत्पश्चात् श्रीराधाकृष्णके चरणकमलोंमें प्रणाम करते हुए सब ऊँचे स्वरसे बोल उठे—'प्रभु! प्रभु! तुम्हें प्रणाम है! प्रणाम है! तुम और तुम्हारे भक्त दो नहीं हैं, दोनों एक स्वरूप हैं। हे प्रभु! इस संसारमें जो तुममें और तुम्हारे भक्तोंमें भेद-भाव देखता है, वह बड़ी भूलमें है। हे स्वामी! आज हमने प्रत्यक्ष देख लिया, आज हमें विश्वास हो गया कि भक्तके शरीरमें तुम्हीं विराजमान हो। जय प्रभु! जय, तुम्हारी जय! और तुम्हारे भक्तोंकी जय! जय प्रभु, जय! बलिहारी, प्रभु बलिहारी!'

ऐसा कहकर सभी तुलसीदासके चरणोंमें गिरने लगे। विनयकी आदर्श मूर्ति तुलसीदासने उन सबको यथामति उपदेश दिया और उनसे विदा हो प्रस्थान किया। भक्तको मान-सम्मानका बहुत ही भय रहता है। प्रतिष्ठासे वे सदा डरते हैं। और इसलिये ऐसे स्थानमें वे रहते भी नहीं। तुलसीदास भी इस प्रतिष्ठाके भयसे ही वहाँसे चल दिये। वह कहाँ गये और इसके बाद उनका क्या हुआ, इसका समाचार किसीको न मिला।*

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!



* ये तुलसीदास श्रीरामचरितमानसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास नहीं हैं।

विवेक-वाटिका

जिज्ञासु पुरुषको चाहिये कि वह समस्त इन्द्रियोंको मनमें लय करे, मनको व्यष्टि-बुद्धिमें लय करे, व्यष्टि-बुद्धिको महत् यानी समष्टि-बुद्धिमें लय करे और समष्टि-बुद्धिको शान्त आत्मामें लय करे। —उपनिषद्

* * *

जो पुरुष सारी इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर, मनको हृदेशमें स्थिरकर और अपने प्राणोंको मस्तकमें स्थापन करके योग-धारणामें स्थित हो 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ तथा भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करता हुआ शरीर त्यागकर जाता है वह परम गतिको प्राप्त होता है।

— श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

जो मनुष्य दूसरोंकी आजीविकाका नाश करते हैं, दूसरोंके घर उजाड़ते हैं, दूसरेकी स्त्रीका उसके पतिसे बिछोह कराते हैं, मित्रोंमें भेद उत्पन्न कराते हैं वे अवश्य ही नरकमें जाते हैं। —महाभारत

* * *

पुत्र, स्त्री, मित्र, भाई और सम्बन्धियोंके मिलनको मुसाफिरोंके मिलनेके समान समझना चाहिये। जैसे नींद छूटनेके साथ ही स्वप्नका भी नाश हो जाता है वैसे ही इस देहके नाश होनेके साथ ही सब सम्बन्धी भी छूट जाते हैं। —श्रीमद्भागवत

* * *

वे सत्यके उपासक महात्मा मुनि धन्य हैं, जिन्हें न किसीसे राग है और न किसीसे द्वेष है, जो सभी प्राणियोंमें समानभाव रखकर सबको समदृष्टिसे देखते हैं।

—वाल्मीकि-रामायण

* * *

जिसका मन विषयोंमें नहीं है, जिसका मन निर्मल है, जिसकी इन्द्रियाँ विकारको प्राप्त नहीं होतीं, उसीका नाम वैष्णव है। —नरसी मेहता

* * *

अपनी स्त्रीके सिवा अन्य स्त्रीसे कोई सम्बन्ध न रक्खे। किसी भी स्त्रीको अपने पास सहसा न रहने दे। अपनी स्त्रीसे भी उचित ही सम्बन्ध रक्खे और चित्तको कभी आसक्त न होने दे। —एकनाथ महाराज.

* * *

धान जबतक सीजता नहीं, तभीतक उग सकता है। लेकिन एक बार भी सीज जानेपर वह नहीं उगता। ऐसे ही जीव एक बार ज्ञानाग्निमें पक गया तो फिर उसे जन्म लेना नहीं पड़ता। जबतक अज्ञान है तभीतक आना-जाना है। —रामकृष्ण परमहंस

* * *

जब विवेकके द्वारा मनकी सारी उपाधियाँ छूट जाती हैं और वैराग्यके उत्पन्न हो जानेसे गृहस्थीका बखेड़ा छूट जाता है तब मनुष्य अन्दर और बाहर दोनों ओरसे मुक्त होकर योगी हो जाता है। —समर्थ रामदास

* * *

जिस क्षण भगवन्नामका स्मरण न हो, वही सबसे बड़ा दुःख है और भगवन्नामका स्मरण होता रहे तो शरीरको चाहे कितना भी क्लेश हो उसे परम सुख ही समझना चाहिये। —यवन हरिदासजी

* * *

तुम्हारे सब सांसारिक बन्धन और सम्बन्ध तुम्हें चिन्ता और दुर्भाग्यके वशमें डालते हैं। उनसे ऊपर उठो। सत्यमें विश्वास करो। ईश्वरसे अपनी एकताका अनुभव करो, बस तुम्हारा निस्तार है। तुम स्वयं मोक्षरूप हो।

—स्वामी रामतीर्थ

* * *

जिस मनुष्यमें ईश्वरका स्मरण करनेकी शक्ति हो, उसको गरीब या दीन न समझकर महान् धनवान् समझो। और जिसके पास यह ऊँची-से-ऊँची और बड़ी-से-बड़ी सम्पत्ति नहीं है, वह चाहे बड़ा भारी बादशाह हो परन्तु असलमें वही गरीब और अनाथ है। —अबुल काशिम

* * *

पिता-माता ईश्वरके प्रतिनिधिस्वरूप हैं, साक्षात् प्रत्यक्ष देवता हैं। पिता-मातामें परमात्मसत्ताकी स्फूर्तिके दर्शन-कर गाढ भक्तिभावसे इनकी सेवा करते रहनेसे भी निश्चय ही मनुष्यको सिद्धि मिल जाती है। —विजयकृष्ण गोस्वामी

* * *

जिनको दूसरोंकी निन्दा करनेमें रस आता है, वे मित्र बनानेकी मीठी कला नहीं जानते। वे फूटका बीज बोकर अपने पुराने मित्रोंको दूर हटा देते हैं। —तिरुवल्लुवर

* * *



श्रीराम-जन्म

(१)

सम्पति सुरेसकी, निकाई सब लोकनकी,
रिद्धि-सिद्धि सुखद समृद्धि वसुधा भरी।
दुरित दुराप पाप-ताप, ईति-भीतिनकौं
अवध उमंग अवगाहि गरिमा घरी॥
दीन-प्रतिपालक दयालु दसरथजूके
गेहमैं अनन्द घनौं बाढ़त घरी-घरी।
सुभ नवमीकौं, सुभ जोगकौं सँजोग पाय
कौसिलाकी कोंखिमैं समिटि सुखमा परी॥

(२)

कैधौं सुधाधाम सुरलोक त्यागि आयो इहाँ
विज्जु-छटा कैधों एक बारहीं छहरिगो।
कैधौं भूप-पुन्यकौं सरूप सिसु-रूपहींमैं
कैधौं महिषीनकौं सतीत्व देंह धरिगो॥
जोगिनकौं जोग औ अगाध ध्यान ध्यानिनकौं
नेम व्रत संजम गृहीनकौं सुफरिगो।
सूनो भयौ स्वरग नवीनौं जगतीतल भौ
अमित उछाह ओघ वीथिन विथरिगो॥

—कुँवर राजेन्द्रसिंह एम० ए०, एल-एल० बी०

श्रीभगवन्नाम-जप

श्रीभगवन्नाम-जपके महायज्ञमें इस वार बड़ा उत्साह रहा। यह बड़े ही आनन्दकी बात है। कलियुगमें दूसरा कोई उपाय नहीं है। भगवान्‌का नाम ही एक ऐसा दृढ़ जहाज है जो ऊँच-नीच सबको भव-समुद्रसे पारकर अनायास ही परमधाममें पहुँचा देता है। ऐसा कौन-सा कार्य है जो भगवान्‌के नामका सहारा लेनेपर सफल न हो। लोक-परलोक भोग-मोक्ष सभी भगवन्नामसे सिद्ध होते हैं। जो भगवत्प्रेमीजन इनमेंसे किसी पदार्थको नहीं चाहते, उन्हें मुनि-दुर्लभ भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति होती है। वे पुरुष और स्त्री धन्य हैं जो स्वयं भगवान्‌का नाम लेते हैं और दूसरोंको प्रेरणा करते हैं। वे ही वास्तवमें सबके हितैषी और सच्चे आत्मीय स्वजन हैं। इस वार हजारों माताओं, बहिनों और भाइयोंने नाम-जप किया। अनेक सन्तों, महात्माओं और भक्तोंने लोगोंसे नाम-जपके लिये प्रेरणा की और उनसे नाम-जप करवाया। पौषसे होलीतक सोलह नामके दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी, परन्तु ३८१३२०२७५ की सूचनाएँ आ चुकी हैं, नामकी संख्या जोड़नेसे ६१०११२४४०० होती है और अभीतक रोज आ रही है। नीचे लिखे २२७ स्थानोंसे सूचना मिली है। स्थानोंके नाम देखनेसे मालूम होता है कि भारतके सभी प्रान्तोंसे, वर्मातकसे सूचनाएँ आयी हैं। इनमें किसी-किसी स्थानसे कई महानुभावोंने पत्र लिखे हैं। कई सज्जनों और देवियोंने हमेशाके लिये नाम-जपका नियम किया है। कई सज्जनोंके पत्रोंसे इस वार नामके प्रभावसे उन्हें विशेष लाभ होनेके समाचार मिले हैं, भगवान्‌की बड़ी कृपा है। सबसे यही प्रार्थना है कि भगवान्‌के नाम-जपमें श्रद्धा करें और यथासाध्य जीवन-भरके लिये नाम-जपका नियम कर लें।

स्थानोंके नाम

अहमदाबाद, अररिया, अरन्याकलां, अनूपगढ़, अलमोड़ा, अम्बाला, अनूपशहर, अलीराजपुर, अंधारी, अलीगढ़, अमरवाड़ा, आजमगढ़, इन्दौर, उज्जैन, उबावड़ा, एकमा, एटा, ओवरा, कलोल, कराची, कलानौर, कालपी, कचरापारा, कालका, कुदियाना, किशनगढ़, किलाशेखपुरा, काशीपुर, कानपुर, काशी, काश्मीर, कदारी, कौंच, कपड़वंज, कडवारी, कलिम्पोंग, कटक, कन्नूर, कचरोद, खैरपुर, खकसीस, खरियार, खम्भात, खांधली, खैरा, खेला, गोरखपुर, गोलाघाट, गवाँ, गिरीडिह, गोयल, गूढ़ा, गढ़वा, गजपति, गोंदिया, गुहागर, गौरीकरन, गोटरा, गणाईगंगोली, गरीफा, चन्दौसी, चौमूँ, चर्नोदा, चूरू, छापर, छपियाचरू, जोगवा, जालना, जमानिया, जैसलमेर, जयपुर, झंगी, झाँसी, टाइगरकैंप, टांडा, टूलसामाठ, टिटियावालूगंज, डोंगरी, डिबाई, डलहौसी, डूंगरपुर, तालबंडीखुर्द, दरभंगा, दिल्ली, देहरादून, दतराना, दाऊदनगर, दानापुर, देवली, दसाईजागीर, धामपुर, कवसारी, नियाजीपुर, नेहरा, नडियाद, नवापुर, नेपाल, नाचनबेल, नैनीताल, नागपुर, नयागाँव, पकरीबरांवा, प्रयाग, पडरौना, पहाड़ी, फुलगाँव, पौढेपाहाड़, परसिया,

पिड़ानी, पांडुका, पेटलाद, पुखरायाँ, पोफीबाजार, परिबेल, फरीदपुर, फतेहपुर, फाटा, फीरोज़ाबाद, फर्रुखाबाद, बीकानेर, बांगरा, बैतूल, बिल्हौर, बावला, ब्रह्मपुरी, बेरुआ, बीना, बिजनौर, बरेली, बस्ती, बिजयपुर, बम्बई, बिलासपुर, बम्हौरी, बसुआवास्थान, बिल्वापति, बालौद, बैंदा, बलिया, बहावलपुर, वैरीमहिपालपुर, मादरा, भावनगर, भरौंच, भगवानपुर, भावनाथपुर, माधापुर, मांटगोमरी, मलकापुर, मूसानगर, मांडला, मॉंट, मथुरा, मेरठ, मालेगाँव, मैलानी, मद्राज, माझगावाँ, मिर्जापुर, मोडुका, मैनपुरी, मुरौरा, महम्मदाबाद, मांडले, मीर्यांगंज, महेसाना, मींजान, रतनगढ, रावलपिंडी, रूपावटी, रायपुर, रीवाँ, राजकोट, रामपुर, रामपुर चौरस, रतनपुर, राजापुर, रेणावारी, राजनाँदगाँव, लखनऊ, लाहौर, लखौरा, लुधियाना, वारसलीगंज, वसोदा, वेलकिसर, संबलपुर, सियल, सरदारशहर, सुजानगढ़, सेहरा, सासाहोली, सिलोगी, सतना, सिलौट, सरकट्टी, सिरोंचा, सातोदड़, सिमरिया, सक्ती, सिहोर, सिकन्द्राबाद, सहावन, समी, सेमर, सावेर, शुजाबाद, शारेपुरा, शाहाबाद, शक्कर, शिवपुरी, शाहादरा, शिवसागर, शिरोमणिनगर, शिकोहाबाद, होशियारपुर, हिम्मतनगर, हुसेनपुर, हरदौर, हमीरपुर, हुसेनगंज, हृषीकेश, हैदराबाद, हरंई, बीजाहंडी, भटसारी, तसींग।

किसी स्थानका नाम छूट गया हो तो वहाँके प्रेमी सज्जन क्षमा करें। जिन लोगोंने प्रेमवश नाम-जप किया और करवाया, उन्होंने हमपर बड़ा ही उपकार किया और हम उनके हृदयसे कृतज्ञ हैं।

नाम-जप-विभाग
'कल्याण' गोरखपुर

खोज

(लेखक—पं० श्रीप्रभुनारायणजी शर्मा 'सहृदय' साहित्यरत्न)

तेरी-मेरीमें व्याकुल चित,
कहाँ, नाथ! तव नाम!
सुख-दुख-विजटिल विश्व मंचपर
मन लेता न विराम ॥१॥
जीवन-उदधि गहन जल-पूरित,
मिला न इसका पार।
तनिक दया कर दीनबन्धु अब
लगा मुझे उस पार ॥२॥
किधर बसेरा तेरा भगवन,
है तू दोनों पार!
इधर-उधर भी असमंजसका,
है विचार निःसार ॥३॥
अखिल विश्व छाना है मैंने,
मुझे मिला नहिं सार।
पटक चुका सिर जब, अब थककर
आया तेरे द्वार ॥४॥
मिलनेका साधन बतलाते,
गुरुवर सच्चा ध्यान।
कहते खोज हृदय मन्दिरमें
बैठे हैं भगवान ॥५॥
किन्तु दिव्य दर्शन पानेको
हृदय-भक्तिमें सान।
तभी मिलेगा वह शुचि-मन्दिर,
त्रिभुवनपतिका स्थान ॥६॥

निपट निकाम है

झूमत मतंग चंद चूमत धवल धाम,
घूमत सुगन्धनके धूप आठों जाम है।
कहत 'कुमार' केती मोटरैं खरी हैं द्वार,
दामिनी जरी है परी कामिनी ललाम है॥
राग-रंगकी तरंग व्यंजन-विलास मंजु,
कंजन-तड़ाग बाग लोचनाभिराम है।
जैसे दीप नेह बिना तैसे ये तमाम, एक
राम-नाम-नेह बिना निपट निकाम है॥

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

श्रीरामायण-परीक्षा-फल

सं० १९८९ वि० की श्रीरामायण-परीक्षाका परीक्षा-फल ज्येष्ठ बदी ११ तदनुसार २० मई १९३३ को प्रकाशित होगा। अतः निवेदन है कि केन्द्र-व्यवस्थापकगण इस सम्बन्धमें अभीसे पत्रव्यवहार करनेका कष्ट न करें। परीक्षा-फल 'कल्याण' 'आज' 'प्रताप' और 'शिक्षा' में प्रकाशित कर दिया जायगा।

संयोजक—
श्रीरामायण-प्रसार-समिति, गोरखपुर



कमला-पति-स्वागत

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७ | गोरखपुर, ज्येष्ठ १९९० जून १९३३ | संख्या ११ पूर्ण संख्या ८३

प्रियतमकी प्राप्ति

पीतम प्रीति ही तें पैयै ।
जदपि रूप, गुन, सील, सुघरता इन बातन न रिझैयै ॥
सतकुल जनम, करम, सुभ लच्छन बेद पुरान पढैयै ।
गोविंद बिनु सनेह सूआ लौं, रसना कहा नचैयै ॥

—गोविन्दस्वामी

पूज्यपाद महात्मा श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

साधकके कर्तव्य

१–रोटीके सिवा कुछ न माँगे, चाहे मर जाय ।

२–जितना हो सके–तितिक्षा करे, सहन करे ।

३–कोई कितना ही दुःख दे, आनन्दपूर्वक सहे ।

४–संसारसे वैराग्य और साधनसे प्रेम करे ।

५–किसीको ओषधि आदि न बतावे ।

६–कितना भी चमत्कार हो, अपने लक्ष्यसे न हटे ।

७–कामिनी और काञ्चनका सम्बन्ध न करे ।

८–स्त्री और उसके संगीका त्याग ।

९–स्त्रीको देखते ही ऐसा विचार करे कि यह मल-मूत्रका थैला है और मनसे उसको चीरकर देखे । ऐसा करनेसे कामविकार न होगा । (ऐसे ही स्त्री पुरुषके लिये समझे)

१०–किसी प्रकारका नशा न करे ।

११–व्यर्थ प्रलापका सर्वथा त्याग ।

१२–सारा संसार तुम्हें मोहनेको तैयार है । तुमको संसारसे युद्ध करना है । संसार एक तरफ और तुम एक तरफ हो ।

१३–साधनसे एक मिनिट भी खाली रहना पाप है ।

१४–तुम्हारा चित्त जितना ही भगवान्‌में लगेगा उतनी ही ताकत बढ़ेगी ।

१५–संसार-चिन्तनसे तुम जितने ही उपराम होओगे, संसार तुमसे उतना ही अधिक प्रेम करेगा ।

१६–जब भगवान्‌से पूर्ण प्रेम होगा तब संसार तुम्हारे अधीन हो जायगा ।

कल्याण

जबतक संसारके भोगोंकी चाह है तबतक मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता । जितनी चाह बढ़ती है उतना ही दुःखोंका विस्तार होता है, परन्तु ज्यों-ज्यों चाह पूरी होती है त्यों-त्यों चाह बढ़ती है ।

दुःखोंसे छूटना हो तो चाह छोड़ो, दुःखोंको कम करना हो तो चाह कम करो और चाह कम करनी हो तो चाहको पूरा करनेकी इच्छाका त्याग कर दो । चाहरूपी आगमें विषयरूपी घीकी आहुति मत दो, उसपर सन्तोषका शीतल जल छोड़कर उसे बिल्कुल बुझा दो ।

विषय-सुखसे निराश होना सच्चे सुखकी प्राप्तिकी ओर बढ़ना है, विषयोंकी चिन्ता छूटे बिना सच्चे सुखका चिन्तन नहीं हो सकता, वे पुरुष वास्तवमें भाग्यवान् हैं जो विषय-सुखसे वञ्चित हैं ।

जिसके सांसारिक विषय जितने अधिक होते हैं वह प्रायः भगवान्‌से उतना ही अधिक दूर रहता है, विषयी पुरुषका वातावरण ही ऐसा बन जाता है कि उसके मनमें भगवान्‌की ओर झुकनेकी अभिलाषा सहजमें उत्पन्न नहीं होती । भगवत्-प्राप्तिकी अभिलाषा, सत्संग और सद्ग्रन्थोंके द्वारा भगवान्‌का प्रभाव जाननेसे पैदा होती है । विषयी पुरुषोंको न तो सत्संगका अवसर मिलता है और न सद्ग्रन्थोंके पढ़ने-सुननेके लिये ही फुरसत मिलती है ।

उदाहरण देखना हो तो अधिकांश राजाओं, अफसरों, धनियों और अमीरोंकी दशा देख लो । यदि इनमेंसे आप कोई हों तो अपने हृदयपर हाथ रखकर सोचो । यश कमाना, लोगोंपर प्रभाव बनाये रखना, मौज-शौक करना, खुशामदियोंसे घिरे रहना, चापलूस चन्दा माँगनेवालोंसे तंग रहना, महल-मकान बनवाना, सैर-सपाटा करना, नाटक-बायस्कोप देखना, विनोद करना, परनिन्दा और परचर्चाको कहना-सुनना, भोग-वासना पूर्ण करना, विरोधियोंको दबाना, समान सम्मान और कीर्तिवालोंको नीचा दिखाना आदि कितने ही परम आवश्यक प्रतीत होनेवाले प्रपञ्च पीछे लगे रहते हैं । सुबह उठनेसे लेकर रातको सोने-तक किसी समय भगवन्नामस्मरण और सद्ग्रन्थके अध्ययनकी कल्पना ही मनमें नहीं आती ।

यथार्थ सन्त-महात्मा लोभहीन होनेके कारण ऐसे लोगोंके दरवाजेपर जाते नहीं । कोई स्वाभाविक दयावश चला भी जाय तो ऐसे लोग उसे किसी कामनासे आया हुआ समझकर उससे लाभ नहीं उठाते, कोई-कोई तो तिरस्कारतक कर बैठते हैं । और स्वयं वे किसी सन्त-महात्माके पास जाते नहीं, प्रथम तो सन्त-महात्मा-सम्बन्धी चर्चा ही उनके कानोंतक नहीं पहुँचने पाती, यदि कहीं चर्चा होती है तो उनपर अपने मान, कल्पित स्वरूप अथवा पोजीशनका ऐसा भूत सवार रहता है जो मान-भंग-का भय दिखलाकर उन्हें, अमीर-गरीबमें समानभाव रखनेवाले और सबके साथ प्रेमसे मिलनेवाले महात्माओंके पास जाने नहीं देता ।

खूब धन-दौलत, मान-सम्मान और पद-मर्यादा-में रहते हुए भी भगवान्‌की ओर चित्त लगानेवाले पुरुष सदासे होते आये हैं और अब भी हैं पर उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी होती है और पूर्वजन्मके विशेष साधनके बलसे ही वे प्रतिकूल वायुमण्डलमें रहकर अपनी स्थितिको सम्हाले रहते हैं और लक्ष्यको नहीं भूलते ।

सच्चा सुख भगवान् अथवा भगवान्‌के अनन्य प्रेमकी प्राप्तिमें ही है, और वह तभी प्राप्त हो सकता है जब मनुष्यका जीवन उस सुखकी ओर ले जानेवाले

साधनोंसे भर जाय । वे साधन विषयप्रेमसे सर्वथा विरोधी होते हैं। इसीलिये सन्तों और अनुभवी महात्माओंने विषयोंको विषवत् छोड़ देनेकी सलाह दी है । जो मनुष्य विषयोंसे चिपटा रहकर विषय-भोगको सुख-प्राप्तिका साधन समझकर उनमें रचा-पचा रहता है और अपनेको भगवत्-प्राप्तिका अभिलाषी भी बतलाता है वह या तो धोखेमें है या जान-बूझकर दम्भ करता है । जबतक मनुष्य अकिञ्चन नहीं बन जाता तबतक भगवान्को पानेका अधिकारी नहीं होता । अकिञ्चनता वस्तुतः मानसिक ही होती है परन्तु जो आसक्तिवश बाहरका त्याग ही नहीं कर सकता उसके लिये मानसिक अकिञ्चनता तो बहुत दूरकी बात है । त्यागका अभ्यास दोनों प्रकारसे करना चाहिये, बाहरसे भी और भीतरसे भी । जो लोग भोगोंको तुच्छ कहकर उन्हें भोगते हुए ही ब्रह्मज्ञानी बननेका दावा करते हैं वे भी धोखा खाते हैं और जो बाहरसे भोगोंका त्यागकर मनसे उन्हें निकाल देनेकी जरूरत ही नहीं समझते वे भी भ्रममें ही हैं ।

जहाँतक बने, विषयोंका संग्रह न करे, विषयोंका चिन्तन न करे, विषयी पुरुषोंका संग न करे, विषयासक्ति बढ़ानेवाले दृश्य न देखे, बात न सुने और इस तरहके ग्रन्थ न पढ़े । मानका, धनका, रूपका लोभ उत्पन्न होता हो ऐसे हरएक संगसे भरसक दूर रहे । लोकमें मान न हुआ, धन न बढ़ा तो इससे मनुष्यकी कोई हानि नहीं होती । यदि संसारके सारे सुखोंसे वञ्चित रहकर भी, संसारके दुःख और कष्टोंसे सर्वथा पीडित रहकर भी मनुष्य अपने जीवनको भगवान्की ओर लगाये रख सके तो उसका जीवन सार्थक है, परन्तु जो सब प्रकारसे धन-सम्पत्ति, मान-यश और लौकिक विद्या-बुद्धिसे भरपूर है पर भगवत्-प्रेमसे रहित है उसका जीवन विषयी लोगोंकी दृष्टिमें चाहे जितना ऊँचा हो, गौरवका हो परन्तु असलमें वह व्यर्थ है । व्यर्थ ही नहीं, अगले जन्ममें आनेवाले महान् कष्टोंका कारण भी है ।

"शिव"

मैले कपड़े

पावन बनाइ मन मीत ! तू अभीत बन,
वासना-विकारतें विहीन जन तारे जात ।
कहत 'कुमार' धौल धार पय-पारावार,
पेखिकै प्रभूके पाद-पदम पसारे जात ॥
पावत मलीन तम-लीन-मनवारे मूढ़,
जातना जघन्य जबैं जीव जमद्वारे जात ।
कारे पट मैल्यारे मोगरीन मारे जात,
जारे जात ज्वालपै पपानपै पछारे जात ॥*

—शिवकुमार केडिया 'कुमार'

* यह शेखसादीके इस शेरका भावानुवाद है—

'तू पाक बाश बिरादर ! मदार अज़ कस बाक ।
ज़नंद जामाये नापाक गाज़राँ बर संग ॥'

हे भाई ! तू साफ रह, (फिर) किसीका भय मत रख । (देख) मैले कपड़ोंको धोबी पत्थरपर मारते हैं ।

ईश्वर और परलोक

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)


श्वर, माया, जीव, सृष्टि, कर्म, मोक्ष और परलोक आदिके विषयमें कतिपय मित्रोंके प्रश्न हैं। प्रश्न बड़े गहन और तात्त्विक हैं। इन प्रश्नोंका वास्तविक उत्तर तो परमेश्वर ही जानते हैं तथा वे महान् पुरुष भी जानते हैं जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हैं। मुझ-जैसे व्यक्तिके लिये तो इन प्रश्नोंका उत्तर देना महान् ही कठिन है तथापि मित्रोंके अनुरोध करनेपर अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार मैं अपने भावोंको प्रकट करता हूँ। त्रुटियोंके लिये विज्ञजन क्षमा करेंगे।

प्र०—ईश्वर है या नहीं ?

उ०—ईश्वर निश्चय ही है।

प्र०—ईश्वरके होनेमें क्या प्रमाण है ?

उ०—ईश्वर स्वतः प्रमाण है। इसके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही नहीं है। सम्पूर्ण प्रमाणोंकी सिद्धि भी उसीकी सत्ता-स्फूर्तिसे होती है। तुम्हारा प्रश्न भी ईश्वरको सिद्ध करता है क्योंकि मिथ्या वस्तुके विषयमें तो प्रश्न ही नहीं बनता जैसे 'बन्ध्यापुत्र है या नहीं'—यह प्रश्न नहीं बनता।

प्र०—सन्दिग्धतामें भी प्रश्न बन सकता है। और मुझे शंका है इसलिये ईश्वरके विषयमें आप प्रमाण बतावें ?

उ०—यद्यपि ईश्वरकी सिद्धिसे ही हम सबकी सिद्धि है इसलिये प्रमाणोंद्वारा ईश्वरको सिद्ध करनेका प्रयत्न लड़कपन ही है तथापि सन्दिग्ध मनुष्योंकी शंका-निवृत्तिके लिये श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सत्ताको स्थल-स्थलपर घोषित कर रहे हैं। ईश्वरको जाननेके लिये ही उन सबकी व्युत्पत्ति है। यथा—

'वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः'
(गीता १५। १५)

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्'
(यजुर्वेद)

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'
(योग० १। २३)

'आत्मा द्विविध आत्मा परमात्मा च'
(वैशेषिकदर्शन)

प्रमाणोंका विशेष विस्तार 'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में देखना चाहिये।

प्र०—क्या आप युक्तियोंद्वारा भी ईश्वर-सिद्धि कर सकते हैं ?

उ०—यद्यपि जिस ईश्वरसे सब युक्तियोंकी सिद्धि होती है, उस ईश्वरको युक्तियोंद्वारा सिद्ध करना अनधिकार चेष्टा है तथापि संशययुक्त एवं नास्तिकोंको समझानेके लिये विभिन्न सज्जनोंने 'कल्याण' के ईश्वराङ्क और उसके परिशिष्टाङ्कमें बहुत-सी युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि पदार्थोंकी उत्पत्ति और नाना प्रकारकी योनियोंके यन्त्रोंकी भिन्न-भिन्न अद्भुत रचना और नियमित सञ्चालन-क्रियाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि बिना कर्ताके उत्पत्ति और बिना सञ्चालकके नियमित सञ्चालन होना असम्भव है। जो इनकी उत्पत्ति और सञ्चालन करनेवाला है, वही ईश्वर है। जीवोंके सुख, दुःख, जाति, आयु, स्वभावकी भिन्नताका गुण-कर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार करना ज्ञानस्वरूप ईश्वरके बिना जड प्रकृतिसे

होना सम्भव नहीं है क्योंकि सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना एवं विभाग किसी परम चेतन कर्ताके बिना होना सम्भव नहीं है।

प्र०—ईश्वरका स्वरूप कैसा है ?

उ०—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सम्पूर्ण गुणसम्पन्न, निर्विकार, अनन्त, नित्य, विज्ञान-आनन्दघन है।

प्र०—ईश्वर सगुण है या निर्गुण ?

उ०—वह चिन्मय परमात्मा सगुण भी है और निर्गुण भी। यह त्रिगुणमय सम्पूर्ण संसार उस परमात्माके किसी एक अंशमें है, जिस अंशमें यह संसार है उस अंशका नाम सगुण है, और संसारसे रहित अनन्त, असीम जो नित्य विज्ञान-आनन्दघन परमात्माका स्वरूप है उसका नाम निर्गुण है। सगुण और निर्गुण समग्रको ही ईश्वर कहा गया है।

प्र०—वह सगुण ईश्वर निराकार है या साकार ?

उ०—साकार भी है और निराकार भी। जैसे निराकाररूपसे व्यापक अग्नि संघर्षण आदि साधनोंद्वारा साधकके सम्मुख प्रकट हो जाता है वैसे ही वह सर्वान्तर्यामी दयालु परमात्मा निराकाररूपसे चराचर सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें व्यापक रहता हुआ ही धर्मके स्थापन और जीवोंके उद्धारके लिये भक्तोंकी भावनाके अनुसार श्रद्धा, प्रेम आदि साधनोंद्वारा साकाररूपसे समय-समयपर प्रकट होता है। जहाँ साकाररूपसे भगवान् प्रकट हुए हों वहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि वे इतने ही हैं, निर्गुण और सगुणरूपमें सब जगह स्थित रहता हुआ ही अर्थात् सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न समग्र ब्रह्म ही सगुण-साकार-स्वरूपमें प्रकट होता है। वह सगुण परमात्मा सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और विनाशकालमें सदा ही ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपसे विराजमान है।

प्र०—माया किसे कहते हैं ?

उ०—ईश्वरकी शक्तिका नाम माया है जिसको प्रकृति भी कहते हैं।

प्र०—प्रकृतिका क्या स्वरूप है ?

उ०—जो अनादि हो, प्राकृत हो, जिसकी किसीसे उत्पत्ति नहीं हुई हो और जो अन्य पदार्थोंकी उत्पत्तिमें कारण हो, उसको प्रकृति कहते हैं।

प्र०—यह माया स्वतन्त्र है या परतन्त्र ?

उ०—परतन्त्र है।

प्र०—किसके परतन्त्र है ?

उ०—ईश्वरके।

प्र०—यह माया अनादि-अनन्त है या अनादि-सान्त है ?

उ०—अनादि-सान्त है।

प्र०—जो वस्तु अनादि हो वह तो अनन्त ही होनी चाहिये ?

उ०—यह कोई नियम नहीं है।

प्र०—ऐसा कोई दृष्टान्त बतलाइये जो अनादि होकर सान्त हो ?

उ०—सूर्य-चन्द्रादि सभी दृश्य वस्तुओंका अज्ञान अर्थात् उनका न जाननापन अनादि है, किन्तु मनुष्य जिस समय जिस वस्तुको यथार्थ जान जाता है उसी समय उस वस्तु-विषयका वह अज्ञान नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार यह माया भी अज्ञानकी तरह अनादि-सान्त है।

प्र०—यह माया सत् है या असत् ?

उ०—सत् भी है और असत् भी। अनादि होनेसे सत् है और सान्त होनेसे असत् है। वास्तवमें इसको सत् या असत् कुछ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि तत्त्वज्ञानके द्वारा सान्त हो जानेके कारण सत् नहीं कहा जा सकता और

सदासे इसकी प्रतीति होती चली आयी है इसलिये असत् भी नहीं कह सकते। इसीलिये मायाको सत्-असत् दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय कहा गया है।

प्र०—माया जड है या चेतन ?

उ०—जड है, क्योंकि जो वस्तु दृश्य और विकारी होती है वह जड ही होती है।

प्र०—मायाका स्वरूप क्या है ?

उ०—जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है वह सब मायाका कार्य होनेके कारण मायाका स्वरूप है।

प्र०—माया कितने प्रकारकी है ?

उ०—दो प्रकारकी है। विद्या और अविद्या।

प्र०—विद्या किसे कहते हैं ?

उ०—जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं और गुण-कर्मोंके अनुसार यथायोग्य ऊँच-नीच योनियोंका विभाग करते हैं तथा साकाररूपसे प्रकट होकर जिस विद्याके द्वारा धर्मकी स्थापना करके जीवोंका उद्धार करते हैं।

प्र०—अविद्या किसे कहते हैं ?

उ०—अज्ञानको कहते हैं, जिसके द्वारा सब जीव मोहित हो रहे हैं अर्थात् अपने स्वरूप और कर्तव्यको भूले हुए हैं।

प्र०—जीवका स्वरूप क्या है ?

उ०—जीव नित्य, चेतन और ईश्वरका अंश है। प्रकृति और उसके कार्यसे भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण होनेपर भी प्रकृतिके सम्बन्धसे कर्ता और भोक्ता भी है। (देखिये गीता अ० १३ श्लो० २०-२१)

प्र०—जीव ईश्वरका किसप्रकारका अंश है ?

उ०—वास्तवमें तो इसके सदृश संसारमें कोई उदाहरण ही नहीं है। यदि सूर्यके प्रतिबिम्ब-की तरह जीवको ईश्वरका अंश बताया जाय तो वह बताना युक्तियुक्त नहीं होगा, क्योंकि सूर्यमण्डल जड है और उसका प्रतिबिम्ब वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है परन्तु जीवात्मा तो वस्तुतः नित्य और चेतन है। यदि घटाकाश और महाकाशका उदाहरण दिया जाय तो वह भी समीचीन नहीं, क्योंकि आकाश भी जड है और ईश्वर चेतन है। यदि स्वप्नकी सृष्टिके जीवोंका उदाहरण दिया जाय तो वह भी पूर्ण समीचीनरूपसे नहीं, क्योंकि स्वप्न-सृष्टिकी उत्पत्ति स्वप्न-द्रष्टा पुरुषके मोहसे हुई है और वह पुरुष उस मोहके अधीन है परन्तु ईश्वर स्वतन्त्र और निर्भ्रान्त है। ऊपर बताये हुए सब उदाहरणोंकी अपेक्षा तो योगीकी सृष्टिका उदाहरण सर्वोत्तम है, क्योंकि योगी अपनी योग-शक्तिसे अपनी सृष्टिकी रचना कर सकता है और उसकी सृष्टिमें रचित जीव सब उसके अंश एवं अधीन भी होते हैं, इसी प्रकार जीवको ईश्वरका अंश समझना चाहिये।

प्र०—सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

उ०—शास्त्रोंमें जैसा वर्णन है।

प्र०—शास्त्रोंमें तो अनेक प्रकारका वर्णन है।

उ०—विचार करनेपर करीब-करीब सबका परिणाम एक-सा ही निकलता है।

प्र०—महासर्गके आदिमें सृष्टिकी उत्पत्ति कैसे होती है, संक्षेपसे व्याख्या कीजिये।

उ०—महासर्गके आदिके समय सर्वव्यापी विज्ञानानन्दघन निराकार परमात्मामें सृष्टिके रचनेके लिये स्वाभाविक ऐसी स्फुरणा होती है कि 'मैं एक बहुत रूपोंमें होऊँ' तब उसकी शक्तिरूप प्रकृतिमें क्षोभ होता है अर्थात् सत्, रज, तम—तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें न्यूनाधिकता हो जाती

है जिससे महत्तत्त्व यानी समष्टि-बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। उस महत्तत्त्वसे समष्टि अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकारसे मन और पाँच सूक्ष्म महाभूत उत्पन्न होते हैं। इन महाभूतोंको योग और सांख्य आदि शास्त्रोंमें तन्मात्राओंके नामसे कहा है। वैशेषिक और न्यायशास्त्र इन्हींको परमाणु मानते हैं। उपनिषदोंमें इन्हींको अर्थके नामसे भी कहा है और इन्द्रियोंके कारणरूप होनेसे इन्द्रियोंसे परे बतलाया है। गीतामें इन पाँच सूक्ष्म महाभूतोंको मन, बुद्धि और अहंकार-के सहित अपरा-प्रकृतिके नामसे कहा है। मूल-प्रकृतिसे उत्पन्न हुए इन आठ पदार्थोंसे ही संसारकी उत्पत्ति होती है। इसलिये इनको भी प्रकृति कहा जाता है। सांख्य और योग-शास्त्र मनको प्रकृति नहीं मानते।

प्र०—सूक्ष्म महाभूतोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाइये?

उ०—समष्टि अहंकारसे सूक्ष्म आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवी-की तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं।

प्र०—इन आठ पदार्थोंकी उत्पत्तिके बाद सृष्टिकी उत्पत्ति किसप्रकार हुई?

उ०—आकाशादि सूक्ष्म महाभूतोंसे अर्थात् तन्मात्राओं-से श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण—क्रमशः इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। तदनन्तर उन्हीं पाँच सूक्ष्म महाभूतोंसे वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ, गुदा—क्रमशः इन पाँच कर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई। ऊपर बताये हुए अठारह तत्त्वोंमें अहंकारको बुद्धिके अन्तर्गत मानकर इन सतरह तत्त्वोंके समुदायको समष्टि-सूक्ष्म-शरीर कहते हैं। इसका जो अधिष्ठाता है उसीको हिरण्य-गर्भ, सूत्रात्मा एवं ब्रह्मा कहते हैं। उसी हिरण्यगर्भके द्वारा उसके समष्टि-अव्यक्त-शरीरसे जीवोंके गुण और कर्मानुसार सम्पूर्ण स्थूल लोकोंकी एवं स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥
(गीता ८। १८-१९)

'हे अर्जुन! सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिन-के प्रवेश-कालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेश-कालमें उस अव्यक्तनामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेश-कालमें लय होता है और दिनके प्रवेश-कालमें फिर उत्पन्न होता है।'

कोई-कोई आचार्य पाँच सूक्ष्म भूतोंको इन्द्रियोंके अन्तर्गत मानकर पञ्चप्राणोंको सूक्ष्म शरीरके साथ और सम्मिलित करते हैं किन्तु वायुके अन्तर्गत भी पञ्चप्राणोंको मान लिया जा सकता है।

प्र०—कर्म कितने प्रकारके होते हैं?

उ०—तीन प्रकारके होते हैं। सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

प्र०—इन तीनोंका स्वरूप बतलाइये?

उ०—(१) अनेक जन्मोंसे लेकर अबतकके किये हुए सुकृत-दुष्कृतरूप कर्मोंके संस्कारसमूह, जो अन्तःकरणमें संगृहीत हैं उन्हें सञ्चित कहते हैं। (२) पाप-पुण्यरूप सञ्चितका कुछ अंश जो एक जन्ममें सुख-दुःखरूप फल भुगतानेके लिये सम्मुख हुआ है उसका नाम प्रारब्ध-कर्म है। (३) अपनी इच्छासे जो शुभाशुभ नवीन कर्म किये जाते हैं उन्हें क्रियमाण कर्म कहते हैं। इन तीनों कर्मोंका विशेष विस्तार गीताप्रेससे प्रकाशित 'तत्त्व-चिन्तामणि' नामक पुस्तकके प्रथम

भागके 'कर्मका रहस्य' शीर्षक लेखमें देख सकते हैं।

प्र०—मोक्ष किसे कहते हैं ?

उ०—सम्पूर्ण क्लेशोंसे एवं सम्पूर्ण कर्मोंसे छूटकर नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित होनेका नाम मोक्ष है।

प्र०—मुक्त हुए पुरुषोंका पुनर्जन्म होता है या नहीं ?

उ०—नहीं।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

(गीता १४। २)

'हे अर्जुन! वे पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय-कालमें भी व्याकुल नहीं होते।' भगवान् कहते हैं—

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

(गीता ८। १६)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! मुझको प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।

(श्रुति)

'वह मुक्त पुरुष पुनः वापिस नहीं आता, पुनः वापिस नहीं आता।'

प्र०—नवीन जीव उत्पन्न होते हैं या नहीं ?

उ०—नहीं। क्योंकि बिना हेतु जीवोंकी नवीन सृष्टि होना युक्तिसंगत नहीं।

प्र०—इस तरह माननेसे फिर जीवोंकी संख्या कम हो जायगी।

उ०—हो जाय, इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—इस न्यायसे तो सभीकी मुक्ति सम्भव है।

उ०—ठीक है, किन्तु मोक्षका अधिकारी केवल मनुष्य ही है। मनुष्योंमें भी लाखोंमें किसी एककी मुक्ति होती है। भगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

(गीता ७। ३)

'हे अर्जुन! हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है।' इसलिये सभीका मुक्त हो जाना असम्भव-सा है।

प्र०—असम्भव-सा होनेपर भी न्यायसे किसी-न-किसी दिन सबकी मुक्ति हो तो सकती है, क्योंकि इसमें कोई रुकावट नहीं है ?

उ०—रुकावटकी क्या आवश्यकता है ? तथा न्याय भी नहीं है, क्योंकि सभीका समान अधिकार है।

प्र०—तब तो एक दिन सृष्टिकी समाप्ति भी हो सकती है ?

उ०—ऐसा होना असम्भव-सा है, क्योंकि जीव असंख्य हैं, तथापि सब जीवोंका मोक्ष हो भी जाय तो इसमें क्या आपत्ति है ?

प्र०—यदि ऐसा न्याय होता तो अबसे पहले ही सृष्टि समाप्त हो जानी चाहिये थी ?

उ०—नहीं भी हुई तो सिद्धान्तमें क्या हानि है ?

प्र०—इस सिद्धान्तसे सृष्टिकी समाप्ति हो तो सकती है ?

उ०—ठीक है, यदि हो जाय तो बहुत ही उत्तम है। इसीलिये महान् पुरुष सबके कल्याणके लिये कोशिश करते हैं।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

'सभी सुखी तथा सभी नीरोग होवें, सभी कल्याणका अनुभव करें, कोई भी जीव दुःखभागी न बनें अर्थात् दुःखी न हों।'

प्र०—यदि मुक्तिको प्राप्त जीव वापिस आता है यह बात मान ली जाय तो क्या हानि है ?

उ०—इसप्रकार माननेवालेकी नित्यमुक्ति नहीं होती क्योंकि वापिस आनेकी भावन

सदाके लिये मुक्त नहीं हो

प्र०—मुक्ति कितने प्रकारकी होती है ?

उ०—दो प्रकारकी। एक सद्योमुक्ति, दूसरी क्रम-मुक्ति। विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्ममें तद्रूप हो जाना सद्योमुक्ति है और अर्चिमार्गके द्वारा परमात्माके धामविशेषमें जाना क्रममुक्ति है।

प्र०—क्रममुक्ति कितने प्रकारकी है ?

उ०—चार प्रकारकी है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य।

(क) नित्यधाममें जाकर वास करना सालोक्य-मुक्ति है।

(ख) सगुण भगवान्‌के समीप रहना सामीप्य-मुक्ति है।

(ग) भगवान्‌के सदृश स्वरूप धारणकर रहना सारूप्य-मुक्ति है।

(घ) सगुण भगवान्‌में लय हो जाना सायुज्य-मुक्ति है।

प्र०—मुक्तिका उपाय क्या है ?

उ०—तत्त्वज्ञान।

प्र०—तत्त्वज्ञान किसे कहते हैं ?

उ०—परमात्माको यथार्थ रूपसे जैसा है वैसा ही जाननेका नाम तत्त्वज्ञान है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५५)

'हे अर्जुन! उस परा-भक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव-वाला हूँ तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रवेश हो जाता है।'

प्र०—तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके अनेक साधन शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उनमें सच्चा मार्ग कौन-सा है ?

उ०—सभी सच्चे हैं।

प्र०—प्रधानतया कितने मार्ग हैं ?

उ०—तीन उपाय प्रधान हैं। भक्तियोग, सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग। यथा—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(*गीता* १३।२४)

'हे अर्जुन! परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानयोगके द्वारा यानी भक्तियोगके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं।'

प्र०—भक्तियोग किसे कहते हैं ?

उ०—परमेश्वरके स्वरूपको निष्काम प्रेमभावसे नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेका नाम भक्तियोग है।

प्र०—वह चिन्तन विज्ञान-आनन्दघन निर्गुण ब्रह्मका करना चाहिये या सगुणका ?

उ०—वास्तवमें तो निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन हो ही नहीं सकता, सगुणका ही होता है, किन्तु निर्गुणकी भावनासे उस विज्ञान-आनन्दघन निराकार ब्रह्म-का जो चिन्तन किया जाता है वह निर्गुणका ही समझा जाता है।

प्र०—सगुण ब्रह्मका ध्यान साकारका करना चाहिये या निराकारका ?

उ०—साधककी इच्छापर निर्भर है। निराकारका करे या साकारका करे, किन्तु निष्काम प्रेम-भावसे निरन्तर करना ही शीघ्र लाभदायक होता है।

प्र०—सांख्ययोग किसका नाम है ?

उ०—मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं—ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीर-द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्द-

घन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम सांख्ययोग है।

प्र०—निष्काम कर्मयोगका क्या स्वरूप है?

उ०—फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करनेका नाम निष्काम कर्मयोग है। यह दो प्रकारका होता है, एक भक्तिप्रधान, दूसरा कर्मप्रधान।

प्र०—भक्तिप्रधानका क्या लक्षण है?

उ०—निष्काम प्रेमभावसे हर समय भगवान्‌का चिन्तन करते हुए भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवत्प्रीत्यर्थ ही कर्म करनेका नाम भक्तिप्रधान निष्काम कर्मयोग है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥
(गीता १८। ५७)

'हे अर्जुन! तू सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके मेरे परायण हुआ समत्वबुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके निरन्तर मेरेमें चित्त-वाला हो।'

प्र०—कर्मप्रधानका क्या स्वरूप है?

उ०—कर्मप्रधानमें भी भक्ति रहती है किन्तु वह सामान्यभावसे रहती है। फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार समत्व-बुद्धिसे कर्म करनेका नाम कर्मप्रधान निष्काम कर्मयोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २। ४८)

'हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर! यह समत्वभाव ही योग-नामसे कहा जाता है।'

प्र०—परलोक है या नहीं?

उ०—अवश्य है।

प्र०—क्या प्रमाण है?

उ०—श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण स्थल-स्थलमें घोषित कर रहे हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठोपनिषद् १। २। ६)

'जो धनके मोहसे मोहित हो रहे हैं, ऐसे प्रमादी, मूढ, अविवेकी पुरुषको परलोककी प्राप्ति-विषयक शास्त्रका उपदेश आदि अच्छा नहीं लगता और यह लोक ही है परलोक नहीं है इसप्रकार माननेवाला मनुष्य मुझ मृत्युके वशमें बार-बार पड़ता है अर्थात् पुनः-पुनः जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।'

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥
(गीता १४। १८)

'सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुण-के कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित हुए तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं' इत्यादि शास्त्रों-में कर्मानुसार परलोककी प्राप्तिके जगह-जगह प्रमाण मिलते हैं किन्तु लेखका कलेवर बढ़ जानेके संकोचसे तथा यह बात प्रसिद्ध ही है, इसलिये शास्त्रोंके विशेष प्रमाणोंका उल्लेख नहीं किया गया।

प्र०—युक्तिप्रमाण दीजिये?

उ०—प्राणियोंके स्वभाव, जाति, आयु, सुख, दुःखादि भोगोंकी परस्पर भिन्नता देखनेसे भूत और भविष्यत्-जन्मकी सिद्धि होती है।

(क) बालक जन्मते ही रोता है, जन्मनेके बाद कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी सोता है, जब माता मुखमें स्तन देती है तब दूधको खींचता है और भयसे काँपता हुआ भी नजर आता है इत्यादि—उस बालकके आचरण पूर्व-जन्मका लक्ष्य कराते हैं। क्योंकि इस जन्ममें तो उसने उपर्युक्त शिक्षाएँ प्राप्त की नहीं। पूर्व-जन्मके अभ्याससे ही यह सब बातें उसमें स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं।

(ख) एक ही कालमें कोई मनुष्य, कोई पशु, कोई कीट, कोई पतंग इत्यादि योनियोंमें जन्म लेते हैं, उनमें भी स्वभाव, आयु, सुख-दुःखादि भोग समान नहीं देखे जाते।

(ग) एक देश और एक जातिमें पैदा हुए बालकोंमें भी स्वभाव, आचरण, आयु, सुख-दुःखादि भोग एकके दूसरेकी अपेक्षा अत्यन्त भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं, जैसे एक माताके एक साथ पैदा हुए दो बालकोंमें।

—इत्यादि युक्तियोंसे पूर्व-जन्मकी सिद्धि होती है और पूर्व-जन्मके लिये यह जन्म परलोक है, इससे परलोककी सिद्धि हो चुकी। जबतक इस पुरुषको ज्ञान न होगा तबतक इसी प्रकार गुण, कर्म और स्वभावके अनुसार भावी जन्म होते रहेंगे।

प्र०—परलोक न माननेसे क्या हानि है?

उ०—पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक उच्छृङ्खलता आ जायगी और उच्छृङ्खल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जारी, हिंसा आदि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अवगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो जाता है जिसके परिणाममें वह महान् दुखी बन जाता है।

प्र०—परलोकको माननेसे लाभ क्या है?

उ०—परलोक सत्य है और सत्य बातको सत्य माननेमें ही कल्याण है, क्योंकि आत्मा नित्य है, शरीरके नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता (गीता २। २०) इसलिये इस जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल अगले जन्ममें अवश्य ही भोगना पड़ता है। जब वास्तवमें इसप्रकारका निश्चय हो जायगा तब मनुष्य जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके दुःखोंसे छूटनेके लिये निष्कामभावसे यज्ञ, दान, तप, सेवा आदि उत्तम कर्मोंके तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ईश्वरकी उपासनाके द्वारा सम्पूर्ण दुराचार, दुर्गुण एवं दुःखोंसे मुक्त होकर उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जायगा, इसलिये परलोकको अवश्यमेव मानना चाहिये।

कैसे जाऊँ पार?

कैसे जाऊँ पार प्रभू मैं कैसे जाऊँ पार?
माया-नदी भयंकर बहती ममता-भँवर अपार।
बीहड़ बन अज्ञान-राशिका, काम क्रोध बटमार॥
दया करो अब इस दीनापर, हरो सकल दुख-भार।
'गोदावरी' दरस देकर प्रभु बेग उतारो पार॥

—बहिन गोदावरी

सेवा-रहस्य

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि जीवगण, दिशाएँ, वृक्षादि, नदी, समुद्रादि जो कुछ है, सब भगवान् श्रीहरिका ही स्वरूप है, भगवान्से भिन्न नहीं है, अतः सर्वरूप श्रीभगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ।'

संसारमें उसी मनुष्यका जीवन धन्य है जो सेवासे युक्त है और जो हृदयमें अपनेको सेवक तथा जगत्में जो कुछ है, सबको अपने स्वामीकी मूर्ति मानता है। पूज्यपाद गोस्वामीजीने भी कहा है—

सो अनन्य जाकी अस मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवन्त॥

क्या ही सुन्दर भाव है! सच्चे अनन्य भक्तकी यही पहचान है। अतएव मनुष्यमात्रको सच्चा सेवक बननेका यत्न करना चाहिये। प्रायः हमलोग सेवकके स्थानमें स्वामी बननेको ही उत्सुक रहते हैं क्योंकि हमारी चाह ही ऐसी होती है। 'सब लोग हमें आराम पहुँचायें, हम सुखी बने रहें, दूसरोंके दुःखकी हमें कुछ भी परवा नहीं, सब हमारी सेवा करें, हम किसीकी सेवा करना नहीं चाहते, जगत्में सब भोग हमारे लिये ही बने हैं और सारा संसार हमारे लिये ही है, पर हम किसीके लिये नहीं हैं।' यही स्वामीपनके भाव हैं। सच्चे सेवकके भाव इससे बिल्कुल भिन्न होते हैं, वह किसीसे कभी सेवा करानेका भाव स्वप्नमें भी नहीं रखता। बलात्कार यदि कोई उसकी सेवा करे तो इससे उसे व्यथा होती है, पर वह स्वयं अन्यकी सेवा करके आनन्दका अनुभव करता है। ऐसे सेवकको सेवा करनेमें चाहे कितने ही कष्टोंका सामना क्यों न करना पड़े, सेवाके हेतु प्राण-विसर्जन ही क्यों न करना पड़े, फिर भी उसे लेशमात्र भी कष्ट नहीं होता, बल्कि आनन्द-ही-आनन्द होता है। इसप्रकारकी सेवा वह निर्विशेषभावसे करता है, तात्पर्य यह है कि सेवा करते समय, 'अमुक हमारे सम्बन्धी हैं, प्रेमी हैं, अमुक व्यक्ति धनी है, साधु-महात्मा है' इत्यादि हेतु उसके सामने नहीं होते। मनुष्य-सेवाकी तो बात ही क्या, वह तो पशु-पक्षी आदिकी भी सेवा करके अपनेको धन्य मानता है। उसका हृदय सदा दयासे पूर्ण होता है। किसीका दुःख उससे सहन नहीं होता, अपनी शक्तिके अनुसार वह सदा दूसरोंके दुःख दूर करनेमें यत्नशील रहता है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजीने जैसा सन्तके हृदयका वर्णन किया है, सच्चे सेवकका हृदय भी वैसा ही होता है—

सन्त हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहा न जाना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। संत द्रवै पर ताप पुनीता॥

सेवासे क्या लाभ है?

कहा जाता है कि सेवा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरण शुद्ध होनेका अर्थ है सेवाभावसे और सेवाकार्यसे अन्तःकरणमें दिनोंदिन उत्तरोत्तर दया, निष्कपटता, प्रेम, उदारता, सरलता, निर्भीकता, तेज, त्याग, उत्साह आदिकी वृद्धि तथा पाप, पक्षपात, स्वार्थ, निर्दयता, छल, निन्दा, भय, आलस्य, प्रमाद, लोभ, मोह आदिका नाश होना। यही अन्तःकरणकी शुद्धि है। किसप्रकारसे उपर्युक्त सद्गुणोंकी प्राप्ति तथा दुर्गुणोंका नाश होता है इसका

स्पष्टीकरण विस्तारभयसे यहाँ नहीं किया जाता है, पाठक स्वयं ही विचार लें।

साधारणतः लोग सेवाका अर्थ केवल दूसरोंको भोजन या वस्त्र देना, रहनेको स्थान देना, द्रव्य देना या शुश्रूषा करना इत्यादि समझते हैं। यद्यपि यह सभी सेवाके कार्य हैं तथापि सेवाके अनेक पर्दे हैं जो समझनेयोग्य हैं। उनका स्पष्टीकरण अपनी बुद्धिके अनुसार पाठकोंके सम्मुख उपस्थित किया जाता है।

सच्ची सेवा

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि जिस कार्यको करनेसे दोनोंका (अर्थात् जिसकी सेवा की जाय उसका तथा सेवकका) हित हो और उन्हें सुख मिले और जिसमें किसी प्रकारके स्वार्थकी गन्ध भी न हो तथा जिसमें कोई हेतु या अभिमान न हो, वही सची सेवा है। सेवाकी ऐसी व्याख्या क्यों की जाती है ? बात यह है कि जिसकी सेवा की जाती है उसको उससे सुख न मिले बल्कि दुःख होता हो तो वह सेवा नहीं कही जा सकती, उसे तो पीडा पहुँचाना ही कहना ठीक होगा। इसी प्रकार जो सेवा सेवक कष्ट सहता हुआ दुःखपूर्वक करता है वह सेवा भी प्रशंसनीय नहीं होती क्योंकि ऐसी अवस्थामें सेवक किसी भी कारणसे बाध्य होकर बिना प्रेमके सेवा करता है। यदि वह प्रेमपूर्वक सेवा करता तो देखनेवाले दूसरेकी दृष्टिमें प्राणान्तक कष्टको सहते हुए भी वह स्वयं किञ्चिन्मात्र भी दुःखका अनुभव न करता, बल्कि परमानन्दको ही प्राप्त होता तथा सेवाके हित प्राणका बलिदान करनेमें अपना अहोभाग्य समझता। इस विषयमें एक आख्यायिका शास्त्रोंमें आती है—

राजा रन्तिदेव विख्यात दानी थे। वह सदा दानमें अपना धन देते रहते थे। वह इतने बड़े दानी थे कि स्वयं भूखों रहकर भी पासके अन्नको भूखेको दे डालनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते थे। एक बार दान करते-करते राजा रन्तिदेवने अपना सब धन दानमें दे डाला और आप परिवारसहित भूखों मरने लगे। इसप्रकार अड़तालीस दिन व्यतीत हो गये, भूख-प्याससे उनका शरीर अवसन्न हो गया परन्तु उनके हृदयकी प्रसन्नतामें कोई कमी न आयी। उनचासवें दिन राजाको कुछ भोजनकी सामग्री मिली। वह भोजनकी तैयारी कर ही रहे थे कि एक भूखा ब्राह्मण अतिथि आ पहुँचा। राजाने प्रीतिपूर्वक उसे भोजन कराया और बचे हुए अन्नको अपने परिवारमें बाँटकर वह अपने हिस्सेका अन्न भोजन करनेके लिये बैठे। इतनेहीमें एक भूखा शूद्र अतिथि आ गया। राजाने अपने हिस्सेसे उसे भोजन कराया और वह तृप्त होकर चला गया। इसके पश्चात् एक दूसरा अतिथि बहुत-से कुत्तोंको साथ लेकर आया और बोला—'हे राजा, मैं और मेरे कुत्ते भूखे हैं, कुछ खानेको दीजिये।' राजाने बचा हुआ अन्न उसे सम्मानपूर्वक देकर प्रणाम किया। अब राजाके पास केवल जलमात्र बच रहा, वह उसे पीकर अपनी प्यास बुझाना ही चाहते थे कि इतनेमें एक चाण्डाल वहाँ आ पहुँचा और गिड़गिड़ाकर कहने लगा कि 'महाराज ! मैं बहुत ही थका-माँदा हूँ, मुझे पीनेके लिये थोड़ा-सा जल दीजिये।'

इस दीनतापूर्ण वचनको सुनकर राजाने वह बचा हुआ जल भी उसको पिला दिया और भगवान्से यह प्रार्थना की—

न कामयेऽहं गतिरीश्वरात्परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजा-
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥

अर्थात् 'मैं परमेश्वरके निकट अणिमादि अष्ट सिद्धियोंसे युक्त गति अथवा मुक्तिकी कामना नहीं

करता । मेरी यही प्रार्थना है कि मैं ही सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर दुःख भोग करूँ जिनसे उनका दुःख दूर हो जाय ।' इसके बाद राजाको त्रिभुवनपति भगवान्‌ने अपना दिव्य दर्शन दिया । भगवान् ही इसप्रकार विभिन्न रूप धारणकर रन्तिदेवकी परीक्षा कर रहे थे । इसप्रकार सच्चा सेवक सेवामें कष्ट नहीं मानता, बल्कि जितनी ही अधिक कष्टप्रद सेवा होती है उतना ही अधिक वह अपनेको धन्य समझता है ।

जो सेवा स्वार्थसे की जाती है वह सच्ची सेवा नहीं है, क्योंकि स्वार्थसे सेवा करनेवाला जहाँ स्वार्थ नहीं देखता वहाँ सेवामें तत्पर नहीं होता और स्वार्थ सिद्ध हो जानेके बाद उसका सेवाभाव भी नहीं रहता है । यह हमारे सम्बन्धी, कुटुम्बी हैं, या साधु-महात्मा हैं, अथवा यह काम पड़नेपर हमारी सहायता कर सकते हैं इसप्रकारके हेतु भी सेवामें प्रशंसनीय नहीं हैं । इसप्रकारकी सेवा संकुचित होती है । इसे निर्विशेष अहैतुकी सेवा नहीं कह सकते ।

सेवकके हृदयमें सेवाके उपरान्त यदि यह भाव उत्पन्न हो कि मैंने अमुककी सेवा की है अथवा उपकार किया है तो इसप्रकारका अभिमान सेवाको तुच्छ बना देता है । भक्त नरसीजी महाराज कहते हैं—

वैष्णवजन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे ।
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे ॥

सच्चा सेवक सेवा करके अपनेको उपकृत मानता है और जिसकी सेवा करता है उसको उपकारक मानता है । सेवाकार्यमें भी भाव ही प्रधान है । सेवककी भावना जितनी ही ऊँची होगी, सेवा भी उतनी ही उच्च कोटिकी समझी जायगी । यों तो संसारमें वेतन-भोगी सेवक अनेक प्रकारकी छोटी-बड़ी सेवा करते हैं पर उससे उनके हृदयमें उपर्युक्त दिव्य गुणोंका आविर्भाव नहीं होता और न उन्हें परमानन्दकी प्राप्ति ही होती है । सच्चे सेवककी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१—वह अपनेको कभी स्वामी नहीं मानता ।

२—वह जीवमात्रकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझता है ।

३—सेवा करके पश्चात्ताप नहीं करता ।

४—सेवा करके दुखी नहीं होता ।

५—सेवा करके अभिमान नहीं करता ।

६—सेवा करके बदलेमें कुछ भी नहीं चाहता ।

सेवामें जितना ही अधिक त्याग होता है, सेवा भी उतनी ही अधिक मूल्यवान् होती है । किसीको प्रसन्न करनेके लिये जो सेवा होती है वह तो दिखौआ, नकली सेवा है ।

सेवा किसकी करनी चाहिये

जो किसी प्रकारसे आर्त्त या दुखी हैं, जिन्हें सहायता या सेवाकी आवश्यकता है, अथवा जो सेवा करनेसे असन्तुष्ट नहीं होते उनकी सेवा अवश्य ही करनी चाहिये । जो सेवा कराना नहीं चाहते पर सेवा करनेपर प्रसन्नता या अप्रसन्नता भी नहीं प्रकट करते उनकी भी सेवा करनी चाहिये ! पर जो सेवा नहीं कराना चाहता और बलात् की हुई सेवासे असन्तुष्ट होता है, वहाँ उसकी आज्ञाका पालन करना ही सेवा है । क्योंकि वह आदर्श पुरुष होता है, उसका व्यवहार जगत्‌के लिये शिक्षाप्रद अनुकरणीय होता है, उसे आदर्शसे हटानेका प्रयत्न करना अनुचित है । सेवक और सेव्यमें भाव-विलक्षणताके कारण कभी-कभी ऐसा होता है कि सेव्य ही सेवककी कोटिमें आ जाता है और सेवक सेव्य बन जाता है । जैसे कोई सत्पुरुष जो सेवा कराना नहीं चाहता और स्वयं सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझता है, जो

सेवाके रहस्यको अच्छी तरहसे जानता है और अपने आवश्यक कार्योंको स्वय ही करता है, उसे यदि कोई सेवक सेवा करानेके लिये विशेष आग्रह या हठ करे और सेवा न करानेसे इसके दिलमें दु ख हो तो (यद्यपि इसप्रकारका दु ख होना सर्वथा अनुचित है) केवल सेवककी प्रसन्नताके लिये ही अनिच्छासे भी उसकी सेवाको अंगीकार करना सेव्यको सच्चे सेवक की कोटिमे ला देता है क्योंकि इसमें अन्यके सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग करता है । ऐसे उदाहरणोंमें सेवक भी तत्वत सेव्य बन जाता है क्योंकि वह अपनी प्रसन्नताके लिये आग्रहवश सेवा करता है । यही भाववैचित्र्य है ।

भगवद्भजन

(१)

देखो याते एसो समै फेरि ना मिलैगो कौन, कौन जानै कौनसे जठर-शूला शूलौगे ।
कहत 'किसोर' जोपै मानिहौ न मेरी कही, जैसे कछु बैहौ तैसे नरन अरूलौगे ।।
फेरि आखिरीपै दुख तुम ही सहौगे, अघ-अनल दहौगे ये कहैंगे सो कबूलौगे ।
ऐसे तो न फूलौगे न बतियाँ वसूलौ हरि भजन जो भूलौगे तो हर भाँति भूलौगे ।।

(२)

बैठे चटसारमें कुमार हैं हजार जहाँ, बेदनको भेद भाँति भाँतिनको रढ़िबो ।
कहै 'गुनदेव' कोऊ लिखत ललित अंक, कोऊ करै बाद कोऊ बैन गुन गढ़िबो ।।
तहाँ हरनाकुसको पुत्र मतिधीर जाके, दूजो और आखर सपथ मुख कढ़िबो ।
निरखि असार सब सार सुख जानि एक राम-मन्त्र सार प्रह्लाद सीखो पढ़िबो ।।

(३)

हाथिनके दाँतके खिलौना बनै भाँति-भाँति, बाघनकी खाल तपी सिव-मन भाई है ।
मृगनकी खालनको ओढत है जोगी जती, छेरिनकी खाल थोरा पानी भरि लाई है ।।
साबरकी खालनको बाँधत सिपाहीलोग, गैंडनकी खाल राजा रायन सुहाई है ।
कहै कवि 'दयाराम' रामके भजन बिन, मानुसकी खाल कछू काम नहिं आई है ।।

(४)

ज्ञान घटै ठग चोरकी संगति मान घटै पर गेहके जाएँ ।
पाप घटै कछु पुन्य किएँ अरु रोग घटै कछु ओषध खाएँ ।।
प्रीति घटै कछु माँगनतें अरु नीर घटै ऋतु ग्रीषम आएँ ।
नारि प्रसगतें जोर घटै जम त्रास घटै हरिके गुन गाएँ ।।

(५)

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र धरा धन धाम है बंधन जीको ।
बारहि बार बिषै-फल खात अघात न जात सुधारस पीको ।।
आन औ मान तजौ अभिमान कही सुन कान भजो सिय-पीको ।
पाइ परमपद हाथ सौं जात गई सो गई अब राख रहीको ।।

—संकलित

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

हे अश्विनीकुमारो! जब तुमने अपने गुरु दध्यङ्-ऋषिसे इसप्रकार कहा तो वे अपने मनमें नीचे लिखे अनुसार विचार करने लगे—

दध्यङ—(मनमें) यदि मैं इनको ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा तो इन्द्र मेरा सिर काट लेगा और यदि मैं इनको ब्रह्मविद्याका उपदेश न करूँगा तो मेरी प्रतिज्ञा भङ्ग होगी। इन दोनोंमें मेरा सिर कट जाना ठीक है, वचन मिथ्या होना ठीक नहीं है। क्योंकि इस लोकमें जो प्राणी उत्पन्न होता है, वह अवश्य मरता है और मरण-कालमें दुःख भी अवश्य होता है। जब मरणका दुःख एक बार सहना ही पड़ेगा तब प्रतिज्ञा भङ्ग क्यों करनी चाहिये? मरणके भयसे प्रतिज्ञा भङ्ग करना उचित नहीं है। यदि मैं यह विचार करूँ कि रोगसे तो दुःख थोड़ा होता है परन्तु इन्द्रके वज्रसे तो महान् कष्ट होगा, तो यह बात भी ठीक नहीं है। ज्वरादि व्याधि, सर्प, चोर, सिंह, विष, अग्नि, जल, शत्रु, अजीर्ण अन्न ये सब मरणमें निमित्त हैं। इन निमित्तोंमेंसे किसी-न-किसी निमित्तसे प्राणी मरता है। इन्हींमें इन्द्रका वज्र भी है, क्योंकि वज्र अग्निरूप है। कोई अपूर्व निमित्त नहीं है, इसलिये मुझे वज्रका दुःख सहन करना चाहिये। यदि मैं अपना वचन मिथ्या करूँगा तो मुझे अनन्त कोटि कल्पतक नरकोंमें अनेक प्रकारके दुःख भोगने पड़ेंगे। नरकमेंसे निकलनेका कोई उपाय भी नहीं है, क्योंकि उपाय तो अनजानमें किये पापका होता है, जानकर पाप करके उनसे बचनेका कोई उपाय नहीं है। तात्पर्य यह कि यदि कोई पुरुष पाप और पापका फल न जानकर पाप-कर्म करता है तब तो उसको अल्प दुःख होता है और पाप-कर्म और उसका नरकादि फल शास्त्र-प्रमाणसे जानकर भी पाप-कर्म करता है तो उस पाप-कर्मसे अधिक दुःखकी प्राप्ति होती है। मैं प्रतिज्ञा-भङ्गका दोष जानता हूँ और उसका फल भी जानता हूँ इसलिये मुझे अधिक पाप लगेगा। मिथ्यावादीकी इस लोकमें निन्दा होती है और परलोकमें उसे नरककी प्राप्ति होती है। कोई कहे कि पुण्य-पापका फल तो सकामी पुरुषको ही होता है, निष्कामीको तो विधिनिषेधका कोई बन्धन ही नहीं है तो यह बात ठीक नहीं है। सकामी पुरुषको 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्यों-का और 'नानृतं वदेत्' इत्यादि निषेधवाक्योंका अधिकार है और निष्कामीको यद्यपि विधिवाक्यों-का अधिकार नहीं है तो भी 'असत्य न बोलना' इत्यादि निषेधवाक्योंका अधिकार है ही।

हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार मनमें विचार कर तुम्हारे गुरु दध्यङ्ऋषि तुमसे कहने लगे—

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! तुम जानते ही हो कि देव, असुर, मनुष्य और सम्पूर्ण प्राणियोंपर मैं उपकार करनेवाला हूँ। पूर्वके पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाले प्रिय पदार्थोंका भोग मैं समाप्त कर चुका हूँ और पाप-कर्मका भोग भी समाप्त कर चुका हूँ। जैसे अज्ञानी पुरुषको प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे हर्ष और अप्रियके मिलनेसे शोक होता है, इसप्रकार प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु प्राप्त होनेसे मुझको हर्ष या शोक नहीं होता। जैसे भेददर्शीको शत्रु, मित्र, उदासीन, बन्धु, द्वेष्य तथा मध्यस्थ, इनमें भेद-बुद्धि होती है, इसप्रकार मुझ समदर्शीको इनमें भेदबुद्धि नहीं होती। अपकार किये बिना ही

जो अपकार करे वह शत्रु, अपकारकी अपेक्षा न रखकर जो उपकार करे वह मित्र, उपेक्षा करनेवाला उदासीन, सम्बन्धसे उपकार करनेवाला बन्धु, अपकारकी अपेक्षासे अपकार करे वह द्वेष्य और विवाद करनेवाले दो पुरुषोंका जो हित चाहे वह मध्यस्थ कहलाता है। मैं ब्राह्मणके शरीरमें, स्थावर-जङ्गम-शरीरोंमें, श्वानमें तथा हिरण्यगर्भमें समानरूपसे स्थित हूँ, क्योंकि मैं सर्वरूप हूँ। पुरुष, स्त्री, नपुंसक, पाँच भूत, भौतिक प्रपञ्च, मनु, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, सम्पूर्ण ज्योति, भूर्, भुवर्, स्वर्, महर्, जन, तप तथा सत्य नामके ऊपरके सातों लोक तथा अतल, वितल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल ये नीचेके सात लोक, सब मैं ही हूँ। जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे स्वप्नके पदार्थ भिन्न नहीं होते, इसी प्रकार सब स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, सब मेरा ही स्वरूप है। ब्रह्माण्डके स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज, इन चार प्रकारके जीवोंमें कितने ही श्रेष्ठ हैं और कितने ही कनिष्ठ हैं, उन सबका मैं आत्मा हूँ। सर्वभेदसे रहित ब्रह्मको मैंने आत्मारूपसे जाना है। मुझमें मायाका स्पर्श नहीं है, मायाका अभाव होनेसे काम, क्रोध, लोभ इत्यादि दोष भी मेरे स्वरूपमें नहीं हैं। मैं परमात्मा लीलामात्रसे जगत्की उत्पत्ति और संहार करता हूँ। जैसे मकड़ी किसीकी सहायताके बिना ही अपने शरीरमेंसे तन्तुओंको उत्पन्न करती है, उनका पालन करती है, और फिर अपनेमें लय कर लेती है, इसी प्रकार मैं परमात्मा सब जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता हूँ। मकड़ीसे मुझमें इतनी विशेषता है कि मकड़ी अवयवोंवाली और सम्बन्धवाली होकर तन्तुओंकी परिणामी उपादानकारण है और मैं परमात्मा निरवयव तथा असङ्ग होकर जगत्का विवर्त उपादानकारण मात्र हूँ।

अश्विनीकुमार—हे भगवन् ! यदि मकड़ीमें और आपमें विलक्षणता है तो उसके दृष्टान्तसे जगत्की कारणता आपमें सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि समान स्वभाववाली वस्तुओंका ही दृष्टान्त दिया जाता है, विषम स्वभाववाली वस्तुओंका नहीं।

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो ! समान स्वभाववाली वस्तुओंका ही दृष्टान्त दिया जाता है यह ठीक है। परन्तु दृष्टान्तमें सब अंशोंमें समानता नहीं होती, कुछ ही अंशमें समानता हुआ करती है। यहाँ भी एक अंशमें समानता है, क्योंकि जैसे मकड़ी तन्तुओंका उपादानकारण और निमित्तकारण दोनों है, इसी प्रकार परमात्मा भी जगत्का उपादान और निमित्तकारण है। अभिन्ननिमित्तोपादानकारणके अंशमात्रमें मकड़ीका दृष्टान्त है। जैसे स्वप्नके पदार्थ स्वप्नद्रष्टा पुरुषसे भिन्न नहीं होते इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय मुझ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। इसप्रकारका ब्रह्मनिष्ठ मैं अपने आश्रममें रहता था। एक बार देवराज इन्द्र मेरे आश्रममें आया और मैंने अतिथिके समान उसका पूजन किया, पीछे मैंने इन्द्रसे कहा कि मैं तुम्हें प्रसन्न करनेके लिये कौन-सा पदार्थ दूँ। तब देवराज इन्द्र बोला कि यदि तुम मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो मुझे ब्रह्मविद्याका उपदेश करो। जब उसने इसप्रकार कहा तो मैं उसको मधुकाण्डमेंसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करने लगा, क्योंकि ब्रह्मविद्या ही जगत्में दुर्लभ है। ब्रह्मविद्याको छोड़कर शब्द, स्पर्शादि विषय तो सब लोकोंमें सब जीवोंको सुलभ हैं। स्वर्गलोकमें जैसे कर्मी जीवोंको विषय मिलते हैं वैसे ही नरकमें रहनेवाले जीवोंको भी मिलते हैं। जैसे ब्रह्मलोकमें रहनेवालोंको विषयजन्य सुख मिलता है इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमि-कीटादि जीवोंको भी विषयसुखकी प्राप्ति होती है। आनन्दस्वरूप आत्माके सिवा कर्म और उपासनासे सर्व विषयोंकी प्राप्ति होती है। केवल एक ब्रह्मविद्या ही अत्यन्त

दुर्लभ है क्योंकि यदि मझे पूर्वजन्ममें ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई होती तो अब मुझे जन्म-मरणरूप संसार प्राप्त न हुआ होता। इससे सिद्ध होता है कि पूर्वजन्ममें मुझे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं हुई थी।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! जैसे ब्रह्मविद्या दुर्लभ है इसी प्रकार ब्रह्मलोकादिकी प्राप्तिका साधन कर्मोपासना भी तो दुर्लभ ही है।

दध्यङ—नहीं, कर्मोपासना दुर्लभ नहीं है क्योंकि बहुत-से ब्राह्मण कर्मोपासना यथार्थ जानते हैं, और कर्मोपासनाका अनुष्ठान करनेवाले बहुत-से ब्राह्मण हैं, श्रीकृष्ण भगवान‍्ने गीतामें अर्जुनसे कहा है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

अर्थात् हजारों मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और यत्न करनेवाले सिद्धोंमेंसे कोई एक मुझको यथार्थरूपसे जानता है। जिसके समान कोई भी दूसरा पदार्थ न हो, वह दुर्लभ कहलाता है। सुखके साधन शरीरादिमें और विषयजन्य सुखमें दुर्लभता नहीं है, शरीररूप जातियोंसे सब शरीर समान जातिवाले हैं, इसी प्रकार सुखत्वरूप जातिसे सब विषयजन्य सुख समान जातिवाले हैं। इसलिये संसारसम्बन्धी किसी पदार्थमें दुर्लभता नहीं है। ब्रह्मविद्या कार्यप्रपञ्चसहित अविद्याका नाश करनेवाली है, ब्रह्मविद्याके समान दूसरा पदार्थ नहीं है इसलिये ब्रह्मविद्या ही दुर्लभ है।

शरीरादि साधनोंकी समानता

हे अश्विनीकुमारो! स्थूल शरीर बिना सुख-दुःखका भोग नहीं होता। ब्रह्मलोक और विष्ठामें रहनेवाले सब जीवोंके स्थूल शरीर समान हैं। आत्मज्ञानरहित ब्रह्मलोकमें रहनेवाले जीवोंको विषय-इन्द्रियके सम्बन्धसे जैसा सुख होता है वैसा ही विष्ठामें रहनेवाले जीवोंको भी विषय-इन्द्रिय-सम्बन्धसे होता है, इसलिये सुख भी सर्वत्र समान ही है। हे अश्विनीकुमारो! वाक्, पाणि, पग, उपस्थ और पायु ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण; और प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान ये पाँच प्राण—ये सब सूक्ष्म शरीरके अवयव हैं। ब्रह्मलोकमें और मनुष्यलोकमें रहनेवाले सभी जङ्गम जीवोंके उपर्युक्त वागादि अवयव समान हैं। यद्यपि कितने ही स्थानोंमें अभिव्यक्तिकी न्यूनता तथा अधिकताके कारण विषमता प्रतीत होती है तो भी सूक्ष्म शरीरके अवयव जैसे मनुष्यादि जंगम-शरीरोंमें हैं इसी प्रकार वृक्षादि स्थावर-शरीरोंमें भी हैं, भेदमात्र इतना ही है कि जैसे मनुष्यादि जंगम-शरीरोंमें वागादिकी अभिव्यक्ति है, वैसी वृक्षादि स्थावरोंमें स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं है, तो भी वृक्षादि स्थावर-शरीर मनुष्यादि जंगम-शरीरोंके समान ही हैं।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! अभिव्यक्त इन्द्रियोंवाले मनुष्यादिके साथ अनभिव्यक्त वृक्षादि स्थावर-शरीरोंकी समानता कैसे हो सकती है?

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! अपने-अपने विषय ग्रहण करना, यह इन्द्रियोंका व्यापार है, ऐसे व्यापारयुक्त इन्द्रियोंको अभिव्यक्त कहते हैं और इस व्यापारसे रहित इन्द्रियोंको अनभिव्यक्त कहते हैं, मनुष्यादि जंगम-शरीरोंमें भी इन्द्रियोंकी अभिव्यक्ति कभी होती है और कभी नहीं होती। जैसे घरमें बैठा हुआ कोई पुरुष बाहरके अश्वके शब्दको सुनकर शब्दरूप हेतुसे बाहरके अश्वका मनसे अनुमान करता है, उस समय वागादि सब इन्द्रियाँ मनके कार्य करनेपर भी दूरके कारण अपने-अपने व्यापारसे रहित होती हैं। न्यून इन्द्रियोंवाले बहिरे, अन्धे तथा वृक्षादिको जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रियोंके बिना नहीं होता किन्तु इन्द्रियोंसे ... ादि

न्यून इन्द्रियवाले पुरुषोंकी नेत्रादि अभिव्यक्त इन्द्रियोंसे भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने व्यापारसे रहित होती हैं। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि बहिरे, अन्धे और वृक्षादिमें इन्द्रियोंका अभाव है, उनमें भी इन्द्रियाँ अवश्य हैं।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! सर्पमें कर्णरूप गोलक नहीं है, इसलिये सर्पमें श्रोत्र-इन्द्रियका अभाव क्यों नहीं है?

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! गोलकका अभाव होनेसे इन्द्रियका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि कितने ही शरीरोंमें तो नेत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकमें रहकर कार्य करती हैं और कितने ही शरीरोंमें एक गोलकमें दो इन्द्रियाँ रहकर अपना-अपना कार्य करती हैं। जैसे सर्पके चक्षु गोलकमें रहकर श्रोत्र तथा नेत्र-इन्द्रिय अपना-अपना कार्य करती हैं इसलिये सब शरीरोंमें वाक् आदि सूक्ष्म शरीरके अवयव रहते हैं इसलिये सुख-दुःखके साधनरूप वागादि इन्द्रियोंकी सर्वत्र समानता है।

सुख-दुःखरूप फलकी सर्वत्र समानता।

हे अश्विनीकुमारो! वाक् आदि एक इन्द्रियकी अभिव्यक्तिवाले तथा सर्व वाक् आदि इन्द्रियकी अभिव्यक्तिवाले मनुष्यादि जंगम तथा वृक्षादि स्थावरको जो सुख-दुःख होता है, वह केवल मनमें होता है, मनके सिवा अन्य किसीमें सुख-दुःख नहीं होता। यह सुख-दुःख एक इन्द्रियके व्यापारसे होता है अथवा अनेक इन्द्रियोंके व्यापारसे होता है, इसमें कोई नियम नहीं है और सुख-दुःखमें स्वरूपसे कोई विशेषता भी नहीं है। सब शरीरोंमें सुख-दुःख समान ही होता है। इन्द्रियोंसे मिलने योग्य शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें जिस पुरुषकी प्रीति होती है, उसको जब वह विषय प्राप्त होता है तो उस पुरुषके मनमें सुख उत्पन्न होता है और जिस विषयमें पुरुषका द्वेष है उस विषयकी जब प्राप्ति होती है तब उसके मनमें दुःख उत्पन्न होता है। आसक्तिरूप राग सुखका कारण है और द्वेष दुःखका कारण है। जैसे देवताओंको अपने शरीरमें प्रीति है इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमि आदि नीच जीवोंको अपने शरीरमें प्रीति होती है। इसी प्रकार दुःख देनेवाले अपकारी जीवोंपर देवता और कृमि आदि जीवोंके द्वेष समान हैं, इसलिये राग-द्वेषसे उत्पन्न हुआ सुख-दुःख सर्वत्र समान है। हरिनके मारनेमें प्रीतिवालेको हरिन मिलनेसे सुख होता है, गान सुननेमें *प्रीतिवालेको गानकी प्राप्तिसे सुख होता है, स्त्रीकी* कामनावालेको स्त्रीकी प्राप्तिसे सुख होता है, पुत्रकी कामनावालेको पुत्र मिलनेसे सुख होता है और भूखेको अन्नकी प्राप्तिसे सुख होता है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये। इस आसक्तिरूप रागसे सब शरीरोंमें समान सुख होता है।

...हे अश्विनीकुमारो! अनिष्ट वस्तु प्राप्त होनेसे एक इन्द्रियके व्यापारसे अथवा अनेक इन्द्रियोंके व्यापारसे मनमें जो दुःख होता है, वह भी सुखकी भाँति समान ही है, विष्ठामें रहनेवाले कृमिको मरणकालमें जैसा दुःख होता है वैसा ही दुःख मरणकालमें ब्रह्मलोकमें रहनेवालेको होता है, ब्रह्मलोकमें रहनेवाले ब्रह्माको विषयइन्द्रियके सम्बन्धसे जैसा सुख होता है वैसा ही सुख विष्ठामें रहनेवाले कृमिके विषयइन्द्रियके सम्बन्धसे होता है। जैसे ब्रह्मलोकमें ब्रह्माको सुखके साधन स्त्री-पुत्र-अन्नादि पदार्थ हैं इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमिको भी विषय-सुखके साधन स्त्री-पुत्र-अन्नादि पदार्थ हैं, जैसे ब्रह्मलोकमें रहनेवाला ब्रह्मा जन्म-मरणको प्राप्त होता है, इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाला कृमि भी जन्म-मरणको प्राप्त होता है। जैसे ब्रह्माको सुख-दुःखकी प्राप्ति करानेवाला अभिमान है, इसी प्रकार विष्ठामें रहनेवाले कृमि आदिको भी अभिमान है, विषय-जन्य सुखके साधन कृमिसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब शरीरोंमें हैं। इसलिये उनमें दुर्लभता

सम्भव नहीं है, ब्रह्मविद्या जन्म-मरणको निवृत्त करनेवाली है इसलिये ब्रह्मविद्या ही दुर्लभ है, ऐसी ब्रह्मविद्याका मैंने इन्द्रको उपदेश किया था किन्तु वह ब्रह्मविद्याका अधिकारी नहीं था। इसलिये मेरा उपदेश सुनकर वह क्रोधमें भर गया और मुझे गुरु-दक्षिणा देने लगा कि 'तुम यह उपदेश किसीको मत करना, यदि स्नेहवश तुम ऐसा करोगे तो मैं तुम्हारा सिर काट डालूँगा।' इन्द्रकी यह आज्ञा मैंने मान रक्खी है इसलिये तुमको ब्रह्मविद्या उपदेश करनेमें मुझे चिन्ता होती है।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! यदि आपने इन्द्रको वचन दे दिया है तो आप हमको किसप्रकार उपदेश कर सकेंगे? यदि आप ब्रह्मविद्याका उपदेश करेंगे तो इन्द्रको दिया हुआ आपका वचन मिथ्या हो जायगा और यदि आप उपदेश करेंगे तो हमसे की हुई आपकी प्रतिज्ञा भंग हो जायगी।

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! मैंने पूर्वमें तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश करनेका वचन दिया था और अब मैंने इन्द्रको वचन दिया है कि मैं किसीको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करूँगा। परन्तु इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। मैंने इन्द्रको यह नहीं कहा है कि मैं किसीको उपदेश ही नहीं करूँगा। यही कहा है कि यदि मैं किसीको उपदेश करूँ तो तुम मेरा सिर काट डालना। इसलिये तुमको उपदेश करनेमें मुझे कोई रुकावट नहीं है, मैं अपना वचन सत्य करनेके लिये तुमको अवश्य ब्रह्मविद्याका उपदेश करूँगा।

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! क्या उपदेश करनेमें इन्द्रके वज्रसे मृत्यु होनेका आपको भय नहीं है?

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! मरनेका मुझे भय नहीं है क्योंकि संसारमें जिसका जन्म हुआ है उसका किसी-न-किसी निमित्तसे मरण अवश्य होता है। मिथ्या बोलनेकी अपेक्षा धनका नाश होना, स्त्री-पुत्रादि बान्धवोंका त्याग कर दिया जाना और मृत्यु हो जाना कहीं श्रेष्ठ है, अतः मिथ्या वचन कभी नहीं बोलना चाहिये। मुझे मरनेका सोच नहीं है परन्तु मरणको तुच्छ माननेपर भी मैं तुम्हें उपदेश नहीं कर सकूँगा इसका मुझे सोच है क्योंकि मैं ज्यों ही तुम्हें उपदेश देनेको तैयार होऊँगा त्यों ही इन्द्र आकर मेरा सिर काट डालेगा और मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या हो जायगी। तुम दोनों बुद्धिमान् हो, यदि तुम इसका कोई उपाय जानते हो तो कहो!

अश्विनीकुमार—हे भगवन्! आप इन्द्रसे भय न कीजिये, क्योंकि हम अङ्गोंको जोड़नेवाली सञ्जीवनी विद्या जानते हैं। हमारी विद्याके प्रभावसे इन्द्रका वज्र निष्फल हो जायगा। हम एक उपाय और भी कर सकते हैं, जिससे आपकी मृत्यु ही न हो और हमको ब्रह्मविद्या भी मिल जाय। यह जो घोड़ा पास खड़ा है, हम इसका सिर और आपका सिर काटकर इसका सिर आपके धड़पर रख देंगे और आपका सिर इसके धड़पर रख देंगे। जब इन्द्र आपका सिर काट डालेगा तो हम आपका सिर आपके धड़पर रख देंगे और घोड़ेका सिर अश्वके धड़पर रख देंगे और दोनोंको सजीव कर देंगे, ऐसा करनेसे न तो आपका मरण होगा, न घोड़ेका। इधर हमें ब्रह्मविद्या भी मिल जायगी और गुरु-हिंसा भी न होगी एवं आपका वचन भी मिथ्या न होगा।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार कहकर जैसे निर्दय पुरुष पशुका सिर काटता है इसी प्रकार तुमने अपने गुरुका और घोड़ेका सिर काटकर घोड़ेका सिर ऋषिके धड़पर रख दिया और ऋषिका सिर घोड़ेके धड़पर रख दिया, इसप्रकार हयग्रीवसंज्ञाको प्राप्त हुए तुम्हारे गुरु चित्त-शुद्धिके साधनरूप कर्मोपासनाका तुमको उपदेश करने लगे।

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! जबतक चित्त शुद्ध न हो तबतक कर्मोपासना करनी चाहिये, चित्त शुद्ध होनेके पश्चात् कर्मोपासनाकी अपेक्षा नहीं इसलिये चित्तशुद्धिके बाद कर्मोपासनाका

देना उचित है, फिर केवल वेदान्तशास्त्रका विचार ही करना योग्य है।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! इतना कहकर तुम्हारे गुरुने जिस ब्रह्मविद्याका इन्द्रको उपदेश किया था, उसीका तुमको उपदेश किया और उपदेश समाप्त होनेपर वह यों कहने लगे—

दध्यङ—हे अश्विनीकुमारो! इसके बाद अब कोई भी ऋषि निःशङ्क होकर अपने शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करेगा। कौषीतक आदि ऋषि शङ्कायुक्त होकर अपने शिष्योंको ब्रह्मविद्याका उपदेश करेंगे क्योंकि हाथमें वज्र लिये इन्द्र मुझे मारनेके लिये आकाशमें खड़ा है और विचार कर रहा है कि यह ब्राह्मण मेरी आज्ञाका उल्लंघन करके समग्र ब्रह्मविद्याका उपदेश कर रहा है। जब यह उपदेश कर चुकेगा तो मैं इसका सिर काट डालूँगा। अब वह अवश्य मेरा सिर काटेगा और मेरा सिर कटा देखकर समस्त ब्राह्मण डर जायँगे। इन्द्रसे भय पाये हुए ब्राह्मण अपने प्रिय पुत्रोंको भी सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश नहीं करेंगे, केवल कौषीतकी आदि अर्ध विद्याका उपदेश करेंगे। जब कोई ऋषि तप करेगा तो वह तपसे परमात्माको प्रसन्न करके परमात्माके अनुग्रहसे ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा। उसको भी इन्द्रका थोड़ा-सा भय तो अवश्य रहेगा अर्थात् सूर्यके समान तेजवाला सूर्यका शिष्य याज्ञवल्क्य मुनि है, उसके सिवा सब ऋषि भयको प्राप्त होंगे, केवल याज्ञवल्क्यमुनि इन्द्रसे भय न मानकर अपने शिष्योंको सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश करेगा।

ऋषि—हे अश्विनीकुमारो! इसप्रकार जब तुम्हारे गुरु दध्यङऋषि तुमको ब्रह्मविद्याका उपदेश कर चुके तब इन्द्रने आकर उसी क्षण तुम्हारे गुरुका सिर काट डाला, सिरको भूमिपर पड़ा देखकर तुमने उसको घोड़ेके धड़पर रख दिया और ... सिर उतारकर ऋषिके धड़पर रख दिया। जिस विद्याके लिये तुमने गुरुका सिर काटने-सरीखा अनुचित कार्य किया था, उसी विद्याको मैं तुमसे संक्षेपसे कहता हूँ, सुनो—

हे अश्विनीकुमारो! जैसे कोई महाराजा अपने निवासके लिये पहले विशाल पुरी बसाता है इसी प्रकार जगत्के कारणरूप परमात्माने प्रथम समष्टिशरीररूप महान् पुरी उत्पन्न की। पश्चात् व्यष्टिशरीररूप अनन्त पुरियाँ रचीं। उनमेंसे कई शरीर (गाय आदि) चार पैरवाले बनाये, कई शरीर दो पगवाले (मनुष्यादि) बनाये, कितने ही अनेक पगवाले, कितने ही एक पगवाले और कितने ही बिना पगवाले (सर्पादि) बनाये। पश्चात् पक्षी जैसे अपने शरीरको सिकोड़कर घोंसलेमें घुसता है इसी प्रकार परमात्माने भी परिच्छिन्नताका अभिमानरूप अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप धारण करके शरीररूप पुरीमें प्रवेश किया। हे अश्विनीकुमारो! यह आनन्दस्वरूप आत्मा सब शरीररूप पुरियोंमें निवास करता है इसीलिये आत्माको शास्त्रमें पुरुष कहते हैं अथवा परमात्मा अस्ति, भाति और प्रियरूपसे सर्व शरीररूप पुरियोंको पूर्ण करता है इसलिये आत्माको श्रुति पुरुष कहती है। जैसे सब घट-मठादि पदार्थ भीतर और बाहर आकाशसे व्याप्त हैं इसी प्रकार सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म प्रपञ्च भीतर और बाहर परमात्मारूप पुरुषसे व्याप्त है। जैसे तन्तुओंसे बना हुआ पट तन्तुओंमें रहता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् आत्मासे बना हुआ आनन्दस्वरूप आत्मामें रहता है। जिस आनन्दस्वरूप आत्माने पूर्वके सब शरीरोंमें प्रवेश किया था, वही आनन्दस्वरूप आत्मा अब भी तुम्हारे, हमारे और सब प्राणियोंके हृदयमें विशेषरूपसे जाननेमें आता है। जैसे, जो जल पूर्वके घटमें प्रवेश करता है, वही जल मध्यकालमें घटमें प्रवेश हुआ जाननेमें आता है। जल स्वभावसे एक रूपवाला है तो भी स्थूल घटमें रहा हुआ जल स्थूल कहलाता है, और सूक्ष्ममें रहा हुआ सूक्ष्म कहलाता है, अग्निसे तपा हुआ जल तप्त कहलाता

है, शीतल घटमें रहा हुआ शीतल कहलाता है धूलसे भरे घड़ेमें रहा हुआ मैला कहलाता है, सुगन्धवाले कलसमें सुगन्धित कहलाता है, दुर्गन्धवाले घड़ेमें दुर्गन्धवाला कहलाता है, वायुसे चलायमान हुए घटमें चलायमान कहलाता है, निश्चल घटमें रक्खा हुआ जल निश्चल कहलाता है, सूर्यसे प्रकाशित घटमें प्रकाशवाला कहलाता है और अन्धकारवाले घटमें अन्धकारवाला कहलाता है। इसप्रकार जिस-जिस उपाधिके साथ जलका सम्बन्ध होता है, उसी-उसी उपाधिके स्वरूपवाला जल प्रतीत होता है। इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा भी स्थूल शरीरके तादात्म्य-सम्बन्धसे अपनेको स्थूल, सूक्ष्मके तादात्म्य-सम्बन्धसे सूक्ष्म, जडके तादात्म्य-सम्बन्धसे जड, बुद्धिमान् शरीरके सम्बन्धसे बुद्धिमान्, धनके सम्बन्धसे धनी, निर्धनके सम्बन्धसे निर्धनी, देवता आदि उत्कृष्ट शरीरके सम्बन्धसे उत्कृष्ट, नीच शरीरके सम्बन्धसे नीच और सुख-दुःखके सम्बन्धसे सुखी-दुखी मानने लगता है। यों अनन्त प्रकारकी शरीरादि उपाधियोंके धर्म अज्ञानसे मोहित हुआ आत्मा अपनेमें मानकर सुखी-दुखी होता रहता है।

जैसे विषयासक्त कामी पुरुष कामिनीके धर्मोंको अपनेमें मान लेता है यानी कामिनीको चिन्तातुर देखकर आप चिन्तातुर होता है, उसको दुखी देखकर आप दुखी होता है और उसको प्रसन्न देखकर आप प्रसन्न होता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि बुद्धि आदिके सुख-दुःखादि धर्मोंसे रहित है तो भी अज्ञानके किये हुए तादात्म्य-सम्बन्धसे बुद्धि आदिके सुख-दुःखादि धर्मोंको अपनेमें मानता है। परमात्मा आदिकालमें आकाशादि पञ्चभूतोंको, उन भूतोंके कार्यशरीरोंको और शब्दप्रपञ्चको उत्पन्न करता है और उन सब पदार्थोंके साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त होकर उनके भिन्न-भिन्न नाम करता है। परमात्मा वाक् आदि इन्द्रियोंके साथ और उनकी प्रेरक बुद्धिके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त होकर वचन-उच्चारणादि नाना प्रकारके व्यवहार करके वाक् आदि रूप होता है और 'मैं' 'तू' अन्य प्राणी इत्यादि अनन्त रूपोंको प्राप्त होता है। वस्तुतः भेदरहित असंग आत्मा जो अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न करता है, वह अपना स्वभाव बतलानेके लिये करता है यानी परमात्मा सब जगत्को उत्पन्न करके उसको अपने आत्मरूपसे देखता है। इसलिये परमात्मा इन्द्र संज्ञाको प्राप्त होता है। इन्द्र संज्ञा जगत्की उत्पत्ति बिना सम्भव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः भेदरहित परमात्मा अनेक प्रकारके भेद उत्पन्न करता है।

(क्रमशः)

चेतावनी

रुचिर रसना तू राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत॥
बिनु स्रम कलि-कलुष-जाल, कटु कराल कटत।
दिनकरके उदय जैसे तिमिर-तोम फटत॥
जोग जाग जप बिराग तप सुतीर्थ अटत।
बाँधिबेको भव-गयन्द रेनु कि रजु बटत॥
परिहरि सुर-मुनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि 'तुलसि' तोहि हटत॥

भगवत्परा-भक्ति

(लेखक—पं० श्रीहरिचन्द्रजी शास्त्री)



संसारमें धन-दौलत, स्त्री-पुत्र और मान-सम्मानकी इच्छासे भक्ति करनेवाले जीव तो आपको बहुत मिलेंगे। पर भगवान्‌की निर्हेतुकी भक्ति करनेवाले भक्त विरले ही हैं। आज एक परम भक्तिमती देवीके उदाहरणद्वारा यथाशक्य उक्त परा-भक्तिका प्रतिपादन किया जायगा।

भक्ति-प्रतिपादक शास्त्रोंमें 'माहात्म्य-ज्ञान-पूर्वक सर्वतोऽधिक दृढ़ स्नेह' को ही भगवान्‌की परा-भक्ति कहा गया है। जबतक अपने सेव्यस्वरूपके माहात्म्यका ज्ञान न हो तबतक सेवामें नाना प्रकारके दोषोंका समावेश हो जाना सम्भव है। माहात्म्य-ज्ञान हो जानेके पश्चात् प्रभुमें स्नेहाङ्कुरकी उत्पत्ति होती है। उसकी परिपक्व दशाका नाम भगवत्परा-भक्ति है। जैसे भगवान्‌के प्राकट्य-समय श्रीदेवकीजीने भगवान्‌के माहात्म्यको समझकर उनकी स्तुति की थी। उसके पश्चात् स्नेहकी उत्पत्ति हुई। इसी कारण वात्सल्यसे उसे कहना पड़ा कि मैं अधीरबुद्धि आपके ही कारण कंससे डर रही हूँ। प्रातःस्मरणीया बड़भागिनी गोप-बालाओंने भी मानव-शक्तिसे बहिर्भूत अपने परम प्रिय बालमुकुन्दको बड़े भारी श्रीगोवर्द्धन उठाते और रखते देखा। इसलिये उन्हें वन्दन तथा अर्चनादि करना चाहिये था। परन्तु उन्होंने वैसा न करके उसके स्थानपर स्नेह-रस-पूर्ण दो दहीसे तिलक करके गौकी पूँछको फिराया।

माता जिसप्रकार सुख-मङ्गलके स्थान अपनी सन्तानका कल्याण चाहती है, उसी प्रकार भक्त भी अपने भगवान्‌का सुख-मङ्गल चाहते हैं। इसके सिवा किसी पदार्थकी उन्हें अभिलाषा नहीं होती। मुक्तिसे भी उन्हें घृणा है। क्योंकि मुक्तिकी दशामें प्रियके सुखकी सँभाल नहीं की जा सकती। श्रीउद्धवजीने जब गोपियोंसे कहा कि मनको एकाग्रकर जगदीशके ध्यानद्वारा मुक्ति प्राप्त करो, तब श्रीउद्धवजीको इन्हीं गोपियोंने कहा था—

> ऊधो मन न भये दस-बीस।
> एक हुतो सो गयो स्याम सँग कौन भजे जगदीस॥
> भुक्ति-मुक्ति कछुवै नहिं जानैं नहीं ईससों नेह।
> नन्द-नँदनके कारन ऊधो तजै सकल सुखगेह॥

बस यही भगवत्परा-भक्ति है।

संसारके भोगोंके लिये भजन करनेवालोंको अभिलषित वस्तुएँ तो मिल जाती हैं, पर उन्हें न ऐसी परा-भक्ति मिलती है और न भगवान्‌की प्राप्ति ही होती है। उन्हें यदि मनमानी लौकिक वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती तो वे भगवद्भजन भी त्याग देते हैं। ऐसे जीवोंकी स्वार्थ-भक्ति है।

तात्पर्य यह है कि उन विषय-प्रेमी मनुष्योंके भगवान्‌को कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, उन्हें तो अपने मनमाने सुखसे प्रयोजन है। परन्तु स्नेही भक्तोंकी बात ही कुछ निराली है। उनपर चाहे कष्टोंके पहाड़ ही क्यों न टूट पड़ें पर वे अपने भगवान्‌को तनिक-सा भी परिश्रम नहीं देंगे। बल्कि वे इसी चाहमें रहेंगे कि यदि हमें प्राणेशके लिये अपना तन-मन सर्वस्व निछावर करना पड़े तो हमारा अहोभाग्य है। और प्राणनाथ यह जानने भी न पावें कि यह कार्य किसने किया है।

ऐसा उच्च भक्ति-भाव विरले महात्मामें ही हुआ करता है। इसी प्रकारकी एक भावुका परम भाग्यवती वृद्धा देवीकी कथा सुनिये।

महाभारतका युद्ध समाप्त हो चुका है पाण्डव अभी कुरुक्षेत्रमें हैं। विजयलक्ष्मी पाण्डवोंकी अङ्कलक्ष्मी बन चुकी है। इनके शिविरमें बजती विजय-दुन्दुभियाँ दिक्पालोंके हृदयोंको कम्पित कर रही हैं। ऐसे समय विजयी कपिध्वज अर्जुन अपने परमसखा श्रीकृष्णके सारथित्वमें सुरम्य रथपर आरूढ़ हो स्वच्छन्द वायु-सेवनार्थ बाहर निकले हैं। उनकी विजयतरणिकी किरणें आज प्रफुल्लित मुखसे उद्गत हो उष्णरश्मिकी रश्मियोंको भी पराजित कर रही हैं। जगन्नेत्र मित्र भी श्रीकृष्णमित्र पुत्र-शत्रुको विजयसे प्रसन्न देख लज्जावनतवदन हो अस्ताचलमें छिपनेकी चेष्टा कर रहे हैं। वनके विकसित, कमनीय कुसुमोंकी सुरम्य सुगन्ध लिये शीतल अनिलदेव भी रथके ऊपर आनन्दसे विराजमान निजनन्दन हनूमान्‌जीके लाल-भालको सस्नेह सूँघते हुए लाल ध्वजालतिकाको लहरा रहे हैं। खग-निकर भी कलकूजनसे विजयोन्मत्त अर्जुनके गीत गाते, सर्वतः परिष्कृत मार्गके दोनों ओर पङ्क्ति-बद्ध हरित वृक्षावलियोंपर आ रहे हैं। रणबाँकुरे कौन्तेय अपने परम सुहृद् सहृदय गुणमन्दिर दामोदरके साथ समर-चातुर्यकी चर्चा कर रहे हैं। चतुर-शिरोमणि भगवान् भी सखा अर्जुनकी पेटभर प्रशंसा कर रहे हैं।

बातों-ही-बातोंमें अर्जुनको अपने सारथि विश्वमोहन मोहनके विश्वरूपदर्शनका स्मरण हो आया। वह विचारने लगे। मुझ-जैसा भाग्यशाली और कौन हो सकता है, जिसके सारथि साक्षात् विश्वेश हृषीकेश हों। इन्हींके शौर्यसे मैंने भीष्म-द्रोण-कर्णादि महारथियोंको बात-ही-बातमें समर-सेजपर सदाके लिये सुला दिया। जिन प्रभुने जयद्रथ-वधके समय अद्भुत चमत्कार दिखाया, वही योगियोंको भी दुष्प्राप्य, प्रतापी, सर्वनियन्ता, अन्तकान्तक प्रभु मेरे भृत्य बनकर सर्वकृत्य करनेको उद्यत हों, यह कोई कम भक्तिकी बात है? संसार जानता है कि अर्जुन-जैसा परम भक्त दूसरा कोई नहीं।

अपने मित्रके गर्वकलुषित अन्तःकरणको सर्वान्तर्ज्ञाता, त्रिभुवनत्राता, भक्तोंके हृदयका दोषमल क्षणमें हरण करनेवाले, राधारमण विहारीने जान लिया। सुरभूषणके निर्दूषण भक्तमें यह दूषित-दूषण क्यों? इसे हटाना चाहिये। यह विचारकर लीलाधारी गिरिधारीने एक लीला रची। तत्काल ही अर्जुनको जोरसे प्यास लगी। परन्तु जल कहीं नहीं दिखायी दिया।

प्यासे पार्थने कहा—जगद्वन्द्य! माधव! मैं तृषाके मारे व्याकुल हो रहा हूँ। शीघ्र ही किसी जलाशयकी ओर चलिये।

गोविन्दने तुरन्त रथको रोक दिया और अंगुलीसे बताकर कहा—देखो, कुछ दूरपर उत्तरकी ओर सामने एक फूँसकी छोटी-सी झोंपड़ी दिखायी दे रही है। वहाँ मेरी एक निर्धन भक्ता रहती है। वहीं चले जाओ। तुम्हारी प्यास वहाँ शान्त हो जायगी। परन्तु स्मरण रहे, उसे अपना नाम-धाम न बताना। मैं रथ लिये यहीं तुम्हारी प्रतीक्षा करूँगा।

अर्जुन प्यासके मारे घबड़ा रहे थे। दौड़े, और शीघ्र ही वहाँ पहुँच गये। जाते ही मन प्रसन्न हो गया। स्वच्छ भू-भागमें बड़ी कुशलताके साथ लगाये हुए सुन्दर, सुगन्धित, रंग-बिरंगे पुष्पोंसे सम्पन्न पादपावलियोंकी क्यारियोंके मध्य-प्रदेशमें स्थित हरे रंगके कागजपर चिपके स्वर्ण-लवङ्ग-जैसे सुरम्य-तृण-कुटीरको निरीक्षणकर स्वर्गीय सुखका अनुभव करने लगे। और धीरे-धीरे झोंपड़ीके द्वारपर पहुँच गये।

आहट पाकर भीतरसे लगभग सत्तर वर्षकी एक वृद्धा बाहर निकली। उसके अद्भुत तेजको देख अर्जुन दङ्ग रह गये। स्नेह-भरी हँसी उसके होठोंपर थिरक-थिरक नाच रही थी। उसके झुर्रीदार चेहरेपर

दिव्य आत्म-ज्योति छिटक रही थी। रोबीली-चमकीली आँखे गड़ाकर वह बोली—क्या तुम अर्जुन हो ?

अपराधीकी भाँति काँपते हुए अर्जुनने भगवान्‌के आदेशका स्मरणकर कहा—मैया ! मैं तो एक प्यासा कृष्ण-भक्त पथिक हूँ।

'बहुत अच्छा, आओ, भीतर आकर इस दीनाकी कुटियाको अपने चरण-रजसे पवित्र करो। मैं भूली, तुम सचमुच मेरे कृष्णके भक्त हो ! मेरे श्यामके प्यारे हो ! आओ ! आओ ! मैं बलैया लूँ।' यह कहती हुई स्नेह-विह्वला देवी उन्हें भीतर ले गयी। उनके चरण धोये और एक उत्तम कुशासनपर बैठाकर स्वयं प्रिय अतिथिके आतिथ्यका आयोजन करने लगी।

सुखासीन किरीटीने कुटीरमें चारों ओर दृष्टि घुमायी। पूजा-अर्चाकी पवित्र सामग्रीके साथ ही कुटियामें दो-तीन चमचमाती नंगी तलवारें, परिष्कृत परिघ, तीक्ष्ण-से दो-एक कुल्हाड़े और बिजली-जैसी चमकदार कुछ बर्छियाँ आदि हथियार सजाकर रक्खे हुए देखकर अर्जुनको बड़ा आश्चर्य हुआ।

इतनेमें कदली-दलपर छिले हुए मधुर कदली-फल तथा जलका कमण्डलु लिये वृद्धाने भी दर्शन दिये।

कातर-दृष्टिसे विनयपूर्वक अर्जुन बोले—तुम-जैसी परम दयामयी, स्नेहमयी भगवद्भक्त देवीके आश्रममें ये तीक्ष्णतर शस्त्र क्यों माताजी ?

'तुम जल-पान करो। क्षमा करो, यह किसी विशेष कामके लिये रक्खे हैं। बताना उचित नहीं।'

'नहीं माँ ! मैं अवश्य पूछूँगा, नहीं बतलाओगी तो मैं प्यासा ही चल दूँगा। मेरी भी दृढ़ प्रतिज्ञा है।'

'अच्छा तो सुनो। मैं इन्हें यहाँ इसलिये रखती हूँ कि कहीं भक्तिके अभिमानमें प्रमत्त अर्जुन, द्रौपदी और ..... आदि मुझे मिल जायँ तो इन तीक्ष्णधार शस्त्रोंके द्वारा उनके मांसकी बोटियाँ नोच-नोचकर कुत्ते और चीलोंके आगे डाल दूँ।'

अर्जुन विस्मय और भयमें डूब गये, पर सँभलकर बोले—'उन बेचारे भगवद्भक्तोंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम इतनी क्रुद्ध होकर उनका जीव लेनेपर उतारू हो रही हो ?'

वृद्धाने रो दिया। वह व्यथित चित्तसे बोली—'बेटा ! उन स्वार्थियोंको भी तुम भक्त मानते हो ? जिस द्रौपदीने केवल नग्न हो जानेके भयसे मेरे नयनाभिराम श्यामको; मेरे प्राणप्यारे विहारीको द्वारकासे नंगे पैर दौड़नेको बाध्य किया। क्या हो जाता यदि सभामें वह नग्न कर दी जाती। क्या नग्न होकर नहीं आयी थी ? नंगी होकर न जायगी ? बड़ी भक्ति कर डाली।

और देखो ! आषाढ़-मासके दुपहरका समय हो, प्रचण्ड सूर्य ऊपरसे आग बरसा रहा हो, नीचे वसुन्धरा भी तपे लोहेके समान चिनगारियाँ उगल रही हो, ऐसे समय जरा बाहर तो निकलकर देखो, शरीर झुलस जाता है। पक्षी भी उस समय घोंसलोंसे बाहर नहीं झाँकते। हाय ! ऐसे समयमें उस दुष्टा द्रौपदीके कारण मेरे प्यारे गोपालको, जिसके गो-चारणके समय परमभक्ता गोपियाँ वन-भूमिको कठिन समझकर प्रियतमके मार्गमें अपना हृदयपद्म बिछा देनेको तरसती थीं, उस कमलदलवत् कोमल चरणोंवाले नन्द-लालको केवल दुर्वासाके शाप-भयसे दौड़कर आना पड़ा। क्या इसीको भक्ति कहते हैं ?

अब उत्तराकी कथा सुनो। क्या हो जाता यदि उसका गर्भ ब्रह्मास्त्रसे दग्ध हो जाता। पर उसने मेरे मनोमन्दिरके सुन्दर ठाकुरको साग्रह बुलाकर अपने बच्चेकी तो रक्षा कर ली और हाय ! मेरे प्यारेको उसने धधकती आगवाले अस्त्रके आगे ढकेल दिया।

अच्छा ! अब उस घमण्डी अर्जुनकी बात सुनो ! मैया यशोदाके स्नेह-नवनीतसे पालित कोमल कमनीय कलेवर, मन्मथमथन, विश्व-मन-मोहन मेरे श्यामको, हाय ! आनन्दकन्द व्रजचन्दको, जिसका मधुरतर वंशीरव सुनकर जड़-चेतन भी स्थिर होकर अपने आपको न्योछावर कर देते हैं, कठिन समर-भूमिमें रथके आगे निरस्त्र बैठाकर बड़े-बड़े महारथी भीष्म-द्रोणादि वीरोंके तीक्ष्ण तीरोंका लक्ष्य बनाया। केवल राज्यके लोभसे ! हाय ! मैं कौन-कौन-सा दुखड़ा रोकर सुनाऊँ ? मेरा कलेजा चलनी बन चुका है। मेरे प्राणधनको क्या-क्या कष्ट नहीं पहुँचाये गये। यह क्या भक्तोंका हृदय है ? ऐसे स्वार्थी भक्तिका दुरुपयोग करनेवाले पाषाणहृदय भक्ताभिमानियोंसे मैं क्योंकर बदला न लूँ ? मेरे ये आयुध क्यों न उनका रुधिर चाटें। कभी तो वे इधर आवेंगे ही।' यह कहकर वृद्धा सिसकियाँ भर-भरकर रोने लगी।

अर्जुन भी पश्चात्तापकी अनवरत अश्रुधाराओंसे अभिमानपङ्किल चित्तको धो रहे थे, उनके मर्मस्थलको अनुतापके सैकड़ों बिच्छू एक साथ डस रहे थे। वे गद्गद्-वाणीसे बीच-बीचमें केवल 'मेरी मैया ! हा मैया !' कह रहे थे।

रोती हुई वृद्धा आँसू पोंछकर फिर बोली—देखो, इसे भक्ति नहीं कहते। यह तो स्वार्थ है। भक्तोंका हृदय नवनीतसे भी अधिक कोमल होता है। अपने प्यारेके लिये सर्वदा सच्चा स्नेह हो। उसीके सुखसे सुखी होनेका सहज स्वभाव हो। उसके लिये सिर भी कुर्बान कर दिया जाय। अपने सुख-मङ्गलके लिये तो प्रभुके आगे प्रार्थनाकी इच्छा भी न होनी चाहिये। केवल उसीके सुखकी इच्छा हो। उसका सुख ही तो अपना परमसुख है। नश्वर देहादि पदार्थोंके लिये प्रियतमको कभी परिश्रम नहीं देना चाहिये। इन्हीं लक्षणोंवाला भक्त होता है। यही भगवत्परा शुद्ध भक्ति है।

सिसकते हुए अर्जुनने वृद्धाके चरण पकड़कर कहा—'धन्य हो माँ! आपके इस अनुपम उपदेशसे मैं कृतार्थ हो गया। आशीर्वाद दो मैया ! मैं भी तुम्हारी तरह अपरिमित स्नेहसे अपने भगवान्‌को रिझा सकूँ।' इसप्रकार कुछ देर परस्पर बातें होती रहीं, तदनन्तर वृद्धाके आग्रहसे जल-पान करके अर्जुन चल दिये।

अर्जुनके अभिमानका नशा उतर चुका था। प्यास तो केवल प्रभुकी लीला ही थी। इस समय वह अपने आपको महानीच समझकर धिक्कार रहे थे। श्यामसुन्दरके पास पहुँचकर, उनके चरणोंको पकड़ लगे अपने आँसुओंसे धोने। अर्जुनने रोते हुए कहा—'क्षमा करो भगवन् ! मैं बड़ा पातकी हूँ, मेरे स्वामी ! मेरे हृदयके चन्द्र ! मेरे भाग्यसूर्य ! मैंने स्वार्थमें आकर तुमको बड़े-बड़े कष्ट दिये हैं। जिनका कोई प्रायश्चित्त नहीं। तुच्छ सेवकका कृपा-बलसे उद्धार करो प्रभो !'

मन्दस्मित दामोदरने अपनी विशाल भुजलतिकाओंसे परमसखाको उठाकर हृदयसे लगाते हुए कहा।

'क्यों पार्थ ! क्यों कौन्तेय ! इतने कातर क्यों ? कहो क्या हुआ भाई ! तुम-जैसे वीरोंको इतना खिन्न नहीं होना चाहिये।'

दोनों रथपर आरूढ़ हो चल दिये। अर्जुनने कहा 'धन्य प्रभो ! तुम्हारी बड़ी विचित्र लीला है। तुम्हारी अप्रमेय कृपा-शक्तिके बिना ऐसी दृढ़ स्नेह-भक्ति दुष्प्राप्य है। करुणा करो करुणावरुणालय दीनानाथ ! मेरी मनभूमिपर उगे हुए पाप-कण्टकोंको अपने कृपाबलरूपी हलसे निकालकर सच्ची भगवत्परा-भक्तिका बीज बोकर स्नेहाङ्कुरकी उत्पत्ति कर दो मेरे प्यारे दक्ष कृषक ! कृष्ण !'

बोलो लीलाधारी श्याममुरारीकी जय !



ईश्वर एक है

(लेखक—पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित 'वेदान्तभूषण')



अनन्त विश्वकी अनन्त शक्तियाँ हैं; पर उन सबपर शासन करनेवाला ईश्वर एक ही है। जैसे सम्पूर्ण साम्राज्यका सर्वोपरि शासक एक सम्राट् ही है; ठीक वैसे ही अखिल ब्रह्माण्डका सर्वश्रेष्ठ शासक एक ईश्वर ही है। कठोपनिषद्की षष्ठ वल्लीमें कहा है कि यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वरके नियमद्वारा सञ्चालित है। अतः उनके महान् भयसे भीत हुए सब देव अपने-अपने कार्यमें तत्पर रहते हैं। जैसे वज्र हाथमें लिये अपने स्वामीको सम्मुख देखकर सेवकगण अपने-अपने कार्यमें लगे रहते हैं और नियमानुकूल उनके शासनमें वर्तते हैं, ठीक वैसे ही ये चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारागणादि विश्वके समस्त देव एक ईश्वरके नियममें सदैव चलते रहते हैं। बिना उनकी आज्ञाके एक क्षण भी विश्राम नहीं ले सकते—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

'परमेश्वरके भयसे अग्नि प्रज्वलित होता है, ईश्वरके भयसे सूर्य तपता है, उन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता रहता है।' यही कारण है कि आगका गोला-सा प्रतीत होनेपर भी सूर्य सदैव ठीक समयपर पूर्व और पश्चिम दिशामें दिखलायी पड़ता है। चन्द्रमा बराबर नियमसे घटता और बढ़ता रहता है। ग्रह अपनी चालसे बराबर चलते रहते हैं। अतः समझना चाहिये कि इन सबका सञ्चालन करनेवाली ईश्वरीय शक्ति उनमें अवश्य ही वर्तमान है। और उसी ईश्वरीय शक्तिद्वारा सब अपने-अपने कार्यको यथासमय करते रहते हैं।

जो ईश्वर अनन्त शक्तियोंका सञ्चालनकर संसारका नियमन करता है और जिसके भयसे सब देवता अपने-अपने कर्तव्योंका पालन करते हैं वह ईश्वर कौन है? उसका क्या स्वरूप है? वे किसप्रकारसे जाने जा सकते हैं? सम्पूर्ण विश्वमें वे किस रूपसे विराजमान हैं? और उन परमेश्वरके दर्शन कैसे किये जा सकते हैं? इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करना इस लेखका उद्देश्य है, अतएव सर्वप्रथम 'ईश्वर कौन है और उनका क्या स्वरूप है?' इसपर विचार किया जाता है।

सबका शासन करनेवाले सच्चिदानन्दघन सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नारायण हैं वही ईश्वर हैं। उनके स्वरूपको बतलाते हुए पञ्चदशीकार कहते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत्।
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम्॥
शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका।
आनन्दमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु॥
वस्तुधर्मा नियम्येरञ्छक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु॥
चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा।
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्॥

'जो सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म वस्तु है उसीकी पारमार्थिक लोकप्रसिद्ध ईश्वरत्व और जीवत्व दो उपाधियाँ कल्पित हैं। उनमें ईश्वरोपाधिभूत शक्तिको यहाँ बतलाते हैं। जो ईश्वरसम्बन्धिनी सदसत्त्वादिरूपसे निर्मुक्त, अशक्य तथा सर्व वस्तुकी नियामिका शक्ति है अर्थात् पृथिवी आदि सम्पूर्ण नियम्य वस्तुओंकी नियमन करनेवाली शक्ति है। वही ईश्वर है। यह आनन्दमयसे प्रारम्भ होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी वस्तुओंमें गुप्तरूपसे वर्तमान है।

यदि उपर्युक्त ईश्वरीय शक्ति पृथिवी आदि पदार्थोंके काठिन्यादि धर्मोंको व्यवस्थित करके न रक्खे तो उन वस्तुओंके धर्मोंका सांकर्य होना सम्भव है। और जहाँ सांकर्य हुआ कि जगत्में उथल-पुथल मचा, फिर जगत्का निश्चय ही अनियमित व्यवहार हो जाता है। इससे जगत्के पदार्थोंकी शक्तियोंका नियमितरूपसे सञ्चालन करनेवाली जो महती शक्ति है वही ईश्वरीय शक्ति है। चेतन-शक्तिके उपाधि-संयोगसे सच्चिदानन्द परब्रह्म ही ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञत्वादि धर्मको प्राप्त होता है।' इसीसे पाणिनीय व्याकरणमें 'ईश्वर' शब्दको इसप्रकार सिद्ध किया है। यथा—

ऐश्वर्यार्थवाचकात् 'ईश' धातोः स्थेशभासपिसकसो वरच् (पा० सू० ३।२।१७५) इति सूत्रेण कर्तरि वरचि चकारस्येत्संज्ञालोपयोः कृतयोः 'ईश्वर'इत्यस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वे 'कृत्तद्धित०' इत्यादिना सुबुत्पत्तिः सस्य रुत्वे, रस्य विसर्गे 'ईश्वरः' इति।

तात्पर्य यह है कि जो सम्पूर्ण ऐश्वर्यवान् हो और अनन्त शक्तियोंका सञ्चालक सर्वज्ञ हो वही 'ईश्वर' है।

श्रुतियोंने कहा है कि—'*मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्*' अर्थात् प्रकृतिको माया जानो और जो प्रकृतिका नियामक मायी है वही 'महेश्वर' है। अन्यान्य श्रुतियाँ भी ईश्वरका इसप्रकार प्रतिपादन करती हैं—

'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति'

गुणसाम्यावस्थारूप प्रकृति और क्षेत्रज्ञ—जीवके जो पति हैं वे ईश्वर हैं तथा जो सत्त्व, रज एवं तमोगुणके नियामक हैं वे ईश्वर हैं।

योगदर्शनमें कहा है—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'

जिनमें 'क्लेश' अर्थात् अविद्यासे उत्पन्न विषय-बन्धनसे राग-द्वेषकी सहायताद्वारा चित्तकी विकलता नहीं है। 'कर्म' अर्थात् वेदविहित या वेदनिषिद्ध मन और शरीरसे किये गये पाप-पुण्य जिनमें नहीं हैं। 'कर्मफल' अर्थात् किये हुए कर्मोंसे जब फलकी उत्पत्ति होती है वे कर्मफल जिनमें नहीं हैं और संस्कार अर्थात् कर्मोंका जो असर अन्तःकरणमें रहता है जिससे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है वे आशय—वासनाके मूल कारण जिनमें नहीं हैं, वही पुरुषविशेष 'ईश्वर' हैं।

लोग अपने-अपने मतानुसार कोई 'हिरण्यगर्भ' यानी ब्रह्माको, कोई 'विराट्'को कोई 'विष्णु' और 'शिव'को, कोई 'गजानन'को 'ईश्वर' कहते हैं। और अपने-अपने मतकी पुष्टिके लिये प्रमाण भी देते हैं परन्तु वस्तुतः ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। ईश्वर एक ही हैं। उन एक ही ईश्वरके अनेक नाम हैं, वास्तवमें वही सर्वज्ञ नारायण समस्त जगत्के सर्वोपरि शासक हैं। श्रुतिके कथनानुसार प्रकृति माया है और मायी महेश्वर हैं। इन्हीं दोनोंसे यह सब संसार व्याप्त है। अतः सिद्ध हुआ कि सच्चिदानन्द परब्रह्मकी चेतन शक्ति जो अनन्त विश्वशक्तियोंका सञ्चालन करती है, वही सर्वज्ञ सर्वनियामक 'ईश्वर' है।

वे ईश्वर किसप्रकारसे जाने जाते हैं? इसपर कहा जाता है कि जो वस्तु अचिन्त्य है, मन-वाणीसे अगोचर है एवं अनिर्वचनीय है, उसको जाननेके लिये साधारण ज्ञान या प्रमाणके अतिरिक्त असाधारण ज्ञान एवं प्रमाणकी आवश्यकता है। श्रुति कहती है कि उन परमात्माको अत्यन्त सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बुद्धिसे जानो। उन अनन्त विश्वशक्तियोंके नियामक जगदीश्वरको जाननेके लिये उनके कार्यको प्रथम जान लेना परमावश्यक है। कार्यके ज्ञानसे कारणका

ज्ञान हो जाता है। इस सिद्धान्तसे यह संसार जो कुछ देखने और सुननेमें आ रहा है सब 'ईश्वर' का रचा हुआ है। ऐसा निश्चय कर लेना चाहिये। इसमें चारों वेदोंकी श्रुतियोंका स्पष्ट प्रमाण है कि यह जगत् ईश्वरका रचा हुआ है। ईश्वरने किसप्रकार जगत्को रचा और उसे श्रुतियोंने कैसे वर्णन किया है, उन सबका कुछ संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है जिसके पढनेसे यह निश्चय हो जायगा कि ईश्वरका ज्ञान या ऐश्वर्य ही जगत् है।

ऐतरेयोपनिषद्में कहा है कि—

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत।

'अद्वितीय परमेश्वरने ही जगत्को उत्पन्न किया है। कारण, सृष्टिके पहले यह एक ही आत्मा था, अन्य कुछ भी नहीं था। उसीने विचार किया कि मैं लोकोंको रचूँ। ऐसा विचारकर उस ईश्वरने इन लोकोंको रच दिया।' तैत्तिरीयोपनिषद्में लिखा है कि—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सच्चिदानन्द है—इस श्रुतिसे प्रारम्भ करके *'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* इत्यादि वाक्योंके अनन्तर *'अन्नात्पुरुषः'* इस अन्तिम वाक्यसे स्पष्ट बतला दिया कि—गुहामें छिपा हुआ प्रत्यग् अभिन्न परब्रह्म परमात्मा है, उसीसे आकाशादि देहपर्यन्त जगत्की उत्पत्ति होती है। फिर कहते हैं कि—

'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।'

इन वाक्योंपर ध्यान देनेपर यही सिद्ध होता है कि ईश्वरने जगत्की रचना की है और वे ही इसका शासन करते हैं।

छान्दोग्योपनिषद्में कहा है कि—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'

हे सोम्य! यह एक ही अद्वैत सत् ईश्वर आगे विद्यमान था—इस वाक्यसे प्रारम्भ करके—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत'

अर्थात् उस ईश्वरने बहुत सी प्रजाओंको रचनेका विचार किया और विचार करके अग्नि, जल और पृथिवीको उत्पन्न किया। ऐसा कहकर अंतमें कहा है कि—

'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्यण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्।'

इससे अण्डजादि शरीर निर्माण-कर्म भी ईश्वर है। मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।

'हे प्रिय! यह सत्य है कि जिसप्रकार प्रज्वलित अग्निसे हजारों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं वैसे ही अक्षर—ईश्वरसे नाना प्रकारके ये जीवगण उत्पन्न होते हैं और उन्हींको प्राप्त हो जाते हैं।'

बृहदारण्यकमें कहा है कि—

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौ नामाऽयमिदꣳरूप इति।

'यह सब जगत् पूर्वमें अव्याकृत अर्थात् स्थूल रूपसे फैला हुआ नहीं था, अभी इसे ईश्वरने नाम रूपसे फैलाया है।' यथा—

तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिदꣳरूप इति।

'वही यह नाम रूपसे फैला हुआ जगत् है। उसीका यह नाम रूप विराट् देह है।' ऐसा कहकर अन्तमें कहा है कि—

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः । एवमेव यदिदं किञ्च मिथुनं पिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत।

पहले एक आत्मा ही था, वही पुरुषाकार यह विराट् हुआ। उसीने यह सब कुछ विश्वको अर्थात् विराट्, मनु, नर, गौ, खर, अश्व, अजा और पिपीलिका—चींटीपर्यन्त जगत्को उत्पन्न किया है ।

उपर्युक्त श्रुतिवाक्योंसे ईश्वरका ऐश्वर्य स्पष्ट प्रकट हो जाता है । अब श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्के वाक्य सुनिये, वे ही अपना ऐश्वर्य देखनेकी आज्ञा देते हैं—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

(९ । ४–१०)

'मेरे अव्यक्त रूपसे यह सारा जगत् व्याप्त है। सब भूत मुझमें स्थित हैं, पर मैं उनमें नहीं हूँ। सब भूत मुझमें व्याप्त नहीं हैं। मेरा यह ईश्वरीय योग देख। सब भूतोंको उत्पन्न और पालन करनेवाला मेरा आत्मा उनमें नहीं है। जैसे सर्वत्र विचरण करनेवाला महान् वायु समस्त आकाशमें व्याप्त है; उसी प्रकार समस्त भूतप्राणी मुझमें स्थित हैं। ऐसा जान। हे कौन्तेय! कल्पके अन्तमें सभी जीव मेरी प्रकृतिमें आ मिलते हैं और कल्पके प्रारम्भमें मैं उन्हें फिर उत्पन्न करता हूँ। मैं अपनी प्रकृतिको अपने अधीनकर उसके स्वभावके वश परतन्त्र भूतोंके समुदायको बार-बार रचता हूँ। तो भी हे धनंजय! वे कर्म मुझे बद्ध नहीं करते; क्योंकि मैं उनमें आसक्त नहीं होता; वरं सदा उदासीन-सा रहता हूँ। हे कौन्तेय! मुझ अध्यक्षका आश्रय ग्रहणकर प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है; इसीलिये यह बनता-बिगड़ता रहता है।' कहनेका तात्पर्य यह है कि ईश्वरको जगदीश्वर जानो और जो पुरुष ऐसा नहीं जानते हैं उनकी क्या दशा होती है, उसे बतलाते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९ । ११–१३)

'मेरे परम स्वरूपको न जाननेवाले मूढ़ लोग सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वर मुझको मनुष्यरूपधारी समझकर अवहेलना करते हैं। उनकी आशा, कर्म तथा ज्ञान व्यर्थ है और उनकी बुद्धि विक्षिप्त है। वे उस आसुरी स्वभावका आश्रय किये रहते हैं। परन्तु हे पार्थ! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्मागण मुझे भूतोंके आदिकारण और अव्यय जानकर अनन्य मनसे भजते हैं।' अतः ऐसा करनेसे ही ईश्वर जाने जा सकते हैं।

अतः एक ही ईश्वर सम्पूर्ण विश्वमें किस रूपसे

विराजमान हैं ? इसपर ईशावास्य और कठोपनिषद् एवं भगवद्गीताने लिखा है कि—

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

यह समस्त जगत् एक ईश्वरद्वारा आच्छादित—यानी व्याप्त है। जैसे चन्दन और अगर आदि जलके सम्बन्धसे क्लेदादिज दुर्गन्धको अपने स्वरूप-निघर्षणसे आच्छादित कर देते हैं वैसे ही 'ईश्वर' अपनी पारमार्थिक गन्धसे जगत्‌को सुगन्धित बना देते हैं। यही कारण है कि यह जगत् ईश्वरभावसे युक्त हुआ प्रिय और सत्य-सा प्रतीत होता है।

एक ही ईश्वर जगत्‌में किसप्रकार व्याप्त है, उसको कठोपनिषद्‌में इसप्रकार कहा है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

'जिसप्रकार इस लोकमें एक अग्नि काष्ठादिके रूपमें प्रविष्ट होकर जैसा काष्ठ आदिका आकार हो उसी रूपका हो जाता है, वैसे ही एक ईश्वर सर्वभूतान्तरात्मा जिसप्रकारके जीवोंके प्रत्येक देहमें प्रवेश करता है वैसा ही वह बाह्यरूपसे हो जाता है। परन्तु अपने स्वरूपको सदैव अविकृत रखता है। ऐसे ही जिसप्रकार एक वायु इस लोकमें प्राणादि-रूपसे देह-गेहादिमें प्रवेश होकर जिसप्रकारका उनका आकार हो वैसा बन जाता है, वैसे ही यह सर्व-भूतोंके अन्तरात्मा एक ईश्वर जिसप्रकारके प्राणीमें प्रवेश करते हैं वैसे ही बाह्यरूपसे बन जाते हैं। परन्तु अपने स्वरूपको सदैव अविकृत रखते हैं। जिसप्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोकका चक्षु है पर चक्षुसे ग्रहण करनेयोग्य बाह्य विषयोंमें लिप्त नहीं हो सकता है, वैसे ही यह सब भूतोंके अन्तरात्मा एक 'ईश्वर' बाह्य लोकोंके दुःखसे लिप्त नहीं हो सकते। सबको अपने वशमें रखनेवाले वशी अर्थात् जगन्नियन्ता ईश्वर एक ही सब भूतोंके अन्तरात्मा हैं। वही एकसे अनेक प्रकारके रूपको करते हैं, उस आत्माको जो धीर पुरुष अपने शरीरस्थ हृदयाकाशमें देख लेते हैं, उन्हीको सनातन-सुखकी प्राप्ति होती है, अन्यको नहीं।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

'हे कौन्तेय! जलमें रसरूप मैं हूँ, सूर्य और चन्द्रमें प्रकाश मैं हूँ, सब वेदोंमें प्रणव मैं हूँ, आकाश-में शब्द मैं हूँ, पुरुषोंमें पराक्रम मैं हूँ। पृथिवीमें पुण्यगन्ध मैं हूँ, अग्निमें तेज मैं हूँ, सब भूतोंमें जीवन मैं हूँ और तपस्वियोंमें तप मैं हूँ। हे धनंजय!

मेरे सिवा और कुछ नहीं है; सूतमें पिरोये हुए मणियोंके समान मुझमें यह सब संसार गुँथा हुआ है।'

उन ईश्वरके दर्शन कैसे किये जा सकते हैं, इसपर कहा जाता है—

जहाँ जाकर मनसहित वाणी भी लौट आती है, उन अतीन्द्रिय तत्त्वका दर्शन 'दिव्यचक्षु' या दिव्य दृष्टिके बिना नहीं हो सकते। अतः दिव्यदृष्टि प्राप्त करके ईश्वर-दर्शन करना चाहिये। दिव्यदृष्टि कौन-सी है? और उसे किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं? उसको श्रीमद्भगवद्गीतामें इसप्रकार कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(गीता ६। २९)

'जिसका मन योगमें स्थिर हो गया है, उसकी दृष्टि सर्वत्र समान रहती है। अर्थात् उसे सिवा परमात्माके अन्य कोई नजर नहीं आता। इसीका नाम 'दिव्यदृष्टि' है। दिव्यदृष्टिवाला पुरुष अपनेको सब भूतोंमें तथा सब भूतोंको अपनेमें देखता है।' या—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(गीता ६।३०-३१)

'जो सबमें मुझको अर्थात् ईश्वरको और मुझमें सबको देखता है उसके लिये कभी मैं नष्ट नहीं होता और मेरे लिये वह कभी नष्ट नहीं होता। जो अभेदभावसे रहता है और सभी भूतोंमें मैं हूँ—यह जानकर मेरा (ईश्वरका) भजन करता है वह पुरुष सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मुझमें ही रहता है अर्थात् उसे सदैव मेरे दर्शन होते रहते हैं।' इसप्रकार ईश्वरको जान लेनेपर मनुष्य सब पापोंसे छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

जो पुरुष मुझे अर्थात् ईश्वरको अजन्मा, अनादि और सर्वलोकोंका महान् ईश्वर जानता है, मनुष्योंमें वह ज्ञानवान् पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाता है।

अतएव 'ईश्वर एक हैं' उन्हें सदैव सर्व प्रकारसे भजना चाहिये। अन्यथा हमारी महान् हानि है। कारण, वेद आज्ञा करता है कि—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥
(केनोपनिषद् २। ५)

इस जन्ममें यदि ईश्वरको जान लिया तब तो अच्छा है, अन्यथा उसके जाने बिना महान् हानि है। इसवास्ते धीर पुरुषको प्रत्येक प्राणियोंमें परमात्माको जानकर या साक्षात्कार करके इस लोकसे मरकर जानेके पहले ही अमर हो जाना चाहिये।



गीता-सार

सब तज हरि भज

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥

श्यामा—हे बहिन ! आज मैं आपके मुखसे गीताका सार सुनना चाहती हूँ। यदि आप कहें कि तू तो कई बार विस्तारसे गीता श्रवण कर चुकी है, फिर गीताका सार क्यों सुनना चाहती है, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे आम्रवृक्षमें आम्रफल और आम्रफलमें आम्ररस गुप्त रहता है, इसी प्रकार शास्त्रमें शास्त्रका रस गुप्त होता है, तीक्ष्णबुद्धि बहिन-भाई ही उस रसको चख सकते और उसका स्वाद ले सकते हैं, सभी उसका स्वाद नहीं ले सकते। जब उस रसको कोई चतुर पुरुष प्रकट कर देता है, तो सभी उसका स्वाद ले सकते हैं। सिवा इसके थोड़ी-सी बात जल्दी समझमें आ जाती है और फिर उसका विस्तार भी समझमें आ जाता है, इसलिये मैं आज आपके मुखसे गीता-सार सुननेकी इच्छा रखती हूँ।

कोकिला—(प्रसन्न होकर) बहिन! वेद समुद्र हैं, उपनिषद् वेदोंके सार हैं और गीता उपनिषदोंका सार है। जैसे समुद्र खारी है, इसी प्रकार वेद भी खारी हैं, जैसे समुद्रमेंसे लाया हुआ मेघोंका जल मीठा होता है, इसी प्रकार वेदोंके सार उपनिषद् मीठे हैं। जैसे मेघोंका जल मेघोंके बरसे बिना किसीको प्राप्त नहीं हो सकता, इसी प्रकार उपनिषदोंका सार भी सन्त-महात्माओंके बताये बिना किसीके हाथ नहीं लग सकता, इसीलिये भगवान्‌ने उपनिषदोंका सार गीता निकालकर मनुष्यमात्रके लिये उपनिषदोंका रस सुलभ कर दिया है। गीतामें भी बहुत-से श्लोक ऐसे हैं कि जिनमेंसे प्रत्येकमें सम्पूर्ण गीताका सार निकल आता है और उस सारका पान करके बहिन-भाई भगवत्परायण होकर कृतकृत्य हो सकते हैं। उन्हीं श्लोकोंमेंसे उपर्युक्त एक श्लोकका सार, जो श्रीमद्भागवतसे भी सम्मत है, आज मैं तुझे अपनी बुद्धि-अनुसार सुनाती हूँ।

हे बहिन! समस्त कर्म दोषरूप हैं, कोई कर्म निर्दोष नहीं है। जैसे अग्नि धूमसे रहित नहीं है, इसी प्रकार कोई कर्म दोषसे रहित नहीं है। यद्यपि कोई प्राणी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, फिर भी कर्मका संकोच हो सकता है, इसलिये वेद और गीताकी ऐसी सम्मति है कि अपने-अपने वर्णाश्रमका कर्म करनेमें दोष नहीं है। दोष न हो इतना ही नहीं, परन्तु स्वधर्मका सकाम पालन करनेसे पितृलोक आदि उच्चलोकोंकी प्राप्ति होती है और फलकी इच्छा बिना कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, इसीलिये भगवान् निष्काम कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं, क्योंकि कर्म जड होनेसे फल देनेमें समर्थ नहीं है, मनुष्यकी इच्छा ही कर्म-फलका कारण है, इससे सिद्ध हुआ कि कर्म बन्धनका कारण नहीं, इच्छा ही बन्धनका कारण है, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको फलकी इच्छा न रखकर ईश्वरकी प्रीतिके लिये अपने-अपने अधिकारके कर्म करने चाहिये, ऐसा करनेसे कर्म बन्धनके कारण नहीं होंगे प्रत्युत अन्तःकरण शुद्ध करके कर्मके कर्ताको ईश्वरका बोध करावेंगे, ईश्वरका बोध होते ही फिर उस बहिन अथवा भाईके कल्याण होनेमें देर नहीं है।

हे बहिन! जैसे यहाँ इस लोकमें व्यापारादिसे कमाया हुआ धन कुछ कालमें खर्च हो जाता है, इसी प्रकार परलोकके लिये किये हुए कर्मोंके फलोंका भी कुछ कालमें अन्त हो जाता है, इसलिये स्वर्गादिकी इच्छा भी निष्फल है और स्वर्गादिकी प्राप्ति भी अन्तमें दुःख देनेवाली ही है। ऊँचे चढ़कर

गिरनेमें जितना दुःख होता है, उतना पहलेसे ही गिरे हुएको नहीं होता, यह बात सबके अनुभवसिद्ध है। धनीको निर्धन होनेमें जो कष्ट होता है, वह कष्ट जन्मके निर्धनीको नहीं होता, यह बात छोटे-बड़े सब जानते हैं। गीतामें भगवान्का वचन है कि ब्रह्मलोकतक सब लोक पुनरावृत्तिवाले हैं, मुझ ईश्वरको प्राप्त होनेसे फिर जन्म नहीं होता। इस भगवद्वचनके अनुसार कल्याणाभिलाषियोंको स्वर्गादिको भी परम यानी मुख्य न मानना चाहिये, किन्तु ईश्वरको ही परम मानना चाहिये, क्योंकि सुख तो नित्य वस्तुसे ही होता है, अनित्य वस्तु, जो आप ही नाशवान् है, किसीको सुख नहीं दे सकती। ईश्वर नित्य है, ईश्वरकी प्राप्तिसे ही सुखी होना सम्भव है, इसलिये ईश्वरको ही परम उत्तम समझकर ईश्वर-भजनमें लगना चाहिये। यही कल्याणका मार्ग है।

हे बहिन! ईश्वरका भजन करनेवाले ईश्वरके भक्त कहलाते हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ-भेदसे भक्त तीन प्रकारके हैं। उत्तम भक्त चराचर जगत्में एक ईश्वरको ही पूर्ण देखते हैं, उनके लिये कोई अपना-पराया नहीं होता अथवा यों कहना चाहिये कि उनके लिये सब अपने ही होते हैं, पराया कोई नहीं होता। वे सबसे प्यार करते हैं, व्यवहार यथासम्भव करते हैं, न किसीसे राग करते हैं, न द्वेष करते हैं, सब भूतोंमें समदर्शी होते हैं, सब भूतोंमें अपने आत्माको और अपने आत्मामें सब भूतोंको देखते हैं। न उनका कोई शत्रु होता है, न कोई मित्र होता है। वे सबहीके सुहृद् होते हैं और उनके भी सभी सुहृद् होते हैं। सबको मान देते हैं, आप मानापमानसे रहित होते हैं। किसीको वे उद्विग्न यानी अप्रसन्न नहीं करते, न आप किसीसे अप्रसन्न होते हैं। किसी कर्मका कभी आरम्भ नहीं करते, जो कुछ आ जाता है, उसीको कर लेते हैं। सुहृद्, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु, असाधु, ब्राह्मण, गौ, कुत्ता, चाण्डाल, हाथी, बकरी उनकी दृष्टिमें समान होते हैं, क्योंकि वे किसीको भी अपने आत्मासे भिन्न नहीं समझते। न वे कभी किसीसे झगड़ा करते हैं, न वाद-विवाद करते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि जैसे हम सुख चाहते हैं, वैसे सभी सुख चाहते हैं, और जैसे हम दुःख नहीं चाहते, ऐसे ही अन्य भी दुःख नहीं चाहते। फिर किसीको दुखी क्यों करना चाहिये, जहाँतक सम्भव हो, सबको सुखी करनेकी ही चेष्टा करनी चाहिये, ऐसा समझकर वे किसीको भय नहीं दिखलाते और न आप किसीसे भय खाते हैं। वे सबको अभय देते हैं और खुद भी निर्भय होकर विचरते हैं। घरको अपना घर नहीं समझते, पुत्रको अपना पुत्र नहीं समझते, सबको ईश्वरका समझते हैं। एक दिन मैंने अपने पड़ोसकी मुखबोली काकीसे इसप्रकार पूछा—

मैं—काकी! आप पीहरसे कब आयीं? आपके बाल-बच्चे अच्छे हैं? मेरा प्रश्न सुनकर काकी हँसकर कहने लगी।

काकी—बेटी! अभी दो दिन हुए आयी हूँ, सब अच्छे हैं, सब ईश्वरके हैं, मेरा कोई नहीं है, मेरी तो देह भी नहीं है, फिर मेरे बाल-बच्चे कैसे? एक कोठरीमें अनेकोंके नाल गाड़े जाते हैं परन्तु कोठरी कभी यह अभिमान नहीं करती कि मेरे इतने बच्चे हैं, तब नौ मासतक पेटरूप कोठरीमें रखनेसे मैं अपने बच्चे कैसे मान सकती हूँ? मैं तो एक यन्त्र हूँ, मुझ यन्त्रका चलानेवाला ईश्वर है, जैसे वह मुझे चलाता है, वैसे ही चलती रहती हूँ, फिर 'मेरा' और 'मैं' व्यर्थ ही है। सब शरीर ईश्वरके यन्त्र हैं, यन्त्रमें जो 'मैं' 'मेरा' ऐसा अभिमान करते हैं, वे दुखी होते हैं। यन्त्रमें जो 'मैं' 'मेरा' ऐसा अभिमान नहीं करते किन्तु यन्त्रको चलानेवाले ईश्वरकी शरण लेते हैं, वे सुखी रहते हैं। मैं तो ऐसा समझती हूँ कि न मैं देह हूँ, न मेरा देह है, न मेरे बच्चे हैं, सब ईश्वरके हैं, यथाशक्ति उनका पालन-पोषण करना मेरा कर्तव्य है, उनमें आसक्ति करना

मेरा काम नहीं है, उनके लिये चिन्ता करना भी मैं व्यर्थ समझती हूँ। जैसी हरि-इच्छा हो, वैसा हो, मुझे इससे कुछ प्रयोजन नहीं है।

हे बहिन! हरि इच्छा मुख्य मानना और यथा-प्राप्तमें सन्तुष्ट रहना यह भी उत्तम भक्तोंका एक लक्षण है। हे बहिन! ईश्वर परमानन्दस्वरूप है, परमानन्दस्वरूप ईश्वरका अपनी बुद्धिसे स्पर्श करके उत्तम भक्त परमानन्दस्वरूप और पवित्र हो जाता है, उसे ऐसा आनन्द आता है कि फिर उसे स्त्री, पुत्रादि कोई पदार्थ अच्छा नहीं लगता, वह सर्वदा ईश्वरानुसन्धानमें ही लगा रहता है। हे बहिन! जैसा आनन्द ईश्वरानुसन्धानमें है, वैसा ब्रह्माके लोकमें भी नहीं है। ऐसा वेद-वेत्ताओंका मत है और मुझे भी सम्मत है। जो भाई-बहिन उस आनन्दको ही अपना सर्वस्व समझकर उसीमें मग्न रहते हैं वे ही सच्चे और उत्तम भक्त हैं। भगवान् स्वयं अपने मुखसे उनकी प्रशंसा करते हैं और उनको अपना आत्मा ही मानते हैं। ऐसे भक्तोंके लिये ही भगवान् कहते हैं कि 'मैं भक्तके अधीन हूँ।' भगवान्ने सनकादिके वचनसे अपने द्वारपालोंको वैकुण्ठसे निकाल दिया, इससे यही बात सिद्ध होती है कि भक्तोंका कोप होनेसे भगवान्के लोकमें रहनेवाले भी वहाँसे गिर जाते हैं और भक्तोंका अनुग्रह होनेसे दैत्यकुलमें होकर भी भवसागरसे तर जाते हैं जैसे कि प्रह्लाद दैत्य-कुलमें होकर भी नारदजीके अनुग्रह-से परम भागवत हो गये हैं, जिनको भगवान् अपनी विभूति बताते हैं कि दैत्योंमें मैं प्रह्लाद हूँ।'

हे बहिन! उत्तम भक्तोंका मैंने तुझे दिग्दर्शन कराया। भक्तोंकी महिमा कहनेमें शेष-शारदा भी समर्थ नहीं हैं, फिर अल्पबुद्धि मनुष्य अथवा स्त्रीकी शक्ति ही कहाँ है, जो उसका वर्णन कर सके। जलरूप गङ्गामें स्नान करनेसे ही सब पाप धुल जाते हैं और जीव उत्तम गति पाता है, तो भक्तिरूपी गङ्गामें . करनेसे प्राणीके पाप धुल जायँ और वह परम-शान्तिको प्राप्त हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या है? भक्तिसे कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है, सच्चे भक्त धर्म, अर्थ और कामकी तो बात ही क्या है, अपुनर्भवरूप कैवल्य-मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, करें भी क्यों? भक्तोंको मुक्ति तो बासी रोटीके समान मिली हुई ही रक्खी है।

हे बहिन! मध्यम भक्तोंके लक्षण सुन। मध्यम भक्त सब प्राणियोंको प्यार नहीं करते किन्तु भगवत् और भगवत्के भक्तोंको ही प्यार करते हैं। सुखी पुरुषोंसे मित्रता करते हैं यानी सुखी पुरुषोंको देख-कर सुखी होते हैं, उनसे ईर्ष्या नहीं करते। दुखी पुरुषोंपर करुणा करते हैं यानी दुखी पुरुषोंको देखकर स्वयं दुःखी हो जाते हैं और उनका दुःख मिटानेका यथाशक्ति यथाधिकार प्रयत्न करते हैं, पुण्यात्मा पुरुषोंका सहवास करते हैं और दुष्ट पुरुषोंकी उपेक्षा करते हैं यानी न तो उनसे प्रेम ही करते हैं और न उनसे द्वेष ही करते हैं, यथा-सम्भव उनसे दूर ही रहते हैं। निर्वाहमात्र उनसे व्यवहार कर लेते हैं अथवा नहीं भी करते। ये मध्यम भक्त भी भगवत्-भक्तोंके संगसे उनकी रहन-सहन देखकर कुछ दिनोंमें उत्तम भक्त हो जाते हैं। 'जैसा संग वैसा रंग' यह बात प्रसिद्ध है।

हे बहिन! तीसरे प्रकारके कनिष्ठ भक्त केवल भगवत्की मूर्तिमें प्रेम करते हैं, भगवद्भक्तोंमें प्रेम नहीं करते। जब वे भक्तोंमें ही प्रेम नहीं करते, तो अन्यमें तो करें ही कहाँसे? षोडशोपचारोंसे भगवान्का पूजन करते हैं, उन्हींमें प्रेम करते हैं, थोड़े दिनोंमें भगवान्का पूजन करनेसे जब उनकी बुद्धि शुद्ध होने लगती है, तब वे भगवद्भक्तोंसे भी प्रीति करने लगते हैं और धीरे-धीरे सबमें प्रीति करने लगते हैं, इसप्रकार कनिष्ठ भक्त भी एक दिन उत्तम भक्त हो जाते हैं।

हे बहिन! तीनों प्रकारके भक्त उत्तम ही हैं, वे तो देर-सवेर अपना उद्धार कर ही लेंगे! शोक

तो उनके लिये है, जो किसी प्रकारकी भी भगवद्भक्ति नहीं करते, भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं, भोगोंके लिये किसीको मित्र बनाते हैं, किसीको शत्रु मानते हैं, किसीसे राग करते हैं, किसीसे द्वेष करते हैं। न धर्मको समझते हैं, न अधर्म करनेमें भय मानते हैं, शास्त्रको अप्रमाण मानते हैं, ब्राह्मणों और भगवत्के भक्तोंकी निन्दा करते हैं, अपनी बुद्धिको ही श्रेष्ठ मानते हैं, धन ही जिनका ईश्वर है, भोग ही जिनका ध्येय है, ऐसे पुरुषोंके लिये विद्वान् शोक करते हैं, क्योंकि ऐसे लोग अपनी हानि तो करते ही हैं, अपने साथियोंकी भी हानि ही करते हैं। न मालूम वे कबतक अन्धकूप संसारमें गिरते और मरते रहेंगे।

हे बहिन! पति, पुत्र, स्त्री, स्वजन, धन, धाम, धरा आदि सब ईश्वरके नातेसे ही प्यारे हैं, नहीं तो इन सबकी आसक्ति भगवद्भक्तिमें बाधारूप है। जबतक संसारके किसी पदार्थमें आसक्ति होगी, तबतक भगवद्भजनमें मन नहीं लग सकता, इसलिये श्रेयाभिलाषियोंको इन सबका संग त्याग देना चाहिये। संग बाहर और भीतरके भेदसे दो प्रकारका है। बाहरका संग दुःखरूप नहीं है, प्रत्युत भगवद्भक्तिमें सहायक है, क्योंकि लौकिक, पारलौकिक अथवा परमार्थका कोई कार्य सहायता बिना नहीं हो सकता, लौकिक कार्योंमें लोकव्यवहारके जाननेवालोंकी आवश्यकता है, पारलौकिक कार्योंमें परलोकके ज्ञाता मनुष्योंकी और परलोककी सूचना देनेवाले शास्त्रोंकी अपेक्षा है और परमार्थके साधनोंके लिये परमार्थको जाननेवाले गुरु-शास्त्रोंकी सहायता लेनी पड़ती है, इसलिये बाहरका संग त्याज्य नहीं है, भीतरका संग ही त्यागने योग्य है। भीतरके संगका नाम ही आसक्ति है। अनुकूल वस्तुकी प्राप्तिमें हर्ष और अप्राप्तिमें शोक करना और प्रतिकूल वस्तुकी अप्राप्तिमें हर्ष और प्राप्तिमें शोक करना, इसीका नाम आसक्ति है और यथाप्राप्तमें सन्तुष्ट रहनेका नाम अनासक्ति है। आसक्ति दुःखका कारण है और अनासक्ति सुखका हेतु है।

एक प्रौढा बहिनका एम० ए०, एल-एल० बी० पास किया हुआ जवान लड़का अचानक मर गया, बेचारी दो-चार आँसू बहाकर हरि-इच्छा समझकर सन्तोष करके चुप हो गयी, अपना कार्य करने लगी। एक युवती बहिन दूसरे-तीसरे दिन आकर उससे कहने लगी—

युवती—हे बहिन! मैंने सुना है कि आपके ऊपर बुढ़ापेमें ईश्वरने वज्र डाल दिया, यह बड़े शोककी बात है।

प्रौढा—हे बहिन! जो हो गया, सो हो गया, अब तू मुझे उसका स्मरण मत करा। स्मरण करनेसे ही दुःख होता है, स्मरण ही संसार है, ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है, बुरा-भला जो कुछ होता है, हमारे कर्मोंसे होता है, ईश्वर तो न्यायी है, न्यायी होनेसे ही निर्दोष है। बहिन! शोक किस बातका है? जो जन्मता है, अवश्य मरता है, कोई दो दिन आगे, कोई दो दिन पीछे। यहाँ रहने तो कोई पाता नहीं। जब यहाँ कोई रहने ही नहीं पाता, तो फिर शोक कैसा? ईश्वरकी वस्तु थी, ईश्वरने दी थी, ईश्वरने ले ली। इसमें किसीका क्या?

हे बहिन! प्रौढाकी युक्तियुक्त बात सुनकर और उसकी पुत्रमें आसक्ति न देखकर युवती बहिन आश्चर्य करने लगी। हे बहिन! यह आसक्ति ही सब अनर्थोंका कारण है, कुटुम्बमें आसक्ति करके ही अर्जुन शूर होकर भी कायर, धीर होकर भी अधीर और ज्ञानी होकर भी अज्ञानी हो गया था, और क्षत्रियके स्वधर्मरूप युद्धसे विमुख होता था। यह आसक्ति सूझतोंको भी अन्धा, सुनते हुओंको भी बहिरा और बुद्धिवालोंको भी अबुद्धि बना देती है, भगवान्‌ने अध्याय २ के ११ वें श्लोकसे लेकर ३० वें श्लोकतक आत्माका स्वरूप समझाया

है। जिसका सार यह है कि सब देहोंमें एक ही देही यानी आत्मा है, वह न जन्म लेता है, न मरता है, न कुछ करता है, न कुछ कराता है, न उसको पुण्य लगता है, न पाप लगता है। वह तो सर्वदा एकरस, अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है, देहोंके मरनेसे वह नहीं मरता। पश्चात् सात श्लोकोंसे भगवान्‌ने यह समझाया है कि स्वधर्मका पालन करनेसे पाप नहीं होता, उलटा पुण्य होता है और लोकमें भी कीर्ति होती है। पश्चात् असक्त होकर यानी आसक्ति छोड़कर कर्म करनेको भगवान्‌ने बारम्बार समझाया है। यह आसक्ति सूक्ष्म, स्थूलभेदसे कई प्रकारकी है। प्राणकी, इन्द्रियकी, देहकी, कुटुम्बकी और धनकी यह पाँच प्रकारकी आसक्ति है। धनमें आसक्ति करनेवाले सबसे मूढ हैं, कुटुम्बमें आसक्ति करनेवाले धनमें आसक्ति करनेवालोंसे कम मूढ हैं, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय और प्राणमें आसक्ति करनेवाले पूर्वकी अपेक्षा पिछलोंमें आसक्ति करनेसे कम-से-कम मूढ हैं। जो कोई इनमेंसे किसीमें आसक्ति नहीं करता, वह विद्वान् है और वही सच्चा भक्त है। आसक्तिके कारण ही प्राणी परस्पर वैर करते हैं, जो आसक्तिसे रहित होता है, वह किसीसे वैर नहीं करता, वह निर्वैर होता है और निर्वैर पुरुषको ईश्वरकी प्राप्ति होनेमें देर नहीं है।

हे कल्याणी! जो ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्म करता है, ईश्वरको सर्वोत्तम सर्वोपरि जानता है, ईश्वरका भक्त होता है, संग यानी आसक्तिसे रहित होता है और निर्वैर होता है, वह ईश्वरको प्राप्त होता है। यही इस श्लोकका संक्षेपसे अर्थ है और यही गीताका सार है। एक विद्वान् इस श्लोकका अर्थ इसप्रकार करता है कि जो ईश्वरकी प्रीतिके लिये कर्म करता है, वह निर्मल अन्तःकरणवाला हो जाता है। अन्तःकरण निर्मल होनेसे वह ईश्वरको परम समझने लगता है। फिर वह कर्म नहीं करता किन्तु ईश्वरकी भक्ति ही करता है, जैसा कि भगवान्‌ने 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इस अन्तके श्लोकसे कहा है। ईश्वरकी भक्ति करनेसे भक्त सर्व संगसे रहित हो जाता है और सबमें निर्वैर भी हो जाता है। निर्वैर होनेसे वह ईश्वरको प्राप्त होता है। यही गीताका सार है। हे बहिन! मैं तो 'सब तज, हरि भज' इतना ही गीताका सार समझी हूँ।

कुं०—काहूसे ना मित्रता, ना काहूसे वैर।
सबमें हिलमिल चालिये, क्या अपना क्या गैर॥
क्या अपना क्या गैर, सर्वमें कृष्ण निहारे।
सच्चे जाने कृष्ण, सर्व मिथ्या निर्धारे॥
जयदेवी! मृदु बोल, अमृदु बोले ताहूसे।
जीवन है दिन चार, वैर मत कर काहूसे॥

भरम भुलाना!

साधो सब जग भरम भुलाना।
राम-नामका सुमरन छोड्या मायाहाथ विकाना॥
मात-पिता-भ्राता-सुत-बनिता तिन्हके रस लपटाना।
जोबन-धन-प्रभुताके मदमें दिनारीति रहत दिवाना॥
दीनदयाल सदा दुखभंजन तासों मन न लगाना।
जन नानक कोटिनमें किनहूँ गुरुमुख होइ पहिचाना॥

—गुरु नानकदेव

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

(गताङ्कसे आगे)

[पहले प्रसङ्ग हो चुका है कि रावणके द्वारा तिरस्कृत विभीषण समुद्रके दूसरे तटपर भगवान् श्रीरामचन्द्रके सेना-सन्निवेशमें पहुँचे । सुग्रीवादिने जैसे ही उनपर सन्देहकी कठोर दृष्टि डाली, वह आकाशमें स्थित रहकर ही सुग्रीवादिके द्वारा अपनी प्रार्थना पहुँचाते हैं कि मैं भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरणमें उपस्थित हुआ हूँ, शीघ्र मेरी सूचना दीजिये ।]



भीषणके इस वचनको सुनकर शिविररक्षाके नायक, शीघ्रगामी सुग्रीव भगवान् श्रीरामचन्द्रके समीप पहुँचे । उनकी भगवान् श्रीरामचन्द्रमें अत्यन्त प्रीति थी । अत्यन्त स्नेहीके हृदयमें अनिष्टकी शङ्का पद-पदमें हुआ ही करती है। इसलिये स्नेहातिशयसे रामकी अमोघ शक्तिको भूलकर 'पता नहीं, शत्रुपक्षसे आया हुआ यह क्रूरहृदय क्या अनिष्ट कर डाले' इस भय-व्याकुलताके कारण बड़ी हड़बड़ाहटसे वह निवेदन करने लगे ।

महर्षिने यहाँ कहा है *'लक्ष्मणस्याग्रतः'* 'श्रीलक्ष्मण-के सम्मुख ।' तात्पर्य यह है कि श्रीराममें सुग्रीवकी जितनी प्रीति थी उससे कई गुनी अधिक श्रीलक्ष्मण-की थी । इसलिये रामहिताकाङ्क्षी श्रीलक्ष्मण अवश्य मेरी इस समय सहायता करेंगे, शत्रुपक्षसे आये हुए विभीषणको कभी नहीं आने देंगे, इसीलिये कहते हैं *'लक्ष्मणस्याग्रतः'* ।

१९ से लेकर २९ तकके ११ श्लोकोंमें सुग्रीवका वक्तव्य है । इसमें राजनैतिक दृष्टिसे उन्होंने जो कुछ कहा है, उसका सारांश यह है कि—'आपको राजनीतिके अनुसार मौकेकी सलाह करना, दूतोंका प्रेषण, सेनाका समुचित सन्निवेश इत्यादि कार्योंमें सावधान रहनेकी आवश्यकता है । इसीमें आपका और आपके सहायक वानरोंका हित है । राक्षसलोग बड़े मायावी होते हैं । नाना रूप बना सकते हैं । इनका विश्वास करना उचित नहीं । जहाँतक सम्भव है यह रावणका भेजा हुआ होगा, जो यहाँ भेद लेने आ रहा है । और यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह स्वयं रावण ही हो, जो विश्वास पैदा करनेके बाद मौका देखकर घात करे । इसने जो कुछ अपने मुखसे कहा है उससे यह मालूम हुआ है कि यह विभीषण नामका रावणका छोटा भाई है, जिसके साथ चार राक्षस भी आये हैं । मेरी समझसे जरूर यह रावणका भेजा हुआ है, छलसे यहाँ आया है । अवसरपर दगा देगा । विभीषणके द्वारा शत्रुपक्ष-का कुछ भेद मालूम होनेसे आगे सहायता मिले, ऐसी आशा करनी भी उचित नहीं । क्योंकि नीतिका सिद्धान्त है कि अपने मित्र, भृत्य आदिके पक्षसे जो सहायता मिले वही ले । शत्रुपक्षवालोंसे किसी प्रकारका सम्पर्क न रक्खे । अतएव मेरी रायमें इसको ऐसा तीव्र दण्ड देना चाहिये कि जिसे यह भी याद रक्खे ।'

भगवान् श्रीरामचन्द्रने संरम्भमें भरे हुए सुग्रीवका यह भाषण बड़े धैर्यसे सुना । समीपमें बैठे हुए श्री-मारुति प्रभृतिकी ओर दीनसञ्जीवनी स्निग्ध-दृष्टि डालते हुए आपने कहा—'कपिराजने रावणानुजके विषयमें जो कुछ कहा है वह *'भवद्भिरपि च श्रुतम्'* 'आपलोगोंने भी सुना ही है ।' उनका वाक्य हेतुयुक्त है । उन्होंने अपने वक्तव्यमें नीतिके उपयुक्त ही

उपपत्तियाँ दी हैं। कर्तव्य और अकर्तव्यके संकट उपस्थित होनेपर मित्रोंको केवल समुचित सलाह ही नहीं, 'उपसन्देष्टुं युक्तम्' 'उचित उपदेश भी देना आवश्यक है।' किन्तु इस विषयमें आप सब लोगोंका क्या-क्या अभिमत है, यह मैं जानना चाहता हूँ।' यों बड़े आदर और स्नेहके साथ जब आपने प्रश्न किया तो सभी समीपस्थितोंने सविनय यह निवेदन किया कि—'आपसे छिपा हुआ क्या है ? त्रिलोकीकी सब बात आप जानते हैं किन्तु '*आत्मानं सूचयन् राम पृच्छस्यस्मान् सुहृत्तया*' 'हमलोगोंके साथ अपना मित्रभाव सूचित करके हमारा सम्मान बढ़ाते हुए आप ऐसा पूछ रहे हैं।' कहीं '*आत्मानं पूजयन्*' ऐसा भी पाठ है। उसका अर्थ है '*आत्मानं आत्मस्वभावं पूजयन् पालयन्*' आपका स्वभाव है कि सभी आत्मीयोंको अन्तरङ्ग बनाते हुए आप उन्हें सम्मान दिया करते हैं। अतएव अपने दक्षिणस्वभावके अनुसार आपने ऐसा प्रश्न किया है। अथवा—'*सुहृत्तया शोभनहृदयतया आत्मानं पूजयन् ख्यापयन् पृच्छसि*' कार्याकार्य-विचारमें हम सबलोगोंकी अपेक्षा आप ही शोभनहृदय हैं अर्थात् आपके हृदयका ही लक्ष्य ठीक स्थानपर पहुँचता है, यह अपना प्रभाव प्रकट करनेके लिये आप ऐसा प्रश्न कर रहे हैं।

वानरोंके इस कथनमें भी बड़ा गूढ अर्थ भरा हुआ है। भगवान् श्रीरामचन्द्र राजनीति-चतुर, दक्षिण नायक हैं तो उनके पारिपार्श्विक भी उन्हींकी सेवाके समुचित मार्मिक सचिव हैं। वे इस कथनसे ध्वनित करते हैं कि आप हमलोगोंसे हमारे मत पूछकर उन्हें पूर्वपक्ष बनाते हुए अपने हृदयके अभिमतको सिद्धान्त करना चाहते हैं। अर्थात् इस समय जो कुछ कर्तव्य है वह तो आपने अपने हृदयमें पहलेसे ही स्थिर कर रक्खा है किन्तु हमलोगोंसे मत पूछकर उनके द्वारा उस कर्तव्यको सिद्धान्तित करना चाहते हैं। 'सब लोगोंके यह मत यद्यपि यहाँ उपस्थित हैं किन्तु यहाँ सिद्धान्त होना यही उचित है' यह दिखाना चाहते हैं, सो ठीक है। हमारे सब मत पूर्वपक्षकोटिमें रहकर दुर्बल सिद्ध होंगे और सिद्धान्त रहता हुआ आपका ही विचार यहाँ ठीक है, यों आपका गौरव सबपर प्रकट हो जायगा। अतएव यहाँ महर्षिके अक्षर हैं '*आत्मानं पूजयन्*' 'बाहर चाहे आप हमारी प्रतिष्ठा सूचित करते हों किन्तु वास्तवमें आप अपना ही प्रभाव प्रकट करते हुए ऐसा पूछ रहे हैं।' आप सत्यव्रत हैं, '*सुहृत्सु निसृष्टात्मा*' हैं, मित्रोंपर सब कुछ भरोसा रखते हैं, परीक्ष्यकारी हैं अर्थात् सब कुछ सोच-विचारकर करनेवाले हैं। यहाँ ध्वनिसे सूचित करते हैं कि 'हमको दृढ विश्वास है, शरणागतको आश्रय देनेके इस अपने व्रतको आप कभी शिथिल नहीं करेंगे, किन्तु अपने आत्मीयोंका भरोसा करते हुए अपने सिद्धान्तकी परीक्षा करके ही आप आगे कुछ करना चाहते हैं।'

अनन्तर प्रत्येक सचिव अपना-अपना मत कहने लगे। पहले युवराज अङ्गदने कहा—'शत्रुके पक्षसे यह आ रहा है इसलिये यह शङ्कनीय अवश्य है। नीतिके अनुसार इस समय सूक्ष्म विचार करना आवश्यक हो पड़ा है। मेरी रायमें आगत व्यक्तिके संग्रहमें गुण-दोषोंका विचार कर लेना चाहिये। यदि इसके लेनेमें गुण अधिक है तब यह चाहे शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, लाभकी दृष्टिसे ले लेना चाहिये। और यदि दोष हैं तो फिर निःशङ्क त्याग कर देना चाहिये।'

शरभका मत हुआ कि—'पहले इसके पास गुप्तदूत भेजना चाहिये, परीक्षा करके फिर स्वीकार करना उचित है।'

जाम्बवान्ने तो साफ कह दिया कि—'जिससे हमारा दृढ वैर बँध चुका और जो सर्वत्र पापकारी

नामसे प्रसिद्ध है उस रावणके पाससे यह आ रहा है और ऐसे समयमें जब कि उसपर सङ्कट है, तब अनवसरपर आये हुए इसपर हमें पूर्ण शङ्का ही होनी चाहिये ।'

नीति-तत्त्वज्ञ मैन्दने कहा कि—'यह रावणका भाई बतलाया जाता है अतएव मेरी रायमें इससे शान्तिपूर्वक पहले बातचीत करनी चाहिये । बातचीतमें इसके मनका भाव विदित हो जायगा । यदि यह दुष्ट है तो त्याग देना चाहिये और यदि इसमें दोष साबित न हों तो इसका संग्रह होना उचित है ।'

श्रीमान् मारुति सब बातें चुपचाप सुनते रहे । जब उनका अवसर आया तब बड़े धैर्यसे विचारपूर्वक कहने लगे । महर्षि उनके लिये कहते हैं—*'संस्कारसम्पन्नः'* । अन्यान्य सचिवोंने तो नीतिशास्त्रके अनुसार जो कुछ बात ध्यानमें आयी वही कह दी थी, किन्तु इन्होंने उस नीतिका भी अपने विवेकके अनुसार संस्कार (परिष्कार) कर लिया था अर्थात् नीतिमें जो कुछ परिष्कृत उदार नीति थी उसके यह पक्षपाती थे, इसीलिये इनको विशेषण देते हैं *'संस्कारसम्पन्नः'* । श्रीहनूमान् बहुत अर्थवान् होनेपर भी स्वल्पाक्षर वचन कहने लगे—'मुझे निश्चय है कि इस विषयमें अनुकूल सम्मति देते हुए बृहस्पति भी आपसे आगे नहीं बढ़ सकेंगे । मुझे न किसीके मतकी स्पर्द्धा है और न मुझे विवाद ही अभीष्ट है । मेरी समझमें जो कुछ इस समय आया है वह निवेदन करना ही पड़ेगा, क्योंकि *'तव गौरवात्'* । आपने मुझे भी अपने सलाहकारोंमें सम्मिलित करके सम्मान दे रक्खा है । उस आपके दिये हुए गौरवके कारण जो कुछ इस समय सूझ पड़ा है वही निवेदन करता हूँ ।' सचिवोत्तम हनूमान्‌ने यद्यपि प्रत्येकके मतकी आलोचना कर डाली थी किन्तु किसीका भी नाम निर्देश न कर वह अपने विचारानुसार उन-उन मतोंके गुण-दोष निवेदन करने लगे । कहा कि—'इस आगत व्यक्तिके स्वीकारमें इसके गुण-दोषोंकी परीक्षा करनेका इस समय अवकाश नहीं । क्योंकि जबतक किसी काममें किसीको नियुक्त नहीं किया जाता तबतक उसके सामर्थ्यकी, उसमें रहनेवाले गुण-दोषोंकी परीक्षा कैसे हो सकती है ? और इसको किसी काममें सहसा विनियुक्त कर देना भी उचित नहीं प्रतीत होता । अतएव गुण-दोषकी परीक्षापूर्वक संग्रह करना यहाँ ठीक नहीं बनता ।

[अङ्गदका मत था कि गुण-दोष जाँचकर इसको स्वीकार करना चाहिये । मारुति उस मतका चातुर्यसे खण्डन करते हुए कहते हैं कि इस मतमें अन्योन्याश्रय दोष है । जबतक गुण-दोष न जाँच लिये जायँ तबतक न तो इसको स्वीकार किया जा सकता है और न किसी कामपर मुकर्रर ही किया जा सकता है और जबतक किसी कामपर विनियुक्त न किया जाय तबतक इसके गुण-दोषकी वास्तविक परीक्षा ही कैसे हो सकती है] ।

अनवसरमें यह आया है इसलिये इसका विश्वास ही न किया जाय, यह बात भी नहीं जँचती । क्योंकि रावणमें इसने बहुत कालसे दोष-ही-दोष देखे हैं और आपके पराक्रम आदि गुण बाली-सदृश वीरोंके दमनसे सब जगह प्रसिद्ध हो चुके हैं । अतएव दोषीका त्याग करके आप जगद्विख्यात, पराक्रमीके पास इस समय इसका आ जाना क्या अनवसर कहा जा सकता है ?

दूत भेजकर 'तुम कौन हो, कैसे आये हो' इत्यादि पूछा जाय यह भी ठीक नहीं मालूम होता । क्योंकि आते ही 'तुम कैसे आये हो ?' इत्यादि प्रश्नोंसे बुद्धिमान् पुरुषको शङ्का हो जाती है । फिर शंकितचित्त पुरुष अपने हृदयका भाव सच्चा-सच्चा कहेगा ही कैसे ? तब दूतद्वारा प्रश्नसे क्या फल हुआ ? इस प्रश्नके पक्षमें और भी एक दोष है । यदि अपना मित्र हुआ

उससे आते ही 'तुम कैसे आये हो' यह प्रश्न करना उचित नहीं, क्योंकि मिलनेसे पहले 'तुम कैसे आये हो ?' इस प्रश्नसे मित्रको दुःख होता है। दूसरे यह भी तो कठिन है कि दूत जाते ही जान जाय कि यह मित्र है या शत्रु। किसीके मनके भावको जान लेना क्या इतना सहज है ? इसलिये हनूमान् कहते हैं कि मुझे तो इस आगत व्यक्तिपर बुरा सन्देह है, ही नहीं। क्योंकि इसके कथनमें कोई दुष्टभाव नहीं पाया गया। स्वरमें भी कोई कपटका चिह्न नहीं प्रतीत हुआ और इसके मुखपर प्रसन्नभाव स्पष्ट दिखायी दे रहा है जो दगा करनेवालेके मुखपर कभी नहीं देखा जाता। दुष्ट भाववाला आदमी अपने मनके भावको चाहे जितना छिपावे, उसके आकार-प्रकारसे उसका वह प्रतीत हुए बिना नहीं रहता। मैं तो समझता हूँ कि इसके यहाँ आनेका यह अवसर भी है। जब इसने यह सुना कि बाली-सदृश पराक्रमीको श्रीरामने सहज ही मारकर उसके स्थानपर सुग्रीवको बैठा दिया है और सुग्रीवसे पूर्ण मित्रता भी कर ली है, तब निरन्तर दोषी और जगत्‌मात्रको पीड़ित करनेवाले रावणको छोड़कर यह किसी आन्तरिक आशासे यहाँ आया हो तो कोई नवीन बात नहीं। अतएव मेरी सम्मति तो इसके स्वीकारके पक्षमें है, आगे आप स्वामी हैं। आपसे बढ़कर नीति-तत्त्वज्ञ और कौन होगा ?' [श्लो० ६८, यु० का० १७ वाँ सर्ग]

भगवान् श्रीरामचन्द्र प्रसन्न होकर सबका मत सुन रहे थे। जब वायुतनय यह कह चुके तब आप बड़े विनयसे अपना अभिमत कहने लगे। महर्षिने यहाँ कहा है—*'आत्मनि स्थितं प्रत्यभाषत'* अर्थात् इस सलाह लेनेके पहले ही आपने अपना कर्तव्य अपने मनमें स्थिर कर लिया था। शरणागत विभीषणको आश्रय देना आपने उसी समय स्थिर कर लिया था जिस समय इसका प्रसङ्ग चला ही नहीं था। किन्तु सबसे सलाह लेना उनपर आपका अनुग्रह करना था। अतएव आप जब सबकी सलाह सुन चुके तब जो कुछ आपके अन्तःकरणमें पहलेसे निश्चित किया हुआ 'स्थित' था, उसे कहने लगे। आपके कहनेके प्रकार-पर भी भलीभाँति ध्यान देना होगा। आप सब सेनाके स्वामी हैं। सब आपके सेवक हैं, और तो क्या किष्किन्धाधिपति सुग्रीवपर भी आपका वह अहसान था जिसका प्रतीकार हो नहीं सकता। किष्किन्धाके राज्यकी तो क्या चलायी, वह बालीके डरसे पहले स्वच्छन्द घूम फिर भी नहीं सकते थे। ऋष्यमूककी गुफामें मूक हुए पड़े रहते थे। आज यह श्रीरामचन्द्र-का ही अनुग्रह है कि इतनी बड़ी वानर और ऋक्ष-सेनाके वह सर्वप्रधान नायक हैं, किन्तु फिर भी भगवान् श्रीरामचन्द्र किस विनय और दाक्षिण्यसे अपना अभिमत कहते हैं, इसपर लक्ष्य देना चाहिये। आप कहते हैं—*'ममापि च विवक्षास्ति काचित्प्रति विभीषणम्'* 'विभीषणके प्रति अर्थात् विभीषणके विषयमें मुझे भी कुछ कहनेकी इच्छा है।' तात्पर्य यह है कि 'आप-लोग तो सब कुछ कह ही चुके हैं परन्तु आपके पक्षोंके साथ गणना हो जाने योग्य मेरी भी कुछ कहनेकी इच्छा है। किन्तु *'तत्सर्वं भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि'* 'आपलोगोंको सुनाकर उस सब वक्तव्यकी परीक्षा करा लेना चाहता हूँ।' कहना चाहिये था *'भवतः श्रावयितुमिच्छामि'* 'आपलोगोंको सुना देना चाहता हूँ' किन्तु कहा है—*'भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि'* इसमें गूढ ध्वनि यह है कि मैंने अपने विचारके अनुसार तो सब कुछ निश्चित कर रक्खा है किन्तु मुझसे आपलोगोंका अनुरोध टाला नहीं जा सकता। अतएव जबतक आपलोग उसपर सम्मति न कर दें, तबतक मैं उस वक्तव्यको कार्यरूपमें परिणत करने योग्य नहीं समझता। इसलिये वह मेरा कथन आप सबकी सम्मति होकर स्थिरीकृत हुआ कि नहीं, यह

आपलोगोंसे ही सुनना चाहता हूँ। अकेले मेरे कहने-भरसे क्या होता है।' इसी आशयके कारण इतने चक्करसे महर्षि बोलते हैं कि *'तत्सर्वं भवद्भिः श्रोतुमिच्छामि।'*

इसके आगे भगवान् श्रीरामचन्द्रका जो कुछ कथन है वह इस शरणागति-वर्णनमें सर्वप्रधान गिना जाने योग्य है। जिनके पास शरण ग्रहण करनेकी आशा लिये विभीषण बड़ी दूरसे आये थे और जिनकी सेवामें अपनी आर्त प्रार्थना बड़े आशाभरे अन्तःकरणसे सदैन्य पहुँचाकर उत्तरकी प्रतीक्षा कर रहे थे वह श्रीरामचन्द्र पक्ष-प्रतिपक्षका कथन सुनकर अब क्या आज्ञा देते हैं, यह प्रसंग यहींसे आरम्भ होता है। दयावतार भगवान् श्रीरामचन्द्रने एक श्लोकमात्रमें अपना सब कुछ वक्तव्य कह दिया। यद्यपि आगे फिर इसपर सुग्रीवादिके उत्तर-प्रत्युत्तर होंगे किन्तु भगवान्ने अपना स्वभाव, कर्तव्य, नीति, सिद्धान्त, सब कुछ केवल इन बत्तीस अक्षरोंमें इस दृढ़तासे कह दिया है जो आगेकी बड़ी-बड़ी लम्बी दलीलोंसे भी जरा नहीं हिल सका है। खण्डन-मण्डन बहुत कुछ हुआ परन्तु अखीरमें वही स्थिर रहा जो इन बत्तीस अक्षरोंमें कहा है। अथवा यों समझिये—महर्षि वाल्मीकिके यह बत्तीस अक्षर क्या थे मानो बत्तीस दाँत थे। इस बत्तीसीसे यहाँ जो कुछ निकल गया वही आगेतकके लिये सच्चा सिद्ध हो गया। सावधानीसे सुनिये, वे बत्तीस अक्षर ये हैं—

'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥'

इसका अक्षरार्थ है कि—'मित्रभावसे प्राप्त हुए पुरुषका मैं किसी तरह भी त्याग नहीं करता। यद्यपि उसका कुछ दोष भी हो तो भी मैं उसे नहीं छोड़ता। क्योंकि मित्र भावसे प्राप्त हुए दोषीका भी संग्रह करना सज्जनोंके मतसे गर्हित नहीं।'

यहाँ प्रसङ्ग तो शरणागतिका चल रहा है, इसलिये कहना तो यों चाहिये कि *'शरणागतभावेन प्राप्तं न त्यजेयम्'* 'शरणागतिके भावको लेकर जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता' परन्तु यहाँ कहते हैं *'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* 'मित्रभावसे प्राप्त हुएको।' भगवान्का आगे प्रतिज्ञा-वाक्य है कि *'सकृदेव प्रपन्नाय अभयं ददामि'* 'एक बार भी जो 'प्रपन्न' अथवा 'शरणागत' हो जाता है उसे मैं अभय दे देता हूँ'। इस प्रतिज्ञावाक्यमें भी 'प्रपन्न' (शरणागत) शब्द आया है। उस हिसाबसे यहाँ भी *'शरणागतभावेन'* कहना चाहिये था। ठीक है, यह शङ्का हो सकती है। इसका कुछ लोगोंने तो यह उत्तर दिया है कि 'मित्रभावेन' यह उपलक्षणमात्र है। महर्षिका तात्पर्य है कि मित्रत्व, दासत्वादिकी भावनाको लेकर जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ता।

दूसरे भक्त यह समाधान करते हैं कि यहाँ प्रसङ्ग चल रहा है शरणागतिका। विभीषण उस शरणागतिका आरम्भ करते हुए कहते हैं—*'राघवं शरणं गतः'* 'मैं श्रीराघवकी शरण आया हूँ।' अन्तमें भी वह कहेंगे—*'शरण्यं शरणं गतः'* 'जो शरण जानेके योग्य हैं उनके शरणमें आया हूँ।' यों आरम्भावसानमें जब शरणागतिभावका ही उपादान किया गया है तब मित्रभावका भी यहाँ तात्पर्य शरणागतिमें ही है। और जगह भी जहाँ-जहाँ रावणको समझाया गया है वहाँ आरम्भके अक्षर हैं—*'विदितः स हि धर्मज्ञः शरणागतवत्सलः'* 'वह श्रीरामचन्द्र धर्मज्ञ और शरणागतवत्सल प्रसिद्ध हैं।' यों आरम्भ तो शरणागतिभावसे किया गया है किन्तु उपसंहारमें कहा है—*'तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि।'* 'यदि तुम जीना चाहते हो तो उनके साथ मैत्री हो जानी चाहिये।' आरम्भमें शरणागतिभावसे जिस तरह तात्पर्य है, वैसे ही अन्तमें 'मैत्री' पद कहते हुए भी

उनका तात्पर्य शरणागतभावसे ही है। उसी प्रकारसे यहाँ भी आरम्भ और अवसानमें जब विभीषणका तात्पर्य शरणागतभावसे ही है तब बीचमें आये हुए 'मित्रभावेन' इस पदका भी तात्पर्य यही होना चाहिये कि 'जो शरणागतिभावनाको लेकर मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता।'

किन्तु मेरे विचारसे शरणागतिके प्रसङ्गमें 'मित्रभावेन' कहनेका प्रयोजन कुछ दूसरा ही प्रतीत होता है। *'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* यह उक्ति भगवान् श्रीरामचन्द्रकी है। दैन्यभावके कारण शरणागत तो अपनेको दयापात्र शरणागतमात्र ही जानता है किन्तु अपने भक्तोंको गौरव देनेवाले भगवान् उसको बड़ी ऊँची दृष्टिसे देखते हैं। आप कहते हैं कि 'जब मैंने प्राणिमात्रको अभय दे देनेका व्रत ले लिया है तब मेरा ही यह कर्तव्य है कि सङ्कटमें पड़े हुएके पास मैं ही जाऊँ और उसे सङ्कटसे छुड़ाऊँ। किन्तु यहाँ जब शरणागत मेरे पास स्वयं कष्ट सहकर आ रहा है तब अवश्य वह मेरा हितैषी है। वहाँतक जानेके कष्टसे मुझे बचाना चाहता है। अतएव वह दयाका भिखारी नहीं, वह मेरा मित्र है। मैं उससे छाती-से-छाती लगाकर मिलता हूँ।' इसी आन्तरिक विचारसे महर्षि भगवान् श्रीरामचन्द्रकी उक्तिमें कहते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी यह उक्ति उस समयकी है जब सुग्रीव, शरभ आदि सलाहकार अपना-अपना वक्तव्य कह चुके थे। सुग्रीवादिने जो कुछ कहा है इस समय आप उसका उत्तर दे रहे हैं। सुग्रीवादिने विभीषणको स्वीकार करनेमें जो कुछ विरोध उपस्थित किया था वह सामयिक था, नीतिके अनुसार था, स्नेहके अनुकूल था, भगवान् श्रीरामचन्द्रमें जो उनकी भक्ति थी उसके योग्य था। प्रत्येकने युक्ति देकर अपने-अपने कथनको समञ्जस बनानेमें कोई कसर न रख छोड़ी थी। अब भगवान् भी जब उनका उत्तर देने बैठे हैं तब समञ्जसहेतु दिये बिना उन उक्तियोंका निराकरण नहीं हो सकता। हेतुवादमें—हेतु देकर जब कोई पक्ष सिद्ध किया जाता है तब प्रतिपक्षी भी वादीके दिये हुए हेतुको ही दुष्ट सिद्ध करके अपने पक्षका स्थापन करता है। इसी दृष्टिकोणसे सुग्रीवादिकी उक्तिको देखते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र भी अपना पक्ष स्थापन कर रहे हैं। आपका पक्ष है शरणागत विभीषणको स्वीकार करना। सुग्रीवादि इसके विरोधमें हैं। श्रीहनूमान्ने विभीषणके स्वीकार करनेमें अवश्य सम्मति दी है परन्तु उस स्वीकारमें जो कारण दिया है उसको आप ठीक नहीं बताते।

सुग्रीवादिका कथन है कि विभीषण शत्रुपक्षीय होनेसे दोषी है, अतएव स्वीकार्य नहीं। यहाँ 'ग्रहण करने योग्य नहीं है' यह साध्य, और 'सदोषत्व' यह हेतु दोनों ही आपके मतसे दुष्ट हैं। श्रीमान् मारुतिके पक्षमें *'यह स्वीकार करने योग्य है'* यह साध्य तो ठीक है, किन्तु *'न त्वस्य ब्रुवतो जातु लक्ष्यते दुष्टभावता'* 'बोलते समय इसका कोई दुष्टभाव नहीं मालूम होता' यों स्वीकार करनेमें निर्दोषत्वरूप जो हेतु दिया है वह ठीक नहीं। आप कहते हैं कि शरणागतके स्वीकारमें *'शरणागतोऽहम्'* 'मैं शरणागत हूँ' यह वाक्यप्रयोगमात्र ही प्रधान हेतु है। निर्दोषत्वादि हेतुओंकी ओर तो मेरी दृष्टि ही नहीं पड़ती। इसी अभिप्रायको लेते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने पक्ष-समर्थनमें हेतु देते हैं—*'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्।'* 'अभय देनेके लिये जाना तो मुझको चाहिये था परन्तु 'मैं शरण आया हूँ' यों कहता हुआ मुझे परिश्रमसे बचानेकी कृपा करके जो मेरे पास आ जाता है, उसका मैं त्याग नहीं

करता ।' यहाँ 'मित्रभावेन' यही प्रधान हेतु दिया है । मित्र-भावका अर्थ यहाँ शरणागत-भाव है यह पहले कह आया हूँ ।

'मित्रत्वेन' न कहकर यहाँ कहा गया है 'मित्रभावेन' वास्तवमें मित्रत्व न होनेपर भी जो कोई मित्रका-सा भाव ऊपरसे दिखाता हुआ भी आ जाता है उसका भी मैं त्याग नहीं करता । भगवान् तो अपनी तरफ एक बार आ जानेमात्रकी प्रतीक्षा किया करते हैं । उसमें भी जब वह मित्रका-सा भाव दिखला रहा है, चाहे ऊपरसे ही सही, परन्तु किसी तरहका मित्र-भाव तो है, फिर स्वीकार करनेमें सन्देह कैसा ? पूतना जिस समय भगवान्‌को स्तन-पान कराने आयी, उस समय उसके हृदयमें कौन-सा स्नेहभाव था ? वह तो चाहती थी कि भगवान्‌का अनिष्ट हो जाय । परन्तु प्राणिमात्रका उद्धार करनेवाले दयालु भगवान्‌ने देखा कि इसके हृदयमें चाहे कुछ भी हो, ऊपरसे तो यह स्तन पिलाकर माताका कार्य कर रही है । बस, आपने उसको वह गति, वह गौरव दिया जो साक्षात् माताको भी दुर्लभ था । भगवान्‌की इस दयालुतापर परमहंसचूड़ामणि श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'*ततोऽन्यं, कं वा दयालुं शरणं व्रजेम* ।' 'जो दीनोद्धारक भगवान् विष पिलानेवालेको भी यह उच्च पदवी देते हैं, उनसे बढ़कर और कौन-सा दयालु होगा जिनकी शरणमें हुआ जाय ।'

अथवा—'मित्र जो स्नेही उसके भावसे अर्थात् मुझमें द्वेषभावको हटाकर (स्नेहसे) जो कोई मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ता ।' इससे भगवान्‌ने यह सूचित किया कि 'मेरे स्वीकार करनेमें यह आवश्यक नहीं कि उस पुरुषकी मुझमें पूर्ण भक्ति हो । केवल मेरे अभिमुख होना ही मेरे स्वीकार करनेमें पर्याप्त है । आहा क्या अच्छा कहा है—

त्वामामनन्ति कवयः करुणामृताब्धे
ज्ञानक्रियाभजनलभ्यमलभ्यमन्यैः ।
एतेषु केन वरदोत्तरकोसलस्थाः
पूर्वं सदूर्वमभजन्त हि जन्तवस्त्वाम् ॥

'पण्डितलोग आपको ज्ञान-यज्ञ-यागादि क्रिया और भक्ति, इनके द्वारा प्राप्त होने योग्य बताते हैं परन्तु हे करुणासागर ! उत्तरकोसलके प्राणियोंने इन तीनोंमेंसे किसके द्वारा आपका भजन किया था जिससे उन सबका आपने उद्धार कर दिया ?' अयोध्या-प्रान्तके रहनेवाले हीनातिहीन कीड़ेतकको भगवान्‌ने मुक्ति दे दी थी । अब कहिये, उनके पास ज्ञानादिमेंसे कौन-सा उद्धारका साधन था ? वह केवल भगवान्‌के अभिमुख हुए थे, इतनेमात्रसे दयासागर भगवान्‌ने उन्हें अपना लिया था । इसी आशयसे महर्षि कहते हैं 'मित्रभावेन' ।

अथवा—यहाँ 'मित्रभाव' पदसे भगवान्‌का मित्र-भाव ही लिया गया है । अर्थात् जो मुझको '*सुहृदं सर्वभूतानाम्*' प्राणिमात्रका मित्र समझकर अपनी रक्षाकी आशासे मेरी शरणमें आता है उसको मैं नहीं छोड़ता । श्रीप्रह्लाद दैत्य-बालकोंको उपदेश करते हुए कहते हैं—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरे-
रुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः ।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां
सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥

'हे असुरबालको ! भगवान्‌की उपासनामें कौन-सा बड़ा भारी परिश्रम है । भगवान् तो आकाशकी तरह सर्वदा प्राणिमात्रके हृदयमें ही रहते हैं । भगवान् केवल मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्रकी आत्माके स्वभावसे ही मित्र हैं ।' इसी भव्यभावनाको हृदयमें रखते हुए भक्तशिरोमणि प्रह्लाद भगवान्‌में एकतान थे । प्रह्लादादि भक्तोंको ही यह केवल विश्वास था सो नहीं,

स्वयं भगवान्‌ने भी इस विचारकी लिखावटपर हस्ताक्षर करके इसे दृढ कर दिया है। जिस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु भरी सभामें खड्ग लेकर प्रह्लादको मारनेके लिये तैयार हुआ और उसने कहा कि बता, तेरा यहाँ कौन सहायक है? उस समय स्वयं भगवान्‌को सहायताके लिये स्तम्भसे उत्पन्न होना पड़ा। श्रीशुकदेवजीके यहाँ अक्षर हैं—*'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितम्'* 'अपने सेवकके वंचनको सत्य करनेके लिये (अद्भुत रूप धारणकर आप स्तम्भमें दिखलायी दिये)। इसके अनुसार प्राणिमात्रपर मेरे सहज सौहार्दका भरोसा करके जो मेरे पास आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता। इसी अभिप्रायसे महर्षिने कहा है—*'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्'* 'मुझको प्राणिमात्रका मित्र समझकर भरोसेसे जो कोई आता है उसे मैं नहीं छोड़ सकता।'

किंवा—*'मित्रभावेनानुकूल्यसंकल्पादिपूर्वकम् ।'* अर्थात् अनुकूल रहनेकी प्रतिज्ञा, प्रतिकूलताका त्याग इत्यादि शरणागतिके नियमानुसार जो कोई मेरे पास आता है उसका मैं त्याग नहीं करता। अर्जुनने *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* 'मैं आपकी शरण आया हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये,' यों जब 'प्रपत्ति' स्वीकार की और शंका-समाधानपूर्वक भगवान्‌से पूर्ण उपदेश प्राप्त करके जब *'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव'* 'अब मुझे कोई सन्देह नहीं रहा, आपकी आज्ञापालन करूँगा' यों आनुकूल्यादिका संकल्प अपने हृदयमें दृढ कर लिया तब भगवान्‌ने भी अर्जुनका वह दृढ संकल्प स्वीकार किया है जो आजतक जगत्‌में प्रसिद्ध है। भगवान्‌ने स्वयं अनन्त संकट सहे परन्तु अपने अनुगत अर्जुनपर जरा भी आपत्ति न आने दी। साधारण-से-साधारण पुरुषको भी अपने वचनका बड़ा अभिमान रहता है कि 'मैं पहले यह कह चुका हूँ। इसका उल्लङ्घन करनेपर लोग मुझे क्या कहेंगे' फिर बड़े आदमियोंका तो कहना ही क्या है वह तो अपनी बातके लिये मर मिटते हैं। किन्तु भगवान्‌को अपने भक्तकी बात रखनेके लिये अपनी प्रतिज्ञातक छोड़नी पड़ी है। महाभारतके भयंकर समरमें भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा थी कि 'मैं भगवान् श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराके छोड़ूँगा। जबतक वह अपने हाथमें शस्त्र न ले लेंगे मैं युद्धसे न हटूँगा।' इसके विरुद्ध भगवान्‌का वचन था कि 'मैं इस युद्धमें स्वयं शस्त्र कभी हाथमें न लूँगा।' किन्तु जिस समय भीष्मपितामहने अपने बाणोंसे वह भयंकर प्रलयकाण्ड उपस्थित कर दिया उस समय पाण्डवोंके छक्के छूट गये। बाणोंकी उस बौछारके आगे ठहरनेकी किसकी ताकत थी। अर्जुन घबरा उठे। भगवान्‌से कहने लगे—'बस, अब इस महाभारतकी समाप्ति समझिये। अब ठहरा नहीं जाता। देवातिशायी इस वृद्ध वीरके बाणोंको सहनेकी अब शक्ति नहीं।' यह तो कैसे कहते कि 'आप अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दीजिये, शस्त्र हाथमें ले लीजिये, किन्तु भगवान्‌ने जब देखा कि दरअसल अब भारत-युद्ध समाप्त होता है। अब यह वृद्ध या तो सबको रणभूमिमें सुलाये देता है या युद्धसे विमुख किये बिना न छोड़ेगा, तब भगवान्‌से न रहा गया। रथके पहियेको लेकर युद्धमें उतर ही तो पड़े। बस, भीष्मपितामहने विजयसूचक सिंहनाद किया और हँसकर युद्ध छोड़ दिया। भक्तकी बात रही, भगवान्‌ने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी।

जयद्रथ-वधमें अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि मैं सूर्यास्त होनेके पहले-पहले जयद्रथको मारूँगा। किन्तु जिस समय कौरवोंकी तरफसे व्यूह-रचना की गयी और उसके भीतर द्रोणाचार्य-भीष्मपितामह-सदृश महाग्राह सामने ही आ डटे, उस समय अर्जुन घबरा उठे। आधा दिन समाप्त हुए बहुत समय बीत चुका था किन्तु व्यूहकी पहली बाड़ ही अभी नहीं लाँघ पाये थे। भगवान्‌ने कहा—'तुमने क्रोधके आवेशमें बहुत

जल्दी प्रतिज्ञा कर डाली। इन महाग्राहोंके सामने भीतर घुसकर जयद्रथको मार लेना क्या सहज है? अर्जुनने कहा—'अब तो जो कुछ है सो है। मेरी रक्षा अब आपके ही हाथ है। अन्यथा प्रतिज्ञानुसार सायंकालके अनन्तर मुझे अपना शरीर छोड़ना पड़ेगा।' उस समय भी भगवान्‌को माया रचनी पड़ी। कृत्रिम बादल पैदा करके सूर्यास्तका दृश्य दिखा देना पड़ा। कौरव हर्षसे उछल पड़े। युद्ध छोड़ दिया। अब क्या है, बाज़ी मार ली। किन्तु जैसे ही बादल हटा और सूर्यके दर्शन हुए, उसके पहले ही अवसर पाकर अर्जुन जयद्रथका मस्तक बाणसे काट चुके थे। अर्जुन भी इस लीलाको देखते ही रह गये। इसी शरणागतवत्सलताकी दृढ़ताको सुझाते हुए भगवान् कहते हैं—'*मित्रभावेन सम्प्राप्तम्*' मेरे आनुकूल्यादिका संकल्प करके जो आता है, उसे मैं नहीं छोड़ता।'

अथवा—'मित्र अर्थात् जो विश्वासपात्र हो, उसके भावसे आये हुएको' क्योंकि कहा है—'*तन्मित्रं यत्र विश्वासः*' 'मित्र वही है जिसपर विश्वास किया जाय।' तो इस पक्षमें अर्थ हुआ कि—'मेरे ऊपर पूरा विश्वास करके जो आता है उसको मैं नहीं छोड़ सकता।' कंसके भेजे हुए अक्रूर श्रीकृष्ण और बलराम-को लानेके लिये जिस समय मथुरासे चले थे उस समय उनके भी हृदयकी विचित्र दशा थी। वह भगवान् श्रीकृष्णमें नैसर्गिक प्रीति रखते थे। उनके चरणारविन्दोंके दर्शनके लिये उनकी अहर्निश उत्कण्ठा रहती थी, परन्तु लाचार थे। कंसके आश्रित थे। भगवान्‌के पास आना-जाना तो कैसा, उनकी चर्चा करना भी राजविद्रोहके अपराधमें उनको फँसाने-के लिये काफ़ी था। अतएव वह जैसे-तैसे मुख मूँदे हुए क्लेशके दिन किसी तरह काट रहे थे। जब राजसज्जासे सजा हुआ राजसी रथ देकर कंसने आज्ञा दी कि वृन्दावन जाकर राम और कृष्णको लिवा लाइये, तब आपके मनमें बड़ा हर्ष हुआ। 'आज मेरा बड़ा सुदिन है, चिरकालसे परिचिन्तित भगवान् श्रीकृष्णका आज दर्शन मिलेगा, इससे बढ़कर मेरा और क्या सौभाग्य होगा? मैंने ऐसे कौन-से पुण्य किये हैं, कैसी तपस्याएँ की हैं, जो मुझे योगिदुर्लभ भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन मिलेंगे।' फिर अपने आप ही समा-धान करते हैं 'मालूम होता है मेरे पूर्व-पुण्योंका अभ्युदय आरम्भ हो गया है, मेरे सब पूर्वकृत अमङ्गल नष्ट हो चुके हैं, तभी तो भगवान्‌के उन चरणपङ्कजोंको प्रणाम करनेका सौभाग्य मिल रहा है जिन्हें योगी भी बड़े परिश्रमके अनन्तर प्राप्त कर पाते हैं। मन-ही-मन भगवान्‌का ध्यान करते जा रहे हैं। भगवान्‌की मनोहर मूर्तिका ध्यान करते-करते आपको रोमाञ्च हो रहा है। अक्रूर मनमें विचारते हैं—'जिस समय उत्कण्ठाके कारण चरणकमलोंमें टकटकी बाँधे हुए मैं भगवान्‌को प्रणाम करूँगा और आप मन्द मुसकान करते हुए दीनसञ्जीवनी उस दयार्द्र दृष्टिसे मुझे देखेंगे, अहा! उस समय मेरे आनन्दका कोई पार न रहेगा। भगवान् प्रणाम करते हुए मुझसे छाती-से-छाती लगाकर जिस समय मिलेंगे, 'अक्रूर' यों मेरा नाम लेकर जिस समय प्रेम-सम्भाषण करेंगे, उस समय यह मेरा मनुष्य-जन्म सफल होगा। अहा! यह वही तो देवदुर्लभ वृन्दावनका मार्ग है जिसमें भगवान् गोचारण-के लिये गोपबालकोंके साथ पधारते हैं।' इस तरह आनन्दमें मग्न अक्रूरको मार्गमें ही सूर्यास्त हो गया। अक्रूरकी दृष्टि मार्गकी धूलिपर लगी हुई थी। अहा! यह धूलि शततीर्थाधिक है, जिसपर भगवान्‌के चरणपङ्कज पड़ते हैं। चलते-चलते अक्रूरने कुछ चरणचिह्न देखे, जिनमें कमल, यव, अंकुश आदिके चिह्न उभड़े हुए थे। अक्रूर पहचान गये, अवश्य यह भगवान्‌के चरण-चिह्न हैं। अब उनसे न रहा गया। रथके जूड़ेसे कूद पड़े। उन चरण-चिह्नोंपर लोटने लगे। रोमाञ्च हो

रहा था । आँखोंसे आँसू बह रहे थे। अहा! यह प्रभुके चरणोंका रज है !

फिर ध्यान हुआ—'मैं तो भगवत्-विद्रोही कंसका भेजा हुआ जा रहा हूँ। मेरे ऊपर भगवान्‌की कृपादृष्टि किस तरह हो सकेगी ?' अपने आप ही समाधान भी करते हैं—'भगवान् किसीसे अप्रसन्न नहीं होते। उनका कोई भी द्वेष्य नहीं । मुझे दृढ़ विश्वास है कि भगवान्‌को मुझपर वैरबुद्धि कभी नहीं होगी। यद्यपि मैं कंसका भेजा हुआ दूत बनकर जा रहा हूँ, किन्तु आप विश्वदृक् हैं। भीतर-बाहर सब जगहकी जानते हैं। आप प्राणिमात्रके हृदयमें रहनेवाले हैं, इसलिये किसीका भी भाव आपसे छिपा नहीं। भगवान् श्रीशुकदेवजीके अक्षर हैं—

न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽस्मि विश्वदृक् ।
योऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा ॥

'यद्यपि मैं कंसका दूत बनकर जा रहा हूँ परन्तु भगवान्‌को मुझपर वैरबुद्धि नहीं होगी, जो विश्वदृक् भगवान् अपने निर्मल नेत्रोंसे चित्तके भीतर-बाहरके सब वृत्तान्तोंको देखते हैं।'

अक्रूरजीका भगवान्‌पर जब यह दृढ़ विश्वास है तब भगवान् भी उसी विश्वाससे उनका ग्रहण कर रहे हैं। आप प्रेमगद्गद होकर बड़ी उतावलीसे उन्हें खींचकर छाती-से-छाती लगाकर मिलते हैं। अक्रूरको यह पूरा भरोसा था कि भगवान्‌के यहाँ कभी मेरा तिरस्कार न होगा। मैं चाहे जैसा हूँ, आप मेरा अवश्य स्वीकार करेंगे। उसीका यह फल है कि ब्रह्मादि देवताओंसे सेवनीय चरणपङ्कज साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण उनका यहाँतक आदर करते हैं कि आप स्वयं उनके पैर दबाते हैं और कहते हैं कि 'काकाजी! दूरसे आनेके कारण आप थक गये होंगे।' श्रीवेदव्यासजी कहते हैं—*'संवाह्य श्रान्तमादृतः'* 'आदर करनेवाले श्रीकृष्ण थके हुए अक्रूरका पदसंवाहन करके।' इसी विश्वासके आशयको लेकर यहाँ भी कहा है कि—'मित्रभावेन' 'दृढ़ विश्वासीके भावको लेकर जो कोई आता है, मैं उसे नहीं छोड़ सकता।'

भक्तवत्सल भगवान् अपने सभी भक्तोंका पूर्ण आदर करते हैं, चाहे वह कितने ही तुच्छातितुच्छ हों। भावुक भक्त भगवान्‌को इष्टदेव, स्वामी, वन्दनीय चरण, शरण्य, प्राणश्रेष्ठ मानते हैं किन्तु भगवान् उन्हें बराबरका दरजा देते हैं। उन्हें मित्रभावसे ही देखते हैं। भगवद्भक्त सुदामा भगवान्‌के साथ एक गुरुके यहाँ पढ़े थे। बरसों साथ खेले-कूदे थे परन्तु वह सदा भगवान्‌में भगवद्‌बुद्धि ही रखते थे। उन्हें त्रैलोक्यनाथ और अपनेको सदा तुच्छ समझते थे। वह गृहस्थ होनेपर भी दरिद्र थे किन्तु उन्हें इसकी कुछ भी परवा न थी। वह इन्द्रियार्थोंमें विरक्त और प्रशान्तात्मा थे। उनकी पतिव्रता पत्नीने उनसे जब कई बार अनुरोध किया कि 'यादव-नरेन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण आपके सहाध्यायी मित्र हैं। वह आजकल द्वारकापुरीमें ही आये हुए हैं। आप उनके पास क्यों नहीं जाते ? वह अपने इस सब दारिद्र्य-सङ्कटको दूर कर देंगे।' यों उनकी पत्नी ही भगवान्‌को अपने पतिके मित्र कहकर व्यवहार करती है किन्तु विवेकी सुदामाका विचार दूसरा ही था, पत्नीके आग्रह करनेपर वह सोच रहे थे 'तुच्छ धन-दौलतकी क्या बिसात है। *'अयं हि परमो लाभ उत्तमश्लोकदर्शनम्'* 'यही सबसे बड़ा लाभ होगा कि उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णके दर्शन होंगे।'

भगवान् श्रीकृष्णने मित्रकी ही तरह क्या, पूजनीयतम इष्टदेवकी जिस तरह की जाती है, उसी प्रकार उनकी पूजादि करके, उनका चरणोदक मस्तकपर चढ़ाकर, बड़े प्रेम-भावसे गुरु-गृह-निवासके

समयकी पुरानी बातें उन्हें याद दिलायीं। उस समयके सङ्कटोंमें, उस समयके कौतुकोंमें, दोनोंने साथ रहकर जो कुछ सुख-दुःखानुभव किये थे उनको आपने फिरसे हरा कर दिया। भगवान् उस समयकी कथा छेड़कर सुदामाका संकोच हटा रहे थे। सुदामा अपनेको हीन समझते हुए भगवान्को जिस ऊँची दृष्टिसे देख रहे थे भगवान् उसमें संशोधन करना चाहते थे। आपकी इच्छा थी कि यह सब भाव दूर करके सुदामा मुझे अपने बराबरका मित्र समझे। परन्तु सुदामा ज्ञानी थे। भगवान्की महिमाको जानते थे। वह अपने उसी स्थिरभावसे उत्तर देते हैं—

किमस्माभिरनिर्वृत्तं देवदेव जगद्गुरो।
भवता सत्यकामेन येषां वासो गुरावभूत्॥

'हे जगद्गुरो! हमने क्या नहीं किया? सब कुछ सुकृत हमने कर लिये जो सत्यकाम आपके साथ हमारा गुरुगृहमें निवास हुआ।'

भगवान् मित्र-भावनासे बराबरका दरजा देकर सुदामाको राजमहलमें अपने साथ सुलाते हैं। प्रातःकाल घर जाती वार उन्हें रास्तेतक पहुँचाने आते हैं। व्यासजीके अक्षर हैं—*'पथ्यनुव्रज्य नन्दितः'* 'मार्गमें अनुगमन करके अभिनन्दित किया।' किन्तु भगवान्के माहात्म्यको जाननेवाले भक्त सुदामा अपने स्वरूपको नहीं भूलते। मार्गमें वह सोचते आते हैं—अहा! मेरे ऊपर भगवान्के अनुग्रहकी कोई सीमा नहीं। मेरा आपने कैसा आदर किया है। फिर गद्गद् होकर कहते हैं—*'सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम्'* 'भाई! भगवत्-चरणारविन्दका सेवन सब सिद्धियोंका मूल है।' यों भगवान् अपने भक्तोंको मित्रताका गौरव देते हैं किन्तु भक्तगण अपना विनयभाव नहीं छोड़ते। बहुतोंका विचार है कि सुदामा भगवान्के मित्र ही थे। उनको भक्तके रूपमें चित्रित नहीं किया गया है, किन्तु यह बात नहीं। भगवान् व्यासने उन्हें स्थान-स्थानपर भक्त कहा है—*'इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने।'* बात यह है कि भगवान् दयाके अवतार हैं। उनकी स्वभावसे ही प्राणिमात्रपर दया रहती है। फिर जिस समय वह भगवान्का अनुगत भक्त हो जाता है उस समय फिर भगवान्के अनुग्रहकी सीमा नहीं रहती। उसे वह बड़े प्रेम-भावसे देखते हैं। मित्र समझकर आदर करते हैं। इसी भगवान्के हार्दिक भावसे यहाँ कहा गया है कि—*मित्रभावेन सम्प्राप्तम्* 'मित्र-भावसे जो कोई मेरे पास आता है, उसे मैं नहीं छोड़ता।'

'मित्रभावेन' के आगे है 'सम्प्राप्तम्' ('आगतम्' 'आये हुएको')। जो शरणागत हो रहा है उसको 'शरण्य' की स्तुति-अर्चनादि तो न सही कम-से-कम प्रणाम तो अत्यावश्यक है परन्तु 'सम्प्राप्तम्' पदसे शरणागतवत्सल भगवान् सूचित कर रहे हैं कि शरणमें आनेवालेके लिये मेरे यहाँ स्तुति आदि किसीकी अपेक्षा नहीं, केवल प्राप्तिमात्र अपेक्षित है। जहाँ मुझे मालूम हुआ कि शरणार्थी कोई आया है वहीं उसका कर्तव्य समाप्त होकर मेरे ऊपर सम्पूर्ण भार आ पड़ता है कि अब इसका जल्दी-से-जल्दी सर्व सङ्कटोंसे उद्धार करना उचित है। इसी आशयसे 'प्रणतम्' 'नमस्कार करते हुए' आदि न कहकर महर्षि कहते हैं 'सम्प्राप्तम्' 'आये हुएको।'

शरणागतिमें प्राप्ति अर्थात् अपने समीप आगमनमात्रकी अपेक्षा भगवान् ऊपर बता चुके हैं। इस हिसाबसे 'प्राप्तम्' (आया हुआ) ही कहना पर्याप्त था, किन्तु यहाँ 'सम्' उपसर्ग और जोड़कर 'सम्प्राप्तम्' कहा है। इससे भगवान्का तात्पर्य यह है कि मैंने तो व्रत ले रक्खा है कि जो कोई मेरी 'प्रपत्ति' मात्र ही स्वीकार करेगा अर्थात् मेरे पास केवल आ जायगा, उसे ही मैं स्वीकार कर लूँगा। परन्तु विभीषणकी 'प्रपत्ति' सामान्य नहीं। मानस,

वाचिक, कायिक तीनों प्रकारकी प्रपत्ति हो चुकी है। जिस समय रावणको समझानेमें विभीषणके मुखसे उसके अपकर्षकी बातें निकल गयी थीं और रावण क्रुद्ध हो चुका था उस समय 'इस सङ्कटसे बचानेमें अब यदि कोई समर्थ है तो श्रीभगवान् रामचन्द्र ही हैं' यों उसी समय 'मानस' प्रपत्ति आरम्भ हुई थी। 'वाचिक' प्रपत्ति तो डिण्डिमघोषके साथ हो चुकी है। विभीषण आकाशमें खड़ा रहकर कह चुका है कि *'त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः'* 'स्त्री-पुत्रादिको छोड़कर श्रीरामचन्द्रकी शरणमें आया हूँ।' इस वाचिक प्रपत्तिके तो प्रायः सब ही शिविरके वीर साक्षी होंगे, क्योंकि सबको सुनाकर गर्जनाके साथ उसने कहा था कि 'राघवं शरणं गतः' और 'कायिक' प्रपत्ति तो प्रत्यक्ष ही है कि वह लङ्काको छोड़कर यहाँ स्वयं आया है। ऐसी दशामें उसने 'प्रपत्ति' पूर्णरूपसे स्वीकार कर ली है, यह स्पष्ट है। अतएव अब मैं उसे कैसे छोड़ सकता हूँ। इसी अभिप्रायसे 'सम्' उपसर्गको जोड़कर महर्षिने कहा है 'सम्प्राप्तम्'।

अथवा—'सम्प्राप्तम्' 'सम्यक् प्राप्तम् अच्छी तरह आये हुए।' अर्थात् अन्य विषयोंसे चित्त हटाकर मुझमें अनुरागपूर्वक आये हुएको। जबतक और-और स्थानोंसे चित्त हटा नहीं लिया जाता तबतक भगवान्में एकाग्रता नहीं हुआ करती। भगवद्ध्यानादि-के समय मन एकतान होकर जबतक भगवान्में नहीं लगता तबतक जैसी चित्त-शुद्धि होनी चाहिये नहीं होती। हम जिस समय दुनियावी कामोंमें फँसे होते हैं, किसीसे बातचीत करते होते हैं, उस समय हमारा मन प्रायः अन्यत्र नहीं जाता। किन्तु जिस समय हम चुपचाप आसनपर बैठकर जप अथवा ध्यान करने लगते हैं तब हमारा मन आगे किये जानेवाले कामों-की ओर जबरदस्ती दौड़ पड़ता है। हम ध्यान करते हैं गायत्रीका, किन्तु कचहरीमें जो आजकी तारीख मुकदमेकी दी हुई है उसका चित्रपट अपने आप सामने आ जाता है। सोचते हैं 'वकीलने आशा तो बहुत दी है, देखें आज कैसी बहस करता है।' कई बार विनियोगोंमें लोम-विलोम हो जाते देखा है। मन्त्र बोल रहे हैं उपस्थानका, जैसे ही ध्यान और तरफ गया कि आगे-पीछेका मन्त्र बोलने लगे। फिर आगे चलकर जैसे ही ध्यान आया, वापस फिर दुबारा उपस्थान करना पड़ा। लिखती बार तो अधिक मनुष्योंको यह दोष होता है। लिख कुछ रहे थे परन्तु दूसरे लोग जो कुछ पासमें बातचीत कर रहे थे उसकी तरफ जैसे ही ध्यान गया कि उन शब्दोंके आदिके दो-चार अक्षर लिख गये। फिर लिखावटपर जब ध्यान पहुँचा और वाक्यको अद्भुत बना पाया तो उन अक्षरोंपर काली फेरनी पड़ी। यों या तो अक्षरमाला-को विरूप करना पड़ा या दूसरे कागजपर फिरसे लिखना पड़ा। कहनेका प्रयोजन यह है कि जबतक चित्त एकतान नहीं किया जाता तबतक साधनीय कार्यका निष्कण्टक फल हमें नहीं मिल पाता।

मन्दिरके दरवाजेपर चरणदासियोंको खोलकर जिस समय हम देवदर्शनको जाते हैं उस समय नेत्र तो हमारे देवदर्शन करते हैं किन्तु मनीराम जूतोंपर मँडराया करते हैं—'ऐसा न हो उन्हें कोई ले जाय। अभी नये-नये ही पहने हैं।' कई होशियार पुरुष तो देवमन्दिरके बीचके दालानमें खड़े-खड़े ही दर्शन कर लेते हैं, जिससे दोनों तरफ नजर बराबर बनी रहे। देवमूर्तिके आगे स्तुति-पाठ करते समय 'त्वमेव माता च' कहते हुए एक बार देवमूर्तिपर दृष्टि डालते हैं तो पीछे फिरकर 'पिता त्वमेव' कहते हुए जूतेपर दृष्टि डालते हैं। भगवान् दयालु हैं। उनकी तरफ उपसर्पणमात्रसे भी फल होता ही है, परन्तु जो चित्त-शुद्धि एकान्तभावसे देवदर्शन करनेमें होती है

वह इस खींचातानीमें कहाँ ? मन और बुद्धिका स्वभाव ही यह है कि हम जब कर्मेन्द्रियोंके कामसे खाली रहते हैं उस समय ये दोनों भीतर-ही-भीतर अपनी दौड़ लगाने लगते हैं। भक्त भगवान्से यही प्रार्थना किया करते हैं कि हे भगवन्! आपमें हमारा मन एकतान होकर लग जाय। क्योंकि यदि मन भगवान्में एकाग्रतासे लग गया तो फिर क्या है? फिर कोई साधनीय नहीं रहता। कुन्ती भगवान्से याचना करती है कि—

त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्।
रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति॥

'गङ्गा जिस तरह अपने प्रवाहको समुद्रमें पहुँचाकर ही विश्राम लेती है, इस तरह हे भगवन्! मेरी मति अनन्य विषय (एकतान) होकर आपमें प्रीति करे।' यहाँ गङ्गाके दृष्टान्त देनेका यह तात्पर्य है कि हिमालयके उच्च शिखरसे प्रवाहित हुई भगवती गङ्गाका स्रोत प्रखररूपसे आगेकी ओर बढ़ता है। उसे स्वाभाविकरूपसे रोकनेकी किसीकी शक्ति नहीं। उसके बीचमें जो कोई वृक्ष, पाषाणादि आ जाते हैं उन्हें भी वह बहाकर ले जाता है और समुद्रमें मिलकर ही ठहर पाता है। इसी तरह हे भगवन्! मेरी प्रीतिका प्रवाह भी एकाग्र होकर आपकी ओर इस प्रबलतासे अभिमुख हो जाय कि उसको रोकनेवाले बाह्य विषय उसको तो क्या रोकें प्रत्युत उस बहावमें पड़कर स्वयं भी अपनी सत्ता खो बैठें।'

ठीक है, जबतक विरोधी भावोंकी निवृत्ति नहीं हो जाती, तबतक चित्त स्थिर नहीं हो पाता और चित्त स्थिर हुए बिना कार्यका फल नहीं। किन्तु यहाँ विभीषणने विरोधी भावोंकी आरम्भसे ही निवृत्ति कर दी है। वह कहते हैं—*'परित्यक्ता मया लङ्का मित्राणि च धनानि च'* 'मैंने लङ्का, धन-दौलत, मित्र आदि सबका त्याग कर दिया है।' जब चित्त बँट जानेका सामान ही नहीं रक्खा तो अब चित्त डुलेगा किसपर? जब बैठनेकी छतरी ही नहीं रही, तब कबूतर बैठेगा किसपर? अतएव विभीषण सब कुछ ठुकराकर एकान्त-चित्ततासे भगवान्की तरफ़ आये हैं। इसी आशयसे महर्षि कहते हैं—'सम्-सम्यक् प्राप्तम्।'

अथवा—'सम्प्राप्तम्' 'अच्छी तरह प्राप्त हुए।' 'मेरे अब माता, पिता, भ्राता, निवास, सुहृद्, गति, जो कुछ हैं सब भगवान् हैं।' इसप्रकार मुझमें ही सब प्रकारके बन्धुभावका स्थापन करके अनन्यतासे मुझे प्राप्त हुए। श्रीलक्ष्मण जिस समय अयोध्यासे भगवान् श्रीरामचन्द्रके साथ वनके लिये चलनेको तैयार हुए, उस समय आपने लक्ष्मणको बहुत समझाया। कहा—'अभी तुमने देखा क्या है? तुम्हारा चित्त उस घोर वनमें कैसे लगेगा? वहाँ तुम्हें पिताजीकी याद आयेगी। जिस समय माताके लिये तुम्हारा चित्त व्यग्र होगा उस समय वे कहाँसे आयेंगी?' श्रीलक्ष्मणजीने निवेदन किया कि 'मैंने सब कुछ आपको ही समझ लिया है। माता, पिता, भ्राता जो कुछ कामना योग्य वस्तु हैं मेरे सर्वस्व आप हैं। मुझे अब यहाँ किसके लिये ठहरना है? अहा! अकेले श्रीलक्ष्मणके ही ये विचार हों सो नहीं। उनकी भाग्यवती जननी सुमित्रा भी लक्ष्मणके योग्य ही माता थीं। जिस समय लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रके साथ वन जानेके लिये मातासे अनुमति लेने गये उस समय सुमित्राने उन्हें छातीसे लगा लिया। कहा—'बेटा! तुमसे बढ़कर और कौन भाग्यवान् होगा, जो श्रीरामचन्द्रसदृश बड़े भ्राताकी सेवाका तुम्हें अवसर मिल रहा है। दूसरी माता होती तो कहती कि 'वनवास रामको हुआ है। तुम मेरी गोदीको सूनी करके क्यों जा रहे हो?' किन्तु सुमित्रा कहती है

कि—'देखो बेटा ! श्रीराम और सीताकी सेवामें कभी त्रुटि मत करना । सदा सावधानीसे उपचरण करना । पिता-माताकी भी याद करके कभी अन्यमनस्क न होना । आप कहती हैं—

रामं दशरथं विद्धि मां चैव जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥

'श्रीरामको पिता समझना और माताके स्थानापन्न जानकीको जानना । वनको ही अयोध्या समझना, हे पुत्र ! तुम प्रसन्नचित्त होकर वनको जाओ ।' इसी भाँति विभीषण भी मुझमें सब प्रकारसे बन्धुभाव स्थापन करके शरण आया है । इसी आशयको लेकर महर्षिने कहा है—'सम्प्राप्तम् ।'

अथवा—'सम्प्राप्तम्' 'उत्तम प्रकारसे आये हुए ।' शरणमें आनेके जो कुछ नियम हैं उनके अनुसार आये हुए । हम किसी बड़े आदमीसे मिलने जाते हैं तो वहाँ हमें कैसी-कैसी कवायद करनी पड़ती है । कहीं तो बरामदेमें बैठे-बैठे प्रतीक्षा किया करते हैं कि अब कोई आदमी आवे तो खबर भेजें । कहीं नामका कार्ड भेजकर कमरेपर टकटकी लगाये रहते हैं कि अब उधरसे बुलाहट हो । किसी जगह यही प्रतीक्षा करनी पड़ती है कि किसी कामसे वही बाहर निकल आवें तो स्वयं हम ही जा मिलें । साधारण आदमीसे मिलनेमें भी जब कुछ उसका छन्दानुवर्तन करना ही पड़ता है फिर बड़े आदमियोंकी तो कथा ही क्या है ! यदि वहाँ अभिमानादिसे कुछ भी गलती हो गयी तो फिर किया-कराया सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्णको महाभारतके युद्धका निमन्त्रण देने कौरव-पक्षसे दुर्योधन और पाण्डवोंकी तरफसे अर्जुन यह दोनों ही गये थे । सेवकोंके द्वारा माल्म हुआ कि भगवान् इस समय सुखशयन कर रहे हैं । भृत्योंकी क्या शक्ति थी कि इन्हें रोकते । फिर भगवान्के दरबारमें ! दोनों ही भगवान्के अन्तरङ्गोंमें थे । दोनों ही शयनागारमें जा पहुँचे । आप रत्न-जटित शय्यापर निर्भर शयन कर रहे थे, लाचार दोनोंको ठहरना पड़ा । दुर्योधनको पहले तो प्रतीक्षा करना ही बुरा माल्म हुआ । तथापि जबतक आप जगें तबतक बैठे कहाँ ? अभिमानोन्मत्त वह भगवान्के सिरहानेकी तरफ बैठा, किन्तु भगवान्के अनुगत अर्जुन भगवान्के चरणोंके पास जा बैठे । जैसे ही आपकी नींद खुली और आप शय्यापर उठकर बैठे, वैसे ही सामने अर्जुनपर दृष्टि पड़ी । अर्जुनने भगवान्की दृष्टि पड़ते ही झट पहले निमन्त्रण कर दिया । सिरहाने बैठे दुर्योधनपर पीछे दृष्टि पड़ी । उनका भी निमन्त्रण तो स्वीकार करना ही पड़ा, परन्तु पहले निमन्त्रणमें भगवान् स्वयं पधारे और दूसरे नम्बरके निमन्त्रणमें अपने यहाँकी सेना भेजी । परन्तु *'यत्र कृष्णस्ततो जयः'* जिस तरफ श्रीनिकेतन भगवान् हों भला वहाँ पराजय हो सकता है ? देखिये, मिलनेके विषयकी थोड़ी-सी गलतीमें सब कुछ नाश हो गया ।

हम किसी कार्यके लिये मिलने तो गये परन्तु वहाँके जो अन्तरङ्ग हैं उनके द्वारा न मिले तो पद-पदमें संकट हैं । अन्तरङ्गके तटस्थ होनेपर प्रथम तो मिलनेका अवसर ही कहाँ ! यदि मिले तो भी हम तो विस्तारसे सब कुछ समझा गये परन्तु वह (अन्तरङ्ग) किसी एक ही बातसे कार्यको ऐसा ढहा देंगे कि आपका वहाँ आनातक व्यर्थ हो जायगा । किन्तु यहाँ विभीषण श्रीरामचन्द्रके दरबारमें रीतिके अनुसार पहुँचे हैं । वे जानते थे यदि स्वयं भी मैं चला जाऊँगा तो भी श्रीरामके यहाँ मेरी रुकावट नहीं होगी । परन्तु अन्तरङ्गोंके द्वारा पहुँचनेमें किसी प्रकारका खटका ही नहीं । इसीलिये पहले शिविर-सेनापति, भगवद-न्तरङ्ग सुग्रीवके द्वारा ही उन्होंने खबर पहुँचायी कि 'शरणार्थी कोई खड़ा है ।' सुग्रीवको अपना द्वार

बनाकर उचित प्रकारसे वह श्रीरामकी शरणमें आ रहे हैं। इसी आशयसे यहाँ कहा गया है कि 'सम्प्राप्तम्' अन्तरङ्गोंको आगे करनेसे स्वामीको यह भी तो विचार होता है कि इसके सिफ़ारिश करनेवाले मेरे ही अन्तरङ्ग पुरुष हैं। अब यदि इस प्रार्थनाको स्वीकार न करूँगा तो इन अगुआओंका भी तो एक प्रकारसे अपमान होता है, अतएव अन्तरङ्गोंद्वारा पहुँचनेमें सिद्धि अवश्यम्भाविनी होती है। इसी आशयसे आप आज्ञा करते हैं—'सम्प्राप्तम्' (अन्तरङ्गानुचरोंको आगे करके, उचित रीतिके अनुसार आये हुएको)।

अथवा—'सम्प्राप्तम्' '*सम् साधु यथा स्यात्तथा प्राप्तम्।*' अर्थात् भगवान् चित्तमें हर्षित होकर विभीषणके आनेका अभिनन्दन करते हैं कि 'भले पधारे!' अहा! भगवान्‌की भक्त-वत्सलताका तो विचार कीजिये। आप आज्ञा कर रहे हैं कि यदि विपक्ष-त्राससे संत्रासित कष्टमें पड़ा हुआ विभीषण लङ्कामें बैठा-बैठा ही यदि मेरा स्मरण करके मुखसे कहता कि '*राघवं शरणं गतः*' 'मैं अब भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शरण हूँ' तो क्या मुझसे यहाँ स्वस्थ बैठा रहा जाता? कष्टमें पड़ा हुआ शरणार्थी तो मेरे आश्रयके लिये पुकार रहा है और मैं यह सोचूँ कि इसे जरूरत होगी तो यह अपने आप यहाँ आ जायगा, भला यह उचित है?

पुत्र स्वेच्छाचारी है, माता-पिताकी आज्ञा बिल्कुल नहीं मानता। कुपूत है, माता-पिता भी उससे तरह दिये रहते हैं। किन्तु वही पुत्र जिस समय रोग-शय्यापर पड़ा-पड़ा छटपटाता है, एक घूँटभर पानीके लिये पुकारता है, उस समय क्या जननीसे यह कष्ट देखा जाता है? हजार स्वच्छन्द हो, हजार कुपूत हो, किन्तु जिस समय माता पुत्रको कष्टमें पड़े हुए देखती है, उसके गुण-अवगुण उसे कुछ याद नहीं रहते। वह विह्वलचित्तसे उसके पास दौड़ी जाती है। सम्मुख देखनेकी तो बात ही दूसरी है परन्तु देश-देशान्तरोंसे खबर मिलनेपर भी माता-पिता वहीं दौड़े जाते हैं। फिर भला, करुणावतार भगवान् कष्टमें पड़े हुए शरणार्थीकी उपेक्षा कर सकते हैं? साधारण रास्ता चलता हुआ आदमी भी अपरिचित एक दीन बालकको दुःखमें पड़ा हुआ देखकर अपना काम छोड़ देता है, उसकी सहायता पहले करता है, फिर भला भगवान् कष्ट-पतितको यों ही देखा करेंगे? क्या अच्छा कहा है—

अयि गर्तमुखे गतः शिशुः
पथिकेनापि जवान्निवार्यते।
जनकेन पतन् भवार्णवे न
निवार्ये भवता कथं विभो॥

'किसी गड़हेमें पड़ते हुए बालकको रास्ता चलता बटोही भी बड़ी हड़बड़ाहटसे बचा लेता है। फिर हे भगवन्! पिता होकर आप इस भवसागरमें पड़ते हुए मुझे क्यों नहीं निवारण करते हैं।'

भगवान् चाहे जहाँ हों, चाहे जैसे कार्यमें व्यग्र हों, परन्तु सब काम छोड़कर आप पहले वहाँ पधारते हैं जहाँ आपका शरणार्थी आपको पुकार रहा हो। आजतकके दृष्टान्त देख लीजिये—प्रह्लाद जिस समय कष्टमें पड़े और उन्होंने आपको हृदयमें याद किया, पाषाणका हृदय चीरकर आपको तुरन्त वहाँ प्रकट होना पड़ा। गजेन्द्रने याद किया तब वैकुण्ठसे दौड़ना पड़ा। यहाँतक कि शीघ्रताके मारे गरुड़तकको पीछे छोड़ना पड़ा। राजमदसे सतायी हुई अबला द्रौपदीने जिस समय आँसूभरे दीन नेत्र ऊपर किये, गद्गद् कण्ठसे आपको पुकारा उस समय उस जुआरियोंके अड्डेमें आपको हाजिर होना पड़ा। चीरकी खींचातानीमें आपको उलझना पड़ा। एक क्या, अनन्त ऐसे उदाहरण मौजूद हैं जहाँ कष्टमें पड़े हुए शरणार्थीके

लिये स्वयं भगवान्‌को दौड़ना पड़ा है । फिर विभीषण लङ्कामें बैठकर जिस समय भगवान्‌को पुकारते तो क्या भगवान्‌को वहाँ नहीं जाना पड़ता ? नहीं-नहीं, उसी पापपुरीमें, राक्षस-विक्षोभित उसी लङ्कापुरीमें, सब शङ्काओंको छोड़कर जाना पड़ता । इस समय तो समुद्रोल्लङ्घनके लिये कई बाँधन बाँधे जाते हैं परन्तु उस समय आनन-फाननमें वहाँ पहुँचना पड़ता । राक्षस-सन्तरियोंके चाहे जैसे कड़े पहरे होते उन्हें लाँघकर तत्काल ही आपको वहाँ हाजिर होना पड़ता । किन्तु भगवान् यहाँ देखते हैं कि शरणार्थी स्वयं सामने आ खड़ा हुआ है, इससे बढ़कर भला और कौन-सा (प्रहर्षण) अलंकार ढूँढने जायँ । पर्वके दिन सब लोग गंगाजीमें स्नान करनेके लिये दौड़े जाते हैं । श्रद्धालुओंकी भीड़ चली जा रही है । सब अपने-अपने उद्धारके लिये व्यस्त हैं । किन्तु बेचारा पङ्गु पैरोंसे लाचार है । स्नानके लिये कैसे जाय । अश्रु-गद्गद् हुआ वहीं बैठा भगवती गङ्गाका स्मरण कर रहा है । उस समय यदि गङ्गा स्वयं उसके सम्मुख ही आ पहुँचें तो क्या उसके हर्षकी सीमा रहेगी ? भगवान् श्रीरामचन्द्र भी कह रहे हैं कि पङ्गुके ऊपर गङ्गा-निपतनसे जो आनन्द होता है वही आनन्द, वही भाग्यका सौभाग्य मेरा भी है जो विभीषण स्वयं सामने उपस्थित है । अतएव उसका अभिनन्दन करते हुए आप कह रहे हैं—'सम्प्राप्तम्' 'सौभाग्यसे भले ही आये हुएको ।'

(क्रमशः)

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

८५२—चञ्चल चित्तपर सङ्गीतका विलक्षण सुखद प्रभाव पड़ता है । अमेरिकामें डाक्टर अनेकों रोगोंका—विशेषतः स्नायुसम्बन्धी रोगोंका इलाज सङ्गीतद्वारा करते हैं। सङ्गीत मनको विकसित भी करता है । नवधा-भक्तिमें कीर्तन भी एक है । इसके द्वारा भावसमाधि प्राप्त होती है । सम्पूर्ण भारतमें इसका पूर्ण प्रचार है । यह ईसाईलोगोंके प्रार्थना-सङ्गीतके तुल्य है । बङ्गालके रामप्रसादने कीर्तनके द्वारा ब्रह्मका अनुभव किया था। उसके सङ्गीत बङ्गालमें बहुत ही प्रसिद्ध हैं । इस कलिमें कीर्तन ही भगवान्‌के प्राप्त करनेका सरल मार्ग है। हरिनामका सतत कीर्तन करो, सतत उसका गुणगान करो, तुम्हें हरिका दर्शन प्राप्त होगा । जो अच्छा गा सकते हैं उन्हें एकान्त स्थानमें चले जाना चाहिये और शुद्ध भावसे प्रेमपूर्वक गाना चाहिये । यथा-समय वे भाव-समाधिमें प्रवेश करेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं ।

८५३—मनका विश्लेषण करते जाओ, अन्तमें तुम उस सूक्ष्मतम अवस्थाको पहुँचोगे जिसे परमाणु या तन्मात्रा कहते हैं, जिसकी परमाशक्तिसे इन्द्रियाँ और उसके विषयोंका उद्भव होता है ।

८५४—'अमन' एक शब्द है जिसका अर्थ है मनरहित । अमनस्कता एक अवस्था है जिसमें मन रहता ही नहीं । यह मनरहित दशा होती है । जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह अवस्था पायी जाती है ।

८५५—मन और प्रकृति एक ही अखिल पूर्णब्रह्मके दो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप हैं, जो स्वयं इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं, परन्तु यह दोनों उसमें निहित हैं ।

८५६—मन केवल इसी अर्थमें अप्राकृतिक कहा जा सकता है कि इसमें चिन्मय-तत्त्व नहीं । इसे उस अर्थमें भी अप्राकृतिक नहीं कह सकते हैं कि यह ब्रह्मके समान है । मन सूक्ष्म-तन्मात्रिक द्रव्योंसे बना है ।

८५७—मानसिक आकृति केवल दृष्ट वस्तुओंका पूर्वाभ्यासमात्र है, जैसे पहले प्राप्त की हुई और चखी हुई एक

नारङ्गीके रूप, रङ्ग, आकृति, स्वाद, गन्ध प्रभृतिकी तुम मानसिक सृष्टि करते हो ।

८५८—शुद्धताके पश्चात् ईश्वरमें मनको जमानेसे तुम्हें यथार्थ आनन्द और ज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है । तुम केवल इसी उद्देश्यके लिये उत्पन्न हुए हो । केवल राग और मोह तुम्हें बाह्य विषयोंकी ओर ले जाते हैं । हृदयमें भगवान्‌का ध्यान करो । हृदय-गुफामें प्रवेश करो और जितना गहरे जा सको, जाओ । अपनी चेतनाके समस्त बिखरे हुए सूत्रोंको सञ्चित करो और उनको लपेटे हुए एक डुबकी लगाओ और खूब गहरे पैठो । हृदयकी गहरी गुफाके सन्नाटेमें अग्नि जल रही है । वही तुम्हारे भीतर दैवी छटा है, वही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है । उसकी आवाज़ सुनो और उसका अनुसरण करो । केन्द्रिय शक्ति हृदयमें निहित है और हृदयसे समस्त केन्द्रिय गतियाँ होती हैं, जो ब्रह्मानुभवके लिये शक्ति तथा सुधारकी आकांक्षा प्रकट करती हैं ।

८५९—सबसे पहले तुम्हें अपने एक अप्रधान अंशका ही भान होता है, अधिकांशसे तो तुम अनभिज्ञ ही रह जाते हो । इसी अनभिज्ञतासे तुम तुच्छ स्वभावमें पड़े रहते हो तथा विकास और आत्म-सुधारसे वञ्चित रह जाते हो । इसी अनभिज्ञताके कारण आसुरी शक्तियाँ तुम्हारे अन्दर प्रवेशकर तुम्हें अपना दास बना डालती हैं । मन ही माया है । यह सदा तुम्हें प्रलोभन देते रहता है, तुम्हें धोखा देता है तथा नीचा दिखलानेके लिये, तुम्हें विषयोंमें आसक्त करनेके लिये अपनी शक्तिभर चेष्टा करता है । तुम्हें स्वयं सचेत होना है । तुम्हें अपने स्वभाव और गतिविधिके लिये अवश्य सचेत होना होगा । तुम्हें जानना चाहिये कि क्यों और किसलिये तुम कोई काम करते हो, अनुभव करते हो तथा चिन्तन करते हो । तुम्हें अपनी प्रवृत्ति और भावों-को तथा गुप्त और प्रकट शक्तियोंको जो तुम्हें परिचालित करती हैं अवश्य ही समझना होगा । वस्तुतः तुम्हें एक-एक करके अपने जीवनके समस्त यन्त्रको समझ लेना होगा । तुम एक बार सचेत होते ही वस्तुओंको पहचान सकते हो और उन्हें तौल सकते हो । तुम्हें ज्ञात हो सकता है कि कौन-सी शक्तियाँ तुम्हें गिरा रही हैं और कौन-सी ऊपर उठनेमें सहायता प्रदान कर रही हैं और जब तुम्हें सत्यासत्य, शुभाशुभ, दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियोंका ठीक ज्ञान हो जायगा तब तुम अपने ज्ञानके अनुसार कार्य करने लगोगे अर्थात् दृढतापूर्वक सत्यका ग्रहण और असत्यका त्याग करोगे । द्वन्द्व प्रतिपल तुम्हारे सामने उपस्थित होते हैं और तुम्हें उनमेंसे एकको चुनना पड़ता है । तुम धृति और धीसे युक्त हो जाते हो और गीताके—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।'

—के समान तुम्हारी स्थिति हो जाती है । तुम्हें सदा दैवी गुणोंके सामने आसुरी गुणोंके प्रवेशको रोकना पड़ेगा । अन्तमें मनपर तुम विजय प्राप्त करोगे । तुम अपने निज-स्वरूप, सत्-चित्-आनन्दमें विश्राम करोगे ।

८६०—योग शुचिताकी क्रियाके द्वारा तुम्हारे आन्तरिक गुप्त भावों और अभिलाषाओंको प्रत्यक्ष करके दूर फेंकता है । तुम्हें किसी बातको छिपाने तथा किनारे रख छोड़ने-की आदत नहीं लगानी चाहिये । तुम्हें उनका सामना करके उनपर विजय प्राप्त करना तथा उनको सुधारना होगा । योगका प्रथम प्रभाव इसप्रकार मानसिक शासन-को दूर करना है और इसप्रकार मुमुक्षा जो सुप्त पड़ी है अचानक जाग्रत हो जाती है । वह उठकर झटपट आत्म-तत्त्वको व्याप्त कर देती है । जबतक मानसिक शासनके स्थानमें दिव्य शासन उपस्थित नहीं किया जाता तबतक एक ऐसा परिवर्तनकाल रहता है जब तुम्हारी श्रद्धा-शीलता तथा आत्मसमर्पण परीक्षणीय दशामें रहते हैं । भोग-वासनाकी शक्तियोंका जो प्रभाव देखनेमें आता है उसका कारण यही है कि लोग उसपर अत्यधिक ध्यान देते हैं । लोग बलपूर्वक उनका सामना करते हैं और बलात्कार ही उनपर अधिकार करनेका प्रयत्न करते हैं, उन्हें वशीभूत करके उनपर अवस्थित होते हैं । परन्तु जितना ही अधिक तुम किसी वस्तुके लिये सोचते हो और कहते हो कि—'मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, मैं इसकी प्रतीक्षा नहीं करता ।' उतना ही अधिक तुम उससे बँधे जाते हो । तब तुम्हें करना यही चाहिये कि उस वस्तुको अपनेसे दूर रक्खो जिससे तुम्हारा उससे सम्पर्क न हो, और जहाँतक सम्भव हो उसपर कम ध्यान दो और यदि तुम्हें उसके विषयमें सोचना ही पड़े तो तुम्हें तटस्थ और अनासक्त रहना चाहिये ।

८६१—योगके दबावसे उत्पन्न हुई कामनाओं और वासनाओंका सामना बड़ी ही शान्ति और अनासक्त भावनासे करना चाहिये और उन्हें अपनेसे अतिरिक्त

बाह्य जगत्‌की वस्तु समझना चाहिये । उन्हें प्रभुको समर्पित कर देना चाहिये, जिससे भगवान् उन्हें ग्रहण करके दूसरे रूपमें बदल दें ।

८६२-आत्मज्ञाननिष्ठ मनके द्वारा तुम्हें विषयगामी मनका संयमन करना चाहिये, और ऊँचे उठकर, हृदयके नैराश्यको दूर हटाते हुए उस अमर परमपदकी प्राप्तिके लिये तपोधनका सञ्चय करना चाहिये । जिसप्रकार सम्राट् सब राजाओंको अपने वशमें रखता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तको निश्चल मनके पूर्ण अधिकृत करना चाहिये, तभी वह निश्चल मन परमपदकी निजावस्थाको प्राप्त होगा ।

८६३-इस संसाररूपी समुद्रमें कामनाएँ मगरके समान हैं, मनके सतहपर जैसे ही वे उठें वैसे ही उन्हें मार डालो, उन्हें उत्तेजित करनेकी चेष्टा न करो, अपने प्रयत्नोंसे निराश मत बनो, पूर्ण सात्त्विक मनके साथ मैत्री स्थापित करो, और शुद्ध मनके द्वारा अशुद्ध मनको नष्ट करो । अपने मनको आनन्दस्वरूप आत्मामें विश्राम करने दो । कामनाएँ जैसे ही मनमें उठें वैसे ही विवेक और अथक अटूट प्रयत्नके द्वारा उन्हें नष्ट कर दो ।

८६४-सविकल्प-समाधिमें ध्याता, ध्यान और ध्येय-की त्रिपुटी बनी रहती है । निर्विकल्प-समाधिमें यह त्रिपुटी नहीं रहती । मन पूर्णतया ब्रह्ममें लीन हो जाता है । सविकल्प-समाधिमें जो आनन्द तुम्हें मिलता है वह रसास्वाद कहलाता है, यह आध्यात्मिक उन्नतिके लिये प्रतिबन्धस्वरूप है । यह तुम्हारी गतिको निरुद्ध कर देता है, यह तुम्हें छोड़ नहीं सकता । तुम्हें आगे बढ़कर निर्विकल्प-अवस्थाको प्राप्त करना होगा जहाँ तुम्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ।

८६५-ध्यान करते समय आँखें क्यों मूँद लेते हो ? आँखें खोलकर ध्यान करो । शहरके शोर-गुलमें रहनेपर भी तुम्हें मनको समाहित रखना होगा । तभी तुम पूर्ण होते हो । प्रारम्भमें जब तुम नवीन अभ्यासी रहते हो उस समय मनकी चञ्चलताको दूर करनेके लिये तुम आँखें मूँद सकते हो क्योंकि तब तुम बहुत ही कमज़ोर रहते हो । परन्तु पीछे तुम्हें आँखें खोलकर, यहाँतक कि चलते-चलते भी ध्यान करना चाहिये । खूब दृढ़तापूर्वक चिन्तन करो कि जगत् है ही नहीं, केवल आत्मा ही है । जब तुम आँखोंके खुले रहते हुए भी आत्माका ध्यान कर सकोगे तभी तुम बलवान् बनोगे । और तभी सहज ही विघ्नोंके वशमें न हो सकोगे । ज्ञानी जगत्‌में बिल्कुल ही प्रवेश नहीं करते, परन्तु हम सदा देखते हैं कि वे लोक-संग्रहके लिये संसारमें आते हैं ।

८६६-समय एक प्रकारका मन ही है, यह काल-शक्ति है । विषयोंके समान यह भी भ्रमात्मक है । जब तुम्हारा मन खूब एकाग्र हो जाता है तो दो घण्टेका समय पाँच मिनट-सा मालूम होता है । जब मन क्षुब्ध और भ्रान्त रहता है तो आधा घण्टा कई घण्टेके समान जान पड़ता है । यह प्रत्येकका अनुभव है । स्वप्नमें भी बहुत-सी घटनाएँ जो पचासों वर्षकी जान पड़ती हैं केवल दस मिनटमें ही जाती हैं । मन कल्पको क्षण और क्षणको कल्प बना देता है ।

८६७-अज्ञानीका मन अव्यवस्थित होता है, उसमें अनेकों सङ्कल्प तथा बहुत ही चञ्चलता होती है । उनका मन सङ्कल्पके द्वारा सदा ही क्षुब्ध रहता है । परन्तु ज्ञानी सङ्कल्पोंसे मुक्त होते हैं । वे सदा अपने आत्म-ज्ञानमें लीन रहते हैं जिससे उन्हें परमतृप्ति और परम-शान्ति मिलती है ।

८६८-ध्यान दो, किसप्रकार एक सङ्कल्पका विस्तार नाना प्रकारके सङ्कल्पोंमें होता है । मान लो तुम्हें अपने मित्रोंको चाय-पार्टी देनेका सङ्कल्प हुआ । चायका विचार होते ही चीनी, दूध, प्याला, टेबल, कुर्सी, टेबलक्लाथ, तौलिया, चमचा, मिठाइयाँ, नमकीन आदि नाना वस्तुओं-का विचार हो जाता है । इसी प्रकार यह जगत् सङ्कल्पके विस्तारके अतिरिक्त कुछ नहीं है । मानसिक विचारोंका विषयोंकी ओर बढ़ना ही बन्धन है । सङ्कल्पोंका त्याग ही मोक्ष है । सङ्कल्पोंको मूलमें ही नष्ट कर देनेके लिये तुम्हें सदा सचेष्ट रहना चाहिये । तभी तुम यथार्थ सुखी हो सकते हो । मन धोखा देता है और खेल खेलता है । तुम्हें इसके स्वभाव, ढंग और आदतोंको समझना चाहिये । तभी तुम आसानीसे इसको वशमें कर सकोगे ।

८६९-मनकी भ्रान्तिसे एक फर्लांगकी दूरी बहुत बड़ी जान पड़ती है और तीन मीलकी दूरी बहुत ही समीप मालूम होती है । तुम्हें अपने नित्यके जीवनमें इसका विचार करते रहना चाहिये ।

८७०—यह जगत्का छायाचित्र मनका ही निर्मित किया हुआ है। मनोमात्र जगत् 'मनःकल्पित जगत्'—यह जगत् स्वयं मनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परब्रह्मका आत्म-प्रकाश ही मन या जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है। मन प्राज्ञ-शक्ति है, प्रकृति भूत-शक्ति है और प्राण ब्रह्मकी क्रिया-शक्ति है। प्रत्येक वस्तु ब्रह्मकी ही है। यथार्थमें जीव है ही नहीं, केवल ब्रह्म ही है।

८७१—विचार ही यथार्थ कर्म है। मनकी क्रियाशक्ति ही यथार्थ कर्म है। यदि मनका विक्षेप दूर हो जाय तो तुम्हें आत्म-निष्ठाकी प्राप्ति होगी। तब मन निश्चय ही शान्त हो जायगा। मनके विकारोंसे बचो, मनको वशमें करो, तब जन्म-मृत्युके साथ-साथ समस्त सांसारिक दुःखोंका अन्त हो जायगा। यदि तुम मनके पञ्जेसे अपनेको छुड़ा सको तो मोक्ष स्वयमेव आ उपस्थित होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। विचार, साधन, निदिध्यासन, सत्-शास्त्र-विचार, सत्सङ्ग यह समस्त मनके संयमन और मुक्तिकी प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक होते हैं।

८७२—मन माया है। जब मन सरगर्मीसे विषयोंकी ओर दौड़ता है तब माया मनुष्यके ऊपर अपना अधिकार जमाती है। माया मनके द्वारा ही विनाश करती है। माया अपनी शक्तिसे मनमें असंख्य सङ्कल्प उत्पन्न करती है। जीव सङ्कल्पोंका शिकार बन जाता है। इच्छाओं, सङ्कल्पों और विषयोंका त्याग करो। वैराग्यशील बनो। इस तुच्छ 'अहं' को त्याग दो। समस्त सङ्कल्प इसी 'अहं' को घेरे और लिपटे रहते हैं। वे इसी 'अहं' से उत्पन्न होते हैं। शरीरका विशेष ध्यान न रक्खो। जहाँ-तक कम हो सके, शरीर और इसकी आवश्यकताओंका विचार करो। गुरुके पास जाओ, उपनिषद्, गीता, विवेक-चूडामणि, आत्मबोध, पञ्चदशी आदिका और अन्तमें योगवाशिष्ठका अध्ययन करो। बारम्बार चिन्तन करो। ब्रह्मभावनाको एकत्रितकर उसे अभ्यसितकर उसमें लीन हो जाओ। मनकी अन्तर्मुखी वृत्ति हो जायगी और अन्तमें तुम्हें कैवल्यनिष्ठा प्राप्त होगी। डरो मत हे सौम्य!

८७३—जिसप्रकार तुम एक पत्थरके द्वारा दूसरे पत्थरका ढाँचा बनाते हो उसी प्रकार अशुद्ध मनको शुद्ध मनके द्वारा यत्नपूर्वक सुधारो।

८७४—तुम केवल अपने अथक परिश्रम और निर्भय शक्तिके द्वारा ही ब्रह्मज्ञानको प्राप्त कर सकते हो। गुरु और शास्त्र तुम्हें मार्ग दिखा सकते हैं और तुम्हारे संशयोंका निवारण कर सकते हैं। अपरोक्ष अनुभव तो तुम्हें अपनी चेष्टासे ही होगा। भूखे आदमीको स्वतः ही भोजन करना पड़ता है। जिसे खुजली हुई होती है उसे ही बदन खुजलाना पड़ता है।

८७५—सङ्कल्प न करो। चञ्चल मन स्वयमेव नष्ट हो जायगा, वह ब्रह्ममें मिल जायगा और तब तुम्हें साक्षात्कारकी प्राप्ति होगी। जब मनका नाश होता है 'मैं' 'तू' 'यह' 'वह' 'समय' 'देश' 'जीव' 'जगत्' सबका अभाव हो जाता है। भीतर और बाहरकी भावना जाती रहती है। केवल एक अखण्ड चिदाकाशका अनुभव रह जाता है, जो परिपूर्ण है। हृदयमें ज्ञान होनेसे समस्त संशय और भ्रम निवृत्त हो जाते हैं।

(क्रमशः)

यार नन्दके कुमारको

कहा रसखान सुखसम्पति सुमारमहँ, कहा महायोगी ह्वै लगाये अंग छारको।
कहा साधे पंचानल, कहा सोये बीच जल, कहा जीत लीन्हें राज सिंधु वार-पारको॥
जप बार-बार तप संजम अपार व्रत, तीरथ हजार अरे बूझत लबारको।
सोई है गवाँर जिहि कीन्हों नहीं प्यार, नहीं सेयो दरबार यार नन्दके कुमारको॥

—रसखान



६

गुरु-अन्वेषण

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)



कलकत्तेमें एक विद्वान् बंगाली ब्राह्मण हाईकोर्टके वकील थे। उन्होंने वकालत छोड़कर आजन्म ब्रह्मचारी रहकर केवल भगवत्-सेवामें अपने जीवनको व्यतीत करनेका निश्चय किया। उस समयतक उन्होंने किसीको अपना गुरु नहीं बनाया था। उनके इस सत्सङ्कल्पको सुनकर उनके पास कई संन्यासी आये और उनसे कहा कि 'अब तुम्हारा समय हो गया है, हमसे दीक्षा लो।' इसके उत्तरमें वह कहते थे कि 'मुझमें तो यह सामर्थ्य नहीं कि मैं योग्य गुरुकी पहचानकर उनसे दीक्षा लूँ, अतएव मैं स्वयं किसीको गुरु न चुनकर इस महान् कार्यको ईश्वरपर ही छोड़ता हूँ, वे ही जिसके लिये अनुमति देंगे उन्हें गुरु बनाऊँगा।' इसप्रकार वह ईश्वरपर ही गुरु-प्राप्तिके लिये निर्भर हो गये। परिणाम यह हुआ कि एक दिन एक बड़े सद्गुरुने स्वयं आह्वान करके उनको दीक्षा दी। वह सद्गुरु किसीको आह्वानकर दीक्षा नहीं देते थे परन्तु इनके विषयमें उन्होंने यह असाधारण कार्य किया। जिसप्रकार चुम्बकके द्वारा लोहा आकर्षित होता है उसी प्रकार आह्वान आनेपर ब्रह्मचारीने स्वयं आकर्षित हो उनके पास जाकर दीक्षा ली और इससे उनको शान्ति मिली।

आजकल गुरु-वरण एक बड़ी ही विषम समस्या है क्योंकि ऐसे यथार्थ गुरु बहुत कम मिलते हैं जो शिष्यके अविद्यान्धकारको हर लें। ऐसे गुरुओंकी ही आजकल अधिकता है जो या तो शिष्यके द्रव्यको हरण करते हैं अथवा दूकानदारीके समान अपने महत्त्वकी ख्याति ही जिनका प्रधान उद्देश्य होता है, इसके लिये वे बहुतेरी अयोग्य नीतिका व्यवहार भी करते हैं। इसप्रकारके गुरुओंके फन्देमें बेचारे भोले-भाले शिष्य सहज ही फँस जाते हैं। उनमेंसे कितनोंका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। कितने ऐसी साधनामें लग जाते हैं जिनसे उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है अथवा जिनसे वह अदृश्य जगत्के मायिक दृश्यों और चमत्कारोंको देखकर तथा क्षुद्र शक्तियोंको प्राप्तकर अधिकाधिक मायाके जालमें फँस जाते हैं और इसप्रकार मुक्तिके बदले अधिकाधिक बन्धनमें ही उलझ जाते हैं। आजकलके कलियुगी नामधारी गुरुओंका प्रायः यही कथन होता है कि 'केवल मैं ही एक सत्यपन्थ और सत्य सिद्धान्तको जानता हूँ, अन्य सब पन्थ अधूरे अथवा नकलमात्र हैं। जो कोई मेरा शिष्य होगा, केवल वही लाभ उठा सकता है। बिना शिष्य हुए और गुरु माने गुह्य उपदेश नहीं दिया जाता' इत्यादि।

अच्छे गुरु सदा लोकहितमें तत्पर रहते हैं और जिज्ञासुओंकी योग्यताके अनुसार उन्हें उपदेश देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। विवेक-चूडामणिमें सद्गुरुका लक्षण इसप्रकार लिखा गया है—

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो
वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः।
तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जना-
नहेतुनान्यानपि तारयन्तः॥३९॥

अयं स्वभावः स्वत एव यत्पर-
श्रमापनोदप्रवणं महात्मनाम्।
सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल॥४०॥

शान्त प्रकृतिके महात्मा वसन्त-ऋतुके समान केवल संसारका हित करते रहते हैं, वह बिना स्वार्थके अन्य लोगोंको इस कठिन संसारसागरसे तारते

हुए स्वयं भी तर जाते हैं। दूसरोंके कष्टका नाश करनेमें तत्पर रहना ही महात्माओंका स्वयंसिद्ध स्वभाव है। जिसप्रकार चन्द्रमा सूर्यकी कर्कश प्रभासे अभितप्त पृथ्वीको शान्ति प्रदान करता है।

साधकोंको गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है। प्रारम्भिक साधनाके हो जानेपर अथवा प्रारम्भिक साधनाका यथार्थरूप जाननेके लिये और उसमें विशेषरूपसे प्रवृत्ति होनेके लिये गुरुका होना अत्यन्त आवश्यक है। जो सच्चे श्रद्धालु साधक हैं और भगवान्‌का भरोसा करते हैं उनको भगवान् किसी-न-किसी प्रकार सद्गुरुसे सम्बन्ध करा ही देते हैं।

सद्गुरुकी प्राप्तिका एक उपाय है। एकादशीके दिन पूर्ण निराहार उपवास करे और सन्ध्याको स्नान करके जप-ध्यानादि करनेके बाद सोनेके समय लिपी हुई जमीनपर जलसे पवित्र की हुई कुशकी चटाईपर सोवे और नींद आनेके पूर्व गीताके निम्न श्लोकको मन-ही-मन रटता रहे और रटन करते समय इसके अर्थकी भी भावना करता रहे—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

अर्जुन श्रीभगवान्‌से कहते हैं कि 'मैं ममताजनित शोक-मोहसे अभिभूत और धर्माधर्मके विषयमें अनिश्चित हूँ। मैं अत्यन्त दीन और ज्ञानविहीन आपके शरणागत हूँ, आपका शिष्य हूँ। जिसमें मेरा कल्याण हो वह उपाय मुझको आप निश्चयपूर्वक कहिये।'

इस विषयमें यह भी याद रखना चाहिये कि यह प्रार्थना उसीके लिये सार्थक हो सकती है जो अर्जुनकी भाँति कल्याणके मार्गका जिज्ञासु होकर उसके न मिलनेसे व्याकुल हुआ हो और परमविनीत भावसे श्रीभगवान्‌को परमगुरु मानकर उनसे प्रार्थना करता हो कि वह कृपाकर उसके लिये कल्याणका ठीक मार्ग बतलावें। इस भावसे भावित साधक यदि कातर होकर इस श्लोकके जपद्वारा श्रीभगवान्‌से अपने पारमार्थिक कल्याणके मार्गको जाननेकी प्रार्थना करेगा, श्रीभगवान् स्वप्नमें कभी-न-कभी उसको उचित उत्तर अवश्य प्रदान करेंगे। यदि एक एकादशीको स्वप्नमें कोई उत्तर न मिले तो अगली एकादशियोंमें ऐसा ही व्रत करना चाहिये। यह एक महात्माका कथन है और एक साधकको (जिज्ञासुको) कुछ दिन हुए स्वप्नमें उचित उत्तर मिला है। प्रायः उत्तर स्पष्ट न होकर सांकेतिक होता है जिसके भावको समझनेसे वह स्पष्ट हो जाता है।

हाँ, यह स्मरण रखना चाहिये कि सांसारिक कामनाकी पूर्तिके लिये इस श्लोकके जपद्वारा प्रार्थना करनेसे जापकको प्रायः लाभ नहीं होता।

नट

सोहत ओढ़े पीतपट, स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि-सैलपर, आतप परयो प्रभात॥
लटकि लटकि लटकत चलत, डटत मुकुटकी छाँह।
चटक भरयो नट मिलि गयो, अटक अटक वट माँह॥

—बिहारीलाल

श्रीवृन्दावन-धामका बाहरी और भीतरी दृश्य

(लेखक—श्रीदुर्गाप्रसादजी त्रिवेदी)



गोकुल-सागरको श्रीनन्दराय और यशोदारानीने तप-मेरु-रईसे भक्तिरज्जुद्वारा बाँधकर मथा जिससे श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हुए। वे वृन्दावन-आकाशमें आकर उदित हुए, उनकी ज्योत्स्नाकी शुभ्र छटासे यह पृथिवी प्रकाशमान हो गयी तथा मनुष्योंके हृदय-मन्दिर आलोकित हो उठे। इन श्रीकृष्णचन्द्रकी चन्द्रिकासे सहृदय सज्जनोंके अन्तःकरण देदीप्यमान, मन-कुमुद प्रफुल्लित, कान्ति उज्ज्वल और नयन चकोर बन गये। तब सम्मिलित भावकी स्वर-लहरि एक साथ गूँज उठी-

तेरो मुख चन्द्र चकोर मेरे नयना

—और यह रसनाद्वारा रसिकजनोंके कर्ण-कुहरमें प्रवेशकर श्यामघन बन आनन्द बरसाने लगी। इसप्रकार श्रीकृष्ण-चरित्र स्वाति-बूँदके लिये कृष्ण-जन-कर्ण चातक हो गये। वह उससे तर होकर पुलकित हो उठे, स्पर्शके लिये उनकी त्वगिन्द्रिय आकर्षित होने लगी, श्वास-श्वासपर श्रीकृष्ण-स्मरणकी धार बह उठी। इसप्रकार प्रथम रसना, कर्ण, त्वक् आदि ज्ञानेन्द्रियोंका और तत्पश्चात् कर्मेन्द्रियोंका भी झुकाव श्रीहरिकी ओर होने लगता है।

कालान्तरमें श्रीकृष्ण-जनोंकी हृदय-भूमिमें वृन्दावन झलकने लगता है। वहाँ भक्तिरूप यमुना बहती है और उसके निकट ही श्रीकृष्णानुरागरूप गोवर्द्धनका दर्शन होने लगता है। इस यमुना-पुलिनमें भी विहार करते हुए श्रीकृष्ण निजजनोंको मिलते हैं। व्यासजीने इस वृन्दावनका चित्र श्रीमद्भागवतमें खींचा है—

वृन्दावने गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप॥
(दशम स्कन्ध)

'वृन्दावनमें गोवर्द्धन और यमुना-पुलिनके दृश्यका अवलोकनकर श्रीबलराम और श्रीकृष्ण मारे प्रेमके आनन्दमें गद्गद हो गये।' वृन्दावनमें भावुकोंको श्रीकृष्णका दर्शन कभी नटवर-वेशमें ग्वाल-बालोंके संग यमुना-तट गोवर्धनपर गो चराते हुए होता है और कभी वह यमुना-पुलिनपर गोपियोंसे सेवित वंशी बजाते हुए दर्शन देते हैं तथा कभी निकुञ्जवनमें सशक्ति—राधामाधवरूपमें दीख पड़ते हैं।

जब इन्द्रियोंका झुकाव, जैसा ऊपर वर्णन किया जा चुका है, हरिकी ओर होने लगता है तब यह 'गो' (इन्द्रियाँ) भक्तियमुनातटस्थ श्रीअनुराग-गोवर्द्धनपर कृष्ण ग्वालेकी देख-रेखमें आनन्दपूर्वक 'तृणवीरुधम्' चरती हैं तथा प्यास लगनेपर यमुना-नीर पीती हैं। इसका अष्टछापके छीतस्वामीने अपने पदोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। व्यासजीने वृन्दावनकी शोभा और उसके पदार्थोंका चित्र इसप्रकार खींचा है—

वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम्।
गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्यादितृणवीरुधम्॥

गोपी क्या है? इसका वर्णन बहुधा लोग विपरीत ही किया करते हैं। उन बेचारोंको ज्ञान नहीं कि जिस ग्रन्थके रचयिता वेदोंके सङ्कलन करनेवाले वेदव्यास, व्याख्याता बाल-ब्रह्मचारी बालरूप शुकदेवजी, श्रोता मृत्युशय्यापर अन्तिम कालकी प्रतीक्षामें पड़ा हुआ सम्राट्—श्रीकृष्णके भानजेका पुत्र और पाण्डवोंका पौत्र, तथा जिस ग्रन्थका चरित्रनायक बालकृष्ण, उसकी कथामें

संसार-सागरसे पार उतारनेके बदले उसमें फँसानेवाली काम-कला-युक्त वस्तु कहाँसे आ सकती है? कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि लोगोंने गोपियोंको तो व्यभिचारिणी, जारवृत्ति-अवलम्बिनी तथा श्रीकृष्णको जार-चातुरीकला-चञ्चरीक बना डाला।

गोपीजन वस्तुतः वेदकी ऋचाएं और 'प्रेमकी ध्वजा' हैं। गोपीनाथकी लीलाका रहस्य अगम्य है। वह सांसारिक बन्धनोंको जकड़नेवाला नहीं बल्कि उनको ढीला करनेवाला है। भगवद्वाणी, ब्रह्मवाणी, वेद-ऋचाओंने गोपीवेशमें जीवोंके कल्याणार्थ अनेक भावनाओंमें अपने रूप और तात्पर्यको प्रकट किया है। इसलिये मानसिक वृन्दावनमें भावनाएँ ही गोपियाँ मानी गयी हैं। भावनाओंके चित्र देखिये–

राधा मेरी लाढिली मेरि ओर तू देख।
मैं तोय राखूँ नयनमें काजलकी-सी रेख॥
गोरे मुखपर तिल बन्यो जाहि करौ परनाम।
मानो चन्द्र बिछायकै पौढ़े सालिगराम॥

यहाँ भगवान् आराधकोंकी आराधनापर अपना लाड-प्यार प्रकट करते हैं और सचेत हो उनपर दृष्टि रखनेका वचन देते हुए उन्हें नयनमें स्थान प्रदान करते हैं। गोरे मुखका अर्थ शुद्धात्मा है और उसमें सांसारिक मायाकी कालिमा ही काला तिल है जिसे वह शालग्राम मानकर प्रणाम करते हैं। इस-प्रकार चन्द्ररूपी बिछौनेपर शालग्राम-मूर्तिकी भावना कर भक्तको तार देते हैं।

इसी प्रकार भावरूप गोपवृन्दको भी जानना चाहिये। गोप भगवान्‌की ओरके भाव हैं, यथा—पूज्यभाव, दास्यभाव, वात्सल्यभाव, सख्यभाव, आत्मभाव, दाम्पत्यभाव, अनुरागभाव और शत्रुभाव। यही भगवान्‌के प्यारे अष्ट सखा हैं। इनका उदय समयान्तरमें मानवहृदयमें होने लगता है।

मनुष्यके हृदयमें अनेक आवरण पड़े रहते हैं। उनके कारण प्रभुका दर्शन मनुष्यको दुर्लभ हो जाता है। उनको क्रमशः हटाना पड़ता है। इन आवरणोंके कुछ ही हटनेपर भीतरी आभा झलक मारने लगती है। इस अलख झलकके प्रभावसे शेष आवरण आप-ही-आप विलीन हो जाते हैं। तब भीतरी ज्ञानचक्षु अन्तःकरणमें वृन्दावनका अवलोकन करने लगते हैं। वहाँ 'वृन्दावने गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च' दृष्टिगोचर होने लगते हैं तथा 'गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्यादितृणवीरुधम्' का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। इसी वृन्दावनमें भावुकोंको श्रीकृष्ण-दर्शन सुलभ है—

दिलके आईनेमें है तस्वीरे यार।
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली॥

ऐसे दर्शन रसिकजनोंको अनेक बार हुए हैं। देखिये—

रूपबेलि प्यारी बनी प्रीतमप्रेम तमाल।
दोउ मन मिलि एकै भये राधावल्लभलाल॥
निकसि कुञ्ज ठाढ़े भये भुजा परस्पर अंस।
राधावल्लभ मुखकमल निरख नयन 'हरिवंस'॥

दृढ संकल्प

कोऊ करै कितनो ही उपाय, बिहाय इन्हैं पग एक न धारौं।
मान घटै, कुलकान घटै, एहि आननसों नहिं आन पुकारौं॥
या मुरलीधुनिको सुनिकै, घरबार तजौं सब राग बिसारौं।
मोहन मैनते मोहनरूप, निहारि निहारि निहारि निहारौं॥

—भगवतीप्रसाद त्रिपाठी विशारद, एम० ए०, एल-एल० बी०

भक्त-गाथा

भक्त सालबेग



उड़ीसा-प्रान्तके कटक-शहरमें लालबेग नामक एक शक्तिशाली मुगल रहता था। उस समय उड़ीसामें गजपति-वंशका एक राजा शासन करता था। परन्तु उसका तेज क्षीण हो चला था। लालबेगने सुअवसर देखकर अपना बल बढ़ाया और विशाल सैन्य लेकर उसपर धावा बोल दिया। लालबेग विजयी हुआ, उसके नामसे सारा प्रान्त थर्रा उठा। तबसे उसका प्रभाव फैल गया। इस लालबेगके कई पुत्र थे, उनमेंसे एकका नाम सालबेग था। सालबेगने बाल्यावस्थासे ही युद्ध-कला सीखना प्रारम्भ किया और युवा होते-होते वह उसमें निपुण हो गया। उसे अपनी बहादुरीपर बड़ा गर्व था। वीरत्वके मदमें चूर हुआ वह जमीनपर पैर भी नहीं रखना चाहता था।

एक बार सालबेग अपने पिताके साथ किसी युद्धमें गया और वहाँ उसने ऐसा रणकौशल और पराक्रम दिखलाया कि सभी लोग दङ्ग रह गये। भगवान् किसीका भी मद नहीं रहने देते, मद उतारकर उसे अपनाया करते हैं। सालबेग बड़ी बहादुरीसे लड़ रहा था परन्तु दैवगतिसे अचानक शत्रुपक्षकी एक तलवार उसके सिरपर आ पड़ी, सिर फट गया और वह अचेत होकर तुरन्त जमीनपर गिर पड़ा। सेवकगण उसको रणस्थलीसे अलग शिविरमें ले गये। कई दिनोंतक मरहमपट्टी करनेपर जब कोई लाभ नहीं दिखायी दिया तब पिता लालबेगने उसको घर भेजवा दिया। घरपर माता उसकी तन-मनसे सेवा करने लगी। बहुत दिन बीत गये परन्तु जरा भी आराम नहीं मालूम हुआ। कुछ दिनोंतक तो लालबेगने पुत्रकी बीमारीपर बहुत ध्यान रक्खा, परन्तु ज्यों-ज्यों उसके रोगकी अवधि बढ़ती गयी, त्यों-ही-त्यों लालबेगका मन भी हटने लगा। अन्तमें उसको निकम्मा समझकर लालबेगने उकताकर खोज-खबर रखना भी छोड़ दिया। संसारमें स्वार्थका सम्बन्ध ऐसा ही हुआ करता है। जबतक हमारा काम निकलता है, स्वार्थ-साधनमें सहारा मिलता है तबतक हम ममत्व रखते हैं, जहाँ स्वार्थ नहीं दिखायी देता, वहाँ कोई बात भी नहीं पूछता। सारी ममता मिनटोंमें हवा हो जाती है। अस्तु।

लालबेगकी उदासीनता देखकर घरके और लोग भी उसकी ओरसे उदासीन हो गये। केवल एक माता बची जो आहार-निद्रा भुलाकर दिन-रात पुत्रकी रोग-शय्याके पास बैठी रहती और प्राणपणसे सेवा-शुश्रूषा करती। एक दिन सालबेगका कष्ट बहुत बढ़ गया, तब उसने निराश-हृदयसे बड़े ही क्षीण स्वरसे कहा—

'माँ !'

'क्यों बेटा !'

'माँ, अब मैं नहीं बचूँगा।'

'न बचे तेरी बीमारी, बेटा, यों क्यों बोल रहा है?'

'नहीं माँ, मैं सच कहता हूँ, अब मैं नहीं बचूँगा। मेरी बचनेकी इच्छा भी नहीं है। दिन-रात यों दुःख-भोग करनेकी अपेक्षा एक बार मरनेका कष्ट कहीं कम है।'

'यों पागलपन क्यों करता है? मरे तेरा शत्रु। बेटा! उसकी उम्र पाकर तू सौ वर्ष जी!'

'नहीं, अब मुझे बचनेकी बिल्कुल आशा नहीं है। मौत नहीं आवेगी तो मुझे आत्महत्या करनी पड़ेगी। अब मुझसे यह दुःख नहीं सहा जाता। माँ, माँ, तू मेरे अपराधोंको क्षमा कर और इस अपने कृतघ्न सन्तानको भूल जा।'

पुत्रकी बातें सुनते ही माताने एक लम्बी साँस ली। उसके पीड़ाके मार्मिक उद्गारोंने माताका हृदय विदीर्ण कर दिया। उसकी आँखोंमें आँसू भर आये। बड़ी कठिनतासे आँसुओंको रोककर स्नेहपूर्वक पुत्रको छातीसे लगाकर उसने कहा—'बेटा! तेरे चले जानेपर मैं किसका मुँह देखकर जीऊँगी! यदि मेरे बलिदानसे तेरी रक्षा होती हो तो मैं तैयार हूँ परन्तु ऐसा क्यों होने लगा? मुझे अपने कर्मका फल भोगना ही पड़ेगा। हाँ, निरुपायके लिये एक उपाय है, वह मैं तुझसे कहती हूँ परन्तु क्या तू उसे कर सकेगा?'

माताकी बात सुनकर सालबेगने कहा—'क्यों नहीं, माँ, मैं तेरा कहा न मानूँगा तो और किसका मानूँगा? बोल, बोल, तुझे जो कहना है खुशीसे कह, मैं जरूर तेरे कहे मुताबिक करूँगा।'

माताने कहा—'बेटा, तुझसे वह नहीं होगा, कभी नहीं होगा। बचपनसे ही तुझमें जो संस्कार पड़ गये हैं—तुझे जैसी शिक्षा मिली है, उसके विपरीत आचरण तू कैसे कर सकेगा?' माताके इस वचनसे सालबेगको सन्देह हुआ। उसने व्याकुल होकर पूछा—'माँ, तू क्या कह रही है, कुछ भी समझमें नहीं आता। मेरी शिक्षा-दीक्षासे प्रतिकूल तू क्या कहना चाहती है?'

इसके उत्तरमें माताने कहा—'वत्स, मैं सदासे ही तेरी उस शिक्षा-दीक्षाके बिल्कुल विरुद्ध हूँ, क्या इस बातको तू नहीं जानता? बेटा, मैं एक हिन्दू ब्राह्मणकी लड़की हूँ!' माताके इस वचनको सुनते ही सालबेग विस्मित होकर कहने लगा—'हैं, यह तू क्या कह रही है? तू हिन्दू है तो फिर मेरी माता किसप्रकार हुई?'

माताने कहा—'बेटा, तू यदि पूछता है तो आज मैं लाज-शरम छोड़कर सब तुझसे कह डालती हूँ। दाँतमुकुन्दपुर गाँवका नाम तो तूने सुना होगा, वह गाँव किसी दिन बड़ा ही समृद्धिशाली था। उसी गाँवमें मेरी ससुराल थी। मेरे पति बचपनमें ही मर गये। सासु और ससुर भी पुत्र-वियोगसे दुखी होकर परलोक सिधार गये। उसी समय तेरे पिताके अत्याचारसे बहुतेरे परिवार अपने घरबार तथा धन-दौलतको छोड़कर उस गाँवसे भाग गये थे। गाँव उजाड़ हो गया। उस समय मैं एक दिन नदीमें स्नान करने गयी थी। दैवयोगसे उसी समय तेरे पिता कहींसे युद्ध करके अपनी सेनाके साथ लौट रहे थे। उस समय मैं पूर्ण युवावस्थाको प्राप्त हो गयी थी, रूप-लावण्य भी भरपूर आ गया था, मुझे देखते ही तेरे पिताको मुझपर मोह हो गया और मुझ अकेली असहायाको वह बलात्कार अपने घोड़ेपर बैठाकर यहाँ ले आये। बेटा! मैं स्त्री-जाति अबला थी। मुझे वश करनेमें उन्हें अधिक देर न लगी, थोड़े ही दिनोंमें वस्त्र, आभूषण और मधुर सम्भाषणसे उन्होंने मुझे अपना बना लिया। उसीके फलस्वरूप तू पुत्ररूपमें मुझे प्राप्त हुआ। परन्तु मालूम होता है, मुझ हतभागिनीके भाग्यमें यह सुख भी नहीं बदा है।'

यों कहते-कहते भावावेशसे उसका हृदय भर आया और कण्ठ रुक गया। सालबेगको सब समझते देर न लगी। माताकी अवस्थापर उसे बड़ी दया आयी और अन्तमें धैर्य धारणकर अपनी जन्मदायिनी माताको आश्वासन देते हुए उसने कहा, 'माँ! तूने मुझे

गर्भमें धारण किया है। मेरी यह देह तेरी ही है। बोल, बोल माँ, तुझे जो कहना हो कह। तुझे जो उपाय बतलाना हो बतला दे। तू जो कुछ कहेगी, मैं उसीके अनुसार करूँगा।'

माँ बोली—'अच्छा तो कहती हूँ सुन, परन्तु पहले तेरे पिताके व्यवहारकी बात भी तुझे जना देती हूँ। हाय! वह मेरा और तेरा त्यागकर अपने अन्य स्त्री-पुत्रादिके साथ कैसे निश्चिन्त हो गये हैं, इसे तू देखता है न? जिसके लिये तूने यह दुःख सिरपर लिया, जिसके लिये अपनी जिन्दगीको जोखिममें डाला, वह आज इस अवस्थामें तेरी खबर भी नहीं लेता! उससे इतना भी नहीं होता कि एक आदमी भेजकर तेरी हालत तो पूछ ले! बेटा, तू इसका कारण जानता है? दूसरा कोई कारण नहीं है, एकमात्र यही कारण है कि मेरा यौवन जाता रहा और तू भी बेकाम हो गया। तुझमें उनका काम करनेकी शक्ति नहीं रही। अब तुझसे या मुझसे उनका कोई स्वार्थ नहीं सधता, इसीसे यह अनादर है, यह तिरस्कार है। बेटा, यदि भगवान् तेरी रक्षा करें तो तू ही मेरे जीवनका सुख है और तभी मेरा जीवन किसी कामका है। बेटा! तू दासीपुत्र है, इसीसे तेरे पिता तुझे याद नहीं करते। परन्तु तेरे बिना मैं तो एक क्षणभर भी नहीं रह सकती! तू ही मेरे जीवनका कारण—जीवनका धन है। तेरे बिना सारा संसार मेरे लिये सूना है। तू ही मुझ अन्धीकी आँख है, तेरे बिना मैं कैसे जीऊँगी? परन्तु यदि तू मेरे कहे अनुसार चलनेका मुझे विश्वास दिला दे तो मैं तुझे वह उपाय बतला दूँ। नहीं तो निश्चय जान कि तेरा और मेरा यह पापी शरीर एक ही साथ नष्ट हो जायगा।'

सालबेग आँसूभरे नेत्रोंसे बोला—'माँ, माँ, मैं तुमसे एक बार नहीं, हजार बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि मैं तेरे वचनका अवश्य पालन करूँगा बल्कि एक दूसरी और प्रतिज्ञा करता हूँ कि अच्छा होते ही मै तेरे आँसू पोंछ दूँगा, फिर तुझे रोनेका कभी अवसर ही न रहेगा। माँ, अब तू रो मत, रो मत! मुझे वह उपाय शीघ्र बतला। मैं वचन देता हूँ कि उसका पालन जरूर करूँगा।'

पुत्रके वचन सुनकर माताके तप्त हृदयको कुछ शीतलता मिली। पश्चात् आँसू पोंछकर वह कहने लगी—'बेटा, अब तू कपट छोड़कर पूर्ण विश्वास और श्रद्धापूर्वक आनन्दकन्द नन्दनन्दन वृन्दावनचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका भजन कर। अहा! वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके नाथ हैं। सब देवोंके राजा हैं। उनकी आज्ञाको सभी अवनत मस्तक हो सिरपर चढ़ाते हैं। वही निरुपायके एकमात्र उपाय हैं, महौषधि हैं। उनका भजन करनेसे निश्चय ही तेरे सारे रोग-दोष दूर हो जायँगे। बेटा, यही एक उपाय है, इसलिये अब तू उस विश्वपिताका ही भजन कर, उसीका स्मरण कर!'

पुत्र बोला—'माँ, वैसा ही करूँगा। उन्हींका भजन करूँगा। परन्तु मैं तो उनके विषयमें कुछ जानता नहीं। वह क्या हैं? कैसे हैं? कहाँ राज्य करते हैं, उनके माता-पिता कौन हैं तथा उनका भजन किस तरह किया जाता है, यह तो मैं जानता ही नहीं। इसलिये माँ! तू मुझे उनकी पहचान करा दे जिससे मैं उनका भजन करूँ?'

लालबेगके घरमें आनेके पश्चात् सालबेगकी माताको कभी किसीके भी मुखसे श्रीकृष्ण कथा सुननेका संयोग नहीं मिला था। आज पुत्रके पास अपने प्राणप्रिय प्रभुकी चर्चाका अवसर मिलनेसे उसके आनन्दका पार न रहा। वह मृदु-हास्य करती हुई बोली—'भाई, मैं एक-एक करके सब बतलाती हूँ,

तू ध्यान देकर सुन। उनके पिताका नाम नन्दजी है, माताका नाम यशोदाजी है। उनकी प्रियाका नाम श्रीमती राधिकाजी है। उनका रूप बहुत ही मनोहर है। वह वृन्दावनके राजा हैं। उनके राज्यमें उनकी सारी प्रजा खूब सुखसे दिन बिताती है। अहा! उनका कैसा सुन्दर स्वरूप है! उनको देखकर कामदेवका मन भी मोहित हो जाता है। अहा! उनकी श्यामल कान्ति कैसी सुन्दर है! नवीन जलधर अथवा नीलकान्तमणिके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। अहा! उनके मस्तकपर कुञ्चित केशकलाप कैसे सुशोभित हो रहे हैं, वह कानोंमें मकरकुण्डल धारण किये हुए हैं, उनके नयन खिले कमलके समान हैं, भृकुटी कामदेवके बाणके समान कमनीय है, नासिकाके अग्रभागमें सुरम्य मोतीकी लटकन लटक रही है, श्रीहरिके दाँत अनारके दानेसे भी बढ़कर सुन्दर हैं, लाल अधरोंमें सुधा स्रवित करता मन्द-मन्द हास्य दीख पड़ता है। अहा! मेरे प्रभुके इस सुन्दर श्रीमुखको देख चन्द्र भी लज्जित हो जाता है। प्रभुकी गर्दन भी वैसी ही सुन्दर है, उसमें प्रभुने सुन्दर वनमाला धारण कर रक्खी है। उनके बाहु बहुत ही विशाल हैं तथा नाना प्रकारके रत्नालङ्कारोंसे विभूषित हैं। प्रभुने अपनी अंगुलिमें सोनेकी अंगूठी पहन रक्खी है। पीताम्बर धारण किया है। चरणोंमें नूपुर बाज रहे हैं। उनके पदतलमें ध्वजा और वज्र आदिके चिह्न सुशोभित हो रहे हैं। इन सबसे बढ़कर उनकी मधुरी मुरली सबको अत्यन्त ही प्रिय लगती है। इसी मुरलीने व्रज-वनिताओंको पगली बना दिया था। भाई, प्रभुका यथार्थ वर्णन कभी हो ही नहीं सकता। शेषनाग अपने सहस्र मुखसे अभीतक उनके सारे गुण गाकर पार नहीं पा सके तो मेरी तो बिसात ही क्या है?

भाई, श्रीत्रिभुवनपतिके इस विश्वविमोहन रूपका आँखें मूँदकर ध्यान कर। ब्रह्मादि देवता, महर्षि, देवर्षि, साधु और सज्जन सदा उनका ही ध्यान करते हैं। अखिल ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री कमलादेवी भी उनके श्रीचरणोंकी सेवा करनेके लिये सदा तैयार रहती है। बेटा! भक्त भी उसी चरण-सेवाकी इच्छा करते हैं। तू भी उन्हींकी शरण ले, उन्हींका ध्यान धर। मेरे भक्त पिताने मुझको बाल्यावस्थामें ही इस परममंगल दिव्य स्वरूपका उपदेश देकर कहा था कि, 'बेटी, जब कभी कर्मफलके वश तुझे कोई भी सन्ताप हो, तेरे ऊपर कोई विपत्ति आवे तब तू एक बार आँखें मूँदकर इस श्यामसुन्दर मुरलीधरकी मूर्तिका ध्यान करना। इससे जरूर तेरे सब सन्ताप जाते रहेंगे।' बेटा! मैं क्या कहूँ? मैं इस राक्षसपुरीमें अबतक जो सुस्थिर रह सकी हूँ, यह इसी भगवद्ध्यानका ही प्रभाव है। तू भी उसी श्यामसुन्दरके स्वरूपका ध्यान कर, इससे तेरे सब दुःख जाते रहेंगे।

इसप्रकार बोलते-बोलते भावकी प्रबलतासे जननीका मुखमण्डल एक अपूर्व लावण्यके विकाससे जगमगा उठा। साल्वेग उसे देखकर स्तब्ध हो गया। उसी समय उसके मनका मैल धुल गया और उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया। थोड़ी देर बाद उसने अपनी मातासे आग्रहपूर्वक पूछा—'माँ, तुम्हारे वृन्दावनचन्द्रका रूप तो मालूम हुआ, परन्तु वे मिलेंगे कहाँ?' माँ बोली—'बेटा! उनकी लीला बहुत ही विचित्र है, तू जहाँ कहीं भी उनका चिन्तन करेगा वे वहींपर वैसे ही प्रकट होंगे—आ विराजेंगे। भाई, अब तू समस्त भय और भ्रान्तिको छोड़कर उनका ही चिन्तन कर, उन्हींका ध्यान कर।'

साल्वेगने माँसे फिर पूछा—'अच्छा, माँ! मैं उनका ध्यान तो करूँगा, पर यह तो बता कि मुझे कितने दिनोंमें उनका दर्शन होगा? कितने दिनोंमें

मैं इस दारुण पीड़ासे मुक्त होऊँगा ?' माताने कहा—'बेटा, श्रीकृष्ण-भजनका मूल विश्वास है, तू किसी भी प्रकारके संशयको मनमें न आने देकर दृढ़ विश्वाससे उनका ध्यान करेगा, तो केवल बारह दिनोंमें ही तुझे श्रीप्रभुके दर्शन होंगे। परन्तु याद रखना कि यदि तू 'प्रभुके दर्शन होनेसे मेरा दुःख दूर होगा कि नहीं अथवा इसप्रकार ध्यान करते-करते मुझे दर्शन होगा कि नहीं' इसप्रकारका सन्देह और सङ्कल्प-विकल्प उठावेगा तो बारह दिन तो क्या बारह वर्षोंमें भी उनका दर्शन न होगा। इसलिये सब प्रकारके सन्देह और सङ्कल्प-विकल्पका सर्वथा त्यागकर दृढ़ विश्वास और अचल श्रद्धासे उनका ध्यान कर, चिन्तन कर, इससे अवश्य ही बारह दिनमें अथवा उसके पहले ही उनकी श्रीमूर्तिका तुझे दर्शन होगा।'

सालबेग बोला—'अच्छा, मैं ऐसा ही करता हूँ। अब इसी क्षणसे मैं अपने दोनों पलकोंको बन्दकर श्रीप्रभुके मंगलमय रूपके सिवा दूसरे किसी भी रूपका विचार अपने अन्दर प्रवेश न करने दूँगा। परन्तु माँ, तू भी मेरे लिये उनको जना दे कि मेरी बहुत जाँच न करें, दर्शन देनेमें देर न करें। परम-प्रभु, हँसते मुखसे वंशी बजाते हुए मुझ-से अविश्वासीके गलेमें अपनी विमल प्रेमकी माला पहना दें और उसके आकर्षणसे मैं उनका भजन कर सकूँ। माँ, अब यदि उन परम प्रभुका दर्शन नहीं हुआ तो यह नेत्र फिर खुलनेवाले नहीं हैं। यह अन्तिम बार इस सृष्टिको देख लेते हैं यह निश्चय मान। परन्तु माँ! मुझे तुझसे एक बात पूछनी है, क्या उस परम प्रभुके स्मरण करनेका कोई मन्त्र-तन्त्र भी है ?'

पुत्रके वचन सुन हर्षभरे गद्गद् कण्ठसे माँ बोली—'हाँ, है बेटा, मन्त्र है। उनका मनोहर नाम ही उनको प्राप्त करनेका महामन्त्र है। उसी श्रीकृष्ण-नामका जप कर, उन्हें इसी नामसे पुकार, इसके आकर्षणसे ही वे अपने आप तेरे पास चले आवेंगे।'

'अच्छा माँ, ऐसा ही करता हूँ, ऐसा ही करता हूँ।' इतना कहकर सालबेग उच्च कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहने लगा। श्रीकृष्ण-नामकी ऐसी अपार महिमा है कि उसकी एक बार रटन करनेसे बारम्बार रटन करनेका मन होता है। श्रीकृष्ण-नामकी रटन करनेसे रसना नाच उठती है, और इतनेहीसे वह तृप्त नहीं होती, उसके मनमें पुनः ऐसा विचार उठता है कि—'अरे, मैं अकेली उनके नामका कितना कीर्तन कर सकूँगी! अहा! इस समय मेरे-जैसी हजारों जिह्वाएँ होतीं तो अपने प्राणारामके नामकी अविराम घोषणा की जा सकती।' सालबेगकी जिह्वा भी केवल एक बार कृष्ण-कृष्ण कहकर विराम नहीं हो गयी, वह उच्च स्वरसे श्रीकृष्ण-नामका कीर्तन करने लगी। भगवन्नामकी अतुल शक्तिसे सालबेगका बाह्य ज्ञान जाता रहा। नामरटनमें वह लीन हो गया और उसके मनके साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उस परम प्रभुके पवित्र नामका रटन करने लगीं।

उसी समय उसके अन्तःकरणमें मदनमोहन, मुरलीधरके रूपकी प्रभा प्रकटित हुई। उसे देखते ही सालबेग परम आनन्दमें नाच उठा। और जैसे-जैसे उसे भावग्राही भगवान्की हृदयग्राही मूर्तिका दर्शन होता गया, वैसे-वैसे वह मन-ही-मन फूलता गया। धीरे-धीरे उसको श्रीमूर्तिके सम्पूर्ण रूपका दर्शन हुआ। सालबेगने प्रभुका, उनके वस्त्राभूषण इत्यादिका सूक्ष्मदृष्टिसे दर्शन कर लिया। श्रीकृष्णस्मरणके अप्रतिहत प्रभावसे वह श्रीकृष्णभगवान्की मानसिक पूजा करने लगा। इसके बाद उसके भीतरसे एक विचित्र वन्दना स्वयमेव निकल पड़ी और उसके प्रभावसे वह मन-ही-मन बोलने लगा—'हे वृन्दावन-

चन्द्र ! तुम्हारी जय हो, हे संसारतरुके मूलकन्द मुकुन्द ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे यमलार्जुनभञ्जनकारी, तृणावर्त और शकटासुरके गर्वगञ्जनकारी श्रीहरि ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे वृषरूपी अरिष्टासुरके नाश करनेवाले, श्रीगोकुलकी शोभा बढ़ानेवाले प्रभु ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे बकासुरके विदारक ! हे अघासुर और प्रलम्बासुरके प्राणनाशक ! तुम्हारी जय हो, प्रभुकी जय हो ! हे प्रभु ! तुमने वृन्दावनमें वन-वन गैया चरायी हैं, अनेकों अनल-सम दैत्य-कुलोंका नाश किया है । हे प्रभु ! तुम दुर्जनोंका दमन और सज्जनोंका पालन करते हो । हे प्रभु ! तुम परम दयालु हो । हे प्रभु ! तुमने कालिन्दीके विषमय जलमें कूद कालियनागको नाथ सब गोप-गोपिका और गौवोंकी रक्षा की है । हे प्रभु ! तुमने कदम्बपर चढ़कर मधुरी वंशी बजा सब व्रज-गोपिकाओंको पागल कर दिया है । हे दीनदयालो ! प्रणतप्रतिपाल ! तुम्हारे मस्तकपर गुञ्जाकी माला सुशोभित हो रही है । प्रभु ! प्रभु ! नाथ ! तुम्हारी जय हो, जय हो ।' प्रभु अन्तर्धान हो गये ।

सालबेगने भावके आवेगमें इसप्रकार कितनी ही देर स्तुतिकर अपनेको भगवान्‌का दास समझ दृढ़ विश्वास करके उनके श्रीचरणमें आत्मसमर्पण कर दिया । उस समय उसके शरीरमें आनन्द-ही-आनन्द व्याप रहा था, नेत्रोंसे अनिमेष-प्रेम-अश्रु-धारा बह रही थी । परन्तु उसी समय वह चमक उठा और उसकी आत्माने बाह्यजगत्‌में प्रवेश किया । उसको अबतक अपने शरीरका बिल्कुल ही भान न था, परन्तु अब शरीरका ज्ञान हो गया । इससे उसके मनमें यह विचार आया—'अहा ! इतना भजन करनेपर भी देहका दुःख तो दूर हुआ ही नहीं ।' ऐसा विचारकर वह अपनी मातासे कहने लगा—'माँ, तेरे श्रीकृष्णकी उपासना की तो भी मेरी पीड़ा तो नहीं गयी । जान पड़ता है यह तो उलटी बढ़ती ही जाती है ।' सालबेगके वचन सुनकर माँने कहा—'भाई, घबरा मत । उन नरहरिकी लीला बहुत ही विचित्र है । जब बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं तभी उन्हें दया आती है । अहा ! तुम्हारा कष्ट बढ़ाकर वे देख रहे हैं कि तू कष्टमें भी उनका मङ्गलमय नाम भूलता है या नहीं । इसीलिये उन्होंने तेरी पीड़ा बढ़ा दी है परन्तु तू उन्हें भूल मत । उन्हें नहीं भूलनेमें ही कल्याण है । बेटा ! अब भी किसी प्रकारका भी सन्देह मनमें न लाकर दृढ़ विश्वाससे उन मुरलीधरका भजन कर ।'

माता कहती है कि 'संशय न कर, संशय न कर' परन्तु संशयका त्याग करना क्या खेल है ? देखते-ही-देखते ग्यारह दिन बीत गये तथापि पीड़ा ज्यों-की-त्यों रही, तब सालबेग कितना धीरज धरे ? अब उससे सहन न हुआ, वह बहुत उकताकर मातासे बोला—'माँ ! मालूम होता है कि प्रभुको भी यही अच्छा लगता होगा कि मेरी मृत्यु हो जाय । इसीसे उन्होंने मेरे ऊपर दया नहीं दिखलायी ! इसीसे शायद उन्होंने मुझे इस दारुण दुःखसे नहीं छुड़ाया ।'

पुत्रको इसप्रकार कलपते देखकर सालबेगकी माताने उसे कोई दूसरा उपदेश न दिया । उसने दूसरा उपचार भी नहीं बतलाया । वह अपने पुत्रके मनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यही सलाह देने लगी कि—'बेटा धीरज धर । मनके सब सन्देह निकाल दे । सारे संशयोंको छोड़ केवल श्रीहरिका ही स्मरण कर ।'

रातके समय सालबेग श्रीकृष्णभगवान्‌का चिन्तन करते-करते निद्रादेवीके अधीन हुआ । यदि श्रीकृष्णभगवान्‌ने कृपा करके रातको रोगमुक्त न किया तो

प्रातःकाल होते ही आत्मघातका निश्चय करके वह सोते समय रातको कहने लगा कि—'हे प्रभु! यह मेरा अन्तिम निश्चय है। मेरी माताके कहनेके अनुसार कल सवेरे बारह दिन पूरे होते हैं। बस, आजकी रात बीचमें है। इसमें यदि तुम्हारी कृपा न हुई तो अवश्य मैं आत्महत्या करके अपने देहका त्याग करूँगा। ऐसा होनेसे पीछे मेरी माताकी भी मृत्यु होगी। इसप्रकार कल सवेरा होते ही हम दोनों इस लोकसे बिदा हो जायँगे।'

माता भी सालबेगके पास ही सोयी है। वह भी विचार-में ही है, परन्तु उसका विचार जुदा है। वह भी श्रीकृष्ण-भगवान्‌का चिन्तन करती है। पर उसके चिन्तन-में सन्देह या शङ्काकी गन्ध भी नहीं। वह तो केवल शुद्ध भावसे निःशङ्क हो श्रीहरिका स्वाभाविक स्तवन करती है। वह कालक्षेप कर रही है, उसे विश्वास है कि पुत्रपर श्रीहरिकी कृपा होगी ही। हुआ भी वैसा ही, रातके दो पहर व्यतीत हो गये हैं। माता-पुत्र दोनों गाढ़ी निद्रामें पड़े हैं। उसी वक्त श्रीहरि आ पहुँचे। सालबेगको एक अद्भुत स्वप्न हुआ, स्वप्नमें उसने देखा कि श्रीहरि उसके सिरहाने बालमुकुन्द-वेषमें विराजमान हैं और हँसते-हँसते कहते हैं 'सालबेग! अब फिक्र मत कर, उठ बैठ, और मेरे हाथसे यह विभूति लेकर अपने घावपर लगा दे, इससे तेरा घाव सूख जायगा और तू स्वस्थ हो जायगा। इसके बाद तेरा जीवन सुखमें ही व्यतीत होगा परन्तु देख पीछे मुझे भूल न जाना। अरे निश्चय जान तेरा भवरोग भी दूर हो गया। जो किसी भी उद्देश्यसे सरल विश्वास और श्रद्धाके साथ मुझे सच्चे मनसे भजता है उसको इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण दुःखोंसे छुडाकर मैं अपना निज जन बना लेता हूँ।' यह सुनकर सालबेग उठ बैठा और प्रभुके हाथसे विभूति लेकर अपने सब अङ्गोंमें लगाने लगा। थोड़ी-सी विभूति सिरपर धारणकर वह एकटकसे मधुसूदनकी मधु-मय मूर्तिका दर्शन करने लगा। देखते-देखते वह दिव्य मूर्ति हँसती हुई वहाँसे अदृश्य हो गयी। सालबेग भी निद्रावश हो गया। सवेरा होते ही वह जाग उठा। उसके मनमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। उठकर देखता है कि माँ अभीतक सोयी है। अपने शरीरकी ओर देखता है तो अत्यन्त विस्मित हो जाता है। उसके मस्तकका घाव सर्वथा मिट गया है और उसका केवल चिह्नमात्र रह गया है। अब उसके शरीरमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं, क्लेश नहीं, शोक नहीं। उसे ग्लानि भी नहीं। वह उठ-कर अपनी माताको पुकारने लगा—'माँ, माँ, देख, देख, तेरे करुणामय श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुझपर करुणा की है। उठ, उठ, देख मेरा घाव सूख गया है। और मैं कृतार्थ हो गया।'

माता तो श्रीकृष्णका ध्यान करती-करती कृष्ण-मय बनी सोयी थी। पुत्रके आनन्द-आवाहनको सुनते ही वह सारी बात समझ गयी। वह तुरन्त उठ बैठी और स्नेहपूर्वक पुत्रको देखने लगी। अहा! पुत्रको देख उसके आनन्दकी सीमा न रही। पुत्र रोगसे मुक्त हुआ है, इसीका आनन्द नहीं, बल्कि वह श्रीकृष्ण-भक्त—श्रीकृष्ण-विश्वासी बन गया है, इसीका उसे महान् आनन्द हुआ।

माताको जगा देखकर सालबेग हर्षित हो बोला—'माँ, माँ, देख मेरे शरीरमें वह घाव नहीं है और वह व्यथा भी नहीं है, मेरा समस्त शरीर दिव्य आनन्दसे परिपूर्ण हो गया।' माताने कहा—'बेटा! श्रीकृष्ण-भगवान्‌की महिमा ऐसी ही है। उनके समान दुःखियोंके दुःखको दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं। अब दृढ चित्तसे तू उनका भजन कर।

सालबेग बोला—'हाँ, माँ! सत्य है। उनके समान दुःखका नाश करनेवाला देवता दूसरा नहीं।

माँ, माँ, तेरी कृपासे, तेरी शिक्षासे मेरा जीवन सफल हो गया। माँ, मुझे अब तू प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दे। अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं संन्यासी होकर देश-देश घूमकर इस अनन्त, दयासागर भगवान्‌की महिमाका प्रचारकर जन्मको सफल करूँगा।'

सालवेगकी माता भी सामान्य माता न थी। उसकी साधन-अवस्था सालवेगसे भी कहीं उन्नत थी। मन भी वशीभूत था। वह पुत्रकी इच्छासे बिल्कुल ही उदास न हुई। उलटे हँसते-हँसते उसने संन्यासी होनेकी आज्ञा उसे दे दी। पुत्र प्रभुकी महिमाका विस्तार करेगा इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी? परन्तु उस समय उसने सालवेगसे कहा—'बेटा, जा तेरी इच्छा पूर्ण हो। परन्तु सुन, चाहे मुझको भूल जाना, सब कुछ भूल जाना पर मेरे श्रीकृष्णभगवान्‌को कभी न भूलना। उनके नामकी रटनसे जिह्वाको और चिन्तनसे मनको सदा जागृत रखना। यह बात कभी न भूलना।'

सालवेगने भक्तिपूर्वक माताके चरणोंमें दण्डवत् की और उसके चरणरजको मस्तकपर चढ़ाकर मुक्तकण्ठसे कहा—'माता! प्रभुके ऐसे समर्थ और दयासागर होते हुए जो दूसरेकी शरण लेता है और उस प्रभुको नहीं भजता उसका मानव-जन्म व्यर्थ ही जाता है। माँ, तेरी कृपासे, तेरे आशीर्वादसे मैं परम प्रभुको कभी न भूलूँगा, तू भी उसे न भूलना।'

इतना कहकर सालवेग घरसे बाहर निकला और फिर कभी न लौटा। वहाँसे वह सीधा श्रीजगन्नाथजी गया और वहाँ कुछ दिनोंतक श्रीदीनबन्धुका दर्शनकर दक्षिणकी ओर चला गया। बहुत दिन हो गये, परन्तु उसका समाचार किसीको न मिला। उसके चले जानेके बाद उसकी माताको भी किसीने लालवेगके घरमें नहीं देखा। उसके बाद माता-पुत्रका परस्पर यहाँ मिलन न हुआ। हाँ, कितने ही दिनोंके बाद दोनों मिले अवश्य, परन्तु इस लोकमें नहीं, परलोकमें—परमात्माके उस मधुमय परमधाममें जहाँ किसी प्रकारकी विपत्ति और शोक नहीं आता और जहाँ जानेपर किसीका एक दूसरेसे वियोग नहीं होता।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!





अनूठा उपदेश

कली भली दिन चार, जब लगि मुख मूँचौ रहै।
देत डारतें डार, फूल्यौ सहै न फूलको॥ १॥

लख चौरासी घूमिकै, पौ मैं अटकी आइ।
यह बारी पौ नाँ परै, फिर चौरासी जाइ॥ २॥

चाह चमारी चूयड़ी, सब नीचनकी नीच।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, तू नहिं होती बीच॥ ३॥

'भीखा' भूखा कोइ नहीं, सबकी गठरी लाल।
गिरह खोल नहिं जानते, इहि विधि रहे कँगाल॥ ४॥

'भीखा' बात अगम्मकी, कहन सुननकी नाहिं।
जो जानै सो कहै नहीं, कहै सो जानै नाहिं॥ ५॥



प्रातःकाल होते ही आत्मघातका निश्चय करके वह सोते समय रातको कहने लगा कि—'हे प्रभु! यह मेरा अन्तिम निश्चय है। मेरी माताके कहनेके अनुसार कल सवेरे बारह दिन पूरे होते हैं। बस, आजकी रात बीचमें है। इसमें यदि तुम्हारी कृपा न हुई तो अवश्य मैं आत्महत्या करके अपने देहका त्याग करूँगा। ऐसा होनेसे पीछे मेरी माताकी भी मृत्यु होगी। इसप्रकार कल सवेरा होते ही हम दोनों इस लोकसे बिदा हो जायँगे।'

माता भी सालबेगके पास ही सोयी है। वह भी विचार-में ही है, परन्तु उसका विचार जुदा है। वह भी श्रीकृष्ण-भगवान्‌का चिन्तन करती है। पर उसके चिन्तन-में सन्देह या शङ्काकी गन्ध भी नहीं। वह तो केवल शुद्ध भावसे निःशङ्क हो श्रीहरिका स्वाभाविक स्तवन करती है। वह कालक्षेप कर रही है, उसे विश्वास है कि पुत्रपर श्रीहरिकी कृपा होगी ही। हुआ भी वैसा ही, रातके दो पहर व्यतीत हो गये हैं। माता-पुत्र दोनों गाढ़ी निद्रामें पड़े हैं। उसी वक्त श्रीहरि आ पहुँचे। सालबेगको एक अद्भुत स्वप्न हुआ, स्वप्नमें उसने देखा कि श्रीहरि उसके सिरहाने बालमुकुन्द-वेषमें विराजमान हैं और हँसते-हँसते कहते हैं 'सालबेग! अब फिक्र मत कर, उठ बैठ, और मेरे हाथसे यह विभूति लेकर अपने घावपर लगा दे, इससे तेरा घाव सूख जायगा और तू स्वस्थ हो जायगा। इसके बाद तेरा जीवन सुखमें ही व्यतीत होगा परन्तु देख पीछे मुझे भूल न जाना। अरे निश्चय जान तेरा भवरोग भी दूर हो गया। जो किसी भी उद्देश्यसे सरल विश्वास और श्रद्धाके साथ मुझे सच्चे मनसे भजता है उसको इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण दुःखोंसे छुड़ाकर मैं अपना निज जन बना लेता हूँ।' यह सुनकर सालबेग उठ बैठा और प्रभुके हाथसे विभूति लेकर अपने सब अङ्गोंमें लगाने लगा। थोड़ी-सी विभूति सिरपर धारणकर वह एकटकसे मधुसूदनकी मधुमय मूर्तिका दर्शन करने लगा। देखते-देखते वह दिव्य मूर्ति हँसती हुई वहाँसे अदृश्य हो गयी। सालबेग भी निद्रावश हो गया। सवेरा होते ही वह जाग उठा। उसके मनमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। उठकर देखता है कि माँ अभीतक सोयी है। अपने शरीरकी ओर देखता है तो अत्यन्त विस्मित हो जाता है। उसके मस्तकका घाव सर्वथा मिट गया है और उसका केवल चिह्नमात्र रह गया है। अब उसके शरीरमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं, क्लेश नहीं, शोक नहीं। उसे ग्लानि भी नहीं। वह उठकर अपनी माताको पुकारने लगा—'माँ, माँ, देख, देख, तेरे करुणामय श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुझपर करुणा की है। उठ, उठ, देख मेरा घाव सूख गया है। और मैं कृतार्थ हो गया।'

माता तो श्रीकृष्णका ध्यान करती-करती कृष्णमय बनी सोयी थी। पुत्रके आनन्द-आवाहनको सुनते ही वह सारी बात समझ गयी। वह तुरन्त उठ बैठी और स्नेहपूर्वक पुत्रको देखने लगी। अहा! पुत्रको देख उसके आनन्दकी सीमा न रही। पुत्र रोगसे मुक्त हुआ है, इसीका आनन्द नहीं, बल्कि वह श्रीकृष्ण-भक्त—श्रीकृष्ण-विश्वासी बन गया है, इसीका उसे महान् आनन्द हुआ।

माताको जगा देखकर सालबेग हर्षित हो बोला—'माँ, माँ, देख मेरे शरीरमें वह घाव नहीं है और वह व्यथा भी नहीं है, मेरा समस्त शरीर दिव्य आनन्दसे परिपूर्ण हो गया।' माताने कहा—'बेटा! श्रीकृष्ण-भगवान्‌की महिमा ऐसी ही है। उनके समान दुःखियोंके दुःखको दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं। अब दृढ़ चित्तसे तू उनका भजन कर।

सालबेग बोला—'हाँ, माँ! सत्य है। उनके समान दुःखका नाश करनेवाला देवता दूसरा नहीं।

माँ, माँ, तेरी कृपासे, तेरी शिक्षासे मेरा जीवन सफल हो गया। माँ, मुझे अब तू प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दे। अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं संन्यासी होकर देश-देश घूमकर इस अनन्त, दयासागर भगवान्‌की महिमाका प्रचारकर जन्मको सफल करूँगा।'

सालवेगकी माता भी सामान्य माता न थी। उसकी साधन-अवस्था सालवेगसे भी कहीं उन्नत थी। मन भी वशीभूत था। वह पुत्रकी इच्छासे बिलकुल ही उदास न हुई। उलटे हँसते-हँसते उसने संन्यासी होनेकी आज्ञा उसे दे दी। पुत्र प्रभुकी महिमाका विस्तार करेगा इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी ? परन्तु उस समय उसने सालवेगसे कहा—'बेटा, जा तेरी इच्छा पूर्ण हो। परन्तु सुन, चाहे मुझको भूल जाना, सब कुछ भूल जाना पर मेरे श्रीकृष्णभगवान्‌को कभी न भूलना। उनके नामकी रटनसे जिह्वाको और चिन्तनसे मनको सदा जागृत रखना। यह बात कभी न भूलना।'

सालवेगने भक्तिपूर्वक माताके चरणोंमें दण्डवत् की और उसके चरणरजको मस्तकपर चढ़ाकर मुक्तकण्ठसे कहा—'माता! प्रभुके ऐसे समर्थ और दयासागर होते हुए जो दूसरेकी शरण लेता है और उस प्रभुको नहीं भजता उसका मानव-जन्म व्यर्थ ही जाता है। माँ, तेरी कृपासे, तेरे आशीर्वादसे मैं परम प्रभुको कभी न भूलूँगा, तू भी उसे न भूलना।'

इतना कहकर सालवेग घरसे बाहर निकला और फिर कभी न लौटा। वहाँसे वह सीधा श्रीजगन्नाथजी गया और वहाँ कुछ दिनोंतक श्रीदीनबन्धुका दर्शनकर दक्षिणकी ओर चला गया। बहुत दिन हो गये, परन्तु उसका समाचार किसीको न मिला। उसके चले जानेके बाद उसकी माताको भी किसीने लालवेगके घरमें नहीं देखा। उसके बाद माता-पुत्रका परस्पर यहाँ मिलन न हुआ। हाँ, कितने ही दिनोंके बाद दोनों मिले अवश्य, परन्तु इस लोकमें नहीं, परलोकमें—परमात्माके उस मधुमय परमधाममें जहाँ किसी प्रकारकी विपत्ति और शोक नहीं आता और जहाँ जानेपर किसीका एक दूसरेसे वियोग नहीं होता।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!



अनूठा उपदेश



कली भली दिन चार, जब लगि मुख मूँद्यौ रहै।
देत डारतें डार, फूल्यौ सहै न फूलको ॥ १ ॥

लख चौरासी घूमिकै, पौ मैं अटकी आइ।
यह बारी पौ नाँ परै, फिर चौरासी जाइ ॥ २ ॥

चाह चमारी चूयड़ी, सब नीचनकी नीच।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, तू नहिं होती बीच ॥ ३ ॥

'भीखा' भूखा कोइ नहीं, सबकी गठरी लाल।
गिरह खोल नहिं जानते, इहि बिधि रहे कँगाल ॥ ४ ॥

'भीखा' बात अगम्मकी, कहन सुननकी नाहिं।
जो जानै सो कहै नहीं, कहै सो जानै नाहिं ॥ ५ ॥



प्रातःकाल होते ही आत्मघातका निश्चय करके वह सोते समय रातको कहने लगा कि—'हे प्रभु ! यह मेरा अन्तिम निश्चय है । मेरी माताके कहनेके अनुसार कल सवेरे बारह दिन पूरे होते हैं । बस, आजकी रात बीचमें है । इसमें यदि तुम्हारी कृपा न हुई तो अवश्य मैं आत्महत्या करके अपने देहका त्याग करूँगा । ऐसा होनेसे पीछे मेरी माताकी भी मृत्यु होगी । इसप्रकार कल सवेरा होते ही हम दोनों इस लोकसे बिदा हो जायँगे ।'

माता भी सालबेगके पास ही सोयी है । वह भी विचार-में ही है, परन्तु उसका विचार जुदा है । वह भी श्रीकृष्ण-भगवान्‌का चिन्तन करती है । पर उसके चिन्तन-में सन्देह या शङ्काकी गन्ध भी नहीं । वह तो केवल शुद्ध भावसे निःशङ्क हो श्रीहरिका स्वाभाविक स्तवन करती है । वह कालक्षेप कर रही है, उसे विश्वास है कि पुत्रपर श्रीहरिकी कृपा होगी ही । हुआ भी वैसा ही, रातके दो पहर व्यतीत हो गये हैं । माता-पुत्र दोनों गाढ़ी निद्रामें पड़े हैं । उसी वक्त श्रीहरि आ पहुँचे । सालबेगको एक अद्भुत स्वप्न हुआ, स्वप्नमें उसने देखा कि श्रीहरि उसके सिरहाने बालमुकुन्द-वेषमें विराजमान हैं और हँसते हँसते कहते हैं 'सालबेग ! अब फिक्र मत कर, उठ बैठ, और मेरे हाथसे यह विभूति लेकर अपने घावपर लगा दे, इससे तेरा घाव सूख जायगा और तू स्वस्थ हो जायगा । इसके बाद तेरा जीवन सुखमें ही व्यतीत होगा परन्तु देख पीछे मुझे भूल न जाना । अरे निश्चय जान तेरा भवरोग भी दूर हो गया । जो किसी भी उद्देश्यसे सरल विश्वास और श्रद्धाके साथ मुझे सच्चे मनसे भजता है उसको इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण दुःखोंसे छुडाकर मैं अपना निज जन बना लेता हूँ ।' यह सुनकर सालबेग उठ बैठा और प्रभुके हाथसे विभूति लेकर अपने सब अङ्गोंमें लगाने लगा । थोड़ी-सी विभूति सिरपर धारणकर वह एकटकसे मधुसूदनकी मधु-मय मूर्तिका दर्शन करने लगा । देखते-देखते वह दिव्य मूर्ति हँसती हुई वहाँसे अदृश्य हो गयी । सालबेग भी निद्रावश हो गया । सवेरा होते ही वह जाग उठा । उसके मनमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं । उठकर देखता है कि माँ अभीतक सोयी है । अपने शरीरकी ओर देखता है तो अत्यन्त विस्मित हो जाता है । उसके मस्तकका घाव सर्वथा मिट गया है और उसका केवल चिह्नमात्र रह गया है । अब उसके शरीरमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं, क्लेश नहीं, शोक नहीं । उसे ग्लानि भी नहीं । वह उठ-कर अपनी माताको पुकारने लगा—'माँ, माँ, देख, देख, तेरे करुणामय श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुझपर करुणा की है । उठ, उठ, देख मेरा घाव सूख गया है । और मैं कृतार्थ हो गया ।'

माता तो श्रीकृष्णका ध्यान करती-करती कृष्ण-मय बनी सोयी थी । पुत्रके आनन्द-आवाहनको सुनते ही वह सारी बात समझ गयी । वह तुरन्त उठ बैठी और स्नेहपूर्वक पुत्रको देखने लगी । अहा ! पुत्रको देख उसके आनन्दकी सीमा न रही । पुत्र रोगसे मुक्त हुआ है, इसीका आनन्द नहीं, बल्कि वह श्रीकृष्ण-भक्त—श्रीकृष्ण-विश्वासी बन गया है, इसीका उसे महान् आनन्द हुआ ।

माताको जगा देखकर सालबेग हर्षित हो बोला—'माँ, माँ, देख मेरे शरीरमें वह घाव नहीं है और वह व्यथा भी नहीं है, मेरा समस्त शरीर दिव्य आनन्दसे परिपूर्ण हो गया ।' माताने कहा—'बेटा ! श्रीकृष्ण-भगवान्‌की महिमा ऐसी ही है । उनके समान दुःखियोंके दुःखको दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं । अब दृढ़ चित्तसे तू उनका भजन कर ।

सालबेग बोला—'हाँ, माँ ! सत्य है । उनके समान दुःखका नाश करनेवाला देवता दूसरा नहीं ।

माँ, माँ, तेरी कृपासे, तेरी शिक्षासे मेरा जीवन सफल हो गया। माँ, मुझे अब तू प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दे। अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा। मैं संन्यासी होकर देश-देश घूमकर इस अनन्त, दयासागर भगवान्की महिमाका प्रचारकर जन्मको सफल करूँगा।'

सालबेगकी माता भी सामान्य माता न थी। उसकी साधन-अवस्था सालबेगसे भी कहीं उन्नत थी। मन भी वशीभूत था। वह पुत्रकी इच्छासे बिल्कुल ही उदास न हुई। उलटे हँसते-हँसते उसने संन्यासी होनेकी आज्ञा उसे दे दी। पुत्र प्रभुकी महिमाका विस्तार करेगा इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी? परन्तु उस समय उसने सालबेगसे कहा—'बेटा, जा तेरी इच्छा पूर्ण हो। परन्तु सुन, चाहे मुझको भूल जाना, सब कुछ भूल जाना पर मेरे श्रीकृष्णभगवान्को कभी न भूलना। उनके नामकी रटनसे जिह्वाको और चिन्तनसे मनको सदा जागृत रखना। यह बात कभी न भूलना।'

सालबेगने भक्तिपूर्वक माताके चरणोंमें दण्डवत् की और उसके चरणरजको मस्तकपर चढ़ाकर मुक्तकण्ठसे कहा—'माता! प्रभुके ऐसे समर्थ और दयासागर होते हुए जो दूसरेकी शरण लेता है और उस प्रभुको नहीं भजता उसका मानव-जन्म व्यर्थ ही जाता है। माँ, तेरी कृपासे, तेरे आशीर्वादसे मैं परम प्रभुको कभी न भूलूँगा, तू भी उसे न भूलना।'

इतना कहकर सालबेग घरसे बाहर निकला और फिर कभी न लौटा। वहाँसे वह सीधा श्रीजगन्नाथजी गया और वहाँ कुछ दिनोंतक श्रीदीनबन्धुका दर्शनकर दक्षिणकी ओर चला गया। बहुत दिन हो गये, परन्तु उसका समाचार किसीको न मिला। उसके चले जानेके बाद उसकी माताको भी किसीने लालबेगके घरमें नहीं देखा। उसके बाद माता-पुत्रका परस्पर यहाँ मिलन न हुआ। हाँ, कितने ही दिनोंके बाद दोनों मिले अवश्य, परन्तु इस लोकमें नहीं, परलोकमें—परमात्माके उस मधुमय परमधाममें जहाँ किसी प्रकारकी विपत्ति और शोक नहीं आता और जहाँ जानेपर किसीका एक दूसरेसे वियोग नहीं होता।

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!



अनूठा उपदेश



कली भली दिन चार, जब लगि मुख मूँद्यौ रहै।
देत डारतें डार, फूल्यौ सहै न फूलको ॥ १ ॥

लख चौरासी घूमिकै, पौ मैं अटकी आइ।
यह बारी पौ नाँ परे, फिर चौरासी जाइ ॥ २ ॥

चाह चमारी चूयड़ी, सब नीचनकी नीच।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, तू नहिं होती बीच ॥ ३ ॥

'भीखा' भूखा कोइ नहीं, सबकी गठरी लाल।
गिरह खोल नहिं जानते, इहि विधि रहे कँगाल ॥ ४ ॥

'भीखा' बात अगम्मकी, कहन सुननकी नाहिं।
जो जानै सो कहै नहीं, कहै सो जानै नाहिं ॥ ५ ॥



प्रातःकाल होते ही आत्मघातका निश्चय करके वह सोते समय रातको कहने लगा कि—'हे प्रभु! यह मेरा अन्तिम निश्चय है। मेरी माताके कहनेके अनुसार कल सवेरे बारह दिन पूरे होते हैं। बस, आजकी रात बीचमें है। इसमें यदि तुम्हारी कृपा न हुई तो अवश्य मैं आत्महत्या करके अपने देहका त्याग करूँगा। ऐसा होनेसे पीछे मेरी माताकी भी मृत्यु होगी। इसप्रकार कल सवेरा होते ही हम दोनों इस लोकसे विदा हो जायँगे।'

माता भी सालबेगके पास ही सोयी है। वह भी विचार-में ही है, परन्तु उसका विचार जुदा है। वह भी श्रीकृष्ण-भगवान्‌का चिन्तन करती है। पर उसके चिन्तन-में सन्देह या शङ्काकी गन्ध भी नहीं। वह तो केवल शुद्ध भावसे निःशङ्क हो श्रीहरिका स्वाभाविक स्तवन करती है। वह कालक्षेप कर रही है, उसे विश्वास है कि पुत्रपर श्रीहरिकी कृपा होगी ही। हुआ भी वैसा ही, रातके दो पहर व्यतीत हो गये हैं। माता-पुत्र दोनों गाढ़ी निद्रामें पड़े हैं। उसी वक्त श्रीहरि आ पहुँचे। सालबेगको एक अद्भुत स्वप्न हुआ, स्वप्नमें उसने देखा कि श्रीहरि उसके सिरहाने बालमुकुन्द-वेषमें विराजमान हैं और हँसते-हँसते कहते हैं 'सालबेग! अब फिक्र मत कर, उठ बैठ, और मेरे हाथसे यह विभूति लेकर अपने घावपर लगा दे, इससे तेरा घाव सूख जायगा और तू स्वस्थ हो जायगा। इसके बाद तेरा जीवन सुखमें ही व्यतीत होगा परन्तु देख पीछे मुझे भूल न जाना। अरे निश्चय जान तेरा भवरोग भी दूर हो गया। जो किसी भी उद्देश्यसे सरल विश्वास और श्रद्धाके साथ मुझे सच्चे मनसे भजता है उसको इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण दुःखोंसे छुड़ाकर मैं अपना निज जन बना लेता हूँ।' यह सुनकर सालबेग उठ बैठा और प्रभुके हाथसे विभूति लेकर अपने सब अङ्गोंमें लगाने लगा। थोड़ी-सी विभूति सिरपर धारणकर वह एकटकसे मधुसूदनकी मधु-मय मूर्तिका दर्शन करने लगा। देखते-देखते वह दिव्य मूर्ति हँसती हुई वहाँसे अदृश्य हो गयी। सालबेग भी निद्रावश हो गया। सवेरा होते ही वह जाग उठा। उसके मनमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। उठकर देखता है कि माँ अभीतक सोयी है। अपने शरीरकी ओर देखता है तो अत्यन्त विस्मित हो जाता है। उसके मस्तकका घाव सर्वथा मिट गया है और उसका केवल चिह्नमात्र रह गया है। अब उसके शरीरमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं, क्लेश नहीं, शोक नहीं। उसे ग्लानि भी नहीं। वह उठ-कर अपनी माताको पुकारने लगा—'माँ, माँ, देख, देख, तेरे करुणामय श्रीकृष्णभगवान्‌ने मुझपर करुणा की है। उठ, उठ, देख मेरा घाव सूख गया है। और मैं कृतार्थ हो गया।'

माता तो श्रीकृष्णका ध्यान करती-करती कृष्ण-मय बनी सोयी थी। पुत्रके आनन्द-आवाहनको सुनते ही वह सारी बात समझ गयी। वह तुरन्त उठ बैठी और स्नेहपूर्वक पुत्रको देखने लगी। अहा! पुत्रको देख उसके आनन्दकी सीमा न रही। पुत्र रोगसे मुक्त हुआ है, इसीका आनन्द नहीं, बल्कि वह श्रीकृष्ण-भक्त—श्रीकृष्ण-विश्वासी बन गया है, इसीका उसे महान् आनन्द हुआ।

माताको जगा देखकर सालबेग हर्षित हो बोला—'माँ, माँ, देख मेरे शरीरमें वह घाव नहीं है और वह व्यथा भी नहीं है, मेरा समस्त शरीर दिव्य आनन्दसे परिपूर्ण हो गया।' माताने कहा—'बेटा! श्रीकृष्ण-भगवान्‌की महिमा ऐसी ही है। उनके समान दुःखियोंके दुःखको दूर करनेवाला दूसरा कोई नहीं। अब दृढ़ चित्तसे तू उनका भजन कर।

सालबेग बोला—'हाँ, माँ! सत्य है। उनके समान दुःखका नाश करनेवाला देवता दूसरा नहीं।

माँ, माँ, तेरी कृपासे, तेरी शिक्षासे मेरा जीवन सफल हो गया । माँ, मुझे अब तू प्रसन्न चित्तसे आज्ञा दे । अब मैं यहाँ नहीं रहूँगा । मैं संन्यासी होकर देश-देश घूमकर इस अनन्त, दयासागर भगवान्‌की महिमाका प्रचारकर जन्मको सफल करूँगा ।'

सालबेगकी माता भी सामान्य माता न थी । उसकी साधन-अवस्था सालबेगसे भी कहीं उन्नत थी । मन भी वशीभूत था । वह पुत्रकी इच्छासे बिल्कुल ही उदास न हुई । उलटे हँसते-हँसते उसने संन्यासी होनेकी आज्ञा उसे दे दी । पुत्र प्रभुकी महिमाका विस्तार करेगा इससे बढ़कर आनन्दकी बात और क्या होगी ? परन्तु उस समय उसने सालबेगसे कहा—'बेटा, जा तेरी इच्छा पूर्ण हो । परन्तु सुन, चाहे मुझको भूल जाना, सब कुछ भूल जाना पर मेरे श्रीकृष्णभगवान्‌को कभी न भूलना । उनके नामकी रटनसे जिह्वाको और चिन्तनसे मनको सदा जागृत रखना । यह बात कभी न भूलना ।'

सालबेगने भक्तिपूर्वक माताके चरणोंमें दण्डवत् की और उसके चरणरजको मस्तकपर चढ़ाकर मुक्तकण्ठसे कहा—'माता ! प्रभुके ऐसे समर्थ और दयासागर होते हुए जो दूसरेकी शरण लेता है और उस प्रभुको नहीं भजता उसका मानव-जन्म व्यर्थ ही जाता है । माँ, तेरी कृपासे, तेरे आशीर्वादसे मैं परम प्रभुको कभी न भूलूँगा, तू भी उसे न भूलना ।'

इतना कहकर सालबेग घरसे बाहर निकला और फिर कभी न लौटा । वहाँसे वह सीधा श्रीजगन्नाथजी गया और वहाँ कुछ दिनोंतक श्रीदीनबन्धुका दर्शनकर दक्षिणकी ओर चला गया । बहुत दिन हो गये, परन्तु उसका समाचार किसीको न मिला । उसके चले जानेके बाद उसकी माताको भी किसीने लालबेगके घरमें नहीं देखा । उसके बाद माता-पुत्रका परस्पर यहाँ मिलन न हुआ । हाँ, कितने ही दिनोंके बाद दोनों मिले अवश्य, परन्तु इस लोकमें नहीं, परलोकमें—परमात्माके उस मधुमय परमधाममें जहाँ किसी प्रकारकी विपत्ति और शोक नहीं आता और जहाँ जानेपर किसीका एक दूसरेसे वियोग नहीं होता ।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !





अनूठा उपदेश

कली भली दिन चार, जब लगि मुख मूँदौ रहै ।
देत डारतें डार, फूल्यौ सहै न फूलको ॥ १ ॥

लख चौरासी घूमिकै, पौ मैं अटकी आइ ।
यह बारी पौ नाँ परै, फिर चौरासी जाइ ॥ २ ॥

चाह चमारी चूयड़ी, सब नीचनकी नीच ।
मैं तो पूरन ब्रह्म था, तू नहिं होती बीच ॥ ३ ॥

'भीखा' भूखा कोइ नहीं, सबकी गठरी लाल ।
गिरह खोल नहिं जानते, इहिं बिधि रहे कँगाल ॥ ४ ॥

'भीखा' बात अगम्मकी, कहन सुननकी नाहिं ।
जो जानै सो कहै नहीं, कहै सो जानै नाहिं ॥ ५ ॥



श्रीयमकरामायण

(लेखक—श्रीअमृतलालजी माथुर)

[बालकाण्ड]

परसुधार[1] ! सुधार सुधा[2]-मती
वरसु धार-सुधारसु भारती !
हरि-कथा कवि जो जमका[3] करै
कुपित हू तिनको जम का करै ? ॥१॥

अघ-दपावन पावन नामते
जहरको हरको भय ना भयो ।
भजनमें जनमें नहि भाव जो
सु रसना रस नाहिन जानई ॥२॥

कवि न सो विनसो विन सो कहे
विरथ ही कविताइ विताइ जो ।
रस सुधा वरसी वर सीयको[4]
वह विसारद-सारद सार-दा[5] ॥३॥

सु हर-मानस[6] मानस[7]-हंसिनी
उर बसी वर सी-वरकी कथा ।
जु अविराम[8] विराम विधायिनी
अगतिकी गति कीरति रामकी ॥४॥

अगुनके[9] गुन केतिक भाँतिके
निज निवेदन वेदन[10] ने किये ।
भजनके जनके बस है अहो !
वह निरंजन रंजन रूप भो ॥५॥

सु सुरभी, सुर भीति निवारवे
बहुर भू-सुर, भू सुख हेतु को
सुत हुवे अज वे अज-नदके
रखत सतत सतन राम हैं ॥६॥

सकल लोक अलोक अनन्द भो
अनदियाँ[11] नदियाँ उमगी महा
सब चराचर राच रहे सुखी
रस अपूरब पूर रसतमें ॥७॥

अटति अगिन-अग उमग मा
मनु कुबेर भए कउ मगना
सुर सुखी दुख ते अघ तार हैं
अवध भो प्रभुको अवतार है ॥८॥

सिव विरंचि सुरेसुर सोमने
जस-कथा मधुरे सुरसो भने
महिप-पास गईं तब धाइयाँ
बँटति भाँतहि भाँत वधाइयाँ ॥९॥

हर विरंचिहु पावत पार ना
जननि ताहि झुलावत पारना
सुख किये हरि हैं पलनानमे
लसत नैननपैं पल ना नमे ॥१०॥

छवि कही कछु बैनन जातना
हरत हेरत ही मन जातना
जिन लिये हितसों गहि वारना
हरि उधारत की तिहि वार ना ॥११॥

सुभग अगन[12] अगन[13] राजके
विहरते हरते मन राजके
हिय-तमोहनि मोहनि चालमें
मन फसे न फसे जग-जालमें ॥१२॥

वह विलोकनि लोकनि मोहनी
मधुर हास रहास[14] सुधा-सनी
सु-रस बोलनि[15]-बोलनि[16] जो सुनी
सु परवीन न वीनन कों सुनी ॥१३॥

सिसु चरित्र किये भुवि[17] सार हैं
सु न भुसुण्डिहु सम्भु विसार हैं
छविछके पुरके नर ती रहैं
धन भये भव-सागर तीर हैं ॥१४॥

दृगनको मनको धन और ना
उर धरें तिन सो धन और ना
हरि बसे हिय, तो टुक ठौर ना
तजत ता सम चेत कठोर ना ॥१५॥

रमत औध, तरगनि तीर हैं
धरत चाप, निसगनि तीर हैं
गयर साँवर दो वर जोर हैं
मन लगैं हठि ना वरजो रहैं ॥१६॥

---

१ गणेशजी ! २ अमृत (कविनाम) ३ यमकालंकार-युक्त ४ बुद्धिमान् वक्ताकी वाणी ५ सार देनेवाली ६ हृदय ७ मानसरोवर ८ थके हुओंको ९ निर्गुण ईश्वरके १० वेदोंने ११ आनन्दमयी १२ अंगोंसे १३ आँगनमें १४ रहस्य १५ रसीले शब्दोंके साथ बोल (शब्द) १६ बोली १७ पृथ्वीपर

धर्मपद

(अनु०—श्रीप्रभाकरजी)

(गतांकसे आगे)

२—अप्रमादवर्ग

२१—अप्रमाद अमृतका मार्ग है और प्रमाद मृत्युका मार्ग है । अप्रमत्त नहीं मरते । प्रमत्त तो मर ही चुके हैं ।

२२—अप्रमादकी इस विशेषताको जानकर, पण्डित अप्रमादमें आनन्द पाते हैं और आर्योंके मार्गमें रमते हैं ।

२३—वे धीर पुरुष ध्यानसे, सतत अभ्याससे, दृढ़ पराक्रमसे निर्वाण पाते हैं, जो सबसे श्रेष्ठ योगक्षेम है ।

२४—जो उठनेवाला, स्मृतियुक्त, पवित्र और सोचकर काम करनेवाला, धर्मसे आजीविका चलानेवाला, संयमी और अप्रमत्त है, उसीका यश बढ़ता है ।

२५—उत्थानसे, अप्रमादसे, संयमसे और दमसे बुद्धिमान् अपनेको द्वीप बना ले, जिसको प्रवाह तोड़ नहीं सकता ।

२६—दुर्बुद्धि, मूर्खलोग प्रमादमें लगे रहते हैं; बुद्धिमान् पुरुष अप्रमादका श्रेष्ठ धनके समान रक्षण करता है ।

२७—अप्रमादमें मत लग; कर्त्तव्यमें प्रेम मत रख; अप्रमत्त, ध्यानी विपुल सुख पाता है ।

२८—जब पण्डित प्रमादको अप्रमादसे हटा देता है, तब वह ज्ञानके महलपर चढ़कर स्वयं शोकहीन हो शोक करनेवाली प्रजाको देखता है ।

२९—जो प्रमत्तोंमें अप्रमत्त और निद्रितोंमें जागृत हैं, वे सुबुद्धिवाले पुरुष आगे बढ़ते हैं, जैसे जोरसे चलनेवाला घोड़ा कमजोर घोड़ेको पीछे रखकर आगे निकल जाता है ।

३०—अप्रमादसे इन्द्र देवताओंमें श्रेष्ठ हुआ । लोग अप्रमादकी प्रशंसा करते हैं; प्रमाद सर्वदा निन्द्य है ।

३१—अप्रमादमें रमनेवाला और प्रमादमें भय देखनेवाला भिक्षु छोटे-बड़े बन्धनोंको आगके समान जलाता हुआ आगे बढ़ता है ।

३२—अप्रमादमें रमनेवाले और प्रमादमें भय देखनेवाले भिक्षुका पतन नहीं हो सकता । वह निर्वाणके समीप ही है ।

३—चित्तवर्ग

३३—उछलनेवाले और चपल चित्तका रक्षण या निवारण करना कठिन है । जिसप्रकार तीर बनानेवाला तीरको सीधा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान् चित्तको सीधा बनाता है ।

३४—पानीमेंसे बाहर निकालकर जमीनपर डाली हुई मछलीके समान मारका राज्य छोड़नेके लिये चित्त छटपटाता है ।

३५—जिसको काबूमें रखना कठिन है और जो चाहे जहाँ चला जाता है, ऐसे चपल चित्तका भलीभाँति दमन करो । दमन किया हुआ चित्त सुखप्रद होता है ।

३६—जिसके ऊपर नजर रखना मुश्किल है, और जो चाहे जहाँ चला जाता है, ऐसे चालाक

चित्तका बुद्धिमान् रक्षण करें। रक्षण किया हुआ चित्त सुखावह है।

३७—दूर जानेवाला, अकेला घूमनेवाला, जिसके शरीर नहीं और जो गुहामें रहता है, ऐसे चित्तका जो संयम करते हैं, वे मारके बन्धनसे छूटते हैं।

३८—जिसका चित्त स्थिर नहीं, जो सद्धर्मको नहीं जानता और जिसकी प्रसन्नता नष्ट हो गयी है, उसकी प्रज्ञा परिपूर्ण नहीं होती।

३९—जिसका चित्त काममें आसक्त नहीं, जिसके मनपर आघात हुआ नहीं और जिसने पुण्य और पाप छोड़ दिये हैं, उस जाग्रत् मनुष्यको भय नहीं होता।

४०—इस देहको घड़ेके समान जानकर और चित्तको किलेके समान मजबूत रखकर, प्रज्ञारूपी आयुधसे मारके साथ लड़ो; जीतकर उसकी रक्षा करो। विश्राम मत करो।

४१—हाय! थोड़े ही समयमें यह शरीर, फेंकी हुई लकड़ीके समान ज्ञानहीन हो अकेला जमीनपर सोयेगा।

४२—द्वेष करनेवाला द्वेषीका या वैरी वैरीका जो घात करता है, उससे भी कहीं बढ़कर यह चित्त मनुष्यका घात करता है, जो असत्में लगाया हुआ है।

४३—माता-पिता या दूसरे जाति-भाई जितना कल्याण करते हैं उससे भी कहीं बढ़कर यह चित्त मनुष्यका कल्याण करता है, जो 'सत्' में लगाया हुआ है।

ज्ञान क्या है?

(लेखक—श्रीदेवीचरणजी निगम एम० ए०)



स्कृतकी 'ज्ञा' धातुसे 'ज्ञान' शब्द बना है। पाणिनीय धातुपाठमें ज्ञा धातु 'अवबोधन' अर्थमें पढ़ी गयी है। अवबोधनके माने हैं सम्यक् प्रकारसे ठीक-ठीक बोध हो जाना। बस, इसी ठीक-ठीक बोधहीको ज्ञान कहते हैं।

श्रीगीताजीमें ज्ञानका वर्णन इसप्रकार है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
(१३। ७-११)

'किसी प्रकारका मान न रखना, ढोंग-पाखण्ड आदि न करना, प्राणिमात्रको किसी प्रकार कष्ट न देना, क्षमा, सीधा निष्कपट सभाव रखना, अपने आचार्यकी सेवा करना, बाहर और भीतरकी शुद्धि रखना, चित्तको स्थिर रखना, मन और इन्द्रियोंको वशमें रखना, संसारके भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कार न करना, जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा तथा रोग, इन चारोंमें बारम्बार दुःख और दोषोंहीका विचार करना, (संसारके प्रत्येक पदार्थमें ये चारों हैं) घर, स्त्री तथा पुत्रमें बहुत आसक्ति और ममता न रखना, प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा समचित्त रहना, मुझ (परमात्मा) में अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति रखना, एकान्त-

वासकी आदत, बहुत भीड़भाड़का नापसन्द होना, अध्यात्मज्ञानमें सदा स्थिर रहना, तत्त्व-ज्ञानके असली ध्येय परमात्माको समझ लेना—बस, इन्हीं बातोंका नाम ज्ञान है। इसके अलावा और जो कुछ है वह सब अज्ञान है। ज्ञानके झण्डेके नीचे वह नहीं आ सकता।'

और यह वर्णन समुचित भी है। किसी भी मनुष्यमें ठीक-ठीक बोध हो जानेपर ये सब बातें न होंगी तो और क्या होंगी ?

भगवान् श्रीकृष्णने एक जगह सूक्ष्मरूपसे भी ज्ञानका दिग्दर्शन कराया है। आप फरमाते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।
(गीता १३। २)

'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका अच्छी तरह समझ लेना ही मेरी रायमें ज्ञान है।'

यहाँपर शिक्षितसमुदाय सतर्क हो सकता है। यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे ज्ञानको लेकर हम क्या करेंगे, जिससे हमारा संसार, हमारा घर-द्वार सभी कुछ छूट जाय, हमारे काम-काज न हो सकें। परन्तु गीतामें ऐसी बात नहीं है। गीता कहती है—

'संसारके विषयोंको, वशमें किये हुए अन्तःकरण-वाला पुरुष राग और द्वेषसे शून्य होकर अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंसे भोग करे। ऐसे भोगसे प्रसन्नता आवेगी और उस प्रसन्नताकी बदौलत बुद्धि स्थिर होगी। (जिससे ज्ञानका प्रादुर्भाव होगा)।'

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
(गीता २। ६४। ६५)

ज्ञान तो मन-इन्द्रियोंको वशमें करके स्त्री-पुत्रादिकी ममता छोड़नेको कहते हैं। स्त्री-पुत्र छोड़नेको थोड़े ही। रही कामकी बात, तो स्वार्थभावसे शून्य होकर भगवदर्थ सभी काम-काज किये जा सकते हैं। भगवदर्थ कर्मोंकी कहीं मनाही नहीं है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३। ९)

'हे अर्जुन! इस संसारमें भगवदर्थ किये जाने-वाले कर्मोंके अतिरिक्त और जितने कर्म होते हैं वे ही जीवको बाँधनेवाले होते हैं। तू सङ्ग छोड़कर भगवदर्थ परोपकारके लिये कर्म कर।'

ज्ञानकी दशामें निष्कामभावसे परोपकार-सम्बन्धी कर्म ही प्रायः बनते हैं। स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मकी तो उसके हृदयमें कल्पना भी नहीं होती।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

'हे अर्जुन, यह कर्मोंकी भागा-दौड़ी ज्ञान हो जानेपर स्वयं ही शान्त हो जाती है।'

यथार्थमें साधनकालका ठीक-ठीक बोध या ज्ञान तभी कहा जा सकता है, जब मनुष्य अपने मनुष्य-शरीरका चरम लक्ष्य समझे और समझकर उसे प्राप्त करनेके लिये उद्योगी बने। जबतक यह नहीं तबतक ज्ञान कहाँ।

इस चरम लक्ष्यको समझाते हुए, वशिष्ट मुनि कहते हैं—

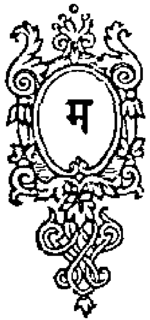
वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात्।
संसारस्तीर्यते तेन तेष्वेवाभ्यासमाहर॥
(योगवाशिष्ठ, निर्वाणप्रकरण)

'हे प्यारे राम! वैराग्य और अभ्याससे तत्त्वको समझ लेनेपर ही इस संसारको पार किया जा सकता है। इसलिये तुम इन्हीं तीनोंका बारम्बार अभ्यास करो।'

यह है ज्ञानका स्वरूप। इस दिग्दर्शनको ध्यान-में रखकर विचारनेसे मालूम होता है कि आजकल ज्ञानका अर्थ नहीं, प्रत्युत अनर्थ किया जाता है। जिसे लोग ज्ञान समझते हैं वह ज्ञानसे दूर ही नहीं बल्कि उसका बिल्कुल उलटा है।

महात्मा लालदास

(लेखक—विद्यावाचस्पति प० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा गौड़ 'इन्द्र')



महात्मा लालदासजीका जन्म अल्वर-राज्यान्तर्गत धौलीधूब नामक ग्राममें वि० स० १५९७ (ई०सन् १५४०) में हुआ था। लालदासजीके जीवन-चरित्रका विशेष आधार उनके पद्य हैं। इनका जन्म मेवा जातिमें हुआ था। मेवा नाममात्रके मुसलमान होते हैं क्योंकि उनके रीति रिवाज, रहन सहन और आचार-विचार बिल्कुल हिन्दुओंके समान ही होते हैं।

महात्मा लालदासका जन्म एक गरीब घरमें हुआ था। उनका बाल्यकाल धौलीधूबमें ही गुजरा। यह धौलीधूब अल्वर (राजपूताना) से उत्तर दिशामें दो कोस दूरीपर पहाड़ोंमें बसा हुआ एक रम्य ग्राम है। जब लालदासने किशोरावस्थामें पदार्पण किया तब वे पहाड़ोंमें जाकर लकड़ियाँ काट लाने और उन्हें बेचकर अपना निर्वाह चलानेका कार्य करने लगे। इस कार्यसे जो समय बचता उसमें वे प्रभु नाम-स्मरण करते रहते। भगवद्भक्तिके कारण कुछ ही दिनोंमें वे प्रसिद्ध हो गये और उनके चमत्कार लोगोंको आश्चर्य-में डालने लगे। तिजारा नामक स्थानके रहनेवाले एक फकीर चिश्तीगदनने लालदासकी कीर्ति सुनकर उनसे भेंट की और उन्हें हिन्दु मुसलमान दोनोंको ही शिक्षा देनेकी सम्मति दी।

कुछ दिनों बाद महात्मा लालदास रामगढ परगनेके बाँदोली नामक गाँवमें जा रहे। यह गाँव अल्वरसे उत्तर पूर्व आठ कोसकी दूरीपर है। यहाँ वे परोपकार-में अपना अधिक समय व्यतीत करने लगे। वे एक पहाड़ीकी चोटीपर रहते थे और भयानक गर्मीके मौसममें भी वे कड़ी-से कड़ी धूपमें पड़े रहते थे। उन्हें जङ्गलके हिंस्र प्राणी, सर्प, सिंह आदि कोई नहीं सताता था और न कोई शारीरिक व्याधि ही उन्हें होती थी। धीरे धीरे सभी जातिके लोग उनका शिष्यत्व स्वीकार करने लगे। परन्तु एक तेली शिष्यने उनसे अद्भुत शक्ति आशीर्वाद-रूपमें प्राप्त की। जब वह तेली अपनी उस शक्तिका दुरुपयोग करने लगा तब लालदासने उस शक्तिको निष्फल बना दिया। इसके बाद लालदासने झूठे और स्वार्थी शिष्योंको अपने पाससे दूर हो जानेकी आज्ञा दी। उनमें कुछ मुसलमान भी थे, उन्होंने वहाँके हाकिमको लालदासके विरुद्ध बहकाकर उन्हें कष्ट पहुँचानेमें कुछ उठा न रक्खा, किन्तु उस महापुरुषका कुछ भी बिगाड नहीं सके।

एक यवनने किसी परस्त्रीकी इज्जत बिगाडी, दैवयोगसे उसकी मृत्यु हो गयी। लालदासके विरोधियों-ने इसका दोषी उन्हें ठहराया। बहादुरपुरके मुसलमान हाकिमने लालदासको शिष्योंसहित अपने यहाँ बुलाया। जब उसने उनके साथ मुसलमान और हिन्दू दोनों जातिके शिष्योंको देखा तो वह अचम्भेमें हो गया। लालदाससे उस मुसलमानकी मृत्युका कारण पूछा गया तो उन्होंने कहा कि मुझे इस विषयमें कुछ भी पता नहीं। हाकिमने उनपर और उनके शिष्यों पर पाँच पाँच रुपये जुर्माना किया। महात्मा लालदास ने जुर्माना देनेसे स्पष्ट इन्कार कर दिया, तब एक जहरीले कुएँका पानी मँगवाकर उन सबको पिलाया गया, परिणाम यह हुआ कि उन लोगोंका तो बाल भी बाँका न हुआ बल्कि वह कुआँ ही अच्छे पानीका हो गया। वह कुआँ आज भी 'मीठा कुआँ' नामसे प्रसिद्ध है।

एक बार मुसलमानोंने फिर लालदासको विपत्तिमें

डालना चाहा, परन्तु उनके तपोबलने सब विघ्न-बाधाओंको नष्ट कर डाला। जब बाँदोलीमें उन्हें सताया जाने लगा तो वे वहाँसे चल दिये और टोडी नामक गाँवमें आ रहे! दुष्टोंने यहाँ भी उनका पीछा न छोड़ा और कष्ट पहुँचाने लगे तो वे वहाँसे भी चल दिये। जब वे नारोली गाँवमें आये तो उन्होंने वहाँके निवासियोंसे पीनेको पानी माँगा, किन्तु लोगोंने उन्हें पानी नहीं पिलाया। इस अनादरका परिणाम यह हुआ कि नारोलीके सब कुएँ उसी साल सूख गये।

नारोलीसे चलकर वे रसगन (रामगढ़) में आये। यहाँके निवासियोंने उनका अच्छा स्वागत-सत्कार किया। कुछ दिनोंतक महात्मा लालदासने यहाँ निवास किया। जैसी महात्माओंके सम्बन्धमें कुछ-न-कुछ चमत्कारपूर्ण अद्भुत बातें कही जाती हैं वैसी ही इनके सम्बन्धमें भी कही जाती हैं। हम उनमेंसे कुछेक पाठकोंके मनोविनोदार्थ यहाँ लिखते हैं।

१—कहते हैं तिजाराके मुसलमान हाकिमने लालदासको अपने घर निमन्त्रितकर अच्छा स्वागत-सत्कार किया। भोजनमें पका हुआ मांस भी उनके आगे ला रक्खा। महात्मा लालदासने मांस खानेसे इन्कार कर दिया। इसपर हाकिमने कहा 'आप मुसलमान हैं और मांस मुसलमानोंके लिये जायज़ है।' यह सुन लालदासने कहा—'भाई! जो दूसरोंका गला काटता है वह स्वयं अपना गला काटता है। खुदा ऐसे लोगोंको दोज़खमें डालता है। इतना कहकर उन्होंने मांस हाथमें उठा लिया जो उनके छूते ही भात बन गया। उस हाकिमने उन्हें जादूगर समझकर शिष्योंसहित गिरफ्तार करके जेलमें भेज दिया। जब उसने सुबह जाकर जेलखाना देखा तो वहाँ न तो महात्मा लालदासको पाया और न उनके शिष्योंको ही। इसपर हाकिमने पहरेदारोंको क़ैद कर लिया। उसी समय महात्मा लालदास शिष्योंसहित जेलखानेमें दिखायी पड़े। उनका यह चमत्कार देखकर हाकिम बड़ा ही शर्मिन्दा हुआ और उन्हें शीघ्र ही जेलसे छोड़ दिया।

२—आगरेके एक कायस्थको कोढ़ हो गया था। वह इलाज करके थक चुका था। जब उसने महात्मा लालदासकी कीर्त्ति सुनी तो वह उनकी शरण आया। लालदासने कहा कि 'तू अपनी सारी सम्पत्ति दान करके फकीर बन जा और अपना मुँह काला करके गधेपर सवार हो प्रयागमें जा, वहाँ त्रिवेणीपर स्नान कर। उसने ऐसा ही किया। उसका कोढ़ जाता रहा।

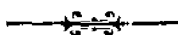
३—महात्मा लालदासने संवत् १८८४ के दुर्भिक्षकी भविष्यवाणी की थी।

४—मथुराके नागचरणदासको जो अपने सात सौ शिष्योंसहित लालदासके आश्रममें आया था, झोंपड़ीमें कुछ भी न होनेपर मनोवाञ्छित भोजन करा तृप्त किया। इत्यादि।

महात्मा लालदासके एक पुत्र पहाड़ नामक और एक लड़की स्वरूपा नाम्नी थी। ये दोनों सन्तानें भी अपने पिताकी तरह भक्त और चमत्कारी हुईं। महात्मा लालदासने पूर्णायु प्राप्त की। वि० सं० १७०५ (ई० सन् १६४८) में १०८ वर्षकी अवस्थामें उनका स्वर्गवास हुआ। अलवर-राज्यकी सीमापर भरतपुर-राज्यान्तर्गत नगला नामक गाँवमें उनके शरीरको विधिपूर्वक गाड़ा गया। आज भी यह स्थान तीर्थोंकी भाँति पूजा जाता है।

महात्मा लालदास कवि थे, उनकी वाणीको भक्तलोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति-पूर्वक गाते हैं। यहाँ उनमेंसे कुछ उद्धृत किये जाते हैं—

१-लालजी भगत भीख न माँगिये, माँगत आवे शरम।
घर-घर हाँडत दुख है, क्या बादशाह क्या हरम॥
२-लालजी साधू ऐसा चाहिये, धन कमाकर खाय।
हिरदे हरकी चाकरी, पर घर कभूँ न जाय॥
३-साधू ऐसा चाहिये, चौड़े रहे बजाय।
की टूटे की फिर जुड़े, मनका धोका जाय॥
४-लालजी हक खाइये हक पीइये, हककी करो फरोह।
इन बातों साहिब खुशी, बिरला बरते कोय॥
५-लालजी घर करो तो हल करो, सुनो हमारी सीख।
दोज़ख वे ही जायँगे, घरबारी माँगें भीख॥
६-क्या मँगतेका मान है, माँगे टुकड़ा खाय।
कुत्ता ज्यों हाँडत फिरै, जनम अकारथ जाय॥
७-सूरा वोही जानिये, लड़े धनीके हेत।
पुरजा पुरजा हो पड़े, तो ना छोड़े खेत॥
८-सो धन लाल न साँचरो, सो आगेका होइ।
कन्धा पीछे गाँठड़ी, जा तन देखे कोइ॥



पुनर्जन्म

(लेखक—श्रीशिवबालकजी)



हिन्दू-धर्ममें पुनर्जन्मका सिद्धान्त सर्वमान्य है। त्रिकालज्ञ और योगके प्रभावसे परम शक्तिको प्राप्त ऋषियोंने सब बातोंको, लोक परलोकको प्रत्यक्ष करके इस सिद्धान्तकी घोषणा की थी। समय समयपर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण भी पाये जाते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि शुभ कर्म करनेसे प्राणी उत्तरोत्तर उच्च गतिको और अशुभ कर्मोंसे नीच गतिको प्राप्त होता है। यहाँ दो-तीन सच्ची घटनाएँ लिखी जाती हैं।

(१)

बीना इटावा बस्तीमें, जो बीना जंक्शन जी० आई० पी० रेलवेसे लगी हुई है, आठ वर्ष पूर्व प्यारे काछी नामक एक किसान रहता था। इसके तीन लड़के मरदन, कलुआ और हल्का अभी मौजूद हैं और शाक-भाजीकी किसानी कर अपनी गुजर करते हैं। समय आनेपर प्यारे काछीका शरीरपात हुआ और इसने खुरईनिवासी जानकी असाटी (वैश्य) के गृहमें पुत्ररूपसे जन्म लिया।

जानकी असाटीका घर प्रभु कृपासे सन्तति-सम्पत्तिसे भरपूर है। स्वयं जानकीप्रसाद वैष्णव धर्ममें निष्ठा रखते और प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ धर्मकृत्य (यथा श्रीमद्भागवतकी कथा कहलाना, ब्राह्मण-भोजन आदि) किया करते हैं। इस नवजात पुत्रका नाम बालमुकुन्द रक्खा गया। जब बालककी वाणीमें स्फुरणा उत्पन्न हुई, तब वह बहुधा कलुआ और हल्काका नाम लेता और अपने घरकी याद करता। सुननेवालोंको इस विषयके तथ्य जाननेकी उत्सुकता हुई। तब एक दिन बालकका पिता तथा कई मित्र उसे बीना इटावा ले आये। लड़का जब बस्तीमें पहुँचा, तब वह सीधा अपने घरकी ओर भागा। पिता तथा अन्य लोग साथ थे। पिताने कहा कि 'अपने लड़कोंको बुलाओ।' बालक मरदन, कलुआ, हल्का आदि नाम ले लेकर उन्हें पुकारने लगा। घरकी स्त्रियाँ भी बाहर निकल आयीं। बालकने उन्हें देखकर प्रसन्नता प्रकट की। घरमें कुछ द्रव्य उसके हाथका वहीं गड़ा था, बालकने पता बताकर कहा उसे निकाल लेना और अपना काम चलाना।

प्यारे काछीका जीवन अत्यन्त सरल और विनयशील था। गाढ़े पसीनेकी कमाईसे वंश-पालन करना और लोगोंके साथ मैत्रीभावसे बर्ताव करना उसका मरण-पर्यन्त ध्येय रहा। फलस्वरूप उसे पुनः अच्छे घरमें मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ। अब बालमुकुन्द पिछली बातें भूल गया है।

(२)

खुरई तहसीलमें लाखनखेरा नामका मौजा है। यहाँ धारुसिंह नामक एक किसान रहते हैं। धारुसिंहके जब पुत्र उत्पन्न हुआ, तब उसकी जाँघमें एक फोड़ा दिखायी दिया। मालूम हुआ वह पेटमें ही हो गया था। खुरईके वैद्य भवानी नेमाके यहाँसे जब मलहम आयी तब उसके लगानेसे फोड़ा कुछ दिनोंमें आराम हो गया। लड़केका नाम रघुवर रक्खा गया। इस समय लड़केकी उम्र आठ सालकी है। एक दिनकी बात है कि मालथौननिवासी कन्छेदी नामका लढ़िया (राज) लाखनखेरेमें आया। लड़केकी दृष्टि ज्यों ही इस लढ़ियापर पड़ी, त्यों ही वह कहने लगा कि यह मेरे पहले जन्मका शत्रु है, इसने मेरी जाँघमें गोली मारी थी।

पहले तो कन्छेदीको आश्चर्य हुआ, पर दो-चार बार जब लड़का वही बात कहता गया तब कन्छेदीको स्मरण आया। कन्छेदीने कहा कि एक बार ग्राम बरखेड़ा, रियासत कोखाईमें डाका पड़ा था, मैंने डाकुओंके ऊपर कई फैर किये थे और उस समय एक डाकूकी जाँघमें गोली लगी थी। लड़केने अपना पूर्वजन्मका नाम नहीं बतलाया।

(३)

लालजूप्रसाद यादव हिन्दी मिडिल स्कूल बीना-इटावाके हेडमास्टर हैं। इनकी धर्मपत्नीके गलेमें कण्ठमालका रोग उत्पन्न हुआ। अनेक आयुर्वेदिक तथा ऐलोपैथिक ओषधियाँ लगायी गयीं, पर कुछ भी लाभ न हुआ। निदान खबर मिली कि जरुआखेड़ामें एक मनुष्य इस रोगको झाड़ता है, (जरुआखेड़ा बीना जंक्शनसे चौबीस मीलकी दूरीपर बीना-कटनी लाइनपर रेलवे स्टेशन है) हेडमास्टर साहब अपनी धर्मपत्नीको वहाँ ले गये। झाड़नेवाले महाशयने एक मटका और एक काँसेकी थाली मँगायी और लकड़ीकी एक पटियापर सर्पोंके चित्र बनाकर और स्त्रीको उसके सम्मुख बिठाकर प्रयोग करना शुरू किया। ये भाई जिस समय झाड़ा-फूँकी करते थे, उस समय रामायणके पद गाते थे। पासमें मटकापर काँसेकी थाली रक्खी रहती थी। ज्यों-ज्यों गान होता था। त्यों-त्यों थाली पात्रपर आप-ही-आप उछलती रहती थी। एक-दो दिन तो कुछ न हुआ पर पीछे रोगीको बेहोशी होने लगी। वह सिर घुमावे, पर बोले कुछ नहीं। मन्त्र-प्रयोग होनेपर जब शान्ति होवे, तब मास्टर साहब नित्य पूँछें कि क्या हुआ था, कैसा मालूम होता था, पर रोगी यही कहे कि मुझे एकाएक बेहोशी हो जाती है और कुछ मालूम नहीं रहता।

झाड़नेवाले महाशय हताश न हुए। उन्होंने कहा कि रोगी अवश्य बोलेगा। आप एक महीनेकी छुट्टीका प्रबन्ध कर लें। मास्टर साहबने एक माहकी छुट्टी ली। यह बात जरूर हुई कि जिस दिनसे झाड़ना शुरू हुआ था रोग क्रमशः क्षीण होता जाता था।

सतरहवें दिन रोगीकी बेहोशीका रूप बदला और उस शरीरमें वह आत्मा जो रोगरूपमें कष्ट दे रही थी, बोली कि 'मैं इस स्त्रीके प्राण लेकर छोड़ूँगा। बहुत कुछ कहने सुननेपर उसने कहा कि 'यह लड़की पूर्वजन्ममें भेलसाकी रहनेवाली एक ब्राह्मणी थी, इसका नाम मुला था (भेलसा-रियासत ग्वालियरमें जी० आई० पी० रेलवेका स्टेशन है।) इसके कई

लडके थे । मैं सर्प हूँ, मेरा भेलसामें चबूतरा है जो ठाकुरबाबाके नामसे प्रसिद्ध है । एक दिन मैं इसके घरमें घूम रहा था, कि यह दूध लगाने पौरमें आयी, मैं एक सूराखमें घुस गया, पर इसने अपने लडकों को इशारा किया और उन्होंने सूराखमें लकडी डाल डालकर मुझे घायल कर दिया । आखिर मैं एक घासके ढेरमें जा घुसा और इसने उसमें आग लगवा दी ।'

बहुत कुछ अनुनय विनय करने और साठ गरीब मनुष्योंको भोजन देनेके बादेपर सर्पने वचन दिया, कि मैंने स्त्रीको छोड दिया । उसी दिन कण्ठकी सारी फुन्सियाँ सूख गयीं ।

मास्टर साहब इस पूर्वजन्मके सुने हुए वृत्तान्तका मिलान करनेके लिये स्वयं भेलसा गये और वहाँ ठाकुरबाबाका चबूतरा पाया । ब्राह्मणीका घर जरूर रहा, पर वहाँ कोई न मिला ।

भगवान् श्रीरामजीने बाली बधके पूर्व सुग्रीवके कहनेपर सप्त ताल वृक्षका एक बाणसे भेदन किया था । ये सप्त-ताल नागकी अस्थिमेंसे फूट निकले थे और श्रीरामजीकी दयासे उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ था ।

झाडनेवाले महाशय इसी राम नाम या राम भजन से झाडा फूँकी करते हैं । इस युगमें कण्ठके आस पास एड़ी-टेढी पंक्तिमें ग्रन्थि निकलना तथा ऊपरकी प्रत्यक्ष भोगी हुई विधिका मिलान, सर्पको सतानेसे कण्ठमालसे ग्रस्त होना तथा एक या कई जन्मका शत्रु या मित्रभाव बराबर प्राप्त होते रहना सिद्ध होता है ।





संसारकी असारतापर कुछ प्राचीन दोहे

तनकी तनक सरायमैं, तनक न पायो चैन ।
स्वास नगारे कूचके, बाजत हैं दिन रैन ॥ १ ॥
नदी किनारे देखिये, 'सम्मन' सब ससार ।
कोइ उतरे कोइ चाढि रहे, (कोइ) बगुचा बाँधि तयार ॥ २ ॥
बैठि-बैठि बहुतक गये, जग तरवरकी छाँहि ।
सहज बटाऊ बाटके, मिलि मिलि बिछुरत जाँहि ॥ ३ ॥
तात मात तुम्हरे गये, तुम भी भये तयार ।
आज कालमैं तुम चलौ, 'दया' होंहु हुसियार ॥ ४ ॥
बडो पेट है कालको, नेक न कहूँ अघाय ।
राजा राना छत्रपति, सबकों लील जाय ॥ ५ ॥
'सम्मन' रोवैं कौनकों, हँसै सु कौन विचार ।
गये सु आवनके नहीं, रहे सु जावनहार ॥ ६ ॥



विवेक-वाटिका

सब ओर फैले हुए चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और फिर कुछ भी चिन्तन न करता हुआ मेरे मधुर मुसुकानयुक्त मुखके ध्यानमें ही उसे लगा दे।

—भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀

परमात्मा निश्चय ही हमें सुख देते हैं। यदि हमारे पीछे पाप न लगे तो हमारे सामने सदा कल्याण ही होता रहे। —ऋग्वेद

❀ ❀ ❀

महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरी-विष्ठाके समान अत्यन्त हेय बतलाया है अतएव त्यागीको सदा कीटकी तरह प्रतिष्ठाहीन होकर विचरण करना चाहिये। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀

जो कोई मनुष्य दोषबुद्धिसे रहित होकर श्रद्धावान् हो मेरे (भगवान्के) मतके अनुसार चलते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं। —श्रीमद्भगवद्गीता

❀ ❀ ❀

सब इन्द्रियोंमेंसे यदि एक भी इन्द्रिय विचलित हो जाती है तो उससे इस मनुष्यकी बुद्धि ऐसे चली जाती है जैसे मशकमें जरा-सा छेद होनेपर तमाम जल निकल जाता है। —मनु महाराज

❀ ❀ ❀

चैतन्यरूप वस्त्रसे युक्त महाभाग्यवान् पुरुष वस्त्रहीन, वस्त्रयुक्त अथवा मृगचर्मादि धारणकर उन्मत्तके समान, बालकके समान अथवा पिशाचादिके समान स्वेच्छानुसार भूमण्डलमें विचरते रहते हैं। —शंकराचार्य

❀ ❀ ❀

भगवान्की भक्ति करना ही मनुष्यका परमपुरुषार्थ है। उन्हींकी भक्ति करके परमशान्तिको प्राप्त करो।

—श्रीचैतन्य महाप्रभु

❀ ❀ ❀

मेधावी और बहुश्रुत सत्पुरुषोंका संग करो, क्योंकि अर्थको न जानकर जो महापुरुषोंकी शरण लेता है वह उसको जानकर सुख प्राप्त करता है। —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

जब एक रामके शरण लेनेसे ही स्वार्थ और परमार्थ सहजमें ही सिद्ध हो जाते हैं तब दूसरेके द्वारपर जाकर अपनी हीनता दिखलाना उचित नहीं।

—गो० तुलसीदासजी

❀ ❀ ❀

मनुष्य, उस दिनको याद रख जिस दिन तेरी देह छूट जायगी और जंगलमें ले जाकर जला दी जायगी यहाँका न कुछ संग जायगा और न वहाँ कोई सहायक होगा। --चरनदासजी

❀ ❀ ❀

व्याकुल होकर उसके लिये रोनेसे वह मिलता है। लोग लड़के-बालेके लिये, रुपये-पैसेके लिये कितना रोते हैं, किन्तु भगवान्के लिये क्या कोई एक बूँद भी आँसू टपकाता है? उसके लिये रोओ, आँसू बहाओ, तब उसको पाओगे। —रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀

मूर्ख समझता है कि वह इन्द्रियोंके सुख लूटता है किन्तु वह यह नहीं जानता कि अस्वच्छ विचार या कार्यके बदलेमें उसकी जीवन-शक्ति ही बिक जाती अथवा नष्ट हो जाती है। —स्वामी रामतीर्थ

❀ ❀ ❀

हृदयकी सरलता और निर्मलता ईश्वरीय ज्योति है। यह ज्योति ही ईश्वरका मार्ग दिखलाती है। प्रभुसे क्षमाकी आशा इन साधनोंकी ओर खींचती है, प्रभुका भय ही पापसे निवृत्त करता है और प्रभुमहिमाका स्मरण ही इस सत्यके मार्गपर आगे बढ़ाता है।

—तपस्वी अबुलकासिम

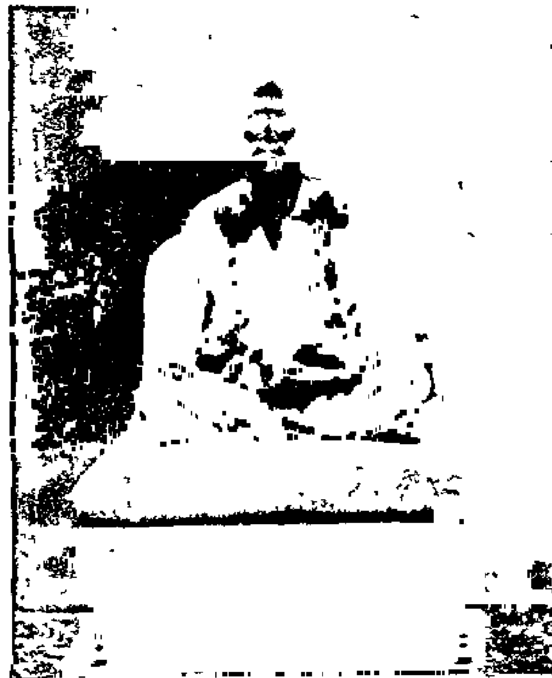
❀ ❀ ❀

भगवान्के दास कहलाकर जगत्की आशा मत रक्खो। जब समर्थ स्वामीको प्राप्त कर लिया तब किसीके सामने दीन क्यों होते हो? —पलटू साहेब

❀ ❀ ❀

गीता-प्रचारक पं० श्रीनरहरिविष्णु शास्त्री गोडसे

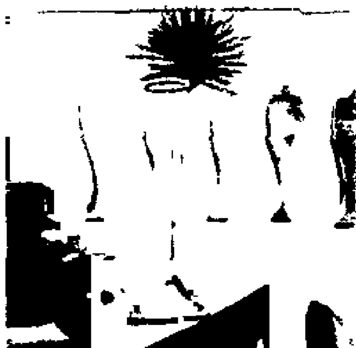
इस संसारसे अच्छे-अच्छे पुरुष बड़ी तेजीसे उठे जा रहे हैं। अभी उस दिन बम्बई गीतापाठशालाके प्रसिद्ध परम लोकप्रिय, प्रभुके प्रियपात्र पं० नरहरि-जी शास्त्री गोडसे महोदय यहाँसे चल दिये। इस समय आपकी उम्र ६५ वर्षकी थी, आपका गीता-स्वाध्याय अन्ततक चालू था। गोडसेजी महाराज गीताके अद्भुत वक्ता और ज्ञाता थे। जिन लोगोंको आपके मुखसे निकले हुए गीतामृतको पान करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे ही आपके प्रगाढ़ पाण्डित्यको जानते हैं। विद्या प्राप्त करके पहले आपने कुछ साल आर्य-समाजमें काम किया था, परन्तु कई कारणोंसे वह कार्य छोड़कर आपने अब-से २६ वर्ष पूर्व गीता-पाठशाला स्थापित की थी। गीताका अध्ययन अध्या-पन, प्रवचन तो वहाँ प्रतिदिन ही होता था, परन्तु प्रत्येक एकादशीके दिन रातको बड़े समारोहके साथ आप गीताके एक श्लोकपर प्रवचन करते थे। हजारों पुरुष और स्त्री आपका मधुर प्रवचन सुनकर लाभ उठाते थे। आपके श्रोताओंमें बड़े-बड़े उच्च शिक्षित और उच्च पदस्थ सज्जन थे। गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायणके प्रति भी आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपके द्वारा बम्बईमें गीताके प्रचारका जो महान् कार्य हुआ,



लाखों मनुष्य जो गीता-प्रेमी बन गये, वह सर्वथा स्तुत्य है। प्रभुकृपासे ही इसप्रकारके कार्य करनेका सौभाग्य मिलता है। आपका जीवन गीताके अनुसार निरन्तर ज्ञानयज्ञद्वारा प्रभुकी पूजा करनेमें ही बीता। आपकी-सी निस्पृहता और त्यागवृत्ति बहुत कम लोगोंमें मिलती है। ललचानेवाले सैकड़ों अवसर आये, परन्तु आप कभी न डिगे। भोजन, वस्त्र और रहन-सहन सबमें आपने सादगीको सदा समानरूपसे निबाहा। आप बड़े ही मधुरभाषी थे और सदा हँसमुख रहते थे। ऐसे पुण्य-जीवन पुरुषका वियोग अवश्य ही कष्टप्रद होता है परन्तु ऐसे गीता-भक्तके लिये शोकका कोई स्थल नहीं। शोक तो उसके लिये करना चाहिये, जिसका जीवन भगवद्विमुख होकर केवल विषय-सेवनमें बीतता है। आपका जीवन तो पवित्र और आदर्श था। आनन्द-की बात है कि आपके पीछेसे आपके द्वारा बनाये हुए आपके सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र पं० श्रीअप्पाजी शास्त्री और भानजे पं० श्रीवैजनाथजी शास्त्री आपके परमप्रिय गीताप्रचारका कार्य बड़ी ही योग्यतासे चला रहे हैं।







गुरु-सेवा

मुनिवर सयन कीन्ह तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



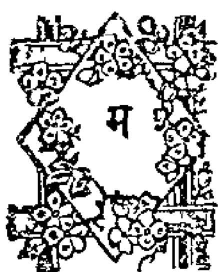
प्रेमी ग्राहकोंको सूचना

इस अंकमें आपका इस सालका मूल्य समाप्त हो गया । इसके बाद अब आठवें वर्षका प्रथमांक 'श्रीशिवांक' होगा, जो बहुत ही उपदेशप्रद, मनोरञ्जक और भक्ति पैदा करनेवाला होगा। यदि आपने अभी आगामी वर्षके लिये वार्षिक मूल्य नहीं भेजा हो तो कृपाकर अब मनीआर्डर-द्वारा तुरन्त ४≡) (चार रुपये तीन आने) भेज दीजिये । मनीआर्डरका फार्म ज्येष्ठके अंकके साथ आपको भेजा गया है । शिवांक और उसका परिशिष्टांक भाद्रपदका अंक दोनों साथ ही रहेंगे। दोनोंमें लगभग ६०० पृष्ठ और लगभग १५० बहुत ही सुन्दर और दुर्लभ चित्र रहेंगे । मूल्य ३) होगा । सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको ४≡) में ही शिवांकके सिवा दस अंक और मिल जायँगे । ३।≡) बाद देनेपर परिशिष्टांकसहित शिवांक ग्राहकोंको सिर्फ ॥-) में ही मिल जाता है । इस हिसाबसे अलग शिवांक लेनेवालोंकी अपेक्षा ग्राहक बननेवाले सज्जनोंको २।≡) का फायदा रहता है । शिवांककी सिर्फ २२००० प्रतियाँ छप रही हैं । अतएव ग्राहकोंको बहुत जल्दी रुपये भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये । इस बार खुली प्रतियाँ भी शायद बहुत बिकें। इसलिये नये ग्राहकोंको तो रुपये भेजनेमें तनिक भी देर नहीं करनी चाहिये । जिनके पहलेसे रुपये आ जायँगे उनको शिवांक निकलते ही भेजा जायगा। रही सही वी० पी० बहुत पीछे जायगी। शिवांक बहुत ही जल्दी निकल जानेकी सम्भावना है, इसलिये जल्दी ग्राहक न बननेवालोंको शिवांक मिलना बहुत मुश्किल हो जायगा । यह बात याद रखनी चाहिये ।

ना वह रीझै धोती टाँगे, ना कायाके पखारे ॥
दया करै धरम मन राखै, घरमें रहे उदासी ।
अपना-सा दुख सबका जानै ताहि मिलै अविनासी ॥
सहै कुशब्द वादहू त्यागै, छाँडै गरब गुमाना ।
यही रीझ मेरे निरंकारकी कहत मलूक दिवाना ॥

—मलूकदासजी

कल्याण



मनकी नीरोगता ही सच्ची नीरोगता है। जिसका शरीर बलवान् और हृष्ट-पुष्ट है परन्तु जिसके मनमें बुरी वासना, असत् विचार, काम, क्रोध, लोभ, घृणा, द्वेष, वैर, हिंसा, अभिमान, कपट, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि दुर्गुण और दुष्ट विचार निवास करते हैं, वह कदापि नीरोग नहीं है। उसकी शारीरिक नीरोगता भी बहुत ही जल्दी नष्ट होनेवाली है।

× × ×

मनका सर्वथा वासनारहित होना ध्येय होनेपर भी बहुत ही कठिन है अतएव पहले बुरी वासनाओंको दबाकर अच्छी वासनाओंका संग्रह करना चाहिये। जिसके मनमें जितनी सद्वासनाएँ होंगी वह उतना ही अधिक सुखी होगा।

× × ×

मनका रोगी आदमी सदा जला ही करता है। वह कभी शान्ति और शीतलताकी उपलब्धि नहीं करता। कभी कामनासे जलता है तो कभी लोभसे, कभी अभिमानसे तो कभी वैरसे, कभी क्रोधसे तो कभी ईर्ष्यासे।

× × ×

सुन्दर भी वही है जिसका हृदय सुन्दर है। जो आकृतिसे बहुत सुन्दर है, जिसके शरीरका रङ्ग और चेहरेकी बनावट बहुत ही आकर्षक है, परन्तु जिसके हृदयमें दुर्गुण और दोष भरे हैं, वह गन्दे हृदयका मनुष्य सदा ही असुन्दर है। ज्यों ही उसके हृदयके भाव बाहर आते हैं त्यों ही वह सबकी घृणाका पात्र बन जाता है।

× × ×

हृदयको शुद्ध करो, एक-एक दोषको चुन-चुनकर निकाल दो, सद्गुणोंको ढूँढ-ढूँढकर हृदयमें बसाओ, तुम्हारा हृदय देवपुरी बन जायगा। देवता वही है जिसके हृदयमें दैवी गुण भरे हैं, नहीं तो, वह देव-वेषमें असुर ही है।

× × ×

सारे जगत्में एकमात्र भगवान् पूर्ण हैं; जो ब्राह्मणमें हैं, वही चाण्डालमें हैं, जो हाथीमें हैं, वही गौमें हैं और वही कुत्तेमें हैं, इन सबके व्यवहारमें बड़ा भेद है और वह बाहरी भेद कभी मिट भी नहीं सकता। परन्तु इस महान् भेदके रहते भी वास्तवमें अभेद है। इसप्रकार भेदमें अभेद देखनेको ही भगवान्ने गीतामें ब्रह्मदर्शन बतलाया है। जो यों सर्वत्र सबमें ब्रह्मदर्शन करता है, वही भगवान्का परमप्रेमी भक्त है।

× × ×

हम सबको भी भगवान्का भक्त बनना चाहिये। सबमें भगवान्का परिचय पाकर मन-ही-मन सबको नमस्कार करते हुए सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। व्यवहारमें अनेकों भेद रहनेपर भी भगवान्का परिचय हो जानेपर, सब प्रकारके दोष दूर हो जायँगे। जहर निकल जायगा।

× × ×

भक्त तो सबमें सर्वत्र सर्वदा अपने प्राणाराम भगवान्को देखता ही है। उसकी दृष्टिमें तो सब कुछ अपने प्राणाधार परमेश्वरका ही विलास हो रहता है। विलास ही क्यों, उसे सब कुछ भगवान् ही दीखता है। वह अपने हृदयेश्वरको नये-नये विभिन्न वेषोंमें देख-देखकर पल-पलमें प्रफुल्लित होता है, हँसता है और लीलामयकी लीलाका अभिनन्दन करता है।

× × ×

भक्तके हृदयमें भगवान्‌का स्थान वैसे ही सर्वोपरि सुरक्षित रहता है जैसे पतिव्रता स्त्रीके हृदयमें पतिका। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिरूपसे किसी अंशमें भी दूसरेको हृदयमें स्थान नहीं देती, इसी प्रकार भक्त भी अपने एकमात्र प्राणाराम प्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे किसीको स्थान नहीं देता। वास्तवमें उसके हृदयपर तो केवल परमात्माका ही अखण्ड एकछत्र राज्य छा जाता है। वहाँ दूसरेकी सत्ता कल्पनामें भी नहीं आ सकती।

× × ×

भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, सर्वगुणाधार हैं, सृष्टि-कर्ता हैं, सबके एकमात्र स्वामी हैं; ऐश्वर्य, माधुर्य, कारुण्य, प्रेम आदिके अथाह समुद्र हैं, हमारे परम सुहृद् हैं। इस बातपर विश्वास होते ही उनके प्रति अपने-आप हृदय खिंच जाता है। शास्त्र और अनुभवी सन्तोंकी वाणीपर विश्वास करके हमें भगवान्‌को ऐसा समझ लेना चाहिये। जब भगवान्‌के सदृश कोई वस्तु हमारी दृष्टिमें न रहेगी, तब हमारा हृदय उन्हींका निवास-स्थान बन जायगा। हमारा चित्त उन्हींके चिन्तनमें डूब जायगा।

× × ×

जिनके हृदयमें भगवान्‌का असाधारण प्रभाव प्रकट हो गया, जो भगवान्‌के प्रेमी हो गये, बस, उन्हींका जीवन सफल है। इस सच्ची सफलताका लौकिक ऐश्वर्य, यश और सम्मान आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इन विषयोंमें सबसे अधिक सफलता प्राप्त कर चुकनेवाले मनुष्य भी वास्तवमें निरर्थक जीवन बिता देनेवाले अभागे ही हैं यदि उनका मन भगवत्-प्रेम-से शून्य है।

× × ×

जगत् चाहे हमें सफल-जीवन और सद्भागी समझे परन्तु यदि हमारे मनमें दोष भरे हैं, कामनाकी ज्वाला जल रही है, भगवत्-प्रेम-सुधाका प्रवाह नहीं बह रहा है तो निश्चय समझो हमारा जीवन सर्वथा निष्फल ही है।

परन्तु जिनको कोई नहीं जानता अथवा जिनको निष्फल-जीवन समझकर लोग जिनसे घृणा करते हैं और नाक-भौं सिकोड़ते हैं, उनमें हमें ऐसे पुरुष मिल सकते हैं जो वास्तवमें सफल-जीवन हैं।

× × ×

जगत्‌को कुछ भी दिखानेकी भावना न रखकर हृदयको शुद्ध बनाओ, बुरी वासना और दुर्गुणोंको हृदयसे निकालकर उसे दैवीगुणों और भगवत्-प्रेमसे भर दो। चेष्टा करो, भगवान्‌की शक्तिसे कुछ भी कठिन नहीं है। विश्वास करो, तुम्हें अवश्य सफलता होगी।

"शिव"

मुझे और अब मत भटकाओ

इन द्वन्द्वोंमें मेरे मालिक! मुझे और अब नहीं फँसाओ।
सुख हो, दुख हो या कुछ भी हो, असंतोषमें पर न बहाओ॥
हो सन्तोष, चहे रूखी रोटी हो—एक पहरका खाना।
पर-विभूतिकी मरीचिकामें मुझे और अब मत भटकाओ॥

—बालकृष्ण बलदुवा

प्रश्नोत्तर

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

दो सज्जनोंने श्रीभगवान् एवं श्रीमद्भगवद्गीताके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न किये हैं। प्रश्न सार्वजनिक हैं और ऐसे प्रश्न अनेकों पुरुषोंके मनमें उठते होंगे। इसलिये उनका उत्तर कल्याणद्वारा दिया जाता है।

[१]

(१) प्रश्न—

(क) मैं चाहता हूँ मेरा भगवान्से प्रेम हो जाय।

(ख) मुझे उनके समान प्रेमी और सुहृद् अन्य कोई न जान पड़े; और—

(ग) मैं उनके लिये सच्चे दिलसे रोऊँ, परन्तु ऐसा होता नहीं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—

(क) भगवान्में प्रेम न होनेका प्रधान कारण श्रद्धाकी कमी है। यद्यपि भगवान्में प्रेम होनेकी चाहना ही प्रेमकी प्राप्तिका एक प्रधान उपाय है परन्तु यह चाहना बहुत ही उत्कट होनी चाहिये। ऐसी उत्कट इच्छा होनेका उपाय श्रद्धाकी अतिशयता ही है। इसके अतिरिक्त भगवान्के प्रभाव और गुणोंको जाननेसे, भगवान् क्या हैं और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है, इसके रहस्यको तत्त्वसे समझनेसे श्रद्धा होकर प्रेम हो सकता है।

वास्तवमें सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ भगवान् विज्ञानानन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं; अंश और अंशीरूपसे उनके साथ प्राणीमात्रका अटूट सम्बन्ध है तथा उनसे बढ़कर हमारा कोई भी सुहृद् नहीं है। इस बातको समझ लेनेपर भगवान्का वियोग असह्य हो जाता है। जैसे छोटे बालकका माता-पितामें स्वाभाविक प्रेम होता है, अंशी होनेके नाते वैसा ही स्वभावसिद्ध अनिवार्य प्रेम हमारा परमेश्वरमें होना चाहिये। यदि नहीं होता तो यह बात सिद्ध होती है कि हमलोगोंने इस विषयको यथार्थ समझा नहीं। यही बात गुण और प्रभावके विषयमें है। जब परिमित गुण-प्रभाववाले मनुष्योंके गुण-प्रभाव जान लेनेपर उनमें भी प्रेम हो जाता है, तब जिनमें प्रेम, दया, शान्ति, सुहृदता, वत्सलता आदि गुण और बुद्धि, बल, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि प्रभाव अपरिमित हैं उन अपने अंशी यानी स्वामी परमात्मामें स्वाभाविक ही अनन्य प्रेम न होना इसी बातको प्रमाणित करता है कि हम उन्हें तत्त्वसे जानते नहीं।

(ख) वास्तवमें भगवान्के समान प्रेमी और सुहृद् अन्य कोई भी नहीं है परन्तु ऐसा मालूम नहीं होता; इसका कारण यह है कि साधारण लोगोंकी दृष्टिसे तो भगवान् अदृश्य हैं और भगवान्को जाननेवाले लोगोंसे हमारा पूरा परिचय या प्रेम नहीं है। इसलिये यदि हम यह समझना चाहते हों कि एक परमेश्वर ही सबसे बढ़कर प्रेमी और सुहृद् हैं तो उनके प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोंका श्रद्धा और प्रेमपूर्वक संग करके उनके बतलाये हुए मार्गपर चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यदि ऐसे पुरुषोंसे परिचय न हो या उनका मिलना और पहचानना कठिन हो तो महान् पुरुषोंकी जीवनी, उनके द्वारा रचित ग्रन्थ एवं ऐसे सत्-शास्त्रोंका

अध्ययन-मनन करना चाहिये जिनमें भगवान्‌के गुण, प्रेम, प्रभाव और तत्त्वकी विशेष आलोचना की गयी हो ।

(ग) भगवान्‌के लिये सच्चे दिलसे रोना न आनेमें दो कारण हैं—श्रद्धाकी कमी और पूर्वसञ्चित पाप । भगवान् अदृश्य होनेके कारण उनमें और उनके गुण-प्रभाव आदिमें पूरा विश्वास नहीं होता, यह बात निश्चयरूपसे मनमें नहीं जँचती कि वे सब जगह सदा-सर्वदा मौजूद हैं और हमारी करुण पुकार तत्काल सुनते और उसपर दयार्द्र-हृदयसे ध्यान देते हैं । इसके लिये पूर्वोक्त उपायसे श्रद्धा बढ़ानी चाहिये और सञ्चित पापोंके नाशके लिये निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌की आज्ञाका पालन और भजन-ध्यान करना चाहिये ।

(२) प्रश्न—मनको जीतनेमें ~~आसक्तिका~~ अशक्तिका अनुभव क्यों होता है ?

उत्तर—इसमें चार कारण हैं—

१–जीवात्मा अपने सामर्थ्यको भूला हुआ है ।

२–साधारण चेष्टा करके बार-बार विफल होनेसे निराशा-सी हो गयी है ।

३–मनको स्वतन्त्रता दे दी गयी है । और—

४–विषयोंमें आसक्ति है ।

जैसे कोई समर्थ पिता स्नेहासक्तिवश बालकको स्वतन्त्रता दे देता है जिससे बालककी आदत बिगड़ जाती है और वह उद्दण्ड होकर मनमाना आचरण करने लगता है, परन्तु वही पिता जब बालककी स्वतन्त्रता छीनकर अपनी शक्तिका बड़ी सावधानीके साथ पूरा प्रयोग करता है और साम, दाम आदि नीतिसे उसे वश करनेकी चेष्टा करता है तब सम्भवतः वह बिगड़ा हुआ बालक पुनः ठीक रास्तेपर आ जाता है, बस, यही दशा मनकी है; मन स्वतन्त्र होकर उद्दण्ड हो गया है । अतएव मनुष्यको उचित है कि वह अपने सामर्थ्यकी ओर ध्यान देकर साम, दाम आदि नीतिके द्वारा मनकी बुरी आदतोंको दूरकर उसकी उद्दण्डताका नाश करके उसे ठीक राहपर लानेके लिये तीव्र अभ्यास करे । बालक तो शायद पिताके शक्तिप्रयोग करनेपर भी उद्दण्डता छोड़कर ठीक राहपर न भी आवे परन्तु मनके लिये तो दूसरा आश्रय ही नहीं है । उसे तो बाध्य होकर ठीक रास्तेपर आना ही पड़ेगा । सम्भव है कि पहले-पहले कुछ निष्फलता-सी हो, परन्तु उत्साह कम न होने देना चाहिये । निष्फल होनेपर भी पूर्ण उत्साहसे पुनः-पुनः प्रयत्न करना चाहिये । उत्साही पुरुष निश्चय ही मनको अपने वशमें कर लेते हैं । यह याद रखना चाहिये कि आत्माके सामने मनकी शक्ति अत्यन्त तुच्छ है । आत्मा मनकी अपेक्षा सब प्रकारसे श्रेष्ठ और बलवान् है । भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

(गीता ३ । ४२)

अर्थात् (इस शरीरसे तो) इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे (भी) अत्यन्त परे है वह (आत्मा) है । इसीलिये भगवान् मनको जीतकर आत्माको हानि पहुँचानेवाले आसक्तिरूप कामको मारनेका आदेश करते हैं—

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

अर्थात् इसप्रकार बुद्धिसे परे यानी सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! (अपनी शक्तिको समझकर इस) दुर्जय कामरूप शत्रुको मार!

(३) प्रश्न—विषयोंके त्याग करनेमें अशक्ति क्यों मालूम होती है?

उ०—विषयोंके भोगमें प्रथम क्षणिक सुख और आरामका प्रत्यक्ष प्रतीत होना और उसके परिणाममें होनेवाला दुःख प्रत्यक्ष न होकर दूर होनेके कारण उसमें पूरा विश्वास न होना, (यानी कौन जानता है आगे चलकर कब क्या दुःख होगा, अभी तो प्रत्यक्ष सुख है ऐसी धारणा) यही विषयोंके त्यागमें असमर्थता-सी प्रतीत होनेका कारण है। वास्तवमें तो विषयोंमें सुख है ही नहीं, क्योंकि विषयोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख क्षणिक, भोगकालमें सदा एक-सा न रहकर सतत बदलनेवाला तथा नाशवान् है। सुखका मिथ्या आभास ही अज्ञानके कारण मनुष्यको सुखमय प्रतीत होता है। जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब जलके अन्दर सूर्य-सा दिखायी देता है परन्तु वास्तवमें वह सूर्य नहीं है, इसी प्रकार उन आनन्दघन परमात्माके केवल किसी एक अंशमात्रका, विषयोंमें प्रतीत होनेवाला प्रतिबिम्ब भी वस्तुतः सुख नहीं है। इस रहस्यके समझमें आते ही विषय-त्यागमें प्रतीत होनेवाली आसक्ति नष्ट हो जाती है। फिर स्वाभाविक ही विषयोंका त्याग हो जाता है। विचार करना चाहिये कि जो वस्तु वास्तवमें सत् होती है उसका कभी अभाव नहीं होता और जिसका आदि-अन्तमें अभाव है वह वस्तु वास्तवमें सत् नहीं है। ऐसी वस्तुका मध्यमें भी अभाव ही समझना चाहिये, जैसे स्वप्नका संसार। इसी तत्त्वको समझकर ज्ञानीजन नाशवान् दुःखपूर्ण क्षणिक विषयोंमें आसक्त नहीं होते। श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

अर्थात् (ये) जो इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं वे (यद्यपि अज्ञानी विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी) निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले यानी अनित्य हैं (इसलिये) हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।

अतएव विषयोंके त्याग करनेके लिये बारम्बार उनमें दुःख और दोष-दृष्टि करके उनसे मनको हटाना चाहिये।

(४) प्र०—भगवान्‌में श्रद्धा क्रमशः घटनेका क्या कारण है?

उ०—इसमें कई कारण हैं, जैसे—

१—अज्ञानवश संसारके विषयोंमें आसक्ति होना।
२—*विषयोंका तथा विषयासक्त पुरुषोंका संग।*
३—सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंके संगकी कमी।
४—निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-जप और स्वरूपके ध्यानका उचित अभ्यास न होना।
५—भगवान्‌के प्रेम, प्रभाव और तत्त्वको न जानना।

असलमें तत्त्वको जानकर निष्काम भावसे होनेवाली वास्तविक श्रद्धाके घटनेका तो कोई कारण ही नहीं है। वह तो साधनको प्रबल बनाती है और उत्तरोत्तर बढ़ती

ही रहती है। परन्तु अज्ञानपूर्वक किसी कामनाके हेतुसे होनेवाली श्रद्धा घट भी सकती है। इसके लिये विषयोंका, विषयासक्त पुरुषोंका एवं आसक्ति तथा कामनाओंका यथासाध्य त्यागकर निष्कामभावसे यथासाध्य सच्छास्त्र और सत्पुरुषोंमें श्रद्धा, प्रेमसे उनका सङ्ग एवं सतत भजन-ध्यानका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होनेसे वह भगवान्‌का तत्त्व जान लेता है तब श्रद्धा वास्तविक होती है और फिर उसके घटनेकी कोई सम्भावना नहीं रहती।

(५) प्रश्न—अपनेको यन्त्र और भगवान्‌को यन्त्री किस-प्रकार समझा जाय?

उ०—(यन्त्री) ईश्वरकी दया और (यन्त्ररूप) महापुरुषोंके सङ्गसे ही भगवान्‌को यन्त्री और अपनेको यन्त्र समझा जा सकता है। यदि कहा जाय कि ईश्वरकी दया तो सबपर सदा ही समानभावसे अपार है ही, फिर ऐसा क्यों नहीं समझा जाता? इसका समाधान यह है कि अवश्य ही ईश्वरकी सब लोगोंपर अपार दया है, परन्तु इस बातको लोग मानते नहीं, इसी कारण दया उनके लिये फलती नहीं। ईश्वरकी नित्य अपार दयाका मनुष्यको पद-पद-पर अनुभव करना चाहिये। ईश्वरकी दयाका रहस्य समझमें आ जानेपर उसी क्षण मनुष्य अपने आपको सम्पूर्णरूपसे उन यन्त्री भगवान्‌के प्रति समर्पण कर देता है। यानी सब प्रकार-से वह श्रीभगवान्‌के शरण होकर अपनेको सदा-के लिये उन्हें सौंप देता है। वह फिर ऐसा किये बिना रह ही नहीं सकता।

(६) प्र०—भगवान्‌के सच्चे भक्तोंके दर्शन और उनकी पहचान किसप्रकार हो?

उ०—सच्चे भक्तोंके दर्शन होनेमें हेतु पूर्वकृत पुण्य-सञ्चय, ईश्वरकी दया, ईश्वरके भक्तोंकी दया और ऐसे महात्मा भक्त पुरुषोंमें श्रद्धा और प्रेमका होना ही है। भक्तके मिलनेपर भी उनको पहचानना बहुत कठिन है। वास्तवमें ईश्वरकी दया और भक्तोंकी दयासे ही भक्तकी पहचान हो सकती है। क्योंकि साधारण पुरुष अपनी बुद्धिसे भक्तोंको यथार्थरूपमें नहीं पहचान सकता। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १२ में श्लोक १३ से २० तक भक्तोंके लक्षणों-का वर्णन है, परन्तु उन लक्षणोंसे यथार्थ निर्णय करके भक्तको पहचानना साधारण बुद्धिका काम नहीं है। हाँ, जिनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तन आदिसे अवगुणों और दुराचारोंका क्रमशः नाश और सद्गुण, सदाचार एवं ईश्वर-भक्तिकी क्रमशः वृद्धि हो, साधारण-तया उन्हींको ईश्वरके यथार्थ भक्त समझना चाहिये।

[२]

(१) प्रश्न—

(क) गीता अ०९ श्लोक २३के अनुसार जब सात्त्विक देवोंकी पूजा भी भगवान्‌की अविधिपूर्वक पूजा है तो फिर विधिपूर्वक कौन-सी है और उसका क्या स्वरूप है?

(ख) वे अन्य देवता कौन-से हैं?

(ग) 'माम्' शब्दसे यहाँ भगवान् श्रीकृष्णका आदेश केवल श्रीकृष्ण-स्वरूपकी पूजासे ही है अथवा श्रीराम, नारायण या निर्गुण ब्रह्मकी पूजा भी इसके अनुसार हो सकती है?

उत्तर—

(क) भगवान्‌ने यहाँ अन्य देवताओंकी सकाम पूजा-को ही देवताओंके लिये विधिपूर्वक होते हुए भी

अपने लिये अविधिपूर्वक बतलाया है, क्योंकि उन देवताओंद्वारा जो फल मिलता है वह तो श्रीभगवान्‌का ही विधान किया हुआ होता है। *'मयैव विहितान् हि तान्'* और फल उनको अन्तवन्त प्राप्त होता है इसलिये अन्य देवताओं-की सकामोपासना करनेवाला श्रीभगवान्‌के प्रभावको नहीं जानता है। परन्तु फल और आसक्ति छोड़कर भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे देव-पूजा करना भगवान्‌की ही पूजा है। इसीको भगवान् अपनी सात्त्विक और विधिपूर्वक पूजा बताते हैं।

(ख) अन्य देवताओंसे श्रीभगवान्‌का उद्देश्य शास्त्रोक्त देवताओंसे है जिनमें मुख्यतः ३३ हैं—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। इसके सिवा विश्वेदेवा देवता, अश्विनीकुमार, मरुद्गण आदि और भी बहुत-से शास्त्रोक्त देव हैं। इनमेंसे जिस किसी देवताको परात्पर ब्रह्म मानकर साधक पूजा करता है, उससे भिन्न सारे ही देवता उस साधकके लिये अन्य देवता समझे जाने चाहिये।

(ग) 'माम्' शब्दसे यथार्थतः इस प्रसङ्गमें तो भगवान्‌ने अर्जुनको अपने श्रीकृष्णस्वरूपका ही आदेश दिया है परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् राम, विष्णु आदि स्वरूपोंसे और निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न न होनेके कारण सभीका समझना चाहिये।

(२) प्रश्न—

(क) वेदान्त-मतमें अनन्यताका भाव *'वासुदेवः सर्वमिति'* और *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* के अनुसार एक ब्रह्मके सिवा अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न कर सर्वत्र परमात्मा-ही-परमात्मा देखना समझमें आता है परन्तु साथ ही द्वैत-मतके *'जीव कि ईश समान'* इत्यादि वचनोंसे जीव-ईश्वरका भेद प्रतीत होता है, अतः अनन्यता किसे कहते हैं?

(ख) शिव या विष्णुके उपासकोंको एक दूसरेके इष्ट-के प्रति मैत्री, उदासीनता या द्वेष कैसा भाव रखना चाहिये? पार्वतीके ये वचन—

महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकल गुनधाम।
जाको मन रम जाहिसों, ताहि ताहिसन काम॥

—से तो शैवकी विष्णुके प्रति पूर्ण उदासीनता प्रकट होती है। ऐसे ही और भी प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं।

(ग) गीता अ० १७। १४में *'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'* को शारीरिक तप कहा है। यहाँ कौन-सी देव-पूजा अभिप्रेत है, नित्य अथवा नैमित्तिक? इस देव-पूजाका स्वरूप क्या है?

(घ) गीताके अनुसार जिस ज्ञानद्वारा एकसे दूसरेमें भेद प्रतीत होता है, वह राजसी ज्ञान है, सात्त्विक नहीं। तो क्या द्वैतमतानुयायियोंका *अनन्य भाव राजसी ज्ञानका समर्थक नहीं है?*

उत्तर—

(क) वेदान्तके मतानुसार उनका अनन्यताका भाव ठीक ही है और जीव ईश्वरका भेद माननेवाले द्वैतानुयायियोंका कहना भी युक्तियुक्त ही है। परन्तु अर्जुनके प्रति गीतामें जहाँ-जहाँ अनन्य शब्द आया है वह प्रायः भेदकी दृष्टिसे ही प्रतीत होता है। भेदोपासनाके अनुसार अनन्यताका स्वरूप केवल एक अपने स्वामीको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका स्मरण करना ही है।

(ख) शैव और वैष्णव सबको अपने-अपने इष्टके प्रति अनन्यभाव रखते हुए एक दूसरेके प्रति उदा-

सीनता या द्वेष-भाव न रखकर अपने इष्टदेवकी आज्ञा समझकर पूज्य-भाव ही रखना चाहिये। भगवान् श्रीरामने अपने भक्तोंको शङ्कर-भजनकी आज्ञा दी है। जैसे—

औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावहि मोर॥

इसलिये अपने स्वामीकी आज्ञा मानकर उनमें पूज्य-भाव रखना चाहिये। पार्वतीका कहना उस जगह श्रीशिवजीसे विवाहके प्रसङ्गमें है। वैसे प्रसङ्गमें यही कहना उचित है।

(ग) गीता अ० १७। १४ के अनुसार देव-पूजासे शास्त्रानुसार यथाशक्ति नित्य और नैमित्तिक प्राप्त देवताओंकी सभी पूजाएँ शास्त्रकी विधिके अनुसार षोडशोपचारसे करनी चाहिये।

(घ) गीताका राजस ज्ञान सब भूतोंमें पृथक्-पृथक् भाव देखनेका निर्देश करता है परन्तु ईश्वरको पृथक् मानकर जो उपासना की जाती है उसको राजस नहीं कहता, क्योंकि श्रीभगवान्‌ने स्वयं आज्ञा दी है—

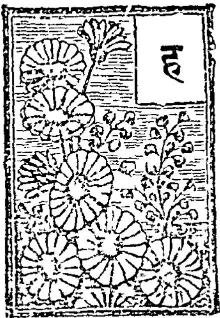
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥*
(गीता ९। १५)

गो० तुलसीदासजी महाराजने तो इसकी विशेष प्रशंसा की है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरै उरगारि।

मुमुक्षुकी साधना†

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)



हम विषय-भोगोंमें इतने आसक्त हैं कि उनसे सदा दुःख और क्लेशका अनुभव करनेपर भी हमारा विषयप्रेम किसी प्रकार निवृत्त नहीं होता। सुखके लालची होकर हम विषय-सुखको ही परम सुख मान लेते हैं। किन्तु उससे हम यथार्थ सुखका मुँहतक नहीं देख पाते। भारतीय योगीन्द्र, मुनीन्द्र प्रभृति महापुरुषोंने यह अनुभव किया था कि विषयानुरागसे छूटना ही परम सुखकी सामग्री है। हम सदा सुखके लिये ही प्रयास करते हैं परन्तु यह सुख किसप्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इसे न जानकर अनर्थकारी वस्तुओंमें ही सुखको अन्वेषण करनेके लिये दौड़ते हैं—परिणाम यह होता है कि हम और भी दुःख-सागरमें डूब जाते हैं। प्यासा पथिक जिसप्रकार शीतल जलके लिये व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार अविश्रान्त दुःख-दावाग्निसे दग्ध होकर जीव सांसारिक भोगसुखसे विमुख होकर *'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्'* कहकर रो उठता है। यह व्याकुलता ही उसे भक्ति-मुक्तिके शुभ-शीतल जाह्नवीफेनधाराके सुन्दर बालुका-तटके समीप पहुँचाती है। क्रमशः सज्जनोंकी सङ्गतिसे किञ्चित् ज्ञान और वैराग्यका उदय होनेपर संसारके सम्पूर्ण सुख त्याग करनेयोग्य जान पड़ते हैं; तब संसार-सुखसे अतीत एक अनिर्वचनीय परमानन्दके लिये मन और प्राण बाँध

---

* यहाँ साधक ईश्वरको एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक समझता है और उन्हें सब भूतोंमें व्यापक देखता हुआ ही उनकी एकदेशमें पूजा करता है; केवल अपनेको उनसे पृथक् मानता है।

† गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित दिनचर्या नामक पुस्तकसे उद्धृत।

अपने लिये अविधिपूर्वक बतलाया है, क्योंकि उन देवताओंद्वारा जो फल मिलता है वह तो श्रीभगवान्‌का ही विधान किया हुआ होता है। *'मयैव विहितान् हि तान्'* और फल उनको अन्तवन्त प्राप्त होता है इसलिये अन्य देवताओंकी सकामोपासना करनेवाला श्रीभगवान्‌के प्रभावको नहीं जानता है। परन्तु फल और आसक्ति छोड़कर भगवान्‌की आज्ञा मानकर निष्कामभावसे देव-पूजा करना भगवान्‌की ही पूजा है। इसीको भगवान् अपनी सात्त्विक और विधिपूर्वक पूजा बताते हैं।

(ख) अन्य देवताओंसे श्रीभगवान्‌का उद्देश्य शास्त्रोक्त देवताओंसे है जिनमें मुख्यतः ३३ हैं—आठ वसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, इन्द्र और प्रजापति। इसके सिवा विश्वेदेवा देवता, अश्विनीकुमार, मरुद्गण आदि और भी बहुत-से शास्त्रोक्त देव हैं। इनमेंसे जिस किसी देवताको परात्पर ब्रह्म मानकर साधक पूजा करता है, उससे भिन्न सारे ही देवता उस साधकके लिये अन्य देवता समझे जाने चाहिये।

(ग) 'माम्' शब्दसे यथार्थतः इस प्रसङ्गमें तो भगवान्‌ने अर्जुनको अपने श्रीकृष्णस्वरूपका ही आदेश दिया है परन्तु श्रीकृष्ण भगवान् राम, विष्णु आदि स्वरूपोंसे और निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न न होनेके कारण सभीका समझना चाहिये।

(२) प्रश्न—

(क) वेदान्त-मतमें अनन्यताका भाव *'वासुदेवः सर्वमिति'* और *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* के अनुसार एक ब्रह्मके सिवा अन्यकी सत्ता ही स्वीकार न कर सर्वत्र परमात्मा-ही-परमात्मा देखना समझमें आता है परन्तु साथ ही द्वैत-मतके *'जीव कि ईश समान'* इत्यादि वचनोंसे जीव-ईश्वरका भेद प्रतीत होता है, अतः अनन्यता किसे कहते हैं?

(ख) शिव या विष्णुके उपासकोंको एक दूसरेके इष्टके प्रति मैत्री, उदासीनता या द्वेष कैसा भाव रखना चाहिये? पार्वतीके ये वचन—

> महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकल गुनधाम।
> जाको मन रम जाहिसों, ताहि ताहिसन काम॥

—से तो शैवकी विष्णुके प्रति पूर्ण उदासीनता प्रकट होती है। ऐसे ही और भी प्रसङ्ग देखनेमें आते हैं।

(ग) गीता अ० १७। १४में *'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्'* को शारीरिक तप कहा है। यहाँ कौन-सी देव-पूजा अभिप्रेत है, नित्य अथवा नैमित्तिक? इस देव-पूजाका स्वरूप क्या है?

(घ) गीताके अनुसार जिस ज्ञानद्वारा एकसे दूसरेमें भेद प्रतीत होता है, वह राजसी ज्ञान है, सात्त्विक नहीं। तो क्या द्वैतमतानुयायियोंका अनन्य भाव राजसी ज्ञानका समर्थक नहीं है?

उत्तर—

(क) वेदान्तके मतानुसार उनका अनन्यताका भाव ठीक ही है और जीव ईश्वरका भेद माननेवाले द्वैतानुयायियोंका कहना भी युक्तियुक्त ही है। परन्तु अर्जुनके प्रति गीतामें जहाँ-जहाँ अनन्य शब्द आया है वह प्रायः भेदकी दृष्टिसे ही प्रतीत होता है। भेदोपासनाके अनुसार अनन्यताका स्वरूप केवल एक अपने स्वामीको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझकर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे निरन्तर उनका स्मरण करना ही है।

(ख) शैव और वैष्णव सबको अपने-अपने इष्टके प्रति अनन्यभाव रखते हुए एक दूसरेके प्रति उदा-

सीनता या द्वेप-भाव न रखकर अपने इष्टदेवकी आज्ञा समझकर पूज्य-भाव ही रखना चाहिये। भगवान् श्रीरामने अपने भक्तोंको शङ्कर-भजनकी आज्ञा दी है। जैसे—

औरौ एक गुपुत मत, सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर-भजन बिना नर, भगति न पावहि मोर॥

इसलिये अपने स्वामीकी आज्ञा मानकर उनमें पूज्य-भाव रखना चाहिये। पार्वतीका कहना उस जगह श्रीशिवजीसे विवाहके प्रसङ्गमें है। वैसे प्रसङ्गमें यही कहना उचित है।

(ग) गीता अ० १७। १४ के अनुसार देव-पूजासे शास्त्रानुसार यथाशक्ति नित्य और नैमित्तिक प्राप्त देवताओंकी सभी पूजाएँ शास्त्रकी विधिके अनुसार पोडशोपचारसे करनी चाहिये।

(घ) गीताका राजस ज्ञान सब भूतोंमें पृथक्-पृथक् भाव देखनेका निर्देश करता है परन्तु ईश्वरको पृथक् मानकर जो उपासना की जाती है उसको राजस नहीं कहता, क्योंकि श्रीभगवान्ने स्वयं आज्ञा दी है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥*
(गीता ९। १५)

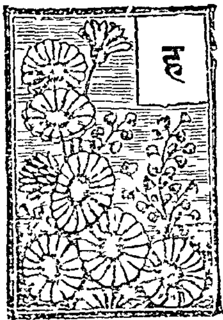
गो० तुलसीदासजी महाराजने तो इसकी विशेप प्रशंसा की है—

सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरै उरगारि।

—०—

मुमुक्षुकी साधना†

(लेखक—पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल)



हम विषय-भोगोंमें इतने आसक्त हैं कि उनसे सदा दुःख और क्लेश-का अनुभव करनेपर भी हमारा विपयप्रेम किसी प्रकार निवृत्त नहीं होता। सुखके लालची होकर हम विपय-सुखको ही परम सुख मान लेते हैं। किन्तु उससे हम यथार्थ सुखका मुँहतक नहीं देख पाते। भारतीय योगीन्द्र, मुनीन्द्र प्रभृति महापुरुपोंने यह अनुभव किया था कि विषयानुरागसे छूटना ही परम सुखकी सामग्री है। हम सदा सुखके लिये ही प्रयास करते हैं परन्तु यह सुख किसप्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इसे न जानकर अनर्थकारी वस्तुओंमें ही सुखको अन्वेपण करनेके लिये दौड़ते हैं—परिणाम यह होता है कि हम और भी दुःख-सागरमें डूब जाते है। प्यासा पथिक जिसप्रकार शीतल जलके लिये व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार अविश्रान्त दुःख-दावाग्निसे दग्ध होकर जीव सांसारिक भोगसुखसे विमुख होकर *'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्'* कहकर रो उठता है। यह व्याकुलता ही उसे भक्ति-मुक्तिके शुभ-शीतल जाह्नवीफेनधाराके सुन्दर बालुका-तटके समीप पहुँचाती है। क्रमशः सज्जनोंकी सङ्गतिसे किञ्चित् ज्ञान और वैराग्यका उदय होनेपर संसारके सम्पूर्ण सुख त्याग करनेयोग्य जान पड़ते हैं; तब संसार-सुखसे अतीत एक अनिर्वचनीय परमानन्दके लिये मन और प्राण व्याँध

* यहाँ साधक ईश्वरको एकदेशीय न मानकर सर्वव्यापक समझता है और उन्हें सब भूतोंमें व्यापक देखता हुआ ही उनकी एकदेशमें पूजा करता है; केवल अपनेको उनसे पृथक् मानता है।

† गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित दिनचर्या नामक पुस्तकसे उद्धृत।

तोड़कर निकल भागना चाहते हैं; इसी समय साधु-महात्माओंकी कृपा होती है। उनकी कृपासे ही हम यथार्थ भावसे मुमुक्षु-अवस्थाको प्राप्त करते हैं। मुमुक्षुत्वके लिये जिन-जिन बातोंकी आवश्यकता है वे नीचे लिखी जाती हैं—

'विचार, वैराग्य, धैर्य और सन्तोष—इन चारोंका आदरपूर्वक सेवन मुमुक्षु, भक्तिकी इच्छा रखनेवाले और शुभकामी प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये। हमारे लिये भगवान्‌ने जो कुछ विधान किया है, उसीमें हम सन्तुष्ट रहें, कभी उससे असन्तोष प्रकाशित न करें। दुःख-क्लेश जो कुछ भी सामने आवें हम उनसे कभी घबरायें नहीं। वैराग्य हमारे चित्तको इष्टानिष्टजनित सुख-दुःखसे उदासीन बनाये रक्खे। हम सर्वदा ही आत्मविचार करें। इन्द्रियसुखमें क्यों प्रवृत्ति होती है? विषय-भोगमें लालसा क्यों उत्पन्न होती है? ये इन्द्रियोंके विषय क्या हैं? इनमें वस्तुतः कोई लोभनीय पदार्थ है या नहीं? हमारे अन्दर विषय-भोग कौन करता है? इन सब सुख-दुःखोंका कारण क्या है?' इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करनेसे हम क्रमशः अध्यात्ममार्गपर आरूढ़ हो जाते हैं। जो इसप्रकार विचारपरायण रहते हैं उन्हें सुख-दुःख विचलित नहीं करते। इसके बाद धैर्य होता है। वैराग्यके प्रभावसे हेय पदार्थोंमें अनास्था हो जानेपर सुख-दुःखादिसे हमारा धीरज नहीं टूट सकता। जो कुछ होता है वह परमात्माकी इच्छासे होता है और वह ठीक ही होता है—ऐसा समझ लेनेपर असन्तोषकी आग हमें कभी जला नहीं सकती।

नैतिक चरित्र-बल

जिनमें चरित्र-बल नहीं होता वे ही संसारमें सबसे अधिक क्लेश पाते हैं। चरित्र-बल नहीं रहनेसे हम किसी भी महान् कर्मको करनेमें समर्थ नहीं होंगे। झूठ बोलना, लोगोंको ठगना एवं कर्त्तव्य-कर्ममें अनिच्छा होना—ये सब दुर्बल-चित्तके लक्षण हैं। नैतिक बल ही चरित्र-बल है। जिसके पास यह बल नहीं है वह पशुसे भी हीनतर कार्य करनेमें सङ्कोच नहीं करता। जगत्‌में शान्ति और कल्याणकी स्थापनामें इनके-जैसा शत्रु और कोई नहीं है। सत्य, त्याग और सेवा इन तीनोंके द्वारा ही मनुष्यके चरित्र-बलकी वृद्धि होती है। इसीके लिये यम-नियमादिकी साधना की जाती है। अन्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी यम-नियमसे हीन उच्छृङ्खल मनुष्य संसारमें प्रतिष्ठा या धर्मको प्राप्त नहीं कर सकता। यम-नियमशील चरित्रवान् पुरुष यदि निरहङ्कार हो सके तो वह इनके सारे फलोंको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है।

शुभ कर्म करके अहङ्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि हम जो कुछ करते हैं, उससे हमारा ही तो मङ्गल होता है, इसके अतिरिक्त तो कुछ नहीं करते। दूसरोंकी त्रुटि और दोषको क्षमा करना चाहिये। दरिद्र, अस्वस्थ और पीड़ित मनुष्यको आश्रय देना चाहिये। कोई कितना ही दरिद्र हो, पापी हो, किसीसे घृणा नहीं करनी चाहिये। पापीसे घृणा न करके उसे अन्धेके समान मार्ग भूला हुआ जानकर उसके प्रति दयादृष्टि करनी चाहिये एवं मित्रभावसे उसे धर्मका सुन्दर पथ दिखा देना चाहिये।

हमारे हृदय-देवता सबके अन्दर समभावसे विराजमान हैं—इस बातको भूल जानेपर हम न किसीसे प्रेम कर सकते हैं और न हमसे सेवा ही हो सकती है। लाभ-हानिका विचार करनेसे ही स्वार्थपरता आ जाती है। स्वार्थपरताके रहते प्रेम कभी पुष्ट नहीं हो सकता। जो कुछ आमदनी हो, उसका कुछ अंश परोपकारमें व्यय करना चाहिये। भगवान् जिस-प्रकार सबके आश्रय हैं, भगवद्भक्त और ज्ञानीको भी उसी प्रकार सबका आश्रयस्थानीय होना चाहिये।

जिसमें सब मनुष्य सत्-मार्गपर चलें, शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करें, इसके लिये हमें विशेष लक्ष्य रखना उचित है। हमें यह जानना चाहिये कि हमारे चारों ओरके सब लोग जबतक उन्नत न हों तबतक हमारी व्यक्तिगत उन्नतिका कोई विशेष मूल्य नहीं है। हमारे चारों ओरके जनसमूहकी उन्नतिमें ही हमारी यथार्थ उन्नति है। सबको छोड़कर अकेले हम कुछ भी नहीं हैं। वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्के वर्तमान एवं अतीत युग-युगान्तरके कर्मफलोंसे क्या हम सब बँधे हुए नहीं हैं? एक मनुष्यकी दुष्कृतिका फल क्या हम सब लोग मिलकर नहीं भोगते हैं? क्योंकि किसीको भी छोड़कर हम अकेले पूर्ण नहीं हैं। इसीलिये इस विशाल जनसमूहके समस्त पाप-पुण्योंने हमको बाँध रक्खा है। हमारी उन्नति सबकी उन्नतिके साथ ही होगी। अतः जो जितना भी सत्कर्म करेंगे या पुण्य-कर्ममें सहायता करेंगे, वे उसे विश्व-मानवके लिये ही करेंगे, केवल अपने ही लिये नहीं। क्योंकि 'महात्मा' ही 'सर्वभूतात्मा' है। शरीरके किसी अंशमें जब कभी कोई फोड़ा या किसी प्रकारके सुख-स्पर्शका अनुभव होता है, उस समय जिसप्रकार सर्वाङ्गको ही दुःख-सुखका भोग होता है उसी प्रकार प्रत्येक जीवके पाप-पुण्य, सुख-दुःख हम सबको मिलकर ही भोग करने पड़ते हैं; अतः आलस्यहीन होकर केवल अपनी जाति और अपने लोगोंके लिये ही नहीं, विश्वके समस्त मानव-जाति और जीवमात्रके लिये ही मङ्गल-कामना करनी होगी। पर-निन्दा और पर-चर्चा करनेकी अभिलाषा दुर्बल और मलिन-चित्तकी पहचान है। परन्तु पर-निन्दा और पर-चर्चामें ही हमारा विशेष उत्साह दिखायी पड़ता है। जो समय हम पर-चर्चामें बिताते हैं, वह यदि सत्-आलोचनामें बितावें तो उससे उन्नतिके मार्गमें हम विशेषरूपसे अग्रसर हो सकते हैं।

आलस्य, दीर्घसूत्रता और विशृङ्खलता आत्मोन्नतिमें विघ्न हैं। इन सबको प्राणपणसे छोड़ना होगा। जिनको इतर श्रेणीके कहकर हम घृणा करते हैं, उनमें जिससे सत्-शिक्षा और ज्ञानका उदय हो उसके लिये हमें अत्यन्त यत्न करना आवश्यक है। किसीको कोई अन्याय करते देखकर उसे सावधान कर देना उचित है। जो जीवके मङ्गलके लिये कर्म करते हैं, उनमें यदि कोई आकस्मिक त्रुटि आ जाय तो उसका ढिंढोरा पीटना उचित नहीं। सबका यथायोग्य सम्मान करते हुए शिक्षा देना उचित है। सत्पुरुषोंका सम्मान करना सीखे बिना किसी जातिकी उन्नति असम्भव है, किन्तु किसीकी खुशामद भी नहीं करनी चाहिये। बहुत बोलना भी अच्छा नहीं, बहुत बोलनेसे ही अनावश्यक बातें निकल जाती हैं। लोगोंके साथ बातचीत करते समय या व्यवहारमें भद्रताकी सीमाका उल्लङ्घन करना उचित नहीं। शुभकामी पुरुषके लिये किसी गन्दे विषयकी आलोचना करना अत्यन्त निन्दनीय है। चार भले आदमियोंमें हम जो शब्द उच्चारण नहीं कर सकते, उसकी मनमें भी आलोचना करना ठीक नहीं है।

किसीकी सहायता करनेके लिये कमर कसकर बाजारमें बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। जब किसीकी सहायता करनी आवश्यक हो तब विचारपूर्वक भयरहित हो प्राणपणसे उसकी सहायता करनी चाहिये। तब अपने लिये विचारने और चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अपनी ओर देखोगे तो कभी किसीकी सहायता नहीं कर सकोगे। भगवान् हमसे माँग रहे हैं, ऐसा विचारकर सहायता करनी चाहिये। इसप्रकारका निःस्वार्थ परोपकार ही भगवान्की यथार्थ पूजा है। भगवान्की किसी प्रतिमूर्तिके सामने जब हम किसी वस्तुको निवेदन करते हैं, तब वह उसे ग्रहण करते हैं या नहीं—इसे

तोड़कर निकल भागना चाहते हैं, इसी समय साधु-महात्माओंकी कृपा होती है। उनकी कृपासे ही हम यथार्थ भावसे मुमुक्षु अवस्थाको प्राप्त करते हैं। मुमुक्षुत्वके लिये जिन जिन बातोंकी आवश्यकता है वे नीचे लिखी जाती हैं—

'विचार, वैराग्य, धैर्य ओर सन्तोष—इन चारोंका आदरपूर्वक सेवन मुमुक्षु, भक्तिकी इच्छा रखनेवाले और शुभकामी प्रत्येक व्यक्तिको करना चाहिये। हमारे लिये भगवान्‌ने जो कुछ विधान किया है, उसीमें हम सन्तुष्ट रहें, कभी उससे असन्तोष प्रकाशित न करें। दुःख क्लेश जो कुछ भी सामने आवें हम उनसे कभी घबरायें नहीं। वैराग्य हमारे चित्तको इष्टानिष्टजनित सुख दुःखसे उदासीन बनाये रक्खे। हम सर्वदा ही आत्मविचार करें। इन्द्रियसुखमें क्यों प्रवृत्ति होती है? विषय भोगमें लालसा क्यों उत्पन्न होती है? ये इन्द्रियोंके विषय क्या हैं? इनमें वस्तुतः कोई लोभनीय पदार्थ है या नहीं? हमारे अन्दर विषय भोग कौन करता हे? इन सब सुख दुःखोंका कारण क्या है?' इत्यादि प्रश्नोंपर विचार करनेसे हम क्रमशः अध्यात्ममार्गपर आरूढ हो जाते हैं। जो इसप्रकार विचारपरायण रहते हैं उन्हें सुख-दुःख विचलित नहीं करते। इसके बाद धैर्य होता है। वैराग्यके प्रभावसे हेय पदार्थोंमें अनास्था हो जानेपर सुख-दुःखादिसे हमारा धीरज नहीं टूट सकता। जो कुछ होता है वह परमात्माकी इच्छासे होता है और वह ठीक ही होता है—ऐसा समझ लेनेपर असन्तोषकी आग हमें कभी जला नहीं सकती।

नैतिक चरित्र-बल

जिनमें चरित्र-बल नहीं होता वे ही संसारमें सबसे अधिक क्लेश पाते हैं। चरित्र-बल नहीं रहनेसे हम किसी भी महान् कर्मको करनेमें समर्थ नहीं होंगे। झूठ बोलना, लोगोंको ठगना एवं कर्त्तव्य-कर्ममें अनिच्छा होना—ये सब दुर्बल चित्तके लक्षण हैं। नैतिक बल ही चरित्र बल है। जिसके पास यह बल नहीं है वह पशुसे भी हीनतर कार्य करनेमें सङ्कोच नहीं करता। जगत्‌में शान्ति और कल्याणकी स्थापनामें इनके-जैसा शत्रु और कोई नहीं है। सत्य, त्याग और सेवा इन तीनोंके द्वारा ही मनुष्यके चरित्र-बलकी वृद्धि होती है। इसीके लिये यम नियमादिकी साधना की जाती है। अन्य गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी यम नियमसे हीन उच्छृङ्खल मनुष्य संसारमें प्रतिष्ठा या धर्मको प्राप्त नहीं कर सकता। यम नियमशील चरित्रवान् पुरुष यदि निरहङ्कार हो सके तो वह इनके सारे फलोंको प्राप्तकर कृतार्थ हो जाता है।

शुभ कर्म करके अहङ्कार नहीं करना चाहिये क्योंकि हम जो कुछ करते हैं, उससे हमारा ही तो मङ्गल होता है, इसके अतिरिक्त तो कुछ नहीं करते। दूसरोंकी त्रुटि और दोषको क्षमा करना चाहिये। दरिद्र, अस्वस्थ और पीडित मनुष्यको आश्रय देना चाहिये। कोई कितना ही दरिद्र हो, पापी हो, किसीसे घृणा नहीं करनी चाहिये। पापीसे घृणा न करके उसे अन्धेके समान मार्ग भूला हुआ जानकर उसके प्रति दयादृष्टि करनी चाहिये एवं मित्रभावसे उसे धर्मका सुन्दर पथ दिखा देना चाहिये।

हमारे हृदय-देवता सबके अन्दर समभावसे विराजमान हैं—इस बातको भूल जानेपर हम न किसीसे प्रेम कर सकते हैं और न हमसे सेवा ही हो सकती है। लाभ हानिका विचार करनेसे ही स्वार्थपरता आ जाती है। स्वार्थपरताके रहते प्रेम कभी पुष्ट नहीं हो सकता। जो कुछ आमदनी हो, उसका कुछ अंश परोपकारमें व्यय करना चाहिये। भगवान् जिस-प्रकार सबके आश्रय हैं, भगवद्भक्त और ज्ञानीको भी उसी प्रकार सबका आश्रयस्थानीय होना चाहिये।

जिसमें सब मनुष्य सत्-मार्गपर चलें, शुभ कर्मों-का अनुष्ठान करें, इसके लिये हमें विशेष लक्ष्य रखना उचित है। हमें यह जानना चाहिये कि हमारे चारों ओरके सब लोग जबतक उन्नत न हों तबतक हमारी व्यक्तिगत उन्नतिका कोई विशेष मूल्य नहीं है। हमारे चारों ओरके जनसमूहकी उन्नतिमें ही हमारी यथार्थ उन्नति है। सबको छोड़कर अकेले हम कुछ भी नहीं हैं। वास्तवमें सम्पूर्ण जगत्के वर्तमान एवं अतीत युग-युगान्तरके कर्मफलोंसे क्या हम सब बँधे हुए नहीं हैं? एक मनुष्यकी दुष्कृतिका फल क्या हम सब लोग मिलकर नहीं भोगते हैं? क्योंकि किसीको भी छोड़कर हम अकेले पूर्ण नहीं हैं। इसीलिये इस विशाल जनसमूहके समस्त पाप-पुण्योंने हमको बाँध रक्खा है। हमारी उन्नति सबकी उन्नतिके साथ ही होगी। अतः जो जितना भी सत्कर्म करेंगे या पुण्य-कर्ममें सहायता करेंगे, वे उसे विश्व-मानवके लिये ही करेंगे, केवल अपने ही लिये नहीं। क्योंकि 'महात्मा' ही 'सर्वभूतात्मा' है। शरीरके किसी अंशमें जब कभी कोई फोड़ा या किसी प्रकारके सुख-स्पर्शका अनुभव होता है, उस समय जिसप्रकार सर्वाङ्गको ही दुःख-सुखका भोग होता है उसी प्रकार प्रत्येक जीवके पाप-पुण्य, सुख-दुःख हम सबको मिलकर ही भोग करने पड़ते हैं; अतः आलस्यहीन होकर केवल अपनी जाति और अपने लोगोंके लिये ही नहीं, विश्वके समस्त मानव-जाति और जीवमात्रके लिये ही मङ्गल-कामना करनी होगी। पर-निन्दा और पर-चर्चा करनेकी अभिलाषा दुर्बल और मलिन-चित्तकी पहचान है। परन्तु पर-निन्दा और पर-चर्चामें ही हमारा विशेष उत्साह दिखायी पड़ता है। जो समय हम पर-चर्चामें बिताते हैं, वह यदि सत्-आलोचनामें बितावें तो उससे उन्नतिके मार्गमें हम विशेषरूपसे अग्रसर हो सकते हैं।

आलस्य, दीर्घसूत्रता और विशृङ्खलता आत्मोन्नतिमें विघ्न हैं। इन सबको प्राणपणसे छोड़ना होगा। जिनको इतर श्रेणीके कहकर हम घृणा करते हैं, उनमें जिससे सत्-शिक्षा और ज्ञानका उदय हो उसके लिये हमें अत्यन्त यत्न करना आवश्यक है। किसीको कोई अन्याय करते देखकर उसे सावधान कर देना उचित है। जो जीवके मङ्गलके लिये कर्म करते हैं, उनमें यदि कोई आकस्मिक त्रुटि आ जाय तो उसका ढिंढोरा पीटना उचित नहीं। सबका यथायोग्य सम्मान करते हुए शिक्षा देना उचित है। सत्पुरुषोंका सम्मान करना सीखे बिना किसी जातिकी उन्नति असम्भव है, किन्तु किसीकी खुशामद भी नहीं करनी चाहिये। बहुत बोलना भी अच्छा नहीं, बहुत बोलनेसे ही अनावश्यक बातें निकल जाती हैं। लोगोंके साथ बातचीत करते समय या व्यवहारमें भद्रताकी सीमाका उल्लङ्घन करना उचित नहीं। शुभकामी पुरुषके लिये किसी गन्दे विषयकी आलोचना करना अत्यन्त निन्दनीय है। चार भले आदमियोंमें हम जो शब्द उच्चारण नहीं कर सकते, उसकी मनमें भी आलोचना करना ठीक नहीं है।

किसीकी सहायता करनेके लिये कमर कसकर बाजारमें बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। जब किसीकी सहायता करनी आवश्यक हो तब विचारपूर्वक भयरहित हो प्राणपणसे उसकी सहायता करनी चाहिये। तब अपने लिये विचारने और चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। अपनी ओर देखोगे तो कभी किसीकी सहायता नहीं कर सकोगे। भगवान् हमसे माँग रहे हैं, ऐसा विचारकर सहायता करनी चाहिये। इसप्रकारका निःस्वार्थ परोपकार ही भगवान्की यथार्थ पूजा है। भगवान्की किसी प्रतिमूर्तिके सामने जब हम किसी वस्तुको निवेदन करते हैं, तब वह उसे ग्रहण करते हैं या नहीं—

हम समझ नहीं सकते। अवश्य ही समस्त वस्तुएँ ही जब उसीकी हैं तो भी उसे निवेदन करके ही हमें उनका ग्रहण करना उचित है, परन्तु उसे नाममात्र-को दिखाकर, लोभयुक्त चित्तसे जब हम सारी-की-सारी चीजें ले लेते हैं तब उसे प्रसाद समझनेमें शायद भूल होती है। क्योंकि इस अवसरपर हम त्याग कुछ भी नहीं करते। हम देवताको जो समर्पण करते हैं वह दुर्भाग्यवश हो या सौभाग्यवश, सारा का सारा ही वापस ले लेते हैं, परन्तु जहाँ वह सचमुच ही ग्रहण करनेके लिये हमारी ओर हाथ बढाये हुए हैं, जहाँ दान करते समय सचमुच हमें कुछ त्याग करना पडता है वहाँ यदि हम दान कर सकें, विनीत अन्त.करणसे हम अपने भक्ति-अर्घ्यको निवेदन कर सकें, तभी हमारा पूजा करना सार्थक होता है। जहाँ दुर्भिक्ष है वहाँ भगवान् अन्न चाहते हैं, जहाँ रोगपीड़ित है वहाँ प्रभु सेवा-शुश्रूषा चाहते हैं, जहाँ गृहहीन हतभाग्य इधर-उधर रोते-फिरते हैं वहाँ वे आश्रय भिक्षा करते हैं; एव जहाँ वस्त्रहीन दरिद्र लज्जा निवारण करनेमें असमर्थ है, वहाँ प्रभु वस्त्रके लिये हाथ फैलाते हैं। यदि हम इस सर्वभूतस्थित भगवान्‌की पूजा नहीं कर सकते तो अन्य पूजाएँ वृथा आडम्बरमात्र हैं।

तथापि भगवान्‌को कोई किसी भी भावसे पूजे, उससे द्वेष नहीं करना चाहिये।

मानसिक उन्नति

मन यथार्थ ही दर्पणके समान है, इसीमें आत्मा-का प्रतिबिम्ब झलकता है। मनके द्वारा हम जो कुछ करते हैं वह सभी आत्माका ही कार्य माना जा सकता है। मनमें ही भाँति-भाँतिकी चिन्ताएँ उत्पन्न होती हैं। चिन्ता-शक्तिका प्रभाव अत्यन्त आश्चर्य-जनक और अचिन्तनीय है। हमारी सुचिन्ता या कुचिन्ता, तनिक भी नष्ट नहीं होती, सब इसी आकाशमें विद्यमान रहती है। सुचिन्ता दूसरी सुचिन्ताओंको तथा कुचिन्ता दूसरी कुचिन्ताओंको आकर्षित करती है। हम कुचिन्ताका पोषण करके उसके विषाक्त बीजाणुओंको इस विश्वमें फेला देते हैं। और वे बीजाणु सक्रामक रोगकी भाँति दूसरे मनुष्योंके मनमें प्रवेश करते हैं। अत जब इसमें इतना बडा दायित्व है तब कुचिन्ताका पोषण करना कितना बडा पाप है, इस बातपर बारम्बार विचार करके चिन्ताको संयत करना कर्तव्य है। यदि हम एक दिन भी अपने या दूसरेके चरित्र सशोधनका विचार करते हैं अथवा किसीका हित चिन्तन करते हैं या अन्य किसी शुभ कर्मकी कल्पना करते हैं तो वह भी नष्ट होनेकी नहीं है। इसलिये दिनभरमें क्षणकालके लिये भी हमें किसी-न किसी सच्चिन्तनमें मनको लगाये रखना उचित है।

बाहर ससारमें लोग अनेक बातें करते हैं, अनेक कार्य करते हैं, उनसे मनको विचलित नहीं होने देना चाहिये। समयका स्रोत तुम्हारे चित्तको बहा न ले जाय। जब जो कार्य करो, मनको खूब दृढ़ता-पूर्वक उसमें लगाये रक्खो। मनमें इधर-उधरके विचार इच्छानुसार आ-जा न सकें। दुश्चिन्ताओंको बार-बार मनसे हटानेके लिये बडे धैर्यकी आवश्यकता है, परन्तु उस धैर्यद्वारा मनसे कुचिन्ताओंके एकबारगी भगाये बिना अध्यात्मज्ञानका विकसित होना भी सम्भव नहीं। व्यर्थ विचार मनमें उठते ही उसे पकड लो और उसी क्षण उसे मनसे दूर करनेकी चेष्टा करो। अच्छी-अच्छी पुस्तकें और अच्छे अच्छे लेख प्रतिदिन पढ़ो एव उनमें आये हुए विषयोंपर चिन्तन और विचार करो। इससे मनकी दृढ़ता बढ़ेगी एवं समय-समयपर यथार्थ सत्यका ज्ञान होगा। आश्वासनवाणी सुननेको मिलेगी। उपनिषद्, मनुस्मृति, महाभारत,

रामायण, भागवत विशेषतः भगवद्गीताका प्रतिदिन श्रद्धाके साथ पाठ करनेसे उनके निगूढ़ अर्थ स्वतः ही तुम्हारे सामने प्रकट हो जायँगे। त्याग और प्रेमके द्वारा ही यथार्थ मानसिक उन्नति होती है, इसको विशेषरूपसे जान रखना चाहिये।

आध्यात्मिक उन्नति

तुम्हारा आत्मा स्वभावसे ही पवित्र, निर्मल और शान्तिपूर्ण है, इस बातकी बार-बार मनमें धारणा करते हुए आत्माका ध्यान करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। विषयके संसर्गसे आत्मा कलुषित-सा जान पड़ता है किन्तु वह स्वयं शुद्ध और अपापविद्ध है। वासनाके द्वारा विक्षुब्ध मन अत्यन्त अधीर और अस्थिर होकर सुख-दुःखादि अवस्थाको प्रकट करता है और इसी कारण आत्मा भी सुख-दुःखधर्मी जान पड़ता है। मनकी यह अस्थिरता जबतक रहती है, तबतक आत्माका निष्कलङ्क स्वरूप प्रकट नहीं होता। '*ज्ञानशक्तेर्मलं विद्यात् अस्थैर्यं तेन चाज्ञता*' अस्थिरता ही ज्ञान-शक्तिका मल है अर्थात् हमारी जो अज्ञता है अथवा हम जो तत्त्वको जान नहीं पाते, इसका कारण अस्थिरता या मनकी चञ्चलता ही है। इसलिये प्रतिदिन थोड़े समयके लिये भी मनको स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। वायुरहित स्थानमें जैसे दीपक स्थिर रहता है वैसे ही मनको बाह्य विषयोंसे लौटाकर आत्मामें निश्चल करना चाहिये। चित्तकी इसी प्रकारकी एकाग्र, अचञ्चल अवस्थामें आत्माकी सुनिर्मल ज्योति प्रदीप्त हो उठती है।

जिसप्रकार दिनमें अनेकों कर्म करके हम रात्रिमें विश्राम करते हैं, वैसे ही विषय-चिन्तामें सर्वदा लगे हुए मनको एक बार चिन्ताशून्य कर विरामसागरमें डुबो देना होगा। प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा प्रयत्न करनेसे इसप्रकारकी स्थिर अवस्थाका प्राप्त करना कठिन नहीं है। चित्त स्थिर होनेपर ही भगवत्प्रसादकी प्राप्ति होती है एवं भगवत्प्रसादमें ही समस्त दुःखोंका विराम होता है। '*प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते*' प्रसादकी प्राप्तिके लिये चित्तको भगवद्भावमय कर डालना होगा एवं इसीके लिये प्रतिदिन भगवदालोचना, निर्जनमें ध्यान, परमार्थ-विचार, नाम-संकीर्तन और जपादिके अभ्यासकी आवश्यकता है। किन्तु इसमें चित्तको पूर्णरूपसे लगाना पड़ेगा। केवल बेगार काटनेसे ही कुछ विशेष फल प्राप्त नहीं हो सकता। पता नहीं, कब हमारे कर्म क्षय हों? कब हमारा चित्त प्रेमयुक्त होकर प्रभुका स्मरण करेगा और कब हम प्रभुके सुशीतल पदच्छायामें चिर-विश्राम प्राप्त कर सकेंगे? किन्तु उनके आनन्दघन ज्योतिर्मय स्वरूपके प्रत्यक्ष किये बिना हमारे कर्मोंका नाश नहीं होगा, हृदयग्रन्थि भी नहीं टूटेगी। करुणामय भगवान् हमपर कृपा करनेके लिये तैयार हैं। क्या हमलोग एक बार आँखें खोलकर नहीं देखेंगे? कब हम अपने समस्त कर्मोंके बोझको उनके चरण-कमलोंमें निवेदनकर निश्चिन्त चित्तसे उस प्रेममयका गुणगान करके अपने जन्म-जीवनको सफल करेंगे? सुनो, भगवान् कह रहे हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥



भक्त-गाथा

भक्त दानसाय

(लेखक—बाबा श्रीरामेश्वरदासजी वेदी)

भक्तोंकी अपार महिमा है। उनकी लीला वे ही समझ सकते हैं जिन्होंने कभी उस पतितपावन प्रभुकी झाँकी देख पायी है। भगवद्भक्तोंसे ही साधारण मनुष्यको भगवान्‌की झलक मिलती है। आज मैं पाठकोंको एक ऐसे भक्तकी कथा सुनाना चाहता हूँ जिन्होंने अपनेको परमात्मा-मय बना डाला था। उनका नाम भगत दानसाय था। आपका जन्म अडंगपुर ग्राममें हुआ था।आपके माता-पिता अकस्मात् छोटी उम्रमें ही मर गये। तबसे आपकी बुआजीने बड़ी सावधानीसे इनका पालन-पोषण किया था, परन्तु यह सहारा भी शीघ्र उठ गया। जिस समय भगतजीकी बुआ मरीं उस समय इनकी आयु १७ वर्षकी थी। आपके मनपर इस घटनाका बहुत प्रभाव पड़ा। और हृदयमें सच्चे संरक्षक और नित्य आधारकी प्राप्तिकी कामनाका अङ्कुर फूटा। कुछ दिनों बाद आपने एक जमींदारके यहाँ नौकरी कर ली और वहाँ आप गौएँ चरानेके काममें नियुक्त किये गये। आपने बड़ी ही ईमानदारीके साथ अपना कार्य-भार सँभाला। इसके साथ-ही-साथ जहाँ और ग्वाले व्यर्थकी बातोंमें समय बिताते थे वहाँ आप पेड़के नीचे बैठकर भगवद्भक्तिके भाँति-भाँतिके भजन गाया करते थे।



एक बार ऐसा हुआ कि आपकी गाय एक खेतमें चली गयी। इसपर खेतके स्वामीने आकर इनकी कमरमें एक सोटा जमा दिया और झिड़ककर कहा कि तू यहाँ ढोंग रचे बैठा है उधर गायोंने मेरा खेत नष्ट कर दिया। इसपर दानसायको अत्यन्त ग्लानि हुई और वह अपनी भूलके प्रायश्चित्त-स्वरूप अगले दिनभर नदीमें एक पैरसे खड़े रहे। और रातको भी उन्होंने वहीं रहनेका निश्चय किया। जिसपर सब लोगोंने बहुत समझाया-बुझाया, पर ये अपने निश्चयपर दृढ़ रहे। उन्होंने वह शीतभरी रात्रि उसी नालेमें खड़े-खड़े व्यतीत कर दी। अगले दिन प्रातःकाल जब उस खेतवालेको यह सब हाल मालूम हुआ तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने अति विनीतभावसे इनसे क्षमा-याचना की।

इन्होंने कहा, भाई ! मैं जानता हूँ कि किसानको अपनी खेती कितनी प्यारी होती है। इसलिये मुझे इस व्यवहारके प्रति कोई शिकायत नहीं है; मैंने तो अपनी ही भूलका सुधार किया है। खेतवालेपर इनकी इस वृत्तिका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इन्हें एक बछिया दान दी।

कुछ दिन बाद दानसायने नौकरी छोड़ दी और जङ्गलमें एक कुटिया बनाकर अपना और अपनी गौका पेट पालने लगे। गाँवमें एक पण्डितजी रहा करते थे, उनसे थोड़ा-सा अक्षराभ्यास करके इन्होंने रामायण पढ़ ली और उसीमें दिनभर मस्त रहने लगे। जब आप रामायणका पाठ करते तो गौ आकर सामने माथा टेक देती और भगतजी भी उसके सींगोंपर रामायण रखकर निरन्तर घण्टों पाठ किया करते। आसपाससे भी कुछ लोग सुनने आ जाते जिससे वहाँ अच्छा सत्सङ्ग हो जाता था। यह अच्छे स्वार्थत्यागी थे। यदि क्षुधानिवृत्तिके पश्चात् भोगादि सामग्री दक्षिणामें आती तो पहले तो लेते ही नहीं और यदि लेते भी तो वह बन्दरों या गौओंको खिला देते। कहते कि मैं तो उतना ही अन्न चाहता हूँ जो आजके लिये हो जाय, कलके लिये भगवान् कल देंगे। संग्रह करके क्या होगा? अपनी गौ तकपर यह अपना पूर्ण स्वामित्व नहीं मानते थे। उससे जो बच्चे पैदा होते वे भक्तजनोंमें बाँट दिये जाते थे। इनके सम्बन्धमें अनेक अद्भुत बातें सुनी गयी हैं।

कहते हैं कि एक ग्रामीणके घरमें एक बार एक काला साँप दिखायी दिया। गाँवके लोगोंने उसे मारना चाहा, इतनेमें भगत दानसाय इधरसे आ निकले। उन्होंने लोगोंको अलग हटाकर उसे अपनी भुजापर लटका लिया और फिर दूध पिलाकर जङ्गलमें छोड़ दिया। इस घटनाका लोगोंपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार गाँवमें अनावृष्टिसे घोर अकाल पड़ा। लोगोंने भगत दानसायसे प्रार्थना की कि किसी प्रकार इस सङ्कटसे मुक्त कीजिये। इसपर इन्होंने कहा कि 'इस वर्ष जो तुमलोगोंने दूसरे गाँववालोंका धन चुरा लिया था यह उसीका फल है। यदि उसे तुम लौटा दो तो विपत्ति टल जाय।' पर अपना दोष स्वीकार करना क्या साधारण बात है। लोगोंने कहा 'बाबाजी कैसी बातें करते हो। ऐसा भी भला हो सकता है?' भगतजी भी ऐसे वैसे आदमी नहीं थे। आपने मुस्तैदीसे काम लिया। एक खास जगहको खुदवाकर उसमेंसे चोरीका धन निकालकर सामने रखवा दिया। बेचारे अपराधी लज्जावश जमीनकी ओर देखते रह गये। वह सारा धन जहाँ-का-तहाँ लौटा दिया गया। कालान्तरमें वर्षा हुई और लोग भगत दानसायके गुण गाने लगे।

सुनते हैं कि एक बार एक मनुष्यने निवेदन किया कि मेरा एक ऊँट गुम हो गया है यदि आप उसका पता बता दें तो बड़ी दया हो। भगत दानसाय हँसकर बोले कि 'मैं कोई योगी तो हूँ नहीं, भगवान् चाहेंगे तो तुम्हारा ऊँट इस पहाड़ीके उस ओर एक वृक्षमें अटका हुआ मिलेगा।' ऊँटवालेने वहाँ जाकर देखा तो बात बिल्कुल सच निकली।

आपकी ख्याति सुनकर लोग दूर-दूरसे आते थे और दर्शन पाकर कृतार्थ होते थे। एक दिन प्रातःको दर्शकोंने देखा कि भगतजी सर्दीसे बिल्कुल ऐंठ गये हैं। खूब टटोलकर देखा, पर साँसका पता न लगा। आखिर उन्हें मरा समझ एक नालेमें डाल दिया; पर अगले दिन भगत दानसाय गाँवकी गलियोंमें पूर्ववत् विचरते दिखायी दिये। लोगोंने उनके मरनेकी बात फैलानेवालोंकी खूब हँसी उड़ायी।

फिर एक दिन भगतजी बोले, 'भाई, मैं बूढ़ा

हो चला हूँ । न मालूम कब इस संसारसे कूच कर जाऊँ !' वह इतना कहकर ही नहीं रहे, दूसरे दिन उन्होंने सचमुच ही शरीर छोड़ दिया । लोगोंने उनकी अर्थी-वर्थी सजायी और दाह-कर्मके लिये श्मशान ले गये । परन्तु सब तैयारी करनेके बाद ज्यों ही चितामें आग जलायी कि एकाएक चिता हिल उठी । यह अनोखी बात देखकर गाँववाले मारे भयके वहाँसे भाग गये । परन्तु लोगोंको अगले दिन ज्ञात हुआ कि चितास्थलपर चिताका चिह्नतक नहीं है । लोगोंने समझा कि भगतजी भूत हो गये, परन्तु कुछ कालके अनन्तर भगतजी अपनी गौसहित पुनः उसी कुटियामें देखे गये । लोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा, वे कहने लगे, 'महाराज ! यह लीला समझमें नहीं आती !' उत्तर मिला,—'भाई, मैं तो भगवद्भक्तिमें लीन होता हूँ और तुमलोग मुझे मरा समझ लेते हो !'

गत वर्ष भक्तप्रवर दानसाय सदाके लिये इस असार संसारका त्याग कर गये ।

बोलो भक्त तथा उनके भगवान्‌की जय !

प्रेमोल्लास

पर-अपवाद वृथा वाद तजि जौपै जीह, आनि अनुराग सदा राम नाम जपिहै ।
लोकमें पुनीत पद पाइहै अपार, परलोकको सुधार नहि तीनों ताप तपिहै ॥
लहि मनभाई शान्ति सोवै सुखी नींदभरि, भ्रमि न बहोरि झूठी माया मोह खपिहै ।
कठिन कराल कलिकलुष विपति जाल, नामके प्रभाव वीर बिना श्रम नपिहै ॥१॥

पूजा जप तप त्याग याग न विराग योग, कीन्हे न कलेश लेश तीरथ अटनमें ।
लाज कछु लोककी न शोक परलोकहूको, राखत भरोस नहिं बन्धु परिजनमें ॥
धर्म शुभकर्मनके साधन विडम्बसने, आई धौंस लै जरा न रह्यो बल तनमें ।
रामको गुलाम बनि जीबो जग नीको लगै, वीर यहै बसी एक लालसा सुमनमें ॥२॥

मति हहरानी पानी शुण्डभर लाग टेरयो, पलमें दिलानी हारि शत्रु ग्राह साथकी ।
दीन ह्वै पुकारी सभा द्रौपदसुताने जबै, बसन पसारि ताहि छनमें सनाथ की ॥
कहाँ लौं गनाऊँ नाथ अकह कहानी तेरी, मेरी बार देरी क्यों बिचारो लिपी माथकी ।
करुनानिधान वीर करुना निवारो वेगि, गति है तिहारी एक मोहि से अनाथकी ॥३॥

बोले बिनु आई बिरधाई दुखदाई दशा, कही नहि जाति बात सकट अछेहकी ।
दशन नसाने सब इन्द्रिय शिथिल भई, कोपि बैर ठानि मानो युवा तनु रोहकी ॥
जानि बिनु स्वारथ कुटुम्बी मुख मोरि रहे, मनमें रही न चाह रञ्चक सनेहकी ।
नाथ बिनु तेरे वीर मरन रखैया कौन, आसरा रही न नहु देहकी न गेहकी ॥४॥

गये तनु पाय जग वेनु से कुटिल भूप, प्रबल सहस्रबाहु अम्बर उधारो क्यों न ।
बालि-से बलीको उठि जात नहि लागी बार, करत झरत देखो सुकृत सँभारो क्यो न ॥
हरिश्चन्द्र अम्बरीष पृथु रन्तिदेव आदि, रही जग कीरति अकीरति विचारो क्यो न ।
परिहर समाज भव-आश्रम प्रदेश वीर, जानि जपि नाम हरि जीवन सुधारो क्यों न ॥५॥

—महावीरप्रसाद मालवीय वैद्य 'वीर'

श्रीहरये नमः

कल्याणका

संशय, अज्ञान, विषाद और शोकको हरनेवाला ज्ञानप्रद, शान्तिप्रद, प्रेमप्रद, आनन्दप्रद और मनोहर

शिवांक

बहुत ही उपादेय सामग्रियोंसे पूर्ण होकर निकलनेवाला है।

ग्राहकोंको चाहिये

वार्षिक मूल्य मनीआर्डरसे तुरन्त भेज दें

(मनीआर्डर-फार्म आपको मिल ही चुका है)

श्रीभगवान्‌की प्रेरणा और सहायतासे इस बार शिवांक बहुत ही उपादेय बन रहा है। इस अंकमें जैसी सामग्री और चित्रादिका संग्रह हो रहा है, वैसा इससे पहले अंकोंमें कभी नहीं हुआ। बहुत दुर्लभ चीजें सहजमें मिलनेकी आयोजना हो गयी।

इस अंकमें क्या-क्या रहेगा ?

(१) भगवान् श्रीशिवके परमतत्त्वका विविध दृष्टियोंसे निरूपण।

(२) भगवान् श्रीशिवके अनेकों स्वरूपोंका गम्भीर, शिक्षाप्रद और मनोरञ्जक वर्णन।

(३) भगवान् श्रीशिवकी विचित्र लीलाओंका वर्णन।

(४) भगवान् श्रीशिव और भगवान् श्रीविष्णु, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदिमें अभेदका सप्रमाण सचित्र प्रतिपादन।

(५) भगवान् श्रीशिवकी उपासनासे होनेवाले लाभोंका सप्रमाण वर्णन।

(६) भगवान् श्रीशिवकी लीलाओंके बहुत-से रंगीन और सादे चित्र। इस बार रंगीन चित्र पहले सब विशेषांकोंसे ज्यादा रहेंगे।

(७) द्वादश ज्योतिर्लिंग, भगवान् शिवकी अष्टमूर्तियोंके दुर्लभ चित्र।

(८) भारतवर्षके चारों कोनोंके प्रधान-प्रधान शिव-मन्दिरोंके चित्र।

(९) भारतके बाहर विदेशोंके शिव-मन्दिर और शिव-मूर्तियोंके चित्र वर्णनसहित।

(१०) श्रीशिवाचार्य और श्रीशिवभक्तोंके सचित्र चरित्र।

(११) भगवान् श्रीशिवसम्बन्धी प्राचीन शिलालेख आदिका वर्णन।

(१२) भगवान् श्रीशिवसम्बन्धी साहित्यका वर्णन।

इस बार लेखकोंमें बहुत बड़े-बड़े विद्वान् और अनुभवी सज्जन हैं। चित्रोंका खास प्रबन्ध किया गया है। भारतवर्षके कई नामी चित्रकारोंके चित्र छपेंगे।

लेख बहुत ही अधिक आ गये, इसलिये पृष्ठ बढ़ा दिये गये। परिशिष्टांकसहित ६०० सौसे अधिक पृष्ठ होंगे। तिसपर भी सैकड़ों लेख रह ही जायँगे।

परिशिष्टांक (भाद्रपदकी संख्या) सहित मूल्य ३) (डाकमहसूलसहित) है। पुराने-नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ४≋) बहुत जल्दी मनीआर्डरसे भेज देना चाहिये।

शिवांक (श्रावणकी संख्या) और परिशिष्टाङ्क (भाद्रकी संख्या) अलग-अलग नहीं मिलेंगे। दोनों साथ लेनेवालोंको ३) में मिलेंगे। शिवांकमें बहुत कार्य होनेके कारण उसके जन्माष्टमीतक निकलनेकी आशा है।

शिवाङ्कके कुछ लेखकोंके नाम

श्रीशिवाङ्कके लिये प्रधान-प्रधान श्रीशैवाचार्य, श्रीशंकराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य तथा अन्यान्य वैष्णवाचार्य महानुभावोंके अतिरिक्त अनेकों मण्डलेश्वर संन्यासी महात्मा तथा विरागी सन्तोंने, और सभी प्रान्तोंके अनेकों विशिष्ट विद्वानों, कवियों और महिलाओंने लेख लिखे हैं या लिखकर भेजने स्वीकार किये हैं, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं—(पूज्य आचार्योंके नाम न देकर कुछ सन्त महात्मा और विद्वानोंके ही नाम दिये जाते हैं।)

सर्वस्वामी मण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्रपुरीजी, श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी, श्रीशिवानन्दजी, श्रीभोलेबाबाजी, श्रीरामदासानन्दजी, श्रीएकरसानन्दजी, श्रीशंकरानन्दजी, श्रीहरनामदासजी, श्रीतपोवनजी, महामहोपाध्याय प० श्रीगंगानाथजी झा, महामहोपाध्याय रायबहादुर पं० श्रीगौरीशंकर हीराचन्द ओझा, आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी, महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण, पण्डितवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न, पं० श्रीभवानीशंकरजी, आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, श्रीसापरे महाराज, श्रीज्योतिजी महाराज, पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा, महामहोपाध्याय पं० श्रीहाथीभाई शास्त्री, पं० श्रीरामदयालुजी मजूमदार एम० ए०, पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, राजा श्रीदुर्जनसिंहजी, रूसी-विद्वान् श्रीनिकालस रोरिक, श्रीएच० मीरेनो महोदय, देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री, पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, पं० श्रीहाराणचन्द्रजी शास्त्री, श्रीजयरामदासजी 'दीन' पं० श्रीपद्मनाथजी भट्टाचार्य एम० ए०, पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पं० श्रीजयदेव विद्यालंकार, पं० श्रीसकलनारायणजी पाण्डेय, पं० श्रीदयाशंकरजी दूबे एम० ए०, एल-एल० बी०, श्रीभीमचन्द्र चटर्जी, एम० ए०, एम० आई० ई० ई०, पं० श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे, श्रीनलिनीकान्त गुप्त अरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी, पं० श्रीमधुसूदनजी शास्त्री कौल एम० ए०, श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, श्रीसूर्यनारायण शास्त्री एम० ए०, श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती एम० ए०, पी-एच० डी०, श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती एम० ए०, पं० श्रीविष्णुबालकृष्ण जोशी, श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०, पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री भट्ट, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया, श्रीआर० एस० दीक्षितार एम० ए०, श्रीवेंकट सुब्बा एम० ए० पी० एच० डी०, श्रीगौरीशंकरजी गनेड़ीवाला, श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी, पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय, श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए०, प० श्रीनरदेवजी शास्त्री, श्रीकाशीनाथजी शास्त्री, श्रीवीरभद्रजी शास्त्री, पं० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए०, श्रीमती सुब्बा लक्ष्मी बी० ए०, श्रीमती कमलादेवी कीवे आदि-आदि—

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक--स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

उपाधिमें मायाकी कार्यता



हे अश्विनीकुमारो ! जैसे मायावी बाजीगर अपनी मायासे अनेक प्रकारके हस्ती, व्याघ्रादिरूप धारण करता है उसी प्रकार एक ही परमात्मा अपनी मायासे नाना प्रकारके रूपोंको धारण करता है किन्तु उन मायारूप विशेष रूपोंसे परमात्माके अस्ति, भाति, प्रियरूप परमार्थ स्वभावका नाश नहीं होता। बुद्धिमान् सुनार सुवर्णादि पदार्थोंको अन्य स्वभाववाला नहीं कर सकता किन्तु केवल सुवर्णादिमें कुण्डल-कटकादि विशेष रूप कर देता है इससे सिद्ध होता है कि वस्तुका अन्यथा स्वभाव करनेमें कोई समर्थ नहीं है। जिसप्रकार सौ सुनार भी एकत्र होकर तन्तुरूप सूत्रको सुवर्ण नहीं बना सकते, जिसप्रकार हजार कुम्हार एकत्र होकर भी काठको मिट्टी नहीं बना सकते इसी प्रकार ईश्वरका मूल स्वभाव अन्यथा नहीं होता।

अश्विनीकुमार–हे ऋषे ! यदि उपायसे वस्तु अन्य भावको न प्राप्त होती हो तो धातु मारनेके शास्त्रमें ताम्रादि धातुओंका सुवर्ण बनना क्यों लिखा है ?

ऋषि–हे अश्विनीकुमारो ! धातु मारनेकी शास्त्रीय रीतिसे जो ताम्रादिको सुवर्ण करता है वह भी असत्य सुवर्णकी उत्पत्ति नहीं करता, क्योंकि उपायसे यदि असत्य वस्तुकी उत्पत्ति हो जाती हो तो असत्य शशशृंगसे और बन्ध्यापुत्रसे भी उपायसे उत्पत्ति होनी चाहिये, किन्तु असत्य नरशृंग आदिसे किसीकी उत्पत्ति नहीं होती इसलिये ओषधि आदि उपायोंसे असत्य सुवर्णकी उत्पत्ति नहीं होती। ओषधिके बलसे ताम्रादिकी रक्तता हटकर उसमें पीलापन उत्पन्न हो जाता है तो भी पूर्वकी ताम्रादि धातुसे वह सुवर्ण भिन्न नहीं है।

अश्विनी०–हे ऋषे ! यदि पूर्वकी ताम्रादि धातुओंसे भिन्न न होता तो यह सुवर्ण पूर्वकी धातुसे भिन्न है, इसप्रकारकी भेदप्रतीति क्यों होती है ?

ऋषि–हे अश्विनीकुमारो ! ताम्र और सुवर्णका परस्पर भेद नहीं है तो भी रक्तरूपता और पीतरूपताका भेद है। यह भेद अंगीकार करनेसे पुरुषको भ्रान्ति होती है कि यह सुवर्ण पूर्वके ताम्रसे भिन्न है इसलिये मृत्तिका, सुवर्णादिका जो स्वभाव है, वह सब कालमें एक ही रहता है, किसी कालमें भी स्वभाव अन्यथा नहीं होता।

अश्विनी०–यदि वस्तुका स्वभाव अन्यथा नहीं होता तो कुम्हार दण्ड-चक्रादिद्वारा मृत्तिकासे घटकी जो उत्पत्ति करता है, उस उत्पत्तिके कारण कुम्हारादि व्यर्थ हो जायँ।

ऋषि–कुम्हारसे मिट्टी अन्यथा भावको प्राप्त नहीं होती किन्तु मिट्टी घट-शरावादि विशेष रूपोंको प्राप्त हो जाती है इसलिये कुम्हारादि कारण व्यर्थ नहीं हैं।

अश्विनी०–वे घट-शरावादि विशेष रूप क्या मृत्तिकाका स्वभाव नहीं हैं ?

ऋषि–घट-शरावादि विशेष रूप मृत्तिकाका स्वभाव नहीं हैं। यदि घट-शरावादि विशेष रूप मृत्तिकाका स्वभाव हों तो घटादिका नाश होनेपर मृत्तिकाकी प्रतीति न होनी चाहिये। घट-शरावादि [illegible] भी मृत्तिका प्रतीत [illegible] घट [illegible]

मृत्तिकाका स्वभाव नहीं हैं। भाव यह है कि जिस वस्तुका जो स्वभाव होता है, उस स्वभावके नाश होनेपर वस्तुका नाश हो जाता है। जैसे तेजके स्वभाव प्रकाशका नाश होनेपर तेजका भी नाश हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि स्वभावके नाश होनेपर वस्तुका ही नाश हो जाता है और विशेष रूपके नाश होनेपर वस्तुका नाश नहीं होता। जैसे कि मूर्त स्वभाववाली मिट्टी अपने पिण्डरूप विशेष भावको त्यागकर घट-भावको प्राप्त होती है तो भी अपने मूर्तत्व स्वभावका त्याग नहीं करती, इससे सिद्ध होता है कि मृत्तिका तथा सुवर्णादि वस्तु विद्यमान होनेपर भी घट-शरावादि और कुण्डल-कङ्कणादि विशेष रूप प्रतीत नहीं होते अतएव घटादि विशेष रूप मृत्तिकादि वस्तुओंके आगमापायी धर्म हैं। जो पदार्थ आगमापायी होता है, वह वस्तुका स्वभाव नहीं होता, जैसे मायावी बाजीगर अपनी मायाके प्रभावसे यद्यपि कभी सिंहका और कभी हाथीका रूप धारण कर लेता है पर उसमें वह सिंहपना अथवा हाथीपना सर्वदा नहीं रहता, किसी निमित्तसे किसी समयतक ही रहता है इसलिये आगमापायी होनेके कारण वह सिंहपना अथवा हाथीपना मायावी पुरुषका स्वभाव नहीं है, इसी प्रकार घट-शरावादि विशेष रूप भी मृत्तिकाका मूल स्वभाव नहीं हैं।

विशेष रूपोंमें विलक्षणता

हे अश्विनीकुमारो ! यदि विशेष रूप वस्तुके समान सत्यरूप हों तो वस्तुके स्वभावके समान उस विशेष रूपका बाध न होना चाहिये, परन्तु वस्तु विद्यमान होनेपर भी उस विशेष रूपका बाध देखनेमें आता है इसलिये विशेष रूप सत्य नहीं है, वह सत्यसे विलक्षण है, इसी प्रकार विशेष रूप असत्य भी नहीं है क्योंकि वन्ध्यापुत्र और नर-शृंगादि असत्य पदार्थ नेत्रादि इन्द्रियोंके सम्बन्धसे किसीको प्रत्यक्ष नहीं होते और विशेष रूप तो सर्व प्राणियोंके नेत्रादि इन्द्रियोंके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है, इसलिये वह विशेष रूप असत्य भी नहीं है, किन्तु असत्यसे विलक्षण है। जो पदार्थ सत्य और सत्यसे विलक्षण होता है, वह सीपीकी चाँदीके समान मिथ्या होता है, इसी प्रकार मायाके कार्य सब पदार्थ मिथ्या हैं और सब विशेष रूपोंका माया ही कारण है।

मायाका निरूपण

हे अश्विनीकुमारो ! जो पदार्थ वस्तुतः अत्यन्त असत्यरूप होता है, उसका नेत्रादि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होता और इस विशेष रूपका तो सबको प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिये जिसके प्रभावसे विशेष रूपका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसका नाम माया है, जैसे दिनमें भोजन न करनेवालेकी स्थूलता रात्रिके भोजन बिना सम्भव नहीं है इसलिये उस पुरुषकी स्थूलता, उस पुरुषके रात्रिके भोजनकी कल्पना कराती है इसलिये असत्य रूपोंकी जो प्रतीति होती है, वह माया बिना सम्भव नहीं है, अतः विशेष रूपोंकी प्रतीति मायाकी कल्पना कराती है।

अश्विनी०-हे ऋषे ! वन्ध्यापुत्र तथा नरशृङ्गादि जो अत्यन्त असत्य हैं, उनका प्रत्यक्ष ज्ञान किसी जीवको नहीं होता। और अत्यन्त असत्य विशेष रूपका प्रत्यक्ष ज्ञान सब जीवोंको होता है, इसका क्या कारण है ?

ऋषि-हे अश्विनीकुमारो ! असत्य नरशृङ्गादि और घटादि विशेष रूपोंका वास्तविक भेद नहीं है तो भी दुर्घट अर्थको सिद्ध करनेवाली मायाके बलसे उस भेदकी कल्पना होती है। जिसप्रकार नरशृङ्गादि और विशेष रूपोंका भेद मायासे कल्पित किया जाता है इसी प्रकार मायाकी भी मायासे ही कल्पना की जाती है क्योंकि जैसे घटादि विशेष रूप और नरशृङ्गादि ये दोनों असत्य हैं इसी प्रकार माया भी असत्य है। असत्य वस्तुकी सिद्धि माया बिना नहीं होती। भाव यह है कि जैसे गुफामें रहनेवाले सिंहका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे ज्ञान होता है इसप्रकार

प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे मायाका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि जिस पदार्थसे जिस पदार्थकी निवृत्ति होती है, उस पदार्थसे उस पदार्थकी सिद्धि नहीं होती। जैसे प्रकाशसे अन्धकारका नाश होता है, तो प्रकाशसे अन्धकारकी सिद्धि नहीं होती, इसी प्रकार प्रमाणजन्य ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है इसलिये प्रमाणजन्य ज्ञानसे अज्ञानरूप मायाकी सिद्धि नहीं होती, मायासे ही मायाकी सिद्धि होती है।

अज्ञानीसे मायाकी सिद्धि

हे अश्विनीकुमारो! जब अज्ञानीसे यह पूछा जाता है कि नरशृंग और वन्ध्यापुत्र जो असत्य हैं, उनका और घटादि विशेष रूपोंका जो भेद है, उसका क्या कारण है तो इस प्रश्नका उत्तर अज्ञानी यही देता है कि मैं जानता नहीं हूँ। 'मैं नहीं जानता' ऐसा जो अज्ञानियोंका अनुभव है, वही अनुभव मायाका साधक है। मायाकी दुर्घटता बतलानेके लिये वेदवेत्ता माया शब्दके चार अर्थ कहते हैं। (१) जो तीन कालमें न हो, वह माया है, (२) जगत्के कार्य-कारण-भेदका जो कारण है, वह माया है, (३) जो सब जीवोंके स्वरूपको ढँक देती है, वह माया है और (४) जिसका यथार्थ ज्ञानसे नाश हो जाता है, वह माया है।

यह आनन्दस्वरूप आत्मा वस्तुतः असङ्ग, स्वप्रकाश तथा सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदसे रहित है। ऐसे असङ्ग अद्वितीय आत्मामें परमार्थसे माया और जगत्की कारणता सम्भव नहीं है किन्तु श्रुतिमें आत्माको जगत्का कारणरूप और सर्वजगत्रूप कहा है, इसलिये असङ्ग आत्मामें जगत्की कारणता सिद्ध करनेके लिये वेदवेत्ता पुरुष असङ्ग आत्मामें मायाकी कल्पना करते हैं। जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकारका नाश हो जाता है इसी प्रकार जब यह ज्ञान होता है कि यह आनन्दस्वरूप आत्मा सब जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण है, तो अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। 'सब जगत् अस्ति, भाति और प्रियरूप है, आत्मा सत्-चित्-आनन्दस्वरूप और ब्रह्मस्वरूप है' इसप्रकारका ज्ञान होनेसे अज्ञानका नाश हो जाता है। जैसे अधिष्ठानरूप रज्जुका ज्ञान हो जानेसे रज्जुके विशेष रूप सर्पदुर्गादिका नाश हो जाता है, इसी प्रकार अधिष्ठानरूप आत्माका ज्ञान होनेसे निर्विशेष आत्माके विशेष रूप प्रपञ्चका और प्रपञ्चके कारण अज्ञानका नाश हो जाता है। इस अज्ञानको ही शास्त्रवेत्ता माया कहते हैं। जहाँ दीपक होता है वहाँ जैसे अन्धकारका ज्ञान नहीं होता इसी प्रकार जहाँ विवेकी पुरुषोंकी दृष्टि जाती है, वहाँ माया देखनेमें नहीं आती, इसलिये यथार्थ ज्ञानसे जिसका नाश हो जाता है, उसका नाम माया है, जगत्का कारण माया यद्यपि एक है तो भी 'यह घट' 'यह पट' इत्यादि अनेक ज्ञान घटादि विषयके अज्ञानका नाश करते हैं इसलिये एक ही माया अनेक रूप धारण करती है। मायाके इस अनन्त रूपको शास्त्रमें 'तूला-अज्ञान' तथा 'अवस्था-अज्ञान' कहते हैं। मूला-अज्ञानका और तूला-अज्ञानका इसप्रकार भेद है—

जो अज्ञान ब्रह्मके आश्रय रहकर ब्रह्मको ढँकता है और ब्रह्मके ज्ञानसे जिसका नाश हो जाता है, उसका नाम 'मूला-अज्ञान' है और जो अज्ञान घटादि विषयसे अवच्छिन्न चैतन्यके आश्रय रहकर घटादि विषयके अवच्छिन्न चैतन्यको ढँकता है और घटादि विषयके अवच्छिन्न चैतन्यके ज्ञानसे जिस अज्ञानका नाश हो जाता है, उस अज्ञानका नाम 'तूला-अज्ञान' या 'अवस्था-अज्ञान' है। इस अवस्था-अज्ञानको ग्रहण करके श्रुतिमें मायाको अनेक कहा है और मूला-अज्ञानको लेकर 'अजामेकाम्' इत्यादि श्रुतियोंमें माया-को एक कहा है। इसप्रकार मायासे परमात्मा अनेक रूप धारण करता है। जैसे एक मायावी इन्द्र-जाली पुरुष मायासे अनेक रूप धारण करता है इसी प्रकार वस्तुतः एक अद्वितीय परमात्मा अपनी मायासे अनेक रूप धारण करता है। इसप्रकार व्यास आदि तत्त्ववेत्ता पुरुषोंने मायासे आत्माको अनेक रूप कहा है तो भी उन महात्मा पुरुषोंका तात्प

आत्माके अनेक रूपोंमें नहीं है, आत्माकी एकता बोधन करानेके लिये ही उन्होंने लौकिक प्रमाणसे सिद्ध होनेवाले अनेक प्रकारके भेदोंका अनुवाद किया है। जैसे 'अग्नि हिमका ओषधि है' यह वचन लोकप्रसिद्ध अर्थका अनुवाद करता है, क्योंकि अग्निमें हिमके निवृत्त करनेकी कारणता सब लोगोंके अनुभवसिद्ध है, इसी प्रकार अज्ञानी जीवोंके अनुभवसे सिद्ध नाना प्रकारके भेदोंका विद्वान् अनुवाद करते हैं। जगत्के कारण आत्मामें लौकिक प्रमाण-प्रवृत्ति न देखकर व्यवहारकी सिद्धिके लिये महात्मा पुरुष केवल मायाको ही कारणरूप मानते हैं। भाव यह है कि सब विद्वान् पुरुष अद्वितीय आत्माका बोध करानेके लिये और मुमुक्षु जनोंकी बुद्धिका विकास करनेके लिये ही आनन्दस्वरूप आत्मामें अनेक प्रकारसे जगत्का आरोप करते हैं। हे अश्विनीकुमारो! इसी अभिप्रायसे दध्यङ ऋषिने तुमको बोध करानेके लिये 'आत्माके भेदका कारण शरीर-इन्द्रियों और विषयोंका भेद है', ऐसा तुमसे कहा था परन्तु ऋषिका यह तात्पर्य नहीं है कि आत्मामें भेद है, आत्मामें भेदोंका आरोपण करके उन भेदोंके निषेधद्वारा अद्वितीय आत्माका लक्ष्य करानेमें ही तुम्हारे गुरुका तात्पर्य था, अद्वितीय आत्मामें भेदका लेश तीनों कालमें नहीं है।

इन्द्रियोंमें भेदकी कारणता

हे अश्विनीकुमारो! जैसे स्वर्गमें रहनेवाला इन्द्र तीनों लोकोंमें अनेक कार्य करनेके लिये अपनी मायासे अनेक रूप धारण कर लेता है और इन्द्रके रथमें वायुके समान वेगवाले अनेक अश्व जुड़े हुए होते हैं इसी प्रकार इस संसारमें रहनेवाले इन्द्ररूप परमात्माके शरीररूप रथमें बहुत प्रबल इन्द्रियरूप अश्व जुड़े हुए हैं। ये इन्द्रियरूपी अश्व एक-एक शरीरमें दस-दस प्रकारके हैं। ये सब इन्द्रियरूप अश्व परमात्मामें भेद करानेवाले हैं, भाव यह है कि जब नेत्रादि इन्द्रियोंका विषयोंके साथ सम्बन्ध होता है तब अन्तःकरणकी वृत्ति विषयाकार हो जाती है। इसप्रकार नेत्रादि इन्द्रियाँ अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें भेद करानेवाली हैं और वृत्तियोंका भेद होनेसे वृत्तियोंमें प्रतिबिम्बित आत्माका भी भेद होता है। इसप्रकार नेत्रादि इन्द्रियाँ आत्मामें भेद करानेवाली हैं। जिन इन्द्रियोंसे आत्मा भेदको प्राप्त होता है, उन इन्द्रियोंसहित सर्व प्रपञ्चका आत्मा अधिष्ठान है। इसलिये 'नेति-नेति' इत्यादि निषेधसे सर्व भेदोंसे रहित अधिष्ठान आत्माका श्रुति बोध कराती है, यह 'त्वम्' पदार्थका शोधन है।

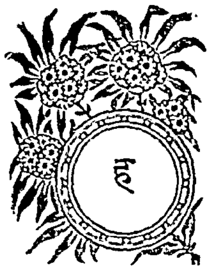
जो वस्तु अनेक प्रकारके भेदोंसे भेदको नहीं प्राप्त होती, उसको विद्वान् ब्रह्मरूपसे निश्चय करते हैं। यह ब्रह्म पूर्व-पश्चिमादि दिशाओंसे तथा भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंसे रहित है, इसी प्रकार आन्तर और बाह्य स्वभाववाले सर्व पदार्थोंसे ब्रह्म रहित है, यह तत्पदार्थका शोधन है।

इसप्रकार 'तत्त्वम्' पदार्थके शोधनसे 'तत्त्वम्' पदार्थका अभेद श्रुति दिखलाती है। सब देहधारी जीवोंका एक अद्वितीय आत्मा है। इस अद्वितीय आत्माको 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्योंसे ब्रह्मरूप जानना चाहिये। ब्रह्मरूप आत्मा द्रष्टा तथा श्रोता आदि रूपसे सर्व जगत्का अनुभव करता है, सर्व जगत्का आत्मारूप, सर्वबुद्धि आदिका साक्षी और स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप है।

हे डोरुशंकर! इसप्रकार दध्यङ ऋषिने सर्व मुमुक्षुओंके कल्याणार्थ जो उपदेश विस्तारसे इन्द्र और अश्विनीकुमारोंको दिया था, वही उपदेश ऋषिने संक्षेपसे अश्विनीकुमारोंको फिर सुनाया। ऋषिके वचन सुनकर अश्विनीकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुए और ऋषिकी सर्वज्ञताको जानकर उन्होंने उस महात्मा ऋषिको प्रणाम किया और जिस कार्यके लिये वह उनके पास आया था, उस कार्यको उन्होंने सिद्ध कर दिया। इति प्रथमाध्याय।

सन्त कवि सुन्दरदासजी

(लेखक—ठा० श्रीसूर्यप्रसादसिंहजी 'विशारद')



हमारे साहित्यमें दो प्रकारकी धाराएँ स्पष्टतया दिखायी देती हैं—ज्ञानधारा और प्रेमधारा। ज्ञान-धारामें सत्य मानव-जीवनके अन्तस्थलपर प्रभाव डालनेवाली सामग्रियोंका प्राचुर्य है जिसे सन्त कवियोंने प्रवाहित किया, और प्रेमधारामें सौन्दर्य-कल्पनाकी मधुरिमासे संसारको रञ्जित करनेवाली सामग्रियोंका बाहुल्य है, जिसे प्रधानतया व्रजकवियोंने बहाया। अतएव ज्ञानधारामें यदि ज्ञान, वैराग्य, विवेक, इन्द्रियसंयम और दृढ़ताके साथ-साथ विशेष स्थिरता और प्रेमधारामें भाव, आवेश, विलास, आह्लाद, अनुरागके साथ-साथ अधिक चञ्चलता दिखायी दे तो कोई आक्षेप नहीं। आज एक ज्ञानधाराका अजस्र प्रवाह बहानेवाले ऐसे सन्त कविके विषयमें कुछ चर्चा करनेका विचार किया गया है, जिनकी अमूल्य कृति मानव-जीवनको सार्थक बनानेमें सफल प्रमाणित हो चुकी है। वह हैं सन्त कवि महात्मा सुन्दरदासजी।

परिचय

सुन्दरदासजीका जन्म चैत्रशुक्ल ९ संवत् १६५२ स्थान घौसा (जयपूर) में खण्डेलवाल बनिया-जातिमें हुआ था, आपके पिताका नाम परमानन्द और माता-का नाम सती था। मरणकाल कार्तिकशुक्ल १७४६ माना जाता है। जिस समय महात्मा दादूजी संसारके कल्याणार्थ परिभ्रमण करते हुए घौसा गये उस समय सुन्दरदासजीकी अवस्था केवल छः वर्षकी थी किन्तु उनमें सन्तोंकी वह प्रभा पूर्वसे विद्यमान थी अवश्य ही वह अभी विकसित नहीं हुई थी। दादूजीके सत्संगसे उसका विकास हो गया। महात्मा सुन्दरदासजीने स्वयं कहा है—

'सुन्दर और मिलै सब ही सुख सन्त समागम दुर्लभ भाई'

शीघ्र ही उन्हें प्रकाश प्राप्त हो गया परन्तु आधुनिक प्रणालीके अनुसार वह तुरन्त ही दादूजीके शिष्य नहीं हो गये, उनसे मनोगत शंकाओंको मिटाते हुए आत्मसन्तुष्टि होनेपर उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। गुरु-शिष्य-प्रश्नोत्तरका यहाँ एक उदाहरण देखें—

प्रश्न—दुःख किसको होता है ?

देह दुख पावै किधौं इन्द्री दुख पावै किधौं
प्राण दुख पावै कि लहत न अहारको।
मन दुख पावै किधौं बुद्धि दुख पावै किधौं
चित्त दुख पावै किधौं दुख अहंकारको॥
गुण दुख पावै किधौं श्रोत्र दुख पावै किधौं
प्रकृती दुख पावै किधौं पुरुष अधारको।
सुन्दर पूछत कछु जानि न परत तातै,
कौन दुख पावै गुरु कहो या विचारको॥

उत्तर—दुःख अज्ञानमें है।

देहको तो दुःख नाहिं देह पञ्च भूतनिको
इन्द्रिनको दुःख नाहिं दुःख नाहीं प्रानको।
मनहूँको दुःख नाहिं बुद्धिहूको दुःख नाहिं
चित्तहूको दुःख नाहिं नाहीं अभिमानको॥
गुणनिको दुःख नाहिं श्रोत्रहूको दुःख नाहिं
प्रकृतिको दुःख नाहिं दुःख न पुमानको।
सुन्दर विचार ऐसे शिष्यको कहत गुरु
दुःख एक देखियत बीचके अज्ञानको॥

गुरुवरके साथ कुछ दिन रहनेके उपरान्त जब दादूजीका सं० १६६० में देहान्त हो गया तबतक आप नराना-स्थानहीमें रहे किन्तु जब नरानामें महात्मा जगजीवनदासजीसे साक्षात्कार हुआ तो सुन्दरदासजी उनके साथ काशी चले गये और वहाँ तीस वर्ष रहकर संस्कृत, वेदान्त, व्याकरण, पुराण पढ़नेके साथ-साथ फारसीका ज्ञान प्राप्त किया। काशीसे लौटनेके पश्चात् आप फतहपूर चले गये और वहीं रहने लगे।

विचार-परम्परा

जिस समय हिन्दू-जाति और उसके संस्कृतिपर दिन-दहाड़े यवनोंका अत्याचार हो रहा था, उस समय सिवा भगवान् अनन्तशक्तिके उन्हें कौन सहारा देता। यद्यपि चन्दकी उक्तियाँ वीरत्वकी सञ्चारिणी हुईं किन्तु बलशाली शत्रुओंके सम्मुख कोरी उक्तियाँ दुःखसे मुक्त नहीं कर सकती थीं। समयके प्रतिनिधि महात्माओंने जनताके सन्तप्त हृदयको सान्त्वना देने तथा भगवान्‌के चरणोंमें ध्यान लगानेके लिये भक्तिका सुन्दर सोपान ढूँढ़ निकाला। कहीं महात्मा श्रीरामानुजाचार्यकी प्रपत्ति-भक्ति-भावना जनतापर प्रभाव डाल रही थी तो कहीं स्वामी मध्वाचार्यका मधुर द्वैतवाद अपनी ओर खींच रहा था। इधर पूर्व भागमें सङ्गीतज्ञ कवि जयदेव भी भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मुरली-मनोहरकी भक्तिकी स्वरलहरीसे देशको रञ्जित कर रहे थे, जिनके सुरमें सुर मिलाकर सन्त कवि विद्यापतिने अपनी मधुर कल्लोल-काकलीसे समाजके निराश और उदास जीवनमें अद्भुत स्फूर्ति उत्पन्न कर दी। महात्मा श्रीरामानुजाचार्यके शिष्य-परम्परामें स्वामी श्रीरामानन्दजीने श्रीरामोपासना-पर जोर दिया, दूसरी ओर श्रीवल्लभाचार्यजीने प्रेम-मूर्त्ति श्रीबालकृष्णको लेकर जनताके जीवनमें सरसताका सञ्चार किया। उधर बङ्गदेशमें श्रीचैतन्य महाप्रभुने आचण्डाल सबको भगवन्नामका उपदेश कर आकर्षित किया। इधर महात्मा कबीर, दादू आदि निर्मल ज्ञानधारा बहा रहे थे। यों उस समय निर्गुण-सगुण दोनों प्रकारकी भावनाओंका प्राबल्य था। महात्मा सुन्दरदासजी अपने गुरुपरम्परानुसार निर्गुण-पन्थानुयायियोंमेंसे ही थे, क्योंकि गुरुवर दादूदयालसे इन्हें इसी मार्गकी शिक्षा मिली थी।

काव्य-धारा

निर्गुणधाराके अन्यान्य सन्त कवियोंमें आप सर्वप्रथम सन्त कवि थे जो यथोचित शिक्षा ग्रहण करनेके पश्चात् काव्यक्षेत्रमें अवतरित हुए थे। सन्त-साहित्यके विषयमें शास्त्रनिपुणता एवं काव्यनिपुणता-की कमी बताना समुचित और उपयुक्त नहीं। शास्त्रों-का प्रथम निर्माण तो एक समय इन्हीं प्रतिभासम्पन्न कवि और महात्माओंद्वारा हुआ था। इसप्रकारका आक्षेप वस्तुतः इन महात्मापर तो हो ही नहीं सकता। अब काव्य-सम्बन्धी विचारोंका पर्यालोचन करें।

शास्त्र-निपुणता

आपकी भाषा भावका अनुसरण करनेवाली, परिष्कृत और मँजी हुई, व्यर्थ प्रयोगरहित, मुहावरोंकी अधिकतासे युक्त, व्यवहारिक शब्द-सञ्चय और सरलता-के साथ-साथ जनबोधगम्य है। संस्कृतके प्रकाण्ड पण्डित होते हुए आपने महात्मा गोस्वामी तुलसीदास-जीकी भाँति भाषाहीमें भाव प्रदर्शित करना उचित समझा। यथा—

नैन न बैन न चैन न आस न
बास न स्वास न प्यास न याते।
शीत न घाम न ठौर न ठाम न
पुंस न बाम न मीत न ताते॥
रूप न रेख न सेप असेप न
स्वेत न पीत न स्याम न राते।
सुन्दर मौन गही सिध-साधक
कौन कहे उसकी मुख बातें॥

एक ही कूपते नीरहि सींचत
ईख अफीमहि अम्ब अनारा।
होत वही जल स्वाद अनेकनि
मिष्ट कटूक निखट्ट कखारा॥
त्यों हि उपाधि सँयोगते आतम
दीसत आय मिल्यो सविकारा।
काढ़ि लिये सुविवेक विचारसो
सुन्दर शुद्ध स्वरूप है न्यारा॥

पिंगल—दोहा, सवैया, कवित्त, इन्दव, इन्द्रवज्रा, दण्डक, हँसाल इत्यादि सैकड़ों प्रकारके छन्दोंका आपने

व्यवहार किया है। गतिप्रवाह तो आपकी मुख्य विशेषता है।

रस—करुणा, शान्त, वीभत्स रसोंको व्यक्त करनेके लिये भावानुकूल रसोंका ग्रहण किया है जो देखने ही योग्य है।

व्यंग—महात्माओंके साहित्यमें व्यंगात्मक रचनाओंका रहना स्वाभाविक ही है, क्योंकि उपदेश-विधिमें आलोचनात्मक शैली अधिक सफल होती आयी है। महात्माओंके व्यंग भावोंमें सुधारकी सुन्दर सामग्री वर्तमान रहती है। अनन्य भक्तिके विरोधियोंके लिये आप कहते हैं—

जो हरिको तजि आन उपासत
सो मति मन्द फ़जीहत होई।
ज्यों अपने भरतारहिं छाँड़ि
भई व्यभिचारिनि कामिनि कोई॥
सुन्दर ताहि न आदर मान
फिरै विमुखी अपनी पति खोई।
बूड़े मरै किन कूप मँझार
कहा जग जीवत है सठ सोई॥

अलंकार—अपने भावोंको सुन्दररूपसे अंकित करनेके लिये अलंकारोंका ऐसा उत्तम प्रयोग किया है जो हठात् मनको खींच लेता है। अनुप्रास, श्लेष, यमक, उपमा, रूपक, परिसंख्या, पुनरुक्ति, लोकोक्ति, भाषासमक, कारक, दीपक आदि अनेकों सुन्दर अलंकारोंका सुन्दर ढंगसे वर्णन हुआ है। वर्णन स्वाभाविक है। कुछ उदाहरण देखें—

दुनियाको दौरता है औरतको लोरता है,
वजूदको मोरता है वटोई सरायका।
मुरगीको मोसता है वकरीको रोसता है,
ग़रीवको खोंसता है, वे-मेहर गायका॥
जुलमको करता है धनीसों न डरता है,
दोजखको भरता है खज़ाना बलायका।
होयगा हिसाव तव आवैगा न ज्वाव कछू,
सुन्दर कहत गुनहगार है खुदायका॥

कर कर आयो जव खर खर नीर बाढ्यो,
भर भर दाज्यो ढोल घर घर जान्यो है।
दर दर दौरयो जाय नर नर आगे दीन,
वर वर वकत न नेक अलसान्यो है॥
सर सर सोधे धन तर तर तोरे पात,
जर जर काटत अधिक मोद मान्यो है।
फर फर फूल्यौ फिरै डर डर पैन मूढ़,
हर हर हँसत न सुन्दर सकान्यो है॥

कै यह देह जरायकै छार
किया कि किया कि किया कि किया है।
कै यह देह ज़मीमहँ खोद
दिया कि दिया कि दिया कि दिया है॥
कै यह देह रहे दिन चारि
जिया कि जिया कि जिया कि जिया है।
सुन्दर काल अचानक आय
लिया कि लिया कि लिया कि लिया है॥

जग मग पग तजि सजि भजि राम नाम,
काम क्रोध तन मन घेरि घेरि मारिये।
झूठ-मूठ हठ त्याग जाग भाग सुनि पुनि,
गुण ज्ञान आनि आन झरि वारि डारिये॥
गहि ताहि जाहि सेष ईस सोध सुर नर,
श्रौर वात हेत तात फेरि फेरि जारिये।
सुन्दर दरद खोय धोय धोय वार वार,
सार संग अंग रंग हेरि हेरि धारिये॥

भई हूँ अति वावरी विरह घेरी वावरी
चलत हैं चत्रावरी परोंगी जाय वावरी।
फिरत हूँ उतावरी लगत नहीं तावरी,
सुवारीको वतावरी चल्यो है जात दावरी॥
थके हैं दोऊ पाँवरी चढ़त नहीं पाँवरी
पियारी नहीं पाँवरी जहर घोंट खाँवरी।
दौरत नाहीं नावरी पुकारकै सुनावरी
सुन्दर कोऊ नावरी डूवत राखै नावरी॥

हटकि हटकि मन राखत जु क्षण क्षण
सटकि सटकि चहुँ श्रोर अव जात है।
लटकि लटकि ललचाय लोल वार वार
गटकि गटकि करि विषफळ खात है॥

झटकि झटकि सार सोरत महीन कर
भटकि भटकि कहुँ नेकु न अघात है।
पटकि पटकि सिर सुन्दर युगल हारि
फटकि फटकि जाय सुनो कौन बात है॥

देखत देखत देखत मारग बूझत बूझत बूझत आयो।
सूझत सूझत सूझि परी सब गावत गावत गोविंद गायो॥
सोधत सोधत सुद्ध भयो पुनि तावत तावत कंचन तायो।
जागत जागत जागि परयो जब, सुन्दर सुन्दर सुन्दर पायो॥

कूप भरे अरु बाग भरे पुनि ताल भरे बरषाऋतु तीनो।
कोठी भरे घट माट भरे घर हाट भरे सब ही भरि लीनो॥
खदक खास बखारि भरे पर पेट भरे न बड़ो दर दीनो।
सुन्दर रीतोइ रीतो रहै यह कौन खड़ो परमेसुर कीनो॥

झूठो धन झूठो धाम झूठो सुख झूठो काम
झूठो देह झूठो नाम धरिकें भुलायो है।
झूठो तात झूठी मात झूठे सुत दारा भ्रात
झूठो हित मानि मानि झूठो मन लायो है॥
झूठो लेन झूठो देन झूठो मुख बोलै बैन
झूठे झूठे करै फैन झूठहीको धायो है।
झूठो ही मेरो तेरो झूठोहीमें पचि गयो
सुन्दर कहत साँच कबहूँ न आयो है॥

भाजन आप गढ़यो जिनने भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
गावत है जिनके गुणको हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू॥
आदिहु अंतहु मध्य सदा हरि हैं हरि हैं हरि है हरिहैं जू।
सुन्दर दास सहाय सही करिहैं करिहैं करिहैं करिहैं जू॥

सुतरां, प्रत्येक पद्यमें काव्याङ्गका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। अब महात्माके उन दिव्य शिष्योंका रसास्वादन करें जिससे मायालिप्त जीव सच्चा मुमुक्षु बन जाता है। मूढ़ नर—

कूपमेंको मेढक तो कूपको सराहत है
राजहंससों कहत केतो तेरो सर है।
मसका कहत मेरी सरवर कौन उड़ै
मेरे आगे गरुड़ कि केती एक जर है॥
गुबरीला गोलीको सुदायकरि माने मोद
मधुपको निन्दत सुगन्ध जाको घर है।
आपनी न जानै गति सतनकी नाम धरै
सुन्दर कहत देखो ऐसो मूढ़ नर है॥

शुद्ध सच्चिदानन्दघन—

कामी है न यती है न सूम है न सती है
न राजा है न रंक है न तन है न मन है।
सोवै है न जागै है न पीछे है न आगे है
न गृही है न त्यागी है न घर है न वन है॥
थिर है न डोलै है न मौन है न बोलै है
न बँधे है न खुले है न स्वामी है न जन है।
ऐसो कोउ होवै जब वाकी गति जाने तब
सुन्दर कहत ज्ञानी ज्ञान शुद्ध घन है॥

सत्सङ्गकी दुर्लभता—

तात मिलै गज बाज मिलै सुत भ्रात मिलै युवती सुखदाई।
राज मिलै गज बाज मिलै सब साज मिलै मन वाञ्छित पाई॥
यह लोक मिलै सुरलोक मिलै त्रिभिलोक मिलै वैकुण्ठहु जाई।
सुन्दर और मिलै सबही सुख सन्तसमागम दुलभ भाई॥

आशा—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगायकै देह सवाँरी।
मेघ सहे सिर सीत सहे तनु धूपसमै जु पँचागिनि बारी॥
भूख सहे रहि रूख तरे पर सुन्दरदास सहे दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मारयो पै आस न मारी॥

विविध—

हंस स्वेत बक स्वेत देखिये समान दोऊ
हंस मोती चुगे बक मछलीको खात है।
पिक अरु काक दोऊ कैसे करि जाने जायँ
पिक अम्बडार काक करकही जात है॥
सैंधो अरु फटिक पषान सम देखियत
यह तो कठोर यह जलमें समात है।
सुन्दर कहत ज्ञानी बाहर भीतर सुद्ध
काको पटतर और बातनकी बात है॥

है दिलमें दिलदार सही अँखिया उलटी करि ताहि चितैये।
आबमें खाकमें बादमें आतश जानमें सुन्दर जानि जनैये॥
नूरमें नूर है तेजमें तेज है ज्योतिमें ज्योति मिलै मिलि जैये।
क्या कहिये कहते न बनै कछु जो कहिये कहते ही लजैये॥

पाप न पुन्य न थूल न सून्य न बोल न मौन न सोवै न जागै।
एक न दोय न पुरुष न जोय कहै कह कोय जो पीछे न आगै॥
वृद्ध न बाल न कर्म न काल न हर्ष विलास न सूझै न भागै।
बन्ध न मोक्ष अपोक्ष न प्रोक्ष न सुन्दर है न असुन्दर लागै॥

जैसे हंस नीरको तजत है असारि जानि,
सार जानि क्षीरको निराको करि पीजिये।

जैसे दधि मथत-मथत काढ़ि लेत घृत,
और रहि-पहि सब छाँछ छाँड़ि दीजिये ॥
जैसे मधु-मक्षिका सुवासको भ्रमर लेत,
तैसे ही विवेक करि भिन्न-भिन्न कीजिये ।
सुन्दर कहत ताते वचन अनेक भाँति,
वचनमें वचन विवेक कर लीजिये ॥

मंजनसो जो मनोमलमंजन सज्जन सो जो कहे गति गूझे ।
गंजन सो जो इन्द्री गहि गंजन रंजन सो जो बुझाव अबूझे ॥
भंजन सो जो भरयो रसमाहीं विद्वज्जन सो कितहूँ न अरूझे ।
व्यंजन सो जो बढ़े रुचि सुन्दर अंजन सो जो निरंजन सूझे ॥

कबहुँक साधु होत कबहुँक चोर होत,
कबहुँक राजा होत कबहुँक रंक सो ।
कबहुँक दीन होत कबहुँ अमानी होत,
कबहुँक सीधो होत कबहुँक बंक सो ॥
कबहुँक कामी होत कबहुँक यती होत,
कबहुँ निर्मल होत कबहुँक पंक सो ।
मनको स्वरूप ऐसो सुन्दर फटीक जैसो,
कबहुँक सूर होत कबहुँ मयंक सो ॥

जप तप करत धरत व्रत जत सत
मन वच क्रम भ्रम कष्ट सहत तन ।
वल कल बसन असन फल पत्र जल
कसत रसन रस तजत बसत वन ॥
जरत मरत नर गरत परत सर
कहत लहत हय गज दल बन धन ।
पचत-पचत भव भय न टरत सठ
घट-घट प्रकट रहत न लखत जन ॥

महात्मा सूर, कबीरकी भाँति इन्होंने भी कुछ दृष्टिकूटक पद कहे हैं । महात्माओंके विचारोंका संकेत इन पदोंमें विशेषरूपसे विद्यमान रहता है, किन्तु इनका समझना साधारण बुद्धिवालोंका काम नहीं ।

मछली बगुलाको गहि खायो मूसे खायो कारो साँप ।
सूये पकरि बिलाई खाई ताके मूये गयो संताप ॥
बेटी अपनी मैया खाई बेटे अपनो खायो बाप ।
सुन्दर कहै सुनो जी सन्तो तिनको कोउ न लाग्यो पाप ॥

अस्तु । महात्मा सुन्दरदासजी उच्च कोटिके सन्तोंमेंसे हैं । इनके प्रत्येक उपदेशमें वह आकर्षण विद्यमान है जिसका प्रभाव सीधे हृदयपर होता है । अशान्त और पापलिप्त प्राणियोंके लिये तो सन्तोंका साहित्य ही आधार है । लेखनीमें शक्ति कहाँ जो इनके अनुभवपूर्ण विचारोंको व्यक्त करे ।

फूल !

एक दिन जाके जाएँ सारो देस फूलि उठयौ,
फूले राज-बंसी थाह फूलको लहै नहीं ।
एक दिन फूल धारे, फूलनकी सेज सोए,
फूलसम गात भार फूलको सहै नहीं ॥
एक दिन मीठी मुसुकानतें झरत फूल,
फूलनके झूलन घरीक निवहै नहीं ।
जाके नेक ताकें मुरझाए फूल फूलि जाते,
एक दिन वाके अहो ! फूल हू रहै नहीं ॥

—अमृतलाल माथुर

विचित्र चित्रकार

भाल है विशाल नभ विशद प्रभाका पुंज,
इन्द्रचाप भ्रू है छवि अकथ अपार है ।
लोचन हैं सुन्दर दिवाकर निशाकर दो,
शुभ्र नभगंगा मोतियोंका मंजु हार है ॥
मेदिनी है कटि, मेखला है नीरनिधि, पद
पावन पताल विश्व-भारका अधार है ।
अपने ही रंगमें रँगे है अपनेको वह,
अपने ही चित्रका विचित्र चित्रकार है ॥

—दिवाकरसिंह नईगढ़ी (रीवाँ)

वाल्मीकि-रामायण और भगवच्छरणागति

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

(गतांकसे आगे)



आगे है *'न त्यजेयं त्यक्तुं न शक्नोमि'* अर्थात् 'शरणागतभावसे आये हुए आश्रयार्थीको त्याग करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है।' इस अचेतन ब्रह्माण्डमें चिच्छक्तिको डालनेवाले, यावन्मात्र शक्तियोंके एकमात्र आश्रय भगवान् आज्ञा कर रहे हैं कि यदि इस विश्वमें कोई सर्वशक्ति है तो वह मैं हूँ। मेरी विभूति और शक्तियोंका अन्त नहीं। गीतामें आप कहते हैं—*'नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप'* 'हे अर्जुन! मेरी अलौकिक विभूतियोंका अन्त नहीं है।' भगवान्‌ने उपदेशद्वारा अर्जुनके हृदयमें अपना माहात्म्य पूर्णतया स्थिर कर दिया था, परन्तु सन्देहकी कुछ हलकी-सी रेखा अर्जुनके अन्तःकरणमें बराबर चली आ रही थी। इसको अन्तर्यामी भगवान् जान गये। अर्जुनके ऊपर अनुग्रह करके आपने अपना वह विश्वरूप दर्शन कराया। जिस समय भगवदनुग्रहसे दिव्य नेत्र पाकर अर्जुनने भगवान्‌का वह दिव्य दर्शन किया उस समय अर्जुनके होश ठिकाने आ गये, नहीं, नहीं, अर्जुनके होश जाते रहे। वह भगवान्‌के उस रूपसे घबरा उठा। कहने लगा—*'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'* 'अदृष्टपूर्व इस रूपको देखकर यद्यपि हृष्ट हूँ, परन्तु *'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'* 'भयके मारे मेरा मन घबरा उठा है।' *'तदेव मे दर्शय देव रूपम्'* 'हे भगवन्! मुझे तो पहलेवाला वही अपना प्यारा रूप दिखाइये।' अर्जुन भगवान्‌के सौम्यरूपदर्शनसे जिस समय स्वस्थ हुआ उस समय उसका सन्देहतिमिर हृदयके कोने-कोनेसे हट चुका था। वह भगवान्‌की महिमाको जानकर गद्गद हो उठा। कहने लगा—*'अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः'* 'आपका सामर्थ्य और पराक्रम अनन्त है। आप सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त किये हैं, आप तो सर्वात्मक हैं।' वही अनन्तवीर्य, अमितपराक्रम भगवान् आज्ञा कर रहे हैं कि 'जिस समय मैं शरणागतके मुखसे 'शरण' शब्द सुन लेता हूँ फिर उसे त्याग करनेकी मुझमें शक्ति नहीं रहती। मैं सर्वशक्ति हूँ परन्तु उस समय मेरी सब शक्तियाँ जवाब दे देती हैं।' इसी तात्पर्यसे, शक्त्यर्थको द्योतन करनेवाले (शकि लिङ् च) इस लिङ् लकारको प्रयोग करते हुए आप कहते हैं *'न त्यजेयम्'* 'त्याग करनेमें मेरी शक्ति नहीं है।'

भगवान् दयामय हैं। जिस समय पृथिवीपर पापका प्राबल्य हो उठता है, धर्मकी मर्यादाओंका एकान्ततः संहार होने लगता है, धार्मिकोंपर, भगवद्भक्तोंपर अत्याचारकी पराकाष्ठा हो उठती है उस समय भगवान्‌से नहीं रहा जाता। अत्याचारपीडित धार्मिक हृदयोंकी आह, भगवद्भक्तोंकी वह करुण पुकार भगवान्‌को वैकुण्ठसे बुला लेती है। आप पृथिवीपर अवतार लेते हैं। आप अवतार लेकर धर्मकी मर्यादाओंका फिरसे स्थापन करते हैं। भक्तोंको आश्रय देते हैं। आपकी स्वाभाविक इच्छा रहती है कि लोग पापोंसे मुँह मोड़कर मेरी ओर अभिमुख हों। जिस समय देशमें किसी विशेष शिक्षाका प्रचार करना होता है उस समय उस शिक्षाके प्रचारक लोग स्थान-स्थानपर उस शिक्षाके लिये विद्यालय स्थापन करते हैं। पढ़नेवाले बालकोंको खूब उत्साह देते हैं। घर-घरमें जाकर

वे लोग उस शिक्षाका महत्त्व समझाते हैं। बालकोंको इनाम आदिका प्रलोभन देकर स्कूलोंमें लाते हैं, धनव्यय करके ऐसे नौकर रखते हैं जो घर जाकर बालकोंको शिक्षालयमें ले आते हैं, स्कूलका समय समाप्त होनेपर घर पहुँचा जाते हैं। ऐसे-ऐसे उद्योगोंसे उन शिक्षा-प्रचारकोंका काम जब चल निकलता है, लोग पढ़नेके लिये जब स्कूलोंमें आने लगते हैं, तब उनके हर्षकी सीमा नहीं रहती। वह अपनी सफलतापर प्रसन्न होते हैं।

खेतिहर काँटोंसे भरे झाड़-झंकाड़ोंको काटकर ज़मीन साफ़ करता है। कंकर-पत्थरोंको हटाकर, मिट्टीके बड़े-बड़े ढेलोंको काठकी सहायतासे फोड़कर खेतकी ज़मीनको खेतीके लायक बनाता है। मिट्टीको गीली करके बीज बोता है। बड़े परिश्रमसे उसे सींचता है। रात-रातभर जगकर उसकी रखवाली करता है। जिस समय उसमें धानकी बालें आने लगती हैं, कहिये उसको कितना आनन्द होता होगा? वह अपने परिश्रमको सफल समझकर भाविनी आशाओंकी लहरमें मस्त होकर झूमने लगता है। कविने क्या अच्छा कहा है—

क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन पङ्कमलिनेन।
पुत्रेणेव हि शालिक्षेत्रेणानन्द्यते हलिकः॥

'घोंटुओंसे चलते हुए, धूलिमलिन, दुग्धपोष्य अपने पुत्रको देखकर जिस तरह प्रसन्न होता है, इसी तरह बालें (रहँगी) निकलना जिसमें आरम्भ हुआ है, धान तैयार होनेका जल जिसमें दिया जा रहा है, कीचड़से मलिन ऐसे अपने खेतको देखकर वह सुखी होता है।'

भगवान् भी जिस समय अपने भक्तोंको देखते हैं, अपने पास आनेवाले शरणार्थियोंको सामने पाते हैं, परिश्रमशाली उसी खेतिहरकी भाँति प्रसन्न हो उठते हैं—*'शरणागतसस्यमालिनीयं वृषशैलेशकृषीवलं धिनोति'* 'शरणागतरूपी सस्योंसे भरी हुई यह धर्मक्षेत्र भूमि श्रीवेंकटेशरूपी कृषीवलको प्रसन्न कर देती है।' धर्मसंस्थापन करनेवाले भगवान् धर्मकी छत्रच्छायामें प्राणिमात्रको अभयदान देनेका दरवाजा खोले बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि कोई भी मेरे अभिमुख हो जाय, मैं उसकी रक्षा करनेको तैयार हूँ। जब भगवान्‌को शरणागतोंपर इतना ममत्व है तब कहिये जो बड़ी लालसासे बड़े दीनभावसे भगवान्‌की रक्षकतापर दृढ़ विश्वास करके बड़ी दूरसे दौड़ा चला आ रहा है, उसका त्याग वे कैसे कर सकते हैं? इसी अपनी शरणागत-वत्सलताको ध्वनित करते हुए आप कहते हैं *'सम्प्राप्तं न त्यजेयम्।'*

भगवान्‌को अपने भक्तोंपर, अपने शरणागतोंपर यहाँतक पक्षपात है कि उनके सम्बन्धके कारण उनके सम्बन्धियोंतकको आप प्रिय समझते हैं। अपने भक्तके सम्बन्धी चाहे जैसे दोषी हों, चाहे जैसे अपराधी हों और तो क्या स्वयं भगवान्‌के साथ ही परम वैर रखते हों परन्तु भगवान् जिस समय उन्हें देखते हैं उनपर भी आपको पक्षपात हो जाता है। उनको भी आप ममताकी दृष्टिसे देखते हैं। आप सोचते हैं यह मेरे भक्तका सम्बन्धी है। उन सम्बन्धियोंको देखकर आपको अपना वह भक्त याद आता है। आप उस समय स्नेहसे गद्गद् हो उठते हैं। उन सम्बन्धियोंके अपराधोंपर आपकी दृष्टि नहीं जाती। आपकी दृष्टि जाती है अपने भक्तकी तरफ़। 'यह मेरे भक्तका है' बस, इतनेसे सम्बन्धमात्रसे वह भगवान्‌का अनुग्रहपात्र हो जाता है। प्रेम रखनेवाले प्रेमियोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह अपने प्रेमीके सम्बन्धमात्रसे असार वस्तुपर भी लट्टू हो पड़ते हैं। दूती नायकको उपालम्भ देती है—

बालक भयता दत्तां कर्णे कृत्वा तु बदरसङ्घाटीम्।
लज्जालुरपि वधूः सा प्रतियाता ग्रामरथ्यया भवनम्॥

'जो बेरका गुच्छा (एक डाँडमें दो बेर) तुमने अपने हाथसे दिया था उसे कानमें पहनकर वह लजीली बहू गाँवके प्रधान रास्तेसे होकर घर गयी।'

बदरफल कोई रत्न नहीं, परन्तु वह 'तुम्हारा दिया हुआ है' बस, इस बहुमानके कारण आभूषणकी तरह कानमें पहनकर उसे इतना हर्ष हुआ, अपनेमें इतना बहुमान हुआ कि गर्वके कारण वह उस रास्तेसे चली जिससे गाँवके सब लोग आते-जाते हैं। उसको इतना हर्ष था कि 'आज मैं सबसे बड़ी भाग्यवती और सुन्दरी हूँ। सब लोग मेरे सौभाग्यको देखें' इस कारण सब लोगोंको दिखानेकी नीयतसे चक्कर खाकर भी गाँवके बीच रास्तेसे जा रही है। वह भी कौन? *'लज्जालुः'* और समय इतनी लजीली है कि जिससे किसीके सामने निकलातक नहीं जाता। परन्तु आज हर्षके कारण इतनी विह्वल हो रही है कि गाँवभरमें अपने सौभाग्यकी डौंडी पीटनेके लिये बीच गाँवसे मस्त हुई चली जा रही है। किसलिये कि *'भवता दत्ताम्'* 'वह बेरका गुच्छा तुम्हारा दिया हुआ है।'

महाकवि कालिदासका चित्रित किया हुआ यक्ष उत्तर-दिशासे आये हुए पवनोंको बड़े आदर और प्यारसे आलिङ्गन करता है कि *'एभिः स्पृष्टमङ्गं तवेति'* 'इन वायुओंने प्रेमपात्रके अङ्गका स्पर्श किया है।'

कुत्ता समय-वैभवसे आज कदाचित् गद्दे और पलंगोंपर सभ्योंके साथ सोनेका सौभाग्य पा गया हो, परन्तु सदासे तिरस्कार्य कहा गया है। हम किसीको क्रोधमें फटकारते हैं कि *'न त्वां शुने मन्ये'* 'मैं तुम्हारी कुत्ते-बराबर भी दर नहीं मानता।' परन्तु वही कुत्ता लैलाका है यह मालूम होते ही मजनू उसे किस दृष्टिसे देखता है, यह वही जानता है। छातीसे लगाकर अपने सन्तप्त हृदयका प्रेम और आदर प्रकाश करता है। इसी भाँति भगवान् भी अपने भक्तके कारण उसके सम्बन्धियोंतकका मुलाहिजा करते हैं। हिरण्यकशिपुका भगवान्में वह विद्वेष था जिसकी सीमा नहीं। भगवान्का स्मरणमात्र करनेके अपराधमें अपने एकमात्र औरस पुत्रपर यहाँतक अप्रसन्न था कि उसको स्वयं अपने हाथसे मारनेको तैयार हो गया, इससे ज्यादा और क्या होगा? भगवान् प्रह्लादकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर कहते हैं—*'वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्'* 'हे प्रह्लाद! अपना अभिमत वर माँगो, मैं मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ' किन्तु निष्काम भक्त प्रह्लाद कहते हैं—*'मा मां प्रलोभयोत्पत्त्या सक्तं कामेषु तैर्वरैः'* 'हे भगवन्! मैं तो उत्पत्तिसे ही कामोंमें स्वयं आसक्त हूँ, मुझे फिर वरोंके द्वारा क्यों प्रलोभन करते हैं।' इससे यह न समझा जाय कि प्रह्लाद दरअसल कामनाओंमें आसक्त थे। नहीं नहीं, उनके बराबर कोई 'एकान्ती' नहीं। वह भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! मैं माँगूँ तो क्या माँगूँ? मनुष्यके आशास्य (प्रार्थनीय) आयु, धन, वैभव आदि क्या स्थिर हैं? जो इनके लिये त्रिलोकपति आपके आगे मुँह खोलूँ। हे अखिलेश! मैंने मनुष्य तो क्या, देवताओंतककी दशा देख ली है। देवता भी कैसे, जो लोकपाल कहलाते हैं। कोई पुरानी बात थोड़े ही है, अभीकी बात कह रहा हूँ। मेरे पिताके दरबारमें खड़े देवता थर-थर काँपा करते थे। रात्रिंदिन उसीकी उपासना होना आरम्भ हो गया था। प्रातःकाल पूर्वदिशाकी तरफ मुख करके सन्ध्या, प्रणाम आदि किये जाते हैं और सायं पश्चिमकी तरफ, किन्तु जिस समय मेरे पिताका सौभाग्यसूर्य चमक रहा था उस समय तीनों सन्ध्याओंके समय उसी दिशाको देवतातक भी प्रणाम करते थे जिसमें वह चला जाता था—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां
यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियाम्।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खल-
त्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः॥

जिस समय कोपसे उसकी भ्रुकुटि जरा बाँकी हो जाती, इतनेमात्रमें वह अपनी आयुकी समाप्ति समझ लेते थे और प्रसन्नतासे जरा भी उसकी भ्रुकुटि नाच उठती तो वह अपना सुदिन समझते थे। देवताओंके आयु, धन, वैभव आदि भ्रुकुटिके काँटेपर चढ़े हुए थे जो जरासे फर्कसे इधर-के-उधर हो जाते थे। प्रह्लाद कहते हैं—

दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुः श्रियो विभव इच्छति याञ्जनोऽयम्।
येऽस्मत्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रू-
विस्फूर्जितेन लुलिताः स तु ते निरस्तः॥

'हे प्रभो! मैंने दिव्यलोकोंमें सम्पूर्ण लोकपालोंके आयु, धन तथा अन्यान्य वैभव आदि देख लिये हैं जिन आयु आदिको मनुष्य चाहा करता है। ये देवताओंके आयु आदि, कोप और हास्यसे विजृम्भित मेरे पिताके भ्रुकुटिविलाससे इधर-के-उधर हो जाते थे। वह अद्भुत प्रतापी पिता भी आपके आगे निरस्त हो गया।'

यदि आप मुझे मेरा अभीष्ट वर देते ही हैं तो— '*कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्*' 'मेरे हृदयमें कामनाओंकी उत्पत्ति ही न हो, यही आपसे मैं वर माँगता हूँ।' भगवान् प्रसन्न होकर कहते हैं—'मैं जानता हूँ तुम्हारे सदृश एकान्तभक्त कामनाओंको कभी हृदयमें स्थान नहीं देते।' तो भी, प्रह्लादके नहीं चाहनेपर भी भगवान् उन्हें एक मन्वन्तरपर्यन्त दैत्येश्वरोंका साम्राज्य देते हैं। प्रह्लाद कहते हैं 'भगवन्! आपके प्रभावको नहीं जाननेवाले मेरे पिताने बड़ा अपराध किया है, जो आपकी निन्दा की। मैं याचना करता हूँ कि उसकी इस पातकसे निवृत्ति हो जाय।' भगवान् आज्ञा करते हैं—'तुम्हारे कारण केवल तुम्हारे पिता ही नहीं, इक्कीस पुरखा पवित्र हो गये।'

त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।
यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः॥

'तुम्हारा पिता इक्कीस पूर्व-पुरुषोंके साथ पवित्र हो गया, जो तुम-सरीखा कुलको पवित्र करनेवाला साधु पुत्र उसके घरमें उत्पन्न हुआ।' अपने भक्तके सम्बन्धके कारण भगवान्‌का अनुग्रह देखिये, जो उस विद्वेषीपर ही नहीं, इक्कीस पीढ़ीतकपर आपकी कृपा हो गयी।

कदाचित् इस दृष्टान्तपर लोगोंको यह कहनेका अवकाश मिल जाय कि इसमें कृपाका इतना अहसान नहीं। भक्त प्रह्लादके पुण्यसे अपने आप उनका उद्धार हो गया। परन्तु घण्टाकर्ण तो भगवान्‌का स्पष्ट विद्वेषी था। उनका नामतक सुनना नहीं चाहता था। कहीं नाम कानमें न पड़ जाय, इसलिये कानमें घण्टे लटकाये रखता था कि उनकी आवाजसे नाम सुनायी ही न दे। परन्तु विद्वेषके कारण ही यह अहर्निश भगवान्‌का हृदयमें ध्यान रखता था। भगवान् इस एकान्ततासे प्रसन्न हो गये। उसपर प्रसन्न हुए सो तो हुए, उसके पक्षपातसे उसके छोटे भाईतकका उद्धार कर दिया।

कंसको मारनेके लिये भगवान् जिस समय मथुरापुरी पधारे उस समय सुदामा मालीने पुष्पके हारोंसे भगवान्‌की सेवा की। अपनी योग्यतानुसार आपका अर्चन किया। आप उसपर प्रसन्न हो गये। उसके सम्बन्धके कारण उसके वंशभरको आयु, लक्ष्मी आदिका वर दे दिया। यह एक ही क्या, अनेक ऐसे दृष्टान्त

हैं, जिनमें अपने भक्तके पक्षपातसे भगवान्‌ने उसके सम्बन्धियोंतकपर कृपा की है। भगवान् कहते हैं कि जब मुझे भक्तके साथ यहाँतक प्रीति है कि उसके सम्बन्धीतकका त्याग नहीं करता, तब क्या शरण आये हुए साक्षात् विभीषणको ही मैं छोड़ दूँगा ? मैं तो विभीषणके सम्बन्धके कारण रावणतकको क्षमा करनेके लिये तैयार हूँ। वह भी यदि मेरे आश्रयमें आये तो मैं उसके कोई अपराध न देखूँ। उसको प्रिय बना लूँ। आगे चलकर आपने स्पष्ट ही श्रीमुखसे कहा है कि—

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

'हे सुग्रीव! इसे मेरे पास ले आओ। मैंने इसको अभय दे दिया। चाहे यह विभीषण हो अथवा स्वयं रावण ही क्यों न हो।' जब मैं रावणतकको स्वीकार करनेको तैयार हूँ तो क्या शरणागत साक्षात् विभीषण मुझसे छोड़ा जायगा ? नहीं-नहीं, यह मेरी शक्तिसे बाहर है। इसी विचारसे आप कह रहे हैं '*न त्यजेयम्*' 'मैं नहीं छोड़ सकता।'

अथवा—'*न त्यजेयम्*' यहाँ सम्भावनामें 'लिङ्' है।

'सकृत्प्राप्तस्य विभीषणस्य त्यागसम्भावनापि नास्ति'

भगवान् कहते हैं कि शरणमें आये हुए विभीषणके त्यागकी मैं तो सम्भावनामात्र भी नहीं कर सकता। भगवान्‌के पास आनेमात्रसे जो श्लाघनीय हो उठता है, भला, उसके त्यागकी सम्भावना की जा सकती है ? आप तो अपने अभिमुख आनेमात्रकी प्रतीक्षा किया करते हैं। आगे स्पष्ट ही अपने श्रीमुखसे आपने कहा है कि '*सकृदेव प्रपन्नाय*' 'जो एक बार भी मेरी तरफ़ आ मात्र जाता है (उसे मैं अभय दे देता हूँ)। तो जिसका आना भी जब बड़ा अभिनन्दनीय माना जाता है, तब उसके त्यागकी सम्भावना कहाँसे हो सकती है ? श्रीरामचन्द्र आज्ञा करते हैं कि जिस बातके होनेकी सम्भावना ही नहीं, तब उसके साधनका उद्योग भी नहीं किया जाता। सुमेरुका उठा लेना सम्भव नहीं, अतएव उसके उखाड़ लेनेका शेखचिल्लीपन भी कोई नहीं करता। भगवान् कहते हैं कि शरणागतके त्याग करनेपर मेरी सत्ता बनी रहे तो मैं उस त्यागके साधनोंका उद्योग करता, परन्तु त्याग करनेपर मेरी सत्ताकी ही सम्भावना नहीं। आप कहते हैं '*अप्यहं जीवितं जह्याम्*' 'मैं अपने जीवनको छोड़ सकता हूँ परन्तु मेरी शरणमें आये हुए भक्तको नहीं छोड़ सकता।' जब यह दशा है कि त्याग करनेपर स्वयंकी सत्ता ही नहीं रहती फिर उसके लिये उद्योग कैसे हो सकता है ? इसी आशयसे *भगवान् कह रहे हैं कि* '*न त्यजेयम्*' '*मुझसे त्याग* करना सम्भव ही नहीं।'

सुग्रीव कह सकते हैं कि विभीषणके स्वीकार किये बिना आपकी सत्ता नहीं रहती तो इसके स्वीकार करनेपर हमारी भी सत्ता नहीं रहती। यदि हमलोगोंकी अनुमतिके बिना आपने इसे अङ्गीकार कर लिया तो, अच्छी बात है, कर लीजिये, आपकी इच्छा है। किन्तु फिर हम साथ नहीं दे सकते। हमलोग आपकी सहायताके लिये आये हैं। लङ्काका विजय करके आपके कार्यकी सिद्धि करें, यह हमारा प्रयोजन है। यदि वैरीके कपटाचार पुरुषोंको आप अपनेमें मिला लेंगे तो सिद्धि कैसी, हमलोगोंकी ही खैर नहीं। इसलिये इसके स्वीकार कर लेनेपर हमारी स्थिति नहीं। *अब यदि हमारा परित्याग ही आपको* अभीष्ट है तो दूसरी बात है। परन्तु आपके अनुग्रहको देखते हुए तो यह प्रतीत होता है कि आप हमारा त्याग नहीं करेंगे। जब हमारा त्याग करना आप नहीं चाहते तो यह जरूरी बात है कि इसका त्याग करना पड़ेगा। क्योंकि इसके स्वीकार करनेपर

न नहीं रह सकते। अतएव इसका त्याग करना समयप्राप्त मालूम होता है। इसपर भगवान् आगे हते हैं कि—'*कथञ्चन*' '*अहं कथञ्चन न त्यजेयम्*' मैं कैसे भी इसको नहीं छोड़ सकता।' 'चाहे जैसा त्याहित हो, चाहे जैसी मेरी हानि हो, मैं शरणागतको नहीं छोड़ सकता।'

भगवान् श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम हैं। आपने अवतार लेकर धार्मिक मर्यादाओंकी मर्यादा रक्खी है। आपके चरित्रोंके आदर्शपर आज भी संसारके पुरुष अपने जीवनके आदर्शोंको स्थिर कर रहे हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रके सेतु-बन्धनादि अलौकिक चरित्रोंकी बात छोड़ दीजिये किन्तु आपके जो-जो व्यावहारिक चरित्र हुए हैं उन सबको ही प्रमाण मानकर संसारका जनसमाज आजतक अनुकरण करता चला आ रहा है। केवल भारतके ही श्रद्धालु नहीं, अन्यान्य सभ्य देशोंके भी चरित्रसमालोचक लोग श्रीरामचरित्रका आदर्श बड़ा ऊँचा मान चुके हैं। उनके चरित्रकी एक-एक घटनापर सभ्यसमाजने पेटभरके आलोचना कर ली है। प्रबल परीक्षाओंके बाद यह स्थिर हो रहा है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र मर्यादापुरुषोत्तम हैं और उनके चरित्रोंका आदर्श बड़ा ऊँचा है। 'भगवान् श्रीरामचन्द्र साक्षात् त्रैलोक्यनाथ थे। रावणादि दुष्टोंके संहारके लिये भूमिमें अवतार लेकर पधारे थे। दुष्टोंका दमन, शिष्टोंका सान्त्वन—यही आपका प्रधान उद्देश्य था और बाकीके मानवचरित्र तो आपने अपने उद्देश्यके सौष्ठवसे निर्वाहके लिये अभिनय किये थे।' इस अभिप्रायको रखनेवाले श्रद्धालुओंकी तो बात ही दूसरी है, परन्तु जो लोग मानवचरित्रके आदर्शको खोजनेकी नीयतसे रामकथापर दृष्टि डालते हैं वे भी श्रीरामके असाधारण त्यागको देखकर दङ्ग हो उठते हैं।

श्रीरामचन्द्रके गुणगणोंसे मुग्ध हुए महाराज दशरथ ही क्या सम्पूर्ण साकेतप्रान्त ही यह चाह रहा था कि श्रीरामचन्द्र अयोध्याके युवराज बना दिये जायँ। बड़ी उत्कट अभिलाषाओंके बाद जब श्रीरामचन्द्रके यौवराज्याभिषेकका शुभ दिन स्थिर हुआ तब राजा और प्रजाके सुखकी सीमा न रही। अयोध्यामें आनन्दका सागर उमड़ पड़ा। किन्तु इस आनन्दसागरसे नित्य नये जैसे उत्सवरत्न निकल रहे थे वैसे ही उसमेंसे अचानक हालाहल विषका भी प्रादुर्भाव हुआ। दैवप्रेरित कैकेयीके क्रूरतापाशमें महाराज दशरथ बाँध लिये गये। कैकेयीने सत्यप्रतिज्ञ राजाको विवश कर लिया कि आज ही रामचन्द्रको वनवासकी आज्ञा दी जाय और इस अभिषेकके मङ्गल-सामानसे भरतको यौवराज्य हो। वृद्धावस्थामें बड़े यत्नोंसे राजाको पुत्र-मुख-दर्शनका सुख मिला था। श्रीराम-सरीखे ज्येष्ठ पुत्र मिले थे। बड़ी साधनाओंके बाद आज यह सुखसमय आया था कि उन्हें युवराज-पदवी दी जाय। अनुनय-विनय करके, पैरों पड़कर राजाने कैकेयीको बहुत मनाया—

अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान्।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया॥

'अपुत्र मैने बड़े श्रमसे राम-सरीखा पुत्र पाया है। उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ?' किन्तु मूर्तिमान् होनहार बनी हुई कैकेयी भला कैसे मानती? राजा विह्वल होकर शय्यापर गिर पड़े।

इधर मङ्गलमय प्रातःकाल ही अयोध्याका राजदरबार सजाया जा चुका था। सामन्तगण और दरबारी लोग भेंट लिये राजमहलमें बैठे प्रतीक्षा कर रहे थे कि महाराज दरबारमें पधारें तो अभिषेक हो, महाराज और युवराजकी नजरें की जायँ। इक्ष्वाकुवंशके कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ अभिषेकके लिये जैसे ही ड्योढीमें पधारे, सुमन्त दौड़कर अन्तःपुरमें महाराज-

को खबर करनेके लिये गये । किन्तु वहाँ दृश्य दूसरा ही देखा । राजा शय्यापर पड़े थे । कैकेयीने कहा कि—'अभिषेककी खुशीके कारण महाराजको रात्रिमें नींद नहीं आयी थी । इस समय कुछ आँख लगी है । महाराजने रामचन्द्रको यहाँ बुलाया है । जल्दीसे भेज दो ।'

सुमन्त्रको आश्चर्य तो हुआ परन्तु यह समझकर कि अभिषेकके सम्बन्धमें ही महाराज श्रीरामको देखना चाहते हैं । वह जल्दीसे श्रीरामको उनके महलसे बुला लाये । श्रीरामचन्द्र वहाँका दृश्य देखकर घबरा उठे । हृदयमें सोचने लगे—

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥

'जो पितृचरण और दिन कुपित होते तो भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, किन्तु उन्हींके मनमें आज मुझे देखते ही क्लेश क्यों हो रहा है !' माता कैकेयीको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रने कहा कि—

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद्येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय ॥

'अज्ञानके कारण आज मुझसे कुछ अपराध तो नहीं हो गया है जिससे पिताजी कुपित हो गये हैं । आप ही मेरा अपराध क्षमा कराकर प्रसन्न कर दीजिये ।' दैवमुखी कैकेयीने कहा—

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते ।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥

'यदि तुम्हारे विषयमें राजाकी आज्ञा अन्यथा न हो, झूठी न जाय, तो मैं कह दूँगी । महाराज तुमसे कुछ न कह सकेंगे ।' पिताके सम्मुख ही ऐसे वचन सुनकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ । आप बोले—

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् ।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

'हे देवि ! यदि मेरे विषयमें आज्ञोल्लङ्घनका सन्देह किया जा सकता है तो मुझको धिक्कार है । किन्तु आप मुझको ऐसे वचन न कहें । मैं महाराजकी आज्ञासे अग्निमें कूद सकता हूँ, हालाहल विष पी सकता हूँ, समुद्रमें गिर सकता हूँ । महाराज गुरु हैं, पिता हैं, राजा हैं, मेरे हितचिन्तक हैं । प्रत्येक कारणसे मैं उनकी आज्ञा-पालनके लिये बाध्य हूँ । आप निःशङ्क होकर महाराजका अभीष्ट कहिये । मैं उसको करूँगा, प्रतिज्ञा करता हूँ । यह राम कहकर कभी न हटेगा ।'

कैकेयीने विष उगल ही दिया । किन्तु महापुरुष रामके चेहरेपर रेखामात्र अन्तर न पड़ा । महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य किञ्चिदाकारमानने ॥

'जो परिजन रात-दिन पास रहनेवाला था, क्षण-क्षणके भावोंका जिसे परिचय था, उसने भी सत्यवादी श्रीमान् रामचन्द्रके मुखपर कोई विभिन्न आकार न देखा ।' आपने कहा—

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥
अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥

'एक बातसे दुःख होता है कि स्वयं महाराजने भरतके राज्याभिषेककी मुझे क्यों न आज्ञा दी ! मैं सीताको, राज्यको, प्राणिमात्रके लिये अभीष्ट ऐसे प्राणोंको, धनोंको भ्राता भरतके लिये आपकी आज्ञा-

से ही प्रसन्न होकर दे सकता हूँ, फिर भला महाराजकी आज्ञासे नहीं दे देता ?'

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥

'हे देवि ! मैं राज्यलोलुप होकर इस लोकमें नहीं रहना चाहता । मुझे त्यागके विषयमें ऋषियोंके समान समझ लें । मुझे निष्कपट धर्मपर हृदयसे आस्था है ।'

न ह्यतो धर्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥

'इससे बढ़कर कोई धर्माचरण नहीं कि पिताकी शुश्रूषा और उनकी आज्ञा-पालन की जाय ।'

यदि श्रीरामचन्द्र चाहते तो कई रास्ते थे कि वह अयोध्याके युवराज बन जाते और वन नहीं जाते । यह न समझिये कि धृष्ट होकर अयोध्यामें रह जाते । नहीं-नहीं, नीतिके अनुसार । कोई यह नहीं कह सकता था कि श्रीरामने अनुचित किया । जिस समय लक्ष्मणको श्रीरामके वनवासका वृत्तान्त मालूम हुआ, वह एकदम क्रुद्ध हो उठे । वह महारानी कौशल्यासे बोले—

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः ।
पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तमनुस्मरन् ॥

'मालूम होता है राजाको फिरसे बालकपन आ गया है । ऐसा कौन राजनीतिज्ञ पुत्र होगा जो इस वचनको हृदयमें भी स्थान दे ।' राजा बिल्कुल आपेमें नहीं हैं । यह आजतककी राजनीतिसे बिल्कुल विरुद्ध है कि छोटे लड़केको राज्य मिले और बड़ा निर्दोष ही राज्यसे वञ्चित रहे । कोई कुछ न बोले । मैं अकेला इस कामके लिये विरोधमें आगे बढ़ता हूँ । यदि भरतके पक्षसे राजशक्तियाँ उठेंगी तो अकेला मैं सबको सम्हाल लूँगा ।

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे ।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥

'यह मेरी भुजाएँ शोभाके लिये नहीं हैं, यह धनुष मैंने केवल खूबसूरतीके लिये नहीं धारण किया है, यह तलवार कमरमें लटकानेके लिये ही नहीं है, और न ये बाण केवल तरकसमें जकड़े पड़े रहनेके लिये हैं ।' इस हिसाबसे राजनीतिका पक्ष लेकर लक्ष्मण डट जाते तो कौन ऐसा था जो कुछ कर सकता था और कौन श्रीरामचन्द्रको वन भेज सकता था?

अयोध्याकी प्रजा श्रीरामके यौवराज्यका महोत्सव देखनेके लिये देवी-देवता मना रही थी । एक-एक दिन बड़ी उत्कण्ठासे बीत रहे थे कि किस दिन वह शुभ समय देखेंगे जिसमें श्रीरामचन्द्रको युवराजके पदपर अभिषेक किया जायगा । जिस समय प्रजाको मालूम हुआ कि श्रीरामको अभिषेक कैसा, वनवास दिया गया है, तमाम प्रजा एकदम विकल हो उठी । सबने सोचा कि कैकेयीने राजाको धर्मपथसे गिरा दिया है । यह अनुचित होगा कि श्रीराम अयोध्यासे चले जायँ । दुःख और गुस्सेमें भरे हुए सचिव सुमन्त्रने तो कैकेयीसे स्पष्ट ही कह दिया था कि यदि तुम किसी तरह भी समझायी हुई नहीं मानती तो—

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥
न च ते विषये कश्चिद्ब्राह्मणो वस्तुमिच्छति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम् ।

'तुम्हारा पुत्र राजा हो जाय, भरत सम्पूर्ण पृथ्वीका शासन करे । हम तो वहीं चले जायँगे, जहाँ रामचन्द्र जायँगे । तुम्हारे देशमें कोई ब्राह्मण नहीं रहना चाहता, जो आज तुम ऐसा बेमर्याद काम करोगी । खैर हमें क्या, हमलोग तो सब रामके मार्गपर चले जायँगे ।'

और तो क्या अयोध्याकी स्त्रियोंतकने कह दिया था कि—

कैकेय्या न वयं राज्ये भृतका हि वसेमहि।
जीवन्त्या जातु जीवन्त्यः पुत्रैरपि शपामहे॥

'जबतक कैकेयी जीती है और हम भी जीती हैं तबतक चाहे यह कितना ही भरण-पोषण करे, हम कभी उसके राज्यमें नहीं रहेंगी। हम अपने पुत्रोंकी शपथ खाती हैं!' हद हो गयी। पुत्रवती अत्याहित होनेके विना कभी पुत्रकी शपथ नहीं खाती। जब प्रजाकी तरफसे भी यों घोर विरोध हो रहा था तो फिर ऐसा कौन था जो श्रीरामको जबरदस्ती वन भेजता। प्रजाके विरोधपर तो आजकल राज्य-के-राज्य उलट जाते हैं, तब भला राम चाहते तो अयोध्यामें नहीं रह पाते ! प्रजाकी तरफ राजाके बड़े-बड़े उच्च भाव थे। *'राजा प्रकृतिरञ्जनात्'* 'जबतक प्रजा अनुरक्त न हो, राजा ही नहीं कहला सकता।' प्रजाका विरोध पहले सामान्य दृष्टिसे नहीं देखा जाता था। सम्मिलित प्रजा तो क्या, कुछ ही आदमी यदि असन्तुष्ट रहते तो राजा अपना अपराध समझता था, उन्हें सन्तुष्ट करके ही विश्राम लेता था।

श्रीरामके राज्यमें एकमात्र अकालमृत्यु होनेसे एक ही ब्राह्मणकी तरफसे विरुद्ध पुकार आयी थी कि श्रीराम तत्काल अपना ही अपराध समझकर उसके प्रतीकारके लिये उठ खड़े हुए थे। वनवासके समय तो सारी प्रजा एक तरफ थी। यहाँतक कि स्त्रियाँतक यों घोर विरोध कर रही थीं, तो भला दशरथ इसपर विचार न करते ! वह भी ऐसी दशामें कि जब वह स्वयं यह चाहते थे कि राम वनको न जायँ।

जिस समय भगवान् श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मणको साथ लेकर वन जानेके लिये महाराज दशरथको प्रणाम करने गये उस समय दशरथकी बड़ी करुण दशा थी। उनका हृदय रो-रोकर कह रहा था कि रामको वन मत जाने दो। वह अच्छी तरह जानते थे कि रामके विरहमें मेरा जीवन नहीं रह सकता। उस समयकी घटना कहता हूँ जिस समय श्रीरामने मना करनेवालोंको बड़े विनयसे प्रार्थना करके मना लिया था कि 'इस समय मेरा वन जाना ही समयप्राप्त है।' अस्तु, जैसे ही राजाने रामचन्द्रको चीरवल्कल पहने मुनिवेषधारी देखा, राजाका हृदय फटने लगा—

नैनं दुःखेन सन्तप्तः प्रत्यवैक्षत राघवम्।
न चैनमभिसम्प्रेक्ष्य प्रत्यभाषत दुर्मनाः॥

'दुखी राजासे रामकी तरफ देखा न गया। उनका मन यहाँतक दुखी था कि श्रीरामको देखकर उनके साथ बोलातक न गया।' रामसदृश प्रियपुत्र चौदह बरसके लिये वन जा रहा है और पिता दशरथ उनसे बोलेतक नहीं ! कुछ दुःखका ठिकाना है ! निःसंज्ञ होकर राजा विलाप करने लगे—

मन्ये खलु मया पूर्वं विवत्सा बहवः कृताः।
प्राणिनो हिंसिता वापि तन्मामिदमुपस्थितम्॥

'मालूम होता है मैंने पहले बहुतोंको पुत्रोंसे रहित कर दिया है। अथवा बहुत-से प्राणियोंका घात किया है। आज वही मेरे सामने आया है।'

एवमुक्त्वा तु वचनं बाष्पेण विहतेन्द्रियः।
रामेति सकृदेवोक्त्वा व्याहर्तुं न शशाक सः॥

'यह कहते-कहते ही उनसे बोला न गया। आँसुओंसे गला रुक गया। केवल एक बार 'राम' यह कहकर ही फिर वह कुछ न बोल सके।' जिस समय रथमें बैठाकर सुमन्त्र श्रीराम आदिको ले जा रहे थे, राजा पथराई आँखोंसे एकटक रथकी तरफ देखते रहे—

यावत्तु निर्यतस्तस्य रजोरूपमदृश्यत।
नैवेक्ष्वाकुवरस्तावत्संजहारात्मचक्षुषी॥

'जबतक उनके रथकी धूलिका भी रूप दीखता रहा तबतक राजाके नेत्र वापस नहीं लौटे।' जब रज

भी दीखना बन्द हो गया तब राजा महल क्या, अपने शोकागारमें लौटे। राजाके शोकमें महर्षि वाल्मीकिकी कलम भी यहाँतक अभिभूत हो गयी थी कि अमङ्गल-का भी विचार न कर कहती है—

इत्येवं विलपन् राजा जनौघेनाभिसंवृतः।
अपस्नात इवारिष्टं प्रविवेश गृहोत्तमम्॥

'बहुत-से आदमियोंसे घिरे हुए, इस तरह विलाप करते हुए राजा शवदाहोत्तर मृतस्नान करके जैसे घरमें घुसते हैं उस तरह उस अमंगल घरमें घुसे।' महलमें लौटते ही आपने आज्ञा दी कि मुझे कौसल्याके महलमें ले चलो। वह रात्रि, वह कालरात्रि, दशरथने कौसल्याके भवनमें ही बितायी। आधीरात होते-होते तो राजाकी यह दशा हो गयी कि वह कौसल्यासे बोले—

न त्वां पश्यामि कौसल्ये! साधु मां पाणिना स्पृश।
रामं मेऽनुगता दृष्टिरद्यापि न निवर्तते॥

'हे कौसल्ये! मुझे तुम दिखायी नहीं देती हो। मुझे हाथसे अच्छी तरह छुओ। मेरी दृष्टि रामके साथ-साथ चली गयी है, जो अभीतक नहीं लौटी।'

जिन राजा दशरथकी रामके वियोगमें दो पहरमें यह हालत हो गयी, भला वह रामको जानेके लिये अपने मनसे अनुमति देते? किन्तु प्रतिज्ञापाशमें बँधे हुए थे। रामको खुले शब्दोंमें तो कैसे कहते कि तुम मत जाओ, किन्तु हृदय नहीं मानता था। आप कहते हैं—

नहि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव।
सन्निवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥

'हे तात! तुम सत्यात्मा हो, धर्ममें तुम्हारा मन है, मैं तुम्हारी जानेकी बुद्धिको तो नहीं रोक सकता किन्तु आज एक रात मत जाओ। आज एक दिन तो मुझे सुख और मिल जाय।' राजाके प्राण हृदयमें तड़फड़ा रहे थे। राजासे न रहा गया। बोले—

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य राजा भव निगृह्य माम्॥

'हे राम! कैकेयीने मुझे वरदानसे मूढ (बदहवास) कर दिया है। मैं राज्य करनेयोग्य नहीं। मुझे अलग करके अयोध्याकी गद्दीपर तुम ही बैठो।' यहाँ साफ ही कह दिया कि मैं जो कार्रवाई कर रहा हूँ, होशहवासमें नहीं कर रहा। मेरी यह कार्रवाई उचित गिनी जानेयोग्य नहीं। 'राघव' सम्बोधनसे ध्वनित कर दिया कि रघुवंशमें आजतक यह अनरीति नहीं हुई कि बड़े पुत्रके रहते छोटा गद्दीका मालिक हो। अतः तुम मेरे विरुद्ध भी अयोध्याके राजा होनेके योग्य हो। अब कहिये, प्रजा विरुद्ध, राजा विरुद्ध, ऐसी दशामें यदि श्रीराम चाहते तो अयोध्याकी युवराज-पदवी कौन छुड़ा सकता था? यदि श्रीराम वन न जाकर अयोध्यामें ही रहते तो इस हालतमें कौन बुरा कहता? यहाँ तो स्पष्ट ही उपाय था कि 'पिताजी मुझे आज्ञा देते हैं कि तू अयोध्यामें रह।' फिर भला राज्यभोगोंको छोड़कर जंगल-जंगल घूमनेकी क्या जरूरत थी? परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्र धर्मका आदर्श कायम करने पधारे हैं। वह हाथ जोड़कर पितासे कहते हैं—

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते! पतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य कांक्षिता॥

'हे राजन्! आप हजार बरस पृथिवीका राज्य करें। मैं प्रसन्नतासे वनवासके लिये तैयार हूँ। मुझे राज्यकी अभिलाषा नहीं।'

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान्कामान्न स्वर्गं न च जीवितम्॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे॥

'मैं राज्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता, पृथिवी नहीं चाहता, इन दुनियावी मनोरथोंको नहीं चाहता, स्वर्ग नहीं चाहता और तो क्या जीवनतककी मुझे इच्छा नहीं। मैं चाहता हूँ कि आपके सत्यकी रक्षा हो। आपको मिथ्यावादिताका कलङ्क न लगे। मैं आपके सम्मुख सत्य और पुण्योंकी शपथ खाकर कहता हूँ।' जो रामचन्द्र पिताके सत्यके लिये अपने सर्व सुखोंका बलिदान दे देते हैं, भला उनकी मर्यादापालकताकी सीमा है ! वही मर्यादापुरुषोत्तम अभयदान देनेकी प्रतिज्ञा करके भला फिर अपने प्रणसे हट जायँगे ! जो दीनताके साथ अपनी शरणमें आया है उस शरणागतको छोड़ देंगे ! इसी आशयसे श्रीरामचन्द्र कह रहे हैं—'कथञ्चन' 'किसी तरह भी' शरणागतको नहीं छोड़ सकता।

श्रीरामचन्द्रकी मर्यादापालकताका और भी प्रकट प्रमाण है। जिस समय श्रीरामचन्द्रका वनगमन निश्चित *हो गया तब महाराज दशरथ और तो क्या कर सकते* थे, आपने श्रीरामकी रक्षाके विचारसे सुमन्त्रको हुकुम दिया कि श्रीरामके साथ चतुरङ्गिणी सेना जाय। और आरामका सब सामान साथ रहे जिससे उन्हें अयोध्याकी याद न आवे। इसपर श्रीरामने बड़े विनयसे निवेदन किया कि—

यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम्॥
तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे॥

'जो मनुष्य हाथीको देकर उसकी कमर बाँधनेकी रस्सीपर मन डुलावे तो उससे क्या लाभ है ! हाथीको छोड़कर रस्सीमें स्नेह करनेसे क्या होता है ! इसी तरह हे जगत्पति ! मुझे अब सेनाका क्या करना है। मैं इन सब चीजोंको भरतके लिये ही देता हूँ। मेरे लिये चीर-वल्कल लाये जायँ, जिन्हें पहनकर वन जाऊँ।'

निर्लज्जा कैकेयी अपने हाथसे चीर लाकर श्रीराम और लक्ष्मणको देती है। श्रीजानकी एक बार तो उन चीरोंको देखकर *'पृषती वागुरामिव'* 'हरिणी बन्धन-रज्जुको देखकर जिस तरह डरती है' घबरायीं। परन्तु श्रीराम और लक्ष्मणको चीर पहने देखकर यह भी अपने हाथमें चीर ले तो लेती हैं परन्तु यह नहीं जानतीं कि यह पहने कैसे जायँगे !

कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः।
इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः॥
कण्ठे कृत्वा स्म सा चीरमेकमादाय पाणिना।
तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा॥

'मुनिलोग चीर कैसे पहनते हैं—इससे अनभिज्ञ सीता किंकर्त्तव्यविमूढ रह गयीं। एकको गलेमें डालकर दूसरेको हाथमें लेकर लज्जित होकर खड़ी रह गयीं।' जिस जानकीकी दासीतक बहुमूल्य कौशेय वस्त्रोंको ठुकराकर चलती हैं वही साकेतधराधीश महाराज दशरथकी पुत्रवधू, विदेहराजनन्दिनी आज पेड़के वकलोंको पहनना चाहती है किन्तु अनभ्यासके कारण जानती नहीं कि किस तरह पहने। यह करुण दृश्य देखकर रघुकुलके गुरु महर्षि वशिष्ठसे रहा न गया। क्रोधमें आकर कहने लगे—

अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि।
वञ्चयित्वा तु राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसे॥
न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्॥

'कुलकलङ्किनी कैकेयी ! अब तो तू बहुत आगे बढ़ी जा रही है। राजाको ठगकर एकदम सिर उठाया है। कुछ भी मर्यादामें नहीं रहना चाहती ! सीता कभी वनको नहीं जायगी। वही रामके आसनको तबतक अलंकृत करेगी।' और—

अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता।
वयमत्रानुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति॥

ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह।
त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते रता॥

'यदि रामके साथ जानकी भी जायगी तो हम भी सब साथ जायँगे। यह सब नगर भी साथ जायगा। फिर इस सूनी भूमिको वृक्षोंके साथ तू शासन करना।'

तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये
गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे।

जो अप्रतिमप्रभाव थे, जो प्रतापी महाराज दशरथके भी गुरु थे, जो ब्राह्मणोंमें मुख्य थे, उनके यों कहनेपर रघुकुलका कौन-सा ऐसा प्राणी था जो विरोध करता? उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि भरतको मैं जानता हूँ, वह जबतक राजा नहीं देंगे, तुम्हारी दी हुई भूमिको कभी नहीं चाहेगा।

न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥

'जिस जगह राम राजा न होंगे वह राष्ट्र ही नहीं कहला सकता। जिस जंगलमें राम रहेंगे वह वन ही राष्ट्र हो जायगा।' जिन वशिष्ठके आदेशपर तमाम रघुकुल ही क्या सम्पूर्ण भूमण्डल नाच उठता था, वही जब श्रीरामके पक्षमें थे फिर भला किसकी ताकत थी कि श्रीरामका विरोधी बनता? परन्तु मर्यादा-पालक श्रीरामचन्द्र स्वयं धर्म और सत्यके पक्षमें अडिग थे। वह तिलभर हटना नहीं जानते थे। तब कोई क्या कर सकता था? वह कहते हैं——

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये॥

'कैकेयीने मुझसे कहा था कि 'तू वन जा।' मैंने कह दिया था कि 'व्रजामि' 'जाता हूँ', इस सत्यका, इस वाक्यका पालन करता हूँ।' भला वही मर्यादा-पुरुषोत्तम शरणागतोंको अभयदान देनेकी प्रकाश्य घोषणा करके अब अपनी बातसे पीछे हट जाँयगे? नहीं नहीं, इसीलिये श्रीरामचन्द्र कहते हैं 'कथञ्चन' '*कथञ्चन न त्यजेयम्*' 'मैं शरणमें आयेको किसी तरह नहीं छोड़ सकता।'

श्रीलक्ष्मणकी श्रीरामचन्द्रमें जो अलौकिक भक्ति थी वह जगत्प्रसिद्ध है। वह उन्हींको माता-पिता, सुहृद्-बन्धु सब कुछ मानते थे। वनके कष्टोंको समझाकर जिस समय श्रीरामने उनको वन जानेसे रोका उस समय लक्ष्मणने बड़ी उत्कण्ठासे श्रीरामचन्द्रके चरणोंको पकड़ लिया। उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे थे। उन्होंने बड़े दैन्यसे प्रार्थना की कि यदि आप मेरे ऊपर कुछ भी अनुग्रह रखते हैं तो मुझे सेवासे वञ्चित न करिये——

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥

'मैं आपके विना दिव्य लोकोंमें निवास, अजरामरता और तो क्या, त्रिलोकीके ऐश्वर्यको भी नहीं चाहता।' प्राणिमात्रपर स्वभावसे ही अनुग्रह रखनेवाले, करुणार्द्र-हृदय, भ्रातृवत्सल श्रीरामचन्द्र भी उनपर कितना स्नेह रखते होंगे, यह अपने आप सोचनेकी बात है, समझानेकी नहीं। जिस समय मायावी इन्द्रजित्ने नागपाशसे बाँधकर श्रीराम और लक्ष्मणको मूर्च्छित कर दिया था उस समय वानरसेनामें चारों तरफ़ हाहाकार मच गया। श्रीरामचन्द्र तो विभीषणके बताये उपचारसे अलौकिक सत्त्वके कारण उठ खड़े हुए परन्तु लक्ष्मणकी मूर्च्छा न हटी। सब लोगोंको निश्चय हो गया कि सुमित्रानन्दन इस धराधाममें नहीं हैं। श्रीरामका हृदय बैठ गया। अक्षोभ्य समुद्रका भी धैर्य जाता रहा। श्रीराम अशुभ-अशुभ विलाप करने लगे। 'हाय! अब सीता मिली तो क्या और न मिली तो क्या! मुझे अब जीकर ही क्या करना है——

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

'स्त्री और बान्धव देश-देशमें मिल सकते हैं परन्तु मुझे वह देश नहीं दिखायी देता जहाँ सहोदर भ्राता मिलता हो।' आज मैं कौन मुँह लेकर अयोध्यामें प्रवेश करूँगा ! सदासे मेरे ऊपर अनुग्रह रखनेवाली मध्यम माता (सुमित्रा) ने किस भरोसेके साथ लक्ष्मणको साथ भेजा था—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥

'महाराज दशरथके स्थानापन्न रामको और मेरे स्थानापन्न जानकीको जानना। अब तुम्हारे लिये अरण्य ही अयोध्या है, इसलिये हे पुत्र ! सुखपूर्वक जाओ।' हाय ! वही माता सुमित्रा अपने पुत्रकी वनसे लौटनेकी नित्य प्रतीक्षा करती होंगी। एक-एक दिन गिन रही होंगी। जिस समय अकेला मैं अयोध्यामें पहुँचूँगा, उस समय उन्हें मैं कैसे मुँह दिखा सकूँगा। जाते ही मैं जिस समय उन्हें प्रणाम करूँगा, उस समय आँसू भरे उनके नेत्र मेरे पीछेकी तरफ और भी किसीको खोजेंगे किन्तु जिस समय वह निराश होकर लौटेंगे वह दृश्य मुझ वज्रहृदयसे भी कैसे देखा जायगा—

कनीयस्या मातुः कृतचरणपातः कथमहं
सहिष्ये मत्पार्श्वे विफलपरिवर्तं नयनयोः।
अये शान्तं पापं कठिन इव चेज्जीवितुमना
विना वत्सं रामः पुनरयमयोध्यां प्रविशति॥

'मध्यम माताके चरणप्रणामके समय मेरे आस-पास उनके नेत्रोंका निष्फल भ्रमण मैं कैसे सहूँगा ? वत्स लक्ष्मणके बिना कठिनहृदय राम यदि अयोध्यामें प्रवेश करे तो, बस हो चुका।' विलापोंका क्या अन्त है ! शोकका सागर उमड़ रहा था। उस सागरमें लंकाका विजय, युद्धकी बातें, सीताका समागम इत्यादि सब कुछ एकदम बह गया था। जिस जानकीके बिना एक-एक क्षणका जीना आपको कठिन मालूम होता था उसकी भी उस समय याद नहीं थी। याद तो बुद्धि दिलाती है न ? जब वही ठिकाने नहीं है, प्राण देनेकी तैयारी हो रही है तब याद किसकी !—

यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥

'जिस तरह महाद्युति लक्ष्मणने वन जाते हुए मेरा अनुगमन किया है इस तरह मैं भी परलोकमें इसका अनुगमन करूँगा।' ऐसे प्राणसंकटमें भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्रके हृदयसे एक बातकी याद न हटी थी। सब बात भूली जा रही थी परन्तु एक बात याद करके आप कहते हैं—

तत्तु मिथ्याप्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः॥

'मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी, परन्तु विभीषणको राक्षसोंका राजा न बनाया। यह मिथ्याप्रलाप निःसन्देह मुझे चिताग्निसे भी अधिक जलायेगा।' जिन सत्यसन्ध रामचन्द्रके हृदयमें अपने प्रतिज्ञाके अक्षर यों वज्रलेप हो जाते हैं वही शरणागतवत्सल श्रीराम उन्हीं शरणागत विभीषणके लिये अभयदान देनेकी अपनी प्रतिज्ञाको क्या छोड़ देंगे ! इसी आशयसे आपने कहा है कि—'*कथञ्चन*' '*कथञ्चन न त्यजेयम्*' 'शरणागतको मैं किसी प्रकार भी नहीं छोड़ सकता।'

(क्रमशः)

केवल ईश्वर एक सत् पदार्थ है

(लेखक—पं० श्रीमन्नीलालजी अग्निहोत्री)

ईश्वर एक है—इसमें किसीको विवाद नहीं होता। उसीके देश और भाषाकी विभिन्नतासे विभिन्न नाम और रूप कल्पित किये जाते हैं। कोई उसे ईश्वर, भगवान् या राम कहता है, कोई खुदा या अल्लाह कहता है और कोई गॉड कहता है। सभी उसको सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वसाक्षी इत्यादि विशेषणोंसे युक्त मानते हैं, परन्तु परमात्माके स्वरूपके विषयमें बहुतोंको ज्ञान नहीं होता। सच है, विषयानन्दके स्वरूपका ही जब मनुष्य वर्णन नहीं कर सकता, तो भला परमात्मा जो परमानन्दस्वरूप है, उसका वर्णन कैसे हो सके ? जो लोग इस परमानन्दके आनन्दका अनुभव करते हैं वह भी, जिसप्रकार गूँगा स्वप्नके दृश्यका वर्णन जगनेपर नहीं कर सकता उसी प्रकार उस अनुभवका वर्णन नहीं कर सकते। तथापि तत्त्वदर्शी पुरुषोंने अपनी-अपनी समझके अनुसार कुछ-न-कुछ कहा ही है—

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिन रहा न कोई॥

मैं भी आज उन्हीं महापुरुषोंके अनुभवके आधारपर अपनी अल्प बुद्धिद्वारा पाठकोंकी सेवामें कुछ अर्पण करना चाहता हूँ।

विचारकर देखा जाय तो सृष्टिकी रचनामें ब्रह्मासे लेकर छोटे-से-छोटे कीटपर्यन्त दो ही मुख्य वस्तुएँ प्राप्त होंगी—प्रकृति और पुरुष। इन्हीं दोनोंके द्वारा नाम-रूपकी उपाधिसे मायाकृत चौरासी लाख योनियोंकी कल्पना होती है। परन्तु इस नाना प्रकारकी उपाधिमें ज्ञानी एक ही पुरुषको ग्रहण करता है—

जड़ चेतन गुण दोषमय, विश्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुण गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार हंसके सामने दूध और पानी मिलाकर रखनेसे वह दूध पी लेता है और पानी छोड़ देता है उसी प्रकार सन्त पुरुष मायाकृत नाम-रूपकी उपाधिको छोड़कर चेतनमात्रको ग्रहण करते हैं, क्योंकि चेतन ही एक नित्य-पदार्थ है, नाम-रूप तो विनश्वर है। श्रीरामचन्द्रजीने भी तारासे कहा है—

क्षिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित यह अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम रोवा॥

जिसप्रकार जगत्‌के स्थूल पञ्चमहाभूत नाशवान् हैं उसी प्रकार उनसे बना हुआ शरीर भी नाशवान् है, तथा सूक्ष्म शरीर भी नाशवान् है। इसको इसप्रकार समझना चाहिये कि अन्तःकरण प्राणवायुके सहारे काम करता है। बाहरी मायाकृत पदार्थोंका इसपर असर पड़ता है और इसकी क्रिया चार भागोंमें बँट जाती है। जिससे सङ्कल्प-विकल्प होता है उसे मन कहते हैं, जिससे सत्-असत्‌का विचार होता है उसे बुद्धि कहते हैं, जिससे चिन्तन होता है उसे चित्त कहते हैं तथा जिससे ममत्व (मेरापन) आता है उसे अहङ्कार कहते हैं। यह सब मायाकृत पदार्थोंके फल हैं और अन्तःकरणके मलिन होनेसे उत्पन्न होते हैं। मलिन होनेके कारण ही उन पदार्थोंके प्रति अन्तःकरणमें मोह उत्पन्न होता है। जिसके द्वारा आवागमनके चक्करमें घूमना पड़ता है, उसीको संसारचक्र कहते हैं। यह सब चित्तके भ्रमके कारण होता है। यह तो सभी जानते हैं कि मायिक पदार्थोंसे कभी कल्याण नहीं हो सकता, परन्तु उनसे अलग नहीं होते हैं, क्योंकि उन्हें अपने स्वरूपका भान ही नहीं होता। अष्टावक्रजीने अपनी गीतामें कहा है—

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।
न कर्त्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा॥
रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥

अर्थात्, हे व्यापक ! मनसम्बन्धी धर्म-अधर्म, सुख-दुःख तेरे नहीं हैं, न तू कर्त्ता है, न भोक्ता है, सदा मुक्तस्वरूप है । राग-द्वेष मनके धर्म हैं तेरे नहीं हैं और मन कभी भी तेरा नहीं है, तू निर्विकार निर्विकल्प बोधस्वरूप है ।

नाहं भूतगणो देहो नाहं चाक्षगणस्तथा।
एतद्विलक्षणः कश्चिद्विचारः सोऽयमीदृशः॥
(अपरोक्षानुभूति)

अर्थात् मैं भूतोंका समष्टिरूप देह नहीं हूँ और न मैं इन्द्रियोंका समूह हूँ । मैं इससे कोई विलक्षण हूँ—इसीको विचार कहते हैं ।

इसप्रकार विचारके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है जिससे मनुष्य ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होता है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥
उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानां गतिमागतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥

यदि विचार करके देखा जाय तो यही षोडश कला (अर्थात् पाँच तत्त्व, दस इन्द्रियाँ और एक मन) सर्वत्र व्याप्त हो रही है और इसके साथ सर्वत्र भगवान् चेतन-रूपसे व्यापक हैं । इस चेतनरूपका ज्ञान होनेसे उपर्युक्त श्रीमद्भागवतके श्लोकमें कथित भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है, इसमें सन्देह नहीं ।

मायाके वशीभूत होनेके कारण वही परमात्मा इस शरीरमें जीव-संज्ञाको प्राप्त होता है और शरीरको ही अपना स्वरूप मानने लगता है और बन्धनमें पड़ जाता है । फिर तो—

श्रुति पुराण बहु कहे उपाई । छुटै न अधिक अधिक अरुझाई ।

क्योंकि—

है कछु और कहै कछु आना । याहीमें यह जगत भुलाना ॥

वास्तवमें तो यह चेतन परमात्माका अंश है, चेतन है, अविनाशी है, निर्विकार है, शुद्ध है, मायाके गुणसे वर्जित है, शरीरोंमें आकाशवत् सर्वत्र व्यापक है तथा जड-पदार्थोंका प्रकाशक है । कहा भी है—

घटादिषु प्रणष्टेषु यथाकाशमखण्डितम्।
तथा देहेषु नष्टेषु देही नित्यमलेपकः॥

अर्थात् जिसप्रकार घटादिकोंके नाश होनेपर आकाश अखण्डित रहता है उसी प्रकार देहके नाश होनेपर आत्माका नाश नहीं होता ।

जो कुछ देखनेमें आता है सब उसी परमात्माका विलास है । जिसप्रकार जलमें भाँति-भाँतिके तरङ्ग, बुद्बुद और चक्र उठते हैं और मिट जाते हैं उसी प्रकार आधाररूप परमात्मामें भाँति-भाँतिके पाञ्चभौतिक शरीर उपजते और विनसते रहते हैं, ऐसा ही अनादिकालसे चला आ रहा है और चला जायगा । सब उसीसे उत्पन्न होता है, उसीमें स्थित है और उसीमें लय हो जाता है । अतः सब उसीका स्वरूप है, दूसरा न कभी हुआ और न होगा । ज्ञान-चक्षुसे देखनेसे एक परमात्मा ही सत् पदार्थ ठहरता है । चर्म-दृष्टिसे अविवेकके कारण, आरोपित नाम-रूपके कारण भेद-कल्पना उठती है, इसीको संसार कहते हैं । यह मायाका कार्य है । योगाभ्यासद्वारा मायाका पर्दा फट जाता है और केवल अपना शुद्ध, निर्गुण स्वरूप, अद्वितीय, स्वयं-प्रकाशमान, स्वतःसिद्ध साक्षात्कार होने लगता है । यह मायिक जगत् स्वयं कोई वस्तु नहीं है, अविद्याके कारण इसकी प्रतीति होती है, और इसी अविद्याके कारण प्राणी इधर-उधर मारे-मारे भटकते हैं, परन्तु उन्हें सुख-शान्ति नहीं मिलती । जैसे कस्तूरी तो

मृगकी नाभिमें ही होती है और वह उसकी प्राप्तिके लिये इधर-उधर दौड़ा फिरता है ।

इसलिये उचित है कि ज्ञानयोगद्वारा अपनी आत्मामें अखण्ड आनन्दस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार-कर संसारके भ्रमसे मुक्त हो शान्ति प्राप्त की जाय । क्योंकि जबतक अपने स्वरूपका साक्षात्कार नहीं होता है तबतक किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल सकती । साक्षात्कार हो जानेपर कर्मबन्धनमें प्राणी नहीं आ सकता, क्योंकि अपना वास्तविक स्वरूप निष्क्रिय है । इसीलिये शास्त्रोंने भाँति-भाँतिसे समझाया है—

देहोऽहं मानपाशेन दृढं बद्धोऽसि सर्वतः ।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निकृत्य सुखी भव ॥

अर्थात् 'मैं देह हूँ' इस अभिमानरूपी फाँसीसे तुम खूब बँध रहे हो, इसलिये 'मैं बोधस्वरूप हूँ' इस ज्ञानरूप खड्गसे उस अभिमानरूप बन्धनको काटकर सुखी हो ।

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया ।
साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥

अर्थात् जो मनुष्य आन्तरिक रागद्वेपसे रहित शान्ति-बुद्धिके द्वारा साक्षीरूपसे इस संसारको देखता है, उसीका जीवन सुशोभित होता है ।

गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥

अर्थात् जिनका मान-मोह जाता रहा है, जो आसक्ति-रहित हैं, जो अध्यात्मज्ञानमें सदैव स्थिर रहते हैं, जिनकी कामनाएँ दूर हो गयी हैं, जो सुख-दुःख-संज्ञक द्वन्द्वोंसे मुक्त हो गये हैं वे ज्ञानी पुरुष उस अव्यय-पदको प्राप्त होते हैं ।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

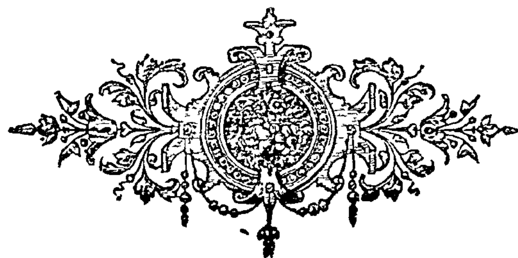
अर्थात् जहाँ न सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि, जहाँ जाकर नहीं लौटना पड़ता वह मेरा परम धाम है ।

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

अर्थात् हे धनंजय ! मुझसे परे और कुछ नहीं है । धागेमें पिरोये हुए मणियोंके समान मुझमें ही यह सब गुँथा हुआ है ।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥

अर्थात् इसके स्वरूप, आदि, अन्त तथा इसकी स्थितिका यहाँ पता नहीं लगता, इस अत्यन्त गहरी जड़ोंवाले अश्वत्थको असङ्गरूपी सुदृढ़ शस्त्रसे काटो ।



श्रीश्रीनारायणस्वामीजी

(लेखक—श्रीगोकुलजी)

प्रकट भये पंजाबमें, सारस्वत द्विजबंस।
संन्यासी ब्रजरस-मगन, सार-ग्रहण जिमि हंस॥



नारायणस्वामीजीका जन्म वि० संवत् १८८५ के लगभग रावलपिण्डी पंजाबमें हुआ। आप सारस्वत ब्राह्मण थे। संवत् १९१६ के लगभग श्रीवृन्दावन-धाममें आकर आपने श्रीलाला बाबूजीके मन्दिरमें दफ़्तरकी नौकरी कर ली। आप दिनमें नौकरी बजाते और रात्रिके समय रास-विलास देखते तथा सत्सङ्गमें लगे रहते थे। उस समय गृहस्थाश्रममें थे परन्तु स्त्री-पुत्रोंको पास नहीं रखते थे। सबसे पहले आपने भगवत्-सम्बन्धी गजलोंकी एक पुस्तक छपवायी। रेखता और पद भी कभी-कभी रच लिया करते थे। श्रीमती महारानी टिकारीके मन्दिरमें जो मण्डली रास करती थी उसके द्वारा आप अपने पदोंका अभिनय कराते थे। होते-होते प्रेमरङ्ग कुछ ऐसा चढ़ गया कि नौकरी छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया। इधर आपके पदोंकी ओर रसिक प्रेमियोंका प्रेम दिनोंदिन बढ़ने लगा। स्वामीजी नीरस संन्यासी या शुष्क वेदान्ती नहीं थे। आपने दण्ड आदि भी कभी धारण नहीं किया। आप केशीघाटपर खटपटियाबाबाके घेरेमें श्रीयमुना-तटपर निवास करते थे। स्वामीजीका स्वभाव बड़ा सरल और दयालु था, परोपकारपर आप सदैव दृष्टि रखते थे। आपके हृदयमें यह भाव सदा जागता रहता था कि किसी तरहसे जीव लालजीकी ओर लगे जिससे उसका यथार्थ कल्याण हो। श्यामसुन्दरका नाम आपने लालजी रख लिया था, इसीसे जो कोई आपके पास आता, सबको लालजी ही कहकर पुकारते थे। श्रीमहाराजकी वाणी बड़ी मनोहर थी, मधुर वाणी होनेसे सबका चित्त मोह जाता था। आपके रचे हुए पदोंमें भी ऐसा लालित्य है कि सुनते ही आदमी गद्गद् हो जाता है। गोस्वामि-शिरोमणि श्रीराधाचरणजी महाराज निजरचित नवभक्तमालमें लिखते हैं—

छप्पय

अच्छर अर्थ अनूप अलंकारन सु अलंकृत।
भाव हृदय गम्भीर अनुप्रासन गुन गुम्फित॥
राग नवीन नवीन प्रवीननको मन मोहै।
नृत्य करत गति भरत रासमण्डल अति सोहै॥
देस विदेस प्रचार श्रीवृन्दावन विश्राम।
श्रीनारायणस्वामी नवल (पद)रचना ललित ललाम॥

जीवके प्रति उपदेश श्रीहरिनामका था। आप कहा करते कि भाई, कलियुगमें केवल हरिनाम जपनेसे ही सिद्धि है, कलियुगी पापी जीवको सिवा श्रीहरिनामके अन्य कोई भी साधन उद्धार करनेवाला नहीं। आप यह उपदेश नहीं करते थे कि घर-बार छोड़कर ही नामका भजन करे। जो जैसे काममें लग रहा हो उसीमें लगा रहे, पर भजन करता रहे। एक दिन पंजाबका एक मनुष्य आपके दर्शनोंको आया, आप पूछने लगे कि लालजी! 'आप घरमें क्या धन्धा करते हैं?' उसने उत्तर दिया 'श्रीमहाराज! मैं बजाजी करता हूँ।' इसपर आप बड़े प्रसन्न होकर बोले 'आपका काम तो बड़ा उत्तम है, 'श्रीराधाकृष्ण' 'श्रीराधाकृष्ण' बोलते गये और कपड़ा फाड़ते गये। आपके दोनों

लोकोंका काम हो गया।' इसी प्रकार जिस जीवको जैसी अवस्थामें देखते उसीमें उसके उद्धारका साधन बन जाय, ऐसा उपदेश करते। श्रीगुरुनामका बड़ा प्रभाव है इसप्रकार श्रीगुरुदेवजीकी महिमा जगत्को सुनाते थे, निज सेवकोंपर अपार कृपा रखते थे। आप श्रीजुगलसरकारके प्रेममें सदा छके रहते, आँसुओंका तार बँध जाता, घण्टोंतक प्रेमानन्द-समुद्रमें निमग्न हो जाते थे। आप कभी धातुको स्पर्श नहीं करते थे। कामिनी-काञ्चनसे बहुत बचा करते थे। धीरे-धीरे स्वामीजीकी ख्याति बढ़ती ही गयी। स्वामीजी चतुर भी एक ही थे। एक बार एक पंजाबीने पूछा—'महाराज! आप हरिद्वार नहीं जाते? आपने उत्तर दिया—'लालजी! हम महलमें रहनेवाली प्रिया-प्रियतमकी सहचरी हैं, हरिके अन्तःपुरमें रहती हैं। द्वारपर नहीं जातीं।' इसप्रकार आपने बड़ी चतुराईसे श्रीवृन्दावनधाम तथा व्रजधामका महत्त्व दिखला दिया। स्वामीजी श्री-वृन्दावनकी पवित्र भूमिपर शौच नहीं जाते, वर्षामें भतरोंड़की ओर, तथा जाड़े-गर्मियोंमें श्रीयमुना पार जाते थे। वैसे तो स्वामीजीके सैकड़ों शिष्य थे पर पट्टशिष्य अमृतसरके ठाकुर महाचन्दजी, बाबू भक्तरायजी, लाहौरके और जलन्धरके बसन्तरायजी थे। श्रीमान् पण्डित दीनदयालुजी व्याख्यानवाचस्पति आपके अन्तरङ्ग मित्रोंमें हैं। संवत् १९५५ में श्रीमहाराज वृन्दावनसे श्रीगोवर्धन पधारे और श्रीगिरिराजकी शोभा देख-देखकर बड़े प्रसन्न हुए। आप कहने लगे कि मैं तो यह जानता था कि प्रिया-प्रियतमका सुख जो श्रीवृन्दावनमें है वह व्रजमें कहीं न होगा, परन्तु यहाँ श्रीगोवर्धनमें तो वहाँसे कहीं विशेष सुखका अनुभव होता है। एक दिन कुसुमसरोवरपर आपको प्रिया-प्रियतम दृष्टिगोचर हुए तो पकड़नेके लिये उनके पीछे श्रीगोवर्धनतक दौड़ते-दौड़ते चले गये परन्तु वे हाथ न आये, तब हारकर इमलीके पेड़के नीचे बैठ गये। फिर उधरसे लौटते हुए जब जुगलसरकारको देखा तो पहलेकी भाँति फिर पीछा करते-करते कुसुमसरोवरतक आये। हाँफते-हाँफते शरीर थक गया, बैठ गये, स्वस्थ होकर फिर श्रीगोवर्धनको आये और रोते-रोते सब हाल अपने पुरोहितजीसे कहने लगे कि जबतक लालजीके दर्शन नहीं होते तबतक मनमें अनेक बातें पूछनेकी आती हैं, परन्तु जब लालजीका दर्शन होता है तो न मालूम वे सब बातें कहाँ चली जाती हैं, केवल मुखमाधुर्यका पान करना ही बनता है। इस तरह कहकर श्रीकुसुम-सरोवरको ही लौट गये और वहींपर श्रीउद्धवजीके मन्दिरमें एक चौबारेमें रहने लगे। उसी स्थानपर फाल्गुन कृष्णा ११ संवत् १९५७ को आपका देहावसान हुआ। ठाकुर महाचन्दजीने उस स्थानके पास ही आपकी एक समाधि बनवा दी है, स्वामीजीने सहस्रों भक्ति-रस-पूरित पद भजन रचे हैं, जिनमें श्रीव्रजविहार नामक पुस्तक संवत् १९४० में प्रथम वार लाला गणेशीलाल लोहागढ़वालेने छपवाकर मुफ्त बाँटी थी। अबतक उसके कई संस्करण हो चुके हैं। भारतेन्दुके सम्पादक श्रीराधाचरणजी गोस्वामीने व्रजविहारके प्रथम संस्करणकी समालोचना इस-प्रकार की थी। 'व्रजविहार—परमहंस परिव्राजका-चार्य श्रील श्रीयुक्त महानुभाव श्रीनारायणस्वामीजीकी वाणी है, स्वामीजी महाराज इस समय वृन्दावनमें महात्माओंकी श्रेणीमें अग्रगण्य हैं। आपने समय समयपर जो कुछ लीलारस अनुभव किया है वही पदों-द्वारा रसिक लोगोंकी तृप्तिके लिये पुस्तकपयोदके द्वारा वरसाया है। यह पद कुछ हमारी प्रशंसाके आश्रित नहीं। इनमें कुछ ऐसा चमत्कार है कि इनकी सैकड़ों पुस्तकें लिखकर और हजारों पुस्तकें छपकर भारत-वर्षके इस ओरसे उस ओरतक प्रसिद्ध हुईं, पर

प्रेमीजनोंकी तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इससे अधिक रासधारियोंकी मण्डलियोंमें तो इनका राज्य है। जबतक यह पद नहीं गाये जाते, दर्शक चित्रलिखित नहीं होते। फिर इन पदोंका भाव विलक्षण, राग सद्योमनोहर और अक्षर तो जादूका बाण है। कैसा ही कुटिल कल्मषी क्यों न हो, एक बार तो मोहित हो ही जाता है। इसीसे आज स्वामीजीकी वाणी प्राणीमात्रको प्यारी लगती है। इसी बाणके वेधे अनेक अनुरागी घरवार छोड़कर व्रजमण्डल-में फिरते हैं। अब आपकी सरस रचनापर हमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। आपने पंजाबी होकर भी व्रजभाषाकी जो उपासना की है वह सराहनीय और स्तुत्य है। कुछ नमूना देखिये।

मनमें लागी चटपटी कब निरखूँ घनस्याम।
नारायण भूल्यौ सबै खान पान बिस्राम॥
सुनत न काहूकी कही, कहै न अपनी बात।
नारायण वा रूपमें मगन रहै दिन-रात॥
देह गेहकी सुधि नहीं टूट गयी जगप्रीत।
नारायण गावत फिरै प्रेमभरे रसगीत॥
धरत कहूँ पग परत कित सुरत नहीं इक ठौर।
नारायण प्रीतम बिना दीखत नहिं कछु और॥
भयो बावरो प्रेममें डोलत गलियन माहिं।
नारायण हरिलगनमें यह कछु अचरज नाहिं॥
लतन तरे ठाढो कबौं कबहूँ जमुनातीर।
नारायण नैनन बसी मूरत स्याम सरीर॥
प्रेमसहित गद्गद गिरा उठत न मुखसों बात।
नारायण महबूब बिनु और न कछू सुहात॥
कबौ चहै कछु कहत कछु नैन नीर सुर भङ्ग।
नारायण बौरा भयो लग्यो प्रेमको रङ्ग॥
चलत फिरत बैठत उठत लगी रहै यह आस।
स्याम राधिका निरखिबौ वृन्दाविपिन निवास॥
नारायण दो बातसों अधिक नहीं कछु बात।
रसिकनको सतसंग नित जुगल ध्यान दिन-रात॥

मनके रहस्य और उसका नियन्त्रण

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)

[गतांकसे आगे]

८७६—यदि तुम्हें ध्यानावस्थामें आत्म-प्रकाशकी अनुभूति हो, यदि तुम ध्यानमें दिव्य तेजको देखो और यदि तुम्हें देवदूत, ऋषियों, मुनियों, देवताओंके दर्शन अथवा अन्य अद्भुत आध्यात्मिक अनुभव हों तो भयसे पीछे न मुड़ो। उन्हें भ्रम न समझो। साधनाको न छोड़ो। आगे बढ़ो। सतत चेष्टा करो। परदोंको एक-एक करके तोड़ते जाओ।

८७७—साहसपूर्वक आगे बढ़ो। पीछे मत देखो। इस महातमसको पार करो। मोहके स्तरको छिन्न-भिन्न कर दो। सूक्ष्म अहङ्कारको विलीन कर दो। स्वयमेव स्वरूपका दर्शन होगा। तुम्हें तुरीयावस्थाका अनुभव होगा।

८७८—कभी-कभी असुर तुम्हें बाधा पहुँचावेंगे। उनकी सूरत भयानक और भद्दी होगी, उनके दाँत बड़े-बड़े होंगे। अपनी दृढ़ इच्छा-शक्तिसे उन्हें भगा देना। उन्हें दृढ़ता-पूर्वक आदेश करना—'चले जाओ।' वह चले जायँगे। वह निःसत्व हैं, साधकको कोई हानि नहीं पहुँचा सकते। तुम्हारे साहसकी ऐसे ही अवसरपर परीक्षा होती है। यदि तुम कायर हो, आगे नहीं बढ़ सकते, अपने अव्यय अन्तरात्मासे शक्ति और साहस प्राप्त करो। तुम्हें मार्गमें देवता भी मिलेंगे, वह तुम्हारे मार्गमें संरक्षण करते हुए तुम्हारी पर्याप्त सेवा करेंगे। यह सब-के-सब मार्गमें विघ्न-स्वरूप हैं।

८७९—बहुधा साधक तन्द्रा और मनोराज्यको भ्रमसे ध्यान और समाधिके रूपमें मान लेता है। उस समय मन एकाग्र और विक्षेपरहित जान पड़ता है। यह भ्रम है। मनका खूब ध्यानपूर्वक निरीक्षण करो। विचार, प्राणायाम

और लघु सात्त्विक आहारके द्वारा इन दोनोंको दूर करो। सदा विचारशील, सावधान और सचेत रहो। यदि तन्द्रा आवे तो दस मिनटके लिये खड़े हो जाओ और ठण्डे जलसे सिर और मुँह धो डालो।

८८०–मान लो तुम चाय, आम, अंगूर और मिठाइयाँ बहुत पसन्द करते हो। उन्हें तथा उनके प्राप्तिकी इच्छाका त्याग करो। कुछ महीनोंके बाद प्रवृत्ति सूक्ष्म हो जायगी और धीरे-धीरे जाती रहेगी। तुम प्रतिदिन तीन-चार घण्टे प्रार्थना, जप और ईश्वरके ध्यानमें लगाते होगे। उपर्युक्त विषय जो पहले तुम्हें आकर्षित किया करते थे अब बहुत ही शिथिल हो जायँगे। वह पहलेसे विपरीत अनुभव उपस्थित करेंगे। वह तुम्हें अत्यन्त कष्टदायक दीखेंगे। वास्तविक वैराग्यका यह एक चिह्न है।

८८१–यदि तुम सब प्रकारकी कल्पनाओंका उन्मूलन कर सको तो मन शुद्ध चैतन्यमें लीन हो जायगा, तब तुम सब प्रकारकी आपत्तियों, झंझटों और चिन्ताओंसे मुक्त हो जाओगे। तभी तुम्हें स्थायी शान्ति तथा मोक्ष-धनकी प्राप्ति होगी। महान् सात्त्विक मनके द्वारा तुच्छ वैषयिक मनका नाश करो। यह वैषयिक मन तुम्हें नाना प्रकारके विषय-भोगोंकी ओर खींचता है और तरह-तरहसे तुम्हें धोखा देता है। सदसद्विवेक रखनेवाले पुरुषोंके सामने इसकी दाल नहीं गलती।

८८२–वेदान्त तुम्हें जगत्‌का त्याग करनेके लिये नहीं कहता, बल्कि वह चाहता है कि तुम अपनी मानसिक दशाको बदल डालो, इस मिथ्या और भ्रमात्मक 'अहंता' और 'ममता' को छोड़ दो। सँपेरा साँपके केवल दोनों विषैले दाढ़ोंको अलग कर देता है, साँप वही रहता है, फुफकारता है, फणको उठाता है, दाँतोंको दिखलाता है, सारांश यह कि सब कुछ पहले-जैसा करता है। सँपेरेने उसके प्रति अपनी मानसिक अवस्थाको बदल दिया है। अब उसकी धारणा है कि साँपके दाढ़ नहीं रह गये हैं। इसी प्रकारसे तुम्हें भी अहंता और ममतारूपी दो मनके दाढ़ोंको तोड़ देना चाहिये, तब तुम मनको उसके इच्छानुसार जाने दे सकते हो। तब तुम्हें स्थिर समाधिकी प्राप्ति होगी—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाने परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

'देहाभिमानके दूर हो जानेपर और परमात्माका ज्ञान हो जानेपर जिस किसी विषयपर मन जाता है वहाँ ही समाधि हो जाती है।'

उस मनुष्यपर संसारका प्रभाव नहीं पड़ता। उसे कोठरी या आसनकी आवश्यकता नहीं पड़ती; उसे आँखें नहीं मूँदनी पड़तीं और न उसे इन्द्रियोंका प्रत्याहार करना पड़ता है।

८८३–चीनीका बना हुआ एक नारियल है। उसमें चिह्न हैं, लकीरें हैं, बाहरी खोल है, अंकुरका स्थान आदि सब कुछ हैं। परन्तु तुम्हारे भीतर मनमें जो अन्तर्भाव है वही यथार्थ चीनी है। इसी प्रकार जब तुम जगत्‌के विभिन्न पदार्थोंको देखते हो, उस समय तुम्हें आत्माके भाव या निश्चयका बोध होता है जो इन सब पदार्थोंके मूलमें है, जो पदार्थोंका अन्तिम तत्त्व तथा परिणाम है।

८८४–तुम्हें आमके पेड़की पत्तियों, टहनियों, फूलों और फलोंकी ओर देखनेकी आवश्यकता नहीं। इसके कारणस्वरूप गुठलीको देखो। वस्त्र केवल रूई और सूत है। जिस प्रकार वस्त्र रूई ही है उसी प्रकार जगत् आत्मा अथवा ब्रह्म है।

८८५–चित्रकी अग्नि हाथ नहीं जलाती। दोपहरके सूर्यके सामने दीपक अपना प्रकाश नहीं दे सकता। इसी प्रकार सात्त्विक पुरुषका अहङ्कार किसीको हानि नहीं पहुँचा सकता।

८८६–जब तुम किसी वस्तुको अपनी आँखोंसे देखते हो तब तुम्हें मालूम होता रहता है कि सूर्यके प्रकाशसे ही वस्तु तुम्हें दीख रही है। तुम्हें दो प्रकारकी दृष्टि होती है। ठीक उसी प्रकार व्यवहार करते समय ज्ञानीको भी दो प्रकारकी दृष्टि होती है। काम करते समय भी वह समझता है कि वह कोई काम नहीं करता। वह अनासक्त होता है। यद्यपि वह जगत्‌को देखता है तथापि यह सब उसको ब्रह्म ही भान होता है।

८८७–लकड़ीसे बने हुए हाथीके खिलौनेको जब तुम हाथीके रूपमें लेते हो तो उसका तत्त्व लकड़ी छिप जाती है। उसी प्रकार इन नाम-रूपोंने अपने भीतर उस परम तत्त्व ईश्वरको छिपा रक्खा है। मानसिक भ्रान्तिको दूर करो जो अनादिकालसे मनमें जड़ जमाये हुए है। खिलौनेका हाथी लकड़ी है हाथी नहीं है। उसी प्रकार

यह जगत् नहीं है ब्रह्म है । यह शरीर नहीं है, आत्मा है । वेदान्तकी यही अपवाद युक्ति है, हाथी, जगत, शरीर आदि असत् पदार्थोंको दूर करो और जो सत् अवशिष्ट रहता है उसे ढूँढ़ निकालो ।

ददद–भूत, भविष्य और वर्तमानमें सदैव ही मिट्टी एक सत् पदार्थ है । घट असत् पदार्थ है । वाचारम्भणं विकारं नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।' 'केवल मिट्टी ही सत्पदार्थ है, उसके विकार घट आभूषणके समान केवल कथनमें ही हैं ! —छान्दोग्योपनिषद्

उसी प्रकार ब्रह्म या आत्मा ही केवल सत्, नित्यवस्तु है जिसका न प्रारम्भ है, न अन्त और न विकार । शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और जगत् यावत् विकार हैं सब असत् हैं। ये केवल नाममात्रमें हैं। समस्त मिट्टीके बर्तनोंमें मिट्टीको देखो । समस्त विषयोंमें आत्माको देखो । (आत्मदृष्टि)

(क्रमशः)

तुकाराम

[दक्षिणके एक सन्त कवि]

(अ०—श्रीमोहनलालजी महतो)

[यह लेख अङ्गरेजीके विख्यात विद्वान् कलाकार मि० राउलेन्सनकी लेखनीका चमत्कार है । सन्त कवि तुकारामका समस्त जीवन चमत्कारोंसे लबालब भरा हुआ है । अलौकिकताओंका आपके चरित्रमें इतना बाहुल्य है कि पाश्चात्य भौतिक विज्ञानवादी जगत् तो उनपर कभी विश्वास ही नहीं करेगा बल्कि नवशिक्षित भारतीयोंमें भी इने-गिने ही ऐसे श्रद्धालु जीव मिलेंगे जो विश्वास करें । मि० राउलेन्सन विदेशी विद्वान् हैं । विदेशियोंका, विशेषतः विभिन्न धर्मावलम्बियोंका यह सहज स्वभाव होता है कि वे दूसरे देशों और धर्मप्राणोंकी अलौकिकताओंको "भयडलीला" या "पोपलीला" समझते हैं । इस लेखके ईसाई लेखकने सन्त तुकारामके अलौकिक चमत्कारोंका न केवल वर्णन ही किया है बल्कि बड़ी श्रद्धासे उनके सम्बन्धमें कलम चलायी है । लेखक तुकारामजीको अत्यन्त ऊँची दृष्टिसे देखता है । एक विदेशी विद्वान्की दृष्टिमें हमारे सन्त कवि तुकारामका क्या स्थान है—इसी उद्देश्यको मद्देनज़र रखकर मैं यह लेख 'कल्याण' के पाठकोंकी सेवामें सादर उपस्थित करता हूँ । अनुवादक]

सन् १६०८ ई०, महाराष्ट्रमें एक जागृतिका जमाना था । दक्षिणके अत्यधिक एकान्त स्थानोंमें कहीं-कहीं पतली नग्न पहाड़ियोंके साथ उन्मुक्त ऊँची चौरस भूमि (Plateau), विशाल सूर्य-मार्जित मैदानों, बीहड़ जंगलों और भयङ्कर घाटियोंमें, जहाँ बरसाती जल दूरस्थ सागरतक पहुँचनेके लिये झरनोंमें गिरा करता है—एक नया उत्साह फैला हुआ था । यह एक संयोगकी बात थी कि जब तुकाराम इन्द्रायणीके तटपर स्वप्न देख रहे थे तब रानी जीजाबाई, जूनारके सुदृढ़ किलेमें एक शिशुको जन्म-दान कर रही थीं जो पीछे देशका एक उद्धारक समझा गया था ।

इस लेखके चरितनायक तुकारामका जन्म पक्की सड़कके पास, जो सफेद फ़ीतेकी तरह घाटोंके नीचे-नीचे पूनासे बम्बईतक फैली हुई है, इन्द्रायणी-नदीके तटपर, एक उजड़े हुए गाँवमें हुआ था । उनके घरवाले कई पीढ़ियोंसे छोटी दूकानदारी करते आ रहे थे । गाँववालोंके हाथ वे मिर्च, चावल, आटा, कपड़े और दूसरी चीजें बेचा करते थे । वे जातिके शूद्र, चतुर, परिश्रमी, ईश्वर-भीरु और दक्षिणके प्रसिद्ध देवता बिठोबाके भक्त थे, जो भीमा-नदीके तटपर पण्टरपुरमें, अपने मन्दिरमें विराजमान थे । माँ-बापकी चार सन्तानोंमेंसे तुकाराम द्वितीय थे । लोग कहते हैं कि तुकारामके जन्मके ठीक पहले उनकी माँ कनकाई एक निर्जन मन्दिरमें गयी थीं । जन्मके बाद तुकारामको

उनकी माँ देवताके चरणोंके पास ले गयीं और उन्हें उनकी सेवामें समर्पण कर दिया । लोग कहते हैं कि इसी समयसे उनके चेहरेपर पवित्रता और प्रकाश झलक मारने लगा था ।

सन् १६२१ ई० में जब तुकाराम केवल १२ सालके थे, उनके पिता बोल्हाजीने, पवित्र हिन्दुओंके आचरणके बाद, अपना काम-धन्धा छोड़कर संसारसे विश्राम ले लेना चाहा । इधर उनके ज्येष्ठ पुत्र सवाजी भी, जिन्हें व्यापारमें कम अनुराग था, संन्यासी होना चाहते थे । इस तरह सारा कर्त्तव्य-भार युवक तुकारामके कन्धोंपर आ पड़ा । एक सांसारिक और भावुक लड़के तुकारामका, सवाजीसे अधिक झुकाव, मिर्त्त तथा मनों चावल तौलनेका नहीं था । तथापि 'मिल्टन' के शब्दों—

'उसकी आत्मा उसके निर्माताकी सेवा और एक सच्चा हिसाब दाखिल करनेके लिये अधिक झुकी' —के अनुसार उस लड़केने साह्लाद इन अमनोनुकूल कर्त्तव्य-भारोंको कन्धोंपर लाद लिया । इसके कुछ ही समय बाद, उसके गार्हस्थ्य-जीवनका प्रारम्भ विवाह-द्वारा कराया गया । तत्कालीन प्रथानुसार उन्होंने दो स्त्रियोंसे विवाह किया था, जिनमें एक रुक्माबाई थीं, जिन्हें उन्होंने उनकी भयङ्कर और असामयिक मृत्यु-तक प्यार किया था तथा दूसरी अवलीबाई थीं, जो एक अभिमानिनी और स्वार्थरता स्त्री थी तथा पतिकी धार्मिक अभिलाषाओंसे जिसे जरा भी सहानुभूति नहीं थी । मराठे साधु अपने वैवाहिक बन्धनसे कभी प्रसन्न न थे । नामदेवको भी ऐसी ही विपत्तिसे सामना करना पड़ा था ।

भगवान्‌के द्वारा सहायता

समय बीतने लगा और बालक तुकाराम अपने काममें दृढ़तापूर्वक परिश्रम करने लगे । अपने बैलोंकी उन्होंने अपने हाथोंसे ही सेवा की, नयी पूँजी लगायी और नया कारोबार प्रारम्भ कर दिया, किन्तु दुर्भाग्यने उनका पीछा न छोड़ा । अधिक ईमानदार और अधिक अव्यवहारिक होनेके कारण वह एक सफल व्यापारी होनेके अयोग्य थे । न तो उन्होंने कभी वजनमें कमी की और न ठगी या झूठको ही प्रश्रय दिया । परमात्माका नाम सदा उनके होठोंपर नाचा करता था । यद्यपि उनके पड़ोसी कहा करते— 'अपने कारोबार-का अधिक और परमात्माका कम ध्यान रक्खा करो नहीं तो तुम बहुत ही शीघ्र दरिद्र हो जाओगे ।'— उपदेशकोंमें एक ऐसा भी था जो कष्टोंमें उनकी बराबर सहायता किया करता था । किंवदन्तियोंसे प्रकट होता है कि जब वह एक भयङ्कर अन्धड़के कारण वन्य पशुओंके बीच फँस गये थे और उनके बस्ते ढीले होकर बैलोंकी पीठोंपरसे लुढ़क पड़े थे तो किसप्रकार एक रहस्यमय आगन्तुक हठात् प्रकट हुआ तथा उसने उन्हें तथा उनके जानवरोंको ठीक रास्तेपर लगा दिया ।

एक दूसरे मौकेपर भी इसी आगन्तुकने तुकारामको उन ग्रामीणोंसे, जिन्होंने उन्हें लूट लिया था, 'बकिऔटा' वसूल करनेमें सहायता पहुँचायी थी । कथा इसप्रकार है—एक दिन सन्ध्या-समय तुकारामने अपने बस्तोंको एक पीपलके नीचे उतारा । उनकी चारों ओरके समवेत दर्शकोंने पूछा—'कितना लोगे ।' तुकारामने उत्तर दिया— 'जो कुछ आवश्यक हो उचित मूल्यपर ले लो ।' उस समय उनका मन बहुत दूर परमात्माके ध्यानमें निमग्न था । जब भुगतानका समय आया तो ग्रामीणोंने कसम खाकर कह दिया कि 'हमलोगोंने कोई चीज नहीं खरीदी ।' उस समय एक ग्राम्य-अफसरके वेषमें वही आगन्तुक पुनः प्रकट हुआ और देखते-देखते सभी रुपये एकत्र कर लिये गये । तुकारामने, विना जाने ही कि वह किसका

सत्कार कर रहे थे, अपने मित्रसे बैठ जाने और भोजन करनेकी प्रार्थना की । इसप्रकार स्वयं भगवान्‌ने एक ऐसे क्षुद्र शूद्रके यहाँ भोजन किया, जिसके साथ ब्राह्मण कभी खाना-पीना स्वीकार न करते ।

'हरिको भजे सो हरिका होई'

अब तुकारामपर संकट बढ़ने लगे । भगवान् उनकी परीक्षा ले रहे थे । उनके वृद्ध माता-पिता चल बसे, सवाजीकी स्त्री भी गतायु हुई और सवाजीने भी भजनानन्दी होनेकी अपनी कामना पूरी की । इसी समय १६२९-३० ई० का भयंकर दुर्भिक्ष देशमें फैल गया । तुकारामका सारा कारोबार बैठ गया और भूख इन लोगोंका शिकार करने लगी । उनका छोटा लड़का उनकी गोदमें ही भूखसे तड़प-तड़पकर मरा और उनकी हृदयेश्वरी रुक्माबाई रोटी-रोटी चिल्लाती गतायु हुई । इतने संकट सहनेपर भी तुकारामने भगवान्‌की आस्था न छोड़ी । उन्होंने बही-खातोंको भस्मसात् कर— जिनमें खदुकोंको दी हुई रकमें चढ़ी थीं—बण्डारा पहाड़ीकी ओर पयान किया और वहाँ जाकर एक गहरी समाधिके आनन्दमें डूब गये । बहुत दिनोंकी खोज-ढूँढ़के बाद तुकारामके भाई कन्होबाने उन्हें यहीं पाया था ।

भगवान्‌का आदेश

अब तुकारामका जीवन बदल गया था । उन्होंने परमात्माको अति निकटसे देख लिया था और उनका जीवनोद्देश उनके सामने प्रकट हो चुका था । क्योंकि जब वह समाधिमें लीन थे उन्हें पवित्र स्तवनोंको गानेका आदेश हुआ था और वह उत्सुकतापूर्वक हस्तलिखित धर्मपुस्तकोंका अध्ययन करने तथा 'अभङ्गों' (भजनों) को लिखने लगे थे, जिनमें उन्होंने अपने धार्मिक अनुभवोंको एकत्र किया था । उन्हें जो आदेश हुआ वह इस प्रकार था—'मेरे दास नामदेवके कार्यको पूरा करो ।' इसपर उनके कण्ठसे पद स्वयं ही इसप्रकार निकलने लगे थे जैसे वर्षाके बाद प्रायः नयी घास पृथ्वीके गर्भसे फूट पड़ती है । तुकारामके सम्बन्धमें उस समयकी बहुत-सी कथाएँ प्रचलित हैं ।

सेन्ट फ्रान्सिसकी तरह वह चिड़ियोंको भी प्यार करते थे और तबतक सन्तुष्ट नहीं होते थे जबतक उन्हें कन्धोंपर नहीं बैठा लेते थे । एक बार वह एक कृषककी खेतकी रखवालीपर नियुक्त हुए, पर लुटेरोंको खदेड़नेकी उनकी इच्छा न हुई । कृषकने, उजाड़ खेतोंके लिये, उन्हें अपराधी ठहराया, पर आश्चर्य ! जब वे देखने आये तो खेत पूर्ववत् लहलहा रहा था और सतरह 'खण्डियाँ' नाज, बालियोंमेंसे एकत्र किया गया । इससे प्रसन्न होकर कृषकने तुकारामको दो खण्डियाँ ईनाममें दीं जिन्हें उन्होंने (विशेषतः अपनी स्त्री अबालीकी ऊबके कारण) लेनेसे इन्कार कर दिया ।

तुकारामके धार्मिक विश्वासोंके प्रति अपनी अधीरताकी जगह अब अबाली सचमुच अपने हठी पतिको प्रेम करने लगी थी । इसका सारा दोष वह हरिके मत्थे मढ़ती थी और अब उसके पति जैसे ही समाधि लगाने बैठते वह उनके लिये नित्य जल और भोजन ले आती ।

एक दिन जैसे ही वह अपने पतिके पास थकी-माँदी तथा लम्बी यात्रापर बड़बड़ाती हुई खेतोंसे होकर पैदल जा रही थी कि पैरमें एक काँटा चुभ गया और हरि उसके निकट प्रकट हुए । हरिने कहा—'मुझे क्यों कोस रही हो ? मैंने तुम्हारे पतिको तुमसे अलग नहीं किया है । फल पका हुआ है इसीसे यह वृक्षसे गिर गया है ।' जैसे ही उन्होंने यह कहा, पैरसे काँटा निकल गया पर अबालीने उनकी बातोंपर ध्यान न दिया । उसने चिल्लाकर कहा—'वहाँ वह मूर्ख भोजनके लिये प्रतीक्षा कर रहा होगा और यहाँ

मैं बैठी गप्पें मार रही हूँ।' इतना कहकर वह फिर चलने लगी। दूसरी दफा तुकारामने एक दीन निम्न-जातिकी भिखारी-स्त्रीको, जिसे कोई वस्त्र न था, अवालीके एकमात्र परिधानको दे दिया। घर लौटनेपर इस बातको लेकर अवाली बहुत नाराज हुई, पर हरिने स्वयं ही उसके लिये एक नया रेशमी परिधान लाकर दे दिया।

हर प्रकारसे तुकाराम प्रत्येक जीवपर दया करते थे। यद्यपि स्वयं वह भूखों मर रहे थे, पर एक दीनको ऋणसे मुक्त होनेके लिये अपना सर्वस्व उन्होंने अर्पण कर दिया था। जब पाण्डुरङ्गका मन्दिर गिर पड़ा था तो उन्होंने स्वयं मजदूरकी हैसियतसे काम किया था और अपने भाण्डारसे दूसरे काम करनेवालोंको अनाज भी दिया था। जब उनके पड़ोसी तेल चाहते वह तेलके व्यापारियोंके यहाँ तेलके घड़ोंको लादकर पहुँचते, पर अफसोस! वह बुरी तरह ठगे जाते थे; क्योंकि एवजमें कितना लेना चाहिये इसका उन्हें न तो ज्ञान ही था और न वह इसपर ध्यान ही देते थे। जब भनभनाती हुई मधु-मक्खियाँ उनके कन्धोंपर बैठतीं वह उड़ानेकी चेष्टा नहीं करते। वह उन बूढ़े और अपाहिज गाय-बैलोंकी भी, जो जङ्गलमें मरनेके लिये छोड़ दिये गये थे, रखवाली किया करते और भोजन दिया करते थे। नितान्त थोड़ी आयके रहते भी उन्होंने यात्रियोंको भोजन और जल तथा बीमारोंको ओषधिकी सहायता पहुँचायी थी।

योद्धा और संन्यासीकी भेंट

अब तुकारामकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक फैल चुकी थी। अपनी कीर्त्तिके उत्थान-कालमें स्वयं महाराजा शिवाजीने भी उनके सम्बन्धमें सुना और एक दूतको उन्हें दरबारमें लानेके लिये भेजा, पर तुकारामके लिये ये मसालें, छत्र और घोड़े अनावश्यक थे। अतः उन्होंने लिखा, 'ऐसी चीजें मेरे लिये नहीं हैं। चट्टान मेरे लिये बिस्तर और आकाश ओढ़ना है। कीमती पोशाकें तथा जवाहरात आत्माके लिये बन्धन हैं। भजनानन्दी जीवन ही सच्चा सुख है। एकमात्र इसी बातकी शिक्षा ग्रहण करो कि प्राणिमात्रमें एक ही आत्मा है।' शिवाजी तुकारामके इस सन्देशसे इतना प्रभावित हुए कि वह स्वयं उनके दर्शनके लिये पहुँचे और धूलिमें दण्डवत् करते हुए उन्हें सोनेकी एक थैली तथा तुलसीकी एक माला अर्पण की। उस दिन रातमें उन्होंने कविका कीर्त्तन सुना। तुकारामने गाया—

'संसार एक माया है। यह छिन्न-भिन्न और स्वप्नकी तरह नष्ट हो जायगा। परमात्माकी पूजा करो। इसप्रकार तुम अपने पिता और अपनी आत्माकी रक्षा कर सकोगे।'

तुकारामके इस उपदेशसे शिवाजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने सदाके लिये संसार त्यागनेका दृढ़ संकल्प कर लिया, पर सौभाग्यसे यह समाचार राजमाता जीजाबाईके पास पहुँचाया गया।

जीजाबाई अपने पुत्रकी धर्मकी ओर गहरी प्रवृत्ति सुनकर बहुत घबरायीं। वह फौरन् तुकारामके पास पहुँचीं और उनसे कहा—'यदि मेरा पुत्र संसार-त्यागी हो जायगा तो राज्यकी रक्षा कौन करेगा?' उसी रातको तुकारामने अपने नये शिष्यको वीर-कर्त्तव्यपर उपदेश दिया। उन्होंने कहा—'प्रत्येक जातिके लिये अपना-अपना बँटा हुआ काम है। क्या अरबी घोड़ा हल जोत सकता है! ब्राह्मण देवताकी सेवा करते हैं, गृहस्थ घरके कामोंकी व्यवस्था करता है और संन्यासी संसारका त्याग करता है। योद्धा-का यही कर्त्तव्य है कि वह शत्रुओंको जीते, धर्मकी रक्षा करे, दीन-दुखियोंको भोजन दे तथा ब्राह्मणोंका सम्मान करे, मिथ्यासे दूर रहे, किसीको न सताये,

परमात्माको न भूले और प्राणिमात्रमें उन्हें ढूँढनेका प्रयत्न करे। इन्हींका पालन करो तब तुम संसारमें निश्चिन्त रह सकोगे।' इन बातोंसे सन्तुष्ट होकर शिवाजी फिर वापस चले गये।

यह कहा जाता है कि एक दूसरे अवसरपर तुकारामके पूनामें रहनेके सम्बन्धमें सुनकर, शिवाजी अपनी जानको खतरेमें डालते हुए वहाँ पहुँचे। मुसलमान सेनापतिने चाकनमें ही यह सुनकर अपने घुड़सवारोंको नगर घेर लेने तथा शिवाजीको गिरफ्तार करनेके लिये भेजा, पर तुकारामको यह बात मालूम हो गयी और उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की। तदनुसार हरिने स्वयं शिवाजीका वेष धारणकर पीछा करनेवालोंको ऐसा छकाया कि शिवाजी और उनके साथी बेदाग निकल गये।

× × ×

ईर्ष्या

कई स्थानोंमें तुकारामकी प्रसिद्धिने ईर्ष्या और द्वेषको जन्म दिया। उनकी ब्राह्मणोंसे अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी ब्राह्मणोंने एक दीन शूद्रके भगवन्नामोच्चारणके साहसको गुस्ताखी ही समझा। देशपाण्डे नामक एक ब्राह्मणके सम्बन्धमें एक कथा प्रचलित है कि जब उसने प्रार्थना की कि उसे पुराणोंको समझनेकी क्षमता प्राप्त हो तो रातमें उसे एक आवाज सुनायी पड़ी कि तुम जाओ और तुकारामके चरणोंके पास बैठो। वह अनिच्छापूर्वक तुकारामके पास पहुँचा। उन्होंने उसके लिये कुछ पदोंकी रचना की जो 'उत्तम ज्ञान' के नामसे विख्यात है। इससे ब्राह्मणोंको बड़ी चिढ़ हुई और उन लोगोंने कहा—'यह शूद्र कौन है? हमें प्राचीन पुराणोंको ही पढ़ना चाहिये, इस नीच और गँवारू भाषाको नहीं।'

एक बार तुकाराम चिंचवाड़के पुरोहित-परिवार 'देग' के साथ, कृपा-भावकी प्रेरणासे, भोजनके लिये निमन्त्रित किये गये थे। दो थाल बिठोबा और गणपतिके लिये लाये गये थे, पर दोनोंके ऊपरका भात ऐसा अदृश्य हुआ जैसे कोई अलक्ष अतिथि उन्हें साफ कर गया हो। दोनों देवता नीच-जातिके साथ ही भोजन करनेके लिये उतर पड़े। इस घटनाने स्थानीय पुरोहितोंका द्वेष द्विगुणित कर दिया और उनपर नयी आफतें बरपा होने लगीं। एक मम्बाजी नामक गोसवी ब्राह्मणने उन्हें नागफनियोंसे बड़ी बेरहमीके साथ पीटा। उनका अपराध यही था कि शूद्र होकर उन्होंने बिठोबाके मन्दिरमें जानेका साहस किया था। इन सारे कष्टोंको उन्होंने साधुजनोचित सरलतासे झेल लिया। एक दूसरे ब्राह्मण रामेश्वर भट्टने उनसे कहा—'शूद्र-जाति होनेके कारण उन्हें पवित्र मन्दिरमें जानेका कोई अधिकार नहीं है और साथ ही उन्हें अपनी रचनाओंको नदीमें फेंक देनेकी भी आज्ञा दी गयी। तुकारामको ब्राह्मणकी आज्ञा पालन करनेमें कोई आपत्ति न थी। आदेशानुसार उन्होंने कार्य सम्पादन किया, किन्तु उनकी प्रिय रचनाओंके नाशने उनका हृदय विदीर्ण कर दिया। तेरह दिनोंतक वह मन्दिरके सामने खुले पत्थरपर मर्माहत पड़े रहे। अन्तमें १३ वें दिन उनकी अमूल्य पाण्डुलिपि ज्यों-की-त्यों नदीकी सतहपर तैरती हुई दिखलायी पड़ी।

उन्हें कष्ट पहुँचानेवाले भी अन्तमें उनके चमत्कारोंसे प्रभावित होकर मुरीद बन गये।

पुकार

१६४९ ई० में जब तुकाराम ४० वर्षके थे उनकी पुकार हुई। वह अपने अनुयायियोंके बीचसे अदृश्य हो गये। कोई नहीं जानता वह कैसे और कहाँ गये। उनके ग्रन्थ—जो चमत्कारद्वारा नदीसे बचा लिया गया था—में लिखा हुआ है कि, 'इस

दिन, प्रातःकाल, तुकोबाने यात्राके लिये पयान किया। अन्तिम बिदा।' वह फिर कभी देखे न गये।

तुकाराम मराठा-इतिहासमें एक स्मरणीय और मौलिक पुरुष हैं। उनकी रचनाओंमें उनकी शैलीकी एक विशेष छाप है। वह एक चतुर और विनोदी थे! प्रपञ्चीसे वह दूर रहते थे। व्यक्तिकी पूजा उनके लिये प्रकृति-विरुद्ध बात थी। परमात्मामें उनका पूर्ण विश्वास था और वह परम त्यागी थे। तुकारामका अध्ययन करनेके लिये यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि उनके लिये परमात्मा एक, नित्य, आभ्यन्तरिक और सत्यस्वरूप थे। उनका प्रेम-सम्बन्धी पद असाधारण है। साधारण-से-साधारण आदमी, गाड़ीवान, सिपाही, खेत जोतनेवालेतक कामपर जाते समय, उनके पदोंको गाया करते हैं! आलन्दी या पण्ढरपुरकी ओर पैदल यात्रा करनेवाले यात्री भी इसे टेरा करते हैं। जबतक आप तुकारामका अध्ययन नहीं करते तबतक आप मराठोंके विषयमें पूर्ण जानकारी प्राप्त ही नहीं कर सकते।



सत्यासत्य-विवेक

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

श्यामा–अरी बहिन कोकिला! तेरी अमृत-जैसी वाणी सुनते-सुनते तो मेरी तृप्ति ही नहीं होती, क्या आज मेरी एक शंकाका समाधान करके कृतार्थ करेगी? तुझसे बार-बार प्रश्न करते मुझे लज्जा आती है परन्तु तेरे-जैसा समाधान करनेवाली भी दूसरी कोई दृष्टिगोचर नहीं होती, तब मनको शान्ति कैसे हो?

कोकिला–बहिन! पूछनेमें इतना संकोच क्यों करती है? तेरे-जैसी बहिन मुझे बड़े भाग्यसे प्राप्त हुई है जो मुझे भूली हुई अच्छी बातें स्मरण दिला देती है। विसरण हुए अपने-अपने धर्मका बार-बार स्मरण करना ही तो बुद्धिमानोंका काम है, धर्मका बार-बार स्मरण न करनेसे ही मनुष्यका पतन होता है।

श्यामा–बहिन! वेदान्तशास्त्र और तत्त्वज्ञ ब्रह्मनिष्ठ गुरुजन भूत और वर्तमानके वाक्यकी घोषणा करते हैं 'कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है' यह उनका कथन केवल वाचारम्भणमात्र ही नहीं है, श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे भली प्रकार सिद्ध है। परन्तु सबकी बुद्धि इस बातको ग्रहण नहीं करती कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। यदि जगत्को मिथ्या माना जायगा, तब तो फिर सब व्यवहार लोप हो जायगा, कोई क्रिया-कर्म सार्थक नहीं होंगे। किन्तु ऐसा नहीं है, श्रुति क्रिया-कर्म करनेको बार-बार कहती है। कर्मकाण्डकी अनेकों श्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं। जिनमें कहा गया है कि यज्ञ-दानादि कर्म करनेसे स्वर्ग मिलता है, अश्वमेधादि यज्ञ करनेसे इन्द्रपद प्राप्त होता है, कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतोंसे ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्यासे मुक्ति होती है, नित्य-नैमित्तिक और प्रायश्चित्त-कर्मोंके करनेसे जाने-न-जाने पापोंसे छुटकारा मिलता है। यदि स्वप्नके समान जाग्रत्-अवस्था भी स्वप्न है तो स्वप्नके कर्मोंका तो फल कुछ नहीं होता, और न कोई उन कर्मोंका प्रायश्चित्त है। स्वप्न-कर्मोंका फल न होनेसे वास्तवमें स्वप्न झूठा है। परन्तु जाग्रदवस्थाके कर्मोंका फल तो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि जो पुत्र-प्राप्तिके लिये इस लोकमें तप-अनुष्ठानादि करते हैं उनको पुत्ररूप फल प्राप्त होता है और जो परलोक-सुधारके लिये कर्म

करते हैं उनको परलोकमें सद्गति प्राप्त होती है परलोकके कर्मोंका फल भी प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। कोई राजा है तो कोई रंक। कोई सुखी है तो कोई दुखी। कोई कुबुद्धि है तो कोई सुबुद्धि। कोई स्त्री है तो कोई पुरुष। कोई ब्राह्मण है तो कोई शूद्र। कोई रोगी है तो कोई नीरोग। कोई स्वस्थ है तो कोई अस्वस्थ। कोई सर्वमान्य है तो कोई अमान्य। कोई विना परिश्रम किये ही सुखी तो कोई परिश्रम करनेपर भी दुखी। इसप्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति देखनेमें आते हैं। यह सब कर्मोंका फल नहीं तो और क्या है? *यदि ईश्वर ही सबको बनाता तो सब एक* प्रकारसे होते। परन्तु यहाँ तो सबकी भिन्न-भिन्न गति है इसलिये जाना जाता है कि सब अपने-अपने कर्म भोग रहे हैं। यदि संसार झूठा है तो इसप्रकार कर्मोंका फल कैसे हुआ? क्या ईश्वर अपनी तरफसे किसीको सुखी किसीको दुःखी बनाता है? यदि ईश्वरको ही सुख दुःखका कर्ता मान लें तो फिर ईश्वरको समदर्शी, सर्वज्ञ अथवा न्यायकारी कहना नहीं बन सकता, इस कारण सत्य परमात्मासे उत्पन्न हुआ जगत् सत्य है, क्योंकि जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है, यह नियम है। और इसमें किये हुए कर्मोंका फल नित्य है। झूठेके तो सभी क्रिया-कर्म झूठे होते हैं जैसे स्वप्नके। इस जाग्रदवस्थामें तो पद-पदपर शास्त्र अच्छे-बुरे कर्मोंके फलकी दुहाई देते हैं, फिर जगत् मिथ्या कैसे हुआ?

कोकिला–अरी बहिन! तत्त्वज्ञ ऋषिगण इस जगत्को जैसा कहते हैं वस्तुतः यह वैसा ही है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। जिन मनुष्योंकी आँखोंपर रंग-बिरंगे चश्मे चढ़े हैं यानी मायाका परदा पड़ा है उन्हींको संसार सत्य दिखायी देता है। यह जगत् तीनों कालमें सत्य नहीं है। क्योंकि जिस वस्तुको आज जैसी देखती हो कल ही वह उससे भिन्न दिखायी देती है, अर्थात् सब वस्तुएँ क्षण-क्षणमें परिणामको प्राप्त होती रहती हैं। माता-पिता यह मानते हैं कि हमारा पुत्र दिन-दिन बड़ा हो रहा है, यह उनकी भूल है। पुत्र तो क्षण-क्षणमें क्षीण होता चला जा रहा है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तुमात्रमें देखो। वस्त्र जैसा आज है कल वैसा नहीं, उसमें अवश्य परिणामता आ जाती है। घट जैसा आज है कल ही उससे भिन्न प्रकारका भासता है। संसार पानीके बुदबुदेके समान है, बनता और बिगड़ता रहता है। जो वस्तु बने और नष्ट हो वह सत्य कैसी? जो शरीर अभी हृष्ट-पुष्ट और अति सुन्दर दिखायी देता है क्षणमात्रमें उसकी विचित्र *दशा हो जाती है। कोई आता है कोई जाता है। जैसे* वृक्षपर रात्रिको पक्षी बसेरा लेते हैं, सबेरा होते ही सब अपनी-अपनी दिशाओंको चले जाते हैं। इसी प्रकार यह जीव भी शरीररूपी वृक्षपर बसेरा लेता है, फिर उड़ जाता है। जैसे उड़नेवाले पक्षीका रोकना असम्भव है, इसी प्रकार जीवात्माका रोकना दुर्धर्ष है। जो आता और जाता है वह सब असत्, मिथ्या और स्वप्न तथा मनोराज्यके सदृश है। मिट्टीकी जितनी वस्तुएँ घड़े, सकोरे, सरावे इत्यादि जो कुछ भी हैं सब असत्य और विकारी हैं परन्तु मिट्टी सत्य और अविकारी है। इसी प्रकार एक परमात्मा सत् और अविकारी है उससे उत्पन्न हुआ यह नाम-रूपवाला विकारी जगत् असत् और नाशवान् है। असत् होनेसे व्यवहार लोप नहीं हो सकता, क्योंकि व्यवहार झूठेमें भी होता ही है। घड़ा झूठा है फिर भी पानी इत्यादि भरनेका काम लिया ही जाता है। झूठा होनेपर भी काम देता ही है। इसी प्रकार जगत् झूठा होनेपर भी व्यवहार हो सकता है। झूठे मिट्टीके खिलौनोंसे बालक बहला दिये जाते हैं अर्थात् बच्चे खेलते ही हैं। एक बार मिट्टीके खिलौने देखकर एक राजपुत्र मचल गये। राजाने बहुत-से सोने-चाँदीके खिलौने बनवाकर दिये। परन्तु राजकुमार चुप न हुए। तब गुरुने कहा कि, हे राजन्! कुवँर ऐसे चुपके न होंगे, इनको तो नित्य-नये

मिट्टीके खिलौने मँगाकर दो, तब यह प्रसन्न होंगे। राजाने ऐसा ही किया। तब राजकुमार प्रसन्न हो नित्य नये-नये खिलौनेसे खेलने लगे। इस कारण व्यवहारमें सच्ची ही वस्तु हो तभी व्यवहार चले, यह कोई नियम नहीं है। झूठे कागजके रुपयोंसे व्यवहार चलता ही है। यह जगत् सत्य परमात्मा-का क्रीड़ास्थल है या खिलौना है। जब परमात्मा क्रीड़ा करना चाहता है तब नाना प्रकारके नाम-रूप-वाले खिलौने बनाता है और क्रीड़ा करता है।

शंका—यदि ऐसा ही है तब तो ईश्वरमें विषमता-दोष हो गया। क्योंकि किसीको कैसा और किसीको कैसा बनाता है। ऐसा होनेसे भगवान्‌को समदर्शी नहीं कहा जा सकता। कोई सुखी, कोई दुःखी और कोई ऊँच, कोई नीच देखनेमें आते हैं। जब सब परमात्माने बनाये, तब यह भेद कैसे ?

समाधान—नहीं, नहीं। परमात्मामें विषमता-दोष नहीं आ सकता, क्योंकि परमात्मा अपनी तरफसे किसीको किसी प्रकारका नहीं बनाता। ईश्वर तो जीवोंके अनादि कर्मोंको लेकर जीवोंको ऊँच तथा नीच, सुखी वा दुःखी बनाता है। जैसा जिसका कर्म होता है वैसा ही वह जीवरूपी खिलौना' बनाता है और तभी सर्वज्ञ परमात्मा क्रीड़ा करना चाहता है, जब जीवोंके भोग भोगनेके कर्म आते हैं। अपनी इच्छासे असंग परमात्मा कुछ भी करता-धरता नहीं। और तू जो यह कहती है कि कर्म-फलको सत्य बतानेवाली श्रुतियाँ भी कर्मकी प्रशंसा करती हैं और प्रत्यक्ष भी कर्मफल सत्य देखनेमें आता है, सो वास्तवमें श्रुति कर्मफलके नित्यत्वपनेकी प्रशंसा नहीं करती, श्रुति तो उन मन्दबुद्धि जीवोंको कि जिनकी बुद्धिमें ब्रह्म-तत्त्व दुर्गम है, कर्मोंमें लगाने-के लिये उनकी प्रशंसा करती है, जिससे नीचे गिरानेवाले कर्ममें आसक्त न रहकर मनुष्य ऊँचे ले जानेवाले कर्ममें प्रेम कर सके। परन्तु जो इन कर्मोंको ही नित्य मानकर इन्हींमें आसक्तचित्त रहते हैं उनकी तो श्रुति निन्दा करती है। श्रुति कहती है कि जो कर्मोंको सार मान उन्हींकी उपासना-में रत रहते हैं, वे तो स्वर्गकी पीठपर सुख भोग-कर अन्तको हीनतर अर्थात् नीच-से-नीच योनियोंको सदाके लिये प्राप्त होते हैं, क्योंकि जबतक पुण्य रहता है तबतक कर्मकाण्डी स्वर्गमें सुख भोग करते हैं, पुण्य समाप्त होनेपर नीचे मृत्युलोकमें ढकेल दिये जाते हैं। दूसरी श्रुति कहती है कि, वह अकृत सुखरूप परमात्मा कृत यानी कर्मोंसे प्राप्त होनेयोग्य नहीं है। ऐसी अनेक श्रुतियाँ कर्मोंकी निन्दा करती हैं। महापुराण भागवतमें बहुत स्थलों-पर कर्मोंकी निन्दा की गयी है। प्राचीनबर्हि राजाकी जो कि बहुत कर्मकाण्डी थे, यहाँतक कि यज्ञ करते-करते उनके यज्ञोंसे पृथिवी कुशाओंसे परिपूर्ण हो गयी थी, यज्ञ करनेमें अति श्रद्धा भक्ति थी। वह उसी यज्ञको जीवनका सार समझते थे और इससे आगे जानेका भी कोई ऊँचा मार्ग है, इस बातकी उनको कुछ खबर ही न थी। भगवान् नारदको दया आयी और वे राजाके पास आकर कहने लगे कि, हे राजा ! तू यह क्या करता है? यज्ञ करते-करते तूने सारी पृथिवी कुशाओंसे आच्छादित कर दी है, फिर भी तेरी तृप्ति नहीं हुई! क्या कर्मोंसे कर्मोंका निराकरण हो सकता है? देख, जिन पशुओंकी तूने यज्ञमें बलि दी है वे सब पशु तेरे मरनेकी बाट जोह रहे हैं कि, जब यह मरेगा तब हम भी इसको इसी प्रकार मारेंगे। जैसे इसने हमारा मांस स्वादिष्ट बना-बनाकर खाया है वैसे ही हम भी इसका मांस खायँगे। इसप्रकार नारद भगवान्‌की कृपासे राजाने सैकड़ों पशुओंको अपने मारनेको उद्यत हुए देखा। तब तो राजाको अति दुःख हुआ और उसको कर्मोंसे वैराग्य हो गया। तब ऋषि कहने लगे कि हे राजा ! शुभ अथवा अशुभ चाहे जैसे भी कर्म हों, हैं तो सब कर्म ही। उनका फल अवश्य मिलेगा। क्योंकि मन, वाणी, शरीरसे जो भी कुछ क्रिया की

जाती है उसका फल अच्छा या बुरा अवश्य होता है। बुरे कर्मका फल दुःख और अच्छे शुभ कर्मका फल सुख है, परन्तु हैं सब अनित्य। जैसे दुःखका अन्त होता है वैसे ही सुखका भी अन्त है, क्योंकि अन्तवाले और अनित्य संसारमें कर्म किये जाते हैं, तब उसमें किये कर्म भी अन्तवाले और अनित्य हैं। कर्मोंका फल ही संसार है। करनेसे जो क्रिया उत्पन्न होती है वह दुःखरूप और अनित्य होती है। जो उत्पन्न होता है उसका नाश होता है। तीनों गुण पाँचों भूत उत्पन्न हुए हैं, इसलिये अनित्य हैं, तब उनका बना संसार कैसे नित्य हो सकता है? जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य होता है। जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य नष्ट होगा। गीतामें भगवान्‌का वचन है कि, जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है और जिसकी मृत्यु है उसका जन्म अवश्यमेव है। इस कारण हे बहिन! जो उत्पत्ति-नाशवाला है वह सत्य कैसे? उत्पन्न होनेवाले सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की आयुका भी अन्त है तब औरोंका तो कहना ही क्या! सत्य तो वही होता है जो हमेशा एक-सा रहे; न बिगड़े, न बने। संसारमें जो सत्यरूप कर्मोंका फल है, स्त्री, पुत्र, शरीरादि देखती हो, क्या ये सत्य हैं? नहीं, ये सत्य कहाँ हैं? उनका तो कलतक भी भरोसा नहीं— सब क्षणभङ्गुर हैं। बड़े-बड़े राजा महाराजा अति कुटुम्बी पृथिवीपर आये और अदृश्य हो गये। आज उनका कहीं नाम-निशान भी नहीं। उनको भी रहने दे। अपनी प्रत्यक्षताको ले, जो मेरे-तेरे प्रिय पिता-पितामह इत्यादि कुटुम्बीजन थे उनका नामतक कोई नहीं जानता। न जाने स्वप्नके समान कहाँ अदृश्य हो गये! तब यह स्वप्न नहीं तो और क्या है? जिसके जहाँके भोग समाप्त हुए, कि वहाँसे वह चल देता है, फिर दूसरे लोकमें जाकर भोगोंको भोगता है। जब वहाँके भी भोग समाप्त होते हैं तो वहाँसे भी चल देता है। बस, इसी प्रकार कर्मकाण्डी एक जन्मसे दूसरे, दूसरेसे तीसरे जन्मोंमें आते-जाते रहते हैं। श्रुति कहती है कि कर्मकाण्डी देवताओंके पशु हैं। जैसे पृथिवीवासियोंके वृषभ, घोड़े इत्यादि पशु हैं इसी प्रकार मनुष्य देवताओंके *बोझा ढोनेवाले पशु हैं। उनको सर्वदा इसी प्रकार* बोझा ढोते ही रहना है जो कर्मको सार और नित्य मानकर उसके करनेमें आसक्तचित्त हैं।

तूने जो यह कहा कि सत्य परमात्मासे उत्पन्न हुआ जगत् सत्य है क्योंकि परमात्मा ही जगत्‌का निमित्त और उपादान-कारण है। सो केवल परमात्मा ही जगत्‌का निमित्त तथा उपादान-कारण नहीं है, क्योंकि परमात्मा असङ्ग, निर्विकल्प, निष्क्रिय, निर्गुण, निरञ्जन, निश्चल, आप्तकाम, पूर्णकाम, मायातीत, गुणातीत, निरवयव, अद्वितीय, स्वच्छन्द अविनाशी देव हैं। ऐसे देवको क्रिया-कलापकी क्या आवश्यकता है? कर्म तो वह करे जिसे कुछ इच्छा हो, उनको कोई इच्छा नहीं, और किसी दूसरेका *शासन भी वहाँ नहीं है कि जिस कारण उन्हें नियम* पालन करना हो। और न उसे कोई बन्धन है। वह ईश्वर सर्व बन्धनोंसे निर्मुक्त है। स्वभावसे ही नित्य, मुक्त, शुद्ध, अविमुक्त परमात्माको जगत् बनानेसे *क्या प्रयोजन?*

शंका—तब जगत् किसने बनाया? मैंने तो यही सुना और समझा था कि, जैसे मिट्टीके सर्व विकार घड़े, शरावे, इत्यादि सर्व मिट्टीरूप हैं और सुवर्णके सर्व भूषण सुवर्णरूप ही होते हैं, ऐसे ही लोहेके सब अस्त्र—छुरी, बसूला इत्यादि लोहारूप ही हैं। इसी प्रकार सत्य परमात्मासे उत्पन्न हुआ जगत् सत्य ही है, क्योंकि उसीके सब विकार हैं। परन्तु तुम ऐसा नहीं कहती हो तब और किसमें ऐसा विचित्र जगत् बनानेकी शक्ति है?

समाधान—बहिन! मायाविशिष्ट ईश्वरसे यह जगत् बनता है, अर्थात् जो सर्वज्ञ ईश्वर मायाको

अपने वशमें किये हुए है उसीकी प्रेरणासे माया यानी प्रकृति इस विचित्र जगत्‌को बनाती है। सर्वान्तर्यामी ईश्वर है कुछ भी करता-धरता नहीं है, उसकी ईक्षण-शक्तिद्वारा सब जगत्‌की उत्पत्ति होती है। निमित्त-कारण ईश्वर है और उपादान-कारण प्रकृति है। यह प्रकृति जड है, परन्तु ईश्वरकी चेतन-सत्ता लेकर जगत्‌को बनाती है।

शंका—फिर यह क्यों कहा जाता है कि सत्यसे उत्पन्न हुआ जगत् सत्य है, सब जगत् ईश्वर-रूप है, ईश्वरसे भिन्न कुछ नहीं। श्रुति कहती है कि सर्व वासुदेवमय ही है। यहाँ नाना कुछ नहीं, भेददर्शी अन्धतम लोकोंको प्राप्त होते हैं।

समाधान—नाम, रूप और आकारों करके जगत् सत्य नहीं है। नाम-रूपसे रहित जो चेतन-शक्ति इन्द्रियोंकी प्रेरक है, वही चेतन यानी सत्य परमात्माकी छाया है, उसी छायासे युक्त समष्टि-नामवाला ईश्वर है, जो जगत् बननेका समय आनेपर ईक्षण-शक्ति करता है और उसी छायासे युक्त व्यष्टि-नामवाले जीव हैं। यह सब माया अथवा उपाधियोंका भेद है। उपाधियोंको दूर कर दो अर्थात् ईश्वरकी समष्टि-उपाधि, जीवकी व्यष्टि-उपाधि। ऐसा होनेपर फिर कुछ रह ही नहीं जाता। इसलिये मायाका कार्य यह जगत् वस्ततः स्वप्नके समान असत् ही है।

कु०—आत्मा साँचा देव है, मत कर सोच-विचार।
एक देव परिपूर्णमें, झूठा सब संसार॥
झूठा सब संसार, नेह ना इससे कर री।
भज सीतावर राम, ध्यान ईश्वरका धर री॥
ईशदेवही सत्य, सत्यमें मृषा अनात्मा।
'जयदेवी' सब त्याग, ग्रहण कर सच्चा आत्मा॥

श्रीभगवन्नाम

(लेखक—कुमार श्रीश्रीशचन्द्र पोद्दार)

कलियुगमें भगवन्नाम ही मुख्य साधन है।


नुष्यका मुख्य उद्देश्य है ईश्वरप्राप्ति। यदि मनुष्य उसे भुलाकर केवल खाने-पीनेमें या स्त्री-पुत्र, सन्तति-सम्पत्तिके मोहमें ही उलझा रहे तो उसका जन्म वृथा ही चला जाता है। इसलिये उसे संसार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये कुछ-न-कुछ उपाय अवश्य करना चाहिये। शास्त्रोंने चार युग माने हैं और चारोंमें चार प्रकारके मुख्य साधन ईश्वर-प्राप्तिके बतलाये हैं। सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ और द्वापरमें अर्चनासे ईश्वर-प्राप्ति होती है। परन्तु कलियुगमें इन सब साधनोंका भली-भाँति होना बहुत कठिन है इसलिये इस युगमें भगवन्नामको ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य हेतु बतलाया गया है।

इसकी पुष्टि भगवान् व्यासने भी की है। उन्होंने कृतादि युगोंकी अपेक्षा कलियुगको श्रेष्ठ बताते हुए कहा है कि कलिमें केवल भगवन्नामके उच्चारणसे ही भगवत्-प्राप्ति हो जाती है—

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ सङ्कीर्त्य केशवम्॥

श्रीभगवन्नाम-जप, नाम-गुण-कीर्तन और प्रार्थना

जप—मालाके द्वारा या यों ही संख्याका खयाल रखकर मन, वाणीसे किये जानेवाले नामोच्चारणका नाम जप है। कीर्तन—सबके सामने या अकेले मुखसे नाम या गुणोंका जोर-जोरसे उच्चारण करना

कीर्तन है। प्रार्थना—अपनेको पतित, पापी, अज्ञानी समझकर अति विनयके साथ भगवान्‌से कल्याणके लिये कहना प्रार्थना है।

जप करनेवाला व्यक्ति अपना ही उद्धार करता है किन्तु कीर्तन करनेवाला अपना और सुननेवालोंका भी उद्धार करता है।

जप, कीर्तन, प्रार्थना—इन तीनोंका ही माहात्म्य असीम है और संसारमें विदित है। उदाहरण—

१—वाल्मीकिजी बड़े मूर्ख और निर्दयी थे। वे मनुष्यों-का वधतक कर डालते थे। एक दिन एक मुनिने बहुत समझाकर कहा कि तुम रामका नाम जपा करो। इसप्रकार पाप क्यों कमाते हो? इसपर वाल्मीकि बोले कि आपने जो मुझे नाम बताया है, उसका उच्चारण मुझसे नहीं होता। तब मुनिने कहा कि अच्छा तुम 'मरा मरा' जपा करो। वाल्मीकिजी 'मरा मरा' उलटा नाम जपने लगे और उसीके फलस्वरूप वे ब्रह्मके समान हो गये। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्मीक भे ब्रह्म समाना॥

इससे अधिक नामका और क्या माहात्म्य वर्णन किया जाय। नामको सीधा न जपकर उलटा जपने-पर भी वाल्मीकिजी ब्रह्मके समान हो गये। अब कौन-सी पदवी बाकी रह गयी?

२—मीराबाई कीर्तन किया करती थीं। उनके कीर्तन-में बाधा डालनेके लिये राणाजीने विषका प्याला भेजा, उसको मीराबाई पी गयीं, परन्तु कीर्तनके प्रभावसे उनपर कुछ भी असर नहीं हुआ। तब राणाने पिटारीमें साँप बन्द करके भेजा। परन्तु जब उस पिटारीको खोला तो साँप एक सुन्दर माला बन गया। देखिये कीर्तनका कितना माहात्म्य है। मीराके कीर्तन-से आज भी लोग संसार-समुद्रसे पार हो रहे हैं।

३—राजा उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं। बड़ी रानीके पुत्रका नाम ध्रुव था और छोटीके पुत्रका उत्तम। छोटी रानीपर राजाकी कृपा-दृष्टि थी। एक दिन ध्रुवका सौतेला भाई राजाकी गोदमें बैठा था। ध्रुव भी उसीके साथ राजाकी गोदमें जा बैठा। इसपर उत्तमकी माँने आकर ध्रुवको गोदसे हटाकर कहा कि राजाकी गोदमें बैठनेका तुझको कोई अधिकार नहीं, इसपर तो मेरी ही कोखसे पैदा होनेवाला बैठ सकता है। ध्रुव रोता-रोता अपनी माँके पास गया और उसने सब हाल कह सुनाया। ध्रुवकी माँने कहा, 'बेटा! भगवान्‌-की जैसी मर्जी होती है वैसा ही दुख-सुख होता है।' ध्रुवने पूछा कि 'माँ! भगवान् कहाँ रहते हैं? मैं उनसे प्रार्थना करके सुख प्राप्त करूँगा।' माँ बोली कि, 'भगवान् सब जगह रहते हैं। एकान्तमें उनकी प्रार्थना करनेसे मिल जायँगे।' तभीसे ध्रुवने ध्रुव निश्चय कर लिया, पाँच वर्षकी अवस्थामें ही प्रार्थना करके ईश्वरको प्राप्त किया। ध्रुव अमर हो गया। आज भी वह अटलरूपसे उत्तर दिशामें आकाशमें विराजता है। यह प्रार्थनाका ही माहात्म्य है।

श्रीभगवन्नाम-जप, कीर्तन, प्रार्थना किस प्रकार करनी चाहिये?

जप दो प्रकारसे होता है—(१) आसनपर बैठकर संख्याकी गणना रखते हुए और (२) चाहे जब चाहे जैसी स्थितिमें रहते हुए। इसमें संख्या रखना-न-रखना अपनी खुशीकी बात है। यह जप चलते, बैठते, खेलते, खाते, रातमें, दिनमें, घरमें, मैदानमें, दूकानमें, बुढ़ापेमें, लड़कपनमें, पुरुषके द्वारा या स्त्रीके द्वारा, सब जगह सब समय किया जा सकता है। अवश्य ही जहाँ-तक हो सके एकाग्र-चित्तसे ही जप करना चाहिये।

कीर्तन

कीर्तन सङ्गीतके साथ अथवा यों ही किया जा सकता है। सङ्गीतके साथ मनुष्यके चित्तका ऐसा

सम्बन्ध है कि वह सुरकी तरफ सहज ही आकर्षित हो जाता है। इससे कीर्तनमें मन ज्यादा लगता है और प्रेम-समाधि-सी हो जाती है। नाम-संकीर्तनमें किसी प्रकारकी असुविधा नहीं है। घूमनेके लिये जाइये, पैदल चलिये, घरमें बैठिये; किन्तु मुखसे भगवन्नामोच्चारण करते जाइये। इसमें किसी प्रकारकी माला और गिनतीकी जरूरत नहीं।

संसारमें कीर्तनसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई अन्य उपाय नहीं है। महात्मा सूरदासजीने कहा है—

सोइ भलो जो रामहिं गावै।

प्रार्थना

प्रार्थनाके लिये किसी शास्त्र या विद्याकी जरूरत नहीं है। अपनी ही भाषामें अपने मनका सच्चा भाव परम पिताके सामने रखना चाहिये। वह सबकी सुनता और समझता है। संसारसे मनको हटाकर नम्र-भावसे प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रार्थनामें ईश्वरसे अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगनी चाहिये। हमेशा भगवान्से यही कहना चाहिये कि—हे ईश्वर! तू वही करना जिससे मेरा कल्याण हो। मुझे सद्बुद्धि दे और पापोंसे बचा।

श्रीभगवन्नाम-जप-कीर्तन अनिच्छापूर्वक तोतेकी भाँति करनेसे भी कल्याण होता है

तोतेकी तरह रटने या करनेसे तात्पर्य यह है कि अर्थका ज्ञान और भान हुए बिना ही जप या कीर्तन करना। अब प्रश्न यह है कि इसप्रकार जप और कीर्तन करनेसे वह मोक्षका साधन होता है या नहीं। इसका उत्तर देना बहुत ही कठिन है, क्योंकि अनुभवके बिना इस विषयपर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस विषयपर मेरा कुछ कहना तो अनधिकार-चर्चा है फिर भी मैं अपने विश्वासके अनुसार इतना लिख सकता हूँ कि भगवन्नाममें इतनी शक्ति है कि उसको तोतेकी भाँति रटनेसे भी मनुष्यका अज्ञानरूपी अन्धकार अवश्य नष्ट हो जाता है। महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं—

राम-नाम-मणि दीप धर, जीह-देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ, जो चाहसि उजियार॥

बिना जाने नाम लेनेसे भी हृदय शुद्ध होता है और हृदयके शुद्ध होनेसे ज्ञान होता है और ज्ञान ही मोक्षका साधन है। उदाहरणार्थ अजामिलको ही लीजिये। जिस समय उसने नारायण नाम लेकर अपने लड़केको पुकारा, उस समय उसे यह ज्ञान नहीं था कि मैं ईश्वरको पुकार रहा हूँ, परन्तु नामके प्रतापसे भगवान्ने उसे मोक्ष दिया। इससे सिद्ध होता है कि तोतेकी तरह बिना जाने ईश्वरका नामोच्चारण करना भी मोक्षका साधन है।

ज्ञानगुदड़ी

जेते विषय हैं ते ते विषसे विषम अन्त, जेते नेह नाते ते ते वह्नि-तुल्य ताते हैं।
जेते लोकगौरव हैं रौरवसमान ते ते, नाकपाल भी तो एक काल-पात पाते हैं॥
भोग सुख जेते परिमाण दुःखरूप ते ते, केवल विवेकशून्य मनको सुहाते हैं।
नीरसा असार जग छाड़ सारसेवी हंस, छीरसे मुकुन्द-पाद चित्त-मध्य लाते हैं॥

—वासुदेव शर्मा

शुद्धाद्वैतमें ईश्वर

(लेखक—विद्यासुधाकर पं० श्रीगोकुलदासजी)

वन्दे श्रीकृष्णदेवन्तं जगतः प्रभवाप्ययम् ।
ब्रह्माद्यचिन्त्यमाहात्म्यं प्रधानपुरुषेश्वरम् ॥



शुद्धाद्वैतमें ईश्वरका वर्णन करनेसे पहले शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तका स्वरूप बतलाना अत्यावश्यक है। शुद्धाद्वैत शब्द 'शुद्ध' और 'अद्वैत' इन दो शब्दोंसे मिलकर बना है। अद्वैत ज्ञानका नाम है, अर्थात् परब्रह्म परमेश्वरसे पृथक् कोई भी वस्तु नहीं है, इसप्रकारके ज्ञानको अद्वैत-ज्ञान कहते हैं। इस तरहका शुद्ध ज्ञान ही शुद्धाद्वैत है। ईश्वरसे भिन्न मनःकल्पित सदसद्विलक्षणरूप मायाका परब्रह्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बतलानेके लिये ही शुद्ध-अद्वैत कहा है।

यहाँ यह शंका होती है कि जगत्में जड, जीव, अन्तर्यामी—ये तीन प्रकारके पदार्थ दिखायी देते हैं, फिर अद्वैत कैसे है? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक जीवके साथ स्थित अन्तर्यामी तो प्रकट सच्चिदानन्दरूप होनेसे परमेश्वरसे पृथक् नहीं है, एवं जीव भी 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः' 'ममैवांशो जीवलोके' 'अंशो नाना व्यपदेशात्' इत्यादि श्रुति-गीता-व्यास-सूत्रानुसार परमात्माका अंश होनेके कारण 'अंशांशिनोरभेदः' इस न्यायानुसार अंशी परमेश्वरसे भिन्न नहीं है; और जितने जड पदार्थ हैं वे भी 'तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत तद्धैतावानास' इत्यादि वेद-वाक्यानुसार समवायिकारण ब्रह्मके ही कार्य हैं, अतएव 'कार्यकारणयोरभेदो मृद्घटवत्' इस लोकदृष्टन्यायसे ब्रह्मसे अभिन्न हैं। इसी प्रकार 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' 'श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या' इत्यादि वेद एवं भागवतादिमें लिखी हुई ज्ञान, बल, क्रिया, श्री, पुष्टि, तुष्टि, कान्ति, विद्या, माया (आच्छादिका, व्यामोहिका, भगवतः सर्वभवनसामर्थ्यञ्च) आदि भगवान्‌की शक्तियाँ, तथा व्यापकत्व, सर्वज्ञत्व, कर्तृत्व, सर्वाधिपतित्व, भक्तवत्सलत्वादि धर्म 'प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्' 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः' अर्थात् सूर्यसे प्रकाश और पुरुषसे उसकी शक्तिकी अभिन्नताकी भाँति भगवान्‌से भिन्न नहीं है।

इस शुद्धाद्वैत-सिद्धान्तके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वम्' 'स्यादिदं भगवान् साक्षात्' इत्यादि वेद, गीता और भागवतादिके अनेक वाक्य पूर्ण समर्थक हैं। यह शुद्धाद्वैत शब्द और सिद्धान्त आनुपूर्वी वेदलिखित है यह बतलानेके लिये वेदके त्रिपाद्-विभूतिमहानारायणोपनिषद्के अष्टमाध्यायका यहाँ उल्लेख किया जाता है—

'ततः पितामहः पृच्छति भगवन्तं महाविष्णुं भगवन्! शुद्धाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तव कथं विरुद्धवैकुण्ठ-प्रासादप्राकारविमानाद्यनन्तवस्तुभेदः। भगवान् महाविष्णुः परिहरति यथा शुद्धसुवर्णस्य कटकमुकुटाङ्गदादिभेदः, यथा समुद्रसलिलस्य स्थूलसूक्ष्मतरङ्गफेनबुद्बुदकरकलवण-पाषाणाद्यनन्तवस्तुभेदः यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृणगुल्मलता-द्यनन्तवस्तुभेदस्तथैवाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणो मम सर्वाद्वैतमुपपन्नं भवत्येव, मत्स्वरूपमेव सर्वम्, मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते।'

तदनन्तर ब्रह्माजीने भगवान् महाविष्णुसे पूछा कि— हे शुद्धाद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मन्! जब आप अद्वैतरूप हैं तो आपके स्वरूपसे भिन्न वैकुण्ठके कोट, महल, विमान, पार्षद, उपवन आदि आदि अनेक वस्तुएँ कैसे हैं? भगवान् आज्ञा करते हैं—जैसे शुद्ध सुवर्णके कड़े-कुण्डल, मुकुट-भुजबन्ध आदि, समुद्रके जलके छोटी-बड़ी तरंगें, फेन, बुद्बुद, ओले, लवण आदि और पृथिवीके पर्वत, वृक्ष, घास, वनस्पति, गुल्म, लता आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं, तथापि सुवर्ण, समुद्र-जल, पृथिवी—इन तीनोंके साथ उन कुण्डलादिका अद्वैत ही है, वैसे ही शुद्ध अद्वैत परमानन्दस्वरूप मुझ परब्रह्मके साथ सबका अद्वैत सिद्ध होता है, क्योंकि पदार्थमात्र मेरा ही स्वरूप है, मेरे स्वरूपसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है।

यद्यपि उपर्युक्त वेदके त्रिपाद-विभूतिमहानारायणोपनिषद्में ब्रह्मदेवने शुद्धाद्वैत शब्दको परब्रह्मका विशेषण कहा है और समस्त वेद-वेदान्तादि शास्त्रोंमें भी यही शुद्ध अद्वैत प्रतिपाद्य है तथापि जगत्में इस शुद्धाद्वैत शब्दके

प्रथम प्रकाशक जगद्गुरु श्रीभगवद्वदन-वैश्वानरावतार श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज हैं, अतः उक्त आचार्यचरणोंने निबन्ध-शास्त्रार्थ-प्रकरणमें पद्यबद्ध जैसा ईश्वरका स्वरूप कहा है, उसका वर्णन किया जाता है।

'सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।
सर्वशक्तिस्वतन्त्रश्च सर्वज्ञं गुणवर्जितम्॥ १॥
सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम्।
सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकैः सदा॥ २॥
सर्वाधारं वश्यमायमानन्दाकारमुत्तमम्।
प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम्॥ ३॥
जगतः समवायि स्यात्तदेव तु निमित्तकम्।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम्॥ ४॥
यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः॥ ५॥
यः सर्वत्रैव सन्तिष्ठन्नन्तरं संस्पृशेन्न तत्।
शरीरं तस्य वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते॥ ६॥
सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्।
अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चरमेव च॥ ७॥
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।
आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः॥ ८॥
इन्द्रियाणां तु सामर्थ्याददृश्यं स्वेच्छया तु तत्।
स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो नहि॥ ९॥
गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृताः।
कर्ता स्वतन्त्र एव स्यात् सगुणत्वे विरुध्यते॥ १०॥
आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः।
भक्त्या त्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौ सदा॥ ११॥

वह परब्रह्म परमेश्वर सत्-चित्-आनन्दरूप है, व्यापक और अविनाशी है, सर्वशक्तिमान् है, स्वतन्त्र अर्थात् निरवधि ज्ञान-क्रियावाला है, इससे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता और प्रकृतिके गुणोंसे रहित है। ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, इन छः गुणोंको 'भग' कहते हैं। परमेश्वर इन गुणों-से युक्त है, यह बात उक्त छः विशेषणोंसे क्रमशः सिद्ध की गयी है। अतः परमेश्वर ही भगवत्-शब्दका मुख्य अभिधेय है, अन्यत्र भगवत्-शब्दका प्रयोग औपचारिक है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ईश्वर है, वही भगवान् है और जो भगवान् हैं वही श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि श्रीकृष्णने 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय' इस गीता-वाक्यमें मुझसे बढ़कर कोई नहीं है ऐसा कहा है—अतएव श्रीकृष्ण परमेश्वरको ही भगवान् समझकर (गीतामें) 'भगवानुवाच' ऐसा कहा है।

वह परमेश्वर सजातीय, विजातीय और स्वगत-भेदों-से रहित है। ये तीनों भेद प्रत्येक पदार्थमें रहते हैं, जैसे एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ सजातीय भेद है, उसीका पशुके साथ विजातीय भेद और अपने अङ्गोंके साथ स्वगत-भेद है। चैतन्य तथा नित्यत्व-धर्मसे सजातीय जीवोंके साथ और जडत्व तथा अनित्यत्वादि भिन्न धर्मसे विजातीय जडके साथ ईश्वरका भेद नहीं है। परिच्छिन्न प्रतिनियत कार्य करनेसे प्रकट सच्चिदानन्द-रूप अन्तर्यामी स्वगत कहे जाते हैं, इनके साथ भी परमेश्वर-का अभेद है, क्योंकि 'हन्त तिरोऽसानि, ब्रह्मण एवाविर्भा-वतिरोभावौ' इत्यादि श्रुत्यनुसार उच्च-नीचादिभावसे रमण करनेके लिये ईश्वर ही आनन्दका तिरोभाव (छिपाना) करके अनेक जीव, आनन्द तथा चैतन्यको छिपाकर नाना जड पदार्थरूप, और अपने निरवधि आनन्दको परिच्छिन्न-रूप करके प्रकट सच्चिदानन्दात्मक नाना अन्तर्यामीरूप बने हैं, इसीसे 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें भेदबुद्धि करनेकी निन्दा की है।

प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंसे रहित होनेपर भी स्वाभाविक सत्य-शौचादि अनन्त गुण परमेश्वरमें सदा सृष्टि, प्रलयकाल तथा अवतार-दशामें भी नित्यरूपसे विद्यमान रहते हैं। उनमेंसे कई नित्य-गुण भागवतके प्रथम स्कन्धमें पृथ्वीने धर्मसे कहे हैं, यथा सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, दान, सन्तोष, सरलता, शम, दम, समता, तप, तितिक्षा, उपराम, श्रुत, स्वरूपज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरता, तेज, स्मृति, स्वतन्त्रता, क्रियाकौशल, कान्ति, धैर्य, मार्दव, बुद्धि, वैभव, विनय, सुस्वभाव, सह, ओज, बल, भग, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिक्य, यश, पूज्यता, निरहङ्कार इत्यादि।

वह परमेश्वर जगत्के सब पदार्थोंका आधार है, माया उसके अधीन है। जैसे पाशवालेका पाश औरोंका बन्धन करता हुआ भी स्वयं उस (पाशवाले) का बन्धन नहीं करता, इसी प्रकार माया भी ईश्वरका बन्धन नहीं कर सकती। भागवत प्र० स्क० के 'सेयं भगवतः साक्षाच्छक्तिः सद्-

सद्रासिका' तथा भा० ११ स्क० के 'तन्मायाफलरूपेण दृश्यरूपेण च स्वयम्' इत्यादि प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की शक्ति माया भगवान्‌का ही रूपान्तर है। वेदमें-'विश्वतश्चक्षुरुत, विश्वतोमुखः' इत्यादि श्रुतियोंमें भगवान्‌के जो आकार लिखे हैं, वे 'आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' इस मुण्डक श्रुत्यनुसार और 'आनन्दमात्र-करपादमुखोदरादिः' इस नारदपाञ्चरात्रके वाक्यानुसार आनन्दरूप हैं, क्योंकि ब्रह्मवादमें आनन्द ही आकारका समर्थक है। अतः निरवधि पूर्णानन्दस्वरूप, सब कारणोंका कारण, मूलरूप वह ईश्वर गणितानन्द अक्षर ब्रह्मसे भी उत्तम है और जगत्‌के सब पदार्थोंसे विलक्षण है। यद्यपि जगत् उसका कार्य होनेसे 'कारण-धर्म ही कार्यमें आते हैं' इस न्यायसे कार्यगत जडत्वादि धर्म भी ब्रह्ममें होंगे, ऐसी शंका होती है, तथापि कारण-धर्म कार्यमें आनेसे अन्यथा प्रतीत होने लगते हैं। ब्रह्मके 'तदेजति, तन्नैजति इत्यादि श्रुत्युक्त अनेजनत्व, निश्चलत्वादि धर्म, कार्यदशामें जडरूपसे प्रतीत होते हैं। वे धर्म ब्रह्ममें जडत्वादि रूपसे नहीं रहते, किन्तु अनेजनत्वादि रूपसे रहते हैं, इसीसे वह ईश्वर जगद्रूप होता हुआ भी जगत्‌से विलक्षण है।

'तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुत्युक्त प्रमाणोंसे वह परमेश्वर ही जगत्‌का कर्त्ता, समवायि कारण और निमित्त कारण है। जब वह अपने स्वरूपमें रमण करता है, तब जगत्‌का अपने स्वरूपमें उपसंहार कर लेता है, और जब 'स रन्तुमैच्छत्' इत्यादि श्रुत्यनुसार जगत्‌में रमण करना चाहता है, तब जगत्‌का विस्तार करता है। अर्थात् 'यस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्‌में लीन भावरूप जगत् भगवान्‌की इच्छासे प्रकट हो जाता है। तथापि जगत्‌की सत्ता भगवान्‌से भिन्न नहीं है। अखण्डाद्वैत अर्थात् शुद्ध अद्वैत रूप भगवान् ही जगद्रूप है। यही श्रीभागवत दशम स्कन्धके ८२ वें अध्यायमें लिखा है—जहाँ, जिसने, जिससे, जिसका, जिसके लिये, जिसको, जो, जिस प्रकार, जब इत्यादि सब कारकोंका अर्थ, प्रकार, प्रकृति, पुरुष, काल साक्षात् भगवान् ही है, यह सृष्टिके पूर्वकी स्थिति है।

सृष्टिदशामें तो पूर्वोक्त ९ वें श्लोकोक्त प्रकारानुसार वह जडजीवरूप होता हुआ भी अपने मूल स्वरूपसे जड-जीव-रूप सब पदार्थोंमें स्वयं विराजमान होकर उनका अपने स्वरूपमें स्थापन करता है अर्थात् आधार और आधेय-भावको प्राप्त होता हुआ भी उनका स्पर्श नहीं करता। वह ईश्वर उन सबको अपना शरीर मानता है और वह जड-जीव-रूप शरीर ही उस परमेश्वरका ज्ञापक (जतलानेवाला) होता है, सो भी वह (ईश्वर) उसका स्पर्श नहीं करता। जड-जीवात्मक शरीर भी आनन्दनिधि ब्रह्मको नहीं जानता, इससे स्वयं भी उसका स्पर्श नहीं कर सकता। इसप्रकार जगत्‌में प्रविष्ट होकर वह ईश्वर प्रकाशमान होता है। इस श्लोकमें 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिवीमन्तरो यमयति, यस्य पृथिवी शरीरं यं पृथिवी न वेद,' 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति, यस्यात्मा शरीरं यमात्मा न वेद यस्य भासा सर्वमिदं विभाति' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ईश्वरका वर्णन किया गया है।

विचारपूर्वक सब श्रुतियोंकी एकवाक्यता न करके 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्,' 'असदेवेदमग्र आसीत्,' 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत, एष ह्येव शून्य एष ह्येव तुच्छ एव ह्येवाव्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुणश्च, अरूपमस्पर्शम्। आनन्दरूपममृतं यद्विभाति' 'तद्वै तस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजतम्' इत्यादि श्रुतियोंके एक-एक वाक्यको ही लेकर ब्रह्मको कोई सद्रूप, कोई असद्रूप, कोई निर्धर्मक और अकर्त्ता, कोई कर्त्ता और सधर्मक, कुछ बाह्य लोग तुच्छ और शून्य, कोई रूप-स्पर्शादिरहित और कोई आनन्दादि आकार तथा अलौकिक रूपवाला मानते हैं, परन्तु उस ईश्वरमें इन सब वादोंका अन्ध-हस्ति-न्यायसे पृथक्-पृथक् अवसर (अवकाश) नहीं है। क्योंकि ये सब (वाद) श्रुतियोंके एक-एक वाक्यको लेकर बने हैं और ऐसा माननेपर अनेक वादोंके अनेक ईश्वर हो जाते हैं। अतः ऊपर दी हुई सब श्रुतियाँ गुणोपसंहार-न्यायसे एक ही ईश्वरका निरूपण करती हैं, यही श्रीवल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त है।

वह ईश्वर सर्वभवनसमर्थ, तथा लोकमें दिखायी देनेवाले परस्परविरुद्ध सधर्मकत्व निर्धर्मकत्वादि एवं लघुत्व महत्त्वादि धर्मोंका आश्रय है। इससे वह एक ही इन सब वादोंका अनुसरण करता है, क्योंकि वे एक-एक वाद ब्रह्मके एक-एक धर्मका ज्ञान करानेवाले हैं। ब्रह्मको जो असत्, शून्य तथा तुच्छरूप कहा गया है, सो बाह्य मतावलम्बियों-

की प्रतीतिके अनुसार कहा है । 'तं यथा यथोपासते, तत्तथैव भवति' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मको जो जिसप्रकार मानता है, ब्रह्म उसको उसी प्रकारका प्रतीत होता है । ब्रह्म अनन्त मूर्ति-रूपवाला है, इससे 'एष ह्येवाभावः' 'यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य' इत्यादि श्रुति-पुराणानुसार अभावादि भी उसीके रूपान्तर हैं, परन्तु ब्रह्मको जो केवल असत् और अभावरूप ही मानता है, उसको वेदमें—'असदेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्'—असत् (अभावरूप अर्थात् मृत पुरुषसे भी हीन कहा है । एवं 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि श्रुत्यनुसार वह (ब्रह्म) चलरूप एवं अचलरूप दोनों है ।

वह ईश्वर सब पदार्थोंका आधार है, इसीसे परस्पर-विरुद्ध सारे धर्मोंका आधार भी वही है, जैसे पृथिवी सभी पार्थिव पदार्थोंका आधार होनेसे सहज-विरोधी सर्प, मूषक, सिंह, बकरी आदिका भी आधार है । वह ईश्वर लौकिक युक्तियोंका गोचर नहीं है, इससे 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' 'आसीनो दूरं व्रजति' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार वह हजार मस्तकवाला है तथा बैठा हुआ ही दूर चला जाता है । इसप्रकार जो लौकिक युक्तियोंसे विरुद्ध वर्णन किया गया है उसको भी यथार्थ ही मानना चाहिये, क्योंकि लौकिक युक्तियोंसे न जाने जा सकनेयोग्य यज्ञ तथा ईश्वरके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करानेवाला होनेसे ही वेदको प्रमाण माना है ।

वह परमेश्वर ही जंगम—कश्यपादिद्वारा वामन आदि, स्थावर स्तम्भादिसे नृसिंहादि, तथा विना किसीके आश्रय स्वयं हंसादि अवताररूपसे अपने स्वरूपका आविर्भाव करके साधारण मनुष्योंका 'यह लौकिक पुरुष' सिंह, हंस आदि है, इसप्रकार व्यामोह करता है । ज्ञानी भक्त लोग तो वामनका क्षणमात्रमें विराट्रूप बन जाना, नृसिंहका नर और सिंहके विलक्षण स्वरूपका धारण करना, मत्स्यका एक दिनमें अपने स्वरूपसे सरोवरको व्याप्त कर लेना आदि लौकिक युक्तियोंका अगोचर माहात्म्य देखकर उनको ईश्वरका अवतार ही मानते हैं ।

नेत्रादि इन्द्रियाँ भी अपने सामर्थ्यसे परब्रह्म परमेश्वरको ग्रहण नहीं कर सकतीं; किन्तु जब भगवान् ही 'सब लोग इन्द्रियोंद्वारा मेरा ग्रहण करें' ऐसी इच्छा करते हैं, तब अपने आवरणको दूर करके उन इन्द्रियोंसे ग्रहण किये जा सकते हैं । देव, तिर्यग्, मनुष्यादिरूपसे उच्चावच सृष्टि करनेवाला परमेश्वर ही स्वतन्त्र कर्त्ता है, वह गुणों या कर्मोंके अधीन परतन्त्र होकर सृष्टि नहीं करता, अतएव वह सगुण नहीं है ।

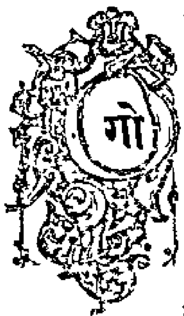
किन्तु 'सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः' इत्यादि भागवतवाक्यानुसार उस परमेश्वरकी प्रेरणाके वशीभूत होकर सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार करनेवाले भगवान्‌के अंश ब्रह्मादि देवता सगुण हैं । यद्यपि ये (ब्रह्मादि देवता) देह, इन्द्रिय आदिमें अभिमान रखनेवाले नहीं हैं तथापि सत्त्व, रज, तम इन गुणोंमें स्थित हुए विना ये (गुण) कार्य नहीं कर सकते । इसीसे इनमें स्थित होकर इनके अभिमानी अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मादि होते हैं । इसीसे वे सगुण कहलाते हैं । परमात्माको इसप्रकार सगुण माननेपर वेद, स्मृति, पुराणोंमें प्रतिपादित स्वतन्त्र कर्तृत्वमें विरोध आता है । अतएव 'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्केवलः प्रकृतेः परः' 'कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' 'निर्गुणः परमात्मा च य ईशः प्रकृतेः परः' 'कृष्णः सृष्ट्युन्मुखश्चापि प्रकृतिं तत्र निर्ममे' 'अन्ये तु प्राकृता देवाः श्रीकृष्णं निर्गुणं विना' इत्यादि भागवत, एवं ब्रह्मवैवर्त्तपुराणान्तर्गत अनेक वाक्यानुसार परब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण परमात्मा निर्गुण ही हैं ।

जब वह ईश्वर आनन्द आकारवाला होकर सब जगह विद्यमान है तो फिर सबको उसके दर्शन क्यों नहीं होते, जिससे कि अनीश्वरवादकी उत्पत्ति ही न हो ? इसका श्रीवल्लभाचार्यजीने यही उत्तर दिया है कि 'आत्मन एवाविर्भावतिरोभावौ' इस छान्दोग्य श्रुत्यनुसार आविर्भाव (प्रकट) होना और तिरोभाव (छिप जाना) ये दोनों परमेश्वरकी शक्तियाँ हैं । पराभक्तिसे परमेश्वरका आविर्भाव होनेपर ही उसके दर्शन होते हैं । विषयोंमें आसक्त होनेके कारण ईश्वरमें निरुपाधि प्रेम न होनेसे पराभक्ति सिद्ध नहीं होती, अतः भगवान्‌का सदा तिरोभाव ही बना रहता है । यही बात भगवान्‌ने श्रीगीतामें कही है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

गोसाईं तुलसीदासजीके रामचरितमानसके विषयमें दो-एक आवश्यक बातें

(लेखक—श्रीभगवानदासजी हालना)



गोसाईं तुलसीदासजीने अपना अद्भुत ग्रन्थ 'रामचरितमानस' बनाकर लोगोंका जो असीम उपकार किया है उसकी कुछ भी प्रशंसा करना केवल सूर्यको दीपक दिखाना है। उसी ग्रन्थरत्नकी दो-एक आवश्यक बातोंके सम्बन्धमें मुझे आज कुछ निवेदन करना है। करीब तीस वर्ष हुए, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभाद्वारा सम्पादित होकर प्रयागके इण्डियन-प्रेससे 'रामचरितमानस' का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी-संसारमें अच्छा मान है और कदाचित् उससे अच्छा संस्करण अभीतक दूसरा प्रकाशित नहीं हुआ है। उसमें एक विशद भूमिका दी हुई है और 'रामचरितमानस या रामायण' शीर्षकमें उसके विद्वान् सम्पादकोंने लिखा है कि—

'अनुमानसे जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ (रामचरितमानस) गोसाईंजीका पहला ग्रन्थ है। इसे उन्होंने छोटी ही अवस्थामें बनाया था। स्वयं लिखते हैं—

जागबलिक जो कथा सुहाई।
भरद्वाज मुनिवरहि सुनाई॥
संभु कीन्ह यह चरित सुहावा।
बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।
राम भगत अधिकारी चीन्हा॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा।
तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
मैं पुनि निज गुर सन सुनी, कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥
तदपि कही गुर बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा॥

(उसी समय यह विचार किया—)

भाषा बद्ध करब मैं सोई।
मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥

इससे जान पड़ता है कि बचपनहींसे इस कथाको लिखनेकी इच्छा थी। नीचे लिखे दोहोंसे जान पड़ता है कि इसको उन्होंने छोटी ही अवस्थामें बनाया था—

संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल-बिनय सुनि करि कृपा, राम-चरन रति देहु॥
कबि कोबिद रघुबर चरित, मानस मंजु मराल।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल॥

(भूमिकासे उद्धृत)

इस लेखमें विनीतभावसे मैं यह दिखलाऊँगा कि ऊपर भूमिकामें काशी-नागरी-प्रचारिणी सभाके विद्वान् सम्पादकोंने जो यह मत प्रकट किया है कि *गोसाईंजीने रामायण छोटी ही अवस्थामें बनायी* यह भ्रमपूर्ण है और अपने मतके समर्थनमें रामायणसे जो *दो दोहे उद्धृत किये हैं वे गोसाईंजीकी स्वभावसिद्ध* नम्रताहीके सूचक हैं, उनकी बाल्यावस्थाके नहीं।

सबसे पहले यह देखना चाहिये कि रामायण कब बनी। यह विषय सर्वथा निर्विवाद है कि गोसाईंजीने 'रामचरितमानस' नामसे रघुनाथजीकी विमल कथाका आरम्भ संवत् १६३१ में (चैत्रशुक्ला ९) श्रीरामनवमीको भौमवारके दिन अयोध्यापुरीमें किया, जैसा कि बालकाण्डकी नीचे दी हुई चौपाइयोंसे स्पष्ट है—

संवत सोरह सै इकतीसा।
करउँ कथा हरि-पद धरि सीसा॥

नौमी भौमवार मधु मासा।
अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
सब बिधि पुरी मनोहर जानी।
सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी॥
विमल कथाकर कीन्ह अरंभा।
सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥
रामचरितमानस यहि नामा।
सुनत श्रवन पाइय विश्रामा॥

दूसरी यह बात भी सर्वथा निर्विवाद है कि गोसाईं तुलसीदासजीका स्वर्गवास श्रावण-शुक्ला ७ सं० १६८० को हुआ जैसा कि इस प्रसिद्ध दोहेसे स्पष्ट है कि—

संवत सोरह सै असी, असी गंगके तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥

अब हमें तीसरी इस बातपर विचार करना है कि गोसाईं तुलसीदासजी महाराजका जन्म कब हुआ और मृत्युके समय उनकी अवस्था क्या थी—इस सम्बन्धमें का० ना० प्र० सभाके विद्वान् सम्पादकों-ने अपनी सुन्दर भूमिकामें जो लिखा है वह अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

जन्म-समय

'जन्म-समय भी किसी ग्रन्थमें लिखा नहीं मिलता परन्तु पं० रामगुलाम द्विवेदीकी सुनी-सुनायी कहावतों-से संवत् १५८९ है, जिसे डा० ग्रियर्सनने भी लिखा है; परन्तु शिवसिंहसरोजमें लिखा है कि संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। पहलेसे गोसाईंजीकी आयु ९१ और दूसरेसे ९७ वर्ष आती है। पं० रामगुलाम द्विवेदीने गोसाईंजीके विषयमें बहुत ही अन्वेषण किया था इसलिये जन्म-संवत् १५८९ प्रायः ठीक जान पड़ता है।'

इस उद्धृत अंशसे यह विदित होता है कि एक मतके अनुसार गोसाईंजीका जन्म सं० १५८९ और दूसरे मतके अनुसार सं० १५८३ है। हमलोगोंको यह विदित ही है कि पूज्यपाद गोसाईंजी महाराजका स्वर्गवास सं० १६८० में हुआ था। इस सं० १६८० मेंसे सं० १५८९ और सं० १५८३ घटानेपर उनकी आयु क्रमशः ९१ और ९७ वर्ष निकलती है।

यह भी हमें मालूम है कि रामायण बनना सं० १६३१ में आरम्भ हुआ। अब यदि जन्म-संवत् १५८९ ही ठीक है तो 'रामचरितमानस'-निर्माणके समय गोसाईंजीकी अवस्था (१६३१—१५८९)= ४२ वर्ष निकलती है और यदि जन्म-संवत् १५८३ ही ठीक है तो उस समय उनकी अवस्था (१६३१—१५८३)=४८ वर्ष आती है।

मैं समझता हूँ कि ऊपर दिये हुए प्रमाणोंसे यह बात निश्चितरूपसे कही जा सकती है कि रामायण बननेके समय गोसाईंजीकी अवस्था ४२ या ४८ वर्षकी थी। यदि इनमेंसे कोई भी अवस्था ठीक मान ली जाय तो यह कहना ही पड़ेगा कि गोसाईंजी-ने यह ग्रन्थ छोटी ही अवस्थामें नहीं बनाया किन्तु उस समय हर तरह उनकी प्रौढ़ अवस्था ही थी। रचना आरम्भ होनेके बाद इतने बड़े ग्रन्थके बनने-में जो दो-चार सालका समय लगा हो वह अलग ही समझना चाहिये।

अब मैं नीचे यह दिखाता हूँ कि का० ना० प्र० सभाके सुयोग्य सम्पादकोंने अपने मतके समर्थन-में जो दो दोहे उद्धृत किये हैं उनमें 'बाल-विनय' पद उनकी स्वभावसिद्ध और हृदयहारिणी नम्रता-हीका सूचक है। पहला दोहा यह है—

संत सरल चित जगत हित, जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल-बिनय सुनि करि कृपा, राम-चरन रति देहु ॥

इसमें गोसाईंजीने सरलचेता संसारका कल्याण करनेवाले सन्तजनोंसे प्रार्थना की है कि मेरी बाल-विनय सुनकर मुझे रामचन्द्रजीके चरणोंकी भक्ति दीजिये । गोसाईंजीने जो इस चौपाई—

सुजन समाज सकल गुन खानी ।
करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी ॥

—से लेकर सन्तोंकी वन्दना आरम्भ की है, वह ऊपर दिये हुए दोहेपर समाप्त होती है । मैं भक्त, प्रेमी और सहृदय पाठकोंसे प्रार्थना करता हूँ कि वे एक बार पूरी सन्त-वन्दना पढ़कर उसका रसास्वादन कर लें । इसी वन्दनामें गोसाईंजीने सन्तोंकी महिमामें कहा है कि—

मुद मंगलमय संत समाजू ।
जौं जग जंगम तीरथ राजू ॥
सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा ।
सेवत सादर समन कलेसा ॥
अकथ अलौकिक तीरथराऊ ।
देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ ॥
सतसंगति मुद मंगलमूला ।
सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥
बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी ।
कहत साधु महिमा सकुचानी ॥
सो मोसन कहि जात न कैसे ।
साक बनिक मनि गन गुन जैसे ॥

अब रसज्ञ पाठक कृपाकर देखें कि जो गोसाईं-जी सन्तोंके इतने बड़े भक्त हैं कि उन्हें वे तत्काल फल देनेवाला और अलौकिक तीर्थराज प्रयाग समझते हैं, जो गोसाईंजी कहते हैं कि सन्तोंकी महिमाको ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कवि और पण्डितोंकी वाणी भी पूरी तरह नहीं कह सकती, जो गोसाईंजी डङ्केकी चोट अपना हृदय इस तरह निकालकर रख देते हैं कि भाई सन्तोंके गुण तो सुन्दर और मूल्यवान् हीरे, मोती आदि रत्नोंके तुल्य हैं जिनकी परख जौहरी ही जानते हैं मैं तो बेचारा साग पात बेचनेवाला हूँ । मैं भला, रत्नोंकी परीक्षा क्या जानूँ, यदि उन्हीं महा-महिम, सरस्वतीके वरद पुत्र, कवि-कुल-गौरव और भक्तशिरोमणि गोसाईं तुलसीदासजीने सन्तोंकी प्रार्थना करते हुए यह लिख दिया कि—

'बाल-बिनय सुनि कर कृपा, राम-चरन रति देहु ।'

तो इसमें क्या आश्चर्य और अस्वाभाविक बात है ! इससे तो उनके हृदयका उच्चतर भाव और उनकी हृदय-हारिणी नम्रता ही प्रकट होती है । जो गोसाईं-जी अपनेको सब प्राणियोंसे हीन और अयोग्य समझते थे, जो सबमें राम-ही-राम देखते थे, यदि उन्होंने सन्तोंको पूज्य और बड़ा और अपनेको बालक समझा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? उनके लिये तो ऐसा करना सर्वथा योग्य और स्वाभाविक ही था । यहाँ 'बाल-विनय' पदका नम्रता-सूचक होनेके अतिरिक्त और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता । सहृदयजन स्वयं इसका निर्णय कर लें ।

अब दूसरे दोहेको लीजिये जो इसप्रकार है—

कबि कोबिद रघुबर चरित, मानस मंजु मराल ।
बाल-बिनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल ॥

इस दोहेमें गोसाईंजीने रामचरितरूपी मान-सरोवरमें विहार करनेवाले और उसका आनन्द लूटने-वाले कवि और पण्डितरूपी सुन्दर और मनोहर हंसोंसे प्रार्थना की है कि इस बाल-विनयको सुनकर मुझपर कृपा कीजिये । इस प्रार्थनाका कारण है । मानसमें इस दोहेसे ऊपर दिये हुए कुछ अंशोंको पढ़नेसे यह बात स्पष्ट समझमें आती है । उस जगहसे कुछ अंश मैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—

ब्यास आदिकबि पुंगव नाना ।
जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना ॥

चरनकमल बंदउँ तिन्ह केरे ।
पुरवहु सकल मनोरथ मेरे ॥

वह मनोरथ क्या है ? सुनिये—

होउ प्रसन्न देहु बरदानू ।
साधुसमाज भनिति सनमानू ॥

साधु-समाजमें कविताके सम्मानित होनेकी क्यों आवश्यकता है ? इसलिये कि—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं ।
सो श्रम बादि बाल कबि करहीं ॥

गोसाईंजीने बालकाण्डके आरम्भमें सबकी जो इतनी प्राथना, अनुनय-विनय और मनौती मनायी है वह केवल इसीलिये कि साधु-समाजमें मेरी कविताका सम्मान हो । उनकी यह मनोकामना पूरी तरह सफल हुई । जो गोसाईंजी निरभिमानता, नम्रता और धर्मकी मूर्ति थे, जो अपनेको सबसे हीन और अयोग्य और अन्य सबको अपनेसे बड़ा और योग्य ही नहीं, राममय भी देखते थे, उन्हीं स्वनामधन्य गोसाईंजीका रामचरितमानसके कवि-कोविदरूपी मञ्जु मरालोंसे यह प्रार्थना कर देना कि—

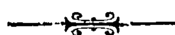
'बाल-विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल ।'

—एक साधारण-सी बात है और जो सर्वथा उनकी प्रकृति और स्वभावके अनुकूल और उचित प्रतीत होती है । इसमें कोई विशेषता और आश्चर्य नहीं है । मैं समझता हूँ अब यह पूरी तरह सिद्ध हो गया कि इस दोहेके 'बाल-विनय' पदसे गोसाईंजीका केवल नम्रभाव ही प्रकट होता है, इसमें बाल्यावस्थाकी कोई बात नहीं है ।

मैं इस सम्बन्धमें और कुछ नहीं कहना चाहता । अब सहृदयजन स्वयं इसका निर्णय कर लें कि ऊपर दिये हुए दो दोहोंका यथार्थ तात्पर्य क्या है ?

मैं एक निवेदन और करना चाहता हूँ कि विद्वान् सम्पादकोंने इसी लेखमें जो यह लिखा है कि 'अनुमानसे जान पड़ता है कि यह ग्रन्थ (रामचरितमानस) गोसाईंजीका पहला ग्रन्थ है' इसे मैं ठीक नहीं समझता । मेरा तो विश्वास है कि जब गोसाईंजी कई छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखकर हर तरह सिद्धहस्त हो चुके थे, जब संसारमें उनकी कीर्ति भी अच्छी तरह फैल चुकी थी, जब उन्हें सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया था और उनके दिव्यचक्षु खुल गये थे तभी उन्होंने इस परम-पावन, लोककल्याणकारी और नवजीवनप्रदायक 'रामचरितमानस' का, जो हिन्दी-साहित्यका सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है, निर्माण किया था । यह गोसाईंजीकी हर तरह परिपक्व अवस्था और अनुभवका बना ग्रन्थ ही समझा जाना चाहिये ।

मुझे विश्वास है कि अब का० ना० प्र० सभाके सुयोग्य सम्पादकगण कृपाकर इस भ्रमका शीघ्र संशोधन कर देंगे जिससे उनके सम्पादित प्रतिष्ठित ग्रन्थद्वारा लोगोंमें इस विषयमें और भ्रम न फैले । यह लेख मैंने सत्यके निर्णय अतएव लोकोपकारकी दृष्टिसे लिखा है किन्तु यदि इसमें मुझसे कुछ प्रमाद हुआ हो तो उसे 'कल्याण'के अनेक सहृदय पाठक दूर कर सकते हैं । विज्ञेषु किमधिकम् ।



अधिक संख्याके नाम-जपकी गणना रखनेकी युक्ति

(लेखक—श्रीसदाशिवजी पाठक)

(खास करके किशोर-वयके नवयुवकोंके प्रति)

श्रीरामचरितमानसमें भक्तप्रवर प्रातःस्मरणीय श्रीमान् गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुमधुरं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्॥

'उन सुकर्म-कर्त्ताओंको धन्य है कि जो वेदरूपी समुद्रसे उत्पन्न हुए कलिमलोंके नाशक, जन्म-मरणादिसे रहित शङ्करके सुन्दर मुखरूपी चन्द्रमामें सदैव शोभायमान संसाररूपी रोगके लिये औषधिरूप अत्यन्त मधुर और श्रीजानकीजीके जीवनमूल ऐसे श्रीरामनामरूपी अमृतका सर्वदा पान करते हैं।'

एवं—

राम-नाम-मणि-दीप धरु, जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरौ, जो चाहसि उजियार॥

राम-नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मदमोहा॥
सोइ गुणज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर-चरण अनुरागी॥
राम-बिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
स्वारथ सर्व जीव कहँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
लाभ कि कछु हरि-भगति समाना। जिहि गावहिं श्रुति-सन्त पुराना॥
राम-बिमुख लहि बिधिसम देही। कबि कोबिद न प्रशंसहि तेही॥

आदिपुराणमें भगवान् श्रीकृष्णजीने राम-नामकी महिमा श्रीअर्जुनजीसे इसप्रकार कही है—

श्रद्धया हेलया नाम वदन्ति मनुजा भुवि।
तेषां नास्ति भयं पार्थ रामनामप्रसादतः॥

'जो मनुष्य श्रद्धासे या अश्रद्धासे भी पृथिवीतलपर रामका नाम लेते हैं उनको नामके प्रभावसे कुछ भय नहीं होता।'

श्रीमहादेवजी तथा श्रीपार्वतीजी भी इसी महामन्त्र 'राम' का ही जप किया करते हैं।

'उमासहित जेहि जपु त्रिपुरारी।'
'महामन्त्र जेहि जपत महेसू।'

एवं—

रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पामरकर केतिक बाता॥
(रामचरितमानस)

यह महामन्त्र 'राम' सगुण उपासकोंका तो सर्वस्व जीवनधन है ही। पर निर्गुण उपासकोंके लिये भी उनकी शर्तिया इच्छापूर्ति करनेवाला कल्याणकारी एवं अद्वितीय और अनुपम आनन्द देनेवाला है। इस छोटे-से महामन्त्रमें इतना बल है कि इसके सतत स्मरणसे भगवान्‌को भी वशमें होना पड़ता है।

मन्त्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्व।
महामत्त गजराज कहँ, बस कर अंकुस खर्व॥

इसमें लेशमात्र सन्देहकी गुञ्जाइश नहीं। आकाशमें सूर्य देखनेमें कितना छोटा लगता है पर उसके उदय होनेपर तीनों लोकोंका अँधेरा भाग जाता है।

भगवन्नामकी पूर्णरूपसे महिमा-व्याख्या करनेमें अनेक उत्तमोत्तम विद्वान् तो क्या, स्वयं श्रीमहादेवजी भी अपनेको असमर्थ बताते हैं तथापि श्रीमद्गोस्वामीजीने अपने श्रीरामचरितमानसमें इस पावनकारी नामकी महिमा-व्याख्या—अनुभवके साथ संक्षिप्तमें वर्णन की है, उसे मननपूर्वक पढ़नेपर विशेष श्रद्धा-वृद्धि करती है।

अतः सबसे, खास करके भारतीय नवयुवकोंसे अनुरोध-पूर्वक निवेदन है कि अपने दैनिक-कार्यक्रम (Daily-programme) में भगवान्‌के इस पवित्र नाम श्री 'राम' मन्त्रका नियमित संख्यामें नित्य जप करनेका कार्य जोड़ लें। इस युगमें यही एक नाम-स्मरण या जप ही सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं श्रीमुखसे फरमाया है कि—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'

रामायणमें है—

नहिं कलि कर्म न भगति बिबेकू। राम-नाम अवलम्बन एकू॥
राम-नाम कलि अभिमत-दाता। हित परलोक लोक पितु-माता॥

अधिक संख्याके नाम-स्मरणकी गणना रखनेकी नीचे लिखी युक्तियोंमें जो सुलभ प्रतीत हो उसका उपयोग करें। जप-संख्याकी गिनती रखनेकी दो युक्तियाँ हैं—

(१) मालासे (२) हाथके वेड़ों (पोरवों) से।

(१) मालासे—'राम'-मन्त्रके नाम ५ या ७ या १० वार (जितने नाम लेनेमें सहूलियत हो सके) बोलकर मालाका एक-एक मणिका सरकाते जाओ। इस-प्रकार १०८ मणिकोंकी माला पूरी होनेपर ५ वारसे ५४० नाम-जप होते हैं। परन्तु भूल-चूकके वदलेमें ८ मणिकोंके ४० नाम छूटमें छोड़ दो। वाकी ५०० नाम गिनतीमें लो। सात वारवाले ७०० नाम गिनतीमें लेवें। दस वारवाले १०००। मालाओंकी गिनती रखनेके लिये एक-एक माला पूरी होती जानेपर वायें हाथकी अंगुलियोंके वेड़ों (पोरवों) पर अँगूठा रखते जाओ। यानी एक माला समाप्त हो जानेपर कनिष्ठिकाके पहले वेड़ेपर, दूसरी समाप्त होनेपर दूसरे वेड़ेपर। इसप्रकार वायें हाथके तमाम १५ वेड़े समाप्त होनेपर पाँच बारवालोंका ७॥ हजार और ७ वार-वालोंका १०॥ हजार तथा दस वारवालोंका १५००० नाम-जप होगा। इससे अधिक संख्याकी जपकी गिनती इस-प्रकार रक्खो। करीव १॥ इञ्च लम्बाईका एक डोरा दुहरा उमेठकर मालामें सुमेरुके पास बाँधकर मरोड़ लगा दो। वायें हाथके तमाम वेड़े समाप्त होते ही उस डोरेको पहले मणिकेमेंसे निकालकर दूसरेके पास सरका दो। गोया यथाक्रम ७॥, १०॥ तथा १५ हजार नाम-जपका एक हाथ समाप्त हुआ। इस तरह दूसरा हाथ समाप्त होनेपर उस डोरेको दूसरे मणिकेपरसे हटाकर तीसरेके पास सरका दो। ऐसे आगे भी सरकाते जाओ। ५ नामसे एक लाख जप करनेवालोंको चाहिये कि ऐसे-ऐसे १४ हाथ पूरे करते हुए १४ मणिकेतक डोरेको सरकाते जायँ और सात नामवाले दस मणिके और दसवाले सात मणिके सरकनेतक जप करते रहें। इस विधिसे एक लाख पाँच हजारका जप होता है। जिसमेंसे पाँच हजार अन्य संसारी-प्राणियोंके उपकारके लिये दान कर देवें। वाकी एक लाख श्रीविश्वनाथ प्रभुके कमल-चरणोंमें समर्पण करनेके शुमारमें लेवें। प्रभुके माने हुए रूपके चरणोंका ध्यान करते हुए और एकाग्रचित्तसे यह तमाम जप-कार्य करें। पर यदि एकाग्रचित्तसे तमाम न हो सके (जैसा कि कलिके प्रभावसे चञ्चल मन होनेके कारण और गृहस्थके अन्य पेट-पालनके आवश्यक धन्धोंमें समयके अभावसे ऐसा होना सम्भव है) तो उस संख्याका पाँच-दस हजारका अमुक अंश ही प्रातःकाल केवल घण्टे-आध-घण्टे ही एकाग्रचित्तसे जितने जप हो सकें, उतने करो। बाकीके जप दिनभरमें रातको सोते वक्ततक गृहस्थका काम-काज करते हुए चलते-फिरते या सोते वक्त किसी भी समय पूरे कर डालो। रास्ता चलने आदिके समय माला और जपका काम गुप्त रखनेके लिये मालाको जेवमें रखकर मौनरूपसे कर सकते हो। इस विधिसे ५०—७५ हजार या लाख आदि वड़ी संख्याका जप बहुत ही आसानीसे हो जाता है। डूँगरपुरमें प्रसिद्ध राम-भक्त श्रीयुत माननीय पण्डित हरिसिंहजी पुरोहित बुक-कीपर एकाउण्ट आफिसने अपने सदुपदेशसे दस-बारह वर्षकी उम्रके कई छोटे-छोटे लड़के और आदमियोंसे उनका पढ़नेका तथा घरका अन्य कार्य पूरा कराते हुए लाख-लाखतककी संख्यामें श्रीराम-महामन्त्रके जप करानेका अनुभव किया है। अब सोचनेका स्थान है कि जब इतने छोटे लड़के (जिनका चित्त स्वभावतः खेल-प्रिय होता है और जप कार्यके वास्तविक लाभको समझनेकी शक्ति न होनेसे ऐसे धार्मिक पुण्य-कार्यमें प्रवृत्त होनेकी ओर साधारण तौरपर जिनका मन नहीं लगता, ऐसे अबोध बालक) भी एक-एक लाख नाम-जप कर सकते हैं, तब जप-कार्यके वास्तविक लाभको समझ सकनेवाले बड़े पुरुषोंके लिये इतनी बड़ी संख्याका जप करनेमें कठिनता कैसे हो सकती है? अतः छोटे-बड़े सब पुरुषोंको इस सरल विधिका अनुभव करनेके लिये शनैः-शनैः एक लाख-तक दैनिक जप करनेका प्रयत्न और साहस हर्ष तथा स्पर्द्धाके साथ करना चाहिये। पहाड़के समान भारकी व्यर्थ कल्पनाकर इस पुण्य-कार्यसे दूर नहीं भागना चाहिये। बड़ी संख्याकी गिनती रखनेकी यह ऊपर कथित रीति, सोचिये तो, कैसी सरल है कि माला प्रत्यक्षमें तो समाप्त होवे सिर्फ एक; पर दरअसल एक नहीं, क्रमशः पाँच-सात या दस मालाएँ पूरी हो जाती हैं। आरम्भमें नया काम होनेसे विलम्ब और असुविधा होना सम्भव है

पर जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जायगा, बहुत ही आसानी और जल्दी ही बड़ी संख्याका जप पूरा होता जायगा।

(२) दूसरी युक्ति हाथके बेढ़ोंसे गिननेकी है। जो सज्जन मालाके उपयोगमें असुविधा समझें, वे केवल हाथों-परही गिनती कर सकते हैं। वह विधि इसप्रकार है—

सात बार राम-महामन्त्रका नाम लेकर अपने दाहिने हाथकी कनिष्ठिका अङ्गुलीके पहले बेढ़ेपर अँगूठा रक्खो। इस तरह सात-सात बार नाम लेते जाओ और एक-एक बेढ़ा आगे बढ़ते जाओ। १५ बेढ़ोंका दाहिना हाथ पूरा हो जानेपर उस एक हाथ (१०५) की गिनती याद रखनेके लिये अपने बायें हाथके पहले बेढ़ेपर बायाँ अँगूठा रख दो। ऐसे जिसप्रकार दाहिने हाथ पूरे होते जायँ, बायें हाथके बेढ़ोंपर आगे बढ़ते जाओ। इस तरह बायाँ हाथ पूरा हो जानेपर १५७५ नाम-जप होता है। जिसमेंसे ७५ नाम भूल-चूकके छूटमें छोड़ दो। बाकी १५०० नाम गिनतीमें लो। अब इस बायें हाथकी गिनती याद रखनेके लिये दो युक्तियाँ हैं—

(क) करीब २५ पन्नोंकी एक छोटी-सी पाकेट्बुक बनाओ जो लगभग दो वर्षतक चलेगी। उसको छोटी-सी पेन्सिलके साथ (क्योंकि बड़ी पेन्सिल अक्सर जेबमेंसे गिरकर गुम हो जाया करती है) जेबमें रक्खे रहो। यह छोटी बुक जीर्ण होनेके समयतक समाप्त भी हो जायगी। तब दूसरी बना ली जाय। यह बुक दैनिक जपका शुमार नोंधनेके अलावा गोशवारा यानी ऐसा हिसाब दर्ज रखनेमें भी काम देगी कि शुरूसे अबतक हमारे कुल कितने लाख या कितने करोड़ जप हो चुके हैं। और हमारे सङ्कल्प किये हुए करोड़की संख्यामेंसे अब कितने लाख या कितने करोड़ और घटते हैं? इस बुकमें दैनिक जपके समय जैसे-जैसे बायें हाथ समाप्त होते जायँ, उन हाथोंकी संख्याका एक एक अङ्क हर तारीखके सामने १, २, ३—इसप्रकार तारीखवार लिखते जाओ। यानी एक दफा बायाँ हाथ समाप्त होनेपर उस तारीखकी सीधमें १ लिखो। दो बाएँ हाथ होनेपर एकके पास ही सीधमें २ लिखो। इसप्रकार २०००० जपवालोंको हाथकी ३४ संख्यातक रोजाना बढ़ना चाहिये। एक लाख जपकी इच्छावालोंको हाथकी ६७ संख्यातक बढ़ना चाहिये। एक दिनकी जप-संख्याकी नोंध बुकके सफेकी एक ही लाइनमें आ जाना अधिक सहूलियतका होगा। बुकका एक सफा १५–२० दिनके लिये काफी है। अच्छा हो कि १५–२० लाइनें हर सफेमें खींची हुई पहले तैयार रक्खो। *परन्तु एक लाइनमें साधारण तौरपर ६७ अङ्क नहीं* लिखे जा सकते। लगभग ३४ अङ्कतक आ सकते हैं। बाकी अङ्कोंके लिये ३४ के बाद ३५–३६ आदि मत लिखो। ३५ वें अङ्कके लिये शुरूमें १ अङ्क लिखे हुएपर ` ऐसा टिकका निशान कर दो। ३६ वेंके लिये २ पर वही ` निशान—इसप्रकार शुरूके अङ्कोंपर बारी-बारीसे टिक मार्क लगाते जाओ। उन ३४ अङ्कोंमेंसे ३३ अङ्कोंपर टिक मार्क लग चुकनेपर समझो कि [३४ + ३३]=६७ अङ्कके मानिन्द एक लाख जप हो गये। यों केवल ३४ लिखनेपर ही ६७ का काम हो जायगा। इस तरीकेसे कागज भी व्यर्थ खराब जानेसे बच जायगा। अगर टिक मार्कके झगड़ेसे बचना चाहते हो तो यह युक्ति है कि दाहिने हाथकी एक-एक अंगुलीपर बजाये ३ ३ बेढ़े (पोरवे) के ४–४ की गिनती गिनते जाओ। अंगुलीमें ३ बेढ़े तो होते ही हैं। अंगुलीके सिरेको भी चौथा बेढ़ा (जिसके गिननेका बहुत-से आदमियोंको अभ्यास होता है) समझकर गिनती-में लेते जाओ। *यानी प्रत्येक हाथके १५ बेढ़ेके बजाय २०* बेढ़े यानी ७ नामसे १४० नाम-जप शुमार करो। इस-प्रकार २० बेढ़े बायें हाथमेंके भी गिनो। इस युक्तिसे २०००० जप करनेकी इच्छावालोंको केवल १८ अङ्क ही एक लाइनमें लिखने पड़ेंगे। एक लाखकी इच्छावालोंको यह अङ्क बजाय ६७ के केवल ३६ अङ्कतक ही लिखने पड़ेंगे जिससे समय और कागज दोनोंकी बचत होगी। और बुक-को एक दिनमें पाकेटमेंसे बजाय ६७ के केवल ३६ बार ही निकालनी पड़ेगी और आधा लाखवालोंको केवल १८ बार ही। और १०-१० नामसे एक लाखवालोंको केवल २६ बार और आधा लाखवालोंको सिर्फ १३ बार ही बुक निकालनी पड़ेगी, सतत अभ्याससे यह युक्ति शनैः-शनैः सरल प्रतीत होगी। अनुभूत है।

(ख) *बायें हाथकी गणना याद रखनेके लिये दूसरी* युक्ति यह है कि पाकेटबुकके बजाय उतने मणिकेकी एक छोटी माला जेबमें रखनी चाहिये जितनी संख्या उनको बुकमें लिखनी पड़ती है। *यानी लाखवालोंको* क्रमशः ३६ या २६ मणिकोंकी और पचास हजारवालोंको १८ या १३ मणिकोंकी माला बना लेना चाहिये।

बुकमें अङ्क लिखनेके बजाय, वह काम उतने अङ्कोंके बराबर मणिकोंके तादादवाली मालासे लिया जावे और एक-एक अङ्क लिखनेकी जगह एक-एक मणिकेपरसे डोरेको सरकाते जाना चाहिये। ऐसी दशामें उस जेबी बुककी आवश्यकता नहीं रहेगी। जो व्यक्ति कागज-पेन्सिलके अवेरनेके झगड़े-से बचनेके लिये लिखना नहीं चाहते या जो लिख ही नहीं सकते, उनके लिये यही युक्ति सुलभ होगी। जिनकी स्मरण-शक्ति तीव्र है, उनके लिये तो उक्त (क) (ख) में कथित युक्तियोंकी आवश्यकता ही नहीं है।

नम्बर १ और २ में वर्णित युक्तियोंमेंसे कौन-सी का प्रयोग करें? यह आपकोंकी इच्छापर निर्भर है। जिसको जो युक्ति अनुभवसे सरल प्रतीत हो, उसका अभ्यास शुरू कर दें। इसप्रकार प्रेम और भक्तिपूर्वक जप-कार्यमें बिजलीके डायनमो (Dynamo) यन्त्रके समान इतनी प्रबल शक्ति निहित है कि जिससे सर्वशक्तिमान् प्रभुको भी शर्तिया उस सच्चे भक्तके अधीन होना ही पड़ता है। और उसकी इच्छानुसार काम करना पड़ता है, कि जिसके एक नहीं अनेक प्रमाण और उदाहरण हमारे धार्मिक आर्ष-ग्रन्थोंमें आपलोगोंने पढ़ा होगा। इस कारणसे और इस लेखका कलेवर अधिक बढ़ा न होने देनेके विचारसे यहाँ उन उदाहरणोंके वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं समझी जाती। लोहेकी बड़ी-बड़ी मोटी जंजीरोंसे या सारे संसारकी बड़ी-से-बड़ी फौजी शक्तिसे भी वे प्रभु कदापि काबूमें नहीं आ सकते। याद रहे कि अमुक करोड़ राम-नाम-जपका ही यह प्रताप और परिणाम था कि छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजके पूज्य गुरु समर्थ श्रीरामदास स्वामीजीको प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके और महावीर श्रीहनुमान्‌जीके शुभ दर्शन हुए थे।

नाम-जपमें अमोघ फल निहित होनेके विषयमें एक ग्रन्थकार इसप्रकार लिखते हैं—

'मन्त्र-जपसे शक्ति ऐसे उत्पन्न होती है कि हम सब लोग यह जानते हैं कि बिजलीके बलसे संसारमें अनेक कार्य हो रहे हैं परन्तु यह कोई नहीं जानता कि बिजली क्या वस्तु है? तथापि यह कोई भी नहीं कह सकता कि बिजली कोई वस्तु ही नहीं है। अर्थात् बिजली एक अनिर्वचनीय गुप्त शक्ति है; जिसका हवाकी तरह केवल कार्य देखनेमें आता है, रूप नहीं देखा जाता। जिस विद्युत्-यन्त्रसे बिजली उत्पन्न की जाती है, उसे डायनमो (Dynamo) कहते हैं। डायनमोमें बिजली रहती है, इंजिनसे गति उत्पन्न की जाती है, गतिसे उसमें बिजलीकी शक्ति उत्पन्न होती है और शक्तिहीसे संसारके सारे कार्य चलते हैं।

इसी प्रकार शरीर एक इंजिन है, मन्त्र डायनमो यन्त्र है, जप करना उसको गति देना है। जपसे शक्ति उत्पन्न होती है, और वही शक्ति इच्छानुसार कार्य सिद्ध करती है।

पूज्य गुरु श्रीस्वामी रामकृष्ण परमहंसजीने अपने निजके अनुभवकी यह निम्न बातें कही हैं—

'ईश्वरको व्याकुल होकर खोजनेपर उनके दर्शन होते हैं, और वैसे ही बात-चीत होती है, जैसे मैं तुमसे बात-चीत कर रहा हूँ। सत्य कहता हूँ उनके दर्शन होते हैं। यह बात मैं कहता भी किससे हूँ और विश्वास भी कौन कर सकता है?'

एक जगहपर फिर कहा है—

'जपसे ईश्वर मिलते हैं। एकान्तमें उनका नाम जपते रहनेसे उनकी कृपा होती है। इसके पश्चात् है दर्शन। जैसे पानीमें काठ डुबाया हुआ है और लोहेकी जंजीरसे बाँधा हुआ है, उसी जंजीरको पकड़कर जाओ तो वह लकड़ी छू सकोगे।। पूजाकी अपेक्षा जप बड़ा है, जपकी अपेक्षा ध्यान,ध्यानसे बढ़कर है भाव, भावसे बढ़कर है प्रेम। प्रेम चैतन्यदेवको प्राप्त हुआ था। प्रेम अगर हुआ तो ईश्वरको बाँधनेकी रस्सी मिल गयी।'

प्रेम-भक्ति-सहित अनन्य स्मरणसे प्रभुको विवश होकर भक्त दासोंपर दया करनी ही पड़ती है। जीव मायामें स्वाभाविक लिप्त रहनेके कारण यदि स्मरण-कार्य करते हुए कुछ विघ्न-बाधाएँ आवें भी, तो शीघ्र ही प्रभु श्रीरामजी उन विघ्नोंको दूर कर देते हैं। अतः चाहे जितनी विघ्न-बाधाएँ आवें तो भी उनकी गहरी तहमें प्रभुकी हमपर कोई दया और परिणाममें कोई लाभकी सम्भावना ही समझो कि जिस गहरी तहमें स्थित उस दया और लाभको हमारी संकुचित बुद्धि नहीं समझ सकती। दूसरे, सुनार सोनेको उसकी असलियतकी परीक्षाके लिये ही तपाता है—ऐसा समझकर उन विघ्न-बाधाओंकी कोई परवा न करो। इतना खयाल रक्खो कि अपनी जानमें कोई अनुचित और अयोग्य कार्य न होने पावे। अपना स्मरण-कार्य तो निरन्तर जारी ही रक्खो। विघ्न-बाधाओंके आनेपर इस दैनिक स्मरण-

कार्यमें अश्रद्धा और इसको छोड़नेकी सलाह भी कुतर्की मन देने लगे तो समझो कि यह खोटी सलाह हमारे पूर्व-जन्मके अशुभ कर्मोंकी प्रबलताके कारण ही पैदा होती है । ऐसा निश्चयकर स्मरण-कार्यको कभी न छोड़ो । कुछ ही समयमें देखोगे कि तुम्हारी श्रद्धा और इसने बहुत अच्छा काम किया है । धीरे-धीरे सब विघ्न-बाधाएँ कम होती जायँगी । होते-होते तुम्हारा जीवन पूर्ण सुख और कल्याणमय होता जायगा, किशोरावस्थामें मन चञ्चल होनेसे इस कल्याणप्रद कार्यमें चित्त न भी लगे तो जबरदस्ती जितना भी समय लगा सको, इसमें लगाओ। चित्त न जमे तो न सही पर Somthing is better than nothing (अथवा अकरणात् मन्दकरणं श्रेयः) के अनुसार कुछ-न-कुछ करते ही रहो । बे-मनसे किया हुआ स्मरण-जप भी सर्व प्रकारके भयका नाशकर अवश्य फलदायी होता है । जैसे अग्नि लापरवाहीसे छुई जानेपर भी स्वाभाविक ही जलानेका कार्य करती ही है ।

अतएव स्मरण-कार्य जारी रखनेका काम ऐसा अमोघ फलदायक है कि जहाँ कुछ भी नहीं था उसके स्थानमें बहुत ज्यादा प्राप्त हो जायगा । भक्तिके वश दयालु प्रभु श्रीरामजीको विवश होकर कृपा करनी ही होगी । यह पहुँचे हुए बुद्धिमानोंका किया हुआ अनुभव है । कोरी कल्पनामात्र नहीं है ।

राम सदा सेवक रुचि राखी । बेद पुरान साधु सुर साखी ॥
—रामचरितमानस

उक्त वास्तविक सुखका मार्ग श्रीभगवान्‌की पूर्ण दया होनेपर ही कहीं नजर आता है, अन्यथा बड़ी उमरमें भी नजर नहीं आता । यदि बड़ी उमरमें नजर आनेका जरिया मिल जाय तो उस मार्गपर चलनेको जी नहीं चाहेगा । पूर्व-जन्मके पुण्य-प्रतापसे जीने चाह ही लिया तो आगेकी उमरका बचा हुआ हिस्सा (जीवन) सफल हो जाता है । परन्तु उससे पहलेका समय तो व्यर्थ भटकने और धक्के खानेमें गया हो, जिस पछतावेका अनुभव बादमें होता है । यह व्यर्थ धक्के खानेकी अवस्था भी सार्थक हो, केवल इसी कारणसे सावधान करनेको यह निवेदन किया जाता है । अतः जितना भी स्मरण-कार्य हो सके और जभी मालूम हो जावे, तभीसे यथावकाश अवश्य शुरू कर दो ।

स्मरण-कार्यमें जो याचना करो, उसमें केवल श्रीराम-जीके चरणकमलोंकी अचल, निर्मल और अनन्य भक्तिको ही माँगो । सच्चा प्रेम और भक्ति पा लेनेपर तो फिर कुछ पाना शेष ही नहीं रह जायगा । सांसारिक सुखोंकी चिन्ता करनेकी और प्रभुसे माँगनेकी जरूरत नहीं है । हमारी अपेक्षा भक्तोंके लाभ-अलाभको प्रभु ही भलीभाँति जान सकते हैं । हमारी संकुचित बुद्धि वास्तविक सुखके निर्णय करनेमें कुछ भी काम नहीं दे सकती । दासोंकी आवश्यकताएँ श्रीसरकारको सब मालूम हैं । फिर व्यर्थ इस झंझटमें क्यों पड़ना चाहिये ? यों प्रयत्न करनेके बाद अपने स्मरण-कार्यको उनके चरणोंमें अर्पित कर देनेपर, फिर जिसको हमारी समझमें हम 'दुःख' समझते हैं वह दुःख भी आवे तो उस दुःखको वास्तविक दुःख न समझो और न उसकी भयङ्करतासे घबराओ । यह दरअसल दुःख नहीं है । उस दुःखमें परिणाममें कोई-न-कोई वास्तविक सुख ही प्रभुने निहित कर रक्खा है कि जिस सुखको समझ सकना हमारी बुद्धिके परे है । ऐसे समय भक्तोंपर प्रभुका जो दयापूर्ण बर्ताव होता है, वह इस ढङ्गका होता है कि जैसे बच्चेके शरीरपरका फोड़ा माता कठोरके समान होकर चिरवाती है । यद्यपि बच्चा पहले तो दुःख पाता है और रोता है, परन्तु उसके आगेके बड़े दुःखको दूर करनेके लिये ही माता फोड़ा चिरवानेके थोड़े दुःखको सहन कर लेती है । वही हाल ऐसे समय समझो ।

यदि धैर्य न रहनेपर किसी सांसारिक सुखकी तुमने चाहना कर ही ली, जैसी कि अधीरता प्रायः बड़ों-बड़ोंको हुआ करती है, तो प्रथम तो प्रभुके यहाँ कोई भी वस्तु अदेय नहीं है । जैसे कि स्वयं प्रभु श्रीरामजी अपने श्रीमुखसे देवर्षि श्रीनारदजीसे फरमाते हैं कि—

जनकहुँ कछु अदेय नहिं मोरे । अस बिस्वास तजहु जनि भोरे ॥
—रामचरितमानस

इसके अनुसार प्रभुस्मरणके प्रभावसे वह सुख मिल ही जायगा । यह श्रम कदापि व्यर्थ नहीं जाता, शर्तिया फल मिलता है । बर्फ शरीरको शीतल करता है, पर यह बात भी चाहे कभी गलत होकर बर्फ आग बरसाने लग जाय एवं मछली पानी रहेगा तभी जिन्दा रह सकेगी, यह बात भी चाहे गलत होकर बिना पानीके वह जिन्दा रहने लग जाय, परन्तु उक्त स्मरण-कार्यका फल शर्तिया मिलने-की बात तो कभी गलत हो ही नहीं सकती । यह एक अमिट सिद्धान्त है । इसमें दृढ विश्वास रक्खो ।

पर यदि कभी तुम्हारी समझमें मनोवाञ्छित फल पूरा नहीं मिला तो (१) एक यह कारण समझो कि उस कार्यके लिये आवश्यकताके अनुकूल श्रम अभी नहीं हुआ है। कोई कसर अभी रह गयी, तभी विलम्ब हो रहा है। अभी नहीं तो इस प्रयत्नका फल महीने-दो-महीने, बरस-दो-बरसमें कभी कार्यके महत्त्वके अनुकूल समय और श्रम पूरा होनेपर मिलेगा ही। यह बात कभी असत्य हो ही नहीं सकती, इसप्रकार अधिक श्रमकी आवश्यकता खयालकर स्मरण-कार्य किये ही जाओ। (२) दूसरा कारण यह कि तुम्हारी दृढ़ताकी प्रेम-परीक्षा प्रभु-प्रेरणासे ली जा रही है। (३) तीसरा यह कि दिनके बाद रात और रातके बाद दिन-का, इसी प्रकार सुखके बाद दुःखके और दुःखके बाद सुखके परिवर्तनका ताँता संसारमें पहियेके समान हर एकके साथ लगा ही है। (४) एक कारण यह भी सम्भव है कि मुमकिन है कि उस सांसारिक सुखके फलकी प्राप्ति हमारे लिये दयालु प्रभुने हानिकारक समझी हो कि जैसे वैद्य रोगीको उसकी इच्छानुसार गरिष्ठ भोजन उसके लिये कुपथ्यकारक होनेसे नहीं देता। इस विषयको और अच्छी तरह समझना चाहो तो रामचरितमानसमें वर्णित देवर्षि नारदजीका मोह-अभिमान-का प्रसंग जरा गौरसे पढ़ लो। (५) पाँचवाँ कारण सम्भवतः यह हो कि अपने पूर्व जन्मोंके अज्ञात अशुभ कर्म जिनका हानिकारक परिणाम मिलनेहीवाला था जिसको हमारे इस स्मरण-कार्यके श्रमने रोक दिया और इसप्रकार वह स्मरणकार्यका श्रम भावी हानिकारक परिणामको मुकाबला कर नाश करनेमें खर्च हो गया। ऐसा समझकर विशेष श्रम किये ही जाओ। यह बात इस एक उदाहरणसे तुम्हारी समझमें अच्छी तरह आ जायगी कि यह महाजनोंके जमा-खर्चकी बहियोंके खाते-जैसा हिसाब है। जैसे अपनी कमाईका रुपया पोतेबाकी बचत उस वक्त निकलना शुरू होगा, जब उस बहीमेंका पहलेका कर्जा बेबाक हो जायगा। जबतक कर्जा बेबाक नहीं हो जायगा, धन जुड़नेका सुखदायी फल नहीं मिल सकता। पहलेका कर्जा बेबाक होते ही उसके बादकी कमाई पोते आमदनी रहते हुए फिर सुखदायी फल मिलना शुरू हुआ ही समझो। अतः स्मरणकार्यकी श्रमरूपी कमाई तो हर हालतमें किये ही जाओ। यह श्रम कभी भी व्यर्थ नहीं जानेका।

यदि कोई शारीरिक या आर्थिक हानि भी ऐसे समय हो जावे तो कुछ परवा या सन्देह मत करो। वह सन्देह बाहर निकलते हुए प्राणीको फिरसे कुएँमें धक्का देनेवाला समझो। स्मरण-कार्यमें कभी भी अश्रद्धा न करो, एवं न ऐसा खयाल ही आने दो। दरअसल ऐसे नुकसानका यही कारण समझो कि हमारा पूर्व-जन्मका रेकर्ड सँभाला गया है और गनीमत समझो कि आया हुआ नुकसान हमारे उस स्मरणके बलसे थोड़ेमें ही दयालु प्रभुने निपटा दिया। यदि वह स्मरण-प्रार्थनाका कार्य न किया होता तो उस आयी हुई हानिका कई गुना नुकसान या दुःख हमपर आता कि जिससे हम चूर-चूर हो जाते। वह क्या दुःख था? हमारे अनुमानके बाहर है। उसको प्रभु ही जानते हैं, तुम्हारी बुद्धिकी पहुँच जहाँतक हो सके, अनुमान बाँध लो। अतः कैसे भी विघ्न आनेपर भी इस कल्याण-कार्यमें अश्रद्धा पैदा न होने दो और स्मरण-कार्यको किसी प्रकारके झूठे अविश्वासकी कल्पना करके कभी मत छोड़ो। खबरदार रहो! ऐसे मौके बहुत सँभलनेके हैं। जरा अश्रद्धा हुई कि चूके और निकलते हुए-से फिर कुएँमें धमसे गिरे ही समझो। बहुधा समझदार, विचारवान् और बुद्धिमानोंका भी ऐसे समय धैर्य और श्रद्धा हाथसे छूट जाती है। अतः पूर्ण सावधान रहो। ये मौके तुमने सँभाल लिये तो बस पौबारा है। निश्चय है कि तुम प्रभुके दयापात्र हो चुके और आगेका तमाम जीवन-मार्ग निष्कण्टक और आनन्दमय हो गया। भक्तका योगक्षेम प्रभु आप निबाहते हैं। वैसे तो प्रभु समदर्शी होनेसे भक्त-अभक्त सभीकी रक्षा और पालन करते ही हैं, पर—

तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भक्त-अभक्त हृदय अनुसारा॥

(रामचरितमानस)

महात्मा पुरुषोंके प्रकट किये हुए अनुभवोंसे प्रभुके यहाँ-का एक यह भी नियम होना बताया जाता है कि प्रत्येक मनुष्यके पुण्य और पाप अथवा सुकर्म और कुकर्म उन दोनोंमें जो थोड़े हों उसका फल प्रथम भुगताया जाता है। पुराने रेकर्डमें पाप अधिक हैं, तो पहले पुण्योंके पीछे पापके फलकी बारी आती है। और पुण्य अधिक हैं, उसे पाप भुगताया जाता है। सुकर्म करते हुए आरम्भमें हानि या दुःख पड़ा हो तो समझो कि अब उसके कुकर्म अधिक नहीं हैं बहुत थोड़े शेष रह गये हैं, जिससे उनका फल भुगतनेकी बारी पहले है फिर बादमें सुख मिलेगा। गुजरातीमें इस एक कहावत है—

'पापीने घेरे पारणाँ, ने धरमीने धक्का'

अथवा—

'सती दु खी थाय, वेश्या सुखी थाय'

इस विपरीतताका कारण वही है जो ऊपर नम्बर १, २, ३, ४ और ५ में बताया गया है।

कुकर्म करनेवाले किसी-किसी मनुष्यको यदि तुम सुखी देखते हो तो उसका कदापि यह अर्थ न समझो कि कुकर्मका फल सुखदायी है, अतः हम भी बेधड़क कुकर्म करें। नहीं, नहीं! हरगिज़ नहीं! ऐसी कुतर्कनाके समय सावधान रहो! अच्छी तरह याद रक्खो कि जिस कुकर्मीको तुम सुखी देख रहे हो उसको अपने कुकर्मोंका फल तो आगे भुगतना ही है। तुम्हारी निगाहमें तुम सुखी देखते हो, उसका कारण यही समझो कि उक्त कारण नं० ५ में बताया गया है यानी उसके पूर्व-जन्मके अच्छे पुण्य-कार्य अधिक मात्रामें जमा किये हुए अमानत हैं। उस अमानतखातेमें यह कुकर्मरूपी हिसाब भी खर्चा-पेटे नोंधा जा रहा है। जिसमेंसे पुण्य-कार्योंकी अमानत-रकम अभी बचत निकलती आ रही है, उसीके फल-स्वरूप सुख वह पापी होते हुए भी भुगतता जा रहा है। मगर यह बात भी निश्चय समझो कि जहाँ वह अमानतखातेके जमा-खर्चके पेटे बराबर यानी बेबाक हुए कि बचत-शुदा कुकर्मोंका फल उसके लिये भुगतना शुरू हुआ। और जहाँ उसके पुण्य-कार्यका फल समाप्त हुआ, वहीं धक्के पड़ने शुरू हो जायँगे।

इस विषयमें श्रीसरकार रामजीके प्रबन्ध विभागमें दरअसल क्या हिसाब है, उसको तो सरकार ही जानें और इधर विद्वान्, बुद्धिमान् और महात्मा पुरुषोंके अनुभवकी बात भी मैं नहीं कह सकता। मैं तो उन महात्माओंका क्षुद्र दास हूँ और अपनी अल्प बुद्धिसे इन उदाहरणके समय ऊपरके कारण ही अनुमान करता हूँ। यदि अन्य कोई कारण हो तो विद्वान् महापुरुषोंसे इस विषयपर अपने अनुभवका प्रकाश डालनेकी सविनय प्रार्थना करता हूँ। मैं उनका अधिक कृतज्ञ होऊँगा तथा अन्य कारण मालूम होनेपर मैं अपनी भूल स्वीकार करनेको भी तैयार हूँ।

अतः सफलता प्राप्त होनेमें विलम्ब होनेका, या कोई विपरीत फल दृष्टिगोचर होनेका कारण ऊपर प्रकट किये हुए कारणोंमेंसे कोई एक समझकर हरि-स्मरणका धार्मिक कार्य तो जारी ही रक्खो। हताश या अविश्वासके भ्रमजालमें कभी मत फँसो। पूर्ण दृढ़ बने रहो। सावधान! सावधान!! सावधान!!! बल्कि अपने उस प्रोग्राममें जप-की संख्या शनैः शनैः विशेष बढ़ाते जाओ। प्रभु जरूर न्यायकारी हैं। उनके यहाँ कभी ज़रा-से अन्यायकी भी गुंजाइश नहीं है। इसको निश्चय समझो।

सारांश यह कि जीवनके लिये आवश्यक समझकर अपने दैनिक कार्यक्रम (Daily-programme) में भगवान्का भक्तिरसपूर्ण स्मरण करनेका जपकार्य जरूर जोड़ लो और इसको बिना नागा रोजाना यथावकाश किया ही करो कि जैसे बिना नागा रोजाना खाना खाते हो कि जिसके बिना तुम जिन्दा नहीं रह सकते। वैसा ही इस कार्यको भी आवश्यक समझो। शुरूमें इस धार्मिक नित्य-नियमके लिये कम-से-कम सिर्फ एक घण्टा ही निकालो। रात और दिनके कुल चौबीस घण्टेमेंसे आरम्भमें केवल एक घण्टा भी प्रभु स्मरण-जैसे जरूरी कामके लिये नहीं निकाल सकते? बहुत आसानीसे निकाल सकते हो। जल्दीमें एक मिनटमें तीन सौ बार और आहिस्ता-आहिस्तासे दो सौ बार राम-मन्त्रके जप-संख्याका औसत बैठता है, सो आहिस्ता आहिस्ता जप करनेपर भी बारह हजार दैनिकसे शुरू कर सकते हो। जितना भी करो, उसका नियम बाँध लो। बिना नियम बाँधे नियमित संख्या पूरी नहीं हो पाती। गणना रखनेसे यह मालूम होता रहता है कि इतनी संख्याका जप अभी बाकी है जिससे बाकीको पूरा करनेकी फिक्र रहती है। इस नियमसे नियत सख्या पूरी हो जाती है। यथावकाश महीने पन्द्रह दिन बाद दैनिक जप-संख्या अभ्याससे ५० हजारतक और आगे जाकर एक लाखतक थोड़ी थोड़ी करके बढ़ाते जाओ।

संगीतकी नीचे लिखी एक तर्जके साथ जप करोगे तो सरलतासे होगा तथा अधिक संख्याके जपमें तुम्हारा जी भी नहीं उकतावेगा।

सात बारवालोंके लिये—

राम राम राम राम राम राम राम,
राम राम राम राम राम राम राम।
राम राम राम राम राम राम राम,
राम राम राम राम राम राम राम॥

एक चरणमें सात नाम इसप्रकार चार चरणके इस पूरे पदके उच्चारणसे अट्ठाईस बार राम-मन्त्रका नामोच्चार होगा। इसी प्रकार दस-दस नामके चरणवाला एक पद चालीस नामका होगा। अभ्यासके अनुसार अधिक संख्याका जप इस युक्तिसे बहुत ही सुगमतासे होगा।

यदि किसी दिन प्रातःकाल नियमित संख्याका जप पूरा होनेका अवकाश न मिल पावे, तो बाकीके लिये जिस समय भी मौका मिले, चलते-फिरते, उठते-बैठते या रातमें सोते वक्त समय मिले तो उस समय ही सही, पर रोजानाका प्रोग्राम तो पूरा कर ही लेनेकी आदत डालो। यह महामन्त्र इतना पवित्र और घोरतम पापोंको नाश कर देनेवाला है कि इसके जपके लिये शुचि-अशुचि, स्थान-कुस्थान या समय-असमय देखनेकी आवश्यकता नहीं, पवित्रता हो तो और भी अच्छा। पर यदि विवशता हो तो यह कल्याण-कार्य रोकनेकी आवश्यकता नहीं। अनुभवी और पहुँचे हुए महात्माओंका यह मत है। सोचो कि जो घोर पापोंको नाश कर सकता है, क्या वह साधारण अपवित्रताको पवित्र नहीं कर सकता?

यदि ऐसा सङ्कल्प कर लो तो बहुत ही अच्छा, कि अमुक करोड़-संख्यामें भगवद्-स्मरण-जप अपने जीवनभरमें पूरे करने ही हैं।

इस विषयमें केवल इतना ही अनुरोध है कि कम-से-कम एक-दो सालतक इसके अनुसार अनुसरण करके देखो कि आनन्ददायी और कल्याणकारी मार्ग नजर आता है या नहीं। मैं उस विशेषताका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ। अनुभव और अभ्याससे आप ही अपने जीवनकी सुख-वृद्धिमें एक विचित्र परिवर्तन पाओगे। 'हाथ कंगनको आरसी क्या' इस कार्यमें न पैसा लगे न कौड़ी, करके देख लो। जो मनुष्य राम-नामकी जितनी अधिक महत्ता और उसका व्यापक अर्थ समझता हुआ जितना गहरा गोता लगायेगा, उतना ही अधिक फल और आनन्द पावेगा। जैसे एक रत्नका मूल्य मामूली व्यक्ति एक पैसा करता है, कुछ परीक्षा कर सकनेवाला सौ रुपये और सच्ची परीक्षा करनेवाला उसी एक पैसेवाले रत्नका मूल्य हजार या लाख रुपया या इससे भी अधिक कर सकता है। यही हाल इस राम-नामका मूल्य समझनेमें है। भगवान्के जिस किसी नामपर श्रद्धा हो उसीका जप किये जाओ। मगर करो जरूर। उपासना सात्त्विक करो, तामसिक नहीं।

मांस-भक्षण-निषेध

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम्।
स वर्जयेत मांसानि प्राणिनामिह सर्वशः॥
(महा० अनु० ११५।४४)

'जो पुरुष आत्यन्तिक शान्ति लाभ करना चाहता है, उसको जगत्में किसी भी प्राणीका मांस नहीं खाना चाहिये।'

यद्यपि जगत्में बहुत-से लोग मांस खाते हैं, परन्तु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि मांस-भक्षण सर्वथा हानिप्रद है। इससे लोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं। बहुत-से लोग तो ऐसे हैं जो मांस-भक्षणको हानिकर समझते हुए भी बुरी आदतके वशमें होनेके कारण नहीं छोड़ सकते। कुछ ऐसे हैं जो आराम और भोगासक्तिके वशमें हुए मांस-भक्षणका समर्थन करते हैं परन्तु उन लोगोंको भी विवेकी पुरुषोंके समुदायमें नीचा देखना पड़ता है। मांस-भक्षणसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंका पार नहीं है। उनमेंसे यहाँ संक्षेपमें कुछ बतलाये जाते हैं। निवेदन यही है कि पाठक इस लेखको मननपूर्वक पढ़ें और उनमें जो मांस खाते हों वे कृपापूर्वक मांस खाना छोड़ दें।

१—मांस-भक्षण भगवत्प्राप्तिमें बाधक है।
२—मांस-भक्षणसे ईश्वरकी अप्रसन्नता प्राप्त होती है।
३—मांस-भक्षण महापाप है।
४—मांस-भक्षणसे परलोकमें दुःख प्राप्त होता है।
५—मांस-भक्षण मनुष्यके लिये प्रकृतिविरुद्ध है।
६—मांस-भक्षणसे मनुष्य पशुत्वको प्राप्त होता है।
७—मांस-भक्षण मनुष्यकी अनधिकार चेष्टा है।

८—मास-भक्षण घोर निर्दयता है ।

९—मास-भक्षणसे स्वास्थ्यका नाश होता है ।

१०—मास भक्षण शास्त्रनिन्दित है ।

अब उपर्युक्त दस विषयोंपर सक्षेपसे पृथक् पृथक् विचार कीजिये ।

(१) सम्पूर्णरूपसे अभयपदकी प्राप्तिको ही मुक्ति—परम पद-प्राप्ति या भगवत्-प्राप्ति कहते हैं। इस अभय-पदकी प्राप्ति उसीको होती है जो दूसरोंको अभय देता है। जो अपने उदरपोषण अथवा जीभके स्वादके लिये कठोरहृदय होकर प्राणियोंकी हिंसा करता-कराता है, वह प्राणियोंको भय देनेवाला और उनका अनिष्ट करनेवाला मनुष्य अभयपदको कैसे प्राप्त हो सकता है? श्रीभगवान्‌ने निराकार-उपासनामें लगे हुए साधकके लिये *'सर्वभूतहिते रताः'* और भक्तके लिये *'अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्रः करुण एव च'* कहकर सर्वभूतहित और प्राणिमात्रके प्रति मैत्री और दया करनेका विधान किया है। भूतहित और भूतदयाके बिना परम पदकी प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। अतएव आत्माके उद्धारकी इच्छा रखनेवाले पुरुषका कर्तव्य है कि वह किसी भी जीवको किसी समय किसी प्रकार किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचावे। भगवत्-प्राप्तिकी तो बात ही दूर है, मास खानेवाले-को तो स्वर्गकी प्राप्ति भी नहीं होती। मनु महाराज कहते हैं—

नाकृत्वा प्राणिना हिंसा मासमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मास विवर्जयेत्॥
(५।४८)

'प्राणियोंकी हिंसा किये बिना मास उत्पन्न नहीं होता। और प्राणिवध करनेसे स्वर्ग भी नहीं मिलता, अतएव मासका त्याग करना चाहिये।'

(२) समस्त चराचर जगत्‌के रचयिता परम पिता परमात्माकी दृष्टिमें सभी जीव समान हैं, या यों कहना चाहिये कि उनके द्वारा रचित होनेके कारण सब उन्हींकी सन्तान हैं। इसीलिये भक्तकी दृष्टिमें सभी जीव अपने भाईके समान होते हैं, इस रहस्यके जाननेवाले ईश्वर-भक्तके लिये परम पिता परमात्माकी सन्तान अपने बन्धुरूप किसी भी प्राणी-को मारना तो दूर रहा, वह किसीको किञ्चित् कष्ट भी नहीं पहुँचा सकता। जो लोग इस बातको न समझकर स्वार्थवश दूसरे जीवोंकी हिंसा करते हैं, और हिंसा करते हुए ही अपने ऊपर ईश्वरकी दया चाहते हैं और ईश्वर-प्राप्तिकी कामना करते हैं वे बड़े भ्रममें हैं। प्राणिवध करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्योंपर ईश्वर कैसे प्रसन्न हो सकते हैं? किसी पिताका एक लड़का लोभ वश अपने दूसरे निर्दोष भाइयोंको सताकर या मारकर जैसे पिताका कोपभाजन होता है वैसे ही प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेवाले लोग ईश्वरकी अप्रसन्नता और कोपके पात्र होते हैं।

(३) धर्ममें सबसे पहला स्थान अहिंसाको दिया गया है और सब तो धर्मके अङ्ग हैं, परन्तु अहिसा परम धर्म है—*'अहिंसा परमो धर्मः'* धर्मका तात्पर्य अहिसामें है। धर्मको माननेवाले सभी लोग अहिंसा और त्यागकी प्रशंसा करते हैं। जो धर्म मनुष्यकी वृत्तियोंको अहिंसा, त्याग, निवृत्ति और सयमकी ओर ले जाता है, वही यथार्थ धर्म है। जिस धर्ममें इन बातोंकी कमी है वह धर्म अधूरा है। मास-भक्षण करनेवाले अहिंसा-धर्मका हनन करते हैं, धर्मका हनन ही पाप है। कोई यह कहें कि हम स्वयं जानवरोंको न तो मारते हैं और न मरवाते हैं, दूसरोंके द्वारा मारे हुए पशु-पक्षियोंका मास खरीदकर खाते हैं इसलिये हम प्राणिहिंसाके पापी क्यों माने जायँ। इसका उत्तर स्पष्ट है। हिंसा मासाहारियोंके लिये ही की जाती है। कसाईखाने मास खानेवालोंके लिये ही बने हैं। यदि मासाहारी लोग मास खाना

छोड़ दें तो प्राणिवध कोई किसलिये करे ? फिर यह भी समझनेकी बात है कि केवल अपने हाथों किसीको मारनेका नाम ही हिंसा नहीं है। महर्षि पतञ्जलिने अहिंसाके मुख्यतया सत्ताईस भेद बतलाये हैं। यथा—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योग० २। ३४)

अर्थात् स्वयं हिंसा करना, दूसरेसे करवाना और हिंसाका समर्थन करना—यह तीन प्रकारकी हिंसा है। ये तीन प्रकारकी हिंसा लोभ, क्रोध और अज्ञानके हेतुओंसे होनेके कारण (३×३=९) नौ प्रकारकी हो जाती है। और नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य और अधिमात्रासे होनेसे (९×३=२७) सत्ताईस प्रकारकी हो जाती है। यही २७ प्रकारकी हिंसा शरीर, वाणी और मनसे होनेके कारण इक्यासी भेदोंवाली बन जाती है। इसलिये स्वयं न मारकर दूसरोंके द्वारा मरे हुए पशुओंका मांस खानेवाला भी वास्तवमें प्राणिहिंसक ही है। मनु महाराज कहते हैं—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः॥
(५। ५१)

'आज्ञा देनेवाला, अंग काटनेवाला, मारनेवाला, मांस खरीदनेवाला, वेचनेवाला, पकानेवाला, परोसनेवाला और खानेवाला—ये सभी घातक कहलाते हैं।' इसी प्रकार महाभारतमें कहा है—

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः॥
आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते॥
(महा० अनु० ११५। ४०, ४६)

'मांस खरीदनेवाला धनसे प्राणीकी हिंसा करता है, खानेवाला उपभोगसे करता है और मारनेवाला मारकर और बाँधकर हिंसा करता है, इसप्रकार तीन तरहसे वध होता है। जो मनुष्य मांस लाता है, जो मँगाता है, जो पशुके अंग काटता है, जो खरीदता है, जो वेचता है, जो पकाता है और जो खाता है, वे सभी मांस खानेवाले (घातकी) हैं।'

अतएव मांस-भक्षण धर्मका हनन करनेवाला होनेके कारण सर्वथा महापाप है। धर्मके पालन करनेवालेके लिये अहिंसाका त्यागना पहली सीढ़ी है। जिसके हृदयमें अहिंसाका भाव नहीं है, वहाँ धर्मको स्थान ही कहाँ है ?

(४) भीष्मपितामह राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

मां स भक्षयते यस्माद्भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत॥
(महा० अनु० ११६। ३५)

हे युधिष्ठिर ! जो मुझे खाता है मैं उसे खाऊँगा यह मांस शब्दका मांसत्व है। इसी प्रकारकी बात मनु महाराजने कही है—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥
(५। ५५)

मैं यहाँ जिसका मांस खाता हूँ, वह परलोकमें मुझे (मेरा मांस) खायगा। मांस शब्दका यह अर्थ विद्वान् लोग किया करते हैं।

आज यहाँ जो जिस जीवके मांसको खावेगा किसी समय वही जीव उसका वदला लेनेके लिये उसके मांसको खानेवाला वनेगा। जो मनुष्य जिसको जितना कष्ट पहुँचाता है समयान्तरमें उसको अपने किये हुए कर्मके फलस्वरूप वह कष्ट और भी अधिक मात्रामें (मय व्याजके) भोगना पड़ता है, इसके सिवा यह भी युक्तिसंगत वात है कि जैसे हमें दूसरेके द्वारा सताये और [illegible] के [illegible] कष्ट

होता है वैसा ही सबको होता है। परपीड़ा महापातक है, पापका फल सुख कैसे होगा ? इसीलिये भीष्म-पितामह कहते हैं—

कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागताः।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च भ्राम्यन्ते वै पुनः पुनः॥
(महा० अनु० ११६।२१)

मांसाहारी जीव अनेक योनियोंमें उत्पन्न होते हुए अन्तमें कुम्भीपाक-नरकमें यन्त्रणा भोगते हैं और दूसरे उन्हें बलात्कारसे दबाकर मार डालते हैं और इसप्रकार वे बार-बार नाना योनियोंमें भटकते रहते हैं।

(५) भगवान्‌ने सृष्टिमें जिसप्रकारके जीव बनाये हैं उनके लिये उसी प्रकारके आहारकी रचना की है। मांसाहारी सिंह, कुत्ते, भेड़िये आदिकी आकृति, उनके दाँत, जबड़े, पञ्जे, नख और हड्डी आदिसे मनुष्यकी आकृति और उसके दाँत, जबड़े, पञ्जे, नख और हड्डीकी तुलना करके देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्यका खाद्य अन्न, दूध और फल ही है। जल-चिकित्साके प्रसिद्ध आविष्कारक लुईकूने महोदय-ने भी कहा है कि 'मनुष्य मांसभक्षी प्राणी नहीं है। वह तो मांस-भक्षण करके मनुष्यकी प्रकृतिके विरुद्ध कार्य कर नाना प्रकारकी विपत्तियोंको बुलाता है।' मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक ही सौम्य है, सौम्य प्रकृतिवाले जीवोंके लिये अन्न, दूध, फल आदि सौम्य पदार्थ ही स्वाभाविक भोज्य पदार्थ हैं। गौ, बकरी, कबूतर आदि सौम्य प्रकृतिके पशु-पक्षी भी मांस न खाकर घास, चारा, अन्न आदि ही खाते हैं। मांसाहारी पशु-पक्षियोंकी आकृति सहज ही क्रूर और भयानक होती है। शेर, बाघ, बिल्ली, कुत्ते आदिको देखते ही इस बातका पता लग जाता है। महाभारतमें कहा है—

इमे वै मानवा लोके नृशंसा मांसगृद्धिनः।
विसृज्य विविधान् भक्ष्यान् महारक्षोगणा इव॥
अपूपान् विविधाकारान् शाकानि विविधानि च।
खाण्डवान् रसयोगांश्च तथेच्छन्ति यथाऽऽमिषम्॥
(महा० अनु० ११६।१-२)

'शोक है कि जगत्‌में मांसके लोभी क्रूर मनुष्य नाना प्रकारकी पवित्र मिठाइयाँ, शाक, खाँडकी वस्तुएँ, रस-पदार्थ आदिको त्यागकर मांसका स्वाद लेना चाहते हैं। ऐसे उत्तम पदार्थोंको छोड़कर मांस खाने-वालोंको महान् राक्षस ही समझना चाहिये।'

इससे यह सिद्ध हो गया कि मांस मनुष्यका आहार कदापि नहीं है।

(६) भोजनसे ही मन बनता है, '*जैसा खावे अन्न, वैसा बने मन,*' कहावत प्रसिद्ध है। मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है उन्हीं पशु-पक्षियोंकेसे गुण, आचरण आदि उसमें उत्पन्न हो जाते हैं, उसकी आकृति क्रमशः वैसी ही बन जाती है। इससे वह इसी जन्ममें मनुष्योचित स्वभावसे प्रायः च्युत होकर पशु-स्वभावापन्न, क्रूर और अमर्यादित जीवनवाला बन जाता है और मरनेपर वैसी ही भावनाके फलस्वरूप तथा अपने कर्मोंका बदला भोगनेके लिये उन्हीं पशु-पक्षियोंकी योनियोंको प्राप्त होकर महान् दुःख भोगता है। भीष्मपितामह कहते हैं—

येन येन शरीरेण यद्यत्कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते॥
(महा० अनु० ११६।२७)

'प्राणी जिस-जिस शरीरसे जो-जो कर्म करता है उस-उस शरीरसे वैसा ही फल पाता है।'

इससे सिद्ध है कि मांसाहारी मनुष्य जिन पशु-पक्षियोंका मांस खाता है, वैसा ही पशु-पक्षी आगे चलकर स्वयं बन जाता है।

(७) जब हम किसी जीवके प्राणोंका संयोग करनेकी शक्ति नहीं रखते, तब हमें उनके प्राणहरण करनेका वस्तुतः कोई अधिकार नहीं है। यदि करते हैं, तो वह एक प्रकारसे महान् अत्याचार और पाप है। मांसाहारी ऊपर लिखे अनुसार स्वयं प्राणी-वध न करनेवाला हो तो भी प्राणीवधका दोषी है ही, क्योंकि प्रकारान्तरसे वही तो प्राणीहिंसामें कारण है।

(८) मांसाहारी मनुष्य निर्दय हो ही जाता है, और जिसमें दया नहीं है उसके अधर्मी होनेमें क्या सन्देह है? मांसभक्षी मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि 'मांस खाकर कितना बड़ा निर्दय कार्य कर रहा हूँ। मेरी तो थोड़ी देरके लिये केवल क्षुधा-की निवृत्ति होती है, परन्तु बेचारे पशु-पक्षीके प्राण सदाके लिये चले जाते हैं।' प्राणनाशके समान कौन दुःख है, संसारमें सभी प्राणी प्राणनाशसे डरते हैं।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायति वेपथुः॥
(महा० अनु० ११६।२७)

'हे भारत! मरण सभी जीवोंके लिये अनिष्ट है, मरणके समय सभी जीव काँप उठते हैं।'

जिस मनुष्यके हृदयमें दया होती है, वह तो दूसरेके दुःखको देख-सुनकर ही काँप उठता है और उसके दुःखको दूर करनेमें लग जाता है। परन्तु जो क्रूरहृदय मनुष्य पापी पेटको भरते और जीभको स्वाद चखानेके लिये प्राणियोंका वध करते हैं, वे तो स्वाभाविक ही निर्दयी हैं। निर्दयी मनुष्य भगवान्से या अन्यान्य जीवोंसे कभी दयाकी माँग नहीं कर सकता।

दयालु पुरुष ही संकटके समय ईश्वरकी तथा अन्यान्य जीवोंकी दयाका पात्र होता है। बड़े ही खेदका विषय है कि मनुष्य स्वयं तो किसीके द्वारा जरा-सा कष्ट पानेपर ही घबरा उठते हैं और चिल्लाने लगते हैं परन्तु निर्दोष मूक जीवों-को, इन्द्रिय-लोलुपता, बुरी आदत और प्रमादवश मार या मरवाकर खानेतकमें नहीं हिचकते।

मनुष्य सबमें बुद्धिमान् और स्वभावसे ही सबका उपकारी जीव माना गया है। यदि वह अपने स्वभावको भुलाकर निर्दयताके साथ पशु-पक्षियोंकी हिंसामें इसी प्रकार उतारू रहेगा तो बेचारे पशु-पक्षियोंका संसारमें निर्वाह ही कठिन हो जायगा। अतएव मनुष्यको दयालु बनना चाहिये—

नहि प्राणात् प्रियतरं लोके किञ्चन विद्यते।
तस्माद्दयां नरः कुर्यात् यथाऽऽत्मनि तथाऽपरे॥
(महा० अनु० ११६।१२)

'इस संसारमें प्राणोंके समान कोई और प्रिय वस्तु नहीं है, अतएव मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया करता है उसी प्रकार दूसरोंपर भी करे'

(९) मांसाहार, स्वाभाविक ही स्वास्थ्यका नाशक है, इस बातको अब तो यूरोपके भी अनेकों विद्वान् और डाक्टर लोग मानने लगे हैं। इसके सिवा एक बात यह भी है कि जिन पशु-पक्षियोंका मांस मनुष्य खाता है, उनमें जो पशु-पक्षी रोगी होते हैं, उनके रोगके परमाणु मांसके साथ ही मनुष्यके शरीरमें प्रवेश-कर उसे भी रोगी बना डालते हैं। इंगलैण्डके एक प्रसिद्ध डाक्टरने लिखा था कि 'इंगलैण्डमें कैंसरके रोगी दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। एक इंगलैण्डमें इस भयानक रोगसे तीस हजार मनुष्य प्रतिवर्ष मरते हैं। यह रोग मांसाहारसे होता है। यदि मांसाहार इसी तेजी-से बढ़ता रहा तो इस बातका भय है कि भविष्यकी सन्तानमें ढाई करोड़ मनुष्य इस रोगके शिकार होंगे।'

मांस बहुत देरसे पचता है, इससे मांसाहारी मनुष्य प्रायः पेटकी बीमारियोंसे पीड़ित रहते हैं। इसके सिवा अन्य भी अनेक प्रकारके रोग मांसाहार-

से होते हैं। शास्त्रोंमें भी कहा है कि मांसाहारियोंकी आयु घट जाती है।

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद्विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद्भूतिमात्मनः॥
(महा० अनु० ११५ । ३३)

हिंसा करनेवालोंकी आयु घट जाती है, अतएव अपना कल्याण चाहनेवालोंको मांसभक्षण नहीं करना चाहिये।

(१०) यद्यपि शास्त्रोंमें कहीं-कहीं मांसका वर्णन आता है परन्तु उनमें मांसत्यागके सम्बन्धमें बहुत ही जोरदार वाक्य हैं। प्रायः सभी शास्त्रोंमें मांस-भक्षणकी निन्दा करके मांसत्यागको अत्युत्तम बतलाया है। ऐसे हजारों वचन हैं, उनमें कुछ थोड़े-से यहाँ दिये जाते हैं—

मनुस्मृति—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥
(५ । ४५, ४९)

'जो निरपराध जीवोंकी अपने सुखकी इच्छासे हिंसा करता है वह जीता हुआ ही मरे हुएके तुल्य है, उसे (इहलोक अथवा परलोकमें) कहीं सुख नहीं मिलता।'

मांसकी उत्पत्ति तथा प्राणियोंकी हिंसा और बन्धनको देखकर मनुष्यको सब प्रकारके मांस-भक्षणका त्याग कर देना चाहिये।

यमस्मृति—

सर्वेषामेव मांसानां महान् दोषस्तु भक्षणे।
निवर्तने महत्पुण्यमिति प्राह प्रजापतिः॥

प्रजापतिका कथन है कि सभी प्रकारके मांसोंके भक्षणमें महान् दोष है और उससे बचनेमें महान् पुण्य है।

महाभारत—

लोभाद्वा बुद्धिमोहाद्वा बलवीर्यार्थमेव च।
संसर्गाद्वथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम्॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
उद्विग्नवासो वसति यत्र यत्राऽभिजायते॥
इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः॥
स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति।
नाऽस्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः॥
शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते॥
(अनुशासनपर्व)

लोभसे, बुद्धिके मोहित हो जानेके कारण अथवा बल और पराक्रमकी प्राप्तिके लिये पापोंका संसर्ग करनेसे मनुष्योंकी (हिंसारूप) अधर्ममें रुचि होती है।

जो मनुष्य अपने मांसको दूसरेके मांससे बढ़ाना चाहता है वह जिस किसी योनिमें भी पुनर्जन्म ग्रहण करता है और दुःखी होकर रहता है।

जो अज्ञानी और अधम पुरुष देवपूजा, यज्ञ तथा वेदोक्त मार्गका आसरा लेकर मांसके लोभसे जीवोंकी हिंसा करता है वह नरकोंको प्राप्त होता है। जो मनुष्य दूसरोंके मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है उससे बढ़कर कोई नीच नहीं है; वह अत्यन्त निर्दयी है।

हे तात! वीर्यसे मांसकी उत्पत्ति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं है (इसलिये यह बहुत घृणित पदार्थ है)। इसके भक्षणमें महान् दोष और त्यागसे पुण्य होता है।

मांस न खानेका फल

मनुस्मृति—

वर्षे वर्षेऽश्वमेधेन यो यजेत शतं समाः ।
मांसानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलं समम् ॥
(५ । ५३)

जो सौ वर्षतक प्रतिवर्ष अश्वमेधयज्ञ करता है और जो किसी प्रकारका मांस नहीं खाता उन दोनोंको बराबर पुण्य होता है ।

महाभारत—

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥
अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सदा ।
भवत्यभक्षयन् मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥
हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः ।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्ट इति नः श्रुतिः॥
(अनुशासनपर्व)

मांस न खानेवाला और प्राणियोंपर दया करनेवाला मनुष्य समस्त जीवोंका आश्रयस्थान एवं विश्वासपात्र बन जाता है; उससे संसारमें किसीको उद्वेग नहीं होता और न उसको ही उद्वेग होता है । उसे कोई भी भय नहीं पहुँचा सकता, वह दीर्घायु होता है और सदा नीरोग रहता है । मांसके न खानेसे जो पुण्य होता है उसके समान पुण्य न तो सुवर्णदानसे होता है, न गोदानसे और न भूमिदानसे होता है ।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हो जाता है कि मांस-भक्षण सभी प्रकारसे त्यागके योग्य है । मेरा नम्र निवेदन है कि जो भाई प्रमादवश मांस खाते हों वे इसपर भलीभाँति विचारकर, मनुष्यत्वके नाते, दया और न्यायके नाते, शरीर-स्वास्थ्य और धर्मकी रक्षाके लिये, और भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये, इन्द्रिय-संयमकर मांस-भक्षण सर्वथा छोड़कर सब जीवोंको अभयदान देकर स्वयं अभयपद प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करें । जो भाई मेरी प्रार्थनापर ध्यान देकर मांस-भक्षणका त्याग कर देंगे, उनका मैं आभारी रहूँगा और उनकी बड़ी दया समझूँगा । महात्मा तुलाधार श्रीजाजलिमुनिसे कहते हैं—

यस्मान्नोद्विजते भूतं जातु किञ्चित् कथञ्चन ।
अभयं सर्वभूतेभ्यः स प्राप्नोति सदा मुने ॥
यस्मादुद्विजते विद्वन् सर्वलोको वृकादिव ।
क्रोशतस्तीरमासाद्य यथा सर्वे जलेचराः ॥
तपोभिर्यज्ञदानैश्च वाक्यैः प्रज्ञाऽऽश्रितैस्तथा ।
प्राप्नोत्यभयदानस्य यद्यत्फलमिहाश्नुते ॥
लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम् ।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम् ॥
न भूतानामहिंसाया ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन ॥
(महा० शान्ति० २६२)

हे मुनिवर ! जिस मनुष्यसे किसी भी प्राणीको किसी प्रकार कष्ट नहीं पहुँचता उसे किसी भी प्राणीसे भय नहीं रह जाता । जिसप्रकार बडवानलसे भयभीत होकर सभी जलचर जन्तु समुद्रके तीरपर इकट्ठे हो जाते हैं उसी प्रकार हे विद्वद्वर ! जिस मनुष्यसे भेड़ियेकी भाँति सब लोग डरते हैं वह स्वयं भयको प्राप्त होता है ।

अनेक प्रकारके तप, यज्ञ और दानसे तथा प्रज्ञायुक्त उपदेशसे जो फल मिलता है वही फल जीवोंको अभयदान देनेसे प्राप्त होता है ।

जो मनुष्य इस संसारके सभी प्राणियोंको अभयदान दे देता है वह सारे यज्ञोंका अनुष्ठान कर चुकता है और बदलेमें उसे सबसे अभय प्राप्त होता है, अतएव प्राणियोंको कष्ट न पहुँचानेसे बढ़कर कोई दूसरा धर्म ही नहीं है ।



विवेक-वाटिका

मुझमें मन लगाओ, मुझमें ही बुद्धि लगाओ, ऐसा करनेसे मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। —भगवान् श्रीकृष्ण

❀ ❀ ❀

जगत्की किसी भी वस्तुका विश्लेषण करनेपर उसमें सत्ता, प्रकाश, आनन्द, नाम और रूप ये पाँच चीजें मिलती हैं। इनमें पहली तीन चीजें ब्रह्मकी अपनी हैं और शेष दो जगत्की हैं। अतएव नाम रूपसे मन हटाकर सच्चिदानन्दमें अनुराग करो। —उपनिषद्

❀ ❀ ❀

जबतक परमात्माके यथार्थ स्वरूपकी पहचान नहीं होती तभीतक अविद्यारूप और संसारी जीवरूप भासता है, वास्तव स्वरूपकी पहचान होते ही जीवभाव और दृश्यभाव निवृत्त होकर एक परब्रह्मरूप ही दृष्टिगोचर होने लगता है। —योगवाशिष्ठ

❀ ❀ ❀

शोक, मोह, दुःख, सुख और देहकी उत्पत्ति यह सब मायाके ही कार्य हैं और यह संसार भी स्वप्नके समान बुद्धिका विकार ही है। इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। —भागवत

❀ ❀ ❀

विषय-वासनाके वशमें होकर सांसारिक बन्धनोंमें फँसना मानवधर्म नहीं है। स्त्री, धन, पुत्र, पशु, घर, भूमि, हाथी, खजाना, ये सभी नाशवान्, क्षणभंगुर और चलायमान हैं। इनमें ममता रखना भूल है। एकमात्र भगवान्की भक्तिसे प्राप्त मोक्ष ही अक्षय और सर्वश्रेष्ठ है, अतएव सभी मनुष्योंको भगवत्-भक्तिमें लग जाना चाहिये। —देवर्षि नारद

❀ ❀ ❀

ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं; परन्तु उस ज्ञानकी कद्र करनेवाला शुद्ध मन भी तो होना चाहिये। वैराग्यके विना ज्ञान कभी नहीं ठहर सकता। भोजनमें जहर मिला हो और यह बात भोजन करनेवालेको मालूम हो जाय तो वह तुरन्त थाली छोड़कर उठ जायगा, इसी प्रकार संसारकी अनित्यता और दुःखरूपताका पता लगते ही उससे वैराग्य हो जाता है। फिर वैराग्य मनसे हटता ही नहीं। —ज्ञानदेव

❀ ❀ ❀

मैंने संसारके सुख-दुःख, जीवन-मरण तथा जरा और रोग देख लिया है, उन्हींके चंगुलसे बचनेके लिये मैंने संन्यास लिया है। क्या फिर भी मैं मूर्खोंकी तरह उनका स्वाद चखनेके लिये लौट सकता हूँ ? भगवान्की खोज करना और राज्यपदकी इच्छा रखना ये दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते; इनमें उतना ही विरोध है, जितना धूप और छायामें, आग और पानीमें। जो मनुष्य राज्यपद पाना चाहता है उसके लिये शान्तिकी इच्छा करना व्यर्थ है। —बुद्धदेव

❀ ❀ ❀

देहको चाहे जितना सुख-दुःख हो, भक्त उसका खयाल नहीं करते। उनकी वृत्ति एकमात्र भगवत्-भक्तिमें लगी रहती है। वे नित्य भक्तिके ऐश्वर्यमें सराबोर रहते हैं। —रामकृष्ण परमहंस

❀ ❀ ❀

घरमें दीया जलानेसे वह झरोखेमें भी प्रकाशित होता है, वैसे ही भगवान् मनमें प्रकट होते ही अन्य इन्द्रियोंमें भी भजनानन्द उत्पन्न कर देते हैं। —एकनाथजी

❀ ❀ ❀

जो किसी भी बहानेसे, हँसीमें, दुःखमें अथवा वैसे ही भगवान्के नामोंका उच्चारण कर लेता है उसके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। —श्रीचैतन्यदेव

❀ ❀ ❀

सांसारिक भोगोंके प्राप्त होनेपर जो उन्हें लेता ही नहीं, वह पूरा मनुष्य है। जो लेता है परन्तु लेकर सच्चे पात्रोंको दे देता है वह भी सच्चा है पर वह आधा मनुष्य है, परन्तु जो मनुष्य दान लेता है पर किसीको देता नहीं, वह तो मक्खीचूस ही नहीं, मधुमक्षिका-जैसा भी है, क्योंकि ऐसा करनेमें वह अपना कुछ भी हित या कल्याण नहीं करता। —अबुहाफिज खुरासानी

❀ ❀ ❀

जो मनुष्य परलोककी साधना न कर केवल संसारकी साधनामें ही लगा रहता है वह इस लोक और परलोकमें दुःख और नुकसान ही प्राप्त करता है। —महात्मा अबु

❀ ❀ ❀

१८-२८

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष ७

सं० १९८९।९० की

निबन्ध-सूची,

कविता-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास

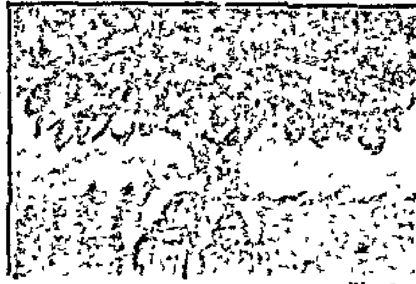
कल्याण-कार्यालय

गोरखपुर ।

वार्षिक मूल्य ४≡)

विदेशोंके लिये ६।।≈)

प्रति संख्या ।)



युगलछवि



भगवान् श्रीकृष्णरूपमें



वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके सातवें वर्षकी लेख-सूची

पद्य-सूची

चित्र-सूची

कल्याणकी तीसरे वर्षकी फाइल

४०० से ऊपर लेख और कविताएँ, सुन्दर ७२ चित्र और ११२८ पृष्ठ, इसमें प्रसिद्ध भक्तांक भी शामिल है, *मूल्य अजिल्दका डाक-महसूल सहित केवल ४≡)*

यह फाइल कितनी उपादेय है, लेखकोंके नाम देखनेसे ही इस बातका पता लग सकता है—

तीसरे वर्षके कुछ लेखक

महात्मा श्रीगान्धीजी, श्रीअरविन्द घोष, काकाकालेलकर, आचार्य आनन्दशंकर बापूभाई ध्रुव हिन्दू-युनिवर्सिटी काशी, श्रीजयदयालजी गोयन्दका, श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल, दीनबन्धु श्री सी० एफ० एण्ड्रूज महोदय, श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचारी, हरिभक्त श्रीयादवजी महाराज–बम्बई, जगद्गुरु श्रीअनन्ताचार्यजी महाराज प्रतिवादी भयङ्कर मठ बम्बई, सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार, बाबा राघवदासजी, स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसाद-सिंहजी, श्रीअनिलबरणराय पाण्डीचेरी, भिक्षु श्रीगौरीशंकरजी, रा० ब० अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०, श्रीअच्युतमुनिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पति श्रीदीनदयालुजी शर्मा, वाणीभूषण पं० श्रीनन्दकिशोरजी शुक्ल, श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय सम्पादक 'त्यागभूमि', श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया, श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०, श्रीनलिनीकान्त गुप्त पाण्डीचेरी आदि।

इसके सिवा अनेक कवियोंकी सुन्दर रचनाएँ भी हैं। स्थान कम होनेके कारण चित्रोंके अलग-अलग नाम नहीं लिखे गये। बड़ा सुन्दर संग्रह, बिक जानेपर फिर छपना कठिन है।

कल्याणकी चौथे वर्षकी फाइल

पौने चार सौ लेख, डेढ़ सौ कविताएँ और १८१ सुन्दर चित्रोंसे सुसज्जित, पृष्ठ १२८६। इसमें सुप्रसिद्ध गीतांक भी शामिल है। *मूल्य डाकव्ययसहित ४≡) (अजिल्द)*

'कल्याण' और उसके समय-समयपर निकलनेवाले विशेषांकोंसे पुस्तकप्रेमी अनेक सज्जन परिचित ही होंगे इसपर देश-विदेशोंमें जितनी सम्मतियाँ लिखी गयी हैं उनमेंसे जो हमारे पास संग्रहीत हैं, उन सबको छापनेसे एक बहुत बड़ा पोथा बन सकता है। यह इतना लोकप्रिय हुआ कि काश्मीरसे मद्रास और कटकसे शिवसागरतककी तो बात ही क्या, विदेशोंके भी कई ग्राहक हो गये। ग्राहक-संख्या लगभग १२००० हो गयी। युक्तप्रान्त, विहार और उड़ीसा, सी० पी० के सरकारी शिक्षाविभागोंने अपने स्कूल और कालेजके उपयोगके लिये स्वीकृति दी है।

इसमें केवल हिन्दी-भाषाके विद्वानोंने ही नहीं बल्कि बंगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, काश्मीरी, पंजाबी, उर्दू, संस्कृत, मद्रासी, अङ्गरेजी, अमेरिकन, जरमनी आदि अनेक विद्वानोंके लेख हैं। सुकवियोंकी सुन्दर रचनाएँ हैं। भावपूर्ण मनोहर चित्र हैं। और क्या क्या है सो देखनेसे ही जाना जा सकता है। केवल गीतांक अलग नहीं मिलता।

कल्याणकी पुरानी फाइलें और विशेषांक

१ भगवन्नामांक पृष्ठ ११० रङ्ग-विरङ्गे ४१ चित्र ॥।≲) सजिल्द	...	१≲)
२ रामायणांक पृष्ठ ५१२ तिरंगे-एकरंगे १६७ चित्र मूल्य २॥≥) सजिल्द	...	३≥)
३ कृष्णाङ्क पृष्ठ ५२३ रंग-विरंगे १०७ चित्र, मूल्य २॥≲) सजिल्द, परिशिष्टांकसहित सजिल्द	...	३॥)

व्यवस्थापक–कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

श्रीभगवन्नाम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

गत पौषकी संख्यामें कल्याणके पाठक-पाठिकाओंसे फाल्गुन शुक्ला १५ तक उपर्युक्त १६ नामके मन्त्रका सब मिलकर दस करोड़ जप करने-करानेके लिये प्रार्थना की गयी थी। अनेक स्थानोंसे जप होनेकी सूचना आयी है, परन्तु जिन महानुभावों और देवियोंने अभी सूचना नहीं भेजी है, वे अपने यहाँकी जप-संख्याकी सूचना शीघ्र भेज देनेकी कृपा करें। आशा है कि इस वर्ष भी मन्त्रजप हमारी प्रार्थनासे कहीं अधिक होगा।

नाम-जप-विभाग
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर



होलीपर हमारा कर्तव्य

होलीके सम्बन्धमें कुछ लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि इस अवसरपर गन्दी जबान बोलना, गन्दे-अश्लील इशारे करना, कीचड़ उछालना और नशा करना आदि धर्म है। कुछ लोग इस तरहके दो-चार श्लोक भी प्रमाणरूपमें पेश कर दिया करते हैं। परन्तु यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि असदाचार या दुराचार कभी धर्म नहीं हो सकता। धर्म तो वही है जिससे इस लोकमें सात्त्विक उन्नति हो और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति हो। सम्भव है किसी समय वाममार्गियोंने अथवा इन्द्रियोंकी गुलामीमें लगे हुए विषयी पुरुषोंने यह गन्दी प्रथा धर्मके नामसे चलायी हो और ऐसे श्लोक भी बना लिये हों, परन्तु किसी भी धर्मशास्त्रके विधिवाक्यसे अश्लील क्रिया करना धर्म सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षमें भी इससे स्पष्ट नुकसान दीखता है। परस्त्रियोंका परपुरुषोंके प्रति और परपुरुषोंका परस्त्रियोंके प्रति गन्दे भाव रखना ही व्यभिचार है, क्रियाकी तो बात ही दूसरी है। व्यभिचार कभी धर्म नहीं हो सकता। अतएव सब पाठक-पाठिकाओंसे निवेदन है कि होलीके अवसरपर भूलकर भी न गन्दे भाव मनमें आने दें, न गन्दी जबान बोलें, न गन्दे गीत—रसिया, धमार या फाग गावें, न स्त्री-पुरुष परस्पर होली खेलें, न कीचड़ उछालें और न दूसरी किसी प्रकारकी गन्दी क्रिया करें।

होलीके अवसरपर निम्नलिखित कार्य करने चाहिये।

१—हरि-नाम-कीर्तन
२—नगर-संकीर्तन
३—होम
४—जप
५—सदाचारका प्रचार
६—भगवत्-लीला-कथाका आयोजन
७—श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभुका जन्मोत्सव
८—भक्तराज प्रह्लादकी कथा



कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्क-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये।



कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४=) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते । 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये । देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये । महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये ।



Registered No. A. 1724.

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीको प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्क-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≈) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥≈) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते । 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये । देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये । महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये ।



कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है ।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह प्रतिमासकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है ।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांक-सहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है । एक संख्याका मूल्य ।) है । बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता । नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है ।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते । ग्राहक प्रथम अंकसे १२ वें अंकतकके ही बनाये जाते हैं । एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्कतक नहीं बनाये जाते । 'कल्याण' का वर्ष श्रावणसे शुरू होता है ।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते ।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है । यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये । वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये । देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी ।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण-प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये । लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये । महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्ट-मास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये ।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें । लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है । अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते । लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं ।

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-नम्बर अवश्य लिखना चाहिये ।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है ।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये, क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं । कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते । इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं । रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं । खर्चा दोनोंमें एक ही है, परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है । जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है ।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये । कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या और अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये ।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजनी चाहिये ।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये ।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि 'व्यवस्थापक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि 'सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर' के नामसे भेजने चाहिये ।